Karl Marx

# कार्ल मार्क्स

# पूँजी

पूंजीवादी उत्पादन का आलोचनात्मक विश्लेषण

खण्ड

१


प्रगति प्रकाशन

मास्को

# प्रकाशक की ओर से

कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' के प्रथम खण्ड का प्रस्तुत हिन्दी संस्करण अंग्रेज़ी में १८८७ में प्रकाशित और फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा सम्पादित संस्करण के अनुसार तैयार किया गया है।

केवल स्वयं एंगेल्स द्वारा चौथे जर्मन संस्करण (१८९०) में किये गये परिवर्तनों को १८८७ के अंग्रेज़ी संस्करण और प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में शामिल किया गया है। ये परिवर्तन जहां किये गये हैं, वहां उनकी ओर संकेत कर दिया गया है। मूल पाठ के साथ लेखक के फ़ुटनोटों में उद्धृत रचनाओं के नामों की फिर से तुलना करने पर कुछ भूलों को सुधारा गया।

पुस्तक के आरंभ में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखित जर्मन, फ़्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी संस्करणों की भूमिकाएं दी गयी हैं। पुस्तक के अंत में उद्धृत पुस्तकों की सूची और नामावली प्रकाशित की गई है।

## विषय-सूची



भाग १

## माल और मुद्रा

भाग २

## मुद्रा का पूंजी में रूपान्तरण



भाग ३

## निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

भाग ४

## सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

भाग ५

## निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

भाग ६

## मज़दूरी



भाग ७

## पूंजी का संचय

भाग ८

## तथाकथित आदिम संचय

सर्वहारा के निडर, निष्ठावान, उदार नेता, अपने अविस्मरणीय मित्र

**विल्हेल्म वोल्फ़**

को,

**जिनका जन्म २१ जून १८०६ को तारनाऊ में और मृत्यु ६ मई १८६४ को मानचेस्टर में हुई, समर्पित**

# पहले जर्मन संस्करण की भूमिका

यह रचना, जिसका प्रथम खण्ड मैं अब जनता के सामने पेश कर रहा हूं, मेरी पुस्तिका "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') की ही एक अगली कड़ी है। वह पुस्तिका १८५६ में प्रकाशित हुई थी। इस काम के पहले हिस्से और उसकी बाद की कड़ी के बीच समय का जो इतना बड़ा अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण अनेक वर्ष लम्बी मेरी बीमारी है, जिससे मेरे काम में बार-बार बाधा पड़ती रही।

उस पुरानी रचना का सार-तत्त्व इस पुस्तक के पहले तीन अध्यायों में संक्षेप में दे दिया गया है। यह केवल संदर्भ और पूर्णता की दृष्टि से ही नहीं किया गया है। विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण सुधारा गया है। उस पुरानी किताब में बहुत सी बातों की तरफ़ इशारा भर किया गया था; पर इस पुस्तक में जहां तक परिस्थितियों ने इसकी इजाज़त दी है, उनपर अधिक पूर्णता के साथ विचार किया गया है। इसके विपरीत, उस किताब में जिन बातों पर पूर्णता के साथ विचार किया गया था, इस ग्रंथ में उनको छुआ भर गया है। मूल्य और मुद्रा के सिद्धान्तों के इतिहास से सम्बंधित हिस्से अब अलबत्ता बिल्कुल छोड़ दिये गये हैं। किन्तु जिस पाठक ने उस पुरानी किताब को पढ़ा है, वह पायेगा कि पहले अध्याय के फ़ुटनोटों में इन सिद्धान्तों के इतिहास से सम्बंध रखने वाली बहुत सी नयी सामग्री का हवाला दे दिया गया है।

यह नियम सभी विज्ञानों पर लागू होता है कि विषय-प्रवेश सदा कठिन होता है। इसलिये पहले अध्याय को और विशेषकर उस अंश को, जिसमें मालों का विश्लेषण किया गया है, समझने में सबसे अधिक कठिनाई होगी। उस हिस्से को, जिसमें मूल्य के सार तथा मूल्य के परिमाण की अधिक विशेष रूप से चर्चा की गयी है, मैंने जहां तक सम्भव हुआ है, सरल बना दिया है।[1] मूल्य-रूप, जिसकी पूरी तरह विकसित शकल मुद्रा-रूप है, बहुत ही सीधी और सरल चीज़ है। फिर भी मानव-मस्तिष्क को उसकी तह तक पहुंचने का प्रयत्न करते हुए

---

[1] यह इसलिये और भी आवश्यक था कि शुल्ज़े-डेलिच के मत का खण्डन करने के लिये लिखी गयी फ़ेर्डिनंड लसाल की रचना के उस हिस्से में भी, जिसमें वह इन विषयों की मेरी व्याख्या का "बौद्धिक सार-तत्त्व" देने का दावा करता है, महत्त्वपूर्ण ग़लतियां मौजूद हैं। यदि फ़ेर्डिनंड लसाल ने अपनी आर्थिक रचनाओं की समस्त साधारण सैद्धान्तिक स्थापनाएं, जैसे कि पूंजी के ऐतिहासिक स्वरूप तथा उत्पादन की परिस्थितियों और उत्पादन की प्रणाली के बीच पाये जाने वाले सम्बंध से ताल्लुक़ रखने वाली स्थापनाएं इत्यादि, और यहां तक कि वह शब्दावली भी, जिसे मैंने रचा है, मेरी रचनाओं से मेरा उल्लेख किये बिना ही अक्षरशः उठा ली हैं, तो स्पष्ट है कि उन्होंने प्रचार के उद्देश्य से ही ऐसा किया है। अलबत्ता इन स्थापनाओं का उन्होंने जिस तरह विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और उनको जिस तरह लागू किया है, मैं यहां उसका ज़िक्र नहीं कर रहा हूं। उससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है।

२,००० वर्ष से ज्यादा हो गये हैं, पर बेसूद। लेकिन, दूसरी तरफ़, उससे कहीं अधिक जटिल और संश्लिष्ट रूपों का विश्लेषण करने में लोग सफलता के कम से कम काफ़ी नजदीक पहुंच गये हैं। इसका क्या कारण है? यही कि एक सजीव इकाई के रूप में शरीर का अध्ययन करना उस शरीर के जीवकोषों के अध्ययन से ज्यादा आसान होता है। इसके अलावा, आर्थिक रूपों का विश्लेषण करने में न तो सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से कोई मदद मिल सकती है और न ही रासायनिक प्रतिकर्मकों से। दोनों का स्थान तत्व-अपकर्षण की शक्ति को लेना होगा। लेकिन पूंजीवादी समाज में श्रम की पैदावार का माल-रूप – या माल का मूल्य-रूप – आर्थिक जीवकोष-रूप होता है। सतही नजर रखने वाले पाठक को लगेगा कि इन रूपों का विश्लेषण करना फ़िजूल ही बहुत छोटी-छोटी चीजों में माथा खपाना है। बेशक, यह छोटी-छोटी चीजों में माथा खपाने वाली बात है, पर यह सूक्ष्मदर्शी शरीर-रचना विज्ञान के माथा खपाने के समान ही है।

अतएव, मूल्य-रूप वाले एक हिस्से को छोड़कर इस पुस्तक पर कठिन होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। पर जाहिर है, मैं ऐसे पाठक को मानकर चलता हूं, जो एक नयी चीज सीखने को और इसलिये खुद अपने दिमाग़ से सोचने को तैयार है।

भौतिक विज्ञान का विशेषज्ञ या तो भौतिक घटनाओं का उस समय पर्यवेक्षण करता है, जब वे अपने सबसे प्रतिनिधि रूप में होती हैं और जब वे विघ्नकारी प्रभावों से अधिकतम मुक्त होती हैं, और या वह जहां कहीं सम्भव होता है, ऐसी परिस्थितियों में खुद प्रयोग करके देखता है, जहां घटना का सामान्य रूप सुनिश्चित होता है। इस रचना में मुझे उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और इस प्रणाली से सम्बद्ध उत्पादन और विनिमय की परिस्थितियों का अध्ययन करना है। अभी तक इनकी मूल भूमि इंगलैण्ड है। यही कारण है कि अपने सैद्धान्तिक विचारों का प्रतिपादन करते हुए मैंने इंगलैण्ड को मुख्य उदाहरण के रूप में इस्तेमाल किया है। किन्तु यदि जर्मन पाठक इंगलैण्ड के औद्योगिक तथा खेतिहर मजदूरों की हालत को देखकर अपने कंधे झटक देगा या बड़े आशावादी ढंग से अपने दिल को यह दिलासा देगा कि खैर, जर्मनी में कम से कम इतनी खराब हालत नहीं है, तो मुझे उससे साफ़-साफ़ कह देना पड़ेगा कि "De te fabula narratur!" ("दर्पण में यह आप ही की सूरत है!")

असल में सवाल यह नहीं है कि पूंजीवादी उत्पादन के स्वाभाविक नियमों के परिणामस्वरूप जो सामाजिक विरोध पैदा होते हैं, वे बहुत या कम बड़े हैं। सवाल यहां खुद इन नियमों का और इन प्रवृत्तियों का है, जो कठोर आवश्यकता के साथ कुछ अनिवार्य नतीजे पैदा कर रहे हैं। औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश कम विकसित देश के सामने केवल उसके भविष्य का चित्र अंकित कर देता है।

लेकिन इसके अलावा एक बात और भी है। जर्मन लोगों के यहां जहां-जहां पूंजीवादी उत्पादन पूरी तरह देशी चीज बन गया है (उदाहरण के लिये, उन कारखानों में, जिनको सचमुच फ़ैक्टरियां कहा जा सकता है), वहां हालत इंगलैण्ड से भी खराब है, क्योंकि वहां फ़ैक्टरी-क़ानूनों का सन्तुलन नहीं है। बाक़ी तमाम क्षेत्रों में, योरपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग के अन्य सब देशों की तरह, हमें भी न सिर्फ़ पूंजीवादी उत्पादन के विकास के कष्ट ही सहन करने पड़ रहे हैं, बल्कि इस विकास की अपूर्णता से पैदा होने वाली तकलीफ़ें भी सहन करनी पड़ रही हैं। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ विरासत में मिली हुई बुराइयों की बड़ी तादाद भी हमारे ऊपर सितम ढा रही है। ये बुराइयां उत्पादन की उन प्राचीन प्रणालियों के निष्क्रिय रूप से अभी तक बचे रहने के फलस्वरूप पैदा होती हैं, जिनके साथ अनेक सामाजिक

१६ अगस्त १८६७ को मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखे गये एक पत्र की अनुलिपि
(चित्र में आकार छोटा कर दिया गया है)

१६ अगस्त १८६७, दो बजे रात

प्रिय फ़्रेड,

किताब के आख़िरी फ़र्मे (४९ वें फ़र्मे) को शुद्ध करके मैंने अभी-अभी काम समाप्त किया है। परिशिष्ट— मूल्य का रूप—छोटे टाइप में—सवा फ़र्मे में आया है।

भूमिका को भी शुद्ध करके मैंने कल वापिस भेज दिया था। सो यह खण्ड समाप्त हो गया है। उसे समाप्त करना सम्भव हुआ, इसका श्रेय एकमात्र तुमको है। तुमने मेरे लिये जो आत्मत्याग किया है, उसके अभाव में मैं तीन खण्डों के लिये इतनी जबर्दस्त मेहनत सम्भवतः हरगिज न कर पाता। कृतज्ञता से ओत-प्रोत होकर मैं तुम्हारा आलिंगन करता हूं!

दो फ़र्मे इस ख़त के साथ रख रहा हूं, जिनका प्रूफ़ मैं देख चुका हूं।

१५ पौंड मिल गये थे, धन्यवाद।

नमस्कार, मेरे प्रिय, स्नेही मित्र!

तुम्हारा

कार्ल मार्क्स

एवं राजनीतिक असंगतियां अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई हैं। हम न केवल जीवित, बल्कि मृत चीज़ों से भी पीड़ित हैं। Le mort saisit le vif! (मुर्दे ज़िन्दों के लिये बोझा बने हुए हैं!)

इंगलैण्ड की तुलना में जर्मनी और बाक़ी पश्चिमी योरप में सामाजिक आंकड़े बहुत ही ख़राब ढंग से इकट्ठा किये जाते हैं। लेकिन वे नक़ाब को इतना ज़रूर उठा देते हैं कि उसके पीछे छिपे हुए मेडूसा के ख़ौफ़नाक चेहरे की हमें एक झलक ज़रूर मिल जाती है। यदि इंगलैण्ड की तरह हमारी सरकारें और संसदें भी समय-समय पर आर्थिक हालत की जांच करने के लिये आयोग नियुक्त करतीं, यदि सत्य का पता लगाने के लिये इन आयोगों के हाथ में भी उतने ही पूर्ण अधिकार होते और यदि इस काम के लिये हमारे देशों में भी इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों, सार्वजनिक स्वास्थ्य की डाक्टरी रिपोर्टें तैयार करने वाले कर्मचारियों और स्त्रियों तथा बच्चों के शोषण और घरों तथा खाद्य-पदार्थों की स्थिति की जांच करने वाले आयोगों के सदस्यों जैसे योग्य और पक्षपात तथा व्यक्तियों का ख़याल करने की भावना से मुक्त लोगों को पाना सम्भव होता, तो हम अपने घर की हालत देखकर भयभीत हो उठते। पर्सियस ने एक जादू की टोपी ओढ़ ली थी, ताकि वह जिन दानवों का शिकार करने के लिये निकला था, वे उसे देख न पावें। हमने अपनी आंखें और कान जादू की टोपी से इसलिये ढंक लिये हैं कि हम यह सोचकर अपना दिल ख़ुश कर सकें कि दुनिया में दानव हैं ही नहीं।

इस मामले में अपने को धोखा नहीं देना चाहिये। जिस प्रकार अठारहवीं सदी में अमरीका के स्वातंत्र्य-युद्ध ने मध्य वर्ग को जागृत करने के लिये घंटा बजाया था, उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में अमरीका के गृह-युद्ध ने योरप के मज़दूर-वर्ग के जागरण का घण्टा बजाया है। इंगलैण्ड में सामाजिक इन्तशार को बढ़ते हुए कोई भी देख सकता है। जब वह एक ख़ास बिन्दु पर पहुंच जायेगा, तो उसकी योरपीय महाद्वीप में अनिवार्य रूप से प्रतिक्रिया होगी। वहां ख़ुद मज़दूर-वर्ग के विकास के अनुसार यह इन्तशार अधिक पाशविक या अधिक मानवीय रूप धारण करेगा। इसलिये, अधिक ऊंचे उद्देश्यों को यदि अलग रख दिया जाये, तो भी इस समय जो वर्ग शासक वर्ग हैं, उनके अपने अति-महत्वपूर्ण स्वार्थ यह तक़ाज़ा कर रहे हैं कि मज़दूर-वर्ग के स्वतंत्र विकास के रास्ते से क़ानूनी ढंग से जितनी रुकावटें हटायी जा सकती हैं, वे फ़ौरन हटा दी जायें। इस तथा अन्य कारणों से भी मैंने इस ग्रंथ में इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-क़ानूनों के इतिहास, उनके विस्तृत वर्णन तथा उनके परिणामों को इतना अधिक स्थान दिया है। हरेक क़ौम दूसरी क़ौमों से सीख सकती है और उसे सीखना चाहिये। और जब कोई समाज अपनी गति के स्वाभाविक नियमों का पता लगाने के लिये सही रास्ते पर चल पड़ता है,—और इस रचना का अन्तिम उद्देश्य आधुनिक समाज की गति के आर्थिक नियम को खोलकर रख देना ही है,—तब भी अपने साधारण विकास की उत्तरोत्तर अवस्थाओं में सामने आने वाली रुकावटों को वह न तो हिम्मत के साथ छलांग मारकर पार कर सकता है और न ही क़ानून बनाकर उन्हें रास्ते से हटा सकता है। लेकिन वह प्रसव की पीड़ा को कम कर सकता है और उसकी अवधि को छोटा कर सकता है।

एक सम्भव ग़लतफ़हमी से बचने के लिये दो शब्द कह दिये जायें। मैंने पूंजीपति और ज़मींदार को बहुत सुहावने रंगों में कदापि चित्रित नहीं किया है। लेकिन यहां व्यक्तियों की चर्चा केवल उसी हद तक की गयी है, जिस हद तक कि वे किन्हीं आर्थिक पारिभाषिक शब्दों के साकार रूप या किन्हीं ख़ास वर्गीय सम्बंधों और वर्गीय हितों के मूर्त रूप बन गये हैं। मेरे दृष्टिकोण के अनुसार, समाज की आर्थिक गठन का विकास प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया

है; इसलिये और किसी भी दृष्टिकोण की अपेक्षा मेरा दृष्टिकोण व्यक्ति पर उन सम्बंधों की कम जिम्मेदारी डालेगा, जिनका वह सामाजिक दृष्टि से सदा दास बना रहता है, भले ही उसने मनोगत दृष्टि से अपने को उनसे चाहे जितना ऊपर उठा लिया हो।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वतंत्र वैज्ञानिक खोज को केवल अन्य सभी क्षेत्रों में सामने आने वाले शत्रुओं का ही सामना नहीं करना पड़ता। यहां उसे जिस विशेष प्रकार की सामग्री की छान-बीन करनी पड़ती है, उसका स्वरूप ही ऐसा है कि मानव-हृदय के सबसे हिंसक, नीच और घृणित आवेग – निजी स्वार्थ की राक्षसी प्रवृत्तियां – उसके शत्रुओं के रूप में मैदान में उतर पड़ते हैं। उदाहरण के लिये, इंगलैण्ड के संगठित ईसाई धर्म की यदि ३९ में से ३८ धाराओं पर भी हमला हो, तो वह उसे ज्यादा जल्दी माफ़ कर देगा, लेकिन उसकी आमदनी के ३९ वें हिस्से पर चोट होने से वह ऐसा नहीं करेगा। आजकल मौजूदा सम्पति-सम्बंधों की आलोचना के मुक़ाबले में तो खुद अनीश्वरवाद भी culpa levis (क्षम्य पाप) है। फिर भी एक बात में स्पष्ट रूप से प्रगति हुई है। मैं, मिसाल के लिये, यहां उस सरकारी प्रकाशन का हवाला देता हूं, जो पिछले चन्द सप्ताहों में ही निकला है। उसका नाम है *"Correspondence with Her Majesty's Missions Abroad, regarding Industrial Questions and Trades' Unions"* ('औद्योगिक प्रश्नों और ट्रेड-यूनियनों के विषय में महारानी के विदेश स्थित दूत-मण्डलों के साथ पत्र-व्यवहार')। इस प्रकाशन में विदेशी इलाक़ों में तैनात अंग्रेज रानी के प्रतिनिधियों ने यह साफ़-साफ़ कहा है कि जर्मनी में, फ़्रांस में, – और संक्षेप में कहा जाय, तो योरपीय महाद्वीप के सभी सभ्य देशों में, – पूंजी और श्रम के मौजूदा सम्बंधों में मूलभूत परिवर्तन इंगलैण्ड की भांति स्पष्ट और अनिवार्य हैं। इसके साथ-साथ, अटलाण्टिक महासागर के उस पार, अमरीका के उप-राष्ट्रपति मि० वेड ने सार्वजनिक सभाओं में एलान किया है कि दास-प्रथा का अन्त कर देने के बाद अब अगला काम पूंजी के और भूमि पर निजी स्वामित्व के सम्बंधों को मौलिक रूप से बदल देना है। ये समय के चिन्ह हैं, जिनको पादरियों के न तो लाल और न काले चोग़े छिपा सकते हैं। उनका यह अर्थ नहीं है कि कल कोई अलौकिक चमत्कार हो जायेगा। उनसे यह प्रकट होता है कि खुद शासक वर्गों के भीतर अब यह पूर्वाभास पैदा होने लगा है कि मौजूदा समाज कोई ठोस स्फटिक नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा संघटन है, जो बदल सकता है और बराबर बदल रहा है।

इस रचना के दूसरे खण्ड में पूंजी के परिचलन की प्रक्रिया का[1] (दूसरी पुस्तक में) और पूंजी अपने विकास के दौरान में जो विविध रूप धारण करती है, उनका (तीसरी पुस्तक में) विवेचन किया जायेगा और तीसरे तथा अन्तिम खण्ड (चौथी पुस्तक) में सिद्धान्तों के इतिहास पर प्रकाश डाला जायेगा।

मैं वैज्ञानिक आलोचना पर आधारित प्रत्येक मत का स्वागत करता हूं। जहां तक तथाकथित लोकमत के पूर्वग्रहों का सम्बंध है, जिनके लिये मैंने कभी कोई रिआयत नहीं की, पहले की तरह आज भी उस महान फ़्लोरेंसवासी का यह सिद्धान्त ही मेरा भी सिद्धान्त है कि "Segui il tuo corso, e lascia dir le genti!" ("तुम अपनी राह पर चलते चलो, लोग कुछ भी कहें, कहने दो!")

लन्दन, २५ जुलाई १८६७।

कार्ल मार्क्स

[1] पृ० ६३४ पर लेखक ने बताया है कि इस मद में वह किन-किन चीज़ों को शामिल करता है

## दूसरे जर्मन संस्करण का परिशिष्ट

मुझे, सबसे पहले, प्रथम संस्करण के पाठकों को यह बताना चाहिये कि दूसरे संस्करण में क्या-क्या परिवर्तन किये गये हैं। इसपर पहली नजर डालते ही एक तो यह बात साफ़ हो जाती है कि पुस्तक की व्यवस्था अब अधिक सुस्पष्ट हो गयी है। जो नये फ़ुटनोट जोड़े गये हैं, उनके आगे हर जगह लिख दिया गया है कि वे दूसरे संस्करण के फ़ुटनोट हैं। मूल पाठ के बारे में निम्नलिखित बातें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

पहले अध्याय के अनुभाग १ में उन समीकरणों के विश्लेषण से, जिनके द्वारा प्रत्येक विनिमय-मूल्य अभिव्यक्त किया जाता है, मूल्य की व्युत्पत्ति का विवेचन पहले से अधिक वैज्ञानिक कड़ाई के साथ किया गया है; इसी प्रकार, सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल द्वारा मूल्य के परिमाण के निर्धारित होने और मूल्य के सार के आपसी सम्बंध की तरफ़ जहां पहले संस्करण में इशारा भर किया गया था, वहां अब उसपर ख़ास जोर दिया गया है। पहले अध्याय के अनुभाग ३ ('मूल्य का रूप') को एकदम नये सिरे से दुहराया गया है; यह और कुछ नहीं तो इसलिये जरूरी हो गया था कि पहले संस्करण में इस विषय का दो जगहों पर विवेचन हो गया था।— यहां प्रसंगवश यह भी बता दूं कि यह दोहरा विवेचन मेरे मित्र, हैनोवर के डाक्टर एल० कुगेलमान्न के कारण हुआ था। १८६७ के वसन्त में मैं उनके यहां गया हुआ था। उसी वक़्त हैम्बर्ग से किताब के पहले प्रूफ़ आ गये और डा० कुगेलमान्न ने मुझे इस बात का क़ायल कर दिया कि अधिकतर पाठकों के लिये मूल्य के रूप की एक और अधिक शिक्षकोचित व्याख्या की आवश्यकता है।— पहले अध्याय का अन्तिम अनुभाग— 'मालों की जड़-पूजा इत्यादि'— बहुत-कुछ बदल दिया गया है। तीसरे अध्याय के अनुभाग १ ('मूल्य की माप') को बहुत ध्यानपूर्वक दुहरा दिया गया है, क्योंकि पहले संस्करण में इस अनुभाग की तरफ़ लापरवाही बरती गयी थी और पाठक को बर्लिन से १८५९ में प्रकाशित *"Zur Kritik der Politischen Oekonomie"*, Berlin, 1859, में दी गयी व्याख्या का हवाला भर दे दिया गया था। सातवें अध्याय को, ख़ासकर उसके दूसरे हिस्से को (अंग्रेजी और हिन्दी संस्करणों के नौवें अध्याय के अनुभाग २ को), बहुत हद तक फिर से लिख डाला गया है।

पुस्तक के पाठ में जो बहुत से आंशिक परिवर्तन किये गये हैं, उन सब की चर्चा करना समय का अपव्यय करना होगा, क्योंकि बहुधा वे विशुद्ध शैलीगत परिवर्तन हैं। ऐसे परिवर्तन पूरी किताब में मिलेंगे। फिर भी अब, पेरिस से निकलने वाले फ़्रांसीसी अनुवाद को दुहराने पर, मुझे लगता है कि जर्मन भाषा के मूल पाठ के कई हिस्से ऐसे हैं, जिनको सम्भवतया बहुत मुकम्मल ढंग से नये सिरे से ढालने की आवश्यकता है, कई अन्य हिस्सों का बहुत काफ़ी शैलीगत सम्पादन करने की जरूरत है और कुछ और हिस्सों को काफ़ी मेहनत के साथ समय-

समय पर हो जाने वाली भूलों से साफ़ करना आवश्यक है। लेकिन इसके लिये समय नहीं था। कारण कि पहले संस्करण के ख़त्म होने और दूसरे संस्करण की छपाई के जनवरी १८७२ में आरम्भ होने की सूचना मुझे १८७१ के शरद में मिली। तब मैं दूसरे ज़रूरी कामों में फंसा हुआ था।

*"Das Kapital"* ('पूंजी') को जर्मन मज़दूर-वर्ग के व्यापक क्षेत्रों में जितनी जल्दी आदर प्राप्त हुआ, वही मेरी मेहनत का सबसे बड़ा इनाम है। आर्थिक मामलों में पूंजीवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाले वियेना के एक कारख़ानेदार हेर मायेर ने फ़्रांसीसी-जर्मन युद्ध के दौरान में प्रकाशित एक पुस्तिका में इस विचार का बहुत ठीक-ठीक प्रतिपादन किया था कि सैद्धान्तिक विचार-विनिमय करने की महान क्षमता, जो जर्मन लोगों की पुश्तैनी सम्पत्ति समझी जाती थी, अब जर्मनी के शिक्षित कहलाने वाले वर्गों में लगभग पूर्णतया ग़ायब हो गयी है, किन्तु, इसके विपरीत, जर्मन मज़दूर-वर्ग में वह क्षमता अपने पुनरुत्थान का उत्सव मना रही है।

जर्मनी में इस समय तक अर्थशास्त्र एक विदेशी विज्ञान जैसा था। गुस्ताव फ़ोन गुलीह् ने अपनी पुस्तक 'व्यापार और उद्योग का ऐतिहासिक वर्णन' इत्यादि[1] में और ख़ासकर उसके १८३० में प्रकाशित पहले दो खण्डों में उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है, जो जर्मनी में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास में बाधक हुईं और इसलिये जिनके कारण उस देश में आधुनिक पूंजीवादी समाज का विकास नहीं हो पाया। इस प्रकार, वहां वह मिट्टी ही नहीं थी, जिसमें अर्थशास्त्र का पौधा उगता है। इस विज्ञान को बने-बनाये तैयार माल के रूप में इंगलैण्ड और फ़्रांस से मंगाना पड़ा, और उसके जर्मन प्रोफ़ेसर स्कूली लड़के बनकर रह गये। उनके हाथों में विदेशी वास्तविकता की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति कठमुल्लों के सूत्रों का संग्रह बन गयी, जिसकी व्याख्या वे अपने इर्द-गिर्द की टुट-पुंजिया दुनिया के रंग में रंगकर करते थे और इसीलिये उसकी वे ग़लत व्याख्या करते थे। वैज्ञानिक नपुंसकता की भावना, जो बहुत दबाने पर भी पूरी तरह कभी नहीं दबती, और यह परेशान करने वाला अहसास कि हम एक ऐसे विषय में हाथ लगा रहे हैं, जो हमारे लिये वास्तव में एक पराया विषय है,—इनको या तो साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पांडित्य-प्रदर्शन के नीचे छिपा दिया जाता था, या इनपर तथाकथित "कामेराल" विज्ञानों—अर्थात् अनेक विषयों की उस पंचमेल, सतही और अपूर्ण जानकारी—से उधार मांगकर लायी हुई कुछ बाहरी सामग्री का पर्दा डाल दिया जाता था, जिसकी वैतरणी को जर्मन नौकरशाही का सदस्य बनने की इच्छा रखने वाले हर निराश उम्मीदवार को पार करना पड़ता है; लेकिन इस तरह भी यह भावना और यह अहसास पूरी तरह नहीं छिप पाते थे।

१८४८ से जर्मनी में पूंजीवादी उत्पादन का बहुत तेज़ी से विकास हुआ है, और इस वक़्त तो वह सट्टेबाज़ी और धोखेबाज़ी के रूप में पूरी जवानी पर है। लेकिन हमारे पेशेवर अर्थशास्त्रियों पर भाग्य ने अब भी दया नहीं की है। जिस समय वे लोग अर्थशास्त्र का वस्तुगत अध्ययन कर सकते थे, उस समय जर्मनी में आधुनिक आर्थिक परिस्थितियां वास्तव में मौजूद नहीं थीं। और जब ये परिस्थितियां वहां पैदा हुईं, तो ऐसी हालत में कि पूंजीवादी क्षितिज

[1] Geschichtliche Darstellung des Handels, der Gewerbe und des Ackerbaus, & c., von Gustav von Gülich. 5 vols., Jena. 1830-45.

की सीमाओं के भीतर रहते हुए उनकी वास्तविक एवं निष्पक्ष छानबीन करना असम्भव हो गया। जिस हद तक अर्थशास्त्र इस क्षितिज की सीमाओं के भीतर रहता है, अर्थात् जिस हद तक पूंजीवादी व्यवस्था को सामाजिक उत्पादन के विकास की एक अस्थायी ऐतिहासिक मंज़िल नहीं, बल्कि उसका एकदम अन्तिम स्वरूप समझा जाता है, उस हद तक अर्थशास्त्र केवल उसी समय तक विज्ञान बना रह सकता है, जब तक कि वर्ग-संघर्ष सुषुप्तावस्था में है या जब तक कि वह केवल इक्की-दुक्की और अलग-थलग घटनाओं के रूप में प्रकट होता है।

हम इंगलैण्ड को लें। उसका अर्थशास्त्र उस काल का है, जब वर्ग-संघर्ष का विकास नहीं हुआ था। उसके अन्तिम महान प्रतिनिधि – रिकार्डो – ने आख़िर में जाकर वर्ग-हितों के विरोध को, मज़दूरी और मुनाफ़े तथा मुनाफ़े और लगान के विरोध को सचेतन ढंग से अपनी खोज का प्रस्थान-बिन्दु बनाया और अपने भोलेपन में यह समझा कि यह विरोध प्रकृति का एक सामाजिक नियम है। किन्तु इस प्रकार प्रारम्भ करके पूंजीवादी अर्थशास्त्र का विज्ञान उस सीमा पर पहुंच गया था, जिसे लांघना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। रिकार्डो के जीवन-काल में ही और उनके विरोध के तौर पर सिस्मोंदी ने इस दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना की[1]।

इसके बाद जो काल आया, अर्थात् १८२० से १८३० तक, वह इंगलैण्ड में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक छानबीन के लिये उल्लेखनीय था। यह रिकार्डो के सिद्धान्त को अति-सरल बनाने की चेष्टा में उसे भोंडे ढंग से पेश करने और उसका विस्तार करने और साथ ही पुराने मत के साथ इस सिद्धान्त के संघर्ष का भी काल था। बड़े शानदार दंगल हुए। उनमें जो कुछ हुआ, उसकी योरपीय महाद्वीप में बहुत कम जानकारी है, क्योंकि शास्त्रार्थ का अधिकतर भाग पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेखों, जब-तब प्रकाशित साहित्य तथा पुस्तिकाओं में बिखरा हुआ है। इस शास्त्रार्थ के तटस्थ एवं पूर्व-ग्रह-रहित स्वरूप का कारण – हालांकि कुछ ख़ास-ख़ास मौक़ों पर रिकार्डो का सिद्धान्त तभी से पूंजीवादी अर्थतन्त्र पर हमला करने के हथियार का काम देने लगा था – उस समय की परिस्थितियां थीं। एक ओर तो आधुनिक उद्योग ख़ुद उस समय केवल अपने बचपन से निकल रहा था, जिसका प्रमाण यह है कि १८२५ के अर्थ-संकट से उसके आधुनिक जीवन के नियतकालिक चक्र का पहली बार श्रीगणेश हुआ था। दूसरी ओर, इस समय पूंजी और श्रम का वर्ग-संघर्ष पृष्ठभूमि में पड़ गया था, – और उसे पीछे धकेलकर राजनीतिक दृष्टि से एक तरफ़ पवित्र गुट (Holy Alliance) के इर्द-गिर्द एकत्रित सरकारों तथा सामन्ती अभिजात-वर्ग और दूसरी तरफ़ पूंजीपति-वर्ग के नेतृत्व में साधारण जनता का झगड़ा सामने आ गया था और आर्थिक दृष्टि से औद्योगिक पूंजी तथा अभिजात-वर्गीय भू-सम्पत्ति का झगड़ा सामने आ गया था। यह दूसरा झगड़ा फ़्रांस में छोटी और बड़ी भू-सम्पत्ति के झगड़े से छिप गया था, और इंगलैण्ड में वह अनाज-सम्बंधी क़ानूनों के बाद खुल्लमखुल्ला शुरू हो गया था। इस समय का इंगलैण्ड का अर्थशास्त्र सम्बंधी साहित्य उस तूफ़ानी प्रगति की याद दिलाता है, जो फ़्रांस में डा० क्वेज़ने की मृत्यु के बाद हुई थी, मगर उसी तरह, जैसे अक्तूबर की अल्पकालीन गरमी बसन्त की याद दिलाती है। १८३० में निर्णायक संकट आ पहुंचा।

फ़्रांस और इंगलैण्ड में पूंजीपति-वर्ग ने राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लिया था। उस समय से ही वर्ग-संघर्ष व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से अधिकाधिक बेलाग

[1] देखिये मेरी रचना "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*", पृ० ३९।

और डरावना रूप धारण करता गया। इसने वैज्ञानिक पूंजीवादी अर्थशास्त्र की मौत की घण्टी बजा दी। उस वक़्त से ही सवाल यह नहीं रह गया कि अमुक प्रमेय सही है या नहीं, बल्कि सवाल यह हो गया कि वह पूंजी के लिये हितकर है या हानिकारक, उपयोगी है या अनुपयोगी, राजनीतिक दृष्टि से ख़तरनाक है या नहीं। तटस्थ भाव से छान-बीन करने वालों की जगह किराये के पहलवानों ने ले ली; सच्ची वैज्ञानिक खोज का स्थान पूंजी के समर्थकों के, अपने को अपराधी समझने वाले, अन्तःकरण तथा बुरे उद्देश्य ने ग्रहण कर लिया। इसके बावजूद लोगों का ध्यान ज़बर्दस्ती अपनी ओर खींच लेने वाली उन पुस्तिकाओं का भी यदि वैज्ञानिक नहीं, तो ऐतिहासिक महत्व ज़रूर है, जिनसे कोबडेन और ब्राइट नामक कारख़ानेदारों के नेतृत्व में चलने वाली अनाज-क़ानून-विरोधी लीग ने दुनिया को पाट दिया था। उनका ऐतिहासिक महत्व इसलिए है कि उनमें अभिजात-वर्गीय भूस्वामियों का खण्डन किया गया था। लेकिन उसके बाद से स्वतंत्र व्यापार के क़ानूनों ने, जिनका उद्घाटन सर रोबर्ट पील ने किया था, घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र के इस आख़िरी कांटे को भी निकाल दिया है।

१८४८-४९ में योरपीय महाद्वीप में जो क्रान्ति हुई, उसकी प्रतिक्रिया इंगलैण्ड में भी हुई। जो लोग अब भी वैज्ञानिक होने का थोड़ा-बहुत दावा करते थे और महज़ शासक वर्गों के ज़र-ख़रीद दार्शनिकों तथा मुसाहबों से कुछ अधिक बनना चाहते थे, उन्होंने पूंजी के अर्थशास्त्र का सर्वहारा के उन दावों के साथ ताल-मेल बैठाने की कोशिश की, जिनकी अब अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इससे एक छिछला समन्वयवाद प्रारम्भ हुआ, जिसके सबसे अच्छे प्रतिनिधि जान स्टुअर्ट मिल हैं। इस प्रकार पूंजीवादी अर्थशास्त्र ने अपने दिवालियापन की घोषणा कर दी थी। महान रूसी विद्वान एवं आलोचक नि० चेर्नीशेव्स्की ने अपनी रचना 'मिल के अनुसार अर्थशास्त्र की रूपरेखा' में एक महान मस्तिष्क की सहायता से इस घटना पर एक अधिकारी के रूप में प्रकाश डाला है।

इसलिये, जर्मनी में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली उस वक़्त सामने आयी, जब उसका परस्पर-विरोधी स्वरूप इंगलैण्ड और फ़्रांस में पहले ही वर्गों के भीषण संघर्ष में प्रकट हो चुका था। इसके अलावा, इसी बीच जर्मन सर्वहारा-वर्ग ने जर्मन पूंजीपति वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट वर्ग-चेतना प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार, जब आख़िर वह घड़ी आयी कि जर्मनी में अर्थशास्त्र का पूंजीवादी विज्ञान सम्भव प्रतीत होने लगा, ठीक उसी समय वह वास्तव में फिर असम्भव हो गया था।

ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र के पूंजीवादी विज्ञान के प्रोफ़ेसर दो दलों में बंट गये। एक दल, जिसमें व्यावहारिक ढंग के, हर चीज़ से चौकस व्यवसायी लोग थे, बास्तियात के झण्डे के नीचे इकट्ठा हो गया, जो कि घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र का सबसे ज़्यादा सतही और इसलिये सबसे ज़्यादा अधिकारी प्रतिनिधि है। दूसरा दल, जिसे अपने विज्ञान की प्रोफ़ेसराना प्रतिष्ठा का गर्व था, जान स्टुअर्ट मिल का अनुसरण करते हुए ऐसी चीज़ों में समझौता कराने की कोशिश करने लगा, जिनमें कभी समझौता नहीं हो सकता। जिस तरह पूंजीवादी अर्थशास्त्र के अभ्युदय के काल में जर्मन लोग महज़ स्कूली लड़के, नक़्क़ाल, पिछलग्गू और थोक व्यापार करने वाली विदेशी कम्पनियों का अपने देश में फुटकर ढंग से और फेरी लगाकर माल बेचने वाले मनिहार बनकर रह गये थे, ठीक वही हाल उनका अब पूंजीवादी अर्थशास्त्र के पतन के काल में हुआ।

अतएव, जर्मन समाज का ऐतिहासिक विकास जिस विशेष ढंग से हुआ है, वह उस देश में पूंजीवादी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के सृजनात्मक कार्य की तो इजाजत नहीं देता, पर उस अर्थशास्त्र की आलोचना करने की छूट दे देता है। जिस हद तक यह आलोचना किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, उस हद तक वह केवल उसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकती है, जिसको इतिहास में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का तख़्ता उलट देने और सभी वर्गों को अन्तिम रूप से मिटा देने का काम मिला है,—अर्थात् उस हद तक वह केवल सर्वहारा-वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर सकती है।

जर्मन पूंजीपति-वर्ग के पंडित और अपंडित प्रवक्ताओं ने शुरू में 'पूंजी' ("*Das Kapital*")-को ख़ामोशी के ज़रिये मार डालने की कोशिश की। वे मेरी पहले वाली रचनाओं के साथ ऐसा ही कर चुके थे। पर ज्यों ही उन्होंने यह देखा कि यह चाल अब समय की परिस्थितियों से मेल नहीं खाती, त्यों ही उन्होंने मेरी किताब की आलोचना करने के बहाने "पूंजीवादी मस्तिष्क को शान्त करने" के नुसख़े लिखने शुरू कर दिये। लेकिन मज़दूरों के अख़बारों के रूप में उनको अपने से शक्तिशाली विरोधियों का सामना करना पड़ा,—मिसाल के लिये, "*Volksstaat*" में जोज़ेफ़ दीत्सगेन के लेखों को देखिये,—और उन का वे आज तक जवाब नहीं दे पाये हैं[1]।

"*Das Kapital*" का एक बहुत अच्छा रूसी अनुवाद १८७२ के वसन्त में प्रकाशित हुआ था। ३,००० प्रतियों का यह संस्करण लगभग समाप्त भी हो गया है। कियेव विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर एन० ज़ीबेर ने १८७१ में ही अपनी रचना 'डेविड रिकार्डो का मूल्य का और पूंजी का सिद्धान्त' में मूल्य, मुद्रा और पूंजी के मेरे सिद्धान्त का ज़िक्र किया था और कहा था कि जहां तक उसके सार का सम्बंध है, यह सिद्धान्त स्मिथ और रिकार्डो की सीख का आवश्यक निष्कर्ष है। इस सुन्दर रचना को पढ़ने पर जो बात पश्चिमी योरप के पाठकों को आश्चर्य में डाल देती है, वह यह है कि विशुद्ध सैद्धान्तिक प्रश्नों पर लेखक का बहुत ही सुसंगत और दृढ़ अधिकार है।

---

[1] जर्मनी के घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र के चिकनी-चुपड़ी बातें करने वाले बकवासियों ने मेरी पुस्तक की शैली की निन्दा की है। "*Das Kapital*" के साहित्यिक दोषों का जितना अहसास मुझे है, उससे ज्यादा किसी को नहीं हो सकता। फिर भी मैं इन महानुभावों के तथा उनको पढ़ने वाली जनता के लाभ और मनोरंजन के लिये इस सम्बंध में एक अंग्रेज़ी तथा एक रूसी समालोचना को उद्धृत करूंगा। "*Saturday Review*" ने, जो मेरे विचारों का सदा विरोधी रहा है, पहले संस्करण की आलोचना करते हुए लिखा था: "विषय को जिस ढंग से पेश किया गया है, वह नीरस से नीरस आर्थिक प्रश्नों में भी एक अनोखा आकर्षण पैदा कर देता है।" 'सेंत पीतर्सबुर्ग जर्नल' ('सांक्त-पेतेरबुर्गस्किये वेदोमोस्ती') ने अपने २० अप्रैल १८७२ के अंक में लिखा है: "एक-दो बहुत ही ख़ास हिस्सों को छोड़कर विषय को पेश करने का ढंग ऐसा है कि वह सामान्य पाठक की भी समझ में आ जाता है, खूब साफ़ हो जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत जटिल होते हुए भी असाधारण रूप से सजीव हो उठता है। इस दृष्टि से लेखक... अधिकतर जर्मन विद्वानों से बिल्कुल भिन्न है, जो... अपनी पुस्तकें ऐसी नीरस और दुरूह भाषा में लिखते हैं कि साधारण इनसानों के सिर तो उनसे टकराकर ही टूट जाते हैं।"

*"Das Kapital"* में प्रयोग की गयी पद्धति के बारे में जो तरह-तरह की परस्पर-विरोधी धारणाएं लोगों ने बना ली हैं, उनसे मालूम होता है कि इस पद्धति को लोगों ने बहुत कम समझा है।

चुनांचे पेरिस की *"Revue Positiviste"* ने मेरी इसलिये भर्त्सना की है कि एक तरफ़ तो मैं अर्थशास्त्र का अतिभौतिक ढंग से विवेचन करता हूं और दूसरी तरफ़ – ज़रा सोचिये तो! – मैं भविष्य के बावर्चीख़ानों के लिये नुसख़े (शायद कोंतवादी नुसख़े?) लिखने के बजाय केवल वास्तविक तथ्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखता हूं। जहां तक अतिभूतवाद की शिकायत है, उसके जवाब में प्रोफ़ेसर ज़ीबेर ने यह लिखा है कि "जहां तक वास्तविक सिद्धान्त के विवेचन का सम्बंध है, मार्क्स की पद्धति पूरी अंग्रेज़ी धारा की निगमन-पद्धति है, और इस धारा में वे तमाम गुण और अवगुण मौजूद हैं, जो सर्वोत्तम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियों में पाये जाते हैं।" एम० ब्लोक ने *"Les Théoriciens du Socialisme en Allemagne. Extrait du Journal des Economistes, Juillet et Août 1872"* में यह आविष्कार किया है कि मेरी पद्धति विश्लेषणात्मक है, और लिखा है कि "Par cet ouvrage M. Marx se classe parmi les esprits analitiques les plus éminents" ("इस रचना द्वारा श्रीमान मार्क्स ने सबसे प्रमुख विश्लेषणकारी प्रतिभाओं की पंक्ति में स्थान प्राप्त कर लिया है")। जर्मन पत्रिकाएं, ज़ाहिर है, "हेगेलवादी ढंग से बाल की खाल निकालने" के ख़िलाफ़ चीख़ रही हैं। सेण्ट पीतर्सबुर्ग के 'योरपियन-मैसंजर' नामक पत्र ने एक लेख में *"Das Kapital"* की केवल पद्धति की ही चर्चा की है (मई का अंक, १८७२, पृ० ४२७-४३६)। उसको मेरा खोज का तरीक़ा तो अतियथार्थवादी लगता है, लेकिन विषय को पेश करने का मेरा ढंग, उसकी दृष्टि से, दुर्भाग्यवश जर्मन-द्वन्द्ववादी है। उसने लिखा है: "यदि हम विषय को पेश करने के बाहरी ढंग के आधार पर अपना मत क़ायम करें, तो पहली दृष्टि में लगेगा कि मार्क्स भाववादी दार्शनिकों में भी सबसे अधिक भाववादी है, और यहां हम इस शब्द का प्रयोग उसके जर्मन अर्थ में, यानी बुरे अर्थ में, कर रहे हैं। लेकिन असल में वह आर्थिक आलोचना के क्षेत्र में अपने समस्त पूर्वगामियों से कहीं अधिक यथार्थवादी है। उसे किसी भी अर्थ में भाववादी नहीं कहा जा सकता।" मैं इस लेखक को उत्तर देने का इससे अच्छा कोई ढंग नहीं सोच सकता कि ख़ुद उसकी आलोचना के कुछ उद्धरणों की सहायता लूं; हो सकता है कि रूसी लेख जिनकी पहुंच के बाहर है, मेरे कुछ ऐसे पाठकों को भी उसमें दिलचस्पी हो।

१८५९ में बर्लिन से प्रकाशित मेरी पुस्तक 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' की भूमिका का एक ऐसा उद्धरण (पृ० चार-सात) देने के बाद, जिसमें मैंने अपनी पद्धति के भौतिकवादी आधार की चर्चा की है, इस लेखक ने आगे लिखा है: "मार्क्स के लिये जिस एक बात का महत्त्व है, वह यह है कि जिन घटनाओं की छान-बीन में वह किसी वक़्त लगा हुआ हो, उनके नियम का पता लगाया जाय। और उसके लिये केवल उस नियम का ही महत्त्व नहीं है, जिसके द्वारा इन घटनाओं का उस हद तक नियमन होता है, जिस हद तक कि उनका कोई निश्चित स्वरूप होता है और जिस हद तक कि उनके बीच किसी ख़ास ऐतिहासिक काल के भीतर पारस्परिक सम्बंध होता है। मार्क्स के लिये इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण नियम है घटनाओं के परिवर्तन को, उनके विकास का, अर्थात् उनके एक रूप से दूसरे रूप में बदलने का, सम्बंधों के एक क्रम से दूसरे क्रम में परिवर्तित होने का। इस नियम का पता लगा लेने के बाद वह विस्तार के साथ इस बात की खोज करता है कि यह नियम सामाजिक जीवन में किन-किन रूपों

में प्रकट होता है। इसके परिणामस्वरूप मार्क्स को केवल एक ही बात की चिन्ता रहती है, वह यह कि कड़ी वैज्ञानिक खोज के द्वारा सामाजिक परिस्थितियों की एक के बाद दूसरी आने वाली अलग-अलग निश्चित व्यवस्थाओं की आवश्यकता सिद्ध करके दिखा दी जाये और अधिक से अधिक निष्पक्ष भाव से उन तथ्यों की स्थापना की जाये, जो मार्क्स के लिये बुनियादी प्रस्थान-बिन्दुओं का काम करते हैं। इसके लिये बस इतना बहुत काफ़ी है, यदि वह वर्त्तमान व्यवस्था की आवश्यकता सिद्ध करने के साथ-साथ उस नयी व्यवस्था की आवश्यकता भी सिद्ध कर दे, जिसमें कि वर्त्तमान व्यवस्था को अनिवार्य रूप से बदल जाना है। और यह परिवर्तन हर हालत में होता है, चाहे लोग इसमें विश्वास करें या न करें और चाहे वे इसके बारे में सजग हों या न हों। मार्क्स सामाजिक प्रगति को प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया के रूप में पेश करता है, जो ऐसे नियमों के अनुसार चलती है, जो न केवल मनुष्य की इच्छा, चेतना और समझ-बूझ से स्वतंत्र होते हैं, बल्कि, इसके विपरीत, जो इस इच्छा, चेतना और समझ-बूझ को निर्धारित करते हैं... यदि सभ्यता के इतिहास में चेतन तत्त्व की भूमिका इतनी गौण है, तो यह बात स्वतः स्पष्ट है कि जिस आलोचनात्मक खोज की विषय-वस्तु सभ्यता है, वह अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा चेतना के किसी भी रूप पर अथवा चेतना के किसी भी परिणाम पर कम ही आधारित हो सकती है। तात्पर्य यह है कि यहां विचार नहीं, बल्कि केवल भौतिक घटना ही प्रस्थान-बिन्दु का काम कर सकती है। इस प्रकार की खोज किसी तथ्य का मुक़ाबला और तुलना विचारों से नहीं करेगी, बल्कि वह एक तथ्य का मुक़ाबला और तुलना किसी दूसरे तथ्य से करने तक ही अपने को सीमित रखेगी। इस खोज के लिये महत्त्वपूर्ण बात सिर्फ़ यह है कि दोनों तथ्यों की छान-बीन यथासम्भव बिलकुल सही-सही की जाये, और यह कि एक दूसरे के सम्बंध में वे एक विकास-क्रिया की दो भिन्न अवस्थाओं का सचमुच प्रतिनिधित्व करें; लेकिन सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि एक के बाद एक सामने आने वाली उन अवस्थाओं, अनुक्रमों और शृंखलाओं के क्रम का कड़ाई के साथ विश्लेषण किया जाये, जिनके रूप में इस प्रकार के विकास की अलग-अलग मंज़िलें प्रकट होती हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन के सामान्य नियम तो सदा एक से होते हैं, चाहे वे भूतकाल पर लागू किये जायें और चाहे वर्त्तमान काल पर। पर इस बात से मार्क्स साफ़ तौर पर इनकार करता है। उसके मतानुसार, ऐसे अमूर्त्त नियम होते ही नहीं। इसके विपरीत, उसकी राय में तो प्रत्येक ऐतिहासिक युग के अपने अलग नियम होते हैं... जब समाज विकास के किसी ख़ास युग को पीछे छोड़ देता है और एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल में प्रवेश करने लगता है, तब उसी वक़्त से उसपर कुछ दूसरे नियम भी लागू होने लगते हैं। संक्षेप में कहा जाये, तो आर्थिक जीवन हमारे सामने एक ऐसी क्रिया प्रस्तुत करता है, जो जीव-विज्ञान की अन्य शाखाओं में पाये जाने वाले विकास के इतिहास से बिलकुल मिलती-जुलती है। पुराने अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियमों को भौतिक विज्ञान तथा रसायन-विज्ञान के नियमों के समान बताकर उनकी प्रकृति को ग़लत समझा था। घटनाओं का अधिक गहरा अध्ययन करने पर पता लगा कि सामाजिक संघटनों के बीच अलग-अलग ढंग के पौधों या पशुओं के समान ही बुनियादी भेद होता है। ऐसे ही नहीं, बल्कि यह कहना चाहिये कि चूंकि इन सामाजिक संघटनों की पूरी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है, उनके अवयव अलग-अलग प्रकार के होते हैं और ये अवयव अलग-अलग तरह की परिस्थितियों में काम करते हैं, इसलिये उनमें एक ही घटना बिलकुल भिन्न नियमों के आधीन हो जाती है। उदाहरण के लिये, मार्क्स इससे इनकार करता है कि आबादी का नियम प्रत्येक

काल और प्रत्येक स्थान में एक सा रहता है। इसके विपरीत, उसका कहना यह है कि विकास की हरेक मंजिल का अपना आबादी का नियम होता है... उत्पादक शक्ति का विकास जितना कम-ज्यादा होता है, उसके अनुसार सामाजिक परिस्थितियां और उनपर लागू होने वाले नियम भी बदलते जाते हैं। जब मार्क्स अपने सामने यह काम रखता है कि उसको इस दृष्टिकोण से पूंजी के प्रभुत्व के द्वारा स्थापित आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन एवं स्पष्टीकरण करना है, तब वह केवल उसी उद्देश्य की सर्वथा वैज्ञानिक ढंग से स्थापना कर रहा है, जो आर्थिक जीवन की प्रत्येक परिशुद्ध खोज का उद्देश्य होना चाहिये। ऐसी खोज का वैज्ञानिक महत्त्व इस बात में है कि वह उन विशेष नियमों को खोलकर रख दे, जिनके द्वारा किसी सामाजिक संघटन की उत्पत्ति, अस्तित्व, विकास और अन्त का तथा उसके स्थान पर किसी और, अधिक ऊंचे संघटन की स्थापना का नियमन होता है। और, असल में, मार्क्स की पुस्तक का महत्त्व इसी बात में है।"

यहां पर लेखक ने जिसे मेरी पद्धति समझकर इस सुन्दर और (जहां तक इसका सम्बंध है कि खुद मैंने उसे किस तरह लागू किया है) उदार ढंग से चित्रित किया है, वह द्वन्द्ववादी पद्धति के सिवा और क्या है?

जाहिर है, किसी विषय को पेश करने का ढंग खोज के ढंग से भिन्न होता है। खोज के समय विस्तार में जाकर सारी सामग्री पर अधिकार करना पड़ता है, उसके विकास के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करना होता है और उनके आन्तरिक सम्बंध का पता लगाना पड़ता है। जब यह काम सम्पन्न हो जाता है, तभी जाकर कहीं वास्तविक गति का पर्याप्त वर्णन करना सम्भव होता है। यदि यह काम सफलतापूर्वक पूरा हो जाता है, यदि विषय-वस्तु का जीवन दर्पण के समान विचारों में झलकने लगता है, तब यह सम्भव है कि हमें ऐसा प्रतीत हो, जैसे किसी ने अपने दिमाग से सोचकर कोई तसवीर गढ़ दी है।

मेरी द्वन्द्ववादी पद्धति हेगेलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हेगेल के लिये मानव-मस्तिष्क की जीवन-प्रक्रिया, अर्थात् चिन्तन की प्रक्रिया, जिसे "विचार" के नाम से उसने एक स्वतंत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक संसार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक संसार "विचार" का बाहरी, इन्द्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिये विचार इसके सिवा और कुछ नहीं कि भौतिक संसार मानव-मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपों में बदल जाता है।

हेगेलवादी द्वन्द्ववाद के रहस्यमय पहलू की मैंने लगभग तीस वर्ष पहले आलोचना की थी, और तब उसका काफ़ी चलन था। लेकिन जिस समय मैं ***"Das Kapital"*** के प्रथम खण्ड पर काम कर रहा था, ठीक उसी समय इन चिड़चिड़े, घमंडी और प्रतिभाहीन Επιγονοι (योग्य नेता के अयोग्य अनुयायियों) को, जो कि आजकल सुसंस्कृत जर्मनी में बड़ी लम्बी-लम्बी हांक रहे हैं, हेगेल के साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करने की सूझी, जैसा लेस्सिंग के काल में बहादुर मोसेज़ मेण्डेल्सोन ने स्पिनोज़ा के साथ किया था, – यानी उन्होंने भी हेगेल के साथ 'मरे हुए कुत्ते' जैसा व्यवहार करने की सोची। तब मैंने खुल्लमखुल्ला यह स्वीकार किया कि मैं उस महान विचारक का शिष्य हूं, और मूल्य के सिद्धान्त वाले अध्याय में जहां-तहां मैंने अभिव्यक्ति के उस ढंग से भी आंख-मिचौली खेली है, जो हेगेल का खास ढंग है। हेगेल के हाथों में द्वन्द्ववाद पर रहस्य का आवरण पड़ जाता है, लेकिन इसके बावजूद यह सही है कि हेगेल ने ही सबसे पहले विस्तृत और सचेत ढंग से यह बताया था कि अपने सामान्य रूप में द्वन्द्ववाद किस प्रकार

काम करता है। हेगेल के यहां द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर ढके हुए विवेकपूर्ण सार-तत्त्व का पता लगाना चाहते हैं, तो आपको उसे पलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।

अपने रहस्यमय रूप में द्वन्द्ववाद का जर्मनी में इसलिये चलन हो गया था कि वह मानो तत्कालीन व्यवस्था को रूपान्तरित करके आकर्षक बना देता है। पर अपने विवेकपूर्ण रूप में वह पूंजीवादी संसार तथा उसके पण्डिताऊ प्रोफ़ेसरों के लिए एक निन्दनीय और घृणित वस्तु है, क्योंकि उसमें वर्तमान व्यवस्था की उसकी समझ तथा सकारात्मक स्वीकृति में साथ ही साथ इस व्यवस्था के निषेध और उसके अवश्यम्भावी विनाश की स्वीकृति भी शामिल है; क्योंकि द्वन्द्ववाद ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक सामाजिक रूप को सतत परिवर्तनशील मानता है और इसलिये उसके अस्थायी स्वरूप का उसके क्षणिक अस्तित्व से कम खयाल नहीं रखता है और क्योंकि द्वन्द्ववाद किसी चीज़ को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता और वह अपने सार-तत्त्व में आलोचनात्मक एवं क्रान्तिकारी है।

पूंजीवादी समाज की गति में जो अन्तरविरोध निहित हैं, वे व्यावहारिक पूंजीपति के दिमाग़ पर सबसे अधिक ज़ोर से उस नियतकालिक चक्र के परिवर्तनों के रूप में प्रभाव डालते हैं, जिसमें से समस्त आधुनिक उद्योग को गुज़रना पड़ता है और जिसका सर्वोच्च बिन्दु सर्वव्यापी संकट होता है। वह संकट एक बार फिर आने को है, हालांकि अभी वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है; और इस संकट की लपेट इतनी सर्वव्यापी होगी और उसका प्रभाव इतना तीव्र होगा कि वह इस नये पवित्र प्रशन-जर्मन साम्राज्य के बरसात में कुकुरमुत्तों की तरह पैदा होने वाले नये नवाबों के दिमाग़ों में भी द्वन्द्ववाद को ठोक-ठोक कर घुसा देगा।

कार्ल मार्क्स

लन्दन, २४ जनवरी १८७३।

## फ़्रांसीसी संस्करण की भूमिका

नागरिक मौरिस लशात्रे के नाम

प्रिय नागरिक,

*"Das Kapital"* के अनुवाद के क्रमिक प्रकाशन का आपका विचार प्रशंसनीय है। इस रूप में पुस्तक मजदूर-वर्ग के लिये अधिक सुलभ होगी, और मेरे लिये यह बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह तो आपके सुझाव का अच्छा पहलू हुआ, पर अब तसवीर के दूसरे रुख पर भी ग़ौर कीजिये। मैंने विश्लेषण की जिस पद्धति का प्रयोग किया है और जिसका इसके पहले कभी आर्थिक विषयों के लिये प्रयोग नहीं हुआ था, उसने शुरू के अध्यायों को पढ़ने में कुछ कठिन बना दिया है। फ़्रांसीसी पाठक सदा परिणाम पर पहुंचने के लिये व्यग्र और यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि जिन तात्कालिक प्रश्नों ने उनकी भावनाओं को जगा रखा है, उनका सामान्य सिद्धान्तों के साथ क्या सम्बंध है। मुझे डर है कि तेजी से आगे न बढ़ पाने के कारण उन्हें कुछ निराशा होगी।

यह एक ऐसी कठिनाई है, जिसे दूर करना मेरी शक्ति के बाहर है। मैं तो केवल इतना ही कर सकता हूं कि जिन पाठकों को सत्य की खोज करने की धुन है, उनको पहले से चेतावनी देकर आने वाली कठिनाई का सामना करने के लिये तैयार कर दूं। विज्ञान का कोई सीधा और सपाट राजमार्ग नहीं है, और उसकी प्रकाशमान चोटियों तक पहुंचने का केवल उन्हीं को अवसर प्राप्त हो सकता है, जो उसके ढालू रास्तों की थका देने वाली चढ़ाई से नहीं डरते।

प्रिय नागरिक,

विश्वास करें

कि मैं हूं

आपका स्नेही

कार्ल मार्क्स

लन्दन, १८ मार्च १८७२।

## फ़्रांसीसी संस्करण का परिशिष्ट

मि० जे० रोय ने एक ऐसा संस्करण तैयार करने का बीड़ा उठाया था, जो अधिक से अधिक सही हो और यहां तक कि जिसमें मूल का अक्षरशः अनुवाद किया गया हो, और उन्होंने यह काम बड़ी सतर्कता के साथ पूरा किया है। लेकिन उनकी इसी सतर्कता ने मुझे उनके पाठ में कुछ तबदीलियां करने के लिये मजबूर कर दिया है, ताकि वह ज्यादा आसानी से पाठक की समझ में आ सके। ये तबदीलियां कभी-कभी जल्दी में की जाती थीं, क्योंकि किताब भागों में प्रकाशित हो रही थी, और चूंकि सब तबदीलियों में बराबर सतर्कता नहीं बरती गयी, इसलिये लाजिमी तौर पर उनका यह नतीजा हुआ कि शैली में ऊबड़खाबड़पन आ गया।

पुस्तक को दोहराने का काम एक बार हाथ में लेने पर मैं मूल पाठ (दूसरे जर्मन संस्करण) को भी दोहराने लगा, ताकि कुछ युक्तियों को और अधिक सरल बना दूं, दूसरी कुछ युक्तियों को और पूर्ण कर दूं, कुछ नयी ऐतिहासिक सामग्री या नये आंकड़े शामिल कर दूं और कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियां जोड़ दूं, इत्यादि। इसलिये इस फ़्रांसीसी संस्करण में साहित्यिक दोष चाहे जैसे रह गये हों, इसका मूल संस्करण से स्वतंत्र वैज्ञानिक महत्व है और इसे उन पाठकों को भी देखना चाहिये, जो जर्मन संस्करण से परिचित हैं।

नीचे मैं दूसरे जर्मन संस्करण के परिशिष्ट के उन अंशों को दे रहा हूं, जिनमें जर्मनी में अर्थशास्त्र के विकास और मेरी इस रचना में प्रयोग की गयी पद्धति की चर्चा की गयी है।

कार्ल मार्क्स

लन्दन, २८ अप्रैल १८७५।

## तीसरे जर्मन संस्करण की भूमिका

इस तीसरे संस्करण को प्रेस के लिये खुद तैयार करना मार्क्स के भाग्य में नहीं था। उस शक्तिशाली विचारक की, जिसकी महानता के सामने अब उसके विरोधी तक शीश नवाते हैं, १४ मार्च १८८३ को मृत्यु हो गयी।

मार्क्स की मृत्यु से मैंने अपना सबसे अच्छा, सबसे सच्चा और चालीस वर्ष पुराना मित्र खो दिया। वह मेरा ऐसा मित्र था, जिसका मुझपर इतना ऋण है, जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसकी मृत्यु के बाद इस तीसरे संस्करण के और साथ ही उस द्वितीय खण्ड के प्रकाशन की देखरेख करने की जिम्मेदारी मुझपर आयी, जिसे मार्क्स हस्तलिपि के रूप में छोड़ गये थे। अब मुझे यहां पाठक को यह बताना है कि इस जिम्मेदारी के पहले हिस्से को मैंने किस ढंग से पूरा किया है।

मार्क्स का शुरू में यह इरादा था कि प्रथम खण्ड के अधिकतर भाग को फिर से लिख डालें; वह बहुत से सैद्धान्तिक नुक्तों को ज्यादा सही ढंग से पेश करना चाहते थे, कुछ नये नुक्ते जोड़ना और नवीनतम ऐतिहासिक सामग्री तथा आंकड़े शामिल करना चाहते थे। परन्तु उनकी बीमारी ने और द्वितीय खण्ड का जल्द से जल्द अन्तिम सम्पादन करके उसे तैयार कर देने की आवश्यकता ने उनको यह योजना त्याग देने पर मजबूर कर दिया। तय हुआ कि महज बहुत ही जरूरी तबदीलियां की जायें और केवल वे ही नये अंश जोड़े जायें, जो फ़्रांसीसी संस्करण (*"Le Capital"*. Par Karl Marx. Paris, Lachâtre, 1873) में पहले ही मौजूद हैं।

मार्क्स जो किताबें छोड़ गये हैं, उनमें 'पूंजी' की एक जर्मन प्रति थी, जिसे उन्होंने खुद जहां-तहां सही किया था और जिसमें फ़्रांसीसी संस्करण के हवाले भी दिये थे; उसके साथ-साथ उन किताबों में एक फ़्रांसीसी प्रति भी थी, जिसमें उन्होंने ठीक उन अंशों को इंगित किया था, जिनको इस्तेमाल करने की आवश्यकता थी। कतिपय अपवादों को छोड़कर ये सारे परिवर्तन और मूल पाठ में जोड़े गये नये अंश पुस्तक के केवल उस आखिरी (अंग्रेजी संस्करण के उपान्त्य) भाग तक ही सीमित हैं, जिसका शीर्षक है 'पूंजी का संचय'। यहां पहले वाली पाठ्य सामग्री दूसरी सभी जगहों की तुलना में मौलिक मसविदे के अधिक अनुरूप थी, जब कि उसके पहले वाले हिस्सों को ज्यादा ध्यान देकर दोहराया जा चुका था। इसलिये इस आखिरी हिस्से की शैली अधिक सजीव और जैसे कि एक ही सांचे में ढाली गयी लगती थी, लेकिन साथ ही उससे कुछ ज्यादा लापरवाही भी झलकती थी, उसमें अंग्रेजी मुहावरे और प्रयोग छाये हुए थे और अनेक स्थानों पर भाषा अस्पष्ट हो गयी थी; जहां-तहां लगता था कि दलीलों को पेश करने में जैसे कुछ छूट गया है और कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की तरफ़ इशारा भर करके छोड़ दिया गया है।

जहां तक शैली का सम्बंध है, कुछ अनुभागों के टुकड़ों को मार्क्स ने ख़ुद अच्छी तरह दोहरा दिया था, और इस प्रकार तथा अनेक ज़बानी सुझावों के ज़रिये भी वह मुझे यह बता गये थे कि अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य अंग्रेज़ी मुहावरों और प्रयोगों को पुस्तक से निकालने में मैं कितनी दूर तक छूट ले सकता हूं। मार्क्स ख़ुद यह काम करते, तो नये जोड़े हुए अंशों और पूरक सामग्री को हर हालत में दोहराते और साफ़-सुथरी फ़्रांसीसी को अपनी नपी-तुली जर्मन से बदल देते। लेकिन मुझे इन अंशों को जर्मन संस्करण में जोड़ते समय केवल इतने से ही संतोष कर लेना पड़ा कि उनका मूल पाठ के साथ अधिक से अधिक ताल-मेल बैठा दूं।

इस प्रकार, इस तीसरे संस्करण में मैंने एक शब्द भी उस वक़्त तक नहीं बदला है, जब तक कि मुझे यह विश्वास नहीं हो गया कि मार्क्स ख़ुद भी उसे ज़रूर बदल देते। "*Das Kapital*" में उस ऊलजलूल शब्दावली को लाने की बात तो मैं कभी सोच ही नहीं सकता था, जिसका आजकल बहुत चलन है और जिसे इस्तेमाल करने का जर्मन अर्थशास्त्रियों को बहुत शौक़ है,—इस गपड़-सपड़ बोली में, मिसाल के लिये, जो आदमी दूसरों को नक़द पैसे देकर उन्हें अपना श्रम देने के लिये मजबूर करता है, वह श्रम-दाता (Arbait*geber*) कहलाता है, और मजबूरी के एवज़ में जिसका श्रम उससे छीन लिया जाता है, उसे श्रम-ग्रहीता (Arbeit*nehmer*) कहा जाता है। फ़्रांसीसी भाषा में भी "travail" शब्द रोज़मर्रे के जीवन में "रोज़ी" के अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन यदि कोई अर्थशास्त्री पूंजीपति को donneur de travail (श्रम-दाता) या मजदूर को receveur de travail (श्रम-ग्रहीता) कहने लगे, तो फ़्रांस के लोग उसे पागल समझेंगे और ठीक ही ऐसा समझेंगे।

अंग्रेज़ी सिक्कों और मुद्राओं तथा मापों और वज़नों को, जिनको पूरी किताब में इस्तेमाल किया गया है, उनके सम-मूल्य नये जर्मन सिक्कों और मुद्राओं तथा मापों और वज़नों में बदल देने की भी मैंने आज़ादी नहीं ली है। जिस समय पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय जर्मनी में इतने प्रकार की मापें और वज़न इस्तेमाल किये जाते थे, जितने कि साल में दिन होते हैं; इसके अलावा, मार्क भी दो तरह के थे (उस समय राइख़समार्क केवल ज़ेतबेर की कल्पना में ही मौजूद था, जिसने कि चौथे दशक के अन्त में उसका आविष्कार किया था), गुल्डन दो तरह के थे और टालर कम से कम तीन तरह के थे, जिनमें से एक neues Zweidrittel (नयी दो तिहाई) कहलाता था। प्राकृतिक विज्ञानों में दशमिक प्रणाली का चलन था, दुनिया की मण्डी में अंग्रेज़ी मापें और वज़न चलते थे। ऐसी परिस्थिति में एक ऐसी किताब में अंग्रेज़ी माप की इकाइयों का प्रयोग करना बिल्कुल स्वाभाविक था, जिसे लगभग सब के सब तथ्य सम्बंधी प्रमाण केवल ब्रिटेन के औद्योगिक सम्बंधों से लेने पड़े थे। यह आख़िरी कारण आज भी निर्णायक महत्त्व रखता है, ख़ास तौर पर इसलिये कि दुनिया की मण्डी के तत्सम्बन्धी सम्बंधों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है और मुख्य उद्योगों पर—यानी लोहे तथा कपास के उद्योगों पर—आज भी अंग्रेज़ी वज़नों और मापों का ही लगभग एकच्छत्र अधिकार है।

अन्त में कुछ शब्द मार्क्स-द्वारा उद्धरणों का प्रयोग करने की कला के सम्बंध में कह भी दिये जायें। इसे लोगों ने बहुत कम समझा है। जब उद्धरणों में केवल तथ्यों का विवरण या किसी चीज़ का वर्णन मात्र होता है, जैसे कि, मिसाल के लिए, इंगलैंड के सरकारी प्रकाशनों के उद्धरणों में, तब, ज़ाहिर है, उनको केवल लिखित प्रमाण के रूप में इस्तेमाल किया गया है। लेकिन जब दूसरे अर्थशास्त्रियों के सैद्धान्तिक विचारों को उद्धृत किया जाता है, तब ऐसा नहीं

# Das Kapital.

## Kritik der politischen Oekonomie.

Von

**Karl Marx.**

Erster Band.

**Buch I: Der Produktionsprocess des Kapitals.**

Hamburg
Verlag von Otto Meissner.
1867.

New-York: L. W. Schmidt, 24 Barclay-Street.

पूंजी, खण्ड १, के पहले जर्मन संस्करण का आवरण-पत्र
(चित्र में आकार छोटा कर दिया गया है)

होता। वहां उद्धरण का उद्देश्य केवल यह बताना होता है कि विकास के दौरान में अमुक आर्थिक विचार की स्पष्ट रूप में सबसे पहले किसने, कहां और कब स्थापना की थी। ऐसे उद्धरण को चुनते समय केवल इसी बात को ध्यान में रखा गया है कि वह उद्धरण जिस आर्थिक धारणा से सम्बंध रखता है, उसका इस विज्ञान के इतिहास के लिये कुछ महत्त्व हो और वह अपने काल की आर्थिक परिस्थिति को सैद्धान्तिक रूप में कमोबेश पर्याप्त ढंग से व्यक्त करती हो। लेकिन इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि लेखक के दृष्टिकोण से इस धारणा में आज भी कोई निरपेक्ष अथवा सापेक्ष सचाई है या वह एकदम गुज़रे हुए इतिहास की चीज़ बन गयी है। अतएव, ये उद्धरण केवल मूल पाठ की धारावाहिक टीका का काम करते हैं, जो टीका आर्थिक विज्ञान के इतिहास से उधार ली गयी है, और आर्थिक सिद्धान्त के क्षेत्र में उठाये गये प्रगति के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण क़दमों की तारीख़ों को तथा उनके आविष्कारकों के नामों को निश्चित करते हैं। यह करना उस विज्ञान के लिये अत्यन्त आवश्यक था, जिसके इतिहासकारों ने अभी तक केवल अपने पक्षपातपूर्ण अज्ञान के लिये ही नाम कमाया है, जो कि पदलोलुपों का गुण होता है। और इससे यह बात भी समझ में आ जानी चाहिये कि दूसरे संस्करण के परिशिष्ट के अनुसार मार्क्स को क्यों केवल कुछ अत्यन्त असाधारण प्रसंगों में ही जर्मन अर्थशास्त्रियों को उद्धृत करने की आवश्यकता पड़ी थी।

आशा है कि द्वितीय खण्ड १८८४ के दौरान में प्रकाशित हो जायेगा।

फ़ेडरिक एंगेल्स

लन्दन, ७ नवम्बर १८८३।

# अंग्रेज़ी संस्करण की भूमिका

*"Das Kapital"* ('पूंजी') के एक अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशन की कोई सफ़ाई देने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, इस बात की सफ़ाई की आशा की जा सकती है कि इस अंग्रेज़ी संस्करण में इतनी देर क्यों हो गयी, जब कि इस पुस्तक में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनकी इंगलैण्ड और अमरीका, दोनों देशों के सामयिक प्रकाशनों तथा तत्कालीन साहित्य में पिछले कुछ वर्षों से लगातार चर्चा हो रही है, आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही है, उनके तरह-तरह अर्थ लगाये जा रहे हैं और अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है।

१८८३ में इस पुस्तक के लेखक की मृत्यु हो गयी। शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि इसके एक अंग्रेज़ी संस्करण की सचमुच आवश्यकता है। तब मि० सैम्युअल मूर ने, जो अनेक वर्षों तक मार्क्स तथा इन पंक्तियों के लेखक के मित्र रहे हैं और जिनसे अधिक शायद और किसी को इस पुस्तक की जानकारी नहीं है, उस अनुवाद की जिम्मेवारी अपने कंधों पर ले ली, जिसे मार्क्स की साहित्यिक वसीयत के प्रबंधक जनता के सामने पेश करने के लिये उत्सुक थे। ख़याल यह था कि अनुवाद की हस्तलिपि को मैं मूल रचना से मिला कर देख लूंगा और यदि मुझे कोई परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होंगे, तो अनुवादक को बता दूंगा। जब धीरे-धीरे यह मालूम हुआ कि मि० मूर अपने पेशे के काम-धाम के कारण उतनी जल्दी अनुवाद ख़तम नहीं कर पा रहे हैं, जितनी जल्दी हम सब लोग चाहते थे, तो हमने डॉ० एवलिंग का यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया कि काम का एक भाग वह निमटा दें। साथ ही मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री श्रीमती एवलिंग ने यह तत्परता प्रकट की कि वह उद्धरणों को देख लेंगी कि सब ठीक हैं या नहीं, और मार्क्स ने अंग्रेज़ी भाषा के लेखकों तथा सरकारी प्रकाशनों से जो अनेक अंश लिये हैं तथा जिनको उन्होंने जर्मन भाषा में उल्था करके अपनी पुस्तक में इस्तेमाल किया है, उनका मूल अंग्रेज़ी पाठ अनुवाद में शामिल कर देंगी। कतिपय अपरिहार्य अपवादों के सिवा पूरी पुस्तक में यह बात कर दी गयी है।

पुस्तक के निम्नलिखित हिस्सों का अनुवाद डा० एवलिंग ने किया है: १) दसवां अध्याय (काम का दिन) और ग्यारहवां अध्याय (अतिरिक्त मूल्य की दर और अतिरिक्त मूल्य की राशि); २) छठा भाग (मजदूरी, जिसमें उन्नीसवें से लेकर बाईसवें अध्याय तक शामिल हैं); ३) चौबीसवें अध्याय के चौथे अनुभाग ("अतिरिक्त मूल्य के" आदि) से पुस्तक के अन्त तक, जिसमें चौबीसवें अध्याय का अन्तिम हिस्सा, पच्चीसवां अध्याय और पूरा आठवां भाग (छब्बीसवें अध्याय से बत्तीसवें अध्याय तक) शामिल हैं; ४) लेखक की दो प्रस्तावनाएं। बाक़ी पूरी पुस्तक का अनुवाद मि० मूर ने किया है। इस प्रकार, जहां प्रत्येक अनुवादक केवल अपने-अपने हिस्से के काम के लिये जिम्मेवार है, वहां मुझपर पूरे अनुवाद की संयुक्त जिम्मेवारी है।

इस अनुवाद में हमने जिस तीसरे जर्मन संस्करण को बराबर अपना आधार बनाया है, उसे मैंने, लेखक जो नोट छोड़ गये थे, उनकी मदद से १८८३ में तैयार किया था। इन नोटों में मार्क्स ने बताया था कि दूसरे संस्करण के किन अंशों को १८७३ में प्रकाशित फ़्रांसीसी संस्करण[1] के किन अंशों से बदल दिया जाये। इस प्रकार दूसरे संस्करण के पाठ में जो परिवर्तन किये गये, वे आम तौर पर उन परिवर्तनों से मेल खाते थे, जिनके बारे में मार्क्स कुछ हस्तलिखित हिदायतें छोड़ गये हैं। ये हिदायतें उन्होंने उस अंग्रेज़ी अनुवाद के सम्बंध में दी थीं, जिसकी योजना लगभग दस वर्ष पहले अमरीका में बनायी गयी थी, मगर जिसका विचार मुख्यतया एक योग्य और समर्थ अनुवादक के अभाव के कारण बाद में छोड़ दिया गया था। इन हिदायतों की हस्तलिपि हमें अपने पुराने मित्र, होबोकेन, न्यूजर्सी, के निवासी मि० एफ़० ए० ज़ोर्गे से प्राप्त हुई थी। उसमें फ़्रांसीसी संस्करण से कुछ और अंश लेने की भी बात थी, मगर चूंकि ये हिदायतें मार्क्स की उन आख़िरी हिदायतों से बहुत पुरानी थीं, जो वह तीसरे संस्करण के लिये छोड़ गये थे, इसलिये मैंने यह उचित नहीं समझा कि कुछ ख़ास अंशों को छोड़कर मैं आम तौर पर उनका इस्तेमाल करूं। ख़ास तौर पर मैंने उन जगहों पर इन हिदायतों का इस्तेमाल किया है, जहां उनसे कुछ कठिनाइयों को हल करने में मदद मिली है। इसी प्रकार अधिकतर कठिन अंशों के सम्बन्ध में फ़्रांसीसी पाठ से भी यह मालूम करने में मदद ली गयी है कि अनुवाद करने में जहां कहीं मूल पाठ के सम्पूर्ण अर्थ का एक अंश छोड़ देना ज़रूरी हुआ है, वहां ख़ुद लेखक क्या छोड़ देना उचित समझते थे।

किन्तु एक कठिनाई ऐसी है, जिससे हम पाठक को नहीं बचा सके। इस पुस्तक में कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग ऐसे अर्थों में हुआ है, जो न केवल साधारण जीवन, बल्कि साधारण अर्थशास्त्र के अर्थों से भी भिन्न हैं। लेकिन इस कठिनाई से बचना सम्भव न था। किसी भी विज्ञान का जब कोई नया पहलू सामने आता है, तो उस विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में भी एक इनक़िलाब हो जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण रसायन-विज्ञान है, जिसमें लगभग हर बीस साल के बाद पूरी शब्दावली एक बार मौलिक रूप से बदल जाती है और जिसमें शायद ही आपको एक भी ऐसा कार्बनिक यौगिक मिलेगा, जिसका नाम अभी तक अनेक बार न बदल चुका हो। अर्थशास्त्र ने आम तौर पर व्यापारिक एवं औद्योगिक जीवन के पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों इस्तेमाल करके सन्तोष कर लिया है। वह यह देखने में बिल्कुल असमर्थ रहा है कि ऐसा करके उसने अपने आपको उन विचारों के संकुचित दायरे में बन्द कर लिया है, जिनको ये पारिभाषिक शब्द व्यक्त करते हैं। इस प्रकार, यह बात अच्छी तरह स्पष्ट होते हुए भी कि मुनाफ़ा और लगान दोनों ही मज़दूर की पैदावार के उस हिस्से के टुकड़े या अंश मात्र हैं, जिसकी उसे उजरत नहीं मिलती और जिसको उसे अपने मालिक को दे देना पड़ता है (क्योंकि सबसे पहले उसका मालिक उसे पाता है, हालांकि वह उसका अन्तिम और एकमात्र स्वामी नहीं रहता), फिर भी प्रामाणिक अर्थशास्त्र मुनाफ़े और लगान की दूसरों से ली हुई इन परिकल्पनाओं से कभी आगे नहीं बढ़ा और उसने पैदावार के इस हिस्से पर, जिसकी मज़दूर

---

[1] *"Le Capital"*, par Karl Marx. Traduction de M. J. Roy, entièrement revisée par l'auteur. Paris. Lachâtre. इस अनुवाद में, ख़ासकर पुस्तक के बाद वाले हिस्से में, दूसरे जर्मन संस्करण के पाठ में काफ़ी परिवर्तन कर दिये गये हैं और कुछ नये अंश जोड़ दिये गये हैं।

# CAPITAL:

## A CRITICAL ANALYSIS OF CAPITALIST PRODUCTION

**By KARL MARX**

*TRANSLATED FROM THE THIRD GERMAN EDITION, BY SAMUEL MOORE AND EDWARD AVELING*

AND EDITED BY

**FREDERICK ENGELS**

**VOL. I.**

LONDON:
SWAN SONNENSCHEIN, LOWREY, & CO.,
PATERNOSTER SQUARE.
1887.

पूंजी के पहले अंग्रेजी संस्करण का मुखपृष्ठ

को कोई उजरत नहीं मिलती (और जिसे मार्क्स ने अतिरिक्त पैदावार का नाम दिया है), उसकी सम्पूर्ण अखण्डता में कभी विचार नहीं किया। इसलिये वह न तो कभी उसकी उत्पत्ति के रहस्य तथा उसके स्वरूप को साफ़-साफ़ समझ पाया और न ही उन नियमों को, जिनके अनुसार बाद को इस हिस्से के मूल्य का वितरण होता है। इसी प्रकार, खेती और दस्तकारी को छोड़कर बाक़ी सारे उद्योग-धंधों को, बिना किसी भेद-भाव के हस्तनिर्माण शब्द में शामिल कर लिया जाता है और इस तरह आर्थिक इतिहास के दो बड़े और बुनियादी तौर पर भिन्न युगों का सारा अन्तर ख़तम कर दिया जाता है। ये दो काल हैं: एक तो ख़ास हस्तनिर्माण का काल, जो हाथ के श्रम के विभाजन पर आधारित था, और दूसरा आधुनिक उद्योगों का काल, जो मशीनों पर आधारित है। इसलिये ज़ाहिर है कि जो सिद्धान्त आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन को मनुष्य-जाति के आर्थिक इतिहास की एक अस्थायी अवस्था मात्र समझता है, उसका काम उन पारिभाषिक शब्दों से नहीं चल सकता, जिनको वे लेखक इस्तेमाल करने के आदी हैं, जो उत्पादन के इस रूप को अजर-अमर और अन्तिम समझते हैं।

दूसरी रचनाओं के अंश उद्धृत करने का लेखक ने जो ढंग अपनाया है, दो शब्द उसके बारे में कह देना अनुचित न होगा। जैसा कि साधारण चलन है, अधिकतर स्थानों पर उद्धरण मूल पाठ में दी गयी स्थापनाओं के समर्थन में लिखित साक्ष्य प्रस्तुत करने का काम करते हैं। लेकिन अनेक ऐसे स्थान भी हैं, जहां अर्थशास्त्र के लेखकों के उद्धरण यह इंगित करने के लिये दिये गये हैं कि कोई स्थापना सबसे पहले किसनें, कहां और कब स्पष्ट रूप में की थी। ऐसे उद्धरण उन स्थानों में दिये गये हैं, जहां उद्धृत स्थापना इसलिये महत्त्व रखती है कि वह अपने काल की सामाजिक उत्पादन एवं विनिमय की परिस्थितियों को कमोबेश पर्याप्त रूप में व्यक्त करती थी। मार्क्स उस स्थापना को आम तौर पर सही समझते थे या नहीं, इसका उसे उद्धृत करने के सिलसिले में कोई महत्त्व नहीं है। इस तरह, इन उद्धरणों के रूप में मूल पाठ के साथ-साथ विज्ञान के इतिहास से ली गयी एक धारावाहिक टीका भी मिल जाती है।

हमारे इस अनुवाद में इस ग्रंथ का केवल प्रथम खण्ड ही आया है। लेकिन यह प्रथम खण्ड बहुत अंश तक अपने में सम्पूर्ण है और बीस साल से एक स्वतंत्र रचना माना जाता था। द्वितीय खण्ड मैंने जर्मन भाषा में सम्पादित करके १८८५ में प्रकाशित किया था, लेकिन यह निश्चय ही तृतीय खण्ड के बिना अपूर्ण है, और तृतीय खण्ड १८८७ के ख़त्म होने के पहले प्रकाशित नहीं हो सकता। जब तृतीय खण्ड मूल जर्मन में प्रकाशित हो जायेगा, तब इन दोनों खण्डों का अंग्रेज़ी संस्करण तैयार करने की बात सोचने का समय आयेगा।

योरप में *"Das Kapital"* को अक्सर "मज़दूर-वर्ग की बाइबिल" कहा जाता है। जिसे मज़दूर-आन्दोलन की जानकारी है, वह इस बात से इनकार नहीं करेगा कि यह पुस्तक जिन निष्कर्षों पर पहुंची है, वे न केवल जर्मनी और स्वीटज़रलैण्ड में, बल्कि फ़्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, अमरीका में और यहां तक कि इटली और स्पेन में भी दिन प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्ट रूप में इस महान आन्दोलन के बुनियादी सिद्धान्त बनते जा रहे हैं और हर जगह मज़दूर-वर्ग में इस बात की अधिकाधिक समझ पैदा होती जा रही है कि उसकी हालत तथा उसकी आशाएं-आकांक्षाएं सबसे अधिक पर्याप्त रूप में इस पुस्तक के निष्कर्षों में व्यक्त हुई हैं। और इंगलैण्ड में भी मार्क्स के सिद्धान्त इस समय भी उस समाजवादी आन्दोलन पर सशक्त प्रभाव डाल रहे हैं, जो "सुसंस्कृत" लोगों में मज़दूर-वर्ग से कम तेज़ी से नहीं फैल रहा है।

लेकिन बात इतनी ही नहीं है। वह समय तेज़ी से नज़दीक आ रहा है, जब इंगलैण्ड की

आर्थिक स्थिति का गहरा अध्ययन एक राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में अनिवार्य हो जायेगा। उत्पादन का और इसलिये मंडियों का भी लगातार और तेजी के साथ विस्तार किये बिना इस देश की औद्योगिक व्यवस्था का काम करना असम्भव है, और इसलिये वह व्यवस्था एकदम ठप होती जा रही है। स्वतंत्र व्यापार अपने साधनों को समाप्त कर चुका है; यहां तक कि मानचेस्टर को भी अपने इस भूतपूर्व आर्थिक धर्मशास्त्र में सन्देह पैदा हो गया है[1]। अंग्रेजी उत्पादन को हर जगह, न सिर्फ़ रक्षित मंडियों में, बल्कि तटस्थ मंडियों में भी, और यहां तक कि इंगलिश चैनेल के इस तरफ़ भी, तेजी से विकसित होते हुए विदेशी उद्योगों का सामना करना पड़ रहा है। उत्पादक शक्ति की जहां गुणोत्तर अनुपात में वृद्धि होती है, वहां मण्डियों का विस्तार अधिक से अधिक समानान्तर अनुपात में होता है। ठहराव, समृद्धि, अति-उत्पादन और संकट का दसवर्षीय चक्र, जो १८२५ से १८६७ तक बारम्बार आता रहा, वह तो अब सचमुच समाप्त हो गया मालूम होता है; लेकिन वह हमें महज एक स्थायी और चिरकालिक मन्दी की निराशा के दलदल में धकेल गया है। समृद्धि के जिस काल की आहें भर-भर कर याद की जा रही है, वह अब नहीं आयेगा। हम जितनी बार उसकी सूचना देने वाले चिन्हों की अनुभूति सी करते हैं, उतनी ही बार वे चिन्ह फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं। इस बीच हर बार, जब जाड़े का मौसम आता है, तो यह गम्भीर सवाल नये सिरे से उठ खड़ा होता है कि "बेकारों का क्या किया जाये?"। बेकारों की संख्या तो हर वर्ष बढ़ती जाती है, पर इस सवाल का जवाब देने वाला कोई नहीं मिलता, और अब हम उस क्षण का लगभग सही अनुमान लगा सकते हैं, जब बेकारों का धैर्य समाप्त हो जायेगा और वे अपने भाग्य का ख़ुद निर्णय करने के लिए उठ खड़े होंगे। ऐसे क्षण में उस आदमी की आवाज निश्चय ही सुनी जानी चाहिए, जिसका पूरा सिद्धान्त इंगलैण्ड के आर्थिक इतिहास तथा दशा के आजीवन अध्ययन का परिणाम है और जो इस अध्ययन के आधार पर इस नतीजे पर पहुंचा था कि कम से कम योरप में इंगलैण्ड ही एकमात्र ऐसा देश है, जहां वह सामाजिक क्रान्ति, जिसका होना अनिवार्य है, सर्वथा शान्तिपूर्ण और क़ानूनी उपायों के द्वारा हो सकती है। इसके साथ-साथ वह आदमी निश्चय ही यह जोड़ना कभी नहीं भूला था कि शायद ही यह आशा की जा सकती है कि अंग्रेज शासक वर्ग बिना एक "दासता-समर्थन विद्रोह" का संगठन किये इस शान्तिपूर्ण एवं क़ानूनी क्रान्ति के सामने आत्म-समर्पण कर देंगे।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

५ नवम्बर १८८६।

[1] आज तीसरे पहर मानचेस्टर के चेम्बर आफ़ कामर्स की त्रैमासिक बैठक हुई। उसमें स्वतंत्र व्यापार के प्रश्न पर गरम बहस हुई। एक प्रस्ताव पेश किया गया, जिसमें कहा गया था कि "४० वर्ष तक इस बात की वृथा प्रतीक्षा कर चुकने के बाद कि दूसरे राष्ट्र भी स्वतंत्र व्यापार के मामले में इंगलैण्ड का अनुकरण करेंगे, चेम्बर समझता है कि अब इस मत पर पुनःविचार करने का समय आ गया है"। प्रस्ताव ठुकरा दिया गया, पर केवल एक मत के आधिक्य से: उसके पक्ष में २१ और विपक्ष में २२ मत पड़े। "*Evening Standard*", १ नवम्बर १८८६।

## चौथे जर्मन संस्करण की भूमिका

चौथे संस्करण के लिये जरूरी था कि मैं जहां तक सम्भव हो, मूल पाठ और फ़ुटनोट दोनों का अन्तिम रूप तैयार कर दूं। नीचे दिये हुए संक्षिप्त स्पष्टीकरण से मालूम हो जायेगा कि मैंने यह काम किस ढंग से पूरा किया है।

फ़्रांसीसी संस्करण तथा मार्क्स की हस्तलिखित हिदायतों को एक बार फिर मिलाने के बाद मैंने फ़्रांसीसी अनुवाद से कुछ और अंश लेकर जर्मन पाठ में जोड़ दिये हैं। ये अंश पृ० ८० (तीसरे संस्करण का पृ० ८८) (वर्तमान संस्करण के पृ० १३०-३२), पृ० ४५८-६० (तीसरे संस्करण के पृ० ५०९-१०) (वर्तमान संस्करण के पृ० ५५५-५९)*, पृ० ५४७-५१ (तीसरे संस्करण का पृ० ६००) (वर्तमान संस्करण के पृ० ६५६-५९), पृ० ५९१-९३ (तीसरे संस्करण का पृ० ६४४) (वर्तमान संस्करण के पृ० ७०२-०४) और पृ० ५९६ (तीसरे संस्करण का पृ० ६४८) (वर्तमान संस्करण का पृ० ७०७) के नोट १ में मिलेंगे। फ़्रांसीसी और अंग्रेजी संस्करणों का अनुकरण करते हुए मैंने खान-मजदूरों से सम्बंधित लम्बा फ़ुटनोट मूल पाठ में शामिल कर दिया है (तीसरे संस्करण के पृ० ५०९-१५, चौथे संस्करण के पृ० ४६१-६७) (वर्तमान संस्करण के पृ० ५५९-६६)। इसके अलावा जो और छोटे-छोटे परिवर्तन किये गये हैं, वे सर्वथा प्राविधिक ढंग के हैं।

इसके अलावा मैंने कुछ नये व्याख्यात्मक फ़ुटनोट जोड़ दिये हैं, खासकर उन स्थलों पर, जहां वे बदली हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण आवश्यक प्रतीत होते थे। इन तमाम नये फ़ुटनोटों को बड़े कोष्ठों में बन्द कर दिया गया है और उनके साथ या तो मेरे संक्षिप्त हस्ताक्षर हैं या "डी० एच०" छपा है।**

इस बीच अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन के फलस्वरूप बहुत से उद्धरणों को नये सिरे से दोहराना आवश्यक हो गया था। इस संस्करण के लिये मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री एलियेनोर ने तमाम उद्धरणों को उनके मूल पाठ से मिलाने की जिम्मेदारी ली थी, ताकि अंग्रेजी प्रकाशनों से लिये गये उद्धरण, जिनकी संख्या सबसे अधिक है, अंग्रेजी संस्करण में जर्मन भाषा से पुनः अनुवाद करके न दिये जायें, बल्कि अपने मूल अंग्रेजी रूप में दिये जायें। इसलिये चौथा संस्करण तैयार करते समय मेरे लिये अंग्रेजी संस्करण को देखना जरूरी हो गया। मिलान करने पर अनेक छोटी-छोटी अशुद्धियों का पता चला। कई जगहों पर ग़लत पृष्ठों का हवाला दिया गया था, जिसका कारण कुछ तो यह है कि नोट-बुकों से नक़ल करते समय ग़लतियां हो

---

*१८८७ के अंग्रेजी संस्करण में यह अंश ख़ुद एंगेल्स ने जोड़ दिया था।—सम्पा०

**वर्तमान संस्करण में वे बड़े कोष्ठों में बन्द कर दिये गये हैं और उनके साथ "फ़्रे० एं०" छपा है।—सम्पा०

गयी थीं, और कुछ यह कि तीन संस्करणों की छापे की ग़लतियां भी एक साथ जमा हो गयी थीं; उद्धरण-चिन्ह या छोड़े हुए अंश को इंगित करने वाले चिन्ह ग़लत स्थानों पर लग गये थे, – जब नोट-बुकों में उतारे हुए अवतरणों में से बहुत से उद्धरणों की नक़ल की जाती है, तब इस तरह की ग़लतियों से नहीं बचा जा सकता; जहां-तहां किसी शब्द का कुछ भद्दा अनुवाद हो गया था। कुछ अंश १८४३-४५ की पुरानी, पेरिस वाली नोट-बुकों से उद्धृत किये गये थे। उस ज़माने में मार्क्स अंग्रेज़ी नहीं जानते थे और अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों की रचनाओं का फ़्रांसीसी अनुवाद पढ़ा करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि दोहरा अनुवाद होने के फलस्वरूप उद्धरणों के अर्थ में कुछ हल्का सा परिवर्तन हो गया। उदाहरण के लिये, स्टुअर्ट, उरे आदि के उद्धरणों के साथ यही हुआ। अब उनका अंग्रेज़ी पाठ इस्तेमाल करना ज़रूरी था। इसी प्रकार की छोटी-छोटी अशुद्धियों या लापरवाही के और भी उदाहरण थे। लेकिन जो कोई भी चौथे संस्करण को पहले के संस्करण से मिलाकर देखेगा, वह पायेगा कि बड़ी मेहनत से की गयी इन तमाम तबदीलियों से किताब में कोई छोटा सा भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है। केवल एक उद्धरण ऐसा था, जिसके मूल का पता नहीं लगाया जा सका। वह रिचर्ड जोन्स (चौथे संस्करण के पृ० ५६२ पर नोट ४७) का उद्धरण था। मार्क्स शायद पुस्तक का नाम लिखने में भूल कर गये हों।* बाक़ी तमाम उद्धरणों की प्रभावशीलता ज्यों की त्यों है या उनका वर्तमान रूप पहले से अधिक सही होने के कारण उनकी प्रभावशीलता और बढ़ गयी है।

लेकिन यहां मेरे लिये एक पुरानी कहानी दोहराना आवश्यक है।

मुझे केवल एक उदाहरण मालूम है, जब कि मार्क्स के दिये हुए किसी उद्धरण की विशुद्धता पर किसी ने सन्देह प्रकट किया है। लेकिन यह सवाल चूंकि उनके जीवन-काल के बाद भी उठता रहा है, इसलिये मैं यहां उसकी अवहेलना नहीं कर सकता।

७ मार्च १८७२ को जर्मन कारख़ानेदारों के संघ के मुखपत्र, बर्लिन के *"Concordia"* में एक गुमनाम लेख छपा, जिसका शीर्षक था 'कार्ल मार्क्स कैसे उद्धरण देते हैं'। इस लेख में नैतिक क्रोध और असंसदीय भाषा के बड़े भारी उबाल का प्रदर्शन करते हुए कहा गया था कि १६ अप्रैल १८६३ के ग्लैड्स्टन के बजट-भाषण से जो उद्धरण दिया गया है (यह उद्धरण पहले अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ के उद्घाटन-वक्तव्य में इस्तेमाल किया गया था और फिर 'पूंजी' के प्रथम खण्ड के चौथे संस्करण के पृ० ६१७ पर यानी तीसरे संस्करण के पृ० ६७१ पर [वर्तमान संस्करण के पृ० ७२६ पर] दोहराया गया था), वह झूठा है और *"Hansard"* में प्रकाशित शार्टहैण्ड द्वारा ली गयी (अर्ध-सरकारी) रिपोर्ट में निम्न वाक्य का एक शब्द भी नहीं मिलता: "धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि... सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूर्णतया सीमित... है।" लेख के शब्द थे: "लेकिन यह वाक्य ग्लैड्स्टन के भाषण में कहीं भी नहीं मिलता। उसमें इसकी ठीक उल्टी बात कही गयी है।" इसके आगे का वाक्य मोटे अक्षरों में छपा था: "यह वाक्य अपने रूप तथा सार दोनों दृष्टियों से एक ऐसा झूठ है, जिसे मार्क्स ने गढ़कर जोड़ दिया है।"

---

*मार्क्स ने पुस्तक का नाम लिखने में ग़लती नहीं की थी, बल्कि पृष्ठ लिखने में उनसे भूल हुई थी। ३७ के बजाय उन्होंने ३६ लिख दिया था। (देखिये वर्तमान संस्करण का पृ० ६७१।) – सम्पा०

*"Concordia"* का यह अंक अगली मई में मार्क्स के पास भेजा गया, और उन्होंने इस गुमनाम लेखक को पहली जून के *"Volksstaat"* में जवाब दिया। चूंकि उन्हें यह याद नहीं था कि उन्होंने किस अखबार की रिपोर्ट से उद्धरण लिया था, इसलिये उन्होंने एक तो दो अंग्रेजी प्रकाशनों से समानार्थक उद्धरण देने और दूसरे *"The Times"* अखबार की रिपोर्ट का हवाला दे देने तक ही अपने को सीमित रखा। *"The Times"* की रिपोर्ट के अनुसार ग्लैड्स्टन ने यह कहा था:

"जहां तक इस देश के धन का सम्बंध है, यह स्थिति है। मैं तो अवश्य ही यह कहूंगा कि यदि मुझे यह विश्वास होता कि धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि केवल उन वर्गों तक ही सीमित है, जिनकी हालत अच्छी है, तो मैं इसे प्रायः भय और पीड़ा के साथ देखता। इसमें मेहनत करने वाली आबादी की हालत की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। जिस वृद्धि का मैंने वर्णन किया है और जो, मेरे विचार से, सही हिसाब-किताब पर आधारित है, वह एक ऐसी वृद्धि है, जो सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूर्णतया सीमित है।"

इस प्रकार, यहां ग्लैड्स्टन ने यह कहा है कि यदि स्थिति ऐसी होती, तो उनको अफ़सोस होता, लेकिन स्थिति ऐसी ही है: धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूर्णतया सीमित है। और जहां तक अर्ध-सरकारी *"Hansard"* का सम्बंध था, मार्क्स ने आगे लिखा: "अपने भाषण पर थोड़ी हाथ की सफ़ाई दिखाकर मि० ग्लैड्स्टन ने बाद में उसका जो संस्करण तैयार किया, उसमें से उन्होंने इस अंश को ग़ायब कर देने की चतुराई दिखायी, क्योंकि इंगलैण्ड के एक वित्त-मंत्री के मुंह से यदि ऐसे शब्द निकलते, तो यह निश्चय ही जोखों की बात थी। और इसी सिलसिले में हम यह भी बता दें कि इंगलैण्ड की संसद में इस तरह की चीज परम्परा से होती चली आयी है और यह कोई ऐसी तरकीब नहीं है, जिसे महज नन्हे लास्केर ने ही बेबेल को नीचा दिखाने के लिये ईजाद किया हो।"

गुमनाम लेखक का गुस्सा बढ़ता ही गया। चौथी जुलाई के *"Concordia"* में उसने अपना जवाब प्रकाशित किया। उसमें उसने तमाम अन्य स्रोतों से प्राप्त होने वाले प्रमाणों को हटाकर अलग कर दिया और बड़े गम्भीर ढंग से यह कहा कि संसद के भाषणों को शार्टहैण्ड की रिपोर्टों से उद्धृत करने का "रिवाज" है। लेकिन साथ ही उसने यह भी जोड़ दिया कि *"The Times"* की रिपोर्ट (जिसमें वह "झूठा, गढ़ा हुआ" वाक्य शामिल है) और *"Hansard"* की रिपोर्ट (जिसमें वह वाक्य छोड़ दिया गया है) दोनों "सार-तत्त्व की दृष्टि से एक दूसरे से बिल्कुल मेल खाती हैं" और *"The Times"* की रिपोर्ट में, इसी प्रकार, "उद्घाटन-वक्तव्य के उस बदनाम अंश की ठीक उलटी बात कही गयी है।" यह शख्स इस बात को बड़ी एहतियात के साथ छिपा जाता है कि *"The Times"* की रिपोर्ट में "उलटी बात" के साथ-साथ वह "बदनाम अंश" भी साफ़ तौर पर शामिल है। किन्तु, इस सब के बावजूद, गुमनाम व्यक्ति ने महसूस किया कि वह बुरी तरह फंस गया है और अब कोई नयी तरकीब ही उसे बचा सकती है। चुनांचे, जहां उसका लेख, जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, "धृष्टतापूर्ण झूठी बातों" से भरा पड़ा है और जहां उसमें जगह-जगह पर ऐसी शिक्षाप्रद गालियां पढ़ने को मिलती हैं, जैसे "बुरा उद्देश्य", "बेईमानी", "झूठी तोहमत", "वह नक़ली उद्धरण", "धृष्टतापूर्ण झूठी बातें", "सर्वथा झूठा, गढ़ा हुआ उद्धरण", "यह झूठ",

"सरासर अनुचित" इत्यादि इत्यादि, वहां वह यह भी आवश्यक समझता है कि सवाल को एक दूसरी दिशा में मोड़ दे, और इसलिये वह यह वायदा करता है कि वह एक दूसरे लेख में यह बतायेगा कि "ग्लैड्स्टन के शब्दों के सार-तत्त्व का हम (यानी "धृष्टताविहीन" गुमनाम लेखक) क्या मतलब लगाते हैं।" जैसे कि उसके ख़ास मत का, जिसका कि, ज़ाहिर है, कोई निर्णायक महत्त्व नहीं हो सकता, इस मामले से भी कोई सम्बंध है! यह दूसरा लेख ११ जुलाई को *"Concordia"* में प्रकाशित हुआ।

मार्क्स ने एक बार फिर सात अगस्त के *"Volksstaat"* में जवाब दिया। इस बार उन्होंने १७ अप्रैल १८६३ के *"Morning Star"* और *"Morning Advertiser"* नामक पत्रों की रिपोर्टों के उद्धरण दिये, जिनमें यह अंश मौजूद था। इन दोनों रिपोर्टों के अनुसार ग्लैड्स्टन ने कहा था कि धन और शक्ति की इस वृद्धि को वह भय, आदि, के साथ देखते, यदि उनको यह विश्वास होता कि यह वृद्धि केवल उन वर्गों तक ही सीमित है, जिनकी हालत अच्छी है। लेकिन, उनके कथनानुसार, यह वृद्धि सचमुच सम्पत्तिवान वर्गों तक ही पूर्णतया सीमित है । इस प्रकार, इन रिपोर्टों में भी उस वाक्य का एक-एक शब्द मौजूद था, जिसके बारे में आरोप लगाया गया था कि मार्क्स ने उसे "झूठमूठ गढ़कर जोड़ दिया है"। इसके बाद मार्क्स ने *"The Times"* और *"Hansard"* के पाठों का मिलान करके एक बार फिर यह साबित किया कि यह वाक्य, जिसके बारे में भाषण की अगली सुबह को एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से प्रकाशित होने वाले तीन अख़बारों ने बिल्कुल एक सी रिपोर्ट छापकर यह प्रमाणित कर दिया था कि वह सचमुच कहा गया था, *"Hansard"* की उस रिपोर्ट से ग़ायब है, जिसे परम्परागत "प्रथा" के अनुसार बदल दिया गया था, और इसलिये यह बात स्पष्ट है कि उसे ग्लैड्स्टन ने, मार्क्स के शब्दों में, "हाथ की सफ़ाई दिखाकर ग़ायब कर दिया था"। अन्त में मार्क्स ने कहा कि गुमनाम लेखक से अब और बहस करने के लिये उनके पास समय नहीं है। उस लेखक की, लगता है, तबीयत साफ़ हो गयी थी। बहर-हाल *"Concordia"* का कोई और अंक मार्क्स के पास नहीं पहुंचा।

इसके साथ मामला ख़तम और दफ़न हो गया जैसा लगा। यह सच है कि बाद को भी एक-दो बार कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से सम्पर्क रखने वाले कुछ व्यक्तियों से कुछ इस तरह की रहस्यमयी अफ़वाहें हमारे पास पहुंचीं कि मार्क्स ने 'पूंजी' में कोई अकथनीय साहित्यिक अपराध किया है, लेकिन तमाम छान-बीन के बाद भी इससे ज्यादा निश्चित कोई बात मालूम न हो सकी। तब, मार्क्स की मृत्यु के आठ महीने बाद, २९ नवम्बर १८८३ को *"The Times"* में एक पत्र छपा, जिसके सिरनामे पर ट्रिनिटी कालेज, कैम्ब्रिज, लिखा था और जिसके नीचे सेडली टेलर के हस्ताक्षर थे। इस पत्र में इस बौने ने, जो बहुत ही साधारण ढंग के सहकारी मामलों में टांग अड़ाया करता है, किसी न किसी आकस्मिक बहाने का आश्रय लेकर आख़िर न सिर्फ़ कैम्ब्रिज की उन अस्पष्ट अफ़वाहों पर प्रकाश डाला, बल्कि *"Concordia"* के उस गुमनाम लेखक की जानकारी भी करवा दी।

ट्रिनिटी कालेज के इस बौने ने लिखा: "जो बात बहुत ही अजीब मालूम होती है, वह यह है कि मि० ग्लैड्स्टन के भाषण को (उद्घाटन-) वक्तव्य में उद्धृत करने के पीछे स्पष्ट ही जो दुर्भावना छिपी थी, उसका भण्डाफोड़ करने की... ज़िम्मेदारी प्रोफ़ेसर ब्रेन्तानो (जो कि उस वक़्त ब्रेस्लौ विश्वविद्यालय में थे और आजकल स्ट्रासबुर्ग विश्वविद्यालय में हैं) के कंधों पर आकर पड़ी। हेर कार्ल मार्क्स ने... उद्धरण को सही सिद्ध करने की कोशिश की।

पर ब्रेन्तानो ने इस उस्तादी के साथ उनपर धावा बोला था कि उन्हें बार-बार पैंतरा बदलना पड़ा था और उनकी जान पर बन आयी थी। इस परिस्थिति में हेर कार्ल मार्क्स ने यह कहने की धृष्टता की कि मि० ग्लैड्स्टन ने १७ अप्रैल १८६३ के *"The Times"* में प्रकाशित अपने भाषण की रिपोर्ट पर उसके *"Hansard"* में प्रकाशित होने के पहले हाथ की सफ़ाई का प्रयोग किया था और एक ऐसे अंश को उससे ग़ायब कर दिया था, जो इंगलैण्ड के एक वित्त-मंत्री के लिये सचमुच जोखों की बात थी। ब्रेन्तानो ने *"The Times"* तथा *"Hansard"* में प्रकाशित रिपोर्टों के पाठ का सूक्ष्मता से मिलान करके यह साबित किया कि इन रिपोर्टों में यह समानता है कि उपर्युक्त उद्धरण को चालाकी के साथ संदर्भ से अलग करके मि० ग्लैड्स्टन के शब्दों को जो अर्थ पहना दिये गये थे, उनकी इन दोनों ही रिपोर्टों में कोई गुंजायश नहीं है। तब मार्क्स ने "समय के अभाव" का बहाना बना करके बहस जारी रखने से इनकार कर दिया।"

सो इस पूरे मामले की तह में यह बात थी! और *"Concordia"* के जरिये चलाया गया हेर ब्रेन्तानो का वह गुमनाम आन्दोलन कैम्ब्रिज की उत्पादक सहकारी कल्पना में इस शानदार रूप में प्रतिबिम्बित हुआ था। जर्मन उद्योगपतियों के संघ के इस सन्त जार्ज ने इस प्रकार तलवार हाथ में लेकर पाताल लोक के उस अजगर मार्क्स का सामना किया था, उससे लोहा लिया था और इस उस्तादी के साथ उसपर धावा बोला था कि उन्हें बार-बार पैंतरा बदलना पड़ा था और उसकी जान पर बन आयी और उसने बहुत जल्द हेर ब्रेन्तानो के चरणों में गिरकर दम तोड़ दिया।

लेकिन अरिओस्तो कवि द्वारा प्रस्तुत किये गये रण-भूमि के दृश्य से मिलता-जुलता यह चित्र केवल हमारे सन्त जार्ज की पैंतरेबाजी पर पर्दा डालने का ही काम करता है। यहां "झूठमूठ गढ़कर जोड़ दिये गये वाक्य" की या "जालसाजी" की कोई चर्चा नहीं है, बल्कि अब तो "उद्धरणों को चालाकी के साथ संदर्भ से अलग कर देने" का जिक्र हो रहा है। सवाल का पूरा स्वरूप ही बदल दिया गया है, और सन्त जार्ज तथा उनके कैम्ब्रिजवासी अनुचर को अच्छी तरह मालूम था कि ऐसा क्यों किया गया है।

एलियोनोर मार्क्स ने इसका मासिक पत्रिका *"To-Day"* (फ़रवरी १८८४) में जवाब दिया, क्योंकि *"The Times"* ने उनका पत्र छापने से इनकार कर दिया था। उन्होंने एक बार फिर बहस को इस एक सवाल पर केन्द्रित कर दिया कि क्या मार्क्स ने उस वाक्य को "झूठमूठ गढ़कर जोड़ दिया था"? इस सवाल का मि० सेडली टेलर ने यह जवाब दिया कि उनकी राय में "यह प्रश्न कि मि० ग्लैड्स्टन के भाषण में यह वाक्य सचमुच इस्तेमाल हुआ था या नहीं," ब्रेन्तानो-मार्क्स विवाद में "इस सवाल की अपेक्षा बहुत ही गौण महत्त्व रखता है कि विवादग्रस्त अंश मि० ग्लैड्स्टन के शब्दों का सही अर्थ पाठक को बताने के उद्देश्य से उद्धृत किया गया था या उसे तोड़-मरोड़कर पेश करने के उद्देश्य से।" इसके बाद मि० सेडली टेलर ने यह स्वीकार किया कि *"The Times"* की रिपोर्ट में "एक शाब्दिक असंगति" है; लेकिन यदि संदर्भ की सही तौर पर व्याख्या की जाये, अर्थात् यदि उसकी ग्लैड्स्टनवादी उदारपंथी अर्थ में व्याख्या की जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मि० ग्लैड्स्टन क्या कहना चाहते थे (*"To-Day"*, मार्च १८८४)। यहां सबसे ज्यादा मजाक की बात यह है कि हमारे कैम्ब्रिजवासी बौने का इसरार अब यह नहीं है कि भाषण *"Hansard"* से उद्धृत किया जाये, जैसा कि गुमनाम ब्रेन्तानो के कथनानुसार "आम रिवाज" है, बल्कि

अब वह उसे "*The Times*" की रिपोर्ट से उद्धृत करना चाहता है, जिसे उन्हीं ब्रेन्तानो महाशय ने "आवश्यक रूप से गड़बड़ कर देने वाली" रिपोर्ट कहा था। उसका यह इसरार करना स्वाभाविक है, क्योंकि "*Hansard*" की रिपोर्ट में मुसीबत की जड़ वह वाक्य ग़ायब है।

एलियोनोर मार्क्स को इन सारी दलीलों को फूंक-मारकर हवा में उड़ा देने में कोई कठिनाई नहीं हुई (उनका जवाब "*To-Day*" के उसी अंक में प्रकाशित हुआ था)। उन्होंने कहा कि या तो मि० टेलर ने १८७२ की बहस को पढ़ा था और उस सूरत में वह अब न सिर्फ़ "झूठमूठ गढ़कर" बातें जोड़ रहे हैं, बल्कि कुछ बातों को "झूठमूठ" दबा भी रहे हैं, या फिर उन्होंने उस बहस को पढ़ा नहीं था और इसलिये उन्हें ख़ामोश रहना चाहिये। दोनों सूरतों में यह निश्चित है कि अब वह एक क्षण के लिये भी यह दावा करने की हिम्मत नहीं कर सकते कि उनके मित्र ब्रेन्तानो का यह आरोप सही था कि मार्क्स ने कोई बात "झूठमूठ गढ़कर" जोड़ दी थी। इसके विपरीत, अब तो यह प्रतीत होता है कि मार्क्स ने झूठमूठ गढ़कर कोई बात जोड़ी नहीं थी, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण वाक्य दबा दिया था। लेकिन यही वाक्य उद्घाटन-वक्तव्य के पृष्ठ ५ पर तथाकथित "झूठमूठ गढ़कर जोड़े गये वाक्य" से कुछ पंक्तियों पहले उद्धृत किया गया है। और जहां तक ग्लैड्स्टन के भाषण में पायी जाने वाली "असंगति" का प्रश्न है, क्या ख़ुद मार्क्स ने 'पूंजी' के पृष्ठ ६१८ (तीसरे संस्करण के पृ० ६७२) के नोट १०५ (वर्त्तमान संस्करण के पृ० ७२९ के नोट ३) में "ग्लैड्स्टन के १८६३ और १८६४ के बजट-भाषणों की लगातार सामने आने वाली भयानक असंगतियों" का ज़िक्र नहीं किया है? हां, उन्होंने à la मि० सेडली टेलर (सेडली टेलर की तरह) उनको आत्म-संतुष्ट उदारपंथी भावनाओं में बदल देने की ज़रूर कोई कोशिश नहीं की। अपने उत्तर के अन्त में एलियोनोर मार्क्स ने पूरी बहस का निचोड़ निकालते हुए यह कहा था :

"मार्क्स ने उद्धृत करने योग्य कोई बात नहीं दबायी है और न ही उन्होंने "झूठमूठ गढ़कर" कोई बात जोड़ी है। लेकिन उन्होंने मि० ग्लैड्स्टन के भाषण के एक ख़ास वाक्य को पुनर्जीवित ज़रूर किया है और उसे विस्मृति के गर्त से बाहर निकाला है, और यह वाक्य असंदिग्ध रूप से मि० ग्लैड्स्टन द्वारा कहा गया था, लेकिन किसी ढंग से "*Hansard*" से ग़ायब हो गया था।"

इस लेख के साथ मि० सेडली टेलर की भी काफ़ी ख़बर ली जा चुकी थी; और बीस वर्ष से दो बड़े देशों में जो प्रोफ़ेसराना ताना-बाना बुना जा रहा था, उसका आख़िरी नतीजा यह हुआ कि उसके बाद से कभी किसी ने मार्क्स की साहित्यिक ईमानदारी पर कोई और आरोप लगाने की हिम्मत नहीं की; और जहां तक मि० सेडली टेलर का सम्बंध है, वह अब निस्सन्देह हेर ब्रेन्तानो की साहित्यिक युद्ध-विज्ञप्तियों पर उतना ही कम भरोसा किया करेंगे, जितना हेर ब्रेन्तानो "*Hansard*" की पोप-मार्का सर्वज्ञता पर।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लन्दन, २५ जून १८९०।

पहली पुस्तक

# पूंजीवादी उत्पादन

भाग १

# माल और मुद्रा

## पहला अध्याय

## माल

### अनुभाग १ – माल के दो तत्त्व: उपयोग-मूल्य और मूल्य (मूल्य का सार और मूल्य का परिमाण)

जिन समाज-व्यवस्थाओं में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली प्रमुख रूप से पायी जाती है, उनमें धन "मालों के विशाल संचय"[1] के रूप में सामने आता है और उसकी इकाई होती है एक माल। इसलिए हमारी खोज अवश्य ही माल के विश्लेषण से आरम्भ होनी चाहिए।

माल के बारे में सबसे पहली बात यह है कि वह हमसे बाहर की कोई वस्तु होती है। वह अपने गुणों से किसी न किसी प्रकार की मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करती है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि इन आवश्यकताओं का क्या स्वरूप है, – उदाहरण के लिए, वे पेट से पैदा हुई हैं या कल्पना से।[2] न ही हम यहां यह जानना चाहते हैं कि कोई वस्तु इन आवश्यकताओं को किस तरह पूरा करती है: सीधे-सीधे, जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में, या अप्रत्यक्ष ढंग से, उत्पादन के साधन के रूप में।

लोहा, कागज आदि प्रत्येक उपयोगी वस्तु को गुण और परिमाण की दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। प्रत्येक उपयोगी वस्तु बहुत से गुणों का समावेश होता है और इसलिए

---

[1] Karl Marx, "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*". (कार्ल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), Berlin, 1859, पृ० ३।

[2] "इच्छा का मतलब है आवश्यकता का होना। वह दिमाग़ की क्षुधा होती है और उतनी ही स्वाभाविक है, जितनी शरीर की भूख... अधिकतर (चीजों) का मूल्य इसलिए होता है कि वे दिमाग़ की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।" Nicholas Barbon: "*A Discourse Concerning Coining the New Money Lighter. In Answer to Mr. Locke's Considerations, etc.*" (निकोलस बार्बोन, 'नयी मुद्रा के सिक्के हलके बनाने के विषय में एक निबन्ध। मि० लॉक के विचारों के जवाब में, आदि'), London, 1696, पृ० २, ३।

वह नाना प्रकार से उपयोग में आ सकती है। वस्तुओं के विभिन्न उपयोगों का पता लगाना इतिहास का काम है।[1] इसी प्रकार इन उपयोगी वस्तुओं के परिमाणों के सामाजिक दृष्टि से मान्य मापदण्डों की स्थापना करना भी इतिहास का ही काम है। इन मापदण्डों की विविधता का मूल आंशिक रूप से तो इस बात में है कि मापी जाने वाली वस्तुएं नाना प्रकार की होती हैं, और आंशिक रूप से उसका मूल रीति-रिवाजों में निहित है।

किसी वस्तु की उपयोगिता उसे उपयोग-मूल्य प्रदान करती है।[2] लेकिन यह उपयोगिता कोई हवाई चीज़ नहीं होती। वह चूंकि माल के भौतिक गुणों से सीमित होती है, इसलिए माल से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। इसलिए कोई भी माल, जैसे लोहा, अनाज या हीरा, जहां तक वह एक भौतिक वस्तु है, वहां तक वह उपयोग-मूल्य यानी उपयोगी वस्तु होता है। माल का यह गुण इस बात से स्वतंत्र है कि उसके उपयोगी गुणों से लाभ उठाने के लिए कितने श्रम की आवश्यकता होती है। जब हम उपयोग-मूल्य की चर्चा करते हैं, तब हम सदा यह मानकर चलते हैं कि हम निश्चित परिमाणों की चर्चा कर रहे हैं, जैसे इतनी दर्जन घड़ियां, इतने गज़ कपड़ा या इतने टन लोहा। मालों के उपयोग-मूल्यों का अलग से अध्ययन किया जाता है, यह मालों के व्यापारिक ज्ञान का विषय है।[3] उपयोग-मूल्य केवल उपयोग अथवा उपभोग के द्वारा ही वास्तविकता प्राप्त करते हैं, और धन का सामाजिक रूप चाहे जैसा हो, उसका सार-तत्त्व भी सदा ये उपयोग-मूल्य ही होते हैं। इसके अलावा, समाज के जिस रूप पर हम विचार करने वाले हैं, उसमें उपयोग-मूल्य विनिमय-मूल्य के भौतिक भण्डार भी होते हैं।

पहली दृष्टि में विनिमय-मूल्य एक परिमाणात्मक सम्बंध के रूप में यानी उस अनुपात के

---

[1] "सभी चीज़ों का अपना एक स्वाभाविक गुण (उपयोग-मूल्य के लिए बार्बोन ने इस विशेष नाम – vertue – का प्रयोग किया है) होता है। वह गुण सभी स्थानों में एक जैसा रहता है, जैसे कि मक़नातीस के पत्थर में लोहे को अपनी ओर खींचने का स्वाभाविक गुण" (उप० पु०, पृ० ६)। चुम्बक पत्थर में लोहे को अपनी ओर खींचने का जो गुण होता है, वह केवल उसी समय उपयोग में आया, जब पहले इस गुण के द्वारा चुम्बक के ध्रुवत्त्व की खोज हो गयी।

[2] "किसी भी चीज़ की स्वाभाविक क़ीमत इस बात में होती है कि उसमें मानव-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने या उसकी सुविधाओं के हेतु काम आने की कितनी योग्यता है।" (John Locke, "*Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest, 1691*," [जान लॉक, 'सूद को कम करने के परिणामों पर कुछ विचार, १६९१'], – "*Works*", १७७७ में लन्दन में प्रकाशित, खण्ड २, पृ० २८।) १७ वीं सदी के अंग्रेज़ी लेखकों की रचनाओं में हम अक्सर उपयोग-मूल्य के अर्थ में "Worth" शब्द का और विनिमय-मूल्य के अर्थ में "value" शब्द का प्रयोग पाते हैं। यह उस भाषा की भावना के सर्वथा अनुरूप है, जिसको वास्तविक वस्तु के लिए कोई ट्यूटौनिक (जर्मन भाषाओं के) शब्द और उसके प्रतिबिम्ब के लिए रोमांस भाषाओं के शब्द का इस्तेमाल पसन्द है।

[3] पूंजीवादी समाज-व्यवस्थाओं के आर्थिक क्षेत्र में इस fictio juris (क़ानूनी सूत्र) को आधार मानकर चला जाता है कि ख़रीदार के रूप में हरेक के पास मालों का चौमुखी और बृहत् ज्ञान होता है।

रूप में सामने आता है, जिस अनुपात में एक प्रकार के उपयोग-मूल्यों का दूसरे प्रकार के उपयोग-मूल्यों से विनिमय होता है।[1] यह सम्बंध समय और स्थान के अनुसार लगातार बदलता रहता है। इसलिए विनिमय-मूल्य एक आकस्मिक और सर्वथा सापेक्ष चीज मालूम होता है, और चुनांचे स्वाभाविक मूल्य, अर्थात् ऐसा विनिमय-मूल्य, जो मालों से अभिन्न रूप से जुड़ा हो, जो मालों में निहित हो, ऐसा स्वाभाविक मूल्य स्वतःविरोधी जैसा मालूम होता है।[2] इस मामले पर थोड़ा और गहरा विचार करना चाहिए।

मान लीजिये, एक माल – मिसाल के लिये, एक क्वार्टर गेहूं – है, जिस का 'क' बूट-पालिश, 'ख' रेशम और 'ग' सोने आदि से विनिमय होता है। संक्षेप में यह कहिये कि उसका दूसरे मालों से बहुत ही भिन्न-भिन्न अनुपातों में विनिमय होता है। इसलिए गेहूं का एक विनिमय-मूल्य होने के बजाय उसके कई विनिमय-मूल्य होते हैं। लेकिन चूंकि 'क' बूट-पालिश, 'ख' रेशम या 'ग' सोने आदि में से प्रत्येक एक क्वार्टर गेहूं के विनिमय-मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए विनिमय-मूल्यों के रूप में 'क' बूट-पालिश, 'ख' रेशम या 'ग' सोने आदि में एक दूसरे का स्थान लेने की योग्यता होनी चाहिए, यानी वे सब एक दूसरे के बराबर होने चाहिए। इसलिए पहली बात तो यह निकली कि किसी एक माल के मान्य विनिमय-मूल्य किसी समान वस्तु को व्यक्त करते हैं, और दूसरी यह कि विनिमय-मूल्य आम तौर पर किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करने का ढंग अथवा किसी ऐसी वस्तु का इन्द्रियगम्य रूप मात्र है, जो उसमें निहित होती है और फिर भी जिस रूप और विनिमय-मूल्य में भेद किया जा सकता है।

दो माल लीजिये, मिसाल के लिए अनाज और लोहा। जिन अनुपातों में उनका विनिमय किया जा सकता है, वे अनुपात चाहे जो हों, उनको सदा ऐसे समीकरण के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, जिसमें अनाज की एक निश्चित मात्रा का लोहे की किसी मात्रा के साथ समीकरण किया जाता है: मिसाल के लिए, १ क्वार्टर अनाज = 'क' हंड्रेडवेट लोहा। यह समीकरण हमें क्या बतलाता है? वह हमें यह बतलाता है कि दो अलग-अलग चीजों में – १ क्वार्टर अनाज और 'क' हंड्रेडवेट लोहे में – कोई ऐसी चीज पायी जाती है जो दोनों में समान मात्राओं में मौजूद है। इसलिए इन दो चीजों को एक तीसरी चीज के बराबर होना चाहिए, जो खुद

[1] "La valeur consiste dans le rapport d'échange qui se trouve entre telle chose et telle autre, entre telle mesure d'une production, et telle mesure d'une autre." ["मूल्य इस बात में निहित होता है कि किसी चीज का दूसरी चीज से, एक पैदावार की एक निश्चित मात्रा का किसी दूसरी पैदावार की एक निश्चित मात्रा से किस अनुपात में विनिमय होता है।"] (Le Trosne: "*De l'Intérêt Social.*" Physiocrates, Daire संस्करण, Paris, 1846, पृ० ८८९।)

[2] "स्वाभाविक मूल्य किसी चीज में नहीं हो सकता" (N. Barbon, उप० पु०, पृ० ६) या, जैसा कि बटलर ने कहा है:

"The value of a thing
is just as much as it will bring."
("मूल्य वस्तु का उतना ही है,
जितना वह बदले में पाये।")

न तो पहली चीज हो सकती है और न दूसरी। इसलिए दोनों ही चीजों को, जहां तक वे विनिमय-मूल्य हैं, इस तीसरी चीज में बदल देना सम्भव होना चाहिए।

रेखा-गणित का एक सरल उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। ऋजुरेखीय आकृतियों के क्षेत्रफलों का हिसाब लगाने और उनकी आपस में तुलना करने के लिए हम उनको त्रिकोणों में बदल डालते हैं। लेकिन खुद त्रिकोण का क्षेत्रफल एक ऐसी चीज के द्वारा व्यक्त किया जाता है, जो उसकी दृश्य आकृति से बिल्कुल अलग होती है, – अर्थात् उसका क्षेत्रफल आधार तथा ऊंचाई के गुणनफल के आधे के बराबर होता है। इसी तरह मालों के विनिमय-मूल्यों को भी किसी ऐसी चीज के द्वारा व्यक्त करना सम्भव होना चाहिए, जो उन सब में मौजूद हो और जिसकी कम या ज्यादा किसी न किसी मात्रा का वे सारे माल प्रतिनिधित्व करते हों।

यह "चीज", जो सबमें मौजूद है, मालों का रेखा-गणित सम्बंधी, रासायनिक अथवा कोई अन्य प्राकृतिक गुण नहीं हो सकता। ऐसे गुणों की ओर तो हम केवल उसी हद तक ध्यान देते हैं, जिस हद तक कि उनका इन मालों की उपयोगिता पर प्रभाव पड़ता है, या जिस हद तक कि ये गुण उनको उपयोग-मूल्य बनाते हैं। लेकिन मालों का विनिमय, जाहिर है, एक ऐसा कार्य है, जिसकी मुख्य विशेषता यह होती है कि उसमें उपयोग-मूल्य को बिल्कुल अलग कर दिया जाता है। तब एक उपयोग-मूल्य उतना ही अच्छा होता है, जितना कोई दूसरा उपयोग-मूल्य, बशर्ते कि वह पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो। या, जैसा कि बूढ़े बार्बोन ने बहुत दिन पहले कहा था, "यदि उनके मूल्य बराबर हों, तो एक तरह की जिन्स उतनी ही अच्छी है, जितनी दूसरी तरह की जिन्स। समान मूल्य की चीजों में कोई अन्तर या भेद नहीं होता... सौ पौंड की क़ीमत का सीसा या लोहा उतना ही मूल्य रखता है, जितना सौ पौंड की क़ीमत की चांदी या सोना।"[1] उपयोग-मूल्यों के रूप में मालों के बारे में सबसे बड़ी बात यह होती है कि उनमें अलग-अलग प्रकार के गुण होते हैं, लेकिन विनिमय-मूल्यों के रूप में वे महज अलग-अलग प्रकार की मात्राएं होती हैं और इसलिए उपयोग-मूल्य का उनमें एक कण भी नहीं होता।

अतएव, यदि हम मालों के उपयोग-मूल्य की ओर ध्यान न दें, तो उनमें केवल एक ही समान तत्त्व बचता है, और वह यह है कि वे सब श्रम की पैदावार होते हैं। लेकिन हमारे हाथों में खुद श्रम की पैदावार में भी एक परिवर्तन हो गया है। यदि हम उसे उसके उपयोग-मूल्य से अलग कर लेते हैं, तो उसके साथ-साथ हम उसे उन भौतिक तत्त्वों और आकृतियों से भी अलग कर डालते हैं, जिन्होंने इस पैदावार को उपयोग-मूल्य बनाया है। तब हम उसमें मेज, घर, सूत या कोई भी अन्य उपयोगी वस्तु नहीं देखते। तब एक भौतिक वस्तु के रूप में उसका अस्तित्व आंखों से ओझल हो जाता है। और न ही तब उसे बढ़ई, राज और कातने वाले के श्रम की पैदावार के रूप में या निश्चित ढंग के किसी भी अन्य उत्पादक श्रम की पैदावार के रूप में माना जा सकता है। तब खुद पैदावार के उपयोगी गुणों के साथ-साथ हम उसमें निहित श्रम के विभिन्न प्रकारों के उपयोगी स्वरूप को तथा उस श्रम के मूर्त्त रूपों को भी अपनी आंखों से दूर कर देते हैं; तब उस एक चीज को छोड़कर, जो उन सब में समान रूप से मौजूद होती है, और कुछ नहीं बचता, और सभी प्रकार के श्रम एक ही ढंग के श्रम में बदल जाते हैं, और वह होता है अमूर्त्त मानव-श्रम।

---

[1] N. Barbon, उप० पु०, पृ० ५३ और ७।

अब हम इसपर विचार करें कि इन विभिन्न प्रकार की उत्पादित वस्तुओं में से प्रत्येक में अब क्या बच रहा है। हरेक में एक सी अमूर्त ढंग की वास्तविकता बच रही है, हरेक सजातीय मानव-श्रम का, ख़र्च की गयी श्रम-शक्ति का जमाव भर रह गया है, और अब इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह श्रम-शक्ति किस पद्धति के अनुसार ख़र्च की गयी है। अब ये सारी चीज़ें हमें सिर्फ़ इतना बताती हैं कि उनके उत्पादन में मानव-श्रम ख़र्च हुआ है और उनमें मानव-श्रम निहित है। जब इन चीज़ों पर उनमें समान रूप से मौजूद इस सामाजिक तत्त्व के स्फटिकों के रूप में विचार किया जाता है, तब वे सब मूल्य होती हैं।

हम यह देख चुके हैं कि जब मालों का विनिमय होता है, तब उनका विनिमय-मूल्य एक ऐसी चीज़ के रूप में प्रकट होता है, जो उनके उपयोग-मूल्य से एकदम स्वतंत्र होती है। परन्तु यदि हम उनको उनके उपयोग-मूल्यों से अलग कर लें, तो उनका मूल्य भर बच जाता है, जिसकी परिभाषा हम ऊपर दे चुके हैं। इसलिए, मालों के विनिमय-मूल्य के रूप में जो समान तत्त्व प्रकट होता है, वह उनका मूल्य होता है। हमारी खोज जब आगे बढ़ेगी, तो हमें पता चलेगा कि विनिमय-मूल्य ही एक मात्र ऐसा रूप है, जिसमें मालों का मूल्य प्रकट हो सकता है या जिसके द्वारा उसे व्यक्त किया जा सकता है; फ़िलहाल, मगर, हमें इससे – यानी मूल्य के इस रूप से – स्वतंत्र होकर मूल्य की प्रकृति पर विचार करना है।

अतएव, किसी भी उपयोग-मूल्य अथवा उपयोगी वस्तु में मूल्य केवल इसीलिये होता है कि उसमें अमूर्त मानव-श्रम निहित होता है, या यूं कहिये यह कि उसमें अमूर्त मानव-श्रम भौतिक रूप धारण किये हुए होता है। तब इस मूल्य का परिमाण मापा कैसे जाये? ज़ाहिर है, वह इस बात से मापा जाता है कि उस वस्तु में मूल्य पैदा करने वाले तत्त्व की – यानी श्रम की – कितनी मात्रा मौजूद है। लेकिन श्रम की मात्रा उसकी अवधि से मापी जाती है, और श्रम-काल का मापदण्ड हफ़्ते, दिन या घण्टे होते हैं।

कुछ लोग शायद इससे यह समझें कि यदि किसी भी माल का मूल्य उसपर ख़र्च किये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, तो मज़दूर जितना सुस्त और अनाड़ी होगा, उसका माल उतना ही अधिक मूल्यवान होगा, क्योंकि उसके उत्पादन में उतना ही ज़्यादा समय लगेगा। किन्तु वह श्रम, जो मूल्य का सार है, वह तो सजातीय मानव-श्रम है, उसमें तो एक सी, समरूप श्रम-शक्ति ख़र्च की जाती है। समाज की कुल श्रम-शक्ति, जो उस समाज के पैदा किये हुए तमाम मालों के मूल्यों के कुल जोड़ में निहित होती है, यहां पर मानव श्रम-शक्ति की एक सजातीय राशि के रूप में गिनी जाती है, भले ही वह राशि असंख्य अलग-अलग इकाइयों का जोड़ हो। इनमें से प्रत्येक इकाई, जहां तक कि उसका स्वरूप समाज की औसत श्रम-शक्ति का है और जहां तक कि वह इस रूप में व्यवहार में आती है, यानी जहां तक कि उसे माल तैयार करने में औसत से ज़्यादा – अर्थात् सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय से अधिक – समय नहीं लगता, वहां तक वह किसी भी दूसरी इकाई जैसी ही होती है। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल वह है, जो उत्पादन की साधारण परिस्थितियों में और उस ज़माने में प्रचलित औसत दर्जे की निपुणता तथा तीव्रता के द्वारा किसी वस्तु को पैदा करने के लिए आवश्यक हो। इंगलैण्ड में जब शक्ति से चलने वाले करघों का इस्तेमाल शुरू हुआ, तो सूत की एक निश्चित मात्रा को बुनकर कपड़े की शक्ल देने के लिए ख़र्च होने वाली श्रम की मात्रा पहले की तुलना में सम्भवतः आधी रह गयी। ज़ाहिर है, हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकरों को उसके

बाद भी पहले जितना ही समय खर्च करना पड़ता था, लेकिन उसके बावजूद इस परिवर्तन के बाद उनके एक घण्टे के श्रम की पैदावार सामाजिक श्रम के केवल आधे घण्टे का ही प्रतिनिधित्व करती थी और इसलिए उस पैदावार का मूल्य पहले से आधा रह गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी वस्तु के मूल्य का परिमाण इस बात से निश्चित होता है कि उसके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम आवश्यक है, अथवा सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम-काल आवश्यक है।[1] इस सम्बंध में हर अलग-अलग ढंग के माल को अपने वर्ग का औसत नमूना समझना चाहिए।[2] इसलिए जिन मालों में श्रम की बराबर मात्राएं निहित हैं या जिनको बराबर समय में पैदा किया जा सकता है, उनका एक सा मूल्य होता है। किसी भी माल के मूल्य का दूसरे किसी माल के मूल्य के साथ वही सम्बंध होता है, जो पहले माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल का दूसरे माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल के साथ होता है। "मूल्यों के रूप में तमाम माल घनीभूत श्रम-काल की निश्चित राशियां मात्र हैं।"[3]

इसलिए, यदि किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल स्थिर रहता है, तो उसका मूल्य भी स्थिर रहेगा। लेकिन आवश्यक श्रम-काल श्रम की उत्पादकता में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलता जाता है। यह उत्पादकता विभिन्न परिस्थितियों से निर्धारित होती है। अन्य बातों के अलावा, वह इस बात से निर्धारित होती है कि मजदूरों की औसत निपुणता कितनी है, विज्ञान की क्या दशा है तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग कितना हो रहा है, उत्पादन का सामाजिक संगठन कैसा है, उत्पादन के साधनों का विस्तार तथा सामर्थ्य कितनी है और भौतिक परिस्थितियां कैसी हैं। उदाहरण के लिए, अनुकूल मौसम होने पर ८ बुशेल अनाज में जितना श्रम निहित होता है, प्रतिकूल मौसम होने पर उतना श्रम केवल चार बुशेल में निहित होता है। घटिया खानों के मुक़ाबले में बढ़िया खानों से उतना ही श्रम ज्यादा धातु निकाल लेता है। हीरे जमीन की सतह पर बहुत मुश्किल से ही कहीं-कहीं मिलते हैं, और

---

[1] "जब उनका (जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का) आपस में विनिमय होता है, तब उनका मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उनको पैदा करने में कितने श्रम की लाज़िमी तौर पर आवश्यकता होती है और आम तौर पर उनके उत्पादन में कितना श्रम लगता है" *"Some Thoughts on the Interest of Money in General, and Particularly in the Publick Funds etc."* ('मुद्रा के सूद के विषय में सामान्य रूप से और विशेषतः सार्वजनिक कोष की मुद्रा के सूद के विषय में कुछ विचार, इत्यादि'), London, पृ० ३६। पिछली शताब्दी में लिखी गयी इस उल्लेखनीय गुमनाम रचना पर कोई तारीख़ नहीं है। परन्तु अन्दरूनी प्रमाणों से यह बात साफ़ है कि वह जार्ज द्वितीय के राज्य-काल में, १७३९ या १७४० के आस-पास प्रकाशित हुई थी।

[2] "Toutes les productions d'un même genre ne forment proprement qu'une masse, dont le prix se détermine en général et sans égard aux circonstances particulières." ["एक ही प्रकार की सभी उत्पादित वस्तुओं को मूलतया केवल एक ही राशि समझना चाहिए, जिसका दाम सामान्य बातों से निर्धारित होता है और जिसके सम्बंध में विशिष्ट बातों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८९३)।

[3] Karl Marx, उप० पु०, पृ० ६।

इसलिए उनका पता लगाने में औसतन बहुत अधिक श्रम-काल ख़र्च होता है। इसलिए यहां बहुत छोटी सी चीज़ बहुत अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। जेकब को तो इसमें भी सन्देह है कि सोने का कभी पूरा मूल्य अदा किया गया है। हीरों पर यह बात और भी ज़्यादा लागू होती है। एशवेगे का कहना है कि ब्राज़ील की हीरे की खानों से १८२३ तक पिछले अस्सी बरस में जितने हीरे प्राप्त हुए थे, उनके इतने दाम भी नहीं आये थे, जितने उसी देश के ईख और क़हवे के बागानों की डेढ़ बरस की औसत पैदावार के आ गये थे, हालांकि हीरों में बहुत ज़्यादा श्रम ख़र्च हुआ था और इसलिए वे अधिक मूल्य का प्रतिनिधित्व करते थे। यदि खानें अच्छी हों, तो उतना ही श्रम ज़्यादा हीरों में निहित होगा और उनका मूल्य गिर जायेगा। यदि हमें थोड़ा सा श्रम ख़र्च करके कार्बन को हीरे में बदलने में कामयाबी मिल जाये, तो हो सकता है कि हीरों का मूल्य ईंटों से भी कम रह जाये। आम तौर पर, श्रम की उत्पादकता जितनी अधिक होती है, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए उतना ही कम श्रम-काल आवश्यक होता है, उस वस्तु में उतना ही कम श्रम निहित होता है और उसका मूल्य भी उतना ही कम होता है। इसके विपरीत, श्रम की उत्पादकता जितनी कम होती है, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए उतना ही अधिक श्रम-काल आवश्यक होता है और उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। इसलिए, किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुलोम अनुपात में और उत्पादकता के प्रतिलोम अनुपात में बदलता रहता है।

यह सम्भव है कि किसी वस्तु में मूल्य न हो, मगर वह उपयोग-मूल्य हो। जहां कहीं मनुष्य के लिए किसी वस्तु की उपयोगिता श्रम के कारण नहीं होती, वहां यही सूरत होती है। हवा, अछूती धरती, प्राकृतिक चरागाह आदि सब ऐसी ही चीज़ें हैं। यह भी सम्भव है कि कोई चीज़ उपयोगी हो और मानव-श्रम की पैदावार हो, मगर माल न हो। जो कोई सीधे तौर पर ख़ुद अपने श्रम की पैदावार से अपनी आवश्यकतायें पूरी करता है, वह उपयोग-मूल्य तो ज़रूर पैदा करता है, मगर माल पैदा नहीं करता। माल पैदा करने के लिए ज़रूरी है कि वह न सिर्फ़ उपयोग-मूल्य पैदा करे, बल्कि दूसरों के लिए उपयोग-मूल्य – यानी सामाजिक उपयोग-मूल्य – पैदा करे। (और केवल दूसरों के लिए पैदा करना ही काफ़ी नहीं है, कुछ और भी चाहिए। मध्ययुगी किसान अपने सामन्ती स्वामी के लिए बेगार के तौर पर और अपने पादरी के लिए दक्षिणा के तौर पर अनाज पैदा करता था। लेकिन न तो बेगार का अनाज और न ही दक्षिणा का अनाज इसलिए माल बन जाता था कि वह दूसरों के लिए पैदा किया गया था। माल बनने के लिए ज़रूरी है कि पैदावार एक के हाथ से विनिमय के ज़रिये दूसरे के हाथ में जाये, जिसके पास वह उपयोग-मूल्य के रूप में काम आये।)[1] आख़िरी बात यह है कि यदि कोई चीज़ उपयोगी नहीं है, तो उसमें मूल्य भी नहीं हो सकता। यदि कोई चीज़ व्यर्थ है, तो उसमें निहित श्रम भी व्यर्थ है, ऐसे श्रम की गिनती श्रम के रूप में नहीं होती और इसलिए उससे कोई मूल्य पैदा नहीं होता।

[1] [चौथे जर्मन संस्करण का नोट: कोष्ठों के भीतर छपा यह अंश मैंने यहां इसलिए जोड़ दिया है कि उसके छूट जाने से अक्सर यह ग़लतफ़हमी पैदा हो जाती थी कि मार्क्स हर उस पैदावार को माल समझते थे, जिसका उपयोग उसको पैदा करने वाले के सिवा कोई और आदमी करता था। – फ़्रे० एं०]

## अनुभाग २—मालों में निहित श्रम का दोहरा स्वरूप

पहली दृष्टि में माल दो चीजों के—उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य के—संश्लेष के रूप में हमारे सामने आया था। बाद में हमने यह भी देखा कि श्रम का भी वैसा ही दोहरा स्वरूप होता है, क्योंकि जहां तक कि वह मूल्य के रूप में व्यक्त होता है, वहां तक उसमें वे गुण नहीं होते, जो उपयोग-मूल्य के सृजनकर्ता के रूप में उसमें होते हैं। मालों में निहित श्रम की इस दोहरी प्रकृति की ओर सबसे पहले मैंने इशारा किया था और उसका आलोचनात्मक अध्ययन किया था। यह बात चूंकि अर्थशास्त्र को स्पष्ट रूप से समझने की धुरी है, इसलिए हमें विस्तार में जाना होगा।

दो माल ले लीजिये। मान लीजिये, एक कोट है और १० गज सन का बना कपड़ा है, और कोट का मूल्य १० गज कपड़े के मूल्य का दुगना है, यानी यदि १० गज कपड़ा='क', तो कोट=२'क'।

कोट एक उपयोग-मूल्य है, जो एक ख़ास आवश्यकता को पूरा करता है। उसका अस्तित्व एक ख़ास ढंग की उत्पादक कार्रवाई का परिणाम है। इस उत्पादक कार्रवाई का स्वरूप उसके उद्देश्य, कार्य-पद्धति, विषय, साधनों और परिणाम से निर्धारित होता है। वह श्रम, जिसकी उपयोगिता इस प्रकार उसकी पैदावार के उपयोग-मूल्य में व्यक्त होती है या जो अपनी पैदावार को उपयोग-मूल्य बनाकर प्रकट होता है, उसे हम उपयोगी श्रम कहते हैं। इस सम्बंध में हम केवल उसके उपयोगी प्रभाव पर विचार करते हैं।

जिस प्रकार कोट और कपड़ा गुणात्मक दृष्टि से दो अलग-अलग तरह के उपयोग-मूल्य हैं, उसी प्रकार उनको पैदा करने वाले श्रम भी अलग-अलग तरह के दो श्रम हैं—एक में दर्जी ने कोट सिया है, दूसरे में बुनकर ने कपड़ा बुना है। यदि ये दो वस्तुएं गुणात्मक दृष्टि से अलग-अलग न होतीं, यदि वे दो अलग-अलग गुणों वाले श्रम से पैदा न हुई होतीं, तो उनका एक दूसरे के साथ मालों का सम्बंध नहीं हो सकता था। कोटों का विनिमय कोटों से नहीं होता, एक उपयोग-मूल्य का उसी प्रकार के दूसरे उपयोग-मूल्य से विनिमय नहीं किया जाता।

जितने प्रकार के विभिन्न उपयोग-मूल्य पाये जाते हैं, उनके अनुरूप उपयोगी श्रम के भी उतने ही प्रकार होते हैं; सामाजिक श्रम-विभाजन में जिस श्रेणी, प्रजाति, जाति एवं प्रभेद से श्रम का सम्बन्ध होता है, उसी के अनुसार उसका वर्गीकरण होता है। यह श्रम-विभाजन मालों के उत्पादन की जरूरी शर्त है, लेकिन इसकी उल्टी बात सत्य नहीं है,—यानी मालों का उत्पादन श्रम-विभाजन की जरूरी शर्त नहीं है। आदिम भारतीय ग्राम-समुदाय में श्रम का सामाजिक विभाजन तो होता है, लेकिन उसमें मालों का उत्पादन नहीं होता। या, यदि हम नजदीक की मिसाल लें, तो हर कारख़ाने के भीतर एक व्यवस्था के अनुसार श्रम का विभाजन होता है, लेकिन वह विभाजन इस तरह नहीं होता कि वहां काम करने वाले कर्मचारी अपनी अलग-अलग क़िस्म की पैदावारों का आपस में विनिमय करने लगते हों। पैदावार की केवल वे ही क़िस्में एक दूसरे के सम्बंध में माल बन सकती हैं, जो अलग-अलग ढंग के श्रम से पैदा हुई हों और जिनको पैदा करने वाला हर ढंग का श्रम स्वतंत्र रूप से और व्यक्तियों के निजी स्वार्थ के लिए किया गया हो।

अस्तु, हम अपनी चर्चा फिर जारी करते हैं। प्रत्येक माल के उपयोग-मूल्य में उपयोगी श्रम निहित होता है, अर्थात् एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर की गयी एक निश्चित ढंग

की उत्पादक कार्रवाई की गयी होती है। यदि प्रत्येक उपयोग-मूल्य में निहित उपयोगी श्रम गुणात्मक दृष्टि से अलग ढंग का न हो, तो विभिन्न उपयोग-मूल्य मालों के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में नहीं खड़े हो सकते। किसी भी ऐसे समाज में, जिसकी पैदावार ग्राम तौर पर मालों का रूप धारण कर लेती है, अर्थात् माल पैदा करने वालों के किसी भी समाज में, अलग-अलग पैदा करने वाले स्वतंत्र रूप से तथा निजी तौर पर जो विभिन्न प्रकार के उपयोगी श्रम करते हैं, उनके बीच का यह गुणात्मक अन्तर विकसित होकर एक संश्लिष्ट व्यवस्था – यानी सामाजिक श्रम-विभाजन – बन जाता है।

बहरहाल, दर्जी अपना बनाया हुआ कोट चाहे खुद पहने और चाहे उसका खरीदार उसे पहने, दोनों सूरतों में कोट उपयोग-मूल्य के रूप में काम आता है। कोट तथा उसे पैदा करने वाले श्रम का सम्बंध इस बात से भी नहीं बदल जाता है कि कपड़े सीने का काम एक खास धंधा, अर्थात् सामाजिक श्रम-विभाजन की एक स्वतंत्र शाखा, बन गया है। हजारों वर्ष तक जब कभी मनुष्य-जाति को कपड़े की जरूरत महसूस हुई, लोगों ने कपड़े सीकर तैयार कर लिये, लेकिन एक भी आदमी कभी दर्जी न बना। किन्तु भौतिक धन के प्रत्येक ऐसे तत्त्व की भांति, जो प्रकृति की स्वयंस्फूर्त पैदावार नहीं है, कोट और कपड़ा भी अनिवार्य रूप से एक ऐसी उत्पादक क्रिया के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आते हैं, जो एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर की जाती है और जो प्रकृति की दी हुई विशेष प्रकार की सामग्री को विशेष प्रकार की मानव-आवश्यकताओं के अनुकूल बनाती है। इसलिए, जहां तक श्रम उपयोग-मूल्य का सृजनकर्ता है, यानी जहां तक वह उपयोगी श्रम है, वहां तक वह समाज के सभी रूपों से स्वतंत्र, मनुष्य-जाति के अस्तित्व की आवश्यक शर्त है; यह प्रकृति द्वारा लागू की गयी ऐसी स्थायी आवश्यकता है, जिसके बग़ैर मनुष्य तथा प्रकृति के बीच कोई भौतिक आदान-प्रदान नहीं हो सकता और इसलिए जिसके बग़ैर मानव-जीवन भी नहीं हो सकता।

कोट, कपड़ा आदि उपयोग-मूल्य, अर्थात् मालों के ढांचे, दो तत्त्वों के योग होते हैं – पदार्थ और श्रम के। उनपर जो उपयोगी श्रम खर्च किया गया है, यदि आप उसे अलग कर दें, तो एक ऐसा भौतिक आधार-तत्त्व हमेशा बच जाता है, जो बिना मनुष्य की सहायता के प्रकृति से मिलता है। मनुष्य भी केवल प्रकृति की तरह काम कर सकता है, अर्थात् वह भी केवल पदार्थ का रूप बदलकर ही काम कर सकता है।[1] यही नहीं, रूप बदलने के इस काम

[1] "Tutti i fenomeni dell' universo, sieno essi prodotti della mano dell' uomo, ovvero delle universali leggi della fisica, non ci denno idea di attuale creazione, ma unicamente di una modificazione della materia. Accostare e separare sono gli unici elementi che l'ingegno umano ritrova analizzando l'idea della riproduzione: e tato è riproduzione di valore (value in use, although Verri in this passage of his controversy with the Physiocrats is not himself quite certain of the kind of value he is speaking of) e di richezze se la terra, l'aria e l'acqua ne' campi si trasmutino in grano, come se colla mano dell'uomo il glutine di un insetto si trasmuti in velluto ovvero alcuni pezzetti di metallo si organizzino a formare una ripetizione." ["विश्व की सभी घटनाएं, चाहे वे मनुष्य के हाथ का फल हों और चाहे वे प्रकृति के सार्वत्रिक नियमों का परिणाम हों, वास्तव में सृजन नहीं, बल्कि केवल पदार्थ के रूपों में परिवर्तन हैं। मानव-बुद्धि जब कभी पुनरुत्पादन के विचार का विश्लेषण करती है, तो उसे केवल दो ही तत्त्व दिखाई पड़ते हैं – एक जोड़ना, दूसरा तोड़ना; यही बात मूल्य (उपयोग-

में उसे प्रकृति की शक्तियों से बराबर मदद मिलती रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अकेला श्रम ही भौतिक सम्पत्ति का, अथवा श्रम के पैदा किये हुए उपयोग-मूल्यों का एकमात्र स्रोत नहीं है। जैसा कि विलियम पेटी ने कहा है, श्रम उसका बाप है और पृथ्वी उसकी मां है।

आइये, अब उपयोग-मूल्य के रूप में माल पर विचार करना बन्द करके मालों के मूल्य पर विचार करें।

हम यह मानकर चल रहे हैं कि कोट की क़ीमत कपड़े की दुगनी है। लेकिन यह महज़ एक परिमाणात्मक अन्तर है, जिससे फ़िलहाल हमारा सम्बंध नहीं है। किन्तु हम यह याद रखते हैं कि यदि कोट का मूल्य १० गज़ कपड़े के मूल्य का दुगना है, तो २० गज़ कपड़े का अवश्य वही मूल्य होना चाहिए, जो एक कोट का है। जहां तक कोट और कपड़ा दोनों मूल्य हैं, वहां तक वे समान तत्त्व की चीज़ें हैं, वे मूलतया समान श्रम के दो वस्तुगत रूप हैं। लेकिन सिलाई और बुनाई गुणात्मक दृष्टि से दो अलग-अलग ढंग के श्रम हैं। किन्तु कुछ ऐसी समाज-व्यवस्थाएं भी होती हैं, जिनमें एक ही आदमी सिलाई और बुनाई का काम बारी-बारी से करता है। इस सूरत में श्रम के ये दो रूप एक ही व्यक्ति के श्रम के दो स्वरूप मात्र होते हैं और वे अलग-अलग व्यक्तियों के अलग और निश्चित काम नहीं होते। यह उसी तरह की बात है, जैसे हमारा दर्ज़ी यदि एक रोज़ कोट बनाता है और दूसरे रोज़ पतलून, तो उससे महज़ एक ही व्यक्ति के श्रम का परिवर्तित स्वरूप हमारे सामने आता है। इसके अलावा, एक ही नज़र में हमको यह भी मालूम हो जाता है कि हमारे पूंजीवादी समाज में मानव-श्रम का एक निश्चित भाग घटती-बढ़ती मांग के अनुसार कभी सिलाई के रूप में इस्तेमाल होता है और कभी बुनाई के रूप में। यह परिवर्तन सम्भवतया बिना संघर्ष के नहीं होता, मगर उसका होना ज़रूरी है।

यदि हम उत्पादक क्रिया के विशेष रूप की ओर, अर्थात् श्रम के उपयोगी स्वरूप की ओर, ध्यान न दें, तो उत्पादक क्रिया मानव-श्रम-शक्ति को ख़र्च करने के सिवा और कुछ नहीं है। सिलाई और बुनाई गुणात्मक दृष्टि से अलग-अलग ढंग की उत्पादक क्रियायें हैं, फिर भी उन दोनों में मानव-मस्तिष्क, स्नायुओं और मांस-पेशियों का उत्पादक ढंग से ख़र्च होता है, और इस अर्थ में वे दोनों मानव-श्रम हैं। वे मानव-श्रम-शक्ति को ख़र्च करने की महज़ दो भिन्न पद्धतियां हैं। श्रम-शक्ति अपने तमाम स्वरूपों में एक सी रहती है। पर ज़ाहिर है कि इसके पहले कि वह अलग-अलग ढंग की बहुत सी पद्धतियों में ख़र्च की जाये, उसका विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुंचना ज़रूरी है। लेकिन किसी भी माल का मूल्य अमूर्त मानव-श्रम का, अर्थात् सामान्य रूप से मानव-श्रम के ख़र्च का, प्रतिनिधित्व करता है। और जिस प्रकार समाज में एक सेनापति अथवा एक साहूकार की भूमिका तो महान होती है, लेकिन उसके मुक़ाबले में मामूली आदमी की

---

मूल्य, हालांकि फ़िज़ियोक्रैट्स के मत का खण्डन करते हुए वेर्री ने जो यह अंश लिखा है, उसमें ख़ुद उसके मन में भी यह बात पूरी तरह साफ़ नहीं है कि वह किस प्रकार के मूल्य की चर्चा कर रहा है) अथवा धन के पुनरुत्पादन के सम्बन्ध में भी लागू होती है, जब मनुष्य द्वारा पृथ्वी, वायु और जल को अनाज में रूपान्तरित कर दिया जाता है, या एक कीड़े के चेपदार स्राव को रेशम में, या धातु के अलग-अलग टुकड़ों को एक घड़ी में बदल दिया जाता है।"] — Pietro Verri, "*Meditazioni sulla Economia Politica*" (पहली बार १७७३ में प्रकाशित), Custodi के इटली के अर्थशास्त्रियों के संस्करण — Parte Moderna — का १५ वां भाग, पृष्ठ २२।

भूमिका बहुत भवना ढंग की होती है,[1] ठीक वही बात यहां मामूली मानव-श्रम पर भी लागू होती है। मामूली मानव-श्रम साधारण श्रम-शक्ति को, अर्थात् उस श्रम-शक्ति को, खर्च करता है, जो औसत ढंग से और किसी विशेष विकास के बिना हर साधारण व्यक्ति के शरीर में मौजूद होती है। यह सच है कि साधारण औसत श्रम का रूप अलग-अलग देशों और अलग-अलग कालों में बदलता रहता है, लेकिन किसी भी खास समाज में उसका एक निश्चित रूप होता है। निपुण श्रम की गिनती केवल साधारण श्रम के गहन रूप में, या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि साधारण श्रम के गुणित रूप में होती है, और निपुण श्रम की एक निश्चित मात्रा साधारण श्रम की उससे अधिक मात्रा के बराबर समझी जाती है। अनुभव बताता है कि हम इस तरह निपुण श्रम को लगातार साधारण श्रम में बदलते रहते हैं। कोई माल अत्यन्त निपुण श्रम की पैदावार हो सकता है, लेकिन उसका मूल्य चूंकि साधारण अनिपुण श्रम की पैदावार के साथ उसका समीकरण कर देता है, इसलिए वह केवल साधारण अनिपुण श्रम की किसी निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करता है।[2] अलग-अलग ढंग का श्रम जिन भिन्न-भिन्न अनुपातों में उनके मापदण्ड के रूप में साधारण अनिपुण श्रम में बदला जाता है, वे एक ऐसी सामाजिक क्रिया के द्वारा निर्धारित होते हैं, जो पैदा करने वालों की पीठ पीछे चलती रहती है, और इसलिए रीति-रिवाज के जरिये निश्चित हुए लगते हैं। विषय को सरल बनाने की दृष्टि से हम आगे हर तरह के श्रम को अनिपुण, साधारण श्रम मानकर चलेंगे। ऐसा करके हम केवल निपुण श्रम को हर बार साधारण श्रम में बदलने के झंझट से बच जायेंगे।

इसलिए, जिस प्रकार हम कोट और कपड़े पर मूल्यों के रूप में विचार करते समय उनके अलग-अलग उपयोग-मूल्यों को उनसे अलग कर देते हैं, वही बात उस श्रम पर लागू होती है, जिसका ये मूल्य प्रतिनिधित्व करते हैं, यानी हम इस श्रम के उपयोगी रूपों – सिलाई और बुनाई – के अन्तर को अनदेखा कर देते हैं। उपयोग-मूल्यों के रूप में कोट और कपड़ा दो खास तरह की उत्पादक क्रियाओं के साथ वस्त्र और सूत के योग हैं, जब कि, दूसरी ओर, मूल्य – कोट और कपड़ा – अभिन्नित श्रम के सजातीय जमाव मात्र हैं; इस कारण, इन मूल्यों में निहित श्रम का महत्व इस बात में नहीं होता कि वस्त्र और सूत के साथ उसका कोई उत्पादक सम्बंध है, बल्कि उसका महत्व केवल इस बात में होता है कि इनमें मानव-श्रम-शक्ति खर्च हुई है। कोट और कपड़े के रूप में उपयोग-मूल्यों के सृजन में सिलाई और बुनाई ठीक इसीलिये आवश्यक तत्वों का काम करती हैं कि गुणगत दृष्टि से श्रम के ये दो प्रकार अलग-अलग हैं; लेकिन सिलाई और बुनाई कोट और कपड़े के मूल्यों के केवल उसी हद तक तत्व बनती हैं, जिस हद तक कि श्रम के इन दो प्रकारों को उनके विशेष गुणों से अलग कर दिया जाता है और जिस हद तक कि इन दोनों प्रकारों में मानव-श्रम होने का एक सा गुण मौजूद रहता है।

किन्तु कोट और कपड़ा केवल मूल्य ही नहीं, बल्कि निश्चित मात्रा के मूल्य हैं, और

---

[1] तुलना कीजिये Hegel की रचना "*Philosophie des Rechts*" से, Berlin, 1840, पृ० २५०, पैरा १९०।

[2] पाठक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम यहां मजदूरी की या मजदूर को एक निश्चित श्रम-काल का जो मूल्य मिलता है, उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, बल्कि हम यहां माल के उस मूल्य की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें उस श्रम-काल ने भौतिक रूप धारण किया है। मजदूरी एक ऐसी चीज है, जिसका अभी, हमारी खोज की मौजूदा मंजिल पर, कोई अस्तित्व नहीं है।

हमारी धारणा के अनुसार कोट की क़ीमत दस गज कपड़े की क़ीमत से दुगनी है। उनके मूल्यों में यह अन्तर कहां से पैदा होता है? यह इस बात से पैदा होता है कि कपड़े में कोट का केवल आधा श्रम ख़र्च हुआ है, और चुनांचे वह इस बात से पैदा होता है कि कपड़े के उत्पादन के लिए जितने समय तक श्रम-शक्ति ख़र्च करने की आवश्यकता है, कोट के उत्पादन में उससे दुगने समय तक श्रम-शक्ति ख़र्च की गयी होगी।

इसलिए, जहां उपयोग-मूल्य के सम्बंध में किसी भी माल में निहित श्रम का महत्त्व केवल गुणात्मक दृष्टि से होता है, वहां मूल्य के सम्बंध में उसका महत्त्व केवल परिमाणात्मक दृष्टि से होता है और उसे पहले विशुद्ध और साधारण मानव-श्रम में बदलना पड़ता है। उपयोग-मूल्य के सम्बंध में प्रश्न होता है कि कैसा और क्या? मूल्य के सम्बंध में प्रश्न होता है: कितना? कितने समय तक? चूंकि किसी भी माल के मूल्य का परिमाण केवल उसमें निहित श्रम की मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ ख़ास अनुपातों में तमाम मालों के मूल्य समान होंगे।

यदि एक कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक तमाम अलग-अलग ढंग के उपयोगी श्रम की उत्पादक शक्ति एक सी रहती है, तो तैयार होने वाले कोटों के मूल्यों का जोड़ उनकी संख्या के अनुसार बढ़ता जायेगा। यदि एक कोट 'क' दिनों के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, तो दो कोट २ 'क' दिनों के श्रम का प्रतिनिधित्व करेंगे, और इसी तरह यह क्रम आगे चलता जायेगा। लेकिन मान लीजिये कि एक कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की अवधि दुगनी या आधी हो जाती है। पहली सूरत में एक कोट की क़ीमत अब उतनी हो जायेगी, जितनी पहले दो कोटों की थी, और दूसरी सूरत में दो कोटों की क़ीमत अब सिर्फ़ इतनी ही रह जायेगी, जितनी पहले एक कोट की थी, हालांकि दोनों सूरतों में एक कोट अब भी उतना ही काम देता है, जितना वह पहले देता था, और उसमें निहित उपयोगी श्रम में वही गुण रहता है, जो उसमें पहले था। लेकिन कोट के उत्पादन पर ख़र्च किये गये श्रम की मात्रा बदल गयी है।

उपयोग-मूल्यों के परिमाण में वृद्धि होने का मतलब है भौतिक धन में वृद्धि होना। दो कोट दो आदमी पहन सकते हैं, एक कोट केवल एक ही आदमी पहन सकता है। फिर भी यह सम्भव है कि भौतिक धन के परिमाण में वृद्धि होने के साथ-साथ उसके मूल्य के परिमाण में कमी आ जाये। इस परस्पर विरोधी गति का मूल श्रम के दोहरे स्वरूप में है। उत्पादक शक्ति का, ज़ाहिर है, किसी मूर्त्त उपयोगी रूप के श्रम से सम्बंध होता है; कोई ख़ास तरह की उत्पादक क्रिया किसी निश्चित समय में कितनी कारगर होती है, यह उसकी उत्पादकता पर निर्भर करता है। इसलिए, उपयोगी श्रम की उत्पादकता जितनी बढ़ती या घटती है, उसी अनुपात में वह ज़्यादा या कम बहुतायत के साथ पैदावार तैयार करता है। दूसरी ओर, इस उत्पादकता में जो परिवर्तन होते हैं, उनका उस श्रम पर कोई असर नहीं पड़ता, जिसका प्रतिनिधित्व मूल्य करता है। चूंकि उत्पादक शक्ति श्रम के मूर्त्त, उपयोगी रूपों का गुण है, इसलिए ज़ाहिर है कि जब हम श्रम को उसके मूर्त्त, उपयोगी रूपों से अलग कर लेते हैं, तब उसके बाद उत्पादक शक्ति का श्रम पर प्रभाव पड़ना बन्द हो जाता है। इसलिए उत्पादक शक्ति में चाहे जैसा परिवर्तन हो जाये, एक सा श्रम यदि समान अवधि तक किया जायेगा, तो उससे सदा समान परिमाण में मूल्य उत्पन्न होगा। लेकिन समान अवधि में उससे उपयोग-मूल्य भिन्न-भिन्न परिमाणों में पैदा होंगे: यदि उत्पादक शक्ति बढ़ गयी होगी, तो अधिक परिमाण में उपयोग-मूल्य पैदा होंगे, और यदि वह घट गयी होगी, तो कम परिमाण में। उत्पादक शक्ति का जो परिवर्तन

श्रम की उर्वरता को और उसके परिणामस्वरूप उस श्रम से पैदा होने वाले उपयोग-मूल्यों के परिमाण को बढ़ा देता है, वही उपयोग-मूल्यों के इस बढ़े हुए परिमाण के कुल मूल्य को घटा देगा, बशर्ते कि इस परिवर्तन से इन उपयोग-मूल्यों के उत्पादन के लिए आवश्यक कुल श्रम-काल कम हो गया हो। और, इसके विपरीत, यदि उत्पादक शक्ति के इस परिवर्तन के फलस्वरूप इन उपयोग-मूल्यों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल बढ़ गया होगा, तो यही परिवर्तन इन उपयोग-मूल्यों के कुल मूल्य को बढ़ा देगा।

एक ओर, शरीर-विज्ञान की दृष्टि से हर प्रकार का श्रम मानव-श्रम-शक्ति को ख़र्च करना है, और एक जैसे, अमूर्त मानव-श्रम के रूप में वह मालों के मूल्य को उत्पन्न करता है और उसका निर्माण करता है। दूसरी ओर, हर प्रकार का श्रम मानव-श्रम-शक्ति को एक ख़ास ढंग से और एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर ख़र्च करना है, और अपने इस रूप में, यानी मूर्त्त उपयोगी श्रम के रूप में, वह उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है।[1]

---

[1] यह साबित करने के लिए कि श्रम ही एकमात्र ऐसी सर्वथा पर्याप्त एवं वास्तविक माप है, जिससे हर ज़माने में तमाम मालों के मूल्यों का अनुमान लगाया जा सकता है और उनका एक दूसरे से मुक़ाबला किया जा सकता है, ऐडम स्मिथ ने लिखा है: "श्रम की समान मात्राओं का मज़दूर के लिए सब समय और सब जगह एक सा मूल्य होना चाहिए। उसके स्वास्थ्य, बल और क्रियाशीलता की सामान्य अवस्था में और उसमें जितनी औसत निपुणता हो, उसके साथ उसे अपने अवकाश, अपनी स्वतंत्रता तथा अपने सुख का सदा एक सा अंश देना पड़ता है।", (*"Wealth of Nations"*, पहली पुस्तक, अध्याय ५।) एक ओर तो यहां (किन्तु हर जगह नहीं) ऐडम स्मिथ ने मालों के उत्पादन में ख़र्च किये गये श्रम की मात्रा के द्वारा मूल्य के निर्धारित होने को श्रम के मूल्य के द्वारा मालों के मूल्य के निर्धारित होने के साथ गड़बड़ा दिया है और इसके फलस्वरूप यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि श्रम की समान मात्राओं का सदा एक सा मूल्य होता है। दूसरी ओर, उनको अन्देशा है कि जहां तक श्रम मालों के मूल्य के रूप में प्रकट होता हैं, वहां तक वह केवल श्रम-शक्ति के ख़र्च के रूप में ही गिना जाता है, लेकिन श्रम-शक्ति का यह ख़र्च उनके लिए महज़ अवकाश, स्वतंत्रता और सुख का त्याग करना है और उसके साथ-साथ जीवित प्राणियों की साधारण कार्रवाई नहीं है। लेकिन ऐडम स्मिथ की दृष्टि में तो केवल मज़दूरी पर काम करने वाला आधुनिक मज़दूर ही है। उनके उस गुमनाम पूर्वज का, जिसे हमने पृ० ५४ के पहले फ़ुटनोट में उद्धृत किया है, यह कहना ज़्यादा सही लगता है कि "जीवन की इस आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने के लिए एक आदमी ने हफ़्ते भर तक काम किया है ... और वह, जो उसे बदले में कुछ देता है, वह जब इसका हिसाब लगाने बैठता है कि उसका सम-मूल्य क्या है, तो वह इससे बेहतर और कुछ नहीं कर सकता कि अनुमान लगाकर देखे कि इतना ही श्रम और समय उसका किस चीज़ में लगा था। और यह—असल में देखा जाय, तो—एक चीज़ में किसी निश्चित समय तक लगे एक आदमी के श्रम का किसी दूसरी चीज़ में उसी समय तक लगे किसी दूसरे आदमी के श्रम के साथ विनिमय करने के सिवा और कुछ नहीं है।" (उप० पु०, पृ०३९।) [यहां श्रम के जिन दो पहलुओं पर विचार किया गया है, उनके लिए अंग्रेज़ी भाषा में सौभाग्य से दो अलग-अलग शब्द हैं। वह श्रम, जो उपयोग-मूल्य पैदा करता है और जिसका महत्त्व गुणात्मक दृष्टि से होता है, work कहलाता है, जो labour से अलग होता है; और जो श्रम मूल्य पैदा करता है और जिसका महत्त्व परिमाणात्मक दृष्टि से होता है, वह labour कहलाता है, जो work से अलग होता है।—फ़्रे० एं०]

## अनुभाग ३ – मूल्य का रूप अथवा विनिमय-मूल्य

माल दुनिया में उपयोग-मूल्यों, वस्तुओं अथवा जिन्स के रूप में आते हैं, जैसे लोहा, कपड़ा, अनाज इत्यादि। यह उनका साधारण, सादा, शारीरिक रूप है। लेकिन वे यदि माल हैं, तो सिर्फ़ इसलिए कि वे दोहरी क़िस्म की चीज़ें हैं; वे उपयोग की वस्तुएं भी हैं और उसके साथ-साथ मूल्य के भण्डार भी। इसलिए, ये चीज़ें केवल उसी हद तक माल के रूप में प्रकट होती हैं, अथवा मालों का रूप धारण करती हैं, जिस हद तक कि उनके दो रूप होते हैं: एक – शारीरिक अथवा प्राकृतिक रूप, और दूसरा – मूल्य-रूप।

मालों के मूल्य की वास्तविकता इस दृष्टि से श्रीमती क्विकली (Dame Quicly) से भिन्न है कि हम यह नहीं जानते कि "उसे कहां पायेंगे"। मालों का मूल्य उनके तत्त्व की भनगढ़ भौतिकता का बिल्कुल उल्टा होता है, पदार्थ का एक परमाणु भी उसकी बनावट में प्रवेश नहीं कर पाता। किसी भी एक माल को ले लीजिये और फिर उसे अकेले ही चाहे जितनी बार इधर-उधर घुमाकर देखिये, लेकिन जिस हद तक वह मूल्य है, उस हद तक उसे समझ पाना असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम यह याद रखें कि मालों के मूल्य की केवल सामाजिक वास्तविकता होती है, और यह वास्तविकता वे केवल उसी हद तक प्राप्त करते हैं, जिस हद तक कि वे एक समान सामाजिक तत्त्व की, अर्थात् मानव-श्रम की, अभिव्यंजनाएं अथवा मूर्त रूप हैं, तो उससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्य केवल माल के साथ माल के सामाजिक सम्बंध के रूप में ही प्रकट हो सकता है। असल में तो हमने विनिमय-मूल्य से, अथवा मालों के विनिमय-सम्बंध से, ही अपनी यह खोज आरम्भ की थी, जिसका उद्देश्य उस मूल्य का पता लगाना था, जो इस सम्बंध के पीछे छिपा हुआ है। अब हमें फिर उस रूप की तरफ़ लौटना चाहिए, जिस रूप में मूल्य पहली बार हमारे सामने आया था।

हर आदमी, यदि वह और कुछ नहीं जानता, तो इतना ज़रूर जानता है कि सभी मालों का सामान्य मूल्य-रूप होता है, जो उनके उपयोग-मूल्यों के नाना प्रकार के शारीरिक रूपों से बहुत भिन्न होता है। मेरा मतलब मालों के मुद्रा-रूप से है। यहां, लेकिन, हमारे सामने एक ऐसा काम आकर खड़ा हो जाता है, जिसे पूंजीवादी अर्थशास्त्र ने अभी तक कभी हाथ में भी नहीं लिया है। वह काम यह है कि इस मुद्रा-रूप की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका पता लगाया जाये, और मालों के मूल्य-सम्बंध में मूल्य किस प्रकार व्यक्त होता है, इसको उसकी सबसे सरल, लगभग अदृश्य रूपरेखा से आरम्भ करके आंखों को चकाचौंध कर देने वाले मुद्रा-रूप तक के विकास को समझा जाये। यदि हम यह काम करेंगे, तो मुद्रा के रूप में जो पहेली हमारे सामने पेश है, उसे भी लगे हाथों बूझ डालेंगे।

सबसे सरल मूल्य-सम्बंध, ज़ाहिर है, वह है, जो किसी एक माल और दूसरी तरह के किसी एक और माल के बीच क़ायम होता है। इसलिए दो मालों के मूल्यों का सम्बंध हमारे सामने उनमें से किसी एक माल के मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना को पेश कर देता है।

### क) मूल्य का प्राथमिक अथवा आकस्मिक रूप

'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण, अथवा
'क' माल के 'प' परिमाण का मूल्य है 'ख' माल का 'फ' परिमाण।
२० गज़ कपड़ा = १ कोट, अथवा
२० गज़ कपड़े का मूल्य है १ कोट।

## १) मूल्य की अभिव्यंजना के दो ध्रुव: सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप

मूल्य के रूप का सारा रहस्य इस प्राथमिक रूप में छिपा हुआ है। इसलिए इस रूप का विश्लेषण करना ही हमारी असली कठिनाई है।

यहां दो भिन्न प्रकार के माल (हमारे उदाहरण में कपड़ा और कोट), स्पष्ट ही, दो अलग-अलग भूमिकाएं अदा करते हैं। कपड़ा अपना मूल्य कोट के रूप में व्यक्त करता है; कोट उस सामग्री का काम करता है, जिसके रूप में यह मूल्य व्यक्त किया जाता है। कपड़े की भूमिका सक्रिय है, कोट की निष्क्रिय। कपड़े का मूल्य सापेक्ष मूल्य के रूप में सामने आता है, या यूं कहिये कि वह सापेक्ष रूप में प्रकट होता है। कोट सम-मूल्य का काम करता है, या यूं कहिये कि वह सम-मूल्य रूप में प्रकट होता है।

सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप मूल्य की अभिव्यंजना के दो घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित, एक दूसरे पर निर्भर और अपृथक तत्व हैं, लेकिन वे साथ ही साथ एक दूसरे के अपवर्जक, विरोधी चरम छोर–यानी एक ही अभिव्यंजना के दो ध्रुव–हैं। ये दो रूप क्रमशः उन दो भिन्न मालों में बंट गये हैं, जिनको इस अभिव्यंजना ने एक दूसरे के सम्बंध में ला खड़ा किया है। कपड़े के मूल्य को कपड़े के रूप में व्यक्त करना सम्भव नहीं है। २० गज कपड़ा = २० गज कपड़ा–यह मूल्य की अभिव्यंजना नहीं है। इसके विपरीत, इस प्रकार का समीकरण तो केवल इतना ही बताता है कि २० गज कपड़ा २० गज कपड़े के सिवा–या कपड़ा नामक उपयोग-मूल्य की एक निश्चित मात्रा के सिवा–और कुछ नहीं है। अतएव, कपड़े का मूल्य केवल सापेक्ष ढंग से ही–अर्थात् किसी और माल के रूप में ही–व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए कपड़े के मूल्य का सापेक्ष रूप पहले से यह मानकर चलता है कि कोई और माल भी–यहां पर कोट–सम-मूल्य के रूप में मौजूद है। दूसरी ओर, जो माल सम-मूल्य के रूप में सामने आता है, वह उसके साथ-साथ सापेक्ष रूप नहीं धारण कर सकता। दूसरे माल का मूल्य व्यक्त नहीं किया जा रहा है। उसकी भूमिका तो बस पहले माल का मूल्य व्यक्त करने वाली सामग्री का काम पूरा करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि २० गज कपड़ा = १ कोट, या २० गज कपड़े का मूल्य है १ कोट, इस अभिव्यंजना से यह उल्टा सम्बंध भी प्रकट होता है कि १ कोट = २० गज कपड़ा, या १ कोट का मूल्य है २० गज कपड़ा। लेकिन तब मुझे कोट का मूल्य सापेक्ष ढंग से व्यक्त करने के लिए समीकरण को उलटना पड़ेगा, और जैसे ही मैं यह करता हूं, वैसे ही कोट के बजाय कपड़ा सम-मूल्य बन जाता है। अतएव, मूल्य की एक ही अभिव्यंजना में कोई एक माल एक साथ दोनों रूप धारण नहीं कर सकता। इन रूपों की ध्रुवता ही उनको परस्पर अपवर्जी बना देती है।

इसलिए, कोई माल सापेक्ष रूप धारण करेगा या उसका उल्टा सम-मूल्य रूप, यह पूर्णतया इस बात पर निर्भर करता है कि मूल्य की अभिव्यंजना में संयोगवश उसकी कौनसी स्थिति है–अर्थात् वह ऐसा माल है, जिसका मूल्य व्यक्त किया जा रहा है, या ऐसा माल, जिसके रूप में मूल्य व्यक्त किया जा रहा है।

## २) मूल्य का सापेक्ष रूप

### (क) इस रूप की प्रकृति और उसका अर्थ

इसका पता लगाने के लिए कि किसी माल के मूल्य की प्राथमिक अभिव्यंजना दो मालों के मूल्य-सम्बंध में कैसे छिपी रहती है, हमें सबसे पहले इस मूल्य-सम्बंध को उसके परिमाणात्मक पहलू से बिल्कुल अलग करके उसपर विचार करना चाहिए। साधारणतया उसकी उल्टी कार्य-विधि अपनायी जाती है, और मूल्य-सम्बंध को दो अलग-अलग ढंग के मालों की उन निश्चित मात्राओं के अनुपात के सिवा और कुछ नहीं समझा जाता, जिनको एक दूसरे के बराबर माना जाता है। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि अलग-अलग वस्तुओं के परिमाणों की परिमाणात्मक तुलना केवल उसी सूरत में की जा सकती है, जब ये परिमाण एक ही इकाई के रूप में व्यक्त किये गये हों। इस प्रकार की किसी इकाई की अभिव्यंजनाओं के रूप में ही ये परिमाण एक श्रेणी के होते हैं, और इसलिये उनको एक मापदण्ड से नापा जा सकता है।[1]

चाहे २० गज कपड़ा = १ कोट के, या = २० कोट के, या = 'क' कोट के, - अर्थात् कपड़े की किसी निश्चित मात्रा का मूल्य चाहे तो थोड़े से कोट हों और चाहे बहुत सारे कोट हों, ऐसे हर कथन का यह मतलब होता है कि मूल्य के परिमाणों के रूप में कपड़ा और कोट एक ही इकाई की अभिव्यंजनाएं हैं, एक ही क़िस्म की चीजें हैं। कपड़ा = कोट - समीकरण का यही मूल आधार है।

लेकिन ये दो माल, हम इस प्रकार जिनके गुण की एकरूपता मान कर चल रहे हैं, एक सी भूमिका नहीं अदा करते। मूल्य केवल कपड़े का ही व्यक्त होता है। और किस तरह? कोट का अपने सम-मूल्य के रूप में हवाला देकर, यानी] ऐसी चीज के रूप में, जिसके साथ उसका विनिमय किया जा सकता है। इस पारस्परिक सम्बंध में कोट मूल्य के अस्तित्व की अवस्था है, वह मूल्य का मूर्त रूप है, क्योंकि केवल इसी तरह तो वह वही है, जो कपड़ा है। दूसरी ओर, कपड़े का खुद अपना मूल्य सामने आता है, स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्राप्त करता है, क्योंकि मूल्य होने के कारण ही तो उसका समान मूल्य की चीज के रूप में कोट के साथ मुक़ाबला किया जा सकता है या कोट के साथ उसका विनिमय किया जा सकता है। हम रसायन-विज्ञान का एक उदाहरण लें। ब्यूटीरिक अम्ल प्रोपिल फ़ार्मेट से अलग पदार्थ है। फिर भी वे दोनों एक से रासायनिक तत्वों से बने हैं - कार्बन (C), हाइड्रोजन (H) और ऑक्सिजन (O), और दोनों में इन तत्वों का अनुपात भी एक सा है - $C_4H_8O_2$। अब यदि हम ब्यूटीरिक अम्ल का प्रोपिल फ़ार्मेट के साथ समीकरण करते हैं, तो इस सम्बंध में एक तो प्रोपिल फ़ार्मेट $C_4H_8O_2$

---

[1] जिन चन्द अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के रूप का विश्लेषण करने में दिलचस्पी दिखायी है, - और उनमें से एक एस० बेली हैं, - वे भी किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सके हैं। एक तो इसलिए कि वे मूल्य के रूप को ख़ुद मूल्य के साथ गड़बड़ा देते हैं, और दूसरे इसलिए कि वे व्यावहारिक पूंजीवादियों के कुप्रभाव में आकर इस सवाल के केवल परिमाणात्मक पहलू पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं। "परिमाण प्राप्त करने की क्षमता ही... मूल्य होती है।" (*"Money and its Vicissitudes"* ['मुद्रा और उसके उतार-चढ़ाव'], London, 1837, पृ० ११। लेखक S. Bailey [एस० बेली]।)

के अस्तित्व की एक अवस्था मात्र होगा, और दूसरे हमारे कहने का यह मतलब होगा कि ब्यूटीरिक अम्ल भी $C_4H_8O_2$ से बना है। इसलिए, दो पदार्थों का इस तरह समीकरण करके हम उनकी रासायनिक बनावट को तो व्यक्त करेंगे, मगर उनके अलग-अलग शारीरिक रूपों की उपेक्षा कर देंगे।

अगर हम यह कहते हैं कि मूल्यों के रूप में माल मानव-श्रम के जमाव मात्र हैं, तो यह सच है कि हम अपने विश्लेषण द्वारा उन्हें अमूर्त मूल्य में बदल डालते हैं, लेकिन इस मूल्य को हम इन मालों के शारीरिक रूप के अलावा कोई और रूप नहीं देते। किन्तु जब एक माल का दूसरे माल के साथ मूल्य का सम्बंध स्थापित होता है, तब यह बात नहीं होती। यहां एक माल दूसरे माल के साथ अपने सम्बंध के कारण ही मूल्य के रूप में सामने आता है।

कोट को कपड़े का सम-मूल्य बना कर हम कोट में निहित श्रम का कपड़े में निहित श्रम के साथ समीकरण करते हैं। अब यह बात तो सच है कि सिलाई, जिससे कोट तैयार होता है, बुनाई से, जिससे कि कपड़ा तैयार होता है, भिन्न प्रकार का एक उपयोगी मूर्त श्रम है। लेकिन जब हम सिलाई का बुनाई के साथ समीकरण करते हैं, तो हम सिलाई को उस चीज़ में बदल डालते हैं, जो दोनों प्रकार के श्रम में सचमुच समान है, अर्थात् हम उसे मानव-श्रम के उनके समान स्वरूप में परिणत कर देते हैं। अतः इस घुमावदार ढंग से यही तथ्य व्यक्त किया जाता है कि जहां तक बुनाई का श्रम भी मूल्य बुनता है, वहां तक उसमें और सिलाई के श्रम में कोई भेद नहीं है, और इसलिए वह भी अमूर्त मानव-श्रम है। यह केवल अलग-अलग ढंग के मालों की सम-मूल्यता की अभिव्यंजना ही है, जो मूल्य का सृजन करने वाले श्रम के विशिष्ट स्वरूप को सामने ले आती है; और यह काम वह अलग-अलग ढंग के मालों में निहित अलग-अलग प्रकार के श्रम को सचमुच अमूर्त्त मानव-श्रम होने के उनके समान गुण में परिणत करके पूरा करती है।[1]

लेकिन कपड़े का मूल्य जिस श्रम से बना है, उसके विशिष्ट स्वरूप की अभिव्यंजना से आगे भी किसी चीज़ की आवश्यकता है। गतिमान मानव-श्रम-शक्ति, अथवा मानव-श्रम मूल्य को उत्पन्न करता है, किन्तु वह स्वयं मूल्य नहीं होता। वह केवल अपनी पिण्डीभूत अवस्था में ही मूल्य बनता है, जब कि वह किसी वस्तु की शकल में मूर्त्त रूप धारण कर लेता है। मानव-श्रम के जमाव के रूप में कपड़े के मूल्य को व्यक्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि वह मूल्य

---

[1] ख्यातिनामा फ़्रैंकलिन विलियम पेटी के बाद आने वाले उन पहले अर्थशास्त्रियों में थे, जो मूल्य की प्रकृति को समझ पाये थे। उन्होंने लिखा है: "व्यापार चूंकि सामान्यतया श्रम के साथ श्रम के विनिमय के सिवा और कुछ नहीं होता, इसलिए यह सर्वथा उचित बात है कि सभी चीज़ों का मूल्य... श्रम के द्वारा मापा जाता है।" (*"The Works of B. Franklin, etc."*, edited by Sparks, Boston, 1836, खण्ड २, पृ० २६७।) फ़्रैंकलिन में यह चेतना नहीं है कि हर चीज़ के मूल्य का श्रम के रूप में हिसाब लगाकर वह श्रम के जिन अलग-अलग प्रकारों का विनिमय हो रहा है, उनके आपसी भेद की अवहेलना किये दे रहे हैं और इस तरह उन सब को समान मानव-श्रम में बदले डाल रहे हैं। लेकिन सचेत न होते हुए भी वह उसे कह जाते हैं। पहले वह "एक श्रम" की चर्चा करते हैं, फिर "दूसरे श्रम" की और अन्त में हर चीज़ के मूल्य के सार-तत्त्व के रूप में बिना कोई विशेषण जोड़े "श्रम" का ज़िक्र करते हैं।

इस प्रकार व्यक्त किया जाये, जैसे उसका वस्तुगत अस्तित्व हो, जैसे वह कोई ऐसी चीज हो, जो खुद भौतिक रूप से कपड़े से भिन्न हो, किन्तु जो फिर भी कपड़े में तथा अन्य सभी मालों में सामान्य रूप से मौजूद हो। समस्या यहीं पर हल हो जाती है।

जब कोट मूल्य के समीकरण में सम-मूल्य की स्थिति में होता है, तब वह गुणात्मक दृष्टि से इसलिये कपड़े के बराबर होता है और उसी तरह की एक चीज समझा जाता है, क्योंकि वह मूल्य है। इस स्थिति में वह एक ऐसी चीज होता है, जिसमें हम मूल्य के सिवा और कुछ नहीं देखते या जिसका स्पर्शगोचर शारीरिक रूप मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी कोट खुद—यानी कोट नामक माल का शरीर—महज एक उपयोग-मूल्य होता है। कपड़े का जो पहला टुकड़ा आपको मिले, उसे उठाकर देखिये, वह आपसे यह नहीं कहता कि वह मूल्य है। उसी तरह कोट भी कोट के रूप में यह नहीं कहता। इससे पता चलता है कि कोट का कपड़े के साथ मूल्य का सम्बंध स्थापित हो जाने पर उसका महत्त्व बढ़ जाता है, जब कि इस सम्बंध के अभाव में उसका यह महत्त्व नहीं होता। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे बहुत से आदमियों का, जब वे सादे कपड़े पहने हुए होते हैं, तब कोई खास महत्त्व नहीं होता, पर जब वे भड़कीली वर्दी पहनकर अकड़कर चलने लगते हैं, तो उनका महत्त्व बढ़ जाता है।

कोट के उत्पादन में सिलाई के रूप में मानव-श्रम-शक्ति का अवश्य ही वास्तविक खर्च किया गया होगा। इसलिये उसमें मानव-श्रम संचित है। इस दृष्टि से कोट मूल्य का भण्डार है, हालांकि वह घिसकर तार-तार हो जाने पर भी इस सचाई को बाहर झलकने नहीं देता। और मूल्य के समीकरण में कपड़े के सम-मूल्य के रूप में उसका अस्तित्व केवल इसी दृष्टि से होता है, और इसलिये उसका महत्त्व मूर्तिमान मूल्य के रूप में, अथवा एक ऐसी वस्तु के रूप में होता है, जो खुद मूल्य है। उदाहरण के लिये 'क' उस वक़्त तक 'ख' के लिये "महामहिम सम्राट्" नहीं हो सकता, जब तक कि 'ख' की नजरों में "सम्राट् की महिमा" उसी समय 'क' का शारीरिक रूप न धारण कर ले,—और जो इस से भी बड़ी बात है, जब तक कि "सम्राट् की महिमा" प्रजा के हर नये पिता के सिंहासन पर आसीन होने के साथ-साथ अपना अपना चेहरा-मोहरा, बाल और अन्य बहुत सी चीजें न बदलती जायें।

इसलिये, मूल्य के उस समीकरण में, जिसमें कोट कपड़े का सम-मूल्य है, कोट मूल्य के रूप की भूमिका अदा करता है। "कपड़ा" नामक माल का मूल्य "कोट" नामक माल के शारीरिक रूप के द्वारा व्यक्त होता है, एक माल का मूल्य दूसरे माल के उपयोग-मूल्य के द्वारा व्यक्त होता है। हमारी इन्द्रियां सहज ही यह अनुभव कर सकती हैं कि उपयोग-मूल्य के रूप में कपड़ा कोट से भिन्न है; पर मूल्य के रूप में वह वही है, जो कुछ कोट है, और अब उसकी शकल कोट की हो जाती है। इस प्रकार, कपड़ा एक ऐसा मूल्य-रूप प्राप्त कर लेता है, जो उसके शारीरिक रूप से भिन्न होता है। वह मूल्य है, यह सत्य कोट के साथ उसकी समानता से प्रकट होता है, जैसे किसी ईसाई का भेड़ जैसा स्वभाव भगवान के मेमने के साथ उसके सादृश्य से प्रकट होता है।

तो, इस तरह, हम देखते हैं कि मालों के मूल्य का विश्लेषण करके अब तक हम जो कुछ मालूम कर चुके हैं, वह सब कपड़ा खुद, जैसे ही वह एक दूसरे माल के—यानी कोट के—सम्पर्क में आता है, वैसे ही हमें बताने लगता है। मुश्किल सिर्फ़ यही है कि वह अपने विचार केवल उस एकमात्र भाषा में व्यक्त करता है, जिससे वह परिचित है, अर्थात् मालों की भाषा

में। हमें यह बतलाने के लिये कि खुद उसके मूल्य को श्रम ने मानव-श्रम के अपने अमूर्त रूप में उत्पन्न किया है, वह कहता है कि जिस हद तक कोट की वही क़ीमत है, जो कपड़े की है, और इसलिये जिस हद तक वह मूल्य है, उस हद तक वह भी उसी श्रम से बना है, जिससे कपड़ा बना है। हमें यह बतलाने के लिये कि मूल्य के रूप में उसकी उदात्त वास्तविकता वह नहीं है, जो उसके बकरम के शरीर की है, वह कहता है कि मूल्य की शकल कोट की है और इसलिये जिस हद तक कपड़ा मूल्य है, उस हद तक वह और कोट ऐसे हैं, जैसे मटर के दो दाने। यहां हम यह भी बता दें कि मालों की भाषा की, यहूदियों की इबरानी के अलावा, और भी बहुत सी कमोबेश सही बोलियां हैं। उदाहरण के लिये, जर्मन शब्द "Werthsein", अर्थात् "क़ीमत का होना", रोमानी भाषा की क्रियाओं "valere", "valer", "valoir" की अपेक्षा कुछ कम ज़ोर के साथ यह विचार व्यक्त करता है कि 'क' नामक माल के साथ 'ख' नामक माल का समीकरण करना 'क' नामक माल का अपना मूल्य प्रकट करने का ख़ास ढंग है। Paris vaut bien une messe! (पेरिस की क़ीमत इतनी ज़रूर है कि एक बार ख्रीष्ट-भोज की प्रार्थना में शामिल हो लिया जाये! )

इसलिये, हमारे समीकरण में मूल्य का जो सम्बंध व्यक्त किया गया है, उसके द्वारा 'ख' नामक माल का शारीरिक रूप 'क' नामक माल का मूल्य-रूप बन जाता है, अथवा 'ख' नामक माल का शरीर 'क' नामक माल के मूल्य के लिये दर्पण का काम करता है।[1] मूल्य in propriâ personâ (मूर्त मूल्य) के रूप में, अथवा उस पदार्थ के रूप में, जिसकी शकल में मानव-श्रम ने मूर्त रूप धारण किया है, 'ख' नामक माल के साथ सम्बंध स्थापित करके 'क' नामक माल 'ख' नामक उपयोग-मूल्य को उस तत्व में बदल डालता है, जिसमें वह अपना – खुद 'क' का – मूल्य व्यक्त करता है। 'क' का मूल्य जब इस प्रकार 'ख' के उपयोग-मूल्य के रूप में व्यक्त होता है, तब वह सापेक्ष मूल्य का रूप धारण कर लेता है।

### (ख) सापेक्ष मूल्य का परिमाणात्मक निर्धारण

हर वह माल, जिसका हमें मूल्य व्यक्त करना होता है, एक निश्चित मात्रा की उपयोगी वस्तु होता है, जैसे १५ बुशेल अनाज या १०० पौंड क़हवा। और किसी भी माल की एक ख़ास मात्रा में मानव-श्रम की एक निश्चित मात्रा होती है। इसलिये, मूल्य-रूप को न केवल सामान्य तौर पर मूल्य को व्यक्त करना चाहिये, बल्कि उसे किसी निश्चित मात्रा के मूल्य को व्यक्त करना चाहिये। अतएव, 'ख' नामक माल के साथ 'क' नामक माल का – या कोट के साथ कपड़े का – जो मूल्य का सम्बंध है, उसमें कोट न सिर्फ़ आम तौर पर मूल्य के रूप

---

[1] एक ढंग से, जो बात मालों के लिये सच है, वह इनसानों के लिये भी सच है। इनसान चूंकि न तो हाथ में दर्पण लेकर इस दुनिया में आता है और न ही फ़िख़्तेवादी दार्शनिक बनकर, जिसके लिये "मैं मैं हूं" कह देना ही पर्याप्त होता है, इसलिये इनसान अपने को पहले दूसरे इनसानों में देखकर पहचानता है। पीटर जब पहले अपने ही प्रकार के प्राणी के रूप में पौल से अपनी तुलना कर लेता है, तभी वह अपने आपको इनसान के रूप में पहचान पाता है। और तब पौल अपने समस्त पौलीय व्यक्तित्त्व को लिये हुए पीटर के लिये मनुष्य-जाति का प्रतिनिधि रूप बन जाता है।

में गुणात्मक दृष्टि से कपड़े के बराबर हो जाता है, बल्कि कोट की एक निश्चित मात्रा (१ कोट) कपड़े की एक निश्चित मात्रा (२० गज़) का सम-मूल्य बन जाती है।

२० गज़ कपड़ा = १ कोट या २० गज़ कपड़े की क़ीमत है एक कोट,– इस समीकरण का मतलब यह है कि दोनों में मूल्य-तत्त्व (जमे हुए श्रम) की एक सी मात्रा निहित है, अर्थात् दोनों मालों में श्रम की बराबर मात्रा अथवा बराबर श्रम-काल ख़र्च हुआ है। लेकिन बुनाई या सिलाई के श्रम की उत्पादकता में आने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ २० गज़ कपड़े या १ कोट के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल बदलता रहता है। अब हमें इसपर विचार करना है कि ऐसे परिवर्तनों का मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना के परिमाणात्मक पहलू पर क्या प्रभाव पड़ता है।

१) मान लीजिये कि कोट का मूल्य स्थिर रहता है[1], मगर कपड़े का मूल्य बदल जाता है। जैसे कि यदि सन पैदा करने वाली धरती की उर्वरता नष्ट हो जाये और उसके परिणामस्वरूप सन के बने कपड़े के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल दुगना हो जाये, तो उस कपड़े का मूल्य भी दुगना हो जायेगा। तब इस समीकरण के बजाय कि २० गज़ कपड़ा = १ कोट, यह समीकरण होगा कि २० गज़ कपड़ा = २ कोट, क्योंकि २० गज़ कपड़े में अब जितना श्रम-काल निहित होगा, १ कोट में उसका महज़ आधा होगा। दूसरी तरफ़, यदि मान लीजिये कि उन्नत ढंग के करघों के परिणामस्वरूप यह श्रम-काल आधा रह जाये, तो कपड़े का मूल्य भी आधा रह जायेगा। और तब यह समीकरण होगा कि २० गज़ कपड़ा = १/२ कोट। अतएव यदि 'ख' नामक माल का मूल्य स्थिर मान लिया जाये, तो 'क' नामक माल का सापेक्ष मूल्य– अर्थात् 'ख' नामक माल के रूप में व्यक्त किया गया उसका मूल्य–'क' के मूल्य के अनुलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है।

२) मान लीजिये कि कपड़े का मूल्य स्थिर रहता है, मगर कोट का मूल्य बदल जाता है। ऐसी परिस्थिति में, उदाहरण के लिये यदि ऊन की फ़सल अच्छी न होने के कारण कोट के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल पहले से दुगना हो जाता है, तो इस समीकरण के बदले कि २० गज़ कपड़ा = १ कोट, समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज़ कपड़ा = १/२ कोट। दूसरी तरफ़, यदि कोट का मूल्य आधा रह जाता है, तो समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज़ कपड़ा = २ कोट। इसलिये, यदि 'क' नामक माल का मूल्य स्थिर रहता है, तो 'ख' नामक माल के रूप में व्यक्त होने वाला उसका सापेक्ष मूल्य 'ख' के मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है।

यदि हम १ और २ दृष्टान्तों में दिये हुए अलग-अलग उदाहरणों का मुक़ाबला करें, तो हम देखेंगे कि सापेक्ष मूल्य के परिमाण में सर्वथा विरोधी कारणों से एक सा परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार, जब २० गज़ कपड़ा = १ कोट का समीकरण २० गज़ कपड़ा = २ कोट में बदलता है, तो उसके दो कारण हो सकते हैं– या तो यह कि कपड़े का मूल्य पहले से दुगना हो गया है, और या यह कि कोट का मूल्य पहले से आधा रह गया है। और जब वही समीकरण २० गज़ कपड़ा = १/२ कोट का रूप लेता है, तब उसके भी दो कारण हो सकते हैं– या तो यह कि कपड़े

---

[1] इसके पहले के पृष्ठों में यदा-कदा और यहां पर भी "मूल्य" शब्द का उस मूल्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है जिसकी मात्रा निर्धारित हो चुकी है, अथवा यह कहिये कि मूल्य के परिमाण के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है।

का मूल्य पहले से आधा रह गया है, और या यह कि कोट का मूल्य पहले से दुगना हो गया है।

३) मान लीजिये कि कपड़े तथा कोट के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल की क्रमशः मात्रायें एक ही दिशा और एक से अनुपात में बदलती हैं। इस सूरत में, कपड़े के तथा कोट के मूल्य चाहे जितने बदल जायें, पर २० गज कपड़ा १ कोट के ही बराबर रहता है। पर जैसे ही उनका किसी ऐसे तीसरे माल से मुक़ाबला किया जाता है, जिसका मूल्य स्थिर रहा है, वैसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मूल्य बदल गया है। यदि तमाम मालों के मूल्य एक साथ और एक ही अनुपात में घट जायें या बढ़ जायें, तो उनके सापेक्ष मूल्यों में कोई परिवर्तन न होगा। उनके मूल्य में होने वाला वास्तविक परिवर्तन इस बात से जाहिर होगा कि एक निश्चित समय में अब पहले से कितने कम या ज्यादा परिमाण में माल तैयार होते हैं।

४) सम्भव है कि कपड़े के तथा कोट के उत्पादन के लिये क्रमशः आवश्यक श्रम-काल और उसके फलस्वरूप इन मालों का मूल्य एक साथ और एक ही दिशा में बदलें, लेकिन दोनों के बदलने की गति समान न हो, या सम्भव है कि दोनों उल्टी दिशाओं में बदलें या किसी और ढंग से बदलें। इस तरह जितनी अलग-अलग सूरतें मुमकिन हैं, उनका किसी माल के सापेक्ष मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह १, २ और ३ के परिणामों से निगमन करके जाना जा सकता है।

अतएव, मूल्य के परिमाण में होने वाले वास्तविक परिवर्तन अपनी सापेक्ष अभिव्यंजना में – अर्थात् सापेक्ष मूल्य का परिमाण व्यक्त करने वाले समीकरण में – न तो असंदिग्ध रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं और न ही संपूर्ण रूप में। किसी माल का मूल्य स्थिर रहते हुए भी उसका सापेक्ष मूल्य बदल सकता है। यह भी सम्भव है कि उसका मूल्य बदलते रहने पर भी उसका सापेक्ष मूल्य स्थिर रहे। और आखिरी बात यह है कि मूल्य के परिमाण में तथा उसकी सापेक्ष अभिव्यंजना में एक साथ होने वाले परिवर्तनों के लिये मात्रा की दृष्टि से एक जैसा होना क़तई जरूरी नहीं है।[1]

---

[1] मूल्य के परिमाण तथा उसकी सापेक्ष अभिव्यंजना के बीच पायी जाने वाली इस असंगति से घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्रियों ने अपनी परम्परागत चालाकी से फ़ायदा उठाया है। उदाहरण के लिये: "एक बार यह मान लीजिये कि 'क' का मूल्य इसलिये गिर जाता है कि 'ख' का, जिसके साथ कि उसका विनिमय होता है, चढ़ जाता है, हालांकि इस बीच 'क' में पहले से कम श्रम ख़र्च नहीं हुआ है; और यह मानते ही आपका मूल्य का सामान्य सिद्धान्त भरराकर गिर पड़ता है... जब उसने (रिकार्डो ने) यह मान लिया कि 'ख' की अपेक्षा 'क' का मूल्य चढ़ जाने पर 'क' की अपेक्षा 'ख' का मूल्य गिर जाता है, तब उसने वह नींव ही काट दी, जिसपर उसकी यह शानदार स्थापना टिकी थी कि किसी भी माल का मूल्य सदा उसमें निहित श्रम द्वारा निर्धारित होता है। क्योंकि यदि 'क' की लागत में होने वाला परिवर्तन न केवल 'ख' की अपेक्षा, जिसके साथ कि उसका विनिमय होता है, स्वयं उसके मूल्य को बदल देता है, बल्कि 'क' की अपेक्षा 'ख' के मूल्य को भी बदल देता है, हालांकि 'ख' को पैदा करने के लिये आवश्यक श्रम-मात्रा में कोई तबदीली नहीं हुई है, तो न सिर्फ़ वह सिद्धान्त भरराकर गिर पड़ता है, जिसका दावा है कि किसी वस्तु में जितना श्रम लगाया जाता है, वह उसके मूल्य का नियमन करता है, बल्कि वह सिद्धान्त भी झूठा हो जाता है,

## ३) मूल्य का सम-मूल्य रूप

हम यह देख चुके हैं कि जब 'क' नामक माल (कपड़ा) अपने से भिन्न प्रकार के एक माल (कोट) के उपयोग-मूल्य के रूप में अपना मूल्य व्यक्त करता है, तब वह उसके साथ-साथ उस दूसरे माल पर भी मूल्य के एक विशिष्ट रूप की, अर्थात् मूल्य के सम-मूल्य रूप की, छाप अंकित कर देता है। 'कपड़ा' नामक माल अपने मूल्य धारण करने के गुण को इस तथ्य के द्वारा प्रकट करता है कि कोट का उसके अपने शारीरिक रूप से भिन्न कोई मूल्य-रूप धारण किये बग़ैर ही कपड़े के साथ समीकरण कर दिया जाता है। यह तथ्य कि कपड़े में मूल्य है, इस कथन द्वारा व्यक्त किया जाता है कि कोट का उसके साथ सीधा विनिमय हो सकता है। अतएव, जब हम यह कहते हैं कि कोई माल सम-मूल्य रूप में है, तब हम वास्तव में यह तथ्य व्यक्त करते हैं कि अन्य मालों के साथ उसका सीधा विनिमय हो सकता है।

जब कोट जैसा कोई माल कपड़े जैसे किसी दूसरे माल के सम-मूल्य का काम करता है और जब इसके परिणामस्वरूप कोट में यह विशेष गुण पैदा हो जाता है कि उसका कपड़े के साथ सीधा विनिमय किया जा सकता है, तब उससे हमें यह बिल्कुल पता नहीं चलता कि दोनों का किस अनुपात में विनिमय हो सकता है। चूंकि कपड़े के मूल्य का परिमाण दिया हुआ है, इसलिये यह अनुपात कोट के मूल्य पर निर्भर करता है। चाहे कोट सम-मूल्य का काम करे और कपड़ा सापेक्ष मूल्य का, या चाहे कपड़ा सम-मूल्य का काम करे और कोट सापेक्ष मूल्य का, कोट के मूल्य का परिमाण हर हालत में उसके मूल्य-रूप से स्वतंत्र इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन के लिये कितना श्रम-काल आवश्यक है। लेकिन जब कभी कोट मूल्य के समीकरण में सम-मूल्य की स्थिति में आ जाता है, तब उसका मूल्य कोई परिमाणात्मक अभिव्यंजना नहीं प्राप्त करता; इसके विपरीत, तब 'कोट' नामक माल केवल किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा के रूप में सामने आता है।

मिसाल के लिये, ४० गज कपड़े की क़ीमत—क्या है? २ कोट। 'कोट' नामक माल यहां चूंकि सम-मूल्य की भूमिका अदा करता है, चूंकि यहां कपड़े के विपरीत 'कोट' नामक उपयोग-मूल्य मूल्य के मूर्त रूप के तौर पर सामने आता है, इसलिये कोटों की एक निश्चित संख्या कपड़े में पाये जाने वाले मूल्य की एक निश्चित मात्रा को व्यक्त करने के लिये काफ़ी

---

जिसका कहना है कि किसी वस्तु की लागत उसके मूल्य का नियमन करती है।" (J. Broadhurst, "*Political Economy*" [जे० ब्रोडहर्स्ट, 'अर्थशास्त्र'], London, 1842, पृष्ठ ११ और १४।)

यदि यह बात सच है, तो मि० ब्रौडहर्स्ट उतनी ही सचाई के साथ यह भी कह सकते थे कि "इन प्रभागों पर विचार कीजियेः १०/२०, १०/५०, १०/१०० इत्यादि। इनमें १० की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता और फिर भी उसका सानुपातिक परिमाण—यानी २०, ५०, १०० संख्याओं आदि की तुलना में उसका परिमाण—बराबर घटता जाता है। अतएव, यह महान् सिद्धान्त झूठा सिद्ध हो जाता है कि किसी भी पूर्ण संख्या के परिमाण का, जैसे कि १० के परिमाण का, इस बात से "नियमन" होता है कि उसमें कितनी इकाइयां मौजूद हैं।"—[इस अध्याय के अनुभाग ४ में पृ० ९५-९६ के फ़ुटनोट २ पर लेखक ने बताया है कि "घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र" से उसका क्या मतलब है।—फ़्रे० एं०]

होती है। इसलिये वो कोट ४० गज कपड़े के मूल्य की मात्रा को तो व्यक्त कर सकते हैं, लेकिन वे खुद अपने मूल्य की मात्रा को कभी व्यक्त नहीं कर सकते। इस तथ्य को सतही तौर पर समझने के कारण कि मूल्य के समीकरण में सम-मूल्य सदा केवल किसी वस्तु के, किसी उपयोग-मूल्य के, साधारण परिमाण के रूप में ही सामने आता है, बेली, अपने अनेक पूर्वगामियों तथा अनुगामियों की तरह, इस ग़लतफ़हमी में फंस गये हैं कि मूल्य की अभिव्यंजना में केवल एक परिमाणात्मक सम्बंध ही प्रकट होता है। सचाई यह है कि जब कोई माल सम-मूल्य का काम करता है, तब उसका अपना मूल्य परिमाणात्मक ढंग से निर्धारित नहीं होता।

सम-मूल्य के रूप पर विचार करते हुए जो पहली विलक्षणता हमारा ध्यान खींचती है, वह यह है कि उपयोग-मूल्य अपनी उल्टी चीज़ – मूल्य – की अभिव्यक्ति का रूप बन जाता है, यह मूल्य का इन्द्रिय-गम्य रूप बन जाता है।

माल का शारीरिक रूप उसका मूल्य-रूप बन जाता है। लेकिन यह बात अच्छी तरह समझ लीजिये कि 'ख' नामक किसी भी माल के साथ यह quid pro quo (अदल-बदल) केवल उसी वक़्त होता है, जब 'क' नामक कोई दूसरा माल उसके साथ मूल्य का सम्बंध स्थापित करता है; और तब भी वह अदल-बदल केवल इस सम्बंध की सीमाओं के भीतर ही होता है। कोई भी माल चूंकि खुद अपने सम-मूल्य का काम नहीं कर सकता और इस तरह खुद अपने शारीरिक रूप को अपने मूल्य की अभिव्यंजना में नहीं बदल सकता, इसलिये हरेक माल को अपने सम-मूल्य के रूप में किसी और माल को चुनना पड़ता है और उस दूसरे माल के उपयोग-मूल्य को, अर्थात् उसके शारीरिक रूप को, अपने मूल्य के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

भौतिक पदार्थों के रूप में, यानी उपयोग-मूल्यों के रूप में, मालों के लिये हम जिन मापों का प्रयोग करते हैं, उनमें से एक के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मिस्री का कूजा चूंकि एक वस्तु है, इसलिये वह भारी होता है और उसमें वजन होता है। लेकिन इस वजन को हम न तो देख सकते हैं और न छू सकते हैं। तब हम लोहे के कुछ ऐसे टुकड़े इस्तेमाल करते हैं, जिनका वजन पहले से निर्धारित कर लिया गया है। जैसे मिस्री का कूजा वजन की अभिव्यक्ति का रूप नहीं है, वैसे ही लोहा भी लोहे के तौर पर वजन की अभिव्यक्ति का रूप नहीं है। फिर भी जब हम मिस्री के कूजे को एक निश्चित वजन के रूप में व्यक्त करना चाहते हैं, तब हम उसका लोहे के साथ वजन का सम्बंध स्थापित कर देते हैं। इस सम्बंध में लोहा एक ऐसी वस्तु का काम करता है, जो वजन के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसलिये लोहे की एक निश्चित मात्रा मिस्री के वजन की माप का काम करती है और मिस्री के कूजे के सम्बंध में मूर्तिमान वजन – अथवा वजन की अभिव्यक्ति के रूप – का प्रतिनिधित्व करती है। लोहा यह भूमिका केवल इस सम्बन्ध के भीतर ही अदा करता है, जो मिस्री या कोई और ऐसी वस्तु, जिसका वजन मालूम करना हो, लोहे के साथ स्थापित करती है। यदि ये दोनों वस्तुएं वजनदार न होतीं, तो वे आपस में यह सम्बंध स्थापित नहीं कर सकती थीं, और इसलिये तब एक वस्तु दूसरी के वजन को व्यक्त करने का काम नहीं कर सकती थी। जब हम इन दोनों वस्तुओं को तराज़ू के पलड़ों पर रख देते हैं, तब हम देखते हैं कि सचमुच वजन के रूप में वे दोनों एक ही हैं और इसलिए जब उनको सही अनुपात में लिया जाता है, तब दोनों का एक सा वजन होता है। जिस प्रकार 'लोहा' नामक पदार्थ, वजन की माप के रूप में, मिस्री के कूजे के सम्बंध में केवल वजन का ही प्रतिनिधित्व करता है, ठीक उसी प्रकार

मूल्य की हमारी अभिव्यंजना में 'कोट' नामक भौतिक वस्तु कपड़े के सम्बंध में केवल मूल्य का ही प्रतिनिधित्व करती है।

किन्तु यह सादृश्य यहां समाप्त हो जाता है। मिश्री के कूजे के वज़न को व्यक्त करते हुए लोहा दोनों वस्तुओं में समान रूप से पाये जाने वाले एक स्वाभाविक गुण का—अर्थात् वज़न का—प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन कपड़े के मूल्य को व्यक्त करते हुए कोट दोनों वस्तुओं के एक अस्वाभाविक गुण का, एक विशुद्ध सामाजिक चीज़ का—अर्थात् उनके मूल्य का—प्रतिनिधित्व करता है।

किसी भी माल के—उदाहरण के लिये, कपड़े के—मूल्य का सापेक्ष रूप चूंकि उस माल के मूल्य को इस तरह व्यक्त करता है, जैसे वह उसके शारीरिक तत्त्व तथा गुणों से सर्वथा भिन्न हो, यानी जैसे वह, मिसाल के लिये, कोट के समान हो, इसलिये खुद इस प्रकार की अभिव्यंजना से भी हमें यह संकेत मिलता है कि उसकी तह में कोई सामाजिक सम्बंध विद्यमान है। सम-मूल्य रूप में इसकी ठीक उल्टी बात होती है। इस रूप का सार-तत्त्व ही यह है कि भौतिक माल खुद,—मिसाल के लिये, कोट,—जिस हालत में वह है, उसी हालत में मूल्य को व्यक्त करता है, और स्वयं प्रकृति ने उसे मूल्य का रूप दे रखा है। ज़ाहिर है, यह बात केवल तभी तक सच रहती है, जब तक मूल्य का वह सम्बंध क़ायम रहता है, जिसमें कोट कपड़े के सम-मूल्य की स्थिति में है।[1] लेकिन किसी भी चीज़ के गुण चूंकि दूसरी चीज़ों के साथ उसके सम्बंधों का फल नहीं होते, बल्कि इन सम्बंधों द्वारा केवल अपने को प्रकट करते हैं, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि जिस तरह कोट को वज़नदार होने या हमें गरम रखने का गुण प्रकृति से मिला है, उसी तरह उसका सम-मूल्य रूप—यानी दूसरे मालों के साथ सीधा विनिमय हो जाने का गुण—भी उसे प्रकृति से प्राप्त हुआ है। इसीलिये सम-मूल्य रूप की शकल एक पहेली जैसी है, जिसे पूंजीवादी अर्थशास्त्री उस वक़्त तक नहीं देख पाता, जब तक कि यह रूप पूरी तरह विकसित होकर मुद्रा की शकल में उसके सामने नहीं खड़ा हो जाता। तब वह सोने और चांदी के रहस्यमय रूप को उनकी जगह पर आंखों को कम चकाचौंध करने वाले मालों की प्रतिस्थापना करके और ऐसे तमाम सम्भव मालों की सूची नित नये आत्मसंतोष के साथ गिनाकर रफ़ा-दफ़ा करने की कोशिश करता है, जिन्होंने कभी न कभी सम-मूल्य की भूमिका अदा की है। उसे इस बात का लेश मात्र भी आभास नहीं होता कि मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना ने—मसलन २० गज़ कपड़ा=१ कोट के समीकरण ने—सम-मूल्य रूप की पहेली को पहले ही से हमारे बूझने के लिये पेश कर दिया है।

सम-मूल्य का काम करने वाले माल का शरीर अमूर्त मानव-श्रम के मूर्त रूप के तौर पर सामने आता है और उसके साथ-साथ वह किसी विशिष्ट रूप से उपयोगी मूर्त श्रम की पैदावार होता है। अतः यह मूर्त श्रम अमूर्त मानव-श्रम को व्यक्त करने का माध्यम बन जाता है। यदि, एक ओर, कोट की गिनती इसके सिवा और किसी रूप में नहीं होती कि वह अमूर्त मानव-श्रम का मूर्त रूप है, तो, दूसरी ओर, कोट में सिलाई का जो श्रम सचमुच संचित हुआ

---

[1] सम्बंधों की इस प्रकार की अभिव्यंजनाएं साधारणतया बहुत अजीब ढंग की होती हैं। हेगेल ने उनको "प्रतिजनित परिकल्पनाएं" कहा है। उदाहरण के लिये, एक आदमी यदि राजा है, तो केवल इसीलिये कि दूसरे आदमियों का उसके साथ प्रजा का सम्बंध है। वे लोग, इसके विपरीत, अपने को इसलिये प्रजा समझते हैं कि वह एक आदमी राजा है।

है, उसकी इसके सिवा और किसी तरह गिनती नहीं होती कि उसके रूप में अमूर्त मानव-श्रम मूर्त हुआ है। कपड़े के मूल्य की अभिव्यंजना में सिलाई के श्रम की उपयोगिता कोट सीने में नहीं, बल्कि एक ऐसी वस्तु तैयार करने में है, जिसको देखते ही हम तुरन्त यह पहचान लेते हैं कि वह मूल्य है और इसलिये श्रम का जमाव है, किन्तु ऐसे श्रम का जमाव है, जिसका उस श्रम के साथ कोई भेद नहीं किया जा सकता, जो कपड़े के मूल्य में मूर्त हुआ है। मूल्य के ऐसे दर्पण का काम करने के लिये यह जरूरी है कि सिलाई के श्रम में आम तौर पर मानव-श्रम होने के उसके अमूर्त गुण के सिवा और कोई चीज न झलकने पाये।

जैसे बुनाई में, वैसे ही सिलाई में भी मानव-श्रम-शक्ति खर्च होती है। इसलिये दोनों में ही मानव-श्रम होने का एक सामान्य गुण उपस्थित है, और इसलिये यह मुमकिन है कि कुछ परिस्थितियों में, जैसे कि मूल्य के उत्पादन में, उनपर केवल इसी दृष्टि से विचार किया जाये। इसमें कोई रहस्य की बात नहीं है। लेकिन मूल्य की अभिव्यंजना में नक़शा एकदम उलट जाता है। मिसाल के लिये, इस तथ्य को किस प्रकार व्यक्त किया जाये कि जब बुनाई का श्रम कपड़े का मूल्य पैदा करता है, तब वह बुनाई का श्रम होने के नाते नहीं, बल्कि मानव-श्रम होने के अपने सामान्य गुण के नाते यह मूल्य पैदा करता है? इस तथ्य को व्यक्त करने का सरल उपाय यह है कि बुनाई के श्रम के मुक़ाबले में वह दूसरे प्रकार का मूर्त श्रम (इस उदाहरण में सिलाई का श्रम) खड़ा कर दिया जाये, जो बुनाई के श्रम की पैदावार का सम-मूल्य पैदा करता है। जिस प्रकार कोट अपने शारीरिक रूप में मूल्य की प्रत्यक्ष अभिव्यंजना बन गया था, उसी प्रकार अब सिलाई का श्रम—श्रम का एक मूर्त रूप—सामान्य मानव-श्रम का प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-गम्य साकार रूप बनकर सामने आता है।

अतएव, सम-मूल्य रूप की दूसरी विलक्षणता यह है कि मूर्त श्रम वह रूप बन जाता है, जिसके द्वारा उसका उल्टा, अमूर्त मानव-श्रम अपने को प्रकट करता है।

लेकिन यह मूर्त श्रम—हमारे उदाहरण में सिलाई का श्रम—चूंकि अभिन्नित मानव-श्रम के रूप में गिना जाता है और सीधे तौर पर अभिन्नित मानव-श्रम ही माना जाता है, इसलिये वह अन्य किसी भी प्रकार के श्रम के सर्वसम है और इसलिये कपड़े में निहित श्रम के भी सर्वसम है। परिणामतः यद्यपि माल का उत्पादन करने वाले अन्य सभी श्रम की भांति यह भी निजी तौर पर काम करने वाले व्यक्तियों का श्रम होता है, तथापि यह साथ ही साथ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक प्रकृति वाला श्रम भी होता है। इसी कारण उससे एक ऐसी पैदावार तैयार होती है, जिसका दूसरे मालों से सीधा विनिमय हो सकता है। अतएव, यह सम-मूल्य रूप की तीसरी विलक्षणता है कि निजी तौर पर काम करने वाले व्यक्तियों का श्रम अपनी उल्टी चीज का—यानी प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक श्रम का—रूप धारण कर लेता है।

यदि हम उस महान् विचारक की तरफ़ लौट चलें, जिसने चिन्तन, समाज एवं प्रकृति के इतने बहुत से रूपों का और उनमें मूल्य के रूप का भी सबसे पहले विश्लेषण किया था, तो सम-मूल्य रूप की अन्तिम दो विलक्षणतायें ज्यादा अच्छी तरह हमारी समझ में आ जायेंगी। मेरा मतलब अरस्तू से है।

सबसे पहले अरस्तू स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि मालों का मुद्रा-रूप मूल्य के सरल रूप की—अर्थात् एक माल के मूल्य की किसी दूसरे माल के मूल्य के रूप में अभिव्यंजना की—केवल विकसित अवस्था है। कारण, अरस्तू ने लिखा है कि

५ पलंग = १ मकान (κλίναι πέντε ἀντὶ οἰκίας)

और

५ पलंग = इतनी मुद्रा

में कोई अंतर नहीं है

(κλίναι πέντε ἀντὶ... ὅσον αἱ πέντε κλίναι)

अरस्तू ने आगे कहा है कि मूल्य का वह सम्बंध, जिससे यह अभिव्यंजना उत्पन्न होती है, यह जरूरी बना देता है कि मकान को गुणात्मक दृष्टि से पलंग के बराबर समझा जाये, और इस तरह उनको बराबर समझे बिना दो स्पष्ट रूप से भिन्न वस्तुओं की एक दूसरी के साथ इस तरह तुलना नहीं की जा सकती, जैसे कि वे एक ही मापदण्ड से नापी जाने वाली मात्राएं हों। उन्होंने लिखा है: "विनिमय समानता के बिना नहीं हो सकता, और समानता उस वक़्त तक नहीं हो सकती, जब तक कि दोनों वस्तुएं एक ही मापदण्ड से न नापी जा सकती हों" (οὔτ' ἰσότης μὴ οὔσης συμμετρίας)। लेकिन यहां आकर वह ठहर जाते हैं और मूल्य के रूप का आगे विश्लेषण करना बन्द कर देते हैं। उनके शब्द हैं: "किन्तु वास्तव में यह असम्भव है (τῇ μὲν οὖν ἀληθείᾳ ἀδύνατον) कि इतनी असमान वस्तुएं एक मापदण्ड से नापी जा सकती हों," – अर्थात् वे गुणात्मक दृष्टि से बराबर हों। इस प्रकार का समानीकरण इन वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति के प्रतिकूल है और इसलिये केवल "व्यावहारिक उद्देश्य के लिये इस्तेमाल की गयी काम-चलाऊ तरकीब" ही हो सकता है।

इस तरह, अरस्तू ने खुद हमें बता दिया है कि किस चीज ने उनको आगे विश्लेषण नहीं करने दिया; वह चीज थी मूल्य की किसी भी प्रकार की धारणा का अभाव। पलंगों और मकान दोनों में वह कौनसी समान वस्तु है, वह कौनसा समान तत्त्व है, जिसके कारण यह सम्भव होता है कि पलंगों का मूल्य मकान के द्वारा व्यक्त हो जाये? अरस्तू का कहना है कि ऐसी कोई वस्तु असल में हो ही नहीं सकती। भला हो क्यों नहीं सकती? मकान की पलंगों से तुलना करने पर मकान उस हद तक जरूर पलंगों के समान किसी चीज का प्रतिनिधित्व करता है, जिस हद तक कि वह उस चीज का प्रतिनिधित्व करता है, जो पलंगों तथा मकान दोनों में सचमुच बराबर है। और वह चीज है – मानव-श्रम।

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य था, जिसने अरस्तू के यह समझने में बाधा डाली कि मालों को मूल्यवान मानना हर प्रकार के श्रम को समान मानव-श्रम के रूप में और इसलिये समान गुण के श्रम के रूप में व्यक्त करने का ही एक ढंग है। यूनानी समाज दासता पर आधारित था, और इसलिये उसका स्वाभाविक आधार था – मनुष्यों तथा उनकी श्रम-शक्तियों की असमानता। मूल्य की अभिव्यंजना का रहस्य यह है कि हर प्रकार का श्रम क्योंकि और जिस हद तक साधारण मानव-श्रम होता है, इसलिये और उस हद तक वह समान और सम-मूल्य होता है। लेकिन यह रहस्य उस वक़्त तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि मानव-समता का विचार एक लोकप्रिय पूर्वग्रह की स्थिरता नहीं प्राप्त कर लेता। किन्तु यह केवल उसी समाज में सम्भव है, जिसमें श्रम की पैदावार का अधिकतर भाग मालों का रूप धारण कर लेता है और इसके परिणामस्वरूप जिसमें मनुष्य और मनुष्य का प्रमुख सम्बंध मालों के मालिकों का हो जाता है। अरस्तू की प्रतिभा का चमत्कार इसी बात में प्रकट होता है कि उन्होंने मालों के

मूल्य की अभिव्यंजना में समानता का सम्बंध देखा। वह जिस समाज में रहते थे, केवल उसकी विशेष परिस्थितियों ने ही उन्हें यह पता नहीं लगाने दिया कि इस समानता की तह में "सचमुच" क्या था।

### ४) मूल्य का प्राथमिक रूप अपनी सम्पूर्णता में

माल के मूल्य का प्राथमिक रूप भिन्न प्रकार के किसी दूसरे माल के साथ उसके मूल्य के सम्बंध को व्यक्त करने वाले समीकरण में निहित है, अर्थात् वह इस दूसरे माल के साथ उसके विनिमय के सम्बंध में निहित है। 'क' नामक माल का मूल्य गुणात्मक दृष्टि से इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि 'ख' नामक माल का उसके साथ सीधा विनिमय हो सकता है। उसका मूल्य परिमाणात्मक दृष्टि से इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि 'ख' की एक निश्चित मात्रा का 'क' की एक निश्चित मात्रा के साथ विनिमय हो सकता है। दूसरे शब्दों में, विनिमय-मूल्य का रूप धारण करके किसी भी माल का मूल्य स्वतंत्र एवं निश्चित अभिव्यंजना प्राप्त कर लेता है। जब इस अध्याय के आरम्भ में हमने आम बोल-चाल की भाषा का प्रयोग करते हुए यह कहा था कि माल उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य दोनों होता है, तब यदि बिल्कुल सही-सही शब्दों का प्रयोग किया जाये, तो हमने ग़लत बात कही थी। कोई भी माल उपयोग-मूल्य अथवा उपयोगी वस्तु होता है और मूल्य होता है। इस दोहरी चीज़ के रूप में, जो कि वह है, वह उसी वक़्त प्रकट हो जाता है, जब उसका मूल्य एक स्वतंत्र रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जब उसका मूल्य विनिमय-मूल्य का रूप धारण कर लेता है। लेकिन अलग पड़े रहते हुए वह यह रूप कभी धारण नहीं करता। यह रूप वह केवल उसी समय धारण करता है, जब उसका अपने से भिन्न प्रकार के किसी दूसरे माल के साथ मूल्य का—अथवा विनिमय का—सम्बंध स्थापित हो जाता है। एक बार यह समझ लेने के बाद यदि ऊपर दी गयी शब्दावली का प्रयोग किया जाये, तो कोई बुराई नहीं है; वह केवल संकेत-चिन्ह का काम करेगी।

हमारे विश्लेषण से सिद्ध हो चुका है कि माल के मूल्य का रूप, अथवा अभिव्यंजना, मूल्य की प्रकृति से उत्पन्न होता है, न कि मूल्य तथा उसका परिमाण विनिमय-मूल्य के रूप में अपनी अभिव्यंजना से उत्पन्न होते हैं। किन्तु यह बात जिस प्रकार व्यापारवादियों के कट्टर विरोधी बास्तियात जैसे स्वतंत्र व्यापार के आधुनिक एजेन्टों को, उसी प्रकार खुद व्यापारवादियों और उनके आधुनिक भक्तों फ़ेरियेर, गानिल्ह[1] आदि को भी भ्रम में डाले हुए है। व्यापारवादी मूल्य की अभिव्यंजना के गुणात्मक पहलू पर और इसलिये मालों के सम-मूल्य रूप पर ख़ास ज़ोर देते हैं, जो मुद्रा की शकल में अपना पूर्ण विकास प्राप्त करता है। दूसरी ओर, स्वतंत्र व्यापार के आधुनिक फेरीवाले, जिनके लिये किसी भी दाम पर अपनी जिन्स से पिण्ड छुड़ाना ज़रूरी है, सबसे ज़्यादा ज़ोर मूल्य के सापेक्ष रूप के परिमाणात्मक पहलू पर देते हैं। इसलिये, उनके लिये न तो मूल्य और न ही मूल्य का परिमाण मालों के विनिमय-

[1] चुंगी के सब-इंस्पेक्टर F. L. A. Ferrier द्वारा लिखित "*Du gouvernement considéré dans ses rapports avec le commerce*", Paris, 1805, और Charles Ganilh द्वारा लिखित "*Des Systèmes d'Economie Politique*", दूसरा संस्करण, Paris, 1821.

सम्बंध द्वारा उनकी अभिव्यंजना के सिवा और कहीं पर है, यानी उनके लिये वे रोज के बाजार-भावों के सिवा और कहीं नहीं हैं। मैकलिग्रोड, जिन्होंने लोम्बार्ड स्ट्रीट के गड़बड़ विचारों को अत्यन्त पण्डिताऊ पोशाक पहनाने का काम अपने कंधों पर लिया है, अंधविश्वासी व्यापारवादियों और स्वतन्त्र व्यापार के जाग्रत फेरीवालों के बीच एक सफल वर्णसंकर हैं।

'ख' के साथ 'क' के मूल्य के सम्बंध को व्यक्त करने वाले समीकरण में 'क' के मूल्य की 'ख' के रूप में जो अभिव्यंजना निहित है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि इस सम्बंध में 'क' का शारीरिक रूप केवल एक उपयोग-मूल्य की तरह सामने आता है और 'ख' का शारीरिक रूप केवल मूल्य के रूप अथवा शकल की तरह सामने आता है। इस तरह, हरेक माल के भीतर उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच जो विरोध अथवा व्यतिरेक निहित है, वह उस समय स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है, जब दो मालों के बीच इस प्रकार का सम्बंध स्थापित कर दिया जाता है कि जिस माल का मूल्य व्यक्त करना होता है, वह प्रत्यक्ष ढंग से महज उपयोग-मूल्य की तरह सामने आता है, और जिस माल के रूप में इस मूल्य को व्यक्त करना होता है, वह प्रत्यक्ष ढंग से महज विनिमय-मूल्य की तरह सामने आता है। इसलिये किसी भी माल के मूल्य का प्राथमिक रूप वह प्राथमिक रूप है, जिसमें कि उस माल में निहित, उपयोग मूल्य और मूल्य का व्यतिरेक प्रकट होता है।

श्रम की प्रत्येक पैदावार समाज की सभी अवस्थाओं में उपयोग-मूल्य होती है। किन्तु यह पैदावार सामाजिक विकास के एक खास ऐतिहासिक युग के आरम्भ हो जाने पर ही माल बनती है,—अर्थात् जब वह युग आरम्भ हो जाता है, जिसमें किसी भी उपयोगी चीज के उत्पादन पर खर्च किया गया श्रम उस चीज के एक वस्तुगत गुण के रूप में—यानी उसके मूल्य के रूप में—व्यक्त होने लगता है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राथमिक मूल्य-रूप ही वह आदिम रूप है, जिसमें श्रम की पैदावार इतिहास में पहले-पहल माल की तरह सामने आती है, और ऐसी पैदावार मूल्य-रूप के विकास के साथ-साथ और समान गति से धीरे-धीरे माल का रूप धारण करती जाती है।

मूल्य के प्राथमिक रूप की त्रुटियां पहली दृष्टि में ही दिखाई दे जाती हैं: वह महज एक बीजाणु है, और दाम-रूप की परिपक्वता प्राप्त करने के लिये इसका अनेक रूपान्तरणों में से गुजरना जरूरी है।

'क' नामक माल के मूल्य की 'ख' नामक किसी भी अन्य माल के रूप में अभिव्यंजना केवल 'क' के उपयोग-मूल्य से उसके मूल्य के भेद को स्पष्ट करती है, और इसलिये वह 'क' का महज 'ख' नामक एक ही अन्य माल से विनिमय का सम्बंध स्थापित करती है। लेकिन यह अभिव्यंजना सभी मालों के साथ 'क' की गुणात्मक समता और परिमाणात्मक अनुपातिता व्यक्त करने से अभी बहुत दूर है। किसी भी एक माल के प्राथमिक सापेक्ष मूल्य-रूप के साथ किसी एक और माल का एक अकेला सदृश सम-मूल्य रूप होता है। अतएव, कपड़े के मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना में कोट अकेले एक माल के सम्बंध में—यानी अकेले कपड़े के सम्बंध में—ही सम-मूल्य का रूप धारण करता है, या यूं कहिये कि सीधे तौर पर केवल कपड़े के साथ ही विनिमय करने के योग्य बनता है।

इस सब के बावजूद, मूल्य का प्राथमिक रूप एक सहज संक्रमण द्वारा अधिक पूर्ण रूप म बदल जाता है। यह सच है कि प्राथमिक रूप के द्वारा 'क' नामक किसी माल का मूल्य

केवल एक ही अन्य माल के रूप में व्यक्त होता है। परन्तु यह एक माल कोट, लोहा, अनाज या और किसी भी तरह का माल हो सकता है। इसलिये एक ही माल के मूल्य की अनेक प्राथमिक अभिव्यंजनाएं हो सकती हैं।[1] यह केवल इसपर निर्भर करता है कि उसका किस माल के साथ मूल्य का सम्बंध स्थापित किया गया है। उसकी समस्त सम्भव अभिव्यंजनाओं की संख्या केवल इस बात से सीमित होती है कि उस माल से भिन्न कितने प्रकार के माल हैं। अतएव, 'क' के मूल्य की एक अकेली अभिव्यंजना को उस मूल्य की अनेक अलग-अलग प्राथमिक अभिव्यंजनाओं के एक पूरे क्रम में परिवर्तित किया जा सकता है, और इस क्रम को किसी भी सीमा तक लम्बा किया जा सकता है।

## ख) मूल्य का सम्पूर्ण अथवा विस्तारित रूप

'क' माल की 'प' मात्रा = 'ख' माल की 'फ' मात्रा, या = 'ग' माल की 'ब' मात्रा, या = 'घ' माल की 'म' मात्रा, या = 'च' माल की 'य' मात्रा, या = इत्यादि।

(२० गज कपड़ा = १ कोट, या = १० पौंड चाय, या = ४० पौंड क़हवा, या = १ क्वार्टर अनाज, या = २ औंस सोना, या = १/२ टन लोहा, या = इत्यादि।)

### १) मूल्य का विस्तारित सापेक्ष रूप

किसी भी माल का – उदाहरण के लिये, कपड़े का – मूल्य अब मालों की दुनिया के अन्य असंख्य तत्त्वों के रूप में व्यक्त होता है। दूसरा हर माल अब कपड़े के मूल्य का दर्पण बन जाता है।[2] इस प्रकार, यह मूल्य पहली बार अपने सच्चे रूप में – अर्थात् अभिन्नित मानव-श्रम

---

[1] उदाहरण के लिये, होमर की रचनाओं में एक वस्तु का मूल्य बहुत सी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में व्यक्त किया गया है।

[2] इस कारण, जब कपड़े का मूल्य कोटों के रूप में व्यक्त किया जाता है, तब हम कपड़े के कोट-मूल्य की चर्चा कर सकते हैं; जब वह अनाज के रूप में व्यक्त किया जाता है, तब हम उसके अनाज-मूल्य की चर्चा कर सकते हैं, और इसी तरह यह सिलसिला जारी रह सकता है। इस प्रकार की प्रत्येक अभिव्यक्ति हमें यह बताती है कि कोट, अनाज आदि प्रत्येक उपयोग-मूल्य के रूप में जो कुछ प्रकट होता है, वह कपड़े का मूल्य है। "विनिमय द्वारा अपने सम्बंध को व्यक्त करने वाले किसी भी माल के मूल्य को हम... जिस माल के साथ भी उसका मुक़ाबला किया जाये, उसके अनुसार अनाज-मूल्य, कपड़ा-मूल्य आदि कह सकते हैं; और, इस तरह, भिन्न-भिन्न प्रकार के हज़ारों मूल्य होते हैं; दुनिया में जितने प्रकार के माल मौजूद हैं, उतने ही प्रकार के मूल्य भी होते हैं, और वे सब समान रूप से वास्तविक और समान रूप से बराय नाम होते हैं।" (*"A Critical Dissertation on the Nature. Measures and Causes of Value: chiefly in reference to the writings of Mr. Ricardo and his followers"*. By the author of "*Essays on the Formation, &c,. of Opinions.*" ['मूल्य की प्रकृति, माप और कारणों के विषय में एक आलोचनात्मक प्रबंध – मुख्यतया मि० रिकार्डो

के अभाव के रूप में–सामने आता है। कारण कि इस मूल्य को पैदा करने में जो श्रम ख़र्च हुआ है, वह अब साफ़-साफ़ उस श्रम के रूप में प्रकट होता है, जो हर प्रकार के अन्य मानव-श्रम के बराबर है, चाहे वह श्रम सिलाई का श्रम हो, या हल चलाने का, या खान खोदने का, या और किसी प्रकार का, और चाहे वह श्रम कोटों के रूप में अथवा अनाज के रूप में, लोहे के रूप में और या सोने के रूप में मूर्त्त रूप धारण करता हो। अब कपड़े का अपने मूल्य के रूप के फलस्वरूप अन्य प्रकार के किसी एक माल के साथ नहीं, बल्कि मालों की पूरी दुनिया के साथ एक सामाजिक सम्बंध स्थापित हो जाता है। माल के रूप में कपड़ा इस दुनिया का नागरिक है। साथ ही मूल्य के समीकरणों का यह अन्तहीन क्रम बताता है कि जहां तक किसी माल के मूल्य का सम्बंध है, इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह किस ख़ास रूप या प्रकार के उपयोग-मूल्य में प्रकट होता है।

२० गज कपड़ा=१ कोट, इस पहले रूप में बहुत सम्भव है कि यह एक विशुद्ध रूप से आकस्मिक घटना हो कि इन दो मालों का निश्चित मात्राओं में विनिमय हो सकता है। इसके विपरीत, दूसरे रूप में वह पृष्ठभूमि हमें तुरन्त दिखाई दे जाती है, जो इस घटना को निर्धारित करती है और जो इस आकस्मिक रूप से बुनियादी तौर पर भिन्न है। कपड़े का मूल्य परिमाण में अपरिवर्तित रहता है, चाहे वह कोटों के रूप में व्यक्त किया गया हो, या क़हवे के, या लोहे के और या असंख्य अन्य मालों के, जिनके अलग-अलग मालिकों की संख्या भी इतनी ही बड़ी होती है। दो मालों के दो मालिकों के बीच अकस्मात स्थापित हो जाने वाला सम्बंध अब ग़ायब हो जाता है। यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मालों का विनिमय उनके मूल्य के परिमाण का नियमन नहीं करता, बल्कि, इसके विपरीत, उनके मूल्य का परिमाण उनके विनिमय के अनुपातों का नियंत्रण करता है।

## २) विशिष्ट सम-मूल्य रूप

कपड़े के मूल्य की अभिव्यंजना में कोट, चाय, अनाज, लोहा आदि प्रत्यक माल सम-मूल्य के रूप में और इसलिये एक ऐसी वस्तु के रूप में सामने आता है, जो मूल्य है। इनमें से प्रत्येक माल का शारीरिक रूप अब बहुत से सम-मूल्य रूपों में से एक विशिष्ट सम-मूल्य रूप की तरह सामने आता है। इसी तरह इन अलग-अलग मालों में निहित नाना प्रकार का मूर्त्त उपयोगी श्रम अब केवल इन नाना रूपों में मूर्त्त या प्रकट होने वाला अभिन्नित मानव-श्रम माना जाता है।

---

तथा उनके अनुयायियों की रचनाओं के सिलसिले में'। 'मत-निर्माण आदि सम्बंधी निबंधावली' के लेखक द्वारा लिखित], London, 1825, पृ० ३९।) इस गुमनाम रचना के लेखक एस० बेली थे। अपने ज़माने में इस रचना ने इंगलैण्ड में बहुत हलचल पैदा की थी। बेली का ख़याल था कि इस तरह एक ही मूल्य की अनेक सापेक्ष अभिव्यंजनाओं की ओर संकेत करके उन्होंने यह साबित कर दिया था कि मूल्य की अवधारणा को किसी भी प्रकार निर्धारित करना असम्भव है। उनके अपने विचार चाहे जितने संकुचित रहे हों, फिर भी उन्होंने रिकार्डो के सिद्धान्त की कुछ गम्भीर त्रुटियों पर उंगली रख दी थी। इसका प्रमाण यह है कि रिकार्डो के अनुयायियों ने बड़ी कटुता के साथ उनपर हमला किया था। मिसाल के लिये, देखिये *"Westminster Review"*।

## ३) मूल्य के सम्पूर्ण अथवा विस्तारित रूप की त्रुटियां

मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना सब से पहले तो इसलिये अपूर्ण है कि उसको व्यक्त करने वाला क्रम अन्तहीन होता है। हर नये प्रकार का माल तैयार होने के साथ-साथ मूल्य की एक नयी अभिव्यंजना की सामग्री तैयार हो जाती है और इस तरह मूल्य का प्रत्येक समीकरण जिस शृंखला की एक कड़ी मात्र है, वह शृंखला किसी भी क्षण और लम्बी खिंच सकती है। दूसरे, यह मूल्य की बहुत सी असम्बद्ध और स्वतंत्र अभिव्यंजनाओं से जुड़कर बनी मानों बहुरंगी पच्चीकारी होती है। और आखिरी बात यह है कि यदि, जैसा कि वास्तव में होता है, बारी-बारी से हर माल का सापेक्ष मूल्य इस विस्तारित रूप में व्यक्त होता है, तो उनमें से प्रत्येक के लिये एक भिन्न सापेक्ष मूल्य-रूप तैयार हो जाता है, जो मूल्य की अभिव्यंजनाओं का एक अन्तहीन क्रम होता है। विस्तारित सापेक्ष मूल्य-रूप की त्रुटियां उसके सदृश सम-मूल्य रूप में भी झलकती हैं। चूंकि हर अलग-अलग माल का शारीरिक रूप असंख्य अन्य विशिष्ट सम-मूल्य रूपों में से एक होता है, इसलिये कुल मिलाकर हमारे पास खण्डवत् सम-मूल्य रूपों के सिवा और कुछ नहीं बचता, जिनमें से प्रत्येक दूसरों का अपवर्जन कर देता है। इसी प्रकार प्रत्येक विशिष्ट सम-मूल्य में निहित विशिष्ट प्रकार का मूर्त्त, उपयोगी श्रम भी केवल एक खास प्रकार के श्रम के रूप में ही सामने आता है, और इसलिये वह सामान्य मानव-श्रम के सर्वतः पूर्ण प्रतिनिधि के रूप में सामने नहीं आता। यह तो सच है कि सामान्य मानव-श्रम अपने नाना प्रकार के विशिष्ट, मूर्त्त रूपों की सम्पूर्णता में पर्याप्त अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। परन्तु, इस रूप में, एक अन्तहीन क्रम के रूप में उसकी अभिव्यंजना सदा अपूर्ण रहती है और उसमें एकता का अभाव रहता है।

किन्तु विस्तारित सापेक्ष मूल्य-रूप पहले प्रकार की प्राथमिक सापेक्ष अभिव्यंजनाओं – अथवा समीकरणों – के जोड़ के सिवा और कुछ नहीं है, जैसे कि

२० गज कपड़ा = १ कोट,
२० गज कपड़ा = १० पौण्ड चाय इत्यादि।

इनमें से प्रत्येक में उसका उल्टा समीकरण भी निहित है:

१ कोट = २० गज कपड़ा,
१० पौण्ड चाय = २० गज कपड़ा इत्यादि।

सच तो यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने कपड़े का बहुत से दूसरे मालों के साथ विनिमय करता है और, इस तरह, अपने कपड़े के मूल्य को अन्य मालों की एक शृंखला के रूप में व्यक्त करता है, तब इससे लाजिमी तौर पर यह नतीजा भी निकलता है कि अन्य सब मालों के विभिन्न मालिक उन मालों का कपड़े के साथ विनिमय करते हैं और इसलिये अपने विभिन्न मालों के मूल्यों को उस एक ही माल के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त करते हैं। अतएव, यदि हम इस शृंखला को – अर्थात् २० गज कपड़ा = १ कोट, या = १० पौण्ड चाय इत्यादि को – उलट दें, अर्थात् यदि हम उस विपरीत सम्बंध को व्यक्त करें, जो कि इस शृंखला में पहले से निहित है, तो हमें मूल्य का सामान्य रूप मिल जाता है।

## ग) मूल्य का सामान्य रूप

| | |
|---|---|
| १ कोट | = २० गज कपड़ा |
| १० पौण्ड चाय | |
| ४० पौण्ड क़हवा | |
| १ क्वार्टर अनाज | |
| २ औंस सोना | |
| १/२ टन लोहा | |
| 'क' माल का 'प' परिमाण इत्यादि | |

### १) मूल्य के रूप का बदला हुआ स्वरूप

अब तमाम माल अपना मूल्य (१) सरल रूप में व्यक्त करते हैं, क्योंकि सब का मूल्य केवल एक माल के रूप में व्यक्त किया जाता है, और (२) एकता के साथ व्यक्त करते हैं, क्योंकि सब का मूल्य उसी एक माल के रूप में व्यक्त किया जाता है। मूल्य का यह रूप सब मालों के लिये प्राथमिक और एक सा है, इसलिये वह सामान्य रूप है।

'क' और 'ख' रूप केवल इस योग्य थे कि किसी भी एक माल के मूल्य को उसके उपयोग-मूल्य – अथवा भौतिक रूप – से भिन्न किसी चीज़ के रूप में व्यक्त कर दें।

पहले रूप ('क') से ऐसे समीकरण मिलते थे, जैसे १ कोट=२० गज कपड़ा, १० पौण्ड चाय=१/२ टन लोहा। कोट के मूल्य का कपड़े के साथ, चाय के मूल्य का लोहे के साथ समीकरण कर दिया जाता है। लेकिन कपड़े के साथ और फिर लोहे के साथ समीकरण किया जाना उतना ही भिन्न होता है, जितने भिन्न कपड़ा और लोहा हैं। ज़ाहिर है कि यह रूप व्यावहारिक दृष्टि से केवल बहुत शुरू में ही पाया जा सकता है, जब कि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुएं अकस्मात और यदा-कदा हो जाने वाले विनिमय के द्वारा ही कभी-कभार मालों का रूप धारण कर लेती थीं।

दूसरा रूप ('ख') पहले रूप की तुलना में किसी माल के उपयोग-मूल्य से उसके मूल्य के अन्तर को अधिक पर्याप्त ढंग से स्पष्ट कर देता है, क्योंकि उसमें कोट का मूल्य तमाम सम्भव रूपों में कोट के शारीरिक रूप के मुक़ाबले में रख दिया जाता है; उसका कपड़े, लोहे, चाय, संक्षेप में यह कि सिर्फ़ एक कोट को छोड़कर बाक़ी हर चीज़ के साथ समीकरण किया जाता है। दूसरी ओर, मूल्य की किसी ऐसी सामान्य अभिव्यंजना का, जो समान रूप से सब मालों के काम में आ सके, सीधे तौर पर अपवर्जन कर दिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक माल के मूल्य के समीकरण में अब बाक़ी सब माल केवल सम-मूल्यों के रूप में सामने आते हैं। मूल्य के विस्तारित रूप का पहली बार वास्तव में उस वक़्त जन्म होता है, जब श्रम की किसी ख़ास पैदावार का, जैसे ढोरों का, अपवाद-रूप में नहीं, बल्कि आदतन नाना प्रकार के दूसरे मालों से विनिमय होने लगता है।

मूल्य का तीसरा और सबसे बाद में विकसित होने वाला रूप मालों की पूरी दुनिया के मूल्यों को केवल एक माल के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त करता है, जो इस काम

के लिये अलग कर दिया जाता है। इस प्रकार, यह तीसरा रूप इन तमाम मालों के मूल्यों को कपड़े के साथ उनकी समता की शकल में प्रस्तुत करता है। अब चूंकि हर माल के मूल्य का कपड़े के साथ समीकरण किया जाता है, इसलिये न केवल उसके अपने उपयोग-मूल्य के साथ, बल्कि बाक़ी सब उपयोग-मूल्यों के साथ भी आम तौर पर उसका अन्तर स्पष्ट हो जाता है, और इसी तथ्य के फलस्वरूप वह उस तत्त्व के रूप में व्यक्त होता है, जो सब मालों में समान रूप से मौजूद है। इस (तीसरे) रूप के द्वारा मालों का पहली बार कारगर ढंग से मूल्यों के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित होता है या यूं कहिये कि वे विनिमय-मूल्यों के रूप में सामने लाये जाते हैं।

शुरू के पहले दो रूपों में प्रत्येक माल का मूल्य या तो उससे भिन्न प्रकार के किसी एक माल के रूप में या ऐसे बहुत से मालों के रूप में व्यक्त होता है। दोनों सूरतों में हर अलग-अलग माल का, यों कहिये, अपना निजी काम है कि अपने मूल्य के लिये किसी अभिव्यंजना की तलाश करे, और यह काम वह बाक़ी सब मालों की मदद के बिना पूरा करता है। ये बाक़ी माल उस माल के सम्बंध में सम-मूल्यों की निष्क्रिय भूमिका अदा करते हैं। मूल्य का सामान्य रूप ('ग') मालों की पूरी दुनिया की संयुक्त कार्रवाई के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है, और उसके अस्तित्व में आने का यही एकमात्र ढंग है। कोई भी माल अपने मूल्य की सामान्य अभिव्यंजना केवल उसी दशा में प्राप्त कर सकता है, जब उसके साथ-साथ बाक़ी सब माल भी एक ही सम-मूल्य के रूप में अपने मूल्यों को व्यक्त करें, और हर नये माल को भी उनका अनुसरण करते हुए अनिवार्य रूप से ऐसा ही करना होता है। इस प्रकार, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल्यों के रूप में मालों का अस्तित्व चूंकि विशुद्ध सामाजिक अस्तित्व होता है, इसलिये यह सामाजिक अस्तित्व केवल उनके तमाम सामाजिक सम्बंधों की सम्पूर्णता के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है और इसलिये उनके मूल्य का रूप कोई सामाजिक तौर पर मान्य रूप होना चाहिये।

सब मालों का चूंकि अब कपड़े के साथ समीकरण किया जाता है, इसलिये वे सामान्य रूप से मूल्य होने के रूप में न केवल गुणात्मक दृष्टि से समान प्रतीत होते हैं, बल्कि ऐसे मूल्यों की तरह भी सामने आते हैं, जिनके परिमाणों का आपस में मुक़ाबला किया जा सकता है। उनके मूल्यों के परिमाणों को चूंकि एक ही वस्तु के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त किया जाता है, इसलिये इन परिमाणों का एक दूसरे के साथ भी मुक़ाबला हो जाता है। उदाहरण के लिये, चूंकि १० पौण्ड चाय=२० गज़ कपड़ा और ४० पौण्ड क़हवा=२० गज़ कपड़ा, इसलिये १० पौण्ड चाय=४० पौण्ड क़हवा। दूसरे शब्दों में, १ पौण्ड चाय में मूल्य का जितना तत्त्व – अर्थात् जितना श्रम – निहित है, १ पौण्ड क़हवे में उसका केवल एक चौथाई निहित है।

सापेक्ष मूल्य का सामान्य रूप, जिसके अन्तर्गत मालों की पूरी दुनिया आ जाती है, उस एक माल को, जो बाक़ी सब मालों से अलग कर दिया जाता है और जिससे सम-मूल्य की भूमिका अदा करायी जाती है, – यानी हमारे उदाहरण में 'कपड़ा' नामक माल को, – सार्वत्रिक सम-मूल्य में बदल देता है। अब सभी मालों का मूल्य समान ढंग से कपड़े का शारीरिक रूप धारण कर लेता है; अतएव अब कपड़े का सभी मालों से और प्रत्येक माल से सीधा विनिमय हो सकता है। 'कपड़ा' नामक पदार्थ हर प्रकार के मानव-श्रम का दृश्यमान अवतार, उसका सामाजिक कोशशायी रूप बन जाता है। बुनाई, जो कि एक ख़ास चीज़ – कपड़ा – तैयार करने वाले कुछ व्यक्तियों का निजी श्रम होती है, इसके परिणामस्वरूप एक सामाजिक रूप – यानी

श्रम के अन्य सभी प्रकारों के साथ समानता का रूप–प्राप्त कर लेती है। मूल्य को सामान्य रूप देने वाले असंख्य समीकरण कपड़े में निहित श्रम का दूसरे हरेक माल में निहित श्रम के साथ समीकरण कर देते हैं, और इस प्रकार वे बुनाई के श्रम को अभिन्नित मानव-श्रम की अभिव्यक्ति का सामान्य रूप बना देते हैं। इस ढंग से मालों के मूल्यों के रूप में मूर्त श्रम न केवल अपने नकारात्मक रूप में सामने आ जाता है, जिसमें वास्तविक कार्य के प्रत्येक मूर्त रूप तथा उपयोगी गुण का अमूर्तिकरण कर दिया जाता है, बल्कि उसकी अपनी सकारात्मक प्रकृति भी स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है। सामान्य मूल्य-रूप में वास्तविक श्रम के सभी प्रकार सामान्यतः मानव-श्रम होने के–या मानव-श्रम-शक्ति का व्यय होने के–अपने समान स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

सामान्य मूल्य-रूप, जिसमें श्रम से पैदा होने वाली तमाम वस्तुओं को अभिन्नित मानव-श्रम के जमाव मात्र के रूप में व्यक्त किया जाता है, अपनी बनावट से ही यह बात स्पष्ट कर देता है कि वह मालों की दुनिया का सामाजिक सारांश है। अतएव, यह रूप निर्विवाद ढंग से यह बात स्पष्ट कर देता है कि मालों की दुनिया में सभी प्रकार के श्रम में मानव-श्रम होने का जो गुण समान रूप से मौजूद होता है, उसीसे उसको विशिष्ट सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है।

## २) मूल्य के सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप का अन्योन्याश्रित विकास

मूल्य के सापेक्ष रूप के विकास की स्थिति सम-मूल्य रूप के विकास की स्थिति के अनुरूप होती है। परन्तु हमें यह बात याद रखनी चाहिये कि सम-मूल्य रूप का विकास केवल सापेक्ष रूप के विकास की ही अभिव्यक्ति एवं परिणाम होता है।

किसी एक माल का प्राथमिक, अथवा इक्का-दुक्का, सापेक्ष रूप किसी और माल को एक पृथक सम-मूल्य बना देता है। सापेक्ष मूल्य का विस्तारित रूप, जिसमें एक माल का मूल्य बाक़ी सब मालों के रूप में व्यक्त होता है, इन तमाम बाक़ी मालों को अलग-अलग प्रकार के विशिष्ट सम-मूल्यों का रूप प्रदान कर देता है। और, अन्त में, एक ख़ास प्रकार का माल सार्वत्रिक सम-मूल्य का स्वरूप प्राप्त कर लेता है, क्योंकि बाक़ी तमाम माल उससे उस पदार्थ का काम लेने लगते हैं, जिसके रूप में वे सब के सब अपना मूल्य व्यक्त करते हैं।

मूल्य-रूप के दो ध्रुव हैं: मूल्य का सापेक्ष रूप और सम-मूल्य रूप। उनके बीच जो विग्रह है, वह स्वयं मूल्य-रूप के विकास के साथ-साथ विकसित होता है।

पहला रूप है: २० गज़ कपड़ा = १ कोट। उसमें अभी से यह विग्रह मौजूद है, हालांकि उसने अभी टिकाऊ रूप नहीं प्राप्त किया है। इस समीकरण को आप जैसे बायीं से दायीं ओर या दायीं से बायीं ओर पढ़ते हैं, उसके अनुसार कपड़े और कोट की भूमिकाएं बदल जाती हैं। एक सूरत में कपड़े का सापेक्ष मूल्य कोट के रूप में व्यक्त होता है, दूसरी सूरत में कोट का सापेक्ष मूल्य कपड़े के रूप में व्यक्त होता है। अतएव, मूल्य के इस पहले रूप में ध्रुवीय व्यतिरेक को समझ पाना कठिन है।

रूप 'ख' में एक समय में केवल एक ही प्रकार का माल अपने सापेक्ष मूल्य को पूरी तरह विस्तृत कर सकता है, और वह यह विस्तारित रूप केवल इसलिये और केवल इसी हद तक प्राप्त करता है कि बाक़ी सब माल उसके सम्बंध में सम-मूल्यों का काम करने लगते हैं।

यहां हम समीकरण को उस तरह उलट नहीं सकते, जिस तरह हम २० गज कपड़ा = १ कोट के समीकरण को उलट सकते हैं। यदि हम उसे उलटते हैं, तो उसका स्वरूप बदल जाता है और वह मूल्य के विस्तारित रूप से मूल्य का सामान्य रूप बनकर रह जाता है।

अन्त में, रूप 'ग' में चूंकि एक माल को छोड़कर बाक़ी सब मालों का सम-मूल्य रूप से अपवर्जन हो जाता है, इसीलिये और इसी हद तक उससे मालों की दुनिया को मूल्य का एक सामान्य एवं सामाजिक सापेक्ष रूप मिल जाता है। अतएव एक अकेला माल, यानी कपड़ा, इसीलिये और इसी हद तक अन्य हरेक माल के साथ प्रत्यक्ष विनिमेयता का गुण प्राप्त कर लेता है कि अन्य हरेक माल इस गुण से वंचित कर दिया जाता है।[1]

दूसरी ओर, जो माल सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम करता है, उसका सापेक्ष मूल्य-रूप से अपवर्जन हो जाता है। यदि कपड़ा या सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम करने वाला कोई और माल इसके साथ-साथ मूल्य के सापेक्ष रूप में भी हिस्सा बंटाने लगे, तो उसे खुद अपना सम-मूल्य बनना पड़ेगा। तब समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज कपड़ा = २० गज कपड़ा। यह पुनरुक्ति न तो मूल्य को और न मूल्य के परिमाण को व्यक्त करती है। सार्वत्रिक सम-मूल्य के सापेक्ष मूल्य को व्यक्त करने के लिये हमें रूप 'ग' को उलट देना पड़ेगा। इस सम-मूल्य के मूल्य का कोई ऐसा सापेक्ष रूप नहीं है, जो दूसरे मालों का भी हो, मगर तुलनात्मक ढंग से उसका मूल्य अन्य मालों के एक अन्तहीन क्रम के रूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रकट होता है कि सापेक्ष मूल्य का विस्तारित रूप — अथवा 'ख' रूप — ही सम-मूल्य माल के सापेक्ष मूल्य का विशिष्ट रूप है।

---

[1] यह बात कदापि स्वतःस्पष्ट नहीं है कि प्रत्यक्ष और व्यापक विनिमेयता का यह गुण गोया एक ध्रुवीय गुण है, और वह अपने उल्टे ध्रुव से, यानी प्रत्यक्ष विनिमेयता के अभाव से, उसी अंतरंग ढंग से जुड़ा हुआ है, जिस अंतरंग ढंग से चुम्बक का धनात्मक ध्रुव उसके ऋणात्मक ध्रुव से जुड़ा होता है। इसलिए जिस तरह यह कल्पना की जा सकती है कि केथोलिक मत मानने वाले सभी लोगों का एक साथ पोप बन जाना सम्भव है, उसी प्रकार यह कल्पना भी की जा सकती है कि तमाम माल एक साथ यह गुण प्राप्त कर सकते हैं। उस निम्न-पूंजीवादी की नज़रों में, जिसके लिये मालों का उत्पादन मानव-स्वतंत्रता और व्यक्तिगत स्वाधीनता की चरमावस्था है, यह, जाहिर है, अत्यन्त वांछनीय बात होगी, यदि मालों का सीधा विनिमय न हो सकने से पैदा होने वाली यह कठिनाई दूर हो जाये। प्रूधों का समाजवाद इस कूपमण्डूक कल्पना-लोक का ही विस्तृत रूप है। जैसा कि मैंने अन्यत्र प्रमाणित किया है, प्रूधों का यह समाजवाद तो ऐसा है, जिसमें मौलिकता का गुण भी नहीं है। प्रूधों से बहुत पहले ग्रे, ब्रे और अन्य लोग यह काम अधिक सफलतापूर्वक कर चुके हैं। लेकिन इस सबके बावजूद कुछ हल्क़ों में आज भी इस तरह का ज्ञान "विज्ञान" के नाम से सराहा जाता है। "विज्ञान" शब्द का जैसा दुरुपयोग प्रूधों-विचारधारा के अनुयायियों ने किया है, वैसा और किसीने नहीं किया है, क्योंकि

"wo Begriffe fehlen,
Da stellt zur rechten Zeit ein Wort sich ein."

("जब विचारों से काम नहीं चलता, तब सही मौक़े पर एक शब्द काम कर जाता है।" गेटे कृत 'फ़ौस्ट' काव्य नाटक से उद्धृत।)

## ३) मूल्य के सामान्य रूप का मुद्रा-रूप में संक्रमण

सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप सामान्य मूल्य का रूप है। इसलिये कोई भी माल यह रूप धारण कर सकता है। दूसरी ओर, यदि किसी माल ने सचमुच सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप (रूप 'ग') धारण कर लिया है, तो उसका एक यही कारण हो सकता है और वह इसी हद तक यह रूप धारण कर सकता है कि उसका बाक़ी तमाम मालों से और उन्हीं के द्वारा उनके सम-मूल्य के रूप में अपवर्जन हो गया है। और जिस क्षण यह अपवर्जन अन्तिम तौर पर किसी एक ख़ास माल तक सीमित हो जाता है, केवल उसी क्षण से मालों की दुनिया के सापेक्ष मूल्य का सामान्य रूप वास्तविक स्थिरता एवं सामान्य सामाजिक मान्यता प्राप्त करता है।

इस प्रकार, जिस ख़ास माल के शारीरिक रूप के साथ सम-मूल्य रूप सामाजिक तौर पर एकाकार हो जाता है, वह अब मुद्रा-माल बन जाता है, या यूं कहिये कि वह मुद्रा का काम करने लगता है। इस माल का यह विशिष्ट सामाजिक कार्य तथा इसलिये सामाजिक एकाधिकार हो जाता है कि वह मालों की दुनिया में सार्वत्रिक सम-मूल्य की भूमिका अदा करे। रूप 'ख' में जो बहुत से माल कपड़े के विशिष्ट सम-मूल्यों के रूप में सामने आते हैं और जो रूप 'ग' में अपना-अपना सापेक्ष मूल्य समान ढंग से कपड़े के रूप में व्यक्त करते हैं, उनमें से एक माल ने – यानी सोने ने – ख़ास तौर पर यह सर्व-प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। अतएव, यदि रूप 'ग' में हम कपड़े के स्थान पर सोना रख दें, तो यह समीकरण प्राप्त होता है:

### घ) मुद्रा-रूप

| | | |
|---|---|---|
| २० गज़ कपड़ा | = | २ औंस सोना |
| १ कोट | = | |
| १० पौण्ड चाय | = | |
| ४० पौण्ड क़हवा | = | |
| १ क्वार्टर अनाज | = | |
| १/२ टन लोहा | = | |
| 'क' माल का 'प' परिमाण | = | |

रूप 'क' से रूप 'ख' की ओर बढ़ने में, और रूप 'ख' से रूप 'ग' की ओर बढ़ने में जो परिवर्तन हुए, वे बुनियादी ढंग के परिवर्तन हैं। दूसरी ओर, रूप 'ग' और रूप 'घ' में सिवाय इसके और कोई अन्तर नहीं है कि कपड़े के स्थान पर सोने ने सम-मूल्य रूप धारण कर लिया है। रूप 'ग' में जो कुछ कपड़ा था, वही रूप 'घ' में सोना है, – अर्थात् वह सार्वत्रिक सम-मूल्य है। प्रगति केवल इस बात में हुई है कि प्रत्यक्ष एवं सार्वत्रिक विनिमेयता का गुण – दूसरे शब्दों में, सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप – अब सामाजिक रूढ़ि के फलस्वरूप अन्तिम तौर पर 'सोना' नामक पदार्थ के साथ एकाकार हो गया है।

अब यदि बाक़ी तमाम मालों के सम्बंध में सोना मुद्रा बन गया है, तो केवल इसीलिये कि पहले वह उनके सम्बंध में एक साधारण माल था। बाक़ी सब मालों की तरह उसमें भी या तो संयोगवश होने वाले इक्के-दुक्के विनिमयों में साधारण सम-मूल्य की भांति और या

दूसरे मालों के साथ-साथ एक विशिष्ट सम-मूल्य की भांति सम-मूल्य का काम करने की योग्यता थी। धीरे-धीरे वह कभी संकुचित और कभी विस्तृत सीमाओं के भीतर सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम करने लगा। जैसे ही मालों की दुनिया के लिये उसने मूल्य की अभिव्यंजना में इस स्थान पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया, वैसे ही वह मुद्रा-माल बन गया और फिर,—मगर उसके पहले नहीं,—रूप 'घ' रूप 'ग' से साफ़ तौर पर अलग हो गया और मूल्य का सामान्य रूप मुद्रा-रूप में बदल गया।

जब कपड़े जैसे किसी एक माल का सापेक्ष मूल्य सोने जैसे किसी माल के रूप में, जो मुद्रा की भूमिका अदा करता है, प्राथमिक अभिव्यंजना प्राप्त करता है, तब वह अभिव्यंजना उस माल का दाम-रूप होती है। अतएव, कपड़े का दाम-रूप है:

२० गज कपड़ा = २ औंस सोना, अथवा, यदि २ औंस सोना सिक्के के रूप में ढलने पर २ पौंड हो जाता है, तो २० गज कपड़ा = २ पौण्ड।

मुद्रा-रूप को साफ़ तौर पर समझने में कठिनाई इसलिये होती है कि सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप को और उसके एक अनिवार्य उप-प्रमेय के रूप में मूल्य के सामान्य रूप को—यानी रूप 'ग' को—साफ़-साफ़ समझना कठिन होता है। रूप 'ग' को रूप 'ख' से—यानी मूल्य के विस्तारित रूप से—निगमन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, और, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, रूप 'ख' का आवश्यक अंग रूप 'क' है, जिसमें २० गज कपड़ा = १ कोट, या 'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण। अतएव साधारण माल-रूप मुद्रा-रूप का बीजाणु होता है।

## अनुभाग ४—मालों की जड़-पूजा और उसका रहस्य

पहली दृष्टि में माल बहुत अदना सी और आसानी से समझ में आने वाली चीज मालूम होता है। उसका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वास्तव में वह एक बहुत अजीब चीज है, जो अतिभौतिकवादी सूक्ष्मताओं और धर्मशास्त्र की बारीकियों से ओत-प्रोत है। जहां तक वह उपयोग-मूल्य है, वहां तक, चाहे हम उसपर इस दृष्टिकोण से विचार करें कि वह अपने गुणों से मानव-आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है, और चाहे इस दृष्टिकोण से कि वे गुण मानव-श्रम की पैदावार हैं, उसमें रहस्य की कोई बात नहीं है। यह बात दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने उद्योग से प्रकृति के दिये हुए पदार्थों के रूप को इस तरह बदल देता है कि वे उसके लिये उपयोगी बन जायें। उदाहरण के लिये, लकड़ी का रूप उसकी एक मेज बनाकर बदल दिया जाता है। पर इस परिवर्तन के बावजूद भी मेज वही रोजमर्रा की साधारण चीज—लकड़ी—ही रहती है। लेकिन जैसे ही वह माल के रूप में सामने आती है, वैसे ही वह मानो किसी इन्द्रियातीत वस्तु में बदल जाती है। तब वह न सिर्फ़ अपने पैरों के बल खड़ी होती है, बल्कि दूसरे तमाम मालों के सम्बंध में सिर के बल खड़ी हो जाती है और अपने काठ के दिमाग़ से ऐसे-ऐसे अजीबोग़रीब विचार निकालती है कि उनके सामने मेज पर हाथ रखवाकर मृतात्माओं को बुलाने वाली प्रेत-विद्या भी मात खा जाती है।

अतएव, मालों का रहस्यमय रूप उनके उपयोग-मूल्य से उत्पन्न नहीं होता। और न ही वह उन तत्त्वों के स्वभाव से उत्पन्न होता है, जिनसे मूल्य निर्धारित होता है। क्योंकि, पहली बात तो यह है कि श्रम के उपयोगी रूप, अथवा उत्पादक कार्रवाइयां चाहे जितने भिन्न प्रकार की क्यों न हों, यह एक शरीर-विज्ञान से सम्बंध रखने वाला तथ्य है कि वे सब की सब मानव-शरीर की कार्रवाइयां होती हैं, और ऐसी हर कार्रवाई में, उसका स्वभाव और रूप चाहे जैसा हो, बुनियादी तौर पर मनुष्य का मस्तिष्क, स्नायु और मांस-पेशियां आदि ख़र्च होती हैं। दूसरे, जहां तक उस चीज़ का सम्बंध है, जिसके आधार पर मूल्य को परिमाणात्मक दृष्टि से निर्धारित किया जाता है, अर्थात् जहां तक इस ख़र्च की मियाद का—यानी श्रम की मात्रा का—सम्बंध है, यह बात बिल्कुल साफ़ है कि श्रम के परिमाण तथा गुण में स्पष्ट अन्तर होता है। समाज की सभी अवस्थाओं में लोगों को इस बात में लाज़िमी तौर पर दिलचस्पी रही होगी कि जीवन-निर्वाह के साधनों को पैदा करने में कितना श्रम-काल ख़र्च होता है, हालांकि विकास की हर मंज़िल पर यह दिलचस्पी बराबर नहीं रही होगी।[1] और आख़िरी बात यह है कि जिस क्षण लोग किसी भी ढंग से एक दूसरे के लिये काम करने लगते हैं, उसी क्षण से उनका श्रम सामाजिक रूप धारण कर लेता है।

तब श्रम की पैदावार मालों का रूप धारण करते ही एक जटिल समस्या कैसे बन जाती है? स्पष्ट है कि इसका कारण स्वयं यह माल-रूप ही है। हर प्रकार के मानव-श्रम की समानता वस्तुगत ढंग से इस प्रकार व्यक्त होती है कि हर प्रकार के श्रम की पैदावार समान रूप से मूल्य होती है; श्रम-शक्ति के व्यय की उसकी अवधि द्वारा माप श्रम की पैदावार के मूल्य के परिमाण का रूप धारण कर लेती है; और अन्तिम बात यह कि उत्पादकों के पारस्परिक सम्बंध, जिनके भीतर ही उनके श्रम का सामाजिक स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उनकी पैदा की हुई वस्तुओं के सामाजिक सम्बंध का रूप धारण कर लेते हैं।

अतएव, माल एक रहस्यमयी वस्तु केवल इसलिये है कि मनुष्यों के श्रम का सामाजिक स्वरूप उनको अपने श्रम की पैदावार का वस्तुगत लक्षण प्रतीत होता है; क्योंकि उत्पादकों के अपने श्रम से जो कुल पैदावार पैदा हुई है, उसके साथ उनका सम्बंध उनको एक ऐसा सामाजिक सम्बंध प्रतीत होता है, जो स्वयं उनके बीच नहीं, बल्कि उनके श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के बीच क़ायम है। यही कारण है कि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुएं माल यानी ऐसी सामाजिक वस्तुएं बन जाती हैं, जिनके गुण इन्द्रियगम्य भी हैं और इन्द्रियातीत भी। इसी प्रकार किसी वस्तु से आने वाला प्रकाश हमें अपनी आंख की प्रकाशीय स्नायु का मनोगत उत्तेजन नहीं प्रतीत होता, बल्कि आंख के बाहर की किसी चीज़ का वस्तुगत रूप मालूम पड़ता है। लेकिन देखने की क्रिया में तो हर सूरत में एक चीज़ से दूसरी चीज़ तक, बाह्य वस्तु से आंख तक, सचमुच प्रकाश जाता है। इस क्रिया में भौतिक वस्तुओं के बीच एक भौतिक सम्बंध क़ायम होता है। लेकिन मालों के बीच ऐसा कुछ नहीं होता। वहां मालों के रूप में

---

[1] प्राचीन जर्मनों में ज़मीन मापने की इकाई उतनी ज़मीन होती थी, जितनी ज़मीन से एक दिन में फ़सल काटी जा सकती थी और जो Tagwerk, Tagwanne (jurnale, या terra jurnalis, या diornalis), Mannsmaad आदि कहलाती थी। (देखिये जी० एल० फ़ोन मौरेर, "*Einleitung zur Geschichte der Mark—,*&c. *Verfassung*", München, 1854, पृ० १२९ और उससे आगे के पृष्ठ।)

वस्तुओं के अस्तित्व का और श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के बीच पाये जाने वाले उस मूल्य के सम्बंध का, जो कि इन वस्तुओं को माल बना देता है, उनके शारीरिक गुणों से तथा इन गुणों से पैदा होने वाले भौतिक सम्बंधों से कोई ताल्लुक़ नहीं होता। वहां मनुष्यों के बीच क़ायम एक ख़ास प्रकार का सामाजिक सम्बंध है, जो उनकी नज़रों में वस्तुओं के सम्बंध का अजीबोग़रीब रूप धारण कर लेता है। इसलिये, यदि इसकी उपमा खोजनी है, तो हमें धार्मिक दुनिया के कुहासे से ढंके क्षेत्रों में प्रवेश करना होगा। उस दुनिया में मानव-मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पनाएं स्वतंत्र और जीवित प्राणियों जैसी प्रतीत होती हैं, जो आपस में एक दूसरे के साथ और मनुष्य-जाति के साथ भी सम्बंध स्थापित करती रहती हैं। मालों की दुनिया में मनुष्य के हाथों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएं भी यही करती हैं। मैंने इसे जड़-पूजा का नाम दिया है; श्रम से पैदा होने वाली वस्तुएं जैसे ही मालों के रूप में पैदा होने लगती हैं, वैसे ही उनके साथ यह गुण चिपक जाता है, और इसलिये यह जड़-पूजा मालों के उत्पादन से अलग नहीं की जा सकती।

जैसा कि ऊपर दिये हुए विश्लेषण से स्पष्ट हो गया है, मालों की इस जड़-पूजा का मूल उनको पैदा करने वाले श्रम के अनोखे सामाजिक स्वरूप में है।

एक सामान्य नियम के रूप में उपयोगी वस्तुएं केवल इसी कारण माल बन जाती हैं कि वे एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से काम करने वाले व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के दलों के निजी श्रम की पैदावार होती हैं। इन तमाम व्यक्तियों के निजी श्रम का जोड़ समाज का कुल श्रम होता है। अलग-अलग उत्पादक चूंकि उस वक़्त तक एक दूसरे के सामाजिक सम्पर्क में नहीं आते, जिस वक़्त तक कि वे अपनी-अपनी पैदा की हुई वस्तुओं का विनिमय नहीं करने लगते, इसलिये हरेक उत्पादक के श्रम का विशिष्ट सामाजिक स्वरूप केवल विनिमय-कार्य में ही दिखाई देता है और अन्य किसी तरह नहीं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का श्रम समाज के श्रम के एक भाग के रूप में केवल उन सम्बंधों द्वारा ही सामने आता है, जिनको विनिमय-कार्य प्रत्यक्ष ढंग से पैदा की गयी वस्तुओं के बीच और उनके ज़रिये अप्रत्यक्ष ढंग से उनको पैदा करने वालों के बीच स्थापित कर देता है। इसलिए उत्पादकों को एक व्यक्ति के श्रम को बाक़ी व्यक्तियों के श्रम के साथ जोड़ने वाले सम्बंध कार्य-रत अलग-अलग व्यक्तियों के प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बंध नहीं, बल्कि वैसे प्रतीत होते हैं, जैसे कि वे वास्तव में होते हैं,— अर्थात् वे व्यक्तियों के बीच वस्तुगत सम्बंध और वस्तुओं के बीच सामाजिक सम्बंध प्रतीत होते हैं।

जब श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं का विनिमय होता है, केवल तभी वे मूल्यों के रूप में एक सम-रूप सामाजिक हैसियत प्राप्त करती हैं, जो उपयोगी वस्तुओं के रूप में उनके नाना प्रकार के अस्तित्व-रूपों से भिन्न होती है। श्रम से पैदा होने वाली किसी भी वस्तु का उपयोगी वस्तु तथा मूल्य में यह विभाजन केवल उसी समय व्यावहारिक महत्त्व प्राप्त करता है, जब विनिमय का इतना विस्तार हो जाता है कि उपयोगी वस्तुएं विनिमय करने के उद्देश्य से ही पैदा की जाती हैं और इसलिए मूल्यों की शकल में उनके स्वरूप का पहले से, यानी उत्पादन के दौरान में ही, ध्यान रखा जाता है। इस क्षण से ही हर अलग-अलग उत्पादक का श्रम सामाजिक दृष्टि से दोहरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। एक ओर तो उसको एक ख़ास प्रकार के उपयोगी श्रम के रूप में किसी ख़ास सामाजिक आवश्यकता को पूरा करना पड़ता है और इस तरह सब आदमियों के सामूहिक श्रम के आवश्यक अंग के रूप में, उस सामाजिक श्रम-विभाजन की एक शाखा के रूप में अपने लिए स्थान बनाना पड़ता है, जो स्वयंस्फूर्त ढंग से पैदा हो गया है।

दूसरी ओर, वह उस एक उत्पादक की नाना प्रकार की आवश्यकताओं को केवल उसी हद तक पूरा कर सकता है, जिस हद तक कि निजी उपयोगी श्रम के विभिन्न प्रकारों की पारस्परिक विनिमेयता एक स्थापित सामाजिक सत्य बन गयी है और इसलिए जिस हद तक कि हर उत्पादक का निजी उपयोगी श्रम बाक़ी सब उत्पादकों के श्रम के बराबर माना जाता है। श्रम के अत्यन्त भिन्न रूपों का समानीकरण केवल इसी का फल हो सकता है कि इन रूपों को उनकी असमानताओं से अलग कर दिया जाये अथवा उनको उनके सामान्य स्वरूप में, –अर्थात् मानव-श्रम-शक्ति के व्यय में, या अमूर्त्त मानव-श्रम में,–परिणत कर दिया जाये। जब व्यक्ति के श्रम का दोहरा सामाजिक स्वरूप उसके मस्तिष्क में झलकता है, तो वह उसे केवल उन शकलों में दिखाई देता है, जो रोजमर्रा के व्यवहार में श्रम से उत्पन्न वस्तुओं के विनिमय ने उस श्रम को दे दी हैं। इस तरह, उसके अपने श्रम में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होने का जो गुण मौजूद है, वह इस शर्त का रूप धारण कर लेता है कि श्रम से उत्पन्न वस्तु को न केवल उपयोगी, बल्कि दूसरों के लिए उपयोगी होना चाहिए, और उसके विशिष्ट श्रम में श्रम के अन्य सब विशिष्ट प्रकारों के समान होने का जो सामाजिक गुण विद्यमान रहता है, वह यह रूप धारण कर लेता है कि श्रम से पैदा होने वाली, शारीरिक रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की तमाम वस्तुओं में एक गुण समान रूप से मौजूद होता है, और वह यह कि उन सब में मूल्य होता है।

इसलिए, जब हम अपने श्रम से उत्पन्न वस्तुओं का मूल्यों के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित करते हैं, तब हम यह इसलिए नहीं करते हैं कि हम इन वस्तुओं को सजातीय मानव-श्रम का भौतिक आवरण समझते हैं। बात इसकी ठीक उल्टी होती है। जब कभी हम विनिमय द्वारा अपने श्रम से उत्पन्न भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मूल्यों के रूप में समीकरण करते हैं, तब हम उसी कार्य द्वारा उन वस्तुओं पर ख़र्च किये गये श्रम के विभिन्न प्रकारों का भी मानव-श्रम के रूप में समीकरण कर डालते हैं। हम अनजाने ही ऐसा करते हैं, किन्तु फिर भी करते जरूर हैं।[1] अतएव, मूल्य अपने पर कोई ऐसा लेबिल लगाकर नहीं घूमता, जिसपर लिखा हो कि वह कौन है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि यह मूल्य ही है, जो श्रम से पैदा होने वाली प्रत्येक वस्तु को एक सामाजिक चित्राक्षर बना देता है। बाद को हम इस चित्रलिपि को पढ़ने की कोशिश करते हैं और ख़ुद अपनी सामाजिक पैदावार का रहस्य समझने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि जिस प्रकार भाषा एक सामाजिक पैदावार है, उसी प्रकार किसी उपयोगी वस्तु पर मूल्य की छाप अंकित कर देना भी एक सामाजिक पैदावार है। हाल का यह नया वैज्ञानिक आविष्कार कि श्रम से उत्पन्न तमाम वस्तुएं, जहां तक वे मूल्य हैं, वहां तक अपने-अपने उत्पादन में ख़र्च किये गये मानव-श्रम की भौतिक अभिव्यंजना मात्र होती हैं, सचमुच मनुष्य-जाति के विकास के इतिहास में एक नये युग के आरम्भ का द्योतक है। लेकिन

---

[1] इसलिए, जहां गालियानी यह कहता है कि मूल्य व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला एक सम्बंध है–"La Ricchezza è una ragione tra due persone,"–वहां उसको यह और जोड़ देना चाहिए था कि वह व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला एक ऐसा सम्बंध है, जो वस्तुओं के बीच पाये जाने वाले सम्बंध के रूप में व्यक्त होता है। (Galiani: "*Della Moneta*", पृष्ठ २२१, Custodi के "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica*" के संग्रह में खण्ड ३। Parte Moderna, Milano, 1803.)

उससे भी वह कुहासा नहीं छंटता, जिसके आवरण से ढंका हुआ श्रम का सामाजिक स्वरूप हमें खुद श्रम से उत्पन्न वस्तुओं का भौतिक गुण प्रतीत होता है। यह तथ्य कि उत्पादन के जिस खास रूप पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें–यानी मालों के उत्पादन में–स्वतंत्र रूप से किये जाने वाले निजी श्रम का विशिष्ट सामाजिक स्वरूप इस बात में निहित होता है कि इस प्रकार का प्रत्येक श्रम मानव-श्रम होने के नाते एक दूसरे के समान होता है और इसलिए श्रम का यह सामाजिक स्वरूप पैदावार में मूल्य का रूप धारण कर लेता है,–यह तथ्य उत्पादकों को उपर्युक्त आविष्कार के बावजूद उतना ही यथार्थ और अन्तिम प्रतीत होता है, जितना यह तथ्य कि वायु जिन गैसों से मिलकर बनी है, उनका विज्ञान द्वारा आविष्कार हो जाने के बाद भी खुद वायुमण्डल में कोई परिवर्तन नहीं होता।

जब उत्पादक लोग कोई विनिमय करते हैं, तब व्यावहारिक रूप में उन्हें सबसे पहले इस बात की चिन्ता होती है कि अपनी पैदावार के बदले में उन्हें कोई और पैदावार कितनी मिलेगी? या विभिन्न प्रकार की पैदावार का किन अनुपातों में विनिमय हो सकता है? जब ये अनुपात रीति और रिवाज के आधार पर कुछ स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं, तब ऐसा लगता है, जैसे वे अनुपात उत्पादित वस्तुओं की प्रकृति से उत्पन्न हो गये हों। मिसाल के लिए, तब एक टन लोहे और दो औंस सोने का मूल्य में बराबर होना उतनी ही स्वाभाविक बात लगती है, जितनी यह बात कि दोनों वस्तुओं के भिन्न-भिन्न भौतिक एवं रासायनिक गुणों के बावजूद एक पौण्ड सोना और एक पौण्ड लोहा वजन में बराबर होते हैं। जब एक बार श्रम से उत्पन्न वस्तुएं मूल्य का गुण प्राप्त कर लेती हैं, तब यह गुण केवल मूल्य की मात्राओं के रूप में इन वस्तुओं की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से स्थिरता प्राप्त करता है। मूल्य की ये मात्राएं बराबर बदलती रहती हैं; ऐसी तबदीलियां उत्पादकों की इच्छा, दूरदर्शिता और कार्य-कलाप से स्वतंत्र होती हैं। उत्पादकों के लिए उनका अपना सामाजिक कार्य-कलाप वस्तुओं के कार्य-कलाप का रूप धारण कर लेता है और वस्तुएं उत्पादकों के शासन में रहने के बजाय उलटे उनपर शासन करने लगती हैं। जब मालों का उत्पादन पूरी तरह विकसित हो जाता है, उसके बाद ही केवल संचित अनुभव से यह वैज्ञानिक विश्वास पैदा होता है कि एक दूसरे से स्वतंत्र और फिर भी सामाजिक श्रम की स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित शाखाओं के रूप में किये जाने वाले निजी श्रम के विभिन्न प्रकार लगातार उन परिमाणात्मक अनुपातों में परिणत होते रहते हैं, जिनमें समाज को श्रम के इन विभिन्न प्रकारों की आवश्यकता होती है। और ऐसा क्यों होता रहता है? इसलिए कि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के तमाम आकस्मिक और सदा चढ़ते-उतरते रहने वाले विनिमय-सम्बंधों के बीच उनके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल प्रकृति के किसी उच्चतर नियम की भांति बलपूर्वक अपनी सत्ता का प्रदर्शन करता है। जब कोई मकान भरराकर गिर पड़ता है, तब गुरुत्व का नियम भी इसी तरह अपनी सत्ता का प्रदर्शन करता है।[1] अतएव मूल्य के परिमाण का श्रम-काल द्वारा निर्धारित

---

[1] "ऐसे नियम के बारे में हम क्या सोचें, जो केवल नियतकालिक क्रान्तियों के द्वारा ही अपनी सत्ता का प्रदर्शन करता है? वह प्रकृति के नियम के सिवा और कुछ नहीं है, जिसका आधार उन व्यक्तियों का ज्ञानाभाव होता है, जिनके कार्यों से वह नियम सम्बंध रखता है।" (Friedrich Engels: *"Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie"*; Arnold Ruge और Karl Marx द्वारा सम्पादित *"Deutsch-Französische Jahrbücher"*, Paris, 1844.)

होना एक ऐसा रहस्य है, जो मालों के सापेक्ष मूल्यों के व्यक्त उतार-चढ़ाव के नीचे छिपा रहता है। उसका पता लग जाने से यह ख़याल तो दूर हो जाता है कि श्रम से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के मूल्यों के परिमाण केवल आकस्मिक ढंग से निर्धारित होते हैं, किन्तु उससे उनके निर्धारित होने के ढंग में कोई तबदीली नहीं आती।

सामाजिक जीवन के रूपों के विषय में मनुष्य के विचार और उनके फलस्वरूप उसके द्वारा इन रूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण भी इन रूपों के वास्तविक ऐतिहासिक विकास की ठीक उल्टी दिशा ग्रहण करते हैं। मनुष्य उनपर उस समय विचार करना आरम्भ करता है, जब विकास की क्रिया के परिणाम पहले से उसके सामने मौजूद होते हैं। जिन गुणों के फलस्वरूप श्रम से उत्पन्न वस्तुएं माल बन जाती हैं और जिनका उन वस्तुओं में होना मालों के परिचलन की आवश्यक शर्त होती है, वे पहले से ही सामाजिक जीवन के स्वाभाविक, एवं स्वतःस्पष्ट रूपों का स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं, और उसके बाद कहीं मनुष्य इन गुणों के ऐतिहासिक स्वरूप को नहीं, क्योंकि उसकी दृष्टि में वे तो अपरिवर्तनीय होते हैं, बल्कि उनके अर्थ को समझने की कोशिश शुरू करता है। चुनांचे, मूल्यों का परिमाण केवल उस वक़्त निर्धारित हुआ, जब पहले मालों के दामों का विश्लेषण हो गया, और सभी मालों को मूल्यों के रूप में केवल उस वक़्त मान्यता मिली, जब पहले सभी मालों की समान रूप से मुद्रा के रूप में अभिव्यंजना होने लगी। किन्तु मालों की दुनिया का यह अन्तिम मुद्रा-रूप ही है, जो निजी श्रम के सामाजिक स्वरूप को और अलग-अलग उत्पादकों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक सम्बंधों को प्रकट करने के बजाय वास्तव में उनपर पर्दा डाल देता है। जब मैं यह कहता हूं कि कोट या जूतों का कपड़े से इसलिये एक ख़ास प्रकार का सम्बंध है कि कपड़ा अमूर्त मानव-श्रम का सार्वत्रिक अवतार है, तो मेरे कथन का बेतुकापन ख़ुद-ब-ख़ुद ज़ाहिर हो जाता है। फिर भी, जब कोट और जूतों के उत्पादक इन वस्तुओं का मुक़ाबला सार्वत्रिक सम-मूल्य के रूप में कपड़े से या–जो कि एक ही बात है–सोने या चांदी से करते हैं; तो वे ख़ुद अपने निजी श्रम और समाज के सामूहिक श्रम के सम्बंध को उसी बेतुके रूप में व्यक्त करते हैं।

पूंजीवादी अर्थशास्त्र की परिकल्पनाएं ऐसे ही रूपों की होती हैं। ये चिन्तन के ऐसे रूप होते हैं, जो उत्पादन की एक ख़ास, इतिहास द्वारा निर्धारित प्रणाली की–अर्थात् मालों के उत्पादन की–परिस्थितियों और सम्बंधों को सामाजिक मान्यता के साथ व्यक्त करते हैं। इसलिये, मालों का यह पूरा रहस्य, यह सारा जादू और इन्द्रजाल, जो श्रम से उत्पन्न वस्तुओं को उस वक़्त तक बराबर घेरे रहता है, जब तक कि वे मालों के रूप में रहती हैं, –यह सब, जैसे ही हम उत्पादन की दूसरी प्रणालियों पर विचार करना आरम्भ करते हैं, वैसे ही फ़ौरन ग़ायब हो जाता है।

रौबिन्सन क्रूसो के अनुभव चूंकि अर्थशास्त्रियों का एक प्रिय विषय है,[1] इसलिये आइये,

---

[1]यहां तक कि रौबिन्सन-मार्का कहानियां रिकार्डो के पास भी हैं। "आदिम शिकारी और आदिम मछलीमार से वह मालों के मालिकों के रूप में फ़ौरन मछली और शिकार का विनिमय करा देते हैं। विनिमय उस श्रम-काल के अनुपात में होता है, जो इन विनिमय-मूल्यों में लगा होता है। पर इस अवसर पर उनके उदाहरण में यह काल-दोष पैदा हो जाता है कि वह इन लोगों से, जहां तक कि उन्हें अपने औज़ारों का हिसाब लगाना होता है, उस वार्षिकी-सारिणी को इस्तेमाल कराने लगते हैं, जो १८१७ में लन्दन-एक्सचेंज में इस्तेमाल हो रही थी। मालूम

उसके द्वीप में चलकर एक नज़र उसपर भी डालें। उसकी आवश्यकताएं बेशक बहुत कम और बहुत साधारण ढंग की हैं, मगर फिर भी उसे कुछ आवश्यकताओं को तो पूरा करना ही पड़ता है, और इसलिये उसे विभिन्न प्रकार के थोड़े से उपयोगी काम भी करने पड़ते हैं, जैसे औज़ार और फ़र्नीचर बनाना, बकरियां पालना, मछली मारना और शिकार करना। वह जो भगवान की प्रार्थना या इसी तरह के दूसरे और काम करता है, उनका हमारे हिसाब में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इन कामों से उसे आनन्द प्राप्त होता है और उनको वह अपना मनोरंजन समझता है। इस बात के बावजूद कि उसे तरह-तरह का काम करना पड़ता है, वह जानता है कि उसके श्रम का रूप कुछ भी हो, वह है उसी एक रौबिन्सन का काम, और इसलिये वह मानव-श्रम के विभिन्न रूपों के सिवा और कुछ नहीं है। आवश्यकता ख़ुद उसे इसके लिये मजबूर कर देती है कि वह अलग-अलग ढंग के कामों में अपना समय ठीक-ठीक बांटे। अपने कुल काम में वह किस तरह के काम को अधिक समय देता है और किसको कम, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जिस उपयोगी उद्देश्य को वह उस काम द्वारा प्राप्त करना चाहता है, उसकी प्राप्ति में उसे कितनी कम या ज़्यादा कठिनाइयों पर क़ाबू पाना होगा। यह हमारा मित्र रौबिन्सन अनुभव से जल्दी ही यह सीख जाता है, और जहाज़ के भग्नावशेष से एक घड़ी, एक खाताबही और क़लम तथा रोशनाई निकाल लाने के बाद एक सच्चे अंग्रेज़ की तरह वह हिसाब-किताब रखना शुरू कर देता है। उसके पास जितनी उपयोगी वस्तुएं हैं, उनकी सूची वह अपनी जमा माल की बही में दर्ज कर देता है और यह भी लिख लेता है कि उनके उत्पादन के लिये उसे किस तरह का काम करना पड़ा और इन वस्तुओं की निश्चित मात्राओं के उत्पादन में औसतन कितना श्रम-काल ख़र्च हुआ। रौबिन्सन और उन तमाम वस्तुओं के बीच, जिनसे उसकी यह ख़ुद पैदा की हुई दौलत तैयार हुई है, जितने भी सम्बंध हैं, वे सब इतने सरल और स्पष्ट हैं कि मि० सेडली टेलर तक उनको बिना कोई ख़ास मेहनत किये समझ सकते हैं। और फिर भी मूल्य के निर्धारण के लिये जितनी चीज़ों की आवश्यकता है, वे सब इन सम्बंधों में मौजूद हैं।

आइये, अब हम रौबिन्सन के, सूर्य के प्रकाश से चमचमाते द्वीप को छोड़कर अंधकार के आवरण में ढंके मध्ययुगी योरप को चलें। यहां स्वाधीन मनुष्य के स्थान पर हर आदमी पराधीन है। यह कृषि-दासों और सामन्तों, अधिपतियों और अधीन सरदारों, जनसाधारण और पादरियों की दुनिया है। यहां व्यक्तिगत पराधीनता उत्पादन के सामाजिक सम्बंधों की उसी हद तक मुख्य विशेषता है, जिस हद तक कि वह इस उत्पादन के आधार पर संगठित जीवन के अन्य क्षेत्रों की मुख्य विशेषता है। लेकिन यहां चूंकि व्यक्तिगत पराधीनता समाज की बुनियाद है, ठीक इसीलिये श्रम तथा उससे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को अपनी वास्तविकता से भिन्न कोई अजीबोग़रीब रूप धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। वे समाज के लेन-देन में सेवाओं और वस्तुओं के रूप में भुगतान का रूप धारण कर लेती हैं। यहां श्रम का तात्कालिक सामाजिक रूप उसका सामान्य अमूर्त रूप नहीं है, जैसा कि मालों के उत्पादन पर आधारित समाज में होता है, बल्कि श्रम का विशिष्ट और स्वाभाविक रूप ही यहां उसका

---

होता है कि पूंजीवादी रूप के सिवा रिकार्डो समाज के केवल एक ही और रूप से परिचित थे, और वह था 'मि० ओवेन के समान्तर चतुर्भुजों का रूप'।" (Karl Marx, "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*", पृ० ३८, ३६।)

तात्कालिक सामाजिक रूप है। जिस तरह माल पैदा करने वाले श्रम को समय द्वारा मापा जाता है, उसी तरह बेगार के श्रम को भी मापा जा सकता है; लेकिन प्रत्येक कृषि-दास जानता है कि अपने सामन्त की सेवा में वह जो कुछ खर्च कर रहा है, वह उसकी अपनी व्यक्तिगत श्रम-शक्ति की एक निश्चित मात्रा है। आय का जो दसवां हिस्सा पादरी को दे देना पड़ता है, वह उसके आशीर्वाद से ज्यादा ठोस वास्तविकता होती है। इसलिये, इस समाज में अलग-अलग वर्गों के लोगों की भूमिकाओं के बारे में हमारा जो भी विचार हो, श्रम करने वाले व्यक्तियों के सामाजिक सम्बंध हर हालत में उनके आपसी व्यक्तिगत सम्बंधों के रूप में ही प्रकट होते हैं और उनपर कभी ऐसा पर्दा नहीं पड़ता कि वे श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के सामाजिक सम्बंध प्रतीत होने लगें।

सामूहिक श्रम – अथवा प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध श्रम – के किसी उदाहरण का अध्ययन करने के लिये हमें उस स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित रूप की ओर लौटने की आवश्यकता नहीं है, जिससे सभी सभ्य जातियों के इतिहास के प्रवेश-द्वार पर हमारी भेंट होती है।[1] एक उदाहरण हमारे बिल्कुल नजदीक है। वह उस किसान परिवार के पुराणपन्थी उद्योगों का उदाहरण है, जो अपने घरेलू इस्तेमाल के लिये अनाज, ढोर, सूत, कपड़ा और पोशाक तैयार करता है। जहां तक परिवार का सम्बंध है, ये अलग-अलग वस्तुएं उसके श्रम की पैदावार होती हैं, मगर जहां तक इन वस्तुओं के आपसी सम्बंधों का सवाल है, वे माल नहीं होतीं। श्रम के वे विभिन्न रूप, जिनसे ये तरह-तरह की वस्तुएं तैयार होती हैं, जैसे खेत जोतना, ढोर पालना, कातना, बुनना और कपड़े सीना, वे सब स्वयं अपने में और अपने वास्तविक रूप में प्रत्यक्ष ढंग से सामाजिक कार्य हैं। कारण कि वे ऐसे परिवार के कार्य हैं, जिसमें मालों के उत्पादन पर आधारित समाज की तरह श्रम-विभाजन की एक स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित प्रणाली पायी जाती है। परिवार के भीतर काम का बंटवारा और उसके अनेक सदस्यों के श्रम-काल का नियमन जिस तरह अलग-अलग मौसम के साथ बदलने वाली प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, उसी तरह आयु-भेद और लिंग-भेद पर भी निर्भर करते हैं। इस सूरत में प्रत्येक व्यक्ति की श्रम-शक्ति स्वभावतः परिवार की कुल श्रम-शक्ति के एक] निश्चित अंश के रूप में ही व्यवहार में आती है, और इसलिये ऐसी हालत में यदि व्यक्तिगत श्रम-शक्ति के व्यय को उसकी अवधि द्वारा मापा जाता है, तो उसका कारण प्रत्येक व्यक्ति के श्रम का सामाजिक स्वरूप ही है।

---

[1] "हाल के कुछ दिनों से यह हास्यास्पद धारणा फैल गयी है कि अपने आदिम रूप में सामूहिक सम्पत्ति ख़ास तौर पर एक स्लाव रूप है, या यहां तक कहा जाता है कि वह विशुद्ध रूसी रूप है। हम साबित कर सकते हैं कि यह वही आदिम रूप है, जो रोमन, ट्यूटन और कैल्ट लोगों में था और जिसके अनेक उदाहरण ध्वंसावशेषों की शकल में ही सही, पर आज भी हिन्दुस्तान में मिलते हैं। सामूहिक सम्पत्ति के एशियाई और विशेषकर हिन्दुस्तानी रूपों का अधिक पूर्ण ढंग से अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि आदिम सामूहिक सम्पत्ति के विभिन्न रूपों से किस प्रकार उसके भंग होने के अलग-अलग ढंग निकले हैं। मिसाल के लिये, यह साबित किया जा सकता है कि रोमन और ट्यूटन लोगों में पाये जाने वाले निजी सम्पत्ति के तरह-तरह के मूल रूप हिन्दुस्तानी सामूहिक सम्पत्ति के विभिन्न रूपों के आधार पर समझे जा सकते हैं।" (Karl Marx, "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" [कार्ल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'], पृ० १०।)

आइये, अब तनिक परिवर्तन के लिये स्वतंत्र व्यक्तियों के एक ऐसे समाज की कल्पना करें, जिसके सदस्य साझे के उत्पादन के साधनों से काम करते हैं और जिसमें तमाम अलग-अलग व्यक्तियों की श्रम-शक्ति को सचेतन ढंग से समाज की संयुक्त श्रम-शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इस समाज में रौबिन्सन के श्रम की सारी विलक्षणतायें फिर से दिखाई देती हैं, लेकिन इस अन्तर के साथ कि यहां ये व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होती हैं। रौबिन्सन जो कुछ भी पैदा करता था, वह केवल उसके अपने व्यक्तिगत श्रम का फल होता था, और इसलिये वह महज उसके अपने इस्तेमाल की चीज़ होता था। हमारे इस समाज की कुल पैदावार सामाजिक होती है। उसका एक हिस्सा उत्पादन के नये साधनों के रूप में काम में आता है और इसलिये सामाजिक ही रहता है। लेकिन एक दूसरे हिस्से का समाज के सदस्य जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में उपभोग करते हैं। चुनांचे, इस हिस्से का उनके बीच बंटवारा आवश्यक होता है। इस बंटवारे की पद्धति समाज के उत्पादक संगठन के बदलने के साथ और उत्पादकों के ऐतिहासिक विकास की अवस्था के अनुरूप बदलती जायेगी। हम माने लेते हैं—मगर हम मालों के उत्पादन के साथ मुक़ाबला करने के लिये ही ऐसा मान रहे हैं—कि जीवन-निर्वाह के साधनों में उत्पादन करने वाले हर अलग-अलग व्यक्ति का हिस्सा उसके श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है। इस सूरत में श्रम-काल दोहरी भूमिका अदा करेगा। जब एक निश्चित सामाजिक योजना के अनुसार उसका बंटवारा किया जाता है, तब उसके द्वारा अलग-अलग ढंग के कामों तथा समाज की विभिन्न आवश्यकताओं के बीच सही अनुपात क़ायम रखा जाता है। दूसरी ओर, वह इस बात की माप का काम भी देता है कि हर व्यक्ति के कंधों पर सम्मिलित श्रम के कितने भाग का भार पड़ा है और समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत उपभोग के लिये निश्चित किये गये कुल पैदावार के भाग का हर व्यक्ति को कितना अंश मिलना चाहिये। इस सूरत में उत्पादन करने वाले अलग-अलग व्यक्तियों के श्रम तथा उनकी पैदा की हुई वस्तुओं, इन दोनों दृष्टियों ही से उनके सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त सरल और सहज ही समझ में आ जाने वाले होते हैं, और यह बात न केवल उत्पादन के लिये, बल्कि वितरण के लिये भी सच होती है।

धार्मिक दुनिया वास्तविक दुनिया का प्रतिबिम्ब मात्र होती है। और मालों के उत्पादन पर आधारित समाज के लिये, जिसमें उत्पादन करने वाले लोग आम तौर पर अपने श्रम से उत्पन्न वस्तुओं को मालों तथा मूल्यों के रूप में इस्तेमाल करके एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्बंध स्थापित करते हैं और इस तरह अपने व्यक्तिगत एवं निजी श्रम को सजातीय मानव-श्रम के मानदण्ड में परिवर्तित कर देते हैं,—ऐसे समाज के लिये अमूर्त मानव को पूजने वाला ईसाई धर्म, ख़ासकर अपने पूंजीवादी रूपों में—प्रोटेस्टेंट मत, देइज़्म आदि में,—सबसे उपयुक्त धर्म है। उत्पादन की प्राचीन एशियाई प्रणाली तथा अन्य प्राचीन प्रणालियों में हम यह पाते हैं कि पैदावार के मालों में बदल जाने और इसलिये मनुष्यों के मालों के उत्पादकों में बदले जाने का गौण स्थान होता है, हालांकि जैसे-जैसे आदिम समाज विसर्जन के अधिकाधिक निकट पहुंचते जाते हैं, वैसे-वैसे इस बात का महत्त्व बढ़ता जाता है। जिनको सचमुच व्यापारी जातियों का नाम दिया जा सकता था, ऐसी जातियां प्राचीन संसार में केवल बीच-बीच की ख़ाली जगहों में ही पायी जाती थीं, जैसे एपीक्यूरस के देवता दो लोकों के बीच के स्थान में रहते थे या जैसे यहूदी लोग पोल समाज के छिद्रों में छिपे रहते थे। पूंजीवादी समाज की तुलना में उत्पादन के ये प्राचीन सामाजिक संघटन अत्यन्त सरल और सहज ही समझ में आ

जाने वाले थे। लेकिन उनकी नींव या तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य के अपरिपक्व विकास पर, जिसने कि उस वक़्त तक अपने को उस नाल से मुक्त नहीं किया था, जिसने उसे आदिम क़बीले के समाज के अपने सहयोगी मनुष्यों के साथ बांध रखा था, और या पराधीनता के प्रत्यक्ष सम्बंधों पर रखी गयी थी। ऐसे सामाजिक संघटन केवल उसी हालत में पैदा हो सकते हैं और क़ायम रह सकते हैं, जब श्रम की उत्पादक शक्ति एक निम्न स्तर से ऊपर न उठी हो और इसलिये जब मनुष्य तथा मनुष्य के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भौतिक जीवन के क्षेत्र में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बंध उतने ही संकीर्ण हों। यह संकीर्णता प्राचीन प्रकृति-पूजा में तथा लोक-धर्मों के अन्य तत्वों में प्रतिबिम्बित हुई है। वास्तविक दुनिया के धार्मिक प्रतिबिम्ब का बहरहाल केवल उसी समय अन्तिम रूप में लोप होगा, जब रोजमर्रा के जीवन के व्यावहारिक सम्बंधों में मनुष्य को अपने सहयोगी मनुष्यों तथा प्रकृति के साथ सहज ही समझ में आ जाने वाले तथा युक्तिसंगत सम्बंधों के सिवा और किसी प्रकार के सम्बंधों का सामना नहीं करना पड़ेगा।

समाज की जीवन-प्रक्रिया भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होती है। उसके ऊपर पड़ा हुआ रहस्य का आवरण उस समय तक नहीं हटता, जब तक कि वह स्वतंत्र रूप से सम्बद्ध मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला उत्पादन नहीं बन जाती और जब तक कि एक निश्चित योजना के अनुसार उसका सचेतन ढंग से नियमन नहीं किया जाता। लेकिन इसके लिये जरूरी है कि समाज के पास एक ख़ास तरह की भौतिक बुनियाद या अस्तित्व की विशेष प्रकार की भौतिक परिस्थितियां हों, जो ख़ुद विकास की एक लम्बी और कष्टदायक प्रक्रिया का ही स्वयंस्फूर्त फल होती हैं।

यह सच है कि अर्थशास्त्र ने मूल्य तथा उसके परिमाण का विश्लेषण किया है, भले ही वह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो,[1] और यह पता लगाया है कि इन रूपों के पीछे क्या छिपा

---

[1] मूल्य के परिमाण का रिकार्डो ने जो विश्लेषण किया है,—और उन्होंने सबसे अच्छा विश्लेषण किया है,—उसकी अपर्याप्तता इस रचना की तीसरी और चौथी पुस्तकों में ज़ाहिर होगी। जहां तक आम तौर पर मूल्य का सम्बंध है, अर्थशास्त्र की प्रामाणिक धारा की कमजोरी यह है कि उसने कहीं पर भी साफ़-साफ़ और पूर्णतः सचेतन ढंग से श्रम के दो रूपों का अन्तर नहीं दिखाया है—एक वह रूप, जब श्रम किसी पैदावार के मूल्य में प्रकट होता है, और दूसरा वह, जब वही श्रम उस पैदावार के उपयोग-मूल्य में प्रकट होता है। व्यवहार में, ज़ाहिर है, यह भेद किया जाता है, क्योंकि यह धारा यदि एक समय श्रम के परिमाणात्मक पहलू पर विचार करती है, तो दूसरे समय उसके गुणात्मक पहलू को लेती है। लेकिन इसका उसे तनिक भी आभास नहीं है कि जब श्रम के विभिन्न प्रकारों के बीच केवल परिमाणात्मक अन्तर देखा जाता है, तब उनकी गुणात्मक एकता अथवा समानता पहले से ही मान ली जाती है और इसलिये उनको पहले से ही अमूर्त्त मानव-श्रम में बदल दिया जाता है। उदाहरण के लिये, रिकार्डो ने कहा है कि वह देस्तूत दे त्रेसी की इस स्थापना से सहमत हैं कि "यह बात चूंकि निश्चित है कि हमारी मूल सम्पत्ति केवल हमारी शारीरिक और मानसिक क्षमताएं ही हैं, इसलिए इन क्षमताओं का प्रयोग, किसी न किसी प्रकार का श्रम, हमारा एकमात्र मूल कोष है, और वे तमाम वस्तुएं, जिनको हम धन कहते हैं, सदा इस प्रयोग से ही पैदा होती हैं... यह बात भी निश्चित है कि ये सब वस्तुएं केवल उस श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसने उनको पैदा

है। लेकिन अर्थशास्त्र ने यह सवाल एक बार भी नहीं उठाया है कि श्रम का प्रतिनिधित्व उसकी पैदावार का मूल्य और श्रम-काल का प्रतिनिधित्व उस मूल्य का परिमाण क्यों करते हैं।[1] जिन सूत्रों पर साफ़ तौर पर इस बात की छाप देखी जा सकती है कि वे समाज की एक ऐसी अवस्था से सम्बंध रखते हैं, जिसमें उत्पादन की क्रिया मनुष्य द्वारा नियंत्रित होने के बजाय उसके ऊपर शासन करती है, – ये सूत्र पूंजीवादी बुद्धि को प्रकृति द्वारा अनिवार्य बना दी गयी वैसी ही स्वतःस्पष्ट आवश्यकता लगते हैं, जैसी आवश्यकता खुद उत्पादक श्रम है।

---

किया है, और यदि उनका कोई मूल्य है या यदि उनके दो अलग-अलग ढंग के मूल्य भी हैं, तो वे केवल उस श्रम के मूल्य से ही निकले हैं, जिससे ये वस्तुएं निकली हैं।" (Ricardo, "*The Principles of Political Economy*" [रिकार्डो, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], तीसरा संस्करण, London, 1821, पृ० ३३४।) हम यहां पर केवल यही कह सकते हैं कि रिकार्डो ने देस्तूत के शब्दों को ख़ुद अपनी, अधिक गूढ़, व्याख्या पहना दी है। देस्तूत सचमुच जितनी बात कहते हैं, वह यह है कि एक तरफ़ तो धन कहलाने वाली तमाम चीज़ें उस श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसने उनको पैदा किया है, लेकिन, दूसरी तरफ़, वे अपने "दो अलग-अलग ढंग के मूल्यों" (उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य) को "श्रम के मूल्य से" प्राप्त करती हैं। इस प्रकार वह उन घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्रियों की आम भद्दी ग़लती को ही दोहराते हैं, जो बाक़ी मालों का मूल्य निर्धारित करने के लिये एक माल का (यहां पर श्रम का) ख़ुद कुछ मूल्य मान लेते हैं। लेकिन रिकार्डो देस्तूत के शब्दों को इस तरह पढ़ते हैं, जैसे उन्होंने यह कहा हो कि श्रम (न कि श्रम का मूल्य) उपयोग मूल्य तथा विनिमय-मूल्य दोनों में निहित होता है। फिर भी रिकार्डो ने ख़ुद श्रम के दोहरे स्वरूप की ओर, जो दोहरे ढंग से मूर्त रूप प्राप्त करता है, इतना कम ध्यान दिया है कि अपना "*Value and Riches, Their Distinctive Properties*" ('मूल्य तथा धन, उनके अलग-अलग गुण') शीर्षक का पूरा अध्याय उन्होंने जे० बी० से जैसे व्यक्ति की तुच्छ बातों की श्रमपूर्ण समीक्षा करने में ख़र्च कर डाला, और उसके अन्त में उनको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ है कि देस्तूत एक तरफ़ तो उनसे इस बात में सहमत हैं कि मूल्य का स्रोत श्रम है, और दूसरी तरफ़ वह मूल्य की धारणा के सम्बंध में जे० बी० से से सहमत हैं।

[1] प्रामाणिक अर्थशास्त्र की यह एक मुख्य कमज़ोरी है कि मालों का और, ख़ास तौर पर, उनके मूल्य के विश्लेषण द्वारा वह कभी यह नहीं पता लगा पाया है कि मूल्य किस रूप के अन्तर्गत विनिमय-मूल्य बन जाता है। यहां तक कि ऐडम स्मिथ और रिकार्डो भी, जो कि इस धारा के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं, मूल्य के रूप को महत्त्वहीन चीज़ समझते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में मालों के मौलिक स्वभाव से उसका कोई सम्बंध नहीं है। इसका केवल यही कारण नहीं है कि उनका सारा ध्यान महज़ मूल्य के परिमाण के विश्लेषण पर केन्द्रित हो गया है। इसका असली कारण और गहरा है। श्रम की पैदावार का मूल्य-रूप उसका न केवल सबसे अमूर्त रूप है, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्गत वह उस पैदावार का सबसे अधिक सार्वत्रिक रूप होता है, और यह रूप इस उत्पादन को सामाजिक उत्पादन की एक ख़ास क़िस्म बना देता है और इस प्रकार उसे उसका विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर देता है। अतएव, यदि हम उत्पादन की इस प्रणाली को एक ऐसी प्रणाली समझ बैठते हैं, जिसे प्रकृति

अतएव सामाजिक उत्पादन के पूंजीवादी रूप के पहले उसके जो रूप आ चुके हैं, उनके साथ पूंजीपति-वर्ग कुछ-कुछ वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा ईसवी सन की पहली शताब्दियों के ईसाई धर्म के लेखक और ग्रंथकार ईसाई-धर्म के पहले के धर्मों के साथ करते थे।[1]

---

ने समाज की प्रत्येक अवस्था के लिये सदा-सदा के लिये निश्चित कर दिया है, तो हम लाज़िमी तौर पर उन गुणों को अनदेखा कर जाते हैं, जो मूल्य-रूप के और इसलिये माल-रूप के तथा उसके और विकसित रूपों के—यानी मुद्रा-रूप और पूंजी-रूप आदि—के विशिष्ट एवं भेदकारक गुण हैं। फलतः हम पाते हैं कि उन अर्थशास्त्रियों में, जो इस बात से पूरी तरह से सहमत हैं कि मूल्य के परिमाण का मापदण्ड श्रम-काल है, मुद्रा के विषय में, जो कि सार्वत्रिक सम-मूल्य का पूर्णतया विकसित रूप है, बहुत ही अजीबोग़रीब और परस्पर विरोधी विचार पाये जाते हैं। यह बात उस वक़्त बहुत उग्र रूप से सामने आती है, जब वे बैंकों के कारोबार पर विचार करना आरम्भ करते हैं, जहां मुद्रा की साधारण परिभाषाओं से तनिक भी काम नहीं चलता। इसी से एक नयी व्यापारवादी प्रणाली (गानिल्ह आदि) का जन्म हुआ है, जो मूल्य में एक सामाजिक रूप के सिवा—या कहना चाहिये कि उस रूप के अमूर्त प्रेत के सिवा—और कुछ नहीं देखती।—यहां पर मैं साफ़ साफ़ और क़तई तौर पर यह बता दूं कि प्रामाणिक अर्थशास्त्र से मेरा मतलब उस अर्थशास्त्र से है, जिसने डब्ल्यू० पेटी के समय से ही पूंजीवादी समाज में पाये] जाने वाले उत्पादन के वास्तविक सम्बंधों की छानबीन की है और जो घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र की तरह नहीं है। घटिया क़िस्म का अर्थशास्त्र केवल सतही बातों का अध्ययन करता है। वह अनवरत उसी सामग्री की जुगाली किया करता है, जिसे वैज्ञानिक अर्थशास्त्र ने बहुत पहले प्रस्तुत कर दिया था, और] इस सामग्री में वह अतिस्पष्ट घटनाओं के ऊपर से युक्तिसंगत प्रतीत होने वाले स्पष्टीकरण की तलाश किया करता है, ताकि वह पूंजीपतियों के रोज़मर्रा के इस्तेमाल में आ सके। मगर इसके अलावा उसका काम बस यही रहता है कि आत्म-संतुष्ट पूंजीपति-वर्ग की दुनिया के बारे में उस वर्ग के विचारों को बड़े पण्डिताऊ ढंग से सुनियोजित विचारधारा के रूप में पेश कर दे और यह दावा करे कि ये] विचार चिरन्तन सत्य हैं। [उपरोक्त पूंजीपति-वर्ग अपनी दुनिया को सभी सम्भव दुनियाओं से अच्छी समझता है और बहुत ही घटिया क़िस्म के घिसे-पिटे विचार रखता है।

[1] "Les économistes ont une singulière manière de procéder. Il n'y a pour eux que deux sortes d'institutions, celles de l'art et celles de la nature. Les institutions de la féodalité sont des institutions artificielles, celles de la bourgeoisie sont des institutions naturelles. Ils ressemblent en ceci aux théologiens, qui eux aussi établissent deux sortes de religions. Toute religion qui n'est pas la leur, est une invention des hommes, tandis que leur propre religion est une émanation de Dieu—Ainsi il y a eu de l'histoire, mais il n'y en a plus." ["अर्थशास्त्रियों का तर्क-वितर्क अजीब ढंग का होता है। उनके लिये केवल दो प्रकार की ही संस्थाएं हैं: बनावटी संस्थाएं और प्राकृतिक संस्थाएं। सामन्ती संस्थाएं बनावटी संस्थाएं हैं, पूंजीपति-वर्ग की संस्थाएं प्राकृतिक संस्थाएं हैं। इस बात में वे धर्मशास्त्रियों से मिलते हैं। वे लोग भी दो प्रकार के धर्म मानते हैं। उनके अपने धर्म को छोड़कर उनकी दृष्टि में बाक़ी हर धर्म मनुष्यों का आविष्कार होता है, जब कि अपने धर्म के बारे में वे समझते हैं कि वह

मालों में जो जड़-पूजा निहित है या श्रम के सामाजिक गुण जिस भौतिक रूप में प्रकट होते हैं, उसने कुछ अर्थशास्त्रियों को किस बुरी तरह भटका दिया है, इसका कुछ अनुमान अन्य बातों के अलावा उस नीरस और थका देने वाली बहस से लग सकता है, जो इस विषय को लेकर

---

ईश्वर से उद्भूत हुआ है।—मतलब यह कि अभी तक तो इतिहास का क्रम चल रहा था, पर हमारे साथ वह सम्पूर्ण हो गया है।"] (Karl Marx: "*Misère de la Philosophie. Réponse à la Philosophie de la Misère par M. Proudhon*" [कार्ल मार्क्स, 'दर्शन की दरिद्रता। मि० प्रूधों की पुस्तक 'दरिद्रता का दर्शन' का जवाब'], *1847*, पृ० ११३।) मि० बास्तियात के हाल पर सचमुच हंसी आती है। उनका ख़याल है कि प्राचीन काल में यूनानी और रोमन लोग केवल लूट-मार के सहारे ही जीवन बसर करते थे। लेकिन जब लोग सदियों तक लूट-मार करते हैं, तो कोई ऐसी चीज़ हमेशा उनके नज़दीक रहनी चाहिये, जिसे वे लूट सकें; लूट-मार की चीज़ों का लगातार पुनरुत्पादन होते रहना चाहिए। परिणामतः इससे ऐसा लगेगा कि यूनानियों और रोमनों के यहां भी उत्पादन की कोई क्रिया थी। चुनांचे उनके यहां कोई अर्थ-व्यवस्था भी रही होगी, और जिस प्रकार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था हमारी आधुनिक दुनिया का भौतिक आधार है, उसी प्रकार वह अर्थ-व्यवस्था यूनानियों और रोमनों की दुनिया का भौतिक आधार रही होगी। या शायद बास्तियात के कथन का अर्थ यह है कि दास-प्रथा पर आधारित उत्पादन-प्रणाली लूट-मार की प्रणाली पर आधारित होती है? यदि यह बात है, तो बास्तियात ख़तरनाक ज़मीन पर पांव रख रहे हैं। यदि अरस्तू जैसा महान विचारक दासों के श्रम को समझने में ग़लती कर गया, तो फिर बास्तियात जैसा बौना अर्थशास्त्री मज़दूरी लेकर काम करने वाले मज़दूरों के श्रम को कैसे सही तौर पर समझ सकता है?—मैं इस अवसर से लाभ उठाकर अमरीका में प्रकाशित एक जर्मन पत्र के उस ऐतराज़ का संक्षेप में जवाब दे देना चाहता हूं, जो उसने मेरी रचना "*Zur Kritik der Pol. Oekonomie, 1859*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') पर किया है। मेरा मत है कि प्रत्येक विशिष्ट उत्पादन-प्रणाली और उसके अनुरूप सामाजिक सम्बंध, या संक्षेप में कहिये, तो समाज की आर्थिक गठन ही वह वास्तविक आधार होती है, जिसपर क़ानूनी एवं राजनीतिक ऊपरी ढांचा खड़ा किया जाता है और जिसके अनुरूप चिन्तन के भी कुछ निश्चित सामाजिक रूप होते हैं; मेरा मत है कि उत्पादन की प्रणाली आम तौर पर सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन को निर्धारित करती है। इस पत्र की राय में, मेरा यह मत हमारे अपने ज़माने के लिये तो बहुत सही है, क्योंकि उसमें भौतिक स्वार्थों का बोलबाला है, लेकिन वह मध्य युग के लिये सही नहीं है, जिसमें कैथोलिक धर्म का बोलबोला था, और वह एथेंस और रोम के लिये भी सही नहीं है, जहां राजनीति का ही डंका बजता था। अब सबसे पहले तो किसी का यह सोचना सचमुच बड़ा अजीब लगता है कि मध्य युग और प्राचीन संसार के बारे में ये पिटी-पिटायी बातें किसी दूसरे को मालूम नहीं हैं। बहरहाल इतनी बात तो स्पष्ट है कि मध्य युग के लोग केवल कैथोलिक धर्म के सहारे या प्राचीन संसार के लोग केवल राजनीति के सहारे ज़िन्दा नहीं रह सकते थे। इसके विपरीत, उनके जीविका कमाने के ढंग से ही यह बात साफ़ होती है कि क्यों एक काल में राजनीति की और दूसरे काल में कैथोलिक धर्म की भूमिका प्रधान थी। जहां तक बाक़ी बातों का सम्बंध है, तो, उदाहरण के लिए, रोमन प्रजातंत्र के इतिहास की मामूली जानकारी यह जानने के लिये काफ़ी है कि रोमन प्रजातंत्र का गुप्त इतिहास वास्तव में उसकी भू-सम्पत्ति का

चल रही है कि विनिमय-मूल्य के निर्माण में प्रकृति का कितना हाथ है। विनिमय-मूल्य चूंकि किसी भी वस्तु में लगाये गये श्रम की मात्रा को व्यक्त करने का एक ख़ास सामाजिक ढंग होता है, इसलिये प्रकृति का उससे ठीक उसी प्रकार कोई सम्बंध नहीं होता, जिस प्रकार उसका विनिमय के दर-क्रम को निश्चित करने से कोई सम्बंध नहीं होता।

उत्पादन की वह प्रणाली, जिसमें पैदावार माल का रूप धारण कर लेती है या जिसमें पैदावार सीधे विनिमय करने के लिये पैदा की जाती है, पूंजीवादी उत्पादन का सबसे अधिक सामान्य और सबसे अधिक अल्प-विकसित रूप है। इसलिये वह इतिहास के बहुत शुरू के दिनों में ही दिखाई देने लगती है, हालांकि उस वक़्त वह आजकल की तरह इतने ज़ोरदार एवं प्रतिनिधि रूप में सामने नहीं आती है। अतएव उस ज़माने में उसके साथ जुड़ी हुई जड़-पूजा को अपेक्षाकृत अधिक आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन जब हम अधिक ठोस रूपों पर आते हैं, तो यह दिखावटी सरलता भी ग़ायब हो जाती है। मुद्रा-प्रणाली की भ्रांतियां कहां से पैदा हुई? इस प्रणाली के अनुसार, जब सोना और चांदी मुद्रा का काम करते हैं, तो वे पैदावार करने वालों के बीच किसी सामाजिक सम्बंध का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि कुछ अजीबोग़रीब सामाजिक गुण रखने वाली प्राकृतिक वस्तुओं के रूप में नज़र आते हैं। और आधुनिक अर्थशास्त्र को लीजिये, जो मुद्रा-प्रणाली को बहुत तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। किन्तु जब कभी वह पूंजी पर विचार करने बैठता है, तब उसका अंधविश्वास क्या दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट नहीं हो जाता? और अर्थशास्त्र को इस फ़िज़िओक्रेटिक भ्रांति से छुटकारा पाये हुए ही अभी कितने दिन हुए हैं कि लगान का उद्भव-स्रोत समाज नहीं, बल्कि धरती है?

जो बात आगे आने वाली है, उसकी अभी से चर्चा न करने की दृष्टि से हम माल-रूप से सम्बंध रखने वाला केवल एक उदाहरण और देकर संतोष कर लेंगे। यदि माल ख़ुद बोल पाते, तो वे कहते: हमारे उपयोग-मूल्य में इनसानों को दिलचस्पी हो सकती है। पर वस्तुओं के रूप में वह हमारा अंश नहीं है। वस्तुओं के रूप में हमारा अंश हमारा मूल्य है। मालों के रूप में हमारा स्वाभाविक आदान-प्रदान इस बात का प्रमाण है। एक दूसरे की दृष्टि में हम विनिमय-मूल्यों के सिवा और कुछ नहीं हैं। अच्छा, अब ज़रा सुनिये कि ये ही माल अर्थशास्त्रियों के मुख से किस तरह बोलते हैं। "मूल्य (अर्थात् विनिमय-मूल्य) चीज़ों का गुण होता है, और धन-सम्पदा (अर्थात् उपयोग-मूल्य) मनुष्यों का। इस अर्थ में मूल्य का लाज़िमी तौर पर मतलब होता है विनिमय, धन-सम्पदा का यह मतलब नहीं होता।"[1] "धन-सम्पदा (उपयोग-मूल्य) मनुष्यों का गुण है, मूल्य मालों का गुण है। कोई मनुष्य या कोई समाज धनी होता है, पर कोई मोती या हीरा मूल्यवान होता है... कोई मोती या हीरा" मोती या हीरे के रूप में "मूल्यवान

---

इतिहास है। दूसरी ओर, दोन कियोत बहुत पहले अपनी इस ग़लत समझ का ख़मियाजा अदा कर चुका है कि मध्य युग के सूरमा सरदारों जैसा आचरण समाज के सभी आर्थिक रूपों से मेल खा सकता है।

[1] *"Observations on certain verbal disputes in Political Economy, particularly relating to Value, and to Demand and Supply"* ('अर्थशास्त्र के कुछ शाब्दिक विवादों के विषय में, ख़ासकर मूल्य और मांग तथा पूर्ति से सम्बंध रखने वाले विवादों के विषय में, कुछ विचार'), London, 1821, पृ० १६।

होता है।"[1] अभी तक किसी रासायनिक ने न तो मोती में विनिमय-मूल्य खोजा है और न ही हीरे में। लेकिन इस रासायनिक तत्त्व के आर्थिक आविष्कारकों को, जिनका आलोचना के क्षेत्र में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि रखने का दावा है, पता लगता है कि वस्तुओं में उपयोग-मूल्य उनके भौतिक गुणों से स्वतंत्र होता है, जब कि उनका मूल्य, इसके विपरीत, वस्तुओं के रूप में उनका अंश होता है। जो बात उनके इस विचार को और पक्का कर देती है, वह यह विचित्र तथ्य है कि वस्तुओं का उपयोग-मूल्य विनिमय के बिना ही, मनुष्य के साथ इन वस्तुओं के सीधे सम्बंध के जरिये, प्रत्यक्ष रूप में सामने आ जाता है, जब कि, दूसरी तरफ़, उनका मूल्य केवल विनिमय के द्वारा, अर्थात् एक सामाजिक प्रक्रिया के जरिये ही, प्रत्यक्षतः सम्मुख आता है। इस सम्बंध में हमारे भले मित्र डोगबेरी की किसको याद न आयेगी, जिसने अपने पड़ोसी सीकोल से कहा था कि "सुन्दरता भाग्य की देन होती है, पर लिखना-पढ़ना प्रकृति से मिलता है।"[2]

[1] S. Bailey, उप० पु०, पृष्ठ १६५।

[2] "*Observations*" के लेखक और एस० बेली ने रिकार्डो पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने विनिमय-मूल्य को सापेक्ष से निरपेक्ष चीज़ में बदल दिया है। सचाई इसकी उल्टी है। वस्तुओं के बीच में, जैसे हीरों और मोतियों के बीच में, जो ऊपरी सम्बंध होता है, यानी जिस संबंध में वस्तुएं विनिमय-मूल्यों के रूप में सामने आती हैं, रिकार्डो ने उसका विश्लेषण किया है और दिखावटी सम्बंध के पीछे छिपे हुए असली सम्बंध को खोलकर बताया है कि यह केवल मानव-श्रम की अभिव्यंजनाओं का सम्बंध है। यदि रिकार्डो के अनुयायियों ने बेली को किसी क़दर कठोर उत्तर दिया है और यदि फिर भी वे उनको समुचित उत्तर नहीं दे पाये हैं, तो इसका कारण हमें इस बात में खोजना चाहिए कि इन लोगों को रिकार्डो की अपनी रचनाओं में कोई ऐसी कुंजी नहीं मिल सकी थी, जिससे वे मूल्य तथा उसके रूप – विनिमय-मूल्य – के बीच विद्यमान गुप्त सम्बंधों को समझ सकते।

## दूसरा अध्याय

## विनिमय

यह बात साफ़ है कि माल खुद मण्डी में जाकर अपने आप अपना विनिमय नहीं कर सकते। इसलिए इस मामले में हमें उनके संरक्षकों का सहारा लेना होगा, जो कि उनके मालिक भी होते हैं। माल वस्तु होते हैं, और इसलिये उनमें मनुष्य का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं होती। यदि उनमें नम्रता का प्रभाव हो, तो मनुष्य बल-प्रयोग कर सकता है; दूसरे शब्दों में, वह जबर्दस्ती उनपर अधिकार कर सकता है।[1] इसलिये कि इन वस्तुओं के बीच मालों के रूप में सम्बंध स्थापित हो सके, यह जरूरी है कि उनके संरक्षक ऐसे व्यक्तियों के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित करें, जिनकी इच्छा इन वस्तुओं का नियमन करती हो, और इस तरह का व्यवहार करें कि उनमें से किसी को भी दोनों की रजामन्दी से की हुई कार्रवाई के सिवा और किसी तरह दूसरे का माल हथियाने का मौक़ा न मिले और न किसी को अपने माल से हाथ ही धोना पड़े। अतः, मालों के संरक्षकों को एक दूसरे के निजी स्वामित्व के अधिकार को मानना पड़ेगा। यह क़ानूनी सम्बंध, जो इस प्रकार अपने को किसी समझौते के रूप में व्यक्त करता है, – चाहे वह समझौता किसी विकसित क़ानूनी प्रणाली का अंग हो या न हो – दो इच्छाओं का सम्बंध होता है, और वह उन दोनों के वास्तविक आर्थिक सम्बंध का प्रतिबिम्ब मात्र ही होता है। यह आर्थिक सम्बंध ही प्रत्येक ऐसी क़ानूनी कार्रवाई की विषय-वस्तु को निर्धारित करता है।[2] व्यक्तियों का एक दूसरे के लिये केवल मालों के प्रतिनिधियों के रूप में

---

[1] १२ वीं सदी में, जो कि अपनी धर्म-भीरू वृत्ति के लिए विख्यात थी, कुछ बहुत ही नाज़ुक चीज़ें भी मालों में गिनी जाती थीं। चुनांचे, उस काल के एक फ़ांसीसी कवि ने लांदित की मण्डी में मिलने वाले सामान में न सिर्फ़ कपड़े, जूते, चमड़ा, खेती के औज़ार आदि गिनाये हैं, बल्कि "femmes folles de leur corps" (वेश्याओं) का भी जिक्र किया है।

[2] प्रूधों इस तरह शुरू करते हैं कि मालों के उत्पादन से मेल खाने वाले क़ानूनी सम्बंधों से न्याय का अपना आदर्श, "justice èternelle" ("शाश्वत न्याय") की अपनी कल्पना, उधार ले लेते हैं, और यह भी कहा जा सकता है कि इस तरह वह यह साबित कर देते हैं – और इससे सभी भले नागरिकों को बड़ी सांत्वना भी मिलती है – कि मालों का उत्पादन उत्पादन का उतना ही शाश्वत रूप है, जितना शाश्वत न्याय है। उसके बाद वह पलटकर मालों के वास्तविक उत्पादन में और उससे मेल खाने वाली क़ानूनी व्यवस्था में अपने इस आदर्श के अनुसार सुधार करना चाहते हैं। उस रासायनिक के बारे में हमारी क्या राय होगी, जो पदार्थ के

और इसलिये मालों के मालिकों के रूप में अस्तित्व होता है। अपनी खोज के दौरान में हम आम तौर पर यह पायेंगे कि आर्थिक रंगमंच पर आने वाले पात्र केवल उनके बीच पाये जाने वाले आर्थिक सम्बंधों के ही साकार रूप होते हैं।

किसी माल और उसके मालिक में प्रमुख अन्तर यह होता है कि माल दूसरे हरेक माल को खुद अपने मूल्य के अभिव्यक्त होने का रूप मात्र समझता है। माल जन्म से ही हर प्रकार की ऊंच-नीच को बराबर करता चलता है और सर्वथा आस्थाहीन होता है। वह न केवल अपनी आत्मा का, बल्कि अपने शरीर तक का किसी भी दूसरे माल के साथ विनिमय करने को सदा तैयार रहता है, भले ही वह माल खुद मारितोर्नेस से भी ज्यादा घिनौना क्यों न हो। माल में यथार्थ को पहचानने की क्षमता के इस अभाव को उस माल का मालिक अपनी पांच या इस से भी अधिक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पूरा कर देता है। खुद उसके लिये अपने माल का कोई तात्कालिक उपयोग-मूल्य नहीं होता। अन्यथा वह उसे मंडी में लेकर न आता। उसका दूसरों के लिये उपयोग-मूल्य होता है, लेकिन खुद अपने मालिक के लिये उसका केवल यही प्रत्यक्ष उपयोग-मूल्य होता है कि वह विनिमय-मूल्य का भण्डार और इसलिये विनिमय का साधन होता है।[1] चुनांचे, माल का मालिक तै कर लेता है कि वह अपने माल का ऐसे मालों से विनिमय करेगा, जिनका उपयोग-मूल्य उसके काम आ सकता है। सभी मालों के बारे में यह बात सच है कि वे अपने मालिकों के लिये उपयोग-मूल्य नहीं होते, और जो उनके मालिक नहीं हैं, उनके लिये वे उपयोग-मूल्य होते हैं। चुनांचे, सभी मालों के लिये जरूरी है कि वे एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जायें। लेकिन एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाना ही तो विनिमय है, और वह विनिमय मूल्यों के रूप में उनका एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित कर देता है और मालों को

---

संयोग और विच्छेदन में अणु सम्बंधी परिवर्तनों के वास्तविक नियमों का अध्ययन करने और उसकी बुनियाद पर निश्चित समस्याओं को हल करने के बजाय "naturalité" ("स्वाभाविकता") और "affinité" ("बंधुता") के "शाश्वत विचारों" की सहायता से पदार्थ के संयोग और विच्छेदन का नियमन करने का दावा करता है? जब हम यह कहते हैं कि सूदखोरी "justice éternelle" ("शाश्वत न्याय"), "équite éternelle" ("शाश्वत साम्य"), "mutualité éternelle" ("शाश्वत पारस्परिकता") और अन्य "vérités éternelles" ("शाश्वत सत्यों") के ख़िलाफ़ जाती है, तब क्या हमें उससे सूदख़ोरी के बारे में सचमुच कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है, जो ईसवी सन की पहली शताब्दियों के ईसाई लेखकों की इन उक्तियों से प्राप्त होती कि सूदख़ोरी "grâce éternelle", "foi éternelle" ("शाश्वत अनुकम्पा", "शाश्वत विश्वास") और "la volonté éternelle de Dieu" ("भगवान की शाश्वत इच्छा") के प्रतिकूल है?

[1] "कारण कि हर वस्तु का दोहरा उपयोग होता है... एक उपयोग ख़ुद उस वस्तु की विशेषता होता है, दूसरा नहीं; जैसे कि चप्पल पहनी जा सकती है और उसका विनिमय भी किया जा सकता है। ये दोनों चप्पल के ही उपयोग हैं, क्योंकि जो आदमी उस मुद्रा या अनाज के साथ चप्पल का विनिमय करता है, जिसकी उसे जरूरत होती है, वह भी चप्पल का चप्पल के रूप में ही उपयोग करता है। लेकिन वह प्राकृतिक ढंग से उसका उपयोग नहीं करता। कारण कि चप्पल विनिमय करने के लिए नहीं बनायी गयी थी।" (Aristoteles, "*De Republica*" [अरस्तू, 'प्रजातंत्र'], खण्ड १, अध्याय ६।)

मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने का अवसर देता है। इसलिये, मालों के उपयोग-मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने के पहले यह जरूरी है कि वे मूल्यों के रूप में व्यवहार में आयें।

दूसरी ओर, मालों के मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने के पहले उनका यह जाहिर करना जरूरी है कि वे उपयोग-मूल्य हैं। कारण कि उनपर खर्च किये गये श्रम का महत्व केवल उसी हद तक होता है, जिस हद तक कि वह ऐसे ढंग से खर्च किया जाता है, जो दूसरों के लिये उपयोगी हो। वह श्रम दूसरों के लिये उपयोगी है या नहीं और चुनांचे उससे पैदा होने वाली वस्तु दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने की योग्यता रखती है या नहीं, यह केवल विनिमय-कार्य द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

माल का प्रत्येक मालिक केवल ऐसे मालों से उसका विनिमय करना चाहता है, जिनके उपयोग-मूल्य से उसकी कोई आवश्यकता पूरी होती हो। इस दृष्टि से विनिमय उस के लिये केवल एक निजी सौदा होता है। दूसरी ओर, वह यह चाहता है कि उसके माल के मूल्य को मूर्त्त रूप प्राप्त हो, यानी उसका माल समान मूल्य के किसी अन्य उपयुक्त माल में बदल जाये, भले ही दूसरे माल के मालिक के लिये उसके अपने माल का कोई उपयोग-मूल्य हो या न हो। इस दृष्टि से विनिमय उसके लिये एक सामान्य ढंग का सामाजिक सौदा होता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि सौदों की कोई एक ही तरतीब मालों के सभी मालिकों के लिये एक ही समय में विशुद्ध निजी चीज भी हो और विशुद्ध सामाजिक एवं सामान्य चीज भी।

आइये, इस मामले की थोड़ी और गहराई में जायें। किसी भी माल के मालिक के लिये दूसरा हरेक माल उसके अपने माल का एक विशिष्ट सम-मूल्य होता है और इसलिये खुद उसका माल बाक़ी सब मालों का सार्वत्रिक सम-मूल्य होता है। लेकिन चूंकि यह बात हर मालिक पर लागू होती है, इसलिये वास्तव में कोई माल सार्वत्रिक सम-मूल्य का काम नहीं करता और मालों के सापेक्ष मूल्य का कोई ऐसा सामान्य रूप नहीं होता, जिसमें उनका मूल्यों के रूप में समीकरण किया जा सके और उनके मूल्यों के परिमाण का मुक़ाबला किया जा सके। इसलिये अभी तक माल मालों के रूप में एक दूसरे का सामना नहीं करते, बल्कि केवल पैदावार के रूप में, या उपयोग-मूल्यों के रूप में, एक दूसरे के सामने आते हैं। इस कठिनाई के पैदा होने पर हमारे मालों के मालिक फ़ौस्ट की तरह सोचते हैं कि "Im Anfang war die That" ("शुरुआत अमल से हुई थी")। चुनांचे, उन्होंने सोचने के पहले अमल किया और सौदा कर डाला। मालों का स्वभाव जिन नियमों को अनिवार्य बना देता है, उनका वे सहज प्रवृत्ति से पालन करते हैं। अपने मालों का मूल्यों के रूप में और इसलिये मालों के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित करने का उनके सामने सिर्फ़ यही एक तरीक़ा है कि अपने मालों का सार्वत्रिक सम-मूल्य के रूप में किसी और माल के साथ मुक़ाबला करें। यह बात हम माल के विश्लेषण से जान चुके हैं। लेकिन कोई खास माल केवल एक सामाजिक कार्रवाई से ही सार्वत्रिक सम-मूल्य बन सकता है। इसलिये बाक़ी सब मालों की सामाजिक कार्रवाई उस खास माल को अलग कर देती है, जिसके रूप में वे सब अपने मूल्यों को व्यक्त करते हैं। चुनांचे, इस माल का शारीरिक रूप सामाजिक तौर पर मान्य सार्वत्रिक सम-मूल्य का रूप बन जाता है। इस सामाजिक क्रिया के परिणामस्वरूप सार्वत्रिक सम-मूल्य होना उस माल का खास काम बन जाता है, जिसे बाक़ी माल इस तरह अपने से अलग कर देते हैं। इस प्रकार वह माल बन जाता है—मुद्रा। "Illi unum consilium habent et virtutem et potestatem suam bestiae tradunt. Et ne quis possit emere aut vendere, nisi qui habet characterem aut nomen bestiae, aut numerum nominis

ejus" (Apocalypse) ("इनका एक सा विचार होता है और वे सब अपनी शक्ति और अपना अधिकार हैवान को सौंप देंगे। और सिवाय उस आदमी के, जिसके ऊपर हैवान का निशान होगा या जिसके पास उसका नाम या उसके नाम का हिन्दसा होगा, और कोई न तो ख़रीद पायेगा और न बेच पायेगा।" – अपोकलिप्स, अध्याय १७, २३ और अध्याय १३, १७)।

मुद्रा एक ऐसा स्फटिक है, जिसका विनिमयों की क्रिया के दौरान में अनिवार्य रूप से निर्माण हो जाता है और जिसके द्वारा श्रम से पैदा होने वाली अलग-अलग वस्तुओं का व्यावहारिक रूप में एक दूसरे के साथ समीकरण किया जाता है और इस तरह उनको व्यवहार में मालों में बदल दिया जाता है। मालों में उपयोग-मूल्य और मूल्य का जो व्यतिरेक छिपा रहता है, उसे विनिमयों की ऐतिहासिक प्रगति और उनका विस्तार विकसित करता है। व्यापारिक आदान-प्रदान के लिये इस व्यतिरेक को चूंकि बाह्य रूप से अभिव्यक्त करना ज़रूरी होता है, इसलिये मूल्य के एक स्वतंत्र रूप की स्थापना की आवश्यकता बढ़ती जाती है, और यह क्रिया उस वक़्त तक जारी रहती है, जब तक कि मालों के मालों और मुद्रा में बंट जाने के फलस्वरूप यह आवश्यकता सदा-सदा के लिये पूरी नहीं हो जाती। अतएव, जिस गति से श्रम से उत्पन्न होने वाली वस्तुएं मालों में परिणत होती हैं, उसी गति से एक ख़ास माल मुद्रा में भी बदलता जाता है।[1]

श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं का सीधा विनिमय एक दृष्टि से तो मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना का प्राथमिक रूप प्राप्त कर लेता है, लेकिन एक दूसरी दृष्टि से ऐसा नहीं करता। यह प्राथमिक रूप है: 'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण। सीधी अदला-बदली का रूप यह होता है: 'क' उपयोग-मूल्य का 'प' परिमाण = 'ख' उपयोग-मूल्य का 'फ' परिमाण।[2] इस अवस्था में 'क' और 'ख' नामक वस्तुएं अभी माल नहीं बन पायी हैं, बल्कि वे केवल अदला-बदली के ज़रिये ही माल बनती हैं। कोई भी उपयोगी वस्तु विनिमय-मूल्य प्राप्त करने की ओर उस समय पहला क़दम उठाती है, जब वह अपने मालिक के लिये उपयोग-मूल्य नहीं रह जाती, और वह उस समय होता है, जब वह अपने मालिक की तात्कालिक आवश्यकताओं के लिये ज़रूरी किसी वस्तु का फ़ाज़िल भाग बनती है। वस्तुओं का मनुष्य से अलग अस्तित्व होता है, और इसलिये मनुष्य उनको हस्तांतरित कर सकता है। हस्तांतरण की यह क्रिया दोनों तरफ़ से हो, इसके लिये केवल यह ज़रूरी है कि लोग एक मौन

---

[1] इससे हम निम्न-पूंजीवादी समाजवाद की चतुराई का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, जो मालों के उत्पादन को तो ज्यों का त्यों क़ायम रखना चाहता है, पर मुद्रा और मालों के "विरोध" को मिटा देना चाहता है, और चूंकि मुद्रा का अस्तित्व केवल इस विरोध के कारण ही होता है, इसलिए वह ख़ुद मुद्रा को ही मिटा देना चाहता है। तब तो हम पोप को मिटाकर कैथोलिक सम्प्रदाय को क़ायम रखने की चेष्टा भी कर सकते हैं। इस विषय के बारे में और जानने के लिये देखिये मेरी रचना "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), पृ० ६१ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] जब तक कि दो अलग-अलग उपयोग-मूल्यों का विनिमय होने के बजाय किसी एक वस्तु के सम-मूल्य के रूप में नाना प्रकार की अनेक वस्तुएं दी जाती हैं, तब तक पैदावार की सीधी अदला-बदली भी अपनी बाल्यावस्था के प्रथम चरण में ही रहती है। जंगली लोगों में अक्सर ऐसा होता है।

समझौते के द्वारा इन हस्तांतरित करने योग्य वस्तुओं पर निजी स्वामित्व रखने वालों के रूप में और चुनांचे स्वाधीन व्यक्तियों के रूप में एक दूसरे के साथ व्यवहार करें। लेकिन सामूहिक सम्पत्ति पर आधारित आदिम समाज में ऐसी पारस्परिक स्वाधीनता की स्थिति नहीं होती, चाहे वह समाज पितृसत्तात्मक परिवार के रूप में हो, चाहे प्राचीन हिन्दुस्तानी ग्राम-समुदाय के रूप में, और चाहे वह पेरू देश के इंका राज्य के रूप में हो। इसलिये मालों का विनिमय शुरू में ऐसे समाजों के सीमान्त प्रदेशों में ऐसे स्थानों पर आरम्भ होता है, जहां उन समाजों का उसी प्रकार के अन्य समाजों से, अथवा उनके सदस्यों से, सम्पर्क क़ायम होता है। परन्तु श्रम से उत्पन्न वस्तुएं जैसे ही किसी समाज के बाहरी सम्बंधों में माल बन जाती हैं, वैसे ही, इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, उसके अन्दरूनी व्यवहार में भी उनका यही रूप हो जाता है। शुरू में उनका किन अनुपातों में विनिमय होता है, यह बात केवल संयोग पर निर्भर रहती है। उनका विनिमय इसलिये सम्भव होता है कि उनके मालिकों में उनको हस्तांतरित करने की इच्छा होती है। इस बीच दूसरों की उपयोगी वस्तुओं की ज़रूरत धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ती जाती है। लगातार दोहराये जाने के फलस्वरूप विनिमय एक साधारण सामाजिक कृत्य बन जाता है। इसलिये कुछ समय बाद यह ज़रूरी हो जाता है कि श्रम की पैदावार का कुछ हिस्सा ज़रूर ख़ास विनिमय के उद्देश्य से तैयार किया जाये। बस उसी क्षण से उपयोग की दृष्टि से किसी भी वस्तु की उपभोग-उपयोगिता और विनिमय की दृष्टि से उसकी उपयोगिता का भेद साफ़ तौर पर पक्का हो जाता है। उसका उपयोग-मूल्य उसके विनिमय-मूल्य से अलग हो जाता है। दूसरी ओर, यह बात कि वस्तुओं का विनिमय किन परिमाणात्मक अनुपातों में हो सकता है, ख़ुद उनके उत्पादन पर निर्भर करने लगती है। रिवाज वस्तुओं पर निश्चित परिमाणों के मूल्यों की छाप अंकित कर देता है।

पैदावार के सीधे विनिमय में हरेक माल अपने मालिक के लिये प्रत्यक्ष ढंग से विनिमय का साधन होता है, और दूसरे तमाम व्यक्तियों के लिये वह सम-मूल्य होता है, लेकिन केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि उसमें इन व्यक्तियों के लिये उपयोग-मूल्य होता है। इसलिये, इस अवस्था में विनिमय की जाने वाली वस्तुओं को ख़ुद अपने उपयोग-मूल्य से स्वतंत्र, या विनिमय करने वालों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से स्वतंत्र, कोई मूल्य-रूप प्राप्त नहीं होता। जैसे-जैसे विनिमय-मालों की संख्या और विविधता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे किसी मूल्य-रूप की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। समस्या और उसको हल करने के साधन एक साथ पैदा होते हैं। मालों के मालिक अपने मालों का दूसरे लोगों के मालों के साथ समीकरण और विनिमय उस वक़्त तक बड़े पैमाने पर नहीं करते हैं, जब तक कि अलग-अलग मालिकों के विभिन्न प्रकार के मालों का किसी एक ख़ास माल के साथ विनिमय करना और मूल्यों के रूप में समीकरण करना सम्भव नहीं हो जाता। ऐसा कोई ख़ास माल अन्य विभिन्न मालों का सम-मूल्य बन जाने के फलस्वरूप तुरन्त ही एक सामान्य सामाजिक सम-मूल्य का स्वरूप धारण कर लेता है, हालांकि उसका यह स्वरूप कुछ संकुचित सीमाओं तक ही सीमित रहता है। जिन क्षणिक सामाजिक कृत्यों के कारण यह स्वरूप जन्म लेता है, वह उनके साथ ही प्रकट और लोप होता रहता है। बारी-बारी से और थोड़ी-थोड़ी देर के लिये यह रूप कभी इस माल में प्रकट होता है, तो कभी उस माल में। लेकिन विनिमय के विकास के साथ-साथ वह केवल कुछ ख़ास ढंग के मालों के साथ ही कसकर और अनन्य रूप से जुड़ जाता है, और मुद्रा-रूप धारण करने के फलस्वरूप उसका स्फटिकीकरण हो जाता है। पहले-पहल यह स्वरूप किस ख़ास माल से जुड़ता है, यह संयोग

की बात होती है। फिर भी दो बातों का प्रभाव निर्णयात्मक होता है। मुद्रा-रूप या तो बाहर से आने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण विनिमय की वस्तुओं के साथ जुड़ जाता है,—और सच पूछिये, तो घरेलू पैदावार के विनिमय-मूल्य के अभिव्यंजना प्राप्त करने के आदिम और स्वाभाविक रूप ये वस्तुएं ही होती हैं,—और या वह ढोर जैसी किसी ऐसी उपयोगी वस्तु के साथ जुड़ जाता है, जो हस्तांतरित करने योग्य स्थानीय दौलत का मुख्य हिस्सा हो। खानाबदोश क़ौमें सबसे पहले मुद्रा-रूप को विकसित करती हैं, क्योंकि उनकी सारी दुनियावी दौलत चल वस्तुओं के रूप में होती है और इसलिये उसे सीधे तौर पर हस्तांतरित किया जा सकता है, और क्योंकि उनके जीवन का ढंग ही ऐसा होता है कि परदेशी समुदायों से उनका निरन्तर सम्पर्क क़ायम होता रहता है और इसलिये उनके लिये पैदावार का विनिमय जरूरी हो जाता है। मनुष्य ने अक्सर खुद मनुष्य से, दासों के रूप में, मुद्रा की आदिम सामग्री का काम लिया है, लेकिन इस उद्देश्य के लिये उसने जमीन का उपयोग कभी नहीं किया है। इस प्रकार का विचार केवल अच्छी तरह विकसित पूंजीवादी समाज में ही जन्म ले सकता था। सत्रहवीं सदी की आख़िरी तिहाई में यह विचार पहले-पहल सामने आया, और उसे राष्ट्र-व्यापी पैमाने पर अमल में लाने की पहली कोशिश उसके सौ बरस बाद, फ़्रांस की पूंजीवादी क्रान्ति के ज़माने में हुई।

जिस अनुपात में विनिमय अपने स्थानीय बंधनों को तोड़ता जाता है और मालों का मूल्य अधिकाधिक विस्तार प्राप्त करके अमूर्त मानव-श्रम का मूर्त रूप बनता जाता है, उसी अनुपात में मुद्रा का स्वरूप उन मालों के साथ जुड़ता जाता है, जो क़ुदरती तौर पर सार्वत्रिक सम-मूल्य का सामाजिक कार्य करने के लिये उपयुक्त हैं। बहुमूल्य धातुएं ही इस तरह के माल होती हैं।

कहा जाता है कि "सोना और चांदी यद्यपि स्वभाव से मुद्रा नहीं होते, तथापि मुद्रा स्वभाव से सोना और चांदी होती है।"[1] इस स्थापना की सचाई इस बात से सिद्ध हो जाती है कि इन धातुओं के शारीरिक गुण मुद्रा का काम करने के लिये उपयुक्त होते हैं।[2] लेकिन अभी तक हमने मुद्रा के केवल एक ही काम का परिचय प्राप्त किया है, यानी अभी तक हमने मुद्रा का एक यही काम देखा है कि वह मालों के मूल्य की अभिव्यक्ति के रूप की तरह, या उस पदार्थ के रूप में काम में आती है, जिसमें मालों के मूल्यों के परिमाण सामाजिक तौर पर व्यक्त होते हैं। केवल वही पदार्थ मूल्य को पर्याप्त ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है, केवल वही पदार्थ अमूर्त, अभिन्नित और अतएव समान मानव-श्रम का साकार रूप बनने के योग्य हो सकता है, जिसके हरेक नमूने में एक से, समरूप गुण पाये जाते हों। दूसरी ओर, चूंकि मूल्यों के परिमाणों का अन्तर विशुद्ध परिमाणात्मक होता है, इसलिये मुद्रा का काम करने वाला माल ऐसा होना चाहिये, जिसके अलग-अलग नमूनों में केवल परिमाणात्मक भेद किया जा सके, जिसको चुनांचे इच्छानुसार बांटा जा सके और इच्छानुसार फिर से जोड़ा जा सके। सोने और चांदी में ये गुण प्रकृति के दिये हुए होते हैं।

---

[1] Karl Marx, उप० पु०, पृ० १३५। "I metalli... naturalmente moneta." ["धातुएं... स्वभावतः मुद्रा होती हैं।"] (Galiani, "*Della Moneta*", Custodi के संग्रह के Parte Moderna, ग्रंथ ३, में।)

[2] इस विषय की और विस्तृत जानकारी हासिल करने के लिये मेरी उपर्युक्त रचना का 'बहुमूल्य धातुओं' वाला अध्याय देखिये।

मुद्रा बन जाने वाले माल का दोहरा उपयोग-मूल्य हो जाता है। माल के रूप में उसका जो विशिष्ट उपयोग-मूल्य होता है (मिसाल के लिये, सोना दांत में भरने के काम में आता है और उससे तरह-तरह की विलास की वस्तुएं बनायी जाती हैं, इत्यादि), उसके अलावा वह एक औपचारिक उपयोग-मूल्य भी प्राप्त कर लेता है, जो उसके ख़ास ढंग के सामाजिक कार्य द्वारा उसमें पैदा हो जाता है।

चूंकि तमाम माल मुद्रा के अलग-अलग सम-मूल्य मात्र होते हैं और मुद्रा उनका सार्वत्रिक सम-मूल्य होती है, इसलिये सार्वत्रिक माल के रूप में मुद्रा के सम्बंध में वे विशिष्ट मालों की भूमिका अदा करते हैं।[1]

हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा-रूप केवल एक माल में बाक़ी सब मालों के मूल्य के सम्बंधों का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। इसलिये मुद्रा का माल होना[2] केवल उन्हीं लोगों के लिये एक नया आविष्कार है, जो जब मुद्रा का विश्लेषण करने बैठते हैं, तो उसके पूरी तरह विकसित रूप से आरम्भ करते हैं। मुद्रा में बदल जाने वाले माल को विनिमय-कार्य से अपना मूल्य नहीं, बल्कि विशिष्ट मूल्य-रूप प्राप्त होता है। इन दो अलग-अलग चीज़ों को आपस में गड़बड़ा देने का नतीजा यह हुआ है कि कुछ लेखक सोने और चांदी के मूल्य को काल्पनिक समझने लगे हैं।[3] इस बात से कि जहां तक मुद्रा के कुछ ख़ास कामों का सम्बंध है, उसे महज़ उसके प्रतीकों से

---

[1] "Il danaro é la merce universale" ["मुद्रा सार्वत्रिक वाणिज्य-वस्तु होती है"] (Verri, उपर्युक्त रचना, पृ० १६)।

[2] "सोना और चांदी ख़ुद (जिनको हम कलधौत का सामान्य नाम भी दे सकते हैं)... माल होते हैं... जिनका मूल्य... घटता-बढ़ता रहता है... अतः कलधौत का मूल्य उस समय ऊंचा समझा जायेगा, जब उसका अपेक्षाकृत कम वज़न देश की कृषि-पैदावार अथवा कल-कारख़ानों के बने सामान की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा ख़रीद सकेगा," इत्यादि। (*"A Discourse of the General Notions of Money, Trade, and Exchanges, as They Stand in Relation each to other."* By a Merchant. ['मुद्रा, व्यापार तथा विनिमय के सामान्य विचारों एवं उनके पारस्परिक सम्बंधों के विषय में एक निबन्ध।' एक व्यापारी द्वारा लिखित।] London, 1695, पृ० ७।) "हालांकि सोना और चांदी–चाहे वे सिक्के के रूप में हों या न हों, –दूसरी तमाम वस्तुओं के मापदण्ड के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं, फिर भी वे माल ही होते हैं–ठीक उसी तरह, जैसे शराब, तेल, तम्बाकू, कपड़ा या और सामान माल होता है।" (*"A Discourse concerning Trade, and that in particular of the East Indies,"* etc. ['व्यापार के विषय में, ख़ास तौर पर ईस्ट इण्डीज़ के व्यापार के विषय में एक निबन्ध,' इत्यादि], London, 1689, पृ० २।) "राज्य के स्टाक तथा धन को मुद्रा तक ही सीमित कर देना उचित नहीं है, और न ही सोने और चांदी को वाणिज्य-वस्तुओं की श्रेणी के बाहर रखा जा सकता है।" (*"The East-India Trade a Most Profitable Trade"* ['ईस्ट इण्डिया का व्यापार सबसे अधिक लाभदायक व्यापार है'], London, 1677, पृ० ४।)

[3] ("L'oro e lárgento hanno valore come metalli anteriore all' esser moneta" ["सोने और चांदी में मुद्रा होने के पहले धातुओं के रूप में मूल्य होता है"] (Galiani उप० पु०)"। लॉक ने कहा है: "चांदी को उसके उन गुणों के कारण, जिनसे वह मुद्रा बनने के योग्य हो गयी थी, मनुष्य-जाति की सार्वत्रिक सम्पति से

बदला जा सकता है,—इस बात से यह दूसरा भ्रम पैदा होता है कि मुद्रा खुद भी महज एक प्रतीक ही है। फिर भी इस भ्रम के पीछे यह अनुमान छिपा हुआ था कि किसी भी वस्तु का मुद्रा-रूप उस वस्तु का अविच्छिन्न भाग नहीं होता, बल्कि केवल वह रूप भर होता है, जिसमें कुछ सामाजिक सम्बंध अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ में तो प्रत्येक माल प्रतीक है, क्योंकि जिस हद तक वह मूल्य होता है, उस हद तक वह अपने ऊपर खर्च किये गये मानव-श्रम का भौतिक आवरण मात्र होता है।[1] लेकिन जहां यह कहा जाता है कि उत्पादन की एक निश्चित प्रणाली के

---

एक काल्पनिक मूल्य प्राप्त हो गया।" दूसरी ओर, ला ने लिखा है: "किसी एक ही चीज़ को अलग-अलग क़ौमें एक काल्पनिक मूल्य कैसे दे सकती थीं... या यह काल्पनिक मूल्य अपने को कैसे क़ायम रख सकता था?" लेकिन नीचे दिये गये शब्दों से ज़ाहिर होता है कि इस मामले को वह ख़ुद कितना कम समझ पाये थे: "चांदी का विनिमय उसके उपयोग-मूल्य के अनुपात में होता था, यानी उसका विनिमय उसके वास्तविक मूल्य के अनुपात में होता था। जब वह मुद्रा के रूप में अपना ली गयी, तो उसे एक अतिरिक्त मूल्य (une valeur additionnelle) प्राप्त हो गया।" (Jean Law: *"Considérations sur le numéraire et le commerce"*, *"Economistes Financiers du XVIII siècle"* के E. Daire के संस्करण में, पृ० ४७०।)

[1] "L' argent en (des denrées) est le signe" ["मुद्रा उनका (मालों का) प्रतीक होती है"] (V. de Forbonnais: *"Elèments du Commerce"*, नया संस्करण, Leyde, 1766, ग्रंथ २, पृ० १४३)। "Comme signe il est attiré par les denrées" ["प्रतीक के रूप में उसे माल अपनी ओर आकर्षित करते हैं"] (उप० पु० पृ०, १५५)। "L'argent est un signe d'une chose et la représente" ["मुद्रा किसी वस्तु का प्रतीक होती है और उसका प्रतिनिधित्व करती है"] (Montesquieu, *"Esprit des Loix"*. Oeuvres, London, 1767, ग्रंथ २, पृ० २)। "L'argent n'est pas simple signe, car il est lui-même Richesse; il ne représente pas les valeurs, il les équivaut" ["मुद्रा केवल एक प्रतीक नहीं है, कारण कि वह ख़ुद दौलत होती है; वह मूल्यों का प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि उनका सम-मूल्य होती है"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ९१०)। "मूल्य के विचार के सिलसिले में मूल्यवान वस्तु केवल एक प्रतीक के रूप में सामने आती है; वस्तु स्वयं जो कुछ होती है, उसका कोई महत्त्व नहीं होता, बल्कि वस्तु की जो क़ीमत होती है, महत्त्व उसका होता है" (Hegel, उप० पु०, पृ० १००)। अर्थशास्त्रियों से बहुत पहले वकीलों ने इस विचार का श्रीगणेश किया था कि मुद्रा एक प्रतीक मात्र होती है और बहुमूल्य धातुओं का मूल्य केवल काल्पनिक होता है। उन्होंने समूचे मध्य युग में राजाओं की चाटुकारितापूर्ण सेवकाई और राजाओं के सिक्कों में खोट मिलाने के अधिकार का समर्थन करने के लिए ऐसा किया। इसके लिये उन्होंने रोमन साम्राज्य की परम्पराओं तथा मुद्रा के सम्बंध में पांडेक्ट्स नामक क़ानून के ग्रंथ में पायी जाने वाली धारणाओं की दुहाई दी। इन वकीलों के योग्य शिष्य वलुई के फ़िलिप ने १३४६ के एक आदेश में कहा है: "Qu'aucun puisse ni doive faire doute, que à nous et à notre majesté royale n'appartiennent seulement ... le mestier, le fait, l'état, la provision et toute l'ordonnance des monnaies, de donner tel cours, et pour tel prix comme il nous

अन्तर्गत वस्तुओं द्वारा धारण किये गये सामाजिक रूप, अथवा श्रम के सामाजिक गुणों के भौतिक रूप, प्रतीक मात्र होते हैं, वहां उसी सांस में हमसे यह भी कहा जाता है कि ये रूप मनमानी कपोल-कल्पना मात्र हैं, जिनको मनुष्य-जाति की तथाकथित सार्वजनिक सम्मति से मान्यता मिल गयी है। अठारहवीं सदी में जिस ढंग की व्याख्या का चलन था, उसके साथ यह बात मेल खाती थी। मनुष्य के साथ मनुष्य के सामाजिक सम्बंधों ने दिमाग़ को उलझन में डाल देने वाले जो रूप धारण कर लिये थे, लोग जब उनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बता पाते थे, तब वे उनका कोई रूढ़िगत कारण बताकर उनके विचित्र स्वरूप को ख़तम कर देने की कोशिश करते थे।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी माल के सम-मूल्य रूप का अर्थ यह नहीं होता कि उसके मूल्य का परिमाण भी निर्धारित हो गया है। इसलिये हम भले ही यह जानते हों कि सोना मुद्रा होता है और चुनांचे दूसरे सभी मालों से उसका सीधा विनिमय किया जा सकता है, फिर भी इस बात से हमें इसका कोई ज्ञान नहीं होता कि, मिसाल के लिये, १० पौंड सोने की कितनी क़ीमत है। दूसरे प्रत्येक माल की भांति सोना भी अपने मूल्य के परिमाण को दूसरे मालों से अपनी तुलना द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। यह मूल्य सोने के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है, और वह व्यक्त होता है अन्य किसी भी माल के उस परिमाण के ज़रिये, जिसके उत्पादन में उतना ही श्रम-काल लगा हो।[1]

---

plait et bon nous semble." ["इस बात में कोई तनिक भी सन्देह नहीं कर सकता और न उसे करना चाहिये कि मुद्राओं का व्यवसाय, वास्तविकता, अवस्था, व्यवस्था और अधिनियम ... केवल हमारे क्षेत्र में और हमारे राज्याधिकार के क्षेत्र में आते हैं; और यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम मुद्राओं को जितना उचित समझें, उतना चला दें, और उनका जितना ठीक समझें, उतना दाम रखें।"] रोमन क़ानून का यह एक बुनियादी सिद्धान्त था कि मुद्रा का मूल्य सम्राट् के आदेश के ज़रिये निश्चित किया जाता था। मुद्रा को माल मानने की कड़ी मनाही थी। "Pecunias vero nulli emere fas erit, nam in usu publico constitutas oportet non esse mercem." ["मुद्रा ख़रीदने का किसी को कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि मुद्रा सार्वजनिक उपयोग के लिये होती है और इसलिये उसको वाणिज्य-वस्तु बना देना उचित नहीं है।"] इस प्रश्न पर जी० एफ़० पागनीनी (G. F. Pagnini) ने कुछ अच्छा काम किया है। देखिये उनकी रचना "*Saggio sopra il giusto pregio delle cose*, 1751", Custodi के "*Parte Moderna*", ग्रंथ २, में। अपनी रचना के दूसरे भाग में पागनीनी ने वकीलों की ख़ास तौर पर ख़बर ली है।

[1] "यदि कोई आदमी, जितने समय में वह एक बुशेल अनाज पैदा कर सकता है, उतने ही समय में पेरू की धरती से एक औंस चांदी निकालकर लन्दन ला सकता है, तो एक बुशेल अनाज और एक औंस चांदी एक दूसरे के स्वाभाविक दाम हैं। अब नयी अथवा पहले से अच्छी खानों के खुल जाने के कारण कोई आदमी यदि पहले जैसी आसानी के साथ एक के बजाय दो औंस चांदी हासिल कर सकता है, तो caeteris paribus (अन्य बातें समान होने पर) अनाज दस शिलिंग फ़ी बुशेल के भाव पर भी उतना ही सस्ता रहेगा, जितना सस्ता वह पहले पांच शिलिंग फ़ी बुशेल के भाव पर था।" (William Petty, "*A Treatise of Taxes and Contributions*" [विलियम पेटी, 'करों और अनुदानों पर एक निबंध'], London, 1667, पृ० ३२।)

उसके सापेक्ष मूल्य को इस प्रकार परिमाणात्मक ढंग से निर्धारित करने का कार्य उसके उत्पादन के मूल स्थान पर अदला-बदली द्वारा किया जाता है। सोने का जब मुद्रा के रूप में परिचलन आरम्भ होता है, तब उसका मूल्य पहले से मालूम होता है। १७ वीं सदी के अन्तिम दशकों तक यह बात प्रमाणित की जा चुकी थी कि मुद्रा भी एक माल होती है। लेकिन यह विश्लेषण की केवल शैशवकालीन अवस्था का क़दम था। कठिनाई यह समझने में नहीं होती कि मुद्रा भी एक माल होती है, बल्कि कठिनाई यह खोजने में सामने आती है कि कोई माल कैसे, क्यों और किन उपायों से मुद्रा बन जाता है।[1] मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना – अर्थात् 'क' माल का 'प' परिमाण = 'ख' माल का 'फ' परिमाण – में हम यह पहले ही देख चुके हैं कि जिस वस्तु में किसी अन्य वस्तु के मूल्य का परिमाण व्यक्त हो जाता है, उसका यह सम-मूल्य रूप ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह इस सम्बंध से स्वतंत्र और प्रकृति का दिया हुआ कोई सामाजिक गुण हो। हम यह भी बता चुके हैं कि यह दिखावटी रूप कैसे उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ होता गया और अन्त में कैसे उसकी स्थापना हुई। जैसे ही सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप किसी खास माल के शारीरिक रूप के साथ एकाकार हो जाता है और इस प्रकार जैसे ही उसका मुद्रा रूप में स्फटिकीकरण हो जाता है, वैसे ही यह दिखावटी रूप अन्तिम तौर पर स्थापित हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सोना इसलिये मुद्रा नहीं बन गया है कि बाक़ी सब माल अपना मूल्य उसके द्वारा व्यक्त करते हैं, बल्कि, इसके विपरीत, बाक़ी सब माल सार्वत्रिक ढंग से इसलिये सोने में अपना मूल्य व्यक्त करते हैं कि सोना मुद्रा है। प्रक्रिया के बीच के क़दम परिणाम में लुप्त हो जाते हैं, और उनका चिन्ह तक कहीं दिखाई नहीं देता। माल देखते हैं कि उनके कुछ किये-धरे बिना ही उनका मूल्य उनके साथ-साथ पाया जाने वाला एक और माल पहले से ही पूरी तरह व्यक्त कर रहा है। ये चीज़ें – सोना और चांदी – पृथ्वी के गर्भ से निकलते

---

[1] विद्वान प्रोफ़ेसर रोश्चेर पहले हमें यह बताकर कि "मुद्रा की झूठी परिभाषाएं दो मुख्य दलों में बांटी जा सकती हैं : वे परिभाषाएं, जो मुद्रा को माल से कुछ अधिक समझती हैं, और वे, जो मुद्रा को माल से कुछ कम समझती हैं", – मुद्रा की प्रकृति के बारे में लिखी गयी अनेक रचनाओं की एक लम्बी और पंचमेल सूची गिना जाते हैं। इस सूची से पता चलता है कि वह मुद्रा के सिद्धान्त के वास्तविक इतिहास की जानकारी के पास तक नहीं फटक पाये हैं। फिर वह हमें यह उपदेश सुनाते हैं कि "जहां तक बाक़ी बातों का सम्बंध है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अधिकतर आधुनिक अर्थशास्त्री उन विलक्षणताओं को पर्याप्त रूप से ध्यान में नहीं रखते, जिनके कारण मुद्रा बाक़ी तमाम मालों से भिन्न होती है" (क्योंकि तब वह आख़िर या तो माल से कुछ अधिक होती है और या उससे कुछ कम होती है!) ... "इस हृद तक गानिल्ह की अर्ध-व्यापारवादी प्रतिक्रिया सर्वथा निराधार नहीं है।" (Wilhelm Roscher, "*Die Grundlagen der Nationaloekonomie*", तीसरा संस्करण, 1858, पृ० २०७-२१०।) कुछ अधिक! कुछ कम! पर्याप्त रूप से नहीं! इस हृद तक! सर्वथा नहीं! वाह, वाह, विचारों और भाषा का कैसा स्पष्ट तथा कितना सटीक प्रयोग किया गया है! कहीं की ईंट, कहीं के रोड़े से कुनबा जोड़ने वाली इस प्रोफ़ेसराना बकवास को मि० रोश्चेर ने बहुत नम्रतापूर्वक अर्थशास्त्र की "शारीरीय – देह-व्यापारीय पद्धति" का नाम दिया है। किन्तु एक आविष्कार का श्रेय तो उनको मिलना ही चाहिए, और वह यह कि मुद्रा एक "सुखद माल" होती है।

ही तत्काल समस्त मानव-श्रम का प्रत्यक्ष अवतार बन जाती हैं। इसी से मुद्रा का जादू पैदा होता है। समाज के जिस रूप पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के दौरान में मनुष्यों का व्यवहार विशुद्ध परमाणुओं जैसा होता है। इसलिये उत्पादन के दौरान में एक दूसरे के साथ उनके बीच जो सम्बंध स्थापित होते हैं, वे एक ऐसा भौतिक स्वरूप धारण कर लेते हैं, जो उनके अपने नियंत्रण से तथा उनके सचेतन व्यक्तिगत कार्य-कलाप से स्वतंत्र होता है। ये बातें पहले इस रूप में प्रगट होती हैं कि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुएं सामान्यतया मालों का रूप धारण कर लेती हैं। हम यह देख चुके हैं कि माल पैदा करने वालों का समाज जब उत्तरोत्तर विकास करता है, तब वह किस तरह एक विशेष माल पर मुद्रा की छाप अंकित कर देता है। इसलिये मुद्रा की पहेली असल में मालों की ही पहेली है। अब वह केवल अपने सबसे स्पष्ट रूप में हमारे सामने आयी है।

## तीसरा अध्याय

# मुद्रा, या मालों का परिचलन

### अनुभाग १ – मूल्यों की माप

इस रचना में मैं सरलता की दृष्टि से सदा यह मानकर चलूंगा कि मुद्रा का काम करने वाला माल सोना है।

मुद्रा का पहला मुख्य कार्य यह है कि वह मालों को उनके मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए सामग्री प्रदान करे, या यह कि उनके मूल्यों को बराबर अभिधान के ऐसे परिमाणों के रूप में व्यक्त करे, जो गुणात्मक दृष्टि से समान और परिमाणात्मक दृष्टि से तुलनीय हों। इस प्रकार मुद्रा मूल्य की सार्वत्रिक माप का काम करती है। सिर्फ़ यह काम करने के कारण ही सोना, जो par excellence (सबसे उत्तम) सम-मूल्य माल होता है, मुद्रा बन जाता है।

मुद्रा मालों को एक ही मापदण्ड से मापने के योग्य बनाती हो, ऐसा नहीं है। बात ठीक इसकी उल्टी है। मूल्यों के रूप में तमाम माल चूंकि मूर्त्त मानव-श्रम होते हैं और इसलिए उनको चूंकि एक ही मापदण्ड से मापा जा सकता है, यही कारण है कि उनके मूल्यों को एक ही ख़ास माल के द्वारा मापना सम्भव होता है और इस ख़ास माल को उनके मूल्यों को समान माप में – अर्थात, मुद्रा में – बदला जा सकता है। मूल्य की माप के तौर पर मुद्रा वह इन्द्रियगम्य रूप होती है, जो मालों में निहित मूल्य की माप को – यानी श्रम-काल को – लाज़िमी तौर पर धारण करना पड़ता है।[1]

---

[1] यह सवाल कि मुद्रा सीधे श्रम-काल का प्रतिनिधित्व क्यों नहीं करती, जिससे कि, मिसाल के लिए, काग़ज़ का एक टुकड़ा 'घ' घण्टे के श्रम का प्रतिनिधित्व कर पाये, – यह सवाल, यदि उसकी तह तक पहुंचा जाये, तो असल में बस वही सवाल बन जाता है कि यदि मालों का उत्पादन पहले से ही मान लिया जाता है, तो श्रम से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को मालों का रूप क्यों धारण करना पड़ता है? इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं के मालों का रूप धारण करने का यह मतलब भी होता है कि वे मालों तथा मुद्रा में बंट जाती हैं। या इसी तरह का एक और सवाल यह है कि निजी श्रम को – यानी व्यक्तियों के स्वार्थ में किये गये श्रम को – उसका उल्टा, तात्कालिक सामाजिक श्रम क्यों नहीं समझा जा सकता? अन्यत्र मैंने मालों के उत्पादन पर आधारित समाज में "श्रम-मुद्रा" के कल्पनावादी विचार का भरपूर विश्लेषण किया है (देखिये "*Zur Kritik der Politischen Oekono-*

किसी माल का मूल्य जब सोने के रूप में व्यक्त होता है, – यानी जब 'क' माल का 'प' परिमाण=मुद्रा-माल का 'फ' परिमाण, – तब वह उसका मुद्रा-रूप, अथवा दाम, होता है। अब केवल एक ही समीकरण – जैसे १ टन लोहा=२ औंस सोना – लोहे के मूल्य को सामाजिक दृष्टि से मान्य ढंग से व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होता है। अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि यह समीकरण बाक़ी तमाम मालों के मूल्यों को व्यक्त करने वाले समीकरणों की शृंखला की एक कड़ी बनकर सामने आये। कारण कि अब सम-मूल्य का काम करने वाले माल – सोने – ने मुद्रा का रूप धारण कर लिया है। सापेक्ष मूल्य के सामान्य रूप ने फिर से सरल अथवा इक्के-दुक्के, पृथक सापेक्ष मूल्य का प्रारम्भिक स्वरूप धारण कर लिया है। दूसरी ओर, सापेक्ष मूल्य की विस्तारित अभिव्यंजना, यानी समीकरणों का वह अन्तहीन क्रम, अब मुद्रा-माल के सापेक्ष मूल्य का विशिष्ट स्वरूप बन गयी है। वह क्रम ख़ुद भी अब पहले से मालूम होता है और वास्तविक मालों के दामों के रूप में उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। दामों की कोई सूची लेकर उसमें दिये हुए भावों को उल्टी तरफ़ से पढ़ना शुरू कर दीजिये, आपको तरह-तरह के मालों के रूप में मुद्रा के मूल्य का परिमाण मालूम हो जायेगा। लेकिन ख़ुद मुद्रा का कोई दाम नहीं होता। इस दृष्टि से उसे अन्य सब मालों के साथ बराबरी के दर्जे पर रखने के लिए हमें ख़ुद उसे ही उसका सम-मूल्य मानकर ख़ुद उसके साथ ही उसका समीकरण करना पड़ेगा।

मालों का दाम, अथवा मुद्रा-रूप, उनके सामान्य मूल्य-रूप की ही भांति, उनके इन्द्रियगम्य शारीरिक रूप से बिल्कुल भिन्न होता है, इसलिए वह एक विशुद्ध भावगत, अथवा मानसिक, रूप होता है। लोहे, कपड़े तथा अनाज का मूल्य यद्यपि दिखाई नहीं देता, तथापि इन्हीं वस्तुओं के भीतर उसका वास्तविक अस्तित्व होता है; सोने के साथ इन वस्तुओं की समानता करके मूल्य भावगत ढंग से बोधगम्य बना दिया जाता है, – यानी वह एक ऐसे सम्बंध द्वारा बोधगम्य बनाया जाता है, जिसका अस्तित्व मानो केवल इन वस्तुओं के मस्तिष्क में ही होता है। अतएव इन वस्तुओं के मालिक को या तो ख़ुद बोलना पड़ेगा और या उनके दाम लिखकर उनपर एक-एक पुर्ज़ा टांग देना पड़ेगा, तभी बाहरी दुनिया को उनके दामों का पता चलेगा।[1] सोने

---

*mie*", पृ० ६१ और उसके आगे के पृष्ठ)। इस विषय के सम्बंध में मैं यहां केवल इतना ही और कहूंगा कि जैसे, मिसाल के लिए, थियेटर का टिकट मुद्रा नहीं होता, वैसे ही ओवेन की "श्रम-मुद्रा" भी मुद्रा नहीं हो सकती। ओवेन सीधे तौर पर सम्बद्ध श्रम को, उत्पादन के एक ऐसे रूप को मानकर चलते हैं, जो मालों के उत्पादन से क़तई मेल नहीं खाता। श्रम का प्रमाण-पत्र केवल इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति विशेष ने सामूहिक श्रम में भाग लिया है और सामूहिक पैदावार के उपभोग के लिए निर्धारित भाग के एक निश्चित अंश पर उसका अधिकार है। लेकिन यह बात ओवेन के दिमाग़ में कभी नहीं आती कि पहले से मालों का उत्पादन मानकर चला जाये और उसके साथ-साथ मुद्रा की बाजीगरी के ज़रिये उत्पादन की इस प्रणाली की लाज़िमी शर्तों से भी बचने की कोशिश की जाये।

[1] जंगली और अर्ध-सभ्य जातियां अपनी जीभ का भिन्न रूप से प्रयोग करती हैं। बाफ़िन की खाड़ी के पश्चिमी तट के निवासियों के बारे में कप्तान पैरी ने बताया है: "इस सूरत में (वह वस्तुओं की अदला-बदली का ज़िक्र कर रहा है) वे लोग उसे (यानी उस चीज़ को, जो अदला-बदली के लिए उनके सामने पेश की गयी हो) अपनी जीभ से दो बार चाटते

के रूप में मालों के मूल्य को अभिव्यक्त करता क्योंकि महज्ज एक भावगत कार्य है, अतः हम उसके लिए काल्पनिक, अथवा भावगत, मुद्रा का भी प्रयोग कर सकते हैं। हर व्यापारी जानता है कि अपने माल का मूल्य दाम के रूप में या किसी काल्पनिक मुद्रा के रूप में व्यक्त करके ही वह उसे मुद्रा में बदलने में कामयाब नहीं हो जाता,—वह तो तब भी बहुत दूर की बात रहती है। हर व्यापारी यह भी जानता है कि लाखों और करोड़ों पौंड की क़ीमत के सामान के मूल्य का सोने के रूप में अनुमान लगाने के लिए उसे वास्तविक सोने के ज़रा से टुकड़े की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए मुद्रा जब मूल्य की माप का काम करती है, तब वह केवल काल्पनिक, अथवा भावगत, मुद्रा के रूप में इस्तेमाल की जाती है। इसके फलस्वरूप हद से ज्यादा अजीबोग़रीब सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं।[1] लेकिन मूल्य की माप का काम करने वाली मुद्रा हालांकि केवल भावगत मुद्रा होती है, फिर भी दाम सर्वथा उस वास्तविक पदार्थ पर ही निर्भर करता है, जो मुद्रा कहलाता है। एक टन लोहे में जो मूल्य, अथवा मानव-श्रम की जितनी मात्रा, निहित है, वह कल्पना में मुद्रा-माल के एक ऐसे परिमाण के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिसमें लोहे के बराबर श्रम निहित होता है। इसलिए जब मूल्य की माप का काम सोना करेगा और जब यह काम चांदी करेगी या तांबा करेगा, तब हर बार एक टन लोहे का मूल्य बहुत ही भिन्न दामों में व्यक्त किया जायेगा, या यूं कहिये कि उसका दाम इन धातुओं के क्रमशः बहुत भिन्न परिमाणों द्वारा व्यक्त किया जायेगा।

इसलिए यदि एक समय में दो अलग-अलग माल, जैसे सोना और चांदी, मूल्य की माप का काम करते हैं, तो तमाम मालों के दो दाम होते हैं— एक सोने वाला दाम और दूसरा चांदी वाला दाम। जब तक सोने के मूल्य के साथ चांदी के मूल्य का अनुपात नहीं बदलता,— मिसाल के लिए, जब तक कि वह १५ : १ पर स्थिर पर रहता है,—तब तक ये दोनों प्रकार के दाम चुपचाप साथ-साथ चलते रहते हैं। पर उनके अनुपात में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन मालों के सोने वाले दामों और चांदी वाले दामों के अनुपात को गड़बड़ा देता है और इस तरह

---

थे और चाटने के बाद मानो समझते थे कि सौदा सन्तोषजनक ढंग से हो गया है।" इसी तरह पूर्वी एस्किमो जाति के लोग भी विनिमय में मिलने वाली वस्तुओं को चाटा करते थे। यदि उत्तर में, इस तरह, जीभ वस्तुओं पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के साधन की तरह इस्तेमाल की जाती थी, तो कोई आश्चर्य नहीं कि दक्षिण में संचित सम्पत्ति के स्पष्टीकरण का काम पेट से लिया जाता है और काफ़िर जाति के लोग आदमी के पेट का आकार देखकर उसकी दौलत का अनुमान लगाते हैं। काफ़िर लोग समझ-बूझकर ही यह करते हैं, इसका सबूत यह है कि ठीक उसी समय, जब १८६४ की ब्रिटिश स्वास्थ्य रिपोर्ट ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि मज़दूर-वर्ग के अधिकतर भाग को चरबी बनाने वाले खाद्य-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते, तब डा० हार्वे नामक एक व्यक्ति (बेशक रक्त-परिचलन के विख्यात आविष्कारक हार्वे से भिन्न व्यक्ति) ने पूंजीपति-वर्ग और अभिजात वर्ग के लोगों की फ़ालतू चरबी घटाने के नुसख़ों का विज्ञापन करके ख़ूब हाथ रंगे थे।

[1] देखिये Karl Marx. "*Zur Kritik*, &c.". "*Theorien von der Masseinheit des Geldes*" (कार्ल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'। 'मुद्रा की माप की इकाई के सिद्धान्त'), पृ० ५३ और उसके आगे के पृष्ठ।

यह साबित कर देता है कि मूल्य का दोहरा मापदण्ड रखना मापदण्ड के कामों से मेल नहीं खाता।[1]

जिन मालों के निश्चित दाम होते हैं, वे इस रूप में सामने आते हैं: 'क' माल का 'प'=सोने का 'त', 'ख' माल का 'फ'=सोने का 'थ', 'ग' माल का 'ब'=सोने का 'द' इत्यादि; यहां 'प', 'फ' और 'ब' 'क', 'ख' और 'ग' नामक मालों के निश्चित परिमाणों का और 'त', 'थ' और 'द' सोने की निश्चित मात्राओं का

[1]"जहां कहीं भी क़ानूनी तौर पर सोने और चांदी दोनों से साथ-साथ मुद्रा का, या मूल्य की माप का, काम लिया गया है, वहां सदा इस बात की बेकार कोशिश की गयी है कि दोनों को एक ही पदार्थ समझा जाये। यह मानकर चलना कि सोने और चांदी के ऐसे परिमाणों के बीच, जिनमें श्रमकाल का एक निश्चित परिमाण निहित है, सदा एक ही अनुपात रहता है, जो कभी नहीं बदलता,—यह तो असल में यह मान लेने के समान है कि सोना और चांदी दोनों एक ही पदार्थ के बने हैं और कम मूल्य वाली धातु, चांदी, की एक निश्चित राशि सोने की एक निश्चित राशि का एक ऐसा अंश होती है, जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। एडवर्ड तृतीय के राज्य-काल से जार्ज द्वितीय के राज्य-काल तक इंगलैण्ड में मुद्रा का इतिहास सोने और चांदी के मूल्यों के बीच क़ानूनी तौर पर निर्धारित अनुपात और उनके वास्तविक मूल्यों के उतार-चढ़ाव के टकराव से पैदा होने वाली अनेक गड़बड़ियों के एक लम्बे क्रम का इतिहास है। एक समय सोना बहुत ऊंचे चढ़ जाता था, दूसरे समय चांदी। जिस समय जिस धातु की क़ीमत उसके मूल्य से कम लगायी जाती थी, उस समय वह धातु परिचलन से निकल जाती थी और उसके सिक्कों को गलाकर विदेशों को भेज दिया जाता था। तब दोनों धातुओं के अनुपात को क़ानून द्वारा फिर बदल दिया जाता था, लेकिन यह नया नाम मात्र का अनुपात शीघ्र ही फिर वास्तविक अनुपात से टकरा जाता था। हमारे अपने ज़माने में भारत और चीन में चांदी की मांग होने के परिणामस्वरूप चांदी की तुलना में सोने के मूल्य में जो थोड़ी सी क्षणिक कमी हुई थी, उससे फ़्रांस में यही बात और भी विस्तृत पैमाने पर देखने में आयी थी,—यानी वहां भी चांदी का निर्यात होने लगा था और सोने ने उसे परिचालन से बाहर निकाल दिया था। १८५५, १८५६ और १८५७ में फ़्रांस से बाहर जाने वाले सोने की तुलना में फ़्रांस में आने वाले सोने की क़ीमत ४,१५,८०,००० पौंड अधिक थी, जब कि फ़्रांस से चांदी के निर्यात की क़ीमत आयात की तुलना में १,४७,०४,००० पौंड अधिक थी। सच तो यह है कि जिन देशों में क़ानून की दृष्टि से दोनों धातुएं मूल्य की माप का काम करती हैं और इसलिए दोनों वैधानिक मुद्रायें मानी जाती हैं और ऐसे हर व्यक्ति दोनों में से किसी भी एक धातु में भुगतान कर सकता है, उन देशों में जिस धातु का मूल्य ऊपर चढ़ जाता है, उसका महत्त्व बढ़ जाता है, और दूसरे प्रत्येक माल की भांति वह अपना दाम उस धातु में मापने लगता है, जिसका मूल्य अधिक लगाया जा रहा है और जो अब असल में अकेली ही मूल्य के मापदण्ड का काम करती है। इस प्रश्न के सम्बंध में समस्त अनुभव और इतिहास का निष्कर्ष केवल यह है कि जहां कहीं क़ानून के अनुसार दो मालों से मूल्य की माप का काम लिया जाता है, वहां व्यवहार में उनमें से केवल एक ही इस स्थिति को क़ायम रख पाता है।" (Karl Marx, "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*", पृ० ५२, ५३।)

प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए इन मालों के मूल्य हमारी कल्पना में सोने की भिन्न-भिन्न मात्राओं में बदल जाते हैं। और इसलिए दिमाग़ को उलझन में डलने वाले तरह-तरह के माल होने के बावजूद उनके मूल्य एक ही अभिधान की मात्राओं में, यानी सोने की मात्राओं में, बदल जाते हैं। अब उनका एक दूसरे के साथ मुक़ाबला किया जा सकता है और उनको मापा जा सकता है, और इस बात की प्राविधिक आवश्यकता महसूस होती है कि माप की इकाई के रूप में सोने की किसी एक निश्चित मात्रा से उनकी तुलना की जाये। यह इकाई बाद में पूर्ण भाजकों में बंट जाने के फलस्वरूप ख़ुद मापदण्ड, अथवा पैमाना, बन जाती है। सोने, चांदी और तांबे के पास मुद्रा बनने के पहले से ही अपने तौल के मापदण्ड के रूप में इस प्रकार के मापदण्ड मौजूद होते हैं; चुनांचे, मिसाल के लिए, यदि एक पौंड का तौल इकाई का काम करता है, तो उसको एक तरफ़ तो औंसों में बांटा जा सकता है और दूसरी तरफ़ अनेक पौंडों का जोड़ कर हंड्रेडवेट तैयार किये जा सकते हैं।[1] यही कारण है कि धातु की जितनी भी मुद्राएं प्रचलित हैं, उनमें मुद्रा के, अथवा दाम के, मापदण्डों को जो नाम दिये गये हैं, वे शुरू में पहले से मौजूद तौल के मापदण्डों के नामों से लिए गये थे।

मूल्य की माप के रूप में और दाम के मापदण्ड के रूप में मुद्रा को दो बिल्कुल अलग-अलग ढंग के काम करने पड़ते हैं। वह चूंकि मानव-श्रम का सामाजिक दृष्टि से मान्य अवतार होती है, इसलिए वह मूल्य की माप का काम करती है, और चूंकि वह एक निश्चित तौल की धातु होती है, इसलिए वह दाम के मापदण्ड का काम करती है। मूल्य की माप के रूप में वह नाना प्रकार के मालों के मूल्यों को दामों में – यानी सोने की काल्पनिक मात्राओं में – बदलने का काम करती है, और दाम के मापदण्ड के रूप में वह सोने की इन मात्राओं को मापने का काम करती है। मूल्यों की माप से मालों को मूल्यों के रूप में मापा जाता है; इसके विपरीत, दाम के मापदण्ड से सोने की मात्राओं को इकाई के रूप में मान ली गयी सोने की एक ख़ास मात्रा से मापा जाता है, और ऐसा नहीं होता कि सोने की एक मात्रा का मूल्य दूसरी मात्रा के तौल से मापा जाये। सोने को दाम का मापदण्ड बनाने के लिए एक निश्चित तौल को इकाई मानना ज़रूरी होता है। यहां पर, और यहां पर ही क्यों, जहां पर भी एक ही अभिधान की मात्राओं को मापना आवश्यक होता है, वहीं यह बात सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कर लेती है कि माप की कोई ऐसी इकाई स्थापित की जाये, जिसमें कोई हेर-फेर न हो। इसलिए, इस इकाई में जितना कम हेर-फेर होता है, दाम का मापदण्ड उतनी ही अच्छी तरह अपना काम करता है। लेकिन सोना मूल्य की माप का काम केवल उसी हद तक कर सकता है, जिस हद

[1] इंगलैण्ड में एक औंस सोना तो मुद्रा के मापदण्ड की इकाई का काम करता है, पर पौंड स्टर्लिंग सिक्का उसका अशेष भाजक नहीं होता। इस विचित्र परिस्थिति का यह कारण बताया गया है कि "हमारी सिक्कों की प्रणाली पहले केवल चांदी के प्रयोग के आधार पर ही ढाली गयी थी, इसलिए एक औंस चांदी हमेशा ही सिक्कों की एक निश्चित संख्या में बांटी जा सकती है; लेकिन सिक्कों की इस प्रणाली में सोने का इस्तेमाल बाद में जारी किया गया, इसलिए एक औंस सोने के अशेष भाजक संख्या में सिक्के नहीं बनाये जा सकते।" (Maclaren, "*A Sketch of the History of the Currency*" [मैक्लैरेन, 'मुद्रा के इतिहास की एक रूपरेखा'], London, 1858, पृ० १६।)

तक कि वह खुद श्रम की पैदावार है और इसलिए खुद उसके मूल्य में हेर-फेर होने की हमेशा सम्भावना रहती है।[1]

अब सबसे पहले तो यह बात बिल्कुल साफ़ है कि सोने के मूल्य में परिवर्तन हो जाने से दाम के मापदण्ड के रूप में उसके काम में कोई अन्तर नहीं होता। उसके इस मूल्य में चाहे जितना परिवर्तन हो जाये, धातु की अलग-अलग मात्राओं के मूल्यों का अनुपात बराबर एक सा ही रहता है। सोने का मूल्य चाहे जितना नीचे क्यों न गिर जाये, १२ औंस सोने का मूल्य तब भी १ औंस सोने के मूल्य का बारह गुना ही रहेगा। जहां तक दामों का सम्बंध है, हम केवल सोने की विभिन्न मात्राओं के आपसी सम्बंध पर ही विचार करते हैं। दूसरी ओर, चूंकि एक औंस सोने का मूल्य घटने या बढ़ जाने से उसके तौल में कोई तबदीली नहीं आती, इसलिए उसके अशेष भाजकों के तौल में भी कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। इस प्रकार सोने के मूल्य में चाहे जितना हेर-फेर हो जाये, वह दामों के अपरिवर्तनीय मापदण्ड के रूप में सदा एक सा काम देता है।

दूसरी बात यह है कि सोने के मूल्य में परिवर्तन हो जाने से मूल्य की माप के रूप में भी उसके कामों में कोई अन्तर नहीं आता। इस परिवर्तन का सभी मालों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है, और इसलिए, caeteris paribus (अन्य बातें यदि समान रहती हैं, तो), तमाम मालों के पारस्परिक सापेक्ष मूल्य inter se (ज्यों के त्यों ही) रहते हैं, हालांकि ये मूल्य अब सोने के पहले से ऊंचे या नीचे दामों में व्यक्त किये जाते हैं।

किसी भी माल के मूल्य का अनुमान किसी अन्य माल के उपयोग-मूल्य की एक निश्चित मात्रा के रूप में लगाते हुए हम जो कुछ करते हैं, वही हम किसी भी माल के मूल्य का सोने के रूप में अनुमान लगाते समय करते हैं। यहां भी हम इससे अधिक और कुछ नहीं मानकर चलते कि किसी भी काल में सोने की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन में श्रम की एक ख़ास मात्रा ख़र्च होती है। जहां तक दामों के आम उतार-चढ़ाव का सम्बंध है, वे प्राथमिक सापेक्ष मूल्य के उन नियमों के आधीन रहते हैं, जिनकी हम इसके पहले एक अध्याय में छानबीन कर चुके हैं।

सामान्य रूप से मालों के दाम तभी चढ़ सकते हैं, जब कि या तो मुद्रा का मूल्य स्थिर रहते हुए मालों का मूल्य बढ़ जाय और या मालों का मूल्य स्थिर रहते हुए मुद्रा का मूल्य घट जाय। दूसरी तरफ़, सामान्य रूप से मालों के दाम तभी गिर सकते हैं, जब कि या तो मुद्रा का मूल्य स्थिर रहते हुए मालों का मूल्य घट जाय और या मालों का मूल्य स्थिर रहते हुए मुद्रा का मूल्य बढ़ जाय। अतएव, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि मुद्रा का मूल्य बढ़ जाने पर मालों के दाम लाजिमी तौर पर उसी अनुपात में घट जाते हैं या मुद्रा का मूल्य घट जाने पर मालों के दाम लाजिमी तौर पर उसी अनुपात में बढ़ जाते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन केवल उन्हीं मालों के दामों में होता है, जिनका मूल्य स्थिर रहता है। मिसाल के लिए, जिन मालों का मूल्य मुद्रा के मूल्य की वृद्धि के साथ-साथ और उसी अनुपात में बढ़ जाता है, उनके दामों में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि उनका मूल्य मुद्रा के मूल्य की अपेक्षा धीमी या तेज गति

---

[1] अंग्रेज़ी लेखकों ने तो मूल्य की माप (measure of value) और दाम के मापदण्ड (standard of value) को इस बुरी तरह एक-दूसरे से उलझा दिया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी रचनाओं में लगातार एक के नाम की जगह दूसरे के नाम का और एक के कामों की जगह दूसरे के कामों का वर्णन मिलता है।

से बढ़ता है, तो उनके दामों का उतार या चढ़ाव इस बात से निर्धारित होगा कि उनके मूल्य में जो परिवर्तन आया है और मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन हुआ है, उनके बीच कितना अन्तर है, इत्यादि।

आइये, अब हम पीछे लौटकर दाम-रूप पर विचार करें।

मुद्रा का काम करने वाली बहुमूल्य धातु के अलग-अलग वजनों के चालू मुद्रा-नामों और इन नामों द्वारा शुरू में जिन वास्तविक वजनों को व्यक्त किया जाता था, उनके बीच धीरे-धीरे एक असंगति पैदा हो जाती है। यह असंगति कुछ ऐतिहासिक कारणों से पैदा होती है। इनमें से मुख्य कारण ये हैं: (१) अपर्याप्त विकास वाले समाज में विदेशी मुद्रा का आयात। यह बात रोम में उसके प्रारम्भिक दिनों में हुई थी, जब वहां सोने और चांदी के सिक्कों का विदेशी मालों के रूप में पहले-पहल परिचलन आरम्भ हुआ था। इन विदेशी सिक्कों के नाम देशी बाटों के नामों से कभी मेल नहीं खाते थे। (२) जैसे-जैसे दौलत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे अधिक मूल्यवान धातु मूल्य की माप के रूप में कम मूल्यवान धातु का स्थान ग्रहण करती जाती है। परिवर्तन का यह क्रम कवियों के काल्पनिक काल-क्रम के चाहे जितना उल्टा पड़ता हो, पर तांबे का स्थान चांदी ले लेती है और चांदी का स्थान सोना।[1] उदाहरण के लिए, पौंड शब्द शुरू में सचमुच एक पौंड वजन की चांदी के मुद्रा-नाम के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था। जब मूल्य की माप के रूप में चांदी का स्थान सोने ने ले लिया, तो सोने और चांदी के मूल्यों के बीच जो अनुपात था, उसका ध्यान रखते हुए यही शब्द सम्भवतः पौंड के १/१५ वजन के बराबर सोने के लिए इस्तेमाल होने लगा। इस तरह पौंड शब्द के मुद्रा-नाम और तौल-नाम में अन्तर हो जाता है।[2] (३) तीसरा कारण था राजाओं और बादशाहों का सदियों तक सिक्कों में खोट मिलाना और इस चीज़ का इस हद तक बढ़ जाना कि सिक्कों का मौलिक वजन लगभग ग़ायब हो गया और केवल नाम बाक़ी रह गया।[3]

इन ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप मुद्रा-नाम का तौल-नाम से अलग हो जाना समाज के लोगों की पक्की आदत का हिस्सा बन गया। मुद्रा का मापदण्ड चूंकि एक ओर तो केवल रूढ़िगत है और दूसरी ओर चूंकि उसे सार्वजनिक मान्यता प्राप्त करनी पड़ती है, इसलिए अन्त में उसका क़ानून द्वारा नियमन होने लगता है। किसी एक बहुमूल्य धातु का कोई निश्चित वजन, जैसे, मिसाल के लिए, एक औंस सोना, सरकारी तौर पर अशेष भाजकों में बांटा जाता है,

---

[1] कवियों का काल्पनिक काल-क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से भी आम तौर पर सत्य नहीं है।

[2] यही कारण है कि अंग्रेज़ी पौंड स्टर्लिंग का शुरू में जो वजन था, अब उसका एक तिहाई से कम वजन रह गया है, स्कॉटलैण्ड और इंगलैण्ड के एक हो जाने के पहले स्कॉटिश पौंड का वजन उसके शुरू के वजन का केवल १/३६ रह गया था, फ़्रांस के लीव्र का वजन १/७४ रह गया था, स्पेन के मारावेदी का वजन १/१००० से भी कम रह गया था और पुर्तगाली रे का वजन उससे भी कम रह गया था।

[3] "Le monete le quali oggi sono ideali sono le più antiche d'ogni nazione, e tutte furono un tempo reali, e perchè erano reali con esse si contava." ["जो मुद्राएं आज काल्पनिक हैं, वे प्रत्येक जाति की अतिप्राचीन मुद्राएं हैं। एक समय वे सब वास्तविक थीं, और चूंकि वे वास्तविक थीं, इसलिए हिसाब रखने के लिए उनका प्रयोग होता था।"] (Galiani, "*Della moneta*", उप० पु०, पृ० १५३।)

जिन्हें क़ानूनी तौर पर कुछ ख़ास नाम, जैसे पौंड, डालर आदि, दे दिये जाते हैं। अशेष भाजक, जो इसके बाद से मुद्रा की इकाइयों का काम करने लगते हैं, आगे और अशेष भाजकों में बांट दिये जाते हैं और इनको भी शिलिंग, पेनी आदि जैसे कुछ क़ानूनी नाम दे दिये जाते हैं।[1] लेकिन इस तरह का बंटवारा होने के पहले भी और बाद में भी धातु का एक निश्चित वज़न ही धातु-मुद्रा का मापदण्ड रहता है। अन्तर केवल यह पड़ता है कि अनुभाग हो जाते हैं और नये नाम दे दिये जाते हैं।

अतएव, मालों के मूल्यों को जिन दामों में, अथवा सोने की जिन मात्राओं में, भावगत ढंग से बदल दिया गया है, उन्हें अब सिक्कों के नामों द्वारा, या यूं कहिये कि सोने के मापदण्ड के उपभागों के क़ानूनी तौर पर मान्य नामों द्वारा, व्यक्त किया जाने लगता है। चुनांचे, यह कहने के बजाय कि एक क्वार्टर गेहूं की क़ीमत एक औंस सोना है, अब हम यह कहते हैं कि उसकी क़ीमत ३ पौंड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस है। इस तरह, दामों के ज़रिये माल यह बताते हैं कि उनकी कितनी क़ीमत है, और जब कभी किसी वस्तु के मूल्य को उसके मुद्रा-रूप में निश्चित करने का सवाल होता है, तब मुद्रा हिसाब की मुद्रा, या लेखा-मुद्रा, का कार्य सम्पन्न करती है।[2]

किसी भी वस्तु का नाम उसके गुणों से भिन्न चीज़ होता है। यह जानकर कि फ़लां आदमी का नाम जैकब है, मुझे उसके बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती। इसी प्रकार मुद्रा के सम्बंध में भी पौंड, डालर, फ़्रांक, डुकाट आदि नामों में मूल्य-सम्बंध का प्रत्येक चिन्ह ग़ायब हो जाता है। इन रहस्यमय प्रतीकों को एक गुप्त अर्थ पहना देने के फलस्वरूप जो गड़बड़ी पैदा होती है, वह इसलिए और भी बढ़ जाती है कि मुद्रा के इन नामों द्वारा मालों के मूल्यों को और उसके साथ-साथ धातु का जो वज़न मुद्रा का मापदण्ड है, उसके अशेष भाजकों को भी व्यक्त किया जाता है।[3] दूसरी ओर, मालों के तरह-तरह के शारीरिक रूपों से मूल्य को अलग देख पाने के

---

[1] डैविड उर्कुहार्ट ने अपनी रचना "*Familiar words*" ('सुपरिचित शब्द') में इस भयानक ज़्यादती (!) का ज़िक्र किया है कि आजकल पौंड (स्टर्लिंग), जो मुद्रा के अंग्रेज़ी मापदण्ड की इकाई है, लगभग चौथाई औंस सोने के बराबर रह गया है। उन्होंने लिखा है कि "यह मापदण्ड क़ायम करना नहीं, माप को झूठा बना देना है।" दूसरी हर चीज़ की तरह सोने के तौल की इस "झूठी संज्ञा" में भी उर्कुहार्ट सभ्यता का हाथ देखते हैं, जो उनकी राय में हर चीज़ को झूठा बना देती है।

[2] जब अनाकार्सिस से यह पूछा गया कि यूनानी लोग मुद्रा से क्या काम लेते थे, तो उसने जवाब दिया: "हिसाब रखने का।" (Athenaeus, "*Deipnosophistarum libri quindecim*", खण्ड ४, भाग ४६, Schweighäuser का दूसरा संस्करण, 1802 [पृ० १२०]।)

[3] "मुद्रा जब दाम के मापदण्ड का काम करती है, तब वह हिसाब रखने के उन्हीं नामों में सामने आती है, जिन नामों में मालों के दाम सामने आते हैं, और इसलिए ३ पौण्ड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस की रक़म का मतलब एक तरफ़ तो एक औंस वज़न का सोना हो सकता है और दूसरी तरफ़ उसका मतलब एक टन लोहे का मूल्य हो सकता है। इसलिए मुद्रा के इस हिसाब रखने के नाम को उसका टकसाली दाम कहा गया है। इसी से यह असाधारण धारणा पैदा हुई कि सोने के मूल्य का ख़ुद उसी के पदार्थ के रूप में अनुमान लगाया जाता है और दूसरे तमाम मालों के विपरीत उसका दाम राज्य निश्चित करता है। यह भ्रांति

लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह यह भौतिक एवं निरर्थक, किन्तु साथ ही विशुद्ध सामाजिक रूप धारण कर ले।[1]

दाम किसी माल में मूर्त्त होने वाले श्रम का मुद्रा-नाम होता है। इसलिए जो रक़म किसी माल का दाम है, उसके साथ उस माल की सम-मूल्यता की अभिव्यंजना एक पुनरुक्ति मात्र होती है,[2] जैसे कि किसी भी माल के सापेक्ष मूल्य की अभिव्यंजना में सामान्यतया दो मालों की सम-मूल्यता ही व्यक्त की जाती है। किन्तु दाम यद्यपि माल के मूल्य के परिमाण का व्याख्याता होने के कारण मुद्रा के साथ उसके विनिमय के अनुपात का व्याख्याता होता है, तथापि उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि विनिमय के इस अनुपात का व्याख्याता अनिवार्य रूप से माल के मूल्य के परिमाण का व्याख्याता भी होता है। मान लीजिये कि क्रमशः १ क्वार्टर गेहूं और २ पौंड (लगभग आधा औंस सोना) सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम की दो समान मात्राओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस हालत में २ पौंड १ क्वार्टर गेहूं के मूल्य के परिमाण की मुद्रा के रूप में अभिव्यंजना होंगे, यानी २ पौंड १ क्वार्टर गेहूं का दाम होंगे।

---

इस ग़लत विचार से पैदा हुई कि सोने के कुछ निश्चित वज़नों को हिसाब रखने के कुछ नाम दे देना और इन वज़नों का मूल्य तै कर देना एक ही बात है।" (Karl Marx, "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*", पृ० ५२।)

[1] देखिये "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') में "Theorien von der Masseinheit des Geldes" ('मुद्रा की माप की इकाई के सिद्धान्त'), पृ० ५३ और उसके आगे के पृष्ठ। सोने या चांदी के कुछ निश्चित वज़नों को पहले से जो क़ानूनी नाम मिल गये हैं, वही नाम इन धातुओं के थोड़े कम या ज्यादा वज़नों को देकर मुद्रा के टकसाली दाम को कम कर देने या बढ़ा देने की कुछ अजीबोग़रीब धारणायें देखने में आती हैं। जहां तक कि इन धारणाओं का कम से कम यह उद्देश्य नहीं है कि भद्दे आर्थिक दांव-पेंच के ज़रिये सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही प्रकार के ऋणदाताओं की गिरह काटी जाये, बल्कि जहां तक कि वे नीम हकीमों के आर्थिक नुसख़ों के रूप में पेश की जाती हैं, वहां तक उनपर विलियम पेटी ने अपनी रचना "*Quantulumcunque concerning money: To the Lord Marquis of Halifax, 1682*" ('मुद्रा के विषय में एक गुटका: हैलिफ़ैक्स के लार्ड मार्क्विस के नाम, १६८२') में इतने मुकम्मिल तौर पर विचार किया है कि यदि हम उनके बाद को आने वाले अनुयायियों का नाम न भी लें, तो उनके तात्कालिक अनुयायी भी—सर डडली नर्थ और जान लॉक—लाख कोशिश करने के बाद उनके शब्दों में केवल पानी ही मिला पाये हैं। पेटी ने लिखा है: "यदि ऐलान जारी करके किसी जाति की दौलत दस गुना बढ़ायी जा सकती है, तो फिर यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारे गवर्नरों ने बहुत पहले ही ऐसे ऐलान नहीं जारी कर दिये" (उप० पु०, पृ० ३६)।

[2] "Ou bien, il faut consentir à dire qu'une valeur d'un million en argent vaut plus qu'une valeur égale en marchandises" ["यदि ऐसा न होता, तो हमें यह मानना पड़ता कि मुद्रा के रूप में दस लाख के मूल्य की बिकाऊ सामान के रूप में समान मूल्य की अपेक्षा ज्यादा क़ीमत होती है"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ६१६), जो यह कहने के बराबर है कि "qu'une valeur vaut plus qu'une valeur égale" ("किसी मूल्य की उसके समान मूल्य से ज्यादा क़ीमत होती है")।

अब यदि कुछ परिस्थितियों के कारण इस दाम को बढ़ाकर ३ पौंड कर देना सम्भव हो जाये या उसे घटाकर १ पौंड कर देना ज़रूरी हो जाये, तब ३ पौंड या १ पौंड ही उसके दाम हो जायेंगे, हालांकि सच पूछिये, तो ३ पौंड और १ पौंड १ क्वार्टर गेहूं का मूल्य व्यक्त करने के लिये या तो बहुत ज्यादा होंगे और या बहुत कम। इसका कारण यह है कि एक तो ३ पौंड और १ पौंड वे रूप हैं, जिनमें गेहूं का मूल्य प्रकट होता है, यानी वे मुद्रा हैं, और, दूसरे, वे मुद्रा के साथ गेहूं के विनिमय-अनुपात के व्याख्याता हैं। यदि उत्पादन की परिस्थितियां स्थिर रहती हैं, दूसरे शब्दों में, यदि श्रम की उत्पादन-शक्ति एक सी रहती है, तो दाम में परिवर्तन होने के पहले भी और बाद में भी एक क्वार्टर गेहूं के पुनरुत्पादन में पहले जितना ही सामाजिक श्रम-काल खर्च करना पड़ेगा। यह बात न तो गेहूं पैदा करने वाले की इच्छा पर निर्भर करती है और न ही अन्य मालों के मालिकों की इच्छा पर।

मूल्य का परिमाण सामाजिक उत्पादन के एक सम्बंध को व्यक्त करता है। यह परिमाण किसी वस्तु विशेष और उसके उत्पादन के लिये समाज के कुल श्रम-काल के आवश्यक भाग के बीच अनिवार्य रूप से रहने वाले सम्बन्ध को व्यक्त करता है। जैसे ही मूल्य का परिमाण दाम में बदल दिया जाता है, वैसे ही उपर्युक्त अनिवार्य सम्बंध किसी एक माल तथा मुद्रा-माल नामक एक अन्य माल के बीच कमोबेश आकस्मिक ढंग से स्थापित हो जाने वाले विनिमय-अनुपात का रूप धारण कर लेता है। लेकिन यह विनिमय-अनुपात या तो माल के मूल्य के वास्तविक परिमाण को व्यक्त कर सकता है और या उस मूल्य से कम या ज्यादा सोने की उस मात्रा को व्यक्त कर सकता है, जिसके एवज में परिस्थितियों के अनुसार वह माल हस्तांतरित किया जाना सम्भव है। इसलिये, दाम तथा मूल्य के परिमाण के बीच परिमाणात्मक असंगति पैदा हो जाने, या दाम के मूल्य के परिमाण से भिन्न हो जाने की सम्भावना तो खुद दाम-रूप में ही निहित है। यह उसका कोई दोष नहीं है, बल्कि, इसके विपरीत, यह सम्भावना तो दाम-रूप को बड़े सुन्दर ढंग से उत्पादन की उस प्रणाली के अनुरूप ढाल देती है, जिसके अन्तर्निहित नियम केवल ऐसी अनियमितताओं के मध्यमान के रूप में ही लागू होते हैं, जो ऊपर से देखने में किसी नियम के आधीन नहीं होतीं, पर जो एक दूसरे के असर को बराबर कर देती हैं।

किन्तु, दाम-रूप न केवल मूल्य के परिमाण और दाम की – यानी मूल्य के परिमाण और उसकी मुद्रा-अभिव्यंजना की – असंगति की सम्भावना के अनुरूप है, बल्कि उसमें गुणात्मक असंगति भी छिपी हो सकती है। यह असंगति इस हद तक जा सकती है कि यद्यपि मुद्रा मालों के मूल्य-रूप के सिवा और कुछ नहीं होती, फिर भी यह सम्भव है कि दाम मूल्य को क़तई तौर पर व्यक्त करना बन्द कर दे। कुछ वस्तुएं हैं, जो खुद माल नहीं हैं, जैसे अन्तःकरण, आत्म-सम्मान आदि, पर जिनके मालिक उनको बेच सकते हैं और जो इस तरह अपने दामों के माध्यम से मालों का रूप धारण कर सकती हैं। अतएव, किसी वस्तु में मूल्य न होते हुए भी उसका दाम हो सकता है। ऐसी सूरत में दाम गणित की कुछ राशियों की भांति काल्पनिक होता है। दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि काल्पनिक दाम-रूप कभी-कभार किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वास्तविक मूल्य-सम्बंध पर पर्दा डाल दे। उदाहरण के लिये, परती ज़मीन का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का मानव-श्रम नहीं लग होता, पर उसका दाम हो सकता है।

आम तौर पर सापेक्ष मूल्य की भांति दाम भी किसी माल का (जैसे एक टन लोहे का) मूल्य इस प्रकार व्यक्त करता है कि सम-मूल्य की अमुक मात्रा का (जैसे एक

औंस सोने का) लोहे के साथ सीधा विनिमय हो सकता है। लेकिन दाम इसकी उल्टी बात कि लोहे का सोने के साथ सीधा विनिमय हो सकता है, कदापि व्यक्त नहीं करता। इसलिये, यदि किसी माल को व्यवहार में कारगर ढंग से विनिमय-मूल्य की तरह काम करना है, तो उसके लिये जरूरी है कि वह अपना शारीरिक रूप त्याग दे और केवल काल्पनिक सोना न रहकर वास्तविक सोना बन जाये, हालांकि माल के लिये यह पदार्थान्तरण हेगेल की "धारणा" के "आवश्यकता" से "स्वतंत्रता" तक पहुंच जाने, झींगा मछली के अपना खोल उतारकर फेंक देने अथवा सन्त जेरोम के बाबा आदम से मुक्ति पा जाने[1] की अपेक्षा अधिक कठिन सिद्ध हो सकता है। कोई माल (जैसे, मिसाल के लिये, लोहा) अपने वास्तविक रूप के साथ-साथ हमारी कल्पना में सोने का रूप तो ले सकता है, पर वह एक ही समय में सचमुच सोना और लोहा दोनों नहीं हो सकता। उसका दाम तै करने के लिये यह काफ़ी होता है कि कल्पना में उसका सोने के साथ समीकरण कर दिया जाये। पर यदि उसे एक सार्वत्रिक सम-मूल्य के रूप में अपने मालिक के काम आना है, तो इसके लिये जरूरी है कि उसके स्थान पर सचमुच सोना आ जाये। यदि लोहे का मालिक विनिमय के लिये पेश किये गये किसी अन्य माल के मालिक के पास आकर लोहे के दाम का हवाला दे और उसकी बिना पर यह दावा करे कि लोहा अभी से मुद्रा बन गया है, तो उसको वही जवाब मिलेगा, जो स्वर्ग में सन्त पीटर ने दान्ते को दिया था, जब उसने यह श्लोक पढ़ा था कि

"Assai bene è trascorsa
D'esta moneta già la lega e'l peso,
Ma dimmi se tu l'hai nella tua borsa."

("इस सिक्के के धातु-मिश्रण और तौल की तो काफ़ी चर्चा हो चुकी है, पर अब मुझे यह बता कि क्या यह सिक्का तेरी जेब में है।")

अतएव दाम का अर्थ जहां यह होता है कि किसी माल का मुद्रा के साथ विनिमय हो सकता है, वहां उसका अर्थ यह भी होता है कि उसका मुद्रा के साथ विनिमय होना जरूरी है। दूसरी ओर, सोना मूल्य की भावगत माप के रूप में केवल इसीलिये काम में आता है कि उसने विनिमय की क्रिया के दौरान में पहले से अपने आप को मुद्रा-माल के रूप में जमा लिया है। मूल्यों की भावगत माप के पीछे, वास्तव में, नक़दी छिपी रहती है।

---

[1]जेरोम को न केवल अपनी युवावस्था में शारीरिक देह से कठिन संघर्ष करना पड़ा था, जो इस बात से स्पष्ट है कि मरुस्थल में उनकी अपने कल्पना-लोक की सुन्दर नारियों से लड़ाई हुई थी, बल्कि उनको अपनी वृद्धावस्था में आध्यात्मिक देह से भी कठिन संघर्ष करना पड़ा था। जेरोम ने कहा है: "मैंने समझा कि मैं विश्व के न्यायाधीश के दरबार में आत्मा के रूप में पेश हूं। तभी एक आवाज ने प्रश्न किया: 'तू कौन है?' 'मैं एक ईसाई हूं।' 'तू झूठ बोलता है,'—वह महान न्यायाधीश गरजकर बोला, —'तू सिसेरोनवादी है, और कुछ नहीं।'"

## अनुभाग २—परिचलन का माध्यम

### क) मालों का रूपान्तरण

हम पहले के एक अध्याय में यह देख चुके हैं कि मालों के विनिमय के लिये कुछ परस्पर विरोधी और एक दूसरे का अपवर्जन करने वाली परिस्थितियां आवश्यक होती हैं। जब मालों में माल और मुद्रा का भेद पैदा हो जाता है, तब उससे ये असंगतियां दूर नहीं हो जातीं, बल्कि उससे एक ऐसी modus vivendi (व्यवस्था) हो जाती है, या यूं कहिये कि एक ऐसा रूप निकल आता है, जिसमें ये असंगतियां साथ-साथ क़ायम रह सकती हैं। आम तौर पर वास्तविक विरोधों का इसी तरह समाधान किया जाता है। मिसाल के लिये, किसी वस्तु के बारे में यह कहना एक परस्पर विरोधी बात है कि वह लगातार किसी दूसरी वस्तु की ओर गिरती जाती है और साथ ही लगातार उससे दूर भी उड़ती जाती है। परन्तु दीर्घवृत्त गति का एक ऐसा रूप है, जो इस विरोध को बनाये भी रखता है और साथ ही उसका समाधान भी कर देता है।

जहां तक विनिमय एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा माल उन हाथों से निकलकर, जिनके लिये वे ग़ैर-उपयोग-मूल्य हैं, उन हाथों में पहुंच जाते हैं, जिनके पास वे उपयोग-मूल्य हो जाते हैं, वहां तक वह विनिमय पदार्थ का सामाजिक परिचलन है। उसके द्वारा एक ढंग के उपयोगी श्रम की पैदावार दूसरे ढंग के उपयोगी श्रम की पैदावार का स्थान ले लेती है। जब एक बार कोई माल उस विश्राम-स्थल पर पहुंच जाता है, जहां वह उपयोग-मूल्य का काम कर सकता है, तब वह विनिमय के क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है। लेकिन इस समय हमारी दिलचस्पी केवल विनिमय के क्षेत्र में ही है। इसलिये अब हमें विनिमय पर एक औपचारिक दृष्टि से विचार करना होगा और मालों के उस रूप-परिवर्तन—अथवा रूपान्तरण—की छान-बीन करनी होगी, जिसके द्वारा पदार्थ का सामाजिक परिचलन कार्यान्वित होता है।

साधारणतया इस रूप-परिवर्तन को बहुत अपूर्ण ढंग से समझा जाता है। इस अपूर्णता का कारण खुद मूल्य के बारे में लोगों में बहुत अस्पष्ट धारणाएं होने के अलावा यह है कि किसी भी माल के रूप में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन दो मालों के विनिमय के फलस्वरूप होता है, जिनमें से एक तो साधारण माल होता है और दूसरा मुद्रा-माल होता है। यदि हम केवल इस भौतिक तथ्य को अपने सामने रखते हैं कि किसी माल का सोने के साथ विनिमय किया गया है, तो हम उसी चीज़ को अनदेखा कर देते हैं, जिसे हमें देखना चाहिये था—और वह यह कि माल के रूप को क्या हो गया है। हम इन तथ्यों को अनदेखा कर देते हैं कि जब सोना महज़ माल होता है, तब वह मुद्रा नहीं होता, और जब दूसरे माल अपने दामों को सोने के रूप में व्यक्त करते हैं, तब यह सोना खुद इन मालों का मुद्रा-रूप भर होता है।

शुरू में माल अपने स्वाभाविक रूप से विनिमय की प्रक्रिया में प्रवेश करते हैं। फिर यह प्रक्रिया उनमें माल और मुद्रा का भेद पैदा कर देती है और इस प्रकार मालों के एक साथ उपयोग-मूल्य और मूल्य होने के नाते उनमें अन्तर्निहित विरोध के अनुरूप एक बाहरी विरोध भी पैदा कर देती है। माल उपयोग-मूल्यों के रूप में अब विनिमय-मूल्य के रूप में मुद्रा के मुक़ाबले आ खड़े होते हैं। दूसरी तरफ़, दोनों विरोधी पक्ष माल ही होते हैं, यानी दोनों

उपयोग-मूल्य तथा मूल्य की इकाइयां होते हैं। लेकिन भिन्नताओं की यह एकता दो विरोधी ध्रुवों पर प्रकट होती है और प्रत्येक ध्रुव पर विरोधी ढंग से प्रकट होती है। ध्रुव होने के कारण दोनों अनिवार्य रूप से परस्पर विरोधी सम्बद्ध और वैसे ही सम्बद्ध होते हैं। समीकरण के एक तरफ़ एक साधारण माल होता है, जो वास्तव में एक उपयोग-मूल्य है। उसका मूल्य दाम के रूप में केवल भावगत ढंग से व्यक्त होता है, दाम के जरिये उसका अपने मूल्य के वास्तविक मूर्त्त रूप के तौर पर अपने विरोधी–सोने–के साथ समीकरण किया जाता है। दूसरी ओर, सोना अपनी धातुगत वास्तविकता में केवल मूल्य के मूर्त्त रूप में, यानी केवल मुद्रा के रूप में, गिना जाता है। सोना सोने के रूप में स्वयं विनिमय-मूल्य होता है। जहां तक उसके उपयोग-मूल्य का सम्बंध है, उसका केवल भावगत अस्तित्व होता है, जिसका प्रतिनिधित्व सापेक्ष मूल्य की अभिव्यंजनाओं का वह क्रम करता है, जिसमें वह बाक़ी उन तमाम मालों के मुक़ाबले में खड़ा होता है, जिनके उपयोगों का कुल जोड़ सोने के विभिन्न उपयोगों का कुल जोड़ होता है। मालों के ये परस्पर विरोधी रूप वे वास्तविक रूप हैं, जिनमें से मालों के विनिमय की प्रक्रिया को गुजरना पड़ता है और जिनमें से होकर वह सम्पन्न होती है।

आइये, अब हम किसी माल के मालिक–मिसाल के तौर पर, अपने पुराने मित्र, कपड़ा बुनने वाले बुनकर–के साथ कार्यस्थल में–यानी मण्डी में–चलें। उसके २० गज़ कपड़े का एक निश्चित दाम है। मान लीजिये, उसका दाम २ पौंड है। वह कपड़े का २ पौंड के साथ विनिमय कर डालता है, और फिर पुराने ढंग का आदमी होने के नाते वह इसी दाम की एक पारिवारिक बाइबल के एवज में ये २ पौंड भी दे डालता है। कपड़े को, जो उसकी नज़रों में महज़ एक माल है, केवल मूल्य का भण्डार है, वह सोने के एवज़ में दूसरे को दे डालता है; सोना कपड़े का मूल्य-रूप है, और इस रूप को वह फिर एक और माल के एवज़ में–यानी बाइबल के एवज़ में–दे डालता है, जो अब एक उपयोगी वस्तु के रूप में उसके घर में प्रवेश करेगी और घर के निवासियों का नैतिक स्तर ऊपर उठाने के काम में आयेगी। इस प्रकार विनिमय दो परस्पर विरोधी और फिर भी एक दूसरे के पूरक रूपान्तरणों द्वारा सम्पन्न होता है: एक रूपान्तरण में माल मुद्रा में बदल दिया जाता है, दूसरे में मुद्रा फिर माल में बदल दी जाती है।[1] इस रूपान्तरण की ये दो अवस्थाएं दो अलग-अलग कार्य हैं, बुनकर जिनको सम्पन्न करता है। एक बार वह बेचता है, यानी मुद्रा के एवज़ में माल का विनिमय करता है। दूसरी बार वह ख़रीदता है, यानी एक माल के एवज़ में मुद्रा का विनिमय करता है। इन दो कार्यों में एकता भी है, क्योंकि वह ख़रीदने के लिए बेचता है।

इस पूरे कार्य-कलाप का बुनकर के लिए यह नतीजा निकलता है कि अब उसके पास कपड़े के बजाय बाइबल होती है; शुरू में जो माल उसके पास था, अब उसके बजाय उसके

---

[1] «ἐκ δὲ τοῦ .... πυρὸς ἀνταμείβεσθαι πάντα, φησὶν ὁ Ἡράκλειτος, καὶ πῦρ ἁπάντων, ὥσπερ χρυσοῦ χρήματα καὶ χρημάτων χρυσός». ["जिस तरह सोना मालों में बदल जाता है और माल सोने में बदल जाते हैं, उसी तरह अग्नि सब वस्तुओं में बदल जाती है, और सब वस्तुएं अग्नि में बदल जाती हैं।"] (F. Lassalle, "Die Philosophie Herakleitos des Dunkeln", Berlin, 1858, खण्ड १, पृ० २२२।) पृ० २२४ पर लसाल ने इस अंश के सम्बंध में जो नोट (नोट ३) दिया है, उसमें उसने ग़लती से सोने को मूल्य का प्रतीक मात्र बना दिया है।

पास उतने ही मूल्य का, लेकिन एक भिन्न उपयोग का एक नया माल आ जाता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के अन्य साधन तथा उत्पादन के साधन भी इसी ढंग से प्राप्त करता है। उसके दृष्टिकोण से इस पूरी क्रिया के द्वारा इससे अधिक और कुछ नहीं सम्पन्न होता कि उसके श्रम की पैदावार का किसी और के श्रम की पैदावार से विनिमय हो जाता है; उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विनिमय से अधिक और कुछ नहीं होता।

अतएव, मालों के विनिमय के साथ-साथ उनके रूप में निम्न-लिखित परिवर्तन हो जाता है:

माल – मुद्रा – माल

मा———मु———मा

जहां तक खुद वस्तुओं का सम्बंध है, पूरी क्रिया का फल होता है मा – मा, यानी एक माल के साथ दूसरे माल का विनिमय, अर्थात् भौतिक रूप प्राप्त सामाजिक श्रम का परिचलन। जब यह फल प्राप्त हो जाता है, तब क्रिया समाप्त हो जाती है।

### मा – मु। पहला रूपान्तरण, अथवा बिक्री

मूल्य माल के शरीर से छलांग मारकर जिस प्रकार सोने के शरीर में पहुंच जाता है, वह, जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, माल की Salto mortale (निराशोन्मत्त छलांग) होती है। यदि छलांग में पूरी सफलता नहीं मिलती, तो खुद माल का तो कोई नुक़सान नहीं होता, पर उसके मालिक का निश्चय ही नुक़सान होता है। उसके मालिक की आवश्यकताएं जितनी बहुमुखी हैं, सामाजिक श्रम-विभाजन उसके श्रम को उतना ही एकांगी बना देता है। ठीक यही कारण है कि उसके श्रम की पैदावार केवल विनिमय-मूल्य के रूप में ही उसके काम आती है। लेकिन वह सामाजिक दृष्टि से मान्य सार्वत्रिक सम-मूल्य का गुण केवल तभी प्राप्त कर सकती है, जब कि उसे मुद्रा में बदल डाला जाये। किन्तु वह मुद्रा किसी और की जेब में है। उस जेब से मुद्रा को बाहर निकालने के लिये सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि हमारे मित्र का माल मुद्रा के मालिक के लिये उपयोग-मूल्य हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि माल पर खर्च किया गया श्रम सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो, अर्थात् वह श्रम सामाजिक श्रम-विभाजन की एक शाखा हो। लेकिन श्रम-विभाजन उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली है, जिसका स्वयंस्फूर्त ढंग से विकास हुआ है और जिसका विकास उत्पादकों के पीठ पीछे अब भी जारी है। जिस माल का विनिमय होता है, वह, सम्भव है, किसी नये प्रकार के श्रम की पैदावार हो, जो किन्हीं नयी आवश्यकताओं को पूरा करने का या हो सकता है कि जो खुद ही किन्हीं नयी आवश्यकताओं को पैदा कर देने तक का दावा करता हो। कल तक जो क्रिया विशेष सम्भवतः किसी एक माल को तैयार करने के लिये किसी एक उत्पादक द्वारा की जाने वाली अनेक क्रियाओं में से एक ही हो, वह हो सकता है कि आज अपने को इस सम्बंध से अलग कर ले, अपने को श्रम की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में जमा ले और अपनी अपूर्ण पैदावार को एक स्वतंत्र माल के रूप में मण्डी में भेज दे। इस प्रकार के सम्बंध-विच्छेद के लिये परिस्थितियां परिपक्व भी हो सकती हैं और अपरिपक्व भी। आज कोई पैदावार एक सामाजिक आवश्यकता पूरी करती है। कल को मुमकिन है कि कोई और, अधिक उपयोगी पैदावार पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से उस वस्तु का स्थान ले ले। इसके अलावा, हमारे

बुनकर का श्रम सामाजिक श्रम-विभाजन की एक मान्य शाखा तो हो सकता है, परन्तु यह बात उसके २० गज कपड़े की उपयोगिता की गारन्टी करने के लिये काफ़ी नहीं है। यदि समाज की कपड़े की आवश्यकता—और प्रत्येक दूसरी आवश्यकता की तरह इस प्रकार की आवश्यकता की भी एक सीमा होती है—प्रतिद्वंद्वी बुनकरों की पैदावार से पहले ही तृप्त हो गयी है, तो हमारे मित्र की पैदावार फ़ालतू, अनावश्यक और इसलिये अनुपयोगी हो जाती है। यह तो सही है कि जब घोड़ा मुफ़्त में मिलता हो, तो कोई उसके दांत नहीं देखता, लेकिन हमारा मित्र लोगों को तोहफ़े बांटने के लिये मण्डी में नहीं घूमता। लेकिन मान लीजिये कि उसकी पैदावार वास्तव में उपयोग-मूल्य सिद्ध होती है और इस प्रकार मुद्रा को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। तब सवाल उठता है कि वह कितनी मुद्रा को अपनी ओर आकर्षित करेगी? इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रश्न का उत्तर इस वस्तु के दाम के रूप में, अर्थात् उसके मूल्य के परिमाण के व्याख्याता के रूप में, पहले से ही दे दिया गया है। मूल्य का हिसाब लगाने में यदि हमारा मित्र आकस्मिक कोई ग़लती कर गया है, तो उसकी ओर हम यहां कोई ध्यान नहीं देंगे,—ऐसी ग़लती मंडी में जल्दी ही ठीक हो जाती है। हम यह भी माने लेते हैं कि उसने अपनी पैदावार पर केवल उतना ही श्रम-काल ख़र्च किया है, जितना सामाजिक दृष्टि से औसतन आवश्यक है। अतएव, दाम केवल उसके माल में मूर्त होने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा का मूल्य-नाम है। लेकिन हमारे बुनकर से पूछे बिना और उसके पीठ पीछे कपड़ा बुनने की पुराने ढंग की प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है। जो श्रम-काल कल तक निस्सन्देह एक गज कपड़े के उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक था, वह आज आवश्यक नहीं रहता। यह बात ऐसी है, जिसे मुद्रा का मालिक हमारे मित्र के प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा बताये गये दामों के आधार पर सिद्ध करने के लिये अत्यन्त उत्सुक है। हमारे मित्र के दुर्भाग्य से बुनकर भी संख्या में बहुत थोड़े और दुर्लभ हों, ऐसी बात नहीं है। अन्त में मान लीजिये कि मण्डी में कपड़े के जितने भी टुकड़े मौजूद हैं, उनमें से किसी में भी सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल से अधिक श्रम-काल नहीं लगा है। इसके बावजूद यह मुमकिन है कि कुल मिलाकर इन सब टुकड़ों पर आवश्यकता से अधिक श्रम-काल ख़र्च हो गया हो। यदि २ शिलिंग फ़ी गज के सामान्य भाव पर सारा कपड़ा मण्डी में नहीं खप पाता, तो इससे यह साबित हो जाता है कि समाज के कुल श्रम का आवश्यकता से अधिक भाग बुनाई के रूप में ख़र्च कर डाला गया है। इसका असर वही होता है, जो प्रत्येक अलग-अलग बुनकर द्वारा अपनी ख़ास पैदावार पर सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल से अधिक श्रम-काल ख़र्च कर देने से होता है। यहां वह जर्मन कहावत लागू होगी कि "साथ पकड़े गये, साथ ही लटका दिये गये"। मण्डी में जितना कपड़ा मौजूद है, वह सब केवल एक वाणिज्य-वस्तु गिना जाता है, जिसका हरेक टुकड़ा उसका केवल एक अशेष भाजक होता है। और सच पूछिये, तो हर एक-एक गज कपड़े का मूल्य भी सजातीय मानव-श्रम की एक सी, निश्चित एवं सामाजिक रूप से निर्धारित मात्रा का भौतिक रूप मात्र ही है।[1]

---

[1]एन० एफ़० डेनियलसन (निकोलाई—अन) के नाम २८ नवम्बर १८७८ के अपने पत्र में मार्क्स ने सुझाव दिया था कि इस वाक्य को यूं बदल दिया जाये: "और सच पूछिये, तो हर एक-एक गज़ कपड़े का मूल्य तमाम गज़ों के ऊपर ख़र्च किये गये सामाजिक श्रम के एक भाग का भौतिक रूप मात्र ही है।" 'पूंजी' के प्रथम खण्ड के दूसरे जर्मन संस्करण की

अतएव, यहां हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि मालों को मुद्रा से प्रेम हो गया है, मगर "the course of true love never did run smooth" ("सच्चे प्रेम का मार्ग सदा कांटों से भरा होता है")। श्रम का परिमाणात्मक विभाजन भी ठीक वैसे ही स्वयंस्फूर्त तथा आकस्मिक ढंग से होता है, जैसे ही उसका गुणात्मक विभाजन होता है। इसलिए मालों के मालिकों को पता चलता है कि जिस श्रम-विभाजन ने उनको निजी तौर पर उत्पादन करने वाले स्वतंत्र उत्पादक का रूप दे दिया है, उसी ने उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया और उस प्रक्रिया के भीतर अलग-अलग उत्पादकों के पारस्परिक सम्बंधों को भी इन उत्पादकों की इच्छा से सर्वथा स्वतंत्र कर दिया है और व्यक्तियों की दिखावटी पारस्परिक स्वाधीनता के पूरक के तौर पर पैदावार के माध्यम से, या पैदावार के ज़रिये, सामान्य एवं पारस्परिक पराधीनता की एक व्यवस्था क़ायम हो गयी है।

श्रम-विभाजन श्रम की पैदावार को माल में बदलता है और इस प्रकार उसका आगे मुद्रा में बदला जाना ज़रूरी बना देता है। इसके साथ-साथ श्रम-विभाजन के फलस्वरूप[1] इस पदार्थान्तरण का सम्पन्न होना बिल्कुल संयोग की बात बन जाता है। किन्तु यहां हमारा सम्बंध घटना के केवल समग्र रूप से है, और इसलिए हम यह माने लेते हैं कि उसकी सामान्य ढंग से प्रगति होती है। इसके अलावा, यदि मालों का परिवर्तन किसी भी तरह होना ही है, यानी अगर माल ऐसा नहीं है, जो किसी भी तरह नहीं बिक सकता, तो उसका रूपान्तरण अवश्य होता है, भले ही उसके एवज़ में मिलने वाला दाम मूल्य की अपेक्षा असाधारण ढंग से ज़्यादा या कम हो।

बेचने वाले के माल का स्थान सोना ले लेता है, ख़रीदने वाले के सोने के स्थान पर एक माल आ जाता है। यहां हमारी आंखों के सामने आने वाला तथ्य यह है कि एक माल और सोना – यानी २० गज़ कपड़ा और २ पौण्ड – हस्तांतरित और स्थानांतरित हुए हैं, या यूं कहिये कि उनका विनिमय हुआ है। लेकिन माल का किस चीज़ के साथ विनिमय हुआ है? ख़ुद उसके मूल्य ने जो रूप धारण कर लिया है, उसके साथ, यानी सार्वत्रिक सम-मूल्य के साथ। और सोने का किस चीज़ के साथ विनिमय हुआ है? उसके अपने उपयोग-मूल्य के एक विशिष्ट रूप के साथ। कपड़े के मुक़ाबले में खड़े होने पर सोना मुद्रा का रूप क्यों धारण कर लेता है? इसलिए कि कपड़े का २ पौंड का दाम, यानी मुद्रा के रूप में उसका अभिधान, पहले से ही मुद्रा के रूप में सोने के साथ कपड़े का समीकरण कर चुका है। कोई भी माल, जब वह हस्तांतरित होता है, यानी ज्यों ही उसका उपयोग-मूल्य सचमुच उस सोने को अपनी ओर आकर्षित करता है, जो इसके पहले केवल भावगत ढंग से ही उसके दाम में विद्यमान था, त्यों ही वह अपने मूल माल-रूप को त्याग देता है। इसलिए किसी भी माल के दाम का, यानी उसके भावगत मूल्य-रूप का मूर्त हो जाना साथ ही मुद्रा के भावगत उपयोग-मूल्य का भी मूर्त हो जाना है। इसी प्रकार, किसी माल का मुद्रा में बदल जाना साथ ही मुद्रा का माल में बदल जाना भी है। देखने में एक प्रक्रिया मालूम होने वाली वास्तव में दोहरी प्रक्रिया है। माल के मालिक के ध्रुव पर खड़े होकर देखिये, तो वह बिक्री है, और मुद्रा के मालिक के

---

मार्क्स की एक निजी प्रति में भी इसी से मिलता-जुलता परिवर्तन किया गया था, – परन्तु यह परिवर्तन ख़ुद मार्क्स की लिखावट में नहीं है। (रूसी संस्करण में मार्क्सवाद-लेनिनवाद इंस्टीट्यूट का फ़ुटनोट।)

विरोधी ध्रुव के दृष्टिकोण से देखिये, तो वह ख़रीद है। दूसरे शब्दों में, बिक्री ख़रीद भी, यानी मा – मु मु – मा, होती है।[1]

यहां तक हमने मनुष्यों की केवल एक ही आर्थिक स्थिति पर विचार किया है, और वह है उनकी मालों के मालिकों की स्थिति, जिस स्थिति में वे ख़ुद अपने श्रम की पैदावार को हस्तांतरित करके दूसरों के श्रम की पैदावार को हस्तगत कर लेते हैं। इसलिए यदि माल का एक मालिक किसी दूसरे ऐसे मालिक से मिलना चाहता है, जिसके पास मुद्रा हो, तो उसके लिए ज़रूरी है कि या तो उस दूसरे व्यक्ति के – अर्थात् ख़रीदार के – श्रम की पैदावार ख़ुद मुद्रा हो, यानी सोना अथवा वह पदार्थ हो, जिससे मुद्रा बनती है, और या उसकी पैदावार पहले से अपना चोला बदल चुकी हो और उपयोगी वस्तु का अपना मूल रूप त्याग चुकी हो। मुद्रा की भूमिका अदा करने के लिए, ज़ाहिर है, यह ज़रूरी है कि सोना किसी न किसी स्थान पर मण्डी में प्रवेश कर जाये। यह स्थान सोने का उत्पादन-स्थल होता है, जहां इस धातु की, श्रम की तात्कालिक पैदावार के रूप में, समान मूल्य की किसी अन्य पैदावार के साथ अदला-बदली होती है। बस इसी क्षण से सोना सदा किसी न किसी माल के मूर्त्त रूप प्राप्त दाम का प्रतिनिधित्व करता है।[2] अपने उत्पादन-स्थल पर अन्य मालों के साथ सोने का जो विनिमय होता है, उसके अलावा, सोना चाहे जिसके हाथ में हो, वह किसी ऐसे माल का परिवर्तित रूप होता है, जिसे उसके मालिक ने हस्तांतरित कर दिया है; वह बिक्री की, अथवा पहले रूपान्तरण मा – मु की पैदावार होता है।[3] जैसा कि हमने ऊपर देखा था, सोना इसलिए भावगत मुद्रा, अथवा मूल्यों की माप, हो गया कि सब माल उससे अपने मूल्यों को मापने लगे थे और इस प्रकार उपयोगी वस्तुओं के तौर पर उनके प्राकृतिक रूप उससे भावगत ढंग से मुक़ाबला करने लगे थे, और उसे उन्होंने अपने मूल्य का रूप बना लिया था। वह वास्तविक मुद्रा बना है मालों के आम हस्तांतरण के फलस्वरूप उपयोगी वस्तुओं के रूप में मालों के प्राकृतिक रूपों से स्थान-परिवर्तन करके और इस प्रकार वास्तव में उनके मूल्यों का मूर्त्त रूप बनकर। जब माल यह मुद्रा-रूप धारण करते हैं, तब वे अपने को सजातीय मानव-श्रम के सम-रूप एवं सामाजिक दृष्टि से मान्य अवतारों में रूपान्तरित करने के लिए अपने प्राकृतिक उपयोग-मूल्य को और उस विशेष ढंग के श्रम को, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं, इस तरह अपने से अलग कर देते हैं कि उनका लेश मात्र भी बाक़ी नहीं रहता। किसी सिक्के को महज़

---

[1] "Toute vente est achat" ["हर बिक्री ख़रीद होती है"] (Dr. Quesnay: "*Dialogues sur le Commerce et les Travaux des Artisans.*" Physiocrates ed. Daire का संस्करण, भाग १, Paris, 1846, पृ० १७०), या, जैसा कि क्वेज़ने ने अपनी रचना "*Maximes générales*" में कहा है, "Vendre est acheter" ["बेचना ख़रीदना है"]।

[2] "Le prix d'une marchandise ne pouvant être payé que par le prix d'une autre marchandise" ["किसी माल का दाम अदा करने का केवल एक यही तरीक़ा है कि किसी और माल के दाम के द्वारा उसे निपटा दिया जाये"] (Mercier de la Rivière: "*L'Ordre naturel et essentiel de sociétés politiques*". Physiocrates ed. Daire का संस्करण, भाग २, पृ० ५५४)।

[3] "Pour avoir cet argent, il faut avoir vendu" ["इस मुद्रा को हासिल करने के लिए उसने ज़रूर कोई चीज़ बेची होगी"] (उप० पु०, पृ० ५४३)।

देखकर हम यह नहीं बता सकते कि उसका किस ख़ास माल से विनिमय हुआ है। अपने मुद्रा-रूप में सब माल एक से दिखाई देते हैं। इसलिए मुद्रा कूड़ा हो सकती है, हालांकि कूड़ा मुद्रा नहीं होता। हम यह मानकर चलेंगे कि सोने के जिन दो टुकड़ों के एवज़ में हमारे बुनकर ने अपना कपड़ा त्याग दिया है, वे एक क्वार्टर गेहूं का रूपान्तरित रूप हैं। कपड़े की बिक्री, मा–मु, साथ ही उसकी ख़रीद, मु–मा, भी होती है। लेकिन बिक्री उस प्रक्रिया का पहला कर्म है, जो एक विरोधी ढंग के कर्म से, अर्थात् एक बाइबल की ख़रीद से, समाप्त होती है; दूसरी ओर, कपड़े की ख़रीद उस प्रक्रिया को समाप्त करती है, जो एक विरोधी ढंग के कर्म से, अर्थात् गेहूं की बिक्री से, आरम्भ हुई थी। मा–मु (कपड़ा–मुद्रा), जो मा–मु–मा (कपड़ा–मुद्रा–बाइबल) की पहली अवस्था है, मु–मा (मुद्रा–कपड़ा) भी है, जो एक दूसरी प्रक्रिया की, यानी मा–मु–मा (गेहूं–मुद्रा –कपड़ा) की अन्तिम अवस्था है। अतएव, किसी माल का पहला रूपान्तरण, यानी किसी माल का मुद्रा में परिवर्तन, अनिवार्य रूप से सदा किसी अन्य माल का दूसरा रूपान्तरण, अर्थात् उसका मुद्रा से माल में परिवर्तन, भी होता है।[1]

### मु–मा, अथवा ख़रीद। माल का दूसरा और अन्तिम रूपान्तरण

मुद्रा चूंकि अन्य सब मालों की रूपान्तरित शकल है और उनके सामान्य हस्तांतरण का फल होती है, इसलिए उसे बिना किसी बाधा या नियंत्रण के हस्तांतरित किया जा सकता है। मुद्रा सब दामों को पीछे की ओर से पढ़ती है और इस तरह मानों अन्य सब मालों में अपने को प्रतिबिम्बित करती है, और वे उसे ख़ुद अपने उपयोग-मूल्य को व्यवहार में लाने के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करते हैं। इसके साथ-साथ दाम, यानी जिन्हें मुद्रा से प्रेम-निवेदन करने वाले मालों के नयन कहा जा सकता है, मुद्रा की मात्रा की ओर संकेत करके उसकी परिवर्तनीयता की सीमाओं को निश्चित करते हैं। चूंकि प्रत्येक माल मुद्रा बन जाने पर माल के रूप में ग़ायब हो जाता है, इसलिए ख़ुद मुद्रा को देखकर यह बताना असम्भव है कि वह अपने मालिक के हाथ में कैसे पहुंची है या किस वस्तु को मुद्रा में बदला गया है। उसका मूल कुछ भी हो, मुद्रा में से कभी बू नहीं आती (non olet)। वह एक तरफ़ एक बिके हुए माल का, तो दूसरी तरफ़ एक ख़रीदे जाने वाले माल का भी प्रतिनिधित्व करती है।[2]

---

[1] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सोने या चांदी का वास्तविक उत्पादक इसका अपवाद होता है। वह अपनी पैदावार को पहले बेचता नहीं, बल्कि बिना बेचे ही उसका किसी अन्य माल से सीधा विनिमय कर लेता है।

[2] "Si l'argent représente, dans nos mains, les choses que nous pouvons désirer d'acheter, il y représente aussi les choses que nous avons vendues pour cet argent" ["यदि हमारे हाथ में मुद्रा उन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिनको हम ख़रीदना चाहते हैं, तो साथ ही वह उन वस्तुओं का भी प्रतिनिधित्व करती है, जिनको हमने इस मुद्रा को प्राप्त करने के लिए बेच डाला है"] (Mercier de la Rivière, उप० पु०, पृ० ५८६)।

मु–मा, जो कि ख़रीद है, साथ ही मा–मु, यानी बिक्री, भी होती है; एक माल का अन्तिम रूपान्तरण किसी और माल का पहला रूपान्तरण होता है। जहां तक हमारे बुनकर का सम्बंध है, उसके माल की ज़िन्दगी बाइबल के साथ ख़तम हो जाती है, जिसमें उसने अपने २ पौंडों को बदल डाला है। लेकिन मान लीजिये कि जिसने उसे बाइबल बेची है, वह बुनकर द्वारा मुक्त किये गये २ पौंडों को ब्राण्डी में बदल डालता है। मा–मु–मा (कपड़ा–मुद्रा–बाइबल) की अन्तिम अवस्था मु–मा साथ ही मा–मु–मा (बाइबल–मुद्रा–ब्राण्डी) की पहली अवस्था भी है। किसी ख़ास माल को पैदा करने वाले के पास बेचने के लिए केवल एक ही माल होता है। उसे वह अकसर बहुत बड़े-बड़े परिमाणों में बेचता है। लेकिन उसकी नाना प्रकार की अनेक आवश्यकताएं उसे मजबूर करती हैं कि अपने माल के उसे जो दाम मिलें, या इस तरह जो रक़म मुक्त हो, उसे वह बहुत सी ख़रीदारियों में बांटकर ख़र्च करे। चुनांचे, एक बिक्री के फलस्वरूप विविध प्रकार की वस्तुओं की अनेक ख़रीदारियां होती हैं। इस प्रकार किसी एक माल के रूपान्तरण की अन्तिम अवस्था अन्य मालों के प्रथम रूपान्तरणों का जोड़ होती है।

अब यदि हम किसी एक माल के सम्पूरित रूपान्तरण पर विचार करें, तो सब से पहले तो यह प्रकट होता है कि वह दो विरोधी एवं पूरक प्रक्रियाओं से मिलकर बना होता है, एक मा–मु और दूसरी मु–मा। माल के ये दो परस्पर विरोधी तत्त्वांतरण उसके मालिक के दो परस्पर विरोधी सामाजिक कृत्यों के फलस्वरूप होतें हैं, और ये सामाजिक कृत्य ख़ुद मालिक की दो आर्थिक भूमिकाओं पर अपनी-अपनी छाप अंकित कर देते हैं। बिक्री करने वाले व्यक्ति के रूप में वह बेचने वाला होता है, ख़रीद करने वाले व्यक्ति के रूप में वह ख़रीदार होता है। लेकिन जिस तरह किसी भी माल के इस प्रकार के तत्त्वांतरण के समय उसके दो रूप–माल-रूप और मुद्रा-रूप–साथ-साथ, मगर दो विरोधी ध्रुवों पर विद्यमान होते हैं, ठीक उसी प्रकार हर बेचने वाले के मुक़ाबले में एक ख़रीदार होता है और हर ख़रीदार के मुक़ाबले में एक बेचने वाला होता है। जिस समय कोई ख़ास माल बारी-बारी से अपने दो तत्त्वांतरणों में से गुज़रता है,–यानी जब वह पहले माल से मुद्रा में और फिर मुद्रा से किसी और माल में बदलता है,–उसी दौरान में माल के मालिक की भूमिका बेचने वाले से ख़रीदार की भूमिका में बदल जाती है। अतएव, बेचने वाले और ख़रीदार की ये भूमिकाएं स्थायी नहीं होतीं, बल्कि वे मालों के परिचलन में भाग लेने वाले अनेक व्यक्तियों से बारी-बारी से सम्बन्धित होती रहती हैं।

किसी भी माल के सम्पूर्ण रूपान्तरण के यदि सबसे सरल रूप को लिया जाये, तो उसमें चार चरमावस्थाएं और नाटक के तीन पात्र (three dramatis personae) होते हैं। पहले माल मुद्रा का सामना करता है; मुद्रा माल के मूल्य द्वारा धारण किया हुआ रूप होती है और अपनी ठोस और वास्तविक शकल में ख़रीदार की जेब में होती है। इस प्रकार माल के मालिक का मुद्रा के मालिक से सम्पर्क क़ायम हो जाता है। अब जैसे ही माल मुद्रा में बदल दिया जाता है, वैसे ही मुद्रा उसका अस्थायी सम-मूल्य रूप बन जाती है, जिस सम-मूल्य रूप का उपयोग-मूल्य अन्य मालों के शरीरों में पाया जाता है। पहले तत्त्वान्तरण का अन्तिम चरण, यानी मुद्रा दूसरे तत्त्वांतरण का प्रस्थान-बिन्दु होती है। जो व्यक्ति पहले सौदे में विक्रेता होता है, वह, इस प्रकार, दूसरे सौदे में ग्राहक बन जाता है, और

मालों का एक तीसरा मालिक विक्रेता के रूप में घटनास्थल पर प्राकर उपस्थित हो जाता है।[1]

किसी भी माल के रूपान्तरण में जो दो, एक दूसरे की उल्टी प्रवस्थाएं शामिल होती हैं, उनको यदि जोड़ दिया जाये, तो एक वृत्ताकार गति, अथवा एक परिपथ बन जाता है: पहले माल-रूप, फिर उस रूप का परित्याग और अन्त में फिर माल-रूप में लौट जाना। इसमें सन्देह नहीं कि माल यहां दो भिन्न-भिन्न स्वरूपों में सामने आता है। प्रस्थान-बिन्दु पर वह अपने मालिक के लिए उपयोग-मूल्य नहीं होता, समाप्ति-बिन्दु पर वह उपयोग-मूल्य होता है। इसी प्रकार मुद्रा पहली प्रवस्था में मूल्य के ठोस स्फटिक के रूप में सामने प्राती है, जिसमें माल बड़ी उत्सुकता के साथ बदल जाता है, और दूसरी प्रवस्था में वह महज़ अस्थायी सम-मूल्य के रूप में घुलकर रह जाती है, जिसका स्थान बाद में कोई उपयोग-मूल्य ले लेता है।

जिन दो रूपान्तरणों से मिलकर यह परिपथ तैयार होता है, वे साथ ही साथ दो अन्य मालों के उल्टे और आंशिक रूपान्तरण भी होते हैं। एक ही माल (कपड़ा) खुद अपने रूपान्तरणों का क्रम प्रारम्भ करता है और साथ ही एक दूसरे माल (गेहूं) के रूपान्तरण को पूरा भी कर देता है। पहली प्रवस्था में, यानी बिक्री में, कपड़ा ये दोनों भूमिकाएं खुद अपने शरीर द्वारा सम्पन्न करता है। लेकिन उसके बाद सोने में बदल जाने पर वह अपना दूसरा और अन्तिम रूपान्तरण पूरा करता है और साथ ही एक तीसरे माल का पहला रूपान्तरण सम्पन्न कराने में मदद देता है। चुनांचे अपने रूपान्तरणों के दौरान में कोई भी माल जिस परिपथ से गुजरता है, वह अन्य मालों के परिपथों से इस तरह उलझा रहता है कि उसे उनसे अलग नहीं किया जा सकता। तमाम अलग-अलग परिपथों का कुल जोड़ मालों का परिचलन कहलाता है।

मालों का परिचलन पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय (अदला-बदली) से न केवल रूप में, बल्कि सार-तत्त्व में भी भिन्न होता है। घटनाओं के क्रम पर एक नज़र डाल कर देखिये, बात साफ़ हो जायेगी। सच पूछिये, तो बुनकर ने अपने कपड़े का विनिमय बाइबल से किया है, यानी उसने अपना माल किसी और के माल से बदल लिया है। लेकिन यह बात केवल वहीं तक सच है, जहां तक खुद उसका अपना सम्बंध है। जिसने बाइबल बेची है, उसे कोई ऐसी चीज़ चाहिए जो उसके दिल को थोड़ी गरमाहट पहुंचा सके। जिस प्रकार हमारे बुनकर को यह मालूम नहीं था कि उसके कपड़े का गेहूं के साथ विनिमय हुआ है, उसी प्रकार बाइबल बेचने वाले को अपनी बाइबल का कपड़े के साथ विनिमय करने का तनिक भी ख़याल न था। 'क' के माल का स्थान 'ख' का माल ले लेता है। लेकिन 'क' और 'ख' खुद इन मालों का विनिमय नहीं करते। बेशक यह भी मुमकिन है कि 'क' और 'ख' एक ही समय में और एक दूसरे से ख़रीदारी कर डालें, पर इस प्रकार के सौदे अपवाद-स्वरूप होते हैं, वे मालों के परिचलन की सामान्य परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम कदापि नहीं होते। यहां हम एक ओर यह देखते हैं कि किस प्रकार मालों का विनिमय उन तमाम स्थानीय एवं व्यक्तिगत

---

[1] "Il y a donc ... quatre termes et trois cotractants, dont l'un intervient deux fois" ["अतएव, इसमें... चार चरमावस्थाएं और सौदा करने वाले तीन पक्ष होते हैं, जिनमें से एक पक्ष दो बार हस्तक्षेप करता है"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ६०६)।

बंधनों को तोड़ डालता है, जो प्रत्यक्ष विनिमय के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े होते हैं, और सामाजिक श्रम की पैदावार के परिचलन को विकसित करता है; और दूसरी ओर हम यहां यह देखते हैं कि किस प्रकार मालों का विनिमय ऐसे सामाजिक सम्बंधों का एक पूरा जाल तैयार कर डालता है, जो स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित होते हैं और नाटक के पात्रों के नियंत्रण से सर्वथा स्वतंत्र रहते हैं। क्योंकि किसान ने अपना गेहूं बेच डाला है, इसीलिए बुनकर अपना कपड़ा बेच पाता है; हमारा वह ब्राण्डी-प्रेमी यदि अपनी बाइबल बेच पाता है, तो केवल इसीलिये कि बुनकर ने अपना कपड़ा बेच डाला है; और शराब बनाने वाला यदि अपनी जीवन-दायिनी सुरा बेच पाता है, तो केवल इसीलिये कि हमारे ब्राण्डी-प्रेमी ने अपनी अमरत्व-दायिनी पुस्तक (eau-de-vie) बेच डाली है; और इसी तरह क्रम आगे बढ़ता जाता है।

अतएव, परिचलन की प्रक्रिया, पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय की तरह, उपयोग-मूल्यों के स्थानांतरित और हस्तांतरित होने पर समाप्त नहीं हो जाती। किसी एक माल के रूपान्तरण के परिपथ से बाहर निकल जाने पर मुद्रा ग़ायब नहीं हो जाती। उसका तो लगातार परिचलन के क्षेत्र के उन नये स्थानों में प्रक्षेपण होता रहता है, जिनको दूसरे माल ख़ाली कर जाते हैं। मिसाल के लिए, कपड़े के सम्पूर्ण रूपन्तरण में, यानी कपड़ा – मुद्रा – बाइबल में, पहले कपड़ा परिचलन के बाहर चला जाता है और उसका स्थान मुद्रा ले लेती है, फिर बाइबल परिचलन के बाहर चली जाती है और एक बार फिर मुद्रा उसका स्थान ले लेती है। जब कोई माल किसी दूसरे माल का स्थान ले लेता है, तो मुद्रा-माल सदा किसी तीसरे व्यक्ति के हाथों में बना रहता है।[1] परिचलन के प्रत्येक रंध्र से मुद्रा पसीने की तरह बाहर निकलती रहती है।

कठमुल्लों के इस सूत्र से अधिक बचकानी बात और कोई नहीं हो सकती कि हर बिक्री क्योंकि ख़रीद होती है और हर ख़रीद बिक्री होती है, इसलिए मालों के परिचलन का लाज़िमी तौर पर यह मतलब है कि बिक्रियों और ख़रीदारियों का सदा संतुलन रहता है। यदि इस सूत्र का यह अर्थ है कि वास्तव में जितनी बिक्रियां होती हैं, उनकी संख्या सदा ख़रीदारियों की संख्या के बराबर रहती है, तो यह केवल एक पुनरुक्ति है। किन्तु इस सूत्र का वास्तविक उद्देश्य तो यह सिद्ध करना है कि हर बेचने वाला अपने ख़रीदार को साथ लेकर मण्डी में आता है। ऐसा कुछ नहीं होता। माल के मालिक और मुद्रा के मालिक के बीच, यानी दो ऐसे व्यक्तियों के बीच, जो एक दूसरे के वैसे ही विरोधी होते हैं, जैसे मक़नातीस के दो ध्रुव, बिक्री करना और ख़रीदना दोनों एक ही कार्य – यानी विनिमय – होते हैं। जब अकेला एक ही व्यक्ति बेचता भी है और ख़रीदता भी है, तब वे दो अलग-अलग कार्य होते हैं, जिनका स्वरूप दो ध्रुवों की भांति एक दूसरे का विरोधी होता है। अतएव बिक्री और ख़रीद के एकाकार होने का मतलब यह है कि माल यदि परिचलन के कीमियाई भभके में डाले जाने पर मुद्रा के रूप में फिर बाहर नहीं निकल आता, – दूसरे शब्दों में, यदि माल का मालिक उसे बेच नहीं पाता और इसलिये यदि मुद्रा का मालिक उसे ख़रीद नहीं पाता, – तो माल बेकार होता है। बिक्री और ख़रीद के एकाकार होने का, इसके अलावा, यह भी मतलब है कि यदि विनिमय हो जाता है, तो वह माल के जीवन में विश्राम का क्षण या अवकाश का दीर्घ अथवा अल्प

---

[1] यह बात स्वतःस्पष्ट भले ही हो, पर फिर भी अर्थशास्त्री और विशेष कर स्वतंत्र व्यापार के अधकचरे समर्थक (Free-trader Vulgaris) उसे प्रायः अनदेखा कर जाते हैं।

काल होता है। किसी भी माल का पहला रूपान्तरण चूंकि एक साथ बिक्री और ख़रीद दोनों होता है, इसलिये वह अपने में एक स्वतंत्र क्रिया होता है। ख़रीदार के पास अब माल होता है, बेचने वाले के पास मुद्रा, अर्थात् उसके पास एक ऐसा माल होता है, जो किसी भी क्षण परिचलन में प्रवेश करने को तैयार है। जब तक कि कोई दूसरा आदमी ख़रीदता नहीं, तब तक कोई नहीं बेच सकता। लेकिन सिर्फ़ इसलिये कि किसी आदमी ने अभी-अभी कोई चीज़ बेची है, उसके लिये यह ज़रूरी नहीं हो जाता कि वह फ़ौरन कुछ ख़रीद भी डाले। प्रत्यक्ष विनिमय समय, स्थान और व्यक्तियों के जितने बंधन लागू करता है, परिचलन उन सब को तोड़ डालता है। यह काम वह प्रत्यक्ष विनिमय के अन्तर्गत अपनी पैदावार को हस्तांतरित करने और किसी और व्यक्ति की पैदावार को प्राप्त करने के बीच जो प्रत्यक्ष एकात्म्य होता है, उसे भंग करके तथा एक बिक्री और एक ख़रीद के परस्पर विरोधी स्वरूप में बदलकर सम्पन्न करता है। यह कहना कि इन दो स्वतंत्र और परस्पर विरोधी कार्यों के बीच एक आन्तरिक एकता होती है और वे बुनियादी तौर पर एक होते हैं,—यह तो यह कहने के समान है कि यह आन्तरिक एकता एक बाहरी विरोध में व्यक्त होती है। यदि किसी माल के सम्पूर्ण रूपान्तरण की दो पूरक अवस्थाओं के बीच के समय का अन्तर बहुत लम्बा हो जाता है, यानी यदि बिक्री और ख़रीद का सम्बद्ध-विच्छेद बहुत उग्र रूप धारण कर लेता है, तो उनके बीच पाये जाने वाला अन्तरंग सम्बंध, उनकी एकता संकट पैदा करके अपनी सत्ता का प्रदर्शन करती है। उपयोग-मूल्य और मूल्य का विरोध; यह विरोध कि निजी श्रम को लाज़िमी तौर पर प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम की तरह प्रकट होना पड़ता है और श्रम के एक विशिष्ट, मूर्त प्रकार को अमूर्त मानव-श्रम के रूप में सामने आना पड़ता है; यह विरोध कि वस्तुओं का व्यक्तिकरण हो जाना और वस्तुओं द्वारा व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व—ये सारे विरोध और व्यतिक्रम, जो मालों में निहित होते हैं, माल के रूपान्तरण की परस्पर विरोधी अवस्थाओं में अपना ज़ोर दिखाते हैं और अपनी गति के रूपों को विकसित करते हैं। अतएव, इन रूपों का अर्थ संकट की संभावना है, और संकट की संभावना से अधिक उनका कुछ अर्थ नहीं है। जो मात्र सम्भावना है, वह वास्तविकता बनती है कुछ ऐसे सम्बंधों के एक लम्बे क्रम के फलस्वरूप, जिनका मालों के साधारण परिचलन के हमारे वर्तमान दृष्टिकोण में अभी कोई अस्तित्व नहीं है।[1]

---

[1] *"Zur Kritik der Politischen Oekonomie"* ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') में पृ० ७४-७६ पर जेम्स मिल के सम्बंध में मेरी टिप्पणियों को देखिये। जहां तक इस विषय का ताल्लुक़ है, वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की सफ़ाई पेश करने वाला अर्थशास्त्र ख़ास तौर पर दो तरीक़े इस्तेमाल करता है। एक तो वह मालों के परिचलन और पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय के अन्तरों को अनदेखा करके दोनों को एक में मिला देता है। दूसरे, वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली में लगे हुए व्यक्तियों के सम्बंधों को मालों के परिचलन से पैदा होने वाले सरल सम्बंधों में परिणत करके पूंजीवादी उत्पादन के विरोधों को रफ़ा-दफ़ा कर देता है। लेकिन मालों का उत्पादन और परिचलन ऐसी बातें हैं, जो न्यूनाधिक रूप से बहुत ही भिन्न प्रकार की उत्पादन-प्रणालियों में पायी जाती हैं। यदि हम उत्पादन की इन सभी प्रणालियों में समान रूप से पायी जाने वाली परिचलन की इन अमूर्त परिकल्पनाओं के सिवा और किसी चीज़ से परिचित नहीं है, तो सम्भवतः हम यह क़तई नहीं जान सकते कि इन

## ख) मुद्रा का चलन

श्रम की भौतिक पैदावार का परिचलन रूप-परिवर्तन मा—मु—मा के द्वारा सम्पन्न होता है। इस रूप-परिवर्तन के लिये आवश्यक होता है कि एक निश्चित मूल्य एक माल के रूप में क्रिया को आरम्भ करे और माल के रूप में ही उसे समाप्त कर दे। चुनांचे माल की गति एक परिपथ में होती है। दूसरी ओर, इस गति का रूप ऐसा है कि वह मुद्रा को पूरे परिपथ में से नहीं गुज़रने देता। परिणाम यह होता है कि मुद्रा वापिस नहीं लौटती, बल्कि अपने प्रस्थान-बिन्दु से बराबर अधिकाधिक दूर होती जाती है। जब तक बेचने वाला अपनी मुद्रा से चिपका रहता है, जो कि उसके माल की बदली हुई शकल होती है, तब तक वह माल अपने रूपान्तरण की पहली अवस्था में ही रहता है और रूपान्तरण के केवल आधे भाग को ही पूरा कर पाता है। लेकिन विक्रेता जैसे ही इस प्रक्रिया को पूरा कर देता है, जैसे ही वह अपनी बिक्री के अनुपूरक के रूप में ख़रीद भी कर डालता है, वैसे ही मुद्रा अपने मालिक के हाथ से फिर निकल जाती है। यह सच है कि यदि बाइबल ख़रीदने के बाद बुनकर थोड़ा और कपड़ा बेच डालता है, तो मुद्रा उसके हाथों में लौट आती है। लेकिन उसका यह लौट आना पहले २० गज़ कपड़े के परिचलन के कारण नहीं होता; उस परिचलन का तो यह नतीजा निकला था कि मुद्रा बाइबल बेचने वाले के हाथों में पहुंच गयी थी। बुनकर के हाथों में मुद्रा केवल उस वक़्त लौटती है, जब नये माल को लेकर परिचलन की क्रिया को दोहराया जाता है या उसका नवीकरण किया जाता है; और यह दोहरायी हुई क्रिया भी उसी नतीजे के साथ समाप्त हो जाती है, जिस नतीजे के साथ उसकी पूर्वगामी क्रिया समाप्त हो गयी थी। अतएव, मालों का परिचलन प्रत्यक्ष ढंगों से मुद्रा में जिस गति का संचार करता है, वह एक ऐसी अनवरत गति होती है, जिसके द्वारा मुद्रा अपने प्रस्थान-बिंदु से अधिकाधिक दूर हटती जाती है और जिसके दौरान में वह माल के एक मालिक के हाथ से दूसरे मालिक के हाथ में घूमती रहती है। गति के इस पथ को मुद्रा का चलन (cours de la monnaie) कहते हैं।

मुद्रा के चलन में एक ही क्रिया लगातार एक ही नीरस ढंग से दोहरायी जाती है। माल हमेशा विक्रेता के हाथ में रहता है, मुद्रा, ख़रीदने के साधन के रूप में, सदा ग्राहक के हाथ में रहती है। मुद्रा माल के दाम को वास्तविक रूप प्रदान करके सदा ख़रीदने के साधन का काम करती है। दाम के वास्तविक रूप प्राप्त करने के फलस्वरूप माल विक्रेता के पास से ग्राहक के पास पहुंच जाता है और मुद्रा ग्राहक के हाथ से निकलकर विक्रेता के हाथ में पहुंच जाती है, जहां किसी और माल के साथ वह फिर उसी प्रक्रिया में से गुज़रती है। इस तथ्य पर सदा पर्दा पड़ जाता है कि मुद्रा की गति का यह एकमुखी स्वरूप माल की गति के दोमुखी स्वरूप से उत्पन्न होता है। मालों के परिचलन की कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि देखने में बात इसकी उल्टी मालूम होती है। किसी भी माल का पहला रूपान्तरण ऊपर से देखने में न सिर्फ़ मुद्रा की ही, बल्कि ख़ुद माल की हरकत भी मालूम होता है; दूसरे

---

प्रणालियों में किन ख़ास-ख़ास बातों का अन्तर है, और न ही तब हम उनपर कोई निर्णय दे सकते हैं। बहुत ही घिसे-पिटे सत्यों को लेकर जैसा हंगामा अर्थशास्त्र में बरपा किया जाता है, वैसा और किसी विज्ञान में नहीं। उदाहरण के लिए, जे० बी० से को चूंकि यह मालूम है कि माल पैदावार होती है, इसलिए वह संकटों के अधिकारी विद्वान बन बैठे हैं।

रूपान्तरण में, इसके विपरीत, अकेली मुद्रा ही हरकत करती मालूम होती है। अपने परिचलन की पहली अवस्था में माल मुद्रा से स्थान-परिवर्तन करता है। तब वह, एक उपयोगी वस्तु के रूप में, परिचलन से बाहर निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है।[1] उसके बदले में हमारे पास उसका मूल्य-रूप, यानी मुद्रा रह जाती है। उसके बाद वह अपने स्वाभाविक रूप में नहीं, बल्कि मुद्रा के रूप में अपने परिचलन की दूसरी अवस्था में से गुजरता है। इसलिये गति की निरन्तरता को केवल मुद्रा ही क़ायम रखती है। वही गति, जो, जहां तक माल का सम्बंध है, दो परस्पर विरोधी ढंग की प्रक्रियाओं का जोड़ होती है, जब उसपर मुद्रा की गति के रूप में विचार किया जाता है, तब केवल एक ही गति होती है, जिसमें मुद्रा नित नये मालों के साथ स्थान-परिवर्तन करती रहती है। अतएव, मालों के परिचलन का जो परिणाम होता है,—यानी एक माल द्वारा दूसरे माल का स्थान लेना,—वह ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिससे मालूम पड़ता है कि यह मालों के रूप में परिवर्तन हो जाने का नतीजा नहीं है, बल्कि यह परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा के कार्य का परिणाम है, और वह ऐसा कार्य है, जो ऊपर से देखने में सर्वथा गतिहीन मालूम होने वाले मालों का परिचलन करता है और जिन हाथों में वे ग़ैर-उपयोग-मूल्य होते हैं, उनसे उनको निकालकर उन हाथों में पहुंचाता है, जिनमें वे उपयोग-मूल्य होते हैं, और सो भी उस दिशा में, जो सदा मुद्रा की गति की उल्टी दिशा होती है। मुद्रा लगातार मालों को परिचलन के बाहर निकालती और खुद उनका स्थान ग्रहण करती जाती है; इस तरह वह लगातार अपने प्रस्थान-बिन्दु से अधिकाधिक दूर हटती जाती है। इसलिये, मुद्रा की गति यद्यपि केवल मालों के परिचलन की ही अभिव्यंजना होती है, फिर भी इसकी उल्टी बात ही सत्य प्रतीत होती है और लगता है कि मालों का परिचलन मुद्रा की गति का परिणाम है।[2]

इसके अलावा, मुद्रा केवल इसीलिये परिचलन के माध्यम का काम करती है कि उसके रूप में मालों के मूल्य स्वतंत्र वास्तविकता प्राप्त कर लेते हैं, अतएव, परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा की गति वास्तव में केवल मालों की ही गति होती है, जिसके दौरान में उनके रूप बदलते जाते हैं। इसलिये मुद्रा के चलन में यह तथ्य साफ़-साफ़ दिखाई देना चाहिये। चुनांचे,[3] मिसाल के तौर पर, कपड़ा सबसे पहले अपने माल-स्वरूप को अपने मुद्रा-रूप में बदल डालता है। उसके पहले रूपान्तरण मा—मु का दूसरा पद, यानी मुद्रा-रूप, तब उसके अन्तिम रूपान्तरण मु—मा का पहला पद बन जाता है, जब कि वह फिर बाइबल में बदल जाता है।

---

[1]जहां माल बार-बार बेचा जाता है,—और ऐसी समस्या का फ़िलहाल हमारे लिये कोई अस्तित्व नहीं है,—वहां पर भी जब वह आख़िरी बार बेच दिया जाता है, तब वह परिचलन के क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है, जहां वह या तो जीवन-निर्वाह के साधन की तरह, या उत्पादन के साधन की तरह काम में आता है।

[2]"Il (l'argent) n'a d'autre mouvement que celui qui lui est imprimé par les productions" ["उस (मुद्रा) की उस गति के सिवा और कोई गति नहीं होती, जो श्रम से उत्पन्न वस्तुएं उसमें पैदा कर देती हैं"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८८५)।

[3]यहां पर ("चुनांचे, मिसाल के तौर पर..." से लेकर "गुंथे हुए होने का भी प्रतिबिम्ब है" तक) अंग्रेज़ी (अतः हिन्दी) पाठ चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार बदल दिया गया है।—सम्पा०

लेकिन रूप के ये दोनों परिवर्तन माल और मुद्रा के विनिमय, उनके पारस्परिक स्थान-परिवर्तन के फलस्वरूप होते हैं। वे ही सिक्के, जो बेचने वाले के हाथ में माल के हस्तांतरित रूप की तरह आते हैं, वे उसके हाथ से माल के सर्वथा हस्तांतरनीय रूप की तरह जाते हैं। वे दो बार स्थानांतरित होते हैं। कपड़े का पहला रूपान्तरण इन सिक्कों को बुनकर की जेब में डाल देता है, दूसरा रूपान्तरण उनको उसकी जेब से निकाल लेता है। एक ही माल दो बार जिन परस्पर उल्टे परिवर्तनों में से गुजरता है, वे इस बात में प्रतिबिम्बित होते हैं कि वे ही सिक्के दो बार, मगर उल्टी दिशाओं में स्थानांतरित हो जाते हैं।

इसके विपरीत, यदि रूपान्तरण की केवल एक अवस्था ही पूरी होती है, यानी अगर या तो केवल विक्रय या केवल क्रय ही होता है, तो मुद्रा का एक खास सिक्का केवल एक बार अपना स्थान बदलता है। उसका दूसरी बार अपने स्थान को बदलना सदा माल के दूसरे रूपान्तरण को व्यक्त करता है, जब कि उसके मुद्रा-रूप का परिवर्तन फिर से होता है। उन्हीं सिक्कों का बार-बार अपना स्थान बदलना न केवल उन असंख्य रूपान्तरणों के क्रम का प्रतिबिम्ब है, जिनमें से एक अकेला माल गुजर चुका है, बल्कि वह आम तौर पर मालों की दुनिया में होने वाले असंख्य रूपान्तरणों के एक दूसरे के साथ गुंथे हुए होने का भी प्रतिबिम्ब है। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि यह सब केवल मालों के साधारण परिचलन पर ही लागू होता है, और अभी हम केवल इसी रूप पर विचार कर रहे हैं।

प्रत्येक माल, जब वह पहली बार परिचलन में प्रवेश करता है और उसका प्रथम रूप-परिवर्तन होता है, तो केवल फिर परिचलन के बाहर आने के लिये ही ऐसा करता है, और उसका स्थान दूसरे माल ले लेते हैं। इसके विपरीत, मुद्रा, परिचलन के माध्यम के रूप में, लगातार परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही रहती है और उसी में चक्कर काटती रहती है। इसलिये सवाल यह उठता है कि यह क्षेत्र लगातार कितनी मुद्रा हजम करता जाता है?

किसी भी देश में हर रोज एक ही समय पर, लेकिन अलग-अलग जगहों में मालों के बहुत से एकांगी रूपान्तरण होते रहते हैं, यानी, दूसरे शब्दों में, बहुत से क्रय और विक्रय होते रहते हैं। मालों का उनके दामों के द्वारा पहले से ही मुद्रा की निश्चित मात्राओं के साथ कल्पना में समीकरण कर लिया जाता है। और चूंकि परिचलन के जिस रूप पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें मुद्रा और माल सदा शारीरिक रूप में आमने-सामने आकर खड़े होते हैं, और एक क्रय के सकारात्मक ध्रुव पर खड़ा हो जाता है और दूसरा विक्रय के नकारात्मक ध्रुव पर, इसलिये यह बात साफ़ है कि परिचलन के माध्यम की आवश्यक मात्रा पहले से ही इस बात से निश्चित हो जाती है कि इन सब मालों के दामों को जोड़ने पर कुल कितनी रक़म बैठती है। सच पूछिये, तो मुद्रा असल में सोने की उस मात्रा या रक़म का प्रतिनिधित्व करती है, जो मालों के दामों के कुल जोड़ के द्वारा पहले से ही भावगत ढंग से अभिव्यक्त हो चुकी है। इसलिये इन दो रक़मों की समानता स्वतःस्पष्ट है। किन्तु हम यह जानते हैं कि मालों के मूल्यों के स्थिर रहने पर उनके दाम सोने के (मुद्रा के पदार्थ के) मूल्य-परिवर्तन के साथ घटते-बढ़ते रहते हैं। सोने का मूल्य जितना गिरता है, मालों के दाम उसी अनुपात में बढ़ जाते हैं; वह जितना बढ़ता है, मालों के दाम उसी अनुपात में गिर जाते हैं; अब यदि सोने के मूल्य में इस तरह के चढ़ाव या गिराव के फलस्वरूप मालों के दाम गिरते या चढ़ते हैं, तो चालू मुद्रा की मात्रा भी उसी हद तक कम हो जाती है या बढ़ जाती है। यह सच है कि इस सूरत में स्वयं मुद्रा के कारण ही

चालू माध्यम की मात्रा में परिवर्तन होता है। परन्तु यह परिवर्तन परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा जो काम करती है, उसके कारण नहीं होता, बल्कि वह मूल्य की माप के रूप में जो काम करती है, उसके कारण यह परिवर्तन होता है। मालों का दाम पहले मुद्रा के मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है, और फिर परिचलन के माध्यम की मात्रा मालों के दामों के प्रत्यक्ष अनुपात में घटती-बढ़ती है। ठीक यही बात उस सूरत में भी होगी, यदि मिसाल के लिये सोने का मूल्य गिरने के बजाय मूल्य की माप के रूप में उसका स्थान चांदी ले ले, या यदि चांदी का मूल्य बढ़ने के बजाय सोना चांदी को मूल्य की माप के पद से हटा दे। एक सूरत में यह होगा कि पहले जितना सोना चालू था, उससे ज्यादा चांदी चालू हो जायेगी; दूसरी सूरत में यह होगा कि पहले जितनी चांदी चालू थी, उससे कम सोना चालू हो जायेगा। हर सूरत में मुद्रा के पदार्थ का मूल्य, यानी उस माल का मूल्य, जो मूल्य की माप का काम करता है, थोड़ा-बहुत बदल जायेगा, और चुनांचे मालों के मूल्यों को मुद्रा के रूप में व्यक्त करने वाले उनके दाम भी बदल जायेंगे, और इसलिये इन दामों को मूर्त्त रूप देना जिसका काम है, उस चालू मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन हो जायेगा। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि परिचलन के क्षेत्र में एक सूराख़ होता है, जिसके ज़रिये सोना (या आम तौर पर मुद्रा का पदार्थ) एक निश्चित मूल्य के माल के रूप में इस क्षेत्र में घुस आता है। अतएव, जब मुद्रा मूल्य की माप के रूप में अपने कामों को पूरा करना शुरू करती है, यानी जब वह दामों को व्यक्त करना शुरू करती है, तब उसका मूल्य पहले से ही निश्चित होता है। अब यदि उसका मूल्य गिर जाये, तो इसका प्रभाव सब से पहले तो बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन-स्थल पर उनके साथ जिन मालों का प्रत्यक्ष विनिमय होता है, उन मालों के दामों के परिवर्तन के रूप में दिखाई देता है। बाक़ी सभी मालों के अधिकांश के मूल्य का अनुमान अब भी बहुत दिनों तक मूल्य की माप के भूतपूर्व, पुराने और काल्पनिक मूल्य के द्वारा ही लगाया जाता रहेगा। अविकसित पूंजीवादी समाजों में तो ख़ास तौर पर ऐसा होता रहेगा। फिर भी मालों के सामूहिक मूल्य-सम्बंध के द्वारा एक माल से दूसरे माल को छूत लगती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उनके दाम, वे चाहे सोने के रूप में अभिव्यक्त होते हों और चाहे चांदी के रूप में, धीरे-धीरे उनके तुलनात्मक मूल्यों द्वारा निर्धारित अनुपातों के स्तर पर आ जाते हैं; यहां तक कि सभी मालों के मूल्यों का मुद्रा का काम करने वाली धातु के नये मूल्य के रूप में अनुमान लगाया जाने लगता है। इस क्रिया के साथ-साथ बहुमूल्य धातुओं की मात्रा में लगातार वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि इस कारण होती है कि बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन-स्थल पर उनके साथ जिन वस्तुओं की सीधी अदला-बदली होती है, उनका स्थान लेने के लिये बहुमूल्य धातुएं धारा-प्रवाह की तरह आती जाती हैं। अतएव, जिस अनुपात में माल आम तौर पर अपने सच्चे दाम प्राप्त कर लेते हैं, यानी जिस अनुपात में उनके मूल्यों का बहुमूल्य धातु के गिरे हुए मूल्य के द्वारा अनुमान लगाया जाने लगता है, उसी अनुपात में इन नये दामों को मूर्त रूप देने के लिये आवश्यक बहुमूल्य धातु की भी पहले से ही व्यवस्था कर दी जाती है। सोने और चांदी के नये भण्डारों का पता लगने पर जो परिणाम देखने में आये, उनको एकांगी ढंग से देखने के कारण १७ वीं और ख़ास तौर पर १८ वीं सदी में कुछ अर्थशास्त्री इस ग़लत नतीजे पर पहुंच गये कि मालों के दाम इसलिये बढ़ गये हैं कि अब सोने और चांदी की पहले से ज्यादा मात्रा परिचलन के माध्यम का काम करने लगी है। आगे हम

सोने का मूल्य स्थिर मान कर चलेंगे; जब कभी हम किसी माल के दाम का अनुमान लगाते हैं, तब क्षणिक रूप से सोने का मूल्य सचमुच स्थिर होता भी है।

अतएव, यदि यह मानकर चला जाये कि सोने का मूल्य स्थिर है, तो परिचलन के माध्यम की मात्रा उन दामों के जोड़ से निर्धारित होती है जिनको मूर्त रूप देना होता है। अब यदि हम यह और मान लें कि हर माल का दाम पहले से निश्चित है, तो दामों का जोड़ स्पष्टतया इस बात पर निर्भर करता है कि परिचलन में कितने माल भाग ले रहे हैं। यह समझने के लिये दिमाग़ पर बहुत ज्यादा ज़ोर डालने की आवश्यकता नहीं है कि यदि एक क्वार्टर गेहूं की क़ीमत २ पौण्ड है, तो १०० क्वार्टर गेहूं की क़ीमत २०० पौण्ड होगी और २०० क्वार्टर गेहूं की ४०० पौण्ड होगी, और इसी तरह आगे भी; और चुनांचे गेहूं के बिकने पर जो मुद्रा उसका स्थान लेती है, उसकी मात्रा गेहूं की मात्रा की वृद्धि के साथ बढ़ती जायेगी।

यदि मालों की मात्रा स्थिर रहती है, तो चालू मुद्रा की मात्रा इन मालों के दामों के उतार-चढ़ाव के अनुसार बदलेगी। दाम में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप दामों का कुल जोड़ घट-बढ़ जायेगा, और उसके अनुसार चालू मुद्रा की मात्रा भी घट-बढ़ जायेगी। यह असर पैदा करने के लिये यह कदापि ज़रूरी नहीं है कि तमाम मालों के दाम एक साथ बढ़ें या एक साथ घट जायें। कुछ प्रमुख वस्तुओं के दामों में उतार या चढ़ाव इसके लिये काफ़ी है कि सभी मालों के दामों का जोड़ एक सूरत में बढ़ जाये और दूसरी सूरत में घट जाये और उसके फलस्वरूप पहले से ज्यादा या कम मुद्रा परिचलन में आ जाये। दाम में होने वाला परिवर्तन चाहे मालों के मूल्य में होने वाले किसी वास्तविक परिवर्तन के अनुरूप हो और चाहे वह महज़ बाज़ार-भाव के उतार-चढ़ाव का नतीजा हो, परिचलन के माध्यम की मात्रा पर उसका एक सा प्रभाव होता है।

मान लीजिये कि भिन्न-भिन्न स्थानों म निम्नलिखित वस्तुएं एक साथ बेच दी जाती हैं, या यूं कहिये कि उनका आंशिक रूपान्तरण हो जाता है: एक क्वार्टर गेहूं, २० गज कपड़ा, एक बाइबल और ४ गैलन ब्रांडी। यदि प्रत्येक वस्तु का दाम २ पौण्ड है और चुनांचे जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाता है, उनका जोड़ ८ पौण्ड है, तो ज़ाहिर है कि मुद्रा के रूप में ८ पौण्ड को परिचलन में आ जाना चाहिये। दूसरी तरफ़ मान लीजिये कि ये ही वस्तुएं रूपान्तरणों की इस शृंखला की कड़ियां हैं: १ क्वार्टर गेहूं – २ पौण्ड – २० गज कपड़ा – २ पौण्ड – १ बाइबल – २ पौण्ड – ४ गैलन ब्रांडी – २ पौण्ड। इस शृंखला से हम पहले से परिचित हैं। इस सूरत में २ पौण्ड एक के बाद दूसरे माल का परिचलन करते जायेंगे और एक के बाद दूसरे माल के दाम को मूर्त रूप देने और इसलिये उनके दामों के कुल जोड़ – ८ पौण्ड – को मूर्त रूप देने के बाद वे शराब बनाने वाले की जेब में पहुंचकर विश्राम करने लगेंगे। ये दो पौण्ड इस तरह चार बार गतिमान होते हैं। मुद्रा के उन्हीं दो टुकड़ों का यह बार-बार होने वाला स्थानांतरण मालों के दोहरे रूप-परिवर्तन के अनुरूप होता है; वह मालों की उल्टी दिशाओं में चलने वाली उस गति के अनुरूप होता है, जो परिचलन की दो अवस्थाओं में से गुज़रती है, और वह विभिन्न मालों के रूपान्तरणों के आपस में गुंथे हुए होने के अनुरूप होता है।[1]

---

[1] "Ce sont les productions qui le (l'argent) mettent en mouvement et le font circuler ... La célérité de son mouvement (sc. de l'argent) supplée à sa quantité. Lorsqu'il en est besoin, il ne fait que glisser d'une main dans l'autre

ये परस्पर विरोधी और पूरक अवस्थाएं, जिनके जोड़ से रूपान्तरण की क्रिया बनती है, एक साथ नहीं, बल्कि एक के बाद एक के क्रम में आती हैं। चुनांचे क्रम को पूरा करने के लिये समय की आवश्यकता होती है। इसलिये मुद्रा के चलन का वेग इस बात से मापा जाता है कि किसी निश्चित समय में मुद्रा का कोई ख़ास टुकड़ा या सिक्का कितनी बार गतिमान होता है। मान लीजिये कि ४ वस्तुओं के परिचलन में एक दिन लग जाता है। दिन भर में जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाना है, उनका जोड़ ८ पौण्ड है, मुद्रा के दो टुकड़े ४ बार गतिमान होते हैं और परिचलन में भाग लेने वाली मुद्रा की मात्रा २ पौण्ड है। चुनांचे परिचलन की क्रिया के दौरान में एक निश्चित काल में निम्न-लिखित सम्बंध हमारे सामने आता है: चालू माध्यम का काम करने वाली मुद्रा की मात्रा उस रक़म के बराबर होती है, जो मालों के दामों के जोड़ को एक ही अभिधान के सिक्कों के गतिमान होने की संख्या से भाग देने पर मिलती है। यह नियम सामान्य रूप से लागू होता है।

किसी ख़ास देश में एक निश्चित समय के भीतर मालों के कुल परिचलन में एक ओर तो वे अनेक अलग-अलग और एक साथ होने वाले आंशिक परिवर्तन शामिल होते हैं, जो विक्रय भी होते हैं और साथ ही क्रय भी और जिनमें प्रत्येक सिक्का केवल एक बार अपना स्थान बदलता है, या केवल एक बार गतिमान होता है, और, दूसरी ओर, उसमें रूपान्तरणों के वे अलग-अलग क्रम शामिल होते हैं, जो कुछ हद तक साथ-साथ चलते हैं और कुछ हद तक आपस में गुंथ जाते हैं और जिनमें प्रत्येक सिक्का कई-कई बार गतिमान होता है, और गतिमान होने की संख्या परिस्थितियों के अनुसार कम या ज्यादा होती है। यदि एक अभिधान के चालू सिक्कों के गतिमान होने की कुछ संख्या मालूम हो, तो हम यह पता लगा सकते हैं कि उस अभिधान का एक सिक्का औसतन कितनी बार गतिमान होता है, या यूं कहिये कि हम मुद्रा के चलन के औसत वेग का पता लगा सकते हैं। प्रत्येक दिन के शुरू में कितनी मुद्रा परिचलन में डाली जाती है, यह, ज़ाहिर है, इस बात से निर्धारित होता है कि परिचलन में साथ-साथ भाग लेने वाले तमाम मालों के दामों का कुल जोड़ क्या है। लेकिन एक बार परिचलन में आ जाने पर सिक्के मानों एक दूसरे के लिये जिम्मेदार बना दिये जाते हैं। यदि एक सिक्का अपना वेग बढ़ा देता है, तो दूसरा या तो अपना वेग कम कर देता है और या परिचलन के एकदम बाहर चला जाता है। कारण कि परिचलन में सोने की केवल उतनी ही मात्रा खप सकती है, जो एक अकेले सिक्के, अथवा तत्त्व, के गतिमान होने की औसत संख्या से गुना करने पर उन दामों के जोड़ के बराबर होती है, जिनको मूर्त रूप दिया जाना है। चुनांचे यदि अलग-अलग सिक्कों के गतिमान होने की संख्या बढ़ जाती है, तो परिचलन में भाग लेने वाले सिक्कों की कुल संख्या घट जाती है। यदि गतिमान होने की संख्या कम हो जाती है, तो सिक्कों की कुल संख्या बढ़ जाती है। चूंकि चलन के एक ख़ास औसत वेग के रहते हुए यह निश्चित होता है कि परिचलन में मुद्रा की कितनी मात्रा खपेगी, इसलिये सावरन नामक

sans s'arrêter un instant." ["श्रम से उत्पन्न वस्तुएं उस (मुद्रा) में गति का संचार करती हैं और उसे एक हाथ से दूसरे हाथ में घुमाती हैं ... उस (मुद्रा) की गति की तेज़ी उसकी मात्रा की कमी को पूरा कर सकती है। आवश्यकता होने पर वह एक क्षण के लिये भी कहीं नहीं रुकती और बराबर एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमती जाती है।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ६१५, ६१६।)

स्वर्ण-सिक्कों की एक निश्चित संख्या को परिचलन से अलग करने के लिये केवल इतना करना ही काफ़ी है कि एक-एक पौण्ड के नोट उसी संख्या में परिचलन में डाल दिये जायें। सभी बैंकर यह तरकीब अच्छी तरह जानते हैं।

जिस प्रकार सामान्य रूप में मुद्रा का चलन मालों के परिचलन का – या मालों को जिन परस्पर विरोधी रूपान्तरणों में से गुजरना पड़ता है, उनका – प्रतिबिम्ब मात्र होता है, उसी प्रकार मुद्रा के चलन का वेग मालों के रूप-परिवर्तन की तेजी का प्रतिबिम्ब होता है, वह रूपान्तरणों के एक क्रम के दूसरे क्रम के साथ लगातार गुंथे रहने का, पदार्थ के जल्दी-जल्दी होने वाले सामाजिक विनिमय का, परिचलन के क्षेत्र से मालों के शीघ्रता के साथ ग़ायब हो जाने और उतनी ही शीघ्रता के साथ उनके स्थान पर नये मालों के आ जाने का प्रतिबिम्ब होता है। अतएव, चलन के वेग में हम परस्पर विरोधी एवं पूरक अवस्थाओं की प्रवाहमान एकता – मालों के उपयोगी स्वरूप के उनके मूल्य-स्वरूप में बदले जाने और उनके मूल्य-स्वरूप के फिर से उपयोगी स्वरूप में बदले जाने की एकता, या यूं कहिये कि उसमें हम विक्रय और क्रय की दो क्रियाओं की एकता – को देखते हैं। दूसरी ओर, चलन का धीमा पड़ जाना इस बात का प्रतिबिम्ब होता है कि ये दोनों क्रियाएं परस्पर विरोधी अवस्थाओं में अलग-अलग बंट गयी हैं; वह रूप के परिवर्तन में और इसलिये पदार्थ के सामाजिक विनिमय में ठहराव आ जाने का प्रतिबिम्ब होता है। खुद परिचलन से, ज़ाहिर है, इसका कोई पता नहीं चलता कि यह ठहराव क्यों आ गया है। उससे तो केवल इस घटना का प्रमाण मिलता है। साधारण जनता मुद्रा के चलन के धीमे पड़ने के साथ-साथ यह देखती है कि परिचलन के परिपथ पर मुद्रा पहले की अपेक्षा कम जल्दी-जल्दी प्रकट होती है और ग़ायब होती है, और इसलिये वह स्वभावतया यह समझती है कि चलन का वेग चालू माध्यम की मात्रा में कमी आ जाने के कारण धीमा पड़ गया है।[1]

---

[1] "मुद्रा चूंकि... ख़रीदने और बेचने की सामान्य रूप से माप है, इसलिये हर वह आदमी, जिसके पास बेचने के लिये कोई चीज़ है और जिसे अपनी चीज़ बेचने के लिये ग्राहक नहीं मिलते, वह शीघ्र ही यह सोचने लगता है कि राज्य में अथवा देश में मुद्रा की कमी हो गयी है जिसके कारण उसका सामान नहीं बिक पा रहा है, और चुनांचे सब मुद्रा की कमी को रोना शुरू कर देते हैं, जो कि बहुत बड़ी ग़लती है ... ये लोग, जो मुद्रा के लिये चीख़ रहे हैं, ये क्या चाहते हैं?.. काश्तकार शिकायत करता है ... उसका ख़याल है कि यदि देश में थोड़ी और मुद्रा होती, तो उसके सामान का भी उसे कोई दाम मिल जाता। इससे पता लगता है कि मानो काश्तकार को मुद्रा की नहीं, बल्कि अपने अनाज और ढोर के लिए, जिसे वह बेचना चाहता है, पर बेच नहीं पाता, दाम की जरूरत है ... दाम उसे क्यों नहीं मिलते? ... (१) या तो इसलिए कि देश में बहुत ज्यादा अनाज और ढोर हो गये हैं, जिसके फलस्वरूप जो लोग मण्डी में जाते हैं, उनमें से ज्यादातर बेचना चाहते हैं और ख़रीदना बहुत कम लोग चाहते हैं; या (२) परिवहन के द्वारा विदेशों को सामान भेजने की सुविधा नहीं है...; और या (३) चीज़ों की खपत कम हो गयी है, जैसा कि उस वक़्त होता है, जब लोग ग़रीबी के कारण अपने घरों में उतना ख़र्च नहीं करते, जितना वे पहले किया करते थे। मतलब यह कि विशिष्ट मुद्रा में वृद्धि हो जाने से काश्तकार के सामान की बिक्री में कोई भी मदद न होगी। उसकी मदद के लिए इन तीनों

किसी निश्चित अवधि में चालू माध्यम का काम करने वाली मुद्रा की कुल मात्रा एक ओर तो चालू मालों के दामों के जोड़ से निर्धारित होती है, और, दूसरी ओर, वह इस बात से निर्धारित होती है कि रूपान्तरणों की परस्पर विरोधी अवस्थाएं किस तेजी के साथ एक दूसरे का अनुसरण करती हैं। इस तेजी पर ही यह निर्भर करता है कि हर अलग-अलग सिक्का दामों के जोड़ के औसतन कितने भाग को मूर्त्त रूप दे सकता है। लेकिन चालू मालों के दामों का जोड़ मालों के दामों के साथ-साथ उनकी मात्रा पर भी निर्भर करता है। किन्तु ये तीनों तत्त्व – दामों की हालत, चालू मालों की मात्रा और मुद्रा के चलन का वेग – परिवर्तनशील होते हैं। इसलिए जिन दामों को मूर्त्त रूप दिया जाना है, उनका जोड़ और चुनांचे इस जोड़ पर निर्भर करने वाली चालू माध्यम की मात्रा – ये दोनों चीजें, इन तीनों तत्त्वों में कुल मिलाकर जो अनेक परिवर्तन होते हैं, उनके साथ बदलती जायेंगी। इन परिवर्तनों में से हम केवल उनपर विचार करेंगे, जिनका दामों के इतिहास में सबसे अधिक महत्व रहा है।

यदि दाम स्थिर रहते हैं, तो चालू माध्यम की मात्रा या तो इसलिए बढ़ सकती है कि चालू मालों की संख्या बढ़ गयी हो, या इसलिए कि चलन का वेग कम हो गया हो, और या वह इन दोनों बातों के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम हो सकता है। दूसरी ओर, चालू माध्यम की मात्रा या तो इसलिए घट सकती है कि चालू मालों की संख्या घट गयी हो, और या इसलिए कि उनके परिचलन की तेजी बढ़ गयी हो।

मालों के दामों में आम चढ़ाव आ जाने पर भी चालू माध्यम की मात्रा स्थिर रहेगी, बशर्ते कि दामों में जितनी वृद्धि हुई हो, उसी अनुपात में परिचलन में शामिल मालों की संख्या में कमी आ जाये, या परिचलन में शामिल मालों की संख्या के स्थिर रहते हुए दामों में जितना चढ़ाव आया हो, मुद्रा के चलन के वेग में उतनी ही तेजी आ जाये। चालू माध्यम की मात्रा कम हो सकती है, यदि दामों के चढ़ाव की अपेक्षा मालों की संख्या ज्यादा तेजी से गिर जाये या यदि दामों के चढ़ाव की अपेक्षा चलन का वेग ज्यादा तेजी से बढ़ जाये।

मालों के दामों में आम कमी हो जाने पर भी चालू माध्यम की मात्रा स्थिर रहेगी, बशर्ते कि दामों में जितनी कमी हुई हो, उसी अनुपात में मालों की संख्या में वृद्धि हो जाये,

---

कारणों में से बाजार को सचमुच ठण्डा करने वाले कारण को दूर करना होगा... इसी तरह सौदागर और दूकानदार भी मुद्रा चाहते हैं, यानी वे जिन चीजों का व्यापार करते हैं, उनकी निकासी चाहते हैं, क्योंकि मण्डियां ठण्डी पड़ गयी हैं..." "जब धन एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमता है, तब (कोई क़ौम) जितना फलती-फूलती है, उतना वह और कभी नहीं फलती-फूलती।" (Sir Dudley North, "*Discourses upon Trade*" [सर डडली नर्थ, 'व्यापार सम्बन्धी लेख'], London, 1691, पृ० ११-१५, जगह-जगह पर।) हेरेनश्वाण्ड की विचित्र धारणाओं का कुल निचोड़ महज यह है कि मालों की प्रकृति से जो विरोध उत्पन्न होता है और जो फिर उनके परिचलन में भी दिखाई पड़ता है, वह चालू माध्यम को बढ़ाकर दूर किया जा सकता है। लेकिन यदि, एक ओर, चालू माध्यम की कमी को उत्पादन और परिचलन के ठहराव का कारण समझना एक लोकप्रिय भ्रम है, तो, दूसरी ओर, उससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि यदि, मिसाल के लिए, क़ानून के जरिये चलन का नियमन करने (regulation of currency) की अनाड़ीपन से भरी कोशिशों के फलस्वरूप चालू माध्यम की सचमुच कमी हो जाये, तो उससे इस तरह का ठहराव नहीं पैदा हो सकता।

या बशर्ते कि मुद्रा के चलन के वेग में उसी अनुपात में कमी आ जाये। यदि दामों में होने वाली कमी की तुलना में मालों की संख्या जल्दी से बढ़ती है या मुद्रा के चलन का वेग जल्दी से कम होता है, तो चालू माध्यम की मात्रा बढ़ जायेगी।

अलग-अलग तत्वों में होने वाले परिवर्तन एक दूसरे के प्रभाव की क्षति-पूर्ति कर सकते हैं। ऐसा होने पर, उनके लगातार अस्थिर रहते हुए भी, जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाना है, उनका जोड़ और परिचलन में लगी मुद्रा की मात्रा स्थिर रहती हैं। चुनांचे, खास तौर पर यदि हम लम्बे कालों पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि किसी भी देश में चालू मुद्रा की मात्रा में हम उसके औसत स्तर में जितना अन्तर होने की उम्मीद करते थे, वास्तव में उससे बहुत कम अन्तर रहता है। पर ज़ाहिर है कि औद्योगिक एवं व्यापारिक संकटों से या फिर, जैसा कि बहुत कम होता है, मुद्रा के मूल्य में होने वाले उतार-चढ़ाव से जो ज़बर्दस्त गड़बड़ पैदा हो जाती है, वह और बात है।

इस नियम को कि चालू माध्यम की मात्रा चालू मालों के दामों के जोड़ और चलन के औसत वेग से निर्धारित होती है,[1] इस तरह भी पेश किया जा सकता है कि यदि मालों के

---

[1] "किसी भी क़ौम के व्यापार को चालू रखने के लिए आवश्यक मुद्रा की एक ऐसी ख़ास मात्रा और अनुपात होता है, जिसके कम या ज़्यादा होने पर व्यापार में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार में चांदी के सिक्कों को भुनाने के लिए और ऐसा हिसाब साफ़ करने के लिए, जो छोटे से छोटे चांदी के सिक्कों से भी ठीक नहीं बैठता, एक निश्चित अनुपात में फ़ार्दिंग सिक्कों की आवश्यकता होती है... अब जिस तरह व्यापार के लिए आवश्यक फ़ार्दिंग सिक्कों की संख्या इस बात से तै होती है कि लोगों की कितनी संख्या है, वे कितनी जल्दी-जल्दी विनिमय करते हैं, और साथ ही मुख्यतया इस बात से कि चांदी के छोटे से छोटे सिक्कों का क्या मूल्य है, उसी तरह हमारे व्यापार के लिए आवश्यक मुद्रा (सोने और चांदी के सिक्कों) का अनुपात इस बात पर निर्भर करता है कि विनिमय कितनी जल्दी होते हैं और भुगतान की रक़में कितनी बड़ी होती हैं।" (William Petty, "*A Treatise of Taxes and Contributions*" [विलियम पेटी, 'करों और अनुदानों पर एक निबंध'], London, 1667 पृ० १७।) जे० स्टुअर्ट आदि के हमलों के मुक़ाबले में ह्यूम के सिद्धान्त का समर्थन अ० यंग ने अपनी रचना "*Political Arithmetic*" ['राजनीतिक गणित'], London, 1774, में किया था, जिसमें पृ० ११२ और उसके आगे के पृष्ठों पर "*Prices depend on quantity of money*" ['दाम मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करते हैं'] शीर्षक एक विशेष अध्याय है। मैंने "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ['अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'] के पृ० १४६ पर लिखा है कि "वह (ऐडम स्मिथ) परिचलन में लगे सिक्कों की मात्रा के सवाल के बारे में बिना कुछ कहे ही कन्नी काट जाते हैं और बहुत ग़लत ढंग से मुद्रा की महज़ एक माल के रूप में चर्चा करते हैं।" यह बात केवल वहीं तक सही है, जहां तक ऐडम स्मिथ ने रस्मी तौर पर (ex officio) मुद्रा पर विचार किया है। परन्तु कभी-कभी, जैसे कि अर्थशास्त्र की पुरानी प्रणालियों की आलोचना करते हुए, वह सही दृष्टिकोण अपनाते हैं। "प्रत्येक देश में सिक्के की मात्रा का उन मालों के मूल्य द्वारा नियमन होता है, जिनका उस सिक्के को परिचलन करना होता है... साल भर में किसी देश में किये जाने वाले मालों के क्रय और विक्रय के मूल्य के लिए मुद्रा की एक

मूल्यों का जोड़ और उनके रूपान्तरणों की औसत तेजी मालूम हो, तो मुद्रा के रूप में चालू बहुमूल्य धातु की मात्रा उस धातु के मूल्य पर निर्भर करती है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके विपरीत, दाम चालू माध्यम की मात्रा से निर्धारित होते हैं और चालू माध्यम की मात्रा किसी देश में पायी जाने वाली बहुमूल्य धातुओं की मात्रा पर निर्भर करती है,[1]—इस ग़लत धारणा को पहले-पहल जन्म देने वाले लोगों ने उसे इस परिकल्पना पर आधारित किया था कि जब माल और मुद्रा परिचलन में प्रवेश करते हैं, तब मालों का कोई दाम नहीं होता और मुद्रा का कोई मूल्य नहीं होता, और एक बार परिचलन में प्रवेश कर जाने के बाद नाना प्रकार के मालों के एक पूर्ण विभाजक भाग का बहुमूल्य धातुओं के ढेर के एक पूर्ण विभाजक के साथ विनिमय किया जाता है।[2]

---

निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है, ताकि उन मालों का परिचलन और सही उपभोगियों में वितरण हो सके, और वह देश उससे अधिक मुद्रा को काम में नहीं लगा सकता। परिचलन की नाली के भरने के लिए जितनी रक़म काफ़ी होती है, उतनी वह लाज़िमी तौर पर अपनी तरफ़ खींच लेती है, पर उससे ज़्यादा को कभी अन्दर नहीं आने देती।" (*"Wealth of Nations"* ['राष्ट्रों का धन'], पुस्तक ४, अध्याय १।) इसी प्रकार अपनी पुस्तक को रस्मी तौर पर (ex officio) आरम्भ करते हुए ऐडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन को मानों देवताओं के स्थान पर बैठा दिया है। पर बाद को, अपनी अन्तिम पुस्तक में, जिसमें कि सार्वजनिक आय के स्रोतों की चर्चा की गयी है, उन्होंने यदा-कदा श्रम-विभाजन की अपने गुरु ए० फ़र्गुसन की भांति ही अत्यन्त कटु आलोचना की है।

[1] "जैसे-जैसे लोगों के पास सोना और चांदी बढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे निश्चय ही हर देश में चीज़ों के दाम भी बढ़ते जायेंगे, और इसलिए जब किसी देश में सोना और चांदी कम हो जाते हैं, तो तमाम चीज़ों के दामों का मुद्रा की इस कमी के अनुपात में घट जाना भी अनिवार्य हो जाता है।" (Jacob Vanderlint, *"Money Answers all Things"* [जैकब वैंडरलिन्ट, 'मुद्रा सब चीज़ों का जवाब है'], London, 1734, पृ० ५।) इस पुस्तक का ह्यूम के *"Essays"* ('निबंध') से ध्यानपूर्वक मुक़ाबला करने के बाद मेरे दिमाग़ में इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है कि वैंडरलिन्ट की इस रचना से, जो निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण रचना है, ह्यूम परिचित थे और उन्होंने उसका उपयोग किया था। बार्बोन का और उसके बहुत पहले के अन्य लेखकों का भी यह मत था कि दाम चालू माध्यम की मात्रा से निर्धारित होते हैं। वैंडरलिन्ट ने लिखा है: "अनियंत्रित व्यापार से कोई असुविधा नहीं पैदा हो सकती, बल्कि बहुत बड़ा लाभ हो सकता है, क्योंकि यदि उससे राष्ट्र की नक़दी कम हो जाती है, जिसे कम होने से रोकना ही व्यापार पर लगाये हुए बंधनों का उद्देश्य होता है, तो जिन राष्ट्रों को वह नक़दी मिलेगी, उनके यहां निश्चय ही नक़दी के बढ़ने के साथ-साथ हर चीज़ के दाम चढ़ जायेंगे। और... हमारे कारख़ानों की बनी चीज़ें और अन्य सब वस्तुएं शीघ्र ही इतनी सस्ती हो जायेंगी कि व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में हो जायेगा और उससे फिर मुद्रा हमारे यहां लौट आयेगी" (उप० पु०, पृ० ४३, ४४)।

[2] यह एक स्वतःस्पष्ट प्रस्थापना है कि हर अलग-अलग प्रकार के माल का दाम परिचलन में शामिल तमाम मालों के दामों के जोड़ का एक भाग होता है। लेकिन यह बात क़तई समझ में नहीं आती कि उपयोग-मूल्यों का, जिनकी कि एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती,

## ग) सिक्का और मूल्य के प्रतीक

यह बात कि मुद्रा सिक्के का रूप धारण करती है, – यह उसके चालू माध्यम के काम से उत्पन्न होती है। दाम – या मालों के मुद्रा-नाम – के रूप में हम कल्पना में सोने के जिन वज़नों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनको परिचलन की क्रिया में एक निश्चित अभिधान के सिक्कों

---

सब का एक साथ किसी देश में पाये जाने वाले कुल सोने और चांदी के साथ कैसे विनिमय किया जा सकता है। यदि हम इस विचार से आरम्भ करें कि सब मालों को मिलाकर एक माल बन जाता है, जिसका हरेक माल एक अशेष भाजक होता है, तो हमारे सामने यह सुन्दर निष्कर्ष निकल आता है कि कुल माल = 'प' हण्ड्रेडवेट सोना, माल 'क' = कुल माल का एक अशेष भाजक = 'प' हण्ड्रेडवेट सोने का उतना ही अशेष भाजक। मोंतेस्क्यू ने पूरी गम्भीरता के साथ यही बात कही है: "Si l'on compare la masse des l'or et de l'argent qui est dans le monde avec la somme des marchandises qui y sont, il est certain que chaque denrée ou marchandise, en particulier, pourra être comparée à une certaine portion de la masse entière. Supposons qu'il n'y ait qu'une seule denrée, où marchandise dans le monde, ou qu'il n'y ait qu'une seule qui s'achète, et qu'elle se divise comme l'argent: Cette partie de cette marchandise répondra à une partie de la masse de l'argent; la moitié du total de l'une à la moitié du total de l'autre, &c... l'établissement du prix des choses dépend toujours fondamentalement de la raison du total des choses au total des signes." ["यदि हम दुनिया में पाये जाने वाले सोने और चांदी की कुल मात्रा का दुनिया में पायी जाने वाली वाणिज्य-वस्तुओं की कुल मात्रा से मुक़ाबला करें, तो यह निश्चय है कि वाणिज्य-वस्तुओं में से प्रत्येक वस्तु विशेष अथवा माल विशेष का सोने-चांदी के एक निश्चित भाग से मुक़ाबला किया जा सकता है। मान लीजिये कि दुनिया में केवल एक वाणिज्य-वस्तु अथवा केवल एक माल है, या केवल एक माल ही बिक्री के लिए पेश किया जा सकता है, और मुद्रा की तरह उसे टुकड़ों में बांटा जा सकता है। तब वाणिज्य-वस्तुओं का एक भाग मुद्रा की मात्रा के एक भाग के अनुरूप होगा: कुल वाणिज्य-वस्तुओं का आधा भाग कुल मुद्रा के आधे भाग के अनुरूप होगा, और इसी तरह अन्य भागों के बारे में भी होगा... चीज़ों के दामों को निश्चित करना बुनियादी तौर पर सदा इस बात पर निर्भर करता है कि कुल चीज़ों और कुल प्रतीकों के बीच क्या अनुपात है।"] (Montesquieu, उप० पु०, ग्रंथ ३, पृ० १२, १३।) जहां तक रिकार्डो और उनके शिष्यों जेम्स मिल, लार्ड ओवरस्टोन आदि के द्वारा इस सिद्धान्त के विकास का सम्बंध है, तो "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') के पृ० १४०-१४६ और पृ० १५० तथा उसके आगे के पृष्ठ देखिये। जान स्टुअर्ट मिल अपनी समाहारी (eclectic) तर्क-शैली के बल पर अपने पिता जेम्स मिल के मत और उसके विरोधी मत, दोनों को एक साथ अंगीकार करने का गुर जानते हैं। जब हम उनकी पाठ्य-पुस्तक "*Principles of Political Economy*" ('अर्थशास्त्र के सिद्धान्त') का उसके पहले संस्करण के लिए लिखी गयी उनकी भूमिका से मुक़ाबला करते हैं, जिसमें उन्होंने ऐलान किया है कि वह अपने ज़माने के ऐडम स्मिथ हैं, तो हमारी समझ में नहीं आता कि

या सोने के टुकड़ों के रूप में मालों के मुक़ाबले में खड़ा होना पड़ता है। दामों का मापदण्ड निर्धारित करने की तरह सिक्के ढालना भी राज्य का काम है। सोना और चांदी सिक्कों के रूप में स्वदेश में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की राष्ट्रीय पोशाकें पहने रहते हैं और जिनको वे दुनिया की मण्डी में पहुंचते ही फिर उतारकर फेंक देते हैं, वे मालों के परिचलन के अन्दरूनी अथवा राष्ट्रीय क्षेत्रों तथा उनके सार्वत्रिक क्षेत्र के अलगाव की सूचक होती हैं।

अतएव, सिक्कों तथा कलधौत में एकमात्र शकल का अन्तर होता है, और सोना किसी भी समय एक शकल छोड़कर दूसरी धारण कर सकता है।[1] लेकिन जैसे ही सिक्का टकसाल से बाहर निकलता है, वैसे ही वह अपने को धातु गलाने के बर्तन के राजमार्ग पर रवाना होता

---

हम इस आदमी की सरलता की ज्यादा प्रशंसा करें या उस जनता की सरलता की, जिसने सद्भाव के साथ उसके इस दावे पर विश्वास कर लिया था कि वह सचमुच ऐडम स्मिथ है,— हालांकि उसमें और ऐडम स्मिथ में लगभग उतनी ही समानता है, जितनी कार्स के जनरल विलियम्स और वेलिंगटन के ड्यूक में है। मि० जा० एस० मिल ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जितनी नयी खोजें की हैं, जो न तो बहुत व्यापक और न ही गम्भीर हैं, वे सब की सब आपको उनकी छोटी सी रचना "*Some Unsettled Questions of Political Economy*" ['अर्थशास्त्र के कुछ अनिर्णीत प्रश्न'] में, जो कि १८४४ में प्रकाशित हुई थी, संग्रहीत मिल जायेंगी। लॉक ने बिना किसी लाग-लपेट के इस बात पर जोर दिया है कि सोने और चांदी में मूल्य के अभाव का इस बात से सम्बंध है कि उनका मूल्य केवल मात्रा से निर्धारित होता है। उन्होंने लिखा है: "मनुष्य-जाति ने चूंकि सोने और चांदी को एक काल्पनिक मूल्य दे देने का निश्चय कर लिया है... इसलिए इन धातुओं का स्वाभाविक मूल्य मात्रा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।" (*"Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest"* ['सूद की दर कम करने के परिणामों के सम्बन्ध में कुछ विचार, इत्यादि'], १६९१, संग्रहीत रचनाओं का १७७७ वाला संस्करण, खण्ड २, पृ० १५।)

[1] सिक्कों की ढलाई और उसपर लगाये जाने वाले कर जैसे विषयों पर विचार करना, ज़ाहिर है, इस पुस्तक के क्षेत्र के बिल्कुल बाहर है। किन्तु रोमानी चाटुकार ऐडम मुलर के हितार्थ, जो अंग्रेज़ सरकार की इस "उदारता" के बड़े प्रशंसक हैं कि वह मुफ़्त में सिक्के ढालती है, मैं सर डडली नर्थ का निम्न-लिखित मत अवश्य उद्धृत करूंगा: "दूसरे मालों की तरह चांदी और सोने की भी वृद्धि और कमी होती है। जब स्पेन से धातु आ जाती है, तो... वह टौवर में ले जायी जाती है और वहां उसके सिक्के ढाले जाते हैं। उसके कुछ ही समय बाद फिर से सोने-चांदी का विदेशों में निर्यात करने की मांग सामने आती है। परन्तु यदि देश में कलधौत न हो और सब सिक्कों की शकल में हो, तब क्या हो? उसे फिर गला दो; उसमें नुक़सान नहीं होगा, क्योंकि सिक्के ढालने में धातु के मालिक का कुछ भी तो ख़र्च नहीं होता। तो इस तरह राष्ट्र के गले यह बला डाली जाती है और गधों के घास चरने के लिए घास जुटाने का ख़र्च उसके मत्थे मढ़ दिया जाता है। यदि सौदागर से सिक्के ढालने के दाम लिये जाते, तो वह बिना कुछ सोचे-विचारे अपनी चांदी ढलवाने के लिए टौवर में न भेजता, और सिक्कों के रूप में मुद्रा का बग़ैर ढली हुई चांदी की अपेक्षा हमेशा अधिक मूल्य होता।" (North, उप० पु०, पृ० १८।) चार्ल्स द्वितीय के राज्यकाल में नर्थ ख़ुद एक सबसे प्रमुख सौदागर था।

हुआ पाता है। चलन के दौरान में सिक्के घिस जाते हैं,–कुछ ज्यादा, कुछ कम। नाम और पदार्थ के अलगाव, नामधार के वजन और वास्तविक वजन के अलगाव की क्रिया शुरू हो जाती है। एक ही अभिधान के सिक्कों का मूल्य भिन्न हो जाता है, क्योंकि उनके वजन में फ़र्क़ पड़ जाता है। सोने का जो वजन दामों का मापदण्ड मान लिया गया था, वह उस वजन से भिन्न हो जाता है, जो चालू माध्यम का काम कर रहा है, और इसलिए चालू माध्यम जिन मालों के दामों को मूर्त रूप देता है, वह अब उनका वास्तविक सम-मूल्य नहीं रहता। मध्य युग और यहां तक कि अठारहवीं सदी तक का सिक्का-ढलाई का इतिहास उपर्युक्त कारण से पैदा होने वाली नित नयी गड़बड़ी का इतिहास है। परिचलन की स्वाभाविक प्रवृत्ति सिक्के जो कुछ होने का दावा करते हैं, उनको उसका आभास मात्र बना देती है, सरकारी तौर पर उनमें जितना वजन होना चाहिए, उनको उसका केवल प्रतीक मात्र बना देती है। आधुनिक क़ानूनों ने इस प्रवृत्ति को मान्यता दी है। वे यह निश्चित कर देते हैं कि कितना वजन कम हो जाने पर सोने के सिक्के का निर्मुद्रीकरण हो जायेगा, या वह वैध मुद्रा नहीं रहेगा।

सिक्कों का चलन खुद उनके नामधार के वजन और असली वजन के बीच अलगाव पैदा कर देता है, एक ओर केवल धातु के टुकड़ों के रूप में और दूसरी ओर कुछ निश्चित ढंग के काम करने वाले सिक्कों के रूप में उनमें भेद पैदा कर देता है,–इस तथ्य में यह सम्भावना भी छिपी हुई है कि धातु के सिक्कों की जगह पर किसी और पदार्थ के बने हुए संकेतों से, सिक्कों का कार्य करने वाले प्रतीकों से काम लिया जाये। सोने या चांदी की बहुत ही सूक्ष्म मात्राओं के सिक्के ढालने के रास्ते में जो व्यावहारिक कठिनाइयां सामने आती हैं, यह बात कि शुरू में अधिक मूल्यवान धातु के बदले कम मूल्यवान धातु–चांदी के बदले तांबा और सोने के बदले चांदी–मूल्य की माप के रूप में इस्तेमाल की जाती है, तथा यह कि कम मूल्यवान धातु उस वक़्त तक चालू रहती है, जब तक कि अधिक मूल्यवान धातु उसे इस आसन से नहीं उतार देती,–यही सभी बातें ऐतिहासिक क्रम में चांदी और तांबे के बने प्रतीकों द्वारा की जाने वाली सोने के सिक्कों के प्रतिस्थापकों की भूमिका को स्पष्ट करती हैं। चांदी और तांबे के बने प्रतीक परिचलन के उन प्रदेशों में सोने का स्थान ले लेते हैं, जहां सिक्के सबसे ज्यादा तेजी के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमते हैं और जहां उनकी सबसे ज्यादा घिसाई होती है। यह वहां होता है, जहां पर बहुत ही छोटे पैमाने का क्रय-विक्रय लगातार होता रहता है। ये उपग्रह कहीं स्थायी रूप से सोने के स्थान पर न जम जायें, इसके लिए क़ानून बनाकर यह निश्चित कर दिया जाता है कि भुगतान के समय सोने के बदले में उनको किस हद तक स्वीकार करना अनिवार्य है। विभिन्न प्रकार के चालू सिक्के जिन विशिष्ट पथों का अनुसरण करते हैं वे, जाहिर है, अक्सर एक दूसरे से आ मिलते हैं। सोने के सबसे छोटे सिक्के के भिन्नात्मक भागों का भुगतान करने के लिए ये प्रतीक सोने के साथ रहते हैं; सोना एक तरफ़ तो लगातार फुटकर परिचलन में आता रहता है, और दूसरी तरफ़ वह इसी निरन्तरता के साथ प्रतीकों में बदला जाकर फिर परिचलन के बाहर फेंक दिया जाता है।[1]

---

[1] "अपेक्षाकृत छोटे भुगतानों के लिए जितनी चांदी की आवश्यकता होती है, यदि चांदी कभी उससे ज्यादा नहीं होती, तो अपेक्षाकृत बड़े भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में चांदी को इकट्ठा करना असम्भव हो जाता है... ख़ास-ख़ास भुगतानों में सोना इस्तेमाल करने का लाजिमी तौर पर यह मतलब भी होता है कि उसे फुटकर व्यापार में भी इस्तेमाल किया जाये।

चांदी और तांबे के प्रतीकों में धातु का वजन क़ानून द्वारा इच्छानुसार निश्चित कर दिया जाता है। वे चलन में सोने के सिक्कों से भी ज्यादा तेजी से घिसते हैं। इसलिए वे जो काम करते हैं, वह उनके वजन से और इसलिए सब प्रकार के मूल्य से सर्वथा स्वतंत्र होता है। सिक्के के रूप में सोने का काम सोने के धातुगत मूल्य से पूर्णतया स्वतंत्र हो जाता है। इसलिए उसके स्थान पर वे चीजें भी सिक्कों का काम कर सकती हैं, जो अपेक्षाकृत मूल्यरहित होती हैं, जैसे कि काग़ज के नोट। यह विशुद्ध प्रतीकात्मक स्वरूप धातु के प्रतीकों में किसी हद तक छिपा हुआ रहता है। पर काग़ज़ी मुद्रा में वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। सच पूछिये, तो ce n'est que le premier pas qui coûte (सिर्फ़ पहला क़दम ही सदा मुश्किल होता है)।

हम यहां केवल उस अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा की चर्चा कर रहे हैं, जिसे राज्य जारी करता है और जिसे अनिवार्य रूप से परिचलन में इस्तेमाल करना पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष उद्भव-स्रोत धातु की मुद्रा के चलन में होता है। दूसरी ओर, उधार पर आधारित मुद्रा के लिए कुछ ऐसी परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, जिनसे हम मालों के साधारण परिचलन के दृष्टिकोण से अभी सर्वथा अपरिचित हैं। लेकिन हम इतना जरूर कह सकते हैं कि जिस प्रकार सच्ची काग़ज़ी मुद्रा चालू माध्यम के रूप में मुद्रा के कार्य से उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार उधार पर आधारित मुद्रा भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा के कार्य से स्वयंस्फूर्त ढंग से उत्पन्न होती है।[1]

---

जिनके पास सोने के सिक्के होते हैं, वे छोटी ख़रीदारियां करने के समय सोने के सिक्के देते हैं, और उनको बदले में ख़रीदे हुए माल के साथ-साथ बाक़ी रक़म चांदी के सिक्कों के रूप में वापिस मिल जाती है। इस प्रकार वह अतिरिक्त चांदी, जो फुटकर दूकानदार के पास इकट्ठा होकर फ़जूल का बोझा बन जाती, उसके पास से खिंचकर आम परिचलन में बिखर जाती है। लेकिन यदि चांदी इतनी हो कि सोने से स्वतंत्र रहते हुए छोटे भुगतानों का काम चल जाये, तो फुटकर व्यापारी को छोटी ख़रीदारियों के एवज में चांदी मंजूर करनी पड़ेगी, और वह लाज़िमी तौर पर उसके पास इकट्ठी हो जायेगी।" (David Buchanan, "*Inquiry into the Taxation and Commercial Policy of Great Britain*" [डैविड बुकानन, 'ब्रिटेन की कर-निर्धारण और व्यापारिक नीति का विवेचन'], Edinburgh, 1844, पृ० २४८, २४९।)

[1] चीनी वित्त-मंत्री मंदारिन वान-माओ-इन के मन में एक रोज़ यह विचार आया कि देव-पुत्र सम्राट् के सामने एक ऐसा सुझाव रखा जाये, जिसका गुप्त उद्देश्य साम्राज्य की अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा (assignats) को परिवर्तनीय बैंक-नोटों में बदल देना हो। काग़ज़ी मुद्रा समिति ने अप्रैल १८५४ की अपनी रिपोर्ट में वित्त-मंत्री की बुरी तरह ख़बर ली है। रिपोर्ट में यह नहीं बताया गया है कि मंत्री महोदय की परम्परागत शैली में बांसों से भी ख़बर ली गयी थी या नहीं। रिपोर्ट का अन्तिम अंश इस प्रकार है: "समिति ने उनके सुझाव पर ध्यानपूर्वक विचार किया है और वह इस नतीजे पर पहुंची है कि यह सुझाव पूरी तरह सौदागरों के हित में है और उससे सम्राट् को कोई लाभ न होगा।" ("*Arbeiten der Kaiserlich Russischen Gesandtschaft zu Peking über China.*" Aus dem Russischen von Dr. K. Abel und F. A Mecklenburg. Erster Band [डा० के० एबल और एफ़० ए० मैक्लेनबुर्ग द्वारा रूसी भाषा से अनुवादित। खण्ड १], Berlin, 1858, पृ० ४७ और उसके आगे के पृष्ठ।) बैंक सम्बंधी क़ानूनों के बारे में लार्ड-सभा की समिति के सामने गवाही देते हुए बैंक आफ़ इंगलैण्ड के एक गवर्नर ने चलन के दौरान में सोने के सिक्कों के घिसने

राज्य काग़ज़ के कुछ ऐसे टुकड़े चालू कर देता है, जिनपर उनकी अलग-अलग राशियां – जैसे १ पौण्ड, ५ पौण्ड इत्यादि – छपी रहती हैं। जिस हद तक कि ये काग़ज़ के टुकड़े सचमुच सोने की उतनी ही मात्रा का स्थान ले लेते हैं, उस हद तक उनकी गति उन्हीं नियमों के अधीन होती है, जिन के द्वारा स्वयं मुद्रा के चलन का नियमन होता है। केवल काग़ज़ी मुद्रा के परिचलन से ख़ास तौर पर सम्बंध रखने वाला नियम केवल उस अनुपात का फल हो सकता है, जिस अनुपात में वह काग़ज़ी मुद्रा सोने का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसा एक नियम है। उसे यदि सरल रूप में पेश किया जाय, तो वह नियम यह है कि काग़ज़ी मुद्रा का निर्गम सोने की (या, परिस्थिति के अनुसार, चांदी की) उस मात्रा से अधिक नहीं होना चाहिए, जो उस हालत में परिचलन में सचमुच भाग लेती, यदि उसका स्थान प्रतीक न ग्रहण कर लेते। अब, परिचलन सोने की जिस मात्रा को खपा सकता है, वह लगातार एक निश्चित स्तर के ऊपर-नीचे चढ़ा-गिरा करती है। फिर भी किसी भी देश में चालू माध्यम की राशि कभी एक अल्पतम स्तर से नीचे नहीं गिरती, और इस अल्पतम राशि का वास्तविक अनुभव से सहज ही पता लगाया जा सकता है। इस अल्पतम राशि की मात्रा में या उसके परिचलन की निरन्तरता में इस बात से, ज़ाहिर है, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह राशि जिन संघटक भागों से मिलकर बनी है, वे बराबर बदलते रहते हैं, या सोने के जो टुकड़े उसमें शामिल होते हैं, उनका स्थान बराबर नये टुकड़े लेते रहते हैं। इसलिए, इस अल्पतम राशि की जगह पर काग़ज़ के प्रतीक इस्तेमाल किये जा सकते हैं। दूसरी ओर, यदि परिचलन की नालियों को उनकी क्षमता के अनुसार आज काग़ज़ी मुद्रा से ठसाठस भर दिया जाये, तो कल को, मालों के परिचलन में कोई परिवर्तन होने के फलस्वरूप, काग़ज़ी मुद्रा नालियों के बाहर बह निकल सकती है। ऐसा होने पर कोई मापदण्ड नहीं रह जायेगा। यदि काग़ज़ी मुद्रा अपनी उचित सीमा से अधिक हो, यानी यदि वह उसी अभिधान के सोने के सिक्कों की उस मात्रा से अधिक हो, जो सचमुच चलन में आ सकती है, तो उसे न केवल आम बदनामी का ख़तरा मोल लेना होगा, बल्कि वह सोने की केवल उस मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगी, जो मालों के परिचलन के नियमों के अनुसार ज़रूरी है और केवल जिसका कि काग़ज़ी मुद्रा प्रतिनिधित्व कर सकती है। काग़ज़ी मुद्रा की मात्रा जितनी होनी चाहिए, यदि उसकी दुगुनी काग़ज़ी मुद्रा जारी कर दी जाये, तो १ पौण्ड १/४ औंस सोने का नहीं, बल्कि, वास्तव में, १/८ औंस सोने का नाम हो जायेगा। इसका उसी तरह का प्रभाव होगा, जैसे कि दामों के मापदण्ड के रूप में सोने के कार्य में कोई परिवर्तन होने से होता है। जिन मूल्यों को पहले १ पौण्ड का दाम व्यक्त करता था, उनको अब २ पौण्ड का दाम व्यक्त करेगा।

काग़ज़ी मुद्रा सोने का, अथवा मुद्रा का, प्रतिनिधित्व करने वाला प्रतीक होती है। उसके और मालों के मूल्य के बीच यह सम्बंध होता है कि मालों के मूल्य भावात्मक ढंग से सोने की उन्हीं मात्राओं में व्यक्त होते हैं, जिनका काग़ज़ के ये टुकड़े प्रतीकात्मक ढंग से प्रतिनिधित्व

---

के बारे में यह कहा है: "हर साल गिन्नियों की एक नयी श्रेणी बहुत ज्यादा हल्की हो जाती है। जो श्रेणी एक वर्ष पूरे वज़न के साथ चालू रहती है, वह साल भर में इतनी अधिक घिस जाती है कि अगले वर्ष तराज़ू पर खोटी उतरती है।" (House of Lords' Committee, 1848, n. 429 [लार्ड-सभा की समिति, १८४८, अंक ४२९]।)

करते हैं। काग़ज़ी मुद्रा केवल उसी हद तक मूल्य का प्रतीक होती है, जिस हद तक कि वह सोने का प्रतिनिधित्व करती है, जिसका अन्य सब मालों की तरह मूल्य होता है।[1]

अन्त में, कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सोने में यह क्षमता क्यों है कि उसका स्थान ऐसे प्रतीक ले सकते हैं, जिनमें कोई मूल्य नहीं होता? किन्तु, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उसमें यह क्षमता केवल उसी हद तक होती है, जिस हद तक कि वह एकमात्र सिक्के की तरह, केवल चालू माध्यम की तरह काम करता है और जिस हद तक कि वह और किसी रूप में काम नहीं करता। अब, मुद्रा के, इसके सिवा, कुछ और भी काम होते हैं, और महज चालू माध्यम की तरह काम करने का यह अकेला कार्य ही सोने के सिक्के से सम्बंधित एकमात्र कार्य नहीं होता, हालांकि जो घिसे हुए सिक्के चालू रहते हैं, उनके बारे में यह बात सच है। मुद्रा का हर टुकड़ा केवल उतनी ही देर तक महज एक सिक्का या परिचलन का माध्यम रहता है, जितनी देर तक वह सचमुच परिचलन में भाग लेता है। पर सोने की उस उपरोक्त अल्पतम राशि के बारे में यही सच है, जिसमें इस बात की क्षमता होती है कि उसका स्थान काग़ज़ी मुद्रा ले ले। वह राशि बराबर परिचलन के क्षेत्र में ही रहती है, लगातार चालू माध्यम की तरह काम करती है, और उसका अस्तित्व ही केवल इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए होता है। अतएव, उसकी गति इसके सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती कि रूपान्तरण मा – मु – मा की एक दूसरे की वे उल्टी अवस्थाएं बारी-बारी से सामने आती रहती हैं, जिनमें माल अपने मूल्य-रूपों के मुक़ाबले में खड़े होते हैं और तत्काल ही फिर ग़ायब हो जाते हैं। माल के विनिमय-मूल्य का स्वतंत्र अस्तित्व यहां एक क्षणिक घटना ही होती है, जिसके द्वारा तुरन्त ही एक माल का स्थान दूसरा माल ले लेता है। इसलिए इस क्रिया में, जो मुद्रा को लगातार एक हाथ से दूसरे हाथ में घुमाती रहती है, मुद्रा का केवल प्रतीकात्मक अस्तित्व ही पर्याप्त होता है। उसका कार्य-गत अस्तित्व मानों उसके भौतिक अस्तित्व को हज़म कर जाता है। मालों के दामों का एक क्षणिक एवं वस्तुगत प्रतिबिम्ब होने के कारण वह केवल अपने प्रतीक के रूप में काम करती है,

---

[1] जहां तक मुद्रा के विभिन्न कार्यों को समझने का प्रश्न है, वहां तक मुद्रा पर लिखने वाले सबसे अच्छे लेखकों के विचारों में भी स्पष्टता का कितना अभाव है, इसका एक उदाहरण फ़ुलार्टन का निम्नलिखित अंश है: "यह बात कि जहां तक हमारे घरेलू विनिमयों का सम्बंध है, मुद्रा के वे सारे काम, जो साधारणतया सोने और चांदी के सिक्कों से लिये जाते हैं, वे उतने ही कारगर ढंग से उन अपरिवर्तनीय नोटों के द्वारा भी सम्पन्न हो सकते हैं, जिनमें उस बनावटी और रूढ़िगत मूल्य के सिवा, जो उनको क़ानून से मिलता है, और कोई मूल्य नहीं होता,– यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे, मैं समझता हूं, किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के मूल्य से स्वाभाविक मूल्य के सारे काम लिये जा सकते हैं, और यदि केवल नोटों के निर्गम के परिमाण को उचित सीमा में रखा जाये, तो मापदण्ड की आवश्यकता तक समाप्त हो सकती है।" (Fullarton, "*Regulation of Currencies*" [फ़ुलार्टन, 'मुद्राओं का नियमन'], London, 1845, पृ० २१।) परिचलन में मुद्रा का काम करने वाले माल का स्थान चूंकि मूल्य के प्रतीक मात्र ले सकते हैं, इसलिए यहां पर यह घोषित कर दिया गया है कि मूल्य की माप और दामों के मापदण्ड के रूप में उस माल के कार्य अनावश्यक होते हैं!

और इसलिए उसमें यह क्षमता होती है कि स्वयं उसका स्थान एक प्रतीक ले ले।[1] लेकिन एक चीज़ ज़रूरी होती है; उस प्रतीक को खुद वस्तुगत समाजिक मान्यता प्राप्त होनी चाहिए, और कागज़ का प्रतीक यह मान्यता इस तरह प्राप्त करता है कि राज्य जबरन उसका चलन अनिवार्य बना देता है। राज्य का यह आदेश, जिसे मानना सब के लिए ज़रूरी होता है, परिचलन के केवल उस अन्दरूनी क्षेत्र में ही कारगर साबित हो सकता है, जिसकी सीमाएं उस समाज के प्रदेश की सीमाएं होती हैं; लेकिन मुद्रा भी केवल इसी क्षेत्र में चालू माध्यम के रूप में अपना कार्य पूरी तरह पूरा करती है, यानी सिक्का बन जाती है।

## अनुभाग ३ – मुद्रा

मुद्रा वह माल है, जो मूल्य की माप का काम करता है और जो या तो खुद और या किसी प्रतिनिधि के द्वारा परिचलन के माध्यम का काम करता है। इसलिए सोना (या चांदी) मुद्रा है। एक ओर तो वह उस वक़्त मुद्रा की तरह काम करता है, जब उसे अपने सुनहरे व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होना पड़ता है। उस समय वह मुद्रा-माल होता है, जो केवल भावगत नहीं होता, जैसा कि वह मूल्य की माप का काम करते समय होता है, और जिसमें यह क्षमता भी नहीं होती कि उसका प्रतिनिधित्व कोई प्रतीक कर सके, जैसी कि चालू माध्यम का काम करते समय उसमें होती है। दूसरी ओर, सोना उस वक़्त भी मुद्रा की तरह काम करता है, जब अपने कार्य के प्रताप से, चाहे यह कार्य वह खुद करता हो और चाहे किसी प्रतिनिधि के द्वारा कराता हो, वह मूल्य का वह अनन्य रूप बनकर रह जाता है, जो उपयोग-मूल्य के मुक़ाबले में, जिसका प्रतिनिधित्व कि बाक़ी सब माल करते हैं, विनिमय-मूल्य के अस्तित्व का एक मात्र पर्याप्त रूप होता है।

### क) अपसंचय

मालों के दो परस्पर विरोधी रूपान्तरण जिस प्रकार लगातार परिपथों में घूमते रहते हैं, या क्रय और विक्रय का अनवरत प्रवाह और बारी-बारी से सामने आने वाला क्रम मुद्रा के अविराम चलन में, या मुद्रा परिचलन की perpetuum mobile (शाश्वत प्रेरक शक्ति) का जो काम करती है, उसमें प्रतिबिम्बित होता है। किन्तु जैसे ही रूपान्तरणों का क्रम बीच में

[1] इस बात से कि जहां तक सोना और चांदी सिक्के हैं, अथवा जहां तक वे केवल परिचलन के माध्यम का काम करते हैं, वहां तक वे अपने प्रतीक मात्र बन जाते हैं, निकोलस बार्बोन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सरकारों को "मुद्रा को ऊपर उठाने" ("to raise money") का अधिकार होता है, यानी वे चांदी के उस वज़न को, जो शिलिंग कहलाता है, उससे बड़े वज़न का – जैसे कि क्राउन का – नाम दे सकती हैं और इस तरह अपने लेनदारों को क्राउनों के बजाय शिलिंग दे सकती हैं। उन्होंने लिखा है: "मुद्रा बार-बार गिनी जाने पर घिस जाती है और हल्की हो जाती है... सौदा करते समय लोग चांदी की मात्रा का नहीं, मुद्रा के अभिधान और चलन का ख़याल करते हैं..." "धातु पर लगी हुई सरकारी मुहर उसे मुद्रा बनाती है।" (N. Barbon, उप० पु०, पृ० २६, ३०, २५।)

रुक जाता है, जैसे ही विक्रय बाद में होने वाले क्रयों से अनुपूरित नहीं होते, वैसे ही मुद्रा गतिमान नहीं रहती, वैसे ही वह, बाअग्विलेबेर्ट के शब्दों में, "meuble" ("चल सम्पत्ति") से "immeuble" ("अचल सम्पत्ति") में, चल से अचल में, सिक्के से मुद्रा में बदल जाती है।

मालों के परिचलन का अत्यन्त प्रारम्भिक विकास होते ही पहले रूपान्तरण की पैदावार को पकड़ रखने की आवश्यकता एवं ज़ोरदार इच्छा का भी विकास हो जाता है। यह पैदावार माल की बदली हुई शकल – या उसका सुवर्ण-कोशशायी रूप होती है।[1] इस प्रकार, मालों को दूसरे माल ख़रीदने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उनके माल-रूप को उनके मुद्रा-रूप में बदलने के उद्देश्य से बेचा जाता है। यह रूप-परिवर्तन मालों का परिचलन सम्पन्न करने का साधन मात्र न रहकर लक्ष्य और ध्येय बन जाता है। इस प्रकार, माल के बदले हुए रूप को उसके पूर्णतया हस्तांतरणीय रूप की तरह – या उसके केवल क्षणिक मुद्रा-रूप की तरह – काम करने से रोक दिया जाता है। मुद्रा अपसंचित धन में बदल जाती है, और माल बेचने वाला मुद्रा का अपसंचय करने वाला बन जाता है।

मालों के परिचलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में केवल अतिरिक्त उपयोग-मूल्य ही मुद्रा में बदले जाते हैं। सोना और चांदी इस तरह ख़ुद-ब-ख़ुद अतिरेक अथवा धन की सामाजिक अभिव्यंजनाएं बन जाते हैं। अपसंचय का यह भोला स्वरूप उन समाजों में एक स्थायी चीज़ बन जाता है, जिनमें कुछ निश्चित एवं सीमित ढंग की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परम्परागत पद्धति का उत्पादन होता है। एशिया के और ख़ास कर भारत के लोगों में हम यही चीज़ पाते हैं। वेंडरलिन्ट, जिसको यह भ्रम है कि किसी भी देश में मालों के दाम वहां पाये जाने वाले सोने और चांदी की मात्रा से निर्धारित होते हैं, अपने से प्रश्न करता है कि हिन्दुस्तानी माल इतने सस्ते क्यों होते हैं। और फिर अपने प्रश्न का ख़ुद जवाब देता है कि इसका कारण यह है कि हिन्दू लोग अपनी मुद्रा ज़मीन में गाड़कर रखते हैं। वेंडरलिन्ट ने बताया है कि १६०२ से १७३४ तक हिन्दुओं ने १५ करोड़ पौण्ड स्टर्लिंग की क़ीमत की चांदी गाड़ दी थी, जो मूलतः अमरीका से योरप में आयी थी[2]। १८५६ से १८६६ तक, दस साल में, इंगलैण्ड ने हिन्दुस्तान और चीन को १२ करोड़ पौण्ड की क़ीमत की चांदी भेजी, जो कि उसे आस्ट्रेलिया के सोने के एवज़ में मिली थी। चीन को जो चांदी जाती है, उसका अधिकांश हिन्दुस्तान पहुंच जाता है।

मालों के उत्पादन का जैसे-जैसे आगे विकास होता है, वैसे-वैसे मालों के प्रत्येक उत्पादक के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि वह उसका पक्का इन्तज़ाम करे, जो उत्पादकों के बीच नाता

---

[1] "Une richesse en argent n'est que... richesse én productions, converties en argent." ["मुद्रा के रूप में धन... मुद्रा में रूपान्तरित हुई पैदावार के रूप में धन के सिवा और कुछ नहीं होता।"] (Mercier de la Rivière, उप० पु० ।) "Une valeur en productions n'a fait que changer de forme." ["पैदावार के रूप में एक मूल्य ने केवल अपना रूप बदल डाला है।"] (उप० पु०, पृ० ४८६।)

[2] "ये लोग इसी आदत की वजह से अपने तमाम सामान और बनाये हुए माल के दाम सदा इतने सस्ते बनाये रखते हैं" (Vanderlint, उप० पु०, पृ० ९५, ९६)।

जोड़ने (nexus rerum) का काम करता है या जो सामाजिक बंधक होता है।[1] उत्पादक की आवश्यकताएं बराबर अपना दबाव डालती और लगातार दूसरे लोगों का माल खरीदना आवश्यक बनाती रहती हैं। उधर उसके अपने सामान के उत्पादन और बिक्री में समय लगता है, और वह परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। इसलिए कुछ बेचे बिना कोई दूसरा खरीदने के लिए जरूरी है कि उसने पहले बिना कुछ खरीदे कुछ बेचा हो। यह क्रिया जब आम तौर पर होने लगती है, तो ऐसा लगता है, मानो उसके भीतर एक विरोध निहित है। लेकिन बहुमूल्य धातुओं का उनके उत्पादन-स्थलों पर अन्य मालों के साथ सीधा विनिमय होता है। और यहां (मालों के मालिक) विक्रय तो करते हैं, पर (सोने या चांदी के मालिक) क्रय नहीं करते।[2] और बाद में दूसरे उत्पादकों द्वारा किये जाने वाले विक्रय पर साथ ही साथ क्रय न करने का केवल यह परिणाम होता है कि नव-उत्पादित बहुमूल्य धातुएं मालों के तमाम मालिकों में बंट जाती हैं। इस तरह विनिमय की क्रिया के हर क़दम पर सोने और चांदी की विभिन्न आकारों की अपसंचित राशियां इकट्ठी हो जाती हैं। किसी एक ख़ास माल की शकल में विनिमय-मूल्य को सम्भाले रखने और जमा करने की सम्भावना पैदा होने पर सोने का लालच भी जन्म लेता है। परिचलन का विस्तार बढ़ने के साथ-साथ मुद्रा की – अर्थात् धन के उस सर्वथा सामाजिक रूप की, जो हर घड़ी व्यवहार में लाया जा सकता है, – शक्ति बढ़ती जाती है। "सोना एक आश्चर्यजनक वस्तु है! जिसके पास सोना है, वह जो भी चाहे, हासिल कर सकता है। सोने के द्वारा आत्माओं को स्वर्ग तक में भेजा जा सकता है" (१५०३ में जमैका से लिखे गये कोलम्बस के एक पत्र की उक्ति)। सोना चूंकि यह नहीं बताता कि कौनसी चीज उसमें रूपान्तरित हुई है, इसलिए हर चीज, चाहे वह माल हो या न हो, सोने में बदली जा सकती है। हर चीज बिकाऊ बन जाती है और हर चीज ख़रीदी जा सकती है। परिचलन वह महान सामाजिक भभका बन जाता है, जिसमें हर चीज डाली जाती है और जिसमें से हर चीज सुवर्ण-स्फटिक बनकर बाहर निकल आती है। यहां तक कि सन्तों की हड्डियां भी इस कीमियागरी के सामने नहीं ठहर पातीं, और उनसे ज्यादा नाजुक "res sacrosanctae, extra commercium hominum" ("पवित्र वस्तुएं, जो मनुष्यों के व्यापारिक लेन-देन से बाहर होती हैं") तो इस कीमियागरी के सामने और भी कम ठहर पाती हैं।[3] जिस प्रकार मालों के बीच पाये जाने वाले प्रत्येक

---

[1] "मुद्रा... एक बंधक होती है" (John Bellers, "*Essays about the Poor, Manufactures, Trades, Plantations and Immorality*" [जान बैलेर्स, 'ग़रीबों, कारख़ानों, व्यापार, बाग़ानों और अनैतिकता के विषय में निबंध'], London, 1699, पृ० १३)।

[2] "निरपेक्ष" अर्थ में क्रय का मतलब यह होता है कि उसके लिए जो सोना और चांदी इस्तेमाल किये जाते हैं, वे मालों के बदले हुए रूप – या किसी विक्रय का फल – होते हैं।

[3] फ़्रांस का अत्यन्त धर्म-भीरू ईसाई राजा हेनरी तृतीय ख़ानक़ाहों को लूटता था और उनमें रखे हुए पवित्र अवशेषों को मुद्रा में बदलवा लेता था। फ़ोकियन लोगों द्वारा देल्फ़ी के मंदिर की लूट ने यूनान के इतिहास में जो भूमिका अदा की थी, वह तो सुविदित है ही। प्राचीन काल में मन्दिर मालों के देवताओं के निवास-स्थानों का काम देते थे। वे "पवित्र बैंक" थे। फ़िनीशियन लोग सच्चे अर्थ में (par excellence) एक व्यापारी क़ौम थे। उनकी दृष्टि में द्रव्य हर चीज का तत्वांतरित रूप था। इसलिए उनके यहां यह सर्वथा उचित समझा जाता था कि प्रेम की देवी के समारोह के अवसर पर अपने आपको अजनबियों को भेंट कर देने वाली कुमारियां बदले में मिले हुए सिक्के को देवी को अर्पित कर दें।

गुणात्मक भेद का मुद्रा में लोप हो जाता है, उसी प्रकार मुद्रा, हर ऊंच-नीच ख़तम करके सब को बराबर बना देने वाली होने के नाते, अपनी बारी आने पर हर तरह का भेद-भाव मिटा देती है[1]। परन्तु मुद्रा ख़ुद एक माल है, एक बाह्य वस्तु है, जो किसी भी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बन जाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार, सामाजिक शक्ति अलग-अलग व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति बन जाती है। इसीलिए प्राचीन काल के लोग मुद्रा को आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्था को भंग करने वाला समझते थे और उसकी भर्त्सना करते थे।[2] आधुनिक समाज, जिसने पैदा होते ही पाताल-लोक के देवता प्लेटो

---

[1] "Gold yellow, glittering, precious gold!
Thus much of this, will make black white; foul, fair;
Wrong, right; base, noble; old, young; coward, valiant.
... What this, you gods? Why, this
Will lug your priests and servants from your sides;
Pluck stout men's pillows from below their heads;
This yellow slave
Will knit and break religions; bless the accurs'd;
Make the hoar leprosy ador'd; place thieves,
And give them title, knee and approbation,
With senators on the bench; this is it,
That makes the wappen'd widow wed again:
... Come damned earth,
Thou common whore of mankind."

["स्वर्ण, पीतवर्ण, ज्योतिर्मय, अद्भुत अमूल्य स्वर्ण!
रंच मात्र ही कर देता श्याम को जो दुग्ध-धवल, असुन्दर को सुन्दर,
अनुचित को उचित, घृणित को उतम, वृद्ध को युवा, कायर को वीर-प्रवर।
...सावधान, देवताओ! अरे यह? यह तो भक्तों और पुजारियों को तुमसे विलग कर देगा,
वीर नर पुंगवों के शीश के नीचे से वस्त्र तक हटा देगा;
पीतवर्ण क्रीत यह
धर्मों की शृंखलाएं जोड़ेगा-तोड़ेगा, श्राप-युक्त नर को मुक्ति-वर देगा,
देगा रूप कोढ़-ग्रस्त वृद्धा को अन्यतम रूपसी का,
पदवी, पदक, सम्मान दस्युओं को देगा,
पंक्ति में महामंत्रियों की उनको बिठा देगा; यही, हां, यही तो
मांस-रक्त हीन विधवा को नववधू बना देगा।
...आ, उठ नीच धरती,
मानव मात्र की कुत्सित रखैल ओ!"] (Shakespeare, "*Timon of Athens*" [शेक्सपियर 'एथेंसवासी टाइमोन']।)

[2] «Οὐδέν γάρ ἀνθρώποισιν οἷον ἄργυρος
Κακόν νομισμα ἔβλαστε· τοῦτο καί πόλεις
Πορθεῖ, τόδ' ἄνδρας ἐξανίστησιν δόμων.
Τόδ' ἐκδιδάσκει καί παραλλάσσει φρένας
Χρηστάς πρός αἰσχρα ἀνθρώποις ἔχειν,
Καί παντός ἔργου δυσσέβειαν εἰδέναι.»

के बाल पकड़कर उसे पृथ्वी के गर्भ से खींचकर निकालने की कोशिश की थी[1], सोने को अपना पवित्र ग्रेल (Holy Grail) समझता है और स्वयं अपने जीवन के मूल सिद्धान्त के कान्तिमय मूर्त रूप की तरह उसका अभिनन्दन करता है।

माल एक उपयोग-मूल्य की हैसियत से किसी ख़ास आवश्यकता की पूर्ति करता है और भौतिक धन का एक विशिष्ट तत्त्व होता है। किन्तु किसी माल का मूल्य इस बात की माप होता है कि उसमें भौतिक धन के अन्य सब तत्त्वों को अपनी ओर आकर्षित करने की कितनी शक्ति है, और इसलिए वह अपने मालिक के सामाजिक धन की माप होता है। मालों के बर्बर मालिक की दृष्टि में, और यहां तक कि पश्चिमी योरप के किसान की दृष्टि में भी, मूल्य-रूप ही मूल्य होता है, और इसलिए जब उसके सोने और चांदी के अपसंचित कोष में बढ़ती होती है, तो वह समझता है कि मूल्य में बढ़ती हुई है। यह सच है कि मुद्रा का मूल्य बदलता रहता है; वह कभी तो स्वयं उसके अपने मूल्य के परिवर्तन का परिणाम होता है और कभी मालों के मूल्य में होने वाले परिवर्तन का। किन्तु इससे एक ओर तो इसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि २०० औंस सोने में अब भी १०० औंस से ज़्यादा मूल्य रहता है, और दूसरी ओर इस वस्तु के ठोस धात्वीय रूप के अन्य सब मालों का सार्वत्रिक सम-मूल्य रूप और समस्त मानव-श्रम का तात्कालिक सामाजिक अवतार बने रहने में भी कोई बाधा नहीं पड़ती। अपसंचय करने की इच्छा की प्रकृति ही ऐसी है कि उसकी कभी तुष्टि नहीं होती। यदि मुद्रा के गुणात्मक पहलू की ओर ध्यान दिया जाये या उसपर औपचारिक रूप से विचार किया जाये, तो मुद्रा का प्रभाव असीम होता है, अर्थात् वह भौतिक धन का सार्वत्रिक प्रतिनिधि होती है, क्योंकि उसे सीधे-सीधे किसी भी अन्य माल में बदला जा सकता है। किन्तु इसके साथ ही मुद्रा की हर वास्तविक रक़म मात्रा में सीमित होती है, और इसलिए क्रय-साधन के रूप में उसका प्रभाव भी सीमित होता है। मुद्रा की परिमाणात्मक सीमाओं और गुणात्मक सीमाहीनता का यह विरोध अपसंचय करने वाले को लगातार चाबुक लगा-लगाकर उससे सिसाइफ़स (Sisyphus) के समान निरन्तर संचय का श्रम कराता है। उसकी वही हालत होती है, जो किसी विजेता की होती है, जो हर नये देश को जीतने पर उसके रूप में केवल एक नयी सीमा देखता है।

सोने को मुद्रा के रूप में रोक रखने और उसे अपसंचित धन की शकल देने के लिए ज़रूरी है कि उसे परिचलन में भाग न लेने दिया जाये, या उसे भोग के साधन में रूपान्तरित न होने दिया जाये। इसलिए, अपसंचय करने वाला विषय-सुख की इच्छाओं का अपने सुवर्ण-देव के सामने बलिदान कर देता है। वह सचमुच संन्यास-धर्म का पालन करता है। दूसरी ओर, उसने मालों के रूप में परिचलन में जितना डाला है, उससे अधिक वह उसमें से बाहर नहीं निकाल सकता। वह जितना ज़्यादा पैदा करता है, उतना ही ज़्यादा बेच पाता है। अतः कठोर परिश्रम करना,

---

["संसार में जितनी बुराइयां हैं, उनमें सबसे बड़ी बुराई मुद्रा है। मुद्रा ही है, जो शहरों को वीरान कर देती है और लोगों से घर-द्वार छुड़ा देती है। वह नैसर्गिक पवित्रता को विकृत और भ्रष्ट कर देती है और मनुष्य को बेईमानी की आदत सिखाती है।"]

(सोफ़ोक्लीज़, 'ऐण्टीगौन'।)

[1] «Ἐλπιζούσης τῆς πλεονεξίας ἀνάξειν ἐκ τῶν μυχῶν τῆς γῆς αὐτον τό Πλούτωνα» ("लाभ का मोह स्वयं प्लेटो को पृथ्वी के गर्भ से खींचकर बाहर निकाल लेना चाहता था") (Athenaeux, "*Deipnosophis tarum libri quindecim*")।

पैसा बचाना और लालच – ये तीन उसके मुख्य गुण होते हैं, और उसका सारा अर्थशास्त्र यह होता है कि ज्यादा बेचो और बहुत कम खरीदो।[1]

अपसंचित धन के इस सामान्य स्वरूप के साथ-साथ हम सोने और चांदी की बनी हुई वस्तुओं के संग्रह के रूप में उसका कलापूर्ण स्वरूप भी पाते हैं। यह रूप पूंजीवादी समाज के धन के साथ-साथ बढ़ता जाता है। दिदेरो ने कहा है: "Soyons riches ou paraisons riches" ("हमें धनी होना चाहिए या धनी प्रतीत होना चाहिए")। इस प्रकार, एक तरफ़ तो सोने और चांदी द्वारा मुद्रा के रूप में जो कार्य किये जाते हैं, उनसे सम्बन्ध न रखने वाली, सोने और चांदी के लिए एक लगातार बढ़ने वाली मंडी पैदा हो जाती है, और, दूसरी तरफ़, मुद्रा की पूर्ति के लिए एक गुप्त स्रोत तैयार हो जाता है, जिसका मुख्यतया संकटों और सामाजिक उपद्रवों के समय सहारा लिया जाता है।

धात्विक परिचलन की अर्थ-व्यवस्था में अपसंचय नाना प्रकार के कार्य करता है। उसका पहला कार्य सोने और चांदी के सिक्कों के चलन पर लागू होने वाली परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। हम देख चुके हैं कि किस तरह मालों के परिचलन के विस्तार एवं तीव्रता तथा उनके दामों में लगातार आते रहने वाले उतार-चढ़ाव के साथ-साथ चालू मुद्रा की मात्रा में भी निरन्तर ज्वार-भाटा आता रहता है। अतएव, चालू मुद्रा की राशि में फैलने और सिकुड़ जाने की क्षमता होनी चाहिए। एक समय मुद्रा को आकर्षित किया जाना चाहिए कि वह आकर चालू सिक्कों की तरह काम करे, दूसरे समय चालू सिक्कों को धकेलकर बाहर कर देना चाहिए, ताकि वे फिर न्यूनाधिक निश्चल मुद्रा की तरह काम करने लगें। इसलिए कि वास्तव में चालू मुद्रा की राशि परिचलन की मुद्रा खपाने की शक्ति को सदा पूरी तरह तृप्त करती रहे, तो उसके लिए यह जरूरी है कि सिक्के का काम करने के लिए जितने सोने-चांदी की जरूरत है, देश में उससे सदा अधिक मात्रा में सोना-चांदी हो। यह शर्त मुद्रा के अपसंचित धन का रूप ले लेने से पूरी होती है। ये सुरक्षित मुद्राशय परिचलन में मुद्रा भेजने और वहां से मुद्रा वापिस खींचने की नालियों का काम करते हैं, और इस तरह मुद्रा कभी तट-प्लावन नहीं करने पाती।[2]

---

[1] "Accrescere quanto più si può il numero de'venditori d'ogni merce, diminuere quanto più si può il numero dei compratori, questi sono i cardini sui quali si raggirano tutte le operazioni di economia politica" ["हर तरह की वाणिज्य-वस्तुओं के बेचने वालों की संख्या को अधिक से अधिक बढ़ा देना और ख़रीदारों की संख्या को अधिक से अधिक कम कर देना – इन्हीं दो कुलाबों के सहारे अर्थशास्त्र की सारी क्रियाएं चलती हैं"] (Verri, उप० पु०, पृ० ५२)।

[2] "राष्ट्र का व्यापार चलाने के लिए विशिष्ट मुद्रा की एक निश्चित रक़म की आवश्यकता होती है, जो बदलती रहती है और हमारी परिस्थितियों के अनुसार कभी ज्यादा होती है और कभी कम... मुद्रा का यह ज्वार और भाटा अपने आप ही आता-जाता रहता है और अपने आप ही संतुलन प्राप्त कर लेता है, – उसके लिए राजनीतिज्ञों की किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती... ये डोल बारी-बारी से काम करते हैं: जब मुद्रा की कमी होती है, तब सोने-चांदी के कलधौत ढाल दिये जाते हैं; जब सोने-चांदी की कमी होती है, तब मुद्रा गला दी जाती है।" (Sir D. North, उप० पु०, Postscript [पुनश्च], पृ० ३।) जान स्टुअर्ट मिल, जो बहुत दिनों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी रहे थे, इस बात की पुष्टि

## ख) भुगतान के साधन

अभी तक हमने माल के परिचलन के जिस साधारण रूप पर विचार किया है, उसमें प्रत्येक निश्चित मूल्य सदा दोहरी शकल में हमारे सामने आया है – एक ध्रुव पर माल की शकल में और उसके उल्टे ध्रुव पर मुद्रा की शकल में। इसलिए मालों के मालिक सदा ऐसी चीज़ों के प्रतिनिधियों के रूप में एक दूसरे के सम्पर्क में आते थे, जो पहले ही से एक दूसरे का सम-मूल्य थीं। लेकिन परिचलन का विकास होने के साथ-साथ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें मालों के हस्तांतरण और उनके दामों के मूर्त्त रूप प्राप्त करने के बीच समय का अन्तर पैदा हो जाता है। इनमें जो सबसे सरल परिस्थितियां हैं, यहां उनकी ओर संकेत कर देना काफ़ी होगा। एक तरह की चीज़ के उत्पादन में ज़्यादा और दूसरी तरह की चीज़ के उत्पादन में कम समय लगता है। फिर अलग-अलग मालों का उत्पादन अलग-अलग मौसमों पर निर्भर करता है। मुमकिन है कि एक तरह का माल अपनी मण्डी में ही पैदा होता हो और दूसरा माल लम्बा सफ़र पूरा करके मण्डी में पहुंचता हो। और इसलिए यह मुमकिन है कि इसके पहले कि दूसरे नम्बर के माल का मालिक ख़रीदने के लिए तैयार हो, पहले नम्बर के माल का मालिक बेचने के लिए तैयार हो जाये। जब उन्हीं व्यक्तियों के बीच में एक ही प्रकार के सौदे लगातार दोहराये जाते हैं, तब बिक्री की शर्तों का नियमन उत्पादन की परिस्थितियों के अनुसार होता है। दूसरी ओर, एक प्रकार के माल का – उदाहरण के लिए, एक मकान का – उपयोग एक निश्चित काल के लिए बेचा जाता है (या यदि प्रचलित भाषा का प्रयोग किया जाय, तो उसे किराये पर उठा दिया जाता है)। ऐसी सूरत में केवल नियत काल की समाप्ति पर ही ख़रीदार को माल का उपयोग-मूल्य सचमुच प्राप्त हो पाता है। इसलिए वह उसे ख़रीद पहले लेता है और दाम का भुगतान बाद को करता है। बेचने वाला एक ऐसा माल बेचता है, जो पहले से मौजूद है; ख़रीदार महज़ मुद्रा के – बल्कि कहना चाहिए कि भावी मुद्रा के – प्रतिनिधि के रूप में ख़रीदता है। बेचने वाला लेनदार बन जाता है, ख़रीदार देनदार हो जाता है। यहां चूंकि मालों का रूपान्तरण – अथवा उनके मूल्य-रूप का विकास – एक नयी अवस्था में सामने आता है, इसलिए मुद्रा भी एक नया कार्य करने लगती है। वह भुगतान का साधन बन जाती है।

यहां पर लेनदार या देनदार का रूप साधारण परिचलन का फल होता है। उस परिचलन का रूप-परिवर्तन ग्राहक और विक्रेता पर इस नयी मुहर की छाप लगा देता है। इसलिए, शुरू-

---

करते हैं कि हिन्दुस्तान में चांदी के ज़ेवर अब भी सीधे तौर पर अपसंचित धन का काम करते हैं। जब सूद की दर ऊंची होती है, तब चांदी के ज़ेवर बाहर निकल आते हैं और उनके सिक्के ढल जाते हैं, और जब सूद की दर गिर जाती है, तब वे फिर वापिस चले जाते हैं। (J. S. Mill's Evidence. "*Reports on Bank Acts*" [जो० एस० मिल की गवाही, 'बैंक सम्बंधी क़ानूनों के विषय में रिपोर्टें'], 1857, २०८४।) हिन्दुस्तान के सोने और चांदी के आयात और निर्यात के सम्बंध में १८६४ की एक संसदीय दस्तावेज़ के अनुसार १८६३ में हिन्दुस्तान से सोने और चांदी का जितना निर्यात हुआ था, उससे १,९३,६७,७६४ पौण्ड अधिक का आयात हुआ था। १८६४ तक जो आठ साल बीत चुके थे, उनमें बहुमूल्य धातुओं का जितना निर्यात हुआ था, उससे १०,९६,५२,९१७ पौण्ड अधिक का आयात हुआ था। इस शताब्दी में हिन्दुस्तान में २० करोड़ पौण्ड से कहीं ज़्यादा के सिक्के ढाले जा चुके हैं।

शुरू में ये नयी भूमिकाएं उतनी ही क्षणिक और बारी-बारी से आने वाली होती हैं, जितनी कि विक्रेता और ग्राहक की भूमिकाएं, और वही अभिनेता अपनी-अपनी जगह उन्हें अदा करते हैं। मगर विरोध लगभग इतना ही सुखद नहीं है, और उसका स्फटिकीकरण हो जाना कहीं ज्यादा सम्भव होता है[1]। किन्तु देनदार और लेनदार की ये भूमिकाएं मालों के परिचलन से स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न हो सकती हैं। प्राचीन काल के वर्ग-संघर्ष मुख्यतया देनदारों और लेनदारों के संघर्ष का रूप धारण कर लेते थे। रोम में इसी प्रकार का संघर्ष देनदार जन-साधारण के सत्यानाश के साथ समाप्त हुआ था, और उनका स्थान गुलामों ने ले लिया था। मध्य युग में देनदारों और लेनदारों का संघर्ष सामन्ती देनदारों के सत्यानाश के साथ समाप्त हुआ था, जिनकी राजनीतिक सत्ता भी अपने आर्थिक आधार के साथ-साथ नष्ट हो गयी थी। फिर भी इन दो कालों में देनदार और लेनदार के बीच विद्यमान मुद्रा का सम्बंध केवल सम्बंधित वर्गों के अस्तित्व के लिए आवश्यक सामान्य आर्थिक परिस्थितियों के बीच पाये जाने वाले कहीं अधिक गहरे विरोध का ही प्रतिबिम्ब था।

आइये, अब फिर मालों के परिचलन की ओर लौट चलें। बिक्री की क्रिया के दो ध्रुवों पर माल और मुद्रा नामक दो सम-मूल्य अब एक साथ प्रकट नहीं होते। अब मुद्रा पहले बिकने वाले माल का दाम निर्धारित करने में मूल्य की माप का काम करती है। सौदे में जो दाम तै होता है, वह देनदार की जिम्मेदारी की माप होता है, यानी वह बताता है कि एक निश्चित तारीख को उसे मुद्रा के रूप में कितनी रक़म अदा कर देनी पड़ेगी। दूसरे, मुद्रा क्रय के भावगत साधन की तरह काम करती है। यद्यपि उसका अस्तित्व केवल ग्राहक के भुगतान करने के वायदे में ही होता है, फिर भी वह माल को एक हाथ से निकालकर दूसरे हाथ में पहुंचा देती है। भुगतान के लिए जो दिन निश्चित होता है, उसके पहले भुगतान का साधन सचमुच परिचलन में प्रवेश नहीं करता, उसके पहले वह ग्राहक के हाथ से निकलकर विक्रेता के हाथ में नहीं आता। यहां चालू माध्यम अपसंचित धन में रूपान्तरित हो गया, क्योंकि पहली अवस्था के बाद क्रिया बीच में ही रुक गयी, और वह भी इसलिए कि माल का परिवर्तित रूप यानी मुद्रा परिचलन के बाहर खींच ली गयी। भुगतान का माध्यम परिचलन में प्रवेश करता है, मगर केवल उसी वक़्त, जब कि माल परिचलन के बाहर जा चुका होता है। अब मुद्रा क्रिया को क्रियान्वित करने वाला साधन नहीं है। अब वह विनिमय-मूल्य के अस्तित्व के निरपेक्ष रूप की तरह, या सार्वत्रिक माल की तरह सामने आकर, केवल क्रिया को समाप्त करती है। विक्रेता ने अपने माल को मुद्रा में इसलिए बदला कि अपनी कोई आवश्यकता पूरी कर सके: अपसंचय करने वाले ने यही काम इसलिए किया कि अपने माल को मुद्रा की शकल में रख सके, और देनदार ने इसलिए किया कि वह भुगतान कर सके, क्योंकि यदि वह भुगतान नहीं करेगा, तो क़ुर्क़-अमीन आकर उसका माल नीलाम कर डालेगा। अतएव

---

[1] १८ वीं सदी के शुरू में अंग्रेज व्यापारियों में देनदार और लेनदार के बीच कैसे सम्बंध थे, इसका वर्णन निम्न शब्दों में देखिये: "यहां इंगलैण्ड के व्यापारियों में निर्दयता की ऐसी क्रूर भावना पायी जाती है, जैसी न तो मनुष्यों के किसी और समाज में पायी जाती है और न संसार के किसी और राज्य में।" (*"An Essay on Credit and the Bankrupt Act"* ['उधार और दिवालिया क़ानून के विषय में एक निबंध'], London, 1707, पृ० २।)

मालों का मूल्य-रूप – मुद्रा – ही अब हर बिक्री का ध्येय और लक्ष्य है, और यह स्वयं परिचलन की क्रिया से उत्पन्न होने वाली एक सामाजिक आवश्यकता के कारण है।

ख़रीदार मालों को मुद्रा में बदलने के पहले मुद्रा को मालों में बदल डालता है। दूसरे शब्दों में, वह मालों के प्रथम रूपान्तरण के पहले ही उनका दूसरा रूपान्तरण सम्पन्न कर देता है। विक्रेता का माल परिचलन में भाग लेता है और उसका दाम भी मूर्त रूप प्राप्त कर लेता है, लेकिन केवल मुद्रा के ऊपर एक क़ानूनी दावे की शकल में। मुद्रा में बदले जाने के पहले ही वह एक उपयोग-मूल्य में बदल दिया जाता है। उसका प्रथम रूपान्तरण केवल बाद को सम्पन्न होता है।[1]

किसी ख़ास काल में जिन क़र्ज़ों का भुगतान करना ज़रूरी होता है, वे उन मालों के दामों के जोड़ का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी बिक्री के फलस्वरूप इन क़र्ज़ों का जन्म हुआ है। इस रक़म की अदायगी के लिए सोने की कितनी मात्रा आवश्यक होगी, यह सबसे पहले तो भुगतान के साधनों के चलन की तेज़ी पर निर्भर करता है। यह तेज़ी स्वयं दो बातों पर निर्भर करती है। एक तो देनदारों और लेनदारों के बीच जो सम्बंध होते हैं, उनसे एक तरह की शृंखला बन जाती है, जिससे कि जब 'क' को अपने देनदार 'ख' से मुद्रा मिलती है तो वह उसे सीधे अपने लेनदार 'ग' को सौंप देता है, और यह क्रम इसी तरह चलता रहता है। दूसरी बात यह देखनी पड़ती है कि अलग-अलग क़र्ज़ों की अदायगी के लिए जो तारीख़ें निश्चित हैं, उनमें समय का अन्तर कितना-कितना है। भुगतानों की – अथवा बीच में रोक दिये गये प्रथम रूपान्तरणों की – सतत शृंखला रूपान्तरणों के एक दूसरे से गुंथे हुए उन क्रमों से बुनियादी तौर पर भिन्न है, जिनपर हमने पीछे एक पृष्ठ पर विचार किया था। ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच जो सम्बंध होता है, वह चालू माध्यम के चलन के द्वारा केवल व्यक्त ही नहीं होता। इस सम्बंध का उद्भव भी केवल परिचलन में ही होता है, और उसी के भीतर उसका अस्तित्व भी होता है। इसके विपरीत, भुगतान के साधनों की हरकत एक ऐसे सामाजिक सम्बंध को व्यक्त करती है, जो बहुत पहले से ही मौजूद था।

अनेक बिक्रियां चूंकि एक ही समय पर और साथ-साथ होती हैं, इसलिए चलन की तेज़ी एक हद से ज़्यादा सिक्के का स्थान नहीं ले सकती। दूसरी ओर, यही तथ्य भुगतान के साधनों की बचत करने के लिए एक नयी प्रेरणा देता है। जिस अनुपात में बहुत से भुगतान एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं, उसी अनुपात में उनका परिसमापन करने के लिए ख़ास तरह की

---

[1] १८५९ में मेरी जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उसके निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा कि वर्तमान पुस्तक के मूल पाठ में इसके एक विरोधी स्वरूप की कोई चर्चा मैं क्यों नहीं करता हूं: "इसके विपरीत, मु – मा क्रिया में मुद्रा का ख़रीद के वास्तविक साधन के रूप में हस्तांतरण हो सकता है, और इस तरह मुद्रा का उपयोग-मूल्य वसूल होने तथा माल के सचमुच ख़रीदार को मिलने के पहले ही माल का दाम वसूल किया जा सकता है। पूर्व-भुगतान की प्रचलित प्रथा के मातहत यह चीज़ बराबर होती रहती है। और अंग्रेज़ सरकार हिन्दुस्तान के किसानों से इसी प्रथा के अनुसार अफ़ीम ख़रीदती है... लेकिन ऐसी सूरत में मुद्रा सदा ख़रीद के साधन का काम करती है... ज़ाहिर है, पूंजी भी मुद्रा की शकल में ही पेशगी लगायी जाती है... किन्तु यह दृष्टिकोण साधारण परिचलन के क्षेत्र में नहीं आता।" (*"Zur Kritik der Politischen Oekonomie"* ['अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'], पृ० ११९, १२०।)

संस्थाओं और पद्धतियों का विकास हो जाता है। मध्य युग में लिग्रोंस शहर में virements (ऋण-कटौती) नामक ऐसी ही संस्था थी। 'क' का 'ख' पर जितना क़र्ज़ है और 'ख' का 'ग' पर तथा 'ग' का 'क' पर, और इसी तरह अन्य लोगों का क़र्ज़,—इन सब क़र्ज़ों को केवल एक दूसरे के सामने रखा जाता था, ताकि सकारात्मक और नकारात्मक मात्राओं की भांति उन्हें आपस में काट दिया जाये। और इस प्रकार केवल एक राशि बक़ाया बच रहती है, जिसका भुगतान करना ज़रूरी होता है। किसी स्थान पर भुगतानों का जितना अधिक संकेन्द्रण होता है, भुगतानों की कुल रक़म की तुलना में यह बकाया राशि उतनी ही कम होती है और परिचलन में शामिल भुगतान के साधनों की मात्रा भी उतनी ही कम होती है।

भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा जो काम करती है, उसमें एक प्रत्यक्ष विरोध निहित होता है, यानी उस विरोध में कोई terminus medius नहीं होता। जिस हद तक कि अलग-अलग भुगतान एक-दूसरे को मंसूख कर देते हैं, उस हद तक मुद्रा लेखा-मुद्रा के रूप में—मूल्य की माप के रूप में—केवल भावगत ढंग से काम करती है। जिस हद तक कि सचमुच भुगतान करने होते हैं, उस हद तक मुद्रा चालू माध्यम की तरह या वस्तुओं के आदान-प्रदान के मात्र एक क्षणिक अभिकर्त्ता की तरह नहीं, बल्कि उस हद तक वह सामाजिक श्रम के वैयक्तिक अवतार, विनिमय-मूल्य के अस्तित्व के स्वतंत्र रूप और सार्वत्रिक माल की तरह काम करती है। यह विरोध औद्योगिक तथा व्यापारिक संकटों की उन अवस्थाओं में खुलकर सामने आता है, जो मुद्रा का संकट कहलाती हैं।[1] ऐसा संकट केवल वहीं पर आता है, जहां भुगतानों की बराबर लम्बी खिंचती चली जाने वाली शृंखला और भुगतानों को निपटाने की एक बनावटी व्यवस्था का पूर्ण विकास हो गया है। जब कभी इस ढांचे में कोई सामान्य एवं व्यापक गड़बड़ी पैदा हो जाती है,—उसका कारण चाहे कुछ भी हो,—तब मुद्रा यकायक और तत्काल लेखा-मुद्रा के मात्र भावगत रूप को त्यागकर ठोस नक़दी बन जाती है। अब घटिया माल उसका स्थान नहीं ले सकते। मालों का उपयोग-मूल्य मूल्यहीन हो जाता है, और उनका मूल्य स्वयं अपने स्वतंत्र रूप का सामना होने पर ग़ायब हो जाता है। संकट के कुछ ही पहले तक पूंजीपति मदोन्मत्त कर देने वाली समृद्धि से उत्पन्न आत्म-निर्भरता के गर्व के साथ यह घोषणा करता है कि मुद्रा एक वृथा का भ्रम है, केवल माल ही मुद्रा होते हैं। परन्तु अब हर तरफ़ यह शोर मचता है कि मुद्रा ही एकमात्र माल है। जिस प्रकार हिरन ताज़े पानी के लिए तड़पता है, उसी प्रकार अब पूंजीपति की आत्मा मुद्रा के लिए, उस एकमात्र धन के लिए, तड़पती है।[2] संकट पैदा

---

[1] पाठ में जिस मुद्रा-संकट का ज़िक्र किया गया है, वह प्रत्येक संकट की एक अवस्था होती है और उसे उस ख़ास ढंग के संकट से बिल्कुल अलग करके देखना चाहिए, जो मुद्रा-संकट ही कहलाता है, लेकिन जो एक स्वतंत्र घटना के रूप में अलग से भी उत्पन्न हो सकता है और जिसका उद्योग तथा व्यापार पर केवल अप्रत्यक्ष ढंग से प्रभाव पड़ता है। इन संकटों की धुरी मुद्रा-रूपी पूंजी होती है, और चुनांचे उनके प्रत्यक्ष प्रभाव का क्षेत्र इस पूंजी का क्षेत्र, अर्थात् बैंक, स्टाक-एक्सचेंज और वित्त-प्रबंध होते हैं।

[2] "उधार की प्रणाली को त्यागकर सब का यकायक फिर ठोस नक़दी की प्रणाली पर लौट आना—यह क्रिया व्यावहारिक बदहवासी तो फैलाती ही है, ऊपर से सैद्धान्तिक बदहवासी भी पैदा कर देती है; और वे तमाम व्यक्ति, जिनके ज़रिये परिचलन सम्पन्न होता है, उस दुर्गम रहस्य को देखकर थर-थर कांपने लगते हैं, जिसमें उनके अपने आर्थिक सम्बंध उलझ गये हैं।"

होने पर मालों और उनके मूल्य-रूप – मुद्रा – का विरोध तीव्र होकर एक निरपेक्ष विरोध बन जाता है। इसलिए ऐसी हालत पैदा होने पर इसका कोई महत्व नहीं रहता कि मुद्रा किस रूप में प्रकट होती है। भुगतान चाहे सोने में करने पड़ें और चाहे बैंक-नोटों जैसी उधार-मुद्रा में, मुद्रा का अकाल जारी रहता है।[1]

अब यदि हम किसी निश्चित काल में चालू मुद्रा के कुल जोड़ पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि अगर हमें चालू माध्यम के तथा भुगतान के साधन के चलन की तेजी मालूम हो, तो चालू मुद्रा का कुल जोड़ इस तरह मालूम हो सकता है कि जिन दामों को मूर्त्त रूप धारण करना है, उनको जोड़ लिया जाये और उसके साथ उन भुगतानों की रक़म को भी जोड़ दिया जाये, जिनको निबटाने की तारीख इस काल में पड़ने वाली है, फिर इस जोड़ में से उन भुगतानों को घटाना होगा, जो एक दूसरे को मंसूख कर देते हैं, और परिचलन के साधन के रूप में और भुगतान के साधन के रूप में बारी-बारी से एक अकेला सिक्का जितने परिपथों में काम करता है, उनकी संख्या को भी इस जोड़ में से कम कर देना पड़ेगा और तब हमें चालू मुद्रा का कुल जोड़ मिल जायेगा। इसलिए उस वक़्त भी, जब दाम, चलन की तेजी, और भुगतानों में बरती जाने वाली मितव्ययिता की मात्रा पहले से निश्चित होते हैं, तब भी किसी एक निश्चित काल में – जैसे दिन भर – चालू रहने वाली मुद्रा की मात्रा और उसी काल में परिचलन

---

(Karl Marx, उप० पु०, पृ० १२६।) "ग़रीब हाथ पर हाथ रखकर खड़े हो जाते हैं, क्योंकि धनियों के पास उनको नौकर रखने के लिए मुद्रा नहीं होती, हालांकि उनके पास भोजन और कपड़ा तैयार करने के लिए वह ज़मीन और वे हाथ अब भी होते हैं, जो उनके पास पहले थे; ... और असल में तो किसी भी राष्ट्र का सच्चा धन मुद्रा नहीं, यह ज़मीन और ये हाथ ही होते हैं।" (John Bellers, "*Proposals for Raising a Colledge of Industry*" [जान बैलेर्स, 'उद्योग का एक कालिज स्थापित करने के सम्बंध में कुछ सुझाव'], London, 1696, पृ० ३।)

[1] नीचे दिये हुए उदाहरण से मालूम हो जायेगा कि जो लोग अपने को "amis du commerce" ("व्यापार के मित्र") कहते हैं, वे ऐसी हालत से किस तरह फ़ायदा उठाते हैं। "एक बार (१८३९ में) एक पुराने लालची महाजन ने (सिटी में) अपने निजी कमरे में अपने डेस्क का ढक्कन खोलकर बैंक-नोटों की एक गड्डी अपने एक मित्र को दिखायी और बहुत मजा लेते हुए कहा कि ये ६ लाख पौण्ड के नोट हैं, जिनको उसने मुद्रा को अप्राप्य बना देने के लिए रोक रखा है, और अब वह उसी रोज तीसरे पहर के तीन बजे उन सब को मुक्त कर देने वाला है।" ("*The Theory of Exchanges. The Bank Charter Act of 1844*" ['मुद्रा के बाजारों का सिद्धान्त। १८४४ का बैंक चार्टर क़ानून'], London, 1864, पृ० ८१।) अर्ध-सरकारी मुख-पत्र "*The Observer*" में २४ अप्रैल १८६४ को यह ख़बर छपी थी: "बैंक-नोटों का अकाल पैदा करने के लिए जो तरीक़े इस्तेमाल किये गये हैं, उनके बारे में कुछ बहुत अजीबोग़रीब अफ़वाहें फैली हुई हैं... ऊपर से यह बात भले ही सन्देहास्पद लगे कि कोई इस तरह की चाल चली गयी होगी, फिर भी यह ख़बर इतनी आम है कि उसका ज़िक्र करना जरूरी हो जाता है।"

में भाग लेने वाले मालों का परिमाण एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होते। जो माल परिचलन से हटा लिये गये हैं, उनका प्रतिनिधित्व करने वाली मुद्रा इसके बाद भी चालू रहती है। ऐसे माल परिचलन में भाग लेते रहते हैं, जिनका मुद्रा के रूप में सम-मूल्य अभी किसी भावी तिथि पर सामने नहीं आयेगा। इसके अलावा, हर रोज जो सौदे उधार किये जाते हैं और उसी रोज जिन भुगतानों को निबटाने की तारीख पड़ती है, उसकी मात्रायें बिल्कुल असमान होती हैं।[1]

उधार-मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा के कार्य से उत्पन्न होती है। खरीदे हुए मालों के लिए किये गये क़र्ज़ों के प्रमाण-पत्र इन क़र्ज़ों को दूसरों के कंधों पर डालने के लिए चालू हो जाते हैं। दूसरी ओर, उधार की व्यवस्था का जितना विस्तार बढ़ता है, भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा का कार्य उतना ही विस्तार प्राप्त करता जाता है। भुगतान के साधन का काम करते हुए मुद्रा अनेक ऐसे विचित्र रूप धारण करती है, जो केवल मुद्रा की ही विशेषता होते हैं। इन रूपों में वह बड़े-बड़े वाणिज्य सम्बंधी सौदों के क्षेत्र में अपने को जमा लेती है। दूसरी ओर, सोने और चांदी के बने सिक्के मुख्यतया फुटकर व्यापार के क्षेत्र में डाल दिये जाते हैं।[2]

मालों का उत्पादन जब काफ़ी विस्तार प्राप्त कर लेता है, तब मुद्रा मालों के परिचलन के क्षेत्र के बाहर भी भुगतान के साधन का काम करने लगती है। मुद्रा वह माल बन जाती है,

---

[1] "किसी एक ख़ास दिन जो ख़रीदारियां या सौदे होते हैं, उनका उस रोज चालू रहने वाली मुद्रा की मात्रा पर कोई असर नहीं पड़ेगा, लेकिन अधिकांशतया ये न्यूनाधिक समय बाद आने वाली तारीख़ों पर जो मुद्रा चालू होगी, उसके लिए नाना प्रकार के ड्राफ़्ट बन जायेंगे... आज जो हुण्डियां मंजूर की जाती हैं या जो ऋण दिये जाते हैं, उनमें और कल को या परसों को जो हुंडियां मंजूर की जायेंगी या जो ऋण दिये जायेंगे, उनमें मात्रा, परिमाण या अवधि की कोई भी समानता होगी, यह क़तई जरूरी नहीं है। नहीं, बल्कि जब आज की बहुत सी हुण्डियों और ऋण की रक़मों के भुगतान की तारीख़ आयेगी, तब उनके साथ-साथ बहुत सी ऐसी देनदारियों को निबटाने का समय भी आ जायेगा, जिनका मूल कुछ पहले की सर्वथा अनिश्चित तारीख़ों का है; उनके साथ-साथ कुछ १२ महीने, ६ महीने, ३ महीने और १ महीने की पुरानी हुण्डियों को निबटाने का समय भी आ जायेगा, और वे सब मिलकर एक ख़ास दिन की सामान्य देनदारियों को बहुत बढ़ा देंगी..." (*"The Currency Theory Reviewed; in a Letter to the Scottish People."* By a Banker in England ['मुद्रा-सिद्धान्त की समालोचना; स्काट जनता के नाम एक पत्र।' इंगलैण्ड के एक बैंकर द्वारा लिखित], Edinburgh, 1845, पृ० २९, ३०, अनेक स्थानों पर।)

[2] वाणिज्य की वास्तविक क्रियाओं में कितनी कम नक़द मुद्रा की जरूरत होती है, इसके एक उदाहरण के रूप में मैं लन्दन की सबसे बड़ी कम्पनियों में से एक का वार्षिक आय तथा भुगतान का विवरण नीचे दे रहा हूं। १८५६ में उसने जो अनेक सौदे किये थे और जो कई-कई करोड़ पौंड स्टर्लिंग के बैठते थे, वे इस विवरण में दस लाख के अनुमाप के अनुसार परिवर्तित करके दिये गये हैं।

जो सभी सौदों की सार्वत्रिक विषय-वस्तु होता है।[1] लगान, कर और इसी तरह के अन्य भुगतान जिन्स के रूप में किये जाने वाले भुगतानों से मुद्रा-भुगतानों में रूपान्तरित कर दिये जाते हैं। यह रूपान्तरण उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों पर किस हद तक निर्भर करता है, इसका एक उदाहरण यह है कि रोमन साम्राज्य ने दो बार सारे कर मुद्रा के रूप में वसूल करने की कोशिश की और वह दोनों बार असफल रहा। लुई चौदहवें के राज्य-काल में फ़्रांस की खेतिहर आबादी जिस अवर्णनीय ग़रीबी में रहती थी और जिसकी बाग्रग्विलेबर्ट, मार्शल वौबां और अन्य लेखकों ने इतने ज़ोरदार शब्दों में निन्दा की है, उसका कारण केवल इतना ही न था कि करों का बोझा बहुत भारी था, बल्कि उसका कारण यह भी था कि जिन्स के रूप में वसूल किये जाने वाले कर मुद्रा-करों में बदल दिये गये थे।[2] दूसरी ओर, एशिया में यदि राज्य के कर मुख्यतया जिन्स के रूप में अदा किये जाने वाले लगान की शकल में होते हैं, तो इसका कारण

---

| आय | पौंड | भुगतान | पौंड |
|---|---|---|---|
| बैंकरों और सौदागरों की हुंडियां, जो निश्चित तिथि के बाद देय हो जायेंगी ..... | ५,३३,५९६ | हुंडियां, जो निश्चित तिथि के बाद देय हो जायेंगी .......... | ३,०२,६७४ |
| बैंकरों आदि के चेक, जो मांगते ही चुकाये जायेंगे ..... | ३,५७,७१५ | लंदन के बैंकरों पर चेक ... | ६,६३,६७२ |
| स्थानीय बैंकों के जारी किये हुए बैंक-नोट .......... | ९,६२७ | बैंक आफ़ इंगलैण्ड के नोट ... | २२,७४३ |
| बैंक आफ़ इंगलैण्ड के नोट ... | ६८,५५४ | सोना ............ | ९,४२७ |
| सोना ............ | २८,०८९ | चांदी और तांबा ...... | १,४८४ |
| चांदी और तांबा ...... | १,४८६ | | |
| पोस्ट आफ़िस के आर्डर ... | ९३३ | | |
| कुल जोड़ .......... | १०,००,००० | कुल जोड़ .......... | १०,००,००० |

(*"Report from the Select Committee on the Bank Acts, July, 1858"*, p. Lxxi ['बैंक सम्बंधी क़ानूनों पर प्रवर समिति की रिपोर्ट, जुलाई १८५८', पृष्ठ इकहत्तर]।)

[1] "जब व्यापार का क्रम इस तरह बदल जाता है, जब सामान के साथ सामान का विनिमय करने और सामान देने और सामान लेने के बजाय क्रय और विक्रय शुरू हो जाता है, तब इन सारे सौदों का... मुद्रा के रूप में दामों के आधार पर हिसाब लगाया जाता है।" (*"An Essay upon Public Credit"* ['सार्वजनिक साख के विषय में एक निबंध'], तीसरा संस्करण, London, 1710, पृ० ८।)

[2] "L'argent ... est devenu le bourreau de toutes choses" ["मुद्रा एक तरह का सार्वजनिक वधिक बन गयी है"]। वित्त "alambic, qui a fait évaporer une quantité effroyable de biens et de denrées pour faire ce fatal précis." "L'argent déclare la guerre á tout le genre humain" ["एक भभका है, जिसमें बेशुमार उपयोगी चीज़ों और जीवन-यापन के साधनों को गरम करके यह ख़तरनाक अवशेष पैदा करने के लिए नष्ट कर

उत्पादन की परिस्थितियां हैं, जिनका प्राकृतिक घटनाओं की नियमितता के साथ पुनरुत्पादन होता रहता है। उधर भुगतान का यह ढंग प्राचीन उत्पादन-प्रणाली को क़ायम रखता है। उसमानिया साम्राज्य की स्थिरता का एक कारण यह भी था। जापान की कृषि-व्यवस्था दूसरे देशों के लिए मिसाल समझी जाती है, पर योरप के लोग जापान पर जिस तरह का विदेशी व्यापार ज़बर्दस्ती थोप रहे हैं, यदि उसके परिणामस्वरूप जिन्स के रूप में वसूल किये जाने वाले लगान की जगह पर मुद्रा के रूप में लगान वसूल किया जाने लगा, तो इस कृषि-व्यवस्था का अन्त हो जायेगा। यह कृषि-व्यवस्था जिन संकीर्ण आर्थिक परिस्थितियों के भीतर काम करती है, उनका सफ़ाया हो जायेगा।

हर देश में बड़े-बड़े और आवर्तक भुगतानों को निबटाने के लिए वर्ष के कुछ ख़ास दिन परम्परा के रूप में नियत हो जाते हैं। ये तिथियां पुनरुत्पादन के चक्र के अन्य परिक्रमणों के अलावा मौसम से गहरा ताल्लुक़ रखने वाली परिस्थितियों पर भी निर्भर करती हैं। ये तिथियां कर, लगान इत्यादि जैसे भुगतानों की तिथियों का भी नियमन करती हैं, जिनका मालों के परिचलन से कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं होता। इन तिथियों पर पूरे देश में एक साथ जिन भुगतानों को निबटाना पड़ता है, उनके लिए जो मुद्रा आवश्यक होती है, उससे भुगतान के साधन की व्यवस्था में कुछ नियतकालिक, यद्यपि सतही गड़बड़ी पैदा हो जाती है।[1]

---

दिया जाता है।" "मुद्रा सम्पूर्ण मानव-जाति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देती है"। (Boisguillebert, "*Dissertation sur la nature des richesses, de l'argent et des tributs.*" Daire का संस्करण, "*Economistes financiers*", Paris, 1843, ग्रंथ १, पृ० ४१३, ४१६, ४१७।)

[1] मि० क्रेग ने हाउस आफ़ कामन्स की १८२६ की समिति के सामने कहा है: "१८२४ में वीट्सन्टाइड (ईस्टर के बाद के सातवें रविवार) के दिन एडिनबरा के बैंकों में से इतनी भारी संख्या में नोट निकाले गये कि ११ बजे तक उनके पास एक भी नोट नहीं बचा। उन्होंने दूसरे तमाम बैंकों से नोट उधार मंगवाये, मगर वहां भी नहीं मिले, और बहुत से सौदे काग़ज़ के पुर्ज़े (slips of paper) देकर निबटाये गये। और फिर भी तीसरे पहर के तीन बजे तक सारे नोट उन बैंकों में लौट आये, जहां से वे जारी हुए थे। ये नोट महज़ एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमे थे।" यद्यपि स्कॉटलैण्ड में बैंक-नोटों का औसत कारगर परिचलन ३० लाख पौंड स्टर्लिंग से कम का है, फिर भी वर्ष में भुगतान के कुछ ख़ास ऐसे दिन आते हैं, जब बैंकरों के पास कुल जितने नोट होते हैं,—और उनके पास कुल नोट लगभग ७० लाख पौंड के होते हैं,—उनमें से एक-एक इस्तेमाल हो जाता है। इन अवसरों पर नोटों को केवल एक विशिष्ट कार्य करना पड़ता है, और उसे पूरा करते ही वे उन विभिन्न बैंकों में लौट जाते हैं, जिनसे वे जारी हुए थे। (देखिये John Fullarton की रचना "*Regulation of Currencies*" ['मुद्राओं का नियमन'], London, 1845, पृ० ८६, नोट।) बात को स्पष्ट करने के लिए यहां यह बता देना आवश्यक है कि जिस ज़माने में फ़ुलार्टन की यह रचना लिखी गयी थी, उस ज़माने में स्कॉटलैण्ड के बैंकों में जमा की गयी रक़में निकालने के लिए चैक नहीं, बल्कि नोट इस्तेमाल किये जाते थे।

भुगतान के साधनों के चलन की तेजी के नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त नियतकालिक भुगतानों के लिए, वे चाहे जिस मद के भुगतान हों, भुगतान के साधनों की जो मात्रा आवश्यक होती है, वह भुगतानों के नियत काल की लम्बाई के प्रतिलोम अनुपात में होती है।[1]

मुद्रा का भुगतान के साधन में विकास हो जाने पर यह आवश्यक हो जाता है कि अपने ऊपर चढ़ी हुई रक़मों का भुगतान करने के लिए जो तिथियां निश्चित हों, उनके लिए पहले से मुद्रा का संचय किया जाये। पूंजीवादी समाज की प्रगति के साथ-साथ धन प्राप्त करने के एक विशिष्ट ढंग के रूप में अपसंचय का तो लोप हो जाता है, पर भुगतान के साधनों के संचित कोषों का निर्माण इस समाज की प्रगति के साथ-साथ बढ़ता जाता है।

## ग) सार्वत्रिक मुद्रा

जब मुद्रा परिचलन के घरेलू क्षेत्र के बाहर निकलती है, तो वहां वह दामों के मापदण्ड की – सिक्कों की, प्रतीकों की और मूल्य के चिन्ह की – जो स्थानीय पोशाक पहने हुए थी, उतारकर फेंक देती है और कलधौत (सोना-चांदी) का अपना मूल स्वरूप धारण कर लेती है। दुनिया की मंडियों के बीच जो व्यापार होता है, उसमें मालों का मूल्य इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि उसे सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त हो। अतएव यहां मालों का स्वतंत्र मूल्य-रूप भी सार्वत्रिक मुद्रा की शकल में उनके सामने आकर खड़ा हो जाता है। केवल दुनिया की मण्डियों में ही मुद्रा पूरी तरह उस माल का स्वरूप प्राप्त करती है, जिसका शारीरिक रूप साथ ही अमूर्त्त मानव-श्रम का तात्कालिक सामाजिक अवतार भी होता है। इस क्षेत्र में उसके अस्तित्व की वास्तविक अवस्था पर्याप्त रूप से उसकी भावगत धारणा के अनुरूप होती है।

---

[1] "यदि प्रति वर्ष ४ करोड़ के लेन-देन की ज़रूरत हो, तो व्यापार के लिए मुद्रा के जितने परिक्रमण और परिचलन आवश्यक होंगे, उनके लिए क्या ६० लाख (सोने में)... काफ़ी होंगे?" – इस प्रश्न का पेटी ने अपने सहज अधिकारपूर्ण ढंग से यह उत्तर दिया है कि "मेरा उत्तर है: हां। क्योंकि यदि ४०० लाख ख़र्च होने हैं और यदि परिक्रमण इतने छोटे-छोटे चक्रों में – मिसाल के लिए, साप्ताहिक – होने हैं, जैसा कि ग़रीब दस्तकारों और मज़दूरों में होता है, जिनको हर शनिवार को मज़दूरी मिलती है और जो हर शनिवार को भुगतान करते हैं, तो १० लाख मुद्रा के ४०/५२ हिस्से से ही काम चल जायेगा। लेकिन यदि परिक्रमणों के चक्र लगान देने और कर वसूलने की हमारी प्रथा के अनुसार त्रैमासिक चक्र हैं, तो एक करोड़ की आवश्यकता होगी। इसलिए, यदि भुगतानों को आम तौर पर एक सप्ताह से लेकर १३ सप्ताह तक के मिश्रित चक्र का मान लिया जाये, तो एक करोड़ के ४०/५२ हिस्से में हमें एक करोड़ और जोड़ना पड़ेगा, जिसका आधा ५५ लाख होंगे, और चुनांचे यदि हमारे पास ५५ लाख होंगे, तो उनसे काम चल जायेगा।" (William Petty, "*Political Anatomy of Ireland*" [विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'], 1672, १६९१ में लन्दन से प्रकाशित संस्करण, पृ० १३, १४।)

घरेलू परिचलन के क्षेत्र के भीतर केवल एक ही ऐसा माल हो सकता है, जो मूल्य की माप का काम करने के कारण मुद्रा बन जाता है। दुनिया की मंडियों में मूल्य की दोहरी माप का प्रभुत्व रहता है,—सोना और चांदी दोनों यह काम करते हैं।[1]

---

[1] इसलिए हर ऐसा क़ानून बेमानी है, जो यह चाहता है कि किसी देश के बैंक केवल उसी बहुमूल्य धातु के संचित कोषों का निर्माण करें, जो ख़ुद उस देश के अन्दर चालू हो। बैंक आफ़ इंगलैण्ड ने ऐसा करके अपने लिए ख़ुद जो "सुखद कठिनाइयां" पैदा कर ली हैं, वे सुविदित हैं। सोने और चांदी के सापेक्ष मूल्य में होने वाले परिवर्तनों के इतिहास में जो ख़ास-ख़ास दौर आये हैं, उनके बारे में जानने के लिए देखिये कार्ल मार्क्स की उपर्युक्त रचना, पृ० १३६ और उसके आगे के पृष्ठ। सर रोबर्ट पील ने १८४४ का बैंक-क़ानून बनाकर इस कठिनाई से बचने की कोशिश की थी। इस क़ानून के द्वारा बैंक आफ़ इंगलैण्ड को चांदी के कलधौतों के आधार और इस शर्त पर नोट जारी करने की इजाज़त दे दी गयी थी कि सुरक्षित कोष में चांदी की मात्रा सोने के सुरक्षित कोष के चौथाई भाग से कभी ज्यादा न रहे। इस काम के लिए चांदी के मूल्य का अनुमान लन्दन की मंडी में प्रचलित भाव के आधार पर लगाया जाता था। [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया नोट:** आजकल हम फिर अपने को एक ऐसे काल में पाते हैं, जब सोने और चांदी के सापेक्ष मूल्यों में गम्भीर परिवर्तन हो रहा है। क़रीब २५ साल हुए चांदी के साथ सोने का अनुपात १५ १/२ : १ था, अब वह २२ : १ है, और सोने के अनुपात में चांदी का मूल्य बराबर गिरता जा रहा है। बुनियादी तौर पर यह अनुपात-परिवर्तन इन दो धातुओं की उत्पादन-प्रणाली में एक क्रान्ति हो जाने का परिणाम है। पहले सोना हासिल करने का लगभग एक ही ढंग था। स्वर्णमय चट्टानों के ऋतु-क्षरण के फलस्वरूप जिस रेतीली मिट्टी में सोना मिल जाता है, पहले उसे धोकर सोना निकाला जाता था। परन्तु अब यह तरीक़ा काफ़ी नहीं है, और एक दूसरे तरीक़े ने उसका महत्त्व कम कर दिया है। यह स्फटिक के ऐसे स्तरों को, जिनमें सोना हो, खोदने का तरीक़ा है। प्राचीन काल के लोगों को भी यह तरीक़ा मालूम था, लेकिन उनके लिए वह एक गौण तरीक़ा था (देखिये दिम्रोदोरस, ३,१२—१४) (Diodor's v. Sicilien, "*Historische Bibliothek*", खण्ड ३, पैरा १२—१४, Stuttgart, 1828, पृ० २५८—२६१)। इसके अलावा, न केवल उत्तरी अमरीका के रोकी पर्वतों के पश्चिमी भाग में चांदी के नये विशाल भण्डारों का पता चल गया है, बल्कि रेल की लाइनों के बिछ जाने से ये भण्डार और मेक्सिको की चांदी की खानें सचमुच सुलभ हो गयीं और रेलों के द्वारा आधुनिक मशीनें तथा ईंधन भेजना सम्भव हो गया, जिसके परिणामस्वरूप चांदी बहुत बड़े पैमाने और कम लागत पर निकाली जाने लगी। लेकिन ये दोनों धातुएं जिन शकलों में स्फटिक की परतों में मिलती हैं, उनमें बड़ा भारी अन्तर होता है। सोना प्रायः शुद्ध रूप में होता है, लेकिन स्फटिक की परतों में सूक्ष्म मात्राओं में बिखरा रहता है। इसलिए, परत में से जो कुछ मिलता है, उस सब का चूरा कर देना पड़ता है और सोना या तो उसे धोकर और या पारे के ज़रिये निकाला जाता है। अक्सर दस लाख ग्राम स्फटिक में से केवल १ से लेकर ३ ग्राम तक ही सोना निकलता है, उससे अधिक नहीं। कभी-कभार ३० से लेकर ६० ग्राम तक भी निकल आता है। चांदी शुद्ध रूप में बहुत कम पायी जाती है। किन्तु वह विशेष प्रकार के स्फटिक में मिलती है, जिसे अपेक्षाकृत सुगमता के साथ चट्टानों की परतों से अलग कर लिया जाता है और जिसमें प्रायः ४० से ६० प्रतिशत तक

दुनिया की मुद्रा भुगतान के सार्वत्रिक साधन का काम करती है, ख़रीदारी के सार्वत्रिक साधन का काम करती है और सारी धन-दौलत के सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त मूर्त्त रूप का काम करती है। अन्तरराष्ट्रीय लेन-देन की बक़ाया रक़मों को निबटाने के लिए भुगतान के साधन का काम करना उसका मुख्य काम होता है। इसीलिये व्यापार-संतुलन ही व्यापारवादियों का सिद्धान्त-निर्देशक शब्द है।[1] सोना और चांदी माल ख़रीदने के अन्तरराष्ट्रीय साधन का काम

---

चांदी होती है। या इससे कम मात्राओं में चांदी तांबे, सीसे तथा अन्य कच्ची धातुओं में मिलती है, जिनको खोदकर निकालना वैसे भी लाभदायक होता है। केवल इतनी जानकारी ही यह समझने के लिए काफ़ी है कि जहां सोना निकालने के लिए पहले से अधिक श्रम ख़र्च होता है, वहां चांदी निकालने के लिए निश्चय ही पहले से कम श्रम ख़र्च होता है, और इससे स्वभावतया चांदी का मूल्य गिर गया है। यदि चांदी के दामों को इसके बाद भी बनावटी ढंग से ऊपर टांगकर न रखा जाता, तो उसके मूल्य में जो गिराव आया है, वह दामों की इससे भी बड़ी घटती के रूप में व्यक्त होता। किन्तु अमरीका के चांदी के बड़े भण्डारों को तो अभी तक लगभग छुआ नहीं गया। इसलिए इस बात की बहुत सम्भावना है कि अभी बहुत समय तक चांदी का मूल्य बराबर गिरता ही जायेगा। इस गिराव को इस बात से और बढ़ावा मिला है कि रोज़मर्रा के इस्तेमाल की चीज़ों और विलास की चीज़ों के लिए अब चांदी की मांग अपेक्षाकृत कम हो गयी है, क्योंकि उसकी जगह चांदी का पत्ता चढ़ी हुई वस्तुएं और अल्यूमीनियम का सामान आदि इस्तेमाल होने लगे हैं। इस हालत में पाठक ख़ुद निर्णय करें कि यह द्विधातुवादी विचार कितना निराधार है कि चांदी का अन्तरराष्ट्रीय भाव ज़बर्दस्ती नियत करके उसके मूल्य को फिर १५ १/२:१ वाले उसके पुराने स्तर पर लाया जा सकता है। अधिक संभावना इस बात की है कि दुनिया की मंडियों में चांदी मुद्रा का काम करने से अधिकाधिक वंचित होती जायेगी। — फ़्रे० एं०]

[1] व्यापारवादी सम्प्रदाय एक ऐसा सम्प्रदाय था, जिसके लिए व्यापार का जमा बाक़ी सोने और चांदी में निपटाना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य था। उसके विरोधी ख़ुद यह क़तई नहीं समझ पाये थे कि संसार की मुद्रा का क्या कार्य है। मैंने रिकार्डो का उदाहरण देकर दिखाया है कि चालू माध्यम की मात्रा का नियमन करने वाले नियमों के विषय में ग़लत धारणा किस प्रकार बहुमूल्य धातुओं की अन्तर्राष्ट्रीय गति के विषय में उतने ही ग़लत विचार में प्रतिबिम्बित होती है (कार्ल मार्क्स, उप० पु०, पृ० १५० और उसके आगे के पृष्ठ)। रिकार्डो का यह ग़लत सूत्र कि "प्रतिकूल व्यापार-संतुलन फ़ालतू मुद्रा के सिवा कभी और किसी चीज़ से नहीं पैदा होता... सिक्के का निर्यात उसके सस्तेपन के कारण होता है, और वह प्रतिकूल संतुलन का प्रभाव नहीं, बल्कि कारण होता है," उसके पहले हमें बार्बोन की रचनाओं में मिलता है। बार्बोन ने लिखा है: "व्यापार-संतुलन यदि हो, तो वह मुद्रा को राष्ट्र के बाहर भेजने का कारण नहीं हो सकता। मुद्रा तो प्रत्येक देश में कलधौत के मूल्य में जो अन्तर होता है, उसके कारण बाहर भेजी जाती है" (N. Barbon, उप० पु०, पृ० ५९, ६०)। *"The Literature of Political Economy, a classified catalogue, London, 1845"* ['अर्थशास्त्र का साहित्य, एक वर्गीकृत सूचीपत्र, लन्दन, १८४५'] में मैक्कुलक ने इस बात को रिकार्डो से पहले ही कह देने के लिए बार्बोन की प्रशंसा की है, लेकिन बार्बोन ने उस ग़लत मान्यता को, जिसपर "चलार्थ का सिद्धान्त" ("currency principle") आधारित है, जिन भोलेपन से भरे रूपों

मुख्यतया और आवश्यक रूप से उन कालों में करते हैं, जिनमें अलग-अलग राष्ट्रों के बीच होने वाले पैदावार के विनिमय का परम्परागत संतुलन यकायक गड़बड़ा जाता है। और अन्त में, जब कभी सवाल ख़रीदने या भुगतान करने का नहीं, बल्कि एक देश से दूसरे देश में धन का स्थानांतरण करने का होता है और जब कभी या तो मंडियों में कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियां हो जाने के फलस्वरूप और या स्वयं उस उद्देश्य के कारण, जिसके लिए कि यह स्थानांतरण किया जा रहा है, मालों के रूप में स्थानांतरण करना असम्भव हो जाता है, तब सोना और चांदी सामाजिक धन के सार्वत्रिक मान्यता प्राप्त मूर्त रूप का काम करते हैं।[1]

जिस प्रकार हर देश को अपने घरेलू परिचलन के लिए मुद्रा के एक सुरक्षित कोष की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसे दुनिया की मंडियों में बाहरी परिचलन के लिए भी मुद्रा के एक सुरक्षित कोष की ज़रूरत होती है। इसलिए अपसंचित कोषों के कार्य आंशिक रूप से मुद्रा के उन कामों से उत्पन्न होते हैं, जो उसे घरेलू परिचलन और घरेलू भुगतानों के माध्यम के रूप में करने पड़ते हैं, और आंशिक रूप में वे मुद्रा के उन कामों से उत्पन्न होते हैं, जो उसे संसार की मुद्रा के रूप में करने पड़ते हैं।[2] संसार की मुद्रा का काम करने के लिए सच्चे मुद्रा-माल की – यानी वास्तविक सोने और चांदी की – आवश्यकता होती है। इसलिए सर जेम्स स्टीवर्ट ने सोने और चांदी तथा उनके विशुद्ध स्थानीय प्रतिस्थापकों में भेद करने के लिए सोने और चांदी को "money of the world" ("संसार की मुद्रा") कहा है।

सोना और चांदी एक दोहरी धारा में बहते हैं। एक ओर तो वे अपने मूल स्थानों से दुनिया की तमाम मंडियों में फैलते हैं, ताकि वहां वे परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों में

---

की पोशाक पहना रखी है, उनको वह बड़ी सतर्कता के साथ अनदेखा कर जाते हैं। इस सूचीपत्र में वास्तविक आलोचना का और यहां तक कि ईमानदारी का भी जो अभाव है, वह उन परिच्छेदों में पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, जिनमें चलार्थ के सिद्धान्त के इतिहास की चर्चा है। कारण यह है कि अपनी रचना के इस भाग में मैक्कुलक लार्ड ओवरस्टोन की ख़ुशामद करने लगता है, जिनके बारे में वह कहते हैं कि वह "facile princeps argentariorum" ("सहज ही प्रधान अर्थदाता") हैं।

[1] उदाहरणत: आर्थिक सहायता के लिए, युद्ध चलाने के वास्ते दिये गये क़र्ज़ों के लिए या उन क़र्ज़ों के लिए, जो बैंकों को इसलिए दिये जाते हैं कि वे फिर से नक़द भुगतान शुरू कर सकें, – इन सब और दूसरे इस तरह के कामों के लिए मूल्य के केवल मुद्रा रूप की ही आवश्यकता होती है और किसी रूप की नहीं।

[2] "कलधौत के रूप में भुगतान करने वाले देशों में अपसंचित कोषों का यंत्र अन्तर्राष्ट्रीय समंजन से सम्बंध रखने वाला प्रत्येक कार्य सामान्य परिचलन से बिना कोई प्रकट सहायता लिये हुए किस कुशलता के साथ कर सकता है, इसका मेरी दृष्टि में इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं है कि जब फ़्रांस एक सत्यानाशी विदेशी आक्रमण के धक्के से अभी संभल ही रहा था, तभी उसने केवल २७ महीने के अरसे में लगभग २ करोड़ (पौण्ड स्टर्लिंग) की वह रक़म मित्र शक्तियों को आसानी से अदा कर दी, जो उसपर जबर्दस्ती लाद दी गयी थी, और इस रक़म का काफ़ी बड़ा हिस्सा उसने सिक्के में अदा किया, और फिर भी उसकी घरेलू मुद्रा के चलन में कोई संकुचन या अव्यवस्था नहीं दिखाई दी, और यहां तक कि उसकी विनिमय-दरों में भी कोई चिन्ताजनक उतार-चढ़ाव नहीं आया" (Fullarton, उप० पु०, पृ० १३४)। [चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: इससे भी ज़्यादा ज़ोरदार प्रमाण यह है कि उसी फ़्रांस ने १८७१ और १८७३ के बीच, ३० महीने के अन्दर, युद्ध के हर्जाने के तौर पर इससे दस गुनी अधिक बड़ी रक़म सहज ही अदा कर दी, और उसका भी काफ़ी बड़ा हिस्सा उसने सिक्कों के रूप में दिया। – फ़्रे० एं०]

भिन्न-भिन्न सीमाओं तक हजम हो जायें, चलन की नालियों को भर दें, सोने और चांदी के घिसे हुए सिक्कों का स्थान ग्रहण कर लें, विलास की वस्तुओं की सामग्री की पूर्ति करें और अपसंचित कोषों में जम जायें।[1] इस पहली धारा को वे देश आरम्भ करते हैं, जो मालों में निहित अपने श्रम का सोना और चांदी पैदा करने वाले देशों के बहुमूल्य धातुओं में निहित श्रम के साथ विनिमय करते हैं। दूसरी ओर, परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों के बीच सोना और चांदी आगे-पीछे रहते हैं। इस धारा की गति विनिमय-दरों के क्रम में होने वाले अनवरत उतार-चढ़ाव पर निर्भर रहती है।[2]

जिन देशों में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का एक निश्चित हद तक विकास हो गया है, वे बैंकों के कोषागारों में केन्द्रीभूत अपसंचित कोषों को उस अल्पतम मात्रा तक ही सीमित कर देते हैं, जो उनके विशिष्ट कार्यों को भली भांति सम्पन्न करने के लिए आवश्यक होती है।[3] जब कभी ये अपसंचित कोष अपने औसत स्तर से बहुत अधिक ऊपर चढ़ जाते हैं, तब कुछ अपवादों के साथ ये सदा इस बात के सूचक होते हैं कि मालों के परिचलन में ठहराव पैदा हो गया है और उनके रूपान्तरणों के सम-प्रवाह में कोई रुकावट आ गयी है।[4]

---

[1] "L'argent se partage entre les nations relativement au besoin qu'elles en ont... étant toujours attiré par les productions." ["मुद्रा राष्ट्रों के बीच उनकी अलग-अलग आवश्यकताओं के अनुपात में बंट जाती है... क्योंकि वह सदा पैदावार की ओर आकर्षित होती है।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ६१६।) "जो खानें लगातार सोना और चांदी देती रहती हैं, वे इतना अवश्य दे देती हैं, जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए ऐसे आवश्यक बक़ाया की पूर्त्ति के लिए काफ़ी होता है।" (J. Vanderlint, उप० पु०, पृ० ४०।)

[2] "विनिमय-दरें प्रति सप्ताह चढ़ती और उतरती रहती हैं, और वर्ष में कुछ ख़ास मौक़ों पर वे किसी राष्ट्र के बहुत प्रतिकूल हो जाती हैं और अन्य मौक़ों पर वे उसके प्रतिस्पर्द्धी देशों के उसी तरह प्रतिकूल हो जाती हैं।" (N. Barbon, उप० पु०, पृ० ३६।)

[3] जब कभी सोने और चांदी को बैंक-नोटों के परिवर्तन के लिए कोष का भी काम करना पड़ता है, तब उनके इन विभिन्न कार्यों के एक दूसरे के साथ ख़तरनाक ढंग से टकरा जाने की आशंका पैदा हो जाती है।

[4] "घरेलू व्यापार के लिए जितनी मुद्रा की नितान्त आवश्यकता है, उससे अधिक जितनी भी मुद्रा है, वह निर्जीव धन है... और जिस देश में ऐसी मुद्रा रखी जाती है, उसको मुद्रा के परिवहन से तथा आयात से जितना लाभ होता है, उसके सिवा और कोई लाभ ऐसी मुद्रा से नहीं होता।" (John Bellers, "*Essays*" [जान बैलेर्स, 'निबंध'], पृ० १३।) "यदि हमारे पास बहुत ज्यादा सिक्के हों, तो क्या हो? सबसे भारी सिक्कों को गलाकर हम सोने-चांदी के शानदार बर्तनों और पात्रों में बदल सकते हैं, या हम सिक्के को माल के रूप में वहां भेज सकते हैं, जहां उसकी आवश्यकता या इच्छा हो, और या जहां कहीं सूद की दर ऊंची हो, वहां हम उसे सूद पर उठा सकते हैं।" (W. Petty, "*Quantulumcunque concerning Money*" [विलियम पेटी, 'मुद्रा के विषय में एक गुटका'], पृ० ३६।) "मुद्रा केवल राजनीति के शरीर की चर्बी होती है; उसका ज़रूरत से ज्यादा होना उसी तरह शरीर की फ़ुर्ती में कमी कर देता है, जिस तरह उसका कम होना शरीर को बीमार डाल देता है... जिस प्रकार चर्बी मांस-पेशियों की गति का स्नेहन करती है, खाद्य-पदार्थों के अभाव को दूर करती है, असम गुहाओं को भरती है और शरीर को सुन्दर बनाती है, उसी प्रकार मुद्रा राज्य में उसके कार्य को वेग प्रदान करती है, देश में अभाव होने पर विदेश में मंगाकर राज्य को खिलाती-पिलाती है, हिसाब-किताब ठीक रखती है... और समष्टि को सुन्दर बनाती है, हालांकि ख़ास तौर पर वह उन विशिष्ट व्यक्तियों को सुन्दर बनाती है, जिनके पास वह बहुतायत से होती है।" (W. Petty, "*Political Anatomy of Ireland*" [विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'], पृ० १४।)

भाग २

# मुद्रा का पूंजी में रूपान्तरण

## चौथा अध्याय

## पूंजी का सामान्य सूत्र

मालों का परिचलन पूंजी का प्रस्थान-बिन्दु है। मालों का उत्पादन, उनका परिचलन और परिचलन का वह अधिक विकसित रूप, जो वाणिज्य कहलाता है, – इनसे वह ऐतिहासिक आधार तैयार होता है, जिससे पूंजी उद्भूत होती है। पूंजी का आधुनिक इतिहास १६ वीं शताब्दी में संसार-व्यापी वाणिज्य तथा संसार-व्यापी मंडी की स्थापना से प्रारम्भ होता है।

यदि हम मालों के परिचलन के भौतिक सार को, अर्थात् नाना प्रकार के उपयोग-मूल्यों के विनिमय को अनदेखा कर दें और केवल परिचलन की इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाले आर्थिक रूपों पर ही विचार करें, तो हम मुद्रा को ही इसका अन्तिम फल पाते हैं। मालों के परिचलन का यह अन्तिम फल वह पहला रूप है, जिसमें पूंजी प्रकट होती है।

अपने ऐतिहासिक रूप में पूंजी भू-सम्पत्ति के मुक़ाबले में पहले अनिवार्य रूप से मुद्रा का रूप धारण करती है; पूंजी पहले-पहल मुद्रागत धन के रूप में, सौदागर और सूदखोर की पूंजी के रूप में सामने आती है।[1] परन्तु यह जानने के लिए कि पूंजी पहले-पहल मुद्रा के रूप में प्रकट होती है, पूंजी की उत्पत्ति का ज़िक्र करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह हम हर रोज़ अपनी आंखों के सामने होते हुए देख सकते हैं। हमारे ज़माने में भी समस्त नयी पूंजी शुरू-शुरू में मुद्रा के रूप में रंगमंच पर उतरती है, यानी मंडी में आती है, चाहे वह मंडी मालों की हो, या श्रम की, अथवा मुद्रा की; और फिर इस मुद्रा को एक निश्चित प्रक्रिया के द्वारा पूंजी में रूपान्तरित होना पड़ता है।

वह मुद्रा, जो केवल मुद्रा है, और वह मुद्रा, जो पूंजी है, – उनके बीच हम जो पहला भेद देखते हैं, वह इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि उनके परिचलन के रूपों में अन्तर होता है।

---

[1] प्रभुत्व और दासत्व के व्यक्तिगत सम्बंधों पर आधारित सत्ता, जो भू-सम्पत्ति की देन होती है, और वह अवैयक्तिक सत्ता, जो मुद्रा से प्राप्त होती है, – उनका व्यतिरेक दो फ़्रांसीसी कहावतों में बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुआ है: "Nulle terre sans seigneur" ("बिना श्रीमन्त के कोई भूमि नहीं होती") और "L'argent n'a pas de maître" ("मुद्रा का स्वामी कोई नहीं होता")।

मालों के परिचलन का सरलतम रूप है मा – मु – मा, यानी मालों का मुद्रा में रूपान्तरण और मुद्रा का पुनः मालों में परिवर्तन, अथवा ख़रीदने के लिए बेचना। लेकिन इस रूप के साथ-साथ हम एक और रूप पाते हैं, जो उससे विशिष्ट तौर पर भिन्न होता है। वह है मु – मा – मु, अर्थात् मुद्रा का मालों में रूपान्तरण और मालों का पुनः मुद्रा में परिवर्तन, अथवा बेचने के लिए ख़रीदना। जो मुद्रा इस दूसरे ढंग से परिचालित होती है, वह उसके द्वारा पूंजी में रूपान्तरित हो जाती है, वह पूंजी बन जाती है और वह अभी से संभावी पूंजी होती है।

अब आइये, हम मु – मा – मु परिपथ पर थोड़ा और ध्यान से विचार करें। दूसरे परिपथ की भांति यह परिपथ भी दो परस्पर विरोधी अवस्थाओं से गुज़रता है। पहली अवस्था में, मु – मा में, यानी ख़रीद में, मुद्रा माल में बदल दी जाती है। दूसरी अवस्था में, मा – मु में, यानी बिक्री में, माल फिर मुद्रा में बदल दिया जाता है। इन दो अवस्थाओं का जोड़ ही वह एक गति होती है, जिसके द्वारा मुद्रा का किसी माल से विनिमय होता है और फिर उसी माल का पुनः मुद्रा के साथ विनिमय कर दिया जाता है; इस तरह कोई माल बेचने के उद्देश्य से ख़रीदा जाता है, या ख़रीदने और बेचने के बीच रूप का जो अन्तर है, यदि हम उसे अनदेखा कर दें, तो इस तरह पहले मुद्रा से एक माल ख़रीदा जाता है और फिर एक माल से मुद्रा ख़रीदी जाती है।[1] पूरी प्रक्रिया का परिणाम, जिसमें उसकी अवस्थाओं का लोप हो जाता है, यह होता है कि मुद्रा का मुद्रा के साथ विनिमय, यानी मु – मु, होता है। यदि मैं २,००० पौंड कपास १०० पौण्ड में ख़रीदता हूं और २,००० पौंड कपास को ११० पौण्ड में बेच देता हूं, तो वास्तव में मैं १०० पौण्ड का ११० पौण्ड के साथ, मुद्रा का मुद्रा के साथ विनिमय कर डालता हूं।

अब यह बात स्पष्ट है कि यदि मु – मा – मु परिपथ का उद्देश्य मुद्रा की दो बराबर रक़मों का – १०० पौण्ड के साथ १०० पौण्ड का – विनिमय करना हो, तो यह परिपथ बिल्कुल बेकार और निरर्थक होगा। उससे तो कंजूस आदमी की योजना कहीं अधिक सरल और अचूक होगी। वह अपने १०० पौण्ड को परिचलन के ख़तरों में डालने के बजाय उनसे चिपककर बैठ जाता है। किन्तु फिर भी वह सौदागर, जिसने अपनी कपास के लिए १०० पौण्ड दिये हैं, चाहे वह उसे ११० पौण्ड में बेचे और चाहे १०० पौण्ड में ही दे दे और चाहे तो ५० पौण्ड में ही दे डाले, उसकी मुद्रा हर हालत में एक विशिष्ट एवं सर्वथा नये प्रकार की गति से गुज़रती है, जो उस गति से बिल्कुल भिन्न होती है, जिससे उस किसान के हाथ की मुद्रा को गुज़रना होता है, जो अनाज बेचता है और इस तरह जो मुद्रा प्राप्त करता है, उससे कपड़े ख़रीद लेता है। अतएव, हमें पहले मु – मा – मु और मा – मु – मा, इन दो परिपथों के रूपों के विशिष्ट गुणों को समझना होगा। केवल उनके बाहरी रूप के अन्तर में जो वास्तविक अन्तर छिपा हुआ है, वह ऐसा करने पर अपने आप प्रकट हो जायेगा।

आइये, पहले हम यह देखें कि दोनों रूपों में समान बातें क्या हैं।

---

[1] "Avec de l'argent on achète des marchandises et avec des marchandises on achéte de l'argent" ["मुद्रा से हम वाणिज्य-वस्तुएं ख़रीदते हैं, और वाणिज्य-वस्तुओं से हम मुद्रा ख़रीदते हैं"] (Mercier de la Rivière, "*L'ordre naturel et essentiel des sociétés politiques*," पृ० ५४३)।

दोनों परिपथ दो एक सी परस्पर विरोधी अवस्थाओं में परिणत किये जा सकते हैं, जिनमें से एक मा–मु, यानी बिक्री, और दूसरी मु–मा, यानी खरीद, होती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में वे ही दो भौतिक तत्व–कोई माल और मुद्रा–और आर्थिक नाटक के वे ही दो पात्र–एक ग्राहक और विक्रेता–एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होते हैं। प्रत्येक परिपथ उन्हीं दो परस्पर विरोधी अवस्थाओं का मेल होता है, और हर बार यह मिलाप सौदा करने वाले तीन पक्षों के हस्तक्षेप के ज़रिये सम्पन्न होता है, जिनमें से एक केवल बेचता है, दूसरा केवल ख़रीदता है और तीसरा ख़रीदता भी है और बेचता भी है।

लेकिन परिपथ मा–मु–मा और परिपथ मु–मा–मु के बीच पहला और सबसे प्रमुख भेद यह है कि उनमें दो अवस्थाएं एक दूसरे के उल्टे क्रम में आती हैं। मालों का साधारण परिचलन विक्रय से शुरू होता है और क्रय के साथ समाप्त हो जाता है, उधर पूंजी के रूप में मुद्रा का परिचलन क्रय से शुरू होता है और विक्रय के साथ समाप्त हो जाता है। एक सूरत में प्रस्थान-बिन्दु और लक्ष्य दोनों माल होते हैं, दूसरी में दोनों मुद्रा होते हैं। पहले रूप में गति मुद्रा के हस्तक्षेप द्वारा, दूसरे रूप में वह एक माल के हस्तक्षेप द्वारा सम्पन्न होती है।

परिचलन मा–मु–मा में मुद्रा अन्त में माल में बदल दी जाती है, जो एक उपयोग-मूल्य का काम करता है; अर्थात् मुद्रा एक बार में सदा के लिए ख़र्च हो जाती है। उसके उल्टे रूप, यानी मु–मा–मु में, इसके विपरीत, ग्राहक मुद्रा इसलिए लगाता है कि बेचने वाले के रूप में वह उसे वापिस पा जाये। अपना माल ख़रीदकर वह इस उद्देश्य से परिचलन में मुद्रा डालता है कि उसी माल को बेचकर वह मुद्रा को फिर परिचलन से निकाल ले। वह मुद्रा को अपने पास से जाने देता है, किन्तु इस चतुराई भरे उद्देश्य से कि वह उसे फिर वापिस मिल जाये। इसलिए इस सूरत में मुद्रा ख़र्च नहीं की जाती, बल्कि महज़ पेशगी के रूप में लगायी जाती है।[1]

परिपथ मा–मु–मा में मुद्रा का वही टुकड़ा दो बार अपनी जगह बदलता है। ग्राहक से विक्रेता उसे पाता है, और वह उसे किसी और विक्रेता को दे देता है। पूरा परिचलन, जो माल के बदले में मुद्रा की प्राप्ति से आरम्भ होता है, माल के बदले में मुद्रा की अदायगी से समाप्त हो जाता है। परिपथ मु–मा–मु में उसका ठीक उल्टा होता है। यहां मुद्रा का टुकड़ा नहीं, बल्कि माल दो बार अपनी जगह बदलता है। ग्राहक विक्रेता के हाथ से माल ले लेता है और फिर उसे किसी अन्य ग्राहक को दे देता है। जिस प्रकार मालों के साधारण परिचलन में मुद्रा के उसी टुकड़े के दो बार अपना स्थान-परिवर्तन करने के फलस्वरूप मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार यहां पर उसी माल के दो बार अपना स्थान-परिवर्तन करने के फलस्वरूप मुद्रा फिर अपने प्रस्थान-बिन्दु पर लौट आती है।

मुद्रा का इस तरह प्रत्यावर्तन इस बात पर निर्भर नहीं करता कि माल जितने में ख़रीदा

---

[1] "जब कोई चीज़ फिर बेचने के उद्देश्य से ख़रीदी जाती है, तब उसमें जो रक़म इस्तेमाल होती है, उसके बारे में कहा जाता है कि इतनी मुद्रा पेशगी के रूप में लगायी गयी; जब वह बेचने के उद्देश्य से नहीं ख़रीदी जाती, तब कहा जा सकता है कि वह ख़र्च कर दी गयी।" –(James Steuart, "*Works*" etc. Edited by General Sir James Steuart, his son [जेम्स स्टीवर्ट, 'रचनाएं' इत्यादि। उनके पुत्र, जनरल सर जेम्स स्टीवर्ट द्वारा सम्पादित], London, 1805, खण्ड १, पृ० २७४।)

गया है, उससे ज्यादा में बेचा जाये। इस बात से केवल वापिस लौटने वाली मुद्रा की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। मुद्रा का प्रत्यावर्तन उसी समय सम्पन्न हो जाता है, जब ख़रीदा हुआ माल फिर से बेच दिया जाता है, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, जब परिपथ मु – मा – मु सम्पूर्ण हो जाता है। इसलिए, यहां पूंजी के रूप में मुद्रा के परिचलन और केवल मुद्रा के रूप में उसके परिचलन में एक सहज ग्राह्य भेद हमारे सामने आ जाता है।

परिपथ मा – मु – मा उसी समय पूर्णतया समाप्त हो जाता है, जिस समय एक माल की बिक्री से मिली हुई मुद्रा किसी और माल की ख़रीद के फलस्वरूप फिर हाथ से निकल जाती है।

इसके बाद भी यदि मुद्रा फिर अपने प्रस्थान-बिन्दु पर लौट जाती है, तो यह केवल इस क्रिया के नवीकरण अथवा दोहराये जाने के फलस्वरूप ही हो सकता है। यदि मैं एक क्वार्टर अनाज ३ पौण्ड में बेचता हूं और इस ३ पौण्ड की रक़म से कपड़े ख़रीद लेता हूं, तो जहां तक मेरा सम्बंध है, मुद्रा सदा के लिए ख़र्च हो जाती है। उसके बाद कपड़ों का सौदागर उसका मालिक हो जाता है। अब यदि मैं एक क्वार्टर अनाज और बेचूं, तो, ज़ाहिर है, मुद्रा मेरे पास लौट आती है, लेकिन वह पहले सौदे के परिणाम के रूप में नहीं, बल्कि सौदे के दोहराये जाने के परिणामस्वरूप लौटती है। और जब मैं कोई नयी ख़रीदारी करके इस दूसरे सौदे को पूरा कर देता हूं, तो मुद्रा तुरन्त ही फिर मेरे पास से चली जाती है। इसलिए परिपथ मा – मु – मा में मुद्रा के ख़र्च किये जाने का मुद्रा के वापिस लौटने से कोई सम्बंध नहीं होता। इसके विपरीत, मु – मा – मु में मुद्रा का वापिस लौटना स्वयं ख़र्च किये जाने की प्रणाली की एक आवश्यक शर्त है। यदि मुद्रा इस प्रकार वापिस नहीं लौटती, तो क्रिया अपनी पूरक एवं अन्तिम अवस्था – बिक्री – की अनुपस्थिति के कारण असफल हो जाती है, या प्रक्रिया बीच में रुक जाती है और अपूर्ण रह जाती है।

परिपथ मा – मु – मा एक माल से आरम्भ होता है और दूसरे माल पर समाप्त हो जाता है, जो कि परिचलन से बाहर जाकर उपभोग में चला जाता है। उपभोग, आवश्यकताओं की तुष्टि, या एक शब्द में कहें, तो उपयोग-मूल्य उसका लक्ष्य एवं उद्देश्य होता है। इसके विपरीत, परिपथ मु – मा – मु मुद्रा से आरम्भ होता है और मुद्रा पर समाप्त होता है। अतः उसका प्रमुख उद्देश्य तथा वह लक्ष्य, जो उसे आकर्षित करता है, केवल विनिमय-मूल्य होता है।

मालों के साधारण परिचलन में परिपथ के दो चरम बिन्दुओं का एक सा आर्थिक रूप होता है। वे दोनों माल, और वह भी समान मूल्य के माल होते हैं। किन्तु उसके साथ-साथ वे गुणों में भिन्न दो उपयोग-मूल्य भी होते हैं, जैसे कि अनाज और कपड़ा। उत्पादित वस्तुओं का विनिमय, या उन अलग-अलग सामग्रियों का विनिमय, जिनमें समाज का श्रम निहित है, यहां पर गति का आधार होता है। परिपथ मु – मा – मु में यह बात नहीं होती। पहली नज़र में यह परिपथ पुनरुक्ति-सूचक होने के नाते उद्देश्यहीन मालूम होता है। उसके दोनों चरम बिन्दुओं का एक सा आर्थिक रूप है। वे दोनों मुद्रा हैं, और इसलिए वे गुणों में भिन्न उपयोग-मूल्य नहीं हैं। कारण कि मुद्रा तो केवल मालों का वह बदला हुआ रूप होती है, जिसमें उनके विशिष्ट उपयोग-मूल्यों का लोप हो जाता है। पहले १०० पौण्ड का कपास के साथ विनिमय करना और फिर इसी कपास का पुनः १०० पौण्ड के साथ विनिमय कर लेना – यह महज़ मुद्रा के साथ मुद्रा का विनिमय करने का एक घुमावदार ढंग ही है, जिसमें एक वस्तु का उसी वस्तु के साथ विनिमय किया जाता है, और यह क्रिया जितनी बेतुकी है, उतनी ही

उद्देश्यहीन लगती है।[1] मुद्रा की एक रक़म का दूसरी रक़म से केवल मात्रा द्वारा ही भेद किया जाता है। अतएव मु—मा—मु प्रक्रिया के स्वरूप एवं प्रकृति का कारण यह नहीं होता कि उसके दो चरम बिन्दुओं में कोई गुणात्मक भेद होता है,—क्योंकि वे दोनों तो ही मुद्रा होते हैं,—बल्कि केवल उसके दो चरम बिन्दुओं का परिमाणात्मक अन्तर ही उसका कारण होता है। परिचलन के आरम्भ में उसमें जितनी मुद्रा डाली जाती है, उसके समाप्त होने पर उससे अधिक मुद्रा उसमें से निकाल ली जाती है। जो कपास १०० पौंड में ख़रीदी गयी थी, वह सम्भवतः १०० पौंड+१० पौंड, अथवा ११० पौंड में बेची जाती है। अतः इस क्रिया का

---

[1] मर्सियेर दे ला रिवियेर (Mercier de la Rivière) ने व्यापारवादियों से कहा था: "On n'échange pas de l'argent contre de l'argent" ["हम मुद्रा के साथ मुद्रा का विनिमय नहीं करते"] (उप० पु०, पृ० ४८६)। एक ऐसी रचना में, जिसमें विशेष रूप से (ex professo) "व्यापार" तथा "सट्टेबाज़ी" की चर्चा की गयी है, हमें यह पढ़ने को मिलता है: "समस्त व्यापार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का विनिमय होता है; और उसमें लाभ (क्या व्यापारी को होने वाला लाभ?) इस एक भेद के कारण होता है। एक पौण्ड रोटी का एक पौण्ड रोटी के साथ विनिमय करने से... कोई लाभ न होगा; ... इसीलिये व्यापार को जुए से बेहतर समझा जाता है, क्योंकि जुए में महज़ मुद्रा का मुद्रा के साथ विनिमय किया जाता है।" (Th. Corbet, "*An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals; or the Principles of Trade and Speculation Explained*" [टोमस कोर्बेट, 'व्यक्तियों के धन के कारणों और रूपों की जांच; अथवा व्यापार तथा सट्टेबाज़ी के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण'], London, 1841, पृ० ५।) यद्यपि कोर्बेट यह नहीं देखते कि मु—मु, यानी मुद्रा के साथ मुद्रा का विनिमय, केवल सौदागरों की पूंजी के ही नहीं, बल्कि हर प्रकार की पूंजी के परिचलन का प्रधान रूप होता है, फिर भी वह कम से कम इतना ज़रूर मान लेते हैं कि यह रूप जुए में और एक विशेष प्रकार के व्यापार—अर्थात् सट्टेबाज़ी—में समान रूप से पाया जाता है। किन्तु इसके बाद मैक्कुलक आते हैं, और वह यह फ़रमाते हैं कि बेचने के लिए ख़रीदना ही सट्टेबाज़ी है; और इस प्रकार सट्टेबाज़ी तथा व्यापार का अन्तर मिट जाता है। "हर वह सौदा, जिसमें कोई व्यक्ति बेचने के लिए पैदावार ख़रीदता है, असल में सट्टेबाज़ी होता है।" (MacCulloch, "*A Dictionary Practical, &c., of Commerce*" [मैक्कुलक, 'वाणिज्य का एक व्यावहारिक शब्दकोष इत्यादि'], London, 1847, पृ० १००९।) पिंटो, जो कि एमस्टरडम की स्टाक एक्सचेंज का पिण्डार है, इससे कहीं अधिक भोलेपन के साथ कहता है: "Le commerce est un jeu" ["व्यापार क़िस्मत का खेल होता है"] (ये शब्द उसने लॉक से लिये हैं); "et ce n'est pas avec des gueux qu'on peut gagner. Si l'on gagnait longtemps en tout avec tous, il faudrait rendre de bon accord les plus grandes parties du profit pour recommencer le jeu." ["और जिनके साथ हम यह खेल खेलते हैं, यदि वे भिखारी हैं, तो हम कुछ भी न जीत पायेंगे। यदि अन्त में जाकर हमारा कुछ लाभ हो भी जाये, तो जब हम एक बार फिर खेल शुरू करना चाहेंगे, तब हमें अपने नफ़े का अधिकतर भाग फिर दे देना पड़ेगा"।] (Pinto, "*Traité de la Circulation et du Crédit*". Amsterdam, 1771, पृ० २३१।)

बिल्कुल ठीक-ठीक रूप यह है: मु–मा–मु', जहां मु' = मु + $\Delta$मु = वह रक़म, जो शुरू में पेशगी के रूप में लगायी गयी थी, + वृद्धि की रक़म। इस वृद्धि को, या जितनी रक़म मूल मूल्य से ज्यादा होती है, उसको मैं "अतिरिक्त मूल्य" ("surplus value") कहता हूं। इसलिए, शुरू में जो मूल्य पेशगी के रूप में लगाया जाता है, वह परिचलन के दौरान में न सिर्फ़ पूरे का पूरा बना रहता है, बल्कि उसमें अतिरिक्त मूल्य भी जुड़ जाता है, यानी उसका विस्तार हो जाता है। यही गति मूल्य को पूंजी में बदल देती है।

ज़ाहिर है, यह भी सम्भव है कि मा–मु–मा में, दो चरम बिन्दु मा–मा, जो, मान लीजिये, अनाज और कपड़ा हैं, मूल्य की अलग-अलग मात्राओं का प्रतिनिधित्व करते हों। काश्तकार अपना अनाज उसके मूल्य से अधिक में बेच सकता है, या वह कपड़ा उसके मूल्य से कम में ख़रीद सकता है। दूसरी ओर, यह भी मुमकिन है कि कपड़ों का व्यापारी यही करने में सफल हो जाये। परन्तु परिचलन के जिस रूप पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें मूल्य के ऐसे अन्तर केवल आकस्मिक होते हैं। अनाज और कपड़े के एक दूसरे का सम-मूल्य होने से यह प्रक्रिया सर्वथा निरर्थक नहीं हो जाती, जिस प्रकार वह मु–मा–मु में हो जाती है। बल्कि उनके मूल्यों का समान होना इस प्रक्रिया के स्वाभाविक रूप में सम्पन्न होने की आवश्यक शर्त है।

ख़रीदने के लिए बेचने की क्रिया का दोहराया जाना या उसका नवीकरण स्वयं इस क्रिया के उद्देश्य द्वारा सीमाओं में सीमित रखा जाता है। उसका उद्देश्य होता है उपभोग, अथवा किन्हीं ख़ास आवश्यकताओं की तुष्टि; यह उद्देश्य परिचलन के क्षेत्र से बिल्कुल अलग होता है। लेकिन जब हम बेचने के लिए ख़रीदते हैं, तब हम, इसके विपरीत, जिस चीज़ से आरम्भ करते हैं, उसी चीज़ पर ख़तम करते हैं, अर्थात् तब हम मुद्रा से– विनिमय-मूल्य से– आरम्भ करते हैं और उसी पर समाप्त करते हैं; और इसलिए यहां पर गति अन्तहीन हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि यहां पर मु–मु + $\Delta$मु हो जाती है, या १०० पौंड ११० पौंड बन जाते हैं। लेकिन जब हम उनके केवल गुणात्मक पहलू को देखते हैं, तो ११० पौंड और १०० पौण्ड एक ही चीज़ होते हैं, अर्थात् दोनों मुद्रा होते हैं। और यदि हम उनपर परिमाणात्मक दृष्टि से विचार करें, तो १०० पौण्ड की तरह ११० पौण्ड भी एक निश्चित एवं सीमित मूल्य की रक़म होते हैं। अब यदि ११० पौंड मुद्रा के रूप में ख़र्च कर दिये जायें, तो उनकी भूमिका समाप्त हो जाती है। तब वे पूंजी नहीं रहते। परिचलन से बाहर निकाल लिये जाने पर वे जड़ अपसंचित कोष बन जाते हैं, और यदि वे क़यामत के दिन तक उसी रूप में पड़े रहें, तो भी उनमें एक फ़ार्दिंग की वृद्धि नहीं होगी। अतएव यदि एक बार मूल्य का विस्तार करना हमारा उद्देश्य बन जाता है, तो १०० पौण्ड के मूल्य में वृद्धि करने के लिए जितनी प्रेरणा थी, उतनी ही ११० पौण्ड के मूल्य में वृद्धि करने के लिए भी होती है। कारण कि दोनों ही विनिमय-मूल्य की केवल सीमित अभिव्यंजनाएं हैं और इसलिये दोनों का ही यह पेशा है कि परिमाणात्मक वृद्धि के द्वारा निरपेक्ष धन के जितने निकट पहुंच सकते हैं, पहुंचने की कोशिश करें। क्षणिक तौर पर हम निश्चय ही उस मूल्य में, जो शुरू में लगाया गया था, यानी १०० पौण्ड में, और उस १० पौण्ड के उस अतिरिक्त मूल्य में भेद कर सकते हैं, जो परिचलन के दौरान में उसमें जुड़ गया है, परन्तु यह भेद तत्काल ही मिट जाता है। क्रिया के अन्त में यह नहीं होता कि हमें एक हाथ में शुरू के १०० पौण्ड मिलें और दूसरे में १० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य मिले। हमें तो बस ११० पौण्ड का मूल्य मिलता है, जो विस्तार की क्रिया

को आरम्भ करने के लिए उसी स्थिति में और उसी प्रकार उपयुक्त होता है, जैसे कि शुरू के १०० पौंड थे। मुद्रा गति को समाप्त करती है, तो केवल इसी उद्देश्य से कि उसे फिर से आरम्भ कर दे।[1] इसलिये, प्रत्येक अलग-अलग परिपथ का, जिसमें कि एक क्रय और उसके बाद होने वाला एक विक्रय पूरा हो जाता है, अन्तिम परिणाम खुद एक नये परिपथ का प्रस्थान-बिन्दु बन जाता है। मालों का साधारण परिचलन — खरीदने के लिए बेचना — एक ऐसे उद्देश्य को कार्यन्वित करने का साधन है, जिसका परिचलन से कोई सम्बंध नहीं होता; अर्थात् वह उपयोग-मूल्यों को हस्तगत करने — या आवश्यकताओं को तुष्ट करने — का साधन है। इसके विपरीत, पूंजी के रूप में मुद्रा का परिचलन स्वयं अपने में ही एक लक्ष्य होता है; कारण कि मूल्य का विस्तार केवल बारम्बार नये सिरे से होने वाली इस गति के भीतर ही होता है। इसलिए पूंजी के परिचलन की कोई सीमाएं नहीं होतीं।[2]

---

[1] "पूंजी को... मूल पूंजी और मुनाफ़े — अर्थात् पूंजी की वृद्धि — में बांटा जा सकता है... हालांकि व्यवहार में यह मुनाफ़ा तुरन्त ही पूंजी में बदल दिया जाता है और मूल पूंजी के साथ ही चालू हो जाता है।" (F. Engels, "*Umrisse zu einer Kritik der Nationalôkonomie*"; "*Deutsch Französische Jahrbücher, herausgegeben von Arnold Ruge und Karl Marx*" में; *Paris, 1844*, पृ० ९९।)

[2] अरस्तू ने अर्थतन्त्र का क्रेमाटिस्टिक (मुद्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति) से मुक़ाबला किया है। वह अर्थतन्त्र से आरम्भ करते हैं। जहां तक अर्थतन्त्र जीविका कमाने की कला है, वहां तक वह उन वस्तुओं को प्राप्त करने तक सीमित होता है, जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती हैं और जो या तो गृहस्थी और या राज्य के लिए उपयोगी होती हैं। "सच्चा धन (ὁ ἀληθινός πλοῦτος) इस प्रकार के उपयोग-मूल्य ही होते हैं, क्योंकि इस तरह की सम्पत्ति का परिमाण, जो जीवन को सुखद बना सकती है, असीमित नहीं होता। लेकिन, चीजें हासिल करने का एक दूसरा ढंग भी होता है, जिसको हम क्रेमाटिस्टिक का नाम देना बेहतर समझते हैं और जिसके लिए यही नाम उचित है। और जहां तक उसका सम्बंध है, धन और सम्पत्ति की कोई सीमा प्रतीत नहीं होती। व्यापार (अरस्तु ने जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह ἡ καπηλική है; उसका शाब्दिक अर्थ फुटकर व्यापार है, और अरस्तू ने इस ढंग के व्यापार को इसलिए लिया है कि उसमें उपयोग-मूल्यों की प्रधानता होती है) ख़ुद अपने स्वभाव से क्रेमाटिस्टिक में शामिल नहीं है, क्योंकि यहां विनिमय केवल उन्हीं चीज़ों का होता है, जो ख़ुद उनके लिए (ग्राहक या विक्रेता के लिये) आवश्यक होती हैं।" इसलिए, — जैसा कि अरस्तू इसके आगे बताते हैं, — व्यापार का मूल रूप अदला-बदली का था, लेकिन अदला-बदली का विस्तार बढ़ने पर मुद्रा की ज़रूरत महसूस हुई। मुद्रा का आविष्कार हो जाने पर अदला-बदली लाज़िमी तौर पर καπηλική में, या मालों के व्यापार में, बदल गयी, और मालों का व्यापार अपनी मूल प्रवृति के विपरीत क्रेमाटिस्टिक — अर्थात् मुद्रा बनाने की कला — में बदल गया। अब क्रेमाटिस्टिक तथा अर्थतन्त्र में यह भेद किया जा सकता है कि "क्रेमाटिस्टिक में परिचलन धन का स्रोत होता है (ποιητική χρημάτων... διά χρημάτων διαβολῆς)। और लगता है कि वह मुद्रा के इर्द-गिर्द घूमता रहता है, क्योंकि इस प्रकार के विनिमय का आरम्भ और अन्त भी मुद्रा पर ही होता है (τό γάρ νόμισμα στοιχεῖον καί πέρας τῆς ἀλλαγῆς ἐστίν) इसीलिये क्रेमाटिस्टिक जिस धन को प्राप्त करने की कोशिश करती है, वह असीमित होता है। प्रत्येक

इस गति के सचेत प्रतिनिधि के रूप में मुद्रा का स्वामी पूंजीपति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व, या कहना चाहिए कि उसकी जेब ही, वह बिन्दु है, जहां से मुद्रा यात्रा प्रारम्भ करती है और जहीं वह फिर लौट जाती है। परिचलन मु–मा–मु का वस्तुगत आधार अथवा उसकी मुख्य कमानी है मूल्य का विस्तार करना। वही उस व्यक्ति का मनोगत लक्ष्य बन जाता है। जिस हद तक कि अधिक से अधिक मात्रा में अमूर्त धन निरन्तर जमा करते जाना ही उसकी कार्रवाइयों का एकमात्र ध्येय बन जाता है, केवल उसी हद तक वह पूंजीपति के रूप में–या यूं कहिये कि चेतना-युक्त एवं इच्छा-युक्त मूर्त्तिमान पूंजी के रूप में–कार्य करता है। अतः उपयोग-मूल्यों को पूंजीपति का वास्तविक लक्ष्य कभी न समझना चाहिये[1], और न ही किसी एक सौदे पर मुनाफ़ा कमाना उसका लक्ष्य समझा जाना चाहिये। मुनाफ़ा कमाने की अनवरत और अन्तहीन क्रिया ही उसका एकमात्र लक्ष्य होती है।[2] धन का यह कभी संतुष्ट न होने वाला लोभ, विनिमय-मूल्य की यह प्रबल लालसा[3] पूंजीपति और कंजूस में समान रूप से पायी जाती है।

---

ऐसी कला का, जो किसी साध्य का साधन नहीं होती, बल्कि स्वयं साध्य होती है, लक्ष्य असीम होता है, क्योंकि वह लगातार उस साध्य के अधिक से अधिक निकट पहुंचने का प्रयत्न करती रहती है। दूसरी ओर, जिन कलाओं का किसी साध्य के साधन के रूप में अभ्यास किया जाता है, वे सीमाहीन नहीं होतीं, क्योंकि ख़ुद उनका लक्ष्य उनपर सीमा लगा देता है। पहली प्रकार की कलाओं की भांति क्रेमाटिस्टिक का लक्ष्य भी सीमाहीन होता है, क्योंकि उसका लक्ष्य निरपेक्ष धन एकत्रित करना होता है। क्रेमाटिस्टिक की नहीं, अर्थतन्त्र की एक सीमा होती है... अर्थतन्त्र का लक्ष्य मुद्रा से भिन्न होता है, क्रेमाटिस्टिक का लक्ष्य मुद्रा की वृद्धि करना होता है... ये दो रूप कभी-कभी एक दूसरे से मिल जाते हैं; उनको आपस में गड़बड़ा देने के फलस्वरूप कुछ लोग मुद्रा को सुरक्षित रखने और उसमें असीम वृद्धि करते जाने को ही अर्थतन्त्र का लक्ष्य और ध्येय समझ बैठे हैं।" (Aristoteles, "*De Republica*", Bekker का संस्करण, पुस्तक १, अध्याय ८, ९, विभिन्न स्थानों पर।)

[1] "व्यापार करने वाले पूंजीपति का अन्तिम लक्ष्य माल (यहां इस शब्द का प्रयोग उपयोग-मूल्यों के अर्थ में किया गया है) नहीं होते; उसका अन्तिम लक्ष्य मुद्रा होती है।" (Th. Chalmers, "*On Political Economy etc.*" [टोमस चाल्मर्स 'अर्थशास्त्र आदि के विषय में'], दूसरा संस्करण, Glasgow, 1832, पृ० १६५, १६६।)

[2] "Il mercante non conta quasi per niente il lucro fatto, ma mira sempre al futuro." ["व्यापारी जो मुनाफ़ा कमा चुकता है, उसकी उसे बहुत कम परवाह होती है या बिल्कुल ही नहीं होती, क्योंकि वह तो सदा और मुनाफ़ा कमाने की आशा में रहता है।"] (A. Genovesi, 'Lezioni di Economia Civile' (1765), इटालवी अर्थशास्त्रियों का Custodi का संस्करण, Parte Moderna, ग्रंथ ८, पृ० १३९।)

[3] "कभी न बुझने वाली नफ़े की चाह, वह auri sacra fames (सोने की पवित्र भूख) पूंजीपतियों का सदा पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।" (MacCulloch, "*The Principles of Polit. Econ.*" [मैक्कुलक, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], London, 1830, पृ० १७९।) परन्तु यही मैक्कुलक और उसी की तरह के अन्य लोग मसलन अति-उत्पादन के प्रश्न जैसी जब सैद्धान्तिक कठिनाइयों में फंस जाते हैं, तो वे इसी पूंजीपति को एक शीलवान् नागरिक में बदल देते हैं, जिसे केवल उपयोग-मूल्यों की ही चिन्ता होती है और जिसमें यहां तक कि जूतों, टोपियों,

लेकिन कंजूस जहां पगलाया हुआ पूंजीपति होता है, वहां पूंजीपति विवेकपूर्ण कंजूस होता है। कंजूस अपनी मुद्रा को परिचलन से बचाकर[1] विनिमय-मूल्य में अन्तहीन वृद्धि करने का प्रयास करता है। उससे अधिक चतुर पूंजीपति यही लक्ष्य अपनी मुद्रा को हर बार नये सिरे से परिचलन में डालकर प्राप्त करता है।[2]

साधारण परिचलन में मालों का मूल्य जो स्वतंत्र रूप – अर्थात् मुद्रा-रूप – धारण कर लेता है, वह केवल एक ही काम में आता है, यानी वह केवल उनके विनिमय के काम में आता है, और गति सम्पूर्ण हो जाने पर ग़ायब हो जाता है। इसके विपरीत, परिचलन मु – मा – मु में मुद्रा और माल दोनों केवल मूल्य के ही दो भिन्न अस्तित्व-रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं: मुद्रा उसके सामान्य रूप का प्रतिनिधित्व करती है; माल उसके विशिष्ट रूप का, या यूं कहिये कि उसके छद्म-रूप का प्रतिनिधित्व करता है।[3] मूल्य लगातार एक रूप को छोड़कर दूसरा रूप ग्रहण करता जाता है, पर इस कारण उसका कभी लोप नहीं होता, और इस प्रकार वह खुद-ब-खुद ही एक सक्रिय स्वरूप धारण कर लेता है। अपने आप विस्तार करने वाला यह मूल्य अपने जीवन-क्रम के दौरान में बारी-बारी से जो दो अलग-अलग रूप धारण करता है, उनमें से प्रत्येक को यदि हम अलग-अलग लें, तो हमें ये दो स्थापनाएं प्राप्त होती हैं: एक यह कि पूंजी मुद्रा होती है, और दूसरी यह कि पूंजी माल होती है।[4] किन्तु वास्तव में मूल्य यहां पर एक ऐसी प्रक्रिया का सक्रिय तत्त्व है, जिसमें वह बारी-बारी से लगातार मुद्रा और मालों का रूप धारण करने के साथ-साथ खुद अपने परिमाण को बदल डालता है और अपने में से अतिरिक्त मूल्य को उत्पन्न करके खुद अपने में भेद पैदा कर देता है; दूसरे शब्दों में, यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मूल मूल्य स्वयंस्फूर्त ढंग से विस्तार करता जाता है। क्योंकि जिस गति के दौरान में उसमें अतिरिक्त मूल्य जुड़ जाता है, वह उसकी अपनी गति होती है, इसलिये उसका विस्तार

---

अन्नों और कपड़े की तथा अन्य अत्यन्त परिचित ढंग के उपयोग-मूल्यों की कभी न मिटने वाली भूख पैदा हो जाती है, – और ऐसा करने में मैक्कुलक का यह उपरोक्त विचार कभी उनके आड़े नहीं आता।

[1] Σωζειν (बचाना) अपसंचय के लिए यूनानी भाषा का शब्द है। अंग्रेज़ी भाषा के to save का भी वही दोहरा अर्थ होता है: sauver (बचाना) और épargner (सुरक्षित रखना)।

[2] "Questo infinito che le cose non hanno in progresso, hanno in giro" ["सीधे आगे की ओर चलने वाली वस्तुओं में जो अनन्तत्व नहीं होता, वह उनमें उस वक़्त आ जाता है, जब वे घूमने लगती हैं"] (Galiani)।

[3] "Ce n'est pas la matière qui fait le capital, mais la valeur de ces matières" ["भौतिक पदार्थ पूंजी नहीं होता, भौतिक पदार्थ का मूल्य पूंजी होता है"] (J. B.Say, *"Traité d'Econ. Polit."*, तीसरा संस्करण, Paris, 1817, ग्रंथ २, पृ० ४२६)।

[4] "वस्तुओं का उत्पादन करने में इस्तेमाल होने वाली चालू मुद्रा (currency) (!)... पूंजी होती है।" (Macleod, *"The Theory and Practice of Banking"* [मैक्लिओड, 'बैंक-व्यवसाय का सिद्धान्त एवं व्यवहार'], London, 1855, खण्ड १, अध्याय १, पृ० ५५।) "पूंजी माल होती है।" (James Mill, *"Elements of Political Economy"* [जेम्स मिल, 'अर्थशास्त्र के तत्त्व'], London, 1821, पृ० ७४।)

स्वचालित विस्तार होता है। चूंकि वह मूल्य है, इसलिए उसमें खुद अपने में मूल्य जोड़ लेने का अलौकिक गुण पैदा हो गया है। वह जीवित सन्तान पैदा करता है, या यूं कहिये कि कम से कम सोने के अण्डे तो देता है।

अतः मूल्य चूंकि एक ऐसी प्रक्रिया का सक्रिय तत्त्व है और चूंकि वह कभी मुद्रा का और कभी मालों का रूप धारण करता रहता है, लेकिन इन तमाम परिवर्तनों के बावजूद खुद सुरक्षित रहता है और विस्तार करता जाता है, इसलिये उसे किसी ऐसे स्वतंत्र रूप की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा उसे किसी भी समय पहचाना जा सके। और ऐसा रूप उसे केवल मुद्रा की शकल में ही प्राप्त होता है। मुद्रा के रूप में ही मूल्य खुद अपने स्वयंस्फूर्त जनन की प्रत्येक क्रिया का श्रीगणेश करता है, उसे समाप्त करता है और उसे फिर से आरम्भ करता है। उसने शुरू किया था १०० पौण्ड की शकल में, अब वह ११० पौण्ड हो गया है, और यह क्रम आगे भी इसी तरह चलता जायेगा। लेकिन खुद मुद्रा मूल्य के दो रूपों में से केवल एक है। जब तक वह किसी माल का रूप नहीं धारण करती, तब तक वह पूंजी नहीं बनती। अपसंचय की तरह यहां पर मुद्रा और मालों के बीच कोई विरोध नहीं है। पूंजीपति जानता है कि सभी माल, वे चाहे जितने भद्दे दिखाई देते हों या उनमें से चाहे जितनी बदबू आती हो, सचमुच और वास्तव में मुद्रा होते हैं, वे अन्दर से ख़तना किये हुए शुद्ध यहूदी होते हैं, और उससे भी बड़ी बात यह है कि वे मुद्रा से और अधिक मुद्रा बनाने का आश्चर्यजनक साधन होते हैं।

साधारण परिचलन मा – मु – मा में मालों के मूल्य ने अधिक से अधिक एक ऐसा रूप प्राप्त किया था, जो उनके उपयोग-मूल्यों से स्वतंत्र होता है, यानी उसने मुद्रा का रूप प्राप्त किया था। लेकिन वही मूल्य अब परिचलन मु – मा – मु में, या पूंजी के परिचलन में, यकायक एक ऐसे स्वतंत्र पदार्थ के रूप में सामने आता है, जिसकी स्वयं अपनी गति होती है और जो स्वयं अपने एक ऐसे जीवन-क्रम में से गुज़रता है, जिसमें मुद्रा और माल उसके रूप मात्र होते हैं, जिनको वह बारी-बारी से ग्रहण करता और त्यागता रहता है। यही नहीं, केवल मालों के सम्बंधों का प्रतिनिधित्व करने के बजाय वह अब मानों खुद अपने साथ निजी सम्बंध स्थापित कर लेता है। वह मूल मूल्य के रूप में अपने को अतिरिक्त मूल्य के रूप में खुद अपने से अलग कर लेता है, जैसे कि, ईसाई धर्म के अनुसार, भगवान पिता अपने को भगवान पुत्र के रूप में अपने से अलग करता है, मगर फिर भी दोनों एक ही रहते हैं और दोनों की आयु भी एक सी होती है। कारण कि शुरू में लगाये गये १०० पौंड १० पौंड के अतिरिक्त मूल्य के द्वारा ही पूंजी बनते हैं, और जैसे ही यह होता है, यानी जैसे ही पुत्र और पुत्र के द्वारा पिता उत्पन्न होता है, वैसे ही उनका अन्तर मिट जाता है और वे फिर एक – यानी ११० पौंड – हो जाते हैं।

अतः मूल्य अब क्रिया-रत मूल्य, अथवा क्रिया-रत मुद्रा, हो जाता है, और इस रूप में वह पूंजी होता है। वह परिचलन के बाहर आता है, उसमें फिर प्रवेश करता है, अपने परिपथ के भीतर अपने को सुरक्षित रखता है और अपना गुणन करता है, पहले से बढ़ा हुआ आकार लेकर फिर परिचलन के बाहर आता है और फिर इसी क्रम को नये सिरे से आरम्भ कर देता है।[1]

---

[1] पूंजी ("portion fructifiante de la richesse accumulée... valeur permanente, multipliante" ["संचित धन का एक फलोत्पादक भाग... स्थायी रूप से स्वयं अपना गुणन करने वाला मूल्य"]) (Sismondi, "*Nouveaux Principes d'Econ. Polit.*", ग्रंथ १, पृ० ८८, ८९)।

मु–मु′, यानी वह मुद्रा, जो मुद्रा को जन्म देती है (money which begets money), पूंजी के पहले व्याख्याकारों ने, यानी व्यापारवादियों ने, पूंजी की यही व्याख्या की है।

बेचने के लिए खरीदना, या ज्यादा सही ढंग से कहा जाये, तो महंगे दामों पर बेचने के लिए खरीदना, मु–मा–मु′, निश्चय ही एक ऐसा रूप प्रतीत होता है, जो केवल एक ढंग की पूंजी की–यानी व्यापारी पूंजी की–ही विशेषता है। लेकिन औद्योगिक पूंजी भी ऐसी मुद्रा होती है, जो मालों में बदली जाती है और इन मालों की बिक्री के जरिये जो फिर पहले से अधिक मुद्रा में बदल जाती है। परिचलन के क्षेत्र के बाहर, यानी खरीदने और बेचने के बीच के समय में, जो घटनाएं होती हैं, उनका इस गति के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्तिम बात यह है कि जब सूद देने वाली पूंजी का सवाल होता है, तब परिचलन मु–मा–मु′ संक्षिप्त हो जाता है। उसका परिणाम बिना किसी बीच की अवस्था के ही मानो "en style lapidaire" ("नगीनासाजी के ढंग से") मु–मु′ के रूप में, यानी उस मुद्रा के रूप में, जो अपने से अधिक मुद्रा के बराबर होती है, या उस मूल्य के रूप में, जो खुद अपने से बड़ा होता है, हमारे सामने आ जाता है।

अतः परिचलन के क्षेत्र के भीतर पूंजी पहली दृष्टि में जिस तरह प्रकट होती है, मु–मा–मु′ वास्तव में उसका सामान्य सूत्र होता है।

## पांचवां अध्याय

# पूंजी के सामान्य सूत्र के विरोध

मुद्रा के पूंजी बन जाने पर परिचलन जो रूप धारण करता है, वह मालों, मूल्य और मुद्रा, और यहां तक कि स्वयं परिचलन के स्वभाव से सम्बंध रखने वाले उन तमाम नियमों का विरोध करता है, जिनका हमने अभी तक अध्ययन किया है। इस रूप और मालों के साधारण परिचलन के रूप में ख़ास अन्तर यह है कि दोनों में वे दो परस्पर विरोधी क्रियाएं—विक्रय और क्रय—एक दूसरे के उल्टे क्रम में सम्पन्न होती हैं। यह विशुद्ध रस्मी अन्तर इन प्रक्रियाओं के स्वभाव को मानो जादू के ज़ोर से बदल कैसे देता है?

पर बात इतनी ही नहीं है। जो तीन व्यक्ति मिलकर व्यवसाय करते हैं, उनमें से दो के लिए यह उल्टा रूप कोई अस्तित्व नहीं रखता। पूंजीपति के रूप में मैं 'क' से माल ख़रीदता हूं और 'ख' के हाथ उनको फिर बेच देता हूं, लेकिन मालों के साधारण मालिक के रूप में मैं उनको 'ख' के हाथ बेचता हूं और फिर 'क' से नये माल ख़रीद लेता हूं। 'क' और 'ख' को इन दो तरह के सौदों में कोई भेद नहीं दिखाई देता। वे तो मात्र ग्राहक या विक्रेता ही रहते हैं। और मैं हर बार या तो मुद्रा के और या मालों के मात्र मालिक के रूप में, यानी या तो ख़रीदार की तरह और या बेचने वाले की तरह, उनसे मिलता हूं। और इससे भी बड़ी बात यह है कि दोनों तरह के सौदों में मैं 'क' का केवल ख़रीदार के रूप में और 'ख' का केवल बेचने वाले के रूप में सामना करता हूं; मैं एक का सामना केवल मुद्रा के रूप में करता हूं और दूसरे का केवल मालों के रूप में। पर मैं पूंजी या पूंजीपति के रूप में, या किसी ऐसी चीज़ के प्रतिनिधि के रूप में दोनों में से किसी का सामना नहीं करता, जो मुद्रा अथवा मालों से अधिक कुछ हो, या जो मुद्रा और मालों से भिन्न कोई प्रभाव डाल सकती हो। मेरे लिए 'क' से ख़रीदना और 'ख' के हाथ बेचना एक क्रम के भाग हैं। लेकिन इन दो कार्यों के बीच जो सम्बंध है, उसका अस्तित्व केवल मेरे ही लिये है। 'क' को इसकी कोई चिन्ता नहीं है कि 'ख' के साथ मैंने क्या सौदा किया है, न ही 'ख' को इसकी कोई परवाह है कि 'क' के साथ मैंने क्या लेन-देन किया है। और यदि मैं उनको यह समझाने लग जाऊं कि प्रक्रियाओं के क्रम को उलटकर मैंने बहुत प्रशंसनीय काम किया है, तो वे शायद मुझसे यह कहेंगे कि जहां तक क्रियाओं के क्रम का सम्बंध है, मैं ग़लती कर रहा हूं, क्योंकि पूरा सौदा क्रय से आरम्भ होने और विक्रय पर ख़तम होने के बजाय, उसके विपरीत, विक्रय से आरम्भ हुआ था और क्रय के साथ ख़तम हुआ है। और सचमुच मेरा पहला काम, अर्थात् क्रय, 'क' के दृष्टिकोण से विक्रय था, और मेरा दूसरा कार्य, अर्थात् विक्रय, 'ख' के दृष्टिकोण से क्रय था। इतने से संतुष्ट न होकर 'क' और 'ख' यह घोषणा करेंगे कि पूरा क्रम अनावश्यक और

बाजीगरी के सिवा और कुछ नहीं है, और आगे से 'ख' सीधे 'क' से ख़रीदेगा और 'क' सीधे 'ख' के हाथ बेचेगा। इस प्रकार पूरा सौदा अकेले एक कार्य में परिणत हो जायेगा, जो मालों के साधारण परिचलन की एक अलग-अलग, अपूरित अवस्था होगी और जो 'क' के दृष्टिकोण से मात्र विक्रय और 'ख' के दृष्टिकोण से महज़ क्रय होगी। इसलिये, क्रियाओं के क्रम के उलट जाने से हम मालों के साधारण परिचलन के क्षेत्र के बाहर नहीं चले जाते, और इसलिये बेहतर होगा कि हम यह देखें कि क्या इस साधारण परिचलन में कोई ऐसी चीज़ है, जो परिचलन में प्रवेश करने वाले मूल्य को परिचलन के दौरान में ही विस्तार की सम्भावना देती है और इसके फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य का सृजन सम्भव बनाती है।

आइये, हम परिचलन की क्रिया के उस रूप को लें, जिसमें वह मालों के सीधे-सादे विनिमय की शकल में सामने आती है। यह सदा उस समय होता है, जब मालों के दो मालिक एक दूसरे से ख़रीदते हैं और जब हिसाब साफ़ करने के दिन दोनों को बराबर-बराबर रक़म एक दूसरे को देनी होती है और इस तरह हिसाब चुकता हो जाता है। इस सूरत में मुद्रा लेखा-मुद्रा होती है और मालों का मूल्य उनके दामों के द्वारा व्यक्त करने के काम में आती है, परन्तु वह ख़ुद, नक़दी के रूप में, उनके सामने नहीं आती है। जहां तक उपयोग-मूल्यों का सम्बंध है, ज़ाहिर है कि इस तरह दोनों पक्षों को कुछ लाभ हो सकता है। दोनों ऐसी वस्तुओं को अपने से अलग कर देते हैं, जो उपयोग-मूल्यों के रूप में उनके किसी काम की नहीं हैं, और दोनों को ऐसी वस्तुएं मिल जाती हैं, जिनका वे उपयोग कर सकते हैं। तथा एक और लाभ भी हो सकता है। 'क', जो कि शराब बेचता है और अनाज ख़रीदता है, एक निश्चित श्रम-काल लगाकर सम्भवतया 'ख' नामक काश्तकार की अपेक्षा अधिक शराब पैदा कर लेता है, और, दूसरी ओर, 'ख' अंगूर की खेती करने वाले 'क' की अपेक्षा उतने ही श्रम-काल में ज़्यादा अनाज पैदा कर लेता है। इसलिये, 'क' और 'ख' को बिना विनिमय किये ख़ुद अपना अनाज और ख़ुद अपनी शराब पैदा करने पर जितना अनाज और शराब मिलती, उसकी अपेक्षा विनिमय के द्वारा 'क' को उतने ही विनिमय-मूल्य के बदले में ज़्यादा अनाज और 'ख' को ज़्यादा शराब मिल सकती है। अतएव, जहां तक उपयोग-मूल्य का सम्बंध है, यह कहने के लिये काफ़ी मज़बूत आधार है कि "विनिमय एक ऐसा सौदा है, जिससे दोनों पक्षों को लाभ होता है।"[1] विनिमय-मूल्य की बात दूसरी है। "एक ऐसा आदमी, जिसके पास बहुत सी शराब है और अनाज बिल्कुल नहीं है, एक ऐसे आदमी के साथ सौदा करता है, जिसके पास बहुत सा अनाज है और शराब ज़रा भी नहीं है; उनके बीच ५० के मूल्य के अनाज का उसी मूल्य की शराब के साथ विनिमय हो जाता है। इस कार्य से दोनों पक्षों में से किसी के पास मूल्य की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें से हरेक को इस विनिमय के द्वारा जितना मूल्य मिला है, उसके बराबर मूल्य विनिमय के पहले ही उनके पास मौजूद था।"[2] परिचलन के माध्यम के रूप में मुद्रा को मालों के बीच में

---

[1] "L'échange est une transaction admirable dans laquelle les deux contractants gagnent — toujours (!)" ["विनिमय एक प्रशंसनीय सौदा है, जिससे सौदा करने वाले दोनों पक्षों का लाभ होता है — हमेशा (!)"] (Destutt de Tracy, "*Traité de la Volonté et de ses effets*", Paris, 1826, पृ० ६८)। बाद को यह रचना "*Traité d'Econ. Polit.*" शीर्षक से प्रकाशित हुई थी।

[2] Mercier de la Rivière, उप० पु०, ५४४।

डाल देने और विक्रय और क्रय को दो अलग-अलग कार्य बना देने से भी नतीजे में कोई तबदीली नहीं होती।[1] किसी भी माल का मूल्य उसके परिचलन में आने के पहले दाम के रूप में व्यक्त किया जाता है; और उसके मूल्य का दाम के रूप में व्यक्त होना परिचलन का परिणाम नहीं होता, बल्कि उसकी पूर्ववर्ती शर्त होता है।[2]

यदि इस विषय पर अमूर्त ढंग से विचार किया जाये, यानी यदि विनिमय को उन परिस्थितियों से अलग करके देखा जाये, जो मालों के साधारण परिचलन के नियमों से तत्काल ही उत्पन्न नहीं होती हैं, तो विनिमय में (अगर हम एक उपयोग-मूल्य के स्थान पर दूसरे उपयोग-मूल्य के आने की ओर ध्यान न दें) एक रूपान्तरण के सिवा, माल के रूप में महज एक परिवर्तन के सिवा, और कुछ नहीं होता। माल के मालिक के हाथों में बराबर वही विनिमय-मूल्य, अर्थात् मूर्त बने सामाजिक श्रम की वही मात्रा रहती है,—पहले उसके अपने माल के रूप में, फिर उस मुद्रा के रूप में, जिसके साथ वह अपने माल का विनिमय कर डालता है, और अन्त में उस माल के रूप में, जो वह उस मुद्रा से खरीद लेता है। इस रूप-परिवर्तन का यह मतलब नहीं है कि मूल्य के परिमाण में भी परिवर्तन हो जाता है। बल्कि इस प्रक्रिया में माल के मूल्य में होने वाला परिवर्तन केवल उसके मुद्रा-रूप के परिवर्तन तक ही सीमित होता है। यह मुद्रा-रूप पहले बिक्री के लिए पेश किये गये माल के दाम की शकल में होता है, फिर वह मुद्रा की एक वास्तविक रक़म की शकल अख्तियार करता है, जो पहले से ही दाम की शकल में अभिव्यक्त हो चुकती है, और अन्त में वह एक सम-मूल्य माल के दाम के रूप में सामने आता है। जिस प्रकार ५ पौण्ड के नोट को गिन्नियों, अध-गिन्नियों और शिलिंगों में बदल डालने से उनके मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार इस रूप-परिवर्तन में भी, यदि अकेले इसे लिया जाये, तो मूल्य की मात्रा में कोई तबदीली नहीं होती। इसलिये, जहां तक मालों के परिचलन का केवल उनके मूल्यों के रूप पर ही प्रभाव पड़ता है और जहां तक वह गड़बड़ पैदा करने वाले दूसरे प्रभावों से मुक्त होता है, वहां तक वह अनिवार्य रूप से केवल सम-मूल्यों का विनिमय ही होता है। घटिया क़िस्म का अर्थशास्त्र मूल्य के स्वभाव के बारे में बहुत कम जानकारी रखता है, पर वह भी जब कभी परिचलन की क्रिया के शुद्ध रूप पर विचार करना चाहता है, तब सदा यह मानकर चलता है कि पूर्ति और मांग बराबर हैं, जिसका मतलब यह होता है कि पूर्ति और मांग का असर कुछ नहीं है। इसलिये, जहां तक उपयोग-मूल्यों का विनिमय होता है, वहां तक अगर यह सम्भव है कि ग्राहक और विक्रेता दोनों का कुछ लाभ हो जाये, तो विनिमय-मूल्यों के लिए यह बात सच नहीं है। यहां तो बल्कि हमें यह कहना पड़ेगा कि "जहां समानता होती है, वहां लाभ नहीं हो सकता।"[3] यह सच है कि

[1] "Que l'une de ces deux valeurs soit argent, ou qu'elles soient toutes deux marchandises usuelles, rien de plus indifférent en soi." ["इसका तनिक भी महत्व नहीं होता कि इन दो मूल्यों में एक मुद्रा है या दोनों साधारण वाणिज्य-वस्तुएं हैं।"] (Mercier de la Rivière, उप० पु०, पृ० ५४३।)

[2] Ce ne sont pas les contractants qui prononcent sur la valeur; elle est décidée avant la convention." ["सौदा करने वाले पक्ष मूल्य को निर्धारित नहीं करते; वह तो सौदा होने के पहले से ही निर्धारित होता है।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ९०६।)

[3] "Dove è egualità non è lucrò."["जहां समानता होती है, वहां लाभ नहीं हो सकता।"] (Galiani "*Della Moneta*", Custodi के संग्रह में Parte Moderna, ग्रंथ ४, पृ० २४४।)

मालों को उनके मूल्यों से भिन्न दामों पर बेचना सम्भव हो सकता है, लेकिन इन प्रकार के विचलन को मालों के विनिमय के नियमों का व्यतिक्रमण समझा जाना चाहिए,[1] क्योंकि मालों का विनिमय अपनी सामान्य अवस्था में सम-मूल्यों का विनिमय होता है और इसलिए वह मूल्य में वृद्धि करने का तरीक़ा नहीं हो सकता।[2]

अतएव, मालों के परिचलन को अतिरिक्त मूल्य का स्रोत बताने की तमाम कोशिशों के पीछे quid pro quo (गड़बड़) का भाव, उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य को आपस में गड़बड़ा देने का भाव छिपा रहता है। उदाहरण के लिए, कौंदिलैक ने लिखा है: "यह सच नहीं है कि मालों का विनिमय करने पर हम मूल्य के बदले में मूल्य देते हैं। इसके विपरीत, सौदा करने वाले दो पक्षों में से प्रत्येक हर सूरत में अधिक मूल्य के बदले में कम मूल्य देता है... यदि हम सचमुच समान मूल्यों का विनिमय करने लगें, तो किसी पक्ष का लाभ न होगा। परन्तु, वास्तव में, तो दोनों पक्षों को लाभ होता है, या होना चाहिए। क्यों? किसी भी चीज़ का मूल्य केवल हमारी आवश्यकताओं के सम्बंध में होता है। जो एक के लिए अधिक है, वह दूसरे के लिए कम होता है, और इसके विपरीत बात भी सच है... यह मानकर नहीं चलना चाहिए कि हम बिक्री के लिए उन चीज़ों को पेश करते हैं, जिनकी हमें खुद अपने उपयोग के लिए आवश्यकता होती है... हम तो एक उपयोगहीन वस्तु देकर कोई ऐसी वस्तु पाना चाहते हैं, जिसकी हमें आवश्यकता होती है; हम तो अधिक के बदले में कम देना चाहते हैं... जब कभी विनिमय की जाने वाली प्रत्येक वस्तु मूल्य में सोने की एक समान मात्रा के बराबर होती है, तब स्वाभाविक रूप से यह समझा जाता है कि विनिमय में मूल्य के बदले में मूल्य दिया जाता है... लेकिन अपना हिसाब लगाते हुए हमें एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। सवाल यह है कि क्या हम दोनों ही किसी अनावश्यक वस्तु का किसी आवश्यक वस्तु के साथ विनिमय नहीं कर रहे हैं?"[3] इस अंश से स्पष्ट है कि कौंदिलैक न केवल उपयोग-मूल्य को विनिमय-मूल्य के साथ गड़बड़ा देते हैं, बल्कि सचमुच बड़े बचकाने ढंग से यह मानकर चलते हैं कि एक

---

[1] "L'échange devient désavantageux pour l'une des parties, lorsque quelque chose étrangère vient diminuer ou exagérer le prix; alors l'égalité est blessée, mais la lésion procède de cette cause et non de l'échange." ["जब किसी बाहरी कारण से दाम घट या बढ़ जाते हैं, तब विनिमय से किसी एक पक्ष को हानि हो सकती है; तब समानता का व्यतिक्रमण हो जाता है, लेकिन यह व्यतिक्रमण विनिमय का नहीं, उपरोक्त बाहरी कारण का फल होता है।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ६०४।)

[2] "L'échange est de sa nature un contrat d'égalité qui se fait de valeur pour valeur égale. Il n'est donc pas un moyen de s'enrichir, puisque l'on donne autant que l'on recoit." ["विनिमय अपने स्वभाव से ही एक ऐसा क़रार होता है, जो समानता के आधार पर होता है और जिसमें एक मूल्य का समान मूल्य के साथ विनिमय किया जाता है। चुनांचे, वह ऐसा तरीक़ा नहीं है, जिसके ज़रिये कोई धनी बन सकता हो, क्योंकि उसे जितना मिलता है, उतनी ही देना भी पड़ जाता है।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ६०३।)

[3] Condillac, "*Le commerce et le Gouvernement*" (1776). Daire et Molinari का संस्करण, '*Mélanges d'Econ. Polit.*' में, Paris, 1847, पृ० २६७, २९१।

ऐसे समाज में, जिसमें मालों के उत्पादन का अच्छी तरह विकास हो चुका है, प्रत्येक उत्पादक खुद अपने जीवन-निर्वाह के साधनों को पैदा करता है, और जितना उसकी आवश्यकताओं से अधिक होता है, केवल उतना ही वह परिचलन में डालता है।[1] फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री अक्सर कौंदिलैक की दलीलों को दोहराया करते हैं,—ख़ास तौर पर उस वक़्त, जब उनको यह सिद्ध करना होता है कि मालों का विनिमय अपने विकसित रूप में, या यूं कहिये कि व्यापार में, अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। उदाहरण के लिए देखिये: "व्यापार... पैदावार में मूल्य जोड़ देता है, क्योंकि उसी पैदावार का उत्पादक के हाथ में जितना मूल्य होता है, उपभोगी के हाथ में पहुंचकर उससे अधिक मूल्य हो जाता है। इसलिए व्यापार को असल में एक उत्पादन-कार्य ही समझना चाहिए।"[2] लेकिन मालों की क़ीमत दो बार नहीं चुकायी जाती; ऐसा नहीं होता कि एक बार मालों के उपयोग-मूल्य की क़ीमत चुकायी जाये और दूसरी बार उनके मूल्य की। हालांकि माल का उपयोग-मूल्य विक्रेता की अपेक्षा ग्राहक के ज़्यादा काम में आता है, परन्तु उसका मुद्रा-रूप विक्रेता के लिए ज़्यादा उपयोगी होता है। अन्यथा वह क्या उसे बेचने को तैयार होता? इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि ग्राहक, मिसाल के लिए, मोज़ों को मुद्रा में बदलकर "वास्तव में एक उत्पादन-कार्य ही करता है।"

यदि समान विनिमय-मूल्य के मालों का अथवा मालों और मुद्रा का विनिमय किया जाता है, यानी यदि सम-मूल्यों का विनिमय किया जाता है, तो यह बात स्पष्ट है कि कोई भी आदमी परिचलन में जितना मूल्य डालता है, उससे अधिक मूल्य वह उसमें से नहीं निकालता। इस तरह कोई अतिरिक्त मूल्य पैदा नहीं होता। अपने प्रकृत रूप में मालों का परिचलन सम-मूल्यों के विनिमय की मांग करता है। लेकिन, वास्तविक व्यवहार में, प्रक्रिया का प्रकृत रूप क़ायम नहीं रहता। इसलिए आइये, अब हम ग़ैर-सम-मूल्यों को विनिमय का आधार मानकर चलें।

हर हालत में मालों की मण्डी में केवल मालों के मालिक ही आते-जाते हैं, और ये लोग आपस में एक दूसरे को जितना अपने प्रभाव में ला पाते हैं, वह उनके मालों के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं होता। इन मालों की भौतिक विभिन्नता विनिमय-कार्य की भौतिक प्रेरणा का काम करती है और ग्राहकों तथा विक्रेताओं को पारस्परिक ढंग से एक दूसरे पर निर्भर बना देती है क्योंकि उनमें से किसी के पास वह वस्तु नहीं होती, जिसकी उसे खुद आवश्यकता होती है,

---

[1] इसलिए ले त्रोस्ने अपने मित्र कौंदिलैक को ठीक ही यह जवाब देते हैं कि "Dans une ... société formée il n'y a pas de surabondant en aucun genre" ("जिस तरह की अति-बहुतायत आप मानकर चलते हैं, वह विकसित समाज में नहीं होती")। साथ ही वह व्यंगपूर्ण ढंग से कहते हैं कि "यदि विनिमय करने वाले दोनों व्यक्तियों को समान मात्रा से ज़्यादा मिलता है और दोनों को समान मात्रा से कम देना पड़ता है, तो दोनों को समान मात्रा ही मिलती है।" कौंदिलैक को चूंकि विनिमय-मूल्य के स्वभाव का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं है, इसीलिये श्री प्रोफ़ेसर विल्हेल्म रोशेर ने उनको अपने बचकाने विचारों की अकाट्यता का ज़ामिन बनने के लिए सबसे योग्य व्यक्ति समझा है। देखिये Roscher की रचना "*Die Grundlagen der Nationalökonomie, Dritte Auflage*", 1858।

[2] S. R. Newman, "*Elements of Political Economy*" (एस० पी० न्यूमैन, 'अर्थशास्त्र के तत्त्व'), Andover and New York, 1835, पृ० १७५।

और हरेक के पास वह वस्तु होती है, जिसकी किसी दूसरे व्यक्ति को आवश्यकता होती है। मालों के उपयोग-मूल्यों में ये जो भौतिक भेद होते हैं, उनके अलावा मालों में केवल एक ही भेद और होता है। वह है उनके शारीरिक रूप तथा उस रूप का भेद, जिसमें वे बिक्री के फलस्वरूप बदल दिये जाते हैं, यानी वह मालों और मुद्रा का अन्तर होता है। इसलिए मालों के मालिकों में आपस में केवल एक यही भेद होता है कि उनमें से कुछ विक्रेता, या मालों के मालिक, और कुछ ग्राहक, या मुद्रा के मालिक, होते हैं।

अब मान लीजिये कि किसी अव्याख्येय विशेष सुविधा के कारण विक्रेता अपने मालों को उनके मूल्य से अधिक में बेचने में सफल हो जाता है और जिसकी क़ीमत १०० है, उसे वह ११० में बेच डालता है। इस सूरत में दाम में नामचार की १०% की वृद्धि हो जाती है। चुनांचे विक्रेता १० का अतिरिक्त मूल्य अपनी जेब में डाल लेता है। लेकिन बेचने के बाद वह ग्राहक बन जाता है। अब मालों का एक तीसरा मालिक बेचने वाले के रूप में उसके पास आता है, और इस रूप में उसको भी अपना माल १० प्रतिशत महंगे दामों में बेचने की सुविधा प्राप्त होता है। सो हमारे मित्र ने विक्रेता के रूप में जो १० कमाये थे, उनको वह ग्राहक के रूप में फिर खो देता है।[1] कुल नतीजा यह निकलता है कि मालों के तमाम मालिक एक दूसरे को अपना माल उसके मूल्य से १०% अधिक में बेच देते हैं; बात वहीं की वहीं आ जाती है, मानो उन सब ने अपना-अपना माल सही मूल्य पर बेचा हो। दामों में ऐसी सामान्य एवं नाममात्र की वृद्धि हो जाने का ठीक वही परिणाम होता है, जैसे मूल्यों को बजाय सोने के वज़न के चांदी के वज़न में अभिव्यक्त किया जाने लगा हो। यानी मालों के बराय नाम दाम बढ़ जायेंगे, लेकिन उनके मूल्यों के बीच जो वास्तविक सम्बंध है, वह ज्यों का त्यों रहेगा।

अब उसकी उल्टी बात मानकर चलिए कि ग्राहक को मालों को उनके मूल्य से कम में ख़रीदने की सुविधा प्राप्त है। इस सूरत में यह याद रखना ज़रूरी नहीं है कि ग्राहक भी अपनी बारी आने पर बेचने वाला बन जायेगा। वह तो ग्राहक बनने के पहले ही विक्रेता था। ग्राहक के रूप में १०% का नफ़ा कमाने के पहले ही वह बेचते समय १०% का नुक़सान दे चुका है।[2] यानी बात वही रहती है, जो पहले थी।

अतएव अतिरिक्त मूल्य के सृजन की और इसलिए मुद्रा के पूंजी में बदल जाने की न तो

---

[1] "पैदावार के नामचार के मूल्य में वृद्धि हो जाने से... विक्रेताओं का धन नहीं बढ़ता... क्योंकि विक्रेताओं के रूप में उनको जो नफ़ा होता है, ठीक वही वे ग्राहकों के रूप में ख़र्च कर डालते हैं।" (*"The Essential Principles of the Wealth of Nations,* etc." ['राष्ट्रों के धन के मूल सिद्धान्त, इत्यादि'], (London. 1797, पृ० ६६।)

[2] "Si l'on est forcé de donner pour 181 ivres une quantité de telle production qui en valait 24, lorsqu'on employera ce même argent à acheter, on aura également pour 18 I. ce que l'on payait 24." ["यदि हम १८ लिव्र के बदले में किसी न किसी पैदावार की ऐसी मात्रा देने के लिए मजबूर हो जाते हैं, जिसकी क़ीमत २४ लिव्र है, तो जब हम इस मुद्रा का ख़रीदने के लिए उपयोग करेंगे, तब हमारी बारी आयेगी और हमें १८ लिव्र के बदले में २४ लिव्र की क़ीमत की चीज मिल जायेगी।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८९७।)

यह मानकर व्याख्या की जा सकती है कि मालों को उनके मूल्य से अधिक में बेचा जाता है, और न ही यह मानकर कि मालों को उनके मूल्य से कम में खरीदा जाता है।[1]

कर्नल टोरेन्स की तरह अप्रासंगिक बातों को बीच में लाकर भी समस्या को किसी तरह सुगम नहीं बनाया जा सकता। कर्नल टोरेन्स ने लिखा है: "प्रभावी मांग उसे कहते हैं, जब उपभोगियों में या तो सीधी और या पेचदार अदला-बदली के द्वारा मालों के लिए उनकी उत्पादन की लागत से अधिक बड़ी पूंजी का कोई भाग... देने की शक्ति एवं इच्छा (!) हो।"[2] जहां तक परिचलन का सम्बंध है, उत्पादक और उपभोगी केवल विक्रेताओं और ग्राहकों के रूप में ही मिलते हैं। यह दावा करना कि उत्पादक को जो अतिरिक्त मूल्य मिलता है, वह इस बात से पैदा होता है कि उपभोगी मालों के लिए उनके मूल्य से अधिक दे डालते हैं, – यह तो दूसरे शब्दों में केवल यह कहने के समान है कि मालों के मालिक को विक्रेता के रूप में अधिक से अधिक महंगे दामों पर बेचने की विशेष सुविधा प्राप्त होती है। विक्रेता ने या तो खुद माल पैदा किया है और या वह उसके उत्पादक का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन ग्राहक ने भी तो वह माल पैदा किया है, जिसका प्रतिनिधित्व उसकी मुद्रा करती है, या वह उस माल के उत्पादक का प्रतिनिधित्व करता है। उनमें अन्तर केवल यह है कि एक खरीदता है और दूसरा बेचता है। इस तथ्य के द्वारा कि मालों का मालिक उत्पादक के रूप में उनको उनके मूल्य से अधिक में बेचता है और उपभोगी के रूप में बहुत अधिक दाम चुकाता है, हम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ते।[3]

चुनांचे जो लोग इस भ्रम के समर्थक हैं कि अतिरिक्त मूल्य दामों में नाम मात्र का बढ़ाव आ जाने से या विक्रेता को प्राप्त महंगे दामों पर बेचने की विशेष सुविधा से उत्पन्न होता है, उनको अपनी बातों में संगति पैदा करने के लिए यह मानकर चलना चाहिए कि कोई ऐसा

---

[1] "Chaque vendeur ne peut donc parvenir à renchérir habituellement ses marchandises, qu'en se soumettant aussi à payer habituellement plus cher les marchandises des autres vendeurs; et par la même raison, chaque consommateur ne peut payer habituellement moins cher ce qu'il achète, qu'en se soumettant aussi à une diminution semblable sur le prix des choses, qu'il vend." ["इसलिए एक नियमित घटना की तरह कोई विक्रेता अपना सामान जरूरत से ज्यादा ऊंचे दामों पर उस वक़्त तक नहीं बेच सकता, जब तक कि वह अपनी बारी आने पर नियमित घटना की तरह दूसरे विक्रेताओं के सामान के लिए जरूरत से ज्यादा ऊंचे दाम देने को तैयार न हो; और इसी कारण, कोई उपभोगी, वह जो कुछ खरीदता है, उसके लिए एक नियमित घटना की तरह जरूरत से ज्यादा नीचे दाम उस वक़्त तक नहीं दे सकता, जब तक कि वह खुद जो कुछ बेचता है, उसके लिए उतने ही कम दाम लेने के लिए न राजी हो।"] (Mercier de la Rivière, उप० पु०, पृ० ५५५।)

[2] R. Torrens, "*An Essay on the Production of Wealth*" [आर० टोरेन्स, 'धन के उत्पादन पर एक निबंध'], (London, 1821, पृ० ३४९।)

[3] "यह विचार निश्चय ही बहुत बेतुका है कि मुनाफ़ा उपभोगियों से मिलता है। ये उपभोगी हैं कौन?" (G. Ramsay, "*An Essay on the Distribution of Wealth*" [जी० रैमजे, 'धन के वितरण के विषय में एक निबंध'], Edinburgh, 1836, पृ० १८३।)

वर्ग भी होता है, जो केवल खरीदता है और बेचता नहीं, यानी जो केवल उपभोग करता है और पैदा नहीं करता। अभी तक हम जिस दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं, उसके अनुसार, यानी साधारण परिचलन के दृष्टिकोण से, ऐसे किसी वर्ग की उपस्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती। किन्तु एक क्षण के लिए अभी से मान लीजिये कि कोई ऐसा वर्ग है। यह वर्ग जिस मुद्रा से लगातार खरीदारियां कर रहा है, वह मुद्रा लगातार उसकी जेबों में आती रहनी चाहिए, और यह मुद्रा बिना किसी विनिमय के, मुफ़्त में, चाहे किसी क़ानूनी अधिकार के प्रताप से और चाहे लाठी के जोर से, खुद मालों के मालिकों की जेबों से निकलनी चाहिए। ऐसे किसी वर्ग के हाथों मूल्य से अधिक दामों में माल बेचना महज उस मुद्रा का एक अंश वापिस ले लेना है, जो पहले ही उसे दे दी गयी थी।[1] उदाहरण के लिए, एशिया-माइनर के शहर प्राचीन रोम को वार्षिक ख़िराज के रूप में मुद्रा दिया करते थे। और इस मुद्रा से रोम इन शहरों से विभिन्न प्रकार के माल खरीदा करता था, और बहुत महंगे दामों में खरीदा करता था। एशिया-माइनर के वासी व्यापार में रोमनों को धोखा देते थे, और इस तरह वे ख़िराज के रूप में जो कुछ देते थे, उसका एक भाग व्यापार द्वारा अपने विजेताओं से वापिस ले लेते थे। फिर भी, इस सब के बावजूद, असल में पराजित लोग ही धोखा खाते थे। इस सब के बाद भी उनके माल के दाम खुद उनकी अपनी मुद्रा से चुकाये जाते थे। यह न तो धनी बनने का तरीक़ा है और न अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का।

इसलिए हमको विनिमय की सीमाओं के भीतर ही रहना चाहिए, जहां पर विक्रेता ग्राहक भी होते हैं और ग्राहक विक्रेता भी। सम्भव है कि, हमारी कठिनाई इस बात से पैदा हुई हो कि हम अपने नाटक के पात्रों के साथ व्यक्तियों के बजाय मूर्तिमान आर्थिक परिकल्पनाओं जैसा व्यवहार कर रहे हैं।

यह मुमकिन है कि 'क' इतना होशियार हो कि वह 'ख' या 'ग' से ज्यादा दाम वसूल कर ले और 'ख' या 'ग' उसका बदला न ले पायें। मान लीजिये कि 'क' 'ख' को ४० पौण्ड की शराब बेच देता है और उसके बदले में 'ख' से ५० पौण्ड के मूल्य का अनाज ले लेता है। इस तरह 'क' अपने ४० पौण्ड को ५० पौण्ड में बदल डालता है, कम मुद्रा से ज्यादा मुद्रा कमा लेता है और इस तरह अपने मालों को पूंजी में बदल लेता है। आइये, इस घटना की थोड़ी और गहराई में जाकर विचार करें। विनिमय के पहले 'क' के पास ४० पौण्ड की क़ीमत की शराब थी और 'ख' के पास ५० पौण्ड की क़ीमत का अनाज था, यानी दोनों के पास कुल मूल्य ६० पौण्ड के बराबर था। विनिमय के बाद भी यह कुल मूल्य वही

[1] "जब किसी आदमी को मांग की आवश्यकता होती है, तब क्या मि० माल्थूस उसे यह सलाह देते हैं कि किसी और आदमी को थोड़ा पैसा दे दो, ताकि वह तुम्हारा सामान ख़रीद ले?"—यह सवाल रिकार्डो का एक क्रुद्ध शिष्य माल्थूस से करता है, जिसने अपने शिष्य पादरी चाल्मर्स की तरह अर्थतन्त्र के क्षेत्र में विशुद्ध ग्राहकों या विशुद्ध उपभोगियों के इस वर्ग के महत्त्व का गुण-गान किया है। (देखिये *"An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand and the Necessity of Consumption, lately advocated by Mr. Malthus etc."* ['मांग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तों की समीक्षा, जिनका हाल में मि० माल्थूस ने प्रतिपादन किया है, इत्यादि'], London, 1821, पृ० ५५।)

६० पौण्ड का रहता है। परिचलन में भाग लेने वाले मूल्य में तनिक भी वृद्धि नहीं होती, 'क' और 'ख' के बीच केवल उसका वितरण पहले से कुछ भिन्न हो जाता है। जो 'ख' के लिए मूल्य की हानि है, वह 'क' के लिए अतिरिक्त मूल्य है। जो एक के लिए "ऋण" है, वह दूसरे के लिए "धन" है। यदि 'क' बिना विनिमय की रस्म पूरी किये सीधे-सीधे 'ख' के १० पौण्ड चुरा लेता, तो भी यही परिवर्तन होता। जिस प्रकार कोई यहूदी रानी ऐन के जमाने की फ़ार्दिंग को एक गिन्नी में बेचकर देश में मौजूद बहुमूल्य धातुओं की मात्रा में कोई तबदीली नहीं ला सकता, उसी प्रकार परिचलन में भाग लेने वाले मूल्यों के वितरण में परिवर्तन करके उनके जोड़ में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती। किसी भी देश में पूरे का पूरा पूंजीपति-वर्ग खुद अपने को धोखा देकर अधिक धनी नहीं बन सकता।[1]

हम चाहे जितना छटपटायें, चाहे जैसे भी तोड़ें-मरोड़ें, यह सत्य नहीं बदलता। यदि सम-मूल्यों का विनिमय होता है, तो अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा होता, और यदि ग़ैर-सम-मूल्यों का विनिमय होता है, तो तब भी अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा होता।[2] परिचलन से, या मालों के विनिमय से, मूल्य नहीं पैदा होता।[3]

---

[1] देस्तूत दे तेसी इंस्टीट्यूट का सदस्य था, मगर फिर भी, या शायद इसीलिए, उसका मत उल्टा था। वह कहता है कि औद्योगिक पूंजीपति इसलिए मुनाफ़ा कमाते हैं कि "वे सब लागत से ज्यादा में अपना माल बेचते हैं। और किसको बेचते हैं? शुरू में वे एक दूसरे को बेचते हैं।" (उप० पु०, पृ० २३६।)

[2] "L'échange qui se fait de deux valeurs égales n'augmente ni ne diminue la masse des valeurs subsistantes dans la société. L'échange de deux valeurs inégales ... ne change rien non plus á la somme des valeurs sociales, bien qu'il ajoute á la fortune de l'un ce qu'il ôte de la fortune de l'autre." ["जब दो समान मूल्यों का विनिमय होता है, तब समाज में पाये जाने वाले कुल मूल्यों की राशि में विनिमय से न तो कोई वृद्धि होती है और न कोई कमी। न ही जब असमान मूल्यों का विनिमय होता है... तब विनिमय से सामाजिक मूल्यों के कुल जोड़ में कोई तबदीली आती है, हालांकि उससे एक पक्ष के धन में उतना जुड़ जाता है, जितना वह पक्ष दूसरे पक्ष के धन से ले लेता है।"] (J. B. Say, उप० पु०, ग्रंथ २, पृ० ४४३, ४४४।) से ने यह वक्तव्य शब्दशः फ़िज़िओक्रैट्स से उधार लिया है, और उनको इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि इस वक्तव्य का क्या परिणाम होगा। यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीमान से ने फ़िज़िओक्रैट्स की रचनाओं का, जिनको उनके जमाने में लोग लगभग बिल्कुल भूल गये थे, किस प्रकार ख़ुद अपना "मूल्य" बढ़ाने के लिए उपयोग किया है। से की सबसे प्रसिद्ध उक्ति यह है: "On n'achète des produits qu'avec des produits" ["हम केवल पैदावार से पैदावार ख़रीदते हैं"] (उप० पु०, ग्रंथ २, पृ० ४४१)। यह उक्ति मूल फ़िज़िओक्रैटिक रचना में इस रूप में मिलती है: "Les productions ne se paient qu'avec des productions" ["पैदावार के दाम केवल पैदावार में ही चुकाये जाते हैं"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८६६)।

[3] "विनिमय पैदावार को तनिक भी मूल्य नहीं प्रदान करता।" (F. Wayland *"The Elements of Political Economy"* [एफ़० वेलैण्ड, 'अर्थशास्त्र के तत्त्व'], Boston, 1843, पृ० १६६।)

सो अब यह बात साफ़ हो जाती है कि हमने पूंजी के प्रामाणिक रूप का विश्लेषण करते समय, यानी उस रूप का विश्लेषण करते समय, जिसके अन्तर्गत पूंजी आधुनिक समाज के आर्थिक संगठन को निर्धारित करती है, उसके सबसे अधिक प्रचलित और मानो दक़ियानूसी रूपों – सौदागरों की पूंजी और साहूकारों की पूंजी – की ओर किस कारण से तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

परिपथ मु – मा – मु', यानी महंगा बेचने के लिए ख़रीदना, सबसे अधिक स्पष्ट रूप में सच्ची सौदागरी पूंजी में दिखाई देता है। लेकिन यह पूरी गति परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही होती है। किन्तु मुद्रा के पूंजी में बदलने को, या अतिरिक्त मूल्य के निर्माण को, चूंकि अकेले परिचलन का परिणाम नहीं समझा जा सकता, इसलिए ऐसा लग सकता है कि जब तक सम-मूल्यों का विनिमय होता है, तब तक सौदागरों की पूंजी एक असंभव चीज़ रहती है,[1] और इसलिए उसकी उत्पत्ति केवल इसी बात से हो सकती है कि सौदागर विक्रेता उत्पादकों और ग्राहक उत्पादकों के बीच में मुफ़्तख़ोरों की तरह टांग अड़ाकर दोनों के कान काट देता है। फ़्रैंकलिन ने इसी अर्थ में कहा है कि "युद्ध डकैती है और व्यापार आम तौर पर धोखेबाज़ी है।"[2] यदि सौदागरों की मुद्रा के पूंजी में बदल जाने की उत्पादकों के धोखा खा जाने के सिवा किसी और ढंग से व्याख्या करनी हो, तो उसके लिए बीच के अनेक क़दमों का एक लम्बा क्रम आवश्यक होगा, जिसका इस समय, जब कि हम केवल मालों का साधारण परिचलन मानकर चल रहे हैं, सर्वथा अभाव है।

सौदागरों की पूंजी के बारे में हमने जो कुछ कहा है, वह साहूकारों की पूंजी पर और भी अधिक लागू होता है। सौदागरों की पूंजी में दो छोर होते हैं: वह मुद्रा, जो मंडी में डाली जाती है, और वह बढ़ी हुई मुद्रा, जो मंडी से निकाल ली जाती है। सौदागरों की पूंजी में ये दो छोर कम से कम एक ख़रीद और एक बिक्री के द्वारा – या, दूसरे शब्दों में, परिचलन की गति के द्वारा – सम्बंधित होते हैं। परन्तु साहूकारों की पूंजी में रूप मु – मा – मु' बिना किसी मध्य बिन्दु के दो छोरों में, अर्थात् मु – मु' में परिणत हो जाता है, यानी मुद्रा का उससे अधिक मुद्रा के साथ विनिमय होता है। यह रूप मुद्रा के स्वभाव से मेल नहीं खाता, और इसलिए मालों के परिचलन के दृष्टिकोण से वह बिल्कुल समझ में नहीं आता। अरस्तू ने इसीलिए कहा है कि "क्रेमाटिस्टिक चूंकि एक दोहरा विज्ञान है, जिसका एक भाग व्यापार में शामिल है और दूसरा अर्थतन्त्र में, और उसका दूसरा भाग चूंकि आवश्यक तथा प्रशंसनीय है, जब कि परिचलन पर आधारित होने के कारण पहले भाग की सही तौर पर

[1] "अपरिवर्तनशील सम-मूल्यों के राज में व्यापार करना असम्भव होगा।" (G. Opdyke, "*A Treatise on Polit. Economy*" [जी० ओप्डाइक, 'अर्थशास्त्र पर एक ग्रंथ'], New York, 1851, पृ० ६६-६९।) "वास्तविक मूल्य और विनिमय-मूल्य का भेद इस तथ्य पर आधारित होता है कि किसी भी वस्तु का मूल्य, व्यापार में उसके बदले में जो तथाकथित सम-मूल्य मिलता है, उससे भिन्न होता है, यानी यह सम-मूल्य असल में सम-मूल्य नहीं होता।" (F. Engels, उप० पु०, पृ० ९६।)

[2] Benjamin Franklin, "*Works*" [बेंजामिन फ़्रैंकलिन, 'रचनाएं'], Sparks का संस्करण, "*Positions to be examined concerning national Wealth*" ['राष्ट्रीय धन के विषय में जिन मतों पर विचार करना है'], पृ० ३७६।

निन्दा की जाती है (क्योंकि वह प्रकृति पर नहीं, बल्कि एक दूसरे को धोखा देने पर आधारित है), इसलिए यह सर्वथा उचित है कि सूदख़ोर से घृणा की जाती है, क्योंकि उसका नफ़ा ख़ुद मुद्रा से उत्पन्न होता है और उसकी मुद्रा उस काम में नहीं लायी जाती, जिस काम के लिए मुद्रा का आविष्कार हुआ था। कारण कि मुद्रा का जन्म मालों का विनिमय कराने के लिए हुआ था, लेकिन सूद मुद्रा में से और अधिक मुद्रा बना डालता है। इसी से उसका यह नाम पड़ा है ("τόχος" का अर्थ है "सूद" और "पैदा की हुई चीज़")। कारण कि जो उत्पन्न होते हैं, वे अपने उत्पन्न करने वालों के समान होते हैं। लेकिन सूद मुद्रा से पैदा होने वाली मुद्रा होता है, और इसलिए जीविका कमाने के जितने ढंग हैं, उनमें यह ढंग प्रकृति के सबसे अधिक विपरीत है।"[1]

अपनी खोज के दौरान में हम पायेंगे कि सौदागरों की पूंजी और सूद देने वाली पूंजी, दोनों ही व्युत्पादित रूप हैं, और साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जायेगी कि इतिहास में ये दो रूप पूंजी के आधुनिक एवं प्रामाणिक रूप के पहले क्यों प्रकट होते हैं।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अतिरिक्त मूल्य परिचलन द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता और इसलिए उसके निर्माण के समय कोई ऐसी बात पृष्ठभूमि में होनी चाहिए, जो ख़ुद परिचलन में दिखाई न देती हो।[2] तो क्या अतिरिक्त मूल्य परिचलन के सिवा और कहीं पर पैदा हो सकता है? मालों के मालिकों के सम्बंध जहां तक उनके मालों के द्वारा निर्धारित होते हैं, वहां तक उनके समस्त पारस्परिक सम्बंधों का कुल जोड़ ही तो परिचलन कहलाता है। और परिचलन के सिवा तो माल के मालिक का केवल अपने माल से ही सम्बंध होता है। जहां तक मूल्य का ताल्लुक़ है, यह सम्बंध केवल इतने तक ही सीमित होता है कि माल में उसके श्रम की एक मात्रा निहित होती है, जो कि एक निश्चित सामाजिक मापदण्ड से मापी जाती है। यह मात्रा माल के मूल्य द्वारा व्यक्त होती है, और चूंकि मूल्य का परिमाण लेखा-मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, इसलिए यह मात्रा दाम के द्वारा भी व्यक्त होती है, जो हम माने लेते हैं कि यहां १० पौण्ड है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि माल का मूल्य और उस मूल्य का अतिरिक्त भाग भी उसके श्रम का प्रतिनिधित्व करें। यानी उसके श्रम का प्रतिनिधित्व वह दाम नहीं करता, जो १० और साथ ही ११ का भी दाम होता है। या यूं कहिये कि उसके श्रम का प्रतिनिधित्व कोई ऐसा मूल्य नहीं करता, जो स्वयं अपने से बड़ा होता है। माल का मालिक श्रम करके मूल्य पैदा कर सकता है, पर वह स्वतः बढ़ने वाला मूल्य पैदा नहीं कर सकता। वह नया श्रम करके और इस प्रकार उसके हाथ में पहले से जो मूल्य है, उसमें नया मूल्य जोड़कर, जैसे, मिसाल के लिए, चमड़े को जूतों में बदलकर, अपने माल का मूल्य बढ़ा सकता है। उसी सामग्री का अब पहले से अधिक मूल्य हो जाता है, क्योंकि अब उसमें पहले से ज़्यादा श्रम ख़र्च किया गया है। इसलिए जूतों का मूल्य चमड़े से अधिक होता है, लेकिन चमड़े का मूल्य वही रहता है, जो पहले था। वह ख़ुद अपना विस्तार नहीं कर सका है। जूते बनाये जाने के दौरान में चमड़ा ख़ुद अपने में कोई अतिरिक्त मूल्य

---

[1] Aristotel, उप० पु०, अध्याय १०।

[2] "मण्डी की साधारण अवस्था में मुनाफ़ा विनिमय के द्वारा नहीं कमाया जाता। यदि मुनाफ़ा विनिमय के पहले से मौजूद न होता, तो वह उस सौदे के बाद भी नहीं हो सकता था।" (Ramsay, उप० पु०, पृ० १८४।)

नहीं जोड़ पाया है। इसलिए मालों का कोई उत्पादक मालों के अन्य मालिकों के सम्पर्क में आये बिना ही परिचलन के क्षेत्र के बाहर मूल्य का विस्तार कर ले और उसके फलस्वरूप मुद्रा को या मालों को पूंजी में बदलने में कामयाब हो जाये, यह असम्भव है।

अतः पूंजी का परिचलन के द्वारा उत्पन्न होना असम्भव है और उसका परिचलन से अलग जन्म लेना भी उतना ही असम्भव है। पूंजी का जन्म परिचलन के भीतर होते हुए भी उसके भीतर नहीं होना चाहिए।

इस तरह हम एक दोहरे नतीजे पर पहुंच गये हैं।

हमें मालों के विनिमय का नियमन करने वाले नियमों के आधार पर मुद्रा के पूंजी में बदलने की इस तरह व्याख्या करनी है कि हमारा प्रस्थान-बिंदु सम-मूल्यों का विनिमय हो।[1] हमारे मित्र श्रीयुत धन्नासेठ को, जो अभी बीज-रूप में ही पूंजीपति हैं, चाहिए कि अपने मालों को उनके मूल्य पर खरीदें, उनको उनके मूल्य पर ही बेचें और फिर भी परिचलन के आरम्भ में उन्होंने जितना मूल्य उसमें डाला था, क्रिया के अन्त में उससे अधिक मूल्य परिचलन से बाहर निकाल ले आयें। श्रीयुत धन्नासेठ का परिचलन के क्षेत्र में और परिचलन के बाहर भी पूर्ण विकसित पूंजीपति के रूप में विकास होना चाहिए। समस्या को हमें इन परिस्थितियों में हल करना है। Hic Rhodus, hic salta! (यह रोड्स है, यहीं कूद पड़ो! )

---

[1] इसके पहले हम जितनी खोज कर चुके हैं, उससे पाठक ने यह समझ लिया होगा कि हमारे इस कथन का अर्थ केवल यह है कि किसी माल का दाम और मूल्य एक होने पर भी पूंजी का निर्माण सम्भव होना चाहिए, क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि पूंजी का निर्माण दाम और मूल्य में कोई अन्तर होने के फलस्वरूप होता है। यदि दाम सचमुच मूल्यों से भिन्न हैं, तो हमें सबसे पहले दामों को मूल्यों में परिणत करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें इस अन्तर को आकस्मिक मानकर चलना पड़ेगा, ताकि हम घटना पर उसके विशुद्ध रूप में विचार कर सकें और ऐसी विघ्नकारक परिस्थितियां, जिनका इस क्रिया से कोई सम्बंध नहीं है, हमारे विचारों में कोई बाधा न डाल सकें। इसके अलावा हम यह भी जानते हैं कि दामों को मूल्यों में परिणत करना कोई वैज्ञानिक क्रिया मात्र नहीं है। दामों में लगातार आनेवाले उतार-चढ़ाव, उनका बढ़ना और घटना, एक दूसरे का असर रद्द कर देते हैं और एक औसत दाम में परिणत हो जाते हैं, जो उनका छिपा हुआ नियामक होता है। ऐसे हर व्यवसाय में, जिसमें कुछ समय लगता है, यह औसत दाम सौदागर या कारख़ानेदार के पथ-प्रदर्शक तारे का काम करता है। सौदागर अथवा कारख़ानेदार जानता है कि जब काफ़ी लम्बे समय का सवाल होता है, तब माल न तो औसत से ज्यादा दामों पर और न कम दामों पर बिकते हैं, बल्कि वे अपने औसत दामों पर ही बिकते हैं। इसलिए यदि वह इस मामले के बारे में थोड़ा भी सोचता है, तो वह पूंजी के निर्माण की समस्या को इस तरह पेश करेगा: यह मान लेने के बाद कि दामों का नियमन औसत दाम के द्वारा—यानी अन्त में मालों के मूल्य के द्वारा—होता है, हम पूंजी की उत्पत्ति का क्या कारण बता सकते हैं? "अन्त में" शब्दों का प्रयोग मैंने इसलिए किया है कि, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और अन्य लोगों के विश्वास के प्रतिकूल, औसत दाम मालों के मूल्यों से सीधे मेल नहीं खाते।

## छठा अध्याय

# श्रम-शक्ति का क्रय और विक्रय

जिस मुद्रा को पूंजी में बदला जाना है, उसके मूल्य में जो परिवर्तन होता है, वह खुद मुद्रा में ही नहीं हो सकता, क्योंकि खरीद और भुगतान के साधन का काम करते समय मुद्रा जिस माल को खरीदती है या जिस माल का भुगतान करती है, उसके दाम को मूर्त रूप देने के सिवा और कुछ नहीं करती, और नक़दी की शकल में मुद्रा पथराया हुआ मूल्य होती है, जो कभी नहीं बदलता।[1] न ही यह परिवर्तन परिचलन की दूसरी क्रिया में – यानी माल के फिर से बेचे जाने के दौरान में – हो सकता है, क्योंकि वह क्रिया इससे अधिक कुछ नहीं करती कि वस्तु को उसके शारीरिक रूप से पुनः उसके मुद्रा-रूप में बदल देती है। इसलिए, यह परिवर्तन पहली क्रिया मु – मा के द्वारा खरीदे नये माल में होना चाहिए, मगर वह उसके मूल्य में नहीं हो सकता, क्योंकि विनिमय सम-मूल्यों का होता है और माल के दाम का भुगतान उसके पूरे मूल्य के अनुसार होता है। अतएव, हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि यह परिवर्तन स्वयं माल के उपयोग-मूल्य से, यानी उसके उपभोग से, उत्पन्न होता है। किसी माल के उपभोग से मूल्य निकालने के लिए जरूरी है कि हमारे मित्र, श्रीयुत धन्नासेठ इतने भाग्यवान हों कि उनको परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही, यानी मण्डी में ही, एक ऐसा माल मिल जाये, जिसके उपयोग-मूल्य में मूल्य पैदा करने का विशेष गुण हो और इसलिए खुद ही जिसका वास्तविक उपभोग श्रम को साकार रूप देता और, इस तरह, मूल्य का सृजन करता हो। मुद्रा के मालिक को सचमुच मण्डी में श्रम करने की सामर्थ्य – अथवा श्रम-शक्ति – के रूप में एक ऐसा विशेष माल मिल जाता है।

श्रम-शक्ति – अथवा श्रम करने की सामर्थ्य – से हमारा अभिप्राय मनुष्य में पायी जाने वाली उन मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं के समूह से है, जिनका वह किसी भी प्रकार का उपयोग-मूल्य पैदा करने के समय प्रयोग करता है।

लेकिन इसलिए कि हमारा मुद्रा-मालिक माल के रूप में बिक्री के लिए पेश की गयी श्रम-शक्ति प्राप्त कर सके, कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है। खुद मालों के विनिमय के स्वभाव के फलस्वरूप जो सम्बंध उत्पन्न हो जाते हैं, विनिमय के साथ उनके सिवा निर्भरता के और कोई सम्बंध जुड़े हुए नहीं होते। इस अभिधारणा के अनुसार, श्रम-शक्ति केवल उसी समय और वहां तक माल के रूप में मण्डी में आ सकती है, जब और जहां तक वह व्यक्ति,

---

[1] "मुद्रा के रूप में ... पूंजी से कोई मुनाफ़ा उत्पन्न नहीं होता" (Ricardo, "*Principles of Political Economy*" [रिकार्डो, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], पृ० २६७)।

जिसकी वह श्रम-शक्ति है, उसे माल के रूप में बिक्री के लिए पेश करे या बेच डाले। उसके ऐसा करने के लिए ज़रूरी है कि यह श्रम-शक्ति स्वयं उसके अधीन हो और श्रम करने की अपनी सामर्थ्य का, यानी खुद अपने शरीर का, वह पूर्ण स्वामी हो।[1] यह व्यक्ति और मुद्रा का मालिक मण्डी में मिलते हैं और एक दूसरे के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करते हैं। बस अन्तर केवल इतना होता है कि एक ग्राहक होता है और दूसरा विक्रेता। इसलिए, क़ानून की नज़रों में दोनों बराबर होते हैं। इसलिए कि यह सम्बंध क़ायम रहे, यह ज़रूरी है कि श्रम-शक्ति का मालिक उसे केवल एक निश्चित काल के ही लिए बेचे, क्योंकि यदि वह उसे एक बार हमेशा के लिए बेच डालेगा, तो वह असल में अपने आप को बेच देगा और स्वतंत्र मनुष्य से गुलाम बन जायेगा और माल का मालिक न रहकर खुद माल बन जायेगा। अपनी श्रम-शक्ति को उसे सदा अपनी सम्पत्ति, स्वयं अपना माल समझना चाहिए; और यह वह केवल उसी समय समझ सकता है, जब वह अपनी श्रम-शक्ति को अस्थायी तौर पर और एक निश्चित काल के लिए ही ग्राहक को सौंपे। केवल इसी तरह वह अपनी श्रम-शक्ति पर अपने स्वामित्व के अधिकार से वंचित होने से बच सकता है।[2]

यदि मुद्रा के मालिक को मण्डी में श्रम-शक्ति को माल के रूप में पाना है, तो उसकी

---

[1] प्राचीन काल के रीति-रिवाजों और संस्थाओं के विश्वकोषों में हमें इस तरह की बकवास मिलती है कि प्राचीन काल में पूंजी का पूरा विकास हो चुका था और "बस स्वतंत्र मज़दूर और उधार की व्यवस्था का अभाव था"। इस दृष्टि से मौम्मसेन ने भी अपने 'रोम के इतिहास' में एक के बाद एक भद्दी भूल की है।

[2] इसीलिए अनेक देशों में क़ानून बनाकर श्रम के इक़रारनामों के लिए एक अधिकतम अवधि की सीमा निश्चित कर दी गयी है। जहां कहीं भी स्वतंत्र श्रम का नियम है, वहां इस तरह के क़रारों को ख़तम करने की पद्धति का नियमन क़ानूनों के द्वारा होता है। कुछ राज्यों में, विशेषकर मेक्सिको में (अमरीकी गृह-युद्ध के पहले उन प्रदेशों में भी, जो मेक्सिको से ले लिए गये थे, और सच पूछिये, तो कूज़ा की क्रान्ति के समय तक डैन्यूब नदी के प्रान्तों में भी), पियोनेज (peonage) के रूप में छिपी हुई गुलामी क़ायम है। पेशगी किये जाने वाले रूपयों का श्रम के रूप में भुगतान करना पड़ता है। यह ऋण पीढ़ी दर पीढ़ी चलता जाता है, और इस तरह न केवल मज़दूर व्यक्तिगत रूप में, बल्कि उसका परिवार भी व्यवहार में (de facto) दूसरे व्यक्तियों और दूसरे परिवारों की सम्पत्ति बन जाता है। ज्वारेज़ ने पियोनेज की यह प्रथा समाप्त कर दी थी। तथाकथित सम्राट् मैक्सीमिलियन ने एक फ़रमान जारी करके उसे फिर से बहाल कर दिया। वाशिंग्टन में प्रतिनिधि-सभा की बैठक में इस फ़रमान की ठीक ही सख़्त शब्दों में निन्दा की गयी थी और कहा गया था कि यह मेक्सिको में फिर से गुलामी की प्रथा क़ायम करने का फ़रमान है। हेगेल ने लिखा है: "मैं अपनी विशिष्ट शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं और क्षमताओं का उपयोग करने का अधिकार एक निश्चित काल के लिए किसी और को सौंप सकता हूं, क्योंकि इस प्रतिबंध के फलस्वरूप ये योग्यताएं और क्षमताएं मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अलग हो जाती हैं। लेकिन यदि मैं अपना सारा श्रम-काल और अपना पूरा काम दूसरे को सौंप दूं, तो मैं ख़ुद सार-तत्त्व को, दूसरे शब्दों में, अपनी सामान्य सक्रियता और वास्तविकता को, अपने व्यक्तित्व को, दूसरे की सम्पत्ति बना दूंगा।" (Hegel, *"Philosophie des Rechts"*, Berlin, 1840, पृ० १०४, § ६७।)

दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि मजदूर अपने श्रम से बनाये गये मालों को बेचने की स्थिति में न हो, बल्कि इसके बजाय वह खुद उस श्रम-शक्ति को ही माल के रूप में बिक्री के वास्ते पेश करने के लिए मजबूर हो, जो केवल उसके सजीव व्यक्तित्व में ही निवास करती है।

यदि कोई आदमी अपनी श्रम-शक्ति के अलावा कोई और माल बेचना चाहता है, तो जाहिर है कि उसके पास उत्पादन के साधन होने चाहिए, जैसे कि कच्चा माल, औज़ार वगैरह। बिना चमड़े के जूते नहीं बनाये जा सकते। इसके अलावा, उसे जीवन-निर्वाह के साधनों की भी जरूरत होती है। भावी पैदावार के सहारे, या ऐसे उपयोग-मूल्यों के सहारे, जो अभी पूरी तरह तैयार नहीं हुए हैं, कोई जिन्दा नहीं रह सकता,—यहां तक कि "भविष्य में महानता का दावा करने वाला संगीतकार" भी उनके सहारे जीवित नहीं रह सकता; और जबसे मनुष्य संसार के रंगमंच पर उतरा है, वह उस पहले क्षण से ही उत्पादन करने के पहले और उत्पादन करने के दौरान में सदा उपभोगी रहा है, और आगे भी रहेगा। एक ऐसे समाज में, जहां पैदावार की सभी चीजें मालों का रूप धारण कर लेती हैं, उत्पादन के बाद मालों का बिकना जरूरी होता है; केवल बिक जाने के बाद ही वे अपने उत्पादक की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक हो सकते हैं। उनके उत्पादन के लिए जो समय आवश्यक होता है, उसमें वह समय भी जोड़ दिया जाता है, जो उनकी बिक्री के वास्ते जरूरी होता है।

अतः इसलिए कि मुद्रा का मालिक अपनी मुद्रा को पूंजी में बदल सके, यह जरूरी है कि मंडी में उसकी स्वतंत्र मजदूर से मुलाक़ात हो। और इस मजदूर को दो मानों में स्वतंत्र होना चाहिए—एक तो इस माने में कि स्वतंत्र मनुष्य के रूप में वह अपनी श्रम-शक्ति को खुद अपने माल के रूप में बेच सकता हो, और, दूसरे, इस माने में कि उसके पास बेचने के लिए और कोई माल न हो, अर्थात् अपनी श्रम-शक्ति को मूर्त्त रूप देने के लिए उसे जिन चीजों की जरूरत होती है, उनका उसके पास पूर्ण अभाव हो।

मुद्रा के मालिक को इस सवाल में कोई दिलचस्पी नहीं है कि मण्डी में उसकी इस स्वतंत्र मजदूर से क्यों मुलाक़ात हो जाती है। वह तो श्रम की मण्डी को मालों की आम मण्डी की ही एक शाखा समझता है। फ़िलहाल हमें भी इस सवाल में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। मुद्रा का मालिक व्यवहार में इस तथ्य से चिपका हुआ है, हमने सैद्धान्तिक ढंग से उसे स्वीकार कर लिया है। किन्तु एक बात स्पष्ट है,—वह यह कि प्रकृति ने एक तरफ़ मुद्रा या मालों के मालिकों को और दूसरी ओर ऐसे लोगों को, जिनके पास अपनी श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है, इन दो तरह के लोगों को पैदा नहीं किया है। इस सम्बंध का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है, और न उसका कोई ऐसा सामाजिक आधार ही है, जो सभी ऐतिहासिक कालों में समान रूप से पाया जाता हो। स्पष्ट ही, यह भूतकाल के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, बहुत सी आर्थिक क्रान्तियों का फल है और सामाजिक उत्पादन के पुराने रूपों के एक पूरे क्रम के विनाश का नतीजा है।

इसी प्रकार, उन आर्थिक परिकल्पनाओं पर भी इतिहास की छाप पड़ी हुई है, जिनपर हम पीछे विचार कर चुके हैं। किसी पैदावार के माल बनने के लिए जरूरी है कि कुछ निश्चित ढंग की ऐतिहासिक परिस्थितियां मौजूद हों। उसके लिए आवश्यक है कि पैदावार खुद उत्पादक के जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में न पैदा की जाये। यदि हमने थोड़ा और आगे बढ़कर इसकी खोज की होती कि समस्त पैदावार या कम से कम पैदावार का अधिकांश किन परिस्थितियों में मालों का रूप धारण कर लेता है, तो हमें पता चलता कि यह बात केवल

एक बहुत ख़ास ढंग के उत्पादन में ही होती है, और वह है पूंजीवादी उत्पादन। परन्तु इस प्रकार की खोज मालों के विश्लेषण के क्षेत्र के बाहर चली जाती। मालों का उत्पादन और परिचलन उस वक़्त भी हो सकता है, जब अधिकतर वस्तुओं का उत्पादन उनके उत्पादकों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता हो, जब वे मालों में न बदली जाती हों और इसलिए जब सामाजिक उत्पादन के बहुत बड़े क्षेत्र में और बहुत हद तक विनिमय-मूल्य का प्रभुत्व क़ायम न हुआ हो। पैदावार की चीज़ों के मालों के रूप में सामने आने के लिए यह ज़रूरी है कि सामाजिक श्रम-विभाजन का ऐसा विकास हो चुका हो, जिसमें विनिमय-मूल्य से उपयोग-मूल्य का वह अलगाव, जो पहले-पहले अदला-बदली से आरम्भ हुआ था, अब मुकम्मिल हो गया हो। लेकिन इस प्रकार का विकास तो समाज के बहुत से रूपों में समान तौर पर पाया जाता है, जिनकी दूसरी बातों में बहुत अलग-अलग ढंग की ऐतिहासिक विशेषताएं होती हैं। दूसरी ओर, यदि हम मुद्रा पर विचार करें, तो मुद्रा के अस्तित्व का अर्थ यह होता है कि मालों का विनिमय एक ख़ास अवस्था में पहुंच गया है। मुद्रा मालों के केवल सम-मूल्य के रूप में, या परिचलन के साधन के रूप में, या भुगतान के साधन के रूप में, या अपसंचित कोष की शक्ल में और या सार्वत्रिक मुद्रा के रूप में जो तरह-तरह के अलग-अलग काम करती है, उनमें से जब जिस ख़ास काम का अधिक विस्तार हो जाता है और जब जो अपेक्षाकृत प्रधानता प्राप्त कर लेता है, तब उसके अनुसार यह पता चलता है कि सामाजिक उत्पादन की क्रिया किस ख़ास अवस्था में पहुंच गयी है। फिर भी हमें अनुभव से मालूम है कि मालों का अपेक्षाकृत आदिम ढंग का परिचलन इन तमाम रूपों के लिए पर्याप्त होता है। पूंजी की बात दूसरी है। उसके अस्तित्व के लिए जो ऐतिहासिक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, वे महज़ मुद्रा और मालों के परिचलन के साथ ही पैदा नहीं हो जातीं। पूंजी केवल उसी समय जन्म ले सकती है, जब उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक की अपनी श्रम-शक्ति बेचने वाले स्वतंत्र मज़दूर से मण्डी में भेंट होती है। और इस एक ऐतिहासिक परिस्थिति में संसार का इतिहास अन्तर्निहित है। इसलिए पूंजी अपना प्रथम दर्शन देने के साथ ही यह घोषणा कर देती है कि सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में एक नये युग का श्रीगणेश हो गया है।[1]

अब हमें श्रम-शक्ति नामक इस विचित्र माल पर थोड़ी और गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। अन्य सब मालों की तरह इस माल का भी मूल्य होता है।[2] वह मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

अन्य प्रत्येक माल की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिए आवश्यक और

---

[1] इसलिए पूंजीवादी युग की यह ख़ास विशेषता होती है कि श्रम-शक्ति ख़ुद मज़दूर की आंखों में एक ऐसे माल का रूप धारण कर लेती है, जो उसकी सम्पत्ति होता है। चुनांचे उसका श्रम मज़दूरी के बदले में किया जाने वाला श्रम बन जाता है। दूसरी ओर, केवल इसी क्षण से श्रम की पैदावार सार्वत्रिक ढंग से माल बन जाती है।

[2] "दूसरी तमाम चीज़ों की तरह किसी मनुष्य का मूल्य या क़ीमत उसका दाम होती है; कहने का मतलब यह कि वह उतनी होती है, जितना उसकी शक्ति के उपयोग के लिए दिया जाता है।" (Th. Hobbes, "*Leviathan*" [टोमस हौब्स, 'लेवियाथन'], "*Works*" में, Molesworth का संस्करण, London, 1839-44, खण्ड ३, पृ० ७६।)

इसलिए इस विशेष वस्तु के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है। जहां तक श्रम-शक्ति में मूल्य होता है, वहां तक वह अपने में निहित समाज के औसत श्रम की एक निश्चित मात्रा से अधिक और किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करती। केवल एक जीवित व्यक्ति की सामर्थ्य अथवा शक्ति के रूप में ही श्रम-शक्ति का अस्तित्व होता है। इसलिए श्रम-शक्ति का अस्तित्व जीवित व्यक्ति के अस्तित्व पर ही निर्भर है। व्यक्ति पहले से मौजूद हो, तो श्रम-शक्ति के उत्पादन का अर्थ है उस व्यक्ति के द्वारा खुद अपना पुनरुत्पादन, या यूं कहिये कि अपना जीवन-निर्वाह। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है। इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल जीवन-निर्वाह के इन साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति का मूल्य मजदूर के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य होता है। लेकिन श्रम-शक्ति केवल अपने प्रयोग से ही वास्तविकता बनती है; काम के द्वारा ही वह सक्रिय होती है। किन्तु उसमें मानव-मांस-पेशियों, स्नायुओं और मस्तिष्क आदि की एक निश्चित मात्रा खर्च हो जाती है, और इसका फिर से वापिस लाया जाना जरूरी होता है। इस बढ़े हुए खर्च के लिए बढ़ी हुई आय की आवश्यकता होती है।[1] यदि श्रम-शक्ति का मालिक आज काम करता है, तो उसमें कल फिर से वही क्रिया पहले जैसे स्वास्थ्य और बल के साथ दोहराने की क्षमता होनी चाहिए। अतः उसके जीवन-निर्वाह के साधन इतने होने चाहिए कि वे उसे श्रम करने वाले व्यक्ति के रूप में उसकी सामान्य अवस्था में जिन्दा रख सकें। उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएं, जैसे भोजन, कपड़ा, ईंधन और रहने का घर आदि, जिस देश में वह रहता है, उसके जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग प्रकार की होती हैं। दूसरी ओर, उसकी तथाकथित जरूरी आवश्यकताओं की संख्या और विस्तार और उन्हें पूरा करने के ढंग भी खुद ऐतिहासिक विकास का फल होते हैं और इसलिए बहुत हद तक देश की सभ्यता के विकास पर निर्भर करते हैं। खास तौर पर वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि स्वतंत्र मजदूरों के वर्ग का किन परिस्थितियों में और इसलिए किन आदतों के साथ तथा कितने आराम की हालत में निर्माण हुआ है।[2] अतएव, अन्य मालों के विपरीत, श्रम-शक्ति के मूल्य-निर्धारण में एक ऐतिहासिक तथा नैतिक तत्त्व भी काम करता है। फिर भी किसी खास देश में और किसी निश्चित काल में हमें मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों की जरूरी औसत मात्रा की व्यावहारिक जानकारी होती है।

श्रम-शक्ति का मालिक नश्वर है। इसलिए अगर उसे लगातार मण्डी में आते रहना है,— और मुद्रा के लगातार पूंजी में बदलते रहने के लिए यह बात जरूरी है,— तो श्रम-शक्ति के विक्रेता को अपने को उसी तरह शाश्वत बनाना चाहिए, "जिस तरीक़े से हर जीवित प्राणी अपने को शाश्वत बनाता है, यानी सन्तान को जन्म देकर।"[3] जो श्रम-शक्ति घिस जाने या मजदूर

---

[1] चुनांचे खेतों में काम करने वाले गुलामों के विलिकस (Villicus)—यानी रोमन जमादार—को "काम करने वाले गुलामों की अपेक्षा कम भोजन मिलता था,—कारण कि उसका काम गुलामों से हल्का था।" (Th. Mommsen, "Röm. Geschichte", 1856, पृ० ८१०।)

[2] देखिये W. Th. Thornton, *"Over-population and its Remedy"* [डब्ल्यू० टी० थोर्नटन, 'जनाधिक्य और उसे दूर करने का उपाय'], London, 1846।

[3] पेटी।

की मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप मण्डी से हटा ली जाती है, उसके स्थान पर कम से कम उतनी ही मात्रा में नयी श्रम-शक्ति बराबर आती रहनी चाहिए। इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों के कुल जोड़ में उन साधनों को भी शामिल करना पड़ेगा, जो मजदूर के प्रतिस्थापकों के लिए, यानी उसके बच्चों के लिए, जरूरी हैं, ताकी इस विचित्र माल के मालिकों की यह नसल मण्डी में बराबर मौजूद रहे।[1]

मानव-शरीर को इस तरह बदलने के लिए कि उसमें उद्योग की किसी ख़ास शाखा के लिए जरूरी निपुणता और हस्तकौशल पैदा हो जाये और वह एक ख़ास तरह की श्रम-शक्ति बन जाये, एक ख़ास तरह की शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, और उसमें भी न्यूनाधिक मात्रा में मालों के रूप में एक सम-मूल्य ख़र्च होता है। यह मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि श्रम-शक्ति का स्वरूप कितना कम या अधिक संश्लिष्ट है। इस शिक्षा का ख़र्च (जो साधारण श्रम-शक्ति की सूरत में बहुत ही कम होता है) pro tanto (इसी परिमाण में) श्रम-शक्ति के उत्पादन पर ख़र्च किये गये कुल मूल्य में शामिल हो जाता है।

इस प्रकार, श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा के मूल्य में परिणत हो जाता है। चुनांचे वह इन साधनों के मूल्य के साथ, या इन साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा के साथ, घटता-बढ़ता रहता है।

जीवन-निर्वाह के साधनों में से कुछ – जैसे भोजन की वस्तुओं और ईंधन – का रोज़ाना उपभोग होता है, और इसलिए उनकी रोज़ाना नयी पूर्त्ति होती रहनी चाहिए। दूसरे साधन, जैसे कि कपड़े और फ़र्नीचर, ज्यादा समय तक चलते हैं, और इसलिए उनके स्थान पर ऐसी नयी चीज़ों की व्यवस्था काफ़ी देर के बाद ही करनी जरूरी होती है। तो एक वस्तु रोज, दूसरी हर सप्ताह, तीसरी तीन महीने के बाद ख़रीदनी पड़ती है, या उनका भुगतान करना पड़ता है, और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का हिसाब होता है। लेकिन इन तमाम मदों में किये गये ख़र्चों का कुल जोड़ साल भर में चाहे जिस तरह फैलाया गया हो, वह मजदूर की दैनिक औसत आमदनी से पूरा होता रहना चाहिए। यदि श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए जिन मालों की रोज़ाना आवश्यकता होती है, उनका जोड़ = 'क', प्रति सप्ताह आवश्यक होने वाली वस्तुओं का जोड़ = 'ख' और तीन महीने में आवश्यक होने वाली वस्तुओं का जोड़ = 'ग', और इसी तरह आगे भी, तो इन मालों की रोज़ाना औसत मात्रा $= \frac{\text{३६५ 'क' + ५२ 'ख' + ४ 'ग' + इत्यादि}}{\text{३६५}}$।

मान लीजिये कि एक औसत दिन में इन मालों की जो मात्रा आवश्यक होती है, उसमें ६ घण्टे का सामाजिक श्रम निहित होता है। तब श्रम-शक्ति में रोज़ाना आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम निहित होता है, या, दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति के रोज़ाना

---

[1] "उसका (श्रम का) स्वाभाविक दाम... जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा सुख के साधनों की वह मात्रा होता है, जो देश के जलवायु तथा आदतों को देखते हुए मजदूर के ज़िन्दा रहने तथा इतने बड़े परिवार का भरण-पोषण करने के लिए जरूरी हो, जो मण्डी में श्रम की पहले जितनी पूर्त्ति को बराबर बनाये रख सके।" (R. Torrens, "*An Essay on the External Corn Trade*" [आर॰ टोरेन्स, 'अनाज के बाहरी व्यापार पर एक निबंध'], London, 1815, पृ॰ ६२।) यहां "श्रम-शक्ति" के स्थान पर "श्रम" शब्द का ग़लत प्रयोग किया गया है।

उत्पादन के लिए आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है। श्रम की यह मात्रा ही एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य होती है, या यूं कहिये कि श्रम की यह मात्रा ही रोजाना पुनरुत्पादित होने वाली श्रम-शक्ति का मूल्य होती है। यदि आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम तीन शिलिंग में निहित होता हो, तो एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य के अनुसार उसका दाम ३ शिलिंग होगा। इसलिए अगर उसका मालिक उसे तीन शिलिंग रोजाना में बेचना चाहे, तो उसका बिक्री-दाम उसके मूल्य के बराबर होगा। और हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके मुताबिक़ हमारा मित्र थन्नासेठ, जो अपनी तीन शिलिंग की रक़म को पूंजी में बदलने पर तुला हुआ है, यह मूल्य अदा कर देता है।

श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा उन मालों के मूल्य से निर्धारित होती है, जिनकी रोजाना पूर्ति के अभाव में मजदूर अपने शरीर में काम करने का बल फिर से नहीं पैदा कर सकता। यानी श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा जीवन-निर्वाह के उन साधनों के मूल्य से निर्धारित होती है, जो शारीरिक दृष्टि से मजदूर के लिए अनिवार्य होते हैं। यदि श्रम-शक्ति का दाम इस निम्नतम सीमा पर पहुंच जाता है, तो वह उसके मूल्य से कम हो जाता है, क्योंकि ऐसी हालत में श्रम-शक्ति को केवल पंगु अवस्था में ही क़ायम रखा तथा विकसित किया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक माल का मूल्य तो सामान्य श्रेणी का माल तैयार करने में ख़र्च होने वाले आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है।

श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करने का यह तरीक़ा परिस्थितियों के कारण अनिवार्य हो जाता है। उसे एक क्रूर तरीक़ा बताना और रोस्सी की तरह रोना-पीटना बहुत सस्ती क़िस्म की भावुकता है। रोस्सी ने कहा है कि "श्रम करने की क्षमता (puissance de travail) को उत्पादन की क्रिया के दौरान में मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग करके देखना कल्पना-सृष्टि (être de raison) देखने के समान है। जब हम श्रम की या श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम मजदूर के साथ-साथ उसके जीवन-निर्वाह के साधनों की, मजदूर और उसकी मजदूरी की भी बात करते हैं।"[1] जब हम पाचन-शक्ति की बात करते हैं, तब हम पाचन-क्रिया की बात नहीं करते। उसी प्रकार, जब हम श्रम-शक्ति की बात करते हैं, तब हम श्रम की बात नहीं करते। पाचन-क्रिया के लिए अच्छे पेट के अलावा भी कुछ चीज़ों की आवश्यकता होती है। जब हम श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम उसे जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों से अलग नहीं कर देते। इसके विपरीत, उन्हीं का मूल्य श्रम-शक्ति के मूल्य में व्यक्त होता है। यदि मजदूर की श्रम करने की क्षमता बिना बिके रह जाती है, तो उससे मजदूर को कोई फ़ायदा नहीं पहुंचता। बल्कि तब उसे यह बात बहुत अखरेगी और प्रकृति द्वारा लादी गयी ज्यादती और क्रूरता प्रतीत होगी कि उसकी इस क्षमता के उत्पादन में जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा ख़र्च हुई है और आगे भी वह उसके पुनरुत्पादन में ख़र्च होती जायेगी। तब वह सिस्मोंदी की इस बात से सहमत होगा कि "श्रम करने की क्षमता... यदि बिकती नहीं, तो कुछ भी नहीं है।"[2]

माल के रूप में श्रम-शक्ति की विचित्र प्रकृति का एक परिणाम यह होता है कि ग्राहक और विक्रेता के बीच में क़रार हो जाने पर भी श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य ग्राहक के हाथ में

---

[1] Rossi, "*Cours d'Econ. Polit.*", Bruxelles, 1842, पृ० ३७०।

[2] Sismondi, "*Nouv. Princ. etc.*", ग्रंथ १, पृ० ११२।

तुरन्त नहीं पहुंच जाता। दूसरे हरेक माल की तरह इस माल का मूल्य भी उसके परिचलन में प्रवेश करने के पहले से ही निश्चित होता है, क्योंकि उसपर सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा खर्च हो चुकी होती है। लेकिन इस माल का उपयोग-मूल्य इसी बात में निहित है कि बाद में इस शक्ति का प्रयोग किया जाये। श्रम-शक्ति के हस्तांतरण और ग्राहक द्वारा उसके सचमुच हस्तगतकरण – या एक उपयोग-मूल्य के रूप में उसके व्यवहार में लाये जाने – के बीच समय का अन्तर होता है। लेकिन जहां कहीं किसी माल के उपयोग-मूल्य की बिक्री के द्वारा रस्मी हस्तांतरण के साथ ही वह माल सचमुच खरीदार को नहीं सौंप दिया जाता, वहां खरीदार की मुद्रा साधारणतया भुगतान के साधन का काम करती है।[1] ऐसे प्रत्येक देश में, जिसमें पूंजीवादी ढंग का उत्पादन पाया जाता है, यह रिवाज होता है कि जब तक श्रम-शक्ति का क़रार में निश्चित समय तक, जैसे, मिसाल के लिए, एक सप्ताह तक, प्रयोग नहीं कर लिया जाता, तब तक उसके दाम नहीं दिये जाते। इसलिए, हर जगह श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य पूंजीपति को पेशगी दे दिया जाता है; मजदूर अपनी श्रम-शक्ति के ग्राहक को दाम पाने के पहले ही उसके उपयोग की इजाजत दे देता है, हर जगह वह पूंजीपति को उधार देता है। यह उधार महज कोई हवाई चीज नहीं होता, – इसका सबूत न सिर्फ़ यह है कि पूंजीपति का दिवाला निकलने पर मजदूरी के पैसे अक्सर डूब जाते हैं,[2] बल्कि यह भी कि उसके इससे कहीं अधिक स्थायी अनेक दूसरे नतीजे भी होते हैं।[3] फिर भी, मुद्रा चाहे खरीदारी के साधन का काम करे और चाहे

---

[1] "श्रम के दाम सदा उसके समाप्त होने के बाद चुकाये जाते हैं।" (*"An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand"* &c. ['मांग के स्वभाव और उससे सम्बन्धित सिद्धान्तों की समीक्षा, इत्यादि'], पृ० १०४।) "Le crédit commercial a dù commencer au moment où l'ouvrier premier artisan de la production, a pu, au moyen de ses économies, attendre le salaire de son travail jusqu' á la fin de la semaine, de la quinzaine, du mois, du trimestre, &c." ["वाणिज्य सम्बंधी उधार की पद्धति उस समय आरम्भ हुई, जब मजदूर – उत्पादन का वह पहला कारीगर – अपनी बचायी हुई आय के प्रताप से अपनी मजदूरी के लिए सप्ताह, पखवाड़े, महीने या तीन महीने इत्यादि के अन्त तक इन्तजार करने को तैयार हो गया।"] (Ch. Ganilh, *"Des Systèmes d'Economie Politique"*, दूसरा संस्करण, Paris, 1821, ग्रंथ २, पृ० १५०।)

[2] "L'ouvrier prête son industrie" ["मजदूर अपना उद्योग उधार देता है"], – स्तोर्च कहते हैं। लेकिन वह बड़ी चतुराई के साथ यह भी जोड़ देते हैं कि मजदूर "कोई जोखिम नहीं उठाता," सिवाय इसके कि "de perdre son salaire... l'ouvrier ne transmet rien de materiel." ["उसकी मजदूरी जरूर डूब सकती है... मजदूर कोई ठोस चीज नहीं सौंपता"]। (Storch, *"Cours d'Econ. Polit."*, Pétersbourg, 1815, ग्रंथ २, पृ० ३७।)

[3] एक मिसाल लीजिये। लन्दन में डबल रोटी बनाने वाले दो तरह के हैं: एक तो "full priced" ("पूरे दाम वाले"), जो अपनी रोटी पूरे दामों में बेचते हैं, और दूसरे "undersellers" ("सस्ती बेचने वाले"), जो रोटी के मूल्य से कम दाम लेते हैं। रोटी बनाने वालों की कुल संख्या का तीन चौथाई से अधिक भाग दूसरे प्रकार के रोटी वालों का है। ("The grievances complained of by the journeymen bakers etc." ['रोटी बनाने वाले कारीगरों की शिकायतों

भुगतान के साधन का, इससे मालों के विनिमय के स्वरूप में कोई तबदीली नहीं आती। श्रम-शक्ति का दाम क़रार द्वारा तै होता है, हालांकि मकान के किराये की तरह वह कुछ समय बीतने के पहले वसूल नहीं होता। श्रम-शक्ति बेच दी जाती है, हालांकि उसका दाम बाद को

---

इत्यादि'] की जांच करने के वास्ते नियुक्त किये गये जांच-कमिश्नर एच० एस० ट्रेमेनहीर की सरकारी रिपोर्ट (*"Report"*) का पृष्ठ बत्तीस, London, 1862।) सस्ती रोटी बेचने वाले, लगभग बिना किसी अपवाद के, रोटी में फिटकरी, साबुन, सज्जी, चाक मिट्टी, डर्बीशायर के पत्थरों का चूरा और इसी तरह के अन्य सुखद, पुष्टिकारक एवं स्वास्थ्यप्रद पदार्थ मिलाकर बेचते हैं। (उपरोक्त सरकारी रिपोर्ट देखिये और उसके साथ-साथ "the committee of 1855 on the adulteration of bread" ['रोटी में मिलावट की जांच करने के लिए बनायी गयी १८५५ की कमिटी'] की रिपोर्ट तथा डा० हैस्सल की रचना *"Adulterations Detected"* ('पकड़ी गयी मिलावट') का दूसरा संस्करण, London, 1861, भी देखिये।) १८५५ की कमिटी के सामने बयान देते हुए सर जान गार्डन ने कहा था कि "इन मिलावटों के परिणामस्वरूप रोज़ाना दो पौंड रोटी के सहारे ज़िन्दा रहने वाले ग़रीब आदमी को अब पौष्टिक पदार्थ का चौथाई हिस्सा भी नहीं मिलता, और उसके स्वास्थ्य पर जो बुरा असर होता है, वह अलग है।" ट्रेमेनहीर ने कहा है (देखिये उप० पु०, पृष्ठ अड़तालीस) कि मज़दूर-वर्ग का अधिकांश इस मिलावट के बारे में अच्छी तरह जानते हुए भी इस फिटकरी, पत्थरों के चूरे आदि को क्यों स्वीकार करता है, इसका कारण यह है कि उनके लिए "यह ज़रूरी होता है कि उनका रोटीवाला या मोदी की दूकान (chandler's shop) उनको जैसी रोटी दे, वे वैसी मंज़ूर कर लें।" मज़दूरों को चूंकि सप्ताह के ख़तम होने पर मज़दूरी मिलती है, इसलिए "उनके परिवार के लोग जिस रोटी का उपभोग करते हैं, उसके दाम वे सप्ताह के दौरान में, सप्ताह ख़तम होने के पहले," नहीं अदा कर पाते। और इसके आगे ट्रेमेनहीर ने कुछ गवाहियों के आधार पर यह भी कहा है कि "यह एक जानी-मानी बात है कि इन मिलावटों के द्वारा बनायी गयी रोटी ख़ास तौर पर इसी ढंग से बेचने के लिए बनायी जाती है" ("it is notorious that bread composed of those mixtures, is made expressly for sale in this manner")। "इंगलैण्ड के बहुत से कृषि-प्रधान ज़िलों में और उससे भी बड़ी संख्या में स्कॉटलैण्ड के कृषि-प्रधान ज़िलों में मज़दूरी पखवाड़े में एक बार और यहां तक कि महीने में एक बार दी जाती है। हर बार इतने लम्बे समय के बाद मज़दूरी पाने के कारण खेतिहर मज़दूर को मजबूर होकर चीज़ें उधार ख़रीदनी पड़ती हैं... उसे ऊंचे दाम देने पड़ते हैं, और सच पूछिये, तो वह उस दूकान से बंध जाता है, जो उसे उधार देती है। मिसाल के लिए, विल्टस में होर्निंघम नामक स्थान पर, जहां मज़दूरी महीने में एक बार दी जाती है, मज़दूर जो आटा किसी दूसरी जगह पर १ शिलिंग १० पेंस फ़ी स्टोन (१४ पौण्ड) के भाव पर ख़रीद सकता था, वह वहां पर उसे २ शिलिंग ४ पेंस फ़ी स्टोन (१४ पौण्ड) के भाव पर पाता है। (*"The Medical Officer of the Privy Council, etc., 1864"* ['प्रिवी काउंसिल के मेडिकल ऑफ़िसर, इत्यादि, १८६४'] की *"Public Health"* ['सार्वजनिक स्वास्थ्य'] के बारे में *"Sixth Report"* ['छठी रिपोर्ट'], पृ० २६४।) "पैज़ली और किल्मारनोक नामक स्थानों के कपड़ा छापने वाले मज़दूरों ने हड़ताल करके यह बात तै करायी कि उनको महीने में एक बार के बजाय पखवाड़े में एक बार मज़दूरी दी जायेगी।" (*"Reports of the Inspectors of Factories for 31st*

ही मिलता है। इसलिए, दोनों पक्षों के सम्बंध को साफ़-साफ़ समझने के लिए फ़िलहाल यह मान-कर चलना उपयोगी होगा कि श्रम-शक्ति का जो भी दाम तै होता है, वह उसकी बिक्री होने पर उसके मालिक को हर बार तुरन्त ही मिल जाता है।

अब हमें यह मालूम है कि इस विचित्र माल के – यानी श्रम-शक्ति के – मालिक को उसका ग्राहक जो मूल्य देता है, वह कैसे निर्धारित होता है। ग्राहक को बदले में जो उपयोग-मूल्य मिलता है, वह केवल उसके वास्तविक फलोपभोग में, यानी श्रम-शक्ति के उपभोग में ही प्रकट होता है। इस उद्देश्य के लिए जितनी चीजें जरूरी होती हैं, जैसे कच्चा माल, मुद्रा का मालिक उन सब को मण्डी में ख़रीद लेता है और उनके पूरे मूल्य के बराबर दाम दे देता है। श्रम-शक्ति का उपभोग मालों के उत्पादन के साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन भी होता है। अन्य हरेक माल की तरह श्रम-शक्ति का उपभोग भी मण्डी की सीमाओं अथवा परिचलन के क्षेत्र के बाहर पूरा होता है। इसलिए हम श्रीयुत धन्नासेठ और श्रम-शक्ति के मालिक को अपने साथ लेकर शोर-शराबे से भरे इस क्षेत्र से, जहां हर चीज खुले-आम और सब लोगों की आंखों के सामने होती है, कुछ समय के लिए विदा लेते हैं और उन दोनों के पीछे-पीछे उत्पादन के उस गुप्त प्रदेश में चलते हैं, जिसके प्रवेश-द्वार पर ही हमें यह लिखा दिखाई देता है: "No admittance except on business" ("काम-काज के बिना अन्दर आना मना है")। यहां पर हम न सिर्फ़ यह देखेंगे कि पूंजी किस तरह उत्पादन करती है, बल्कि हम यह भी देखेंगे कि पूंजी का किस तरह उत्पादन किया जाता है। यहां आखिर हम मुनाफ़ा कमाने के भेद का पता लगाकर ही छोड़ेंगे।

जिस क्षेत्र से हम विदा ले रहे हैं, यानी वह क्षेत्र, जिसकी सीमाओं के भीतर श्रम-शक्ति का विक्रय और क्रय चलता रहता है, वह सचमुच मनुष्य के मूलभूत अधिकारों का स्वर्ग है। केवल यहीं पर स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति और बेंथम महाशय का राज है। स्वतंत्रता का राज इसलिए कि प्रत्येक माल के, जैसे कि श्रम-शक्ति के, ग्राहक और विक्रेता दोनों केवल अपनी स्वतंत्र इच्छा के ही अधीन होते हैं। वे स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में क़रार करते हैं, और उनके बीच जो समझौता होता है, उसकी शकल में वे केवल अपनी संयुक्त इच्छा को क़ानूनी अभिव्यंजना देते हैं। समानता का राज इसलिए कि यहां हरेक दूसरे के साथ इस तरह का सम्बंध स्थापित

---

*Oct., 1853*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५३'], पृ० ३४।) मजदूरों द्वारा पूंजीपति को दिये जाने वाले इस उधार के एक और सुन्दर परिणाम के रूप में हम इंगलैण्ड की बहुत सी कोयला-खानों में प्रचलित उस तरीक़े का ज़िक्र कर सकते हैं, जिसके अनुसार मजदूर को महीने के ख़तम होने तक मजदूरी नहीं दी जाती और इस बीच वह पूंजीपति से क़र्ज़ लेता रहता है, जो अक्सर जिन्स की शकल में होता है, जिसके लिए खान-मजदूर को बाजार-भाव से ऊंचे दाम देने पड़ते हैं (truck-system)। "कोयला खानों के मालिकों का यह आम रिवाज है कि वे अपने मजदूरों को महीने में एक बार मजदूरी देते हैं और बीच में हर सप्ताह के अन्त में उनको कुछ पैसा नक़द पेशगी देते रहते हैं। यह पैसा दुकान में दिया जाता है (यह दूकान मालिक की होती है और Tommy shop कहलाती है) ; वहां मजदूर एक हाथ से पैसा लेते हैं और दूसरे हाथ से उसे वापिस कर देते हैं।" ("*Children's Employment Commission, 3rd Report*" ['बाल-रोजगार-कमीशन की तीसरी रिपोर्ट'], London, 1864, पृ० ३८, अंक १९२।)

करता है, जैसे वह मालों का एक साधारण मालिक भर हो, और यहां सभी सम-मूल्य का सम-मूल्य के साथ विनिमय करते हैं। सम्पत्ति का राज इसलिए कि हरेक केवल वही चीज बेचता है, जो उसकी अपनी चीज होती है। और बेंथम का राज इसलिए कि हरेक केवल अपनी ही फ़िक्र करता है। केवल एक ही शक्ति है, जो उनको जोड़ती है और उनका एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित करती है। वह है स्वार्थ-प्रेम, हरेक का अपना लाभ और हरेक के निजी हित। यहां हर आदमी महज अपनी फ़िक्र करता है और दूसरे की फ़िक्र कोई नहीं करता, और क्योंकि वे ऐसा करते हैं, ठीक इसीलिये पूर्व स्थापित सामंजस्य के अनुसार या किसी सर्वज्ञ विधाता के तत्वावधान में वे सब के सब एक साथ मिलकर पारस्परिक लाभ के लिए, सर्वकल्याण और सब के हित के लिए काम करते हैं।

मालों के साधारण परिचलन या विनिमय के इस क्षेत्र से ही "स्वतंत्र व्यापार के बाजारू सिद्धान्तकार" ("Free-trader Vulgaris") को उसके सारे विचार और मत प्राप्त होते हैं। उसी से उसको वह मापदण्ड मिलता है, जिससे वह एक ऐसे समाज को मापता है, जो पूंजी और मजदूरी पर आधारित है। इस क्षेत्र से अलग होने पर ही अपने dramatis personae (नाटक के पात्रों) की आकृति में कुछ परिवर्तन दिखाई देने लगता है। वह, जो पहले मुद्रा का मालिक था, अब पूंजीपति के रूप में अकड़ता हुआ आगे-आगे चल रहा है; श्रम-शक्ति का मालिक उसके मजदूर के रूप में उसका अनुकरण कर रहा है। एक अपनी शान दिखाता हुआ, दांत निकाले हुए, ऐसे चल रहा है, जैसे आज व्यापार करने पर तुला हुआ हो; दूसरा दबा-दबा, हिचकिचाता हुआ आ रहा है, जैसे खुद अपनी खाल बेचने मण्डी में आया हो और जैसे उसे सिवाय इसके और कोई उम्मीद न हो कि अब उसकी खाल उधेड़ी जायेगी।

भाग ३

# निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

## सातवां अध्याय

## श्रम-प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया

### अनुभाग १ – श्रम-प्रक्रिया अथवा उपयोग-मूल्यों का उत्पादन

पूंजीपति उपयोग में लाने के लिए श्रम-शक्ति खरीदता है, और उपयोगगत श्रम-शक्ति स्वयं श्रम होती है। श्रम-शक्ति का ग्राहक उसके विक्रेता को काम में लगाकर उसका उपभोग करता है। काम करके श्रम-शक्ति का विक्रेता सचमुच वह बन जाता है, जो पहले वह केवल संभाव्य रूप में था, अर्थात् वह कार्यरत श्रम-शक्ति, यानी मजदूर बन जाता है। यदि उसके श्रम को किसी माल के रूप में पुनः प्रकट होना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह सबसे पहले अपना श्रम किसी उपयोगी वस्तु पर, यानी किसी ऐसी वस्तु पर खर्च करे, जिसमें किसी न किसी ढंग की आवश्यकता को पूरा करने की सामर्थ्य हो। इसलिए, पूंजीपति मजदूर को जिस चीज के उत्पादन में लगाता है, वह कोई विशेष उपयोग-मूल्य या कोई खास वस्तु होती है। इस बात से उपयोग-मूल्यों या वस्तुओं के उत्पादन के सामान्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह उत्पादन पूंजीपति के नियंत्रण में और उसकी तरफ़ से होता है। इसलिए श्रम-प्रक्रिया कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों में जो विशिष्ट रूप धारण कर लेती है, हमें पहले उसके प्रभाव से स्वतन्त्र रहकर श्रम-प्रक्रिया पर विचार करना चाहिए।

श्रम सबसे पहले एक ऐसी प्रक्रिया होता है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति दोनों भाग लेते हैं और जिसमें मनुष्य अपनी मर्जी से प्रकृति और अपने बीच भौतिक प्रतिक्रियाओं को प्रारम्भ करता है, उनका नियमन करता है और उनपर नियंत्रण रखता है। वह प्रकृति की ही एक शक्ति के रूप में प्रकृति के मुक़ाबले में खड़ा होता है और अपने शरीर की प्राकृतिक शक्तियों को – अपनी बांहों, टांगों, सिर और हाथों को – हरकत में लाकर प्रकृति की पैदावार को एक ऐसी शकल में हस्तगत करने का प्रयत्न करता है, जो उसकी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। इस प्रकार बाहरी दुनिया पर असर डालकर और उसे बदलकर मनुष्य उसके साथ-साथ

खुद अपनी प्रकृति भी बदल डालता है। वह अपनी सुषुप्त शक्तियों का विकास करता है और उन्हें अपने आदेशानुसार काम करने के लिए विवश करता है। अब हम श्रम के उन आदिम नैसर्गिक रूपों की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जो हमें महज पशु की याद दिलाते हैं। वह अवस्था, जिसमें मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति को माल के रूप में बेचने के लिए मंडी में लाता है, और वह, जिसमें मानव-श्रम अभी अपने पहले, नैसर्गिक रूप में ही था, – इन दो अवस्थाओं के बीच समय का इतना बड़ा व्यवधान है, जिसे नापना असम्भव है। हम श्रम के अन्तर्गत विशुद्ध मानव-श्रम को ही मानकर चल रहे हैं। मकड़ी ठीक बुनकर की तरह ही जाला बुनती है, और शहद की मक्खी इस खूबी के साथ अपनी कोठरियां बनाती है कि बहुत से वास्तुकार देखकर सिर नीचा कर लें। लेकिन अनाड़ी से अनाड़ी वास्तुकार और अच्छी से अच्छी शहद की मक्खी में फ़र्क़ यह होता है कि वास्तुकार वास्तव में भवन बनाने के पहले उसे अपनी कल्पना में बनाता है। प्रत्येक श्रम-क्रिया के समाप्त होने पर एक ऐसा परिणाम हमारे सामने आता है, जो श्रम-प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय मजदूर की कल्पना में पहले ही से मौजूद था। मजदूर जिस सामग्री पर मेहनत करता है, वह केवल उसके रूप को ही नहीं बदलता है, बल्कि वह खुद अपना एक उद्देश्य भी पूरा करता है। यह उद्देश्य उसकी कार्य-प्रणाली के लिए नियम बन जाता है, और उसे अपनी इच्छा को इस उद्देश्य के आधीन बना देना पड़ता है। यह अधीनता केवल क्षणिक ही नहीं होती। शरीर की इन्द्रियों के परिश्रम के अतिरिक्त, श्रम-प्रक्रिया के लिए यह भी जरूरी होता है कि काम के दौरान में मजदूर की इच्छा बराबर उसके उद्देश्य के अनुरूप रहे। इसका मतलब यह है कि मजदूर को बड़ी एकाग्रता से काम करना होता है। काम की प्रकृति और उसे करने की प्रणाली मजदूर को जितना कम आकर्षित करती हैं और इस तरह उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को व्यवहार में आने का मौक़ा देने वाली चीज के रूप में मजदूर को उस काम में जितना ही कम मजा आता है, उसे उतनी ही अधिक एकाग्रता से काम करने के लिए विवश होना पड़ता है।

श्रम-प्रक्रिया के प्राथमिक तत्त्व ये हैं: १) मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाशीलता, अर्थात् स्वयं काम; २) उस काम का विषय और ३) काम के औजार।

अछूती हालत में धरती (जिसमें आर्थिक दृष्टि से पानी भी शामिल है) मनुष्य को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं या जीवन-निर्वाह के साधन बिलकुल तैयार हालत में प्रदान करती है।[1] उसका अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र होता है, और वह मानव-श्रम की सार्वत्रिक विषय-वस्तु होती है। वे तमाम चीजें, जिनको श्रम महज उनके वातावरण के साथ तात्कालिक सम्बंध से अलग कर देता है, श्रम की ऐसी विषय-वस्तुएं होती हैं, जिनको प्रकृति स्वयंस्फूर्त ढंग से मनुष्य को सौंप देती है। वे मछलियां, जिन्हें हम पकड़ते हैं और उनके वातावरण – पानी – से अलग कर देते हैं; वह लकड़ी, जो हम अछूते जंगलों को काटकर हासिल करते हैं; वे खनिज पदार्थ, जो हम पृथ्वी के गर्भ से निकालते हैं, – वे सब इसी तरह की चीजें हैं। दूसरी ओर, यदि श्रम की

[1] "प्रकृति की स्वयंस्फूर्त पैदावार चूंकि परिमाण में थोड़ी और मनुष्य के प्रभाव से बिलकुल स्वतंत्र होती है, इसलिए ऐसा लगता है, जैसे प्रकृति ने इसे मनुष्य को उसी तरह सौंप दिया हो, जैसे किसी नवयुवक को किसी धन्धे में लगाने तथा पैसे कमाने के मार्ग पर लगाने के लिए एक छोटी सी रक़म दे दी जाती है।" (James Steuart, "*Principles of Polit. Econ.*" [जेम्स स्टीवर्ट, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], Dublin का संस्करण, 1770, खण्ड १, पृ० ११६।)

विषय-वस्तु मानो पहले किये गये किसी श्रम की छलनी में से छनकर हमें मिली हो, तो हम उसे कच्चा माल कहते हैं। इसकी मिसाल वह खनिज है, जो पृथ्वी के गर्भ से निकाला जा चुका है और अब धुलने के लिए तैयार है। हर प्रकार का कच्चा माल श्रम की विषय-वस्तु होता है, लेकिन श्रम की प्रत्येक विषय-वस्तु कच्चा माल नहीं होती। वह कच्चा माल तभी बन सकती है, जब उसमें श्रम द्वारा कुछ परिवर्तन कर दिया गया हो।

श्रम का औजार एक ऐसी वस्तु या वस्तुओं का एक ऐसा संश्लेष होता है, जिसे मजदूर अपने और अपने श्रम की विषय-वस्तु के बीच में जगह देता है और जो उसकी क्रियाशीलता के संवाहक का काम करता है। मजदूर कुछ अन्य पदार्थों को अपने उद्देश्य के अधीन बनाने के लिए कुछ पदार्थों के यांत्रिक, भौतिक एवं रासायनिक गुणों का उपयोग करता है।[1] फलों जैसे जीवन-निर्वाह के उन साधनों की ओर ध्यान न देने पर, जिनको इकट्ठा करने में मनुष्य खुद अपनी बांहों और टांगों से श्रम के औजारों का काम लेता है, हम यह पाते हैं कि मजदूर जिस पहली चीज पर अधिकार करता है, वह श्रम की विषय-वस्तु नहीं, बल्कि श्रम का औजार होती है। इस प्रकार प्रकृति उसकी क्रियाशीलता की एक इन्द्रिय बन जाती है, जिसे वह अपनी शारीरिक इन्द्रियों के साथ जोड़ लेता है और इस तरह, बाइबल के कथन के विपरीत, अपना क़द और लम्बा कर लेता है। पृथ्वी जैसे मनुष्य का आदिम भण्डार-गृह है, वैसे ही वह उसका आदिम औजार-खाना भी है। मिसाल के लिए, वह उसे फेंकने, पीसने, दबाने और काटने आदि के औजारों के रूप में तरह-तरह के पत्थर देती है। पृथ्वी खुद भी श्रम का एक औजार है, लेकिन जब वह इस रूप में खेती में इस्तेमाल की जाती है, तब उसके अलावा अनेक और औजारों की तथा श्रम के अपेक्षाकृत ऊंचे विकास की आवश्यकता होती है।[2] श्रम का तनिक सा विकास होते ही उसे खास तौर पर तैयार किये गये औजारों की जरूरत होने लगती है। चुनांचे, पुरानी से पुरानी गुफाओं में भी हमें पत्थर के औजार और हथियार मिलते हैं। मानव-इतिहास के प्राचीनतम काल में खास तौर पर तैयार किये गये पत्थरों, लकड़ी, हड्डियों और घोंघों के साथ-साथ पालतू जानवर भी श्रम के औजारों के रूप में मुख्य भूमिका अदा करते हैं।[3] पालतू जानवर वे होते हैं, जो खास तौर पर श्रम के उद्देश्य को सामने रखकर पाले-पोसे गये हों और जिनमें श्रम द्वारा परिवर्तन कर दिये गये हों। श्रम के औजारों को इस्तेमाल करना और बनाना हालांकि

---

[1] "बुद्धि जितनी बलवती, उतनी ही चतुर भी होती है। उसकी चतुराई मुख्यतया वस्तुओं की बिचवाई का काम करने वाले के रूप में प्रकट होती है, जिसके द्वारा वह वस्तुओं की अपनी प्रकृति के अनुसार उनकी एक दूसरे के ऊपर क्रिया और प्रतिक्रिया कराती है और इस प्रकार, प्रक्रिया में बिना कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किये, अपने उद्देश्यों को कार्यान्वित कराती है।" (Hegel, "*Enzyklopädie, Erster Theil, Die Logik*" [हेगेल, 'विश्वकोष, पहला भाग, तर्क-शास्त्र'], Berlin, 1840, पृ० ३८२।)

[2] गानिल्ह की रचना ("*Théorie de l'Econ. Polit.*", Paris, 1815) वैसे तो घटिया है, किन्तु उसमें उन्होंने फ़िज़िओक्रेट्स को जवाब देते हुए बहुत सुन्दर ढंग से उन अनेक प्रक्रियाओं की गणना की है, जिनके सम्पन्न हो चुकने के बाद ही सही अर्थ में खेती शुरू हो सकती है।

[3] तर्गो ने अपनी रचना "*Réflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses*" (१७६६) में प्रारम्भिक सभ्यता के लिए पालतू जानवरों के महत्त्व को बहुत जोरदार ढंग से स्पष्ट किया है।

बीज-रूप में कुछ क़िस्मों के जानवरों में भी पाया जाता है, परन्तु विशिष्ट रूप से वह मानव-श्रम की ही विशेषता है, और फ़्रैंकलिन ने इसीलिये मनुष्य की परिभाषा करते हुए उसे एक औज़ार बनाने वाला जानवर (a tool-making animal) बताया है। समाज के जो आर्थिक रूप लुप्त हो गये हैं, उनकी खोज के लिए श्रम के पुराने औज़ारों के अवशेषों का वही महत्त्व होता है, जो पथरायी हुई हड्डियों का जानवरों की उन नसलों का पता लगाने के लिए होता है, जो अब पृथ्वी से ग़ायब हो गयी हैं। अलग-अलग आर्थिक युगों में भेद करने के लिए हम यह नहीं देखते कि उन युगों में कौन-कौनसी वस्तुएं बनायी जाती थीं, बल्कि यह पता लगाते हैं कि वे किस तरह और किन औज़ारों से बनायी जाती थीं।[1] श्रम के औज़ार न केवल इस बात के मापदण्ड का काम देते हैं कि मानव-श्रम किस हद तक विकास कर चुका है, बल्कि वे यह भी इंगित करते हैं कि वह श्रम किन सामाजिक परिस्थितियों में किया जाता है। श्रम के औज़ारों में कुछ यांत्रिक ढंग के होते हैं, जिन्हें यदि एक साथ लिया जाये, तो हम उनको उत्पादन की हड्डियां और मांस-पेशियां कह सकते हैं। दूसरी ओर, नलियों, टबों, टोकरियों, मर्तबानों आदि जैसे कुछ औज़ार होते हैं, जो केवल उस सामग्री को रखने के काम में आते हैं, जिसपर श्रम किया जाता है। उन्हें हम आम तौर पर उत्पादन की वाहिका-प्रणाली कह सकते हैं। उत्पादन के किसी भी ख़ास युग की विशेषताओं का दूसरे प्रकार के औज़ारों की अपेक्षा पहले प्रकार के औज़ारों से अधिक निश्चित रूप में पता चलता है। दूसरे प्रकार के औज़ार केवल रासायनिक उद्योगों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

श्रम के औज़ारों का यदि हम अधिक व्यापक अर्थ लगायें, तो उनमें ऐसी वस्तुओं के अलावा, जो प्रत्यक्ष रूप से श्रम की विषय-वस्तु तक श्रम का स्थानांतरण करने के काम में आती हैं और इसलिए जो किसी न किसी ढंग से क्रियाशीलता के संवाहकों का काम करती हैं, ऐसी तमाम चीज़ें भी शामिल की जा सकती हैं, जो श्रम-प्रक्रिया सम्पन्न करने के लिए ज़रूरी होती हैं। ये चीज़ें श्रम-प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित नहीं होतीं, लेकिन उनके बिना या तो श्रम-प्रक्रिया का सम्पन्न होना ही असम्भव हो जाता है और या वह केवल आंशिक रूप में ही सम्पन्न हो पाती है। एक बार फिर हम पृथ्वी को इस प्रकार का सार्वत्रिक औज़ार भी पाते हैं, क्योंकि वह मज़दूर को locus standi (खड़े होने का स्थान) और उसकी क्रियाशीलता का उपयोग करने के लिए एक क्षेत्र (a field of employment) प्रदान करती है। ऐसे औज़ारों में, जो पहले किये गये किसी श्रम का परिणाम होते हैं और इस श्रेणी के अन्तर्गत भी आते हैं, हम वर्कशापों, नहरों, सड़कों आदि की चर्चा कर सकते हैं।

---

[1] उत्पादन के अलग-अलग युगों का प्रौद्योगिक दृष्टि से मुक़ाबला करने के लिए सब से कम महत्त्व रखने वाले माल विलास की वस्तुएं हैं, बशर्ते कि हम इन शब्दों का उनके बिल्कुल ठीक-ठीक अर्थ में कड़ाई से प्रयोग करें। आज तक लिखे गये हमारे इतिहासों में भौतिक उत्पादन के विकास की ओर चाहे जितना कम ध्यान दिया गया हो, जो समस्त सामाजिक जीवन का और इसलिए सम्पूर्ण वास्तविक इतिहास का आधार होता है, फिर भी प्रागैतिहासिक काल को अलग-अलग युगों में तथाकथित ऐतिहासिक अनुसंधान के निष्कर्षों के अनुसार नहीं, बल्कि भौतिकवादी अनुसंधान के निष्कर्षों के अनुसार बांटा गया है। इन युगों का विभाजन उन सामग्रियों के अनुसार किया गया है, जिनसे उनके औज़ार और हथियार बनाये जाते थे। मिसाल के लिए, प्रागैतिहासिक काल को पाषाण-युग, कांस्य-युग और लौह-युग में बांटा गया है।

अतएव, श्रम-प्रक्रिया में मनुष्य की क्रियाशीलता श्रम के औजारों की मदद से, जिस सामग्री पर वह श्रम किया जाता है, उसमें कुछ ऐसा परिवर्तन पैदा कर देती है, जिसके बारे में श्रम प्रारम्भ करने के समय ही सोच लिया गया था। श्रम-प्रक्रिया पैदावार में लोप हो जाती है। पैदावार एक उपयोग-मूल्य होती है। यानी प्रकृति की दी हुई सामग्री का रूप बदलकर उसे मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया जाता है। श्रम अपनी विषय-वस्तु में समाविष्ट हो जाता है: श्रम भौतिक रूप धारण कर लेता है, उसकी विषय-वस्तु रूपान्तरित हो जाती है। जो चीज मजदूर में गति के रूप में प्रकट हुई थी, वही अब पैदावार में एक गतिहीन, स्थिर गुण के रूप में प्रकट होती है। लुहार गढ़ता है, और उसकी पैदावार एक गढ़ी हुई चीज होती है।

यदि हम पूरी प्रक्रिया पर उसके फल के दृष्टिकोण से, यानी यदि हम उसपर पैदावार के दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह बात स्पष्ट है कि श्रम के औजार और श्रम की विषय-वस्तु दोनों उत्पादन के साधन होते हैं[1] और श्रम खुद उत्पादक श्रम होता है।[2]

यद्यपि किसी पैदावार के रूप में एक उपयोग-मूल्य श्रम-प्रक्रिया से निकलता है, फिर भी पहले किये गये श्रम की पैदावार—कुछ और उपयोग-मूल्य उत्पादन के साधनों के रूप में इस प्रक्रिया में भाग लेते हैं। वही उपयोग-मूल्य पहले की एक श्रम-प्रक्रिया की पैदावार भी होता है और बाद की एक श्रम-प्रक्रिया में उत्पादन के साधन का भी काम करता है। इसलिए उत्पादित वस्तुएं श्रम का फल ही नहीं, उसकी बुनियादी शर्त भी होती हैं।

निस्सारक उद्योगों में,—जैसे खान खोदना, शिकार करना, मछली पकड़ना और खेती (जहां तक कि वह अछूती धरती को तोड़ने तक सीमित है),—श्रम की सामग्री सीधे प्रकृति से मिल जाती है। परन्तु इन उद्योगों को छोड़कर उद्योग की अन्य सभी शाखाओं में कच्चे माल पर, यानी ऐसी वस्तुओं पर श्रम किया जाता है, जो पहले ही श्रम के द्वारा छनकर आयी होती हैं, यानी जो खुद भी श्रम की पैदावार होती हैं। खेती में इस्तेमाल होने वाला बीज इसी श्रेणी में आता है। वे पशु और पौधे, जिनको हम प्रकृति की पैदावार समझने के आदी हैं, अपने वर्तमान रूप में न केवल पिछले वर्ष के श्रम की पैदावार होते हैं, बल्कि वे मनुष्य के निरीक्षण में और उसके श्रम के द्वारा सम्पन्न होने वाले उस रूपान्तरण का फल होते हैं, जो कई पीढ़ियों से बराबर धीरे-धीरे जारी रहा है। लेकिन श्रम के अधिकतर औजार ऐसे होते हैं कि केवल सतही चीजें देखने वालों को भी उनमें बीते हुए युगों के श्रम के चिन्ह दिखाई दे जाते हैं।

कच्चा माल या तो पैदावार का प्रधान तत्त्व होता है और या वह उसके निर्माण में केवल सहायक के रूप में भाग लेता है। सहायक या तो श्रम के औजारों के द्वारा खर्च हो सकता है, जैसे कोयला बायलर के नीचे जलाया जाता है, तेल पहिये में डाला जाता है और भूसा गाड़ी या हल खींचने वाले घोड़े को खिलाया जाता है, या उसे कच्चे माल में कोई परिवर्तन

---

[1] यह कहना एक विरोधाभासी कथन प्रतीत होता है कि मसलन जो मछलियां अभी तक पकड़ी नहीं गयी हैं, वे मछली-उद्योग में उत्पादन के साधनों का काम करती हैं। लेकिन अभी तक किसी ने उस पानी में से मछली पकड़ने की कला का आविष्कार नहीं किया है, जिसमें मछली है ही नहीं।

[2] अकेले श्रम-प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह निर्धारित करना कि उत्पादक श्रम क्या होता है,—यह तरीक़ा उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष रूप से हरगिज लागू नहीं होता।

पैदा करने के लिए उसमें मिला दिया जाता है, जैसे क्लोरीन मिलाकर कपड़े को सफ़ेद किया जाता है, कोयला लोहे में मिलाया जाता है और रंग ऊन में। या, इसी तरह, सहायक खुद काम करने में भी मददगार हो सकता है, जैसे वर्कशाप को गरम रखने और उसमें प्रकाश करने के लिए इस्तेमाल होने वाली सामग्री काम करने में मदद देती है। वास्तविक रासायनिक उद्योग में प्रधान तत्त्व और सहायक का भेद मिट जाता है, क्योंकि ऐसे उद्योगों में कोई सा भी कच्चा माल अपनी पुरानी बनावट के साथ पैदावार के द्रव्य में पुनः प्रकट नहीं होता।[1]

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं, और इसलिए उसके भिन्न-भिन्न ढंग के उपयोग किये जा सकते हैं। चुनांचे, एक पैदावार कई बहुत ही अलग-अलग क़िस्म की प्रक्रियाओं में कच्चे माल का काम कर सकती है। मिसाल के लिए, अनाज आटा पीसने वालों, स्टार्च बनाने वालों, शराब खींचने वालों और ढोर पालने वालों के काम में आता है। इसके साथ-साथ वह बीज की शकल में खुद अपने उत्पादन में भी कच्चे माल की तरह भाग लेता है। इसी तरह कोयला खान से कोयला निकालने के उद्योग की पैदावार भी है और उसमें उत्पादन के साधन का भी काम करता है।

फिर यह भी मुमकिन है कि कोई खास पैदावार एक ही प्रक्रिया में श्रम के औज़ार की तरह भी इस्तेमाल की जाये और कच्चे माल की तरह भी। मिसाल के लिए, ढोरों को खिला-पिलाकर मोटा करने की क्रिया को लीजिये। उसमें जानवर कच्चे माल का काम करता है और साथ ही खाद पैदा करने के औज़ार के रूप में भी काम में आता है।

सम्भव है कि कोई पैदावार तुरन्त उपयोग के लिए तैयार होते हुए भी किसी और पैदावार के कच्चे माल का काम करे, जैसे कि अंगूर, जब वे शराब के लिए कच्चे माल का काम करते हैं। दूसरी ओर, मुमकिन है कि श्रम अपनी पैदावार हमें ऐसे रूप में दे, जिसमें हम उसका केवल कच्चे माल की तरह ही इस्तेमाल कर सकें। कपास, धागा और सूत इसकी मिसालें हैं। इस तरह के कच्चे माल को, खुद पैदावार होते हुए भी, मुमकिन है कि अलग-अलग प्रक्रियाओं के एक पूरे क्रम से गुज़रना पड़े। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया में वह बारी-बारी से और लगातार बदलते हुए रूप में उस वक़्त तक कच्चे माल का काम करता जाता है, जब तक कि क्रम की अन्तिम प्रक्रिया उसे मुकम्मिल पैदावार नहीं बना देती। इस रूप में वह व्यक्तिगत उपभोग के लिए या श्रम के औज़ार की तरह इस्तेमाल में आने के लिए तैयार हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि किसी उपयोग-मूल्य को कच्चा माल समझा जाये, या श्रम का औज़ार माना जाये, या उसे पैदावार कहा जाये, यह पूर्णतया इस बात से निश्चित होता है कि वह उपयोग-मूल्य श्रम-प्रक्रिया में क्या कार्य करता है और उसमें उसकी क्या स्थिति होती है। स्थिति के बदलने के साथ-साथ उसका स्वरूप भी बदल जाता है।

इसलिए जब कभी कोई पैदावार उत्पादन के साधन के रूप में किसी नयी श्रम-प्रक्रिया में प्रवेश करती है, तब ऐसा करके वह पैदावार का रूप खो देती है और श्रम-प्रक्रिया का एक

---

[1] स्तोर्च ने सच्चे कच्चे मालों को "Matières" और सहायक सामग्री को "Matèriaux" कहा है। (H. Storch, "*Cours d'Economie Politique*", Paris, 1815, खण्ड १, अध्याय ६, भाग २, पृ० २८८।) शेरबूलियेज़ ने सहायकों को "matières instrumentales" का नाम दिया है। (Cherbuliez, "*Richesse ou Pauvreté*", Paris, 1841, पृ० १४।)

तत्त्व मात्र बन जाती है। सूत कातने वाला तकुओं को केवल कातने के औज़ार और सन को कातने की सामग्री समझता है। ज़ाहिर है कि बिना सामग्री के और बिना तकुओं के कातना असम्भव है; और इसलिए हमें यह मानकर चलना पड़ता है कि कातने की प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय ये चीज़ें पैदावार के रूप में पहले से मौजूद थीं। परन्तु खुद कातने की प्रक्रिया में इस बात का तनिक भी महत्त्व नहीं है कि ये चीज़ें पहले किये गये किसी श्रम की पैदावार हैं। यह उसी तरह की बात है, जैसे पाचन-प्रक्रिया में इसका ज़रा भी महत्त्व नहीं होता कि रोटी काश्तकार, आटा पीसने वाले और रोटी पकाने वाले के श्रम की पैदावार होती है। इसके विपरीत, किसी भी प्रक्रिया में जब उत्पादन के साधन पैदावार के रूप में अपनी याद दिलाते हैं, तब आम तौर पर उसका कारण पैदावार के रूप में उनके दोष होते हैं। एक कुंद चाकू या कमज़ोर धागा हमें ज़बर्दस्ती श्रीयुत 'क' नामक चाकू बनाने वाले या श्रीयुत 'ख' नामक कातने वाले की याद दिला देता है। तैयार पैदावार में वह श्रम दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसके द्वारा उस पैदावार ने अपने उपयोगी गुण प्राप्त किये हैं; लगता है कि जैसे वह ग़ायब हो गया हो।

श्रम के काम में न आने वाली मशीन बेकार होती है। इसके अलावा, वह प्राकृतिक शक्तियों के विनाशकारी प्रभावों का शिकार हो जाती है। लोहे में ज़ंग लग जाता है और लकड़ी सड़ जाती है। उस सूत में, जिससे हम न तो कपड़ा तैयार करते हैं और न बुनाई करते हैं, महज़ कपास बरबाद हुई है। जीवित श्रम को इन वस्तुओं को हाथ में लेकर उनको मृत्यु-निद्रा से जगाना चाहिए और मात्र संभावित उपयोग-मूल्यों से वास्तविक और प्रभावी उपयोग-मूल्यों में परिणत करना चाहिए। ये वस्तुएं जब श्रम की आग में तपती हैं, जब उनपर श्रम के संघटन के अभिन्न अंग के रूप में अधिकार कर लिया जाता है और जब उनमें इस उद्देश्य से कि वे श्रम-प्रक्रिया में अपनी भूमिका सम्पन्न कर सकें, मानो प्राणों का संचार कर दिया जाता है, तब ये वस्तुएं ख़र्च तो होती हैं, पर वे एक उद्देश्य के लिए ख़र्च होती हैं और ऐसे नये उपयोग-मूल्यों या नयी पैदावार के प्राथमिक संघटकों के रूप में ख़र्च होती हैं, जो व्यक्तिगत उपभोग के लिए जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में या किसी नयी श्रम-प्रक्रिया के लिए उत्पादन के साधनों के रूप में काम आने के वास्ते सदा तैयार रहते हैं।

चुनांचे, अगर एक तरफ़ तैयार पैदावार श्रम-प्रक्रिया का न सिर्फ़ फल होती है, बल्कि उसकी आवश्यक शर्त भी होती है, तो, दूसरी तरफ़, उपयोग-मूल्यों के उसके स्वरूप को क़ायम रखने और उसे सचमुच उपयोग में लाने का केवल यही एक तरीक़ा होता है कि उसे श्रम-प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाये और उसका जीवित श्रम से सम्पर्क स्थापित किया जाये।

श्रम अपने भौतिक उपकरणों का, अपनी विषय-वस्तु का और अपने औज़ारों का इस्तेमाल कर डालता है, उनका उपभोग करता है, और इसलिए वह उपभोग की प्रक्रिया होता है। इस प्रकार के उत्पादक उपभोग और व्यक्तिगत उपभोग में यह अन्तर होता है कि व्यक्तिगत उपभोग पैदावार को जीवित व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में ख़र्च करता है और उत्पादक उपभोग उसको उस एकमात्र साधन के रूप में ख़र्च करता है, जिसके द्वारा ही श्रम के लिए—या जीवित व्यक्ति की श्रम-शक्ति के लिए—कार्य करना सम्भव होता है। अतः व्यक्तिगत उपभोग की पैदावार खुद उपभोगी होता है, और उत्पादक उपभोग का फल उपभोगी से अलग एक पैदावार होती है।

इसलिए, जिस हद तक श्रम के औज़ार और उसकी विषय-वस्तु खुद पैदावार होती हैं, उस हद तक श्रम पैदावार को जन्म देने के लिए पैदावार ख़र्च करता है, या, दूसरे शब्दों में,

एक प्रकार की पैदावार को दूसरे प्रकार की पैदावार के उत्पादन के साधनों में परिणत करके खर्च करता है। लेकिन जिस प्रकार आरम्भ में श्रम-प्रक्रिया में भाग लेने वाले केवल मनुष्य और पृथ्वी, दो ही थे, जिनमें से पृथ्वी का अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र होता है, उसी प्रकार हम आज भी इस प्रक्रिया में उत्पादन के बहुत से ऐसे साधनों का इस्तेमाल करते हैं, जो हमें सीधे प्रकृति से मिलते हैं और जो प्राकृतिक पदार्थों के साथ मानव-श्रम के किसी मिलाप का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

ऊपर हमने श्रम-प्रक्रिया को उसके साधारण प्राथमिक तत्वों में परिणत कर दिया है। इस रूप में श्रम-प्रक्रिया उपयोग-मूल्यों के उत्पादन के उद्देश्य से की गयी मानव की कार्यवाही है; वह प्राकृतिक पदार्थों को मानव-आवश्यकताओं के अनुकूल बनाकर उनको हस्तगत करने की प्रक्रिया है; वह मनुष्य और प्रकृति के बीच पदार्थ का विनिमय सम्पन्न करने की आवश्यक शर्त है; वह मानव-अस्तित्व की शर्त है, जिसे प्रकृति ने सदा-सदा के लिए अनिवार्य बना दिया है, और इसलिए वह इस अस्तित्व के प्रत्येक सामाजिक रूप से स्वतंत्र होती है, या सम्भवतः यह कहना ज्यादा सही होगा कि वह ऐसे प्रत्येक रूप में सामान्यतः मौजूद होती है। इसलिए हम जिस मजदूर पर विचार कर रहे हैं, उसका ऊपर अन्य मजदूरों के सम्बंध में वर्णन करने की आवश्यकता नहीं थी। एक तरफ़ मनुष्य और उसका श्रम और दूसरी तरफ़ प्रकृति और उसकी सामग्रियां ही बस काफ़ी थीं। जिस प्रकार दलिया चखकर यह नहीं बताया जा सकता कि जई किसने बोयी थी, उसी प्रकार खुद इस सरल श्रम-प्रक्रिया से हमें यह नहीं पता चलता कि वह किन सामाजिक परिस्थितियों के अन्तर्गत हो रही है। वह खुद हमें यह नहीं बताती कि वह गुलामों के बेरहम मालिक के कोड़े के नीचे सम्पन्न हो रही है या पूंजीपति की चिन्तित दृष्टि के नीचे, कोई सिंसिन्नटुस अपना छोटा सा खेत जोतकर उसे सम्पन्न कर रहा है या कोई जंगली आदमी वन्य पशुओं को पत्थरों से मार-मारकर उसे पूरा कर रहा है।[1]

आइये, अब हम अपने भावी पूंजीपति की ओर लौट चलें। हम उससे उस वक़्त अलग हुए थे, जब उसने खुली मण्डी में श्रम-प्रक्रिया के तमाम आवश्यक उपकरण—वस्तुगत उपकरण, यानी उत्पादन के साधन, और वैयक्तिक उपकरण, यानी श्रम-शक्ति, दोनों बस—ख़रीदे ही थे। एक विशेषज्ञ की पैनी दृष्टि से उसने अपने विशेष व्यवसाय के लिए,—वह चाहे कातने का व्यवसाय हो, चाहे जूते बनाने का और चाहे किसी और क़िस्म का,—सबसे अधिक उपयुक्त ढंग के उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति चुन ली थी। उसके बाद वह श्रम-शक्ति नामक उस माल का, जिसको उसने कुछ समय पहले ही ख़रीदा है, उपभोग करना आरम्भ करता है। इसके लिए वह उस श्रम-शक्ति की साकार मूर्ति—मजदूर—से उसके श्रम के द्वारा

---

[1] अपनी तर्क-शक्ति का चमत्कारिक प्रयोग करते हुए कर्नल टोरेन्स ने जंगली आदमी के इस पत्थर में पूंजी की उत्पत्ति का रहस्य खोज निकाला है। उन्होंने लिखा है: "वह (जंगली आदमी) वन्य पशु का पीछा करते हुए उसपर जो पहला पत्थर फेंकता है, अपने सिर के ऊपर लटके हुए फल को नीचे गिराने के लिए जो लकड़ी हाथ में उठाता है, उसमें हम एक वस्तु के उपार्जन में मदद करने के उद्देश्य से एक दूसरी वस्तु का हस्तगतकरण होते हुए देखते हैं और इस तरह पूंजी की उत्पत्ति के रहस्य का आविष्कार कर डालते हैं।" (R. Torrens; *"An Essay on the Production of Wealth,"* &c. [आर० टोरेन्स, 'धन के उत्पादन के विषय में एक निबंध, इत्यादि'] पृ० ७०-७१।)

उत्पादन के साधनों का उपयोग कराता है। श्रम-प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप में इस बात से, ज़ाहिर है, कोई अन्तर नहीं पड़ता कि मज़दूर यहां ख़ुद अपने लिए काम करने के बजाय पूंजीपति के लिए काम करता है। इसके अलावा, जूते बनाने या कातने में जिन ख़ास तरीक़ों और प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है, पूंजीपति के हस्तक्षेप से उनमें तुरन्त कोई परिवर्तन नहीं आ जाता है। मण्डी में जैसी भी श्रम-शक्ति मिलती हो, शुरू में पूंजीपति को उसी से आरम्भ करना पड़ता है, और इसलिए उसे उसी प्रकार के श्रम से संतोष करना पड़ता है, जिस प्रकार का श्रम पूंजीपतियों के उदय के ठीक पहले वाले काल में मिलता था। श्रम के पूंजी के अधीन हो जाने के कारण उत्पादन के तरीक़ों में होने वाले परिवर्तन केवल बाद के काल में आते हैं, और इसलिए उनपर हम बाद के किसी अध्याय में विचार करेंगे।

श्रम-प्रक्रिया जब उस प्रक्रिया में बदल जाती है, जिसके ज़रिये पूंजीपति श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, तब उसमें दो ख़ास विशेषताएं दिखाई देने लगती हैं। एक तो यह कि मज़दूर उस पूंजीपति के नियंत्रण में काम करता है, जो उसके श्रम का स्वामी होता है, और पूंजीपति इस बात का पूरा ख़याल रखता है कि काम ठीक ढंग से हो और उत्पादन के साधनों का बुद्धिमानी के साथ प्रयोग किया जाये, ताकि कच्चे माल का अनावश्यक अपव्यय न हो और काम में औज़ारों की जितनी घिसाई लाज़िमी है, वे उससे ज़्यादा न घिसने पायें।

दूसरे यह कि अब पैदावार मज़दूर की – यानी उसके तात्कालिक उत्पादक की – सम्पत्ति न होकर पूंजीपति की सम्पत्ति होती है। मान लीजिये कि एक पूंजीपति दिन भर की श्रम-शक्ति के दाम उसके मूल्य के अनुसार चुका देता है। तब उसको किसी भी अन्य माल की तरह, मिसाल के लिए, दिन भर के वास्ते किराये पर लिये गये घोड़े की भांति उस श्रम-शक्ति के भी दिन भर के उपयोग का अधिकार होता है। किसी माल के उपयोग का अधिकार उसके ख़रीदार को होता है, और जब श्रम-शक्ति का विक्रेता अपना श्रम देता है, तब वह असल में इससे अधिक कुछ नहीं करता कि उसने जो उपयोग-मूल्य बेच दिया है, उसे अब वह हस्तांतरित कर देता है। वह जिस क्षण से वर्कशाप में क़दम रखता है, उसी क्षण से उसकी श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य पर और इसलिए उसके उपयोग पर भी, अर्थात् मज़दूर के श्रम पर भी, पूंजीपति का अधिकार हो जाता है। श्रम-शक्ति ख़रीदकर पूंजीपति पैदावार के निर्जीव संघटकों में सजीव किण्व के रूप में श्रम का समावेश कर देता है। उसके दृष्टिकोण से श्रम-प्रक्रिया ख़रीदे हुए माल का, अर्थात् श्रम-शक्ति का, उपभोग करने से अधिक और कुछ नहीं होती, लेकिन इस उपभोग को कार्यान्वित करने का इसके सिवा और कोई तरीक़ा नहीं है कि श्रम-शक्ति को उत्पादन के साधन दिये जायें। श्रम-प्रक्रिया उन चीज़ों के बीच होने वाली प्रक्रिया है, जिनको पूंजीपति ने ख़रीद लिया है और जो उसकी सम्पत्ति हो गयी हैं। चुनांचे, जिस तरह पूंजीपति के तहख़ाने में होने वाली किण्वन की प्रक्रिया की पैदावार – शराब – पूंजीपति की सम्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार श्रम-प्रक्रिया की पैदावार भी उसकी सम्पत्ति होती है।[1]

---

[1] "पैदावार को पूंजी में बदलने के पहले उसे हस्तगत कर लिया जाता है; यह रूपान्तरण उसे हस्तगतकरण से नहीं बचा सकता।" (Cherbuliez, "*Richesse ou Pauvreté*", Paris का संस्करण, 1841, पृ० ५४।) "जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में अपना श्रम बेचकर सर्वहारा पैदावार में हिस्सा बंटाने का अपना हर तरह का दावा त्याग देता है। पैदावार हस्तगत करने का ढंग पहले जैसा ही रहता है; ऊपर हमने

## अनुभाग २ – अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

पूंजीपति जिस पैदावार पर अधिकार कर लेता है, वह उपयोग-मूल्य होती है, जैसे, मिसाल के लिए, सूत या जूते। लेकिन यद्यपि एक अर्थ में जूते समस्त सामाजिक प्रगति का आधार होते हैं और हमारा पूंजीपति निश्चित रूप से "प्रगतिवादी" है, फिर भी वह केवल जूतों के लिए जूते नहीं बनाता। मालों के उत्पादन में उपयोग-मूल्य ऐसी वस्तु कदापि नहीं होता, "qu'on aime pour lui-même" ("जिससे केवल उसी के लिए प्यार किया जाता हो")। पूंजीपति उपयोग-मूल्यों को केवल इसीलिये और उसी हद तक तैयार करते हैं, जिस हद तक कि वे विनिमय-मूल्य के भौतिक आधार, या विनिमय-मूल्य के भण्डार, होते हैं। हमारे पूंजीपति के सामने दो उद्देश्य होते हैं। एक तो वह कोई ऐसा उपयोग-मूल्य तैयार करना चाहता है, जिसका विनिमय-मूल्य हो, यानी वह कोई ऐसी वस्तु तैयार करना चाहता है, जो बेची जा सके, या यूं कहिये कि वह कोई माल तैयार करना चाहता है। दूसरे, वह कोई ऐसा माल तैयार करना चाहता है, जिसका मूल्य उसके उत्पादन में इस्तेमाल होने वाले मालों के कुल मूल्य से ज्यादा हो, यानी जिसका मूल्य, पूंजीपति ने मण्डी में अपनी खरी मुद्रा के द्वारा उत्पादन के जो साधन और जो श्रम-शक्ति खरीदी है, उनके कुल मूल्य से अधिक हो। पूंजीपति का उद्देश्य केवल कोई उपयोग-मूल्य पैदा करना नहीं, बल्कि कोई माल पैदा करना है; केवल उपयोग-मूल्य पैदा करना नहीं, बल्कि मूल्य पैदा करना है; केवल मूल्य नहीं, बल्कि अतिरिक्त मूल्य पैदा करना है।

हमें यह याद रखना चाहिये कि अब हम मालों के उत्पादन की चर्चा कर रहे हैं और यहां तक हमने इस प्रक्रिया के केवल एक पहलू पर ही विचार किया है। जिस प्रकार माल उपयोग-मूल्य भी होते हैं और मूल्य भी, उसी प्रकार मालों को पैदा करने की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से श्रम-प्रक्रिया होती है और साथ ही मूल्य पैदा करने की भी प्रक्रिया होती है।[1]

---

जिस सौदे का ज़िक्र किया है, उससे इसमें कोई तबदीली नहीं आती। पैदावार पर एकमात्र उस पूंजीपति का अधिकार होता है, जिसने कच्चा माल तथा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं जुटायी हैं। और यह हस्तगतकरण के उस नियम का कठोर परिणाम होता है, जिसका मूल सिद्धान्त इसके ठीक उलट है, यानी जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि हर मजदूर जो कुछ पैदा करता है, उसपर एकमात्र उस मजदूर का ही अधिकार होता है।" (उप० पु०, पृ० ५८।) "जब मजदूरों को अपने श्रम की मजदूरी मिल जाती है... तब पूंजीपति न केवल पूंजी का" (पूंजी से उसका मतलब उत्पादन के साधनों से है), "बल्कि श्रम का भी स्वामी होता है। यदि जो कुछ मजदूरी के रूप में दिया जाता है, वह पूंजी की मद में शामिल कर लिया जाता है, जैसा कि आम चलन है, तो पूंजी से अलग श्रम की बात करना कोरी बकवास है। पूंजी शब्द का जब इस रूप में प्रयोग किया जाता है, तब उसमें श्रम और पूंजी दोनों शामिल होते हैं।" (James Mill, "*Elements of Pol. Econ.*," &c. [जेम्स मिल, 'अर्थशास्त्र के तत्त्व', इत्यादि], 1821, पृ० ७०, ७१।)

[1] जैसा कि एक फ़ुटनोट में पहले कहा जा चुका है, श्रम के इन दो पहलुओं के लिए अंग्रेजी भाषा में दो अलग-अलग शब्द हैं। साधारण श्रम-प्रक्रिया में, अर्थात् उपयोग-मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में, श्रम Work कहलाता है; मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वह Labour कहलाता है, और यहां पर Labour का उसके विशुद्ध आर्थिक अर्थ में प्रयोग किया जाता है।—फ़्रे० एं०

आइये, अब हम उत्पादन पर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया के रूप में विचार करें।

हम जानते हैं कि हरेक माल का मूल्य उसपर ख़र्च किये गये तथा उसमें मूर्त होने वाले श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, या यूं कहिये कि कुछ निश्चित सामाजिक परिस्थितियों में प्रत्येक माल के उत्पादन के लिए जितना श्रम-काल आवश्यक होता है, उसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है। पूंजीपति के लिए जो श्रम-प्रक्रिया सम्पन्न की गयी है, उससे उसको जो पैदावार मिलती है, उसपर भी यही नियम लागू होता है। मान लीजिये कि यह पैदावार है १० पौण्ड सूत। अब हमारा पहला क़दम यह होना चाहिए कि हम हिसाब लगाकर देखें कि उसमें श्रम की कितनी मात्रा लगी है।

सूत कातने के लिए कच्चा माल ज़रूरी होता है। मान लीजिये कि इसके लिए १० पौण्ड कपास की ज़रूरत होती है। फ़िलहाल हमें इस कपास के मूल्य की छानबीन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम यह मानकर चलेंगे कि हमारे पूंजीपति ने कपास उसका पूरा मूल्य – यानी दस शिलिंग – देकर ख़रीदी है। इस दाम में कपास के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम ने समाज के औसत श्रम के रूप में पहले ही से अभिव्यक्ति प्राप्त कर ली है। इसके अलावा, हम यह भी मानकर चलेंगे कि तकुए की घिसाई, जिसे यहां पर श्रम के अन्य तमाम औज़ारों का प्रतिनिधि माना जा सकता है, २ शिलिंग के मूल्य के बराबर बैठती है। तब यदि बारह शिलिंग सोने की जितनी मात्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसे पैदा करने में श्रम के चौबीस घण्टे – या काम के दो दिन – लग जाते हैं, तो इससे सर्वप्रथम हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सूत में दो दिन का श्रम समाविष्ट है।

हमको इस बात से ग़लतफ़हमी में नहीं पड़ जाना चाहिए कि कपास ने जहां एक नयी शकल अख़्तियार कर ली है, वहां तकुए का द्रव्य किसी हद तक ख़र्च हो गया है। मूल्य के सामान्य नियम के अनुसार, यदि ४० पौण्ड सूत का मूल्य = ४० पौण्ड कपास का मूल्य + पूरे एक तकुए का मूल्य, अर्थात् यदि इस समीकरण के दोनों ओर के मालों को पैदा करने में बराबर श्रम-काल लगता है, तो १० पौण्ड सूत १० पौण्ड कपास और उसके साथ-साथ चौथाई तकुए का सम-मूल्य होता है। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें एक ओर तो १० पौण्ड सूत में और दूसरी ओर १० पौण्ड कपास तथा तकुए के एक अंश में बराबर-बराबर श्रम-काल ने भौतिक रूप धारण किया है। इसलिए मूल्य चाहे कपास के रूप में प्रकट हो, चाहे तकुए के रूप में और चाहे सूत के रूप में, उससे उस मूल्य की मात्रा में कोई अन्तर नहीं आता। तकुआ और कपास चुपचाप साथ-साथ पड़े रहने के बजाय श्रम-प्रक्रिया में मिलकर भाग लेते हैं, उनके रूप परिवर्तित हो जाते हैं और वे सूत में बदल जाते हैं। लेकिन जैसे कपास और तकुए का सूत के साथ साधारण विनिमय करने से उनके मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता, उसी तरह श्रम-प्रक्रिया द्वारा उनके सूत में रूपान्तरित हो जाने से भी उनके मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता।

कपास सूत का कच्चा माल है। उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम सूत को पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम का एक भाग होता है, और इसलिए वह सूत में निहित होता है। तकुए में निहित श्रम के लिए भी यह बात सही है, क्योंकि उसके घिसे बिना कपास काती नहीं जा सकती।

इसलिए, सूत का मूल्य निर्धारित करते हुए, या सूत के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल निर्धारित करते हुए, हमें पहले कपास और तकुए का घिसा हुआ हिस्सा पैदा करने के

लिए और बाद में कपास और तकुए से सूत कातने के लिए अलग-अलग समय पर और अलग-अलग स्थानों पर जितने प्रकार की विशिष्ट प्रक्रियाओं को सम्पन्न करना आवश्यक होता है, उन सब को कुल मिलाकर एक ही प्रक्रिया की क्रमानुसार सामने आने वाली भिन्न-भिन्न अवस्थाएं समझना चाहिए। सूत में लगा हुआ सारा श्रम भूतपूर्व श्रम है; और इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि सूत के संघटक तत्त्वों के उत्पादन के लिए आवश्यक प्रक्रियाएं ऐसे समय पर हुई थीं, जो कातने की अन्तिम प्रक्रिया की अपेक्षा वर्तमान समय की तुलना में बहुत पहले की बात है। यदि एक मकान बनाने के लिए श्रम की एक निश्चित मात्रा, मान लीजिये, तीस दिन आवश्यक होते हैं, तो मकान में लगे श्रम की कुल मात्रा में इससे कोई फ़र्क़ नहीं आता कि अन्तिम दिन का काम पहले दिन के काम के उनतीस दिन बाद किया जाता है। इसलिए कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों में लगे श्रम के बारे में यह समझा जा सकता है कि यह श्रम सचमुच कताई का श्रम आरम्भ होने के पहले कातने की प्रक्रिया की एक प्रारम्भिक अवस्था में ख़र्च हुआ था।

इसलिए, उत्पादन के साधनों के मूल्य, अर्थात् कपास और तकुए के मूल्य, जो १२ शिलिंग के दाम में अभिव्यक्त होते हैं, सूत के मूल्य के—या, दूसरे शब्दों में, पैदावार के मूल्य के—संघटक अंग होते हैं।

लेकिन इस सब के बावजूद दो शर्तों का पूरा होना ज़रूरी है। एक तो यह ज़रूरी है कि कपास और तकुए ने मिलकर कोई उपयोग-मूल्य पैदा किया हो। हमारी मिसाल में उनका सूत पैदा करना ज़रूरी है। मूल्य इस बात से स्वतंत्र है कि उसका भण्डार कौनसा विशिष्ट उपयोग-मूल्य है, लेकिन उसका किसी न किसी उपयोग-मूल्य में साकार होना ज़रूरी है। दूसरे, यह ज़रूरी है कि हम जिन सामाजिक परिस्थितियों को मानकर चल रहे हों, उनके अन्तर्गत जितना समय सचमुच आवश्यक हो, उत्पादन के श्रम में उससे ज़्यादा समय न लगने पाये। चुनांचे, अगर १ पौण्ड सूत कातने के लिए १ पौण्ड से ज़्यादा कपास की ज़रूरत नहीं होती, तो हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि १ पौण्ड सूत के उत्पादन में इससे ज़्यादा कपास ख़र्च न होने पाये। और यही बात तकुए के बारे में भी है। हो सकता है कि हमारे पूंजीपति को इस्पात के तकुए की जगह पर सोने का तकुआ इस्तेमाल करने का शौक़ चर्राया हो, मगर फिर भी सूत के मूल्य के लिए केवल उसी श्रम का कोई महत्त्व होगा, जो इस्पात का तकुआ तैयार करने के लिए ज़रूरी होगा, क्योंकि हम जिन सामाजिक परिस्थितियों को मानकर चल रहे हैं, उनमें इससे अधिक श्रम आवश्यक नहीं है।

अब हम यह जान गये कि सूत के मूल्य का कितना हिस्सा कपास और तकुए के कारण है। वह बारह शिलिंग या दो दिन के काम के मूल्य के बराबर बैठता है। अब आगे हमें इस बात पर विचार करना है कि कातने वाले का श्रम कपास में सूत के मूल्य का कितना भाग जोड़ता है।

श्रम-प्रक्रिया के दौरान में इस श्रम का जो पहलू सामने आया था, अब हमें उससे एक बहुत भिन्न पहलू पर विचार करना है। तब हमने उसपर केवल उस ख़ास ढंग की मानव-क्रियाशीलता के रूप में विचार किया था, जो कपास को सूत में बदल देती है। तब, अन्य बातों के समान रहते हुए, श्रम काम के जितना अधिक उपयुक्त होता था, उतना ही अच्छा सूत तैयार होता था। तब हमने कातने वाले के श्रम को उत्पादक श्रम के अन्य तमाम रूपों से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार का श्रम माना था। वह उनसे एक तो अपने विशेष उद्देश्य के

कारण भिन्न था, क्योंकि उसका विशिष्ट उद्देश्य कताई करना था; और, दूसरे, वह इसलिए उनसे भिन्न था कि उसकी क्रियाएं एक ख़ास ढंग की थीं, उसके उत्पादन के साधन एक विशिष्ट प्रकार के थे और उसकी पैदावार का एक विशेष उपयोग-मूल्य था। कताई की क्रिया के लिए कपास और तकुए बिल्कुल ज़रूरी हैं, मगर पेचदार नली वाली तोप बनाने के लिए वे कुछ भी काम नहीं आयेंगे। लेकिन यहां पर चूंकि हम कातने वाले के श्रम की ओर केवल उसी हद तक ध्यान देते हैं, जिस हद तक कि वह मूल्य पैदा करने वाला श्रम है, अर्थात् जिस हद तक कि वह मूल्य का स्रोत है, इसलिए यहां पर कातने वाले का श्रम तोप में पेचदार नली बनाने वाले आदमी के श्रम से या (जिससे हमारा ज़्यादा नज़दीक का सम्बंध है) सूत के उत्पादन के साधनों में निहित कपास की खेती करने वाले के श्रम और तकुए बनाने वाले के श्रम से किसी तरह भी भिन्न नहीं है। केवल इस एकरूपता के कारण ही कपास की खेती करना, तकुए बनाना और कातना एक सम्पूर्ण इकाई के – अर्थात् सूत के मूल्य के – ऐसे संघटक भाग हो सकते हैं, जो केवल परिमाणात्मक दृष्टि से ही एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यहां हमारा श्रम के गुण, स्वभाव और विशिष्ट स्वरूप से कोई सम्बंध नहीं रहता, केवल उसकी मात्रा से सम्बंध होता है। इसका महज़ हिसाब लगाना होता है। हम यह मानकर चलते हैं कि कताई साधारण, अनिपुण श्रम है, कि वह समाज की एक निश्चित अवस्था का औसत श्रम है। आगे हम देखेंगे कि अगर हम इसकी उल्टी बात मानकर चलें, तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

जब मज़दूर काम करता है, तब उसका श्रम लगातार रूपान्तरित होता जाता है: वह गतिवान से एक गतिहीन वस्तु में बदलता जाता है; वह कार्य-रत मज़दूर के बजाय उत्पादित वस्तु बन जाता है। एक घण्टे की कताई समाप्त होने पर उस कार्य का प्रतिनिधित्व सूत की एक निश्चित मात्रा करती है। दूसरे शब्दों में, श्रम की एक निश्चित मात्रा, यानी एक घण्टे का श्रम कपास में समाविष्ट हो जाता है। यहां हम कहते हैं "श्रम" यानी "कातने वाले का अपनी जीवन-शक्ति को ख़र्च करना"। यहां हम "कताई का श्रम" नहीं कहते, – कारण कि यहां कताई के विशेष काम का केवल उसी हद तक महत्त्व है, जिस हद तक कि उसमें आम तौर पर श्रम-शक्ति ख़र्च होती है, और उसका महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह कातने वाले का एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है।

जिस प्रक्रिया पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें इस बात का अत्यधिक महत्त्व होता है कि कपास को सूत में रूपान्तरित करने के काम में जितना समय किन्हीं ख़ास सामाजिक परिस्थितियों में लगना चाहिए, उससे अधिक न लगने पाये। यदि उत्पादन की सामान्य – अथवा औसत – सामाजिक परिस्थितियों में 'क' पौण्ड कपास को 'ख' पौण्ड सूत में बदलने में एक घण्टे का श्रम लगता है, तो एक दिन का श्रम उस वक़्त तक १२ घण्टे का श्रम नहीं माना जा सकता जब तक कि वह १२'क' पौण्ड कपास को १२'ख' पौण्ड सूत में न बदल दे। कारण कि मूल्य के सृजन में केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल का ही महत्त्व होता है।

अब न केवल श्रम, बल्कि कच्चा माल और पैदावार भी एक नये रूप में हमारे सामने आते हैं। वह नया रूप उस रूप से बहुत भिन्न है, जिसमें वे विशुद्ध और मात्र श्रम-प्रक्रिया के दौरान में हमारे सामने आये थे। अब कच्चा माल केवल श्रम की एक निश्चित मात्रा के अवशोषक का काम करता है। इस अवशोषण के द्वारा वह, वास्तव में, सूत में बदल जाता है, क्योंकि वह कात दिया जाता है, क्योंकि कताई के रूप में उसके साथ श्रम-शक्ति जोड़ दी जाती

है। लेकिन अब पैदावार, यानी सूत, कपास द्वारा अवशोषित श्रम के मापक से अधिक और कुछ नहीं है। यदि एक घण्टे में $१\frac{२}{३}$ पौण्ड कपास को कातकर $१\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत तैयार किया जा सकता है, तो १० पौण्ड सूत का मतलब है कि ६ घण्टे के श्रम का अवशोषण हुआ है। पैदावार की निश्चित मात्राएं – और ये मात्राएं अनुभव से निर्धारित की जाती हैं – अब श्रम की निश्चित मात्राओं के सिवा, स्फटिकीकृत श्रम-काल की निश्चित राशियों के सिवा, अन्य किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे इतने घण्टे या इतने दिन के सामाजिक श्रम के मूर्त्त रूप से अधिक और कुछ नहीं होतीं।

जिस तरह यहां हमारा इस तथ्य से कोई खास सम्बंध नहीं है कि हमारे उदाहरण में क्रिया की विषय-वस्तु खुद एक पैदावार है और इसलिए कच्चा माल है, उसी तरह हमारा इन तथ्यों से भी यहां कोई खास सम्बंध नहीं है कि इस उदाहरण में श्रम का रूप कताई का खास काम है, उसकी विषय-वस्तु कपास है और उसकी पैदावार सूत है। यदि कातने वाला कताई करने के बजाय कोयले की खान में काम करता होता, तो उसके श्रम की विषय-वस्तु – कोयला – उसे प्रकृति से मिल जाती। फिर भी खान में से निकाले हुए कोयले की एक निश्चित मात्रा – मिसाल के लिए, एक हण्ड्रेडवेट – उसमें अवशोषित श्रम की एक निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करती।

जब श्रम-शक्ति की बिक्री हुई थी, तब हमने यह माना था कि एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग है और तीन शिलिंग की रक़म में ६ घण्टे का श्रम निहित होता है, – अतः मजदूर को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की औसतन जितनी मात्रा की हर रोज जरूरत होती है, उनको पैदा करने के लिए ६ घण्टे का श्रम आवश्यक होता है। अब यदि हमारा कातने वाला एक घण्टे तक काम करके $१\frac{२}{३}$ पौण्ड कपास को $१\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत में बदल सकता है,[1] तो वह छः घण्टे में १० पौण्ड कपास को १० पौण्ड सूत में बदल देगा। इस तरह, कपास कताई की प्रक्रिया के दौरान में छः घण्टे के श्रम का अवशोषण कर लेती है। इतनी ही मात्रा का श्रम तीन शिलिंग के मूल्य के सोने के टुकड़े में भी निहित होता है। चुनांचे केवल कताई के श्रम के द्वारा कपास में तीन शिलिंग का मूल्य जुड़ जाता है।

अब आइये, हम पैदावार के – यानी १० पौण्ड सूत के – कुल मूल्य पर विचार करें। उसमें ढाई दिन का श्रम लगा है, जिसमें से दो दिन का श्रम कपास और तकुए के घिसने वाले अंश में निहित था और आधे दिन के श्रम का कताई की प्रक्रिया के दौरान में कपास ने अवशोषण कर लिया है। पन्द्रह शिलिंग के मूल्य का सोने का टुकड़ा भी इस ढाई दिन के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। चुनांचे, १० पौण्ड सूत के लिए पन्द्रह शिलिंग पर्याप्त दाम है, या यूं कहिये कि एक पौण्ड सूत का सही दाम अठारह पेंस है।

पर यह सुनकर हमारा पूंजीपति तो अचम्भे में पड़ जाता है। जितने मूल्य की पूंजी लगायी गयी थी, ठीक उतने ही मूल्य की पैदावार हुई। उसमें जो मूल्य लगाया था, वह बढ़ा नहीं, अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा हुआ, और चुनांचे मुद्रा पूंजी में नहीं बदली गयी। सूत का दाम पन्द्रह शिलिंग है, और पन्द्रह शिलिंग ही खुली मण्डी में पैदावार के संघटक तत्त्वों को –

---

[1] ये संख्याएं हमने अपने मन से मान ली हैं।

या, जो कि एक ही बात है, श्रम-प्रक्रिया के उपकरणों को–खरीदने पर खर्च हुए थे। दस शिलिंग उसे कपास के लिए, दो शिलिंग तकुए के घिसने वाले अंश के लिए और तीन शिलिंग श्रम-शक्ति के लिए देने पड़े थे। सूत के बढ़े हुए मूल्य से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह तो उन मूल्यों का जोड़ भर है, जो पहले कपास, तकुए तथा श्रम-शक्ति में मौजूद थे। पहले से मौजूद मूल्यों को इस तरह महज जोड़ देने से अतिरिक्त मूल्य पैदा नहीं हो सकता है।[1] अब ये तमाम अलग-अलग मूल्य एक चीज में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। परन्तु उसके पहले वे पन्द्रह शिलिंग की रक़म में केन्द्रीभूत थे; बाद में, मालों की खरीद होने पर, वह रक़म तीन अलग-अलग हिस्सों में बंट गयी थी।

इस नतीजे में दर असल कोई अजीब बात नहीं है। यदि एक पौण्ड सूत का मूल्य अठारह पेंस है, तो मण्डी में १० पौण्ड सूत खरीदने के लिए हमारे पूंजीपति को पन्द्रह शिलिंग देने पड़ेंगे। जाहिर है कि आदमी चाहे बना-बनाया मकान खरीदे और चाहे अपने लिए मकान बनवाये, मकान हासिल करने के ढंग का मकान में लगने वाली मुद्रा की राशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

तभी हमारा पूंजीपति, जो घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र में सिद्धहस्त है, बोल उठता है: "वाह! लेकिन मैंने तो स्पष्टतः इसी उद्देश्य से अपनी मुद्रा लगायी थी कि उससे ज्यादा मुद्रा कमाऊंगा!" पर उद्देश्यों से क्या होता है? कहावत है कि नरक का रास्ता भी सदुद्देश्यों का बना होता है। उसका उद्देश्य तो बिना कुछ उत्पादन किये ही मुद्रा कमा लेना भी हो सकता था।[2] इसपर हमारा पूंजीपति एकदम आग बबूला हो जाता है। वह धमकी देता है कि अब आगे

---

[1] यही वह मूल स्थापना है, जिसपर फ़िजिओक्रेट्स का यह सिद्धान्त आधारित है कि खेती के सिवा और सब प्रकार का श्रम अनुत्पादक होता है। परम्परानिष्ठ अर्थशास्त्री इस तर्क का खण्डन नहीं कर सकते। "Cette façon d'imputer á une seule chose la valeur de plusieurs autres" (par exemple au lin la consommation du tisserand), "d'appliquer, pour ainsi dire, couche sur couche, plusieurs valeurs sur une seule, fait que celle-ci grossit d'autant ... Le terme d'addition peint trés-bien la manière dont se forme le prix des ouvrages de main-d'oeuvre; ce prix n'est qu'un total de plusieurs valeurs consommées et additionnées ensemble; or, additionner n'est pas multiplier." ["इस तरह एक चीज के मूल्य के साथ दूसरी कई चीजों का मूल्य जोड़ देने से" (मिसाल के लिए, सन के मूल्य के साथ बुनकर के जीवन-निर्वाह का खर्च जोड़ देने से), "या मानो एक मूल्य के ऊपर कई मूल्यों की तह पर तह लगा देने से उस मूल्य में सानुपातिक वृद्धि हो जाती है... दस्तकारी की चीजों का दाम जिस तरह बनता है, उसके लिए "जोड़ना" शब्द बहुत उपयुक्त है, क्योंकि ऐसी चीजों का दाम उनको तैयार करने में खर्च किये गये कई मूल्यों के जोड़ के सिवा और कुछ नहीं होता। लेकिन जोड़ना वही चीज नहीं है, जो गुणन है।"] (Mercier de la Rivière, उप० पु०, पृ० ५९९।)

[2] मिसाल के लिए, १८४४-४७ में उसने अपनी पूंजी उत्पादक उपयोग से हटाकर रेलों की सट्टेबाजी में झोंक दी थी, और इसी तरह अमरीका के गृह-युद्ध के समय उसने लिवरपूल के कपास के बाजार में सट्टा खेलने के लिए फ़ैक्टरी बन्द कर दी थी और अपने मजदूरों को सड़कों पर धकेल दिया था।

कभी धोखा नहीं खायेगा। भविष्य में वह माल खुद तैयार करने के बजाय मण्डी से खरीदा करेगा। लेकिन यदि उसके तमाम भाई-बन्द – दूसरे पूंजीपति – भी यही करने लगें, तब उसे मण्डी से माल कैसे मिलेगा? और अपनी मुद्रा को तो वह खा नहीं सकता। तब पूंजीपति चिकनी-चुपड़ी बातों का सहारा लेता और कहता है: "ज़रा इसका तो ख़याल करो कि मैंने कितने परिवर्जन से काम लिया है। मैं चाहता, तो १५ शिलिंग को यों ही लुटा देता। लेकिन उसके बजाय मैंने इस रक़म को उत्पादक ढंग से ख़र्च किया और उससे सूत तैयार किया।" बड़ी अच्छी बात है, और उसका उसे यह पुरस्कार भी मिल गया है कि यदि वह १५ शिलिंग को यों ही लुटा देता, तो उसकी आत्मा कचोटती, पर अब वह बढ़िया सूत का मालिक है। और जहां तक कंजूस की भूमिका अदा करने का सवाल है, सो फिर से ऐसी बुरी लत में पड़ जाने से उसका कोई भला नहीं होगा, क्योंकि हम पहले ही देख चुके हैं कि इस प्रकार की संन्यास-वृत्ति का क्या परिणाम होता है। इसके अलावा, जहां कुछ नहीं होता, वहां तो राजा का अधिकार भी ख़तम हो जाता है। उसका परिवर्जन चाहे जितना प्रशंसनीय हो, किन्तु यहां ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिससे ख़ास तौर पर उसके परिवर्जन का मुआवज़ा दिया जा सके, क्योंकि पैदावार का मूल्य महज़ उन मालों के मूल्य का जोड़ है, जो उत्पादन की प्रक्रिया में डाले गये थे। इसलिए अब तो वह केवल इसी विचार से अपने मन को दिलासा दे सकता है कि सत्कर्म स्वयं अपना पुरस्कार होता है। लेकिन नहीं, वह तो इसरार करने लगता है। वह कहता है: "सूत मेरे किसी काम का नहीं है, मैंने तो उसे बेचने के लिए तैयार किया था।" यदि यह बात है, तो उसे अपना सूत बेच देना चाहिए, या उससे भी बेहतर यह होगा कि भविष्य में वह केवल ऐसी चीज़ें तैयार करे, जिनकी उसे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़रूरत हो, – उसके चिकित्सक मैक्कुलक महाशय अति-उत्पादन की महामारी के लिए एक अचूक दवा के रूप में पहले ही इस औषधि का निर्देश कर चुके हैं। पर अब तो पूंजीपति ज़िद्दी हो जाता है। वह पूछता है: "क्या मज़दूर केवल अपने हाथों-पैरों से शून्य में से कोई चीज़ तैयार कर सकता है? क्या मैंने उसे वह सामग्री नहीं दी थी, जिसके द्वारा – और केवल जिसके द्वारा ही – उसका श्रम मूर्त रूप धारण कर सकता था? और समाज का अधिकांश चूंकि ऐसे साधनहीन लोगों का ही होता है, इसलिए क्या अपने उत्पादन के औज़ारों से, अपनी कपास और अपने तकुए से मैंने समाज की अगण्य सेवा नहीं की है? और समाज की ही क्यों, क्या मैंने उसके साथ-साथ मज़दूर की भी सेवा नहीं की है, जिसको मैंने इन चीज़ों के अलावा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं भी दी हैं? और क्या इस समस्त सेवा के बदले में मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा?" ठीक है, मगर क्या मज़दूर ने पूंजीपति की कपास और तकुए को सूत में बदलकर उसकी इसके बराबर सेवा नहीं कर दी है? इसके अलावा, यहां सेवा का कोई सवाल नहीं है।[1] सेवा किसी उपयोग-मूल्य के

---

[1] "अपनी चाहे जितनी तारीफ़ें करो, चाहे जैसी पोशाकें पहनो और चाहे जितने बन-ठन कर निकलो... लेकिन जो कोई भी, जितना वह देता है, यदि उससे ज्यादा या उससे बेहतर ले लेता है, तो वह सूदख़ोर है और वह अपने पड़ोसी की सेवा नहीं, बल्कि उसके साथ बुराई करता है चोर या डाकू की तरह ही। सेवा और उपकार कहलाने वाली हर चीज़ सचमुच पड़ोसी की सेवा और उपकार नहीं होती। जैसे कि एक व्यभिचारिणी और व्यभिचारी भी एक दूसरे की बड़ी सेवा करते हैं और एक दूसरे को बड़ा आनन्द देते हैं। घुड़सवार मुसाफ़िरों को लूटने और घरों तथा बस्तियों में डाका डालने में मदद देकर आगज़न की बड़ी सेवा करता है।

उपयोगी प्रभाव से अधिक और कुछ नहीं होती, वह उपयोग-मूल्य चाहे किसी माल का हो और चाहे श्रम का।[1] लेकिन यहां पर हम विनिमय-मूल्य की चर्चा कर रहे हैं। पूंजीपति ने मजदूर को ३ शिलिंग का मूल्य दिया था, और मजदूर ने उसे कपास में ३ शिलिंग का मूल्य और जोड़कर उसका पूरा सम-मूल्य वापिस कर दिया है, उसने मूल्य के बदले में मूल्य दिया है। इसपर हमारा मित्र, जो अभी तक अपनी थैली के घमण्ड से फूला हुआ था, यकायक खुद अपने मजदूर की सी विनय-मुद्रा बनाकर कहता है: "पर क्या मैंने कुछ काम नहीं किया है? क्या मैंने निरीक्षण का तथा कातने वाले पर निगाह रखने का श्रम नहीं किया है? और क्या इस श्रम से भी मूल्य उत्पन्न नहीं होता?" पूंजीपति का निरीक्षक तथा उसका मैनेजर यह बात सुनकर अपनी मुस्कराहट को छिपाने की कोशिश करते हैं। इस बीच पूंजीपति खूब दिल खोलकर हंसने के बाद फिर पहले जैसी मुद्रा बना लेता है। यद्यपि उसने हमें अर्थशास्त्रियों का पूरा पुराण पढ़ कर सुना दिया, पर वास्तव में उसका कहना है कि वह इस सब के लिए एक फूटी कौड़ी भी देने को तैयार नहीं है। इस तरह के हथकंडे और बाजीगरी के हाथ उसने अर्थशास्त्र के उन प्रोफ़ेसरों के लिए छोड़ रखे हैं, जिनको इस काम के पैसे मिलते हैं। वह खुद तो एक व्यावहारिक आदमी है; और यद्यपि अपने व्यवसाय के क्षेत्र के बाहर वह सदा बहुत सोच-समझकर बात नहीं करता, किन्तु अपने व्यवसाय से सम्बन्धित हर चीज वह बहुत समझ-बूझकर करता है।

आइये, इस मामले पर कुछ और गहराई में जाकर विचार करें। एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग होता है, क्योंकि हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके अनुसार इतनी श्रम-शक्ति में आधे दिन का श्रम निहित होता है, अर्थात् क्योंकि श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए रोजाना जिन जीवन-निर्वाह के साधनों की आवश्यकता होती है, उनमें आधे दिन का श्रम खर्च होता है। लेकिन श्रम-शक्ति में निहित भूतपूर्व श्रम और वह जीवन्त श्रम, जो यह श्रम-शक्ति व्यवहार में ला सकती है,—या श्रम-शक्ति को बनाये रखने की रोजाना की लागत और काम की शकल में श्रम-शक्ति का दैनिक व्यय,—ये दो बिल्कुल अलग-अलग चीजें होती हैं। पहला श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य निर्धारित करता है और दूसरा उसका उपयोग मूल्य है। इस बात से कि मजदूर को २४ घण्टे जिन्दा रखने के लिए केवल आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है, उसके दिन भर काम करने में कोई रुकावट पैदा नहीं होती। इसलिए, श्रम-शक्ति का मूल्य और वह मूल्य, जिसे यह श्रम-शक्ति श्रम-प्रक्रिया के दौरान में पैदा करती है, दो बिल्कुल भिन्न मात्राएं होते हैं। और श्रम-शक्ति खरीदते समय, वास्तव में, दो मूल्यों का यह अन्तर

---

पोपवादी हमारे लोगों की यह बड़ी सेवा करते हैं कि वे सब को नहीं डुबोते, जलाते और क़त्ल करते और न ही सब को जेल में सड़ने के लिए डाल देते हैं, बल्कि कुछ को ज़िन्दा रहने देते हैं और सिर्फ़ उनका सब कुछ छीन लेते हैं या उनको निर्वासित कर देते हैं। शैतान ख़ुद अपने सेवकों की अमूल्य सेवा करता है... सारांश यह कि दुनिया बड़ी-बड़ी, उत्तम और दैनिक सेवाओं और सत्कर्मों से भरी पड़ी है।" (Martin Luther, "*An die Pfarrherrn wider den Wucher zu predigen*", Wittenberg, 1540.)

[1] "*Zur Kritik der Pol. Oek.*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास') में पृ० १४ पर मैंने इस सम्बंध में यह कहा है: "यह समझना कठिन नहीं है कि "सेवा" ("service") के अन्तर्गत आने वाली "सेवा" को जे० बी० से और एफ० बास्तियात जैसे अर्थशास्त्रियों की क्या सेवा करनी चाहिए।"

पूंजीपति के सामने था। श्रम-शक्ति में जो उपयोगी गुण होते हैं और जिनके द्वारा वह सूत या जूते तैयार करती है, वे पूंजीपति की] दृष्टि में एक "conditio sine qua non" ("जरूरी शर्त") से अधिक और कुछ नहीं थे; कारण कि मूल्य पैदा करने के लिए श्रम का किसी उपयोगी ढंग से खर्च किया जाना जरूरी होता है। पूंजीपति पर असल में जिस चीज का प्रभाव पड़ा था, वह इस माल का यह विशिष्ट उपयोग-मूल्य है कि वह न केवल मूल्य का स्रोत है, बल्कि खुद उसमें जितना मूल्य होता है, वह उससे अधिक मूल्य पैदा कर सकता है। पूंजीपति श्रम-शक्ति से इस विशेष प्रकार की सेवा की आशा करता है, और इस सौदे में वह मालों के विनिमय के "शाश्वत नियमों" का ही पालन करता है। अन्य किसी भी तरह का माल बेचने वाले की तरह श्रम-शक्ति का विक्रेता भी उसका विनिमय-मूल्य वसूलता है और उसका उपयोग-मूल्य दूसरे को सौंप देता है। उपयोग-मूल्य दिये बिना वह विनिमय-मूल्य नहीं प्राप्त कर सकता। श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य पर—या, दूसरे शब्दों में, श्रम पर—उसके बेचने वाले का उतना ही अधिकार होता है, जितना तेल के उपयोग-मूल्य पर उसे बेच देने के बाद तेल के दूकानदार का होता है। मुद्रा के मालिक ने एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य दिया है; इसलिए एक दिन तक उसका उपयोग करने का उसे अधिकार है, एक दिन का श्रम उसकी सम्पत्ति है। इस स्थिति को कि एक तरफ़ तो श्रम-शक्ति के दैनिक पोषण में केवल आधे दिन का श्रम खर्च होता है और दूसरी तरफ़ यही श्रम-शक्ति पूरे दिन भर काम कर सकती है और इसलिए एक दिन में उसके उपयोग से पैदा होने वाला मूल्य श्रम-शक्ति के खरीदार द्वारा उसके उपयोग के एवज में दिये गये मूल्य का दुगना होता है,—इसे निस्सन्देह श्रम-शक्ति के खरीदार का सौभाग्य कहा जा सकता है, परन्तु वह श्रम-शक्ति के बेचने वाले के प्रति कोई अन्याय नहीं है।

हमारे पूंजीपति ने पहले ही यह परिस्थिति समझ ली थी, और यही उसके ठठाकर हंसने का कारण था। चुनांचे, जब मजदूर वर्कशाप में पहुंचता है, तो वहां उसे उत्पादन के इतने साधन तैयार मिलते हैं, जो केवल छः घण्टे तक नहीं, बल्कि बारह घण्टे तक काम करने के लिए काफ़ी हैं। जिस प्रकार छः घण्टे की प्रक्रिया में हमारी १० पौण्ड कपास ने छः घण्टे के श्रम का अवशोषण कर लिया था और वह १० पौण्ड सूत बन गयी थी, ठीक उसी प्रकार अब २० पौण्ड कपास १२ घण्टे के श्रम का अवशोषण कर लेगी और २० पौण्ड सूत में बदल जायेगी। आइये, अब हम इस लम्बी की गयी प्रक्रिया की पैदावार पर विचार करें। अब इस २० पौण्ड सूत में पांच दिन के श्रम ने भौतिक रूप धारण कर रखा है, जिसमें चार दिन का श्रम उसमें कपास और तकुए के घिस गये इस्पात के रूप में लगा है और बाक़ी एक दिन के श्रम का कताई की प्रक्रिया के दौरान में कपास ने अवशोषण कर लिया है। यदि उसे सोने के रूप में व्यक्त किया जाये, तो पांच दिन का श्रम तीस शिलिंग होता है। अतः २० पौण्ड का दाम ३० शिलिंग है, जिसके अनुसार एक पौण्ड का दाम फिर अठारह पेंस बैठता है। लेकिन प्रक्रिया में जितने मालों ने प्रवेश किया था, उनके मूल्यों का जोड़ २७ शिलिंग होता है। सूत का मूल्य ३० शिलिंग बैठता है। इसलिए पैदावार के उत्पादन में जितना मूल्य लगाया गया था, पैदावार का मूल्य उससे १/९ अधिक होता है। २७ शिलिंग ३० शिलिंग में बदल दिये गये हैं। यानी ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा हो गया है। आखिर चाल कामयाब रहती है,—मुद्रा पूंजी में बदल गयी है।

समस्या की हर शर्त पूरी कर दी गयी है, और मालों के विनिमय का नियमन करने वाले नियमों की भी किसी तरह अवहेलना नहीं हुई है। सम-मूल्य का सम-मूल्य के साथ विनिमय

किया गया है। कारण कि ग्राहक के रूप में पूंजीपति ने हर माल के–कपास, तकुए और श्रम-शक्ति के–दाम उसके पूरे मूल्य के अनुसार दिये हैं। उसके बाद उसने वही किया, जो मालों का हर ग्राहक करता है। उसने इन मालों के उपयोग-मूल्य का उपभोग किया। श्रम-शक्ति के उपभोग से, जो साथ ही मालों को पैदा करने की भी प्रक्रिया था, २० पौण्ड सूत तैयार हुआ, जिसका मूल्य ३० शिलिंग है। पूंजीपति, जो पहले ग्राहक था, अब मालों के विक्रेता के रूप में मण्डी में पहुंचता है। वह अपना सूत अठारह पेंस फ़ी पौण्ड के भाव से बेचता है, जो कि सूत का बिल्कुल सही मूल्य है। लेकिन, इस सब के बावजूद, परिचलन में उसने शुरू में जितनी रक़म डाली थी, वह उससे ३ शिलिंग ज्यादा बाहर निकाल लेता है। यह रूपान्तरण, मुद्रा का पूंजी में यह परिवर्तन, परिचलन के क्षेत्र के भीतर होते हुए भी उसके बाहर होता है। वह परिचलन के भीतर होता है, क्योंकि वह मण्डी में श्रम-शक्ति की ख़रीद के द्वारा निर्धारित होता है। वह परिचलन के बाहर होता है, क्योंकि परिचलन के भीतर जो कुछ होता है, वह अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का केवल प्रवेश-द्वार है और अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो पूरी तरह उत्पादन के क्षेत्र तक ही सीमित है। इस प्रकार, "tout est pour le mieux dans le meilleur des mondes possibles" ("सब मुमकिन दुनियाओं से अच्छी इस दुनिया में हर चीज़ अच्छाई के लिये ही है")।

अपनी मुद्रा को ऐसे मालों में बदलकर, जो एक नयी पैदावार के भौतिक तत्वों का और श्रम-प्रक्रिया के उपकरणों का काम करते हैं, और उनके निर्जीव द्रव्य के साथ जीवन्त श्रम का समावेश करके पूंजीपति साथ ही साथ मूल्य को–यानी मूर्त रूप धारण किये हुए भूतपूर्व मृत श्रम को–पूंजी में बदल देता है। वह मूल्य को ऐसे मूल्य में बदल देता है, जिसके गर्भ में और भी मूल्य होता है। वह उसे एक ऐसा ज़िन्दा दैत्य बना देता है, जो बच्चे देता है और अपनी नसल बढ़ाता है।

अब यदि हम मूल्य पैदा करने की और अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की इन दो प्रक्रियाओं का मुक़ाबला करते हैं, तो हम देखते हैं कि अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया इससे अधिक कुछ नहीं है कि मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया एक निश्चित बिन्दु से आगे जारी रहती है। एक ओर, यदि यह प्रक्रिया उस बिन्दु से आगे जारी नहीं रहती, जहां पर कि श्रम-शक्ति के लिये पूंजीपति द्वारा दिये गये मूल्य का स्थान उसका ठीक सम-मूल्य ग्रहण कर लेता है, तो वह केवल मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया रहती है। दूसरी ओर, यदि वह इस बिन्दु से आगे भी जारी रहती है, तो वह अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया बन जाती है।

यदि हम और आगे बढ़कर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया का विशुद्ध श्रम-प्रक्रिया के साथ मुक़ाबला करते हैं, तो पाते हैं कि विशुद्ध श्रम-प्रक्रिया वह उपयोगी श्रम है, या वह काम है, जो उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है। यहां हम किसी विशेष वस्तु को पैदा करने के रूप में श्रम पर विचार करते हैं। यहां पर हम केवल उसके गुणात्मक पहलू पर ही विचार करते हैं और उसके ध्येय तथा लक्ष्य को देखते हैं। लेकिन मूल्य पैदा करने वाली प्रक्रिया के रूप में विचार करने पर यही श्रम-प्रक्रिया केवल अपने परिमाणात्मक पहलू में सामने आती है। यहां एकमात्र यही सवाल होता है कि मज़दूर ने काम करने में कितना समय लगाया है। यहां पर केवल उस अवधि का प्रश्न होता है, जिसमें श्रम-शक्ति को उपयोगी ढंग से ख़र्च किया गया है। यहां जो माल प्रक्रिया में भाग लेते हैं, उनका किसी निश्चित उपयोगी वस्तु के उत्पादन में श्रम-शक्ति की आवश्यक सह-वस्तुओं के रूप में महत्व नहीं होता। उनका महत्व अब केवल अवशोषित

अथवा मूर्त रूप धारण किये हुए श्रम की किसी खास मात्रा के भण्डारों की शकल में होता है। यह श्रम चाहे उत्पादन के साधनों में पहले से निहित रहा हो और चाहे उसका पहली बार श्रम-शक्ति के कार्य द्वारा उनमें समावेश हुआ हो, दोनों सूरतों में वह केवल अपनी अवधि के अनुसार ही गिना जाता है। वह सदा इतने घण्टों या इतने दिनों का श्रम होता है।

इसके अलावा, किसी भी वस्तु के उत्पादन में जो समय खर्च होता है, उसका केवल उतना ही भाग गिना जाता है, जो किन्हीं निश्चित सामाजिक परिस्थितियों में सचमुच आवश्यक होता है। इसके कई नतीजे होते हैं। एक तो यह जरूरी हो जाता है। कि श्रम सामान्य परिस्थितियों में किया जाये। यदि कताई में आम तौर पर स्वचालित म्यूल-मशीन का प्रयोग हो रहा है, तो कातने वाले को चर्खा और पूनी देना बिल्कुल बेतुकी बात होगी। कपास भी इतनी रद्दी नहीं होनी चाहिये कि कातने में बहुत ज्यादा बरबाद हो जाये, बल्कि सही क़िस्म की होनी चाहिये। वरना कातने वाले को एक पौण्ड सूत कातने में जितना सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है, उससे ज्यादा समय खर्च करना पड़ेगा, और ऐसा होने पर न तो मूल्य पैदा होगा और न मुद्रा। लेकिन प्रक्रिया के भौतिक उपकरणों का सामान्य ढंग का होना या न होना मजदूर पर नहीं, बल्कि सर्वथा पूंजीपति पर निर्भर करता है। फिर खुद श्रम-शक्ति भी औसत कार्य-क्षमता वाली होनी चाहिए। जिस व्यवसाय में उसका प्रयोग हो रहा है, श्रम-शक्ति में उसमें प्रचलित औसत दर्जे की निपुणता, दक्षता और तेजी होनी चाहिए; और हमारे पूंजीपति ने इस प्रकार की सामान्य कार्य-क्षमता की श्रम-शक्ति खरीदने का खास ख़याल रखा था। इस श्रम-शक्ति का औसत दर्जे के प्रयास और प्रचलित तीव्रता के साथ प्रयोग होना चाहिए; और हमारे पूंजीपति को इस बात का उतना ही ख़याल रहता है, जितना उसे इस बात का रहता है कि उसके मजदूर एक क्षण के लिए भी खाली न बैठने पायें। उसने एक निश्चित अवधि के लिए श्रम-शक्ति का उपयोग करने का अधिकार खरीदा है, और वह अपने अधिकार का पूरा-पूरा प्रयोग करने पर उतारू है। वह इस बात के लिए क़तई तैयार नहीं है कि कोई उसे लूट कर चला जाये। आखिरी बात यह है—और इसके लिए हमारे मित्र ने अपना एक अलग Code pènal (दण्ड-विधान) बना रखा है—कि कच्चे माल या श्रम के औजारों के अपव्ययपूर्ण उपयोग की सख्त मनाही कर दी गयी है। कारण कि इस तरह जो कुछ जाया हो जाता है, वह फ़ालतू ढंग से खर्च कर दिये गये श्रम का प्रतिनिधित्व करता है; लेकिन ऐसा श्रम पैदावार में नहीं गिना जाता या उसके मूल्य में प्रवेश नहीं करता।[1]

---

[1] यह भी एक कारण है, जिससे ग़ुलामों के श्रम से उत्पादन कराना इतना महंगा पड़ता है। यदि प्राचीन काल के लोगों के कुछ सारगर्भित शब्दों का प्रयोग किया जाये, तो हम कहेंगे कि यहां श्रम करने वाला मजदूर जानवर और औजार से केवल इसी बात में भिन्न होता है कि औजार instrumentum mutum (मूक औजार) होता है तथा जानवर instrumentum semi-vocale (अर्ध-मूक औजार) होता है और उनके मुक़ाबले में ग़ुलाम instrumentum vocale (अमूक औजार) होता है। लेकिन ग़ुलाम ख़ुद जानवर और औजार दोनों को यह महसूस कराने का ख़ास ख़याल रखता है कि वह उनके समान नहीं है, बल्कि एक मनुष्य है। वह con amore (बहुत उत्साह से) एक के साथ निर्मम व्यवहार करके और दूसरे को तोड़-ताड़कर अत्यन्त संतोष के साथ अपने को विश्वास दिलाता रहता है कि वह जानवर और औजार दोनों से भिन्न है। इसी से यह सिद्धान्त निकला है—और उसका उत्पादन की इस

अब हम यह देखते हैं कि जब, एक ओर, श्रम पर उपयोगी वस्तुएं पैदा करने वाले श्रम के रूप में विचार किया जाता है और, दूसरी ओर, उसपर मूल्य पैदा करने वाले श्रम के रूप में विचार किया जाता है, तब उनमें जो अन्तर नज़र आता है और जिसका पता हमने माल का विश्लेषण करके लगाया था, वह अब उत्पादन की प्रक्रिया के दो पहलुओं के अन्तर में परिणत हो जाता है।

उत्पादन की प्रक्रिया पर जब एक ओर श्रम-प्रक्रिया तथा मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया की एकता के रूप में विचार किया जाता है, तब वह मालों के उत्पादन की प्रक्रिया होती है। दूसरी ओर, जब उसपर श्रम-प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन की प्रक्रिया की एकता के रूप

---

प्रणाली में सर्वत्र उपयोग किया जाता है – कि उत्पादन में सदा अधिक से अधिक अनगढ़ और भारी ऐसे औज़ार इस्तेमाल करने चाहिए, जिनके भद्देपन के कारण उनको नुक़सान पहुंचाना कठिन हो। मेक्सिको की खाड़ी के तट पर बसे गुलामों के राज्यों में गृह-युद्ध के समय तक केवल ऐसे हल मिलते थे, जो पुराने चीनी नमूने के अनुसार बनाये गये थे और जो धरती में कूंड़ नहीं बनाते थे, बल्कि छछूंदर या सुअर की तरह तरह मिट्टी पलटते थे। देखिये J. E. Cairnes की रचना "*The Slave Power*" ('दास-शक्ति'), London, 1862, पृ० ४६ और उसके आगे के पृष्ठ। अपनी रचना "*Sea Board Slave States*" ('समुद्र-तट के गुलामों के राज्य') में ओल्मसटेड हमें बताते हैं: "मुझे यहां ऐसे औज़ार देखने को मिले हैं, जिनका बोझा हम लोगों के यहां कोई भी आदमी, जिसके होश-हवास दुरुस्त हैं, उस मजदूर के ऊपर नहीं डालेगा, जिसे वह मज़दूरी देता है। ये औज़ार इतने ज्यादा भारी और भद्दे हैं कि हम लोगों के यहां साधारण तौर पर जो औज़ार इस्तेमाल होते हैं, उनके मुक़ाबले में इन औज़ारों को इस्तेमाल करने पर, मेरे विचार से, काम कम से कम दस प्रतिशत बढ़ जायेगा। मुझे यह भी बताया गया कि गुलाम लोग इतनी लापरवाही और इतने अनाड़ीपन के साथ औज़ारों को इस्तेमाल करते हैं कि उनको इनसे हल्के या कम भद्दे औज़ार देना हितकर नहीं होगा, और हम लोग अपने मज़दूरों को सदा जिस तरह के औज़ार देते हैं और जिस तरह के औज़ार देने में हम अपना लाभ देखते हैं, उस तरह के औज़ार यहां वर्जीनिया के अनाज के खेत में पूरे एक दिन भी नहीं चलेंगे, हालांकि यहां के खेतों की मिट्टी हमारे खेतों की मिट्टी से नरम होती है और उसमें कम मात्रा में कंकड़-पत्थर होते हैं। इसी तरह, जब मैंने यह पूछा कि यहां खेतों पर घोड़ों की जगह सर्वत्र खच्चर क्यों इस्तेमाल किये जाते हैं, तो इसकी पहली वजह मुझे यह बतायी गयी – और निस्सन्देह यही सबसे बड़ी वजह है – कि हब्शी लोग जानवरों के साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उसे घोड़े बरदाश्त नहीं कर सकते। हब्शी लोग घोड़ों को सदा बहुत जल्दी या तो थकाकर बेकार कर देते हैं और या लगंड़ा बना देते हैं। उधर खच्चर आसानी से मार खा सकते हैं और कभी-कभार एक-दो जून भूखे भी रह सकते हैं, और उससे उनको कोई ख़ास नुक़सान नहीं पहुंचता। उनके प्रति यदि लापरवाही बरती जाती है या उनसे बहुत-ज्यादा काम लिया जाता है, तो वे न तो ठंड के शिकार होते हैं और न बीमार ही पड़ते हैं। लेकिन मुझे इसका प्रमाण पाने के लिए उस कमरे की खिड़की से ज्यादा दूर जाने की जरूरत नहीं है, जिसमें बैठा मैं लिख रहा हूं। इस खिड़की से मैं किसी भी समय जानवरों के साथ ऐसा बरताव होते हुए देख सकता हूं, जो उत्तर में लगभग हर काश्तकार को फ़ौरन अपने साईस को यक़ीनी तौर पर बरख़ास्त करने के लिए मजबूर कर देगा।"

में विचार किया जाता है, तब वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया, अथवा मालों का पूंजीवादी उत्पादन, होती है।

पीछे किसी पृष्ठ पर हमने कहा था कि अतिरिक्त मूल्य के सृजन में इस बात से तनिक भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि पूंजीपति ने जो श्रम ख़रीदा है, वह औसत दर्जे का साधारण अनिपुण श्रम है, या अधिक संश्लिष्ट निपुण श्रम है। औसत दर्जे के श्रम से अधिक ऊंचे या अधिक संश्लिष्ट स्वरूप के हर प्रकार के श्रम में ज्यादा महंगी श्रम-शक्ति ख़र्च की जाती है, ऐसी श्रम-शक्ति, जिसके उत्पादन में अधिक समय और अधिक श्रम ख़र्च हुआ है और इसलिए जिसका अनिपुण अथवा साधारण श्रम-शक्ति की अपेक्षा अधिक मूल्य होता है। यह श्रम-शक्ति चूंकि अधिक मूल्यवान होती है, इसलिए उसका उपयोग ऊंचे दर्जे का श्रम होता है, ऐसा श्रम, जो समान समय में अनिपुण श्रम की तुलना में अनुपात की दृष्टि से अधिक मूल्य पैदा करेगा। एक कातने वाले और एक सुनार के श्रम के बीच निपुणता का जो भी अन्तर हो, सुनार के श्रम का वह हिस्सा, जिससे वह केवल अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य की पूर्ति करता है, गुणात्मक दृष्टि से उस अतिरिक्त हिस्से से जरा भी भिन्न नहीं होता, जिससे वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। जिस तरह कताई में, उसी तरह गहने बनाने में अतिरिक्त मूल्य श्रम के केवल परिमाणात्मक आधिक्य से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, अतिरिक्त मूल्य एक ही श्रम-प्रक्रिया के विलम्बित हो जाने के फलस्वरूप पैदा होता है। एक उदाहरण में गहने बनाने की प्रक्रिया विलम्बित होती है, दूसरे में सूत बनाने की प्रक्रिया।[1]

---

[1] निपुण (skilled) और अनिपुण (unskilled) श्रम का अन्तर आंशिक रूप से केवल भ्रम पर, या कम से कम ऐसे भेदों पर आधारित है, जो बहुत समय पहले वास्तविक नहीं रह गये थे और जो केवल एक परम्परागत रूढ़ि के कारण ही अभी तक जीवित हैं, और आंशिक रूप से यह अन्तर मजदूर-वर्ग के कुछ स्तरों की निस्सहाय अवस्था पर आधारित है, जिसके कारण वे बाक़ी मजदूरों की तरह ही अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य वसूल नहीं कर पाते। इस मामले में आकस्मिक कारण इतनी बड़ी भूमिका अदा करते हैं कि कभी-कभी श्रम के ये दो रूप एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। मिसाल के लिए, जिन देशों में मजदूर-वर्ग का स्वास्थ्य बिगड़ गया है और तुलनात्मक दृष्टि से एकदम चौपट हो गया है,—और उन सभी पूंजीवादी देशों में, जहां पूंजीवादी उत्पादन का ख़ासा विकास हो गया है, मजदूरों की यही हालत है,—वहां श्रम के निम्न रूपों को, जिनमें मांस-पेशियों के बहुत अधिक व्यय की आवश्यकता पड़ती है, श्रम के उनसे कहीं अधिक सूक्ष्म रूपों की तुलना में, आम तौर पर, निपुण श्रम समझा जाता है और श्रम के अधिक सूक्ष्म रूप अनिपुण श्रम के दर्जे पर उतर आते हैं। मिसाल के लिए, bricklayer (राजगीर) के श्रम को लीजिये, जिसका दर्जा इंगलैण्ड में जामदानी बुनने वाले कारीगर के दर्जे से बहुत ऊंचा होता है। Fustian cutter (फ़स्टियन काटने वाले) के श्रम में सख़्त शारीरिक मेहनत की जरूरत पड़ती है और उसका स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड़ता है, परन्तु उसे फिर भी महज अनिपुण श्रम ही समझा जाता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रीय श्रम के क्षेत्र में तथाकथित skilled labour (निपुण श्रम) का बहुत बड़ा भाग नहीं है। लैंग का अनुमान है कि इंगलैण्ड (और वेल्स) में १,१३,००,००० लोगों की जीविका अनिपुण श्रम पर निर्भर करती थी। जिस समय लैंग ने अपनी पुस्तक लिखी थी, उस समय कुल आबादी १,८०,००,००० थी। उसमें से यदि अभिजात वर्ग के १०,००,०००,

लेकिन, दूसरी ओर, मूल्य पैदा करने की हर प्रक्रिया में निपुण श्रम को औसत सामाजिक श्रम में परिणत कर देना – जैसे, मिसाल के लिए, एक दिन के निपुण श्रम को छः दिन के अनिपुण श्रम में परिणत कर देना – अनिवार्य होता है।[1] इसलिए जब हम यह मानकर चलते हैं कि पूंजीपति ने जिस मजदूर को नौकर रखा है, उसका श्रम अनिपुण औसत श्रम है, तब हम असल में एक अनावश्यक हिसाब से बच जाते हैं और अपने विश्लेषण को सरल बना देते हैं।

---

कंगालों तथा बे-घर-बार व्यक्तियों, अपराधियों और वेश्याओं आदि की संख्या के १५,००,००० और मध्य वर्ग के ४६,५०,००० लोगों को घटा दिया जाये, तो उपरोक्त १,१०,००,००० ही बचते हैं। लेकिन मध्य वर्ग में उसने छोटी-छोटी पूंजियों के सूद पर रहने वाले लोगों को, अफ़सरों, साहित्यिकों, कलाकारों, स्कूल-मास्टरों और इसी तरह के अन्य लोगों को भी शामिल कर लिया है, और इस वर्ग की संख्या बढ़ा देने के लिए उसने इन ४६,५०,००० में कारख़ानों के अपेक्षाकृत अच्छी मजदूरी पाने वाले मजदूरों को भी गिन लिया है! Bricklayers (राजगीर) भी इसी मद में आते हैं। (S. Laing, "*National Distress*", etc. [एस० लैंग, 'राष्ट्रीय विपत्ति', आदि], London, 1844।) "जनता का अधिकांश उस वर्ग का है, जिसके पास भोजन के बदले में देने के लिए साधारण श्रम के सिवा और कुछ नहीं है।" (James Mill, "*Colony*" [जेम्स मिल, 'उपनिवेश'] शीर्षक लेख, "*Encyclopaedia Britannica*" ['ब्रिटिश विश्वकोष'] के परिशिष्ट में, १८३१।)

[1] "जहां मूल्य की माप के रूप में श्रम की चर्चा होती है, वहां अनिवार्य रूप से एक विशिष्ट प्रकार के श्रम से मतलब होता है... श्रम के अन्य प्रकारों का उसके साथ क्या अनुपात है, यह बहुत आसानी से मालूम हो जाता है।" ("*Outlines of Political Economy*" ['अर्थशास्त्र की रूपरेखा'], London, 1832, पृ० २२ और २३।)

## आठवां अध्याय

# स्थिर पूंजी और अस्थिर पूंजी

श्रम-प्रक्रिया के विभिन्न उपकरण पैदावार के मूल्य की रचना में अलग-अलग भूमिका अदा करते हैं।

मजदूर अपने श्रम की विषय-वस्तु पर नये श्रम की एक निश्चित मात्रा खर्च करके उसमें नया मूल्य जोड़ देता है। यहां इस बात का कोई महत्व नहीं होता कि उस श्रम का विशिष्ट स्वरूप एवं उपयोग क्या है। दूसरी ओर, श्रम-प्रक्रिया के दौरान में खर्च कर दिये गये उत्पादन के साधनों के मूल्य सुरक्षित रहते हैं, और वे पैदावार के मूल्य के संघटक भागों के रूप में नये सिरे से सामने आते हैं। उदाहरण के लिए, कपास और तकुए के मूल्य एक बार फिर से सूत के मूल्य में सामने आते हैं। अतएव, उत्पादन के साधनों का मूल्य पैदावार में स्थानांतरित हो जाता है और इस प्रकार सुरक्षित रहता है। यह स्थानांतरण इन साधनों के पैदावार में बदले जाने के समय, यानी श्रम-प्रक्रिया के दौरान में, होता है। वह श्रम द्वारा सम्पन्न किया जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि किस तरह?

मजदूर एक साथ दो क्रियाएं नहीं करता। ऐसा नहीं होता कि वह एक क्रिया के द्वारा कपास में मूल्य जोड़ता हो और दूसरी क्रिया के द्वारा उत्पादन के साधनों के मूल्य को सुरक्षित रखता हो, या, जो कि एक ही बात है, पैदावार में, यानी सूत में, उस कपास का मूल्य, जिसपर वह काम करता है, और उस तकुए के मूल्य का एक अंश स्थानांतरित कर देता हो, जिससे वह काम करता है। उसके बजाय, वह नया मूल्य जोड़ने की क्रिया के द्वारा ही उनके पुराने मूल्यों को सुरक्षित रखता है। लेकिन अपने श्रम की विषय-वस्तु में नया मूल्य जोड़ना और उसके पुराने मूल्य को सुरक्षित रखना चूंकि दो बिल्कुल अलग-अलग परिणाम हैं, जिनको मजदूर एक साथ और एक ही क्रिया के दौरान में पैदा करता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि परिणाम का यह दोहरा स्वरूप उसके श्रम के दोहरे स्वरूप के आधार पर ही समझ में आ सकता है। एक ही समय में एक स्वरूप में उसके श्रम को मूल्य पैदा करना चाहिए और एक दूसरे स्वरूप में उसे मूल्य को सुरक्षित रखना या स्थानांतरित कर देना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि हर मजदूर नया श्रम और उसके परिणामस्वरूप नया मूल्य किस ढंग से जोड़ता है? जाहिर है कि वह केवल एक विशिष्ट ढंग से उत्पादक श्रम करके ही नया श्रम और नया मूल्य जोड़ता है,—कातने वाला कताई करके, बुनने वाला बुनकर और लोहार गढ़कर। लेकिन इस प्रकार सामान्य रूप से श्रम का—अर्थात् मूल्य का—अपने में समावेश करते हुए उत्पादन के साधन—यानी कपास और तकुआ, या सूत और करघा, या लोहा और निहाई,—केवल श्रम के विशिष्ट रूप के द्वारा ही—यानी केवल कताई, बुनाई और गढ़ाई के

श्रम द्वारा ही – पैदावार के – अर्थात् एक नये उपयोग-मूल्य के – संघटक तत्त्व बन पाते हैं।[1] प्रत्येक उपयोग-मूल्य ग़ायब हो जाता है, लेकिन तुरन्त ही एक नये रूप में एक नये उपयोग-मूल्य में प्रकट होता है। जिस समय हम मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया पर विचार कर रहे थे, उस समय हमने देखा था कि यदि कोई उपयोग-मूल्य किसी नये उपयोग-मूल्य के उत्पादन में कारगर ढंग से ख़र्च हो जाये, तो उपभोग की गयी वस्तु के उत्पादन में श्रम की जितनी मात्रा लगी होगी, वह नया उपयोग-मूल्य पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा का एक भाग बन जायेगी। इसलिए, यह भाग वह श्रम होगा, जो उत्पादन के साधनों से नयी पैदावार में स्थानांतरित हो जाता है। चुनांचे, मज़दूर जब उपभोग में लाये गये उत्पादन के साधनों के मूल्य को सुरक्षित रखता है या उनको पैदावार में उसके मूल्य के भागों के रूप में स्थानांतरित कर देता है, तब वह यह कार्य नया अमूर्त्त श्रम जोड़कर नहीं, बल्कि एक विशिष्ट प्रकार का उपयोगी श्रम करके, अपने श्रम के विशिष्ट उत्पादक स्वरूप के फलस्वरूप सम्पन्न करता है। इस तरह, जिस हद तक श्रम ऐसी विशिष्ट उत्पादक कार्रवाई है, यानी जिस हद तक वह कताई, बुनाई या गढ़ाई का श्रम है, उस हद तक वह महज़ अपने सम्पर्क से उत्पादन के साधनों को मुर्दा से ज़िन्दा कर देता है, उनको श्रम-प्रक्रिया के जीवन्त उपकरण बना देता है और उनके साथ जुड़कर नयी पैदावार की रचना करता है।

यदि मज़दूर का विशिष्ट उत्पादक श्रम कताई का श्रम न होता, तो वह कपास को सूत में नहीं बदल पाता और इसलिए कपास और तकुए के मूल्यों को सूत में स्थानांतरित नहीं कर सकता। मान लीजिये कि वह मज़दूर अपना पेशा बदलकर फ़र्नीचर बनाने वाला बढ़ई बन जाता है। बढ़ई के रूप में भी वह जिस सामग्री पर काम करेगा, उसमें एक दिन का श्रम करके नया मूल्य जोड़ देगा। इसलिए पहली बात तो हम यह देखते हैं कि नया मूल्य इसलिए नहीं जुड़ता कि मज़दूर का श्रम ख़ास तौर पर कताई का श्रम है या ख़ास तौर पर फ़र्नीचर बनाने का श्रम है, बल्कि वह इसलिए जुड़ता है कि मज़दूर का श्रम अमूर्त्त श्रम अथवा समाज के सम्पूर्ण श्रम का एक भाग है। और दूसरी बात हम यह देखते हैं कि जो नया मूल्य जोड़ा जाता है, वह यदि एक निश्चित मात्रा का मूल्य होता है, तो इसका कारण यह नहीं है कि मज़दूर का श्रम एक ख़ास तरह की उपयोगिता रखता है, बल्कि इसका कारण यह है कि वह एक निश्चित समय तक किया जाता है। इसलिए, एक तरफ़ तो कताई का श्रम अपने सामान्य स्वरूप के कारण, यानी इस कारण कि उसमें अमूर्त्त मानव-श्रम-शक्ति ख़र्च की जाती है, कपास और तकुए के मूल्यों में नया मूल्य जोड़ देता है, और दूसरी तरफ़ अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण, यानी एक मूर्त्त, उपयोगी क्रिया होने के कारण, कताई का वही श्रम उत्पादन के साधनों के मूल्यों को पैदावार में स्थानांतरित कर देता है और साथ ही उनको पैदावार में सुरक्षित भी रखता है। यही कारण है कि एक ही समय में दोहरा परिणाम सम्पन्न होता है।

श्रम की एक निश्चित मात्रा के केवल जुड़ जाने से नया मूल्य जुड़ जाता है, और इस जोड़े हुए श्रम के विशिष्ट गुण के फलस्वरूप उत्पादन के साधनों के मूल मूल्य पैदावार में सुरक्षित रहते हैं। यह दोहरा प्रभाव, जो श्रम के दोहरे स्वरूप का परिणाम होता है, अनेक घटनाओं में देखा जा सकता है।

---

[1] "जो सृष्टि मिट जाती है, उसके स्थान पर श्रम एक नयी सृष्टि उत्पन्न कर देता है।" ("*An Essay on the Polit. Econ. of Nations*" ['राष्ट्रों के अर्थशास्त्र पर एक निबंध'], London, 1821, पृ० १३।)

मान लीजिये कि किसी आविष्कार के फलस्वरूप कातने वाला छः घण्टे में उतनी ही कपास कात डालता है, जितनी वह पहले ३६ घण्टे में कातता था। अब उसका श्रम उपयोगी उत्पादन के लिए पहले से छः गुना प्रभावोत्पादक हो जाता है। छः घण्टे के श्रम की पैदावार अब छः गुनी बढ़ जाती है और छः पौण्ड से ३६ पौण्ड हो जाती है। लेकिन अब ३६ पौण्ड कपास केवल उतने श्रम का अवशोषण करती है, जितने का पहले छः पौण्ड कपास करती थी। कपास का हर पौण्ड अब पहले की तुलना में नये श्रम के केवल छठे भाग का अवशोषण करता है, और इसलिए इसके पहले हर पौण्ड में श्रम द्वारा जितना मूल्य जोड़ा जाता था, अब उसका केवल छठा भाग ही जुड़ता है। दूसरी ओर, पैदावार में – यानी ३६ पौण्ड सूत में – कपास से स्थानांतरित होने वाला मूल्य पहले का छः गुना होता है। अब छः घण्टे की कताई से कच्चे माल का जितना मूल्य सुरक्षित रहता है और पैदावार में स्थानांतरित होता है, वह पहले का छः गुना होता है, हालांकि इसी कच्चे माल के प्रत्येक पौण्ड में कातने वाले के श्रम द्वारा जो नया मूल्य जुड़ता है, वह पहले का केवल छठा भाग होता है। इससे प्रकट होता है कि श्रम की ये दो विशेषताएं बुनियादी तौर पर बिल्कुल भिन्न होती हैं, जिनमें से एक के फलस्वरूप वह मूल्य को सुरक्षित रखता है और दूसरी के फलस्वरूप मूल्य पैदा करता है। एक तरफ़, कपास के एक निश्चित वज़न को कातकर सूत तैयार करने में जितना अधिक समय लगता है, सामग्री में उतना ही अधिक नया मूल्य जुड़ जाता है। दूसरी तरफ़, किसी निश्चित समय में जितने अधिक वज़न की कपास कात डाली जाती है, उतना ही अधिक मूल्य पैदावार में स्थानांतरित होकर सुरक्षित हो जाता है।

अब मान लीजिये कि कातने वाले के श्रम की उत्पादकता बढ़ने-घटने के बजाय स्थिर रहती है और इसलिये उसे एक पौण्ड कपास को सूत में बदलने के लिये उतने ही समय की आवश्यकता होती है, जितने की पहले होती थी, लेकिन कपास का विनिमय-मूल्य बदल जाता है और या तो बढ़कर पहले का छः गुना हो जाता है और या घटकर पहले के मूल्य का केवल छठा भाग रह जाता है। इन दोनों सूरतों में कातने वाला एक पौण्ड कपास में अब भी उतना ही श्रम डालता है, जितना वह पहले डालता था, और इसलिये वह उसमें उतना ही मूल्य जोड़ता है, जितना वह कपास के मूल्य में तबदीली आने के पहले जोड़ता था। और वह सूत की एक निश्चित मात्रा अब भी उतने ही समय में तैयार करता है, जितने समय में वह पहले तैयार करता था। फिर भी वह कपास से सूत में जो मूल्य स्थानांतरित करता है, वह अब या तो कपास के मूल्य में तबदीली आने के पहले का छठा भाग होता है, या उसका छः गुना होता है। यही उस वक़्त भी होता है, जब श्रम के औज़ारों के मूल्य में उतार या चढ़ाव आता है, मगर श्रम-प्रक्रिया में उनकी उपयोगी कार्य-क्षमता ज्यों की त्यों क़ायम रहती है।

फिर, यदि कताई की प्रक्रिया की प्राविधिक परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं होता और उत्पादन के साधनों के मूल्य में कोई तबदीली नहीं आती, तो कातने वाला समान श्रम-काल में समान मात्रा में कच्चा माल और समान मात्रा में मशीनें ख़र्च करता जाता है, जिनके मूल्य में भी कोई परिवर्तन नहीं होता। वह पैदावार में जो मूल्य सुरक्षित रखता है, वह उस नये मूल्य के प्रत्यक्ष अनुपात में होता है, जो वह पैदावार में जोड़ देता है। दो सप्ताह में वह एक सप्ताह से दुगुने श्रम का और इसलिये दुगुने मूल्य का समावेश करता है और एक सप्ताह से दुगुना कच्चा माल ख़र्च कर डालता है तथा दुगुनी मशीनें घिसा देता है, यानी वह दो सप्ताह में एक सप्ताह से दुगुने मूल्य का कच्चा माल तथा मशीनें इस्तेमाल कर डालता है; और इसलिये वह एक

सप्ताह की पैदावार में जितना मूल्य सुरक्षित रखता है, दो सप्ताह की पैदावार में उसका दुगुना मूल्य सुरक्षित रखता है। जब तक उत्पादन की परिस्थितियां एक सी रहती हैं, उस वक़्त तक मजदूर नया श्रम करके जितना अधिक मूल्य जोड़ता है, वह उतना ही अधिक मूल्य स्थानांतरित करके सुरक्षित कर देता है; लेकिन यह वह केवल इसलिये करता है कि उसने नया मूल्य ऐसी परिस्थितियों में जोड़ा है, जिनमें कोई तबदीली नहीं आयी है और जो स्वयं उसके श्रम से स्वतंत्र हैं। जाहिर है कि एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि मजदूर जिस मात्रा में नया मूल्य जोड़ता है, वह सदा उसी के अनुपात में पुराने मूल्य को सुरक्षित रखता है। कपास का मूल्य चाहे एक शिलिंग से बढ़कर दो शिलिंग हो जाये और चाहे घटकर छः पंस रह जाये, मजदूर दो घण्टे में जितने मूल्य को सुरक्षित रखता है, वह एक घण्टे में सदा उसका आधा मूल्य सुरक्षित रखता है। इसी प्रकार, यदि उसके अपने श्रम की उत्पादकता में कोई परिवर्तन आता है और वह घट-बढ़ जाती है, तो वह उसके घटने पर एक घण्टे में पहले से कम और बढ़ने पर पहले से ज्यादा सूत कातेगा और इसलिये एक घण्टे की पैदावार में पहले से कम या ज्यादा कपास के मूल्य को सुरक्षित रखेगा। लेकिन, इसके बावजूद, वह एक घण्टे में जितने मूल्य को सुरक्षित रखता है, दो घण्टे में वह उसके दुगुने मूल्य को ही सुरक्षित रखेगा।

मूल्य केवल उपयोगी वस्तुओं में या चीजों में होता है। प्रतीकों द्वारा उसे केवल चिन्ह-रूप में जिस तरह व्यक्त किया जाता है, हम यहां उसकी चर्चा नहीं करेंगे। (श्रम-शक्ति के मूर्त रूप में मनुष्य स्वयं एक प्राकृतिक वस्तु या एक चीज होता है, हालांकि यह चीज जीवित और सचेतन होती है, और श्रम उसमें विद्यमान इस शक्ति की अभिव्यक्ति होता है।) इसलिये किसी वस्तु की यदि उपयोगिता जाती रहती है, तो उसका मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। उत्पादन के साधन अपना उपयोग-मूल्य खोने के साथ-साथ अपना मूल्य क्यों नहीं खो देते, इसका कारण यह है कि वे श्रम-प्रक्रिया में अपने उपयोग-मूल्य का मूल रूप तो खो देते हैं, पर तुरन्त ही पैदावार में एक नये उपयोग-मूल्य का रूप धारण कर लेते हैं। मूल्य के लिये यह बात चाहे जितनी महत्वपूर्ण हो कि उसे कोई न कोई ऐसी उपयोगी वस्तु जरूर मिलनी चाहिये, जिसमें वह साकार हो सके, लेकिन उसके लिये इस बात का कोई महत्व नहीं है कि कौनसी खास वस्तु यह काम सम्पन्न कर रही है; यह बात हम मालों के रूपान्तरण पर विचार करते समय देख चुके हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम-प्रक्रिया में उत्पादन के साधन केवल उसी हद तक अपना मूल्य पैदावार में स्थानांतरित करते हैं, जिस हद तक कि वे अपने उपयोग-मूल्य के साथ-साथ अपना विनिमय-मूल्य भी खोते जाते हैं। वे पैदावार को केवल वही मूल्य सौंपते हैं, जो वे खुद उत्पादन के साधनों के रूप में खो देते हैं। लेकिन इस मामले में श्रम-प्रक्रिया के सब भौतिक उपकरण एक ही तरह का व्यवहार नहीं करते हैं।

बोयलर के नीचे जलाया जाने वाला कोयला अपना चिन्ह तक बाक़ी न छोड़कर एकदम ग़ायब हो जाता है। पहियों की धुरी को चिकना करने के लिये जो चरबी इस्तेमाल की जाती है, वह भी इसी तरह एकदम ग़ायब हो जाती है। रंग तथा अन्य सहायक पदार्थ भी ग़ायब हो जाते हैं, पर वे तुरन्त ही पैदावार के तत्वों के रूप में फिर प्रकट हो जाते हैं। कच्चा माल पैदावार का द्रव्य बन जाता है, लेकिन अपना रूप बदलने के बाद ही। इसलिये, कच्चे माल और सहायक पदार्थों का वह विशिष्ट रूप जाता रहता है, जो उन्होंने श्रम-प्रक्रिया में प्रवेश करते समय धारण कर रखा था। श्रम के औज़ारों के साथ ऐसा नहीं होता। औज़ार, मशीनें, वर्कशाप और बर्तन केवल उसी वक़्त तक श्रम-प्रक्रिया में काम आते हैं, जिस वक़्त

तक कि उनका मूल रूप क़ायम रहता है और जिस वक़्त तक कि वे हर रोज़ सुबह को अपनी पहले जैसी शकल में ही प्रक्रिया को फिर से आरम्भ करने के लिये तैयार रहते हैं। और जिस तरह वे अपने जीवन-काल में, यानी उस श्रम-प्रक्रिया के दौरान में, जिसमें वे भाग लेते रहते हैं, अपनी शकल को पैदावार से स्वतंत्र ज्यों की त्यों बनाये रहते हैं, उसी तरह मृत्यु के बाद भी वे अपनी शकल को क़ायम रखते हैं। मुर्दा मशीनों, औज़ारों, वर्कशापों आदि की लाशें उस पैदावार से बिल्कुल भिन्न और अलग होती हैं जिसके उत्पादन में उन्होंने मदद दी है। श्रम का कोई औज़ार जिस दिन वर्कशाप में प्रवेश करता है, उस दिन से लगाकर उस दिन तक, जब कि वह कबाड़-ख़ाने में भेज दिया जाता है, यदि हम उसके सम्पूर्ण कार्य-काल पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि इस काल में उसका उपयोग-मूल्य पूरी तरह ख़र्च हो गया है और इसलिये उसका विनिमय-मूल्य पूरी तरह पैदावार में स्थानांतरित हो गया है। मिसाल के लिये, यदि कोई कताई की मशीन १० साल तक चलती है, तो यह बात साफ़ है कि इस कार्य-काल में उसका कुल मूल्य धीरे-धीरे १० वर्ष की पैदावार में स्थानांतरित होता है। इसलिये, श्रम के किसी भी औज़ार का जीवन-काल एक ही प्रकार की क्रियाओं की एक छोटी या बड़ी संख्या को बार-बार दोहराने में ख़र्च होता है। उसके जीवन की मनुष्य के जीवन के साथ तुलना की जा सकती है। हर दिन का अन्त मनुष्य की मृत्यु को २४ घण्टे और नज़दीक ले आता है; लेकिन महज़ उसे देखकर कोई आदमी ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि क़ब्र की ओर ले जाने वाली सड़क पर अभी उसे कितने दिन और सफ़र करना है। किन्तु इस कठिनाई के कारण जीवन-बीमा करने वाले कार्यालयों द्वारा औसत निकालने के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए बहुत ठीक और साथ ही बहुत उपयोगी निष्कर्ष निकालने में कोई रुकावट नहीं पड़ती। श्रम के औज़ारों के साथ भी यही बात है। अनुभव से मालूम हो जाता है कि कोई ख़ास तरह की मशीन औसतन कितने समय तक चल पायेगी। मान लीजिये कि श्रम-प्रक्रिया में उसका उपयोग-मूल्य केवल छः दिन तक चल सकता है। तब वह हर रोज़ अपने उपयोग-मूल्य का औसतन छठा भाग खो देती है और इसलिये रोज़ की पैदावार में अपने मूल्य का छठा भाग स्थानान्तरित कर देती है। चुनांचे, इस आधार पर हिसाब लगा लिया जाता है कि विभिन्न औज़ार किस गति से घिसते हैं, वे रोज़ कितना उपयोग-मूल्य खो देते हैं और उसके अनुरूप मूल्य की कितनी मात्रा हर दिन पैदावार को सौंप देते हैं।

इस प्रकार यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि उत्पादन के साधन श्रम-प्रक्रिया के दौरान में अपने उपयोग-मूल्य के नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप ख़ुद जितना मूल्य खो देते हैं, वे उससे ज़्यादा मूल्य कभी पैदावार में स्थानान्तरित नहीं करते। यदि किसी औज़ार में खोने के लिये मूल्य है ही नहीं, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, यदि कोई औज़ार मानव-श्रम की पैदावार नहीं है, तो वह पैदावार में कोई मूल्य स्थानान्तरित नहीं करता। वह विनिमय-मूल्य के निर्माण में कोई योग दिये बिना ही उपयोग-मूल्य पैदा करने में मदद करता है। मानव-सहायता के बिना ही प्रकृति ने उत्पादन के जितने साधन दे रखे हैं,—जैसे भूमि, वायु, जल, पृथ्वी के गर्भ में पड़ी हुई धातुएं और अछूते जंगलों में मिलने वाली लकड़ी,—वे सब इसी मद में आते हैं।

यहां पर एक और दिलचस्प चीज़ हमारे सामने आती है। मान लीजिये कि किसी मशीन की क़ीमत १,००० पौण्ड है, और वह १,००० दिन में घिस जाती है। ऐसी हालत में रोज़ाना इस मशीन के मूल्य का हज़ारवां भाग दैनिक पैदावार में स्थानान्तरित होता जायेगा। पर इसके साथ-साथ पूरी मशीन लगातार श्रम-प्रक्रिया में भाग लेती रहती है, हालांकि उसकी जीवन-

शक्ति बराबर कम होती जाती है। इस प्रकार, यह प्रकट होता है कि श्रम-प्रक्रिया का एक उपकरण, उत्पादन का कोई साधन, जहां मूल्य के निर्माण की क्रिया में केवल आंशिक रूप से भाग लेता है, वहां वह श्रम-प्रक्रिया में अपने सम्पूर्ण रूप में लगातार भाग लेता रहता है। इन दो क्रियाओं का भेद यहां उनके भौतिक उपकरणों में इस तरह प्रतिबिम्बित होता है कि उत्पादन का वही औज़ार श्रम-प्रक्रिया में अपने सम्पूर्ण रूप में भाग लेता है और साथ ही मूल्य के निर्माण के एक तत्व की तरह वह केवल आंशिक रूप में प्रवेश करता है।[1]

दूसरी ओर, यह भी मुमकिन है कि उत्पादन का कोई साधन मूल्य के निर्माण में अपने सम्पूर्ण रूप में भाग ले और श्रम-प्रक्रिया में केवल थोड़ा-थोड़ा करके समाविष्ट हो। मान लीजिये कि कपास की कटाई में हर ११५ पौण्ड कपास में से १५ पौण्ड ज़ाया हो जाती है, और वह १५ पौण्ड कपास सूत में न बदलकर कूड़ा (devil's dust) बन जाती है। अब,

---

[1]श्रम के औज़ारों की मरम्मत के विषय से हमारा यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस मशीन की मरम्मत हो रही है, वह औज़ार की भूमिका अदा करना बन्द कर देती है और श्रम की विषय-वस्तु की भूमिका अदा करने लगती है। तब उससे काम नहीं लिया जाता, बल्कि उसपर काम किया जाता है। यहां हमारा यह मानकर चलना सर्वथा उचित होगा कि औज़ारों की मरम्मत में ख़र्च किया गया श्रम उनके मूल उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम में शामिल होता है। परन्तु मूल पाठ में हम इस घिसाई का ज़िक्र कर रहे हैं, जिसका कोई डाक्टर इलाज नहीं कर सकता और जो थोड़ा-थोड़ा करके औज़ार को मौत के मुंह पर ला खड़ा करती है। मूल पाठ में हम "उस क़िस्म की घिसाई" का ज़िक्र कर रहे हैं, "जिसे समय-समय पर मरम्मत करके दूर नहीं किया जा सकता और जो यदि औज़ार चाकू है, तो उसे इस हालत में पहुंचा देगी कि चाकू बनाने वाला कहेगा कि अब वह इस लायक़ नहीं है कि उस पर नयी धार चढ़ायी जाये।" मूल पाठ में हम यह बता चुके हैं कि मशीन प्रत्येक श्रम-प्रक्रिया में सम्पूर्ण मशीन के रूप में भाग लेती है, किन्तु उसके साथ-साथ चलने वाली मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वह केवल थोड़ा-थोड़ा करके समाविष्ट होती है। अतः ज़रा सोचिये कि निम्नलिखित उद्धरण में विचारों की कैसी गड़बड़ी प्रकट होती है। "मि० रिकार्डो कहते हैं कि (जुर्राबें बनाने वाली) मशीन के तैयार करने में इंजीनियर का जो श्रम ख़र्च हुआ है, उसका एक भाग", उदाहरण के लिए, जुर्राबों की एक जोड़ी में निहित होता है। "फिर भी उस कुल श्रम में, जिससे कि जुर्राबों की हर जोड़ी तैयार हुई है,... इंजीनियर के श्रम का एक भाग नहीं, बल्कि उसका पूरा श्रम शामिल है; कारण कि एक मशीन बहुत सी जोड़ियों को तैयार करती है, और इनमें से कोई जोड़ी मशीन के किसी भी एक हिस्से के बिना तैयार नहीं की जा सकती थी।" (*"Obs. on Certain Verbal Disputes in Pol. Econ., Particularly Relating to Value"* ['अर्थशास्त्र के, ख़ास कर मूल्य से सम्बन्ध रखने वाले, कुछ शाब्दिक विवादों के विषय में विचार'], पृ० ५४।) इस पुस्तक का लेखक एक असाधारण ढंग का आत्म-संतुष्ट "wiseacre" ("लाल-बुझक्कड़") है। उसकी विचारों की गड़बड़ी और इसलिए उसका तर्क केवल इसी हद तक सही है कि न तो रिकार्डो ने और न ही उनके पहले या बाद के किसी और अर्थशास्त्री ने श्रम के दो पहलुओं के भेद को ठीक-ठीक समझा है और इसलिए वे इस बात को तो और भी कम समझ पाये हैं कि इन दो पहलुओं के मातहत श्रम मूल्य के निर्माण में क्या भूमिका अदा करता है।

हालांकि यह १५ पौण्ड कपास कभी सूत का संघटक तत्त्व नहीं बनती, फिर भी यदि यह मान लिया जाये कि इतनी कपास का जाया होना कताई की औसत परिस्थितियों में एक सामान्य और अनिवार्य बात है, तो जिस तरह सूत का द्रव्य बनने वाली १०० पौण्ड कपास का मूल्य सूत के मूल्य में स्थानांतरित हो जाता है, ठीक उसी तरह इस १५ पौण्ड कपास का मूल्य भी उसमें स्थानांतरित हो जाता है। १०० पौण्ड सूत तैयार होने के पहले यह जरूरी होता है कि १५ पौण्ड कपास का उपयोग-मूल्य धूल में मिल जाये। इसलिए इस कपास का नष्ट होना सूत के उत्पादन की एक जरूरी शर्त है। और क्योंकि यह उसकी एक जरूरी शर्त है,—और किसी अन्य कारणवश नहीं,—इस कपास का मूल्य पैदावार में स्थानांतरित हो जाता है। श्रम-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप यदि किसी भी तरह का कूड़ा-कचरा निकलता है, तो जिस हद तक इस कूड़े-कचरे को फिर किन्हीं नये तथा स्वतंत्र उपयोग-मूल्यों के उत्पादन में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, उस हद तक उसपर यही बात लागू होती है। कूड़ा-कचरा किस तरह नये तथा स्वतंत्र उपयोग-मूल्यों के उत्पादन में इस्तेमाल किया जा सकता है, यह मान्चेस्टर के मशीन बनाने वाले बड़े कारखाने में देखा जा सकता है, जहां रोज शाम को खराद से गिरी हुई लोहे की कतरनों के पहाड़ के पहाड़ गाड़ियों में लादकर ढलाई-घर में ले जाये जाते हैं और अगले रोज सुबह को वे लोहे के ठोस टुकड़ों के रूप में वर्कशाप में फिर हाजिर हो जाते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि उत्पादन के साधन नयी पैदावार में केवल उसी हद तक मूल्य को स्थानांतरित करते हैं, जिस हद तक कि श्रम-प्रक्रिया के दौरान में वे उपयोग-मूल्य के अपने पुराने रूप में अपना मूल्य खो देते हैं। इस प्रक्रिया में, जाहिर है, वे ज्यादा से ज्यादा जितना मूल्य खो सकते हैं, वह इस बात से सीमित होता है कि वे कितना मूल मूल्य लेकर इस प्रक्रिया में सम्मिलित हुए थे, या, दूसरे शब्दों में, यह उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल से सीमित होता है। इसलिए उत्पादन के साधन जिस श्रम-प्रक्रिया में योग देते हैं, उससे स्वतंत्र उनमें जितना मूल्य होता है, वे उससे अधिक मूल्य कभी पैदावार में नहीं जोड़ सकते। कोई खास कच्चा माल, या कोई मशीन, या उत्पादन का कोई और साधन चाहे कितना ही उपयोगी क्यों न हो, यदि उसमें १५० पौण्ड की लागत—या मान लीजिये ५०० दिन का श्रम—लगा हो, तो वह किसी भी हालत में १५० पौण्ड से ज्यादा का मूल्य पैदावार में नहीं जोड़ सकता। उसका मूल्य उस श्रम-प्रक्रिया से निर्धारित नहीं होता, जिसमें वह उत्पादन के साधन के रूप में प्रवेश करता है, बल्कि उसका मूल्य उस श्रम-प्रक्रिया से निर्धारित होता है, जिसमें से वह पैदावार के रूप में बाहर निकला है। श्रम-प्रक्रिया में वह केवल एक उपयोग-मूल्य की तरह काम में आता है, केवल एक ऐसी वस्तु के रूप में काम में आता है, जिसमें कुछ उपयोगी गुण होते हैं, और इसलिए वह पैदावार में कोई ऐसा मूल्य स्थानांतरित नहीं कर सकता, जो उसमें पहले से मौजूद नहीं था।[1]

---

[1] इससे हम जे० बी० से के बेतुकेपन का अनुमान कर सकते हैं, जो हमें यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि उत्पादन के साधन—भूमि, औजार और कच्चा माल—अपने उपयोग-मूल्यों के द्वारा श्रम-प्रक्रिया में जो "services productifs" ("उत्पादक सेवाएं") करते हैं, वही अतिरिक्त मूल्य का (सूद, मुनाफ़े और लगान का) कारण हैं। मि० विल्हेल्म रोश्चेर ने, जो पक्ष-पोषण वाली कल्पना की अटपटी उड़ानों को काग़ज पर दर्ज करने का अवसर कभी हाथ से नहीं खोते, यह नमूना हमारे सामने पेश किया है: "जे० बी० से ने (Traité, ग्रंथ १, अध्याय ४ में) सच ही

जिस समय उत्पादक श्रम उत्पादन के साधनों को किसी नयी पैदावार के संघटक तत्त्वों में बदलता है, उस समय उनके मूल्य का देहान्तरण हो जाता है। जो देह श्रम-प्रक्रिया में खर्च हो गयी है, मूल्य रूपी आत्मा उसे छोड़कर नव-उत्पादित देह में चली जाती है। पर यह देहान्तरण मानो मजदूर के पीठ पीछे होता है। वह उस वक़्त तक नया श्रम जोड़ने या नया मूल्य पैदा करने में असमर्थ होता है, जब तक कि वह उसके साथ-साथ पुराने मूल्यों को भी सुरक्षित न कर दे, और वह इसलिए कि वह जो नया श्रम जोड़ता है, वह लाजिमी तौर पर किसी खास तरह का उपयोगी श्रम होता है, और यह उपयोगी श्रम वह उस वक़्त तक नहीं कर सकता, जब तक कि उत्पादित वस्तुओं का नयी पैदावार के उत्पादन के साधनों के रूप में न प्रयोग करे और उसके द्वारा उनका मूल्य नयी पैदावार में न स्थानांतरित कर दे। इसलिए, कार्य-रत श्रम-शक्ति में—जीवन्त श्रम में—मूल्य जोड़ने के साथ-साथ मूल्य को सुरक्षित रखने का जो गुण होता है, वह प्रकृति की देन है, जिसके लिए मजदूर को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता, लेकिन जो पूंजीपति के बड़े फ़ायदे का गुण होता है, क्योंकि वह उसकी पूंजी के पूर्वविद्यमान मूल्य को सुरक्षित रखता है।[1] जब तक व्यवसाय

---

कहा है कि तेल निकालने की मिल जो मूल्य पैदा करती है, वह सारा ख़र्च काटने के बाद कोई नयी चीज़, कोई ऐसी चीज़ होती है, जो कि उस श्रम से बिल्कुल भिन्न होती है, जो मिल के निर्माण में ख़र्च किया गया था।" (उप० पु०, पृ० ८२, फ़ुटनोट।) सत्य वचन, प्रोफ़ेसर साहब! तेल की मिल से जो तेल तैयार होता है, वह निश्चय ही उस श्रम से बहुत भिन्न होता है, जो ख़ुद मिल को बनाने में ख़र्च हुआ था! मूल्य को मि० रोश्चेर "तेल" जैसी चीज़ समझते हैं, क्योंकि तेल में मूल्य होता है, हालांकि "प्रकृति" भी पेट्रोल पैदा करती है, भले ही वह अपेक्षाकृत "थोड़ी मात्रा में" ऐसा करती हो, और इस बात को ध्यान में रखकर ही शायद मि० रोश्चेर ने आगे कहा है: "वह (प्रकृति) शायद ही कभी कोई विनिमय-मूल्य पैदा करती हो।" मि० रोश्चेर की "प्रकृति" और वह जो विनिमय-मूल्य पैदा करती है, वे उस मूर्ख लड़की की तरह हैं, जिसने यह तो स्वीकार कर लिया था कि कुमारी होते हुए भी उसके एक बच्चा हो चुका है, पर साथ ही जिसने अपनी सफ़ाई के तौर पर कहा था: "तो क्या हुआ, बच्चा ज़रा सा ही तो है!" इस "महान विद्वान" ("savant sérieux") ने आगे कहा है: "रिकार्डो-सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों की आदत है कि वे पूंजी को संचित श्रम के रूप में श्रम की मद में शामिल कर देते हैं। यह बुद्धिमानी का काम नहीं है, क्योंकि आख़िर पूंजी का मालिक महज़ उसे पैदा नहीं करता और सुरक्षित ही नहीं रखता, वह कुछ और भी करता है, यानी वह उसका उपभोग करने का मोह संवरण करता है, जिसके एवज़ में वह, मिसाल के लिए, सूद चाहता है" (उप० पु०)। अर्थशास्त्र की यह "शरीर-रचना-शास्त्रीय देह-व्यापारीय" पद्धति भी कितनी बुद्धिमानी से भरी है जो कि "वास्तव में" महज़ एक इच्छा को "आख़िर" मूल्य का स्रोत बना देती है!

[1] "काश्तकार के व्यवसाय के जितने भी साधन होते हैं, उनमें मनुष्य का श्रम ही... ऐसा साधन होता है, जिसपर वह अपनी पूंजी को फिर से प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक भरोसा करता है। दूसरी दो क़िस्मों के साधन—खेती में काम आने वाले काश्तकार के ढोर और... गाड़ियां, हल, फावड़े इत्यादि—पहली क़िस्म के साधन (श्रम) की एक निश्चित मात्रा के अभाव में बिल्कुल बेकार होते हैं।" (Edmund Burke, *"Thoughts and Details on Scarcity,*

अच्छा चलता रहता है, तब तक पूंजीपति मुद्रा कमाने में इतना डूबा रहता है कि वह श्रम की इस निःशुल्क देन की ओर आंख तक उठाकर नहीं देखता। परन्तु जब कोई संकट आकर बलपूर्वक श्रम-प्रक्रिया को बीच में रोक देता है, तब पूंजीपति इस देन के महत्व के बारे में बहुत सहज ही सजग हो जाता है।[1]

जहां तक उत्पादन के साधनों का सम्बंध है, जो कुछ सचमुच खर्च होता है, वह उनका उपयोग-मूल्य होता है, और श्रम के द्वारा उस उपयोग-मूल्य के उपभोग का फल पैदावार होती है। उत्पादन के साधनों के मूल्य का उपभोग नहीं होता,[2] और इसलिए यह कहना ग़लत होगा कि उनके मूल्य का पुनरुत्पादन होता है। बल्कि यह कहना सही होगा कि उनका मूल्य सुरक्षित रहता है इसलिए नहीं कि वह श्रम-प्रक्रिया के दौरान में खुद किसी क्रिया में से गुज़रता है, बल्कि इसलिए कि वह मूल्य शुरू में जिस वस्तु में पाया जाता है, वह वस्तु ग़ायब तो होती है, पर तुरन्त ही किसी और वस्तु के रूप में प्रकट हो जाती है। इसलिए पैदावार के मूल्य में उत्पादन के साधनों का मूल्य पुनः प्रकट होता है, लेकिन सही अर्थ में उस मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं होता। जो कुछ सचमुच पैदा होता है, वह एक नया उपयोग-मूल्य होता है, जिसमें पुराना विनिमय-मूल्य पुनः प्रकट होता है।[3]

---

*originally presented to the Right Hon. W. Pitt, in the month of November 1795*" [एडमण्ड बर्क, 'दुर्लभता के सम्बंध में विचार, जो शुरू में १७६५ के नवम्बर मास में राइट ग्रोनरेबिल डब्ल्यू० पिट की सेवा में प्रस्तुत किये गये थे'], London का संस्करण, 1800, पृ० १०।)

[1] "*The Times*" के २६ नवम्बर १८६२ के अंक में एक कारख़ानेदार ने, जिसकी मिल में ८०० मजदूर काम करते हैं और औसतन १५० गांठ भारतीय कपास या १३० गांठ अमरीकी कपास (प्रति हफ़्ते) का उपयोग होता है, बहुत रुआंसा होकर यह शिकायत की है कि उसकी फ़ैक्टरी जब काम नहीं करती, तब भी उस कारख़ाने के स्थायी ख़र्च का काफ़ी बोझ रहता है। उसका अनुमान है कि इस तरह उसे हर साल ६,००० पौण्ड ख़र्च करने पड़ते हैं। इस ख़र्च में कई ऐसी मदें शामिल हैं, जिनसे हमारा यहां कोई सम्बंध नहीं है, जैसे किराया, कर और टैक्स, बीमे का ख़र्चा और मैनेजर, हिसाबनवीस, इंजीनियर आदि की तनख़ाएं। फिर उसने हिसाब लगाया है कि समय-समय पर उसे मिल को गरम करने के लिए और यदा-कदा इंजन चलाने के लिए जो कोयला इस्तेमाल करना पड़ता है, उसपर १५० पौण्ड ख़र्च होते हैं। इसके अलावा मशीनों को चालू हालत में रखने के लिए उसे कभी-कभार जिन लोगों को नौकर रखना पड़ता है, उनकी मजदूरी की भी वह गिनती करता है। अन्त में कारख़ानेदार ने १,२०० पौण्ड मशीनों के मूल्य ह्रास की मद में डाल दिये हैं, क्योंकि "जब भाप से चलने वाला इंजन काम करना बन्द कर देता है, तब भी मौसम का तथा अपक्षय का प्राकृतिक सिद्धान्त काम करना बन्द नहीं कर देते।" कारख़ानेदार ने बहुत जोर देकर कहा है कि मूल्य-ह्रास की मद में उसने १,२०० पौण्ड की इस छोटी सी रक़म से ज्यादा इसलिए नहीं डाले हैं कि उसकी मशीन पहले ही से लगभग एकदम घिसी हुई है।

[2] "उत्पादक उपभोग... जहां किसी माल का उपभोग उत्पादन की प्रक्रिया का एक अंग होता है... ऐसी सूरतों में मूल्य का उपभोग नहीं होता।" (S. P. Newman, उप० पु०, पृ० २६६।)

[3] एक अमरीकी पाठ्य-पुस्तक में, जिसके अब तक शायद २० संस्करण निकल चुके हैं, यह लिखा हुआ है कि "इसका कोई महत्व नहीं है कि पूंजी किस रूप में पुनः प्रकट होती है।"

श्रम-प्रक्रिया के वैयक्तिक उपकरण की – अर्थात् कार्य-रत श्रम-शक्ति की – बात दूसरी है। जहां, एक तरफ़, मजदूर इस कारण कि उसका श्रम एक विशिष्ट प्रकार का श्रम होता है और उसका एक ख़ास उद्देश्य होता है, उत्पादन के साधनों के मूल्य को सुरक्षित रखता है और उनको पैदावार में स्थानांतरित कर देता है, वहां, दूसरी तरफ़, वह इसके साथ-साथ केवल काम करने के परिणामस्वरूप हर बार अतिरिक्त अथवा नया मूल्य भी पैदा कर देता है। मान लीजिये कि उत्पादन की प्रक्रिया ठीक उस समय रुक जाती है, जब मजदूर खुद अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का सम-मूल्य पैदा कर लेता है, यानी, मिसाल के लिए, जब वह छः घण्टे के श्रम से तीन शिलिंग का मूल्य जोड़ देता है। यह मूल्य पैदावार के कुल मूल्य का वह भाग देता है, जो उत्पादन के साधनों के कारण पैदावार में आने वाले मूल्य के भाग से अतिरिक्त होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में केवल इतना ही नया मूल्य तैयार होता है, या पैदावार के मूल्य का केवल यही एक ऐसा भाग है, जो उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा पैदा होता है। जाहिर है, हम यह बात नहीं भूलते कि यह नया मूल्य केवल उस मुद्रा की स्थान-पूर्ति करता है, जो पूंजीपति ने श्रम-शक्ति की ख़रीद में पेशगी ख़र्च कर दी थी और जिसे मजदूर ने जीवन की आवश्यकताओं पर ख़र्च कर दिया था। जहां तक ख़र्च कर दी गयी मुद्रा का सम्बंध है, नया मूल्य केवल एक पुनरुत्पादित मूल्य होता है। परन्तु फिर भी यह पुनरुत्पादन एक वास्तविक पुनरुत्पादन होता है; वह उत्पादन के साधनों के मूल्य के पुनरुत्पादन की भांति केवल दिखावटी नहीं होता। यहां भी एक मूल्य का स्थान दूसरा मूल्य ले लेता है, पर यह क्रिया नये मूल्य के सृजन द्वारा सम्पन्न होती है।

किन्तु ऊपर हम यह देख चुके हैं कि केवल श्रम-शक्ति के मूल्य के सम-मूल्य का पुनरुत्पादन करके उसका पैदावार में समावेश करने के लिए जितना समय आवश्यक होता है,

---

फिर, उत्पादन के ऐसे तमाम सम्भव तत्वों को विस्तार के साथ गिनाने के बाद, जिनका मूल्य पैदावार में पुनः प्रकट होता है, इस अंश में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि "मनुष्य के अस्तित्व तथा सुख के लिए जिन नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थों, कपड़े और आश्रय की आवश्यकता होती है, वे भी बदल जाते हैं। उनका समय-समय पर उपभोग किया जाता है, और उनका मूल्य पुनः उस नयी शक्ति के रूप में प्रगट होता है, जिसका शरीर तथा मस्तिष्क में संचार हो जाता है और जो नयी पूंजी बन जाती है, जिसका उत्पादन के काम में पुनः उपयोग किया जाता है।" (F. Wayland, उप० पु०, पृ० ३१, ३२।) यहां जो अन्य अनेक अटपटी बातें कही गयी हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि नयी शक्ति के रूप में जो कुछ पुनः प्रकट होता है, वह रोटी का दाम नहीं होता, बल्कि वह रोटी का रक्त-निर्माण करनेवाला अंश होता है। दूसरी ओर, इस नयी शक्ति के मूल्य में जो कुछ पुनः प्रकट होता है, वह जीवन-निर्वाह के साधन नहीं होते, बल्कि उन साधनों का मूल्य होता है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं यदि वे ही रहें, पर उनका दाम आधा हो जाये, तो उनसे पहले जितनी ही मांस-पेशियां और हड्डियां, पहले जितनी ही नयी शक्ति तैयार होगी, लेकिन उनसे पहले जितने मूल्य की नयी शक्ति नहीं तैयार होगी। "मूल्य" तथा "शक्ति" की यह गड़बड़ी और उसके साथ-साथ हमारे लेखक की पाखण्डपूर्ण अस्पष्टता असल में इस बात की कोशिश हैं – हालांकि बेसूद ही – कि अतिरिक्त मूल्य के पैदा होने का कारण केवल यह बता दिया जाये कि पहले से मौजूद मूल्य पुनः प्रकट हो जाते हैं।

श्रम-प्रक्रिया उसके बाद भी जारी रह सकती है। मान लीजिये, उसके लिए छः घण्टे काफ़ी होते हैं, पर श्रम-प्रक्रिया बारह घण्टे तक जारी रह सकती है। इसलिए, श्रम-शक्ति के कार्य से केवल खुद उसके मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं होता, बल्कि उसके अलावा और उससे अधिक भी कुछ मूल्य पैदा होता है। पैदावार के मूल्य और उसके उत्पादन में खर्च किये गये तत्वों के मूल्य – या, दूसरे शब्दों में, पैदावार के साधनों और श्रम-शक्ति के मूल्य – का अन्तर अतिरिक्त मूल्य होता है।

पैदावार के मूल्य के निर्माण में श्रम-प्रक्रिया के विभिन्न उपकरण जो अलग-अलग भूमिकाएं अदा करते हैं, उनकी व्याख्या करके हमने वास्तव में यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि पूंजी के विभिन्न तत्वों को खुद पूंजी के मूल्य का विस्तार करने की क्रिया में कौन-कौन से कार्य करने पड़ते हैं। पैदावार के संघटक उपकरणों के मूल्यों के जोड़ से पैदावार का कुल मूल्य जितना अधिक होता है, वह विस्तारित पूंजी तथा पेशगी लगायी गयी मूल पूंजी का अन्तर होता है। जब मूल पूंजी मुद्रा से श्रम-प्रक्रिया के नाना प्रकार के उपकरणों में रूपान्तरित की जाती है, तब उसका मूल्य जो अलग-अलग प्रकार के अस्तित्व-रूप धारण कर लेता है, वे ही एक तरफ़ तो उत्पादन के साधन और दूसरी तरफ़ श्रम-शक्ति होते हैं। अतः पूंजी के उस भाग के मूल्य में कोई परिमाणात्मक परिवर्तन नहीं होता, जिसका प्रतिनिधित्व उत्पादन के साधन – कच्चा माल, सहायक सामग्री और श्रम के औज़ार – करते हैं। इसलिए इस भाग को मैं पूंजी का स्थिर भाग या, अधिक संक्षेप में, स्थिर पूंजी कहता हूं।

दूसरी ओर, उत्पादन की प्रक्रिया में पूंजी के उस भाग के मूल्य में अवश्य परिवर्तन हो जाता है, जिसका प्रतिनिधित्व श्रम-शक्ति करती है। वह खुद अपने मूल्य के सम-मूल्य का पुनरुत्पादन भी करता है और साथ ही उससे अधिक एक अतिरिक्त मूल्य भी पैदा कर देता है, जो खुद परिस्थितियों के अनुसार कम या ज़्यादा हो सकता है। पूंजी का यह भाग लगातार एक स्थिर मात्रा से अस्थिर मात्रा में रूपान्तरित होता रहता है। इसलिए उसे मैं पूंजी का अस्थिर भाग या, संक्षेप में, अस्थिर पूंजी कहता हूं। पूंजी के जो तत्व श्रम-प्रक्रिया की दृष्टि से क्रमशः वस्तुगत और वैयक्तिक उपकरणों के रूप में – या उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति के रूप में – सामने आते हैं, वे ही अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की क्रिया की दृष्टि से स्थिर और अस्थिर पूंजी के रूप में प्रकट होते हैं।

ऊपर हमने स्थिर पूंजी की जो परिभाषा दी है, उससे स्थिर पूंजी के विभिन्न तत्वों के मूल्य में परिवर्तन होने की सम्भावना ख़तम नहीं हो जाती। मान लीजिये कि एक दिन कपास का दाम छः पेंस फ़ी पौण्ड है और दूसरे दिन, कपास की फ़सल खराब हो जाने के फलस्वरूप, उसका दाम एक शिलिंग फ़ी पौण्ड हो जाता है। छः पेंस के भाव पर खरीदी हुई कपास का हर वह पौण्ड, जिसे कपास का भाव बढ़ जाने के बाद इस्तेमाल किया जाता है, पैदावार में एक शिलिंग का मूल्य स्थानांतरित करता है। और जो कपास भाव बढ़ने के पहले ही कात डाली गयी थी और जो शायद मण्डी में सूत की शकल में घूम रही थी, वह भी इसी तरह अपने मूल मूल्य का दुगुना मूल्य पैदावार में स्थानांतरित करती है। लेकिन यह बात साफ़ है कि मूल्य के ये परिवर्तन उस वृद्धि से या उस अतिरिक्त मूल्य से स्वतंत्र होते हैं, जिसे खुद कताई ने कपास के मूल्य में जोड़ दिया है। यदि पुरानी कपास कभी काती न गयी होती, तो कपास का भाव बढ़ जाने के बाद उसे छः पेंस के बजाय एक शिलिंग फ़ी पौण्ड के भाव पर फिर से बेचा जा सकता था। इसके अलावा, कपास जितनी ही कम प्रक्रियाओं में से गुज़री

होगी, उसे उतने ही अधिक निश्चित रूप से इस बढ़े हुए भाव पर बेचा जा सकेगा। इसीलिए जब कभी मूल्य के ऐसे परिवर्तन होते हैं, तब सट्टेबाज सदा उस वस्तु का सट्टा खेलना पसन्द करते हैं, जिसपर कम मात्रा में श्रम खर्च किया गया है। मिसाल के लिए, तब वे कपड़े के बजाय सूत का और सूत के बजाय कपास का सट्टा खेलना ज्यादा बेहतर समझते हैं। जिस उदाहरण पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें मूल्य का परिवर्तन उस प्रक्रिया के फलस्वरूप नहीं होता, जिसमें कपास उत्पादन के साधन की भूमिका अदा करती है और इसलिए जिसमें वह स्थिर पूंजी का काम करती है, बल्कि यह परिवर्तन उस प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है, जिसमें खुद कपास पैदा की जाती है। यह सच है कि किसी भी माल का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, लेकिन यह मात्रा खुद सामाजिक परिस्थितियों से सीमित होती है। यदि किसी माल के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय बदल जाता है,—और कपास का कोई निश्चित वजन अच्छी फ़सल के बाद जितने श्रम का प्रतिनिधित्व करता था, बुरी फ़सल के बाद वह उससे अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करने लगता है,—तो इसका असर उस श्रेणी के पहले से मौजूद सभी मालों पर पड़ता है, क्योंकि वे मानो अपनी प्रजाति के सदस्य मात्र ही तो होते हैं,[1] और किसी भी खास समय पर उनका मूल्य सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम से मापा जाता है, अर्थात् किसी भी खास समय पर उनका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि उस समय पायी जाने वाली सामाजिक परिस्थितियों में उनके उत्पादन के लिए कितना श्रम आवश्यक होता है।

जिस तरह कच्चे माल का मूल्य बदल सकता है, उसी तरह श्रम के औज़ारों का, उत्पादन-प्रक्रिया में इस्तेमाल होने वाली मशीनों आदि का मूल्य भी बदल सकता है, और, उसके फलस्वरूप, पैदावार के मूल्य का जो भाग श्रम के औज़ारों से पैदावार में स्थानांतरित होता है, उसमें भी परिवर्तन सम्भव है। यदि किसी नये आविष्कार के फलस्वरूप एक खास तरह की मशीन पहले से कम श्रम द्वारा तैयार की जा सकती है, तो पुरानी मशीन का न्यूनाधिक मूल्य-ह्रास हो जाता है, और चुनांचे वह पैदावार में उतना ही कम मूल्य स्थानांतरित करने लगती है। परन्तु यहां फिर मूल्य का परिवर्तन उस प्रक्रिया के बाहर होता है, जिसमें वह मशीन उत्पादन के साधन का काम करती है। एक बार इस प्रक्रिया में लग जाने के बाद कोई मशीन उससे अधिक मूल्य स्थानांतरित नहीं कर सकती, जितना मूल्य उसमें इस प्रक्रिया से स्वतन्त्र रूप में होता है।

जिस प्रकार उत्पादन के साधनों के श्रम-प्रक्रिया में भागी बन जाने के बाद उनके मूल्य में कोई परिवर्तन होने से उनके स्थिर पूंजी के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, उसी तरह स्थिर पूंजी के सम्बन्ध में अस्थिर पूंजी के अनुपात-परिवर्तन से पूंजी के इन दो प्रकारों के अलग-अलग कार्यों पर भी उसका कोई असर नहीं पड़ता। श्रम-प्रक्रिया की प्राविधिक परिस्थितियों में इतनी बड़ी क्रान्ति हो सकती है कि जहां पहले दस आदमी कम मूल्य के दस औज़ारों को

---

[1] "Toutes les productions d'un même genre ne forment proprement qu'une masse, dont le prix se détermine en général et sans égard aux circonstances particulières." ["एक ही प्रकार की सब उत्पादित वस्तुएं सच पूछिये, तो एक समूह के समान होती हैं, जिसका दाम कुछ सामान्य बातों से निर्धारित होता है और विशिष्ट परिस्थितियों का जिसके दाम पर कोई असर नहीं पड़ता।"] (Le Trosne, उप० पु०, पृ० ८९३।)

इस्तेमाल करते हुए कच्चे माल की अपेक्षाकृत छोटी मात्रा का उपयोग कर सकते थे, वहां अब एक आदमी एक महंगी मशीन की सहायता से पहले से सौगुने अधिक कच्चे माल का उपयोग कर सकता है। ऐसा होने पर स्थिर पूंजी में, जिसका प्रतिनिधित्व उत्पादन के साधनों का कुल मूल्य करता है, भारी वृद्धि हो जाती है और साथ ही श्रम-शक्ति में लगायी गयी अस्थिर पूंजी में भारी कमी हो जाती है। लेकिन इस प्रकार की क्रान्ति से स्थिर तथा अस्थिर पूंजी के केवल परिमाणात्मक सम्बंध में ही परिवर्तन आता है, या उससे केवल उस अनुपात में ही परिवर्तन आता है, जिसमें कुछ पूंजी अपने स्थिर तथा अस्थिर संघटकों में बंटी हुई है। स्थिर तथा अस्थिर पूंजी में जो बुनियादी अन्तर है, उस पर ऐसी क्रान्ति का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता।

## नवां अध्याय

# अतिरिक्त मूल्य की दर

## अनुभाग १ – श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा

मूल रूप से लगायी गयी पूंजी 'पूं' उत्पादन की प्रक्रिया में जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है, या, दूसरे शब्दों में, पूंजी 'पूं' के मूल्य का जो स्वतःविस्तार होता है, वह पहले-पहल एक अतिरेक के रूप में, या पैदावार के मूल्य और पैदावार के संघटक तत्त्वों के मूल्य के अन्तर के रूप में हमारे सामने आता है।

पूंजी 'पूं' दो संघटकों का योग होती है। उसका एक संघटक मुद्रा की वह रक़म होती है, जो उत्पादन के साधनों पर ख़र्च की जाती है और जिसे हम 'स्थि' का नाम दे सकते हैं; और दूसरा संघटक मुद्रा की वह रक़म होती है, जो श्रम-शक्ति पर ख़र्च की जाती है और जिसे हम 'अस्थि' का नाम दे सकते हैं; यानी 'स्थि' पूंजी का वह भाग है, जो स्थिर पूंजी, और 'अस्थि' वह भाग है, जो अस्थिर पूंजी बन गया है। इसलिए शुरू में पूं=स्थि+अस्थि। मिसाल के लिए, यदि मूल पूंजी ५०० पौण्ड है, तो उसके संघटक इस प्रकार के हो सकते हैं कि ५०० पौण्ड=४१० पौण्ड स्थिर पूंजी+९० पौण्ड अस्थिर पूंजी। जब उत्पादन की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, तब हमारे पास एक ऐसा माल होता है, जिसका मूल्य=(स्थि+अस्थि)+'अ', जहां 'अ' अतिरिक्त मूल्य है। भूतपूर्व आंकड़ों को लेते हुए इस माल का मूल्य हो सकता है (४१० पौण्ड स्थि+९० पौण्ड अस्थि)+९० पौण्ड 'अ'। मूल पूंजी अब 'पूं' से 'पूं' में– या ५०० पौण्ड से ५९० पौण्ड में–बदल गयी है। अन्तर है 'अ', या ९० पौण्ड के बराबर अतिरिक्त मूल्य। पैदावार के संघटक तत्त्वों का मूल्य चूंकि मूल पूंजी के मूल्य के बराबर होता है, इसलिए यह कहना एक पुनरुक्ति मात्र है कि पैदावार का मूल्य अपने संघटक तत्त्वों के मूल्य से जितना अधिक होता है, वह मूल पूंजी के विस्तार के बराबर होता है, या वह उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य के बराबर होता है।

फिर भी हमें इस पुनरुक्ति पर थोड़े और निकट से विचार करना चाहिए। जिन दो चीज़ों की यहां तुलना की गयी है, वे हैं पैदावार का मूल्य और उत्पादन की प्रक्रिया में लगाये गये संघटक तत्त्वों का मूल्य। अब ऊपर हम यह देख चुके हैं कि स्थिर पूंजी का जो भाग श्रम के औज़ारों के रूप में होता है, वह अपने मूल्य का केवल एक अंश ही पैदावार में स्थानांतरित करता है और बाक़ी मूल्य उन औज़ारों में ही निहित रहता है। यह बाक़ी भाग चूंकि मूल्य के निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लेता, इसलिए फ़िलहाल हम उसे एक तरफ़ छोड़ सकते हैं। उसे हिसाब में शामिल करने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। मिसाल के लिए,

यदि हम अपने उदाहरण को ही लें, जहां स्थि=४१० पौण्ड, तो हम यह मानकर चल सकते हैं कि इस रक़म में ३१२ पौण्ड कच्चे माल का, ४४ पौण्ड सहायक सामग्री का और ५४ पौण्ड उत्पादन-प्रक्रिया में घिस गयी मशीनों का मूल्य है। और मान लीजिये कि उत्पादन-प्रक्रिया में जो मशीनें इस्तेमाल की गयी हैं, उनका कुल मूल्य १,०५४ पौण्ड है। तब इस १,०५४ पौण्ड की रक़म में से केवल ५४ पौण्ड की रक़म ही पैदावार को तैयार करने में लगायी जाती है, यानी मशीनें उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान में घिस जाने के फलस्वरूप इस रक़म के बराबर मूल्य खो देती हैं। कारण कि मशीनें केवल इतना ही मूल्य पैदावार में स्थानांतरित करती हैं। अब यदि हम यह मानकर चलते हैं कि बाक़ी १,००० पौण्ड भी, जो कि फ़िलहाल मशीनों में ही मौजूद हैं, पैदावार में स्थानांतरित हो गये हैं, तो हमें इस रक़म को मूल पूंजी का ही एक हिस्सा समझना पड़ेगा और अपने हिसाब में दोनों तरफ़ यह रक़म जोड़ देनी पड़ेगी।[1] इस तरह, एक तरफ़ हमारे पास १,५०० पौण्ड की रक़म होगी और दूसरी तरफ़ १,५९० पौण्ड की। इन दो रक़मों का अन्तर, या अतिरिक्त मूल्य, फिर भी ९० पौण्ड ही होगा। इसलिए इस पुस्तक में हमने जहां कहीं मूल्य के उत्पादन में लगायी गयी स्थिर पूंजी का ज़िक्र किया है, वहां यदि संदर्भ इसके बिल्कुल विपरीत नहीं है, तो हमारा मतलब सदा उत्पादन के साधनों के उस मूल्य से और केवल उसी मूल्य से होता है, जो सचमुच उत्पादन-प्रक्रिया में ख़र्च हो गया है।

यह स्पष्ट कर चुकने के बाद आइये, हम फिर अपने उस सूत्र पूं=स्थि+अस्थि की ओर लौट चलें, जो हमारी आंखों के सामने पूं'=(स्थि+अस्थि)+अ में बदल गया था और जिसमें पूं पूं' बन गया था। यह हमें मालूम है कि स्थिर पूंजी का मूल्य पैदावार में स्थानांतरित हो जाता है और उसमें केवल पुनः प्रकट होता है। इसलिए उत्पादन-प्रक्रिया में जिस नये मूल्य का सचमुच सृजन होता है, जो मूल्य पैदा होता है, वह, या यूं कहिये कि उसकी मूल्य-पैदावार, पैदावार के मूल्य से भिन्न होती है। जैसा कि पहली दृष्टि से लगेगा, यह नया मूल्य (स्थि+अस्थि)+अ, या ४१० पौण्ड स्थिर पूंजी+९० पौण्ड अस्थिर पूंजी+९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य, के बराबर नहीं होता, बल्कि वह केवल अस्थि+अ, या ९० पौण्ड अस्थिर पूंजी+९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य, के बराबर होता है, या यूं कहिये कि यह नया मूल्य ५९० पौण्ड नहीं, बल्कि केवल १८० पौण्ड के बराबर होता है। यदि स्थि=0, या, दूसरे शब्दों में, यदि उद्योग की कुछ ऐसी शाखाएं होतीं, जिनमें पूंजीपति को कच्चा माल, सहायक सामग्री या श्रम के औज़ारों के रूप में उत्पादन के ऐसे साधन न इस्तेमाल करने पड़ते, जिनमें पहले ही से कुछ श्रम लग चुका है, और केवल श्रम-शक्ति तथा प्रकृति की दी हुई सामग्री से ही उसका काम चल जाता, तो उस हालत में न तो कोई स्थिर पूंजी उत्पादन की प्रक्रिया में भाग लेती और न ही उसका मूल्य पैदावार में स्थानांतरित होता। तब पैदावार के मूल्य का यह संघटक, यानी, हमारे उदाहरण में, ४१० पौण्ड की रक़म हमारे हिसाब से ग़ायब हो जाती, लेकिन १८० पौण्ड की रक़म, यानी वह नया मूल्य, जो कि उत्पादन-प्रक्रिया में तैयार हुआ

---

[1] "यदि हम अचल पूंजी के मूल्य को मूल पूंजी का ही एक भाग मानकर चलते हैं, तो हमें वर्ष के अन्त में इस प्रकार की पूंजी के बचे हुए मूल्य को वार्षिक आय का एक भाग समझना पड़ेगा।" (Malthus, "*Princ. of Pol. Econ.*" [माल्थूस, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], दूसरा संस्करण, London, 1836, पृ० २६९।)

है, या वह मूल्य, जो पैदा हुआ है और जिसमें ९० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य शामिल है, तब भी उतना ही बड़ा रहता, जितना बड़ा वह उस समय होता, जब 'स्थि' बड़े से बड़े कल्पनातीत मूल्य का प्रतिनिधित्व करता। इस हालत में पूं=(०+अस्थि)=अस्थि, या विस्तारित पूंजी पूं' = अस्थि + अ, और इसलिए पहले की तरह ही पूं' − पूं=अ। दूसरी तरफ़, यदि अ = ०, या, दूसरे शब्दों में, यदि श्रम-शक्ति से, जिसका मूल्य अस्थिर पूंजी के रूप में लगाया जाता है, केवल उसका सम-मूल्य ही पैदा हो, तो पूं = स्थि + अस्थि, या पैदावार का मूल्य पूं' = (स्थि + अस्थि) + ०, या पूं = पूं'। इस हालत में मूल पूंजी के मूल्य का विस्तार नहीं हो पायेगा।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे हमें यह बात मालूम हो गयी है कि अतिरिक्त मूल्य केवल 'अस्थि' के मूल्य में, या पूंजी के केवल उस भाग के मूल्य में परिवर्तन होने का फल होता है, जो श्रम-शक्ति में रूपान्तरित कर दिया जाता है। चुनांचे, अस्थि + अ = अस्थि + अस्थि', या 'अस्थि' जमा 'अस्थि' की वृद्धि। लेकिन इस तथ्य पर कि केवल 'अस्थि' में ही परिवर्तन होता है, और उन परिस्थितियों पर, जिनमें यह परिवर्तन होता है, इस बात से पर्दा पड़ जाता है कि पूंजी के अस्थिर अंश में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप मूल पूंजी के कुल जोड़ में भी वृद्धि हो जाती है। वह जोड़ शुरू में ५०० पौण्ड था और बाद में ५९० पौण्ड हो जाता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि हमारी खोज से कुछ ठीक-ठीक नतीजे निकलें, तो हमें चाहिए कि हम पैदावार के मूल्य के उस भाग को अलग कर दें, जिसमें केवल स्थिर पूंजी प्रकट होती है, और चुनांचे स्थिर पूंजी को शून्य मानकर चलें, या यह मानकर चलें कि स्थि = ०। इस प्रकार, हम गणित के केवल उस नियम का ही उपयोग करेंगे, जो सदा उस वक़्त इस्तेमाल किया जाता है, जब हमें ऐसी स्थिर तथा अस्थिर मात्राओं से काम लेना पड़ता है, जो केवल जोड़ और घटाने के प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से सम्बंधित होती हैं।

एक और कठिनाई अस्थिर पूंजी के मूल रूप से पैदा होती है। हमारे उदाहरण में 'पूं'' = ४१० पौण्ड स्थिर पूंजी + ९० पौण्ड अस्थिर पूंजी + ९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य, परन्तु यहां ९० पौण्ड पहले से निश्चित और इसलिए एक स्थिर मात्रा है। इसलिए उसे अस्थिर मानकर चलना बेतुकी बात मालूम होती है। परन्तु असल में तो ९० पौण्ड अस्थिर पूंजी नामक पद केवल इसी बात का प्रतीक है कि यह मूल्य एक प्रक्रिया में से गुज़रता है। श्रम-शक्ति की ख़रीद में लगाया गया पूंजी का हिस्सा भौतिक रूप प्राप्त श्रम की एक निश्चित मात्रा होता है, और इसलिए ख़रीदी हुई श्रम-शक्ति के मूल्य की भांति वह भी स्थिर मूल्य होता है। लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया में ९० पौण्ड का स्थान कार्य-रत श्रम-शक्ति ले लेती है, मृत श्रम की जगह पर जीवित श्रम आ जाता है, एक निष्प्रवाह के स्थान पर प्रवाहमान और एक स्थिर वस्तु की जगह पर एक अस्थिर वस्तु आ जाती है। परिणाम यह होता है कि 'अस्थि' का पुनरुत्पादन होने के साथ-साथ 'अस्थि' में वृद्धि भी हो जाती है। अतएव, पूंजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से, पूरी प्रक्रिया ऐसी प्रतीत होती है, जैसे कि जो कुछ शुरू में स्थिर मूल्य था, वह श्रम-शक्ति में रूपान्तरित हो जाने पर अपने आप बदलने लगता है। यह प्रक्रिया और उसका परिणाम दोनों उस मूल्य का फल प्रतीत होते हैं। इसलिए यदि इस प्रकार के कथन, जैसे "९० पौण्ड अस्थिर पूंजी" या "आत्म-विस्तार करने वाला इतना मूल्य", स्वतःविरोधी प्रतीत होते हैं, तो उसका कारण केवल यही है कि वे पूंजीवादी उत्पादन में अन्तर्निहित एक विरोध को सतह पर ले आते हैं।

पहली दृष्टि में यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि स्थिर पूंजी को शून्य के बराबर मान लिया जाये। लेकिन हम रोजमर्रा यही करते हैं। मिसाल के लिए, अगर हम यह हिसाब लगाना चाहते हैं कि कपास के उद्योग से इंगलैण्ड को कितना नफ़ा होता है, तो हम सबसे पहले उन रक़मों को घटा देते हैं, जो अमरीका, हिन्दुस्तान, मिस्र तथा अन्य देशों को कपास के बदले में दी जा चुकी हैं। दूसरे शब्दों में, जिस पूंजी का मूल्य पैदावार के मूल्य में महज़ पुनः प्रकट होता है, हम उसे अपने हिसाब में शून्य के बराबर मान लेते हैं।

जाहिर है कि न केवल पूंजी के उस भाग के साथ, जिससे अतिरिक्त मूल्य प्रत्यक्षतः उत्पन्न होता है और जिसके मूल्य में होने वाले परिवर्तन का वह प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि मूल पूंजी के कुल जोड़ के साथ भी अतिरिक्त मूल्य के अनुपात का आर्थिक दृष्टि से भारी महत्व होता है। इसलिए तीसरी पुस्तक में हम इस अनुपात पर पूर्ण विस्तार के साथ विचार करेंगे। यदि पूंजी के एक भाग को श्रम-शक्ति में परिवर्तित होकर अपने मूल्य का विस्तार करना है, तो उसके लिए जरूरी है कि पूंजी का एक और भाग उत्पादन के साधनों में बदल दिया जाये। यदि अस्थिर पूंजी को अपना कार्य करना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि स्थिर पूंजी उचित अनुपात में लगायी जाये। यह उचित अनुपात प्रत्येक श्रम-प्रक्रिया की विशिष्ट प्राविधिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन किसी रासायनिक प्रक्रिया में यदि भभकों तथा अन्य बर्तनों की जरूरत पड़ती है, तो इससे यह जरूरी नहीं हो जाता कि रसायनज्ञ अपने विश्लेषण के परिणाम पर पहुंचते समय उनकी ओर ध्यान दे। यदि हम मूल्य के सृजन के साथ तथा मूल्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तन के साथ उत्पादन के साधनों के सम्बंध को ध्यान में रखते हुए उनपर विचार करें और किसी और बात की ओर ध्यान न दें, तो ये साधन केवल उस सामग्री के रूप में सामने आते हैं, जिसमें मूल्य की सृजन-कर्त्री, यानी श्रम-शक्ति, अपने को समावेश कर देती है। इस सामग्री का न तो स्वरूप किसी महत्त्व का होता है और न उसका मूल्य ही। जरूरत सिर्फ़ इतनी होती है कि यह सामग्री इतनी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो कि उत्पादन की प्रक्रिया में जो श्रम खर्च किया जाय, उसका वह अवशोषण कर ले। यह मात्रा पहले से निश्चित हो, तो सामग्री का मूल्य चाहे बढ़ जाये, चाहे घट जाये और चाहे तो भूमि और सागर की भांति मूल्यहीन हो जाय, उसका मूल्य के सृजन पर या मूल्य की मात्रा के परिवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।[1]

इसलिए, सबसे पहले हम स्थिर पूंजी को शून्य के बराबर मान लेते हैं। चुनांचे मूल पूंजी 'स्थि + अस्थि' से 'अस्थि' में परिणत हो जाती है, और पैदावार के मूल्य (स्थि + अस्थि) + अ के बजाय अब हमारे पास महज़ वह मूल्य (अस्थि + अ) होता है, जो उत्पादन-प्रक्रिया में उत्पन्न हुआ है। उत्पादन-प्रक्रिया में जो नया मूल्य उत्पन्न हुआ है, यदि हम उसे १८० पौण्ड मान लें, तो यह रक़म उस समस्त श्रम का प्रतिनिधित्व करती है, जो उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान में खर्च किया गया है। इस रक़म में से यदि हम अस्थिर पूंजी के मूल्य के ९० पौण्ड घटा दें, तो हमारे पास ९० पौण्ड बच रहते हैं, जो अतिरिक्त मूल्य होते हैं। ९० पौण्ड की यह रक़म, अथवा 'अ',

---

[1] लुक्रेटियस ने जो कुछ कहा है, वह स्वतःस्पष्ट है। "Nil posse creari de nihilo," अर्थात् शून्य में से कुछ नहीं पैदा किया जा सकता। मूल्य का सृजन श्रम-शक्ति का श्रम में रूपान्तरण है। श्रम-शक्ति खुद वह ऊर्जा है, जो पोषक पदार्थ द्वारा मानव-शरीर में स्थानांतरित कर दी जाती है।

उत्पादन-प्रक्रिया में उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य की निरपेक्ष मात्रा को अभिव्यक्त करती है। सापेक्ष उत्पादित मात्रा, या अस्थिर पूंजी की प्रतिशत वृद्धि, ज़ाहिर है, अस्थिर पूंजी के साथ अतिरिक्त मूल्य के अनुपात से निश्चित होती है, या उसे $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ के द्वारा व्यक्त किया जाता है। हमने जो उदाहरण ले रखा है, उसमें यह अनुपात $\frac{९०}{९०}$ है, जिसका मतलब है १०० प्रतिशत की वृद्धि। अस्थिर पूंजी के मूल्य की सापेक्ष वृद्धि, या अतिरिक्त मूल्य की सापेक्ष मात्रा, को मैं "अतिरिक्त मूल्य की दर" कहता हूं।[1]

हम यह देख चुके हैं कि मजदूर श्रम-प्रक्रिया के एक भाग में केवल अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य, अर्थात् केवल अपने जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य, पैदा करता है। अब उसका काम चूंकि सामाजिक श्रम-विभाजन पर आधारित एक व्यवस्था का अंग होता है, इसलिए वह जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक जिन वस्तुओं का स्वयं उपभोग करता है, उनको सीधे तौर पर खुद पैदा नहीं करता। उनके बजाय वह कोई ऐसा माल, मिसाल के लिए, सूत, पैदा करता है, जिसका मूल्य इन आवश्यक वस्तुओं के मूल्य के बराबर होता है, या जिसका मूल्य उस मुद्रा के मूल्य के बराबर होता है, जिसके द्वारा ये आवश्यक वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं। इस उद्देश्य के लिए खर्च होने वाला उसके दिन भर के श्रम का भाग उन आवश्यक वस्तुओं के मूल्य के अनुपात के अनुसार कम या ज्यादा होगा, जिनकी उसे औसतन हर दिन आवश्यकता होती है; या, जो कि एक ही बात है, वह उस श्रम-काल के अनुपात में कम या ज्यादा होगा, जिसकी इन आवश्यक वस्तुओं को पैदा करने के लिए औसतन जरूरत होगी। यदि इन आवश्यक वस्तुओं का मूल्य औसतन छः घण्टे के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, तो मजदूर को इतना मूल्य पैदा करने के लिए औसतन छः घण्टे काम करना चाहिए। यदि वह पूंजीपति के वास्ते काम करने के बजाय स्वतंत्र रूप से खुद अपने लिए काम करता होता, तो भी अन्य बातों के समान रहते हुए उसे अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पैदा करने के लिए और उसके द्वारा जीवन-निर्वाह के उन साधनों को प्राप्त करने के लिए, जिनकी उसे अपने को बनाये रखने – अथवा अपना पुनरुत्पादन जारी रखने – के वास्ते जरूरत होती है, इतने ही घण्टों तक श्रम करना पड़ता। लेकिन, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मजदूर अपने दिन भर के श्रम के जिस हिस्से में अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य, मान लीजिये ३ शिलिंग, पैदा करता है, उसमें वह केवल अपनी श्रम-शक्ति के उस मूल्य का सम-मूल्य ही पैदा करता है, जिसे पूंजीपति पेशगी अदा कर चुका है।[2] इस तरह वह जो

---

[1] मैं इस नाम का उसी ढंग से प्रयोग करता हूं, जिस ढंग से अंग्रेज लोग "rate of profit", "rate of interest" ("नफ़े की दर", "सूद की दर") का प्रयोग करते हैं। पुस्तक ३ में हम देखेंगे कि अतिरिक्त मूल्य के नियमों को जानते ही मुनाफ़े की दर हमारे लिए कोई रहस्यमयी बात नहीं रह जाती। परन्तु क्रम को उलट देने पर हम दोनों में से किसी भी चीज़ को नहीं समझ सकते हैं।

[2] [तीसरे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: लेखक ने यहां अपने ज़माने में प्रचलित अर्थशास्त्र सम्बन्धी भाषा का प्रयोग किया है। पाठक को याद होगा कि पृ० १८२ (वर्तमान संस्करण के पृ० १७४) पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि वास्तव में पूंजीपति मजदूर को "पेशगी" नहीं देता, बल्कि मजदूर पूंजीपति को "पेशगी" देता है। – फ़्रे० एं०]

मूल्य उत्पन्न करता है, वह केवल मूल अस्थिर पूंजी का स्थान ले लेता है। इसी कारण तीन शिलिंग के इस नये मूल्य का उत्पादन महज़ पुनरुत्पादन जैसा मालूम होता है। इसलिए कार्य-दिवस के जिस हिस्से में यह पुनरुत्पादन होता है, उसे मैं "आवश्यक" श्रम-काल कहता हूं, और इस काल में ख़र्च किये जाने वाले श्रम को मैं "आवश्यक" श्रम कहता हूं।[1] वह मजदूर के दृष्टिकोण से आवश्यक होता है, क्योंकि वह उसके श्रम के विशिष्ट सामाजिक रूप से स्वतंत्र होता है। और वह पूंजी तथा पूंजीपतियों के संसार के दृष्टिकोण से भी आवश्यक होता है, क्योंकि मजदूर के अस्तित्व के क़ायम रहने पर ही उनका अस्तित्व भी निर्भर करता है।

श्रम-प्रक्रिया के दूसरे भाग में, यानी श्रम-प्रक्रिया के उस भाग में, जिसमें मजदूर का श्रम आवश्यक श्रम नहीं होता, यह तो सच कि मजदूर श्रम करता है, अर्थात् श्रम-शक्ति ख़र्च करता है, लेकिन उसका श्रम चूंकि अब आवश्यक श्रम नहीं होता, इसलिए वह अब ख़ुद अपने लिए मूल्य पैदा नहीं करता। अब वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, और पूंजीपति के लिए उसका आकर्षण शून्य में से पैदा की गयी किसी चीज़ के समान ही होता है। काम के दिन के इस हिस्से को मैंने अतिरिक्त श्रम-काल का नाम दिया है, और इस काल में जो श्रम ख़र्च किया जाता है, उसे मैंने अतिरिक्त श्रम (surplus labour) का नाम दिया है। जिस प्रकार मूल्य को समुचित ढंग से समझने के लिए उसे इतने घण्टों के श्रम का जमाव मात्र समझना आवश्यक है और ज़रूरी है कि उसे मूर्त्त रूप प्राप्त श्रम के सिवा और कुछ न समझा जाये, ठीक उसी प्रकार अतिरिक्त मूल्य को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि उसे अतिरिक्त श्रम-काल का जमाव मात्र समझा जाये और उसे मूर्त्त रूप प्राप्त अतिरिक्त श्रम के सिवा और कुछ न माना जाये। समाज के विभिन्न आर्थिक रूपों का मूल अन्तर – उदाहरण के लिए, दास-श्रम पर आधारित समाज और मजदूरी पर आधारित समाज का मूल अन्तर – केवल इस बात पर निर्भर करता है कि वास्तविक उत्पादक से, अर्थात् मजदूर से, यह अतिरिक्त श्रम किस ढंग से निचोड़ा जाता है।[2]

---

[1] इस रचना में अभी तक हमने "आवश्यक श्रम-काल" का प्रयोग उस श्रम-काल के लिए किया है, जो किन्हीं ख़ास सामाजिक परिस्थितियों में किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। आगे से हम उस श्रम-काल के लिए भी इस नाम का प्रयोग करेंगे, जो श्रम-शक्ति नामक एक ख़ास माल के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। किसी एक पारिभाषिक शब्द को अलग-अलग अर्थों में प्रयोग करना असुविधा का कारण हो सकता है, लेकिन ऐसा कोई विज्ञान नहीं है, जिसमें इस चीज़ से एकदम बचा जा सके। उदाहरण के लिए, गणित की निम्न शाखाओं से उसकी उच्च शाखाओं की तुलना कीजिये।

[2] हेर्र विल्हेल्म थ्यूसिडिडीज़ रोश्चेर ने एक महान आविष्कार किया है। उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण बात का पता लगाया है कि यदि, एक तरफ़, आजकल अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पैदावार का निर्माण और उसके फलस्वरूप पूंजी का संचय पूंजीपति की मितव्ययिता के कारण होता है, तो, दूसरी तरफ़, सभ्यता की निम्न अवस्थाओं में बलवान निर्बल को बचाने के लिए मजबूर करता है। (उप० पु०, पृ० ७८।) क्या बचाने के लिए? श्रम? या वह फ़ालतू धन, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है? क्या वजह है कि रोश्चेर जैसे लोग अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति का कारण बताने के लिए केवल पूंजीपति के न्यूनाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होने वाले बहानों को बस दोहरा भर देते हैं? इसकी वजह उनके वास्तविक अज्ञान के अतिरिक्त यह है कि कुछ

एक तरफ़ चूंकि अस्थिर पूंजी का मूल्य तथा उस मूल्य द्वारा ख़रीदी हुई श्रम-शक्ति का मूल्य बराबर होते हैं और इस श्रम-शक्ति का मूल्य काम के दिन के आवश्यक भाग को निर्धारित करता है और दूसरी तरफ़ चूंकि अतिरिक्त मूल्य काम के दिन के अतिरिक्त भाग के द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अस्थिर पूंजी के साथ अतिरिक्त मूल्य का वही अनुपात होता है, जो आवश्यक श्रम के साथ अतिरिक्त श्रम का होता है, या, दूसरे शब्दों में, अतिरिक्त मूल्य की दर, अर्थात् $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} = \frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$। ये दोनों अनुपात, $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ और $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$, एक ही चीज़ को दो अलग-अलग ढंग से व्यक्त करते हैं। एक सूरत में वही चीज़ मूर्त रूप प्राप्त, समाविष्ट श्रम के रूप में, और दूसरी सूरत में वह जीवित, प्रवाहमान श्रम के रूप में व्यक्त की जाती है।

अतः अतिरिक्त मूल्य की दर बिल्कुल ठीक-ठीक यह बताती है कि पूंजी द्वारा श्रम-शक्ति का – या पूंजीपति द्वारा मज़दूर का – किस मात्रा में शोषण हो रहा है।[1]

हम अपने उदाहरण में यह मानकर चल रहे हैं कि पैदावार का मूल्य = ४१० पौण्ड स्थिर पूंजी + ९० पौण्ड अस्थिर पूंजी + ९० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य और मूल पूंजी = ५०० पौण्ड। चूंकि अतिरिक्त मूल्य = ९० पौण्ड और मूल पूंजी = ५०० पौण्ड, इसलिए यदि हम प्रचलित ढंग से हिसाब करें, जिसमें अतिरिक्त मूल्य की दर को मुनाफ़े की दर के साथ गड़बड़ा दिया जाता है, तो अतिरिक्त मूल्य की दर १८ प्रतिशत बैठती है, जो कि इतनी नीची है कि शायद मि० केरी तथा अन्य समन्वयवादियों (harmonisers) को भी इसकी जानकारी से सुखद आश्चर्य हो। लेकिन असल में अतिरिक्त मूल्य की दर $\frac{\text{अ}}{\text{पूं}}$, या $\frac{\text{अ}}{\text{स्थि} + \text{अस्थि}}$, के बराबर नहीं होती, बल्कि वह $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ के बराबर होती है। और इसलिए यहां पर वह $\frac{९०}{५००}$ नहीं, बल्कि $\frac{९०}{९०}$, यानी १०० प्रतिशत है, जो कि शोषण की दिखावटी दर की पांच गुनी बैठती है। जो उदाहरण हम मानकर चल रहे हैं, उसमें यद्यपि हमको काम के दिन की वास्तविक लम्बाई का ज्ञान नहीं है और न ही इसका ज्ञान है कि वह श्रम-प्रक्रिया कितने दिन या कितने सप्ताह चलती है और कुल कितने मज़दूरों से काम लिया जा रहा है, फिर भी अतिरिक्त

---

स्वार्थों के वकील होने के नाते ये लोग मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का वैज्ञानिक विश्लेषण करने और उससे किसी ऐसे नतीजे पर पहुंचने से घबराते हैं, जो हो सकता है कि सत्ताधिकारियों को पसंद न आये।

[1] यद्यपि अतिरिक्त मूल्य की दर बिल्कुल ठीक-ठीक यह बता देती है कि श्रम-शक्ति का किस मात्रा में शोषण हो रहा है, परन्तु उससे यह कदापि नहीं मालूम होता कि कुल निरपेक्ष शोषण कितना हुआ है। मिसाल के लिए, यदि आवश्यक श्रम = ५ घण्टे और अतिरिक्त श्रम = ५ घण्टे, तो शोषण की दर १०० प्रतिशत है। परन्तु कुल शोषण ५ घण्टे का हुआ है। दूसरी ओर, यदि आवश्यक श्रम = ६ घण्टे और अतिरिक्त श्रम = ६ घण्टे, तो शोषण की दर तो पहले की तरह १०० प्रतिशत ही रहती है, मगर कुल शोषण अब २० प्रतिशत बढ़ जाता है और ५ से ६ घण्टे का हो जाता है।

मूल्य की दर $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ अपनी समान अभिव्यंजना $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$ के द्वारा हमको बिल्कुल ठीक-ठीक यह बता देती है कि काम के दिन के दो हिस्सों के बीच क्या सम्बंध है। यहां पर यह सम्बंध समानता का है, क्योंकि दर १०० प्रतिशत है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि हमारे उदाहरण में मजदूर आधा दिन अपने लिए और आधा दिन पूंजीपति के लिए काम करता है।

इसलिए, अतिरिक्त मूल्य की दर का हिसाब लगाने का तरीक़ा संक्षेप में यह है। पहले हम पैदावार के कुल मूल्य को लेते हैं और स्थिर पूंजी को, जो उसमें केवल पुनः प्रकट होती है, शून्य के बराबर मान लेते हैं। जो कुछ बच रहता है, वही वह मूल्य होता है, जो माल के उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में सचमुच पैदा हुआ है। यदि अतिरिक्त मूल्य की राशि पहले से मालूम हो, तो इस बची हुई रक़म में से उसे घटाने पर हमें अस्थिर पूंजी का पता चल जाता है। और, इसके विपरीत, यदि हमें अस्थिर पूंजी की राशि का पहले से ज्ञान हो और अतिरिक्त मूल्य का पता लगाना हो, तो बची हुई रक़म में से अस्थिर पूंजी की राशि घटाकर हम उसे मालूम कर सकते हैं। और यदि अस्थिर पूंजी तथा अतिरिक्त मूल्य दोनों की राशि का हमें ज्ञान हो, तो हमारे लिए केवल अन्तिम क्रिया, अर्थात् $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}$ का—यानी अस्थिर पूंजी के साथ अतिरिक्त मूल्य के अनुपात का—पता लगाने की क्रिया ही बच रहती है।

यह तरीक़ा हालांकि इतना सरल है, फिर भी अगर हम चन्द मिसालों के ज़रिये पाठक को उसमें निहित नये सिद्धान्तों को लागू करने का थोड़ा अभ्यास करा दें, तो शायद ग़लत न होगा।

पहले हम एक कताई करने वाली मिल की मिसाल लेंगे, जिसमें १०,००० म्यूल तकुए हैं और जो अमरीकी कपास से नं० ३२ का सूत कातती है और प्रति सप्ताह फ़ी तकुआ १ पौण्ड सूत तैयार करती है। हम मान लेते हैं कि ६ प्रतिशत कपास कताई में ज़ाया हो जाती है। ऐसी हालत में हर सप्ताह १०,६०० पौण्ड कपास ख़र्च होती है, जिसमें ६०० पौण्ड कपास ज़ाया हो जाती है। अप्रैल १८७१ में कपास का दाम $७\frac{३}{४}$ पेंस फ़ी पौण्ड था, इसलिए पूर्णांकों में कच्चे माल पर ३४२ पौण्ड ख़र्च होते हैं। तैयारी सम्बन्धी मशीनों तथा तकुओं को चलाने वाली शक्ति-मशीन समेत १०,००० तकुओं की कुल लागत, मान लीजिये, एक पौण्ड प्रति तकुआ के हिसाब से १०,००० पौण्ड है। उनकी घिसाई हम १० प्रतिशत के हिसाब से १,००० पौण्ड सालाना लगाते हैं, जो २० पौण्ड प्रति सप्ताह के बराबर बैठती है। इमारत का किराया हम ३०० पौण्ड सालाना, या ६ पौण्ड प्रति सप्ताह, मान लेते हैं। ख़र्च होने वाला कोयला (४ पौण्ड प्रति अश्व-शक्ति फ़ी घण्टा के हिसाब से १०० अश्व-शक्ति तथा ६० घण्टे के लिए, और मिल को गरम करने के वास्ते ख़र्च किये गये कोयले को जोड़कर) ११ टन प्रति सप्ताह बैठता है, जिसपर ८ शिलिंग ६ पेंस फ़ी टन की दर से $४\frac{१}{२}$ पौण्ड प्रति सप्ताह ख़र्च होते हैं। गैस पर प्रति सप्ताह १ पौण्ड और तेल इत्यादि पर $४\frac{१}{२}$ पौण्ड प्रति सप्ताह ख़र्च होता है। इन तमाम सहायक सामग्रियों की कुल लागत १० पौण्ड प्रति सप्ताह होती है। इसलिए एक सप्ताह की पैदावार

के मूल्य का स्थिर भाग ३७८ पौण्ड होता है। मजदूरी के रूप में प्रति सप्ताह ५२ पौण्ड खर्च होते हैं। सूत का दाम १२ $\frac{१}{४}$ पेंस फ़ी पौण्ड है, जिसके अनुसार १०,००० पौण्ड सूत का मूल्य ५१० पौण्ड के बराबर होता है। इसलिए इस उदाहरण में अतिरिक्त मूल्य है ५१० पौण्ड − ४३० पौण्ड=८० पौण्ड। पैदावार के मूल्य के स्थिर भाग को हम शून्य के बराबर मान लेते हैं, क्योंकि वह मूल्य के सृजन में कोई हिस्सा नहीं लेता। बचते हैं १३२ पौण्ड, यानी प्रति सप्ताह १३२ पौण्ड का मूल्य पैदा होता है। वह बराबर है ५२ पौण्ड अस्थिर पूंजी + ८० पौण्ड अतिरिक्त मूल्य के। इसलिए अतिरिक्त मूल्य की दर होती है $\frac{८०}{५२}$ = १५३$\frac{११}{१३}$ प्रतिशत। औसत श्रम के १० घण्टे के काम के दिन में परिणाम यह होता है: आवश्यक श्रम = ३$\frac{३१}{३३}$ घण्टे और अतिरिक्त श्रम = ६$\frac{२}{३३}$ घण्टे।[1]

एक और मिसाल लीजिये। जैकब ने १८१५ के वर्ष के लिए निम्नलिखित गणना की है। इसमें से कई मदों के आंकड़ों का पहले ही समंजन किया जा चुका है और इसलिए वह बहुत त्रुटिपूर्ण है; फिर भी ये आंकड़े हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त हैं। इस हिसाब में जैकब यह मानकर चल रहे हैं कि गेहूं का भाव ८ शिलिंग फ़ी क्वार्टर है और गेहूं की औसत उपज २२ बुशेल फ़ी एकड़ है।

फ़ी एकड़ कितना मूल्य पैदा होता है

| | पौण्ड | शिलिंग | पेंस | | पौण्ड | शिलिंग | पेंस |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बीज . . . . . . . . . . . | १ | ९ | ० | दशांश, कर एवं टैक्स . . | १ | १ | ० |
| खाद . . . . . . . . . . . | २ | १० | ० | लगान . . . . . . . . . . | १ | ८ | ० |
| मजदूरी . . . . . . . . . . | ३ | १० | ० | किसान का मुनाफ़ा तथा सूद | १ | २ | ० |
| कुल जोड़ . . . . . | ७ | ९ | ० | कुल जोड़ . . . . | ३ | ११ | ० |

यदि यह मान लिया जाय कि पैदावार का दाम वही है, जो उसका मूल्य है, तो हम यहां पाते हैं कि अतिरिक्त मूल्य मुनाफ़ा, सूद, लगान आदि नामक कई मदों में बंट जाता है। इन सबसे अलग-अलग हमें कुछ लेना-देना नहीं है। हम तो महज इन सब को एक साथ जोड़ देते हैं, जिससे कुल अतिरिक्त मूल्य ३ पौण्ड ११ शिलिंग का होता है। ३ पौण्ड १९ शिलिंग की रक़म, जो बीज और खाद पर खर्च होती है, स्थिर पूंजी है, और उसे हम शून्य के बराबर मान लेते हैं। ३ पौण्ड १० शिलिंग की रक़म बच जाती है, जो कि मूल अस्थिर पूंजी है। और हम देखते

[1] ऊपर दिये गये आंकड़ों पर भरोसा किया जा सकता है। वे मुझे मानचेस्टर की एक कताई-मिल के मालिक से मिले थे। इंगलैण्ड में पहले इंजन के सिलिंडर के व्यास से उसकी अश्व-शक्ति का हिसाब लगाया जाता था। अब सूचक पर जो वास्तविक अश्व-शक्ति दिखाई पड़ती है, वह पढ़ ली जाती है।

हैं कि अब इसकी जगह ३ पौण्ड १० शिलिंग ० पेंस + ३ पौण्ड ११ शिलिंग ० पेंस का नया मूल्य पैदा हो गया है। इसलिए $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} = \frac{\text{३ पौण्ड ११ शिलिंग}}{\text{३ पौण्ड १० शिलिंग}}$, जिसका मतलब होता है कि यहां अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत से अधिक की है। मजदूर अपने काम के दिन का आधे से ज्यादा भाग अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में लगाता है, जिसे विभिन्न व्यक्ति अलग-अलग बहानों से आपस में बांट लेते हैं।[1]

## अनुभाग २ – पैदावार के मूल्य के संघटकों का स्वयं पैदावार के तदनुरूप सानुपातिक अंशों द्वारा प्रतिनिधान

आइये, अब हम फिर उस उदाहरण की ओर लौट चलें, जिसके द्वारा हमें यह बताया गया था कि पूंजीपति किस प्रकार मुद्रा को पूंजी में बदल डालता है।

१२ घण्टे के एक कार्य-दिवस की पैदावार २० पौण्ड सूत होती है, जिसका मूल्य ३० शिलिंग के बराबर है। इस मूल्य का कम से कम $\frac{८}{१०}$ भाग, अर्थात् २४ शिलिंग, उसमें उत्पादन के साधनों के मूल्य के केवल पुनः प्रकट होने के कारण होता है (इन साधनों में से २० पौण्ड कपास का मूल्य २० शिलिंग है और घिसे हुए तकुए का मूल्य ४ शिलिंग है); अतएव यह स्थिर पूंजी है। बचा हुआ $\frac{२}{१०}$ भाग, या ६ शिलिंग, वह नया मूल्य है, जो कताई की प्रक्रिया के दौरान में पैदा हुआ है। इसमें से आधा मूल्य दिन भर की श्रम-शक्ति के मूल्य का – या अस्थिर पूंजी का – स्थान लेता है। बाक़ी आधा भाग, यानी ३ शिलिंग, अतिरिक्त मूल्य होता है। चुनांचे, २० पौण्ड सूत का कुल मूल्य इन संघटकों से मिलकर बना होता है:

सूत का ३० शिलिंग मूल्य=२४ शिलिंग स्थिर पूंजी + ३ शिलिंग अस्थिर पूंजी + ३ शिलिंग अतिरिक्त मूल्य।

चूंकि यह पूरा मूल्य उस २० पौण्ड सूत में मौजूद है, जो कताई की प्रक्रिया के द्वारा तैयार हुआ है, इसलिए इस मूल्य के अलग-अलग संघटक अंशों का निरूपण उस ढंग से किया जा सकता है, मानो वे पैदावार के तदनुरूप अंशों में क्रमशः मौजूद हैं।

यदि २० पौण्ड सूत में ३० शिलिंग का मूल्य मौजूद है, तो इस मूल्य का $\frac{८}{१०}$ भाग, यानी २४ शिलिंग, जो कि उसका स्थिर अंश है, पैदावार के $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पौण्ड सूत में, है। इस १६ पौण्ड सूत में से १३$\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत कच्चे माल का – यानी २० शिलिंग की

---

[1] यहां केवल मिसाल के रूप में यह सारा हिसाब लगाया गया है। वस्तुतः हमने यहां यह मान लिया है कि दाम=मूल्य। किन्तु पुस्तक ३ में हम देखेंगे कि औसत दामों के बारे में भी हम इस तरह अत्यन्त सरल ढंग से पूर्वकल्पना करके नहीं चल सकते।

क़ीमत की कपास का—प्रतिनिधित्व करेगा, और $२\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत ४ शिलिंग की क़ीमत के बराबर उत्पादन-प्रक्रिया में घिस गये तकुए आदि का प्रतिनिधित्व करेगा।

इसलिए, २० पौण्ड सूत कातने में जो कुल कपास ख़र्च होती है, उसका प्रतिनिधित्व $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत करता है। यह सच है कि इस $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत में $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड से ज़्यादा कपास नहीं होती, जिसकी क़ीमत $१३\frac{१}{३}$ शिलिंग होती है। लेकिन उसमें जो $६\frac{२}{३}$ शिलिंग का नया मूल्य मौजूद होता है, वह बाक़ी $६\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत की कताई में ख़र्च हुई कपास का सम-मूल्य होता है। असर वही होता है, जैसे इस $६\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत में कपास बिल्कुल न हो और पूरी की पूरी २० पौण्ड कपास $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत में केन्द्रीभूत हो। और इस $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड सूत में न तो सहायक सामग्री तथा औज़ारों के मूल्य का एक भी कण और न ही उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान में पैदा हुए मूल्य का लेश मात्र ही होता है।

इसी प्रकार, वह $२\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत, जिसमें स्थिर पूंजी का बचा हुआ भाग, यानी ४ शिलिंग निहित हैं, वह उस सहायक सामग्री तथा श्रम के उन औज़ारों के मूल्य के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो २० पौण्ड सूत तैयार करने में ख़र्च हो चुके हैं।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यद्यपि पैदावार का $\frac{८}{१०}$ भाग, या १६ पौण्ड सूत, एक उपयोगी वस्तु के रूप में कातने वाले के श्रम का वैसा ही फल होता है, जैसा कि इसी पैदावार का बाक़ी हिस्सा; फिर भी जब उसपर इस सम्बंध में विचार किया जाता है, तब उसमें कताई की प्रक्रिया के दौरान में ख़र्च किया गया कोई श्रम नहीं होता और न ही तब वह उस श्रम का अवशोषण करता है। यह वैसी ही बात है, जैसे कपास बिना किसी की मदद के ख़ुद-ब-ख़ुद सूत में बदल गयी हो; जैसे उसने जो रूप धारण कर लिया है, वह केवल चालबाज़ी और धोखा हो। कारण कि जैसे ही हमारा पूंजीपति इस सूत को २४ शिलिंग में बेच डालता है और इस मुद्रा से अपने उत्पादन के साधनों को बहाल कर देता है, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि १६ पौण्ड सूत छद्म-वेश में इतनी कपास और इतने तकुओं से अधिक और कुछ नहीं था।

दूसरी ओर, पैदावार का बाक़ी $\frac{२}{१०}$ भाग, यानी ४ पौण्ड सूत, ६ शिलिंग के उस नये मूल्य के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो १२ घण्टे की कताई की प्रक्रिया के दौरान में उत्पन्न हुआ है। इस ४ पौण्ड सूत में कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों से जितना मूल्य स्थानांतरित हुआ है, वह मानो बीच में ही रोककर उस १६ पौण्ड सूत में समाविष्ट कर दिया गया है, जो पहले कात डाला गया था। बात कुछ ऐसी लगती है, जैसे कि यह ४ पौण्ड

सूत कातने वाले ने हवा में से कात डाला हो या जैसे उसने यह ४ पौण्ड सूत उस कपास और उन तकुओं की मदद से तैयार किया हो, जिन्होंने प्रकृति की स्वयंस्फूर्त देन होने के कारण पैदावार में तनिक भी मूल्य स्थानांतरित नहीं किया है।

इस ४ पौण्ड सूत में वह सम्पूर्ण मूल्य संघटित होता है, जो कताई की प्रक्रिया में नया-नया तैयार हुआ है। उसमें से आधा उत्पादन-प्रक्रिया में खर्च हुए श्रम के मूल्य के सम-मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, या यूं कहिये कि उसमें से आधा ३ शिलिंग अस्थिर पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है, और बाक़ी आधा भाग ३ शिलिंग के अतिरिक्त मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है।

चूंकि कातने वाले के काम के १२ घण्टे ६ शिलिंग में निहित होते हैं, इसलिए ३० शिलिंग के मूल्य के सूत में काम के ६० घण्टे निहित होंगे। और २० पौण्ड सूत में सचमुच श्रम-काल की यह मात्रा निहित होती है। कारण कि $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पौण्ड सूत में, ४८ घण्टे का वह श्रम निहित होता है, जो कताई की प्रक्रिया के आरम्भ होने के पहले ही उत्पादन के साधनों पर खर्च हो चुका था, और बाक़ी $\frac{२}{१०}$ भाग—या ४ पौण्ड सूत—में वह १२ घण्टे का काम निहित होता है, जो खुद कताई की प्रक्रिया के दौरान में किया गया था।

इसके पहले एक पृष्ठ पर हम यह देख चुके हैं कि सूत का मूल्य उस सूत के उत्पादन के दौरान में पैदा किये गये नये मूल्य और उत्पादन के साधनों में पहले से मौजूद मूल्य के जोड़ के बराबर होता है।

अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि पैदावार के मूल्य के विभिन्न संघटक अंशों का, जो अपने-अपने कार्य की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं, किस प्रकार स्वयं पैदावार के तदनुरूप सानुपातिक भागों द्वारा प्रतिनिधान किया जा सकता है।

पैदावार को इस तरह अलग-अलग भागों में बांट देना, जिनमें से एक भाग केवल उस श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, जो उत्पादन के साधनों पर पहले ही खर्च किया जा चुका है, या जिनमें से एक भाग केवल स्थिर पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है, एक और भाग केवल उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में खर्च किये आवश्यक श्रम का—या अस्थिर पूंजी का—प्रतिनिधित्व करता है और एक और तथा अन्तिम भाग केवल उसी प्रक्रिया में खर्च किये गये अतिरिक्त श्रम का—या अतिरिक्त मूल्य का—ही प्रतिनिधित्व करता है,—पैदावार को इस तरह अलग-अलग भागों में बांट देना जितना सरल है, उतना ही महत्वपूर्ण है। आगे जब इस क्रिया को ऐसी पेचीदा समस्याओं पर लागू किया जायेगा, जिनको अभी तक हल नहीं किया जा सका है, तब यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

अभी ऊपर हमने जिस उदाहरण पर विचार किया है, उसमें हमने कुल पैदावार को, जो बनकर इस्तेमाल के लिए तैयार हो गयी थी, १२ घण्टे के काम के दिन का अन्तिम फल माना था। लेकिन इस कुल पैदावार का हम उसके उत्पादन की तमाम अवस्थाओं में अनुसरण कर सकते हैं, और यदि हम हर अलग-अलग अवस्था में तैयार होने वाली आंशिक पैदावार को अन्तिम या कुल पैदावार के कार्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अंश मानें, तो इस तरह भी हम उसी नतीजे पर पहुंच जाते हैं, जिसपर हम पहले पहुंचे थे।

कातने वाला १२ घण्टे में २० पौण्ड सूत, या १ घण्टे में $१\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत तैयार करता है। चुनांचे वह ८ घण्टे में $१३\frac{१}{३}$ पौण्ड, या एक ऐसी आंशिक पैदावार तैयार करता है, जो मूल्य में उस तमाम कपास के बराबर होती है, जो दिन भर में काती जाती है। इसी तरह अगले १ घण्टे और ३६ मिनट की आंशिक पैदावार $२\frac{२}{३}$ पौण्ड सूत होती है। यह श्रम के उन औज़ारों के मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है, जो १२ घण्टे में ख़र्च हो जाते हैं। उसके बाद के १ घण्टे १२ मिनट में कातने वाला ३ शिलिंग की क़ीमत का २ पौण्ड सूत तैयार करता है। यह मूल्य उस पूरे मूल्य के बराबर होता है, जो वह अपने ६ घण्टे के आवश्यक श्रम से पैदा करता है। अन्त में, वह आख़िरी घण्टे तथा १२ मिनट में २ पौण्ड और सूत तैयार कर देता है, जिसका मूल्य उस अतिरिक्त मूल्य के बराबर होता है, जो उसका अतिरिक्त श्रम आधे दिन में पैदा कर देता है। हिसाब का यह ढंग अंग्रेज़ कारख़ानेदार के रोज़मर्रा के काम में आता है। वह कहेगा कि इस तरह उसे यह पता चल जाता है कि पहले ८ घण्टों में, काम के दिन के पहले $\frac{२}{३}$ भाग में, उसे अपनी कपास का मूल्य वापिस मिल जाता है और इस तरह बाक़ी घण्टों में उसे और चीज़ों का मूल्य मिलता जाता है। साथ ही यह हिसाब जोड़ने का बिल्कुल सही तरीक़ा है। क्योंकि सच पूछिये तो यह वही तरीक़ा है, जो ऊपर बताया जा चुका है। फ़र्क़ इतना है कि ऊपर यह तरीक़ा उस स्थान पर लागू किया गया था, जिसमें सम्पूर्ण पैदावार के अलग-अलग भाग मानो बराबर-बराबर पड़े हुए थे, और यहां पर उसे उस काल पर लागू किया गया है, जिसमें ये अलग-अलग भाग मानो क्रमानुसार तैयार होते हैं। परन्तु हिसाब के इस ढंग के साथ-साथ दिमाग़ में कुछ बहुत ही बर्बर विचार भी आ सकते हैं, – ख़ास कर उन दिमाग़ों में, जिनको व्यावहारिक दृष्टि से मूल्य से मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में उतनी ही दिलचस्पी है, जितनी कि सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रक्रिया को ग़लत ढंग से समझने में है। ऐसे लोगों के दिमाग़ों में यह विचार पैदा हो सकता है कि, मिसाल के लिए, एक कातने वाला अपने काम के दिन के पहले ८ घण्टों में कपास का मूल्य पैदा करता है, या उसे बहाल करता है, अगले १ घण्टे और ३६ मिनट में वह श्रम के घिस जाने वाले औज़ारों का मूल्य पैदा करता है, या उसे बहाल करता है, उसके बाद के १ घण्टे और १२ मिनट में वह मज़दूरी का मूल्य पैदा करता है, या उसे लौटाता है, और कारख़ानेदार के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में वह केवल वह सुप्रसिद्ध "अन्तिम घण्टा" ही लगाता है। इस तरह, उस बेचारे कातने वाले से यह दोहरा चमत्कार सम्पन्न कराया जाता है कि वह न केवल कपास, तकुओं, भाप के इंजन, कोयले तथा तेल आदि से कताई करने के साथ-साथ इन तमाम चीज़ों को पैदा भी करता जाता है, बल्कि वह काम के एक दिन को पांच दिनों में बदल देता है। कारण कि जिस उदाहरण पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों के उत्पादन में बारह-बारह घण्टे के चार काम के दिनों की और उनको सूत में बदलने के लिए बारह घण्टे के ही एक और दिन की ज़रूरत होती है। मुनाफ़े के मोह में पड़कर मनुष्य सहज ही ऐसे चमत्कारों में विश्वास करने लगता है, और उनको सत्य सिद्ध करने के लिए चाटुकार सिद्धान्तवेत्ताओं की कभी कमी नहीं होती। इसका प्रमाण ऐतिहासिक ख्याति की यह निम्नलिखित घटना है।

## अनुभाग ३–सीनियर का "अन्तिम घण्टा"

नस्साउ डब्लयू० सीनियर को अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की आत्मा (bel-esprit) कहा जा सकता है, और वह जितने अपने आर्थिक "विज्ञान" के लिए प्रसिद्ध हैं, अपनी सुन्दर शैली के लिए भी उतने ही विख्यात हैं। १८३६ के एक सुन्दर प्रभात की बात है कि उनको आक्सफ़ोर्ड से मानचेस्टर बुला भेजा गया, ताकि जो अर्थशास्त्र वह आक्सफ़ोर्ड में पढ़ाया करते थे, मानचेस्टर में उसकी शिक्षा प्राप्त कर सकें। कारखानेदारों ने उनको न केवल उस Factory Act (फ़ैक्टरी-क़ानून) का विरोध करने के लिए अपना प्रतिनिधि चुना, जो अभी हाल में पास हुआ था, बल्कि उस दस घण्टे वाले आन्दोलन का मुक़ाबला करने के लिए नियुक्त किया, जो फ़ैक्टरी-क़ानून से भी ज्यादा खतरनाक था। व्यावहारिक मामलों में अपनी स्वाभाविक कुशाग्रता के कारण कारखानेदारों ने यह समझ लिया था कि विद्वान प्रोफ़ेसर "wanted a good deal of finishing" (विद्वान प्रोफ़ेसर में "अभी कई आंच की कसर बाक़ी है")। इसीलिए उन लोगों ने प्रोफ़ेसर साहब को लिखकर बुला भेजा था। प्रोफ़ेसर साहब को मानचेस्टर के कारखानेदारों से जो भाषण सुनने को मिला, उसे उन्होंने एक पुस्तिका में लेख-बद्ध कर दिया। उस पुस्तिका का शीर्षक था: "*Letters on the Factory Act, as it affects the cotton manufacture*", London, 1837, ('फ़ैक्टरी-क़ानून का सूती उद्योग पर जो असर पड़ता है, उसके सम्बंध में कुछ ख़त', लन्दन, १८३७)। उसमें अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित उपदेशात्मक अंश भी पढ़ने को मिलता है:

"मौजूदा क़ानून के मातहत, किसी ऐसी मिल में, जिसमें १८ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति काम करते हैं,... ११$\frac{१}{२}$ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं कराया जा सकता, यानी ऐसी मिलों में सप्ताह में पांच दिन १२ घण्टे और शनिवार को नौ घण्टे काम कराया जा सकता है।

"अब निम्नलिखित विश्लेषण (!) से पता चलेगा कि जिस मिल में इस तरह काम कराया जाता है, उसमें कुल असल मुनाफ़ा <u>अन्तिम घण्टे से</u> प्राप्त होता है। मैं माने लेता हूं कि एक कारखानेदार ने १,००,००० पौण्ड की पूंजी लगायी है: ८०,००० पौण्ड मिल और मशीनों में और २०,००० पौण्ड कच्चे माल और मजदूरी में। यदि यह मान लिया जाये कि पूरी पूंजी का साल में एक बार प्रत्यावर्तन हो जाता है और कुल मुनाफ़ा १५ प्रतिशत का होता है, तो इस मिल की वार्षिक पैदावार १,१५,००० पौण्ड की क़ीमत का सामान होगी... काम के तेईस अर्ध-घण्टों में से प्रत्येक में इस १,१५,००० पौण्ड का $\frac{५}{११५}$ भाग, या $\frac{१}{२३}$ वां भाग तैयार होता है। इन तेईस $\frac{१}{२३}$ वें भागों में से, जो कुल मिलाकर १,१५,००० पौण्ड के बराबर होते हैं (constituting the whole १,१५,००० पौण्ड), बीस, यानी १,१५,००० पौण्ड में से १,००,००० पौण्ड, केवल मूल पूंजी को बहाल करते हैं; एक $\frac{१}{२३}$ वां भाग (या १,१५,००० पौण्ड में से ५,००० पौण्ड) मिल तथा मशीनों की घिसाई का हिसाब पूरा करता है। बाक़ी दो $\frac{१}{२३}$ वें भाग, अर्थात् हर दिन के तेईस अर्ध-घण्टों में से

अन्तिम दो अर्ध-घण्टे, १० प्रतिशत का असल मुनाफ़ा पैदा करते हैं। इसलिए (दामों के एक से रहते हुए) यदि फ़ैक्टरी में साढ़े ग्यारह घण्टे के बजाय तेरह घण्टे काम कराया जा सके और चालू पूंजी में लगभग २,६०० पौण्ड और जोड़ दिये जायें, तो असल मुनाफ़े को दुगुने से भी ज्यादा किया जा सकता है। दूसरी ओर, यदि काम के घण्टों में एक घण्टा प्रति दिन की कमी कर दी जाये, तो (दामों के एक से रहते हुए) असल मुनाफ़ा नष्ट हो जायेगा, और यदि काम के घण्टों में डेढ़ घण्टे की कमी कर दी जाये, तो कुल मुनाफ़ा भी नष्ट हो जायेगा।"[1]

---

[1] Senior, उप० पु०, पृ० १२, १३। हम उन असाधारण विचारों पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं करेंगे, जिनका हमारे उद्देश्य के लिए कोई महत्व नहीं है। उदाहरण के लिए, हम इस कथन के बारे में कुछ न कहेंगे कि कारख़ानेदार उस रक़म को भी अपने कुल या असल मुनाफ़े में शामिल कर लेते हैं, जो मशीनों की घिसाई से होने वाले नुक़सान को पूरा करने के लिए जरूरी होती है, या, दूसरे शब्दों में, जिसकी मूल पूंजी के एक भाग की स्थान-पूर्ति के लिए आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, यदि उनके दिये हुए आंकड़ों की सचाई के बारे में कोई सवाल हो, तो हम उसको भी अनदेखा कर जाते हैं। लेओनार्ड होर्नर ने अपने "A Letter to Mr. Senior, etc.", London, 1837 ('मि० सीनियर के नाम एक पत्र, आदि', लन्दन, १८३७), में यह बात सिद्ध कर दी है कि मि० सीनियर के दिये हुए आंकड़े उतने ही बेकार हैं, जितना कि उनका तथाकथित "विश्लेषण"। लेओनार्ड होर्नर १८३३ में फ़ैक्टरियों की जांच करने वाले कमिश्नरों में से एक था और १८५६ तक वह फ़ैक्टरियों का निरीक्षक—या कहना चाहिए, दोषान्वेषक रहा था। उसने अंग्रेज मजदूर-वर्ग की ऐसी सेवा की है, जिसे कभी नहीं भुलाया जा सकता। उसने न केवल क्रुद्ध कारख़ानेदारों के विरुद्ध, बल्कि उस मंत्रि-मंडल के विरुद्ध भी आजीवन संघर्ष किया, जिसके लिए इस बात की अपेक्षा कि मजदूर ("hands") मिलों में कितने घण्टे काम करते हैं, इस बात का कहीं अधिक महत्व था कि उसे संसद के निम्न सदन में मिल-मालिकों के कितने वोट मिलेंगे।

सीनियर ने सिद्धान्त की दृष्टि से जो ग़लतियां की हैं, उनके अलावा उनका वक्तव्य बहुत उलझा हुआ भी है। वह सचमुच जो कुछ कहना चाहते थे, वह यह है: कारख़ानेदार मजदूर से रोजाना ११ $\frac{१}{२}$ घण्टे, या २३ अर्ध-घण्टे, काम लेता है। काम के दिन की तरह हम काम के वर्ष को भी ११ $\frac{१}{२}$ घण्टों—या २३ अर्ध-घण्टों—का बना हुआ मान सकते हैं, बशर्ते कि वर्ष में काम के जितने दिन हों, उनसे ११$\frac{१}{२}$ घण्टों—या २३ अर्ध-घण्टों—को गुणा कर दिया जाये। इस प्रकार इन गुणित २३ अर्ध-घण्टों में १,१५,००० पौण्ड की वार्षिक पैदावार होती है; इसलिए एक अर्ध-घण्टे में १,१५,००० पौण्ड $\times\frac{१}{२३}$ की पैदावार होती है और २० अर्ध-घण्टों में १,१५,००० $\times\frac{२०}{२३}$ पौण्ड = १,००,००० पौण्ड की पैदावार होती है, यानी २० अर्ध-घण्टों में केवल मूल पूंजी बहाल होती है। बचते हैं ३ अर्ध-घण्टे, जिनसे १,१५,००० $\times$

और इसे प्रोफ़ेसर साहब "विश्लेषण" कहते हैं! यदि कारखानेदारों की चीख़-पुकार पर विश्वास करके उनका यह ख़याल हो गया था कि मज़दूर लोग दिन का अधिकांश मकानों, मशीनों, कपास, कोयला आदि के मूल्य के उत्पादन में—अर्थात् उनके पुनरुत्पादन या उनकी बहाली में—ख़र्च करते हैं, तो उनका विश्लेषण बेकार था। उनको केवल यह उत्तर देना चाहिए था कि "महानुभावो! यदि आप लोग $11\frac{1}{2}$ घण्टे के बजाय अपनी मिलें १० घण्टे चलाने लगेंगे, तो अन्य बातों के समान रहते हुए आपका कपास, मशीनों आदि का रोज़ाना ख़र्च भी उसी अनुपात में घट जायेगा। जितना आपका नुक़सान होगा, उतनी ही बचत हो जायेगी। आपके मज़दूरों को भविष्य में मूल पूंजी को पैदा करने अथवा उसकी स्थान-पूर्ति के लिए पहले से डेढ़ घण्टा कम काम करना पड़ेगा।" दूसरी ओर, यदि प्रोफ़ेसर साहब बिना और छानबीन किये कारखानेदारों की बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे, मगर इन मामलों के विशेषज्ञ होने के नाते विश्लेषण करना आवश्यक समझते थे, तो यह देखते हुए कि यह एक ऐसा सवाल है, जो सिर्फ़ काम के दिन की लम्बाई के साथ असल मुनाफ़े के सम्बंध से ताल्लुक़ रखता है, उनको सबसे पहले कारखानेदारों से यह कहना चाहिए था कि उन्हें मशीनों, वर्कशापों, कच्चे माल और श्रम को एक ढेर में नहीं जमा कर देना चाहिए, बल्कि मकानों, मशीनों, कच्चे माल आदि में लगी हुई स्थिर पूंजी को हिसाब में एक तरफ़ और मज़दूरी की शकल में पेशगी दी गयी पूंजी को दूसरी तरफ़ रखना चाहिए। यदि ऐसा करने पर प्रोफ़ेसर साहब को यह पता चलता कि कारखानेदारों के हिसाब के मुताबिक़ मज़दूर अपनी मज़दूरी का २ अर्ध-घण्टों में पुनरुत्पादन कर देता है, या उसका स्थान भर देता है, तो फिर आगे उनको इस तरह विश्लेषण करना चाहिए था:

आप के आंकड़ों के अनुसार, मज़दूर अपने अन्तिम से पहले एक घण्टे में अपनी मज़दूरी पैदा करता है और अन्तिम घण्टे में आप लोगों का अतिरिक्त मूल्य, या असल मुनाफ़ा, पैदा करता है। अब चूंकि समान अवधि में वह समान मूल्यों को पैदा करता है, इसलिए उसके अन्तिम से पहले एक घण्टे की पैदावार का वही मूल्य होगा, जो उसके अन्तिम घण्टे की पैदावार का होगा। इसके अलावा, वह कोई मूल्य तभी पैदा करता है, जब वह श्रम करता है और उसके श्रम की मात्रा उसके श्रम-काल से मापी जाती है। आपके कथनानुसार,

---

$\frac{३}{२३}$ पौण्ड=१५,००० पौण्ड की पैदावार होती है, या यूं कहिये कि बाक़ी तीन अर्ध-घण्टों में कुल मुनाफ़ा होता है। इन ३ अर्ध-घण्टों में से १ में १,१५,०००×$\frac{१}{२३}$ पौण्ड=५,००० पौण्ड की पैदावार होती है, या यूं कहिये कि उनमें से १ अर्ध-घण्टे में मशीनों की घिसाई पूरी होती है। बाक़ी २ अर्ध-घण्टों में, अर्थात् अन्तिम घण्टे में, १,१५,०००× $\frac{२}{२३}$पौण्ड=१०,००० पौण्ड की पैदावार होती है, या यूं कहिये कि अन्तिम घण्टे में असल मुनाफ़ा होता है। सीनियर ने अपनी पुस्तिका में पैदावार के अन्तिम$\frac{२}{२३}$ वें भाग को ख़ुद काम के दिन के हिस्सों में बदल डाला है।

श्रम-काल रोजाना ११$\frac{1}{2}$ घण्टे होता है। इन ११$\frac{1}{2}$ घण्टों में से मजदूर एक हिस्सा अपनी मजदूरी पैदा करने – या उसका स्थान भरने – में लगाता है और बाक़ी हिस्सा आपका असल मुनाफ़ा पैदा करने में खर्च करता है । उससे अधिक वह कुछ नहीं करता। लेकिन आप चूंकि यह मानकर चल रहे हैं कि मजदूर की मजदूरी और आपके लिए वह जो अतिरिक्त मूल्य तैयार करता है, दोनों का मूल्य समान होता है, इसलिए यह बात साफ़ है कि वह अपनी मजदूरी ५$\frac{3}{4}$ घण्टों में और आपका असल मुनाफ़ा बाक़ी ५$\frac{3}{4}$ घण्टों में पैदा करता है। फिर, २ घण्टों में जितना सूत तैयार होता है, उसका मूल्य चूंकि मजदूर की मजदूरी और आपके असल मुनाफ़े के जोड़ के बराबर होता है, इसलिए इस सूत के मूल्य की माप ११$\frac{1}{2}$ घण्टे होने चाहिए, जिनमें से ५$\frac{3}{4}$ घण्टे उस सूत के मूल्य की माप हैं, जो अन्तिम से पहले एक घण्टे में पैदा हुआ है, और ५$\frac{3}{4}$ घण्टे उस सूत के मूल्य की माप हैं, जो अन्तिम घण्टे में पैदा हुआ है। अब हम एक पेचीदा नुक़्ते पर पहुंच गये हैं, इसलिए सावधान हो जाइये! अन्तिम से पहला घण्टा काम के दिन के प्रथम घण्टे के समान एक साधारण घण्टा है, न तो वह उससे कम होता है और न ही ज्यादा। तब कातने वाला एक घण्टे में सूत की शकल में इतना मूल्य कैसे पैदा कर सकता है, जिसमें ५$\frac{3}{4}$ घण्टे का श्रम निहित है? सच तो यह है कि वह ऐसा कोई चमत्कार करके नहीं दिखाता। वह एक घण्टे में जो उपयोग-मूल्य तैयार करता है, वह है सूत की एक निश्चित मात्रा। इस सूत का मूल्य ५$\frac{3}{4}$ घण्टों द्वारा मापा जाता है, जिनमें से ४$\frac{3}{4}$ घण्टे बिना उसकी किसी मदद के उत्पादन के साधनों में – कपास, मशीनों आदि में – पहले ही से मौजूद थे। उसने केवल बाक़ी एक घण्टा उनमें जोड़ा है। इसलिए उसकी मजदूरी चूंकि ५$\frac{3}{4}$ घण्टे में पैदा होती है और एक घण्टे में उत्पन्न सूत में भी ५$\frac{3}{4}$ घण्टे का काम निहित होता है, इसलिए यह किसी जादूगरी का नतीजा नहीं है कि ५$\frac{3}{4}$ घण्टे की कताई में वह जो मूल्य पैदा करता है, वह एक घण्टे में काती गयी पैदावार के मूल्य के बराबर होता है। यदि आपका यह खयाल है कि वह कपास, मशीनों आदि के मूल्यों का पुनरुत्पादन करने या उनकी स्थान-पूर्ति में अपने काम के दिन का एक क्षण भी खर्च करता है, तो आप सरासर ग़लती कर रहे हैं। इसके विपरीत, यदि कपास तथा तकुओं के मूल्य स्वेच्छा से सूत में चले जाते हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि उसका श्रम कपास तथा तकुओं को सूत में बदल देता है, या यूं कहिये कि इसका कारण केवल यही है कि वह कताई करता है। इस नतीजे की वजह उसके श्रम की मात्रा नहीं, बल्कि उसका गुण है। यह सच है कि वह आधे घण्टे की अपेक्षा एक घण्टे में अधिक मूल्य सूत में स्थानांतरित

कर देता है, लेकिन वह सिर्फ़ इसलिए कि वह एक घण्टे में प्राधे घण्टे से ज्यादा कपास कात देता है। इसलिए, प्राप देखते हैं कि आपका यह कथन कि मजदूर अन्तिम से पहले एक घण्टे में अपनी मजदूरी का मूल्य और अन्तिम घण्टे में आपका असल मुनाफ़ा पैदा करता है, इससे अधिक और कुछ अर्थ नहीं रखता कि वह २ घण्टे में जो सूत तैयार करता है, चाहे वे दिन के पहले २ घण्टे हों या अन्तिम २ घण्टे हों, उस सूत में ११$\frac{१}{२}$ घण्टे–या पूरे दिन–का श्रम निहित होता है, यानी उस सूत में दो घण्टे का उसका अपना काम और ९$\frac{१}{२}$ घण्टे का अन्य लोगों का काम निहित होता है। और मेरे इस कथन का कि मजदूर पहले ५$\frac{३}{४}$ घण्टों में अपनी मजदूरी और अन्तिम ५$\frac{३}{४}$ घण्टों में आप लोगों का असल मुनाफ़ा पैदा करता है, केवल यह अर्थ है कि आप उसे पहले ५$\frac{३}{४}$ घण्टों में दाम तो देते हैं, मगर अन्तिम ५$\frac{३}{४}$ घण्टों के दाम नहीं देते। श्रम-शक्ति के दाम के बजाय श्रम के दाम की बात मैं केवल इसलिए कर रहा हूं कि इस समय मैं आप लोगों की शब्दावली का इस्तेमाल कर रहा हूं। अब, महानुभावो, जिस श्रम-काल के आप दाम देते हैं, उसके साथ आप यदि उस श्रम-काल की तुलना करें, जिसके दाम आप नहीं देते, तो आप पायेंगे कि उनका एक दूसरे के साथ वही अनुपात है, जो आधे दिन का आधे दिन के साथ होता है; इससे १०० प्रतिशत की दर निकलती है, जो मानना पड़ेगा कि बहुत ही बढ़िया दर है। इतना ही नहीं, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि यदि आप अपने मजदूरों ("hands") से ११$\frac{१}{२}$ घण्टे के बजाय १३ घण्टे मेहनत कराने लगें और,–जैसी कि आप से आशा की जा सकती है,–इस अतिरिक्त डेढ़ घण्टे में जो काम होता है, उसे यदि आप विशुद्ध अतिरिक्त श्रम मानें, तो अतिरिक्त श्रम ५$\frac{३}{४}$ घण्टे से बढ़कर ७$\frac{१}{४}$ घण्टों का हो जायेगा और अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत से बढ़कर १२६ $\frac{२}{२३}$ प्रतिशत हो जायेगी। इसलिए, आप यदि यह सोचते हैं कि काम के दिन में इस तरह १$\frac{१}{२}$ घण्टा बढ़ा देने से अतिरिक्त मूल्य की दर १०० प्रतिशत से बढ़कर २०० प्रतिशत या उससे भी ज्यादा हो जायेगी, या, दूसरे शब्दों में, वह बढ़कर "दुगुनी से भी ज्यादा" हो जायेगी, तो हम कहेंगे कि आप अत्यधिक आशावादी हैं। दूसरी ओर, जब आपको यह डर सताता है कि श्रम के घण्टों को ११$\frac{१}{२}$ से घटाकर १० कर देने पर आपका असल मुनाफ़ा सारे का सारा ग़ायब हो जायेगा, तब आप अत्यधिक निराशावादी हो जाते हैं,–मनुष्य का हृदय सचमुच बड़ी ही विचित्र वस्तु होता है, और ख़ास कर उस समय, जब लोग उसे धन की थैली में डाले फिरते हैं। आपका डर सर्वथा निराधार है। यदि

अन्य सब बातें पहले जैसी रहती हैं, तो अतिरिक्त श्रम $५\frac{३}{४}$ घण्टों से कम होकर $४\frac{३}{४}$ घण्टे का रह जायेगा, और इन $४\frac{३}{४}$ घण्टों में आपको अतिरिक्त मूल्य की बहुत लाभदायक दर मिल जायेगी। इन $४\frac{३}{४}$ घण्टों में आप $८२\frac{१४}{२३}$ प्रतिशत की दर से अतिरिक्त मूल्य कमायेंगे।] लेकिन यह भयानक "अन्तिम घण्टा", जिसके बारे में आपने इतनी कहानियां गढ़ रखी हैं, जितनी कि क़यामत के दिन के पहले ईसा द्वारा एक सहस्र वर्षों तक राज्य करने की कल्पना में विश्वास करने वालों ने नहीं गढ़ीं, – वह "अन्तिम घण्टा" "all bosh" ("एकदम बकवास") है। यदि यह "अन्तिम घण्टा" जाता भी रहे, तो इससे न तो आपका असल मुनाफ़ा ख़तम हो जायेगा और न ही जिन लड़के-लड़कियों को आपने नौकर रख रखा है, उनके दिमाग़ दूषित; हो जायेंगे।[1] और जब कभी सचमुच आप लोगों का "अन्तिम घंटा" बजने

---

[1] यदि एक तरफ़ सीनियर ने यह साबित कर दिया था कि कारख़ानेदार का असल मुनाफ़ा, अंग्रेज़ों के सूती उद्योग का अस्तित्व और दुनिया की मण्डी पर इंगलैण्ड का आधिपत्य – सब "काम के अन्तिम घण्टे" पर निर्भर करते हैं, तो, दूसरी तरफ़, डा० ऐण्ड्रयू उरे ने यह प्रमाणित कर दिया है कि यदि बच्चों को और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के-लड़कियों को पूरे १२ घण्टे तक फ़ैक्टरी के स्नेह भरे एवं विशुद्ध नैतिक वातावरण में रखने के बजाय उनको एक घण्टा पहले ही बाहर निकालकर इस निर्मम एवं तुच्छ संसार में छोड़ दिया जायेगा, तो निठल्लेपन और व्यसनों के कारण उनकी आत्माओं को कभी मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी। १८४८ से ही फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लोग इस "अन्तिम" एवं "निर्णायक घण्टे" को लेकर मालिकों का मज़ाक़ बना रहे हैं। चुनांचे, मि० हौवेल ने अपनी ३१ मई १८५५ की रिपोर्ट में लिखा हैं: "यदि यह चातुर्यपूर्ण हिसाब (वह सीनियर को उद्धृत करते हैं) सही होता, तो १८५० से ही ब्रिटेन की प्रत्येक सूती फ़ैक्टरी घाटे पर चलती होती।" (*"Reports of the Insp. of Fact. for the half year, ending 30th April, 1855"* ['३० अप्रैल १८५५ को समाप्त होने वाली छमाही की फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें'], पृ० १९,२०।) १० घण्टे का बिल पास हो जाने के बाद, १८४८ में, सन की कताई करने वाली कुछ मिलों के मालिकों ने, जिनके कारख़ाने संख्या में बहुत ही कम और डौर्सेट तथा सोमेर्सेट की सीमा पर जहां-तहां बिखरे हुए थे, अपने कुछ मज़दूरों से जबर्दस्ती इस बिल के ख़िलाफ़ एक दरख़ास्त पर दस्तख़त कराये। इस दरख़ास्त की एक धारा इस प्रकार थी: "माता-पिता के रूप में आवेदकों का विचार है कि एक घण्टे का अतिरिक्त अवकाश उनके बच्चों के नैतिक पतन का कारण बन जायेगा, क्योंकि उनका यक़ीन है कि आलस्य व्यसन का जनक होता है।" इसके बारे में ३१ अक्तूबर १८४८ की फ़ैक्टरी-रिपोर्ट में कहा गया है: "इन नेक एवं कोमल-हृदय माता-पिताओं के बच्चे सन कातने की जिन मिलों में काम करते हैं, वे कच्चे माल के रेशों तथा धूल से इस बुरी तरह भरी रहती हैं कि कताई के कमरों में १० मिनट खड़ा होना भी बहुत ही बुरा लगता है। कारण कि इन कमरों में घुसते ही आपकी आंखें, कान, नाक और मुंह फ़ौरन सन की धूल के उन बादलों से भर जाते हैं, जिनसे बचना वहां असम्भव होता है, और आपको सख़्त तकलीफ़ होने लगती है। मशीनें इस अंधाधुंध तेज़ी के साथ चलती हैं कि श्रम करने वाले को

लगे, तब आप लोग आक्सफ़ोर्ड के उन प्रोफ़ेसर साहब को याद कीजियेगा। और अब, सज्जनो, "हम आपसे विदा लेते हैं, और भगवान करे, अब हमारी-आपकी उस अधिक सुन्दर दुनिया में, मगर उसके पहले भेंट न हो।"

सीनियर ने "अन्तिम घण्टे" के अपने युद्ध-घोष का आविष्कार १८३६ में किया था।[1]

---

लगातार अपनी निपुणता और गति का प्रयोग करना पड़ता है, और सो भी कड़े नियन्त्रण और अचूक निगरानी के वातावरण में, और यह सचमुच बड़ी निर्दयता प्रतीत होती है कि मां-बाप अपने उन बच्चों को "आलसी" बतायें, जिनको केवल भोजन का समय छोड़कर पूरे १० घण्टे तक ऐसे वातावरण में, ऐसे पेशे के साथ जकड़ दिया जाता है... पड़ोस के गांवों में मज़दूर जितनी देर काम करते हैं, ये बच्चे उससे ज्यादा देर तक काम करते हैं... हमें साफ़-साफ़ कहना चाहिये कि "निठल्लेपन और व्यसन" की यह निर्दयतापूर्ण चर्चा विशुद्ध पाखण्ड और अत्यन्त लज्जाहीन बगुलाभगती है... लगभग १२ वर्ष हुए उच्च अधिकारियों की अनुमति से सार्वजनिक रूप से और अत्यन्त गंभीरतापूर्वक यह घोषणा की गयी थी कि कारख़ानेदार का सारा असल मुनाफ़ा अन्तिम घण्टे के श्रम से निकलता है और इसलिये यदि काम के दिन में एक घण्टे की कमी की जायेगी, तो उसका असल मुनाफ़ा ख़तम हो जायेगा। जिस आत्मविश्वास के साथ यह घोषणा की गयी थी, उससे जनता के एक भाग को कुछ आश्चर्य हुआ था। हम कहते हैं कि जनता का वही भाग आज तो अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर पायेगा, जब वह यह देखेगा कि "अन्तिम घण्टे" के गुणों के उस मूल आविष्कार का अब इतना संस्कार हो चुका है कि मुनाफ़े के साथ-साथ उसमें नैतिकता भी शामिल हो गयी है; और चुनांचे अब यदि बच्चों के श्रम की अवधि को घटाकर पूरे १० घण्टे की कर दिया जाये, तो बच्चों के मालिकों के असल मुनाफ़े के साथ-साथ बच्चों की नैतिकता भी नष्ट हो जायेगी, क्योंकि मुनाफ़ा और नैतिकता दोनों ही इस अन्तिम, इस निर्णायक घण्टे पर निर्भर करते हैं।" (देखिये "*Repts., Insp. of Fact., for 31st Oct., 1848*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८४८'], पृ० १०१।) इसी रिपोर्ट में आगे इन शुद्ध-हृदय कारख़ानेदारों की नैतिकता और पवित्रता के अनेक उदाहरण दिये गये हैं और बताया गया है कि पहले चन्द निस्सहाय मजदूरों से इस तरह की दरख़ास्तों पर दस्तख़त कराने के लिये और फिर इन दरख़ास्तों को उद्योग की एक पूरी शाखा या पूरी काउंटी की दरख़ास्त के रूप में संसद के सिर पर थोपने के लिये इन कारख़ानेदारों ने कैसी-कैसी तरक़ीबों, चालबाज़ियों और गीदड़-भबकियों का और कैसी-कसी ख़ुशामद और धोखेधड़ी का प्रयोग किया। तथाकथित आर्थिक विज्ञान की वर्तमान अवस्था पर इस बात से काफ़ी प्रकाश पड़ता है कि न तो ख़ुद सीनियर, जिनको इतना श्रेय तो देना ही पड़ेगा कि बाद को उन्होंने फ़ैक्टरी सम्बंधी क़ानूनों का ज़ोरदार समर्थन किया था, और न ही उनका पहले से आख़िरी तक एक भी विरोधी सीनियर के "मौलिक आविष्कार" के ग़लत परिणामों को स्पष्ट नहीं कर पाया है। ये लोग सब के सब वास्तविक व्यवहार की दुहाई देते हैं, मगर इस वास्तविक व्यवहार के असली कारण और उद्भव-स्रोत रहस्या के आवरण में छिपे रहते हैं।

[1] फिर भी यह समझना ग़लत होगा कि विद्वान प्रोफ़ेसर को अपनी मानचेस्टर-यात्रा से कोई लाभ नहीं हुआ। "*Letters on the Factory Act*" ('फ़ैक्टरी-क़ानून के सम्बंध में कुछ ख़त') में उन्होंने "मुनाफ़े" और "सूद" और यहां तक कि "something more" ("कुछ और") के भी साथ सारे

१५ अप्रैल १८४८ के लन्दन के "*Economist*" में जेम्स विल्सन ने यही नारा एक बार फिर बुलन्द किया। जेम्स विल्सन अर्थशास्त्र की दुनिया के एक उच्चाधिकारी हैं। इस बार यह नारा उन्होंने १० घण्टे के बिल के विरोध में बुलन्द किया।

## अनुभाग ४ – अतिरिक्त पैदावार

पैदावार का जो भाग (अनुभाग २ में जो उदाहरण दिया गया है, उसमें २० पौण्ड का दसवां भाग, या २ पौण्ड सूत) अतिरिक्त मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, उसे हम "अतिरिक्त पैदावार" ("surplus produce") की संज्ञा देते हैं। जिस प्रकार अतिरिक्त मूल्य की दर इससे निर्धारित नहीं होती कि कुल पूंजी के साथ उसका क्या सम्बंध है, बल्कि वह पूंजी के केवल अस्थिर भाग के साथ उसके सम्बंध से निर्धारित होती है, उसी प्रकार अतिरिक्त पैदावार की सापेक्ष मात्रा इस बात से निर्धारित नहीं होती कि इस पैदावार का कुल पैदावार के बाक़ी हिस्से के साथ क्या अनुपात है, बल्कि वह इस बात से निर्धारित होती है कि इस पैदावार का कुल पैदावार के उस भाग के साथ क्या अनुपात है, जिसमें आवश्यक श्रम निहित है। पूंजीवादी उत्पादन का मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य चूंकि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता है, इसलिये यह बात स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति या राष्ट्र की दौलत इससे नहीं नापी जानी चाहिए कि कुल कितनी निरपेक्ष मात्रा का उत्पादन हुआ है, बल्कि वह इस बात से नापी जानी चाहिए कि अतिरिक्त पैदावार की सापेक्ष मात्रा कितनी है।[1]

---

असल मुनाफ़े को मजदूर के महज एक घण्टे के मुफ़्त काम पर निर्भर बना दिया है। उसके एक साल पहले अपनी पुस्तक "*Outlines of Political Economy*" ('अर्थशास्त्र की रूपरेखा') में, जो आक्सफ़ोर्ड के विद्यार्थियों तथा सुसंस्कृत कूपमण्डूकों की शिक्षा के लिये लिखी गयी थी, उन्होंने रिकार्डो के श्रम के द्वारा मूल्य को निर्धारित करने के मुक़ाबले में यह "आविष्कार" किया था कि मुनाफ़ा पूंजीपति के श्रम से और सूद उसके त्याग से – या, दूसरे शब्दों में, उसके "abstinence" ("परिवर्जन") से – उत्पन्न होता है। चाल पुरानी थी, मगर "abstinence" ("परिवर्जन") शब्द नया था। हेर्र रोश्चेर ने उसका जर्मन भाषा में बिल्कुल सही अनुवाद "Enthaltung" किया है। उनके कुछ देशवासियों ने – जर्मनी के ऐरे-ग़ैरे-नत्थू-खैरों ने, जिनका लैटिन का ज्ञान हेर्र रोश्चेर जैसा अच्छा नहीं है, – साधु-सन्यासियों की तरह इस शब्द का अनुवाद "Entsagung" ("परित्याग") कर डाला है।

[1] "जिस व्यक्ति की पूंजी २०,००० पौण्ड है और जिसका मुनाफ़ा २,००० पौण्ड सालाना है, उसके लिए इस बात का कोई महत्व नहीं होता कि उसकी पूंजी १०० आदमियों को नौकर रखती है या १,००० को, और वे जो माल तैयार करते हैं, वह १०,००० पौण्ड में बिकता है या २०,००० पौण्ड में, बशर्ते कि उसका मुनाफ़ा २,००० पौण्ड से कम न हो जाय। क्या राष्ट्र का वास्तविक हित भी ठीक इसी प्रकार का नहीं होता? यदि किसी राष्ट्र की असल आमदनी, उसका लगान और मुनाफ़ा वही रहते हैं, तो इसका कोई महत्व नहीं है कि वह १ करोड़ निवासियों का राष्ट्र है या १ करोड़ २० लाख का।" (D. Ricardo, उप० पु०, पृ० ४१६।) रिकार्डो के बहुत पहले आर्थर यंग ने, जो अतिरिक्त पैदावार के तो कट्टर समर्थक थे, पर बाक़ी बातों में आंखें बन्द करके जो मन में आता था, लिखते चले जाते थे और जिनकी ख्याति उनकी प्रतिभा के प्रतिलोम अनुपात में है, कहा था: "एक आधुनिक राज्य में इस तरह

आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम का जोड़, अर्थात् जिस अवधि में मजदूर अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान भरता है और जिस अवधि में वह अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, उनका जोड़ ही वह वास्तविक समय होता है, जिसमें मजदूर काम करता है; अर्थात् उनका जोड़ काम का दिन (working day) होता है।

---

बंटा हुआ कोई प्रान्त (जो पुरानी रोमन प्रथा के अनुसार छोटे-छोटे स्वतंत्र किसानों में बंटा हो), उसमें चाहे जितनी अच्छी तरह खेती की जाती हो, आदमी पैदा करने ("the mere purpose of breeding men") के सिवा और किस काम में आ सकता है? और यह अपने में बहुत ही निरर्थक काम है ("is a most useless purpose")।" (Arthur Young, "*Political Arithmetic, &c.*" [आर्थर यंग, 'राजनीतिक गणित, इत्यादि'], London, 1774, पृ० ४७।)

"शुद्ध धन को श्रम करने वाले वर्ग के लिये हितकारी बताने की जोरदार प्रवृत्ति" होती है.., "हालांकि, जाहिर है, शुद्ध होने के कारण ऐसा होना नहीं है।" यह प्रवृत्ति भी एक बहुत ही विचित्र चीज है। (Th. Hopkins, "*On Rent of Land, &c.*" [टोमस होपकिन्स, 'भूमि के लगान के विषय में, इत्यादि'], London, 1828, पृ० १२६।)

## दसवां अध्याय

# काम का दिन

### अनुभाग १ – काम के दिन की सीमाएं

हम यह मानकर चले थे कि श्रम-शक्ति अपने मूल्य के बराबर दामों पर खरीदी और बेची जाती है। अन्य सब मालों की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है। मजदूर के लिये दैनिक जीवन-निर्वाह के औसतन जितने साधनों की आवश्यकता होती है, यदि उनके उत्पादन में छः घण्टे लग जाते हैं, तो उसे दैनिक श्रम-शक्ति को पैदा करने के लिये, या अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री से प्राप्त मूल्य का पुनरुत्पादन करने के लिये, मजदूर को रोजाना औसतन छः घण्टे काम करना चाहिये। इस तरह, उसके काम के दिन का आवश्यक भाग छः घण्टे का होता है, और इसलिये जब तक अन्य परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं होता, तब तक यह आवश्यक भाग एक निश्चित मात्रा बना रहता है। लेकिन इस निश्चित मात्रा के ज्ञान से अभी हमें यह नहीं मालूम होता कि खुद काम का दिन कितना लम्बा है।

मान लीजिये कि रेखा क–ख आवश्यक श्रम-काल का प्रतिनिधित्व करती है, जो कि, मान लीजिये, छः घण्टे के बराबर है। यदि क–ख के आगे श्रम १, ३ या ६ घण्टे और बढ़ा दिया जाये, तो हमारे पास तीन रेखाएं और हो जाती हैं:

काम का दिन १ काम का दिन २ काम का दिन ३

क–––ख–ग क–––ख––ग क–––ख––ग

ये तीन रेखाएं ७, ९ और १२ घण्टे के तीन अलग-अलग काम के दिनों का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'क ख' रेखा का 'ख ग' विस्तार अतिरिक्त श्रम की लम्बाई का प्रतिनिधित्व करता है। काम का दिन चूंकि 'क ख'+'ख ग', या 'क ग' है, इसलिये वह 'ख ग' नामक अस्थिर मात्रा के बदलने के साथ-साथ बदलता रहता है। 'क ख' चूंकि स्थिर है, इसलिये हिसाब लगाकर यह हमेशा पता लगाया जा सकता है कि 'क ख' के साथ 'ख ग' का क्या अनुपात है। काम का दिन १ में यह अनुपात 'क ख' का $\frac{१}{६}$ है, काम के दिन २ में वह 'क ख' का $\frac{३}{६}$ है और काम के दिन ३ में वह 'क ख' का $\frac{६}{६}$ है। इसके अलावा, चूंकि अतिरिक्त मूल्य की दर $\frac{\text{अतिरिक्त कार्य-काल}}{\text{आवश्यक कार्य-काल}}$ के अनुपात से निर्धारित होती है, इसलिये वह 'क ख'

के साथ 'ख ग' के अनुपात से मालूम हो जाती है। ऊपर जो तीन अलग-अलग काम के दिन दिये गये हैं, उनमें क्रमशः यह दर १६ $\frac{२}{३}$, ५० और १०० प्रतिशत है। दूसरी ओर, अकेली अतिरिक्त मूल्य की दर से हम यह नहीं जान सकते कि काम का दिन कितना लम्बा है। मिसाल के लिये, यदि यह दर १०० प्रतिशत हो, तो काम का दिन ८ घण्टे, १० घण्टे और १२ घण्टे या उससे ज्यादा का भी हो सकता है। इस दर से तो हम सिर्फ़ इतना ही जान पायेंगे कि काम के दिन के दो संघटक भाग—आवश्यक श्रम-काल और अतिरिक्त श्रम-काल—लम्बाई में बराबर हैं; परन्तु इन दो संघटक भागों में से प्रत्येक कितना लम्बा है, यह इस दर से मालूम नहीं हो पायेगा।

अतएव, काम का दिन कोई स्थिर मात्रा नहीं, बल्कि एक अस्थिर मात्रा होता है। उसका एक भाग निश्चय ही स्वयं मजदूर की श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है। लेकिन यह पूरी मात्रा अतिरिक्त श्रम की अवधि के साथ-साथ बदलती रहती है। इसलिये काम के दिन को निर्धारित तो किया जा सकता है, लेकिन वह खुद अपने में अनिश्चित होता है।[1]

यद्यपि काम का दिन कोई निश्चित नहीं, बल्कि एक परिवर्तनशील मात्रा होता है, फिर भी, दूसरी ओर, यह बात भी सही है कि उसमें कुछ खास सीमाओं के भीतर ही परिवर्तन हो सकते हैं। किन्तु उसकी अल्पतम सीमा को निश्चित नहीं किया जा सकता। जाहिर है, अगर विस्तार-रेखा 'ख ग' को, या अतिरिक्त श्रम को, शून्य के बराबर मान लिया जाये, तो एक अल्पतम सीमा मिल जाती है; अर्थात् दिन का वह भाग, जिसमें मजदूर को खुद अपने जीवन-निर्वाह के लिये लाजिमी तौर पर काम करना पड़ता है, उसके काम के दिन की अल्पतम सीमा हो जाता है। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर यह आवश्यक श्रम काम के दिन का केवल एक भाग ही हो सकता है; खुद काम का दिन इस अल्पतम सीमा में कभी परिणत नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, काम के दिन की एक अधिकतम सीमा होती है। उसे एक बिन्दु से आगे नहीं खींचा जा सकता। यह अधिकतम सीमा दो बातों से निर्धारित होती है। पहली बात श्रम-शक्ति की शारीरिक सीमा है। प्राकृतिक दिन के २४ घण्टों में मनुष्य अपनी शारीरिक जीवन-शक्ति की केवल एक निश्चित मात्रा ही खर्च कर सकता है। इसी तरह एक घोड़ा भी हर दिन तो केवल ८ घण्टे ही काम कर सकता है। दिन के एक भाग में इस शक्ति को विश्राम करना चाहिये, सोना चाहिये। एक और भाग में आदमी को अपनी अन्य शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये; उसे भोजन करना, नहाना और कपड़े पहनना चाहिये। इन विशुद्ध शारीरिक सीमाओं के अलावा काम के दिन को लम्बा खींचने के रास्ते में कुछ नैतिक सीमाएं भी रुकावट डालती हैं। अपनी बौद्धिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी मजदूर को समय चाहिये, और इन आवश्यकताओं की संख्या तथा विस्तार समाज की सामान्य प्रगति द्वारा निर्धारित होते हैं।

---

[1] "एक दिन का श्रम अस्पष्ट वस्तु है, वह लम्बा भी हो सकता है और छोटा भी।" (*"An Essay on Trade and Commerce, Containing Observations on Taxes, &c."* ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध, जिसमें करों के विषय में कुछ टिप्पणियां भी सम्मिलित हैं, इत्यादि'], (London, 1770, पृ० ७३।)

इसलिये काम के दिन से सम्बन्धित परिवर्तन शारीरिक एवं सामाजिक सीमाओं के भीतर होते हैं। लेकिन ये दोनों प्रकार की सीमाएं बहुत लोचदार होती हैं, और दोनों के भीतर बहुत काफ़ी गुंजाइश रहती है। चुनांचे हम कहीं तो काम का दिन ८ घण्टे का, कहीं १० घण्टे का और कहीं १२, १४, १६ या १८ घण्टे का पाते हैं। मतलब यह कि काम के दिन बहुत ही भिन्न लम्बाइयों के होते हैं।

पूंजीपति ने श्रम-शक्ति दैनिक दर पर ख़रीदी है। काम के एक दिन के लिये श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य पर पूंजीपति का अधिकार होता है। इस प्रकार उसने दिन भर मज़दूर से अपने लिये काम कराने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। लेकिन प्रश्न उठता है कि काम के दिन की क्या परिभाषा है?[1]

काम का दिन हर हालत में प्राकृतिक दिन से छोटा होगा। लेकिन कितना छोटा? इस ultima Thule (अन्तिम बिन्दु) के बारे में – काम के दिन की अनिवार्य सीमा के बारे में – पूंजीपति के कुछ अपने विचार हैं। पूंजीपति की शकल में वह महज़ मूर्तिमान पूंजी होता है। उसकी आत्मा पूंजी की आत्मा होती है। किन्तु पूंजी केवल एक प्रेरणा से अनुप्रेरित होती है। वह है उसकी मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रवृत्ति; वह है उसकी अपने स्थिर उपकरण – उत्पादन के साधनों – से अधिकतम मात्रा में अतिरिक्त श्रम का अवशोषण कराने की प्रवृति।[2]

पूंजी मुर्दा श्रम होती है, जो डायन की तरह केवल जीवित श्रम को चूसकर ही जिन्दा रहता है, और वह जितना अधिक श्रम चूसता है, उतना ही फलता-फूलता है। मज़दूर जिस समय तक काम करता है, उस समय तक पूंजीपति उस श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, जिसे उसने मज़दूर से ख़रीदा है।[3]

---

[1] यह प्रश्न सर रोबर्ट पील के उस प्रसिद्ध प्रश्न से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, जो उन्होंने बिर्मिंघम के चेम्बर आफ़ कामर्स से किया था। सर रोबर्ट पील का प्रश्न था: "पौंड क्या चीज़ है?" यह एक ऐसा प्रश्न था, जो केवल पूछा जा सकता था, तो इसलिये कि मुद्रा की प्रकृति के विषय में पील भी उतने ही अंधकार में थे, जितने बिर्मिंघम के "नन्हे शिलिंग वाले" (मूल पाठ में "little shilling men" का प्रयोग किया गया था, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं: एक तो "अवमूल्यन के समर्थक" और दूसरा "निकम्मे लोग")।

[2] "पूंजीपति का उद्देश्य यह होता है कि उसने जितनी पूंजी लगायी है, उससे अधिकतम मात्रा में श्रम प्राप्त करने में सफल हो (d'obtenir du capital dépensé le plus forte somme de travail possible)।" (J. G. Courcelle-Seneuil, *"Traité théorique et pratique des entreprises industrielles"*, दूसरा संस्करण, Paris, 1857, पृ० ६३।)

[3] "यदि एक दिन में एक घण्टे का श्रम ज़ाया हो जाता है, तो व्यापारिक राज्य की कड़ी हानि होती है..." "इस राज्य के श्रम करने वाले ग़रीबों में विलास की वस्तुओं का बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग होता है; कारख़ानों में काम करने वाले लोगों में यह बात ख़ास तौर पर देखने में आती है, जिसके कारण वे अपना बहुत सा समय भी ख़र्च कर डालते हैं, और समय का उपभोग सब से घातक उपभोग होता है।" (*"An Essay on Trade and Commerce, &c."* ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध, इत्यादि'], पृ० ४७ और १५३।)

मजदूर जो समय पूंजीपति को दे सकता है, यदि उसको वह खुद अपने हित में खर्च कर देता है, तो वह पूंजीपति को लूटता है।[1]

तब पूंजीपति मालों के विनिमय के नियम को अपना आधार बनाता है। अन्य सब खरीदारों की तरह वह भी अपने माल के उपयोग-मूल्य से अधिकतम लाभ उठाना चाहता है। पर तभी यकायक मजदूर की आवाज सुनाई पड़ती है, जो अभी तक उत्पादन-प्रक्रिया के शोर-शराबे में दबी हुई थी। वह कहता है:

मैंने जो माल तुम्हारे हाथ बेचा है, वह दूसरे मालों की इस भीड़ से इस बात में भिन्न है कि उसका उपयोग मूल्य का सृजन करता है, और वह मूल्य उसके अपने मूल्य से अधिक होता है। इसीलिये तो तुमने उसे खरीदा है। तुम्हारी दृष्टि से जो पूंजी का स्वयंस्फूर्त विस्तार है, वह मेरी दृष्टि से श्रम-शक्ति का अतिरिक्त उपभोग है। मण्डी में तुम और मैं केवल एक ही नियम मानते हैं, और वह है मालों के विनिमय का नियम। और माल के उपभोग पर बेचने वाले का, जो माल को हस्तांतरित कर चुका है, अधिकार नहीं होता; माल के उपभोग पर उस खरीदने वाले का अधिकार होता है, जिसने माल को हासिल कर लिया है। इसलिये मेरी दैनिक श्रम-शक्ति के उपभोग पर तुम्हारा अधिकार है। लेकिन उसका जो दाम तुम हर रोज देते हो, वह इसके लिये काफ़ी होना चाहिये कि मैं अपनी श्रम-शक्ति का रोजाना पुनरुत्पादन कर सकूं और उसे फिर से बेच सकूं। बढ़ती हुई आयु इत्यादि के कारण शक्ति का जो स्वाभाविक ह्रास होता है, उसको छोड़कर मेरे लिये यह सम्भव होना चाहिये कि मैं हर नयी सुबह को पहले जैसे सामान्य बल, स्वास्थ्य तथा ताजगी के साथ काम कर सकूं। तुम मुझे हर घड़ी "मितव्ययिता" और "परिवर्जन" का उपदेश सुनाते रहते हो। अच्छी बात है! अब मैं भी विवेक और मितव्ययिता से काम लूंगा और अपनी एकमात्र सम्पत्ति – यानी अपनी श्रम-शक्ति – के किसी भी प्रकार के मूर्खतापूर्ण अपव्यय का परिवर्जन करूंगा। मैं हर रोज अब केवल उतनी ही श्रम-शक्ति खर्च करूंगा, केवल उतनी ही श्रम-शक्ति से काम करूंगा, केवल उतनी ही श्रम-शक्ति को क्रियाशील बनाऊंगा, जितनी उसकी सामान्य अवधि तथा स्वस्थ विकास के अनुरूप होगी। काम के दिन का मनमाना विस्तार करके, मुमकिन है, तुम एक ही दिन में इतनी श्रम-शक्ति खर्च कर डालो, जिसे मैं तीन दिन में भी पुनः प्राप्त न कर सकूं। श्रम के रूप में तुम्हारा जितना लाभ होगा, श्रम के सार-तत्त्व के रूप में उतना ही मेरा नुक़सान हो जायेगा। मेरी श्रम-शक्ति का उपयोग करना एक बात है, और उसे लूटकर चौपट कर देना बिलकुल दूसरी बात है। यदि एक औसत मजदूर (उचित मात्रा में काम करते हुए) औसतन ३० वर्ष तक जिन्दा रह सकता है, तो मेरी श्रम-शक्ति का वह मूल्य, जो तुम मुझे रोज देते हो, उसके कुल मूल्य का $\frac{१}{३६५ \times ३०}$ या $\frac{१}{१०,९५०}$ वां भाग होता है। किन्तु यदि तुम मेरी श्रम-शक्ति को ३० के बजाय १० वर्षों में ही खर्च कर डालते हो, तो

[1] "Si le manouvrier libre prend un instant de repos, l'économie sordide qui le suit des yeux avec inquiétude, prétend qu'il la vole" ["यदि हाथ से काम करने वाला स्वतंत्र मजदूर क्षण भर के लिये विश्राम करने लगता है, तो लालची व्यवसायी, जो बड़ी बेचैनी के साथ उसे देख रहा है, दलील देता है कि मजदूर उसे लूट रहा है"]। (N. Linguet, "*Théorie des Lois Civiles, &c.*", London, 1767, ग्रंथ २, पृ० ४६६।)

तुम रोजाना मुझको मेरी श्रम-शक्ति के कुल मूल्य के $\frac{१}{३,६५०}$ के बजाय उसका $\frac{१}{१०,९५०}$, यानी उसके दैनिक मूल्य का केवल $\frac{१}{३}$ ही देते हो। इस तरह तुम मेरी वस्तु के मूल्य का $\frac{२}{३}$ भाग प्रति दिन लूट लेते हो। तुम मुझे दाम दोगे एक दिन की श्रम-शक्ति के, लेकिन इस्तेमाल करोगे ३ दिन की श्रम-शक्ति। यह हम लोगों के क़रार और विनिमय के नियम के खिलाफ़ है। इसलिये मैं मांग करता हूं कि काम का दिन सामान्य लम्बाई का हो, और इस मांग को मनवाने के लिये मैं तुम्हारे हृदय को द्रवित करना नहीं चाहता, क्योंकि रुपये-पैसे के मामले में भावनाओं का कोई स्थान नहीं होता। मुमकिन है कि तुम एक आदर्श नागरिक हो, सम्भव है कि तुम पशु-निर्दयता-निवारण-समिति के सदस्य भी हो और ऊपर से तुम्हारा साधुपन सारी दुनिया में विख्यात हो। लेकिन मेरे सामने खड़े हुए तुम जिस चीज़ का प्रतिनिधित्व करते हो, उसकी छाती में हृदय का अभाव होता है। वहां जो कुछ धड़कता सा लगता है, वह खुद मेरे दिल की आवाज़ है। मैं सामान्य लम्बाई के काम के दिन की इसलिये मांग करता हूं कि दूसरे हर विक्रेता की तरह मैं भी अपने माल का पूरा-पूरा मूल्य चाहता हूं।[1]

इस तरह, हम देखते हैं कि कुछ बहुत ही लोचदार सीमाओं के अलावा मालों के विनिमय का स्वरूप खुद काम के दिन पर, या अतिरिक्त श्रम पर, कोई प्रतिबंध नहीं लगाता। पूंजीपति जब काम के दिन को ज्यादा से ज्यादा लम्बा खींचना चाहता है, और मुमकिन हो, तो एक दिन के दो दिन बनाने की कोशिश करता है, तब वह खरीदार के रूप में अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। दूसरी तरफ़, उसके हाथ बेचा जाने वाला माल इस अजीब तरह का है कि उसका खरीदार एक सीमा से अधिक उसका उपयोग नहीं कर सकता, और जब मजदूर काम के दिन को घटाकर एक निश्चित एवं सामान्य अवधि का दिन कर देना चाहता है, तब वह भी बेचने वाले के रूप में अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। इसलिये, यहां असल में दो अधिकारों का विरोध सामने आता है, अधिकार से अधिकार टकराता है, और दोनों अधिकार ऐसे हैं, जिनपर विनिमय के नियम की मुहर लगी हुई है। जब समान अधिकारों की टक्कर होती है, तब बल-प्रयोग द्वारा ही निर्णय होता है। यही कारण है कि पूंजीवादी उत्पादन के इतिहास में, काम का दिन कितना लम्बा हो, इस प्रश्न का निर्णय एक संघर्ष के द्वारा होता है, जो संघर्ष सामूहिक पूंजी – अर्थात् पूंजीपतियों के वर्ग – और सामूहिक श्रम – अर्थात् मजदूर-वर्ग – के बीच चलता है।

---

[1] १८६०-६१ की लन्दन के राजगीरों की बड़ी हड़ताल काम के दिन को घटवाकर ६ घण्टे का कराने के लिये हुई थी। उस समय राजगीरों की समिति ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था, जो हमारे इस मजदूर के उपरोक्त वक्तव्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इस घोषणा-पत्र में हल्के व्यंग्य के साथ इस बात का भी ज़िक्र था कि "building masters" (राजगीरों को नौकर रखने वाले मालिकों) में जो सबसे बड़ा मुनाफ़ाखोर है, वह सर एम० पेटो नाम का व्यक्ति अपने साधुपन के लिये विख्यात है। (१८६७ के बाद इस पेटो का वही अन्त हुआ, जो स्ट्रूजबेर्ग का हुआ था।)

## अनुभाग २ – अतिरिक्त श्रम का मोह। कारख़ानेदार और सामन्त

अतिरिक्त श्रम का पूंजी ने आविष्कार नहीं किया है। जहां कहीं समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, वहां मजदूर को, वह स्वतंत्र हो या न हो, अपने जीवन-निर्वाह के लिये जितने समय तक जरूरी तौर पर काम करना होता है, उसके अलावा उसे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के जीवन-निर्वाह के साधन तैयार करने के लिये कुछ अतिरिक्त समय तक काम करना पड़ता है।[1] उत्पादन के साधनों का यह स्वामी एथेंस का καλος κἀγαθός, (अभिजात) है, या प्राचीन इत्रुरिया के धर्मतंत्र का शासक है, civis Romanus (रोमन नागरिक) है या नोर्मन सामन्त, अमरीकी गुलामों का मालिक है या वैलोशिया का श्रीमन्त, या आधुनिक जमींदार अथवा पूंजीपति है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।[2] किन्तु यह बात स्पष्ट है कि समाज के किसी भी ऐसे आर्थिक संघटन में, जिसमें पैदावार के विनिमय-मूल्य का नहीं, बल्कि उपयोग-मूल्य का प्रधान महत्व होता है, वहां आवश्यकताओं की एक छोटी या बड़ी निश्चित संख्या ही होती है, और यह संख्या अतिरिक्त श्रम को सीमित कर देती है; ऐसे किसी भी समाज में स्वयं उत्पादन के स्वरूप से अतिरिक्त श्रम की कोई ऐसी प्यास नहीं पैदा हो सकती, जो कभी बुझ न सके। चुनांचे प्राचीन काल में लोगों से अत्यधिक काम लेने की प्रथा केवल उसी समय भयानक रूप धारण करती थी, जब उसका उद्देश्य विशिष्ट एवं स्वतंत्र मुद्रा-रूप में विनिमय-मूल्य प्राप्त करना होता था, – यानी केवल सोने और चांदी के उत्पादन में ही अत्यधिक परिश्रम कराने की प्रथा भयंकर रूप धारण करती थी। सोने और चांदी के उत्पादन में श्रम करने वालों से इस बुरी तरह काम लेना कि वे मेहनत करते-करते मर जायें, एक जानी और मानी हुई बात थी। इसके लिये केवल सिसिली के दिओदोरस की रचना को पढ़कर देखिये, पूरा हाल मालूम हो जायेगा।[3] फिर भी प्राचीन काल में ये बातें अपवाद-स्वरूप थीं। लेकिन जैसे ही कोई ऐसी

---

[1] "जो लोग श्रम करते हैं, वे... वास्तव में अपना... और पेन्शन पाने वालों का (जो कि धनी कहलाते हैं) – दोनों का – पेट भरते हैं।" (Edmund Burke, उप० पु०, पृ० २।)

[2] नीबूर ने अपने "*Romische Geschichte*" ('रोमन इतिहास') में बड़े ही भोलेपन के साथ लिखा है: "यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन इत्रुरिया के जैसे निर्माण-कार्य, जिनके ध्वंसावशेष भी हमें आश्चर्यचकित कर देते हैं, केवल सामन्तों और कृषि-दासों के छोटे-छोटे (!) राज्यों की उपस्थिति में ही सम्भव थे।" सिस्मोंदी ने इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म-बूझ का परिचय दिया है। उसने लिखा है कि "ब्रूसेल्स की लेस" केवल मजदूरों से काम लेने वाले सामन्तों और मजदूरी पर काम करने वाले दासों के समाज में ही तैयार हो सकती थी।

[3] "(मिश्र, इथियोपिया और अरब की सीमाओं पर पायी जाने वाली सोने की खानों में काम करने वाले) इन अभागों को देखकर कोई भी उनकी दीन दशा पर तरस खाये बिना नहीं रह सकता। ये लोग अपनी देह तक को साफ़ नहीं रख सकते और न ही अपनी नग्नावस्था को छिपाने के लिये कपड़े जुटा सकते हैं। यहां न तो बीमार का कोई ख़याल किया जाता है और न कमजोर का; यहां न तो बुढ़ापे पर रहम खाया जाता है और न औरत की शारीरिक दुर्बलता पर। यहां तो कोड़ों की मार के नीचे सब को उस वक़्त तक काम करते रहना पड़ता है, जब तक कि मौत आकर उनको तमाम यातनाओं और पीड़ाओं से छुटकारा नहीं दिला देती।" ("*Diodor's von Sicilien Historishe Bibliothek*" [Stuttgart, 1828], पुस्तक ३, अध्याय १३ [पृ० २६०]।)

क़ौम, जिसका उत्पादन अभी तक दास-श्रम, कृषि-दास-श्रम आदि की निम्न अवस्थाओं में ही है, ऐसी अन्तरराष्ट्रीय मण्डी के भंवर में खिंच आती है, जिसमें उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का बोलबाला है, और जब निर्यात के लिये तैयार की गयी पैदावार की बिक्री करना ही उसका प्रधान उद्देश्य हो जाता है, तो वैसे ही दास-प्रथा, सामन्ती काल की हरी-प्रथा आदि की बर्बर विभीषिकाओं के साथ अत्यधिक परिश्रम की सभ्य विभीषिका भी आकर जुड़ जाती है। इसीलिये अमरीकी संघ के दक्षिणी राज्यों में जब तक उत्पादन का मुख्य उद्देश्य तात्कालिक स्थानीय उपभोग था, तब तक वहां के हबशियों से जिस तरह काम लिया जाता था, उसका स्वरूप कुछ-कुछ पितृसत्तात्मक ढंग का था। लेकिन जिस अनुपात में कपास का निर्यात इन राज्यों का प्रधान उद्देश्य बनता गया, उसी अनुपात में हबशियों से अत्यधिक काम लेना और कभी-कभी तो उनकी पूरी जिन्दगी को ७ साल के परिश्रम में ख़र्च कर डालना स्वार्थ पर आधारित और पाई-पाई का हिसाब रखने वाली एक व्यवस्था का अंग बनता गया। तब श्रम करने वाले से उपयोगी पैदावार की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करने का सवाल नहीं रह गया था। तब तो ख़ुद अतिरिक्त श्रम के उत्पादन का सवाल पैदा हो गया था। सामन्ती काल की हरी-प्रथा के साथ भी यही हुआ, जैसा कि डेन्यूब प्रदेश के राज्यों में देखने में आया (जो अब रूमानिया कहलाते हैं)।

डेन्यूब प्रदेश के राज्यों में अतिरिक्त श्रम का जो मोह देखने में आया था, उसकी अंग्रेज़ी फ़ैक्टरियों में पाये जाने वाले उसी प्रकार के मोह से तुलना करना विशेष रूप से रोचक है, क्योंकि हरी-प्रथा में अतिरिक्त श्रम का एक स्वतंत्र तथा इन्द्रिय-गोचर रूप होता है।

मान लीजिये कि काम के दिन में ६ घण्टे आवश्यक श्रम के हैं और ६ घण्टे अतिरिक्त श्रम के। इसका मतलब यह हुआ कि स्वतंत्र मज़दूर हर सप्ताह पूंजीपति को ६×६, या ३६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम देता है। यह वैसी ही बात है, जैसे वह सप्ताह में ३ दिन अपने लिये और ३ दिन पूंजीपति के लिये मुफ़्त काम करता हो। लेकिन यह बात खुले तौर पर दिखाई नहीं देती। अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। इसलिये इसी सम्बंध को मैं मिसाल के लिये यह कहकर भी व्यक्त कर सकता हूं कि मज़दूर हर मिनट में ३० सेकण्ड अपने लिये काम करता है और ३० सेकण्ड पूंजीपति के लिये; वग़ैरह, वग़ैरह। सामन्ती काल की हरी-प्रथा की बात दूसरी है। वैलेशिया का किसान ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो आवश्यक श्रम करता है, वह उस अतिरिक्त श्रम से बिल्कुल साफ़ तौर पर अलग होता है, जो वह अपने सामन्त के लिये करता है। अपने लिये वह ख़ुद अपने खेत पर श्रम करता है और सामन्त के लिये सामन्त के खेतों पर। इसलिये उसके श्रम-काल के दोनों भागों का साथ-साथ और अलग-अलग स्वतंत्र अस्तित्व होता है। हरी-प्रथा में अतिरिक्त-श्रम को बिल्कुल सही तौर पर आवश्यक श्रम से अलग कर दिया जाता है। लेकिन जहां तक आवश्यक श्रम के साथ अतिरिक्त श्रम के परिमाणात्मक सम्बंध का प्रश्न है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। सप्ताह में तीन दिन का अतिरिक्त श्रम, वह चाहे हरी कहलाये या मज़दूरी, तीन दिन का श्रम ही रहता है, जिसके सम-मूल्य के रूप में ख़ुद मज़दूर को कुछ नहीं मिलता। लेकिन पूंजीपति में अतिरिक्त श्रम का मोह जहां काम के दिन का अधिक से अधिक विस्तार करने के रूप में प्रकट होता है, वहां सामन्त में वह सीधे-सीधे हरी के दिनों की संख्या को बढ़ाने के अधिक सरल रूप में ज़ाहिर होता है।[1]

---

[1] इसके बाद जो कुछ लिखा गया है, वह क्रीमिया के युद्ध के बाद के उत्पन्न परिवर्तनों के पहले रूमानियन प्रान्तों की स्थिति से सम्बंध रखता है।

डेन्यूब प्रदेश में हरी जिन्स के रूप में वसूल किये जाने वाले लगान तथा कृषि-दास-प्रथा के अन्य उपांगों के साथ घुली-मिली रहती थी, परन्तु शासक वर्ग को दिये जाने वाले खिराज का अधिकांश हरी के रूप में होता था। जहां कहीं ऐसी स्थिति थी, वहां पर हरी-प्रथा कदाचित् ही कृषि-दास-प्रथा से उत्पन्न हुई थी। इसके विपरीत, ऐसी जगहों में बहुधा कृषि-दास-प्रथा का जन्म हरी-प्रथा से हुआ था।[1] रूमानियन प्रान्तों में यही हुआ था। इन प्रान्तों में उत्पादन की मूल पद्धति सामूहिक भू-सम्पत्ति पर तो आधारित थी, पर वह स्लाव अथवा हिन्दुस्तानी रूप के अनुरूप नहीं थी। भूमि के एक भाग को समाज के सदस्य निजी भूमि के रूप में अलग-अलग जोतते थे; एक और भाग, जो ager publicus (सार्वजनिक भूमि) कहलाता था, वे सब मिलकर जोतते थे। इस सामूहिक श्रम से जो पैदावार होती थी, वह आंशिक रूप से तो बुरी फ़सल या कोई और दुर्घटना हो जाने पर सुरक्षित कोष का काम देती थी और आंशिक रूप में युद्ध, धर्म तथा अन्य सामूहिक कामों का ख़र्च चलाने के लिये सार्वजनिक भण्डार का काम करती थी। समय बीतने के साथ-साथ सैनिक तथा धार्मिक अधिकारियों ने सामूहिक भूमि के साथ-साथ उसपर ख़र्च किये जाने वाले श्रम को भी हथिया लिया। स्वतंत्र किसान अपनी सामूहिक भूमि पर जो श्रम करते थे, वह सामूहिक भूमि चुराने वालों के लिये की जाने वाली हरी में बदल गया। यह हरी-प्रथा विकसित होकर शीघ्र ही दासता के सम्बंध में परिणत हो गयी, जिसका वास्तव में तो अस्तित्व था, पर क़ानूनी तौर पर उस वक़्त तक नहीं था, जब तक कि संसार के मुक्तिदाता – रूस – ने कृषि-दास-प्रथा का अन्त करने के बहाने उसे क़ानूनी नहीं क़रार दे दिया। १८३१ में रूसी जनरल किसेल्योव ने हरी-प्रथा के जिस नियम-संग्रह की घोषणा की, ज़ाहिर है, ख़ुद सामन्तों ने ही उसका आदेश दिया था। इस प्रकार रूस ने एक ही झटके में डेन्यूब प्रदेश के प्रान्तों के धनिकों को भी जीत लिया और सारे योरप के उदारपंथी बौनों की कृतज्ञता भी प्राप्त कर ली।

हरी-प्रथा के इस नियम-संग्रह का नाम था "*Réglement organique*"। उसके अनुसार, वॅलेशिया के प्रत्येक किसान को अपने तथाकथित ज़मींदार को जिन्स के रूप में तरह-तरह के अनेक छोटे-छोटे करों के अलावा (१) १२ दिन का साधारण श्रम, (२) १ दिन का खेत का श्रम और (३) १ दिन का लकड़ी ढोने का श्रम देना पड़ता है। यानी कुल मिलाकर साल में १४ दिन का श्रम। लेकिन अर्थशास्त्र की गूढ़ समझ का परिचय देते हुए यहां

---

[1] यह बात जर्मनी और ख़ास कर प्रशिया के एल्ब नदी के पूर्व के भाग के लिये भी सच है। १५ वीं सदी में जर्मनी का किसान लगभग हर जगह एक ऐसा आदमी था, जिसको पैदावार तथा श्रम के रूप में कुछ लगान तो ज़रूर देना पड़ता था, पर वैसे, कम से कम व्यवहार में, वह स्वतंत्र था। ब्रैण्डनबुर्ग, पोमेरानिया, साइलीशिया और पूर्वी प्रशिया में नये-नये आकर बसे हुए जर्मन लोग तो क़ानून की नज़रों में भी स्वतंत्र व्यक्ति माने जाते थे। किसानों के युद्ध में अभिजात-वर्ग की विजय होने से यह बात ख़तम हो गयी। उसके फलस्वरूप न सिर्फ़ दक्षिणी जर्मनी के युद्ध में पराजित होने वाले किसान फिर से गुलाम हो गये, बल्कि १६ वीं सदी के मध्य से पूर्वी प्रशिया, ब्रैण्डनबुर्ग, पोमेरानिया और साइलीशिया के और उसके बाद शीघ्र ही श्लेस्विग-होल्सटाइन के स्वतंत्र किसान भी कृषि-दासों की अवस्था को पहुंच गये। (Maurer, *Fronhöfe*, iv. vol.,—Meitzen, "*Der Boden des preussischen Staats.*"—Hanssen, "*Leibeigenshaft in Schleswig—Holstein*".—फ़्रे० एं०)

काम के दिन का साधारण अर्थ नहीं लगाया जाता, बल्कि एक औसत दैनिक पैदावार के उत्पादन के लिये जितना समय आवश्यक होता है, वह काम का एक दिन माना जाता है। और यह औसत दैनिक पैदावार इतनी चालाकी के साथ निर्धारित की जाती है कि कोई देव भी उसे २४ घण्टे में न पैदा कर पाये। स्वयं इस नियमावली में सच्चे रूसी व्यंग्य का प्रदर्शन करते हुए बड़े नपे-तुले शब्दों में यह बता दिया गया है कि काम के १२ दिनों का मतलब ३६ दिन के हाथ के श्रम की पैदावार होता है, १ दिन के खेत के श्रम का अर्थ ३ दिन का श्रम होता है और इसी प्रकार १ दिन के लकड़ी ढोने के श्रम का अर्थ तीन दिन का श्रम होता है। दूसरे शब्दों में, कुल मिलाकर ४२ दिन की हरी करनी पड़ती है। इसमें तथाकथित "jobagie" और जोड़नी पड़ेगी,—असाधारण अवसरों पर सामन्त की जो चाकरी बजानी पड़ती है, यह उसका नाम है। प्रत्येक गांव को हर वर्ष अपनी जन-संख्या के अनुपात में एक निश्चित तादाद में लोगों को इस प्रकार की सेवा के लिये देना पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि वैलेशिया के हरेक किसान के मत्थे इस अतिरिक्त हरी के १४ दिन पड़ते हैं। इस प्रकार, नियम के अनुसार प्रत्येक किसान को वर्ष में ५६ दिन हरी की नजर करने पड़ते हैं। लेकिन वैलेशिया में मौसम बहुत खराब होने के कारण, जहां तक खेती का सम्बंध है, वर्ष केवल २१० दिन का होता है, जिनमें से ४० दिन इतवार के या उत्सवों के होते हैं और औसतन ३० दिन बुरे मौसम के कारण जाया हो जाते हैं। यानी इस तरह २१० में ७० दिन गिने नहीं जाते। बचते हैं १४० दिन। इसलिये आवश्यक श्रम के साथ हरी का अनुपात होता है $\frac{५६}{८४}$, या ६६ $\frac{२}{३}$ प्रतिशत। अतिरिक्त मूल्य की यह दर उस दर से कहीं नीची है, जो इंगलैण्ड के खेतिहर मजदूर या फ़ैक्टरी-मजदूर के श्रम का नियमन करती है। किन्तु यह तो केवल क़ानूनी हरी हुई। "*Règlement organique*" ने इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-क़ानूनों से भी अधिक "उदार" भावना के साथ खुद अपने से बचने के सुगम साधन प्रस्तुत कर रखे हैं। १२ दिन के ५६ दिन बनाने के बाद वह हरी के ५६ दिन में से प्रत्येक दिन के काम की इस तरह व्यवस्था करता है कि वह उसी दिन समाप्त न हो और उसका एक हिस्सा अगले रोज तक चले। मिसाल के लिए, एक दिन में एक निश्चित क्षेत्रफल की भूमि की निराई करनी पड़ती है। इस काम को पूरा करने के लिए, खास कर मक्का के खेतों में, इसका दुगुना समय चाहिये। खेती में कुछ तरह के श्रम के लिए क़ानूनी दिन का इस तरह अर्थ लगाया जाता है कि दिन मई में शुरू होकर अक्तूबर में खतम होता है। मोल्दाविया में इससे भी अधिक कठिन स्थिति है। एक सामन्त ने विजयोन्मत्त होकर कहा था: "*Règlement organique*" के हरी के १२ दिन साल में ३६५ दिन के बराबर होते हैं।[1]

यदि डेन्यूब प्रदेश के प्रान्तों का "*Règlement organique*" अतिरिक्त श्रम के लोभ की सकारात्मक अभिव्यंजना थी, जिसको उसके प्रत्येक पैरे ने क़ानूनी मान्यता प्रदान की, तो इंगलैण्ड के Factory Acts (फ़ैक्टरी-क़ानूनों) को उसी लोभ की नकारात्मक अभिव्यंजना समझना चाहिये। ये क़ानून पूंजीपतियों तथा जमींदारों द्वारा शासित राज्य के बनाये हुए कुछ राजकीय नियमों के जरिये काम के दिन की लम्बाई पर जबर्दस्ती सीमा लगाकर

---

[1] इसका और विस्तृत वर्णन देखिये E. Regnault के "*Histoire politique ét Sociale des Principautés Danubiennes*", Paris, 1855, में (पृ० ३०४ और उससे आगे के पृष्ठों पर)।

श्रम-शक्ति को अंधाधुंध चूसने की पूंजी की प्रवृत्ति पर रोक लगाते हैं। उस मजदूर-आन्दोलन के अलावा, जो दिन-प्रति-दिन अधिक डरावना रूप धारण करता जा रहा है, कारखानों के मजदूरों के श्रम को सीमित करना उसी तरह आवश्यक हो गया था, जिस तरह इंगलैण्ड के खेतों में बनावटी खाद (guano) का प्रयोग करना। खेती में लालच की अंधी जिस लूट ने धरती की उर्वरता को नष्ट कर दिया था, उसी ने उद्योग में राष्ट्र की जीवन्त शक्ति को मानो जड़ से उखाड़ दिया था। इंगलैण्ड में समय-समय पर फैलने वाली महामारियां इसका उतना ही स्पष्ट प्रमाण हैं, जितना कि जर्मनी और फ़्रांस का गिरता हुआ सैनिक स्तर।[1]

१८५० का Factory Act (फ़ैक्टरी-क़ानून), जो आजकल (१८६७ में) लागू है, औसतन १० घण्टे के दिन की इजाज़त देता है; यानी पहले पांच दिन सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक १२ घण्टे काम कराया जा सकता है, जिनमें आधे घण्टे की नाश्ते की और एक घण्टे की खाने की छुट्टी शामिल होती है, और इस तरह १०$\frac{१}{२}$ घण्टे काम के बचते हैं, और शनिवार को सुबह छः बजे से तीसरे पहर २ बजे तक ८ घण्टे काम कराया जा सकता है, जिनमें से आधा घण्टा नाश्ते के लिए होता है। इस तरह काम के कुल ६० घण्टे बचते हैं,—पहले पांच दिन १०$\frac{१}{२}$ घण्टे रोज़ाना और आख़िरी दिन ७$\frac{१}{२}$ घण्टे।[2] इन क़ानूनों के कुछ संरक्षक

---

[1] "यदि किसी प्रजाति के जीव अपनी प्रजाति के औसत आकार से अधिक बड़े होते हैं, तो आम तौर पर और कुछ सीमाओं के भीतर यह उनकी सम्पन्नता का प्रमाण होता है। जहां तक मनुष्य का सम्बंध है, यदि किन्हीं भौतिक अथवा सामाजिक कारणों से उसका जितना विकास होना चाहिये, उतना नहीं होता, तो उसकी शारीरिक ऊंचाई कम हो जाती है। योरप के उन सभी देशों में, जिनमें अनिवार्य सैनिक भरती जारी है, इस प्रथा के लागू होने के समय की अपेक्षा अब वयस्क पुरुषों की औसत ऊंचाई कम हो गयी है और सैनिक सेवा के लिए उनकी सामान्य योग्यता का स्तर गिर गया है। क्रान्ति (१७८९) के पहले फ़्रांस में पैदल सेना में भरती होने के लिए आवश्यक अल्पतम ऊंचाई १६५ सेण्टीमीटर थी, १८१८ में (१० मार्च के क़ानून द्वारा) उसे १५७ सेण्टीमीटर कर दिया गया, और २१ मार्च १८३२ के क़ानून के अनुसार उसे १५६ सेण्टीमीटर में बदल दिया गया था। फ़्रांस में औसतन आधे से ज्यादा आदमी ऊंचाई कम होने या किसी अन्य शारीरिक दुर्बलता के कारण फ़ौज में भरती नहीं किये जाते। १७८० में सेक्सोनी में सैनिक स्तर १७८ सेण्टीमीटर था। अब वह १५५ सेण्टीमीटर है। प्रशिया में वह १५७ सेण्टीमीटर है। ९ मई १८६२ के बवेरियन गज़ट "*Bayriche Zeitung*" में डा० मायेर का एक बयान छपा है। उसमें बताया गया है कि ९ वर्ष के औसत का यह परिणाम है कि प्रशिया में जो आदमी अनिवार्य भरती में बुलाये जाते हैं, उनमें एक हज़ार में से ७१६ आदमी सैनिक सेवा के अयोग्य होते हैं,— ३१७ ऊंचाई कम होने के कारण अयोग्य होते हैं और ३९९ शारीरिक दोषों के कारण... १८५८ में बर्लिन को जितने रंगरूट देने चाहिये थे, वह नहीं दे सका। उनमें १५६ आदमियों की कमी रह गयी।" (J. von Liebig, "*Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie*", 1862, ७ वां संस्करण, खण्ड १, पृ० ११७, ११८।)

[2] १८५० के फ़ैक्टरी-क़ानून का इतिहास इसी अध्याय में आगे मिलेगा।

नियुक्त कर दिये गये हैं, जो फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर कहलाते हैं। ये लोग सीधे गृह-मंत्री के मातहत काम करते हैं, और संसद के आदेशानुसार हर छमाही को उनकी रिपोर्टें प्रकाशित होती हैं। इन रिपोर्टों में अतिरिक्त श्रम के पूंजीवादी लोभ के नियमित एवं सरकारी आंकड़े मिल जाते हैं।

अब ज़रा इन फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की बात सुनिये।[1]

"बेईमान मिल-मालिक सुबह को छः बजने के पन्द्रह मिनट (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज़्यादा) पहले काम शुरू करा देता है और शाम को ६ बजने के पन्द्रह मिनट (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज़्यादा) बाद मज़दूरों को छोड़ता है। नाश्ते के वास्ते मज़दूरों को बराय नाम जो आधा घण्टा दिया जाता है, उसमें से वह ५ मिनट शुरू में और ५ मिनट अन्त में काट लेता है; और खाने के वास्ते जो नाम मात्र का एक घण्टा मिलता है, उसमें से वह १० मिनट शुरू में और १० मिनट अन्त में काट लेता है। शनिवार को वह तीसरे पहर के २ बजने के पन्द्रह मिनट बाद तक (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज़्यादा देर तक) काम कराता रहता है। इस प्रकार वह इतना श्रम मुफ़्त में पा जाता है:

| | |
|---|---|
| सुबह ६ बजे के पहले . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . | १५ मिनट |
| शाम को ६ बजे के बाद . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . | १५ मिनट |
| नाश्ते के समय . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . | १० मिनट |
| खाने के समय . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . | २० मिनट |
| | ६० मिनट |

[1] इंगलैण्ड में आधुनिक उद्योगों के आरम्भ से १८४५ तक के काल का मैं जहां-तहां थोड़ा सा ज़िक्र भर करूंगा। इस काल की जानकारी हासिल करने के लिए मैं पाठक को फ़्रेडरिक एंगेल्स की कृति "*Die Lage der arbeitenden Klasse in England*", Leipzig, 1845, पढ़ने की सलाह दूंगा। उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की एंगेल्स को कितनी मुकम्मिल समझ थी, इसका प्रमाण उन Factory Reports (फ़ैक्टरी-रिपोर्टों), Reports on Mines (खानों की रिपोर्टों) आदि में मिलता है, जो १८४५ से अब तक प्रकाशित हुई हैं। और मज़दूरों की हालत की छोटी से छोटी बातों का भी एंगेल्स ने कितना चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, यह उनकी पुस्तक का Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) की उन सरकारी रिपोर्टों से बहुत सतही ढंग से मुक़ाबला करने पर भी मालूम हो जाता है, जो उसके १८-२० बरस बाद (१८६३-१८६७ में) प्रकाशित हुई थीं। ये रिपोर्टें ख़ास तौर पर उद्योग की उन शाखाओं से सम्बंध रखती हैं, जिनपर फ़ैक्टरी-क़ानून १८६२ तक लागू नहीं हुए थे और जिनपर सच पूछिये, तो वे आज तक लागू नहीं हो पाये हैं। इसलिए उद्योग की इन शाखाओं की जिन परिस्थितियों का एंगेल्स ने वर्णन किया था, उनमें अधिकारियों के हस्तक्षेप से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, और यदि हुआ है, तो नहीं के बराबर। मैंने अपनी ज़्यादातर मिसालें १८४८ के बाद के उस स्वतंत्र व्यापार के युग से ली हैं, उस स्वर्गिक युग से ली हैं, जिसके विषय में स्वतंत्र व्यापार की बड़ी फ़र्म के वे फेरीवाले, जो जितने जाहिल हैं, उतने ही कल्लादराज़ भी, इतनी लम्बी-लम्बी हांकते हैं कि ज़मीन-आसमान एक कर देते हैं। बाक़ी, यहां पर यदि इंगलैण्ड पर सबसे अधिक ज़ोर दिया गया है, तो केवल इसलिये कि वह पूंजीवादी उत्पादन का सर्वमान्य प्रतिनिधि है और केवल उसी के पास उन चीज़ों के आंकड़ों का एक सतत क्रम मौजूद है, जिनपर हम यहां विचार कर रहे हैं।

पांच दिन में—३०० मिनट

| | |
|---|---|
| शनिवार को सुबह ६ बजे के पहले . . . . . . . . . . . . . . . | १५ मिनट |
| नाश्ते के समय . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . | १० मिनट |
| तीसरे पहर २ बजे के बाद . . . . . . . . . . . . . . . . . | १५ मिनट |
| | ४० मिनट |
| पूरे सप्ताह में . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . . | ३४० मिनट |

"यानी ५ घण्टे और ४० मिनट प्रति सप्ताह, जिसे यदि वर्ष के ५० सप्ताहों से गुणा कर दिया जाये (दो सप्ताह हम उत्सवों के और कभी-कभार काम बन्द हो जाने के छोड़ देते हैं), तो वह कुल २७ दिन के बराबर होता है।"[1]

"यदि प्रति दिन पांच मिनट ज्यादा काम लिया जाये, तो सप्ताहों से गुणा करने पर वह साल भर में ढाई दिन की पैदावार के बराबर हो जाता है।"[2]

"सुबह को छः बजने के पहले, शाम को छः बजे के बाद और जो समय सामान्य रूप से नाश्ते तथा भोजन के लिए नियत होता है, उसके प्रारम्भ में और अन्त में थोड़ा-थोड़ा करके यदि कुल एक अतिरिक्त घण्टा बचा लिया जाता है, तो वह साल में लगभग १३ महीने काम लेने के बराबर हो जाता है।"[3]

अर्थ-संकट के समय उत्पादन बीच में रुक जाता है, और फ़ैक्टरियां "कम समय", यानी सप्ताह के एक हिस्से के लिए ही, काम करने लगती हैं। परन्तु इन संकटों से, जाहिर है, काम के दिन को अधिक से अधिक लम्बा कर देने की प्रवृत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण कि व्यवसाय जितना मन्द पड़ जाता है, किये जानेवाले कारबार से उतना ही ज्यादा मुनाफ़ा बनाना जरूरी हो जाता है। काम में जितना कम समय खर्च होता है, उसके उतने ही अधिक भाग को अतिरिक्त श्रम-काल में बदल देना आवश्यक हो जाता है।

चुनांचे, १८५७ से १८५८ तक जो अर्थ-संकट का काल आया था, उसके बारे में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर की रिपोर्ट में कहा गया है:

"यह एक असंगत सी बात प्रतीत हो सकती है कि जिन दिनों व्यापार की दशा इतनी बुरी हो, उन दिनों कहीं पर निश्चित घण्टों से ज्यादा मजदूरों से काम कराया जाये। लेकिन व्यापार की इस बुरी हालत के ही कारण बेईमान लोग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं, अतिरिक्त मुनाफ़ा कमाते हैं..."

---

[1] *"Suggestions etc. by Mr. L. Horner, Inspector of Factories"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टर मि० एल० होर्नर के सुझाव, इत्यादि'), *"Factories Regulation Acts. Ordered by the House of Commons to be printed, 9th August, 1859"* में, पृ० ४, ५।

[2] *"Reports of the Inspectors of Factories for the half year, October, 1856"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की छमाही रिपोर्टें, अक्तूबर, १८५६'), पृ० ३५।

[3] *"Reports, etc., 30th April 1858"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५८'), पृ० ९।

लेग्रोनार्ड होर्नर ने बताया है कि "पहले छः महीनों में मेरे ज़िले में १२२ मिलों के मालिकों ने उनसे नाता तोड़ लिया है, १४३ बन्द पड़ी हैं," और फिर भी मजदूरों से क़ानूनी तौर पर निश्चित समय से अधिक काम लिया जाता है।[1]

मि० हौवेल ने बताया है: "बहुत दिनों तक तो व्यापार की मन्दी के कारण बहुत सी फ़ैक्टरियां एकदम बन्द पड़ी रहीं और उनसे भी अधिक संख्या में कम समय तक काम करने लगीं। लेकिन इसकी शिकायतें मेरे पास अब भी पहले जितनी ही आती रहती हैं कि क़ानूनी तौर पर जो समय मजदूरों के विश्राम करने तथा भोजन के लिए नियत है, उसमें से हेरा-फेरी से दिन भर में आधे घण्टे या पौन घण्टे तक का उनका समय छीन लिया जाता है (snatched)।"[2]

१८६१ से १८६५ तक कपास का जो भयानक संकट आया था, उस वक़्त भी यही बात कुछ छोटे पैमाने पर देखने में आयी थी।[3]

"जब किसी फ़ैक्टरी में लोग भोजन के समय या किसी और ग़ैर-क़ानूनी समय पर काम करते हुए पाये जाते हैं, तो कभी-कभी यह बहाना बनाया जाता है कि क्या किया जाये, ये लोग नियत समय पर मिल के बाहर नहीं निकलते, और ख़ास तौर पर शनिवार को तीसरे पहर के वक़्त इन लोगों को काम (अपनी मशीनें साफ़ करने आदि का काम) बन्द करने के वास्ते मजबूर करने के लिए उनके साथ जबर्दस्ती करनी पड़ती है। मशीन बन्द हो जाने के बाद भी मजदूर फ़ैक्टरी में ही काम करते रहते हैं, पर...अगर मशीनें साफ़ करने आदि के लिए या तो सुबह छः बजे के पहले (जी हां!) और या शनिवार को तीसरे पहर के २ बजे के पहले काफ़ी समय अलग कर दिया जाता, तो मजदूरों से इस तरह का काम न लेना पड़ता।"[4]

---

[1] "*Reports, etc.*" ('रिपोर्टें, इत्यादि'), उप० पु०, पृ० १०।

[2] "*Reports, etc.*" ('रिपोर्टें, इत्यादि'), उप० पु० पृ० २५।

[3] "*Reports, &c., for the half year ending 30th April, 1861*" ('३० अप्रैल १८६१ को समाप्त होने वाली छमाही की रिपोर्टें, इत्यादि')। देखिये "*Reports, &c., 31st October 1862*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२') का परिशिष्ट नं० २, पृ० ७, ५२, ५३। १८६३ की दूसरी छमाही में फ़ैक्टरी-क़ानूनों का अतिक्रमण करने वाली घटनाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी। देखिये "*Reports, &c., ending 31st October, 1863,*" ('३१ अक्तूबर १८६३ को समाप्त होने वाली छमाही की रिपोर्टें, इत्यादि'), पृ० ७।

[4] "*Reports, &c., 31st October 1860*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६०'), पृ० २३। अदालतों के सामने कारख़ानेदारों द्वारा दिये हुए बयानों के अनुसार, यदि मजदूरों के श्रम को बीच में रोकने की कोई भी कोशिश की जाती है, तो मजदूर एकदम बौखलाकर उसका विरोध करते हैं। एक विचित्र उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जून १८३६ के आरम्भ में ड्यूज़बरी (योर्कशायर) के मजिस्ट्रेटों को सूचना मिली कि बेटले के आस-पास की ८ बड़ी मिलों के मालिकों ने फ़ैक्टरी-क़ानूनों को तोड़ा है। इनमें से कुछ महानुभावों पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने १२ वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक की उम्र के ५ लड़कों से शुक्रवार को सुबह ६ बजे आरम्भ करके शनिवार को शाम के चार बजे तक काम लिया और उनको भोजन करने का समय तथा आधी रात को एक घण्टा सोने का समय छोड़कर और एक भी मिनट आराम करने के लिए नहीं दिया। और इन बच्चों को ३० घण्टे का यह अनवरत श्रम "रद्दी-घर" ("shoddy-hole") के अन्दर करना पड़ा। "रद्दी-घर" उस छोटी सी कोठरी को

"इससे (फ़ैक्टरी-क़ानूनों को तोड़कर मजदूरों से ज्यादा समय तक काम लेने से) जो नफ़ा होता है, वह बहुतों के लिए इतने बड़े लालच की चीज़ है कि वे उसके मोह का संवरण नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि मुमकिन है कि वे पकड़ में न आयें; और जब वे यह देखते हैं कि जो लोग पकड़े जाते हैं, उनको भी जुर्माने और खर्चे के तौर पर बहुत थोड़े पैसे देने पड़ते हैं, तो वे सोचते हैं कि अगर पकड़े भी गये, तब भी फ़ायदे में ही रहेंगे...[1] जिन कारखानों में दिन भर में कई बार छोटी-छोटी चोरियां करके ("by a multiplication of small thefts") अतिरिक्त समय कमाया जाता है, उनके खिलाफ़ मुक़दमा दायर करने और इलज़ाम साबित करने में इंस्पेक्टरों को ऐसी-ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिन पर क़ाबू पाना उनके लिए असम्भव हो जाता है।"[2]

पूंजी मजदूरों के भोजन तथा विश्राम करने के समय की जो ये "छोटी-छोटी चोरियां" करती है, उनको फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर "petty pilferings of minutes" ("मिनटों की छोटी-मोटी चोरियां")[3], "snatching a few minutes" ("चन्द मिनट मार देना")[4] या, जैसा कि खुद मजदूर अपनी खास बोली में कहते हैं, "nibbling and cribbling at meal-times" ("भोजन का समय कुतर-कुतरकर चुरा लेना")[5] नामों से भी पुकारते हैं।

---

कहते हैं, जिसमें ऊन के फटे-पुराने कपड़ों को फाड़-फाड़कर छोटे-छोटे चिथड़े बनाये जाते हैं और जहां की हवा धूल और ऊन के रेशों वग़ैरह से इस बुरी तरह भरी रहती है कि वयस्क मजदूरों को भी अपने फेफड़ों को बचाने के लिए सदा मुंह पर रूमाल बांधे रहना पड़ता है! अभियुक्त महानुभावों को क्वेकरों के समुदाय के मेम्बर होने के नाते धार्मिक सिद्धान्तों का इतना अधिक ख़याल था कि वे ऐसे मामलों में ईश्वर की सौगंध नहीं खा सकते थे। चुनांचे उन्होंने केवल इस बात की अभिपुष्टि की कि उन्होंने तो इन अभागे बच्चों पर दया करके उनको चार घण्टे का समय सोने के लिए दिया था, मगर वे इतने ज़िद्दी थे कि बिस्तर पर लेटने को ही तैयार नहीं हुए। इन क्वेकर महानुभावों पर अदालत ने २० पौण्ड का जुर्माना किया। ड्रायडन ने शायद इन्हीं लोगों के बारे में यह लिखा था कि:

"Fox full fraught in seeming sanctity,
That feared an oath, but like the devil would lie,
That look'd like Lent, and had the holy leer,
And durst not sin! before he said his prayer!"

("संन्यासी का बाना धारे, खड़ी लोमड़ी मन को मारे!
सत्य-धर्म को शीश नवाये, झूठों की सिरमौर कहाये!
व्रत-उपवास कभी ना टाला, नैनों में संयम की ज्वाला!
जब तक प्रभु-गुण-गान न गा ले, पाप-कर्म में हाथ न डाले!")

[1] "*Reports, &c., 31st October, 1856*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० ३४।

[2] उप० पु०, पृ० ३५।

[3] उप० पु०, पृ० ४८।

[4] उप० पु०, पृ० ४८।

[5] उप० पु०, पृ० ४८।

यह बात साफ़ है कि इस वातावरण में अतिरिक्त श्रम द्वारा अतिरिक्त मूल्य का निर्माण कोई गुप्त बात नहीं होती। "यदि आप दिन भर में केवल दस मिनट तक मुझे मजदूरों से ज्यादा काम लेने की इजाजत दे दें", – एक बहुत ही प्रतिष्ठित मिल-मालिक ने मुझसे कहा था, – "तो आप मेरी जेब में हर साल एक हजार पौण्ड की रक़म डाल देंगे।"[1] "क्षण मुनाफ़े के तत्त्व होते हैं।"[2]

इस दृष्टि से इससे अधिक स्पष्ट चरित्रगत विशेषता और क्या हो सकती है कि पूरे वक़्त काम करनेवाले मजदूरों को "full times" ("पूर्ण-कालिक") और १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को, जिनको केवल छः घण्टे काम करने की इजाजत है, "half times" ("अर्ध-कालिक") की संज्ञा दी जाती है। यहां मजदूर मूर्तिमान श्रम-काल के सिवा और कुछ नहीं है। अलग-अलग मजदूरों की तमाम व्यक्तिगत विशेषताएं यहां पर "full times" ("पूर्ण-कालिकों") और "half times" ("अर्ध-कालिकों") में लोप हो जाती हैं।[3]

## अनुभाग ३ – अंग्रेजी उद्योग की वे शाखाएं, जिनमें शोषण की कोई क़ानूनी सीमा नहीं है

अभी तक हमने उस विभाग में काम के दिन को लम्बा खींचने की प्रवृत्ति पर, या मनुष्य-रूपी भेड़ियों की अतिरिक्त श्रम की भूख पर, विचार किया है, जहां मजदूरों को इस भयानक ढंग से चूसा जाता था कि, इंगलैण्ड के एक पूंजीवादी अर्थशास्त्री के शब्दों में, अमरीका के आदिवासियों पर स्पेनवासियों ने जो अत्याचार ढाये थे, वे भी उससे अधिक निर्दयतापूर्ण नहीं थे।[4] और उसके फलस्वरूप पूंजी को आखिरकार क़ानूनी प्रतिबंधों की जंजीरों से जकड़ देना पड़ा। आइये, अब हम उत्पादन की उन शाखाओं पर विचार करें, जिनमें श्रम का शोषण या तो आज तक किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों से मुक्त है, या अभी कल तक मुक्त था।

---

[1] उप० पु०, पृ० ४८।

[2] "*Report of the Insp. &c., 30th April, 1860*" ('इंस्पेक्टर की रिपोर्ट इत्यादि, ३० अप्रैल १८६०'), पृ० ५६।

[3] फ़ैक्टरियों और इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों में, दोनों जगह इन्हीं नामों का अधिकृत रूप से प्रयोग किया जाता है।

[4] "मिल मालिकों का लालच उन्हें नफ़े के लोभ में डालकर उनसे ऐसे-ऐसे निर्दय काम कराता है कि शायद सोने के लोभ में पड़कर अमरीका को जीतने वाले स्पेनवासी भी उससे ज्यादा बेरहमी के काम नहीं कर पाये थे।" (John Wade, "*History of the Middle and Working Classes*" [जान वेड, 'मध्य वर्ग और मजदूर-वर्ग का इतिहास]', तीसरा संस्करण, London, 1835, पृ०, ११४।) यह पुस्तक अर्थशास्त्र का एक तरह का गुटका है। और यदि उसके प्रकाशन के समय को ध्यान में रखा जाये, तो उसके सैद्धान्तिक भाग के कुछ अंश एकदम नये हैं, मिसाल के लिए, व्यापारिक संकटों से सम्बंधित हिस्सा। लेकिन पुस्तक के ऐतिहासिक हिस्से में बहुत हद तक सर एफ़० एम० ईडेन की रचना 'ग़रीबों की अवस्था' (Sir F. M. Eden, "*The State of the Poor*". London, 1797) की निर्लज्जतापूर्वक नक़ल की गयी है।

१४ जनवरी १८६० को नोटिंघम के सभा-भवन में एक सभा हुई थी। उसके अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए काउंटी-मजिस्ट्रेट मि० ब्राउटन चार्लटन ने कहा था "कि लैस के व्यापार से सम्बंध रखने वाले आबादी के एक हिस्से में ऐसी ग़रीबी और ऐसी कष्टप्रद स्थिति है, जो राज्य के अन्य भागों में, बल्कि कहना चाहिये कि पूरे सभ्य संसार में और कहीं पर नहीं पायी जाती... नौ-नौ, दस-दस बरस के बच्चों को सुबह के चार बजे या रात के दो या तीन बजे उनके गंदे बिस्तरों से उठाकर रात के दस, ग्यारह या बारह बजे तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है, और उसके एवज में उनको सिर्फ़ इतने पैसे दिये जाते हैं, जिनसे वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते हैं। इन बच्चों के अंग दुर्बल होते जाते हैं, उनके ढांचे मानो छोटे और चेहरे खून की कमी से एकदम सफ़ेद हो जाते हैं तथा उनकी मानवता का एक ऐसी पत्थर जैसी निद्रावस्था में सर्वथा लोप होता जाता है, जिसके बारे में सोचने से भी डर लगता है ... हमें इस बात से कोई आश्चर्य नहीं है कि मि० मैलट या कोई और कारखानेदार इस बहस का विरोध करने के लिए खड़े हो जाते हैं... रेवरेण्ड मोण्टेगू वेल्पी ने जिस व्यवस्था का वर्णन किया है, वह सामाजिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से निर्मम दासता की व्यवस्था है... उस शहर के बारे में कोई क्या सोचेगा, जो यह मांग करने के लिए सार्वजनिक सभा करता है कि पुरुषों का श्रम-काल घटाकर अठारह घण्टे कर दिया जाये?.. हम वर्जीनिया और कैरोलिना के कपास-बाग़ानों के मालिकों को अपने भाषणों में बहुत बुरा-भला कहते हैं। क्या उनका हबशी-व्यापार, उनका कोड़ा और मानव-शरीरों की उनकी बिक्री मानव-जाति के इस बलिदान से अधिक घृणित है, जो केवल इस उद्देश्य के लिए धीरे-धीरे होता रहता है कि वेइल और कालर तैयार होते रहें और पूंजीपति खूब हाथ रंगते रहें?"[1]

पिछले २२ वर्ष में संसद के आदेश पर स्टेफ़र्डशायर के मिट्टी के बर्तन बनाने के कारखानों (potteries) की तीन बार जांच हो चुकी है। जांच का नतीजा मि० स्क्रिवेन की १८४१ की उस रिपोर्ट में निहित है, जो उन्होंने *"Children's Employment Commissioners"* ("बाल-सेवायोजन आयोग के सदस्यों") को दी थी; इसका नतीजा डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की उस रिपोर्ट में निहित है, जो प्रिवी काउंसिल के मेडिकल अफ़सर के आदेश से प्रकाशित हुई थी (*"Public Health"* ['सार्वजनिक स्वास्थ्य'], तीसरी रिपोर्ट, ११२-११३); और, अन्त में, इस जांच का नतीजा मि० लौंग की १८६२ की रिपोर्ट में दर्ज है, जो *"First Report of the Children's Employment Commission, of the 13th June, 1863"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, १३ जून १८६३') में प्रकाशित हुई है। मेरे मतलब के लिए १८६० और १८६३ की रिपोर्टों से खुद शोषित बच्चों के बयानों के कुछ अंश उद्धृत कर देना ही काफ़ी होगा। बच्चों की हालत से हम वयस्कों की और ख़ास कर लड़कियों और औरतों की हालत का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, और वह भी उद्योग की एक ऐसी शाखा में, जिसके मुक़ाबले में कपास की कताई का उद्योग एक बड़ा आरामदेह और स्वास्थ्यप्रद धंधा प्रतीत होता है।[2]

---

[1] *"Daily Telegraph"*, १७ जनवरी १८६०।

[2] देखिये F. Engels, *"Lage der arbeitenden Klasse in England"*, Leipzig, 1845, पृ० २४९–२५१।

६ वर्ष के विलियम वुड ने जब काम करना आरम्भ किया था, तब उसकी उम्र ७ वर्ष और १० महीने की थी। शुरू से ही वह "ran moulds" ("सांचे ढोता था") (यानी सांचे में ढली हुई वस्तुओं को सुखाने के कमरे में ले जाता था और फिर ख़ाली सांचों को वहां से वापिस लाता था)। हर रोज़ वह सुबह को छः बजे आता था और रात को ६ बजे काम करना बन्द करता था। उसने बताया: "हफ़्ते में छः दिन मैं रात को ६ बजे तक काम करता हूं। ७ या ८ हफ़्ते तक मैंने इस तरह काम किया है।" ७ वर्ष के बच्चे से पन्द्रह घण्टे रोज़ाना की मेहनत! १२ वर्ष के जे० मुरे ने बताया: "मैं मिट्टी छानता हूं और सांचे ढोता हूं (I turn jigger and run moulds)। मैं ६ बजे काम पर आता हूं। कभी-कभी ४ बजे ही। कल मैं पूरी रात काम करता रहा—आज सुबह छः बजे तक। मैं परसों रात से बिस्तर पर नहीं लेटा हूं। कल रात ८ या ६ लड़के और काम कर रहे थे। एक को छोड़कर बाक़ी सब आज भी काम पर आये हैं। मुझे ३ शिलिंग और ६ पेंस मिलते हैं। रात को काम करने के एवज़ में मुझे इससे ज्यादा नहीं मिलता। पिछले सप्ताह मैंने दो रात काम किया था।" फ़ेर्नीहाऊ नामक दस वर्ष के एक बालक ने बताया: "(भोजन के लिए) मुझे हमेशा एक घण्टा नहीं मिलता। कभी-कभी, जैसे बृहस्पतिवार, शुक्रवार और शनिवार को, केवल आधा घण्टा ही मिलता है।"[1]

डा० ग्रीनहाऊ ने बताया है कि ट्रेण्ट-नदी-पर-स्थित-स्टोक (Stoke-on-Trent) और वोल्सटेण्टन नामक मिट्टी के बर्तन बनाने वाले डिस्ट्रिक्टों में लोगों की औसत जीवन-अवधि असाधारण रूप से कम होती है। यद्यपि स्टोक डिस्ट्रिक्ट में २० वर्ष से अधिक आयु के वयस्क पुरुषों का केवल ३६.६ प्रतिशत भाग और वोल्सटेण्टन डिस्ट्रिक्ट में केवल ३०.४ प्रतिशत भाग ही मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कारखानों में काम करता है, तथापि स्टोक डिस्ट्रिक्ट में इस आयु के पुरुषों में जितनी मौतें होती हैं, उनमें से आधी से ज्यादा और वोल्सटेण्टन डिस्ट्रिक्ट में कुल मौतों की लगभग $\frac{२}{५}$ संख्या मिट्टी के बर्तन बनाने वालों में फेफड़ों की बीमारियां फैलने के कारण होती हैं। हेनले के एक डाक्टर बूथरोयड का कथन है: "मिट्टी के बर्तन बनाने वालों की हर नयी पीढ़ी पिछली पीढ़ी के मुक़ाबले में क़द में छोटी और दुर्बल होती है।" इसी तरह मि० मकीन नामक एक और डाक्टर ने बताया है कि "२५ वर्ष हुए मैंने मिट्टी के बर्तन बनाने वालों के बीच डाक्टरी करना शुरू किया था। तब से आज तक इन लोगों का स्वास्थ्य बहुत ख़राब हो गया है, जो ख़ास तौर पर क़द और चौड़ाई के कम हो जाने के रूप में ज़ाहिर होता है।" ये तमाम वक्तव्य डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की रिपोर्ट से लिये गये हैं।[2]

१८६३ में जांच-कमिश्नरों ने जो रिपोर्ट दी थी, उसका एक उद्धरण यह है। उत्तरी स्टेफ़र्डशायर के अस्पताल के बड़े डाक्टर डा० जे० टी० आर्लेज ने बताया है: "एक वर्ग

[1] "*Children's Employment Commission. First report, etc., 1863*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, इत्यादि, १८६३'), गवाहों के बयान, पृ० १६, १६, १८।

[2] "*Public Health, 3rd report, etc.*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य, तीसरी रिपोर्ट, इत्यादि'), पृ० १०२, १०४, १०५।

के रूप में, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले–स्त्रियां और पुरुष दोनों–शारीरिक दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से ह्रास-ग्रस्त लोग हैं। आम तौर पर उनका शारीरिक विकास रुक गया है, आकृति भोंडी हो गयी है और उनका वक्ष अक्सर बहुत ही कुरूप होता है। वे लोग वक़्त से पहले बूढ़े हो जाते हैं, और इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं कि उनकी उम्र बहुत छोटी होती है। इन लोगों में कफ़ की ज़्यादती और ख़ून की कमी होती है, और बार-बार होने वाला मंदाग्नि का हमला, जिगर और गुरदे की बीमारियां और गठिया रोग उनके शरीर की दुर्बलता को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं। लेकिन जितनी बीमारियां हैं, उनमें वे सबसे ज़्यादा वक्ष-रोगों–निमोनिया, राजयक्ष्मा, श्वासनलीदाह और दमे–के शिकार होते हैं। एक ख़ास बीमारी सिर्फ़ इन्हीं लोगों में पायी जाती है। वह मिट्टी के बर्तन बनाने वालों का दमा या मिट्टी के बर्तन बनाने वालों की तपेदिक़ कहलाती है। मिट्टी के बर्तन बनाने वालों की दो तिहाई या उससे भी अधिक संख्या में ग्रंथियों, या हड्डियों अथवा शरीर के अन्य भागों की सूजन की बीमारी पायी जाती है... यदि इस डिस्ट्रिक्ट की आबादी के शारीरिक ह्रास (degenerescence) ने और भी अधिक भयंकर रूप धारण नहीं कर लिया है, तो इसका यह कारण है कि आस-पास के इलाक़ों से नये लोग आते रहते हैं और ब्याह-शादी के ज़रिये ज़्यादा तन्दुरुस्त नसलों के लोग उसमें शामिल होते रहते हैं।"[1]

इसी अस्पताल के भूतपूर्व हाउस-सर्जन मि० चार्ल्स पार्सन्स ने कमिश्नर लोंगे के नाम एक पत्र में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा है कि "मैं आंकड़ों के आधार पर नहीं, बल्कि केवल व्यक्तिगत पर्यवेक्षण के आधार पर ही कुछ कह सकता हूं, परन्तु मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि इन ग़रीब बच्चों को देखकर, जिनके स्वास्थ्य को या तो उनके माता-पिता के और या उनके मालिकों के लालच को पूरा करने के लिए बलिदान कर दिया गया है, मुझे बार-बार बहुत गुस्सा आया है।" मि० पार्सन्स ने मिट्टी के बर्तन बनाने वालों को होने वाली बीमारियों के कारण गिनाये हैं और उनका सार निकालते हुए कहा है कि सब बीमारियों का मूल कारण यह है कि इन लोगों को "बहुत ज़्यादा देर तक" ("long hours") काम करना पड़ता है। कमीशन की रिपोर्ट में यह विश्वास प्रकट किया गया है कि "एक ऐसे उद्योग के बारे में, जिसने पूरे संसार में इतना प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है, बहुत दिनों तक यह नहीं कहना पड़ेगा कि उसकी महान सफलता के साथ-साथ उसमें काम करने वाले उन मज़दूरों का,.. जिनके श्रम एवं निपुणता के बल पर यह महान सफलता प्राप्त हुई है,.. शारीरिक ह्रास हुआ है, उनको बड़े पैमाने पर शारीरिक कष्ट उठाना पड़ा है और उनकी मौत जल्दी होने लगी है।"[2] और इंगलैण्ड के मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कारख़ानों के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह स्कोटलैण्ड के कारख़ानों के बारे में भी सच है।[3]

दियासलाइयों का उद्योग १८३३ से आरम्भ हुआ है। जब दियासलाई में फ़ास्फ़ोरस लगाने की पद्धति के आविष्कार के बाद उसका श्रीगणेश हुआ। १८४५ के बाद से इंगलैण्ड

---

[1] *"Children's Employment Commission. First Report, etc., 1863"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, इत्यादि, १८६३'), पृ० २४।

[2] *"Children's Employment Commission, 1863"* ('बाल-सेवायोजना आयोग १८६३'), पृ० २२ और XI (ग्यारह)।

[3] उप० पु०, पृ० XLVII (सैंतालीस)।

में इस उद्योग का तेजी से विकास हुआ है, और वह ख़ास तौर पर लन्दन की घनी बस्तियों में और साथ ही मानचेस्टर, बर्मिंघम, लिवरपूल, ब्रिस्टल, नोर्विच, न्यूकेसल और ग्लासगो में भी फैल गया है। उसके साथ-साथ हनु-स्तंभ की बीमारी का वह ख़ास रूप भी फैल गया है, जिसके बारे में वियेना के एक डाक्टर ने पता लगाया है कि यह बीमारी ख़ास तौर पर दियासलाई बनाने वालों में पायी जाती है। इन मजदूरों की आधी संख्या तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों और अठारह वर्ष से कम उम्र के लड़कों की है। यह उद्योग इतना गन्दा और स्वास्थ्य के लिए इतना हानिकारक समझा जाता है कि मजदूर वर्ग का केवल सबसे गया-गुजरा हुआ हिस्सा,—यानी वे विधवाएं, जिन्हें आधा पेट खाकर रह जाना पड़ता है, और इसी प्रकार के अन्य लोग ही अपने बच्चों को, अपनी "फटे-हाल, भूखी, जाहिल सन्तान" को, इस उद्योग में काम करने के लिए भेजते हैं।[1]

कमिश्नर व्हाइट ने जितने गवाहों के बयान लिये थे (१८६३ में), उनमें से २७० की उम्र १८ वर्ष से और ५० की उम्र १० वर्ष से कम थी तथा ५ केवल ६ वर्ष के थे। काम का दिन १२ से लेकर १४ या १५ घण्टे तक का था। रात को भी काम करना पड़ता था। भोजन का कोई समय निश्चित नहीं था। भोजन प्रायः काम के कमरों में ही करना पड़ता था, जो फ़ास्फ़ोरस के जहरीले धुएं से भरे रहते थे। दांते यदि इस उद्योग को देखते, तो इसे अपने नरक से भी अधिक भयानक पाते।

दीवार पर मढ़े जाने वाले काग़ज़ के उद्योग में घटिया काग़ज़ मशीन से छापा जाता है और बढ़िया हाथ से (block-printing द्वारा)। इस व्यवसाय में सबसे ज्यादा तेजी अक्तूबर के शुरू से अप्रैल के अन्त तक रहती है। इन महीनों में काम अंधाधुंध चलता है और ६ बजे सुबह से रात के १० बजे या उसके भी बाद तक बिना रुके बराबर जारी रहता है।

जे० लीच का बयान है कि "पिछले जाड़ों में उन्नीस में से छः लड़कियां अत्यधिक काम करने के कारण बीमार पड़ गयीं और काम पर न आ सकीं। मैं उनको डांट-डांटकर जगाये रखता हूं, वरना वे सब काम करते-करते ही सो जायें।" डब्ल्यू० डफ़ी ने कहा है: "मैंने वह वक़्त भी देखा है, जब कोई भी बच्चा काम करने के लिए अपनी आंखें खुली हुई नहीं रख पा रहा था। और बच्चे ही क्यों, वास्तव में हममें से कोई भी अपनी आंखें खुली हुई नहीं रख सकता था।" जे० लाइटबोर्न का बयान है कि "मेरी उम्र १३ वर्ष है... पिछले जाड़ों में हम लोग रात के ६ बजे तक काम करते थे और उसके पहले वाले जाड़ों में रात के १० बजे तक। जाड़ों में मेरे पैर इस बुरी तरह फट जाते थे कि मैं रोज रात को दर्द के मारे रोया करता था।" जी० ऐप्सडेन ने बताया है: "मेरा यह लड़का... जब यह ७ वर्ष का था, तब मैं उसे अपनी पीठ पर चढ़ाकर बर्फ़ पार करके कारख़ाने में ले जाया और वहां से लाया करता था। वहां वह रोज सोलह घण्टे काम करता था... अक्सर वह मशीन के पास खड़ा रहता था और मैं उसे झुककर खाना खिलाता था, क्योंकि वह न तो मशीन के पास से हट सकता था और न ही बीच में काम बन्द कर सकता था।" मानचेस्टर की एक फ़ैक्टरी के प्रबंधकर्ता हिस्सेदार स्मिथ ने बताया है कि "हम लोग (उसका मतलब है: "हमारे मजदूर", जो "हम लोगों" के लिए काम करते हैं) बराबर काम करते रहते हैं और खाना खाने के लिए भी बीच में नहीं रुकते, जिससे १०$\frac{१}{२}$ घण्टे का दिन भर का काम

[1] उप० पु०, पृ० LIV (चौवन)।

शाम को ४.३० बजे ही ख़तम हो जाता है और उसके बाद का सारा काम ओवरटाइम होता है।"[1] (क्या यह मि० स्मिथ ख़ुद भी इन १० $\frac{१}{२}$ घण्टों में भोजन नहीं करते?) "हम लोग (वही स्मिथ साहब बोल रहे हैं) शाम के ६ बजने के पहले शायद कभी ही काम बन्द करते हैं (मतलब यह कि "हम" शायद कभी ही "अपनी" श्रम-शक्ति की मशीनों का उपयोग करना बन्द करते हैं)। नतीजा यह होता है कि असल में हम लोग (यानी वही मि० स्मिथ) (iterum Crispinus) साल भर ओवरटाइम काम करते रहते हैं ... इन तमाम लोगों को, जिनमें बच्चे और बड़े दोनों शामिल हैं (जिनमें १५२ बच्चे तथा लड़के और १४० वयस्क लोग हैं), पिछले अठारह महीने से हर सप्ताह औसतन कम से कम ७ दिन और ५ घण्टे, या ७८ $\frac{१}{२}$ घण्टे प्रति सप्ताह, काम करना पड़ा है। इस वर्ष (१८६२) की २ मई को जो छः सप्ताह समाप्त हुए, उनका औसत इससे भी ज़्यादा बैठता था, यानी इन छः सप्ताहों में उन्हें प्रति सप्ताह ८ दिन—या ८४ घण्टे—काम करना पड़ा।" फिर भी यह मि० स्मिथ, जिनको pluralis majestatis (बहुवचन का प्रयोग करने) का इतना ज़्यादा शौक़ है, मुस्कराते हुए फ़रमाते हैं कि "मशीन का काम बहुत मुश्किल नहीं होता।" इसी तरह ब्लाकों से काग़ज़ की छपाई करने वाले कारख़ानों के मालिक कहते हैं कि "हाथ का काम मशीन के काम से अधिक स्वास्थ्यप्रद होता है।" कुल मिलाकर, सभी मालिक ग़ुस्से से बौखला उठते हैं, जब कोई व्यक्ति "कम से कम भोजन के समय मशीनों को रोक देने" का सुझाव रखता है। दरो के दीवार पर मढ़ने का काग़ज़ तैयार करने वाले एक कारख़ाने के मैनेजर मि० ओटेले ने कहा है कि यदि इस तरह का कोई नियम बन जाये, "जिसके अनुसार, मान लीजिये, सुबह ६ बजे से रात के ९ बजे तक काम कराया जा सके,.. तो हम लोगों को (!) बड़ी सुविधा हो जाये, लेकिन सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक का समय फ़ैक्टरी में काम लेने के लिए उपयुक्त नहीं है। हमारी मशीन भोजन के लिए हमेशा रोक दी जाती है (क्या कहने आपकी उदारता के!)। इससे काग़ज़ और रंग की कभी कोई ख़ास हानि नहीं होती। लेकिन,"—वह आगे बड़ी सहृदयता के साथ कहते हैं,—"समय का नुक़सान यदि लोगों को पसन्द नहीं आता, तो मैं इस बात को समझ सकता हूं।" कमीशन की रिपोर्ट में बड़े भोलेपन के साथ यह मत प्रकट किया गया है कि कुछ "प्रमुख कम्पनियों" को समय खोने का, यानी दूसरों का श्रम हड़पने के लिए समय न पाने का और इसलिए मुनाफ़ा

---

[1] इसका वही अर्थ नहीं लगाना चाहिए, जो हमारे अतिरिक्त श्रम-काल का होता है। ये महानुभाव १० $\frac{१}{२}$ घण्टे के श्रम को काम का सामान्य दिन समझते हैं, जिसमें, ज़ाहिर है, सामान्य अतिरिक्त श्रम भी शामिल होता है। इसके बाद "ओवरटाइम" शुरू होता है, जिसकी मजदूरी कुछ बेहतर दर पर दी जाती है। बाद को यह बात स्पष्ट होगी कि तथाकथित सामान्य दिन में जो श्रम ख़र्च होता है, मजदूर को उसके लिए कम मूल्य दिया जाता है और इसलिए "ओवरटाइम" महज मजदूर से थोड़ा और अतिरिक्त श्रम कराने का एक पूंजीवादी हथकंडा होता है। यदि काम के सामान्य दिन में ख़र्च की गयी श्रम-शक्ति की उचित मजदूरी दे भी दी जाये, तब भी "ओवरटाइम" मजदूर से अतिरिक्त श्रम कराने की तरक़ीब ही रहेगा।

खो बैठने का जो भय सता रहा है, वह इसके लिए पर्याप्त कारण नहीं समझा जा सकता कि १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को और १८ वर्ष से कम उम्र के लड़के-लड़कियों को बिना खाये काम करने की इजाज़त दी जाये या उनको काम के दौरान में ही इस तरह भोजन देने की इजाज़त दी जाये, जिस तरह भाप के इंजन को उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान में कोयला और पानी दिया जाता है, ऊन को साबुन खिलाया जाता है और पहिये को तेल पिलाया जाता है, – यानी जिस तरह श्रम के औज़ारों को सहायक सामग्री दी जाती है।[1]

इंगलैण्ड में उद्योग की किसी शाखा में उत्पादन का इतना पुरातन ढंग इस्तेमाल नहीं किया जाता, जितना डबल रोटी बनाने में (हाल में मशीनों के ज़रिये रोटी बनाने की जो पद्धति चालू की गयी है, हम उसपर यहां विचार नहीं कर रहे हैं)। डबल रोटी बनाने के व्यवसाय में तो ईसा के भी पूर्व का ढंग इस्तेमाल किया जाता है। रोमन कवियों की रचनायें इसकी साक्षी हैं। परन्तु, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शुरू में पूंजी को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं होती कि श्रम-क्रिया का प्राविधिक स्वरूप कैसा है। वह जैसा भी होता है, पूंजी उसी रूप पर अधिकार करके अपना काम आरम्भ कर देती है।

ख़ास तौर पर लन्दन में डबल रोटी में जैसी भयानक मिलावट की जाती है, इसपर पहले-पहल उस समय प्रकाश पड़ा, जब हाउस आफ़ कामन्स ने "खाद्य-पदार्थों में मिलावट" की जांच करने के लिए एक समिति नियुक्त की और उसने अपनी रिपोर्टें प्रकाशित कीं (१८५५-५६) और जब डा० हैस्सल की रचना *"Adulteration detected"* ('मिलावट पकड़ी गयी')[2] प्रकाशित हुई। इस रहस्योद्घाटन का परिणाम यह हुआ कि ६ अगस्त १८६० को "for preventing the adulteration of articles of food and drink" ("खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट रोकने के लिए") एक क़ानून बना दिया गया। पर यह क़ानून कभी अमल में नहीं आया, क्योंकि वह स्वभावतया ऐसे प्रत्येक स्वतंत्र व्यापारी पर कृपा-दृष्टि रखता है, जो मिलावट वाली वस्तुओं को ख़रीद या बेच कर "ईमानदारी का पैसा कमाना" ("to turn an honest penny") चाहता है।[3] इस समिति ने खुब न्यूनाधिक भोलेपन के साथ अपना यह विश्वास प्रकट किया कि स्वतंत्र व्यापार का अर्थ मूलतया मिलावट-मिली चीज़ों का व्यापार, या, – जैसा कि अंग्रेज़ लोग बड़ी बुद्धिमानी का परिचय देते हुए कहते हैं, – "गोलमाल" ("sophisticated") वस्तुओं का व्यापार, होता है। वस्तुतः इस प्रकार

---

[1] *"Children's Employment Commission, 1863"* ('बाल-सेवायोजन आयोग, १८६३'), गवाहों के बयान, पृ० १२३, १२४, १२५, १४० और LIV (चौवन)।

[2] फिटकरी का बारीक चूरा, जिसमें कभी-कभी नमक भी मिला रहता है, बाज़ार में आम बिकता है और "bakers' stuff" ("रोटी बनाने वालों का मसाला") कहलाता है।

[3] कालिख कार्बन का एक सुपरिचित और बहुत ऊर्जापूर्ण रूप है। चिमनियां साफ़ करने वाले उसे खाद के रूप में अंग्रेज़ काश्तकारों के हाथ बेच देते हैं। अब १८६२ में अंग्रेज़ जूरी को एक मुक़दमे में यह सवाल तै करना पड़ा कि वह कालिख, जिसमें ख़रीदार के पीठ पीछे ९० प्रतिशत धूल और रेत मिला दिया गया है, व्यापारिक अर्थ में खरी कालिख है या क़ानूनी अर्थ में मिलावट-मिली कालिख है। जूरी में जो "amis du commerce" ("व्यापार के मित्र") बैठे हुए थे, उन्होंने यह तै किया कि यह व्यापारिक अर्थ में खरी कालिख है, और दायर करने वाले काश्तकार का मुक़दमा ख़ारिज कर दिया गया, जिसे ऊपर से मुक़दमे का ख़र्च भी अदा करना पड़ा।

का गोलमाल करने वाले प्रोतेगोरस से भी अधिक दक्षता के साथ सफ़ेद को काला और काले को सफ़ेद कर सकते हैं और एलियाटिक्स से भी अधिक कुशलता के साथ ad oculos (आपकी आंखों के सामने ही) यह प्रमाणित कर सकते हैं कि दुनिया में हर चीज़ महज दिखावटी होती है।[1]

बहर-हाल, इस समिति ने जनता का ध्यान उस रोटी की ओर, जिसे वह रोज़ खाती थी, और रोटी बनाने के व्यवसाय की ओर खींचा था। उसके साथ-साथ लन्दन के रोटी बनाने वाले कारीगरों ने सार्वजनिक सभाओं के ज़रिये और संसद को दरख़ास्तें भेजकर इस बात का शोर मचाया कि उनके मालिक लोग उनसे बहुत ज़्यादा काम लेते हैं, इत्यादि। यह शोर इतना ज़ोरदार था कि मि० एच० एस० ट्रेमेनहीर को, जो १८६३ के उस कमीशन के सदस्य थे, जिसका पहले भी कई बार ज़िक्र आ चुका है, इस मामले की जांच करने के लिए शाही जांच-कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया। उनकी रिपोर्ट[2] का तथा उन बयानों का, जो उनके सामने दिये गये थे, जनता के दिल पर भले ही कोई असर न पड़ा हो, पर उसके पेट में ज़रूर खलबली मच गयी। अंग्रेज़ को अपनी बाइबल का सदा अच्छा ज्ञान होता है, और उसे यह ख़ूब मालूम था कि जब तक आदमी भगवान की दया से किसी पूंजीपति, ज़मींदार या बैठे-बिठाये मोटी तनख़ाह मारने वाले के घर में पैदा नहीं होता, तब तक उसे हमेशा अपनी मेहनत और पसीने की रोटी खानी पड़ती है। मगर उसे यह मालूम नहीं था कि यदि फिटकरी, रेत और अन्य जायेक़ेदार खनिज पदार्थों की गिनती न भी की जाये, तो भी उसे हर रोज़ अपनी रोटी में फोड़ों का मवाद, आदमी का पसीना, मकड़ी के जाले, मरे हुए तिलचटे और सड़ा हुआ जर्मन ख़मीर खाना पड़ता है। चुनांचे परम पावन स्वतंत्र व्यापार का कोई ख़याल न करके रोटी बनाने का स्वतन्त्र व्यवसाय राजकीय इंस्पेक्टरों के निरीक्षण में रख दिया गया (यह निश्चय संसद के १८६३ के अधिवेशन के बन्द होने के समय हुआ) और संसद के इसी क़ानून के ज़रिये रात के ९ बजे से सुबह के ५ बजे तक १८ वर्ष से कम उम्र के रोटी बनाने

---

[1] फ़्रांसीसी रसायनज्ञ चेवल्ये ने मालों के "गोलमाल" से सम्बंध रखने वाली अपनी रचना में जिन ६०० या उससे अधिक वस्तुओं पर विचार किया है, उनमें से अधिकतर में उसने मिलावट के दस-दस, बीस-बीस और तीस-तीस अलग-अलग तरीक़े गिनाये हैं। साथ ही उसने यह भी लिख दिया है कि उसे सब तरीक़ों की जानकारी नहीं है और न ही उसने उन सब तरीक़ों का ज़िक्र किया है, जिनको वह जानता है। उसने चीनी में मिलावट के ६ तरीक़े, जैतून के तेल में ९, मक्खन में १०, नमक में १२, दूध में १९, रोटी में २०, ब्रांडी में २३, आटे में २४, चाकलेट में २८, शराब में ३० और काफ़ी में मिलावट करने के ३२ तरीक़े बताये हैं, इत्यादि। यहां तक कि ख़ुद सर्वशक्तिमान परमेश्वर भी इस मुसीबत से नहीं बच पाया है। रूअर्द दे कार्द की रचना 'धार्मिक अनुष्ठानों की सामग्री में मिलावट करने के विषय में' (Rouard de Card, "*De la falsification des substances sacramentelles*", Paris, 1856) देखिये।

[2] "*Report, &c., relative to the grievances complained of by the journeymen bakers, &c., London, 1862*" ('रोटी बनाने वाले कारीगरों की शिकायतों आदि के बारे में रिपोर्ट, इत्यादि, लन्दन, १८६२) और "*Second Report, &c., London, 1863*" ('दूसरी रिपोर्ट, इत्यादि, लन्दन, १८६३')।

वाले कारीगरों से काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। क़ानून की इस अन्तिम धारा से प्रकट होता है कि इस पुराने घरेलू ढंग के व्यवसाय में मजदूरों से कैसा कमर-तोड़ काम लिया जाता था।

"लन्दन में रोटी बनाने वाले कारीगर का काम, आम तौर पर, रात को लगभग ग्यारह बजे शुरू होता है। उस समय वह आटा तैयार करता है। यह बड़ी मेहनत का काम होता है। घान छोटा है या बड़ा और आटे को कितनी देर गूंधना है, उसके अनुसार इस काम में आधे घण्टे से पौन घण्टे तक का समय लग जाता है। उसके बाद कारीगर आटा गूंधने के उस तख्ते पर ही लेट जाता है, जिससे आटा घोलने की नांद के ढक्कन का भी काम लिया जाता है। वह आटे की एक बोरी अपने नीचे बिछा लेता है और एक बोरी को तह देकर तकिया बना लेता है। यहां वह दो-एक घण्टे सोता है। फिर उठता है, तो पांच घण्टे तक लगातार बहुत तेजी के साथ काम करता रहता है। इस अरसे में वह नांद में से आटा बाहर निकालता है, उसे तोलता है, सांचे में डालता है, तंदूर में रखता है, छोटी रोटियां और बढ़िया रोटियां तैयार करके पकाता है, घान को तन्दूर के बाहर निकालता है, रोटियों को दूकान में सजाता है, वग़ैरह, वग़ैरह। जहां रोटी पकायी जाती है, उस कमरे का तापमान ७५ से लेकर ६० डिगरी तक रहता है, और छोटे कमरों में तापमान ७५ डिगरी के बजाय ६० डिगरी के ज्यादा नजदीक रहता है। जब डबल रोटी, छोटी रोटी आदि बनाने का काम समाप्त हो जाता है, तो उसके वितरण का काम शुरू होता है। रात भर इस तरह सख्त मेहनत करने के बाद कारीगरों का एक काफ़ी बड़ा हिस्सा दिन में कई-कई घण्टे टोकरियों में भरी या ठेलों पर लदी रोटियों को इधर से उधर पहुंचाने में व्यस्त रहता है और बीच-बीच में उसे रोटी पकाने के कमरे में पहुंच जाना पड़ता है। इन कारीगरों को दोपहर के बाद १ बजे और ६ बजे के बीच छुट्टी मिलती है। तीसरे पहर को वे कब काम से छूटते हैं, यह इस पर निर्भर करता है कि मौसम कौनसा है और उनके मालिक का धंधा किस प्रकार का तथा कितना फैला हुआ है। इसी बीच कुछ और कारीगरों को शाम तक रोटियों के नये घान तन्दूर से निकलने के लिए जुटे रहना पड़ता है...[1] लन्दन में जिस मौसम में रोटियों का धंधा ख़ास तौर पर चमकता है, उस मौसम में वेस्ट एण्ड क्षेत्र के "पूरे दामों पर" रोटी बेचने वाले नानबाइयों के कारीगर आम तौर पर रात को ११ बजे काम आरम्भ करते हैं और दो-एक छोटे-छोटे (कभी-कभी तो बहुत छोटे) अवकाशों के साथ अगले रोज सुबह के ८ बजे तक रोटी पकाते रहते हैं। उसके बाद वे दिन भर, यानी शाम के ४, ५, ६ और यहां तक कि ७ बजे तक, फिर रोटियां इधर से उधर ले जाने का काम करते हैं या कभी-कभी तीसरे पहर को उनको फिर रोटी पकाने के कमरे में घुसकर बिस्कुट बनाने में मदद करनी पड़ती है। काम ख़तम करने के बाद उनको कभी-कभी पांच-छः घण्टे और कभी केवल चार-पांच घण्टे सोने के लिए मिलते हैं, और उसके बाद फिर वही क्रम आरम्भ हो जाता है। शुक्रवार के दिन वे सदा कुछ जल्दी, यानी दस बजे के क़रीब, काम शुरू कर देते हैं और कभी-कभी शनिवार की रात के ८ बजे तक और आम तौर पर रविवार की सुबह के ४ या ५ बजे तक लगातार रोटी पकाने या जहां-तहां पहुंचाने में लगे रहते हैं। रविवार के दिन कारीगरों को दो या तीन बार दो-एक घण्टे के लिए आकर अगले दिन की रोटियों के लिए तैयारी करनी पड़ती है... "Underselling masters"

---

[1] उप० पु०, *"First Report, etc."* ('पहली रिपोर्ट, इत्यादि'), पृ० VI (छः)।

(कम दामों पर रोटी बेचने वाले मालिक) (जो "पूरे भाव" से कम दामों पर अपनी रोटी बेच देते हैं और जिनकी श्रेणी में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, लन्दन के तीन-चौथाई रोटी वाले आ जाते हैं) जिन कारीगरों को नौकर रखते हैं, उनको आम तौर पर न सिर्फ़ ज़्यादा देर तक काम करना पड़ता है, बल्कि उनका सारा काम रोटी पकाने के कमरे के भीतर ही होता है। कम दामों पर रोटी बेचने वाले मालिक आम तौर पर... अपनी दूकानों पर ही रोटी बेच देते हैं। मोदियों की दूकानों के सिवा वे अपनी रोटी और कहीं नहीं भेजते, और वहां भेजने के लिए वे आम तौर पर दूसरे मज़दूरों से काम लेते हैं। उनके घर-घर रोटी पहुंचाने का प्रचलन नहीं है। जब सप्ताह समाप्त होने के क़रीब आता है, तब... कारीगर लोग बृहस्पतिवार को रात के १० बजे शुरू करके शनिवार की रात तक लगातार काम करते चले जाते हैं और बीच में महज़ ज़रा सी देर के लिए उनको एक छुट्टी मिलती है।"[1]

"Underselling masters" (कम दामों पर रोटी बेचने वाले मालिकों) की स्थिति को पूंजीवादी दिमाग़ भी समझता है। "ये लोग कारीगरों से मुफ़्त श्रम (the unpaid labour of the men) कराते हैं और उसके सहारे प्रतियोगिता करते हैं।"[2] और जांच-कमीशन के सामने "full priced baker" (पूरे दामों पर बेचने वाला) underselling (कम दामों पर बेचने वाले) अपने प्रतिद्वन्द्वियों की निन्दा करता है और कहता है कि वे लोग दूसरों के श्रम को चुराते हैं और रोटी में मिलावट करते हैं। "वे यदि ज़िन्दा हैं, तो केवल इसलिए कि वे एक तो जनता को धोखा देते हैं और, दूसरे, अपने कारीगरों को १२ घण्टे की मज़दूरी देकर उनसे १८ घण्टे काम कराते हैं।"[3]

रोटी में मिलावट किया जाना और नानबाइयों के एक ऐसे वर्ग का जन्म ले लेना, जो पूरे भाव से कम दामों पर अपनी रोटी बेच देता है, – यह १८ वीं सदी के शुरू में, उसी समय से आरम्भ हो गया था, जब इस व्यवसाय का संघीय स्वरूप नष्ट हो गया और रोटियों की दूकान के मालिक की नकेल आटे की चक्की के मालिक या आटे के आढ़ती के रूप में पूंजीपति के हाथों में पहुंच गयी।[4] इस प्रकार इस व्यवसाय में पूंजीवादी उत्पादन और काम के दिन को

---

[1] उप० पु०, पृ० LXXI (इकहत्तर)।

[2] George Read, "*The History of Baking*" (जार्ज रीड, 'रोटी बनाने के व्यवसाय का इतिहास'), London, 1848, पृ० १६।

[3] "*Report (First), &c. Evidence of the full-priced" baker Cheeseman*" ['(पहली) रिपोर्ट, इत्यादि। "पूरे दामों पर" रोटी बेचने वाले नानबाई चीज़मैन का बयान'], पृ० १०८।

[4] George Read, उप० पु०। १७वीं सदी के अन्त में और १८वीं सदी के आरम्भ में factors (आढ़ती लोग) हर सम्भव व्यवसाय में घुस गये थे, और उस समय भी आम तौर पर इन लोगों को "public nuisances" (एक "सामाजिक मुसीबत") समझा जाता था। चुनांचे, सोमेरसेट की काउंटी के मजिस्ट्रेटों के त्रैमासिक अधिवेशन के दौरान Grand Jury (छोटी अदालत की जूरी) ने हाउस आफ़ कामन्स को एक दरख़ास्त दी थी, जिसमें अन्य बातों के अलावा यह भी कहा गया था कि "ब्लैकवेल हाल के ये आढ़ती सार्वजनिक कष्ट का कारण बने हुए हैं और कपड़े के व्यवसाय को हानि पहुंचा रहे हैं, और इसलिए एक सामाजिक मुसीबत के रूप में इन लोगों को ख़तम कर देना चाहिये।" (*"The Case of our English Wool, &c."* ['हमारे अंग्रेज़ी ऊन की हिमायत में, इत्यादि'], London, 1685, पृ० ६, ७।)

अधिक से अधिक लम्बा खींचने और रात को मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा काम लेने की पद्धति की नींव पड़ गयी, हालांकि रात के काम की प्रथा ने लन्दन में भी केवल १८२४ के बाद से ही अपने पांव अच्छी तरह जमाये हैं।[1]

अभी-अभी जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात भी समझ में आ जानी चाहिये कि जांच-कमीशन की रिपोर्ट ने रोटी बनाने वाले कारीगरों को कम उम्र तक जिन्दा रहने वाले उन मजदूरों की श्रेणी में क्यों रखा है, जो यदि सौभाग्यवश मजदूर-वर्ग के अधिकतर बच्चों की तरह असमय मृत्यु का शिकार नहीं हो जाते, तो ४२ वर्ष की उम्र तक बहुत मुश्किल से पहुंचते हैं। और फिर भी रोटी बनाने के व्यवसाय में काम करने के इच्छुक उम्मीदवारों की सदा भीड़ लगी रहती है। लन्दन में इस व्यवसाय के लिये मजदूर-प्राप्ति के स्रोत हैं स्कोटलैण्ड, इंगलैण्ड के पश्चिमी खेतिहर जिले और जर्मनी।

१८५८-६० में आयरलैण्ड के रोटी बनाने वाले कारीगरों ने रात का और रविवार का काम बन्द कराने के लिये अपने खर्चे से बड़ी-बड़ी सभाएं कीं। साधारण जनता ने भी – मसलन मई १८६० में डबलिन की सभा में – आयरलैण्डवासियों के प्रबल उत्साह के साथ उनका समर्थन किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप वेक्सफ़ोर्ड, किलकेन्नी, क्लान्मेल, वाटरफ़ोर्ड आदि स्थानों में केवल दिन में काम कराने का नियम सफलतापूर्वक लागू हो गया। "लिमरिक में, जहां कारीगरों की शिकायतें हद से ज्यादा बढ़ गयी थीं, रोटी की दूकानों के मालिकों के विरोध के सामने आन्दोलन पराजित हो गया है। वहां इस आन्दोलन के सबसे बड़े विरोधी वे मालिक थे, जिनके पास आटे की चक्कियां हैं। लिमरिक की मिसाल का ऐन्निस और टिप्पेरारी पर भी प्रतिगमनात्मक प्रभाव पड़ा। कोर्क में, जहां तीव्रतम वेग से भावनाओं का प्रदर्शन हुआ, मालिकों ने कारीगरों को काम से जवाब दे देने के अपने अधिकार का प्रयोग करके आन्दोलन को हरा दिया है। डबलिन में रोटी की दूकानों के मालिकों ने आन्दोलन का बहुत डटकर विरोध किया है, और जो कारीगर आन्दोलन में अग्रणी थे, उन्हें यथाशक्ति हताश करके वे कारीगरों से उनके विश्वासों के विरुद्ध यह बात मनवाने में कामयाब हो गये हैं कि वे इतवार को और रात को काम करना जारी रखेंगे।"[2]

आयरलैण्ड की अंग्रेजी हुकूमत हमेशा जनता पर दमन करने के हथियारों से सजी रहती है और आम तौर पर वह उनका प्रदर्शन भी करती रहती है। पर उसी सरकार द्वारा नियुक्त की गयी इस समिति ने डबलिन, लिमरिक, कोर्क आदि नगरों के रोटी की दूकानों के निर्मम मालिकों को बड़ी नम्रतापूर्वक समझाने-बुझाने की कोशिश की और, जैसे वह किसी के अन्तिम संस्कार में भाग ले रही हो, बड़े ही दुःख के अन्दाज में कहा: "समिति को विश्वास है कि श्रम के घण्टे प्रकृति के नियमों से सीमित होते हैं और इन नियमों का उल्लंघन करके कोई भी दण्ड से नहीं बच सकता। यदि रोटी की दूकानों के मालिक अपने कारीगरों को नौकरी से बर्खास्त कर दिये जाने का डर दिखाकर, उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों तथा अपनी स्वस्थ भावनाओं का हनन करने के लिये और देश के क़ानूनों को तोड़ने के लिये मजबूर करते हैं (यह सब

---

[1] *"First Report, etc."* ('पहली रिपोर्ट, इत्यादि')।

[2] *"Report of Committee on the Baking Trade in Ireland for 1861"* ('आयरलैण्ड में रोटी बनाने के व्यवसाय की जांच करने के लिये नियुक्त की गयी कमिटी की रिपोर्ट, १८६१')।

रविवार को काम करने के बारे में कहा जा रहा है), तो इसका केवल यही परिणाम होगा कि मजदूरों और मालिकों के सम्बंध बिगड़ जायेंगे... और एक ऐसी मिसाल क़ायम होगी, जो धर्म, नैतिकता और सामाजिक व्यवस्था के लिये ख़तरनाक है...समिति का विश्वास है कि १२ घण्टे रोज़ाना से ज़्यादा लगातार काम लेना मज़दूर के घरेलू एवं निजी जीवन में हस्तक्षेप करना है, यह हरेक मज़दूर के घर में टांग अड़ाना और उसे पुत्र, भाई, पति और पिता के रूप में अपने पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा न करने देना है, और इसलिये नैतिक दृष्टि से उसका परिणाम विनाशकारी होता है। यदि किसी मज़दूर से १२ घण्टे से ज़्यादा काम लिया जाता है, तो उसका स्वास्थ्य नष्ट होने लगता है, उसको बुढ़ापा बहुत जल्दी आ घेरता है और उसकी असमय मृत्यु हो जाती है। इस तरह, यह प्रथा मज़दूरों के परिवारों को चौपट कर देती है और मज़दूर-कुटुम्बों को ठीक उसी समय असहाय कर देती है, जब उनको देखरेख और सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता होती है।"[1]

अभी तक हमने आयरलैण्ड का ज़िक्र किया है। आयरलैण्ड के जलडमरूमध्य के दूसरी ओर, स्कोटलैण्ड में, खेतिहर मज़दूर, या हलवाहा, इस बात का विरोध कर रहा है कि उससे बहुत ही बुरे मौसम में भी रोज़ाना १३-१४ घण्टे काम लिया जाता है और साथ ही (शनिवार को छुट्टी का पवित्र दिन मानने वालों के इस देश में) उसे रविवार को ४ घण्टे का अतिरिक्त काम करना पड़ता है।[2] और वहां लन्दन में तीन रेलवे-मज़दूर – एक गार्ड, एक इंजन-ड्राइवर और एक सिगनलमैन – एक मजिस्ट्रेट के सामने खड़े हैं। रेल की एक भारी दुर्घटना में सैकड़ों मुसाफ़िर आन की आन में मुल्के-अदम को रवाना हो गये हैं। दुर्घटना का कारण है कर्मचारियों की लापरवाही। वे लोग जूरी के सामने एक आवाज़ से यह कहते हैं कि दस या बारह बरस पहले उनको केवल आठ घण्टे रोज़ाना काम करना पड़ता था। परन्तु पिछले पांच या छः सालों में उनसे १४, १८ और २० घण्टे तक काम लिया जाने लगा है, और जब कभी छुट्टियों के दिनों में काम का विशेष दबाव होता है और छुट्टियां मनाने वालों के लिये स्पेशल ट्रेनें चलती हैं, तो अक्सर उनको बिना किसी अवकाश के ४० या ५० घण्टे तक लगातार काम करना पड़ता है।

---

[1] उप० पु०।

[2] ५ जनवरी १८६६ को एडिनबरा के नज़दीक, लास्सवेड में खेतिहर मज़दूरों की एक सार्वजनिक सभा हुई। (देखिये *"Workman's Advocate"* का १३ जनवरी १८६६ का अंक।) १८६५ ख़तम होते-होते स्कोटलैण्ड में खेतिहर मज़दूरों की एक ट्रेड-यूनियन बन गयी थी। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। मार्च १८६७ में इंगलैण्ड के बकिंघमशायर नामक एक सबसे अधिक उत्पीड़ित खेतिहर ज़िले में खेतिहर मज़दूरों ने अपनी मज़दूरी ६-१० शिलिंग से बढ़ाकर १२ शिलिंग करवाने के लिये हड़ताल कर दी। (उपरोक्त अंश से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि इंगलैण्ड के खेतिहर सर्वहारा का जो आन्दोलन १८३० के हंगामाखेज़ प्रदर्शनों के कुचले जाने के बाद और ख़ास तौर पर ग़रीबों के सम्बंध में नये क़ानूनों के जारी हो जाने के बाद पूरी तरह कुचल दिया गया था, वह उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में फिर आरम्भ हो गया था और १८७२ में तो उसने युगान्तरकारी रूप धारण कर लिया था। इस ग्रंथ के दूसरे खण्ड में मैं इसका और साथ ही उन सरकारी प्रकाशनों का फिर ज़िक्र करूंगा, जो १८६७ के बाद प्रकाशित हुए हैं और जिनमें इंगलैण्ड के खेतिहर मज़दूरों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। – तीसरे संस्करण में जोड़ा गया अंश।)

ये मजदूर देव या दैत्य नहीं, बल्कि साधारण मनुष्य थे। आखिर एक ऐसा बिन्दु आया, जब उनकी श्रम-शक्ति जवाब दे गयी, चेतनाशून्यता ने उन्हें आ घेरा, उनके दिमाग़ ने सोचना और आंखों ने देखना बन्द कर दिया। पर thoroughly "respectable" British jurymen (अंग्रेजी अदालत की जूरी के परम "संभ्रांत" सदस्यों) ने उनके मुक़दमे का यह फ़ैसला किया कि manslaughter (नर-हत्या) का जुर्म लगाकर उनको तो सेशन अदालत के सिपुर्द कर दिया, और अपने निर्णय के साथ एक नत्थी सा ऐसा अंश भी जोड़ दिया, जिसमें आशा प्रकट की गयी थी कि रेलों के पूंजीवादी मालिक भविष्य में श्रम-शक्ति की पर्याप्त मात्रा ख़रीदने पर कुछ ज्यादा पैसा ख़र्च किया करेंगे और ख़रीदी हुई श्रम-शक्ति को चूसने में पहले से अधिक "मितव्ययिता", "कम-ख़र्ची" और "अपरिग्रह" का परिचय देंगे।[1]

---

[1] *"Reynolds' Newspaper"*, २० जनवरी १८६६। – यही अख़बार हर सप्ताह रेलों पर होने वाली नयी-नयी दुर्घटनाओं की पूरी सूची ऐसे "sensational headings" ("सनसनीख़ेज़ शीर्षक") देकर छापता है, जैसे *"Fearful and fatal accidents"*, *"Appalling tragedies"* ('भयानक और सत्यानाशी दुर्घटनाएं', 'भयंकर दुर्घटनाएं') इत्यादि। दुर्घटनाओं के विषय में उत्तरी स्टैफ़र्डशायर लाइन पर काम करने वाले एक कर्मचारी ने लिखा है: "हर आदमी जानता है कि अगर किसी रेलवे-इंजिन का ड्राइवर और फ़ायरमैन बराबर सतर्क न रहें, तो उसका क्या नतीजा होगा। पर जो आदमी २९ या ३० घण्टे से, मौसम की तमाम मुसीबतों को झेलते हुए और बिना एक क्षण आराम किये हुए, लगातार इस तरह का काम कर रहा है, वह बराबर सतर्क कैसे रह सकता है? नीचे जिस तरह की मिसाल दी गयी है, वैसी घटनाएं अक्सर होती रहती हैं। एक फ़ायरमैन ने सोमवार की सुबह को बहुत तड़के ही काम शुरू कर दिया। जब उसने एक दिन का काम समाप्त किया, तब तक वह पूरे १४ घण्टे ५० मिनट काम कर चुका था। वह चाय भी नहीं पीने पाया था कि उसे फिर ड्यूटी पर बुला भेजा गया... जब अगली बार उसे काम से छुट्टी मिली, तब तक वह १४ घण्टे २५ मिनट और काम कर चुका था। इस तरह उसने बिना विराम के कुल २९ घण्टे १५ मिनट तक काम किया था। सप्ताह के बाक़ी दिन उसे इस तरह काम करना पड़ा: बुधवार को १५ घण्टे, बृहस्पतिवार को १५ घण्टे ३५ मिनट, शुक्रवार को १४ $\frac{१}{२}$ घण्टे और शनिवार को १४ घण्टे १० मिनट। इस तरह एक सप्ताह में उसने कुल ८८ घण्टे ४० मिनट काम किया। अब, जनाब, ज़रा सोचिये कि जब उसे इस तमाम काम के लिये केवल ६ $\frac{१}{४}$ दिन की मजदूरी मिली, तब उसे कितना आश्चर्य हुआ होगा। यह सोचकर कि शायद हिसाब में ग़लती हो गयी है, वह टाइम-कीपर के पास गया... और उससे पूछा कि भई, एक दिन के काम का तुम क्या मतलब लगाते हो? उसको जवाब मिला कि जब भला-चंगा आदमी १३ घण्टे काम करता है, तब एक दिन का काम पूरा होता है (यानी हफ़्ते में ७८ घण्टे काम करना ज़रूरी है)... तब उसने कहा कि अच्छा, ७८ घण्टे प्रति सप्ताह से ज्यादा उसने जो काम किया है, उसके पैसे तो उसे मिलने चाहिए। जवाब मिला, नहीं मिलेंगे। परन्तु आख़िर उससे कहा गया कि अच्छा, उसे १० पेंस और मिल जायेंगे।" (*"Reynolds' Newspaper"*, ४ फ़रवरी १८६६।)

इन व्यक्तियों की आत्माएं युलीसिस के चारों ओर इतने ज़ोर-शोर से नहीं मंडरा रही थीं, जितने ज़ोर-शोर से अलग-अलग पेशों और उम्रों के मज़दूरों और मज़दूरिनों की यह पंचमेल भीड़ हमारे चारों ओर मंडरा रही है। इनकी बग़ल में दबे हुए सरकारी प्रकाशनों की ओर यदि ध्यान न भी दिया जाये, तो इनके चेहरों पर एक नज़र डालते ही हम अत्यधिक परिश्रम के चिन्ह साफ़ देख सकते हैं। इस भीड़ में से हम दो उदाहरण और लेंगे। उनकी स्थिति में जो स्पष्ट भेद दिखाई देगा, उससे यह बात बिल्कुल साफ़ हो जायेगी कि पूंजी की नज़रों में सब आदमी बराबर हैं। इनमें से एक टोपी बनाने वाली औरत है और दूसरा एक लोहार है।

जून १८६३ के आख़िरी सप्ताह में लन्दन के सभी दैनिक पत्रों ने एक समाचार छापा और उसपर यह "sensational" (सनसनीख़ेज़) शीर्षक दिया: "*Death from simple over-work*" ('केवल अत्यधिक काम करने के कारण मृत्यु')। यह मेरी एन वाल्कले नामक एक बीस वर्ष की टोपी बनाने वाली औरत की मृत्यु का समाचार था, जो कपड़ों की एक बहुत ही प्रतिष्ठित दूकान में काम करती थी, जिसका संचालन एलीज़ जैसे सुन्दर नाम की एक महिला करती थी। वह पुरानी कहानी,[1] जिसे हम पहले भी अनेक बार सुन चुके हैं, एक बार फिर दोहरायी गयी। यह लड़की अविराम औसतन १६$\frac{१}{२}$ घंटे रोज़ काम करती थी, और जब व्यवसाय की तेज़ी का मौसम होता था, तो अक्सर उसे तीस-तीस घण्टे तक लगातार काम करना पड़ता था। जब उसकी श्रम-शक्ति जवाब देने लगती थी, तो समय-समय पर शेरी, पोर्ट या काफ़ी पिलाकर उसे फिर काम में जुटा दिया जाता था। इन दिनों व्यापार खूब चमक रहा था। अभी हाल में विदेश से मंगायी गयी युवरानी के सम्मान में बॉल-नृत्य का एक समारोह होने वाला था, और जिन महिलाओं को उसमें भाग लेने के लिये निमन्त्रित किया गया था, उनके लिये फटाफट शानदार पोशाकें तैयार करना ज़रूरी था। मेरी एन वाल्कले ६० अन्य लड़कियों के साथ २६$\frac{१}{२}$ घण्टे से अविराम काम कर रही थी। तीस-तीस लड़कियां एक-एक कमरे में बन्द थीं। और कमरा भी ऐसा कि उनको जितनी क्यूबिक फ़ीट हवा मिलनी चाहिये थी, उसकी केवल एक तिहाई मिलती थी। सोने का कमरा लकड़ी के तख़्ते लगाकर काबुक के छोटे-छोटे, दम घोंटने वाले सूराख़ों में बांट दिया गया था। ऐसे प्रत्येक कबूतरख़ाने में रात को दो-दो लड़कियों को सोना पड़ता था।[2] और यह लन्दन की एक सबसे अच्छी टोपियां बनाने वाली दूकान थी।

---

[1] देखिये फ़्रेडरिक एंगेल्स की उपर्युक्त रचना, पृ० २५३, २५४।

[2] Board of Health (सरकारी स्वास्थ्य बोर्ड) के सलाहकार डाक्टर डा० लेथेबी ने कहा था: "हर वयस्क व्यक्ति के लिये सोने के कमरे में कम से कम ३०० क्यूबिक फ़ीट और रहने के कमरे में कम से कम ५०० क्यूबिक फ़ीट हवा होनी चाहिये।" लन्दन के एक अस्पताल के बड़े डाक्टर डा० रिचार्डसन ने कहा है: "विभिन्न प्रकार का सीने-पिरोने का काम करने वाली औरतें, जिनमें टोपी बनाने वाली औरतें, पोशाक सीने वाली औरतें और साधारण दर्ज़िनें सभी शामिल हैं, तीन मुसीबतों का शिकार होती हैं: अत्यधिक काम, हवा की कमी और या तो पर्याप्त भोजन का अभाव और या पाचनशक्ति का अभाव... सीने-पिरोने का काम... पुरुषों की अपेक्षा प्रायः स्त्रियों के अधिक अनुरूप है। परन्तु इस व्यवसाय में, ख़ास तौर पर राजधानी में, यह बुराई है कि उसपर लगभग छब्बीस पूंजीपतियों का एकाधिकार

शुक्रवार को मेरी एन वाल्कले बीमार पड़ी और इतवार को मर गयी। श्रीमती एलीज़ को यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह बिना काम ख़तम किये इस दुनिया से चल दी। मि० कीज़ नाम के एक डाक्टर साहब मरीज़ को देखने के लिये बुलाये गये थे, मगर वह तब पहुंचे, जब रोगी की जान बचाना असम्भव था। मजिस्ट्रेट की अदालत में जूरी के सामने उन्होंने ईश्वर को हाज़िर-नाज़िर मानकर यह बयान दिया कि "मेरी एन वाल्कले भीड़ से भरे एक कमरे में बहुत देर तक काम करने और एक बहुत ही छोटे, बेहवा कमरे में सोने के कारण मर गयी है।" डाक्टर को भद्रजनोचित व्यवहार सिखाने के उद्देश्य से जूरी ने निर्णय दिया कि "मृत स्त्री रक्ताघात से मरी है, लेकिन संदेह होता है कि भीड़ से भरे हुए कमरे में बहुत देर तक काम करने के कारण उसकी मौत जल्दी हो गयी, इत्यादि, इत्यादि।" स्वतंत्र व्यापार के समर्थक कोबडेन और ब्राइट के मुखपत्र *"Morning Star"* ने इसपर टिप्पणी करते हुए लिखा: "हमारी ये गोरी दासियां, जो मेहनत करते-करते क़ब्र में पहुंच जाती हैं, प्रायः चुपचाप घुलती रहती हैं और अन्त में मर जाती हैं।"[1]

---

क़ायम है, जो पूंजी से उत्पन्न सुविधाओं का लाभ (that spring from capital) उठाते हुए, श्रम को और चूसने के लिए नयी पूंजी लगा सकते हैं (can bring in capital to force economy out of labour)। इस ताक़त का पूरे वर्ग पर असर पड़ता है। यदि कोई पोशाक सीने वाली औरत कुछ ख़रीदारों का काम नियमित रूप से पा सकती है, तो उसे ऐसी भयानक प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है कि वह अपने पैर जमाये रखने के लिये काम करते-करते मौत के मुंह में पहुंच जाती है, और यदि कोई दूसरी औरत उसकी मदद करती है, तो उससे भी इस औरत को वैसा ही कमर-तोड़ काम लेना पड़ता है। यदि वह फिर भी प्रतियोगिता में असफल हो जाती है या यदि वह स्वतंत्र रूप से उद्योग करना नहीं चाहती, तो उसे किसी दूकान में शामिल हो जाना पड़ता है, जहां पर उसे मेहनत तो पहले से कम नहीं करनी पड़ती, मगर उसका पैसा सुरक्षित रहता है। यहां वह महज़ एक ग़ुलाम बन जाती है और सदा समाज के उतार-चढ़ावों के थपेड़े खाया करती है। जब वह अपने घर पर काम करती थी, तो उसे एक कमरे में बैठकर भूखों मरना पड़ता था या आधा पेट खाकर रह जाना पड़ता था। अब वह चौबीस घण्टे में १५, १६ और १८ घण्टे मेहनत करती है, और वह भी ऐसी हवा में, जिसे बर्दाश्त करना मुश्किल होता है, और ऐसा खाना खाकर, जो यदि अच्छा भी हो, तो शुद्ध हवा के अभाव में कभी हज़म नहीं हो सकता। तपेदिक़, जो कि महज़ गन्दी हवा की बीमारी होती है, इन औरतों को ख़ास तौर पर अपना शिकार बनाती है।" (Dr. Richardson, *"Work and Overwork"* [डा० रिचार्डसन, 'काम और अत्यधिक काम']; *"Social Science Review"* ['समाज-विज्ञान रिव्यू'], १८ जुलाई १८६३।)

[1] *"Morning Star"*, २३ जून १८६३। – *"The Times"* ने ब्राइट आदि के मुक़ाबले में अमरीका के ग़ुलामों के मालिकों की हिमायत करने के लिये इस घटना का उपयोग किया। २ जुलाई १८६३ के एक सम्पादकीय लेख में उसने लिखा: "हममें से बहुत से लोग यह सोचते हैं कि जब हम ख़ुद कोड़े की मार की जगह पर भूख की मार का प्रयोग करके अपने देश की युवतियों से ज़बर्दस्ती काम लेते हैं और काम लेते-लेते उनको मार डालते हैं, तब हमें इसका कोई अधिकार नहीं है कि हम उन परिवारों पर आग बबूला होते फिरें, जो जन्म से

"काम करते-करते मर जाना – यह केवल पोशाक बनाने वाली दूकानों का ही नियम नहीं है। हजारों अन्य स्थानों में भी यही होता है। बल्कि मैं तो कहना चाहता था कि हर ऐसी जगह पर यही होता है, जहां कोई "फलता-फूलता व्यवसाय" चलाना होता है...मिसाल के लिये, लोहार को लीजिये। यदि कवियों की बातें सच्ची होतीं, तो लोहार से अधिक हंसमुख, प्रसन्न और उत्साही आदमी और कोई नहीं हो सकता था। वह सुबह को तड़के ही उठ जाता है और सूरज निकलने के पहिले अपने अहरन से चिंगारियां निकालने लगता है। वह जितना मजा लेकर खाता-पीता है और जितनी अच्छी नींद सोता है, वैसा खाना-पीना और वैसी नींद और किसी को नसीब नहीं हो सकती। यदि वह संयम के साथ काम करता है, तो शारीरिक दृष्टि से वस्तुतः उसकी स्थिति और सभी मनुष्यों से अच्छी रहती है। परन्तु उसके पीछे-पीछे जरा किसी शहर या क़स्बे में चलकर देखिये कि वहां इस ताक़तवर आदमी पर काम का कैसा बोझा आकर पड़ता है और अपने देश के मृत्यु-अनुपात में उसका क्या स्थान है। मैरिलीबोन में एक हजार के पीछे लोहारों की वार्षिक मृत्यु-दर ३१ है, जो पूरे देश के वयस्क पुरुषों की मौत की औसत दर से ११ अधिक है। लोहार का पेशा मानव-कला के एक अंग के रूप में सर्वथा नैसर्गिक है और मानव-उद्योग की एक शाखा के रूप में सर्वथा अनापत्तिजनक है, परन्तु फिर भी महज अत्यधिक काम के कारण वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। लोहार एक दिन में इतनी बार घन चला सकता है, इतने क़दम चल सकता है, इतनी बार सांस ले सकता है, इतना उत्पादन कर सकता है, और यह सब करते हुए वह औसतन, मान लीजिये, पचास वर्ष तक जिन्दा रह सकता है। पर उससे रोज इतनी ज्यादा बार घन चलवाया जाता है, उसे इतने अधिक क़दम चलने के लिये मजबूर किया जाता है, इतनी जल्दी-जल्दी सांस लेने के लिये विवश किया जाता है कि इतना सब करने के लिये उसे अपने जीवन-काल में कुल मिलाकर एक चौथाई भाग की वृद्धि कर

---

ही ग़ुलामों से काम लेते आये हैं और जो कम से कम अपने ग़ुलामों को अच्छा खाना देते हैं और उनसे कम काम लेते हैं।" *"Standard"* नामक एक अनुदार-दली पत्र ने इसी प्रकार रेवरेण्ड न्यूमैन हाल को बहुत बुरा-भला कहा: "वह ग़ुलामों के मालिकों को तो शाप देते थे, पर उन भद्र पुरुषों के साथ बैठकर ईश्वर की प्रार्थना करते थे, जो लन्दन के गाड़ीबानों और कण्डक्टरों आदि से बिना किसी संकोच के १६ घण्टे रोज़ काम कराते हैं और उन्हें मजदूरी बहुत थोड़ी देते हैं।" अन्त में, भविष्यवक्ता टोमस कार्लाइल बोले, जिनके बारे में मैंने १८५० में यह लिखा था कि "Zum Teufel ist der Genius, der Kultus ist geblieben" ("प्रतिभा का लोप हो गया है, उसकी पूजा बाक़ी है")। एक छोटी सी नीति-कथा में वह अमरीकी गृह-युद्ध जैसी आधुनिक इतिहास की एकमात्र महान घटना को इस स्तर पर उतार लाये कि उत्तर में रहने वाला पीटर दक्षिण में रहने वाले पाल का केवल इसलिए सिर तोड़ देना चाहता है कि उत्तर-वासी पीटर रोज़ाना के हिसाब से अपने मजदूरों को नौकर रखता है और दक्षिण-वासी पाल उनको पूरी ज़िन्दगी के लिये नौकर रखता है। (*"Macmillan's Magazine"* में *"Ilias Americana in nuce"* शीर्षक लेख, अगस्त, १८६३।) इस प्रकार शहरी मजदूरों के लिये – पर देहाती मजदूरों के लिये कदापि नहीं – अनुदारपंथी लोगों के दिलों में सहानुभूति का जो बवण्डर उठ रहा था, वह आख़िर फट ही पड़ा। और उसके अन्दर से निकली क्या? – दासता!

लेनी चाहिये। वह इसकी कोशिश करता है। नतीजा यह होता है कि कुछ समय तक २५ प्रतिशत अधिक काम निकालने की कोशिश में वह ५० वर्ष की उम्र के बजाय ३७ वर्ष की उम्र में ही मर जाता है।"[1]

## अनुभाग ४ – दिन का काम और रात का काम। पालियों की प्रणाली

अतिरिक्त मूल्य के सृजन के दृष्टिकोण से स्थिर पूंजी – अथवा उत्पादन के साधनों – का अस्तित्व केवल श्रम का अवशोषण करने के लिये और श्रम के प्रत्येक बिन्दु के साथ सानुपातिक मात्रा में अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करने के लिये होता है। जब उत्पादन के साधन यह काम नहीं करते, तब उनका मात्र अस्तित्व पूंजीपति के लिये अपेक्षाकृत नुक़सान की बात होता है, क्योंकि जितने समय तक वे बेकार पड़े रहते हैं, उतने समय तक उतनी पूंजी व्यर्थ लगी रहती है। और जब उनका इस्तेमाल बीच में रुक जाने का यह परिणाम होता है कि काम फिर से शुरू करने के समय उनपर नयी पूंजी खर्च करनी पड़ती है, तब यह नुक़सान सकारात्मक और निरपेक्ष रूप धारण कर लेता है। काम के दिन को प्राकृतिक दिन की सीमाओं से आगे खींचकर और रात में भी काम लेकर इस नुक़सान को थोड़ा ही कम किया जा सकता है। पूंजी में डायन की तरह श्रम के जीवित रक्त को चूसने की जो चाह होती है, रात में काम लेकर उसे केवल कुछ ही हद तक संतुष्ट किया जा सकता है। इसलिये पूंजीवादी उत्पादन में चौबीसों घण्टे काम लेने की स्वाभाविक प्रवृति होती है। लेकिन चूंकि एक ही व्यक्ति की श्रम-शक्ति का दिन में भी और रात में भी लगातार शोषण करना शारीरिक दृष्टि से असम्भव होता है, इसलिये इस शारीरिक रुकावट पर क़ाबू पाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ लोगों की शक्ति को दिन में चूसा जाये और कुछ लोगों की शक्ति को रात में। यह अदला-बदली कई प्रकार से की जा सकती है। मिसाल के लिये, ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि मजदूरों का एक भाग एक सप्ताह दिन में काम करे और दूसरे सप्ताह रात में। यह एक सुविदित बात है कि इस प्रकार की पालियों की प्रणाली का, जिसमें मजदूरों के दो दलों से बारी-बारी से दिन और रात में काम लिया जाता है, इंगलैण्ड के सूती उद्योग की भरी जवानी के दिनों में हर तरफ़ बोलबाला था, और, अन्य जगहों के अलावा, मास्को जिले के कपास की कताई करने वाले कारखानों में यह प्रणाली अब भी खूब जोरों से काम कर रही है। ब्रिटेन में उद्योग की ऐसी कई शाखाओं में, जो अभी तक "स्वतंत्र" हैं, जैसे इंगलैण्ड, वेल्स तथा स्कोटलैण्ड की पिघलाऊ-भट्टियों में, लोहार की भट्ठियों में, धातु की चादरें तैयार करने वाली मिलों में और धातु के अन्य कारखानों में, चौबीसों घण्टे चलने वाली इसी उत्पादन-प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। यहां काम के छः दिनों के २४ घण्टों के अलावा रविवार के २४ घण्टों का अधिकतर भाग भी काम के समय में शामिल होता है। मजदूरों में मर्द और औरतें, वयस्क और बच्चे, लड़के और लड़कियां, सभी होते हैं। बच्चों और लड़कों की उम्र ८ वर्ष से (कहीं-कहीं पर ६ वर्ष से) शुरू करके १८ वर्ष तक की होती है।[2]

---

[1] Dr. Richardson, उप० पु०।

[2] *"Children's Employment Commission. Third Report"* ['बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'], London, 1864, पृ० IV, V, VI (चार, पांच, छः)।

उद्योग की कुछ शाखाओं में लड़कियों और औरतों को रात भर मर्दों के साथ काम करना पड़ता है।[1]

रात के काम का आम तौर पर जो खराब असर होता है,[2] उसके अलावा उत्पादन की

---

[1] "स्टेफ़र्डशायर और दक्षिणी वेल्स, दोनों में कोयला-खानों और कोक के ढेरों पर न सिर्फ़ दिन में, बल्कि रात में भी लड़कियों और औरतों से काम लिया जाता है। संसद के सामने पेश की गयी कई रिपोर्टों में बताया गया है कि इस प्रथा से बहुत भयानक बुराइयां पैदा हो जाती हैं। ये स्त्रियां पुरुषों के साथ काम करती हैं। उनकी पोशाक पुरुषों की पोशाक से कोई ख़ास भिन्न नहीं होती। वे सदा धूल और धुएं से ढंकी रहती हैं। और उनको स्त्रियों को शोभा न देने वाला जो काम करना पड़ता है, उससे अनिवार्य रूप से उनका आत्म-सम्मान जाता रहता है और उससे उनमें चरित्रहीनता पैदा होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।" (उप०, पु०, १९४, पृ० XXVI (छब्बीस)। देखिये *"Fourth Report (1865)"* ('चौथी रिपोर्ट (१८६५)'), ६१, पृ० XIII (तेरह)।) कांच के कारख़ानों में भी यही हालत है।

[2] एक इस्पात के कारख़ाने के मालिक ने, जो रात को बच्चों से काम लेता है, बताया कि "यह एक स्वाभाविक बात प्रतीत होती है कि जो लड़के रात को काम करते हैं, वे दिन में न तो सो सकते हैं और न ठीक तरह आराम कर सकते हैं, बल्कि सदा इधर-उधर दौड़ते रहते हैं।" (उप० पु०, *"Fourth Report"* ('चौथी रिपोर्ट'), ६३, पृ० XIII (तेरह)।) शरीर के भरण-पोषण एवं विकास के लिए सूरज की रोशनी कितनी आवश्यक है, इसके बारे में एक डाक्टर ने लिखा है: "प्रकाश शरीर के ऊतकों को कड़ा करने और उनकी लोच बढ़ाने में उनपर सीधा प्रभाव डालता है। जब पशुओं की मांस-पेशियों को उचित मात्रा में प्रकाश नहीं मिलता, तो वे नरम हो जाती हैं और उनकी लोच कम हो जाती है। स्नायु-शक्ति को यदि पर्याप्त उद्दीपन नहीं प्राप्त होता, तो वह क्षीण होने लगती है। और लगता है, जैसे सारा विकास विकृत हो गया हो... बच्चों के स्वास्थ्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि दिन में उनको रोशनी बराबर बहुतायत से मिलती रहे और कुछ समय तक सूरज की किरणें उनपर सीधे पड़ती रहें। प्रकाश अच्छे सुघट्य रक्त के बनने में मदद देता है और शरीर के तंतुओं को कड़ा करता है। साथ ही वह नेत्रों को भी बल देता है और इस प्रकार मस्तिष्क की विभिन्न क्रियाओं को तेज़ करता है।" यह अंश वोरसेस्टर के *"General Hospital"* ('सामान्य अस्पताल') के बड़े डाक्टर डब्लयू० स्ट्रेंज की रचना *"Health"* ('स्वास्थ्य') (१८६४) से लिया गया है। इन्हीं डाक्टर साहब ने मि० व्हाइट नामक एक सरकारी जांच-कमिश्नर के नाम एक पत्र में लिखा है: "जब मैं लंकाशायर में रहता था, तब मुझे यह देखने का मौक़ा मिला था कि रात को काम करने का बच्चों पर क्या असर पड़ता है, और मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि कुछ मालिक आम तौर पर जो कुछ कहने के शौक़ीन हैं, उसके बिल्कुल विपरीत, जिन बच्चों से रात में काम लिया जाता है, उनका स्वास्थ्य बहुत जल्दी ख़राब हो जाता है।" (उप० पु०, २८४, पृ० ५५।) ऐसे प्रश्न पर भी कोई गम्भीर वाद-विवाद खड़ा हो सकता है,—इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपतियों और उनके मुसाहबों के दिमाग़ों को पूंजीवादी उत्पादन कितना कुंद कर देता है।

प्रक्रिया के चौबीसों घण्टे जारी रहने से काम के सामान्य दिन की सीमाओं का अतिक्रमण करने की बड़ी सुविधा हो जाती है। मिसाल के लिये, उद्योग की जिन शाखाओं का ऊपर ज़िक्र किया गया है और जिनमें मज़दूरों को बहुत थका देने वाला काम करना पड़ता है, उनमें रस्मी तौर पर हर मज़दूर के लिये काम के दिन का यह मतलब होता है कि उसे या तो दिन को और या रात को बारह घण्टे काम करना चाहिए। परन्तु असल में उसे अक्सर इससे कहीं ज़्यादा काम करना पड़ता है। इंगलैण्ड की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार बहुत से उद्योगों में इस चीज़ ने "सचमुच डरावना" ("truly fearful") रूप धारण कर लिया है।[1]

इसी रिपोर्ट में आगे लिखा है: "निम्नलिखित अंशों में जिस काम का वर्णन किया गया है, बहुत अधिक मात्रा में वह काम ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक की आयु के लड़कों को करना पड़ता है... यह एक बार समझ लेने के बाद हर आदमी लाज़िमी तौर पर इसी नतीजे पर पहुंचेगा कि माता-पिता और मालिकों की शक्ति का ऐसा दुरुपयोग अब और जारी नहीं रहने दिया जा सकता।"[2]

"यदि लड़कों से बारी-बारी से दिन में और रात में काम लेने की प्रथा तनिक भी जारी हो जाती है, तो चाहे सामान्य रूप से इसका उपयोग किया जाये और चाहे किसी विशेष आवश्यकता के समय, उसका अनिवार्य रूप से यह परिणाम होता है कि लड़के अक्सर हद से ज़्यादा देर तक काम करते रहते हैं। कुछ जगहों में तो उनको इतनी ज़्यादा देर तक काम करना पड़ता है, जो बच्चों के प्रति न केवल निर्दयता की बात है, बल्कि जिसके बारे में विश्वास तक करना कठिन है। अनेक लड़कों में से दो-एक, ज़ाहिर है, किसी न किसी कारण से अक्सर ग़ैर-हाज़िर रहते हैं। जब यह होता है, तो उनका स्थान एक या अधिक लड़के ले लेते हैं, जो एक के बाद दूसरी पाली में भी काम करते हैं। यह बात कि यह एक जानी-मानी हुई प्रणाली है,..एक बड़ी रोलिंग-मिल के मैनेजर के उत्तर से स्पष्ट हो गयी। मैंने उससे पूछा कि दिन-पाली या रात-पाली में जो लड़के अनुपस्थित रहते हैं, उनके स्थान पर कौन काम करता है? उसने जवाब दिया: "जनाब, मेरा ख़याल है कि यह बात तो आपको भी उतनी ही अच्छी तरह मालूम होगी, जितनी मुझे।" और यह कहकर उसने असलियत तसलीम कर ली।"[3]

"एक रोलिंग-मिल में, जहां काम का नियत समय सुबह ६ बजे से शाम के ५$\frac{१}{२}$ बजे तक था, एक लड़का हर हफ़्ते लगभग चार दिन रात के कम से कम ८$\frac{१}{२}$ बजे तक काम करता था... और छः महीने तक यही स्थिति चलती रही। एक दूसरा लड़का, जब उसकी उम्र ६ बरस की थी, तो वह कभी-कभी बारह-बारह घण्टे की तीन पालियों तक लगातार काम करता चला आता था, और १० वर्ष का हो जाने पर वह कभी-कभी दो दिन और दो रात तक लगातार काम करता रहता था।" एक तीसरा लड़का है, "जिसकी उम्र अब १० वर्ष है,.. वह हफ़्ते में तीन दिन सुबह ६ बजे से रात के १२ बजे तक काम करता था और तीन दिन रात के ६ बजे तक।" "एक और लड़का है, जिसकी उम्र अब १३ वर्ष की है,.. वह पूरे एक

---

[1] उप० पु०, ५७, पृ० XII (बारह)।

[2] उप० पु०, "*Fourth Report (1865)*" ['चौथी रिपोर्ट (१८६५)'], ५८, पृ० XII (बारह)।

[3] उप० पु०।

सप्ताह तक रोज शाम के छः बजे से अगले दिन दोपहर के १२ बजे तक काम करता रहा, और कभी-कभी तो वह तीन पालियों तक, यानी सोमवार की सुबह से मंगल की रात तक, लगातार काम करता चला जाता था।" "एक और लड़का है, जिसकी उम्र अब १२ वर्ष की है। वह स्टैवले के एक लोहे की ढलाई के कारखाने में पूरे चौदह दिन तक रोज सुबह के ६ बजे से रात के १२ बजे तक काम करता रहा, और आखिर उसकी ताक़त ने जवाब दे दिया।" "६ वर्ष के जार्ज ऐलिन्सवर्थ ने बताया कि वह यहां पिछले शुक्रवार को तहखाने में काम करने के लिये आया था। वह बोला: 'अगले दिन हम लोगों को सुबह ३ बजे काम शुरू कर देना था, इसलिये मैं रात भर यहीं रुका रहा। वैसे मैं रहता हूं यहां से पांच मील दूर। रात को भट्टी के फ़र्श पर एक ऐपरन बिछाकर सो गया; एक छोटा सा कोट था, वह ओढ़ लिया। बाक़ी दो दिन मैं सुबह ६ बजे ही यहां पहुंच गया था। बाप रे! सचमुच यहां बहुत गरमी रहती है। यहां आने के पहले मैंने देहात के एक ऐसे ही कारखाने में एक बरस तक यही काम किया था। वहां भी शनिवार की सुबह को ३ बजे काम शुरू कर देना पड़ता था—हमेशा ३ बजे सुबह को। पर वह कारखाना मेरे घर के बहुत नजदीक था, और मैं घर पर सो सकता था। बाक़ी दिन मैं सुबह ६ बजे काम शुरू करता था और शाम को ६ या ७ बजे बन्द कर देता था'," इत्यादि, इत्यादि।[1]

---

[1] उप० पु०, पृ० XIII (तेरह)। इन "श्रम-शक्तियों" का सांस्कृतिक स्तर स्वभावतया कितना ऊंचा होगा, यह एक जांच-कमिश्नर के साथ अलग-अलग मजदूरों के नीचे लिखे संवादों से स्पष्ट हो जाता है: जेरेमिया हेन्स, आयु १२ वर्ष—"चार गुने चार ८ होते हैं; चार चौके (4 fours) १६ होते हैं। राजा वह है जिसके पास सारा रुपया और सोना है (A king is him that has all the money and gold)। हमारा एक राजा है (सुनते हैं, रानी है), जिसको लोग राजकुमारी एलेक्ज़ान्द्रा कहते हैं। सुनते हैं, उसने रानी के बेटे के साथ शादी कर ली है। रानी का बेटा राजकुमारी एलेक्ज़ान्द्रा है। राजकुमारी मर्द होता है।" विलियम टर्नर, आयु १२ वर्ष—"मैं इंगलैंड में नहीं रहता। शायद इंगलैण्ड कोई देश है, पर पहले मुझे नहीं मालूम था।" जान मोरिस, आयु १४ वर्ष—"मैंने सुना है कि दुनिया भगवान ने बनायी है और एक को छोड़कर बाक़ी सब पानी में डूब गये थे, और सुना है, बचने वाला आदमी एक छोटी सी चिड़िया था।" विलियम स्मिथ, आयु १५ वर्ष—"भगवान ने पुरुष को बनाया, पुरुष ने स्त्री को बनाया।" एडवर्ड टेलर, आयु १५ वर्ष—"मैंने लन्दन का नाम कभी नहीं सुना।" हेनरी मैथ्यूमैन, आयु १७ वर्ष—"गिरजाघर गया तो था, पर हाल में बहुत बार नहीं गया हूं। एक व्यक्ति, जिसके बारे में वहां उपदेश देते हैं, वह ईसा मसीह कहलाता है; बाक़ी के नाम मैं नहीं जानता। और ईसा मसीह के बारे में भी मुझे कुछ मालूम नहीं है। नहीं, उसे किसी ने मारा नहीं था; वह ख़ुद ही मर गया था, जैसे और सब लोग मरते हैं। कुछ बातों में वह वैसा नहीं था, जैसे और लोग होते हैं: कुछ बातों में वह बहुत धार्मिक था, और लोग ऐसे नहीं होते ("He was not the same as other people in some ways, because he was religious in some ways, and others isn't") (उप० पु०, पृ० XV [पन्द्रह])। "शैतान अच्छा आदमी है। मैं नहीं जानता, वह कहां रहता है" ("The devil is a good person. I don't know where he lives")। "ईसा मसीह बड़ा दुष्ट था" ("Christ was a wicked man")। "इस लड़की से God (भगवान) के हिज्जे

आइये, अब जरा यह देखें कि २४ घण्टे काम लेने की प्रणाली के विषय में खुद पूंजी क्या सोचती है। इस प्रणाली के चरम रूपों के बारे में—काम के दिन का "निर्दयतापूर्ण एवं अविश्वसनीय ढंग से" विस्तार करने के रूप में इस प्रणाली का जो दुरुपयोग किया जाता है, उसके बारे में—पूंजी स्वभावतः चुप्पी साध लेती है। पूंजी इस प्रणाली के केवल "सामान्य" रूप की ही चर्चा करती है।

---

पूछे गये, तो उसने जवाब दिया dog (कुत्ता), और रानी का नाम उसे मालूम नहीं था।" ("*Ch. Employment Comm. V Report, 1866*" ['बाल-सेवायोजन आयोग की ५वीं रिपोर्ट, १८६६'], पृ० ५५, अंक २७८।) धातु-कर्मी कारखानों में जो व्यवस्था पायी जाती है और जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, वही कांच और काग़ज़ के कारख़ानों में भी पायी जाती है। काग़ज़ की फ़ैक्टरियों में, जहां पर मशीन से काग़ज़ बनाया जाता है, चिथड़े छांटने की प्रक्रिया को छोड़कर बाक़ी सब प्रक्रियाओं में रात में काम कराया जाता है। कुछ फ़ैक्टरियों में पालियों की प्रणाली के द्वारा पूरे सप्ताह लगातार रात में काम होता रहता है; वह साधारणतया रविवार की रात को शुरू होता है और अगले शनीचर की आधी रात तक चलता रहता है। जो मज़दूर दिन-पाली में काम करते हैं, वे हर हफ़्ते ५ दिन बारह-बारह घण्टे काम करते हैं और १ दिन १८ घण्टे; जो रात-पाली में काम करते हैं, वे ५ रातों तक १२ घण्टे और एक रात छः घण्टे काम करते हैं। दूसरे कारख़ानों में जब साप्ताहिक पालियों का परिवर्तन किया जाता है, तो हर पाली लगातार २४ घण्टे काम करती है, यानी एक पाली सोमवार को ६ घण्टे और शनीचर को १८ घण्टे काम करके चौबीस घण्टे पूरे कर देती है। दूसरी फ़ैक्टरियों में एक बीच की व्यवस्था पायी जाती है, जिसमें काग़ज़ बनाने की मशीन पर काम करने वाले तमाम मज़दूर हर रोज़ १५ या १६ घण्टे मेहनत करते हैं। जांच-कमिश्नर लार्ड ने कहा है कि इस प्रणाली में, "मालूम होता है, १२ घण्टे की पाली और २४ घण्टे की पाली, दोनों की सारी बुराइयां आकर इकट्ठी हो गयी हैं।" १३ वर्ष से कम के बच्चों से, १८ वर्ष से कम के लड़के-लड़कियों से और स्त्रियों से भी रात में काम लिया जाता है। १२ घण्टे वाली व्यवस्था में कभी-कभी, जब दूसरी पाली के कुछ आदमी काम पर नहीं आते, तो उन्हें २४ घण्टे की दो पालियों का काम निबटाना पड़ता है। जांच-कमिश्नरों के सामने दिये गये बयानों से यह बात साफ़ हो गयी है कि लड़के-लड़कियों को अक्सर ओवरटाइम काम करना पड़ता है, जो प्रायः २४ घण्टे और यहां तक कि ३६ घण्टे तक भी लगातार चलता रहता है। काचन की अनवरत तथा सदा एक ढंग से चलने वाली प्रक्रिया में १२-१२ बरस की लड़कियां काम करती पायी जाती हैं, जो पूरे महीने १४ घण्टे रोज़ काम करती हैं और जिनको "भोजन करने की आध-आध घण्टे की २ या अधिक से अधिक ३ छुट्टियों के सिवा बीच में एक भी नियमित अवकाश नहीं मिलता।" कुछ मिलों में, जहां नियमित रूप से चलने वाला रात का काम बिल्कुल बन्द कर दिया गया है, मज़दूर-मज़दूरिनों से भयानक रूप में अत्यधिक काम लिया जाता है, "और अक्सर इस तरह का काम सबसे ज्यादा गन्दी, सबसे ज्यादा गरम और सबसे अधिक नीरस प्रक्रियाओं में लिया जाता है।" ( "*Ch. Employment Comm. Report IV., 1865*" ['बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट, १८६५'], पृ० XXXVIII (अड़तीस) और XXXIX (उन्तालीस)।)

मेसर्स नेलर एण्ड विकर्स इस्पात तैयार करते हैं। उनके यहां ६०० और ७०० के बीच आदमी काम करते हैं। उनमें से केवल १० प्रतिशत की उम्र १८ वर्ष से कम है, और इनमें से भी केवल २० लड़के रात को काम करते हैं। मेसर्स नेलर एण्ड विकर्स ने इस प्रणाली के बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं: "लड़कों को गरमी से कोई तकलीफ़ नहीं होती। तापमान शायद ८६° से ९०° तक रहता है... भट्टी-ख़ाने और रोलिंग-मिल में मजदूर पाली-पाली से दिन-रात काम करते रहते हैं, पर बाक़ी सब विभागों में दिन में, यानी सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक, काम होता है। भट्टी-ख़ाने में काम का समय १२ से १२ तक है। कुछ मजदूरों को सदा रात में ही काम करना पड़ता है; उनकी पाली नहीं बदलती... जो लोग नियमित रूप से रात में काम करते हैं, उनका स्वास्थ्य उन लोगों से किसी तरह बुरा नहीं है, जो दिन में काम करते हैं। और सम्भवतः यदि लोगों का छुट्टी का समय एक सा रहता है और उसमें बार-बार परिवर्तन नहीं होता, तो वे ज्यादा अच्छी नींद सो सकते हैं... १८ वर्ष से कम उम्र के क़रीब २० लड़के रात की पालियों में काम करते हैं... १८ वर्ष से कम उम्र के इन लड़कों से रात को काम कराये बग़ैर शायद हमारा काम नहीं चल सकता। उनसे रात को काम न लेने के ख़िलाफ़ ऐतराज़ यह होगा कि उत्पादन का ख़र्चा बढ़ जायेगा... हर विभाग के लिये निपुण मजदूर और फ़ोरमैन बहुत मुश्किल से मिलते हैं, मगर लड़के किसी भी संख्या में मिल सकते हैं... लेकिन हमारे यहां लड़कों का अनुपात इतना कम है कि यह विषय (अर्थात् रात के काम पर प्रतिबंध लगाने का विषय) हमारे लिये कोई दिलचस्पी या महत्व नहीं रखता।"[1]

मेसर्स जान ब्राउन एण्ड कम्पनी का एक इस्पात और लोहे का कारख़ाना है, जिसमें क़रीब ३,००० मर्द और लड़के काम करते हैं। इसका कुछ काम, यानी लोहे का काम तथा इस्पात का ज्यादा भारी काम दिन-रात पालियों में होता है। इस फ़र्म के एक हिस्सेदार, मि० जे० एलिस का कहना है कि "इस्पात के ज्यादा भारी काम के लिये हर दो आदमियों पर एक या दो लड़के नौकर रखे जाते हैं।" इस कम्पनी ने १८ वर्ष से कम उम्र के ५०० से ज्यादा लड़कों को नौकर रख रखा है, जिनमें से लगभग एक तिहाई–यानी १७०–की उम्र १३ वर्ष से भी कम है। बालकों को नौकर रखने के सम्बंध में क़ानून में जो परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया जा रहा था, उसके विषय में मि० एलिस ने कहा: "यदि कोई इस तरह का नियम बना दिया जाये कि १८ वर्ष से कम उम्र का कोई व्यक्ति २४ घण्टे में १२ घण्टे से ज्यादा काम नहीं कर सकता, तो मुझे इसमें कोई बहुत आपत्तिजनक बात प्रतीत नहीं होगी। लेकिन हमारी राय में १२ वर्ष की उम्र के ऊपर कोई रेखा खींचकर यह नहीं कहा जा सकता कि इससे कम उम्र के लड़कों से रात को काम न लिया जाये। जो लड़के हमारे यहां नौकर हैं उनसे रात को काम न लेने की अपेक्षा तो हम यह बेहतर समझेंगे कि १३ वर्ष से कम उम्र के, या यहां तक कि १४ वर्ष के कम उम्र के लड़कों को नौकर रखने पर ही रोक लगा दी जाये। जो लड़के दिन-पाली में काम करते हैं, उनको अपनी बारी आने पर रात-पाली में भी काम करना होगा, क्योंकि मर्द लोग सदा रात को काम नहीं कर सकते,–उससे उनकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो जायेगी... लेकिन हमारे विचार से, हर दूसरे हफ़्ते में रात को काम

---

[1] *"Fourth Report, &c., 1865"* ('चौथी रिपोर्ट, इत्यादि, १८६५'), ७९, पृ० XVI (सोलह)।

करने में कोई बुराई नहीं है। (इसके विपरीत, अपने व्यवसाय के हितों को देखते हुए मेसर्स नेलर एण्ड विकर्स की यह राय थी कि लगातार रात को काम करने की अपेक्षा थोड़े-थोड़े दिन बाद रात को काम करना स्वास्थ्य के लिये ज्यादा हानिकारक होगा।) हमें ऐसे आदमी भी मिल जाते हैं, जो हर दूसरे सप्ताह में रात को काम करने को तैयार होते हैं, और ऐसे भी मिल जाते हैं, जो केवल दिन में काम करते हैं, और उनके स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं होता... १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों से रात को काम न लेने देने के खिलाफ़ हम इसलिये ऐतराज़ करते हैं कि उससे ख़र्चा बढ़ जायेगा, लेकिन हम और किसी कारण से उसपर ऐतराज़ नहीं करते। (कैसा निर्लज्ज भोलापन है यह!) हम समझते हैं कि इससे ख़र्चा इतना अधिक बढ़ जायेगा कि हमारा व्यवसाय उसे सहन नहीं कर पायेगा और वह सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकेगा। (The trade, with due regard to its being successfully carried out, could fairly bear! – कैसी चिकनी-चुपड़ी बातें हैं!) यहां मज़दूर मुश्किल से मिलते हैं, और यदि कोई ऐसा नियम बन गया, तो मुमकिन है कि मज़दूरों की कमी हो जाये।" (अर्थात् मुमकिन है कि तब मेसर्स एलिस ब्राउन एण्ड कम्पनी पर यह मुसीबत आ जाये कि उन्हें श्रम-शक्ति का पूरा मूल्य चुकाना पड़े।)[1]

मेसर्स कैम्मेल एण्ड कम्पनी का 'साइक्लोप्स स्टील एण्ड आयरन वर्क्स' उतने ही बड़े पैमाने का कारखाना है, जितने बड़े पैमाने का कारखाना मेसर्स जान ब्राउन एण्ड कम्पनी का है, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है। उसके मैनेजिंग डायरेक्टर ने सरकारी जांच-कमिश्नर मि० व्हाइट को अपना बयान लिखित रूप में दिया था। बाद को जब बयान की हस्तलिपि उनके पास दोहराने के लिये लौटकर आयी, तो वह उसे दाबकर बैठ गये। ऐसा करना उनके अनुकूल था। मगर मि० व्हाइट की याददाश्त अच्छी थी। उनको अच्छी तरह याद था कि साइक्लोप्स कम्पनी की राय यह थी कि बच्चों तथा लड़के-लड़कियों से रात में काम लेने पर प्रतिबंध लगाना "असम्भव है, क्योंकि वह तो उनके कारखाने को बन्द कर देने के बराबर होगा", और फिर भी असलियत यह थी कि उनके यहां १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की संख्या ६ प्रतिशत से थोड़ी ही ज्यादा थी और १३ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की संख्या तो १ प्रतिशत से भी कम थी।[2]

मेसर्स सैण्डर्सन ब्रदर्स एण्ड कम्पनी का एट्टरक्लिफ़ में इस्पात की रोलिंग-मिल और भट्ठीखाना है। इसके मि० ई० एफ़० सैण्डर्सन ने इसी प्रश्न पर यह मत प्रकट किया है: "यदि १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों को रात में काम करने से रोक दिया गया, तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी। सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि लड़कों की जगह मर्दों को नौकर रखने के कारण लागत बढ़ जायेगी। यह तो मैं नहीं कह सकता कि लागत कितनी बढ़ जायेगी, पर शायद वह इतनी नहीं बढ़ेगी कि उसके आधार पर कारखाने वाले इस्पात के दाम बढ़ा दें। नतीजा यह होगा कि यह बढ़ी हुई लागत कारखाने वालों को ही बर्दाश्त करनी पड़ेगी, क्योंकि, ज़ाहिर है, मज़दूर तो उसे देने को तैयार होंगे नहीं (कितने अजीब लोग हैं ये मज़दूर भी!)।" मि० सैण्डर्सन को इसका ज्ञान नहीं है कि उनके यहां जो बच्चे काम करते हैं, उनको वह कितनी मज़दूरी देते हैं, लेकिन "कम-उम्र लड़कों को शायद ४ शिलिंग से

[1] उप० पु०, ८०, पृ० XVI (सोलह)।
[2] उप० पु०, ८२, पृ० XVII (सत्रह)।

लेकर ५ शिलिंग तक फ़ी हफ़्ता मिलता है ... लड़कों को इस तरह का काम करना होता है, जिसके लिये उनकी ताक़त ग्राम तौर पर (महज़ "generally", हमेशा नहीं) काफ़ी होती है, और इसलिये लड़कों की जगह पर जब मर्दों को नौकर रखा जायेगा, तो उनकी ज्यादा ताक़त से हमारा कोई फ़ायदा न होगा, जिससे बढ़े हुए खर्चे का नुक़सान पूरा हो सके; या यदि कुछ फ़ायदा होगा, तो केवल उन चन्द जगहों पर, जहां धातु बहुत भारी होती है। मर्दों को यह पसन्द नहीं आयेगा कि उनके मातहत लड़के काम नहीं करते, क्योंकि लड़कों की जगह पर जो मर्द नौकर रखे जायेंगे, वे उतने आज्ञाकारी नहीं होंगे। इसके अलावा, लड़कों को बचपन में ही धंधा सीखना शुरू कर देना चाहिये। यदि उनको सिर्फ़ दिन में ही काम करने की इजाज़त दी जायेगी, तो उससे यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा।" क्यों नहीं पूरा होगा? लड़के दिन में काम करके धंधा क्यों नहीं सीख सकते? वजह सुनिये: "मर्द चूंकि बारी-बारी से एक सप्ताह दिन में काम करेंगे और एक सप्ताह रात में, इसलिये आधे समय उनको अपने मातहत काम करने वाले लड़कों से अलग काम करना होगा, और लड़कों के ज़रिये वे जो नफ़ा कमाते हैं, उसका आधा उनके हाथ से निकल जायेगा। यह जानी-समझी बात है कि लड़के जो मेहनत करते हैं, उसके एक भाग के एवज़ में ही मर्द उनको काम सिखाते हैं और इसलिये लड़के उनको अपेक्षाकृत सस्ती दर पर मिल जाते हैं। इस नफ़े का आधा भाग हर आदमी के हाथ से जाता रहेगा।" दूसरे शब्दों में, मेसर्स सैण्डर्सन आजकल वयस्क मजदूरों की मजदूरी का एक हिस्सा लड़कों के रात के काम के रूप में निबटा देते हैं, प्रतिबंध लग जाने पर उनको यह हिस्सा अपनी जेब से देना होगा। इसलिये मेसर्स सैण्डर्सन का नफ़ा कुछ हद तक कम हो जायेगा। यही वह सैण्डर्सन-मार्का जोरदार कारण है, जिसके फलस्वरूप लड़के दिन में काम करके अपना धंधा नहीं सीख पायेंगे।[1] इसके अलावा, लड़कों की जगह पर तब वयस्क मजदूरों को रात में काम करना पड़ेगा, और वे रात का काम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे। वस्तुतः कठिनाइयां इतनी अधिक हो जायेंगी कि अन्त में सम्भवतया रात का काम बिल्कुल बन्द कर देना पड़ेगा, और, मि० ई० एफ़० सैण्डर्सन के शब्दों में, "जहां तक खुद काम का सम्बंध है, इससे हमें कोई परेशानी नहीं होगी, लेकिन ..." आखिर मेसर्स सैण्डर्सन का उद्देश्य केवल इस्पात बनाना ही तो नहीं है। आखिर इस्पात बनाना अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का महज़ एक बहाना ही तो है। धातु गलाने की भट्ठियों और रोलिंग-मिलों आदि को, कारखाने के मकानों और मशीनों को, लोहे और कोयले आदि को इस्पात में रूपान्तरित होने के अलावा भी कुछ करना है। उनको अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करना है, और, जाहिर है, वे १२ घण्टे के मुक़ाबले में २४ घण्टे में ज्यादा अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करते हैं। सच तो यह है कि भगवान की दया से और क़ानून के प्रताप से ये तमाम चीजें मेसर्स सैण्डर्सन को मजदूरों की एक निश्चित संख्या के श्रम-काल को रोजाना चौबीस घण्टे इस्तेमाल करने का अधिकार दे देती हैं, और जैसे ही इन चीजों का श्रम का अवशोषण करने का कार्य बीच में रुक जाता है, वैसे ही उनका पूंजी का स्वरूप नष्ट हो जाता है और उनसे मेसर्स

---

[1] यह चिन्तन और तर्क का युग है। इस युग में जो आदमी हर चीज़ का, वह चीज़ चाहे कितनी ख़राब और पागलपन से भरी क्यों न हो, कोई अच्छा कारण नहीं बता सकता, उस आदमी की क़ीमत ज्यादा नहीं समझी जाती। दुनिया में आज तक जो भी ग़लत काम किया गया है, वह हमेशा सर्वोत्तम कारणों से किया गया है। (Hegel, उप० पु०, पृ०, २४६।)

सैण्डर्सन को विशुद्ध हानि होने लगती है। "पर तब हमारा यह नुक़सान होगा कि इतनी क़ीमती मशीनें आधे समय बेकार पड़ी रहा करेंगी, और मौजूदा व्यवस्था के रहते हुए हम जितना काम कर लेते हैं, उतना काम करने के लिये हमें अपना कारख़ाना और मशीनें आज से दुगुनी कर देनी पड़ेंगी, जिसके फलस्वरूप हमें आज से दुगुनी पूंजी लगानी पड़ जायेगी।" परन्तु मेसर्स सैण्डर्सन एक ऐसा विशेषाधिकार क्यों चाहते हैं, जो उन दूसरे पूंजीपतियों को नहीं प्राप्त है, जो केवल दिन में काम कराते हैं और इसलिये जिनकी इमारतें, मशीनें, कच्चा माल वग़ैरह रात को "बेकार" पड़े रहते हैं? मेसर्स सैण्डर्सन जैसे सभी पूंजीपतियों की तरफ़ से ई० एफ़० सैण्डर्सन इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं: "यह सच है कि जिन कारख़ानों में केवल दिन में काम होता है, उनमें भी मशीनें बेकार पड़ी रहती हैं और उससे इस तरह का नुक़सान होता है। लेकिन हम चूंकि भट्टियों का इस्तेमाल करते हैं, इसलिये हमारा उनसे ज़्यादा नुक़सान होगा। यदि हम भट्टियों को जलाये रखेंगे, तो ईंधन बेकार ख़र्च होगा (जब कि आजकल केवल मजदूरों की जीवन-शक्ति ख़र्च होती है), और यदि हम उनको ठण्डा हो जाने देंगे, तो नये सिरे से आगे जलाने और भट्टियों को गरम करने में बहुत सा समय व्यर्थ ज़ाया हो जायेगा (जब कि आठ-आठ वर्ष के बच्चों को भी यदि सोने का समय नहीं मिलता, तो उससे सैण्डर्सनों की क़ौम को अतिरिक्त श्रम-काल मिल जाता है) और तापमान के परिवर्तन से ख़ुद भट्टियां ख़राब हो जायेंगी" (जब कि मजदूरों की दिन और रात की पालियों के बदलते रहने से इन भट्टियों की कोई हानि नहीं होगी)।[1]

---

[1] उप० पु०, ८५, पृ० XVII (सत्रह)। कांच के कारख़ानों के मालिकों ने भी इसी प्रकार बड़ी सहृदयता का परिचय देते हुए बच्चों को नियत समय पर भोजन की छुट्टी देने के प्रस्ताव का इस बिना पर विरोध किया था कि यदि ऐसा किया गया, तो भट्टियों की गरमी का एक भाग "व्यर्थ ज़ाया" हो जायेगा, जिससे उनका "सरासर नुक़सान" होगा। इस दलील का जांच-कमिश्नर व्हाइट ने जवाब दिया है। उनका जवाब उरे, सीनियर आदि तथा रोश्चेर के ढंग के उनके जर्मन नक़्क़ालों जैसा नहीं है, जिनका हृदय पूंजीपति अपना सोना ख़र्च करने में जिस "परिवर्जन", जिस "अपरिग्रह" और जिस "मितव्ययिता" का परिचय देते हैं और मानव-जीवन का व्यय करने में जिस तैमूरशाही दरियादिली का प्रदर्शन करते हैं, उससे द्रवित हो उठता है। कमिश्नर व्हाइट ने लिखा है: "यह मुमकिन है कि यदि भोजन का समय निश्चित कर दिया जायेगा, तो जितनी गरमी इस वक़्त ज़ाया होती है, उससे थोड़ी ज्यादा गरमी ज़ाया होने लगेगी, लेकिन यह नुक़सान मुद्रा-मूल्य में शायद जीवन-शक्ति के उस अपव्यय ("the waste of animal power") के बराबर नहीं होगा, जो पूरे राज्य के कांच के कारख़ानों में नयी उम्र के लड़कों को आराम से खाना खाने और खाने के बाद उसे हज़म करने के लिये पर्याप्त विश्राम करने के लिये काफ़ी समय न देने के फलस्वरूप हो रहा है।" (उप० पु०, पृ० VLV (पैंतालीस)।) और यह १८६५ के "प्रगति के वर्ष" में हो रहा है! जिस शेड में बोतलें और सीस-कांच बनाया जाता है, उसमें काम करने वाले बच्चे को सामान उठाने और ले जाने में जो शक्ति ख़र्च करनी पड़ती है, हम यदि उसकी ओर कोई ध्यान न दें, तो भी उस बच्चे को अपने काम के दौरान में हर ६ घण्टे में १५-२० मील चलना पड़ता है! और काम अक्सर १४ या १५ घण्टे तक चलता रहता है! मास्को की कताई-मिलों की तरह कांच के इन कारख़ानों में से अनेक में ६ घण्टे की पालियों की

## अनुभाग ५—काम का सामान्य दिन प्राप्त करने का संघर्ष। —काम के दिन का विस्तार करने के विषय में १४वीं सदी के मध्य से १७वीं सदी के अन्त तक बनाये गये अनिवार्य क़ानून

"काम के दिन का क्या अर्थ है? पूंजी उस श्रम-शक्ति का कितने समय तक उपभोग कर सकती है, जिसका दैनिक मूल्य उसने चुका रखा है? स्वयं श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिये जितना श्रम-काल आवश्यक है, काम के दिन को उसके आगे कितना खींचा जा सकता है?" हम यह देख चुके हैं कि इन तमाम सवालों का पूंजी यह जवाब देती है कि काम के दिन में पूरे चौबीस घण्टे होते हैं, जिनमें से आराम के वे चन्द घण्टे काट लिये जाते हैं, जिनके बिना श्रम-शक्ति आगे काम करने से एकदम इनकार कर देती है। इसलिये यह एक स्वतःस्पष्ट बात है कि मजदूर अपनी जिन्दगी भर श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं होता और इसलिये उसका वह सारा समय, जिसमें वह काम कर सकता है, प्रकृति और क़ानून के नियमों के अनुसार पूंजी के आत्म-विस्तार के लिये खर्च होना चाहिये। जो लोग मजदूर को शिक्षा के लिये, बौद्धिक विकास के लिये, सामाजिक कार्यों तथा सामाजिक आदान-प्रदान के लिये, उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के स्वच्छंद विकास के लिये या यहां तक कि

---

व्यवस्था के अनुसार काम होता है। "सप्ताह का जो हिस्सा काम में ख़र्च होता है, उसके दौरान में एक बार में ज्यादा से ज्यादा छः घण्टे लगातार आराम करने के लिये मिलते हैं, और घर से कारख़ाने तक आने-जाने में, नहाने-धोने और कपड़े पहनने में तथा भोजन करने में जो समय जाता है, वह भी इन्हीं छः घण्टों में से निकालना पड़ता है। इसलिये, आराम करने के लिये सचमुच बहुत ही कम समय मिलता है, और ताजा हवा में घूमने और खेलने के लिये तो जरा भी समय नहीं मिलता। हां, अगर नींद का समय काटकर घूमा और खेला जाये, तो बात दूसरी है। मगर इन छोटे-छोटे लड़कों के लिये, ख़ास तौर पर इतनी ज्यादा गरमी में ऐसा थका देने वाला काम करने के बाद, सोना बहुत ज़रूरी होता है... और जो थोड़ी सी नींद ये लोग ले पाते हैं, वह भी अक्सर बीच में ही टूट जाती है। लड़कों को रात को अक्सर बीच में ही नियत समय पर उठने की चिन्ता के कारण जाग जाना पड़ता है, और दिन में वे शोर के कारण अच्छी तरह सो नहीं पाते। मि० व्हाइट ने कुछ ऐसे उदाहरण बताये हैं, जहां एक लड़के को लगातार ३६ घण्टे तक काम करना पड़ा; १२ वर्ष की उम्र के कुछ और लड़कों ने सुबह के २ बजे तक काम किया, फिर वे कारख़ाने में ही सो गये और ५ बजे (सिर्फ़ ३ घण्टे सोने के बाद!) उठकर फिर काम में लग गये। ट्रेमेनहीर और टुफ़नैल ने, जिन्होंने कमीशन की सामान्य रिपोर्ट का मसौदा तैयार किया था, कहा है: "अपनी दिन-पाली या रात-पाली में लड़कों, नौजवानों, लड़कियों और औरतों को जितना काम करना पड़ता है, वह निश्चय ही एक असाधारण चीज़ है।" (उप० पु०, पृ० XLIII (तैंतालीस) और XLIV (चवालीस)।) उधर शायद काफ़ी रात बीत जाने पर त्यागमूर्त्ति श्रीमान कांच-पूंजी पोर्ट-शराब से मस्त होकर अपने से घर की ओर रवाना होते हैं और रास्ते में अहमक़ाना अन्दाज से गुनगुनाते जाते हैं: "Britons never, never shall be slaves!" ("न होंगे, न होंगे कभी ब्रिटेनवासी ग़ुलाम!")

रविवार को विश्राम करने के लिये (ध्यान रहे, यह देश रविवार को विश्राम करने वालों का देश है!)[1] समय देने की बात करते हैं, वे ख़याली पुलाव पका रहे हैं! लेकिन अनियंत्रित लोभ से अंधी होकर अतिरिक्त श्रम के लिये वृक-मानव की तरह भूखी पूंजी काम के दिन की न केवल नैतिक, बल्कि विशुद्ध शारीरिक सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाती है। पूंजी शरीर की वृद्धि, विकास और भरण-पोषण के लिये आवश्यक समय को भी हड़प लेती है। ताजा हवा और सूरज की धूप का सेवन करने के लिये जो समय चाहिये, वह उसे भी चुरा लेती है। वह भोजन के समय को लेकर हुज्जत करती है और जहां मुमकिन होता है, इस समय को भी उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल कर लेती है, जिससे मजदूर को काम के दौरान में उत्पादन के किसी साधन की तरह ही भोजन दिया जाता है, जैसे बायलर को कोयला और मशीन को ग्रीज और तेल दिया जाता है। अपनी शारीरिक शक्तियों में नयी जान डालने, नया बल भरने और ताजगी लाने के लिये मजदूर को गहरी नींद सोने की जरूरत होती है। मगर पूंजी उसे थकन से एकदम चूर होकर केवल चन्द घण्टे निश्चल पड़े रहने की इजाजत देती है, क्योंकि यदि वह यह भी न करे, तो मजदूर का शरीर काम करने से जवाब दे दे। काम के दिन की सीमाएं इस बात से नहीं निर्धारित होती कि श्रम-शक्ति को सामान्य अवस्था में रखने के लिये मजदूर को आराम करने के लिये कितना समय देना आवश्यक है; मजदूर के आराम करने के समय की सीमाएं इस बात से निश्चित होती हैं कि मजदूर चाहे जितना ही यातनाप्रद कार्य करे और उससे चाहे कैसे ही जबर्दस्ती काम लिया जाये, और उसका काम चाहे जितना तकलीफ़देह हो, श्रम-शक्ति का रोजाना अधिक से अधिक व्यय करना आवश्यक

---

[1] इंगलैण्ड में अब भी कभी-कभी यह होता है कि यदि देहाती इलाक़ों में कोई मजदूर रविवार को अपने झोंपड़े के सामने वाले बग़ीचे में काम करता हुआ पाया जाता है, तो विश्राम के पवित्र दिन का उल्लंघन करने के अपराध में उसे जेल भेज दिया जाता है। पर यही मजदूर यदि रविवार के दिन धातु, काग़ज़ या कांच के उस कारख़ाने में काम करने न आये, जहां वह नौकर है, तो भले ही वह अपनी धार्मिक भावना के कारण काम पर न गया हो, उसे क़रार तोड़ने का दोषी ठहराया जाता है और सज़ा सुना दी जाती है। यदि पूंजी का विस्तार करने की प्रक्रिया के दौरान में विश्राम के पवित्र दिन का उल्लंघन किया जायेगा, तो धर्म-भीरु संसद भी उसके ख़िलाफ़ कोई शिकायत न सुनेगी। लन्दन की मछली और मुर्गी-अण्डों की दूकानों में काम करने वाले दिन-मजदूरों ने अगस्त १८६३ में एक आवेदन-पत्र के द्वारा यह मांग की थी कि उनसे रविवार को काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया जाये। इस आवेदन-पत्र में बताया गया है कि सप्ताह के पहले छः दिन उन्हें औसतन पन्द्रह घण्टे रोजाना काम करना पड़ता है और रविवार को ८-१० घण्टे। इसी आवेदन-पत्र से यह भी पता चलता है कि एक्सटर हाल के अभिजात-वर्गीय बगला-भगतों में कुछ ऐसे स्वाद-प्रेमी भोजन-भट्ट हैं, जो रविवार के इस काम (this "Sunday labour") को ख़ास बढ़ावा देते हैं। ये "साधु-हृदय" लोग, जो "in cute curanda" (अपने हित-साधन में) इतना उत्साह दिखाते हैं, वे दूसरों के कठिन परिश्रम, दैन्य और भूख को अत्यन्त विनम्रता के साथ सहन करके ईसाई धर्म के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। Obseqium ventris istis perniciosius est [उन (मजदूरों) के लिये जबान के चटख़ारे से प्यार करना बहुत ख़तरनाक होगा, क्योंकि इससे उनका सत्यानाश हो जायेगा]।

है। पूंजी को इस बात की कोई चिन्ता नहीं होती कि श्रम-शक्ति कितने दिन तक जीवित रहेगी। उसको तो केवल और एकमात्र इस बात की चिन्ता होती है कि काम के एक दिन में ज्यादा से ज्यादा श्रम-शक्ति खर्च कर डाली जाये। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये पूंजी मजदूर की जिन्दगी को वैसे ही कम कर देती है, जैसे लालची किसान अपनी धरती की उपज बढ़ाने के लिये उसकी उर्वरता को नष्ट कर डालता है।

इस प्रकार, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली (जो कि बुनियादी तौर पर अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन या अतिरिक्त श्रम का अवशोषण होती है) काम के दिन का विस्तार करने के साथ-साथ न केवल मानव-श्रम-शक्ति के विकास तथा कार्य करने के लिये आवश्यक साधारण नैतिक एवं शारीरिक परिस्थितियों से उसे वंचित करके उसे पतन के गढ़े में धकेल देती है, बल्कि खुद इस श्रम-शक्ति को भी वह समय से पहले ही थका डालती है और उसकी हत्या कर देती है।[1] वह किसी एक निश्चित अवधि में मजदूर का उत्पादन-काल बढ़ाने के लिये उसके वास्तविक जीवन-काल को छोटा कर देती है।

लेकिन श्रम-शक्ति के मूल्य में उन मालों का मूल्य शामिल होता है, जो मजदूर के पुनरुत्पादन के लिये, या मजदूर-वर्ग का अस्तित्व क़ायम रखने के लिये, आवश्यक होते हैं। इसलिये, पूंजी आत्म-विस्तार के अनियंत्रित मोह में पड़कर काम के दिन का अनिवार्य रूप से जो अस्वाभाविक विस्तार करती है, उसके फलस्वरूप मजदूर के जीवन की अवधि और इसलिये उसकी श्रम-शक्ति की अवधि यदि कम हो जाती हैं, तो उसकी जो शक्तियां खर्च हो गयी हैं, उनकी कमी को और जल्दी पूरा करना होगा और श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन का खर्चा पहले से बढ़ जायेगा। यह उसी तरह की बात है, जैसे कोई मशीन जितनी जल्दी घिस जाती है, उसके मूल्य के उतने ही बड़े भाग के बराबर नया मूल्य रोज पैदा करना होता है। इसलिये लगता है कि खुद पूंजी का हित भी इसी बात में है कि काम के दिन की लम्बाई सामान्य हो।

गुलामों का मालिक जैसे घोड़ा खरीदता है, वैसे ही वह मजदूर को भी खरीदता है। यदि उसका गुलाम मर जाता है, तो उसकी पूंजी डूब जाती है, जिसके स्थान की पूर्त्ति केवल गुलामों की मण्डी में नयी पूंजी खर्च करने से ही हो सकती है। किन्तु "जार्जिया का धान का इलाक़ा या मिसीसिपी नदी का दलदल मानव-शरीर के लिये भले ही अत्यन्त घातक हों, पर इन इलाक़ों की खेती के लिये इनसानों की जितनी जिन्दगियों का नाश होना जरूरी होता है, वे संख्या में इतनी अधिक नहीं होतीं कि बड़ी संख्या में हब्शियों का उत्पादन करने वाले वर्जीनिया और केण्टुकी के क्षेत्रों से उनकी कमी को पूरा न किया जा सके। इसके अलावा, जहां प्राकृतिक अवस्था में मितव्ययिता का खयाल गुलाम को जिन्दा रखना मालिक के हित में जरूरी बना देता है और इसलिये इस बात की थोड़ी गारण्टी कर देता है कि गुलाम के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जायेगा, वहां एक बार गुलामों का व्यापार शुरू हो जाने पर यही खयाल गुलाम से ज्यादा से ज्यादा मेहनत कराने की प्रेरणा देता है। कारण कि अब उसकी

---

[1] "अपनी पिछली रिपोर्टों में हम ऐसे कई अनुभवी कारखानेदारों के बयानों को उद्धृत कर चुके हैं, जिन्होंने यह माना था कि बहुत ज्यादा देर तक काम करने से... निश्चय ही मजदूरों की कार्य-शक्ति समय से पहले समाप्त हो जाती है।" (उप० पु०, ६४, पृ० XIII (तेरह)।)

जगह पर दूसरे स्थान से फ़ौरन कोई नया गुलाम आ सकता है, तब इस बात का कम महत्व रह जाता है कि गुलाम कुल कितने दिन जिन्दा रहेगा, और महत्व इस बात का हो जाता है कि जब तक वह जिंदा है, तब तक वह कितनी पैदावार करता है। चुनांचे दूसरे मुल्कों से गुलाम मंगाने वाले देशों में गुलामों से काम लेने वालों का यह उसूल है कि सबसे अच्छी अर्थ-व्यवस्था वह होती है, जो मनुष्य-रूपी चल सम्पत्ति (human cattle) से कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा मेहनत कराने में कामयाब होती है। उष्णदेशीय संस्कृति के क्षेत्रों में, जहां एक साल का नफ़ा अक्सर बाग़ानों में लगी हुई कुल पूंजी के बराबर होता है, सबसे अधिक लापरवाही के साथ हब्शियों के जीवन की बलि दी जाती है। वेस्ट इण्डीज की खेती, जो सदियों से बेशुमार दौलत पैदा करती आ रही है, हब्शी नस्ल के लाखों-करोड़ों आदमियों को खा गयी है। क्यूबा में, जिसकी आमदनी करोड़ों में गिनी जाती है और जिसके बाग़ानों के मालिक राजाओं की तरह रहते हैं, हम आज भी गुलामों को ख़राब से ख़राब खाना खाकर अनवरत अत्यधिक थकाने वाला कठिन परिश्रम करते हुए देखते हैं, जिसके फलस्वरूप उनका एक बड़ा भाग हर साल पूर्णतः नष्ट हो जाता है।"[1]

Mutato nomine de te fabula narratur! (यह कहानी जनाब ही की है!) गुलामों के व्यापार की जगह पर मजदूरों की मण्डी, केण्टुकी और वर्जीनिया की जगह पर आयरलैण्ड और इंगलैण्ड, स्कोटलैण्ड तथा वेल्स के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों को और अफ़्रीका की जगह पर जर्मनी को रख दीजिये। हम सुन चुके हैं कि ज्यादा काम करने के कारण लन्दन के रोटी बनाने वाले कारीगरों में मृत्यु-संख्या कितनी अधिक बढ़ गयी थी। फिर भी लन्दन की श्रम की मण्डी रोटी की दूकानों में मृत्यु का ग्रास बनने के इच्छुक जर्मन तथा अन्य मजदूरों से सदा ठसाठस भरी रहती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले मजदूर सबसे कम समय तक जिन्दा रहते हैं। पर क्या इससे मिट्टी के बर्तन बनाने वालों की कोई कमी महसूस होती है? मिट्टी के बर्तन बनाने की आधुनिक कला के आविष्कारक जोसिया वेजवुड खुद भी शुरू में एक साधारण मजदूर थे। उन्होंने १७८५ में हाउस आफ़ कामन्स के सामने बयान देते हुए बताया था कि इस पूरे व्यवसाय में १५,००० से लेकर २०,००० तक आदमी काम करते हैं।[2] १८६१ में इंगलैण्ड में इस उद्योग के केवल शहरी केन्द्रों की जन-संख्या १,०१,३०२ थी। "सूती कपड़ों का व्यवसाय नब्बे वर्ष से क़ायम है . . . अंग्रेजी नसल की तीन पीढ़ियों से वह मौजूद है, और मेरा विश्वास है कि यदि मैं यह कहूं, तो जरा भी अतिशयोक्ति न होगी, कि इस दौरान में यह व्यवसाय कारख़ानों में काम करने वाले मजदूरों की नौ पीढ़ियों को हड़प गया है।"[3]

इसमें सन्देह नहीं कि जब उद्योग-धंधों में असाधारण तेजी आती है, तब श्रम की मण्डी में मजदूरों की ख़ासी कमी महसूस होने लगती है। मिसाल के लिए, १८३४ में ऐसी कमी महसूस हुई थी। पर उस वक़्त कारख़ानेदारों ने Poor Law Commissioners

---

[1] J. E. Cairnes, "*The Slave Power*" (जे० ए० केर्न्स, 'दास-शक्ति'), London, 1862, पृ० ११०, १११।

[2] John Ward, "*The Borough of Stoke-upon-Trent*" (जान वार्ड, 'ट्रेण्ट नदी के तट पर स्थित स्टोक नगर का इतिहास'), London, 1843, पृ० ४२।

[3] हाउस आफ़ कामन्स में फ़ेरांण्ड का भाषण, २७ अप्रैल १८६३।

(ग़रीबों के क़ानून के कमिश्नरों) के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि खेतिहर ज़िलों की "फ़ालतू आबादी" को उत्तर में भेज दिया जाये, और इसके पक्ष में यह दलील दी गयी थी कि वहां "उसे कारख़ानेदार खपा लेंगे और इस्तेमाल कर डालेंगे।"[1] चुनांचे, "Poor Law Commissioners की अनुमति से एजेण्ट नियुक्त कर दिये गये थे . . . मानचेस्टर में एक दफ़्तर खोल दिया गया था। खेतिहर ज़िलों के जो मज़दूर नौकरी चाहते थे, उनके नामों की सूचियां इस दफ़्तर में भेज दी जाती थीं, और वहां पर उनके नाम रजिस्टरों में दर्ज कर लिये जाते थे। कारख़ानों के मालिक इन दफ़्तरों में जाते थे, और इन सूचियों में से अपनी इच्छानुसार कुछ लोगों को छांट लेते थे। अपनी 'आवश्यकता के अनुसार' लोगों को छांट लेने के बाद वे हिदायतें जारी कर देते थे कि इन मज़दूरों को मानचेस्टर भेज दिया जाये। सामान की गांठों की तरह इन मज़दूरों पर भी लेबिल लगाकर उनको नहरों में चलने वाली नावों के ज़रिये, गाड़ियों के ज़रिये या पैदल ही मानचेस्टर रवाना कर दिया जाता था, और उनमें से बहुत से बीच में ही खो जाते थे, या भूख से परेशान होकर रास्ते में ही बैठ जाते थे। इस व्यवस्था ने एक नियमित व्यापार का रूप धारण कर लिया था। हाउस आफ़ कामन्स मेरी बात पर विश्वास न करेगा, पर मैं आपसे कहता हूं कि मानव-देहों का यह व्यापार उतने ही ज़ोर-शोर से चलता था, इन मज़दूरों की (मानचेस्टर के) कारख़ानेदारों के हाथ उतने ही नियमित रूप से बिक्री होती थी, जितने नियमित रूप से संयुक्त राज्य अमरीका के कपास की खेती करने वालों के हाथों गुलामों की बिक्री होती है . . . १८६० में, 'कपास का व्यापार उन्नति के शिखर पर था ...' तब कारख़ानेदारों को फिर मज़दूरों की कमी महसूस होने लगी . . उन्होंने 'गोश्त के एजेण्ट' कहलाने वाले लोगों से मज़दूर मांगे। इन एजेण्टों ने मज़दूरों की तलाश में इंगलैण्ड के दक्षिणी पठारों में, डोर्सेटशायर की चरागाहों में, डेवनशायर के जंगली मैदानों में, और विल्टशायर के गाय पालने वालों के बीच अपने आदमी भेजे, मगर बेसूद। फ़ालतू आबादी पहले ही 'हज़म हो चुकी थी'।" फ़्रांसीसी संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद "*Bury Guardian*" नामक पत्र ने लिखा था कि "लंकाशायर १०,००० नये मज़दूरों को हज़म कर सकता है, और अभी हमें ३०,००० या ४०,००० मज़दूरों की आवश्यकता पड़ेगी।" जब ये "गोश्त के एजेण्ट और सब-एजेण्ट" खेतिहर ज़िलों में घूम-घूमकर ख़ाली हाथ लौट आये, तो "एक प्रतिनिधि-मण्डल लन्दन आया और माननीय महोदय के सामने (यानी Poor Law Board [ग़रीबों के क़ानून के बोर्ड] के अध्यक्ष मि० विलियर्स के सामने) उपस्थित हुआ। वह चाहता था कि कुछ मुहताज-ख़ानों में रहने वाले बच्चे लंकाशायर की मिलों को मिल जायें।"[2]

---

[1] "सूती कपड़ा बनाने वाले कारख़ानेदारों ने ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था।" — उप० पु०।

[2] उप० पु०। अपने बेहतरीन इरादों के बावजूद मि० विलियर्स को "क़ानूनन" कारख़ानेदारों की दरख़ास्त को मानने से इनकार कर देना पड़ा। परन्तु इन महानुभावों ने ग़रीबों के क़ानून के मातहत बनाये गये बोर्डों की कृपा-दृष्टि का उपयोग करके अपना काम बना लिया। फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टर मि० ए० रेडग्रैव का कहना है कि जिस व्यवस्था के मातहत अनाथ बच्चों और ग़रीबों के बच्चों को "क़ानूनन" शागिर्द (apprentices) समझा जाता था, उसमें इस बार "उसकी पुरानी बुराइयां नहीं पायी जाती थीं" (इन "बुराइयों" के बारे

पूंजीपति को अनुभव से जो कुछ मालूम होता है, वह यह है कि देश में जन-संख्या सदा आवश्यकता से अधिक होती है, यानी अतिरिक्त श्रम के अवशोषण करने वाली पूंजी की क्षणिक आवश्यकताओं की तुलना में जन-संख्या हमेशा ज्यादा बनी रहती है, हालांकि यह आधिक्य

---

में एंगेल्स की उपर्युक्त रचना देखिये), हालांकि एक जगह "स्कोटलैण्ड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों से लंकाशायर और चीशायर में लायी गयी कुछ लड़कियों और युवतियों के सिलसिले में निश्चय ही इस व्यवस्था का दुरुपयोग किया गया था।" इस व्यवस्था के मातहत कारख़ानेदार एक निश्चित समय के लिये किसी मुहताज-ख़ाने के अधिकारियों के साथ क़रार कर लेता था। वह मुहताज-ख़ाने के बच्चों को रोटी-कपड़ा, रहने का स्थान और थोड़े से पैसे नक़द दे देता था। मि० रेड्ग्रेव के वक्तव्य का जो अंश मैं यहां उद्धृत करने वाला हूं, वह कुछ अजीब सा लगता है, ख़ास तौर पर जब हम यह सोचते हैं कि जिस काल को इंगलैण्ड के सूती कपड़े के व्यवसाय के लिये सबसे अधिक समृद्धि का काल समझा जाता है, उस काल में भी १८६० का कोई और वर्ष मुक़ाबला नहीं कर सकता था और, इसके अलावा, उस वर्ष मजदूरी की दरें बहुत ही ऊंची थीं। कारण कि इंगलैण्ड में मजदूरों की यह बेहद बढ़ी हुई मांग ठीक उसी ज़माने में दिखाई पड़ी थी, जिस ज़माने में आयरलैण्ड जन-विहीन हो गया था, इंगलैण्ड और स्कोटलैण्ड के खेतिहर ज़िलों से बेशुमार लोग आस्ट्रेलिया और अमरीका चले गये थे, और इंगलैण्ड के कुछ खेतिहर ज़िलों में कुछ हद तक तो खेतिहर मजदूरों की जीवन-शक्ति के सचमुच जवाब दे देने के फलस्वरूप और कुछ हद तक इस कारण कि इन ज़िलों की फ़ालतू आबादी को इनसान के गोश्त के व्यापारियों ने पहले ही अन्यत्र पहुंचा दिया था, आबादी सचमुच कम हो गयी थी। पर इस सब के बावजूद, मि० रेड्ग्रेव का कहना है: "लेकिन इस प्रकार के श्रम की केवल उसी वक़्त तलाश की जायेगी, जब और किसी प्रकार का श्रम नहीं मिलेगा, क्योंकि यह बहुत महंगा श्रम (high-priced labour) होता है। १३ वर्ष की उम्र के एक लड़के की साधारण मजदूरी ४ शिलिंग प्रति सप्ताह होगी, परन्तु ऐसे ५० या १०० लड़कों को रोटी-कपड़ा, रहने का स्थान, दवा-दारू देने तथा उनके ऊपर निगाह रखने वाले कर्मचारियों को नौकर रखने और साथ ही इन लड़कों को कुछ नक़द मजदूरी देने के लिये ४ शिलिंग फ़ी लड़का प्रति सप्ताह की रक़म हरगिज़ काफ़ी नहीं होगी।" (*"Report of the Inspector of Factories for 30th April, 1860"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टर की ३० अप्रैल १८६० की रिपोर्ट'], पृ० २७।) मि० रेड्ग्रेव हमें यह बताना भूल जाते हैं कि जब कारख़ानेदार एक साथ रहने वाले ५० या १०० लड़कों को ४ शिलिंग प्रति सप्ताह में रोटी-कपड़ा, रहने का स्थान और दवा-दारू नहीं दे सकता, तब मजदूर अपने बच्चों को ये सब चीज़ें कैसे दे सकता है। इस उद्धरण से पाठक किन्हीं ग़लत नतीजों पर न पहुंच जायें, इसलिए मुझे यहां यह बता देना चाहिये कि जब से इंगलैण्ड के सूती कपड़े के उद्योग पर श्रम-काल आदि का नियमन करने वाला १८५० का फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हो गया है, तब से उसे इंगलैंड का आदर्श उद्योग मानना चाहिये। इंगलैण्ड की कपड़ा-मिलों में] काम करने वाले मजदूर की हालत अपने योरपीय भाई-बन्द की अपेक्षा हर दृष्टि से बेहतर है। "प्रशिया के कारख़ानों में काम करनेवाला मजदूर अपने अंग्रेज़ी प्रतिद्वन्द्वी के मुक़ाबले में हर हफ़्ते कम से कम दस घण्टे ज्यादा काम करता है, और यदि वह अपने घर पर बैठकर ख़ुद अपने करघे पर काम करता है, तो उसका श्रम इन दस अतिरिक्त घंटों तक भी सीमित नहीं होता।" (*"Rep. of*

मनुष्यों की कई ऐसी पीढ़ियों का होता है, जिनके शरीर का विकास बीच में रुक गया है, जो बहुत थोड़े समय ही जिन्दा रह पाती हैं, जिनमें एक पीढ़ी बहुत जल्दी दूसरी पीढ़ी का स्थान ले लेती है और जो मानो परिपक्वता को प्राप्त होने के पहले ही मसलकर फेंक दी जाती हैं।[1] और, सचमुच, अनुभव से कोई भी बुद्धिमान पर्यवेक्षक यह देख सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से उत्पादन की जो पूंजीवादी प्रणाली अभी कल ही पैदा हुई थी, उसने कितनी तेजी और कितनी मजबूती के साथ लोगों की जीवन-शक्ति को जड़ से अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। अनुभव बताता है कि औद्योगिक जन-संख्या का यदि एकदम अंधाधुंध पतन नहीं हो रहा है, तो इसका केवल यही कारण है कि उसमें लगातार देहात के ऐसे आदिम तत्व शामिल होते रहते हैं, जो शारीरिक दृष्टि से अभी भ्रष्ट नहीं हुए हैं। अनुभव से पता चलता है कि देहात से आये हुए मजदूर हालांकि सदा ताजा हवा में रहते आये हैं और उनके बीच हालांकि principle of natural selection (प्राकृतिक वरण का सिद्धान्त) बड़े शक्तिशाली ढंग से काम कर रहा है और केवल सबसे ताक़तवर व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अवसर देता है, परन्तु इन मजदूरों ने भी अभी से मरना आरम्भ कर दिया है।[2] पूंजी का हित इसी बात में है कि अपने इर्द-गिर्द रहने वाले असंख्य

---

*Insp. of Fact.*, 31st Oct., 1855" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५५'], पृ० १०३।) ऊपर रेडग्रैव नामक जिस फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर का जिक्र किया गया है, उन्होंने १८५१ की औद्योगिक प्रदर्शनी के बाद, कारख़ानों की हालत की जांच करने के लिये, योरपीय महाद्वीप की और विशेष कर फ़्रांस और जर्मनी की यात्रा की थी। प्रशिया के मजदूर के बारे में उन्होंने लिखा है: "उसे मजदूरी इतनी मिलती है, जो बहुत सादा भोजन और उन चन्द सुविधाओं को मुहय्या करने के लिए काफ़ी होती है, जिनकी उसको आदत है ... वह मोटा-झोटा खाता है और ख़ूब कड़ी मेहनत करता है, और इस तरह उसकी स्थिति अंग्रेज़ मजदूर की स्थिति से ख़राब है।" ("*Rep. of Insp. of Fact.*, 31st October, 1855" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५५'], पृ० ८५।)

[1] जिनसे बहुत अधिक काम लिया जाता है, वे "एक अजीब तेजी के साथ मरने लगते हैं, लेकिन जो मर जाते हैं, उनका स्थान तुरन्त ही भर जाता है, और व्यक्तियों का जो परिवर्तन इतनी जल्दी-जल्दी होता रहता है, उससे पूरे चित्र में कोई अन्तर नहीं पड़ता।" ("*England and America*" ['इंगलैण्ड और अमरीका'], London, 1833, खण्ड १, पृ० ५५। ई० जी० वेकफ़ील्ड द्वारा लिखित।)

[2] देखिये "*Public Health. Sixth Report of the Medical Officer of the Privy Council, 1863*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य। प्रिवी काउंसिल के मेडिकल अफ़सर की छः रिपोर्ट, १८६३')। लन्दन से १८६४ में प्रकाशित। यह रिपोर्ट ख़ास तौर पर खेतिहर मजदूरों के बारे में है। "सदरलैण्ड को... आम तौर पर एक बहुत उन्नत काउण्टी समझा जाता है,... लेकिन... हाल की जांच-पड़ताल से पता लगा है कि यहां भी, ऐसे इलाक़ों में, जो किसी समय अपने जवानों और बहादुर सिपाहियों के लिये प्रसिद्ध थे, अब नसल ख़राब हो गयी है और केवल छोटे-छोटे ऐसे मनुष्य पैदा होते हैं, जिनकी बाढ़ मारी जा चुकी है। जो स्थान सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद हैं, जैसे समुद्र-किनारे के पहाड़ी इलाक़े, वहां पर भी इन लोगों के दुबले-पतले, भूखे बच्चों के चेहरे उतने ही पीले पड़ गये हैं, जितने कि लन्दन की किसी गली के गन्दे वातावरण में रहने वाले बच्चों के चेहरे होते हैं।" (W. Th. Thornton.

मजदूरों की मुसीबतों की तरफ़ से हमेशा आंखें मूंदे रखे। अतः यदि इनसान की नसल खराब होती जा रही है और एक दिन उसके एकदम नष्ट हो जाने की आशंका है, तो इस बात का पूंजी के हृदय पर उतना ही प्रभाव पड़ता है, जितना इस बात का कि पृथ्वी के एक दिन सूरज से टकराकर ख़तम हो जाने की सम्भावना है। जब कभी शेयर-बाजार में सट्टा होता है और भाव तेजी से बढ़ने लगते हैं, तो हर आदमी जानता है कि अब किसी न किसी समय बाजार यकायक ठप्प हो जायेगा और भाव एकदम गिर जायेंगे, पर हर आदमी यही उम्मीद लगाये रहता है कि यह आने वाली मुसीबत उसके पड़ोसी के सिर पर पड़ेगी और वह खुद उसके पहले ही अपनी थैली भरकर किसी सुरक्षित स्थान में भाग जायेगा। Après moi le déluge! (आप मरे जग प्रलय!) – हर पूंजीपति का और हर पूंजीवादी राष्ट्र का यही मूल सिद्धान्त है। इसलिये पूंजी को जब तक समाज मजबूर नहीं कर देता, तब तक वह इसकी क़तई कोई परवाह नहीं करती कि मजदूर का स्वास्थ्य कैसा है या वह कितने दिन तक जिन्दा रह पायेगा।[1] जब कुछ लोग मजदूरों के शारीरिक एवं नैतिक पतन का, उनकी असमय मृत्यु का और अत्यधिक काम की यातनाओं का शोर मचाते हैं, तो पूंजी उनको यह जवाब देती है: इन बातों से हमें क्यों सिर-दर्द हो, जब उनसे हमारा मुनाफ़ा बढ़ता है? परन्तु यदि पूरी तसवीर पर ग़ौर किया जाये, तो, सचमुच, यह सब अलग-अलग पूंजीपतियों की सद्भावना और दुर्भावना पर निर्भर नहीं करता। स्वतंत्र प्रतियोगिता पूंजीवादी उत्पादन के मूलभूत नियमों को अमल में लाती है, जो बाह्य एवं अनिवार्य नियमों के रूप में हर अलग-अलग पूंजीपति पर लागू होते हैं।[2]

---

"*Over-population and its Remedy*" [डब्लयू० टी० थोर्नटन, 'जनाधिक्य और उसे दूर करने का उपाय'], London, 1846, पृ० ७४, ७५।) वास्तव में तो ये लोग उन ३०,००० "gallant Highlanders" ("बहादुर पहाड़ियों") के समान हैं, जिनको ग्लासगो ने वेश्याओं और चोरों के साथ-साथ अपनी wynds और closes (गलियों और अहातों) में सुअरों की तरह बन्द कर रखा है।

[1] "देशवासियों का स्वास्थ्य हालांकि राष्ट्रीय पूंजी का इतना महत्वपूर्ण अंग होता है, मगर हमें यह मानना पड़ेगा कि मजदूरों के मालिकों के वर्ग ने राष्ट्र के इस कोष की रक्षा एवं भरण-पोषण के लिये कोई ख़ास कोशिश नहीं की है... मजदूरों के स्वास्थ्य का मालिकों ने तभी कुछ ख़याल किया, जब उनको इसके लिये मजबूर कर दिया गया।" ("*The Times*", ५ नवम्बर १८६१।) "वेस्ट राइडिंग के रहने वाले सारी दुनिया को कपड़ा पहनाने लगे... मजदूरों के स्वास्थ्य की बलि दी गयी, और कुछ पीढ़ियों के बाद तो पूरी नसल ख़राब हो जाने की सम्भावना थी। लेकिन फिर उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। लार्ड शैफ़्टेसबरी के बिल ने बच्चों के काम के घण्टों को सीमित कर दिया," इत्यादि। ("*Report of the Registrar-General* for October 1861" ['रजिस्ट्रार-जनरल की रिपोर्ट, अक्तूबर १८६१'])

[2] इसीलिये हम यह पाते हैं कि, मिसाल के लिये, १८६३ के आरम्भ में २६ ऐसी कम्पनियों ने, जिनके स्टेफ़र्डशायर में मिट्टी के बर्तन बनाने के अनेक कारख़ाने थे और जिनमें 'जोसिया वेजवुड एण्ड सन्स' नाम की फ़र्म भी शामिल थी, एक आवेदन-पत्र के द्वारा "किसी क़ानून के बनाये जाने" की मांग की थी। दूसरे पूंजीपतियों के साथ चलने वाली प्रतियोगिता उनको इस बात की इजाज़त नहीं देती थी कि वे अपनी मर्जी से बच्चों के काम का समय सीमित कर दें, इत्यादि। चुनांचे उन्होंने लिखा था: "उपर्युक्त बुराइयों पर हमें अत्यन्त खेद

सामान्य लम्बाई के काम के दिन की स्थापना पूंजीपति और मजदूर के सदियों तक के संघर्ष का फल है। इस संघर्ष के इतिहास में दो विरोधी प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। मिसाल के लिये लीजिये, इंगलैण्ड के हमारे जमाने के फ़ैक्टरी-क़ानूनों की १४ वीं सदी से लेकर १८ वीं सदी के बीच तक के मजदूर-नियमों से तुलना करके देखिये।[1] जहां आधुनिक फ़ैक्टरी-क़ानून काम के दिन को जबर्दस्ती छोटा कर देते हैं, वहां पुराने नियम उसे जबर्दस्ती लम्बा करने की कोशिश करते थे। भ्रूणावस्था में, जब पूंजी का विकास प्रारम्भ होता है, तब उसे quantum sufficit (पर्याप्त मात्रा) में अतिरिक्त श्रम का अवशोषण करने का अधिकार केवल आर्थिक सम्बंधों के प्रताप से ही प्राप्त नहीं होता, बल्कि उसे राज्य की सहायता से यह अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। उस काल में पूंजी जो दावे करती है, वे, जाहिर है, उन रियायतों के मुक़ाबले में बहुत छोटे मालूम पड़ते हैं, जो पूंजी को अपनी प्रौढ़ावस्था में लड़ते-झगड़ते और गुर्राते हुए भी आखिर देनी ही पड़ती हैं। सदियां बीत जाती हैं, तब कहीं जाकर "स्वतंत्र" मजदूर पूंजीवादी उत्पादन के विकास के परिणामस्वरूप -इस बात के लिये तैयार होता है, यानी सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा इस बात के लिये मजबूर कर दिया जाता है, कि जीवन के लिये आवश्यक चन्द वस्तुओं के दाम के एवज में अपना सम्पूर्ण सक्रिय जीवन, अपनी समस्त कार्य-क्षमता बेच डाले और अपने मूलभूत अधिकारों को कौड़ियों के मोल दे दे। इसलिये यह बात स्वाभाविक है कि १४ वीं सदी के मध्य से लेकर १७ वीं सदी के अन्त तक पूंजी ने राज्य के बनाये हुए नियमों के जरिये वयस्क मजदूरों के काम के दिन को जबर्दस्ती जितना लम्बा करने की कोशिश की थी, १९ वीं सदी के उत्तरार्ध में राज्य ने बच्चों के खून को पूंजी में ढाले जाने से रोकने के लिये काम के दिन को

---

है, फिर भी हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि कारखानेदारों के बीच किसी समझौते की योजना के द्वारा इन बुराइयों को दूर कर दें... इन तमाम बातों पर ग़ौर करके हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि इस सम्बंध में कोई क़ानून बनाने की जरूरत है।" (*"Children's Employment Commission. 1st Report, 1863"* ['बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, १८६३'], पृ० ३२२।) एक बिल्कुल ताजा मिसाल इससे कहीं ज्यादा दिलचस्प है। सूती कपड़े के व्यवसाय में तेजी आने पर जब कपास के दाम बढ़ गये, तो ब्लैकबर्न के कारख़ानेदारों ने आपस की रजामन्दी से एक निश्चित अवधि के लिये अपनी मिलों के काम करने का समय कम कर दिया। यह अवधि नवम्बर १८७१ के आस-पास समाप्त हो गयी। इस बीच इस समझौते के फलस्वरूप उत्पादन में जो कमी आयी थी, उससे उन अधिक धनवान कारख़ानेदारों ने फ़ायदा उठाया, जो कताई के साथ-साथ बुनाई भी करते थे। उन्होंने अपने व्यापार का विस्तार बढ़ा लिया, और छोटे-छोटे मालिकों को पीछे धकेलकर ये लोग मोटे मुनाफ़े कमाने लगे। तब छोटे मालिकों ने परेशानी में मजदूरों से मदद मांगी और उनसे कहा कि आप लोगों को ९ घण्टे की प्रणाली चालू करवाने के लिए डटकर आन्दोलन चलाना चाहिये और हम लोग इस काम में रुपये-पैसे से भी आप लोगों की मदद करेंगे।

[1] इन मजदूर-परिनियमों की तरह के नियम उसी वक़्त फ़्रांस, नीदरलैण्ड्स तथा अन्य देशों में भी बनाये गये थे। इंगलैण्ड में उनको पहले-पहल १८१३ में रस्मी तौर पर मंसूख़ किया गया, हालांकि उत्पादन के तरीक़ों में जो परिवर्तन आ गये थे, उन्होंने इन परिनियमों को बहुत पहले ही बेकार कर दिया था।

लगभग उतना ही छोटा करने की कोशिश की है। मिसाल के लिये, मैस्साचुसेट्स के राज्य में, जो अभी हाल तक उत्तरी अमरीकी प्रजातंत्र का सबसे स्वतंत्र राज्य समझा जाता था, आज १२ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिये श्रम की जो क़ानूनी सीमा घोषित की गयी है, वह इंगलैण्ड में १७ वीं सदी के मध्य में भी तन्दुरुस्त कारीगरों, हृष्ट-पुष्ट मजदूरों और पहलवान लोहारों के लिये काम के दिन की सामान्य लम्बाई समझी जाती थी।[1]

पहला "*Statute of Labourers*" ['मजदूरों का परिनियम'] (एडवर्ड तृतीय के राज्य-काल के २३ वें वर्ष में बनाया गया क़ानून, १३४९) बनाने का तात्कालिक बहाना (उसका कारण नहीं, क्योंकि बहाना ख़तम हो जाने के सदियों बाद तक इस तरह के क़ानून देश में लागू रहते हैं) प्लेग की वह महामारी थी, जिसने इंगलैण्ड के लोगों को एकदम तबाह कर दिया था और यह हालत पैदा कर दी थी कि, एक अनुदार-दली लेखक के शब्दों में, "उचित मजदूरी पर (अर्थात् ऐसी मजदूरी पर, जिससे मालिकों के पास पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त श्रम बचे रहे) मजदूरों को काम करने के लिये राजी करना इतना अधिक कठिन हो गया था कि परिस्थिति बिल्कुल असहनीय हो गयी थी।"[2] इसलिये जिस तरह क़ानून काम के दिन की सीमाओं को निश्चित कर देता था, उसी तरह वह उचित मजदूरी भी तै कर देता था। हमें यहां केवल काम के दिन की सीमाओं में दिलचस्पी

---

[1] "१२ वर्ष से कम उम्र के किसी बच्चे से किसी भी कारख़ाने में १० घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा।" (*"General Statutes of Massachusetts"* ['मैस्साचुसेट्स के सामान्य परिनियम'], ६३, अध्याय १२।) (ये परिनियम १८३६ और १८५८ के बीच पास हुए थे।) "तमाम सूती, ऊनी व रेशमी मिलों में, काग़ज, कांच और सन के कारख़ानों में या लोहे और पीतल की फ़ैक्टरियों में १० घण्टे की अवधि तक किया गया श्रम क़ानून की नजरों में दिन भर का श्रम समझा जायेगा। और आज से यह क़ानून भी लागू होगा कि किसी भी फ़ैक्टरी में किसी नाबालिग़ से १० घण्टे रोजाना या ६० घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं लिया जायेगा और आज से इस राज्य के किसी भी कारख़ाने में किसी ऐसे नाबालिग़ को काम करने की इजाजत नहीं होगी, जो १० वर्ष से कम उम्र का हो।" (*"State of New Jersey. An Act to limit the hours of labour, etc."* ['न्यू जर्सी राज्य का श्रम के घण्टों को सीमित करने वाला क़ानून, इत्यादि'], धारा १ और २। ११ मार्च १८५१ को बनाया गया क़ानून।) "जिस नाबालिग़ की उम्र १२ वर्ष की हो गयी है, पर अभी १५ वर्ष से कम है, उससे किसी भी कारख़ाने में ११ घण्टे रोजाना से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा और न ही उससे ५ बजे सुबह के पहले और ७.३० बजे शाम के बाद काम कराया जायेगा।" (*"Revised Statutes of the State of Rhode Island, &c."* ['रहोड द्वीप के राज्य की संशोधित परिनियमावली, इत्यादि'], अध्याय १३९, धारा २३, १ जुलाई १८५७।)

[2] *"Sophisms of Free Trade"* ('स्वतंत्र व्यापार के कूट-तर्क'), ७ वां संस्करण, London, 1850, पृ० २०५; ९ वां संस्करण, पृ० २५३। इस अनुदार-दली लेखक ने इसके अलावा यह भी स्वीकार किया है कि "मजदूरी का नियमन करने के लिए बनाये गये संसद के क़ानून, जो मजदूर के ख़िलाफ़ पड़ते थे और मालिक के हक़ में थे, ४६४ वर्ष के लम्बे अर्से तक लागू रहे। इस बीच आबादी बढ़ गयी। तब ये क़ानून अनावश्यक बन गये और बोझा मालूम होने लगे।" (उप० पु०, पृ० २०६।)

है। वे १४९६ के (हेनरी सातवें के राज्य-काल में बनाये गये) परिनियम में भी निर्धारित की गयी थीं। इस परिनियम के अनुसार (जिसपर लेकिन अमल नहीं हो सका) मार्च से लेकर सितम्बर तक तमाम कारीगरों (artificers) और खेत-मजदूरों के लिये काम का दिन सुबह को ५ बजे से शुरू होकर रात को ७ और ८ बजे के बीच खतम होना चाहिये था। लेकिन खाने के लिये अधिक समय दिया गया था: १ घण्टा सुबह नाश्ते के लिये, $१\frac{१}{२}$ घण्टा भोजन के लिये और $\frac{१}{२}$ घण्टा तीसरे पहर के नाश्ते के लिये; यानी आजकल लागू फ़ैक्टरी-क़ानूनों में जितना समय खाने के लिये दिया गया है, उससे ठीक दुगुना समय दिया गया था।[1] जाड़ों में काम ५ बजे शुरू होकर दिन छिपे तक चलना चाहिये था और नाश्ते-खाने आदि के अवकाशों की व्यवस्था गरमियों के ही समान थी। १५६२ का एलिजाबेथ के राज्य-काल का एक परिनियम है, जो "रोजाना या हफ़्तेवार मजदूरी पर नौकर रखे गये" तमाम मजदूरों के काम के दिन की लम्बाई को तो नहीं छूता था, पर अवकाशों के समय को गरमियों में $२\frac{१}{२}$ घण्टे तक तथा जाड़ों में २ घण्टे तक सीमित कर देना चाहता था। इस परिनियम का कहना था कि भोजन का अवकाश केवल १ घण्टे का होना चाहिये और "तीसरे पहर को आधे का सोने का समय" केवल मई के मध्य से अगस्त के मध्य तक ही मजदूरों को दिया जाना चाहिये। अनुपस्थिति के हर एक घण्टे के लिये १ पेनी मजदूरी में से काट ली जानी चाहिये। लेकिन अमल में परिस्थितियां परिनियम की अपेक्षा मजदूरों के कहीं अधिक अनुकूल थीं। अर्थशास्त्र के जनक और कुछ हद तक सांख्यिकी के संस्थापक विलियम पेटी ने १७ वीं शताब्दी की अन्तिम तिहाई में प्रकाशित अपनी एक पुस्तिका में कहा था: "मजदूर (*"labouring men"*, जिसका मतलब उस वक़्त 'खेत-मजदूर' होता था) १० घण्टे रोजाना काम करते हैं और हर सप्ताह २० बार खाना खाते हैं, यानी काम के दिन ३ बार और इतवार को २ बार। इससे यह बात स्पष्ट है कि यदि वे शुक्रवार की रात को उपवास कर सकें और ग्यारह बजे से एक बजे तक दो घण्टे खाने में खर्च करने के बजाय डेढ़ घण्टे में खाना खा लिया करें, तो इस तरह वे $\frac{१}{२०}$ अधिक काम करेंगे और $\frac{१}{२०}$ कम खर्च करेंगे, जिससे उपर्युक्त

---

[1] इस परिनियम के बारे में जे० वेड ने सच ही कहा है: "(परिनियम के विषय में) उपर्युक्त वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि १४९६ में भोजन का ख़र्च कारीगर की एक तिहाई आमदनी और खेत-मजदूर की आधी आमदनी के बराबर समझा जाता था, जिससे मालूम होता है कि उन दिनों मजदूरों में आजकल की अपेक्षा अधिक स्वाधीनता थी। कारण कि आजकल तो मजदूरों और कारीगरों दोनों की मजदूरी का उससे कहीं बड़ा भाग खाने पर ख़र्च हो जाता है।" (J. Wade, *"History of the Middle and Working Classes"* [जे० वेड, 'मध्य वर्ग तथा मजदूर वर्ग का इतिहास'], तीसरा संस्करण, London, 1835. पृ० २४, २५, ५७७।) कुछ लोगों का मत है कि यह अन्तर इस बात के कारण है कि उन दिनों खाने और पहनने की चीज़ों के दामों के बीच कोई और सम्बंध था और आजकल कोई और सम्बंध है। पर यह मत कितना निराधार है, यह *"Chronicon Preciosum, etc."* पर एक नजर डालते ही मालूम हो जाता है। देखिये Bishop Fleetwood द्वारा लिखित यह पुस्तक, पहला संस्करण, London, 1707; दूसरा संस्करण, London, 1745.

(कर) वसूल किया जा सकेगा।"[1] जब डा० एण्ड्रयू उरे ने १८३३ के १२ घण्टे के बिल की निन्दा की थी और कहा था कि यह हमें अंधकार-युग की ओर लौटाकर ले जाने वाला क़दम है, तब उन्होंने क्या सही बात नहीं कही थी? यह सच है कि पेटी ने जिस परिनियम का ज़िक्र किया है, उसकी धाराएं "apprentices" (शागिर्दों) पर भी लागू होती थीं। लेकिन १७ वीं सदी के अन्त में भी बच्चा-मजदूरों की क्या हालत थी, यह नीचे लिखी शिकायत से साफ़ हो जाता है: "जैसा हमारे यहां, इस राज्य में, चलन है कि शागिर्द को सात बरस के लिये बांध दिया जाता है, वैसा उन लोगों के यहां (जर्मनी में) चलन नहीं है। वहां तीन या चार साल ही आम तौर पर काफ़ी समझे जाते हैं। और इसका कारण यह है कि वहां लोगों को पैदा होने के समय से ही अपने पेशे की कुछ न कुछ शिक्षा मिलती रहती है, जिससे वे लोग काम के ज्यादा लायक़ हो जाते हैं और उनमें शिक्षा पाने की क्षमता आ जाती है। इसलिये वे ज्यादा जल्दी परिपक्व हो जाते हैं और अपने धंधे में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत, यहां, इंगलैण्ड में, हमारे नौजवानों को शागिर्द की तरह भर्ती होने के पहले किसी चीज़ की शिक्षा नहीं दी जाती और इसलिये वे बहुत ही धीमी गति से प्रगति करते हैं और उस्तादों के दर्जे तक पहुंचने में उनको कहीं अधिक समय लग जाता है।"[2]

फिर भी, १८ वीं सदी के अधिकांश तक, यानी आधुनिक उद्योगों तथा मशीनों का युग शुरू होने तक, इंगलैण्ड में पूंजी श्रम-शक्ति का साप्ताहिक मूल्य देकर मजदूर के पूरे सप्ताह पर क़ब्ज़ा

---

[1] W. Petty, "*Political Anatomy of Ireland*" (विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'), 1672; १६९१ का संस्करण, "*Verbum Sapienti*" शीर्षक एक परिशिष्ट, पृ० १०।

[2] "*A Discourse on the Necessity of Encouraging Mechanic Industry*" ('यांत्रिक उद्योग को बढ़ावा देने की आवश्यकता के सम्बंध में एक निबंध'), London, 1690, पृ० १३। मकोले ने, जिन्होंने कि ह्विगों तथा पूंजीपति-वर्ग के हित में इंगलैण्ड के इतिहास को तोड़-मरोड़ डाला है, कहा है: "समय से पहले ही बच्चों को काम में लगा देने की प्रथा... १७ वीं सदी में इतनी अधिक प्रचलित थी कि कारख़ानों की प्रणाली के विस्तार से मुक़ाबला करने पर वह लगभग अविश्वसनीय मालूम होती है। नोर्विच में, जो ऊनी कपड़े के व्यवसाय का मुख्य केन्द्र था, छः बरस के नन्हे बच्चे को भी मेहनत करने के योग्य समझा जाता था। उस ज़माने के कुछ लेखकों ने, जिनमें से कुछ बड़े ही दयावान व्यक्ति समझे जाते थे, इस बात का "exultation" ("बड़े गर्व") के साथ ज़िक्र किया था कि अकेले एक शहर में बहुत ही नन्ही उम्र के बच्चे-बच्चियां हर साल इतनी दौलत पैदा कर देते हैं, जो उनके अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक रक़म से १२,००० पौण्ड अधिक होती है। गुज़रे हुए ज़माने के इतिहास का हम जितना ध्यानपूर्वक अध्ययन करेंगे, उतना ही हम उन लोगों के मत के विरुद्ध होते जायेंगे, जिनका ख़याल है कि हमारे ज़माने में तरह-तरह की नयी सामाजिक बुराइयां पैदा हो गयी हैं... नयी केवल वह बुद्धि और यह मानवता हैं, जो इन बुराइयों की दवा का काम करती हैं।" ("*History of England*" ['इंगलैण्ड का इतिहास'], खण्ड १, पृ० ४१७।) मकोले इसके आगे यह और भी जोड़ सकते थे कि १७ वीं सदी के "अत्यन्त सहृदय" amis du commerce (व्यापार के मित्रों) ने इस बात पर "exultation" ("बड़ा गर्व") प्रकट किया है कि हालैण्ड के एक मुहताज-ख़ाने

करने में कामयाब नहीं हुई थी। खेतिहर मजदूर इसके अपवाद थे। यदि मजदूर चार दिन की मजदूरी से पूरे सप्ताह अपना खर्च चला लेते थे, तो इस कारण से वे यह जरूरी नहीं समझते थे कि बाक़ी दो दिन पूंजीपति के लिये काम किया करें। अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के एक दल ने पूंजी के हित में मजदूरों की इस हठधर्मी की बहुत ही तीव्र शब्दों में निन्दा की है। एक दूसरे दल ने मजदूरों का समर्थन किया है। मिसाल के लिये, *"Essay on Trade and Commerce"* ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध') के (पूर्व-उद्धृत) लेखक और पोस्टलेथवेट की बहस की ओर ध्यान दीजिये, जिनके व्यापार के शब्दकोष की उन दिनों वैसी ही ख्याति थी, जैसी आजकल मैककुलक और मैकग्रेगर की उसी जाति की रचनाओं की है।[1]

अन्य बातों के अलावा पोस्टलेथवेट ने कहा है: "हम इन टिप्पणियों को उस बहुत पिटी हुई बात का उल्लेख किये बिना समाप्त नहीं कर सकते, जो आजकल बहुत ज्यादा लोगों के

---

में एक चार वर्ष के बच्चे को नौकर रखा गया था, और "vertu mise en pratique" ("सद्गुणों के अभ्यास") का यह उदाहरण ऐडम स्मिथ के समय तक लिखी गयी मकोले के ढंग के सभी लेखकों की मानवतावादी रचनाओं में पर्याप्त समझा जाता था। यह सच है कि दस्तकारी की जगह पर हस्तनिर्माण का चलन शुरू होने पर बच्चों के शोषण के भी चिन्ह दिखाई देने लगे। इस तरह का शोषण कुछ हद तक किसानों में हमेशा पाया जाता था, और काश्तकार के कंधे पर रखा हुआ जुआ जितना भारी होता था, उतना ही इस प्रकार का शोषण बढ़ जाता था। इस दृष्टि से पूंजी की प्रवृति बिल्कुल साफ़ है, लेकिन इस प्रवृति के तथ्य अभी तक इतने कम हैं, जितने दो सिर वाले बच्चे। इसलिये "amis du commerce" ("व्यापार के मित्र") – भविष्यवक्ता – उनको ख़ास जिक्र के लायक़ समझते हैं, "exultation" ("बड़े गर्व") के साथ उनकी चर्चा करते हैं, और उनको ख़ुद अपने और आने वाले जमाने के लिये मिसाल के रूप में पेश करते हैं। इस ख़ुशामदी टट्टू और लच्छेदार बातें बनाने वाले स्कोटलैण्डवासी मकोले ने कहा है: "आजकल हम हर तरफ़ केवल प्रतिगमन की बातें सुनते हैं और केवल प्रगति की बातें देखते हैं।" क्या आंखें और ख़ास कर क्या कान पाये हैं आपने!

[1] मेहनत करने वालों पर तरह-तरह के आरोप लगाने वालों में सबसे अधिक गुस्सा *"An Essay on Trade and Commerce, containing Observations on Taxes, &c."* ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध, जिसमें कर-व्यवस्था आदि पर भी कुछ टिप्पणियां शामिल हैं'] (London, 1770) के उस गुमनाम लेखक को है, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। इस विषय पर यह लेखक अपनी पहले वाली पुस्तक *"Considerations on Taxes"* ['करों के विषय में कुछ विचार'] (London, 1765) में भी लिख चुका है। इसी प्रकार का एक लेखक पोलोनियस आर्थर यंग है, जो सांख्यिकी के नाम पर ऐसी-ऐसी बकवास करता है, जिसका जिक्र करना भी मुश्किल है। मजदूर-वर्ग के समर्थकों में सर्वप्रमुख हैं: जैकब वैण्डरलिण्ट, जिन्होंने *"Money Answers all Things"* ['मुद्रा सब चीजों का जवाब है'] (London, 1734) लिखी है; रेवरेंड नथेनियल फ़ोर्स्टर, डी० डी०, जिन्होंने *"An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions"* ['खाद्य-पदार्थों के मौजूदा ऊंचे दामों के कारणों की जांच'] (London, 1767) लिखी है; डा० प्राइस और ख़ास तौर पर पोस्टलेथवेट, जिन्होंने अपनी रचना *"Great Britain's Commercial Interest explained and improved"* ['ग्रेट ब्रिटेन का व्यापारिक हित किस बात में है और उसे कैसे आगे

मुंह से सुनाई देने लगी है। वह यह कि यदि मेहनत करने वाले ग़रीब लोगों (industrious poor) को पांच दिन काम करके ही जीवन-निर्वाह के लायक़ पैसे मिल जाते हैं, तो वे पूरे छः दिन काम नहीं करेंगे। और इससे ये लोग यह नतीजा निकालते हैं कि जो चीज़ें जीवन के लिये बिल्कुल आवश्यक हैं, उनको भी कर लगाकर या किसी और तरीक़े से महंगा बना देना चाहिये, जिससे मेहनत करने वाला दस्तकार और कारीगर हफ़्ते में पूरे छः रोज़ लगातार मेहनत करने के लिये मजबूर हो जाय। मैं उन महान राजनीतिज्ञों की भावना से भिन्न भावना रखने की इजाज़त चाहता हूं, जो इस राज्य के मेहनतकश लोगों को सदा ग़ुलामी में ("the perpetual slavery of the working people") रखने की कोशिश कर रहे हैं। ये लोग उस आम कहावत को भूल जाते हैं कि "all work and no play" (यदि चौबीस घण्टे काम किया जाये और मनोरंजन न हो, तो दिमाग़ कुन्द हो जाता है)। क्या अंग्रेज़ लोगों को अपने दस्तकारों और कारीगरों की उस होशियारी और उस महारत पर घमण्ड नहीं रहा है, जिसकी वजह से इंगलैण्ड में बना हर तरह का माल इतना नाम पैदा करने और इतनी साख क़ायम करने में कामयाब हुआ है? इस होशियारी और इस महारत की क्या वजह है? इसकी सम्भवतया इसके सिवा और कोई वजह नहीं थी कि यहां के मेहनत करने वाले अपने ढंग से अपना मनोरंजन और विश्राम कर लेते हैं। यदि उनसे साल में बारहों महीने और हफ़्ते में पूरे छः दिन लगातार मेहनत करायी जाती और बार-बार एक सा काम लिया जाता, तो क्या उनकी सारी होशियारी कुन्द न पड़ जाती और क्या वे सदा मुस्तैद रहने और दक्षता का परिचय देने के बजाय सुस्त और बुद्धू न बन जाते? और सदा के लिये ऐसी ग़ुलामी में फंस जाने पर क्या हमारे कारीगरों की सारी ख्याति क़ायम रहने के बजाय नष्ट न हो जाती?..और ऐसे कोल्हू के बैलों (hard-driven animals) से हम कैसी कारीगरी की उम्मीद कर सकते थे?.. अंग्रेज़ मज़दूरों में से बहुत से चार दिनों में उतना काम कर डालते हैं, जितना एक फ़्रांसीसी मज़दूर पांच या छः दिन में करेगा। परन्तु यदि अंग्रेज़ों को सदा ग़ुलामों की तरह काम में जुते रहना है, तो हमें डर है कि फ़्रांसीसियों की तुलना में भी शारीरिक दृष्टि से उनका पतन हो जायेगा। हमारे लोग युद्ध में वीरता के लिये प्रसिद्ध हैं। पर क्या हम यह नहीं कहते कि इसका कारण यह है कि उनके पेट में इंगलैण्ड का बढ़िया भुना हुआ गाय का गोश्त और पुडिंग होते हैं और उनके दिल में अंग्रेज़ों की वैधानिक स्वतंत्रता की भावना होती है? और तब क्या यह सम्भव नहीं है कि हमारे दस्तकारों और कारीगरों के होशियारी और महारत में औरों से बेहतर होने की यह वजह हो कि उनको अपने जीवन की ख़ुद व्यवस्था करने की स्वाधीनता और आज़ादी मिली हुई है? और मैं आशा करता हूं कि हम यह अधिकार और वह अच्छा जीवन उनसे कभी न छीनेंगे, जो न केवल उनकी वीरता का, बल्कि उनकी दक्षता और चतुरता का भी स्रोत हैं।"[1]

*"Essay on Trade and Commerce"* ('व्यापार तथा वाणिज्य पर एक निबंध') के लेखक ने इसका यह जवाब दिया है:

---

बढ़ाया जाये'] (दूसरा संस्करण, London, 1755) की तरह *"Universal Dictionary of Trade and Commerce"* ('व्यापार और वाणिज्य का सार्वभौमिक कोष') के परिशिष्ट में भी इस विषय की चर्चा की है। ख़ुद तथ्यों की सचाई का प्रमाण हमें अन्य बहुत से लेखकों से मिल जाता है, जिनमें जोसिया टुकर शामिल हैं।

[1] Postlethwayt, उप० पु०, *"First Preliminary Discourse"* ('पहला प्रारम्भिक निबन्ध'), पृ० १४।

"यदि हर सातवें दिन को छुट्टी का दिन मानना एक ईश्वरीय विधान है, तो चूंकि उसका मतलब यह भी होता है कि बाक़ी छः दिन मेहनत के" (जैसा कि हम बाद को देखेंगे, उसका मतलब है पूंजी के) "दिन माने जाने चाहियें, इसलिये आशा की जाती है कि इस नियम को लागू करने में कोई बेरहमी की बात नहीं समझी जायेगी... यह बात हम कल-कारखानों में काम करने वाली आबादी के अपने दुखद अनुभव से जानते हैं कि इनसान में आम तौर पर आराम-तलबी और काहिली की प्रवृत्ति होती है। जब तक खाने-पीने की चीजें बहुत ज्यादा महंगी नहीं हो जातीं, तब तक ये लोग औसतन हफ्ते में चार दिन से ज्यादा काम नहीं करते... ग़रीबों के लिये जितनी चीजें जरूरी हैं, उन सबको एक मद में मान लीजिये; मिसाल के लिये, उन सब को गेहूं कह लीजिये, या मान लीजिये कि...एक बुशल गेहूं की क़ीमत ५ शिलिंग है और वह (एक कारीगर) अपनी दिन भर की मेहनत से १ शिलिंग कमाता है। ऐसी हालत में उसे सप्ताह में केवल पांच दिन काम करना पड़ेगा। यदि एक बुशल गेहूं की क़ीमत महज चार शिलिंग रह जाये, तो उसको केवल चार दिन काम करना पड़ेगा। लेकिन चूंकि इस राज्य में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के दामों की अपेक्षा मजदूरी की दरें कहीं अधिक ऊंची हैं,... इसलिये जो कारीगर चार दिन मेहनत करता है, उसके पास इतनी अतिरिक्त मुद्रा हो जाती है कि हफ्ते के बाक़ी दिन वह लोट लगा सकता है... मैं आशा करता हूं कि मैंने यह प्रमाणित करने के लिए काफ़ी तर्क दे दिये हैं कि हफ्ते में छः दिन औसत दर्जे की मेहनत करना ग़ुलामी नहीं है। हमारे खेत-मजदूर यही करते हैं, और जहां तक कोई देख सकता है, हमारे देश में जितने भी मेहनत करने वाले ग़रीब लोग (labouring poor) हैं, उनमें खेत-मजदूर सबसे ज्यादा सुखी हैं।[1] लेकिन डच लोगों के देश में कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूर भी इतनी ही मेहनत करते हैं और बहुत सुखी प्रतीत होते हैं। फ़्रांसीसी लोग छुट्टियों को छोड़कर ही इतनी मेहनत करते हैं...[2] लेकिन हमारे देश के लोगों ने अपना यह विचार बना लिया है कि अंग्रेज होने के कारण उनको योरप के और किसी भी देश के निवासियों से अधिक स्वतंत्र और आज़ाद रहने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है। अब इस विचार से हमारे सैनिकों की वीरता पर जो अच्छा प्रभाव पड़ता है, वहां तक वह कुछ लाभप्रद हो सकता है, पर हमारे कल-कारखानों में काम करने वाले ग़रीबों के दिमाग़ों में यह विचार जितना कम स्थान पायेगा, खुद उनका और राज्य का उतना ही अधिक हित होगा। मेहनतकशों को अपने से बड़ों से खुद को स्वतंत्र ("independent of their superiors") नहीं मानना चाहिये... हमारे जैसे एक व्यापारी देश में, जहां आठ में से सात हिस्से आबादी उन लोगों की है, जिनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है और यदि है, तो नाम-मात्र के लिये, भीड़ को दबका

---

[1] *"An Essay, &c."* ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबन्ध, इत्यादि'), London, 1770। लेखक ने इसी पुस्तिका के पृ० ९६ पर खुद यह बताया है कि १७७० में इंगलैण्ड के खेत-मजदूरों का "सुख" किन-किन बातों में निहित था। उसी के शब्दों में, "उनकी शक्तियां ("their powers") हमेशा तनी रहती ("upon the stretch") हैं; वे जितने कम पैसों में अपनी गुजर-बसर करते हैं, उनसे कम पैसों में गुजर करना असम्भव है ("they cannot live cheaper than they do"); वे जितनी सख़्त मेहनत करते हैं, उससे ज्यादा मेहनत करना नामुमकिन है ("nor work harder")।"

[2] लगभग सभी परम्परागत छुट्टियों को काम के दिनों में बदलकर प्रोटेस्टेंट मत पूंजी की उत्पत्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

देना बहुत ही ज्यादा ख़तरनाक बात है... जब तक हमारे कल-कारख़ानों में काम करने वाले ग़रीब लोग उसी रक़म के एवज़ में, जो आजकल वे चार दिन में कमाते हैं, छः दिन तक मेहनत करने के लिये राज़ी नहीं हो जायेंगे, तब तक इस रोग का पूर्ण उपचार नहीं हो पायेगा।"[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये और "आलसीपन, अय्याशी और ज्यादती" का नाश करने, उद्योग की भावना को बढ़ावा देने, "हमारे देश के कारख़ानों में श्रम के दाम को कम करने और ज़मीनों को ग़रीबों के भरण-पोषण के लिये लगाये गये करों के भारी बोझे से मुक्त करने के लिये" पूंजी के हमारे इस वफ़ादार समर्थक ने एक आज़माया हुआ तरीक़ा सुझाया है: वह यह कि जिन मज़दूरों का सार्वजनिक ख़र्चे से भरण-पोषण होने लगे, या, संक्षेप में, जो मज़दूर कंगाल हो जायें, उनको पकड़कर "एक आदर्श मुहताज-ख़ाने" (an ideal workhouse) में बन्द कर दिया जाये। यह आदर्श मुहताज-ख़ाना ग़रीबों के लिए आश्रय लेने का स्थान नहीं होगा, "जहां उनको ख़ूब डटकर भोजन मिलेगा, बढ़िया-बढ़िया गरम कपड़े पहनने को मिलेंगे और जहां उनको नहीं के बराबर काम करना पड़ेगा,"[2] बल्कि उसे एक "आतंक-गृह" (house of terror) के रूप में बनाया जायेगा। इस "आतंक-गृह" में, इस "आदर्श मुहताज-ख़ाने में ग़रीब लोग १४ घण्टे रोज़ काम करेंगे, जिसमें से कुछ समय भोजन आदि के लिये छोड़ दिया जायेगा, मगर इस बात का ख़याल रखा जायेगा कि हरेक को कम से कम १२ घण्टे की ठोस मेहनत ज़रूर करनी पड़े।"[3]

१७७० के इस आदर्श मुहताज-ख़ाने में, इस "आतंक-गृह" में बारह घण्टे रोज़ाना काम कराने की बात थी! इसके ६३ वर्ष बाद, १८३३ में, जब इंगलैण्ड की संसद ने उद्योग की चार शाखाओं में १३ वर्ष से लेकर १८ वर्ष तक के बच्चों का काम का दिन घटाकर पूरे १२ घण्टे का कर दिया, तो ऐसा शोर मचा, जैसे इंगलैण्ड के उद्योगों के लिये प्रलय का दिन आ गया हो! १८५२ में, जब लुई बोनापार्ट ने पूंजीपति-वर्ग के बीच अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिये काम के क़ानूनी दिन को लम्बा करने की कोशिश की, तो फ़्रांस के लोगों ने एक आवाज़ से चिल्लाकर यह कहा कि "प्रजातंत्र के क़ानूनों में से अब केवल एक ही अच्छा क़ानून बचा है, और वह है काम के दिन की सीमा १२ घण्टे निश्चित करने वाला क़ानून!"[4] ज़्यूरिच में १० वर्ष से अधिक उम्र के बच्चों को १२ घण्टे से अधिक काम नहीं

[1] "*An Essay*, &c." ('व्यापार तथा वाणिज्य पर एक निबंध, इत्यादि'), London, 1770, पृ० १५, ४१, ९६, ९७, ५५, ५७, ६९।– जैकब वैण्डरलिण्ट ने १७३४ में ही यह कह दिया था कि मेहनतकशों की काहिली के बारे में पूंजीपति जो इतना शोर मचाते हैं, उसकी असली वजह यह है कि वे लोग मज़दूरों से उसी मज़दूरी में ४ के बजाय ६ दिन की मेहनत करा लेना चाहते हैं।

[2] उप० पु०, पृ० २४२।

[3] उप० पु०। लेखक का कहना है कि "स्वाधीनता के हमारे उत्साह भरे विचारों पर फ़्रांसीसी लोग हंसते हैं।" (उप० पु०, पृ० ७८।)

[4] "वे लोग ख़ास तौर पर १२ घण्टे रोज़ाना से ज़्यादा काम करने पर ऐतराज़ करते थे, क्योंकि प्रजातंत्र के क़ानूनों में से अब एक ही अच्छा क़ानून उनके पास बचा है, और वह है काम के इन घण्टों को नियत करने वाला क़ानून।" ("*Rep.of Insp. of Fact.*, 31st October, 1856" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० ८०।') फ़्रांस का

करने दिया जाता। भारगौ में १३ वर्ष और १६ वर्ष के बीच की उम्र के बच्चों के काम का समय १८६२ में $१२\frac{१}{२}$ घण्टे से घटाकर १२ घण्टे कर दिया गया था। आस्ट्रिया में १४ वर्ष से १६ वर्ष तक के बच्चों का काम का समय १८६० में $१२\frac{१}{२}$ घण्टे से १२ घण्टे कर दिया गया।[1] इसपर शायद मकोले "exultation" (गर्वोल्लास) से चिल्लाकर कहेंगे: वाह! १७७० से अब तक "कितनी जबर्दस्त प्रगति" हुई है!

१७७० की पूंजीवादी आत्मा कंगालों के लिये जिस "आतंक-गृह" का केवल सपना देखा करती थी, वह उसके चन्द साल बाद खुद औद्योगिक मजदूरों के लिये एक विराट "मुहताज-खाने" के रूप में चरितार्थ हो गया। इस "मुहताज-खाने" का नाम है "फ़ैक्टरी"। और इस बार आदर्श वास्तविकता के सामने फीका पड़ गया था।

## अनुभाग ६—काम का सामान्य दिन प्राप्त करने का संघर्ष। काम के समय का क़ानून द्वारा अनिवार्य रूप से सीमित कर दिया जाना। इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-क़ानून—१८३३ से १८६४ तक

काम के दिन को बढ़ाकर उसकी सामान्य अधिकतम सीमा तक और फिर उससे भी आगे, १२ घण्टे के प्राकृतिक दिन की सीमा तक, ले जाने में पूंजी को कई शताब्दियों का समय लग गया।[2] उसके बाद, १८ वीं सदी की अन्तिम तिहाई में, मशीनों की तथा आधुनिक उद्योग-

---

५ सितम्बर १८५० का बारह घण्टे का बिल, जो २ मार्च १८४८ की अस्थायी सरकार के एक फ़रमान का पूंजीवादी संस्करण है, बिना किसी अपवाद के सभी कारख़ानों पर लागू है। इस क़ानून के पहले फ़्रांस में काम के दिन की कोई निश्चित सीमा नहीं थी। फ़ैक्टरियों में १४ घण्टे, १५ घण्टे या उससे भी ज्यादा देर तक काम कराया जाता था। देखिये "*Des classes ouvrières en France, pendant l'année 1848. Par M. Blanqui*"। यह अर्थशास्त्री ब्लांक्वी हैं, क्रान्तिकारी ब्लांक्वी दूसरे थे। इन सज्जन को सरकार ने मजदूर-वर्ग की हालत की जांच करने का काम सौंपा था।

[1] काम के दिन के नियमन के मामले में बेल्जियम आदर्श पूंजीवादी राज्य है। ब्रसेल्स में इंगलण्ड के राजदूत वेल्डेन के लार्ड होवर्ड ने १२ मई १८६२ को Foreign Office (विदेश सचिवालय) को यह रिपोर्ट भेजी थी कि "मोशिये रोजर नामक मंत्री ने मुझे बताया है कि उनके देश में बच्चों के श्रम पर न तो किसी सामान्य क़ानून ने कोई सीमा लगा रखी है और न किसी स्थानीय क़ानून ने। उन्होंने मुझे बताया कि पिछले तीन वर्ष से सरकार संसद के प्रत्येक अधिवेशन में इस विषय का एक बिल पेश करने की सोचती आयी है, पर श्रम की अनियंत्रित स्वतंत्र के सिद्धान्त से टकराने वाले किसी भी बिल का इतना जबर्दस्त विरोध होता है कि उसके सामने सरकार कुछ नहीं कर सकती।"

[2] "यह निश्चय ही बड़े दुःख की बात है कि किसी भी वर्ग को १२ घण्टे रोज़ाना मेहनत करनी पड़े। इसमें यदि भोजन का समय और घर से कारख़ाने तक आने-जाने का समय और

धंधों की उत्पत्ति होते ही काम के दिन को बढ़ाने के लिये ऐसी भयानक नोच-खसोट शुरू हुई कि लगता था, जैसे हिमशिलास्खलन हो रहा हो। नैतिकता और प्रकृति की सारी सीमाएं, आयु और लिंग-भेद के तमाम बंधन और दिन और रात की तमाम हदें तोड़ दी गयीं। यहां तक कि दिन और रात की धारणाएं, जो पुराने परिनियमों में ग्रामीण जीवन की भांति सरल थीं, आपस में इतनी उलझ गयीं कि १८६० तक किसी भी अंग्रेज जज को "न्यायिक दृष्टि से" यह निर्णय करने में कि दिन क्या है और रात क्या है, सुलेमानी बुद्धि की जरूरत होती थी।[1] इस काल में पूंजी ने जी भर अपना विजयोत्सव मनाया।

उत्पादन की इस नयी व्यवस्था के शोर-शराबे से मजदूर-वर्ग हतप्रभ होकर रह गया था। जब उसे कुछ होश आया, तो उसका प्रतिरोध आरम्भ हुआ। सबसे पहले बड़े पैमाने पर मशीनों के प्रयोग की मातृभूमि – इंगलैण्ड – में यह प्रतिरोध शुरू हुआ। लेकिन ३० वर्ष तक मेहनतकश जनता जितनी भी रियायतें पाने में कामयाब हुई, वे सब नाम मात्र की थीं। १८०२ और १८३३ के बीच संसद ने मजदूरों के सम्बंध में ५ क़ानून पास किये, लेकिन उसने यह चतुराई दिखायी कि इन क़ानूनों को अमल में लाने के लिये, उसके लिये आवश्यक अफ़सरों को तनख़ाह आदि देने के लिये उसने एक पेनी का भी ख़र्च मंजूर नहीं किया।[2]

---

जोड़ दिया जाये, तो उसका असल में यह मतलब होता है कि इन लोगों को २४ घण्टे में से १४ घण्टे काम के लिये ख़र्च कर देने पड़ते हैं ... मजदूरों के स्वास्थ्य के प्रश्न पर न विचार करते हुए भी, मैं समझता हूं, यह मानने में किसी को भी हिचकिचाहट न होगी कि नैतिक दृष्टिकोण से यह बात बहुत ही हानिकारक और बहुत ही शोचनीय है कि १३ वर्ष की उम्र से ही – और जिन धंधों पर कोई क़ानूनी प्रतिबंध नहीं है, उनमें तो और भी कम उम्र से – मेहनतकश वर्गों का सारा समय हड़प लिया जाता है और उनको बीच में जरा भी छुट्टी नहीं मिलती ... इसलिये सार्वजनिक नैतिकता की रक्षा के लिये, देशवासियों को व्यवस्था-प्रिय बनाने के लिये और साधारण जनता को जीवन का थोड़ा आनन्द देने के लिये यह बहुत जरूरी है कि सभी धंधों में काम के प्रत्येक दिन का कुछ भाग आराम और अवकाश के लिये सुरक्षित रहे।" (*"Reports of Insp. of Fact. for 31st Dec., 1841"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ दिसम्बर १८४१'], लेग्रोनार्ड होर्नर की रिपोर्ट।)

[1] देखिये *"Judgement of Mr. J. H. Otway, Belfast. Hilary Sessions, County Antrim, 1860"* ('बेलफ़ास्ट के मि० जे० एच० ओटवे का फ़ैसला। एण्ट्रिम काउंटी की हिलारी सेशन अदालत, १८६०')।

[2] पूंजीवादी बादशाह लुई फ़िलिप के शासन पर इस बात से काफ़ी प्रकाश पड़ता है कि उसके राज्य-काल में जो एक फ़ैक्टरी-क़ानून पास हुआ, यानी २२ मार्च १८४१ का क़ानून, वह कभी अमल में नहीं लाया गया। और यह क़ानून केवल बच्चों के श्रम से सम्बंध रखता था। उसमें ८ वर्ष से १२ वर्ष तक के बच्चों के लिये ८ घण्टे रोज की सीमा, १२ वर्ष से १६ वर्ष तक के बच्चों के लिये १२ घण्टे रोज की सीमा और इसी प्रकार अन्य सीमाएं निश्चित की गयी थीं। साथ ही अनेक अपवादों के लिये स्थान रखा गया था, जिनके मातहत ८ वर्ष के बच्चों से भी रात को काम लेने की इजाजत मिल जाती थी। एक ऐसे देश में, जहां हर चूहे को पुलिस की निगरानी में रहना पड़ता है, इस क़ानून को अमल में लाने और उसकी देखरेख करने का काम "amis du commerce" ("व्यापार के मित्रों") की सद्भावना के

ये पांचों क़ानून कभी अमल में नहीं आये। "सच तो यह है कि १८३३ के क़ानून के पहले लड़के-लड़कियों और बच्चों से सारा दिन, सारी रात और ad libitum (इच्छा होने पर) दिन को भी और रात को भी लगातार काम कराया जाता था ("were worked")।"[1]

आधुनिक उद्योग-धंधों में काम का सामान्य दिन केवल १८३३ के फ़ैक्टरी-क़ानून के लागू होने पर जारी हुआ। यह क़ानून सूती, ऊनी, रेशमी तथा सन का कपड़ा तैयार करने वाली फ़ैक्टरियों पर लागू किया गया था। पूंजी की भावना पर १८३३ से १८६४ तक के इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-क़ानूनों के इतिहास से जितना प्रकाश पड़ता है, उतना और किसी चीज़ से नहीं पड़ता।

१८३३ के क़ानून में फ़ैक्टरियों के काम का साधारण दिन सुबह को साढ़े पांच बजे से रात के साढ़े आठ बजे तक नियत किया गया है। इन सीमाओं के भीतर, यानी १५ घण्टे की इस अवधि में, लड़के-लड़कियों से (अर्थात १३ वर्ष से १८ वर्ष तक के व्यक्तियों से) किसी भी समय काम कराया जा सकता है, बशर्ते कि किसी भी लड़के या लड़की को किसी एक दिन १२ घण्टे से ज्यादा काम न करना पड़े। इस नियम के कुछ अपवाद भी निश्चित कर दिये गये हैं। क़ानून की छठी धारा में कहा गया था: "ऐसे हर व्यक्ति को, जिसपर उपर्युक्त प्रतिबंध लगे हैं, हर रोज़ कम से कम डेढ़ घण्टे का समय भोजन आदि के लिये दिया जायेगा।" कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका बाद में ज़िक्र आयेगा, ६ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से काम लेने की मनाही कर दी गयी थी। ६ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों के काम के समय पर ८ घण्टे रोज़ की सीमा लगा दी गयी थी। इस क़ानून के अनुसार, रात के ८.३० बजे से सुबह के ५.३० बजे तक जो काम होता था, वह रात का काम माना जाता था। ६ वर्ष से १८ वर्ष तक के तमाम व्यक्तियों से रात का काम लेना मना था।

क़ानून बनाने वाले वयस्कों की श्रम-शक्ति का शोषण करने की पूंजी की स्वतंत्रता में या, यदि उन्हीं के दिये हुए नाम का प्रयोग किया जाये, तो "श्रम की स्वतंत्रता" में ज़रा सा भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। उनको इसका इतना अधिक ख़याल था कि उन्होंने इसके लिये एक पूरी व्यवस्था रच डाली थी कि फ़ैक्टरी-क़ानूनों का कोई ऐसा भयंकर परिणाम न होने पाये। २८ जून १८३३ की कमीशन के केन्द्रीय बोर्ड की पहली रिपोर्ट में कहा गया है कि "फ़ैक्टरी-व्यवस्था का इस समय जिस प्रकार संचालन हो रहा है, उसका सबसे बड़ा दोष हमें यह लगा है कि उसमें बच्चों से भी वयस्कों के बराबर समय तक काम कराया जाता है। यदि वयस्कों के श्रम पर सीमा लगाने का विचार छोड़ दिया जाये, जिसके फलस्वरूप, हमारी राय में, जिस बुराई को हम दूर करने की कोशिश कर रहे हैं, उससे भी बड़ी बुराई पैदा हो जायेगी, तो इस बुराई को दूर करने का केवल एक यही उपाय बचता है कि बच्चों की दो पालियां बनाकर उनसे काम लेने की योजना तैयार की जाये..." चुनांचे *"System of Relays"*

---

भरोसे छोड़ दिया गया था। कहीं १८५३ में जाकर सरकार से तनख़ाह पाने वाले एक इंस्पेक्टर की नियुक्ति की गयी, और वह भी केवल एक ज़िले में — यानी Département du Nord (नोर्ड के ज़िले) में। फ़्रांसीसी समाज के विकास पर इस बात से भी कम प्रकाश नहीं पड़ता कि फ़्रांस में लगभग हर सवाल पर जो अनेक क़ानून बनाये गये, उनमें १८४८ की क्रान्ति तक लुई फ़िलिप का यह क़ानून ही एक मात्र फ़ैक्टरी-क़ानून था।

[1] *"Reports of Insp. of Fact.*, 30th April, 1860" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६०'), पृ, ५०।

('पालियों की व्यवस्था') के नाम से यह "योजना" अमल में लायी गयी। मिसाल के लिये, सुबह के ५.३० बजे से दोपहर के १.३० बजे तक ६ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों की एक पाली से काम लिया जाने लगा और दोपहर के १.३० बजे से रात के ८.३० बजे तक एक दूसरी पाली से।

बच्चों के काम के सम्बंध में पिछले बाईस वर्ष में जितने क़ानून पास हुए थे, कारख़ानेदारों ने बेशर्मी से उन सबकी अवहेलना की थी। इसके इनाम के तौर पर कड़वी गोली पर और चीनी चढ़ायी गयी, ताकि वह उनको पसन्द आये। संसद ने फ़ैसला कर दिया कि १ मार्च १८३४ के बाद ११ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा, १ मार्च १८३५ के बाद १२ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा और १ मार्च १८३६ के बाद १३ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा किसी फ़ैक्टरी में आठ घण्टे रोज़ाना से ज़्यादा काम नहीं कर पायेगा। यह "उदारतावाद", जिसमें "पूंजी" का इतना अधिक ख़याल रखा गया था, इसलिए और भी उल्लेखनीय है कि डा० फ़ार्रे, सर ए० कार्लिस्ल, सर बी० ब्रोडी, सर एस० बेली, मि० गथरी आदि – लन्दन के सबसे अधिक प्रतिष्ठित physicians (डाक्टरों) और surgeons (सर्जनों) – ने हाउस आफ़ कामन्स के सामने बयान देते हुए कहा था कि इस मामले में देर करना ख़तरनाक है। डाक्टर फ़ार्रे ने तो बहुत ही दो टूक बात कही थी: "लोगों को असमय मार डालने के लिए जो भी तरीक़ा इस्तेमाल किया जाये, उसे रोकने के लिए क़ानून बनाना ज़रूरी है। और इसे (फ़ैक्टरियों की प्रणाली को) निश्चय ही लोगों को समय से पहले मार डालने का सबसे अधिक निर्दयतापूर्ण तरीक़ा माना जाना चाहिये।"

जिस "सुधरी हुई" संसद ने कारख़ानेदारों के हितों का ख़याल रखने में बहुत नज़ाकत दिखाते हुए १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को आगामी वर्षों में हर सप्ताह ७२ घण्टे फ़ैक्टरी के नरक में पिसने की सज़ा दी थी, उसी ने, दूसरी ओर, अपने मुक्ति-क़ानून के ज़रिये, जो इसी प्रकार बूंद-बूंद करके लोगों को आज़ादी का रस पिलाता था, बाग़ानों के मालिकों पर शुरू से ही यह प्रतिबंध लगा दिया कि वे किसी हबशी ग़ुलाम से ४५ घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं ले सकते।

परन्तु पूंजी को इस सब से संतोष नहीं हुआ था। उसने ख़ूब शोर-शराबे के साथ आन्दोलन शुरू किया, जो कई बरस तक चलता रहा। यह आन्दोलन ख़ास तौर पर उन लोगों की उम्र के बारे में था, जो बच्चे समझे जाते थे और इसलिये जिनसे ८ घण्टे से ज़्यादा काम लेने की मनाही थी और जिनपर कुछ हद तक अनिवार्य शिक्षा के नियम भी लागू होते थे। पूंजीवादी मानव-विज्ञान का कहना था कि बचपन १० वर्ष में या हद से हद ११ वर्ष में ख़तम हो जाता है। फ़ैक्टरी-क़ानून के पूरी तरह अमल में आने का समय, यानी १८३६ का निर्णायक वर्ष जितना नज़दीक आता जाता था, कारख़ानेदारों की भीड़ उतनी ही अधिक पगलाती जाती थी। सच पूछिये, तो इन लोगों ने सरकार को डरा-धमकाकर यहां तक झुका लिया कि १८३५ में वह बचपन की सीमा को १३ वर्ष से घटाकर १२ वर्ष कर देने की सोचने लगी। पर इसी बीच pressure from without (बाहरी दबाव) ने और भयानक रूप धारण कर लिया था। हाउस आफ़ कामन्स की हिम्मत ने जवाब दे दिया। उसने १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ८ घण्टे से अधिक पूंजी के रथ के नीचे पिसने के लिये डालने से इनकार कर दिया, और १८३३ का क़ानून पूरी तरह अमल में आया। जून १८४४ तक उसमें कोई तबदीली नहीं हुई।

इस क़ानून ने फ़ैक्टरियों के काम का दस बरस तक नियमन किया – पहले आंशिक रूप से, फिर पूरी तरह। इन दस वर्षों में फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों ने जो रिपोर्टें सरकार को दीं, वे इस

बात की शिकायतों से भरी हुई हैं कि इस क़ानून को लागू करना असम्भव है। १८३३ के क़ानून ने यह बात पूंजी के मालिकों की मर्ज़ी पर छोड़ दी थी कि सुबह के ५.३० बजे से शाम के ८.३० बजे तक वे हर "युवा व्यक्ति" तथा हर "बच्चे" से उसका १२ घण्टे या ८ घण्टे का काम चाहे जिस समय शुरू करायें, चाहे जिस समय उसे बीच में रोक दें, चाहे जिस वक़्त उससे फिर काम करने को कहें और चाहे जिस वक़्त उसका काम समाप्त करा दें। इसी प्रकार उनको अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग समय पर भोजन की छुट्टी देने का भी अधिकार था। इस चीज़ से फ़ायदा उठाते हुए इन महानुभावों ने शीघ्र ही एक नयी "पालियों की प्रणाली" ("system of relays") खोज निकाली, जिसके अनुसार मेहनत करने वाले जानवरों को किन्हीं निश्चित नाकों पर नहीं बदला जाता था, बल्कि लोग इन्हें कभी इस नाके पर तो कभी उस नाके पर बार-बार काम में जोतते रहते थे। इस प्रणाली के सौंदर्य पर विचार करने के लिये अभी हमारे पास समय नहीं है। हम बाद में फिर इसकी चर्चा करेंगे। लेकिन पहली ही नज़र में एक बात साफ़ हो जाती है। वह यह कि इस नयी प्रणाली ने पूरे फ़ैक्टरी-क़ानून को उठाकर ताक़ पर रख दिया। यह प्रणाली न केवल इस क़ानून की भावना, बल्कि उसकी शब्दावली तक की अवहेलना करती थी। इस प्रणाली में हर बच्चे या हर युवा व्यक्ति के लिये बहुत ही पेचीदा ढंग का अलग हिसाब रखा जाता था। अब भला सोचिये कि ऐसी हालत में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर इस बात की कैसे जांच कर सकते थे कि हर मज़दूर से क़ानून द्वारा निश्चित सीमाओं के भीतर काम लिया जा रहा है या नहीं, और उसे क़ानून के अनुसार भोजन आदि के लिये पर्याप्त छुट्टी दी जाती है या नहीं? बहुत सी फ़ैक्टरियों में वे ही पुरानी बर्बरताएं फिर जारी हो गयीं, और उनको रोकने की या उनके लिये सज़ा देने की कोई तरकीब नहीं रही। सरकार के गृह-मंत्री से एक भेंट (१८४४) के दौरान में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने साबित किया कि पालियों की इस नव-आविष्कृत प्रणाली के जारी रहते मज़दूरों के काम पर किसी तरह का भी नियंत्रण रखना असम्भव है।[1] परन्तु इस बीच परिस्थितियां बहुत बदल गयी थीं। चुनाव के लिये फ़ैक्टरी-मज़दूरों ने जिस प्रकार चार्टर का नारा अपना मुख्य राजनीतिक नारा बना लिया था, उसी प्रकार, ख़ास तौर पर १८३८ के बाद से, १० घण्टे के बिल का नारा उन्होंने अपना मुख्य आर्थिक नारा बना लिया था। कुछ ऐसे कारख़ानेदारों ने भी संसद में आवेदन-पत्रों का ढेर लगा दिया था, जो १८३३ के क़ानून के अनुसार अपनी फ़ैक्टरियां चलाते आये थे और इसलिये जिन्होंने इन आवेदन-पत्रों में अपने उन बेईमान भाई-बिरादरों की अनैतिक प्रतियोगिता की शिकायतें की थीं, जो अधिक सीनाज़ोर होने के कारण या कुछ विशेष प्रकार की स्थानीय परिस्थितियों से लाभ उठाकर क़ानून तोड़ने में कामयाब हो गये थे। इसके अलावा, हर अलग-अलग कारख़ानेदार अपनी-अपनी जगह पर चाहे जैसे बेलगाम ढंग से अपने नफ़े के पुरातन लालच को पूरा करने में लगा हो, परन्तु कारख़ानेदारों के वर्ग के प्रवक्ताओं और राजनीतिक नेताओं ने उनको आदेश दिया कि अब से उनको अपने मज़दूरों के साथ एक नये ढंग से पेश आना चाहिये और उनसे एक नये ढंग से बातचीत करनी चाहिये। यह इसलिये कि कारख़ानेदारों के राजनीतिक नेता अनाज के क़ानूनों को रद्द कराने के संघर्ष में लगे हुए थे और उसमें विजय प्राप्त करने के लिये उनको मज़दूरों की सहायता की आवश्यकता थी। चुनांचे उन्होंने मज़दूरों से वायदा किया कि यदि स्वतंत्र व्यापार के स्वर्ण-युग की विजय हो गयी, तो न सिर्फ़ उनको

---

[1] "*Rept. of Insp. of Fact.*, 31st October, 1849" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४९') पृ० ६।

पहले से दुगुनी बड़ी डबल रोटी खाने को मिला करेगी, बल्कि दस घण्टे का बिल भी संसद में पास करा दिया जायेगा।[1] इसलिये, जब केवल १८३३ के क़ानून को असली रूप देने के लिये एक क़ानून बनाने का सुझाव सामने आया, तो कारख़ानेदारों को उसका विरोध करने की और भी कम हिम्मत हुई। अनुदार-दल के लोगों के सब से पवित्र अधिकार पर, यानी ज़मीन का लगान वसूल करने के अधिकार पर, चोट हो रही थी। अपने शत्रुओं की इन "नीच हरकतों"[2] को देखकर उनके हृदय परोपकारी क्रोध से भर गये और उन्होंने ख़ूब शोर मचाया।

७ जून १८४४ का अतिरिक्त फ़ैक्टरी-क़ानून इस तरह बना था। वह १० सितम्बर १८४४ को लागू हुआ। उससे मज़दूरों के एक नये हिस्से को, यानी १८ वर्ष से अधिक उम्र की औरतों को, संरक्षण प्राप्त हुआ। उनको हर बात में लड़के-लड़कियों के स्तर पर रख दिया गया। उनके काम के समय पर बारह घण्टे की सीमा लगा दी गयी, उनसे रात को काम लेने की मनाही कर दी गयी, इत्यादि। पहली बार क़ानून को वयस्कों के श्रम पर प्रत्यक्ष एवं सरकारी रूप से नियंत्रण लगाने के लिये बाध्य होना पड़ा। १८४४-४५ की फ़ैक्टरी-रिपोर्ट में व्यंग के साथ कहा गया है कि "वयस्क स्त्रियों के अधिकारों में इस प्रकार जो हस्तक्षेप किया गया है, उसपर उन्होंने कभी खेद प्रकट किया हो, ऐसा कोई उदाहरण मुझे अभी तक देखने को नहीं मिला है।"[3] १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के काम का समय घटाकर ६$\frac{१}{२}$ घण्टे और कुछ ख़ास परिस्थितियों में ७ घण्टे रोज़ कर दिया गया।[4]

"पालियों की इस खोटी प्रणाली" के दोषों को दूर करने के लिए इस क़ानून में अन्य नियमों के अलावा यह नियम भी रखा गया था कि "बच्चों और लड़के-लड़कियों के काम के घण्टे उस समय से गिने जायेंगे, जब कोई भी बच्चा या लड़की-लड़का सुबह को काम शुरू कर देगा।" चुनांचे, अगर 'क' नामक लड़का, मिसाल के लिये, सुबह को ८ बजे काम शुरू कर देता है और 'ख' १० बजे शुरू करता है, तो भी 'ख' का काम का दिन उसी समय समाप्त होगा, जिस समय कि 'क' का। इसके अलावा यह भी नियम बना दिया गया था कि "समय का हिसाब किसी सार्वजनिक घड़ी के अनुसार रखा जायेगा।" मिसाल के लिये, फ़ैक्टरी के पास में जो रेलवे की घड़ी हो, फ़ैक्टरी की घड़ी उससे मिलायी जायेगी। फ़ैक्टरी का स्वामी एक ऐसा छपा हुआ नोटिस, "जो कि पढ़ा जा सके", लटकायेगा, जिसमें बताया गया होगा कि काम कितने बजे शुरू होता है और कितने बजे ख़तम होता है और भोजन, नाश्ते आदि का क्या समय है। जो बच्चे १२ बजे दोपहर के पहले काम शुरू कर देते थे, १ बजे के बाद दोबारा उनसे काम

---

[1] "*Rept. of Insp. of Fact.*, 31st October, 1848" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० ९८।

[2] लेओनार्ड होर्नर ने अपनी सरकारी रिपोर्टों में ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। ("*Reports of Insp. of Fact.*, 31st October, 1859" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५९'], पृ० ७।)

[3] "*Rept.*, &c., 30th Sept., 1844" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० सितम्बर १८४४'), पृ० १५।

[4] यदि बच्चे रोज़ काम नहीं करते, बल्कि एक दिन छोड़कर काम करते हैं, तो यह क़ानून उनसे १० घण्टे तक काम लेने की इजाज़त देता है। इस धारा पर प्रायः अमल नहीं हुआ।

कराने की इजाजत नहीं थी। इसलिए तीसरे पहर की पाली में वे बच्चे नहीं हो सकते थे, जो सुबह को काम कर चुके थे। नियम बना दिया गया था कि भोजन, नाश्ते आदि के लिए जो डेढ़ घण्टे का समय दिया जाता था, "उसमें से कम से कम एक घण्टा तीसरे पहर के तीन बजने के पहले ही दे देना जरूरी है... और वह सब को एक ही वक़्त पर दिया जाना चाहिये। दोपहर के १ बजने के पहले किसी बच्चे या लड़के-लड़की से पांच घण्टे से ज्यादा काम उस वक़्त तक नहीं लिया जायेगा, जब तक कि उसे कम से कम $\frac{१}{२}$ घण्टे की खाने की छुट्टी नहीं दी जायेगी। उस समय (यानी खाने की छुट्टी के समय) किसी बच्चे को या किसी लड़के अथवा लड़की को (या किसी स्त्री को) किसी भी ऐसे कमरे में नहीं रहने दिया जायेगा, जिसमें कोई उत्पादन-प्रक्रिया जारी हो," इत्यादि।

हम यह देख चुके हैं कि ऐसी तफ़सीली हिदायतें, जिनमें काम का समय, उसकी सीमा और छुट्टी के वक़्त मानो घड़ी की सुई देखकर सैनिक एकरूपता के साथ निर्धारित कर दिये गये थे, केवल संसद की कल्पना की उपज हरगिज नहीं थीं। उनका उत्पादन की आधुनिक प्रणाली के स्वाभाविक नियमों के रूप में परिस्थितियों में से धीरे-धीरे विकास हुआ था। वर्गों के एक लम्बे संघर्ष के परिणामस्वरूप राज्य द्वारा उनकी स्थापना हुई, उन्हें सरकारी मान्यता प्राप्त हुई तथा राज्य द्वारा उनकी घोषणा की गयी। उनका एक पहला नतीजा यह हुआ कि व्यवहार में फ़ैक्टरियों में काम करने वाले वयस्क पुरुषों के काम के दिन पर भी वैसी ही सीमाएं लग गयीं, क्योंकि उत्पादन की अधिकतर प्रक्रियाओं में बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों का सहयोग अनिवार्य होता है। इसलिए, कुल मिलाकर, १८४४ और १८४७ के बीच फ़ैक्टरी-क़ानून के मातहत उद्योग की सभी शाखाओं में आम तौर पर १२ घण्टे का दिन जारी हो गया।

परन्तु कारखानेदारों ने "प्रगति" का यह क़दम उस वक़्त तक नहीं उठने दिया, जब तक कि उसके एवज में "प्रतिगमन" का भी एक क़दम नहीं उठाया गया। उनके उकसावे पर हाउस ग्राफ़ कामन्स ने शोषण के योग्य बच्चों की उम्र ९ वर्ष से घटाकर ८ वर्ष कर दी, ताकि फ़ैक्टरियों में काम करने के लिए बच्चों की वह अतिरिक्त संख्या भी सुनिश्चित हो जाये, जो पूंजीपतियों को ईश्वरीय तथा मानवीय, दोनों प्रकार के क़ानूनों की दृष्टि से मिलनी चाहिये।[1]

इंगलैण्ड के आर्थिक इतिहास में १८४६-४७ का समय एक युगान्तरकारी समय है। इन वर्षों में अनाज के क़ानून रद्द कर दिये गये, कपास और अन्य कच्चे मालों पर लगी हुई चुंगी मंसूख कर दी गयी, स्वतंत्र व्यापार के सिद्धान्त को तमाम क़ानूनों का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त घोषित कर दिया गया, — और एक शब्द में कहा जाये, तो बस मानो स्वर्णयुग का आरम्भ हो गया। दूसरी ओर, इन्हीं वर्षों में चार्टिस्ट आन्दोलन और १० घण्टे की तहरीक अपनी परम सीमा पर पहुंच गये। अनुदार-दल के लोग तो कारखानेदार से बदला लेने के लिए बेक़रार थे, उन्होंने इन आन्दोलनों का साथ दिया। स्वतंत्र व्यापार के झूठ-प्रिय समर्थकों की सेना ब्राइट और कोबडेन के नेतृत्व में दिव से बंधी होकर १० घण्टे के बिल का बहुत समय से जोरदार विरोध

---

[1] "चूंकि बच्चों के काम के घण्टों में कमी कर देने के फलस्वरूप उनको पहले से अधिक संख्या में नौकर रखना पड़ेगा, इसलिए समझा जाता था कि ८ वर्ष से लेकर ९ वर्ष तक के बच्चों की जो नयी संख्या फ़ैक्टरियों में काम करने के लिये आयेगी, उससे यह बढ़ी हुई मांग पूरी हो जायेगी।" (उप० पु०, पृ० १३।)

करती रही थी। फिर भी यह बिल, जिसके लिये इतने दिनों से संघर्ष चल रहा था, संसद में पास हो गया।

८ जून १८४७ के नये फ़ैक्टरी-क़ानून के द्वारा निश्चय किया गया कि १ जुलाई १८४७ को (१३ वर्ष से १८ वर्ष तक के) "लड़के-लड़कियों" तथा सभी स्त्रियों के काम के घण्टों में एक प्रारम्भिक कमी करके ११ घण्टे की सीमा नियत कर दी जाये, पर १ मई १८४८ को काम के दिन पर निश्चित रूप से १० घण्टे की सीमा लगा दी जाये। दूसरी बातों में यह क़ानून १८३३ और १८४४ के क़ानूनों का संशोधन करता था और उन्हें पूर्ण बनाता था।

अब पूंजी ने इस क़ानून को १ मई १८४८ को अमल में आने से रोकने के लिये एक प्रारम्भिक आन्दोलन छेड़ा। और मजदूरों को भी खुद अपनी सफलताओं को नष्ट करने में मदद देनी थी, जिसके लिये बहाना यह था कि वे अपने अनुभव से सबक़ सीख चुके हैं। इस आन्दोलन के लिये बहुत चालाकी से वक़्त चुना गया था। "याद रखना चाहिये कि पिछले दो वर्ष से फ़ैक्टरियों के मजदूर (१८४६-४७ के भयंकर संकट के परिणामस्वरूप) सख्त तकलीफ़ें उठा रहे हैं, क्योंकि बहुत सी मिलें कम समय काम कर रही थीं और बहुत सी एकदम बन्द हो गयी थीं। इसलिये मजदूरों की काफ़ी बड़ी संख्या बहुत मुश्किल से दिन काट रही होगी। बहुतों पर क़र्ज़ का भारी बोझ होगा। और इसलिये कोई भी यह समझ सकता था कि इस वक़्त मजदूर ज्यादा देर तक काम करना पसन्द करेंगे, जिससे कि पिछले नुक़सान को पूरा कर सकें, क़र्ज़ अदा कर दें, गिरवी रखा हुआ फ़र्नीचर छुड़ा लायें या जो फ़र्नीचर बिक गया है, उसकी जगह पर नया ले आयें या अपने लिये तथा अपने परिवार के लिये नये कपड़े ख़रीद लें।"[1]

इन परिस्थितियों का जो स्वाभाविक प्रभाव था, उसे कारख़ानेदारों ने मजदूरी में १० प्रतिशत की आम कटौती करके और भी उग्र बना देने की कोशिश की। यह कटौती मानो स्वतंत्र व्यापार के नवीन युग के उद्घाटन के उपलक्ष्य में की गयी थी। उसके बाद जब काम का दिन घटाकर ११ घण्टे का कर दिया गया, तो तुरन्त ही $8\frac{1}{3}$ प्रतिशत की एक और कटौती कर दी गयी, और जब अन्त में काम का दिन १० घण्टे तक सीमित कर दिया गया, तो मालिकों ने इसकी दुगनी कटौती का ऐलान कर दिया। इस तरह, जहां कहीं भी परिस्थितियों ने इजाज़त दी, वहां मजदूरी कम से कम २५ प्रतिशत घटा दी गयी।[2] इस प्रकार अच्छी तरह भूमिका तैयार करने के बाद फ़ैक्टरी-मजदूरों के बीच १८४७ के क़ानून को मंसूख़ कराने का आन्दोलन छेड़ दिया गया। इस कोशिश में न तो झूठ से गुरेज़ किया गया और न घूस से, और न ही धमकियां देने में कोई हिचकिचाहट दिखायी गयी। मगर कोई चीज़ काम नहीं आयी। मजदूरों से कोई आधी दर्जन आवेदन-पत्र दिलाये गये थे, जिनमें "क़ानून उनके ऊपर जो अत्याचार कर

[1] "*Rep. of Insp. of Fact.*, 31st Oct., 1848" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० १६।

[2] "मैंने पाया कि जिन लोगों को १० शिलिंग प्रति सप्ताह मिल रहे थे, उनकी मजदूरी में १० प्रतिशत की कटौती के नाम पर १ शिलिंग काट लिया गया, और बचे हुए ९ शिलिंग में से १ शिलिंग ६ पेन्स समय में होने वाली कमी के काट लिये गये। इस तरह कुल मिलाकर २ शिलिंग ६ पेंस की कटौती हुई। और फिर भी बहुत से मजदूर कहते थे कि उन्हें १० घण्टे ही काम करना पसन्द है।" (उप० पु० [पृष्ठ १६]।)

रहा है", उसकी शिकायत की गयी थी। ज़बानी जिरह होने पर स्वयं प्रार्थियों ने यह कहा कि उनसे ज़बर्दस्ती दस्तख़त कराये गये थे। "वे अपने को अत्याचार का शिकार होते तो अनुभव कर रहे थे, मगर इसका कारण फ़ैक्टरी-क़ानून नहीं था।"[1] परन्तु यदि कारख़ानेदारों को मज़दूरों से अपनी मनचाही बातें कहलाने में कामयाबी नहीं मिली, तो वे ख़ुद मज़दूरों के नाम पर अख़बारों में और संसद में और भी ज़ोर से चिल्लाने लगे। उन्होंने फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को इस तरह कोसना शुरू किया, जैसे वे फ़्रांस की राष्ट्रीय परिषद के क्रान्तिकारी कमिश्नरों जैसे कर्मचारी हों और अपने मानवतावादी दुराग्रहों की वेदी पर अभागे मज़दूरों की निर्ममतापूर्वक बलि दे रहे हों। लेकिन यह चाल भी बेकार गयी। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लेग्नोनार्ड होर्नर ने ख़ुद और अपने सब-इंस्पेक्टरों के ज़रिये लंकाशायर की फ़ैक्टरियों में अनेक मज़दूरों के बयान लिये। जितने लोगों के बयान लिये गये, उनमें से लगभग ७० प्रतिशत ने १० घण्टे का समर्थन किया, एक बहुत छोटी संख्या ने ११ घण्टे की ताईद की और एक नाम-मात्र की संख्या ने पुराने १२ घण्टों को ही पसन्द किया।[2]

एक और बड़ी "मित्रतापूर्ण" चाल यह थी कि वयस्क पुरुषों से १२ से १५ घण्टे तक काम कराया जाता और फिर चारों ओर इसका ढोल पीटकर यह साबित किया जाता कि सर्वहारा की आन्तरिक इच्छा यही है। लेकिन उस "निर्मम" फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लियोनार्ड होर्नर के सामने यह तरकीब भी नहीं चली। ओवरटाइम काम करने वाले ज़्यादातर मज़दूरों ने कहा कि "हम तो कम मज़दूरी पर दस घण्टे काम करना कहीं ज़्यादा पसन्द करेंगे। पर हमारे सामने कोई और चारा नहीं था। हममें से इतने अधिक लोग बेकार थे (और कताई करने वाले इतने अधिक मज़दूरों को दूसरे काम के अभाव में धागा जोड़ने का काम करना पड़ रहा है और उनको इतनी कम मज़दूरी मिल रही है) कि यदि हम ज़्यादा समय तक काम करने से इनकार करते, तो दूसरे लोग फ़ौरन हमारी जगह लेने को आ जाते। इसलिये हमारे सामने सवाल यह था कि या तो ज़्यादा समय तक काम करना मंज़ूर करें और या नौकरी से हाथ धोने के लिये तैयार हो जायें।"[3]

इस प्रकार, पूंजी का प्रारम्भिक आन्दोलन असफल रहा, और दस घण्टे का क़ानून १ मई १८४८ को लागू हो गया। परन्तु इस बीच चार्टिस्ट पार्टी असफल हो गयी थी, उसके नेता गिरफ़्तार हो गये थे और उसका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था, और उसके फलस्वरूप अंग्रेज़ मज़दूर-वर्ग को

---

[1] "'मैंने इसपर (आवेदन-पत्र पर) दस्तख़त तो कर दिये थे, पर मैंने उसी वक़्त यह कहा था कि मैं एक ग़लत चीज़ पर दस्तख़त कर रहा हूं।' –'तब फिर तुमने उसपर क्यों दस्तख़त किये?'–'इसलिये कि अगर मैं इनकार करता, तो मुझे नौकरी से जवाब मिल जाता।'–इससे पता चलता है कि इस आदमी को 'अत्याचार' का तो अहसास था, पर वह फ़ैक्टरी-क़ानून का अत्याचार नहीं था।" (उप० पु०, पृ० १०२।)

[2] उप० पु०, पृ० १७। मि० होर्नर के इलाक़े में इस तरह १८१ फ़ैक्टरियों के १०,२७० वयस्क मज़दूरों के बयान लिये गये थे। इन लोगों ने जो कुछ कहा, वह अक्तूबर १८४८ को समाप्त होने वाली छमाही की फ़ैक्टरी-रिपोर्टों के परिशिष्ट में मिलेगा। इन बयानों में कुछ अन्य प्रश्नों के सम्बंध में भी मूल्यवान सामग्री उपलब्ध है।

[3] उप० पु०। लेग्नोनार्ड होर्नर ने ख़ुद जो बयान इकट्ठा किये थे, वे अंक ६९, ७०, ७१, ७२, ९२ और ९३ में मिलते हैं, और सब-इंस्पेक्टर ए० द्वारा इकट्ठा किये हुए बयान परिशिष्ट के अंक ५१, ५२, ५८, ५९, ६२ और ७० में देखे जा सकते हैं। एक कारख़ानेदार ने भी सच्ची बात कही है। देखिये अंक १४ और अंक २६५, उप० पु०।

खुद अपनी शक्ति में विश्वास नहीं रह गया था। इसके कुछ दिन बाद पेरिस में जून का विद्रोह हुआ और उसे खून में डुबो दिया गया, और इन घटनाओं ने योरपीय महाद्वीप की तरह इंगलैण्ड में भी शासक वर्गों के सभी गुटों को – जमींदारों और पूंजीपतियों को, स्टाक-एक्सचेंज के भेड़ियों और दूकानदारों को, संरक्षणवादियों और स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों को, सरकार और विरोधी दल को, पादरियों और स्वतंत्र चिन्तकों को, कमसिन वेश्याओं और बुढ़िया साधुनियों को – एकताबद्ध कर दिया। वे सब सम्पत्ति, धर्म, परिवार और समाज की रक्षा करने के लिये एक झण्डे के नीचे आकर खड़े हो गये। मजदूर-वर्ग को हर तरफ़ कोसा जाने लगा। उसे मानो क़ानून की नज़रों में बाग़ी घोषित कर दिया गया। अब कारख़ानेदारों को संभल-संभलकर चलने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वे न केवल १० घण्टे के क़ानून के ख़िलाफ़, बल्कि उन तमाम क़ानूनों के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत का झण्डा लेकर खड़े हो गये, जो १८३३ से उस समय तक श्रम-शक्ति के "स्वतंत्र" शोषण को किसी हद तक सीमित करने के उद्देश्य से बनाये गये थे। यह छोटे पैमाने पर Proslavery Rebellion (गुलामी की प्रथा के समर्थन में विद्रोह) था, जिसे सारी लोक-लाज और हया-शर्म को ताक़ पर रखकर दो वर्ष से अधिक समय तक चलाया गया और जिसमें एक जबर्दस्त आतंकवादी स्फूर्ति का प्रदर्शन हुआ। यह आन्दोलन इसलिये और भी जोरदार ढंग से चलाया गया कि विद्रोही पूंजीपतियों को उसमें कुछ खोने का डर नहीं था; ज्यादा से ज्यादा जो चीज़ खोयी जा सकती थी, वह थी बस उनके मजदूरों की चमड़ी।

इसके बाद जो कुछ कहा गया है, उसे समझने के लिये हमें यह याद रखना होगा कि १८३३, १८४४ और १८४७ के फ़ैक्टरी-क़ानूनों ने जिस हद तक एक दूसरे में संशोधन नहीं कर दिया था, उस हद तक वे तीनों इस वक़्त लागू थे, और उनमें से कोई भी १८ वर्ष से अधिक उम्र के पुरुषों के काम के दिन को सीमित नहीं करता था। हमें यह भी याद रखना होगा कि सुबह के ५.३० बजे से लेकर रात के ८.३० बजे तक १५ घण्टे का दिन १८३३ से ही क़ानूनी "दिन" समझा जाता था, जिसकी सीमाओं के भीतर लड़के-लड़कियों और औरतों को कुछ निर्धारित परिस्थितियों में पहले १२ घण्टे और फिर १० घण्टे काम करना पड़ता था।

कारख़ानेदारों ने शुरूआत इस तरह की कि जो लड़के-लड़कियां तथा औरतें उनके यहां काम करती थीं, उनमें से कुछ को और बहुत सी जगहों में तो उनकी आधी संख्या को उन्होंने काम से जवाब दे दिया। फिर उन्होंने वयस्क पुरुषों के लिये रात का काम, जो कि लगभग बन्द हो गया था, फिर से जारी कर दिया। और शोर यह मचाया कि क्या करें, दस घण्टे का क़ानून बन जाने के बाद अब उनके सामने और कोई चारा नहीं है।[1]

उनका दूसरा क़दम भोजन आदि की क़ानूनी छुट्टी के बारे में था। उसकी कहानी फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों के शब्दों में सुनिये: "जब से काम के घण्टों पर १० घण्टे की सीमा लागू हो गयी है, तभी से फ़ैक्टरियों के मालिकों का यह दावा है – हालांकि अभी उन्होंने व्यवहार में उसपर पूरी तरह अमल करना शुरू नहीं किया है – कि यदि यह मान लिया जाये कि काम का समय ६ बजे सुबह को शुरू होकर शाम को ७ बजे ख़तम होता है, तो वे (भोजन के लिये) एक घण्टा सुबह ६ बजे के पहले और आधा घण्टा शाम को ७ बजे के बाद मजदूरों को देकर क़ानून की हिदायतों को पूरा कर देते हैं। कुछ जगहों में वे अब भोजन के लिये एक घण्टा या आधा घण्टा देने लगे हैं,

---

[1] *"Reports, &c., for 31st October, 1848"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० १३३, १३४।

पर साथ ही उनका दावा है कि भोजन आदि के लिये जो डेढ़ घण्टे का समय दिया जाना चाहिये, उसके बारे में यह जरूरी नहीं है कि उसका कोई भाग फ़ैक्टरी के काम के दिन के दौरान में दिया जाय।"[1] इसलिये, कारखानेदारों का कहना था कि भोजन के समय के बारे में १८४४ के क़ानून में जो अत्यन्त कड़ी धाराएं हैं, उनके मातहत मजदूर केवल फ़ैक्टरी में आने के पहले और फ़ैक्टरी से जाने के बाद – यानी केवल अपने घर पर ही – खा-पी सकते हैं। और मजदूर सुबह ६ बजने के पहले ही अपना खाना-पीना भला खतम क्यों न कर दें? मगर शाही वकीलों ने यही फ़ैसला दिया कि क़ानून में भोजन आदि के लिये जो समय निर्धारित किया गया है, वह "काम के घण्टों के दौरान में अवकाश के रूप में दिया जाना चाहिये, और ६ बजे सुबह से शाम के ७ बजे तक बिना किसी अवकाश के लगातार १० घण्टे तक काम लेना क़ानून के खिलाफ़ समझा जायेगा।"[2]

इन सुन्दर प्रदर्शनों के बाद पूंजी ने अपने विद्रोह की भूमिका के तौर पर एक ऐसा क़दम उठाया, जो १८४४ के क़ानून की शब्दावली के अनुरूप था और इसलिये जो एक क़ानूनी क़दम था।

१८४४ का क़ानून ८ वर्ष से १३ वर्ष तक के उन बच्चों से, जो दोपहर के पहले से काम कर रहे हों, दोपहर के १ बजे के बाद काम लेने से निश्चय ही मना करता था। मगर जिन बच्चों के काम का समय दोपहर के १२ बजे या उसके बाद शुरू होता था, उनके ६ $\frac{1}{2}$ घण्टे के काम का यह क़ानून किसी प्रकार नियमन नहीं करता था। ८ बरस के बच्चों का काम यदि दोपहर को शुरू होता हो, तो उनसे १२ बजे से १ बजे तक १ घण्टा, २ बजे से ४ बजे तक २ घण्टे, शाम के ५ बजे से रात के ८.३० बजे तक ३ $\frac{1}{2}$ घण्टे, – इस तरह कुल मिलाकर ६ $\frac{1}{2}$ घण्टे तक काम लिया जा सकता था। या इससे भी बेहतर व्यवस्था हो सकती थी। बच्चों से रात को ८.३० बजे तक वयस्क पुरुषों के साथ-साथ काम कराने के लिये कारखानेदारों को बस यह तरकीब करने की जरूरत थी कि वे उनसे दिन के २ बजे तक कोई काम न लें, और फिर वे उनको बिना किसी अवकाश के रात के ८.३० बजे तक बराबर फ़ैक्टरी में रख सकते थे। "और यह बात साफ़ तौर पर मान ली गयी है कि मिल-मालिकों की अपनी मशीनों से दस घण्टे से ज्यादा काम लेने की इच्छा के कारण इंगलैण्ड में यह प्रथा पायी जाती है कि तमाम लड़के-लड़कियों और औरतों के फ़ैक्टरी से चले जाने के बाद पुरुषों के साथ-साथ बच्चों से भी काम लिया जाता है, और यदि फ़ैक्टरी के मालिक चाहें, तो उनको रात के ८.३० बजे तक रोक लिया जाता है।"[3] मजदूरों और फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने स्वास्थ्य-विज्ञान तथा नैतिक आधार पर इस प्रथा का विरोध किया, किन्तु पूंजी ने उन्हें जवाब दिया कि

> "My deeds upon my head! I crave the law,
> The penalty and forfeit of my bond."

---

[1] "*Reports, &c., for 30th April, 1848*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४८'), पृ० ४७।

[2] "*Reports, &c., for 31st October, 1848*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० १३०।

[3] "*Reports, &c.*" ('रिपोर्टें, इत्यादि'), उप० पु०, पृ० १४२।

("मेरा किया मेरे सिर पर,
मैं तो इन्साफ़ चाहता हूं।
मेरे रुक़्क़े में जो कुछ लिखा है,
मैं बस वही चाहता हूं।")

सच तो यह है कि २६ जुलाई १८५० को जो आंकड़े हाउस आफ़ कामन्स में पेश किये गये, उनके अनुसार तो इस तमाम विरोध के बावजूद १५ जुलाई १८५० को २५७ फ़ैक्टरियों में ३,७४२ बच्चे इस "प्रथा" का शिकार बने हुए थे।[1] परन्तु इतना ही काफ़ी नहीं था। पूंजी की बन-बिलाव जैसी तेज़ आंखों ने यह भी खोज निकाला कि १८४४ का क़ानून दोपहर के पहले तो इस बात की इजाज़त नहीं देता कि नाश्ते के लिये कम से कम आधे घण्टे की छुट्टी दिये बिना लगातार ५ घण्टे तक काम कराया जाये, मगर दोपहर के बाद के काम के वास्ते उसमें ऐसी शर्त नहीं है। चुनांचे, उसने आठ-आठ बरस के बच्चों से न केवल २ बजे से लेकर रात के ८.३० बजे तक बिना किसी अवकाश के लगातार काम कराने का, बल्कि इस पूरे अरसे में उनको भूखा रखने का भी हक़ हासिल कर लिया।

"Ay, his heart,
So says the bond."

("मुझे दो कलेजा उसका –
बही में यही लिखा है!")[2]

इस प्रकार, जहां तक बच्चों के काम का सम्बंध था, १८४४ के क़ानून की शब्दावली से शाइलोक की तरह चिपट जाने का उद्देश्य केवल यह था कि "लड़के-लड़कियों और स्त्रियों" के सम्बंध में भी इस क़ानून के ख़िलाफ़ खुल्लमखुल्ला विद्रोह शुरू हो जाये। पाठकों को याद होगा कि इस क़ानून का मुख्य उद्देश्य एवं ध्येय "झूठी relay system (पालियों की प्रणाली)"

---

[1] "*Reports, &c., for 31st October, 1850*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५०'), पृ० ५, ६।

[2] पूंजी के विकसित रूप में भी उसका वही स्वभाव रहता है, जो अविकसित रूप में है। अमरीकी गृह-युद्ध के आरम्भ होने के कुछ ही समय पहले न्यू मैक्सिको के इलाक़े पर गुलामों के मालिकों के प्रभाव के फलस्वरूप जो कोड थोप दिया गया था, उसमें यह कहा गया था कि पूंजीपति चूंकि मज़दूर की श्रम-शक्ति ख़रीद लेता है, इसलिये मज़दूर "उसकी (पूंजीपति की) मुद्रा होता है" (the labourer "is his (the capitalist's) money")। रोम के अभिजात वर्ग के लोगों में यही दृष्टिकोण पाया जाता था। साधारण लोगों को वे जो मुद्रा क़र्ज़ पर दे देते थे, वह जीवन-निर्वाह के साधनों के ज़रिये क़र्ज़दारों के रक्त और मांस में रूपान्तरित हो जाती थी। और इसलिये यह "रक्त और मांस" उनकी "मुद्रा" होता था। दस तालिकाओं का शाइलोक-मार्का क़ानून इसी विचार की उपज है। लिंगुएत का ख़याल है कि टाइबर नदी के उस पार अभिजात वर्ग के महाजन समय-समय पर क़र्ज़दारों के मांस का महाभोज किया करते थे। ईसाइयों के ख्रीष्ट-भोज समारोह के सम्बंध में दौमेर की परिकल्पना की भांति हम इस परिकल्पना को भी अनिर्णीत छोड़ सकते हैं।

को बन्द कराना था। मालिकों ने अपने विद्रोह का श्रीगणेश इस साधारण सी घोषणा से किया कि १८४४ के क़ानून की वे धाराएं, जो मालिकों को १५ घण्टे के दिन के चाहे जितने छोटे भाग में लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से ad libitum (इच्छानुसार) काम लेने से रोकती हैं, उस वक़्त तक "अपेक्षाकृत हानिरहित" ("comparatively harmless") थीं, जब तक कि काम का समय १२ घण्टे निश्चित था। लेकिन दस घण्टे के क़ानून के मातहत तो ये धाराएं भी उनके लिये "भारी मुसीबत" (hardship) बन जायेंगी।[1] मालिकों ने फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को अत्यधिक शान्त ढंग से सूचित कर दिया कि हम अपने को क़ानून की शब्दावली के ऊपर समझते हैं और पुरानी प्रणाली अपने आप फिर से जारी कर देना चाहते हैं।[2] उन्होंने कहा कि यह काम हम खुद मजदूरों के हित में करना चाहते हैं, जो ग़लत सलाहकारों के कहने में आ गये हैं, और हमारा उद्देश्य यह है कि हम "उनको ज्यादा ऊंची मजदूरी दे सकें"। मालिकों का कहना था कि "दस घण्टे के क़ानून के मातहत चलते हुए ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक श्रेष्ठता को क़ायम रखने का बस यही एकमात्र सम्भव तरीक़ा है।" "पालियों की व्यवस्था में, मुमकिन है, अनियमित बातों का पता लगाना थोड़ा कठिन हो जाये, लेकिन उससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों और सब-इंस्पेक्टरों को थोड़ी सी परेशानी (some little trouble) से बचाने के लिये क्या इस देश के महान औद्योगिक हितों को गौण स्थान दिया जायेगा?"[3]

इन तमाम पैंतरेबाजियों से, जाहिर है, कोई फ़ायदा न हुआ। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने अदालतों के दरबार में जाकर गुहार मचायी। परन्तु शीघ्र ही मिल-मालिकों ने दरख़ास्तों की ऐसी आंधी उठायी कि गृह-मंत्री सर जार्ज ग्रे की नाक में दम आ गया और उन्होंने ५ अगस्त १८४८ को एक गश्ती चिट्ठी भेजकर इंस्पेक्टरों से कहा कि उनको "क़ानून की शब्दावली के ख़िलाफ़ जाने या पालियां बनाकर लड़के-लड़कियों से काम लेने के बारे में मिल-मालिकों के विरुद्ध ऐसी सूरत में रिपोर्टें नहीं भेजनी चाहिये, जब कि यह यक़ीन करने का कोई आधार न हो कि इन लड़के-लड़कियों से सचमुच क़ानून द्वारा निश्चित समय से अधिक देर तक काम लिया गया है।" इसपर फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर जे० स्टुअर्ट ने पूरे स्कोटलैण्ड में १५ घण्टे के फ़ैक्टरी के दिन के दौरान में तथाकथित पालियों की प्रणाली के अनुसार काम लेने की इजाजत दे दी, और इस इलाक़े में इस प्रणाली का फिर पहले की तरह जोर-शोर से प्रचलन हो गया। दूसरी ओर, इंग्लैण्ड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने कहा कि गृह-मंत्री को इस तानाशाही ढंग से क़ानून को मंसूख़ कर देने का कोई हक़ नहीं है, और उन्होंने the proslavery rebellion (गुलामी की हिमायत में की गयी इस बग़ावत) के ख़िलाफ़ अपनी क़ानूनी कार्रवाइयां जारी रखीं।

परन्तु पूंजीपतियों को अदालत के सामने खड़ा करने से क्या लाभ था, जब कि अदालतें—यानी वे county magistrates (काउंटी मजिस्ट्रेट), जिनको कौबेट ने "Great Unpaid"

---

[1] "*Reports, &c., for 30st April, 1848.*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४८'), पृ० २८।

[2] चुनांचे, अन्य व्यक्तियों के अलावा, दानवीर ऐशवर्थ ने भी लेओनार्ड होर्नर को एक ऐसा क्वेकर-मार्का ख़त लिखा है, जिसे पढ़कर बहुत अफ़सोस होने लगता है। ("*Reports, &c., April, 1849*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, अप्रैल १८४९'], पृ० ४।)

[3] उप० पु०, पृ० १४०।

("महान निःशुल्की") का नाम दिया था, -- उनको फ़ौरन निर्दोष क़रार दे देती थीं? इन अदालतों में मिल मालिक खुद ही अपने मुक़दमों का फ़ैसला करते थे। एक मिसाल देखिये। कपास की कताई करने वाली कम्पनी -- केर्शो, लीज़ एण्ड कम्पनी -- के मालिक, एस्किग्ग नामक किन्हीं महाशय ने अपने डिस्ट्रिक्ट के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर के सामने relay system (पालियों की व्यवस्था) की एक योजना पेश की, जिसे वह अपनी मिल में जारी करना चाहते थे। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने इस योजना को पास करने से इनकार कर दिया तो कुछ समय के लिये एस्किग्ग साहब चुप होकर बैठ गये। उसके चन्द महीने बाद रोबिन्सन नाम के एक व्यक्ति को स्टोकपोर्ट के नगर-मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया। यह व्यक्ति भी कपास की कताई करने वाले किसी कारखाने का मालिक था और यदि एस्किग्ग का *"Man Friday"* नौकर नहीं था, तो उनका सम्बंधी अवश्य था। उसपर यह आरोप लगाया गया था कि उसने अपने कारखाने में पालियों की बिल्कुल वैसी ही योजना जारी कर रखी है, जैसी योजना एस्किग्ग ने तैयार की थी। अदालत चार जजों की थी; उनमें से तीन कपास की कताई करने वाले कारखानों के मालिक थे, और उनके मुखिया वही एस्किग्ग महाशय थे। सो एस्किग्ग ने रोबिन्सन को निर्दोष कहकर छोड़ दिया और फिर सोचा कि जो बात रोबिन्सन के लिये सही थी, वह एस्किग्ग के लिये भी सही है। खुद अपने फ़ैसले की नज़ीर के बल पर उन्होंने तुरन्त ही अपने कारखाने में भी वह प्रणाली जारी कर दी।[1] ज़ाहिर है, इस अदालत में जिस तरह के जज बैठे थे, यह खुद क़ानून की खिलाफ़वरज़ी थी।[2] इंस्पेक्टर होवेल ने कहा है कि "न्याय के नाम पर होने वाले इन नाटकों का तुरन्त सुधार करने की आवश्यकता है -- उसके लिये या तो क़ानून में इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाये, जिससे वह इन अदालतों के फ़ैसलों के अनुरूप हो जाये, और या इस क़ानून को लागू करने का अधिकार अपेक्षाकृत कम दोषपूर्ण ऐसी अदालतों को दिया जाये, जिनके सामने जब ऐसे मुक़दमे आयें,.. तो उनके फ़ैसले क़ानून के अनुरूप हों। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूं, जब सरकार से वेतन पाने वाले मजिस्ट्रेट नियुक्त किये जायेंगे।"[3]

शाही वकीलों ने घोषणा कर दी कि मालिकों ने १८४८ के क़ानून की जो व्याख्या की है, वह बिल्कुल बेतुकी है। लेकिन जिन्होंने समाज के उद्धार का बीड़ा उठाया था, वे इस तरह हिम्मत हारने वाले नहीं थे। लेश्रोनार्ड होर्नर के शब्दों में, "मैंने सात अदालतों के सामने दस मुक़दमे दायर करके क़ानून को लागू करने की कोशिश की, पर जब इन दस में से केवल एक मुक़दमे में मजिस्ट्रेट ने मेरा साथ दिया,.. तो मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि क़ानून तोड़ने वालों के खिलाफ़ अब और मुक़दमे दायर करना बेकार है। १८४८ के क़ानून का वह भाग जो काम

---

[1] *"Reports, &c., for 30th April, 1849"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९'), पृ० २१, २२। इसी तरह की और मिसालों के लिए देखिये उप० पु०, पृ० ४, ५।

[2] विलियम चतुर्थ के राज्य-काल के क़ानून नं० १ और २ के अध्याय २४, धारा १० के अनुसार कपास की कताई या बुनाई करने वाली किसी भी मिल के मालिक को या मालिक के पिता, पुत्र अथवा भाई को ऐसे मुक़दमों को जज की हैसियत से सुनने की मनाही थी, जो फ़ैक्टरी से सम्बंध रखते हों। यह क़ानून सर जान होबहाउस का फ़ैक्टरी-क़ानून भी कहलाता था।

[3] *"Reports, &c. for 30th April, 1849"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९') [पृ० २२]।

के घण्टों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से बनाया गया था,.. अब मेरे डिस्ट्रिक्ट (लंकाशायर) में लागू नहीं है। न ही अब हम पालियों में काम कराने वाली किसी मिल की जांच करने आते हैं, तो मेरे सब-इंस्पेक्टरों के पास या मेरे पास यह पता लगाने का कोई तरीक़ा है कि उस मिल में लड़के-लड़कियां या स्त्रियां १० घण्टे रोजाना से ज्यादा तो काम नहीं कर रहे हैं... ३० अप्रैल के आंकड़ों के अनुसार... पालियों में काम कराने वाले मिल-मालिकों की संख्या ११४ है, और कुछ समय से उनकी तादाद तेजी से बढ़ती जा रही है। आम तौर पर, मिल के काम करने का वक़्त बढ़ाकर १३$\frac{१}{२}$ घण्टे, सुबह ६ बजे से रात के ७$\frac{१}{२}$ बजे तक, कर दिया जाता है... कुछ जगहों में १५ घण्टे, यानी सुबह ५$\frac{१}{२}$ बजे से रात के ८$\frac{१}{२}$ बजे तक, काम कराया जाता है।"[1] लेओनार्ड होर्नर के पास दिसम्बर १८४८ में ही ऐसे ६५ कारखानेदारों तथा २६ निरीक्षकों की सूची तैयार हो गयी थी, जिन्होंने एकमत से यह घोषणा की थी कि इस relay system (पालियों की प्रणाली) के रहते हुए किसी भी प्रकार का निरीक्षण मजदूरों से अत्यधिक काम लेने की प्रथा को नहीं रोक सकता।[2] अब क्या होता था कि पन्द्रह घण्टों के दौरान में उन्हीं बच्चों और लड़के-लड़कियों से कभी कताई-घर में काम लिया जाता था, तो कभी बुनाई-घर में, या उनको एक फ़ैक्टरी से दूसरी फ़ैक्टरी में घुमाया जाता था (shifted)।[3] एक ऐसी व्यवस्था पर नियंत्रण रखना कैसे सम्भव था, जो "पालियों की आड़ में, असल में, उन बहुत सी योजनाओं में से एक थी, जो मजदूरों की इधर से उधर और उधर से इधर नाना प्रकार से अदला-बदली करने और अलग-अलग व्यक्तियों के काम और विश्राम के घण्टों को दिन भर बराबर बदलते रहने के लिये बनायी गयी थीं और जिनका नतीजा यह हुआ था कि एक वक़्त पर एक कमरे में मजदूरों का एक पूरा जत्था कभी काम करता हुआ नहीं मिलता था।"[4]

लेकिन मजदूर से जो अत्यधिक काम सचमुच लिया जाता था, यदि उसकी बात न की जाये, तो भी यह तथाकथित relay system (पालियों की प्रणाली) पूंजीवादी कल्पना की एक ऐसी उपज थी, जिससे फ़ूरिये भी अपने 'Courtes Séances' (काम के संक्षिप्त प्रदर्शनों) के व्यंगमय रेखाचित्रों में आगे नहीं बढ़ पाये हैं। हां, इतना जरूर है कि उनके यहां जो "श्रम का आकर्षण" था, वह यहां "पूंजी के आकर्षण" में बदल गया है। मिसाल के लिये, मिल-मालिकों की उन योजनाओं को देखिये, जिनकी प्रशंसा करते हुए "प्रतिष्ठित" समाचारपत्रों ने कहा था कि ये योजनाएं इस बात का नमूना हैं कि "यदि थोड़ा

---

[1] *"Reports, &c., for 30th April, 1849"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९'), पृ० ५।

[2] *"Reports, &c., for 31st October, 1849."* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४९'), पृ० ६।

[3] *"Reports, &c., for 30th April, 1849"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९'), पृ० २१।

[4] *"Reports, &c., for 31st October, 1848"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर, १८४८'), पृ० ९५।

सा ध्यान दिया जाये और व्यवस्थित ढंग से काम किया जाये, तो कैसी-कैसी सफलताएं प्राप्त की जा सकती हैं" ("what a reasonable degree of care and method can accomplish")। मजदूरों को कभी-कभी १२ या १४ अलग-अलग श्रेणियों में बांट दिया जाता था, और खुद इन श्रेणियों में जो लोग रखे गये थे, वे भी बराबर बदलते रहते थे। कारखाने के १५ घण्टे के दिन के दौरान पूंजी मजदूर को कभी ३० मिनट के लिये फ़ैक्टरी में घसीट लाती थी, कभी एक घण्टे के लिये और उसके बाद फिर उसे बाहर धकेल देती थी, और कुछ समय बाद उसे फिर अन्दर ले आती थी और उसके बाद फिर बाहर निकाल देती थी। इस तरह पूंजी उसे कभी यहां घुमाती थी, कभी वहां, समय के ज़रा-ज़रा से टुकड़ों में उससे काम लेती थी, पर जब तक पूरे १० घण्टे का काम नहीं निकाल लेती थी, तब तक उसको अपने पंजों में से नहीं निकलने देती थी। जैसा कि रंगमंच पर होता है, वे ही व्यक्ति अलग-अलग अंकों के विभिन्न दृश्यों में फिर-फिर सामने आते थे। परन्तु जिस प्रकार जब तक नाटक चलता रहता है, तब तक अभिनेता पर रंगमंच का अधिकार रहता है, उसी प्रकार मजदूरों पर, घर से फ़ैक्टरी तक आने-जाने के समय के अलावा, पूरे १५ घण्टे तक फ़ैक्टरी का अधिकार रहता था। इस प्रकार, विश्राम के समय को जबर्दस्ती खाली बैठे रहने के समय में बदल दिया गया, जिसने नौजवानों को शराबखानों में और लड़कियों को चकला-घरों में भेज दिया। मजदूरों की संख्या को बढ़ाये बिना अपनी मशीनों को १२ या १५ घण्टे तक चालू रखने के लिये पूंजीपति दिन प्रति दिन जो नयी तरकीबें निकालते थे, उनके साथ-साथ मजदूर को कभी वक़्त के इस टुकड़े में जल्दी-जल्दी अपना भोजन निगलना पड़ता था, तो कभी उस टुकड़े में। १० घण्टे के आन्दोलन के समय मिल-मालिकों ने शोर मचाया था कि मजदूरों की भीड़, असल में, इस उम्मीद में आवेदन-पत्र दे रही है कि उसे १० घण्टे के काम के एवज में १२ घण्टे की मजदूरी मिल जायेगी। पर अब उन्होंने तस्वीर का दूसरा रुख दिखलाया। वे श्रम-शक्ति पर राज करते थे १२ या १५ घण्टे तक, पर उसके एवज में मजदूरी देते थे सिर्फ़ १० घण्टे की।[1] यही मामले का सार था, मालिकों की १० घण्टे के क़ानून की यही व्याख्या थी! ये स्वतंत्र व्यापार के वे ही पाखण्डी समर्थक थे, जिनके रोम-रोम से मानवता के लिये उनका प्रेम टपका करता था और जिन्होंने अनाज के क़ानूनों के विरोध में चलने वाले आन्दोलन के काल में पूरे १० वर्ष तक मजदूरों को यह उपदेश सुनाया था और पाई-पाई का हिसाब लगाकर यह सिद्ध किया था कि यदि अनाज बिना किसी रोक-थाम के देश में आने लगे, तो इंगलैण्ड के उद्योगों के पास इतने साधन मौजूद हैं कि जिनके द्वारा १० घण्टे का श्रम पूंजीपतियों को धनी बना देने के लिये बहुत काफ़ी होगा।[2]

---

[1] देखिये *"Reports, &c., for 30th April, 1849"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८४९'), पृ०, ६। *"Reports, &c., for 31st October, 1848"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८') में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर हौवेल और सौण्डर्स ने "shifting system" ("स्थान-परिवर्तन-प्रणाली") की जो विस्तृत व्याख्या की है, वह भी देखिये। उसके साथ-साथ, १८४९ के वसन्त में ऐश्टन तथा आस-पड़ोस के पादरियों ने "shift system" ("स्थान-परिवर्तन-प्रणाली") के विरुद्ध रानी को जो आवेदन-पत्र दिया था, उसे भी देखना चाहिये।

[2] मिसाल के लिये, देखिये *"The Factory Question and the Ten Hours' Bill"* ('फ़ैक्टरियों का सवाल और दस घण्टे का बिल'), R. H. Greg (आर० एच० ग्रेग) द्वारा लिखित, [London] 1837।

पूंजी का यह विद्रोह दो साल बाद आखिर विजयी हुआ, जब कि इंगलैण्ड के सबसे ऊंचे चार न्यायालयों में से एक ने, अर्थात् Court of Exchequer (एक्सचेकर के न्यायालय) ने, ८ फ़रवरी १८५० के एक मुक़दमे में यह फ़ैसला सुना दिया कि कारख़ानेदार तो अवश्य १८४४ के क़ानून के अर्थ के ख़िलाफ़ काम कर रहे थे, पर ख़ुद इस क़ानून में कुछ ऐसे शब्द थे, जो उसे निरर्थक बना देते थे। "इस फ़ैसले के द्वारा दस घण्टे का क़ानून रद्द कर दिया गया।"[1] बहुत से मालिक लड़के-लड़कियों और स्त्रियों से relay system (पालियों की प्रणाली) के अनुसार काम लेने में अभी तक घबराते थे, अब उन्होंने धड़ल्ले से यह चीज़ शुरू कर दी।[2]

परन्तु पूंजी की इस विजय के बाद, जो कि निर्णायक विजय मालूम होती थी, तुरन्त ही उसकी प्रतिक्रिया हुई। अभी तक मज़दूर निष्क्रिय ढंग से प्रतिरोध कर रहे थे, हालांकि यह प्रतिरोध न तो कभी ढीला पड़ता था और न बीच में रुकता ही था। लेकिन अब मज़दूरों ने लंकाशायर और योर्कशायर में डराने वाली सभाएं करके अपना विरोध प्रकट किया। दस घण्टे के जिस क़ानून का इतना शोर मचाया गया था, अब पता चला कि वह कोरी धोखे की टट्टी और एक संसदीय चाल था और वास्तव में उसका कोई वजूद न था! फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने सरकार को लगातार चेतावनी दी कि वर्गों का विरोध अविश्वसनीय सीमा तक तनावपूर्ण हो गया है। कुछ मालिक भी बड़बड़ाये: "मजिस्ट्रेटों के परस्पर विरोधी फ़ैसलों के कारण सर्वथा असाधारण और अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी है। योर्कशायर में एक क़ानून लागू है, लंकाशायर में दूसरा; लंकाशायर के एक हल्क़े में एक क़ानून अमल में आता है, उससे बिल्कुल मिले हुए पड़ोसी हल्क़े पर दूसरा क़ानून लागू है। बड़े-बड़े शहरों के कारख़ानेदारों के लिये क़ानून की ख़िलाफ़वर्ज़ी करना मुमकिन है; देहाती इलाक़ों के कारख़ानेदारों को इतने आदमी ही नहीं मिलते कि वे उनसे relay system (पालियों की प्रणाली) के अनुसार काम ले सकें, और ऐसी स्थिति में मज़दूरों को एक फ़ैक्टरी से दूसरी फ़ैक्टरी में बदलते रहना तो उनके लिये और भी कम सम्भव है," इत्यादि। और, ज़ाहिर है, पूंजी का पहला जन्मसिद्ध अधिकार यह है कि सभी पूंजीपतियों को श्रम-शक्ति का समान शोषण करने की सुविधा होनी चाहिये।

ऐसी परिस्थिति में मालिकों और मज़दूरों के बीच एक समझौता हो गया, जिसपर ५ अगस्त १८५० के अतिरिक्त फ़ैक्टरी-क़ानून के रूप में संसद की मुहर भी लग गयी। "लड़के-लड़कियों और स्त्रियों" के लिये सप्ताह के पहले पांच दिन में काम का दिन १० घण्टे से बढ़ाकर १०$\frac{१}{२}$ घण्टे का कर दिया गया और शनिवार को घटाकर ७$\frac{१}{२}$ घण्टे का कर दिया

---

[1] F. Engels, "*Die englische Zehnstundenbill*" [फ़्रे॰ एंगेल्स, 'इंगलैण्ड का दस घण्टे का बिल'] (कार्ल मार्क्स द्वारा सम्पादित "*Neue Rheinische Zeitung. Politisch-Ökonomische Revue*" के अप्रैल १८५० के अंक में, पृ॰ १३)। इसी "उच्च" न्यायालय ने अमरीका के गृह-युद्ध के काल में एक ऐसी शाब्दिक संदिग्धता का आविष्कार किया था, जिसने डाकामार जहाज़ों की हथियारबन्दी को रोकने के लिये बनाये गये क़ानून का मतलब बिल्कुल उलट दिया था।

[2] "*Rep., &c., for 30th April, 1850*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५०')।

गया। तै कर दिया गया कि काम सुबह के ६ बजे से शाम के ६ बजे तक[1] होगा और नाश्ते तथा भोजन के लिये बीच में कम से कम कुल $१\frac{१}{२}$ घण्टे के लिये रुका रहेगा, और नाश्ते तथा भोजन की छुट्टी सब मजदूरों को एक ही समय पर तथा १८४४ के क़ानून में निर्धारित नियमों के अनुसार दी जायेगी। इस क़ानून द्वारा relay system (पालियों की प्रणाली) का सदा के लिये अन्त हो गया।[2] बच्चों के श्रम पर १८४४ का क़ानून ही लागू रहा।

पहले की तरह इस बार भी मालिकों के एक दल ने सर्वहारा के बच्चों के ऊपर विशेष प्रकार के सामन्ती अधिकार प्राप्त कर लिये। यह रेशम के कारखानों के मालिकों का दल था। १८३३ में इन लोगों ने यह गीदड़-भभकी दी थी कि "यदि किसी भी उम्र के बच्चों से दस घण्टे रोजाना काम लेने की उनकी आजादी छीन ली गयी, तो उनके कारखाने बन्द हो जायेंगे" (if the liberty of working children of any age for 10 hours a day were taken away, it would stop their works)।[3] उनका कहना था कि १३ वर्ष से अधिक उम्र के बच्चों की पर्याप्त संख्या को खरीद सकना उनके लिये असम्भव होगा। चुनांचे, वे जो विशेष अधिकार चाहते थे, वह उन्हें मिल गया। बाद को छान-बीन करने पर पता चला कि उनका बहाना सरासर झूठा था।[4] लेकिन इससे उनके रास्ते में कोई रुकावट नहीं पड़ी। वे अगले दस बरस तक नन्हे-नन्हे बच्चों के खून से रोजाना १० घण्टे रेशम की कताई करते रहे। ये बच्चे इतने छोटे होते थे कि उनको स्टूलों पर खड़ा करके उनसे काम लिया जाता था।[5] १८४४ के क़ानून ने इन मालिकों से ११ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से रोजाना $६\frac{१}{२}$ घण्टे से ज्यादा काम लेने की "आजादी" निश्चय ही "छीन ली थी"। पर, दूसरी ओर, इस क़ानून ने उनको ११ वर्ष से लेकर १३ वर्ष तक के बच्चों से १० घण्टे रोजाना काम लेने और उनको उस अनिवार्य शिक्षा के नियम से भी मुक्त कर देने का अधिकार दे दिया था, जो फ़ैक्टरियों में काम करने वाले बाक़ी सब बच्चों पर लागू था। इस बार बहाना यह था कि "जिस कपड़े को ये बच्चे बनाते हैं, उसकी नाजुक बनावट के लिये अत्यधिक कोमल स्पर्श की आवश्यकता होती है, जो बाल्यावस्था से ही फ़ैक्टरियों में काम शुरू कर देने पर ही उनकी उंगलियों में पैदा हो सकता है।"[6] जिस प्रकार दक्षिणी रूस में सींगदार ढोर खाल और चर्बी के लिये जिबह कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार यहां इंगलैण्ड में बच्चे अपनी नाजुक उंगलियों के लिये जिबह होते रहे। अन्त में १८४४ में दिये गये इन

---

[1] जाड़ों में इसके बजाय सुबह के ७ बजे से शाम के ७ बजे तक काम लेने की इजाजत थी।

[2] "(१८५० का) मौजूदा क़ानून एक समझौते की तरह था, जिसके जरिये मजदूरों ने दस घण्टे के क़ानून की सुविधाओं को इस सुविधा के एवज में त्याग दिया था कि जिन लोगों के श्रम पर किसी प्रकार के प्रतिबंध लगे हैं, उनके काम के आरम्भ तथा समाप्त होने के समय में एकरूपता हो जायगी।" (*"Reports, &c. for 30th April, 1852"* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५२'], पृ० १४।)

[3] *Reports, &c., for 30th Sept., 1844"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० सितम्बर १८४४'), पृ० १३।

[4] उप० पु०।

[5] उप० पु०।

[6] *"Reports, &c., for 31st Oct., 1846"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४६'), पृ० २०।

विशेषाधिकारों को १८५० में केवल रेशम बटने और रेशम लपेटने के विभागों तक ही सीमित कर दिया गया। लेकिन, पूंजी की चूंकि "आज़ादी" छीन ली गयी थी, इसलिये उसके मुआवज़े के तौर पर ११ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों के काम का समय १० घण्टे से बढ़ाकर १०$\frac{१}{२}$ घण्टे कर दिया गया। बहाना यह था कि "रेशमी कपड़ा तैयार करने वाली मिलों में दूसरी तरह का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों की अपेक्षा हल्का काम करना पड़ता है, और अन्य दृष्टियों से भी वह स्वास्थ्य के लिये कम हानिकारक होता है।"[1] सरकार की तरफ़ से बाद को डाक्टरी जांच-पड़ताल हुई, तो उल्टी बात मालूम हुई। पता चला कि "रेशम के उद्योग वाले इलाक़ों में औसत मृत्यु-दर अत्यधिक ऊंची है, और वहां की स्त्रियों में तो यह दर लंकाशायर के सूती मिलों के इलाक़ों की दर से भी ऊंची पहुंच जाती है।"[2] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर

[1] "*Reports, &c., for 31st Oct., 1861*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६१'), पृ० २६।

[2] उप० पु०, पृ० २७। मोटे तौर पर जिन मज़दूरों पर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू है, उन्होंने शारीरिक दृष्टि से बहुत उन्नति की है। सभी डाक्टर इस बात के साक्षी हैं, और विभिन्न अवसरों पर मैंने व्यक्तिगत रूप से जो कुछ देखा है, उसने भी मुझे इस बात की सचाई का विश्वास दिलाया है। फिर भी, और बच्चों के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जिस भयानक रफ़्तार से उनकी मौतें होती हैं, उसको यदि अलग रखा जाये, तो भी डा० ग्रीनहाऊ की सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि "सामान्य स्वास्थ्य वाले खेतिहर इलाक़ों" की तुलना में औद्योगिक इलाक़ों में स्वास्थ्य की स्थिति बहुत ख़राब है। इसके प्रमाण के रूप में डा० ग्रीनहाऊ की १८६१ की रिपोर्ट में दी हुई यह तालिका देखिये:

| कारख़ानों में काम करने वाले वयस्क पुरुषों की प्रतिशत संख्या | फेफड़ों की बीमारी से मरने वाले पुरुषों की संख्या – प्रति १ लाख के पीछे | डिस्ट्रिक्ट का नाम | फेफड़ों की बीमारी से मरनेवाली स्त्रियों की संख्या – प्रति १ लाख के पीछे | कारख़ाने में काम करने वाली वयस्क स्त्रियों की प्रतिशत संख्या | स्त्रियां किस तरह का काम करती हैं |
|---|---|---|---|---|---|
| १४.६ | ५६८ | वाइगन | ६४४ | १८.० | सूती |
| ४२.६ | ७०८ | ब्लैकबर्न | ७३४ | ३४.६ | सूती |
| ३७.३ | ५४७ | हैलिफ़ेक्स | ५६४ | २०.४ | ऊनी |
| ४१.६ | ६११ | ब्रेडफ़ोर्ड | ६०३ | ३०.० | ऊनी |
| ३१.० | ६६१ | मैक्लेसफ़ील्ड | ८०४ | २६.० | रेशमी |
| १४.६ | ५८८ | लीक | ७०५ | १७.२ | रेशमी |
| ३६.६ | ७२१ | ट्रेण्ट नदी के तट पर स्थित स्टोक | ६६५ | १६.३ | मिट्टी के बर्तन |
| ३०.४ | ७२६ | वूलसटैण्टन | ७२७ | १३.६ | मिट्टी के बर्तन |
| | ३०५ | ८ स्वस्थ खेतिहर डिस्ट्रिक्ट | ३४० | | |

हर छः महीने के बाद इस स्थिति के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द करता है, पर यह कुप्रथा आज तक ज्यों की त्यों चली आती है।[1]

सुबह ५.३० बजे से रात के ८.३० बजे तक के १५ घण्टे के काम के समय को १८५० के क़ानून ने केवल "लड़के-लड़कियों और स्त्रियों" के लिये ६ बजे सुबह से ६ बजे शाम तक के १२ घण्टे के समय में बदल दिया इसलिये, इस क़ानून का उन बच्चों पर कोई असर नहीं पड़ा, जिनसे हमेशा इस काल के आधा घण्टा पहले और $२\frac{१}{२}$ घण्टे बाद काम लिया जा सकता था। हां, इतना ख़याल रखना ज़रूरी था कि कुल मिलाकर उनसे $६\frac{१}{२}$ घण्टे से ज़्यादा काम न लिया जाये। जब बिल पर बहस चल रही थी, तो फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने संसद के सामने इस बारे में आंकड़े पेश किये कि इस असंगति से मालिक कितना बेजा फ़ायदा उठा रहे हैं। पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ। कारण कि पृष्ठभूमि में तो यह इच्छा थी कि व्यवसाय की समृद्धि का काल आने पर बच्चों की मदद से वयस्क पुरुषों से किसी न किसी तरह १५ घण्टे रोजाना काम कराया जाये। इसके बाद के तीन वर्षों के अनुभव से यह मालूम हुआ कि यदि ऐसी कोई कोशिश की जायेगी, तो वह वयस्क मजदूरों के विरोध के सामने कामयाब नहीं हो सकेगी।[2] इसलिये आख़िर १८५३ में "सुबह को लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों के पहले और शाम को उनके बाद बच्चों से काम लेने" की मनाही करके १८५० के क़ानून को पूर्णता दी गयी। इस समय से १८५० का फ़ैक्टरी-क़ानून कुछ अपवादों को छोड़कर बाक़ी उन सभी मजदूरों के काम के दिन का नियमन करने लगा, जो उद्योग की उन शाखाओं में काम करते थे, जिनपर यह क़ानून लागू था।[3]

---

[1] यह बात सुविदित है कि इंगलैण्ड के "स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों" ने रेशम के उद्योग के संरक्षण के लिये लगायी गयी चुंगी की मंसूख़ी के सम्बन्ध में कितनी अनाकानी दिखायी थी। पर अब यदि फ़्रांस से आने वाले रेशमी माल पर लगी हुई चुंगी उसकी रक्षा नहीं करती, तो उसके बजाय इंगलैण्ड के कारख़ानों में काम करने वाले बच्चों के लिए संरक्षण का अभाव उसकी सहायता करता है।

[2] *"Reports, &c., for 30th April, 1853"* ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५३'), पृ० ३१।

[3] १८५९ और १८६० इंगलैण्ड के सूती उद्योग के परमोत्कर्ष के वर्ष थे। इन वर्षों में कुछ कारख़ानेदारों ने ओवरटाइम काम के लिये ऊंची मजदूरी का लालच देकर वयस्क पुरुषों को काम के दिन के विस्तार के लिये राज़ी करने की कोशिश की। हाथ से चलने वाले म्यूल पर कताई करने वाले मजदूरों ने और अपने आप चलने वाले म्यूलों की देखरेख करने वाले मजदूरों ने मालिकों के पास एक दरख़ास्त भेजकर इस प्रयास का अन्त कर दिया। इस दरख़ास्त में उन्होंने कहा था: "यदि साफ़-साफ़ कहा जाये, तो हमारा जीवन हमारे लिये एक बोझा बन गया है, और जब तक हम लोगों को प्रति सप्ताह देश के बाक़ी मजदूरों से लगभग दो दिन [२० घण्टे] अधिक मिलों में बन्द रखा जायेगा, तब तक हम अपने को कृषि-दासों के समान समझते रहेंगे और हमें लगेगा कि हम एक ऐसी व्यवस्था को चिरस्थायी बना रहे हैं, जो हमारे लिये और आने वाली पीढ़ियों के लिये हानिकारक है... इसलिये इस दरख़ास्त के

इस वक़्त तक पहले फ़ैक्टरी-क़ानून को पास हुए आधी शताब्दी बीत चुकी थी।[1]

फ़ैक्टरियों के सम्बंध में बनाये गये क़ानून पहली बार "*Printworks' Act of 1845*" ('१८४५ के कपड़े की छपाई करने वाले कारख़ानों के क़ानून') की शकल में अपने मूल-क्षेत्र से आगे बढ़े। पूंजी इस नयी "ज़्यादती" से कितनी नाराज़ थी, यह इस क़ानून की एक-एक पंक्ति से ज़ाहिर होता है। ८ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों और स्त्रियों के काम के दिन पर उसने १६ घण्टे की सीमा लगायी है। उसके अनुसार, इन बच्चों तथा स्त्रियों को सुबह ६ बजे से रात के १० बजे तक काम करना पड़ता है, और खाने, नाश्ते आदि के लिये भी उनको कोई छुट्टी देना क़ानूनन ज़रूरी नहीं है। १३ वर्ष से ऊपर के पुरुषों से यही क़ानून दिन-रात इच्छानुसार काम लेने की इजाज़त देता है।[2] असल में, यह एक संसदीय गर्भ-पात है।[3]

परन्तु उद्योग की उन विशाल शाखाओं में, जो उत्पादन की आधुनिक प्रणाली की विशिष्ट पैदावार हैं, मान्यता प्राप्त करके सिद्धान्त ने विजय प्राप्त की। १८५३ से १८६० तक फ़ैक्टरी-मज़दूरों के शारीरिक एवं नैतिक पुनरुत्थान के साथ-साथ इन शाखाओं का जैसा चमत्कारपूर्ण विकास हुआ, उसे एक अत्यन्त क्षीण-दृष्टि व्यक्ति भी देख सकता था। काम के दिन पर सीमा लगाने और उसका नियमन करने के क़ानून मिल-मालिकों से आधी शताब्दी तक गृह-युद्ध चलाकर क़दम-ब-क़दम मनवाये गये थे, पर अब वे ख़ुद भी बड़ी डींग मारते हुए इस बात का ज़िक्र किया करते थे कि शोषण की जो शाखाएं अभी तक "स्वतंत्र" हैं, उनके

---

द्वारा हम अत्यन्त आदरपूर्वक आपको यह सूचना देना चाहते हैं कि बड़े दिन तथा नये साल की छुट्टियों के बाद जब हम फिर से काम आरम्भ करेंगे, तो हम ६० घण्टे प्रति सप्ताह काम करेंगे, उससे ज़्यादा नहीं, या यूं कहिये कि हम छः बजे से छः बजे तक काम करेंगे और बीच में डेढ़ घण्टे की छुट्टी लेंगे।" ("*Reports, &c., for 30th April, 1860*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६०'], पृ० ३०।)

[1] इस क़ानून की शब्दावली से उसका उल्लंघन करने की कितनी सुविधा हो गयी थी, यह जानने के लिये देखिये संसद का प्रकाशन "*Factories Regulation Acts*" ('फ़ैक्टरियों के नियमन के क़ानून') (६ अगस्त १८५९) और उसमें देखिये Leonard Horner (लेओनार्ड होर्नर) का लेख "*Suggestions for amending the Factory Acts to enable the inspectors to prevent illegal working, now becoming very prevalent*" ('इंस्पेक्टरों को आजकल अत्यन्त प्रचलित होते जाने वाले ग़ैर-क़ानूनी काम को रोकने के योग्य बनाने के उद्देश्य से फ़ैक्टरी-क़ानूनों में संशोधन करने के विषय में कुछ सुझाव')।

[2] "८ वर्ष और उससे अधिक उम्र के बच्चों से मेरे डिस्ट्रिक्ट में पिछले छः महीने से (१८५७) सचमुच सुबह ६ बजे से रात के ९ बजे तक काम लिया जा रहा है।" ("*Reports, &c., for 31st October, 1857*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५७'], पृ० ३९।)

[3] "Printworks' Act (कपड़े की छपाई करने वाले कारख़ानों का क़ानून) अपनी शिक्षा-सम्बन्धी तथा श्रम की रक्षा करने वाली, दोनों प्रकार की धाराओं की दृष्टि से असफल रहा है, – यह बात अब सभी मानते हैं।" ("*Reports, &c., for 31st October, 1862*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५२।)

मुक़ाबले में उनकी अपनी शाखाओं की हालत कितनी अच्छी है।[1] "अर्थशास्त्र" के पाखण्डी प्रचारक अब यह कहते फिरते थे कि क़ानून द्वारा काम के दिन को निश्चित करने की आवश्यकता को महसूस करना – यह उनके "विज्ञान" का एक विशिष्ट एवं नवीन आविष्कार था।[2] यह बात आसानी से समझ में आ जानी चाहिये कि जब कल-कारखानों के मालिकों ने अवश्यम्भावी के सामने सिर झुका दिया और उसे अनिवार्य मानकर स्वीकार कर लिया, उसी समय से पूंजी की प्रतिरोध की शक्ति धीरे-धीरे कम होती गयी और साथ ही, प्रत्यक्ष रूप से इस सवाल में कोई दिलचस्पी न रखने वाले समाज के वर्गों से नये सहायक मिलने के साथ-साथ, मजदूर-वर्ग की पूंजी पर हमला करने की शक्ति बढ़ती गयी। १८६० के बाद से इसीलिये अपेक्षाकृत तीव्र गति से प्रगति हुई है।

कपड़ा रंगने और सफ़ेद करने के सब के सब कारखाने १८६० में १८५० के फ़ैक्टरी-क़ानून के मातहत आ गये;[3] लैस और जुर्राबें तैयार करने वाले कारखानों पर यह क़ानून १८६१ में लागू हुआ।

---

[1] मिसाल के लिये, २४ मार्च १८६३ के "*The Times*" में ई० पोटर का पत्र देखिये। "*The Times*" ने मि० पोटर को दस घण्टे के बिल के ख़िलाफ़ कारख़ानेदारों के विद्रोह का स्मरण करवाया था।

[2] अन्य व्यक्तियों के अलावा, "*History of Prices*" ('दामों का इतिहास') लिखने में टूके के सहयोगी तथा इस पुस्तक के सम्पादक मि० डब्लयू० न्यूमार्च ने भी इसी प्रकार की बात कही है। कायरों की तरह जनमत के सामने सिर झुका देना भी क्या विज्ञान की प्रगति है?

[3] १८६० में जो क़ानून पास हुआ था, उसने कपड़े रंगने तथा सफ़ेद करने के कारख़ानों के विषय में यह तै किया था कि १ अगस्त १८६१ से काम का दिन अस्थायी तौर पर १२ घण्टे का और १ अगस्त १८६२ से निश्चित रूप से १० घण्टे का माना जाये, यानी मजदूर साधारण दिनों को $१०\frac{१}{२}$ घण्टे और शनिवार को $७\frac{१}{२}$ घण्टे काम किया करें। लेकिन जब १८६२ का निर्णायक वर्ष आया, तो फिर वही पुराना नाटक दोहराया गया। इसके अलावा, कारख़ानेदारों ने संसद को दरख़ास्त दी कि उन्हें और एक साल तक लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से १२ घण्टे रोज़ काम लेने की इजाज़त दी जाये। उन्होंने लिखा था कि "व्यवसाय की वर्तमान अवस्था में (यह कपास के अकाल का समय था) मजदूरों का इसमें बड़ा लाभ है कि वे १२ घण्टे रोज़ाना काम करें और जब मजदूरी कमा सकते हैं, कमा लें।" इस आशय का एक बिल भी संसद में पेश कर दिया गया था, "और मुख्यतया यह स्कोटलैण्ड के कपड़ा सफ़ेद करने के कारख़ानों के मजदूरों की कार्रवाइयों का नतीजा था कि बाद में इस बिल का विचार छोड़ दिया गया था।" ("*Reports, &c., for 31st October, 1862*" ['रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० १४-१५।) जब पूंजी को उन्हीं मजदूरों ने परास्त कर दिया, जिनके नाम पर बोलने का वह दावा करती थी, तो उसने वकीलों के चश्मों की मदद से यह खोज की कि १८६० के क़ानून में, संसद के 'श्रम के संरक्षण' के उद्देश्य से बनाये गये अन्य क़ानूनों की तरह, बहुत सी ऐसी अस्पष्ट बातें हैं, जिनके बहाने से वे "calenderers" (इस्तरी करने वाले मजदूरों) और "finishers" (फ़िनिश करने वाले मजदूरों) को इस क़ानून के क्षेत्र से अलग कर सकते हैं। अंग्रेजों का न्यायशास्त्र सदा पूंजी का वफ़ादार सेवक रहा है। उसने

बच्चों की नौकरी से सम्बंधित कमीशन की पहली रिपोर्ट (१८६३) का परिणाम यह हुआ कि हर तरह की मिट्टी की चीजें बनाने वाले (केवल मिट्टी के बर्तन बनाने वाले ही नहीं), दियासलाइयां बनाने वाले, कारतूसों की टोपियां और कारतूस बनाने वाले, क़ालीन बनाने वाले, फ़स्टियन कपड़ा काटने वाले (fustion cutting) और "finishing" (फ़िनिश करना) कहलाने वाली अन्य अनेक क्रियाओं को करने वाले कारखानों का भी यही हाल हुआ। १८६३ में खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करने और रोटी बनाने के उद्योगों पर[1] कुछ

---

Court of Common Pleas (दीवानी मुक़दमे निपटाने वाली अदालत) में इस मक्कारी पर अपनी मुहर लगा दी। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की एक रिपोर्ट में लिखा है: "मजदूरों को इससे बड़ी निराशा हुई है... वे शिकायत करते हैं कि उनसे अत्यधिक काम लिया जाता है, और यह बहुत खेद की बात है कि एक परिभाषा में थोड़ी सी त्रुटि रह जाने के कारण क़ानून का स्पष्ट उद्देश्य धूल में मिल जाता है।" (उप० पु०, पृ० १८।)

[1] "खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करने वाले कारख़ाने" यह झूठा बहाना बनाकर १८६० के क़ानून से बच गये थे कि उनमें औरतें रात को काम नहीं करतीं। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने इस झूठ का भण्डाफोड़ किया और साथ ही मजदूरों ने दरख़ास्तें देकर संसद की यह ग़लतफ़हमी दूर कर दी कि खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करने वाले कारख़ानों में घास के मैदानों की ठण्डी हवा का वातावरण रहता है। इस प्रकार के कारख़ानों में कपड़े सुखाने के कमरों में ९० से १०० डिगरी फ़ैरनहाइट [३२ से ३८ डिगरी सेंटीग्रेड] तक का तापमान रहता था, और उनमें ज्यादातर लड़कियां काम करती थीं। ये लड़कियां कभी-कभार सुखाने के कमरों से बाहर ताज़ा हवा में निकल आती थीं; इसके लिये "cooling" (ठण्डा होना) शब्दावली का प्रयोग किया जाता था। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की एक रिपोर्ट में लिखा है: "पन्द्रह लड़कियां भट्ठियों में काम करती हैं। लिनेन के लिये यहां ८० से ९० डिगरी [२७ से ३२ डिगरी सेंटीग्रेड] तक की और कैम्ब्रिक के लिये १०० डिगरी [३८ डिगरी सेंटीग्रेड] तथा उससे ज्यादा की गरमी रहती है। १० वर्ग-फ़ीट के एक छोटे से कमरे में, जिसके बीचोंबीच एक बन्द भट्ठी होती है, बारह लड़कियां इस्तरी और तह करती रहती हैं। भट्ठी में से भयानक गरमी निकलती रहती है, और लड़कियां उसके इर्द-गिर्द खड़ी हुई कैम्ब्रिक को जल्दी से सुखा-सुखाकर इस्तरी करने वाली लड़कियों को देती जाती हैं। इन मजदूरिनों के काम के घण्टों की कोई सीमा नहीं है। यदि काम ज्यादा होता है, तो ये हर रात को ९ या १२ बजे तक काम करती रहती हैं।" (*"Reports, &c., for 31st October, 1862"* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५६।) एक डाक्टर ने कहा है: "ठण्डा होने के लिये कोई ख़ास समय निश्चित नहीं है, लेकिन यदि तापमान बहुत बढ़ जाता है या मजदूरों के हाथ पसीने से ख़राब हो जाते हैं, तो उनको चन्द मिनट के लिये बाहर चले जाने की इजाजत दे दी जाती है . . . भट्ठी पर काम करने वाली मजदूरिनों की बीमारियों के इलाज का मुझे बहुत काफ़ी अनुभव है, और यह अनुभव मुझे यह कहने पर मजबूर करता है कि सफ़ाई की दृष्टि से इन लोगों को जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, वे उतनी अच्छी नहीं होतीं, जितनी अच्छी परिस्थितियों में कताई करने वाली मिलों की मजदूरिनें काम करती हैं (हालांकि पूंजी ने संसद के नाम अपने आवेदन-पत्रों में भट्ठी पर काम करने वाली मजदूरिनों की स्थिति का रूबेन्स की कलाकृति के समान बड़ा भड़कीला चित्र खींचा था)। इन मजदूरिनों में जो बीमारियां सबसे

ऐसे ख़ास क़ानून लागू कर दिये गये, जिनके मातहत पहले उद्योग में लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से रात को (रात के ८ बजे से सुबह के ६ बजे तक) काम लेने की मनाही कर दी गयी और दूसरे उद्योग में १८ वर्ष से कम उम्र के रोटी बनाने वाले कारीगरों से रात के ६ बजे से सुबह के ५ बजे तक काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसी कमीशन ने बाद को कुछ ऐसे सुझाव दिये थे, जिनसे इस बात की आशंका पैदा हो गयी थी कि खेती, खानों और परिवहन के साधनों को छोड़कर इंगलैण्ड में उद्योग की बाक़ी सभी महत्त्वपूर्ण शाखाओं की "स्वतंत्रता" ख़तम हो जायेगी।[1] इन सुझावों का हम बाद में ज़िक्र करेंगे।

## अनुभाग ७—काम के सामान्य दिन के लिये संघर्ष। अंग्रेज़ी फ़ैक्टरी-क़ानूनों की दूसरे देशों में प्रतिक्रिया

पाठक को यह बात याद होगी कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना, या किसी न किसी तरह अतिरिक्त श्रम चूसना, पूंजीवादी उत्पादन का विशिष्ट लक्ष्य एवं उद्देश्य और उसका सार-तत्त्व होता है; श्रम के पूंजी के अधीन हो जाने के फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली में

---

अधिक देखी जाती हैं, वे हैं तपेदिक़, सांस की नलियों पर वर्म आ जाना, गर्भाशय का ठीक तरह से काम न करना, अपने अत्यधिक उग्र रूप में हिस्टीरिया और गठिया। ये सारी बीमारियां, मेरे ख़याल से, या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से उन कमरों की गन्दी और गरम हवा के कारण होती हैं जिनमें मज़दूरिनों को काम करना पड़ता है, और उनकी दूसरी वजह यह है कि मज़दूरिनों के पास काफ़ी और आराम-देह कपड़े नहीं होते, जो जाड़ों में घर लौटते समय ठण्डी और नम हवा से उनकी रक्षा कर सकें।" (उप० पु०, पृ० ५६-५७।) १८६३ के अनुपूरक क़ानून के बारे में, जो कि खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करने वाले कारख़ानों के मालिकों के विरोध के बावजूद पास हुआ था, फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने लिखा है: "यह क़ानून न केवल मज़दूरों को वह संरक्षण देने में असफल रहा है, जो ऊपर से देखने में वह उनको देता है, बल्कि उसमें स्पष्टतया एक ऐसी धारा भी है, . . जिसकी शब्दावली कुछ इस प्रकार की प्रतीत होती है कि जब तक मज़दूर रात को ८ बजे के बाद काम करते हुए नहीं पकड़े जाते, तब तक उनको किसी प्रकार का भी संरक्षण नहीं मिल सकता, और यदि वे रात को ८ बजे के बाद काम भी करते हैं, तो इसका सबूत देने का तरीक़ा इतना त्रुटिपूर्ण है कि मुक़दमे में मुश्किल से ही सज़ा हो पाती है।" (उप० पु०, पृ० ५२।) "इसलिये, यह क़ानून यदि जन-कल्याण एवं जन-शिक्षा के किसी उद्देश्य से बनाया गया था, तो सभी दृष्टियों से वह असफल सिद्ध हुआ है। कारण कि स्त्रियों और बच्चों को भोजन की छुट्टी के साथ या उसके बिना ही १४ घण्टे रोज़ाना या शायद उससे भी ज्यादा काम करने की इजाज़त दे देना—जिसका मतलब होता है उनको १४ घण्टे रोज़ाना या उससे भी ज्यादा काम करने के लिये मजबूर करना—और इस बात में न तो उम्र की किसी सीमा को मानना, न स्त्री और पुरुष में कोई भेद करना और न ही ऐसे कारख़ानों (कपड़े सफ़ेद करने और रंगने के कारख़ानों) के अड़ोस-पड़ोस में रहने वाले परिवारों के सामाजिक रीति-रिवाजों का कोई ख़याल करना—यह, ज़ाहिर है, जन-कल्याण करना नहीं समझा जा सकता।" (*"Reports, &c., for 30th April, 1863"* ['रिपोर्ट', इत्यादि, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ४०।)

[1] दूसरे संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: यह अंश मैंने १८६६ में लिखा था। तब से फर कुछ प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी है।

चाहे जैसे परिवर्तन हो जायें, उनसे इस बात में कोई अन्तर नहीं आता। पाठक को याद होगा कि अभी हम जहां तक आये हैं, वहां तक केवल स्वतंत्र मजदूर ही और, इसलिये, केवल वही मजदूर, जिसे अपने मामलों का खुद प्रबंध करने का क़ानूनी अधिकार प्राप्त है, एक माल के विक्रेता के रूप में पूंजीपति के साथ एक क़रार करता है। इसलिये, हमने जो ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसमें यदि एक तरफ़ आधुनिक उद्योग की और दूसरी तरफ़ उन लोगों के श्रम की, जो शारीरिक एवं क़ानूनी दृष्टि से नाबालिग़ हैं, महत्वपूर्ण भूमिकाएं हैं, तो पहला हमारी नजरों में श्रम के शोषण का एक खास विभाग मात्र था और दूसरा उस शोषण का एक विशेष रूप से उल्लेखनीय उदाहरण भर था। लेकिन , आगे हमारी खोज किस दिशा में बढ़ेगी, इसपर अभी कुछ न कहकर, हम केवल उन ऐतिहासिक तथ्यों के आन्तरिक सम्बंधों से भी कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो हमारे सामने मौजूद हैं:

पहली बात। पूंजी में काम के दिन का अंधाधुंध और सीमाहीन विस्तार करने की जो प्रबल इच्छा होती है, वह पहली बार उन उद्योगों में पूरी होती है, जिनमें पानी की ताक़त, भाप और मशीनों ने सबसे शुरू में क्रान्ति पैदा कर दी थी; वह सर्वप्रथम उत्पादन की आधुनिक प्रणाली की प्रथम कृतियों में, यानी कपास, ऊन, सन और रेशम की कताई और बुनाई के उद्योगों में, पूरी होती है। उत्पादन की भौतिक प्रणाली में जो परिवर्तन हुए और उनके अनुरूप उत्पादकों के सामाजिक सम्बंधों में जो तबदीलियां आयीं,[1] उनसे पहले तो काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा खींचने की प्रवृत्ति पैदा हुई और फिर उसके विरोध में यह मांग उठी कि इस प्रवृत्ति पर समाज को नियंत्रण रखना चाहिये और काम के दिन को तथा विराम के समय को क़ानून बनाकर सीमित कर देना चाहिये, उनका नियमन करना चाहिये और उनको सबके लिये एक सा बना देना चाहिये। इसलिये समाज द्वारा यह नियंत्रण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केवल अपवाद-स्वरूप बनाये गये क़ानूनों का रूप लेता है।[2] जब उत्पादन की नयी प्रणाली के इस आदिम क्षेत्र को जीत लिया गया, तो पता चला कि इस बीच में न केवल उत्पादन की अन्य बहुत सी शाखाओं में फ़ैक्टरी-व्यवस्था जारी कर दी गयी है, बल्कि जिन उद्योगों में कमोबेश ऐसे तरीक़े इस्तेमाल होते हैं, जो एकदम व्यवहारातीत हो गये हैं, जैसे मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग, कांच बनाने के उद्योग आदि में तथा रोटी बनाने की तरह की पुराने ढंग की दस्तकारियों में और यहां तक कि कीलें बनाने जैसे तथाकथित घरेलू उद्योगों में भी[3] बहुत समय पहले से पूंजीवादी शोषण का वैसा ही पूर्ण प्रभुत्व कायम हो गया

[1] "इन वर्गों (पूंजीपतियों और मज़दूरों) में से प्रत्येक का आचरण उस सापेक्ष परिस्थिति का फल है, जिसमें वह वर्ग अपने को पाता है।" (*"Reports, &c., for 31st October, 1848"* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८'], पृ० ११३।)

[2] "जिन धंधों में मज़दूरों के काम पर प्रतिबंध लगाये गये, वे भाप या पानी की ताक़त से कपड़ा बनाने से सम्बंधित थे। दो बातें थीं, जिनसे कोई भी उद्योग सरकारी निरीक्षण में आ जाता था: एक, भाप या पानी की ताक़त का प्रयोग, और, दूसरे, कुछ ख़ास तरह के कपड़ों का बनाया जाना।" (*"Reports, &c., for 31st October, 1864"* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६४'], पृ० ८।)

[3] तथाकथित घरेलू उद्योगों की हालत के बारे में *"Children's Employment Commission"* ("बाल-सेवायोजन आयोग") की सबसे ताज़ा रिपोर्टों में विशेष रूप से मूल्यवान सामग्री मिलती है।

है, जैसा खुद फ़ैक्टरियों पर क़ायम हो चुका था। इसलिये, धीरे-धीरे क़ानूनों को अपना आपवादिक स्वरूप त्याग देना पड़ा था, – इंगलैण्ड की तरह, जहां पर क़ानून रोमन कुतर्कियों की तरह चलता है, – हर उस मकान को, जिसमें काम होता है, फ़ैक्टरी घोषित कर देना पड़ा।[1]

दूसरी बात। उत्पादन की कुछ शाखाओं में काम के दिन के नियमन का जो इतिहास रहा है और इस नियमन के प्रश्न को लेकर अन्य शाखाओं में आज भी जो संघर्ष चल रहा है, उसमें यह बात निर्णायक रूप से सिद्ध हो जाती है कि जब एक बार पूंजीवादी उत्पादन एक खास मंज़िल पर पहुंच जाता है, तो अकेले मज़दूर में, यानी अपनी श्रम-शक्ति को "स्वतंत्र" रूप से बेचने वाले मज़दूर में, उसका तनिक भी विरोध करने की शक्ति नहीं रहती और वह उसके सामने आत्म-समर्पण कर देता है। इसलिये काम के सामान्य दिन को यदि मनवाया जा सका है, तो वह पूंजीपति-वर्ग और मज़दूर-वर्ग के बीच न्यूनाधिक छद्म वेश में चलने वाले एक लम्बे गृह-युद्ध का फल है। चूंकि यह संग्राम आधुनिक उद्योगों के मैदान में चलता है, इसलिये वह पहले-पहल इन उद्योगों की जन्मभूमि में – इंगलैण्ड में – शुरू हुआ।[2] इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-मज़दूर न केवल अंग्रेज़ मज़दूर-वर्ग के, बल्कि समस्त आधुनिक मज़दूर-वर्ग के अलमबरदार थे, और उनके सिद्धान्तवेत्ताओं ने पहले-पहल पूंजी के सिद्धान्तवेत्ताओं को चुनौती दी थी।[3] चुनांचे फ़ैक्टरी का दार्शनिक उरे अंग्रेज़ मज़दूर-वर्ग के लिये यह एक चिरस्थायी अपमान

---

[1] "पिछले अधिवेशन (१८६४) के क़ानून... तरह-तरह के बहुत से धंधों से सम्बंध रखते हैं, जिनके रीति-रिवाज बहुत भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, और अब क़ानूनी भाषा में "फ़ैक्टरी" कहलाने के लिये पहले की तरह यह ज़रूरी नहीं रह गया है कि मशीनों में गति पैदा करने के लिये यांत्रिक शक्ति का प्रयोग किया जाये।" (*"Reports, &c., for 31st October, 1864"* ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६४'], पृ० ८।)

[2] योरपीय उदारतावाद के स्वर्ग – बेल्जियम – में इस आन्दोलन का कोई चिन्ह दिखाई नहीं देता। यहां तक कि कोयला-खानों और धातुओं की खानों में भी पूंजी दिन या रात के किसी भी हिस्से में और किसी भी समय तक हर उम्र के मज़दूरों और मज़दूरिनों को पूर्ण "स्वतंत्रता" के साथ निचोड़ती रहती है। वहां काम करने वाले हर १,००० व्यक्तियों में से ७३३ पुरुष होते हैं, ८८ स्त्रियां, १३५ लड़के और ४४ सोलह वर्ष से कम आयु की लड़कियां; हवा-भट्ठियों आदि पर काम करने वाले प्रत्येक १,००० व्यक्तियों में से ६८८ पुरुष होते हैं, १४६ स्त्रियां, ६८ लड़के और ८५ सोलह वर्ष से कम आयु की लड़कियां। चित्र को पूरा करने के लिये उसमें यह और जोड़ दीजिये कि इस परिपक्व एवं अपरिपक्व श्रम-शक्ति का जो भयानक शोषण होता है, उसके एवज़ में बहुत ही कम मज़दूरी मिलती है। पुरुष की औसत दैनिक मज़दूरी २ शिलिंग ८ पेंस है, स्त्री की १ शिलिंग ८ पेंस और लड़के की १ शिलिंग २$\frac{१}{२}$ पेंस। परिणाम यह है कि १८६३ में बेल्जियम ने कोयले, लोहे आदि के अपने निर्यात का परिमाण तथा मूल्य दोनों को १८५० का लगभग दुगुना कर दिया था।

[3] रोबर्ट ओवेन ने १८१० के कुछ समय बाद ही न केवल सिद्धान्त के रूप में फ़ैक्टरियों के काम के दिन को सीमित करने की आवश्यकता स्वीकार की थी, बल्कि न्यू लैनार्क में स्थित अपनी फ़ैक्टरी में सचमुच १० घण्टे का दिन जारी कर दिया था। लोग इसे साम्यवादी स्वप्न-

की बात समझता है कि "श्रम की पूर्ण स्वतंत्रता" के लिये पौरुष के साथ लड़ने वाली पूंजी के मुक़ाबले में मजदूरों ने अपनी पताका पर "फ़ैक्टरी-क़ानूनों की ग़ुलामी" का नारा अंकित कर रखा था।[1]

फ़्रांस लंगड़ाता हुआ धीरे-धीरे इंगलैण्ड के पीछे-पीछे चल रहा है। फ़्रांस का १२ घण्टे का क़ानून जिस अंग्रेजी क़ानून की नक़ल है, उसके मुक़ाबले में वह बहुत ही दोषपूर्ण है।[2] फिर भी, इस दुनिया में इस क़ानून को वजूद में लाने के लिये वहां फ़रवरी-क्रान्ति की आवश्यकता हुई। पर इन तमाम बातों के बावजूद फ़्रांस की क्रान्तिकारी पद्धति में कुछ विशेष गुण है। वह एक बार हमेशा के लिये और बिना किसी भेद-भाव के सभी कारख़ानों और फ़ैक्टरियों में काम के दिन पर एक सी सीमा लगा देती है, जब कि इंगलैण्ड के क़ानून बड़ी हिचकिचाहट दिखाते हुए कभी इस बात पर परिस्थितियों के दबाव के सामने झुक जाते हैं, तो कभी इस बात पर और परस्पर विरोधी धाराओं के एक बहुत ही उल्टे-सीधे गोरखधंधे में खोते जा रहे हैं।[3] इंगलैण्ड

---

लोक बनाने की कोशिश समझकर उसपर हंसते थे। इसी तरह, ओवेन ने "बच्चों की शिक्षा के साथ उत्पादक श्रम को जोड़ने" का जो प्रयत्न किया था और उन्होंने मजदूरों की जो प्रथम सहकार समितियां बनायी थीं, उनपर भी लोग हंसे थे। आज वह पहला स्वप्न-लोक फ़ैक्टरी-क़ानून बन गया है, दूसरे का हर *"Factory Act"* (फ़ैक्टरी-क़ानून) में सरकारी तौर पर ज़िक्र रहता है और तीसरे का अभी से प्रतिक्रियावादी बकवास की आड़ के रूप में प्रयोग होने लगा है।

[1] Ure, *"Philosophie des Manufactures"* (फ़्रांसीसी अनुवाद), Paris, 1836, खण्ड २, पृ० ३९, ४०, ६७, ७७ इत्यादि।

[2] १८५५ में पेरिस में जो अन्तरराष्ट्रीय सांख्यिकी सम्मेलन हुआ था, उसकी Compte Rendu (रिपोर्ट) में (पृष्ठ ३३२ पर) लिखा है: "फ़्रांस के उस क़ानून के अनुसार, जो फ़ैक्टरियों और वर्कशापों में दैनिक श्रम के काल को १२ घण्टे तक सीमित कर देता है, यह जरूरी नहीं है कि यह १२ घण्टे का काम कुछ ख़ास और पहले से निश्चित समय के अन्दर समाप्त हो जाये। केवल बच्चों के काम का समय तै है। उनसे केवल ५ बजे सुबह से ६ बजे रात तक ही काम लिया जा सकता है। इसलिये इस नाजुक सवाल पर क़ानून की ख़ामोशी से मिल-मालिकों को शायद एक इतवार के दिन को छोड़कर बाक़ी पूरे हफ़्ते अपने कारख़ानों को दिन-रात लगातार चलाने का जो हक़ मिल गया है, उसका कुछ मालिक पूरा-पूरा इस्तेमाल करते हैं। इसके लिये वे मजदूरों की दो पालियों से काम लेते हैं, जिनमें से कोई पाली एक वक़्त में १२ घण्टे से ज्यादा कारख़ाने में नहीं रहती, मगर फ़ैक्टरी में दिन-रात काम होता रहता है। क़ानून का तक़ाज़ा पूरा हो जाता है, पर क्या मानवता का तक़ाज़ा भी पूरा हो जाता है?" "रात को काम करने का मानव-शरीर पर जो घातक प्रभाव पड़ता है," उसके अलावा इस रिपोर्ट में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि "जब बहुत कम रोशनी वाली उन्हीं वर्कशापों में रात को स्त्रियों और पुरुषों को साथ-साथ काम करना पड़ता है, तो उसका बहुत ही घातक प्रभाव होता है।"

[3] "मिसाल के लिये, मेरे डिस्ट्रिक्ट में एक कारख़ानेदार है, जिसका एक ही कारख़ाना है और जो 'कपड़े सफ़ेद करने और रंगने वाले कारख़ानों के क़ानून' के मातहत कपड़े सफ़ेद करने वाला और रंगने वाला है, *"Print Works Act"* ('कपड़े की छपाई करने वाले कारख़ानों

में जो अधिकार केवल बच्चों, नाबालिग़ों और स्त्रियों के नाम पर प्राप्त किया गया था और जो महज़ अभी हाल में एक सामान्य अधिकार के रूप में माना गया है,[1] उसे फ़्रांसीसी क़ानून में एक सिद्धान्त के रूप में घोषित कर दिया गया है।

उत्तरी अमरीका के संयुक्त राज्य में, जब तक प्रजातंत्र के एक भाग को दास-प्रथा कुरूप बनाये रही, तब तक मजदूरों का प्रत्येक स्वतंत्र आन्दोलन लुंज बना रहा। जहां काली चमड़ी के श्रम के माथे पर गुलामी की मुहर लगी हुई है, वहां सफ़ेद चमड़ी का श्रम अपने को मुक्त नहीं कर सकता। परन्तु दास-प्रथा की मृत्यु हो जाने पर तुरन्त ही एक नये जीवन का उदय हुआ। गृह-युद्ध का पहला फल यह हुआ कि आठ घण्टे का आन्दोलन शुरू हो गया, जो रेल के इंजन की तूफ़ानी रफ़्तार से एटलांटिक महासागर से प्रशान्त महासागर तक और न्यू इंगलैण्ड से कैलिफ़ोर्निया तक फैल गया। बाल्टिमोर में General Congress of Labour (श्रम के सामान्य सम्मेलन) ने (१६ अगस्त १८६६ को) ऐलान कर दिया कि "आज पहली और सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि इस देश के मजदूरों को पूंजी की दासता से मुक्त करने के लिये एक ऐसा क़ानून पास किया जाये, जिसके मातहत अमरीकी संघ के सभी राज्यों में काम का सामान्य दिन आठ घण्टे का हो जाये। हमने निश्चय कर लिया है कि जब तक यह गौरवशाली ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसके लिये प्रयत्न करते जायेंगे।"[2] इसी समय 'अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संघ' की कांग्रेस ने जेनेवा

---

के क़ानून') के मातहत छपाई करने वाला है और "*Factory Act*" ('फ़ैक्टरी-क़ानून') के मातहत finisher (फ़िनिश करने वाला) है। ("*Reports, &c., for 31st October, 1861*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६१'], पृ० २०; मि० बेकर की रिपोर्ट।) इन क़ानूनों की विभिन्न धाराओं और उनसे पैदा होने वाली पेचीदगियों को गिनाने के बाद मि० बेकर ने कहा है: "इससे जाहिर है कि जब कभी कोई ऐसा कारख़ानेदार क़ानून से बचने की कोशिश करता है, तो संसद के इन तीनों क़ानूनों को लागू करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।" पर इससे वकीलों का मुक़दमे हासिल करना जरूर सुनिश्चित हो जाता है।

[1]इस प्रकार, अब कहीं फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की यह कहने की हिम्मत हुई है कि "(काम के दिन पर क़ानूनी सीमाएं लगाने के विरोध में पूंजी की) इन आपत्तियों को श्रम के अधिकारों के व्यापक सिद्धान्त के सामने हार मान लेनी चाहिये . . . एक समय आता है, जब मालिक का अपने मजदूर के श्रम पर अधिकार समाप्त हो जाता है, और यदि मजदूर थका न हो, तो भी मजदूर का समय उसका अपना समय हो जाता है।" ("*Reports, &c., for 31st October, 1862*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५४।)

[2]"हम, डंकर्क के मजदूर, ऐलान करते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में मजदूरों को जितने समय तक काम करना पड़ता है, वह बहुत ज्यादा है, और मजदूर के पास विश्राम करने तथा शिक्षा प्राप्त करने के लिये समय बचने की बात तो दूर रही, इतनी ज्यादा देर तक काम करने के फलस्वरूप वह दासता की एक ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जो गुलामी की प्रथा से थोड़ी ही बेहतर है ("it plunges him into a condition of servitude but little better than slavery")। इसीलिये हम लोग फ़ैसला करते हैं कि काम के दिन के लिये ८ घण्टे काफ़ी हैं। और क़ानून को भी उनको काफ़ी मान लेना चाहिये। इसीलिये हम इस शक्तिशाली साधन का—देश के समाचारपत्रों का—सहायता के लिये आवाहन कर रहे

में लन्दन की जनरल काउंसिल का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया कि "काम के दिन का सीमित किया जाना वह पहली शर्त है, जिसके बग़ैर सुधार और मुक्ति के और सभी प्रयत्न अवश्य ही निष्फल सिद्ध होंगे . . . कांग्रेस का प्रस्ताव है कि काम के दिन की क़ानूनी सीमा आठ घण्टे हो।"

इस प्रकार, एटलाण्टिक महासागर के दोनों ओर मज़दूर-वर्ग का जो आन्दोलन स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से स्वयंस्फूर्त ढंग से पैदा हुआ था, उसने अंग्रेज़ फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर आर० जे० सौण्डर्स के इन शब्दों का समर्थन किया कि "जब तक श्रम के घण्टों को सीमित नहीं किया जाता और निर्धारित सीमा पर कड़ाई के साथ अमल नहीं किया जाता, तब तक समाज-सुधार के आगे के क़दम हरगिज़ नहीं उठाये जा सकते।"[1]

यह मानना पड़ेगा कि हमारे मज़दूर ने जिस अवस्था में उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश किया था, वह उससे बिल्कुल भिन्न अवस्था में इस प्रक्रिया के बाहर निकलता है। मण्डी में वह अपने माल – "श्रम-शक्ति" – के मालिक के रूप में मालों के अन्य मालिकों के मुक़ाबले में खड़ा था। वहां उसकी हैसियत एक विक्रेता के मुक़ाबले में दूसरे विक्रेता की थी। जिस क़रार के द्वारा उसने अपनी श्रम-शक्ति पूंजीपति के हाथ बेची थी, वह इस बात का मानो एक लिखित प्रमाण था कि उसे अपने को बेचने या न बेचने का पूर्ण अधिकार था। पर जब सौदा पक्का हो गया, तो पता चला कि मज़दूर कोई "स्वतंत्र व्यक्ति" नहीं है। वह समझता था कि वह कुछ समय के वास्ते अपनी श्रम-शक्ति बेच देने के लिये स्वतंत्र है; अब पता चला कि जितने समय के वास्ते वह अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिये स्वतन्त्र है, वास्तव में वह समय वही है, जिसे बेचने के लिये उसे मजबूर होना पड़ता है,[2] और "जब तक शोषण करने के लिये एक भी मांस-पेशी, एक

---

हैं, . . और इसीलिये जो लोग हमें इस काम में सहायता देने से इनकार करेंगे, हम उन सब को श्रम के सुधार और मज़दूरों के अधिकारों का दुश्मन समझेंगे।" (डंकर्क, न्यू यार्क राज्य, के मज़दूरों का प्रस्ताव, १८६६।)

[1] "*Reports, &c., for 31st October, 1848*" ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८४८'), पृ० ११२।

[2] "अक्सर यह कहा जाता है कि मज़दूरों को संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि उनको तो अपनी एकमात्र सम्पत्ति को – अपने हाथों की मेहनत और अपने माथे के पसीने को – बेचे देने के मामले में स्वतंत्र व्यक्ति समझना चाहिये। लेकिन इन कार्रवाइयों के रूप में (पूंजी की, मिसाल के लिये, १८४८-५० की तिकड़मों के रूप में) हमें अन्य बातों के अलावा इस कथन की असत्यता का निर्विवाद प्रमाण मिल जाता है।" ("*Reports, &c., for 30th April, 1850*" ['रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८५०'], पृ० ४५।) "एक स्वतंत्र देश में भी स्वतंत्र श्रम (यदि उसके लिये इस शब्दावली का प्रयोग किया जा सकता है, तो) के संरक्षण के लिये कानून के सशक्त हाथों की जरूरत होती है।" ("*Reports, &c., for 31st October, 1864*" ['रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६४'], पृ० ३४।) "खाने की छुट्टी के साथ या उसके बग़ैर १४ घण्टे तक काम करने की अनुमति देना . . . मज़दूरों को १४ घण्टे काम करने के वास्ते मजबूर कर देने के बराबर है," इत्यादि ("*Reports, &c., for 30th April, 1863*" ['रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ४०।)

भी स्नायु, रक्त की एक भी बूंद उसके शरीर में बाक़ी है,"[1] तब तक पूंजी-रूपी डायन उसे अपने पंजों से मुक्त नहीं होने देगी। "यातनायें देने वाले सर्प" से अपनी "रक्षा" करने के लिये मजदूरों को एक साथ मिलकर सोचना होगा और एक वर्ग के रूप में ऐसा क़ानून जबर्दस्ती पास कराना होगा, जो एक सर्वशक्तिमान सामाजिक बंधन के रूप में खुद मजदूरों को पूंजी के साथ स्वेच्छापूर्वक क़रार करके अपने आप को तथा अपने परिवारों को गुलामी और मौत के हाथों बेच देने से रोक देगा।[2] और इसलिये "मनुष्य के अहस्तांतरणीय अधिकारों" की भारी-भरकम सूची के स्थान पर अब क़ानून द्वारा सीमित काम के दिन का वह साधारण सा Magna Charta (महान अधिकार-पत्र) सामने आता है, जो यह स्पष्ट कर देगा कि "जो समय मजदूर बेच देता है, वह समय कब समाप्त हो जाता है और उसका अपना समय कब आरम्भ होता है।"[3] Quantum mutatus ab illo! (चित्र में कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है!)

---

[1] Friedrich Engels, उप० पु०, पृ० ५।

[2] उद्योग की जिन शाखाओं में १० घण्टे का क़ानून लागू है, उनमें उसने "भूतपूर्व देर तक काम करने वाले मजदूरों के समय से पहले ही बूढ़े हो जाने की क्रिया का अन्त कर दिया है।" ("*Reports, &c., for 31st October, 1859*" ['रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५९'], पृ० ४७।) "यह असम्भव है कि (फ़ैक्टरियों में) एक निश्चित समय से अधिक देर तक मशीनों को चालू रखने के लिये पूंजी का इस्तेमाल किया जाये और वहां काम करने वाले मजदूरों के स्वास्थ्य एवं नैतिकता को हानि न पहुंचे। और मजदूर ख़ुद अपनी रक्षा करने की स्थिति में नहीं होते।" (उप० पु०, पृ० ८।)

[3] "इससे भी बड़ा वरदान यह है कि आख़िर मजदूर के समय और उसके मालिक के समय का अन्तर स्पष्ट कर दिया गया है। अब मजदूर जानता है कि जो समय वह बेच देता है, वह कब समाप्त होता है और उसका अपना समय कब आरम्भ हो जाता है। और उसे चूंकि इस बात का निश्चित पूर्व-ज्ञान होता है, इसलिये वह अपने मिनटों का अपनी इच्छानुसार ख़र्च करने के लिये पहले से प्रबंध कर सकता है।" (उप० पु०, पृ० ५२।) "मजदूरों को अपने समय का ख़ुद मालिक बनाकर (फ़ैक्टरी-क़ानूनों ने) उनको एक ऐसी नैतिक शक्ति दे दी है, जो उनको अन्त में राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लेने के लक्ष्य की ओर ले जा रही है।" (उप० पु०, पृ० ४७।) दबे हुए व्यंग्य के साथ और बहुत नपे-तुले शब्दों में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने इस बात का संकेत किया है कि इस क़ानून ने असल में पूंजीपति को भी उस पाशविक क्रूरता से मुक्त कर दिया है, जो उस व्यक्ति में स्वभावतया आ जाती है, जो केवल पूंजी का मूर्त्त रूप होता है, और उसने पूंजीपति को थोड़ी सी "संस्कृति" प्राप्त करने का समय दे दिया है। इसके पहले "मालिक के पास रुपये के सिवा और किसी चीज के लिये समय नहीं था और नौकर के पास मेहनत के सिवा और किसी चीज के लिये समय नहीं था।" (उप० पु०, पृ० ४८।)

## ग्यारहवां अध्याय

## अतिरिक्त मूल्य की दर और अतिरिक्त मूल्य की राशि

पहले की तरह इस अध्याय में भी हम श्रम-शक्ति के मूल्य को और इसलिये काम के दिन के उस भाग को, जो उस श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन अथवा भरण-पोषण के लिये आवश्यक होता है, स्थिर मात्राएं मानकर चल रहे हैं।

इसके साथ-साथ जब अतिरिक्त मूल्य की दर भी मालूम होती है, तब कोई मजदूर एक निश्चित अवधि में पूंजीपति को जितना अतिरिक्त मूल्य देता है, उसकी राशि भी मालूम हो जाती है। मिसाल के लिये, यदि आवश्यक श्रम ६ घण्टे रोजाना का बैठता है, जो कि ३ शिलिंग के मूल्य के बराबर सोने की मात्रा में व्यक्त होता है, तो एक श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य अथवा एक श्रम-शक्ति खरीदने में लगायी गयी पूंजी का मूल्य ३ शिलिंग होगा। इसके अलावा, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर=१०० प्रतिशत, तो ३ शिलिंग की यह अस्थिर पूंजी ३ शिलिंग की अतिरिक्त मूल्य की राशि पैदा करेगी, या यूं कहिये कि मजदूर रोजाना ६ घण्टे के बराबर अतिरिक्त श्रम की राशि पूंजीपति को देगा।

लेकिन किसी भी पूंजीपति की अस्थिर पूंजी उन तमाम श्रम-शक्तियों के कुल मूल्य की मुद्रा के रूप में अभिव्यंजना होती है, जिनसे वह एक साथ काम लेता है। इसलिये, जितनी श्रम-शक्तियों से काम लिया जा रहा है, यदि उनकी संख्या से एक श्रम-शक्ति के औसत मूल्य को गुणा कर दिया जाये, तो अस्थिर पूंजी का मूल्य निकल आता है। इसलिये, श्रम-शक्ति का यदि मूल्य दिया गया हो, तो अस्थिर पूंजी का परिमाण एक साथ काम पर लगाये गये कामगारों की संख्या के प्रत्यक्ष अनुपात के अनुरूप होगा। यदि एक श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य= ३ शिलिंग, तो रोजाना १०० श्रम-शक्तियों का शोषण करने के लिये ३०० शिलिंग की पूंजी लगानी पड़ेगी। और रोजाना 'स' श्रम-शक्तियों का शोषण करने के लिये 'स' गुणा ३ शिलिंग की पूंजी की आवश्यकता होगी।

इसी तरह, यदि ३ शिलिंग की अस्थिर पूंजी से, जो कि एक श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य है, रोजाना ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, तो ३०० शिलिंग की अस्थिर पूंजी से रोजाना ३०० शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा और "स" गुणा ३ शिलिंग की पूंजी से रोजाना "स" गुणा ३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा। इसलिये, एक मजदूर दिन भर में जितना अतिरिक्त मूल्य तैयार करता है, उसे यदि जितने मजदूर काम कर रहे हैं, उनकी संख्या से गुणा कर दिया जाये, तो मालूम हो जायेगा कि अतिरिक्त मूल्य की कुल कितनी राशि पैदा हुई है। परन्तु, इसके अलावा, जब श्रम-शक्ति का मूल्य पहले से मालूम है, तब चूंकि किसी भी एक मजदूर के पैदा किये हुए अतिरिक्त मूल्य की राशि अतिरिक्त मूल्य की दर से निर्धारित होती है, इसलिये इसके निष्कर्ष के रूप में हमें यह नियम मिलता है कि यदि पेशगी लगायी गयी अस्थिर पूंजी को अतिरिक्त मूल्य की दर से गुणा कर दिया जाये, तो उसका फल उत्पादित

अतिरिक्त मूल्य की राशि के बराबर होगा, या, दूसरे शब्दों में, एक पूंजीपति द्वारा एक साथ जितनी श्रम-शक्तियों का शोषण किया जाता है, उनकी संख्या तथा प्रत्येक अलग-अलग श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा के मिश्र-अनुपात से ही अतिरिक्त मूल्य की कुल राशि निर्धारित होगी।

मान लीजिये कि अतिरिक्त मूल्य की राशि 'अमू' है, प्रत्येक मजदूर अलग-अलग एक औसत दिन में 'अ' अतिरिक्त मूल्य तैयार करता है, एक मजदूर की श्रम-शक्ति को खरीदने में रोज 'अस्थि' अस्थिर पूंजी लगायी जाती है, कुल अस्थिर पूंजी 'अपू' है, एक औसत श्रम-शक्ति का मूल्य 'म' है, उसके शोषण की मात्रा $\frac{\text{श्र}'}{\text{श्र}}\left(\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}\right)$ है और काम करने वाले मजदूरों की संख्या 'स' है। तब

$$\text{अमू} = \begin{cases} \frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} \times \text{अपू} \\ \text{म} \times \frac{\text{श्र}'}{\text{श्र}} \times \text{स} \end{cases}$$

हम बराबर यह मानकर चल रहे हैं कि न सिर्फ़ एक औसत श्रम-शक्ति का मूल्य स्थिर है, बल्कि पूंजीपति जिन मजदूरों से काम ले रहा है, वे सब भी बिलकुल औसत ढंग के मजदूर हैं। कुछ ऐसे अपवाद भी होते हैं, जब शोषित मजदूरों की संख्या में जो वृद्धि होती है, अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में उसके अनुपात में वृद्धि नहीं होती; परन्तु ऐसा तब होता है, जब श्रम-शक्ति का मूल्य स्थिर नहीं रहता।

इसलिये अतिरिक्त मूल्य की एक निश्चित राशि के उत्पादन में यदि एक तत्व कम हो जाता है, तो उसकी क्षति दूसरे तत्व को बढ़ाकर पूरी की जा सकती है। यदि अस्थिर पूंजी घट जाती है और साथ ही अतिरिक्त मूल्य की दर उसी अनुपात में बढ़ जाती है, तो कुल जितना अतिरिक्त मूल्य पहले पैदा होता था, उतना ही अब भी पैदा होगा। जैसा कि हम पहले मान चुके हैं, यदि पूंजीपति को रोजाना १०० मजदूरों का शोषण करने के लिये ३०० शिलिंग की पूंजी लगानी पड़ती है और यदि अतिरिक्त मूल्य की दर ५० प्रतिशत है, तो यह ३०० शिलिंग की अस्थिर पूंजी १५० शिलिंग—या काम के १००×३ घण्टों—के बराबर अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगी। यदि अतिरिक्त मूल्य की दर दुगुनी हो जाती है, या काम का दिन ६ घण्टे से बढ़ाकर ९ घण्टे के बजाय १२ घण्टे का कर दिया जाता है, और साथ ही अस्थिर पूंजी घटाकर आधी, यानी १५० शिलिंग, कर दी जाती है, तो भी वह १५० शिलिंग—अथवा काम के ५०×६ घण्टों—के बराबर अतिरिक्त मूल्य ही पैदा करेगी। इसलिये अस्थिर पूंजी की कमी से जो क्षति होती है, उसे श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा को उसी अनुपात में बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है; या अगर काम करने वाले मजदूरों की संख्या में कमी आ जाती है, तो उसकी क्षति को उसी अनुपात में काम के दिन का विस्तार करके पूरा किया जा सकता है। इसलिये, कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर, पूंजी कितने श्रम का शोषण कर सकती है, यह बात इससे स्वतंत्र होती है कि उसे मजदूरों की कितनी बड़ी संख्या मिल सकती है।[1]

[1]मालूम होता है, घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्रियों को इस प्राथमिक नियम का ज्ञान नहीं है। वे श्रम का बाजार-भाव उसकी मांग और पूर्ति से निर्धारित करना चाहते हैं और समझते हैं कि इस तरह उन्होंने एक ऐसा आलम्ब खोज निकाला है, जिससे वे आर्किमिदीज़ की तरह दुनिया को तो हिला नहीं पायेंगे, पर उसकी गति को रोक देंगे।

इसके विपरीत, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर के कम हो जाने के साथ-साथ अस्थिर पूंजी की मात्रा, या काम करने वाले मजदूरों की संख्या, उसी अनुपात में बढ़ जाती है, तो अतिरिक्त मूल्य की राशि ज्यों की त्यों रहेगी।

फिर भी, काम करने वाले मजदूरों की संख्या में कमी आ जाने पर, या लगायी हुई अस्थिर पूंजी की मात्रा घट जाने पर, उसकी क्षति को अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ाकर, या काम के दिन को लम्बा करके, केवल कुछ दुर्लंघ्य सीमाओं के भीतर ही पूरा किया जा सकता है। श्रम-शक्ति का मूल्य कुछ भी हो, मजदूरों के जीवन-निर्वाह के लिये चाहे २ घण्टे का श्रम-काल आवश्यक हो और चाहे १० घण्टे का, एक मजदूर दिन प्रति दिन काम करके अधिक से अधिक जो मूल्य तैयार कर सकता है, वह उस मूल्य से हमेशा कम होता है, जिसमें २४ घण्टे का श्रम निहित होता है। यदि २४ घण्टे के मूर्त रूप प्राप्त श्रम की मुद्रागत अभिव्यंजना १२ शिलिंग हो, तो मजदूर दिन भर में चाहे जितना मूल्य पैदा करे, वह सदा १२ शिलिंग से कम ही होगा। हमने पहले यह माना था कि खुद श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन करने के लिये, या श्रम-शक्ति की खरीद में लगायी गयी पूंजी के मूल्य का स्थान भरने के लिये, रोजाना ६ घण्टे का काम आवश्यक होता है। इस मान्यता के अनुसार, १५०० शिलिंग की अस्थिर पूंजी, जो ५०० मजदूरों से काम लेती है, १२ घण्टे के काम के दिन और १०० प्रतिशत की अतिरिक्त मूल्य की दर के हिसाब से रोजाना १५०० शिलिंग—या काम के ६×५०० घण्टों—के बराबर अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगी। ३०० शिलिंग की पूंजी, जो १०० मजदूरों से २०० प्रतिशत की अतिरिक्त मूल्य की दर पर—या १८ घण्टे के काम के दिन के अनुसार —काम लेती है, केवल ६०० शिलिंग—या काम के १२×१०० घण्टों—के बराबर अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगी। और वह कुल जितना मूल्य पैदा करेगी, यानी लगायी गयी अस्थिर पूंजी तथा अतिरिक्त मूल्य का योग, दिन प्रति दिन काम करने के बाद भी कभी १२०० शिलिंग की रक़म—या काम के २४×१०० घण्टों—तक नहीं पहुंच सकता। काम के औसत दिन की एक निरपेक्ष सीमा होती है, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार वह २४ घण्टे से हमेशा कम होता है। और उसकी इस निरपेक्ष सीमा से इस बात पर भी एक निरपेक्ष सीमा लग जाती है कि अस्थिर पूंजी की कमी से पैदा होने वाली क्षति को अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाकर कहां तक पूरा किया जा सकता है, या शोषित मजदूरों की संख्या घट जाने से होने वाली क्षति को श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा को बढ़ाकर कहां तक पूरा किया जा सकता है। यह स्वतःस्पष्ट नियम ऐसी बहुत सी घटनाओं को समझने के लिये महत्व रखता है, जो पूंजी द्वारा अपने यहां काम करने वाले मजदूरों की संख्या को—या श्रम-शक्ति में रूपान्तरित कर दिये गये अपने अस्थिर अंश को—अधिक से अधिक कम कर देने की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती हैं। यह प्रवृत्ति (जिसपर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे) पूंजी की इस दूसरी प्रवृत्ति से बराबर टकराती रहती है कि वह अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की कोशिश करती है। दूसरी ओर, यदि काम में लगायी गयी श्रम-शक्ति की राशि बढ़ जाती है, या अस्थिर पूंजी की राशि बढ़ जाती है, पर अतिरिक्त मूल्य की दर में आयी हुई कमी के अनुपात में नहीं बढ़ती, तो अतिरिक्त मूल्य की राशि कम हो जाती है।

कुल कितना अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा, यह चूंकि दो बातों से निर्धारित होता है—अतिरिक्त मूल्य की दर से और पेशगी लगायी गयी अस्थिर पूंजी की राशि से, इसलिये इसके निष्कर्ष के रूप में हमें एक तीसरा नियम मिलता है। यदि अतिरिक्त मूल्य की दर, या श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा, और श्रम-शक्ति का मूल्य, या आवश्यक श्रम-काल की मात्रा, पहले

से मालूम हों, तो यह बात स्पष्ट है कि अस्थिर पूंजी जितनी ज्यादा होगी, उतना ही अधिक मूल्य पैदा होगा और अतिरिक्त मूल्य की उतनी ही अधिक राशि होगी। यदि काम के दिन की सीमा मालूम हो और साथ ही उसके आवश्यक भाग की सीमा भी मालूम हो, तो यह बात कि कोई खास पूंजीपति कुल कितना मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य पैदा करेगा, स्पष्टतया केवल इस बात पर निर्भर करेगी कि वह कुल कितने श्रम को गतिमान बना देता है। लेकिन यह बात ऊपर मानी हुई परिस्थितियों में श्रम-शक्ति की राशि पर, या पूंजीपति जिन मजदूरों का शोषण करता है, उनकी संख्या पर, निर्भर करती है, और खुद यह संख्या इस बात पर निर्भर करती है कि कुल कितनी अस्थिर पूंजी लगायी गयी है। इसलिये, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर पहले से मालूम हो और श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम हो, तो अतिरिक्त मूल्य की राशि कुल लगायी गयी अस्थिर पूंजी की मात्रा के सीधे अनुपात में घटेगी-बढ़ेगी। अब हमें यह मालूम है कि पूंजीपति अपनी पूंजी को दो भागों में बांट देता है। एक भाग वह उत्पादन के साधनों पर खर्च करता है। यह उसकी पूंजी का स्थिर भाग होता है। दूसरा भाग वह जीवित श्रम-शक्ति पर खर्च करता है। यह भाग उसकी अस्थिर पूंजी बन जाता है। सामाजिक उत्पादन की एक सी पद्धति के आधार पर उत्पादन की अलग-अलग शाखाओं में पूंजी का स्थिर तथा अस्थिर पूंजी में बंटवारा अलग-अलग ढंग से होता है, और उत्पादन की एक ही शाखा में भी प्राविधिक परिस्थितियों में तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं के सामाजिक योगों में परिवर्तन होने पर स्थिर और अस्थिर पूंजी का अनुपात बदल जाता है। परन्तु कोई पूंजी चाहे जिस अनुपात में स्थिर और अस्थिर भागों में बंट जाये, चाहे उनका अनुपात १ : २, या १ : १०, या १ : "स" हो, ऊपर बताये गये नियम पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण कि ऊपर हम जो विश्लेषण कर आये हैं, उसके अनुसार स्थिर पूंजी का मूल्य पैदावार के मूल्य में तो पुनः प्रकट होता है, परन्तु वह नये पैदा होने वाले मूल्य में प्रवेश नहीं करता, वह नव-उत्पादित मूल्य-पैदावार का भाग नहीं होता। कताई करने वाले १०० मजदूरों से काम लेने के लिये जितने कच्चे माल, जितने तकुओं आदि की जरूरत होती है, १००० मजदूरों से काम लेने के लिये, जाहिर है, उससे ज्यादा की जरूरत होगी। किन्तु उत्पादन के इन अतिरिक्त साधनों का मूल्य घट-बढ़ सकता है या ज्यों का त्यों रह सकता है और कम या ज्यादा हो सकता है, पर उत्पादन के इन साधनों में गति पैदा करने वाली श्रम-शक्ति के द्वारा अतिरिक्त मूल्य के सृजन की प्रक्रिया पर इन साधनों के मूल्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये, ऊपर हमने जिस नियम पर विचार किया है, वह अब यह रूप धारण कर लेता है कि यदि श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम हो और उसके शोषण की मात्रा एक सी रहे, तो अलग-अलग पूंजियों से जो मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, उनकी राशियां सीधे इस अनुपात में घटती-बढ़ती हैं कि इन पूंजियों के अस्थिर अंशों की राशियां, अर्थात् उन अंशों की राशियां, जो कि जीवित श्रम-शक्ति में रूपान्तरित कर दिये गये हैं, कितनी छोटी या बड़ी हैं।

तथ्यों के सतही निरीक्षण से हमें जो अनुभव प्राप्त होता है, यह नियम उस सब के खिलाफ़ जाता है। हर आदमी जानता है कि कपास की कताई करने वाला वह कारखानेदार, जो अपनी लगायी हुई पूरी पूंजी के प्रतिशत भाग के हिसाब से बहुत अधिक स्थिर पूंजी और बहुत थोड़ी अस्थिर पूंजी का प्रयोग करता है, वह इस कारण उस नानबाई से कम मुनाफ़ा — या अतिरिक्त मूल्य — नहीं कमाता, जो कि उसकी तुलना में बहुत अधिक अस्थिर पूंजी और बहुत कम स्थिर पूंजी का उपयोग करता है। ऊपर से ये परस्पर विरोधी बातें मालूम होती हैं। इस पहेली को हल कर सकने के लिये अभी बहुत से बीच के नुक़तों को जानने की आवश्यकता है, जैसे

सरल बीजगणित के दृष्टिकोण से यह समझने के लिये बहुत से बीच के बिन्दुओं को समझने की आवश्यकता होती है कि $\frac{0}{0}$ भी सचमुच कोई मात्रा हो सकती है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र इस नियम की स्थापना तो नहीं करता, पर नैसर्गिक भाव से उसे मानकर चलता है, क्योंकि यह मूल्य के सामान्य नियम का एक आवश्यक निष्कर्ष है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र एक जबर्दस्त अपकर्षण के द्वारा इस नियम को अपनी विरोधी घटनाओं से टकराने से बचाने की कोशिश करता है। हम बाद को[1] यह देखेंगे कि रिकार्डो के मत के अर्थशास्त्री किस तरह रास्ते के इस पत्थर से टकराकर गिर पड़े हैं। घटिया क़िस्म का अर्थशास्त्र, जिसने "सचमुच कुछ भी नहीं सीखा है," अन्य स्थलों की भांति यहां भी दिखावटी बातों का दामन थामे रहता है और उस नियम को अनदेखा कर देता है, जिससे इन बातों का नियमन होता है और जिससे ये बातें स्पष्ट होती हैं। स्पिनोज़ा के मत के विरुद्ध घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र का विश्वास है कि "अज्ञान एक पर्याप्त कारण है"।

किसी समाज की कुल पूंजी के द्वारा जो श्रम दिन प्रति दिन गतिमान होता है, उसे एक सामूहिक काम का दिन माना जा सकता है। मिसाल के लिये, यदि मजदूरों की संख्या १० लाख है और एक मजदूर के काम का औसत दिन १० घण्टे का है, तो काम का सामाजिक दिन १ करोड़ घण्टे का होगा। यदि काम के इस दिन की लम्बाई पहले से निश्चित हो, तो उसकी सीमाएं चाहे शारीरिक कारणों से निर्धारित हुई हों या सामाजिक कारणों से, अतिरिक्त मूल्य की राशि को केवल मजदूरों की संख्या में—यानी मेहनत करने वाली आबादी की संख्या में—वृद्धि करके ही बढ़ाया जा सकता है। यहां समाज की कुल पूंजी कितने अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन कर सकती है, उसकी गणितगत सीमा इस बात से निर्धारित होती है कि आबादी कितनी बढ़ सकती है। इसके विपरीत, यदि आबादी की संख्या पहले से निश्चित हो, तो यह सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि काम के दिन को कितना लम्बा खींचना मुमकिन है।[2] किन्तु आगे वाले अध्याय में पाठक देखेंगे कि यह नियम अतिरिक्त मूल्य के केवल उसी रूप पर लागू होता है, जिसपर हमने अभी तक विचार किया है।

अभी तक हमने अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का जितना विवेचन किया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुद्रा की या मूल्य की हर रक़म को इच्छानुसार पूंजी में नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार का रूपान्तरण करने के लिये, असल में, यह जरूरी होता है कि जो व्यक्ति मुद्रा अथवा मालों का मालिक है, उसके हाथ में पहले से ही कम से कम एक निश्चित मात्रा में मुद्रा अथवा विनिमय-मूल्य विद्यमान हो। अस्थिर पूंजी की यह अल्पतम मात्रा एक अकेली श्रम-शक्ति की लागत होती है, जिसका दिन प्रति दिन पूरे साल भर अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के लिये प्रयोग किया जाता है। यदि इस मजदूर के पास

---

[1] इसका और विस्तृत विवरण चौथी पुस्तक में मिलेगा।

[2] "समाज का श्रम, अर्थात् उसका आर्थिक समय, एक निश्चित परिमाण होता है। मान लीजिये कि वह दस लाख लोगों का दस घण्टे रोज़ाना या १ करोड़ घण्टे के बराबर है . . . पूंजी की वृद्धि की अपनी सीमा होती है। किसी भी निश्चित काल में, आर्थिक समय का वास्तव में कितना उपयोग किया जाता है, उसी पर यह निर्भर करता है कि पूंजी इस सीमा के कितने निकट पहुंच सकी है।" (*"An Essay on the Political Economy of Nations"* ['राष्ट्रों के अर्थशास्त्र पर एक निबंध'], London, 1821, पृ० ४७, ४९।)

खुद अपने उत्पादन के साधन होते और वह मजदूर की तरह रहने में ही संतुष्ट होता, तो जितना समय उसके जीवन के साधनों के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक है, जैसे, मान लीजिये, ८ घण्टे रोजाना, तो उसे उससे ज्यादा काम करने की कोई आवश्यकता न होती। इसके अलावा, उसे उत्पादन के केवल इतने साधनों की ही जरूरत पड़ती, जो ८ घण्टे काम करने के लिये काफ़ी होते। दूसरी ओर, पूंजीपति को, जो कि इन ८ घण्टों के अलावा उससे, मान लीजिये, ४ घण्टे का अतिरिक्त श्रम कराता है, उत्पादन के अतिरिक्त साधनों को मुहय्या करने के लिये कुछ अतिरिक्त रक़म की जरूरत पड़ेगी। पर हम जिन बातों को मानकर चल रहे हैं, उनके अनुसार उसे केवल मजदूर की भांति रहने के लिये – उससे जरा भी अच्छी तरह नहीं, बल्कि अपनी केवल प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये – दो मजदूरों को नौकर रखना पड़ेगा, – तभी वह इतना अतिरिक्त मूल्य रोज हासिल कर पायेगा। और इस सूरत में महज जिन्दा रहना ही, न कि अपनी दौलत को बढ़ाना, उसके उत्पादन का लक्ष्य बन जायेगा, लेकिन पूंजीवादी उत्पादन में तो सदा दौलत बढ़ाने का उद्देश्य निहित होता है। यदि पूंजीपति साधारण मजदूर से केवल दुगुनी अच्छी तरह जीवन बसर करना चाहता है और साथ ही पैदा होने वाले अतिरिक्त मूल्य का आधा भाग पूंजी में बदल देना चाहता है, तो उसे मजदूरों की संख्या के साथ-साथ अपनी लगायी हुई पूंजी को भी पहले से आठगुनी कर देना होगा। जाहिर है, यह भी मुमकिन है कि अपने मजदूर की तरह वह खुद भी काम करने लगे और उत्पादन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने लगे, परन्तु तब वह पूंजीपति और मजदूर के बीच का महज कोई दोगला जीव बन जायेगा, तब वह "छोटा मालिक" कहलायेगा। पूंजीवादी उत्पादन की एक खास मंजिल पर यह जरूरी होता है कि जितने समय तक कोई पूंजीपति पूंजीपति की तरह, अर्थात् मूर्तिमान पूंजी की तरह, काम करता है, उतना समय उसे पूरे का पूरा केवल दूसरों के श्रम को हस्तगत करने और इसलिये उसपर नियंत्रण रखने में और इस श्रम की पैदावार को बेचने में खर्च करना चाहिये।[1] इसीलिये, मध्य युग के शिल्पी संघ किसी भी धंधे के उस्ताद को

---

[1] "काश्तकार अकेले अपने श्रम पर निर्भर नहीं रह सकता, और अगर वह रहेगा, तो मेरा मत है कि वह नुक़सान उठायेगा। उसका काम तो यह होना चाहिये कि पूरी चीज पर सामान्य रूप से निगाह रखे। अनाज गाहने के लिये जो मजदूर नौकर रखा गया है, उसपर निगाह रखना जरूरी है, नहीं तो बहुत सा ग़ल्ला मांड़ा नहीं जायेगा और उतनी मजदूरी का नुक़सान हो जायेगा; घास और खेत की कटाई और लुनाई आदि करने के लिये जो लोग नौकर रखे गये हैं, उनकी निगरानी करना जरूरी है; फिर काश्तकार को चाहिये कि अपने खेतों की मेंड़ों का बराबर चक्कर लगाता रहे, उसे ख़याल रखना चाहिये कि कहीं पर लापरवाही तो नहीं बरती जा रही है, जो जरूर बरती जायेगी, यदि वह एक ही जगह से चिपककर बैठा रहेगा।" (*"An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions and the Size of Farms, &c. By a Farmer"* ['खाद्य-वस्तुओं के वर्तमान दामों और खेतों के आकार में क्या सम्बंध है, इस प्रश्न की जांच, इत्यादि। एक काश्तकार द्वारा लिखित'], London, 1773, पृ० १२।) यह किताब बहुत ही दिलचस्प है। इसमें "capitalist farmer" ("पूंजीवादी काश्तकार") या "merchant farmer" ("व्यापारी काश्तकार") की–जिसे बहुत साफ़-साफ़ इन्हीं नामों से पुकारा गया है–उत्पत्ति का अध्ययन किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि केवल रोजमर्रा की गुजर-बसर में ही खप जाने वाले "small farmer"

पूंजीपति में रूपान्तरित हो जाने से रोकने की जबर्दस्ती कोशिश करते थे, और इसके लिये उन्होंने एक उस्ताद अधिक से अधिक कितने मजदूरों को नौकर रख सकता है, इसपर एक सीमा लगा दी थी और इस सीमा को बहुत नीचा रखा था। ऐसी सूरत में मुद्रा अथवा मालों का मालिक केवल उसी हालत में सचमुच पूंजीपति बन सकता है, जब उत्पादन में लगायी गयी कम से कम रक़म मध्य युग की अधिकतम सीमा से बहुत अधिक हो। प्राकृतिक विज्ञान की तरह यहां भी ('तर्कशास्त्र' में) हेगेल द्वारा आविष्कृत उस नियम की सत्यता सिद्ध हो जाती है कि केवल परिमाणात्मक भेद एक बिन्दु से आगे पहुंचकर गुणात्मक परिवर्तनों में बदल जाते हैं।[1]

मुद्रा अथवा मालों वाले किसी एक व्यक्ति के पास अपने को पूंजीपति में रूपान्तरित कर डालने के लिये मूल्य की कम से कम जो रक़म होनी चाहिये, वह पूंजीवादी उत्पादन के विकास की अलग-अलग अवस्थाओं में बदलती रहती है, और किसी खास अवस्था में भी उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में उनकी विशिष्ट एवं प्राविधिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग रक़मों की आवश्यकता होती है। उत्पादन के कुछ खास क्षेत्रों में पूंजीवादी उत्पादन के आरम्भ में ही कम से कम इतनी पूंजी की आवश्यकता होती है, जो उस वक़्त तक किसी एक व्यक्ति के पास नहीं होती। इससे कुछ हद तक तो व्यक्तियों को राज्य की ओर से सहायता देने की प्रथा उत्पन्न होती है, जैसा कि कोलबेर्ट के काल में फ़्रांस में देखने में आया था और जैसा कि बहुत

---

("छोटे काश्तकार") के मुक़ाबले में ऐसा काश्तकार ख़ुद अपनी तारीफ़ों के कैसे पुल बांधता है। "पूंजीपतियों का वर्ग शुरू से ही हाथ की मेहनत करने की आवश्यकता से आंशिक रूप से मुक्त रहता है, और अन्त में जाकर तो वह उससे पूर्णतया मुक्त हो जाता है।" (*"Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations. By the Rev. Richard Jones"* ['राष्ट्रों के अर्थशास्त्र के विषय में कुछ भाषणों की पाठ्य-पुस्तक। रेवरेण्ड रिचर्ड जोन्स द्वारा लिखित'], Hertford, 1852. Lecture III [तीसरा भाषण], पृ० ३९।)

[1] आधुनिक रसायन-विज्ञान का व्यूहाणविक सिद्धान्त, जिसका वैज्ञानिक प्रतिपादन पहली बार लौरेंत और गेरहार्ड्ट ने किया था, किसी अन्य नियम पर आधारित नहीं है। (तीसरे संस्करण में जोड़ा गया हिस्सा।)—जो रसायनज्ञ नहीं हैं, उनके लिये यह वाक्य बहुत स्पष्ट नहीं है। उसके स्पष्टीकरण के लिये हम यह बताते हैं कि यहां लेखक कार्बन के यौगिकों की उन सजातीय मालाओं (the homologous series of carbon compounds) की चर्चा कर रहा है, जिनको यह नाम पहले-पहल सी० गेरहार्ड्ट ने १८४३ में दिया था और जिनमें से प्रत्येक माला का अपना अलग बीजगणित का सामान्य सूत्र होता है। जैसे पैरेफ़िनों की माला का सूत्र है $C^nH^{2n+2}$, साधारण एलकोहलों का $C^nH^{2n+2}O$, साधारण फ़ैटी एसिडों का $C^nH^{2n}O^2$ और इसी तरह और भी बहुत से सूत्र हैं। इन मिसालों में व्यूहाणु-सूत्र में केवल परिमाणात्मक ढंग से $CH^2$ जोड़ देने पर हर बार गुणात्मक दृष्टि से एक बिल्कुल नया पदार्थ तैयार हो जाता है। इस महत्वपूर्ण तथ्य का पता लगाने में लौरेंत और गेरहार्ड्ट का कितना भाग था (मार्क्स ने उसके महत्व को अधिक आंका है), यह जानने के लिये Kopp की रचना *"Entwicklung der Chemie"* München, 1873, पृ० ७०९, ७१६, और Schorlemmer (शोर्लेम्मेर) की रचना *"The Rise and Development of Organic Chemistry"* ('कार्बनिक रसायन विज्ञान का अभ्युदय और विकास'), London, 1879, पृ० ५४ देखिये।—फ़्रे० एं०

से जर्मन राज्यों में आज, हमारे काल में भी, देखा जा सकता है, और कुछ हद तक उससे कुछ ऐसी कम्पनियां बन जाती हैं, जिनको उद्योग एवं व्यापार की कुछ ख़ास शाखाओं का शोषण करने का क़ानूनी एकाधिकार प्राप्त होता है।[1] ये कम्पनियां हमारी आधुनिक सम्मिलित पूंजी वाली (ज्वाइंट स्टाक) कम्पनियों की पूर्वज थीं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, उत्पादन की प्रक्रिया के भीतर पूंजी ने श्रम के ऊपर, अर्थात् कार्यरत श्रम-शक्ति पर, या खुद मजदूर पर, अपना अधिकार जमा लिया था। मूर्तिमान पूंजी अथवा पूंजीपति इस बात का ख़याल रखता है कि मजदूर अपना काम नियमित ढंग से तथा समुचित तेजी से करता है या नहीं।

इतना ही नहीं, पूंजी श्रम के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती का एक सम्बंध बन जाती है, जिसके द्वारा मजदूर-वर्ग को उसके अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिये जो थोड़ा सा काम करना ज़रूरी होता है, उससे ज्यादा काम करने के लिये मजबूर किया जाता है। दूसरों की क्रियाशीलता के पैदा करने वाले के रूप में, अतिरिक्त श्रम चूसने वाले और श्रम शक्ति के शोषक के रूप में पूंजी जिस मुस्तैदी, निर्ममता, सभी तरह की हदों को तोड़ देने की भावना और कार्य-कुशलता का परिचय देती है, उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से ज़बर्दस्ती कराये गये श्रम पर आधारित इसके पहले की तमाम उत्पादन-व्यवस्थाएं फीकी पड़ जाती हैं।

शुरू में पूंजी उन प्राविधिक परिस्थितियों के आधार पर श्रम को अपने आधीन बनाती है, जो इतिहास के उस काल में पायी जाती हैं। इसलिये, वह उत्पादन की प्रणाली में तुरन्त कोई परिवर्तन नहीं करती। अतः अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के जिस रूप पर अभी तक हमने विचार किया है, यानी केवल काम के दिन का विस्तार करके अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना, वह स्वयं उत्पादन की प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों से स्वतंत्र सिद्ध हुआ था। पुराने ढंग की रोटियों की दूकानों में वह आधुनिक सूती मिलों से कम क्रियाशील नहीं था।

यदि हम साधारण श्रम-प्रक्रिया की दृष्टि से उत्पादन की क्रिया पर विचार करें, तो उत्पादन के साधनों के साथ मजदूर का सम्बंध उनके इस गुण के कारण नहीं होता कि साधन पूंजी हैं, बल्कि वह इस कारण होता है कि उत्पादन के साधन मजदूर की खुद अपनी विवेकपूर्ण उत्पादक कार्रवाई के साधन एवं सामग्री मात्र हैं। मिसाल के लिये, चमड़ा कमाने में मजदूर खालों के साथ केवल अपने श्रम की सामग्री के रूप में बर्ताव करता है। आख़िर वह पूंजीपति की खाल को नहीं कमाता। लेकिन जैसे ही हम उत्पादन की प्रक्रिया पर अतिरिक्त मूल्य के सृजन की क्रिया की दृष्टि से विचार करना आरम्भ करते हैं, वैसे ही परिस्थिति एकदम बदल जाती है। तब उत्पादन के साधन फ़ौरन दूसरों के श्रम का अवशोषण करने के साधनों में बदल जाते हैं। अब मजदूर उत्पादन के साधनों से काम नहीं लेता, बल्कि उत्पादन के साधन मजदूर से काम लेते हैं। अब अपनी उत्पादक कार्रवाई के भौतिक तत्वों के रूप में मजदूर उत्पादन के साधनों का नहीं उपयोग करता, बल्कि उत्पादन के साधन खुद मजदूर का अपनी जीवन-क्रिया के लिये आवश्यक ख़मीर के रूप में उपयोग करते हैं। और पूंजी की जीवन-प्रक्रिया निरन्तर स्वतःविस्तार करते जाने वाले, अपने आप बढ़ते जाने वाले मूल्य के रूप में मात्र उसकी गति के सिवा और कुछ नहीं होती। जो भट्ठियां और वर्कशाप रात को बेकार पड़ी रहती हैं और जीवित श्रम का अवशोषण

[1] मार्टिन लूथर ने इस प्रकार की कम्पनियों को "die Gesellschaft-Monopolia" ("इजारेदार कम्पनी") का नाम दिया है।

नहीं करतीं, वे पूंजीपति को "महज़ नुक़सान" ("a mere loss") पहुंचाती हैं। इसलिये, यदि किसी के पास भट्ठियां और वर्कशाप हैं, तो फिर उसका मेहनत करने वालों के रात के श्रम पर क़ानूनी दावा हो जाता है। जब मुद्रा का उत्पादन की प्रक्रिया के भौतिक उपकरणों में, अर्थात् उत्पादन के साधनों में, रूपान्तरण हो जाता है, तो उत्पादन के साधन दूसरे लोगों के श्रम तथा अतिरिक्त श्रम पर स्वत्व और अधिकार के सूचक बन जाते हैं। अन्त में एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि विकृतीकरण की यह क्रिया, जो पूंजीवादी उत्पादन का एक विशिष्ट गुण और ख़ास विशेषता है, मृत और जीवित श्रम का सम्बंध, मूल्य और मूल्य का सृजन करने वाली शक्ति का सम्बंध एकदम उलट देना पूंजीपतियों की चेतना में किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। १८४८ और १८५० के बीच इंगलैण्ड के कल-कारख़ानों के मालिकों के विद्रोह के दिनों में "स्कोटलैण्ड के पश्चिमी भाग की एक सब से पुरानी और प्रतिष्ठित फ़र्म – मैसर्स कारलाइल सन्स एण्ड कम्पनी – के, जिसका पैसले में सन का तथा सूती धागा तैयार करने वाला एक कारख़ाना था और जिस कम्पनी को क़ायम हुए अब क़रीब-क़रीब एक सदी होने को आयी थी, जो १७५२ से काम कर रही थी और जिसका एक ही ख़ानदान की चार पीढ़ियां संचालन कर चुकी थीं, – इस कम्पनी के अध्यक्ष" का, इस "अत्यन्त बुद्धिमान भद्र पुरुष" का "*Glasgow Daily Mail*" के २५ अप्रैल १८४९ के अंक में एक पत्र[1] प्रकाशित किया गया था। पत्र का शीर्षक था: "*The relay system*" ('पालियों की प्रणाली')। अन्य बातों के अलावा बेतुकेपन की हद तक भोलेपन से भरा यह अंश भी इस पत्र में था: "अब हम इस पर विचार करें... कि यदि फ़ैक्टरी के काम करने पर १० घण्टे की सीमा लगा दी गयी, तो कैसी-कैसी बुराइयां पैदा हो जायेंगी... ऐसा करने से मिल-मालिक की समृद्धि और उसके भविष्य को कड़ी हानि पहुंचेगी। यदि वह (यानी, उसका मजदूर) पहले १२ घण्टे काम करता था और अब केवल १० घण्टे काम कर सकता है, तो उसके कारख़ाने में लगी हुई हर १२ मशीनें या तकुए मानो सिकुड़कर केवल १० मशीनें या तकुए बन जायेंगे ("then every 12 machines or spindles in his establishment shrink to 10"), और यदि उसका कारख़ाना बेचा गया, तो उसकी क़ीमत केवल १० मशीनों के आधार पर लगायी जायेगी और इस तरह देश के प्रत्येक कारख़ाने के मूल्य में से उसका छठा भाग घट जायेगा।"[2]

पश्चिमी स्कोटलैण्ड के इस पूंजीवादी मस्तिष्क ने "चार पीढ़ियों" के संचित पूंजीवादी गुण विरासत में पाये हैं। उसके लिये उत्पादन के साधनों, तकुओं आदि का मूल्य पूंजी के रूप में उनके

[1] "*Reports of Insp. of Fact., April 30th, 1849*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८४९'), पृ० ५९।

[2] उप० पु०, पृ० ६०। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर स्टुअर्ट ने, जो ख़ुद स्कोटलैण्डवासी हैं और जो अंग्रेज़ फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों से भिन्न सोचने के पूंजीवादी ढंग से बहुत प्रभावित हैं, इस पत्र को अपनी रिपोर्ट में शामिल किया है और उसपर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "पालियों की प्रणाली का प्रयोग करने वाले किसी भी मिल-मालिक ने उसी व्यवसाय में लगे अपने सहयोगी मिल-मालिकों को कभी इतनी उपयोगी सूचना नहीं दी थी, जितनी इस पत्र में दी गयी है। जिन मिल-मालिकों को अपने कारख़ानों में काम के घण्टों की व्यवस्था को बदलने में हिचकिचाहट होती है, उनके पूर्वग्रहों को दूर करने में यह पत्र सब से अधिक सफल हो सकता है।"

अपने मूल्य का स्वयं विस्तार करने तथा दूसरों के मुफ़्त में किये गये श्रम की एक निश्चित मात्रा को रोज़ निगल जाने के गुण के साथ इस अभिन्न ढंग से जुड़ा हुआ है कि कारलाइल एण्ड कम्पनी का अध्यक्ष सचमुच यह समझने लगता है कि यदि वह अपना कारख़ाना बेचेगा, तो उसे न सिर्फ़ तकुओं का मूल्य मिलेगा, बल्कि उसके अलावा उसे इन तकुओं की अतिरिक्त मूल्य सोखने की शक्ति की क़ीमत भी मिलेगी। वह समझता है कि उसे न सिर्फ़ उस श्रम के दाम मिलेंगे, जो इन तकुओं में निहित है और जो इस तरह के तकुओं के उत्पादन के लिये आवश्यक है, बल्कि उसे उस अतिरिक्त श्रम के भी दाम मिलेंगे, जिसे वह इन तकुओं की मदद से रोज़ पैसले के बहादुर स्कोटिश लोगों के शरीर में से चूस लेता है। इसी कारण वह यह सोचता है कि यदि काम के दिन में २ घण्टे की कमी कर दी गयी, तो कताई करने वाली १२ मशीनों का बिक्री का दाम घटकर १० मशीनों के दाम के बराबर रह जायेगा।

भाग ४

# सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

## बारहवां अध्याय

## सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य की धारणा

काम के दिन के उस भाग को, जिसमें केवल उस मूल्य का सम-मूल्य पैदा होता है, जो पूंजीपति ने श्रम-शक्ति के एवज में दिया है, हम अभी तक सदा एक स्थिर मात्रा मानते आये हैं। और उत्पादन की कुछ खास परिस्थितियों में तथा समाज के आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में यह सचमुच एक स्थिर मात्रा होती भी है। जैसा कि हमने ऊपर देखा था, काम के दिन के इस भाग के आगे, यानी अपने आवश्यक श्रम-काल के बाद, मजदूर २, ३, ४, ६ घण्टे काम कर सकता है, इत्यादि, इत्यादि। उसके आगे वह कितनी देर तक काम करता रहता है, इसपर अतिरिक्त मूल्य की दर और काम के दिन की लम्बाई निर्भर करती हैं। हमने यह भी देखा था कि आवश्यक श्रम-काल के स्थिर होते हुए भी काम के दिन की पूरी लम्बाई में परिवर्तन हो सकते हैं। अब मान लीजिये, हमें यह मालूम है कि काम के दिन की लम्बाई कितनी है और वह आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम के बीच किस तरह बंटी है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि 'क' से 'ग' तक की यह पूरी रेखा क——ख–ग १२ घण्टे के काम के दिन का प्रतिनिधित्व करती है और उसका 'क' से 'ख' तक का भाग १० घण्टे के आवश्यक श्रम का और 'ख' से 'ग' तक का भाग २ घण्टे के अतिरिक्त श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। अब प्रश्न यह है कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन कैसे बढ़ाया जा सकता है, अर्थात् 'क' से 'ग' तक की रेखा को लम्बा किये बग़ैर, या उससे स्वतंत्र ढंग से, अतिरिक्त श्रम को कैसे लम्बा किया जा सकता है?

हालांकि 'क' से 'ग' तक की रेखा की लम्बाई पहले से निश्चित है, फिर भी लगता है कि 'ख' से 'ग' तक की रेखा को और लम्बा किया जा सकता है। यदि उसे 'ग' से आगे खींचकर लम्बा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'ग' काम के दिन का–अर्थात् 'क' से 'ग' तक की रेखा का भी–अन्तिम बिन्दु है, तो उसके प्रस्थान-बिन्दु 'ख' को 'क' की दिशा में पीछे धकेल कर उसे जरूर लम्बा किया जा सकता है। मान लीजिये, रेखा 'क ख' ख ग' का 'ख'–ख' वाला भाग 'ख ग' का आधा है, या एक घण्टे के श्रम-काल के बराबर है:

क ———— ख′ — ख — ग

अब यदि 'क ग' में, यानी १२ घण्टे के काम के दिन में, हम बिन्दु 'ख' को पीछे धकेल कर 'ख′' पर ले जायें, तो 'ख ग' रेखा 'ख′ ग' हो जायेगी, यानी अतिरिक्त श्रम में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी, वह २ घण्टे से ३ घण्टे का हो जायेगा, हालांकि काम का दिन पहले की तरह १२ घण्टे का ही रहेगा। लेकिन जाहिर है कि अतिरिक्त श्रम-काल को 'ख ग' से बढ़ाकर 'ख′ ग' कर देना, २ घण्टे से बढ़ाकर ३ घण्टे कर देना, उस वक़्त तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसके साथ-साथ आवश्यक श्रम-काल को 'क ख' से घटाकर 'क ख′'—या १० घण्टे से घटाकर ९ घण्टे—न कर दिया जाये। अतिरिक्त श्रम को उतना ही लम्बा किया जा सकेगा, जितना आवश्यक श्रम को छोटा करना सम्भव होगा,—या यूं कहिये, श्रम-काल का एक ऐसा हिस्सा, जो पहले असल में मजदूर के अपने हित में ख़र्च होता था, वह अब पूंजीपति के हित में ख़र्च होने वाले श्रम-काल में बदल जायेगा। काम के दिन की लम्बाई में परिवर्तन नहीं होगा, बल्कि आवश्यक श्रम-काल तथा अतिरिक्त श्रम-काल के बीच उसका जिस तरह विभाजन होता है, उसमें परिवर्तन हो जायेगा।

दूसरी ओर, यह बात स्पष्ट है कि जब काम के दिन की लम्बाई और श्रम-शक्ति का मूल्य पहले से मालूम होते हैं, तो अतिरिक्त श्रम की अवधि भी पहले से मालूम हो जाती है। श्रम-शक्ति का मूल्य, अर्थात् श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल, इस बात को निर्धारित कर देता है कि इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये कितना श्रम-काल आवश्यक होगा। यदि काम का एक घण्टा ६ पेन्स में निहित हो और एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच शिलिंग हो, तो पूंजी ने मजदूर की श्रम-शक्ति के एवज में जो मूल्य दिया है, उसे पुनः पैदा करने के लिये,—या यूं कहिये कि मजदूर के लिये रोजाना जीवन-निर्वाह के जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनके मूल्य का सम-मूल्य पैदा करने के लिये,—उसे १० घण्टे रोजाना काम करना चाहिये। यदि जीवन-निर्वाह के इन साधनों का मूल्य पहले से मालूम हो, तो मजदूर की श्रम-शक्ति का मूल्य भी मालूम हो जाता है;[1] और यदि उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम

---

[1] मजदूर की औसत रोजाना मजदूरी का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि मजदूर को "जिन्दा रहने, मेहनत करने और बच्चे पैदा करने के लिये" किन चीज़ों की आवश्यकता है। (Wm. Petty, "*Political Anatomy of Ireland*" [विलियम पेटी, 'आयरलैण्ड की राजनीतिक शरीर-रचना'], १६७२, पृ० ६४।) "श्रम का दाम सदा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के दामों से तै होता है ... जब कभी ... श्रम करने वाले आदमी की मजदूरी उसकी छोटी हैसियत के अनुसार मजदूर के रूप में उतने बड़े परिवार के भरण-पोषण के लिये काफ़ी नहीं होती, जितना बड़ा परिवार अक्सर बहुत से मजदूरों के भाग्य में लिखा होता है," तब समझना चाहिये कि उसे उचित मजदूरी नहीं मिल रही है। (J. Vanderlint, "*Money answers all Things*" [जे० वैण्डरलिण्ट, 'मुद्रा सब चीज़ों का जवाब है'], London, 1734, पृ०, १५।) "Le simple ouvrier, qui n'a que ses bras et son industrie, n'a rien qu'autant qu'il parvient à vendre à d'autres sa peine... En tout genre de travail il doit arriver, et il arrive en effet, que le salaire de l'ouvrier se borne à ce qui lui est nécessaire pour lui procurer sa subsistance." ["साधारण श्रमजीवी की सम्पत्ति केवल उसके हाथ और उसकी मेहनत होती हैं; मजदूर अपना श्रम दूसरों के हाथ जितनी मजदूरी के बदले में

हो, तो उसके आवश्यक श्रम-काल की अवधि भी मालूम हो जाती है। लेकिन काम के पूरे दिन में से आवश्यक श्रम-काल को घटाकर अतिरिक्त श्रम की अवधि का पता लगाया जाता है। बारह घण्टों में से दस घण्टे घटा दीजिये, तो दो बचते हैं, और यह समझ में नहीं आता कि पहले से निश्चित परिस्थितियों में अतिरिक्त श्रम को आखिर दो घण्टे से ज्यादा कैसे खींचा जा सकता है। निस्सन्देह, पूंजीपति मजदूर को पांच शिलिंग के बजाय चार शिलिंग छः पेन्स या उससे भी कम दे सकता है। चार शिलिंग और छः पेन्स के इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये नौ घण्टे का श्रम-काल ही पर्याप्त होगा, और इसलिये तब पूंजीपति को दो घण्टे के बजाय तीन घण्टे का अतिरिक्त श्रम मिलेगा और अतिरिक्त मूल्य एक शिलिंग से बढ़कर अठारह पेन्स का हो जायेगा। लेकिन यह सब कुछ केवल मजदूर की मजदूरी को उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य से भी नीचे गिराकर ही सम्भव हो सकेगा। वह नौ घण्टे में जो चार शिलिंग और छः पेन्स पैदा करेगा, उनसे वह पहले की तुलना में दस प्रतिशत कम जीवनोपयोगी वस्तुएं खरीद सकेगा और इसलिये उसकी श्रम-शक्ति का समुचित पुनरुत्पादन नहीं हो पायेगा। इस सूरत में अतिरिक्त श्रम पहले से बढ़ तो जायेगा, परन्तु केवल अपनी सामान्य सीमाओं का अतिक्रमण करके; आवश्यक श्रम-काल के क्षेत्र के एक भाग को जबर्दस्ती हड़पकर ही यहां उसका क्षेत्र बढ़ पायेगा। ठोस व्यवहार में यह तरीक़ा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। फिर भी, हम यहां उसपर विचार नहीं कर सकते, क्योंकि हम यह मानकर चल रहे हैं कि श्रम-शक्ति समेत सभी माल अपने पूरे मूल्य पर ही बेचे और खरीदे जाते हैं। यह मान लेने के बाद, श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिये अथवा उसके मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये जो श्रम-काल आवश्यक है, उसे मजदूर की मजदूरी को उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य से नीचे गिराकर कम नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो श्रम-शक्ति के इस मूल्य को ही नीचे गिराना होगा। यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से निश्चित हो, तो अतिरिक्त श्रम की वृद्धि केवल आवश्यक श्रम-काल की कमी द्वारा ही सम्भव है। अतिरिक्त श्रम को बढ़ा देने से आवश्यक श्रम-काल अपने आप नहीं घट जायेगा। जिस मिसाल को लेकर हम चल रहे हैं, उसमें यह आवश्यक है कि श्रम-शक्ति के मूल्य में सचमुच दस प्रतिशत की कमी आ जाये, ताकि आवश्यक श्रम-काल दस प्रतिशत घट जाये, अर्थात् दस घण्टे से नौ घण्टे हो जाये, और ताकि इसके फलस्वरूप अतिरिक्त श्रम को दो घण्टे से बढ़ाकर तीन घण्टे का कर दिया जाये।

किन्तु श्रम-शक्ति के मूल्य में इस प्रकार की कमी आने का यह मतलब होता है कि जीवन के लिये आवश्यक वे ही वस्तुएं, जो पहले दस घण्टे में तैयार हुआ करती थीं, अब नौ घण्टे में तैयार हो सकती हैं। लेकिन श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हुए बिना ऐसा असम्भव है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि एक मोची एक खास तरह के औज़ारों की मदद से बारह

---

बेचता है, उतनी ही पाता है ... हर प्रकार के श्रम के सम्बंध में यह होना लाज़िमी है और यही असल में होता है कि मजदूर के जीवन-निर्वाह भर के लिये जो कुछ है, बस उसी पर उसकी मजदूरी सीमित हो जाती है।"] (Turgot, "*Réflexions, &c.*", Oevres, Daire का संस्करण, ग्रंथ १, पृ० १०।) "जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का दाम ही असल में श्रम के उत्पादन का ख़र्चा होता है।" (Malthus, "*Inquiry into, &c.. Rent*" [माल्थूस, 'लगान की प्रकृति और प्रगति और उसका नियमन करने वाले सिद्धान्तों की जांच'], London, 1815, पृ० ४८, फ़ुटनोट।)

घण्टे के एक काम के दिन में एक जोड़ी जूते तैयार कर देता है। यदि उसे इतने ही समय में दो जोड़ी जूते तैयार करने हैं, तो उसके लिये जरूरी है कि उसके श्रम की उत्पादकता पहले से दुगुनी हो जाये। और यह उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके औज़ारों में या उसके काम करने के ढंग में या दोनों बातों में कुछ परिवर्तन नहीं आ जाता। इसलिये, उसके श्रम की उत्पादकता को दुगुना करने के लिये जरूरी है कि उत्पादन की परिस्थितियों में, यानी उसकी उत्पादन की प्रणाली में और खुद श्रम-प्रक्रिया में, क्रान्ति हो गयी हो। श्रम की उत्पादकता के बढ़ जाने से हमारा आम तौर पर यह मतलब होता है कि श्रम-प्रक्रिया में कोई ऐसा परिवर्तन हो गया है, जिससे किसी माल के उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल में कमी आ गयी है और श्रम की एक निश्चित मात्रा को पहले से अधिक मात्रा में उपयोग-मूल्य पैदा करने की क्षमता प्राप्त हो गयी है।[1] केवल काम के दिन को लम्बा करके पैदा किये गये अतिरिक्त मूल्य पर विचार करते हुए हम अभी तक सदा यह मानकर चलते रहे हैं कि उत्पादन की प्रणाली पहले से निश्चित है और उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन जब आवश्यक श्रम को अतिरिक्त श्रम में परिणत करके अतिरिक्त मूल्य पैदा करना होता है, तब पूंजी के लिये यह हरगिज़ काफ़ी नहीं होता कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसे जिस रूप में श्रम-प्रक्रिया मिली है, उसी रूप में उसे स्वीकार कर ले और फिर केवल प्रक्रिया की अवधि को बढ़ा दे। पहले उसे श्रम-प्रक्रिया की प्राविधिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में और उसके फलस्वरूप स्वयं उत्पादन की प्रणाली में क्रान्ति पैदा करनी होगी, उसके बाद ही श्रम की उत्पादकता बढ़ सकेगी। श्रम-शक्ति का मूल्य केवल इसी तरह घटाया जा सकता है, और काम के दिन का जो भाग इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक है, उसे छोटा किया जा सकता है।

काम के दिन को लम्बा करके जो अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जाता है, उसे मैंने निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का नाम दिया है। दूसरी ओर, जो अतिरिक्त मूल्य आवश्यक श्रम-काल के घटा दिये जाने और काम के दिन के दो हिस्सों की लम्बाई में तदनुरूप परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप पैदा होता है, उसे मैं सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य की संज्ञा देता हूं।

श्रम-शक्ति के मूल्य को कम करने के लिये उद्योग की उन शाखाओं में श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होनी चाहिये, जिनकी पैदावार श्रम-शक्ति के मूल्य को निर्धारित करती है और, इसलिये,

[1] "Quando si perfezionano le arti, che non è altro che la scoperta di nuove vie, onde si possa compiere una manufattura con meno gente o (che è lo stesso) in minor tempo di prima." [" जब कलाओं का विकास होता है, उसका मतलब यह होता है कि कुछ ऐसे नये तरीक़े ईजाद हो जाते हैं, जिनसे कोई चीज़ पहले से कम मजदूरों की मदद से या (जो एक ही बात है) पहले से कम समय में तैयार की जा सकती है।"] (Galiani, "*Della Moneta*", ग्रंथ ३; Custodi का संग्रह "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica*", Parte Moderna. Milano, 1803, पृ० १५८, १५९।) "L'économie sur les frais de production ne peu donc être autre chose que l'économie sur la quantité de travail employé pour produire." [" केवल उत्पादन में उपयोग किये जाने वाले श्रम की मात्रा में बचत करके ही उत्पादन के ख़र्च में बचत की जा सकती है।"] (Sismondi, "*Études, etc.*", ग्रंथ १, पृ० २२।)

जिनकी पैदावार या तो जीवन-निर्वाह के प्रचलित साधनों में शामिल है या इन साधनों का स्थान लेने की क्षमता रखती है। लेकिन किसी भी माल का मूल्य न केवल उस श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, जो मजदूर प्रत्यक्ष रूप में उस माल पर खर्च करता है, बल्कि वह उस श्रम से भी निर्धारित होता है, जो उत्पादन के साधनों में लगा है। उदाहरण के लिये, एक जोड़ी जूतों का मूल्य न केवल मोची के श्रम पर, बल्कि चमड़े, मोम, धागे आदि के मूल्य पर भी निर्भर करता है। इसलिये, जो उद्योग श्रम के उन औजारों को और उस कच्चे माल को तैयार करते हैं, जिनकी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में स्थिर पूंजी के भौतिक तत्वों के रूप में जरूरत होती है, उनमें श्रम की उत्पादकता के बढ़ जाने और उसके फलस्वरूप इन उद्योगों के तैयार किये हुए मालों के सस्ता हो जाने से भी श्रम-शक्ति का मूल्य गिर सकता है। परन्तु यदि उद्योग की उन शाखाओं में श्रम की उत्पादकता बढ़ेगी, जो न तो जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएं तैयार करती हैं और न ही ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के साधन तैयार करती हैं, तो उससे श्रम-शक्ति के मूल्य में कोई तबदीली नहीं आयेगी।

जो माल सस्ता हो जाता है, वह, जाहिर है, श्रम-शक्ति के मूल्य में केवल उसी अनुपात में कमी कर पाता है, जिस अनुपात में वह माल श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन में इस्तेमाल होता है। मिसाल के लिये, क़मीजें जीवन-निर्वाह का एक आवश्यक साधन होती हैं, परन्तु वे बहुत से साधनों में से केवल एक हैं। यदि जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुओं को लिया जाये, तो उनमें तरह-तरह के बहुत से माल शामिल होते हैं, जिनमें से हरेक किसी ख़ास उद्योग की पैदावार होता है और जिनमें से हरेक का मूल्य श्रम-शक्ति के मूल्य का एक संघटक भाग होता है। श्रम-शक्ति का यह मूल्य अपने पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल में कमी आ जाने पर घट जाता है। और उसमें कुल कितनी कमी आयी है, वह इन तमाम अलग-अलग उद्योगों के आवश्यक श्रम-काल में हुई सब कमियों को जोड़ने पर मालूम हो जायेगी। यहां हमने इस सामान्य परिणाम को इस तरह पेश किया है, जैसे हर उद्योग के श्रम-काल में इस ख़ास तात्कालिक उद्देश्य को सामने रखकर कमी की गयी हो। जब कभी कोई पूंजीपति श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर, उदाहरण के लिये, मान लीजिये, क़मीज़ों को सस्ता करता है, तब यह हरगिज़ जरूरी नहीं है कि उसका उद्देश्य श्रम-शक्ति के मूल्य को घटाना और आवश्यक श्रम-काल को pro tanto (तदनुपात) छोटा कर देना हो। लेकिन जिस हद तक कि उसके काम का यह नतीजा होता है, केवल उसी हद तक वह अतिरिक्त मूल्य की सामान्य दर को ऊपर उठाने में सहायक होता है।[1] पूंजी की सामान्य एवं अनिवार्य प्रवृत्तियों और उनकी अभिव्यक्ति के ठोस रूपों में भेद होता है, जिसे हमें सदा याद रखना चाहिये।

पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियम पूंजी की अलग-अलग राशियों की गतियों में किस ढंग से व्यक्त होते हैं और किस तरह वे वहां प्रतियोगिता के बलपूर्वक अमल में आने वाले नियमों की तरह प्रकट होते हैं तथा अलग-अलग पूंजीपतियों के मस्तिष्क एवं चेतना में उनके कार्यों के

[1] "मान लीजिये . . . कि . . . किसी कारख़ानेदार की . . . पैदावार . . . मशीनों में सुधार हो जाने के फलस्वरूप दुगुनी हो जाती है . . . तब वह अपनी पूरी आय के पहले से कम भाग द्वारा अपने मजदूरों को कपड़े पहना सकेगा . . . और इस प्रकार उसका मुनाफ़ा बढ़ जायेगा। लेकिन उसपर कोई और प्रभाव नहीं पड़ेगा।" (Ramsay, "*An Essay on the Distribution of Wealth*", London, 1821, पृ० १६८, १६६।)

निर्देशक के रूप में प्रवेश करते हैं, — इस विषय पर विचार करने का हमारा यहां कोई इरादा नहीं है। लेकिन इतनी बात साफ़ है कि जिस तरह ग्रहों और नक्षत्रों की प्रकट गति को केवल वही आदमी समझ सकता है, जो उनकी वास्तविक गति से परिचित है, अर्थात् जो उनकी उस गति से परिचित है, जिसका इन्द्रियों को प्रत्यक्ष बोध नहीं होता, उसी तरह प्रतियोगिता का वैज्ञानिक विश्लेषण उस वक़्त तक सम्भव नहीं है, जब तक कि हमें पूंजी के आन्तरिक स्वभाव का ज्ञान न हो। फिर भी, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को बेहतर ढंग से समझने के लिये हम नीचे लिखी बातें और कहे देते हैं, जिनके आधार के तौर पर हम ऊपर जिन नतीजों पर पहुंच चुके हैं, उनके सिवा और कोई बात मानकर नहीं चल रहे हैं।

यदि एक घण्टे का श्रम छः पेन्स में निहित होता है, तो १२ घण्टे के एक काम के दिन में छः शिलिंग का मूल्य तैयार होगा। मान लीजिये कि श्रम की वर्तमान उत्पादकता के साथ इन १२ घण्टों में १२ वस्तुएं तैयार होती हैं। और मान लीजिये कि इन में से हर वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के जो साधन ख़र्च होते हैं, उनका मूल्य छः पेन्स है। ऐसी हालत में हर वस्तु का मूल्य एक शिलिंग होगा : छः पेन्स उत्पादन के साधनों के मूल्य के और छः पेन्स उस नये मूल्य के, जो इन साधनों से काम करते समय जुड़ गया है। अब मान लीजिये कि कोई पूंजीपति श्रम की उत्पादकता को दुगुनी कर देने में कामयाब हो जाता है और १२ घण्टे के काम के दिन में १२ वस्तुओं की जगह पर २४ वस्तुएं तैयार करने लगता है। तब यदि उत्पादन के साधनों का मूल्य पहले जितना ही रहता है, तो हर वस्तु का मूल्य घटकर नौ पेन्स रह जायेगा, जिसमें से छः पेन्स उत्पादन के साधनों के मूल्य के होंगे और ३ पेन्स उन नये मूल्य के होंगे, जो श्रम ने उनमें जोड़ दिया है। श्रम की उत्पादकता के दुगुनी हो जाने के बावजूद दिन भर का श्रम अब भी पहले की तरह छः शिलिंग का ही नया मूल्य पैदा करता है, उससे अधिक नहीं; किन्तु अब यह छः शिलिंग का नया मूल्य पहले से दुगुनी वस्तुओं में बंट जाता है। अब हर वस्तु में इस मूल्य के $\frac{१}{१२}$ भाग के बजाय केवल $\frac{१}{२४}$ भाग निहित होता है, अब हर वस्तु में छः पेन्स के बजाय केवल तीन पेन्स का मूल्य निहित होता है, या, — जो कि एक ही बात है, — यूं कहिये कि उत्पादन के साधनों के प्रत्येक वस्तु में रूपान्तरित होते समय अब एक घण्टे के श्रम-काल के बजाय केवल आधे घण्टे का श्रम-काल ही उनमें नया जुड़ता है। अब इन वस्तुओं में से प्रत्येक का अलग-अलग मूल्य उनके सामाजिक मूल्य से कम हो गया है। दूसरे शब्दों में, औसत ढंग की सामाजिक परिस्थितियों में इस प्रकार की अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन में जितना श्रम-काल ख़र्च होता है, इन वस्तुओं में उससे कम श्रम-काल ख़र्च हुआ है। औसतन हर वस्तु की लागत १ शिलिंग होती है, और वह २ घण्टे के सामाजिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु उत्पादन की बदली हुई प्रणाली का प्रयोग होने पर हरेक में केवल नौ पेन्स की लागत लगती है, या हरेक में केवल $१\frac{१}{२}$ घण्टे का श्रम निहित होता है। परन्तु किसी भी माल का वास्तविक मूल्य उसका व्यक्तिगत मूल्य नहीं, बल्कि सामाजिक मूल्य होता है, अर्थात् किसी भी माल का वास्तविक मूल्य इससे नहीं निर्धारित होता कि हर अलग-अलग सूरत में उत्पादक को उस वस्तु पर कितना श्रम-काल ख़र्च करना पड़ा है, बल्कि वह इससे निर्धारित होता है कि उसके माल के उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम-काल आवश्यक है। इसलिये, जिस पूंजीपति ने नयी पद्धति का उपयोग किया है, वह यदि अपना माल उसके एक शिलिंग के सामाजिक मूल्य पर बेचता है, तो वह उसे

उसके व्यक्तिगत मूल्य से तीन पेन्स अधिक पर बेचता है और इस तरह तीन पेन्स का अधिक अतिरिक्त मूल्य कमा लेगा। दूसरी ओर, जहां तक इस पूंजीपति का सम्बंध है, अब १२ वस्तुओं के बजाय २४ वस्तुएं १२ घण्टे के काम के दिन का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसलिये, उसे अब अगर काम के एक दिन की पैदावार से छुटकारा पाना है, तो मांग को पहले से दुगुनी हो जाना चाहिये, अर्थात् मण्डी को पहले से दुगुना बड़ा हो जाना चाहिये। अन्य बातों के समान रहते हुए उसके मालों के लिए पहले से अधिक बड़ी मण्डी केवल उसी हालत में मिल सकती है, जब उनके दाम घटा दिये जायें। इसलिये वह अपने मालों को उनके व्यक्तिगत मूल्य से कुछ अधिक पर, किन्तु उनके सामाजिक मूल्य से कुछ कम पर,—जैसे कि मान लीजिये कि दस पेन्स प्रति वस्तु के भाव पर,—बेचेगा। इस तरह भी वह प्रत्येक वस्तु पर एक पेनी का फ़ालतू अतिरिक्त मूल्य तो कमा ही लेता है। उसके मालों की जीवन-निर्वाह के उन आवश्यक साधनों में, जो श्रम-शक्ति का सामान्य मूल्य निर्धारित करने में भाग लेते हैं, गिनती होती है या नहीं, इसका इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि इस तरह अतिरिक्त मूल्य में जो वृद्धि होती है, वह उसकी जेब में चली जाती है। इसलिये, वस्तु चाहे श्रम-शक्ति के सामान्य मूल्य-निर्धारण में भाग ले या न ले, हर पूंजीपति का हित इसी में होता है कि श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर अपने मालों को सस्ता कर दे।

फिर भी ऐसी सूरत में भी अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये आवश्यक श्रम-काल को घटाना पड़ता है और चुनांचे अतिरिक्त श्रम को उतना ही बढ़ाना पड़ता है।[1] मान लीजिये कि आवश्यक श्रम-काल १० घण्टे का है, एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच शिलिंग है, अतिरिक्त श्रम-काल २ घण्टे का है और रोजाना एक शिलिंग के बराबर अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है। परन्तु पूंजीपति अब २४ वस्तुएं तैयार करता है, जिनको वह दस पेन्स प्रति वस्तु के भाव से बेचता है और इस तरह कुल बीस शिलिंग पाता है। उत्पादन के साधनों का मूल्य चूंकि बारह शिलिंग है, इसलिये इनमें से $१४\frac{२}{५}$ वस्तुएं केवल पेशगी लगायी गयी स्थिर पूंजी की स्थान-पूर्ति के काम में आती हैं। १२ घण्टे के काम के दिन के श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं $९\frac{३}{५}$ वस्तुएं। श्रम-शक्ति का दाम चूंकि पांच शिलिंग है, इसलिये छः वस्तुएं आवश्यक श्रम-काल का और $३\frac{३}{५}$ वस्तुएं अतिरिक्त श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसलिये आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम का अनुपात, जो औसत ढंग की सामाजिक परिस्थितियों में ५ : १ था,

---

[1] "किसी भी आदमी का मुनाफ़ा इस बात पर नहीं निर्भर करता कि दूसरे आदमियों के श्रम की कितनी पैदावार पर उसका अधिकार है, बल्कि वह इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे आदमियों के श्रम पर उसका कितना अधिकार है। यदि उसके मजदूरों की मजदूरी ज्यों की त्यों रहती है, पर वह अपना माल पहले से अधिक दामों में बेच सकता है, तो जाहिर है कि उसे फ़ायदा होता है . . . तब वह जो कुछ पैदा करता है, उसका पहले से छोटा भाग उस श्रम को हरकत में लाने के लिये काफ़ी होता है और चुनांचे उसका पहले से बड़ा भाग ख़ुद अपने लिये बच रहता है।" (*"Outlines of Pol. Econ."* ['अर्थशास्त्र की रूपरेखा'], London, 1832, पृ० ४९, ५०।)

अब केवल ५ : ३ रह जाता है। एक और तरह भी हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं। १२ घण्टे के काम के दिन की पैदावार का मूल्य बीस शिलिंग है। इसमें से बारह शिलिंग उत्पादन के साधनों के मूल्य के होते हैं, जो केवल पुनः प्रकट हुआ है। बचते हैं आठ शिलिंग, जो मुद्रा के रूप में दिन भर में नये पैदा हुए मूल्य की अभिव्यक्ति हैं। इसी प्रकार का औसत ढंग का सामाजिक श्रम जिस रक़म में अभिव्यक्त होता है, उससे यह रक़म ज्यादा है। औसत ढंग का बारह घण्टे का सामाजिक श्रम केवल छः शिलिंग में अभिव्यक्त होता है। जिस श्रम की उत्पादकता असामान्य ढंग से बढ़ गयी है, वह पहले से अधिक तीव्रता के साथ किये गये श्रम की तरह काम करता है। इसी प्रकार का औसत ढंग का सामाजिक श्रम एक निश्चित अवधि में जितना मूल्य पैदा करता है, यह श्रम उसी अवधि में उससे अधिक मूल्य पैदा कर देता है। (देखिये अध्याय १, अनुभाग २, पृ० ५८-५९।) परन्तु हमारा पूंजीपति एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य के तौर पर अब भी पहले की तरह केवल पांच शिलिंग ही देता है। इसलिये, इस मूल्य को पुनः पैदा करने के लिये अब मजदूर को १० घण्टे के बजाय केवल ७$\frac{१}{२}$ घण्टे ही काम करना पड़ता है। चुनांचे उसके अतिरिक्त श्रम में २$\frac{१}{२}$ घण्टे की वृद्धि हो जाती है, और वह जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, वह एक शिलिंग से बढ़कर तीन शिलिंग हो जाता है। इसलिये, जो पूंजीपति उत्पादन की उन्नत पद्धति का प्रयोग करता है, वह उसी धंधे के अन्य पूंजीपतियों की अपेक्षा काम के दिन के ज्यादा बड़े हिस्से पर अतिरिक्त श्रम के रूप में अधिकार कर लेता है। सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में लगे हुए सभी पूंजीपति सामूहिक रूप से जो कुछ करते हैं, वही यह पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से कर डालता है। किन्तु, दूसरी ओर, जैसे ही उत्पादन की यह नयी पद्धति पूरे धंधे की सामान्य पद्धति बन जाती है और उसके फलस्वरूप जैसे ही पहले की अपेक्षा सस्ते में तैयार हो जाने वाले माल के व्यक्तिगत मूल्य तथा उसके सामाजिक मूल्य का अन्तर जाता रहता है, वैसे ही यह फ़ालतू अतिरिक्त मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। श्रम-काल के द्वारा मूल्य के निर्धारित होने का नियम, जो उत्पादन की नयी पद्धति का प्रयोग करने वाले पूंजीपति पर इस तरह लागू होता है कि वह उसे अपना माल सामाजिक मूल्य से कम पर बेचने के लिये मजबूर कर देता है, वही नियम प्रतियोगिता के जबर्दस्ती अमल में आने वाले नियम के रूप में उसके प्रतिद्वंद्वियों को भी इस नयी पद्धति का प्रयोग करने के लिये मजबूर कर देता है।[1] इसलिये, अतिरिक्त मूल्य की सामान्य दर पर इस पूरी प्रक्रिया का केवल उसी समय प्रभाव पड़ता है, जब श्रम की

---

[1] "यदि मेरा पड़ोसी कम श्रम से ज्यादा पैदावार तैयार कराके अपना माल सस्ते दामों में बेच सकता है, तो मुझे भी किसी न किसी तरकीब से उतने ही सस्ते भाव पर अपना माल बेचना चाहिये। चुनांचे जब कभी कोई कला, धंधा या मशीन अपेक्षाकृत कम मजदूरों के श्रम से और चुनांचे पहले से अधिक सस्ते में काम करने लगती है, तब दूसरे लोगों में भी इस बात की चाह या होड़ सी पैदा हो जाती है कि या तो उसी तरह की कला, धंधे अथवा मशीन का प्रयोग करें और या उससे मिलती-जुलती कोई और चीज खोज निकालें, ताकि हर आदमी की स्थिति बराबर हो जाये और कोई आदमी अपने पड़ोसी से सस्ते भाव पर माल न बेच सके।" (*"The Advantages of the East India Trade to England"* ['इंगलैण्ड को ईस्ट इण्डिया के व्यापार से होने वाला लाभ'], London, 1720, पृ० ६७।)

उत्पादकता में होनेवाली वृद्धि उत्पादन की उन शाखाओं में भी दिखाई देने लगती है, जिनका उन मालों से सम्बंध है, जो जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों का भाग हैं और इसलिये जो श्रम-शक्ति के मूल्य के तत्व होते हैं, और जब यह वृद्धि इन मालों को सस्ता कर देती है।

मालों का मूल्य श्रम की उत्पादकता के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। और श्रम-शक्ति के मूल्य के लिये भी यह बात सच है, क्योंकि वह मालों के मूल्यों पर निर्भर करता है। इसके विपरीत, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य इस उत्पादकता के अनुलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। वह बढ़ती हुई उत्पादकता के साथ बढ़ता और गिरती हुई उत्पादकता के साथ घटता है। यदि मुद्रा का मूल्य स्थिर मान लिया जाये, तो १२ घण्टे के औसत ढंग के सामाजिक काम के दिन में सदा उतना ही नया मूल्य – यानी यहां पर छः शिलिंग ही – पैदा होगा, चाहे यह रक़म अतिरिक्त मूल्य तथा मजदूरी के बीच किसी भी तरह बंट जाये। परन्तु यदि उत्पादकता बढ़ जाने के फलस्वरूप जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का मूल्य गिर जाये और इसलिये एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच शिलिंग से घटकर तीन शिलिंग रह जाये, तो अतिरिक्त मूल्य एक शिलिंग से बढ़कर तीन शिलिंग हो जाता है। पहले श्रम-शक्ति के मूल्य का पुनरुत्पादन करने के लिये दस घण्टे जरूरी थे, अब केवल छः घण्टे जरूरी हैं। चार घण्टे मुक्त हो जाते हैं, और उनको अतिरिक्त श्रम के क्षेत्र में शामिल किया जा सकता है। अतएव पूंजी में सदा इसकी चाह और उसमें सदा यह प्रवृत्ति निहित रहती है कि मालों को सस्ता करने तथा उनको सस्ता करके खुद मजदूर को सस्ता करने के उद्देश्य से श्रम की उत्पादकता को अधिक से अधिक बढ़ाती जाये।[1]

किसी माल का मूल्य खुद अपने में पूंजीपति के लिये कोई दिलचस्पी नहीं रखता। उसकी दिलचस्पी तो महज इस माल में निहित अतिरिक्त मूल्य में होती है, जिसे इस माल को बेचकर पाया जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य पाने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पेशगी लगाया गया मूल्य वापिस आ जाता है। अब चूंकि सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य श्रम की उत्पादकता के विकास के अनुलोम अनुपात में बढ़ता है, जब कि, दूसरी ओर, मालों का मूल्य उसी अनुपात में

---

[1] "मज़दूर का ख़र्चा जिस अनुपात में भी कम हो जायेगा, उसकी मज़दूरी उसी अनुपात में घट जायेगी, बशर्ते कि उसके साथ-साथ उद्योग पर लगे हुए प्रतिबंध हटा लिये गये हों।" (*"Considerations concerning Taking off the Bounty on Corn Exported, &c."* ['अनाज का निर्यात करने वाले व्यापारियों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता को बन्द करने के विषय में कुछ विचार, इत्यादि'), London, 1753, पृ० ७।) "व्यापार के हित में यह आवश्यक है कि अनाज और सभी खाद्य-वस्तुएं यथासंभव सस्ती हों, क्योंकि यदि कोई कारण इन चीज़ों को महंगा बना देता है, तो वह श्रम को भी महंगा कर देता है . . . जिन देशों में उद्योगों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगा है, उन सभी देशों में खाद्य-वस्तुओं के दाम का श्रम के दाम पर प्रभाव पड़ना लाजिमी है। जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के सस्ता हो जाने पर श्रम हमेशा सस्ता हो जायेगा।" (उप० पु०, पृ० ३।) "उत्पादन की शक्तियां जितनी बढ़ जाती हैं, मजदूरी उसी अनुपात में कम हो जाती है। यह सच है कि मशीनें जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं को सस्ता कर देती हैं, पर साथ ही वे मजदूर को भी सस्ता कर देती हैं।" (*"A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co-operation"* ['प्रतियोगिता और सहकारिता के तुलनात्मक लाभों पर एक पुरस्कृत निबंध'], London, 1834, पृ० २७।)

घटता जाता है, चूंकि एक ही क्रिया मालों को सस्ता कर देती है और साथ ही उनमें निहित अतिरिक्त मूल्य को बढ़ा देती है, इसलिये यहां पर हमें इस समस्या का हल मिल जाता है कि पूंजीपति, जिसका एकमात्र उद्देश्य विनिमय-मूल्य का उत्पादन करना होता है, क्यों मालों के विनिमय-मूल्य को सदा घटाने की कोशिश में लगा रहता है? यही वह पहेली थी, जिसके द्वारा अर्थशास्त्र का एक संस्थापक, क्वेसने, अपने विरोधियों को सताया करता था और जिसे वे कभी बूझ न पाते थे। क्वेसने कहता था: "तुम लोग यह मानते हो कि औद्योगिक पैदावार के निर्माण में उत्पादन को कोई हानि पहुंचाये बिना खर्चे को और श्रम की लागत को जितना कम किया जा सकता है, उससे उतना ही अधिक लाभ होता है, क्योंकि इस तरह तैयार वस्तु का दाम घट जाता है। और, फिर भी, तुम यह समझते हो कि मजदूरों के श्रम से पैदा होने वाली दौलत का उत्पादन वास्तव में उनकी पैदावार के विनिमय-मूल्य को बढ़ाकर किया जाता है।"[1]

इसलिये, पूंजीवादी उत्पादन में जब श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर उसकी बचत की जाती है,[2] तब इसका उद्देश्य काम के दिन को छोटा करना नहीं होता। इसका उद्देश्य केवल यह होता है कि मालों की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल को घटा दिया जाये। मजदूर के श्रम की उत्पादकता के बढ़ जाने पर यदि वह, मान लीजिये, पहले से दस-गुना माल तैयार करने लगता है और इस तरह हर वस्तु पर पहले का केवल

---

[1] "Ils conviennent que plus on peut, sans préjudice, épargner de frais ou de travaux dispendieux dans la fabrication des ouvrages des artisans, plus cette épargne est profitable par la diminution des prix de ces ouvrages. Cependant ils croient que la production de richesse qui résulte des travaux des artisans consiste dans l'augmentation de la valeur vénale de leurs ouvrages." (Quesnay, "*Dialogues sur le Commerce et les Travaux des Artisans*", Daire का संस्करण, Paris, 1846, पृ० १८८, १८९।)

[2] "Ces spéculateurs si économes du travail des ouvriers qu'il faudrait qu'ils payassent." ["इन सट्टेबाजों को जब मजदूरों के श्रम के दाम देने पड़ते हैं, तब वे उसका उपयोग करने में बड़ी कमखर्ची दिखाते हैं।"] (J. N. Bidaut, "*Du Monopole qui s'établit dans les arts industriels et le commerce*", Paris, 1828, पृ० १३।) "मालिक हमेशा समय और श्रम की बचत करने की कोशिश में रहेगा।" (Dugald Stewart, *Works*, ed. by Sir W. Hamilton, Edinburgh, v. viii, 1855, "*Lectures on Polit. Econ.*" [डूगल्ड स्टीवर्ट, 'अर्थशास्त्र पर कुछ भाषण', सर डब्ल्यू० हैमिलटन द्वारा सम्पादित 'रचनाएं' में, एडिनबरा, खण्ड ८, १८५५], पृ० ३१८।) "उनका (पूंजीपतियों का) हित इसमें है कि जिन मजदूरों को उन्होंने नौकर रखा है, उनकी उत्पादक शक्तियां अधिक से अधिक हों। उनका ध्यान एक तरह से सदा केवल इस शक्ति को बढ़ाने में ही लगा रहता है।" ("*Text-book of Lectures on the Political Economy of Nations. By the Rev. Richard Jones*" ['राष्ट्रों के अर्थशास्त्र के विषय में कुछ भाषणों की पाठ्य-पुस्तक। रेवरेण्ड रिचर्ड जोन्स द्वारा लिखित'], Hertford, 1852, Lecture III (तीसरा भाषण) [पृ० ३९]।)

$\frac{१}{१०}$ श्रम-काल खर्च करता है, तो इससे इसके पहले की तरह पूरे १२ घण्टे तक काम करने में कोई रुकावट नहीं आती और न ही इन १२ घण्टों में १२० के बजाय १,२०० वस्तुएं तैयार करने में कोई बाधा पड़ती है। यही नहीं, इसके साथ-साथ उसके काम के दिन को और लम्बा खींचा जा सकता है, जैसे कि, मान लीजिये, १४ घण्टे तक, ताकि १,४०० वस्तुएं तैयार करायी जा सकें। अतएव, मैक्कुलक, उरे, सीनियर et tutti quanti (और उनकी नसल के अन्य) अर्थशास्त्रियों के ग्रंथों में हमें यदि एक पृष्ठ पर यह पढ़ने को मिलता है कि मजदूर को पूंजी का इसके लिये अनुगृहीत होना चाहिये कि वह उसकी उत्पादकता को बढ़ा देती है, क्योंकि उससे आवश्यक श्रम-काल घट जाता है, तो अगले ही पृष्ठ पर हम यह भी पढ़ सकते हैं कि मजदूर को अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये आगे से १० के बजाय १५ घण्टे रोज काम करना चाहिये। पूंजीवादी उत्पादन की सीमाओं के भीतर श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने की तमाम कोशिशों का उद्देश्य यह होता है कि काम के दिन के उस भाग को छोटा कर दिया जाये, जिसमें मजदूर को खुद अपने हित में काम करना पड़ता है, और उसे घटाकर दिन के उस भाग को बढ़ा कर दिया जाये, जिसमें मजदूर को पूंजीपति के लिये मुफ्त काम करने की आजादी रहती है। मालों को सस्ता किये बिना यह चीज किस हद तक की जा सकती है, यह सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की विशिष्ट प्रणालियों का अध्ययन करने पर प्रकट होगा। अब हम इन विशिष्ट प्रणालियों पर विचार करना आरम्भ करते हैं।

## तेरहवां अध्याय

# सहकारिता

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, पूंजीवादी उत्पादन केवल उसी समय आरम्भ होता है, जब प्रत्येक अलग-अलग पूंजी मजदूरों की एक अपेक्षाकृत बड़ी संख्या से एक साथ काम लेने लगती है और उसके फलस्वरूप जब एक व्यापक पैमाने पर श्रम-प्रक्रिया चलती है और इस तरह अपेक्षाकृत बड़ी मात्राओं में पैदावार होती है। जब अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में मजदूर एक समय में और एक जगह पर (आपको यही पसन्द हो, तो एक ही ढंग के श्रम के क्षेत्र में) इकट्ठा काम करते हैं और एक ही पूंजीपति के मातहत एक ढंग का माल तैयार करते हैं, तब इतिहास एवं तर्क दोनों की दृष्टि से पूंजीवादी उत्पादन का श्रीगणेश हो जाता है। जहां तक खुद उत्पादन की प्रणाली का सम्बंध है, हस्तनिर्माण शब्द का यदि उसके मौलिक अर्थ में उपयोग किया जाये, तो उसकी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में और शिल्पी संघों की दस्तकारियों में इसके सिवाय और बहुत कम अन्तर होता है कि हस्तनिर्माण में पूंजी की एक ही राशि मजदूरों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या से एक साथ काम लेती है। मध्य युग के उस्ताद दस्तकार की वर्कशाप केवल पहले से बड़ा आकार धारण कर लेती है।

इसलिये, शुरू में केवल परिमाणात्मक अन्तर होता है। हम ऊपर यह बता चुके हैं कि किसी निश्चित पूंजी द्वारा उत्पादित [अतिरिक्त मूल्य का पता लगाने के लिये प्रत्येक मजदूर द्वारा पैदा किये गये अतिरिक्त मूल्य को एक साथ काम करने वाले मजदूरों की संख्या से गुणा कर देना काफ़ी होता है।] खुद मजदूरों की संख्या से न तो अतिरिक्त मूल्य की दर में कोई फ़र्क़ पड़ता है और न ही श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा में कोई अन्तर आता है। यदि १२ घण्टे का काम का दिन छः शिलिंग में निहित हो, तो ऐसे १२०० दिन १२०० गुने छः शिलिंग में निहित होंगे। एक सूरत में १२×१२०० काम के घण्टे और दूसरी सूरत में ऐसे १२ घण्टे पैदावार में निहित होते हैं। मूल्य के उत्पादन में मजदूरों की प्रत्येक संख्या उतने अलग-अलग मजदूरों के बराबर ही मानी जाती है, और इसलिये चाहे १२०० आदमी अलग-अलग काम करें और चाहे वे एक पूंजीपति के नियंत्रण में मिलकर काम करें, उससे जो मूल्य पैदा होता है, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।]

फिर भी, कुछ सीमाओं के भीतर, एक परिवर्तन जरूर हो जाता है। मूल्य में मूर्त होने वाला श्रम औसत सामाजिक स्तर का श्रम होता है। चुनांचे उसमें औसत श्रम-शक्ति खर्च होती है। लेकिन कोई भी औसत मात्रा एक ही तरह की, परन्तु भिन्न-भिन्न परिमाण वाली अनेक अलग-अलग मात्राओं का औसत होती है। हर उद्योग में हर अलग-अलग मजदूर, चाहे उसका नाम पीटर हो या पौल, औसत मजदूर से [भिन्न होता है। जब कभी मजदूरों की एक खास अल्पतम संख्या से एक साथ काम लिया जाता है, तब ये व्यक्तिगत भिन्नताएं – या, गणित की शब्दावली में, "भूल-चूक" – एक दूसरे की क्षति-पूर्ति कर देती ह और शायद हो

जाती हैं। प्रसिद्ध कूटतार्किक एवं चाटुकार एडमण्ड बर्क तो काश्तकार के रूप में अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर इस हद तक दावा करते हैं कि पांच खेत-मजदूरों की "जैसी छोटी टुकड़ी" में भी तमाम व्यक्तिगत भिन्नताएं ग़ायब हो जाती हैं और इसलिये अगर किन्हीं भी पांच वयस्क खेत-मजदूरों से एक साथ काम कराया जाये, तो वे समान समय में उतना ही काम करेंगे, जितना कोई और पांच करेंगे।[1] बहरहाल जो भी हो, इतनी बात स्पष्ट है कि जिनसे एक साथ काम लिया जा रहा है, ऐसे मजदूरों की एक अपेक्षाकृत बड़ी संख्या के सामूहिक काम के दिन को इन मजदूरों की संख्या से भाग देने पर औसत सामाजिक श्रम का एक दिन निकल आता है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि प्रत्येक व्यक्ति का काम का दिन १२ घण्टे का है। तब एक साथ काम करने वाले १२ व्यक्तियों का सामूहिक काम का दिन १४४ घण्टों के बराबर होगा। और हालांकि इन एक दर्जन आदमियों में से प्रत्येक अलग-अलग आदमी का श्रम औसत ढंग के सामाजिक श्रम से कुछ कम या अधिक होगा और इसलिये हालांकि उनमें से हरेक को एक सी क्रिया को पूरा करने में अलग-अलग समय लगेगा, फिर भी चूंकि हरेक का काम का दिन १४४ घण्टे के सामूहिक दिन का $\frac{१}{१२}$ वां भाग है, इसलिये उसमें एक औसत ढंग के सामाजिक काम के दिन के गुण मौजूद होंगे। किन्तु इन १२ आदमियों से काम लेने वाले पूंजीपति के दृष्टिकोण से काम का दिन पूरे दर्जन भर आदमियों का दिन होता है। और ये १२ आदमी चाहे अपने काम में एक दूसरे की मदद करें और चाहे इन आदमियों के काम में केवल इतना सम्बंध हो कि वे सब एक पूंजीपति के लिये काम कर रहे हैं, प्रत्येक अलग-अलग आदमी का दिन इस सामूहिक काम के दिन का एक पूरकभाजक भाग होता है। परन्तु यदि इन १२ आदमियों की छः जोड़ियों से छः छोटे-छोटे मालिक काम लेते हैं, तो यह बात केवल संयोग पर ही निर्भर करेगी कि इनमें से हरेक मालिक दूसरों के समान मूल्य पैदा कर पाता है या नहीं और इसलिये अतिरिक्त मूल्य की सामान्य दर के अनुसार अतिरिक्त मूल्य कमा पाता है या नहीं। हर अलग-अलग सूरत में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ रहेगा। किसी माल के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से जितना समय लगना चाहिये, यदि किसी मजदूर का उस की अपेक्षा बहुत अधिक समय लग जाता है, तो उसका आवश्यक श्रम-काल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक औसत श्रम-काल से काफ़ी भिन्न होगा और इसलिये न तो उसका श्रम औसत श्रम माना जायेगा और न ही उसकी श्रम-शक्ति औसत श्रम-शक्ति मानी जायेगी। तब वह श्रम-शक्ति या तो बिल्कुल न बिक पायेगी, और बिकेगी, तो औसत मूल्य से कम दाम पर।

---

[1] "बल, दक्षता और ईमानदारी की दृष्टि से निस्सन्देह एक आदमी के श्रम और दूसरे आदमी के श्रम के मूल्य में बहुत अन्तर होता है। लेकिन मेरा जितना अनुभव है, उसके आधार पर मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी पांच आदमी कुल मिलाकर उतना ही श्रम करेंगे, जितना कोई भी अन्य पांच जीवन की उपर्युक्त अवस्थाओं में करेंगे। अर्थात् ऐसे पांच आदमियों में एक ऐसा होगा, जिसमें एक अच्छे मजदूर के सारे गुण मौजूद होंगे, एक ख़राब मजदूर होगा और बाक़ी तीन पहले और अन्तिम मजदूर के बीच के स्तर के होंगे। चुनांचे, पांच मजदूरों की छोटी सी टुकड़ी से भी आप वह पूरा काम ले सकेंगे, जो कोई भी पांच आदमी कर सकते हैं।" (E. Burke, उप० पु०, पृ० १५, १६।) औसत व्यक्ति के विषय में क्वेतलेत से तुलना कीजिये।

इसलिये सदा यह मानकर चला जाता है कि हर प्रकार के श्रम में एक अल्पतम स्तर की निपुणता होती है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, पूंजीवादी उत्पादन के पास इस अल्पतम स्तर को निर्धारित करने का साधन प्राप्त होता है। फिर भी यह अल्पतम स्तर औसत स्तर से भिन्न होता है, हालांकि पूंजीपति को श्रमशक्ति का औसत मूल्य देना पड़ता है। इसलिये ऊपर जिन छः छोटे-छोटे मालिकों का जिक्र किया गया था, उनमें से एक अतिरिक्त मूल्य की औसत दर से कुछ अधिक और दूसरा उससे कुछ कम चूस पायेगा। पूरे समाज के पैमाने पर तो ये भिन्नताएं एक दूसरे की क्षति-पूर्ति कर देंगी, पर अलग-अलग मालिकों के लिये यह बात नहीं हो पायेगी। इस प्रकार, मूल्य के उत्पादन के नियम प्रत्येक अलग-अलग उत्पादक के लिये केवल उसी दशा में पूरी तरह अमल में आते हैं, जब वह पूंजीपति की तरह उत्पादन करता है और बहुत से मजदूरों से एक साथ काम लेता है, जिनके श्रम पर उसके सामूहिक रूप के कारण तुरन्त ही औसत सामाजिक श्रम की छाप लग जाती है।[1]

काम के तरीक़े में यदि कोई परिवर्तन न किया जाये, तो भी अगर बड़ी संख्या में मजदूरों से एक साथ काम लिया जाता है, तो श्रम-प्रक्रिया की भौतिक परिस्थितियों में क्रान्ति हो जाती है। ये मजदूर जिन मकानों में काम करते हैं, वे साथ मिलकर या बारी-बारी से जो कच्चा माल, औजार और बर्तन इस्तेमाल करते हैं, कच्चा माल जिन गोदामों में जमा करके रखा जाता है,—संक्षेप में कहिये, तो उत्पादन के साधनों का एक भाग अब सामूहिक ढंग से ख़र्च किया जाता है। एक तरफ़ तो उत्पादन के इन साधनों के विनिमय-मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती, क्योंकि किसी माल का उपयोग-मूल्य यदि पहले से अधिक पूर्णता तथा उपयोगी ढंग से ख़र्च किया जाये, तो उससे उसका विनिमय-मूल्य नहीं बढ़ जाता। दूसरी ओर, इन साधनों का सामूहिक ढंग से और इसलिये पहले से बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होता है। जिस कमरे में एक अकेला बुनकर अपने दो सहायकों के साथ काम करता है, उससे वह कमरा लाजिमी तौर पर बड़ा होगा, जिसमें बीस बुनकर बीस करघों पर काम करते हैं। लेकिन हर दो बुनकरों के लिये एक कमरे के हिसाब से दस कमरे बनाने की अपेक्षा बीस व्यक्तियों के लिये एक वर्कशाप बनाने में कम श्रम लगता है; चुनांचे, उत्पादन के जो साधन बड़े पैमाने पर सामूहिक ढंग से इस्तेमाल होने के लिये एक जगह पर संकेन्द्रित कर दिये जाते हैं, उनका मूल्य इन साधनों के विस्तार एवं परिवर्द्धित उपयोगिता के अनुलोम अनुपात में नहीं बढ़ता। जब उनका सामूहिक ढंग से उपयोग किया जाता है, तो वे पैदावार की प्रत्येक इकाई में अपने मूल्य का पहले से अपेक्षाकृत छोटा भाग स्थानांतरित करते हैं। इसका कुछ हद तक तो यह कारण होता है कि वह कुल मूल्य, जो ये साधन स्थानांतरित करते हैं, अब पैदावार की पहले से अधिक मात्रा पर फैल जाता है, और कुछ हद तक इसकी यह वजह है कि हालांकि निरपेक्ष ढंग से देखने पर उत्पादन के अलग-अलग साधनों की अपेक्षा इन साधनों का मूल्य अधिक होता

[1] प्रोफ़ेसर रोश्चेर ने खोज निकालने का दावा किया है कि जब श्रीमती रोश्चेर सीने-पिरोने का काम करने वाली एक औरत से दो दिन तक काम लेती हैं, तो वह एक दिन तक साथ काम करने वाली दो औरतों से ज्यादा काम करती है। विद्वान प्रोफ़ेसर को शिशु-गृह में बैठकर, या ऐसी परिस्थितियों में, जहां पर मुख्य पात्र—पूंजीपति—ही अनुपस्थित है, पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का अध्ययन नहीं करना चाहिये (Roscher, "Die Grundlagen der Nationalökonomie", तीसरा संस्करण, 1858, पृ० ८८—८९)।

है, परन्तु यदि क्रिया में उनके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से देखा जाये, तो उनका मूल्य अपेक्षाकृत कम होता है। इस कारण स्थिर पूंजी के एक भाग का मूल्य गिर जाता है, और जितना अधिक यह मूल्य गिरता है, उसी अनुपात में माल का कुल मूल्य भी कम हो जाता है। असर उत्पादन के साधनों की लागत कम हो जाने के समान होता है। इन साधनों के इस्तेमाल में जो बचत होती है, उसका एकमात्र कारण यह है कि मजदूरों की एक बड़ी संख्या मिलकर उनका उपयोग करती है। इतना ही नहीं, सामाजिक श्रम की एक आवश्यक शर्त होने का यह खास गुण, जिसके कारण इन साधनों में और अलग-अलग काम करने वाले स्वतंत्र मजदूरों या छोटे-छोटे मालिकों के बिखरे हुए तथा अपेक्षाकृत अधिक महंगे उत्पादन के साधनों में एक विशेष अन्तर पैदा हो जाता है, – यह गुण उस सूरत में भी इन साधनों में आ जाता है, जब एक जगह पर इकट्ठा बहुत से मजदूर एक दूसरे की मदद नहीं करते, बल्कि केवल एक स्थान पर काम करते हैं। श्रम के औज़ारों का एक भाग खुद श्रम-प्रक्रिया के पहले ही यह सामाजिक स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

उत्पादन के साधनों के उपयोग में जो मितव्ययिता बरती जाती है, उसपर दो पहलुओं से विचार करना ज़रूरी है। एक तो यह कि उससे माल सस्ते हो जाते हैं और इस तरह श्रम-शक्ति का मूल्य गिर जाता है। दूसरे यह कि उससे व्यवसाय में लगायी गयी कुल पूंजी के साथ, यानी स्थिर और अस्थिर पूंजी के मूल्यों के जोड़ के साथ, अतिरिक्त मूल्य का अनुपात बदल जाता है। जब तक हम तीसरी पुस्तक पर नहीं पहुंचते, तब तक हम इस दूसरे पहलू पर विचार नहीं करेंगे। वर्तमान प्रश्न से सम्बंधित बहुत सी अन्य बातों को भी हम उसी पुस्तक के लिये छोड़े दे रहे हैं, ताकि वहां पर सही संदर्भ में उनपर विचार कर सकें। हमारा विश्लेषण जिस प्रकार आगे बढ़ रहा है, वह हमें विषय-वस्तु को इस तरह बांट देने के लिये मजबूर कर रहा है, और इस तरह का बंटवारा पूंजीवादी उत्पादन की भावना के सर्वथा अनुरूप है। कारण कि उत्पादन की इस प्रणाली में चूंकि मजदूर को श्रम के औज़ार अपने से स्वतंत्र, किसी और व्यक्ति की सम्पत्ति के रूप में विद्यमान मिलते हैं, इसलिये जहां तक इस मजदूर का सम्बंध है, इन औज़ारों के उपयोग में जो मितव्ययिता बरती जाती है, वह एक अलग क्रिया होती है, जिसका उससे कोई ताल्लुक़ नहीं होता और इसलिये जिसका मजदूर की अपनी व्यक्तिगत उत्पादकता को बढ़ाने के तरीक़ों से भी कोई सम्बंध नहीं होता।

जब बहुत से मजदूर इकट्ठा साथ-साथ काम करते हैं, तब वे सब चाहे एक ही प्रक्रिया में या अलग-अलग, परन्तु सम्बंधित प्रक्रियाओं में भाग लेते हों, तो कहा जाता है कि ये लोग सहकारी हैं, या सहकारी ढंग से काम कर रहे हैं।[1]

जिस प्रकार घुड़सवार सेना के एक दस्ते की आक्रमण-शक्ति या पैदल सेना की एक रेजिमेण्ट की रक्षा-शक्ति अलग-अलग घुड़सवार या पैदल सैनिकों की आक्रमण अथवा रक्षा-शक्तियों के जोड़ से बुनियादी तौर पर भिन्न होती है, उसी प्रकार अलग-अलग काम करने वाले मजदूरों की यांत्रिक शक्तियों का कुल जोड़ उस सामाजिक शक्ति से बिल्कुल भिन्न होता है, जो उस समय पैदा होती है, जब बहुत से मजदूर एक ही अविभाजित क्रिया में, जैसे कि भारी बोझ उठाने, पहिया घुमाने या कोई रुकावट हटाने में, एक साथ हिस्सा लेते

---

[1] "Concours de forces" ["शक्तियों का संगम"]। (Destutt de Tracy, "*Traité de la Volonté et de ses Effets*", Paris, 1826, पृ० ८०।)

हैं।[1] ऐसी सूरतों में मिल-जुलकर किये गये श्रम का जो परिणाम होता है, वह अलग-अलग व्यक्तियों के श्रम से या तो क़तई नहीं पैदा किया जा सकता और या केवल अत्यधिक समय ख़र्च करके या महज़ बहुत ही तुच्छ पैमाने पर पैदा किया जा सकता है। यहां पर सहकारिता के द्वारा न केवल व्यक्ति की उत्पादक शक्ति में वृद्धि हो जाती है, बल्कि एक नयी शक्ति का – अर्थात् जनता की सामूहिक शक्ति का – जन्म हो जाता है।[2]

बहुत सी शक्तियों के मिलाप से जो एक नयी ताक़त पैदा होती है, उसके अलावा अधिकतर उद्योगों में महज़ सामाजिक सम्पर्क ही एक ऐसी होड़ पैदा कर देता है और तबीयत के जोश (animal spirit) को इतना बढ़ा देता है कि हर मज़दूर की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता पहले से बढ़ जाती है। यही कारण है कि १२ घण्टे तक अलग-अलग काम करने वाले बारह आदमियों या लगातार बारह दिन तक काम करने वाले एक आदमी के मुक़ाबले में साथ मिलकर काम करने वाले एक दर्जन व्यक्ति १४४ घण्टे के अपने सामूहिक काम के दिन में कहीं ज़्यादा पैदावार करेंगे।[3] इसका कारण यह है कि, जैसा कि

---

[1] "अनेक क्रियाएं इतने सरल ढंग की हैं कि उनको भागों में बांटना असम्भव होता है, परन्तु उनको कई जोड़ी हाथों के सहकार के बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता। किसी बड़े पेड़ को उठाकर गाड़ी पर लादना इसकी एक मिसाल है . . . संक्षेप में, हर वह काम इसी मद में आता है, जिसे उस वक़्त तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि कई जोड़ी हाथ एक ही समय पर और एक ही अविभाजित काम में एक दूसरे की मदद न करें।" (E. G. Wakefield, "*A View of the Art of Colonisation*" ['ई० जी० वेकफ़ील्ड, 'उपनिवेशीकरण की कला पर एक दृष्टिकोण'], London, 1849, पृ० १६८।)

[2] "एक टन के वज़न को एक आदमी नहीं उठा सकता, उसके लिये दस आदमियों को ज़ोर लगाना होगा। परन्तु यदि १०० आदमी हों, तो वे केवल एक-एक उंगली के ज़ोर से उसे उठा सकते हैं।" (John Bellers, "*Proposals for Raising a Colledge of Industry*" [जान बैलेर्स, 'उद्योग का कालिज खोलने के लिये सुझाव'], London, 1696, पृ० २१।)

[3] जब दस काश्तकारों के द्वारा ३० एकड़ के एक-एक खेत पर काम करने के लिये नौकर रखे जाने के बजाय उतने ही मज़दूर केवल एक काश्तकार के द्वारा ३०० एकड़ के खेत पर काम करने के लिये नौकर रखे जाते हैं, तब "नौकरों के अनुपात से भी एक लाभ होता है, जिसे व्यावहारिक व्यक्तियों के अलावा कोई और आसानी से नहीं समझ सकता। क्योंकि आम तौर पर यह कहा जाता है कि जो १ और ४ का अनुपात है, वही ३ और १२ का है, पर व्यवहार में ऐसा नहीं होता। कारण कि फ़सल काटने के समय और अनेक अन्य क्रियाओं में, जिनको बहुत से मज़दूरों को एक साथ काम में लगाकर जल्दी से पूरा कर डालना आवश्यक होता है, इस तरह ज़्यादा अच्छा और ज़्यादा तेज़ काम होता है। मिसाल के लिये, यदि फ़सल काटने के समय २ ड्राइवर, २ लादने वाले, २ जेली से भूसा उठाने वाले, २ समेटने वाले और बाक़ी लोग या तो ग़ल्ले के ढेर पर या खलिहान में काम करें, तो मज़दूरों की इतनी ही बड़ी संख्या अलग-अलग जत्थों में बंटकर अलग-अलग खेतों पर जितना काम करेगी, ये उसका दुगुना काम कर डालेंगे।" ("*An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions and the Size of Farms*" By a Farmer" ['खाद्य-पदार्थों के मौजूदा दामों और खेतों के आकार के बीच पाये जाने वाले सम्बंध की जांच। एक काश्तकार द्वारा लिखित'], London, 1773, पृ० ७, ८।)

अरस्तू का मत है, मनुष्य यदि राजनीतिक पशु[1] नहीं है, तो वह सामाजिक पशु तो हर हालत में है।

यह हो सकता है कि बहुत से आदमी एक वक़्त में एक ही काम में या एक तरह के काम में लगे हों, मगर फिर भी उनमें से हरेक का श्रम सामूहिक श्रम के एक भाग के रूप में श्रम-प्रक्रिया की एक विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हो और सहकारिता के फलस्वरूप उनके श्रम की विषय-वस्तु अपेक्षाकृत अधिक तेज रफ़्तार के साथ श्रम-प्रक्रिया की सभी अवस्थाओं में से गुजर जाती हो। मिसाल के लिये, यदि एक दर्जन मजदूर सीढ़ी पर एक पंक्ति में खड़े होकर पत्थर नीचे से ऊपर पहुंचाते हैं, तो उनमें से हरेक एक सा ही काम करता है, मगर फिर भी उन सब के अलग-अलग काम एक पूर्ण क्रिया के सम्बद्ध भाग बन जाते हैं। ये एक पूर्ण क्रिया की विशिष्ट अवस्थाएं होती हैं, जिनमें से हर पत्थर को गुजरना पड़ता है। और इसकी अपेक्षा कि हर आदमी अलग-अलग पत्थर उठाकर सीढ़ी पर चढ़ता, एक पंक्ति में खड़े हुए आदमियों के २४ हाथों द्वारा पत्थर कहीं ज्यादा जल्दी ऊपर पहुंच जाते हैं।[2] इस प्रकार, चीज को उतने ही फ़ासले तक अपेक्षाकृत कम समय में पहुंचाया जाता है। फिर, मिसाल के लिये, जब कभी मकान बनाने के लिये कई तरफ़ से एक साथ काम शुरू कर दिया जाता है, तब श्रम का समेकन हो जाता है, हालांकि यहां भी सहकार करने वाले राज एक ही या एक सा ही काम करते हैं। एक राज १२ दिन तक, या १४४ घण्टे तक, काम करके मकान बनाने

---

[1] यदि बिल्कुल सही-सही कहा जाये, तो अरस्तू की परिभाषा यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही शहरी नागरिक होता है। प्राचीन काल के समाज के लिये यह उतनी ही लाक्षणिक परिभाषा है, जितनी यांकी समाज के लिये फ़्रैंकलिन की यह परिभाषा थी कि मनुष्य औज़ार बनाने वाला पशु है।

[2] "On doit encore remarquer que cette division partielle de travail peut se faire quand même les ouvriers sont occupés d'une même besogne. Des maçons par exemple, occupés à faire passer de mains en mains des briques à un échafaudage supérieur, font tous la même besogne, et pourtant il existe parmi eux une espèce de division de travail, qui consiste en ce que chacun d'eux fait passer la brique par un espace donné, et que tous ensemble la font parvenir beaucoup plus promptement à l'endroit marqué qu'ils ne le feraient si chacun d'eux portait sa brique séparément jusqu'à l'echafaudage supérieur." ["इसके अलावा यह भी कहना चाहिये कि ऐसा आंशिक श्रम-विभाजन इस सूरत में भी हो सकता है, जब सारे मजदूर एक ही काम को सम्पन्न कर रहे हों। हम ईंटें ले जाने वाले मजदूरों का उदाहरण ले सकते हैं। ईंटों को एक हाथ से दूसरे हाथ में देकर ऊंचे मचानों पर पहुंचाते हुए ये लोग एक ही प्रकार का काम करते हैं। फिर भी उनके बीच कुछ हद तक श्रम-विभाजन होता है। यह श्रम-विभाजन इस बात में निहित है कि उन मजदूरों में से हरेक एक निश्चित फ़ासले तक ईंट पहुंचाता है और वे सब मिलकर एक ही ईंट को मचान पर उस स्थिति की तुलना में, यदि उनमें से हरेक स्वतन्त्र रूप से काम करे, अधिक तेज रफ़्तार से पहुंचाते हैं।"] (F. Skarbek, "*Théorie des richesses sociales*", दूसरा संस्करण, Paris, 1840, ग्रन्थ १, पृ० ९७, ९८।)

में जितनी प्रगति करता, १२ राज १४४ घण्टे के अपने सामूहिक काम के दिन में उससे कहीं अधिक प्रगति करने में सफल होते हैं। इसका कारण यह है कि जब बहुत से आदमी साथ मिलकर काम करते हैं, तब मानो उनके समूह के आगे और पीछे दोनों तरफ़ हाथ और आंखें लग जाती हैं और कुछ हद तक वह समूह सर्वव्यापी हो जाता है। काम के विभिन्न भाग एक साथ प्रगति करने लगते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में हमने इस बात पर ज़ोर दिया है कि लोग एक ही या एक तरह का ही काम कर रहे हैं। यह इसलिये कि सामूहिक श्रम का यह सबसे सरल रूप सहकारिता में और यहां तक कि उसकी सम्पूर्णतया विकसित अवस्था में भी बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। यदि काम पेचीदा ढंग का हो, तो महज़ अनेक मजदूरों की सहकारिता से यह सम्भव हो जाता है कि अलग-अलग क्रियाएं अलग-अलग आदमियों को सौंप दी जायें, ताकि वे सब एक साथ सम्पन्न होती रहें। इस प्रकार, पूरे काम को समाप्त करने के लिये पहले से कम समय जरूरी होता है।[1]

बहुत से उद्योगों में श्रम-प्रक्रिया के रूप से निर्धारित कुछ ऐसे नाजुक क्षण आते हैं, जब कुछ ख़ास नतीजे हासिल करना जरूरी होता है। मिसाल के लिये, यदि भेड़ों के किसी रेवड़ के बाल उतारने हैं या गेहूं का खेत काटकर फ़सल इकट्ठी करनी है, तो पैदावार की मात्रा और गुण इस बात पर निर्भर करेंगे कि काम एक ख़ास समय पर शुरू करके एक निश्चित अवधि में ख़तम कर दिया जाता है या नहीं। ऐसी सूरत में यह पहले से तै होता है कि काम कितने समय में पूरा हो जाना चाहिये, जैसा कि हेरिंग मछली पकड़ने के बारे में होता है। एक अकेला आदमी तो, मान लीजिये, १२ घण्टे से ज्यादा बड़ा काम का दिन प्राकृतिक दिन में से नहीं निकाल सकता, मगर सहकार करने वाले १०० आदमी काम के दिन को १२०० घण्टे तक बढ़ा सकते हैं। काम को बहुत थोड़े समय में पूरा कर देना आवश्यक है, पर निर्णायक क्षण आने पर बहुत सारा श्रम एक साथ उत्पादन के क्षेत्र में लगा देने से समय की इस कमी को पूरा किया जा सकता है। काम सही समय पर पूरा हो जाता है, क्योंकि काम के अनेक संयुक्त दिनों का एक साथ उपयोग किया जाता है। काम कितना कारगर होगा, यह मजदूरों की संख्या पर निर्भर करता है। परन्तु यदि अलग-अलग काम करने वाले मजदूरों से इतना

---

[1] "Est-il question d'exécuter un travail compliqué, plusieurs choses doivent être faites simultanément. L'un en fait une pendant que l'autre en fait une autre, et tous contribuent à l'effet qu'un seul homme n'aurait pu produire. L'un rame pendant que l'autre tient le gouvernail, et qu'un troisième jette le filet ou harponne le poisson, et la pêche a un succès impossible sans ce concours." ["यदि कोई पेचीदा ढंग का काम करना है, तो एक ही समय में कई चीजें करनी चाहियें। जब तक एक आदमी एक चीज करता है, तब तक दूसरा आदमी दूसरी चीज कर डालता है, और सब मिलकर ऐसा असर पैदा करते हैं, जो एक अकेला व्यक्ति कभी नहीं पैदा कर सकता है। एक आदमी नाव खेता है, दूसरा पतवार संभालता है, तीसरा जाल डालता है या मछली को कांटे में फंसाता है,—और मछली पकड़ने का यह संयुक्त उद्योग जितना सफल होता है, उतना सम्भवतया शक्तियों के इस मिलाप के अभाव में वह कभी नहीं हो सकता था।"] (Destutt de Tracy, उप० पु०, पृ० ७८।)

ही काम इतने ही समय में कराया जाये, तो जितने मजदूरों की आवश्यकता होगी, उससे यह संख्या हमेशा कम होगी।[1] इस प्रकार की सहकारिता के अभाव का ही यह नतीजा है कि संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भाग में बहुत सारा अनाज और भारत के उन हिस्सों में, जहां अंग्रेजी शासन ने पुराने ग्राम-समुदायों को नष्ट कर दिया है, बहुत सारी कपास हर साल बरबाद हो जाती है।[2]

सहकारिता के कारण एक ओर तो अधिक विस्तृत क्षेत्र में काम करना सम्भव होता है, जिसके फलस्वरूप कुछ ख़ास तरह के कामों में सहकारिता नितान्त आवश्यक हो जाती है, जैसे पानी के निकास का बन्दोबस्त करने में, बांध बनाने में, सिंचाई का प्रबंध करने में और नहरें तथा सड़कें बनाने और रेलें बिछाने में। दूसरी ओर, सहकारिता से उत्पादन का अनुमाप बढ़ाने के साथ-साथ उसके क्षेत्र को अपेक्षाकृत कम करना सम्भव हो जाता है। उत्पादन के अनुमाप को बढ़ाने के साथ-साथ तथा उसके फलस्वरूप उसके क्षेत्र को कम कर देने से बहुत सा अनुपयोगी ख़र्च बच जाता है। यह सम्भव इसलिये होता है कि बहुत से मजदूर एक जगह इकट्ठा कर दिये जाते हैं, अनेक क्रियाएं एक साथ सम्पन्न हो जाती हैं और उत्पादन के साधन एक जगह संकेन्द्रित कर दिये जाते हैं।[3]

[1] "इस काम को (खेती के काम को) नाजुक क्षण में पूरा कर देने से उतना ही अधिक लाभ होता है।" (*"An Inquiry into the Connection between the present Price of Provisions and the Size of Farms.* By a Farmer." ['खाद्य-पदार्थों के मौजूदा दामों और खेतों के आकार के बीच पाये जाने वाले सम्बंध की जांच। एक काश्तकार द्वारा लिखित'], पृ० ९।) "खेती में समय से अधिक महत्वपूर्ण और कोई चीज नहीं होती।" (Liebig, *"Ueber Theorie und Praxis in der Landwirschaft"*, 1856, पृ० २३।)

[2] "अगली बुराई वह है, जिसको हमें एक ऐसे देश में पाने की बहुत ही कम आशा हो सकती है, जो सम्भवतया चीन और इंगलैण्ड के सिवा दुनिया के और किसी भी देश से अधिक श्रम का निर्यात करता है। वह बहुत बुराई यह है कि यहां कपास चुनने के लिये पर्याप्त संख्या में मजदूर पाना असम्भव है। इसका नतीजा यह है कि बड़े भारी परिमाण में फ़सल बिना चुनी रह जाती है, और एक हिस्सा जमीन से उठाया जाता है, जो नीचे गिरकर बदरंग हो जाता है और कुछ हद तक सड़ जाता है। यानी मौसम के वक़्त पर्याप्त श्रम न मिलने के कारण काश्तकार को असल में उस फ़सल के एक बड़े हिस्से से हाथ धोने पड़ते हैं, जिसकी इंगलैण्ड इतनी व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा कर रहा है।" ("*Bengal* Hurkaru". Bi-Monthly Overland Summary of News, 22nd July 1861 ['बंगाल हरकारू'। स्थल-मार्ग से आने वाला समाचारों का द्वैमासिक सारांश, २२ जुलाई १८६१]।)

[3] कृषि की प्रगति का यह परिणाम हुआ है कि "वह तमाम पूंजी और श्रम, जो पहले ५०० एकड़ में बिखरे रहते थे, और शायद उससे भी ज्यादा अब १०० एकड़ की ज्यादा अच्छी तरह जोताई करने के लिये संकेन्द्रित कर दिये जाते हैं।" यद्यपि "जितनी पूंजी और जितने श्रम से काम लिया जाता है, उनकी मात्रा को देखते हुए स्थान छोटा होता है, परन्तु पहले एक अकेला स्वतंत्र उत्पादन-कर्त्ता उत्पादन के जिस क्षेत्र का स्वामी होता था या वह जिस क्षेत्र पर काम करता था, उसकी तुलना में उत्पादन का क्षेत्र बड़ा हो जाता है।" (R. Jones, *"An Essay on the Distribution of Wealth"*, part I. "On Rent" [आर० जोन्स, 'धन के वितरण पर एक निबंध,' भाग १, 'लगान के विषय में'], London, 1831, पृ० १९१।)

अलग-अलग काम करने वाले मजदूरों के काम के दिनों के जोड़ की अपेक्षा काम का एक संयुक्त दिन अधिक मात्रा में उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है, और इसलिये वह किसी भी खास तरह के उपयोगी प्रभाव के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल को कम कर देता है। काम का संयुक्त दिन किसी कार्य विशेष में यह बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति चाहे इसलिये प्राप्त कर ले कि वह श्रम की यांत्रिक शक्ति को बढ़ा देता है, या इसलिये कि वह उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार कर देता है, या इसलिये कि वह उत्पादन के अनुमाप की तुलना में उसके क्षेत्र को कम कर देता है, या इसलिये कि वह नाजुक क्षण आने पर बहुत सारा श्रम काम में लगा देता है, या इसलिये कि वह व्यक्तियों के बीच होड़ की भावना को जगा देता है तथा उनकी तबीयत के जोश को बढ़ा देता है, या इसलिये कि वह अनेक मनुष्यों द्वारा की जाने वाली एक तरह की क्रियाओं पर निरन्तरता और बहुरूपता की छाप अंकित कर देता है, या इसलिये कि वह विभिन्न क्रियाओं को एक साथ सम्पन्न करता है, या इसलिये कि वह उत्पादन के साधनों का सामूहिक उपयोग करके उनका मितव्ययिता के साथ खर्च करता है, या इसलिये कि वह व्यक्तिगत श्रम को औसत सामाजिक श्रम का रूप दे देता है,—उत्पादक शक्ति की वृद्धि का इनमें से कोई भी कारण हो, काम के संयुक्त दिन की विशिष्ट उत्पादक शक्ति हर हालत में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति, अथवा सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्ति, होती है। यह शक्ति स्वयं सहकारिता के कारण उत्पन्न होती है। जब मजदूर सुनियोजित ढंग से दूसरों के साथ सहकार करता है, तब वह अपने व्यक्तित्व की शृंखलाओं को उतारकर फेंक देता है और अपनी नसल की क्षमताओं को विकसित करने में सफल होता है।[1]

एक सामान्य नियम के रूप में, मजदूर उस वक़्त तक सहकार नहीं कर सकते, जब तक कि उनको इकट्ठा नहीं कर दिया जाता। उनका एक स्थान पर एकत्रित होना उनकी सहकारिता की आवश्यक शर्त होता है। इसलिये मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर उस समय तक सहकार नहीं कर सकते, जब तक कि उनसे एक ही पूंजी, एक ही पूंजीपति साथ-साथ काम नहीं लेता और, इसलिये, जब तक कि वह उनकी श्रम-शक्तियों को एक साथ नहीं खरीद लेता। उत्पादन की प्रक्रिया के लिये मजदूरों के एक जगह पर इकट्ठा होने के पहले यह जरूरी है कि एक दिन का या एक सप्ताह का, जैसी कि आवश्यकता हो, इन श्रम-शक्तियों का मूल्य, या इन मजदूरों की मजदूरी, पूंजीपति की जेब में मौजूद हो। चाहे एक दिन के लिये ही सही, पर ३०० मजदूरों को एक साथ मजदूरी देने के लिये जो पूंजी लगानी

---

[1] "La forza di ciascuno uomo è minima, ma la riunione delle minime forze forma una forza totale maggiore anche della somma delle forze medesime fino a che le forze per essere riunite possono diminuere il tempo ed accrescere lo spazio della loro azione." [ "प्रत्येक मनुष्य की शक्तियां बहुत अल्प होती हैं, लेकिन इन नन्ही-नन्ही शक्तियों के संयोजन से जो फल मिलता है, वह इन्हीं शक्तियों के केवल अंकगणित के ढंग के योग से बहुत बड़ा होता है; इसी कारण जब शक्तियां संयुक्त हो जाती हैं, तब वे अपना काम पहले से कम समय में करने लगती हैं और उसका प्रभाव अधिक व्यापक हो जाता है।"] (P. Verry की रचना "*Meditazioni Sulla Economia Politica*" पर जी० आर० कार्ली की एक टिप्पणी; "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna*", ग्रन्थ १५, Milano, 1804, पृ० १९६।)

पड़ती है, वह उससे कहीं अधिक होती है, जो मजदूरों की अपेक्षाकृत कम संख्या को पूरे साल भर प्रति सप्ताह मजदूरी देने के लिये आवश्यक होती है। इसलिये, सहकार करने वाले मजदूरों की संख्या अथवा सहकारिता का पैमाना सबसे पहले इस बात पर निर्भर करता है कि कोई खास पूंजीपति श्रम-शक्ति खरीदने पर कितनी पूंजी खर्च कर सकता है, या, दूसरे शब्दों में, किसी खास पूंजीपति का कितने मजदूरों के जीवन-निर्वाह के साधनों पर अधिकार है।

और जो बात अस्थिर पूंजी के लिये सच है, वही स्थिर पूंजी के लिये भी सच है। मिसाल के लिये, १०-१० व्यक्तियों से काम लेने वाले ३० पूंजीपतियों में से हरेक कच्चे माल पर जितना खर्च करता है, ३०० व्यक्तियों से काम लेने वाले एक पूंजीपति को कच्चे माल पर उसका तीस-गुना खर्च करना पड़ेगा। यह सच है कि सामूहिक ढंग से उपयोग में आने वाले श्रम के औज़ारों का मूल्य तथा परिमाण उसी रफ़्तार से नहीं बढ़ते, जिस रफ़्तार से मजदूरों की तादाद बढ़ती है, मगर फिर भी वे काफ़ी बढ़ जाते हैं। इसलिये, अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथों में उत्पादन के बहुत सारे साधनों का केन्द्रीभूत हो जाना मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की सहकारिता की एक आवश्यक भौतिक शर्त है, और सहकारिता का विस्तार अथवा उत्पादन का पैमाना इस केन्द्रीकरण के विस्तार पर निर्भर करता है।

इसके पहले हम एक अध्याय में यह देख चुके हैं कि केवल पूंजी की एक खास अल्पतम मात्रा के होने पर ही यह सम्भव होता है कि मजदूरों की जिस संख्या से काम लिया जा रहा है और, इसलिये, जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, वह इसके लिये पर्याप्त हो कि मालिक खुद शारीरिक श्रम करने से मुक्त हो जाये, अपने को छोटे मालिक से पूंजीपति में बदल डाले और इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन बाक़ायदा क़ायम हो जाये। अब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजी की एक खास अल्पतम मात्रा की उपस्थिति बहुत सी अलग-अलग चलने वाली स्वतंत्र प्रक्रियाओं के एक संयुक्त सामाजिक प्रक्रिया में परिणत हो जाने की भी एक आवश्यक शर्त है।

हमने यह भी देखा था कि शुरू में श्रम के लिये पूंजी की अधीनता केवल इस बात का एक रस्मी नतीजा थी कि मजदूर खुद अपने लिये काम करने के बजाय पूंजीपति के लिये और इस कारण पूंजीपति के मातहत काम करने लगा था। पर मजदूरी पर काम करने वाले बहुत से मजदूरों के सहकार से पूंजी का प्रभुत्व खुद श्रम-प्रक्रिया के सम्पन्न होने की आवश्यक शर्त बन जाता है,—वह उत्पादन की आवश्यक शर्त बन जाता है। अब उत्पादन के क्षेत्र में पूंजीपति का शासन रण-क्षेत्र में सेनापति के शासन के समान ही अनिवार्य हो जाता है।

बड़े पैमाने के संयुक्त श्रम को एक ऐसे संचालनकर्ता अधिकारी की न्यूनाधिक आवश्यकता रहती है, जो अलग-अलग व्यक्तियों की कार्रवाइयों के बीच ताल-मेल बैठा सके और उन सामान्य कामों को कर सके, जिनका करना संयुक्त संघटन के उस कार्य के कारण आवश्यक हो जाता है, जो इस संयुक्त संघटन के अलग-अलग अंगों के कार्य से बिल्कुल भिन्न होता है। अकेला वायोलिनवादक खुद अपना संचालक होता है, परन्तु वाद्य-वृंद के लिये अलग से एक संचालक की आवश्यकता होती है। जिस क्षण से पूंजी के नियंत्रण में काम करने वाला श्रम सहकारी श्रम बन जाता है, उसी क्षण से संचालन करने, देख-रेख रखने तथा ताल-मेल बैठाने का काम पूंजी का कार्य बन जाता है। एक बार पूंजी का कार्य बन जाने पर उसमें कुछ खास विशेषताएं पैदा हो जाती हैं।

पूंजीवादी उत्पादन का मुख्य प्रयोजन, उसका लक्ष्य एवं उद्देश्य अधिक से अधिक मात्रा

में अतिरिक्त मूल्य निचोड़ना[1] और इसलिये श्रम-शक्ति का अधिकतम शोषण करना होता है। जैसे-जैसे सहकार करने वाले मज़दूरों की संख्या बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पूंजी के प्रभुत्व के विरुद्ध उनका प्रतिरोध और उसके साथ-साथ पूंजी के लिये इस प्रतिरोध पर बलपूर्वक क़ाबू पाने की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। श्रम पर पूंजीपति का नियंत्रण न केवल सामाजिक श्रम-प्रक्रिया से उत्पन्न एक विशिष्ट कार्य है, जो इस प्रक्रिया की एक ख़ास विशेषता है, बल्कि इसके साथ ही वह सामाजिक श्रम-प्रक्रिया के शोषण से जुड़ा हुआ एक ख़ास कार्य है, और इसलिये उसकी जड़ें शोषक तथा उस जीवन्त एवं श्रम-रत कच्चे माल के अनिवार्य विरोध में पायी जाती हैं, जिसका वह शोषण करता है।

फिर, जिस अनुपात में उत्पादन के उन साधनों की राशि बढ़ती जाती है, जो अब मज़दूर की सम्पत्ति नहीं हैं, बल्कि पूंजीपति की सम्पत्ति बन गये हैं, उसी अनुपात में इन साधनों के समुचित प्रयोग पर किसी तरह का सफल नियंत्रण रखने की आवश्यकता बढ़ती जाती है।[2] इसके अलावा, मज़दूरी पर काम करने वाले मज़दूरों की सहकारिता को समूचे तौर पर वह पूंजी जन्म देती है, जो उनको नौकर रखती है। उनका एक संयुक्त उत्पादक संस्था में मिल जाना और उनके व्यक्तिगत कामों के बीच सम्बंध का स्थापित हो जाना – ये मज़दूरों के लिये बाहरी और परायी बातें हैं, ये बातें ख़ुद मज़दूरों के कामों का नतीजा नहीं हैं, बल्कि उस पूंजीपति के काम का नतीजा हैं, जिसने उनको एक जगह लाकर इकट्ठा किया है और जो उनको एक जगह इकट्ठा रखता है। इसलिये, मज़दूरों के विविध प्रकार के श्रम के बीच जो सम्बंध होता है, वह उनके सामने भावगत रूप से पूंजीपति की एक पहले से सोची हुई योजना के रूप में प्रकट होता है, और व्यवहार में वह सब पर एक ही पूंजीपति के प्राधिकार के रूप में, एक अन्य व्यक्ति की शक्तिशाली इच्छा के रूप में उनके सामने आता है, जो उनकी क्रियाशीलता को अपने उद्देश्य के आधीन बना लेता है। इसलिये, स्वयं उत्पादन की प्रक्रिया के दोहरे स्वरूप के कारण, जो कि एक ओर तो उपयोग-मूल्यों को पैदा करने की सामाजिक प्रक्रिया होती है और, दूसरी ओर, अतिरिक्त मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया होती है, पूंजीपति का नियंत्रण भी अपने सार-तत्व में दोहरे प्रकार का होता है। इस नियंत्रण का रूप

---

[1] "मुनाफ़ा ... व्यापार का एकमात्र लक्ष्य होता है।" (J. Vanderlint, "*Money answers all Things*" [जे० वैण्डरलिण्ट, 'मुद्रा सब चीज़ों का जवाब है'], London, 1734, पृ० ११।)

[2] सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूक पत्र "*Spectator*" ने लिखा है कि 'मानचेस्टर की वायरवर्क कम्पनी' में पूंजीपति और मज़दूरों के बीच किसी तरह की साझेदारी क़ायम हो जाने के बाद "पहला नतीजा यह हुआ कि सामान का ज़ाया किया जाना यकायक कम हो गया, क्योंकि किसी भी अन्य मालिक की तरह मज़दूर यह सोचने लगे कि अपनी सम्पत्ति को ख़ुद क्यों ज़ाया करें। और डूब जाने वाले ऋण के बाद शायद सामान के ज़ाया होने से ही कारख़ानेदारों को सबसे ज्यादा नुक़सान होता है।" ("*Spectator*", २६ मई १८६६।) इसी अख़बार की राय में रोचडेल में होने वाले सहकारी प्रयोगों का मुख्य दोष यह है कि "उनसे यह प्रमाणित हुआ है कि मज़दूरों की संस्थाएं कारख़ानों, मिलों और उद्योग के लगभग सभी रूपों का सफलता के साथ प्रबंध कर सकती हैं, और साथ ही उनसे मज़दूरों की दशा में तुरन्त सुधार हो गया, लेकिन उन्होंने मालिकों के लिये कोई साफ़ स्थान नहीं छोड़ा।" Quelle horreur! (कितनी भयानक बात है!)

निरंकुश होता है। जैसे-जैसे सहकारिता का पैमाना बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे यह निरंकुशता अपने विशिष्ट अनोखे रूप धारण करती जाती है। जिस प्रकार शुरू में, जैसे ही पूंजीपति की पूंजी उस अल्पतम मात्रा के स्तर पर पहुंच जाती है, जिसपर पूंजीवादी उत्पादन बाक़ायदा आरम्भ हो जाता है, वैसे ही खुद पूंजीपति सचमुच श्रम करने की आवश्यकता से मुक्त हो जाता है और उसी प्रकार अब वह अलग-अलग मजदूरों तथा मजदूरों के दलों पर सीधे और लगातार निगाह रखने का काम एक खास तरह के वेतन-भोगी कर्मचारियों को सौंप देता है। पूंजीपति की कमान में चलने वाली मजदूरों की औद्योगिक सेना को भी वास्तविक सेना की भांति अफ़सरों (मैनेजरों)[1] और जमादारों (फ़ारमैनों, निरीक्षकों आदि) की आवश्यकता पड़ती है, जो काम के दौरान में पूंजीपति की तरफ़ से इस सेना को आदेश दिया करते हैं। मजदूरों पर निगरानी रखना इन लोगों का जाना-माना और एकमात्र काम बन जाता है। जब कोई अर्थशास्त्री अलग-अलग काम करने वाले किसानों और दस्तकारों की उत्पादन-प्रणाली का दासों के श्रम से चलने वाले उत्पादन से मुक़ाबला करता है, तो निगरानी रखने के इस श्रम की गिनती वह उत्पादन के faux frais (अनुत्पादक खर्च) में करता है।[1] लेकिन जब वही अर्थशास्त्री उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली पर विचार करने बैठता है, तब वह, इसके विपरीत, श्रम-प्रक्रिया के सहकारी स्वरूप के कारण जो नियंत्रण रखने का कार्य आवश्यक हो गया है, उसे नियंत्रण रखने के उस बिल्कुल भिन्न कार्य के साथ मिला देता है, जो श्रम-प्रक्रिया के पूंजीवादी स्वरूप तथा पूंजीपति और मजदूर के बीच पाये जाने वाले विरोध के कारण जरूरी हो जाता है।[2] कोई आदमी इसलिये पूंजीपति नहीं होता कि वह उद्योग का नेता है, — इसके विपरीत, वह उद्योग का नेता इसलिये होता है कि वह पूंजीपति है। उद्योग का नेतृत्व करना पूंजी का गुण है, जिस प्रकार सामन्ती काल में सेनापति और न्यायाधीश का काम करना भू-सम्पत्ति के गुण थे।[3]

मजदूर उस वक़्त तक अपनी श्रम-शक्ति का स्वामी रहता है, जब तक कि वह पूंजीपति

[1] प्रोफ़ेसर केर्न्स ने यह कहने के बाद कि उत्तरी अमरीका के दक्षिणी राज्यों में दासों के जरिये होने वाले उत्पादन की यह एक ख़ास विशेषता है कि "superintendence of labour" ("मजदूरों पर निगरानी") रखनी पड़ती है, आगे यह कहा है कि "(उत्तर का) भूस्वामी किसान क्योंकि अपनी मेहनत की पूरी पैदावार का ख़ुद मालिक होता है, इसलिये उसे परिश्रम करने के लिये किसी और प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। यहां निगरानी रखने की कतई जरूरत नहीं होती।" (Cairnes, उप० पु०, पृ ४८, ४९।)

[2] सर जेम्स स्टीवर्ट एक ऐसे लेखक हैं, जिनमें उत्पादन की विभिन्न प्रणालियों के बीच पाये जाने वाले विशिष्ट सामाजिक भेदों को पहचाननें की विलक्षण क्षमता है। उन्होंने लिखा है: "कारख़ानों के क्षेत्र में बड़े पैमाने के व्यवसाय निजी उद्योग को जो चौपट कर देते हैं, उसका इसके सिवा और क्या कारण है कि वे गुलामी की सरलता के अधिक नजदीक पहुंच जाते हैं?" ("*Principles of Political Economy*" ['अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], London, 1767, खण्ड १, पृ० १६७, १६८।)

[3] इसलिये आगस्त कौंत और उनके मत के लोगों ने जिस तरह यह प्रमाणित कर दिया है कि पूंजी के स्वामियों की संसार को सदा आवश्यकता बनी रहेगी, उसी प्रकार वे यह भी प्रमाणित कर सकते थे कि सामन्ती प्रभुओं का होना एक शाश्वत आवश्यकता है।

के हाथों उसकी बिक्री का सौदा तै नहीं कर देता। और उसके पास जो कुछ है, – अर्थात् उसकी व्यक्तिगत, पृथक श्रम-शक्ति, – उससे अधिक वह कुछ नहीं बेच सकता। इस स्थिति में इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि पूंजीपति एक आदमी की श्रम-शक्ति ख़रीदने के बजाय १०० आदमियों की श्रम-शक्ति ख़रीदता है और एक आदमी से क़रार करने के बजाय १०० असम्बद्ध व्यक्तियों से अलग-अलग क़रार करता है। उसे इस बात का अधिकार है कि वह १०० व्यक्तियों को काम पर लगाये और उन्हें सहकारी न बनने दे। वह उन्हें १०० स्वतंत्र श्रम-शक्तियों का मूल्य तो दे देता है, पर वह उन्हें सौ व्यक्तियों की संयुक्त श्रम-शक्ति का मूल्य नहीं देता। एक दूसरे से स्वतंत्र होने के कारण सब मजदूर अलग-अलग व्यक्ति मात्र होते हैं, जो पूंजीपति के साथ तो सम्बंध क़ायम करते हैं, पर आपस में नहीं करते। यह सहकारिता केवल श्रम-प्रक्रिया के साथ आरम्भ होती है, लेकिन तब तक उनका अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। उस प्रक्रिया में प्रवेश करने के बाद वे पूंजी में समाविष्ट हो जाते हैं। सहकार करने वालों के रूप में, एक कार्य-रत संघटन के सदस्यों के रूप में, वे पूंजी के अस्तित्व के विशिष्ट रूप मात्र होते हैं। इसलिये सहकारिता में काम करते हुए मजदूर अपने में जिस उत्पादक शक्ति का विकास करता है, वह पूंजी की उत्पादक शक्ति होती है। जब कभी मजदूरों को कुछ ख़ास परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, तब यह शक्ति अपने आप और मुफ़्त में पैदा हो जाती है; और पूंजी ही मजदूरों के लिये ऐसी परिस्थितियां पैदा करती है। चूंकि इस शक्ति के पैदा होने में पूंजी का कुछ ख़र्च नहीं होता और चूंकि, दूसरी तरफ़, मजदूर का श्रम जब तक पूंजी की सम्पत्ति नहीं बन जाता, तब तक वह अपने आप इस शक्ति को विकसित नहीं करता, इसलिये यह एक ऐसी शक्ति के रूप में सामने आती है, जो मानो स्वयं प्रकृति ने पूंजी को प्रदान कर रखी हो; इसलिये वह एक ऐसी उत्पादक शक्ति के रूप में सामने आती है, जो पूंजी में निहित प्रतीत होती है।

सरल सहकारिता की विराट उपलब्धियां प्राचीन काल के एशिया-वासियों, मिस्रवासियों और एत्रूरियावासियों के बृहत् निर्माण-कार्यों में देखी जा सकती हैं। "बीते हुए जमाने में अक्सर ऐसा हुआ है कि इन पूर्वी राज्यों के पास अपने असैनिक एवं सैनिक कार्यों का ख़र्च भरने के बाद अतिरिक्त धन बच रहा। उसे वे अपने वैभव का प्रदर्शन करने वाले या किन्हीं उपयोगी निर्माण-कार्यों में ख़र्च कर सकते थे। इनके निर्माण में चूंकि वे देश की खेती न करने वाली लगभग पूरी आबादी के हाथों और भुजाओं से काम ले सकते थे, इसलिये वे ऐसे महान स्मारकों का निर्माण करने में सफल हुए हैं, जो आज भी इन राज्यों की शक्ति की ओर इंगित करते हैं। नील नदी की उर्वर उपत्यका... खेती न करने वाली एक बहुत बड़ी आबादी के लिये भोजन पैदा कर देती थी, और यह भोजन, जिसपर राजा का और पुरोहितों का अधिकार होता था, उन बड़े बड़े स्मारकों के निर्माण का साधन बन जाता था, जिनसे देश भरा हुआ था... उन दैत्याकार मूर्तियों और भयानक बोझों को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह ले जाने में, जिनके परिवहन की बात सोचकर ही आदमी आश्चर्यचकित रह जाता है, एक तरह से केवल मानव-श्रम को ही अंधाधुंध ख़र्च किया गया था ... काम के लिये मजदूरों की संख्या और उनके प्रयत्नों का केन्द्रीकरण पर्याप्त होता था। हम महासागर के गर्भ में से प्रवाल-शैल-मालाओं को ऊपर उठकर द्वीपों और दृढ़ भूमि का रूप धारण करते हुए देखते हैं, परन्तु फिर भी इन प्रवालों को वहां जमा करने वाला प्रत्येक जीव बहुत ही छोटा, निर्बल और हीन होता है। एशिया के किसी भी राजतंत्र के खेती न करने वाले मजदूर काम पर

अपनी व्यक्तिगत शारीरिक मेहनत के सिवा लगभग और कुछ भी साथ लेकर नहीं आते थे, परन्तु उनकी संख्या ही उनकी शक्ति होती थी, और इस विशाल संख्या का संचालन करने वाली ताक़त ने ऐसे-ऐसे राजमहल, मंदिर, पिरामिड और अनगिनत दैत्याकार मूर्तियां खड़ी कर दीं, जिनके अवशेष आज भी हमें हतप्रभ और आश्चर्यचकित कर देते हैं। इस विशाल संख्या का पेट जिस आमदनी से भरा जाता था, वह चूंकि किसी एक व्यक्ति या चन्द व्यक्तियों के हाथों में ही सीमित होती थी, इसीलिये ऐसे-ऐसे विराट निर्माण-कार्य सम्भव हो पाते थे।[1] एशियाई तथा मिस्री राजाओं और एत्रूरिया के पुरोहित-राजाओं आदि की यह शक्ति आधुनिक समाज में पूंजीपतियों को हस्तांतरित हो गयी है, चाहे वह पूंजीपति कोई एक व्यक्ति हो और चाहे वह सम्मिलित पूंजी की कम्पनियों की तरह का कोई सामूहिक पूंजीपति हो।

मानव-विकास के नवोदय के काल में शिकार से जीविका कमाने वाली नसलों में[2] या, मान लीजिये, हिन्दुस्तानी ग्राम-समुदायों की खेती में हमें जिस प्रकार की सहकारिता देखने को मिलती है, वह एक ओर तो इस बात पर आधारित थी कि उत्पादन के साधनों पर सब का सामूहिक स्वामित्व होता था, और, दूसरी ओर, वह इस तथ्य पर आधारित थी कि इन समाजों में व्यक्ति अपने क़बीले अथवा अपने ग्राम-समुदाय की नाभि-नाल से अपने को काटकर अलग नहीं कर पाया था; जिस तरह शहद की मक्खी अपने छत्ते से अपना नाता नहीं तोड़ पाती, उस तरह वह भी अपने क़बीले या ग्राम-समुदाय से सम्बंध-विच्छेद नहीं कर पाया था। इस प्रकार की सहकारिता उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के कारण पूंजीवादी सहकारिता से भिन्न होती है। प्राचीन काल में, मध्य युग में, और आधुनिक उपनिवेशों में इक्की-दुक्की जगहों पर जिस बड़े पैमाने की सहकारिता का प्रयोग किया गया है, वह प्रभुत्व और दासत्व और मुख्यतया गुलामी के सम्बंधों पर आधारित है। इसके विपरीत, सहकारिता का पूंजीवादी रूप शुरू से आख़िर तक यह मानकर चलता है कि पूंजी के हाथों अपनी श्रम-शक्ति बेचकर मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर स्वतंत्र होता है। किन्तु इतिहास की दृष्टि से यह रूप किसानों की खेती और स्वतंत्र दस्तकारियों के विरोध में विकसित हुआ है, चाहे ये दस्तकारियां शिल्पी-संघों में संगठित हों या न हों।[3] किसानों की खेती तथा स्वतंत्र दस्तकारियों के दृष्टिकोण

---

[1] R. Jones, "*Text-book of Lectures, etc.*" (आर० जोन्स, 'भाषणों की पाठ्य-पुस्तक, इत्यादि'), Hertford, 1852, पृ० ७७, ७८। लन्दन में और योरप की अन्य राजधानियों में प्राचीन असीरिया, मिस्र तथा अन्य देशों के जो संग्रह मिलते हैं, उनकी मदद से हम अपनी आंखों से देख सकते हैं कि यह सहकारी श्रम किस तरह किया जाता था।

[2] लिंगुएत ने शायद सही बात कही थी, जब उन्होंने अपनी रचना "*Théorie des Lois Civiles*" में यह घोषणा की थी कि शिकार करना सहकारिता का पहला रूप था और इनसान का शिकार (युद्ध) शिकार का एक सबसे प्राचीन रूप था।

[3] छोटे पैमाने की किसानों की खेती और स्वतंत्र दस्तकारियां, ये दोनों मिलकर उत्पादन की सामन्ती प्रणाली का आधार बनाती हैं, और सामन्ती व्यवस्था के भंग हो जाने के बाद ये पूंजीवादी प्रणाली के साथ-साथ पायी जाती हैं। इसके अलावा, वे प्राचीन संसार के समुदायों के सर्वोत्तम काल में उनका भी आर्थिक आधार बनी हुई थीं। यह वह काल था, जब भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का आदिम रूप नष्ट हो गया था, पर उत्पादन में अभी गुलामी की प्रथा का पूरा दौर-दौरा क़ायम नहीं हुआ था।

से पूंजीवादी सहकारिता सहकारिता के एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप की तरह प्रकट नहीं होती, बल्कि यह लगता है, जैसे खुद सहकारिता ही एक ऐसा ऐतिहासिक रूप हो, जो उत्पादन की पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया की एक खास विशेषता है और जो इस प्रणाली को और सब प्रणालियों से भिन्न बना देता है।

जिस प्रकार सहकारिता से विकसित हो जाने वाली श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति पूंजी की उत्पादक शक्ति प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार अलग-अलग स्वतंत्र मजदूरों या यहां तक कि छोटे-छोटे मालिकों द्वारा चलायी जाने वाली उत्पादन-प्रक्रिया के मुक़ाबले में खुद सहकारिता उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया का एक विशिष्ट रूप प्रतीत होती है। पूंजी के प्राधीन हो जाने पर वास्तविक श्रम-प्रक्रिया में यह पहला परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन स्वयंस्फूर्त ढंग से होता है। मजदूरी पर काम करने वाले बहुत से मजदूरों से एक ही प्रक्रिया में एक साथ काम लेना, जो इस परिवर्तन की आवश्यक शर्त है, पूंजीवादी उत्पादन का भी प्रस्थान-बिन्दु है। और यह बिन्दु स्वयं पूंजी के जन्म से मेल खाता है। तब यदि, एक तरफ़, इतिहास में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली श्रम-प्रक्रिया के एक सामाजिक प्रक्रिया में रूपान्तरित होने की एक आवश्यक शर्त के रूप में हमारे सामने आती है, तो, दूसरी तरफ़, श्रम-प्रक्रिया का यह सामाजिक रूप इस तरह हमारे सामने आता है, जैसे पूंजी ने श्रम की उत्पादकता को बढ़ाकर उसका अधिक लाभदायक ढंग से शोषण करने के लिये यह तरीक़ा निकाला हो।

अभी तक हम सहकारिता के जिस प्राथमिक रूप पर विचार करते रहे हैं, उसमें सहकारिता अनिवार्य रूप से बड़े पैमाने के हर प्रकार के उत्पादन की सहगामिनी होती है, परन्तु वह खुद अपने में किसी ऐसे स्थिर रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास के किसी खास युग की विशेषता हो। यह वह अधिक से अधिक केवल दो युगों में करती है, और तब भी पूरी तरह नहीं। एक हस्तनिर्माण के उस प्रारम्भिक काल में, जब वह बहुत-कुछ दस्तकारियों से मिलता-जुलता था;[1] दूसरे, बड़े पैमाने की उस प्रकार की खेती के काल में, जो हस्तनिर्माण के युग के अनुरूप थी और जो किसान की खेती से मुख्यतया इस बात में भिन्न थी कि उसमें बहुत से मजदूरों से एक साथ काम लिया जाता था और उनके इस्तेमाल के लिये बहुत सारे उत्पादन के साधन एक जगह पर इकट्ठा कर दिये जाते थे। उत्पादन की जिन शाखाओं में पूंजी बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होती है और श्रम-विभाजन तथा मशीनों की भूमिका गौण होती है, उनमें हमेशा सरल सहकारिता प्रमुख रूप से पायी जाती है।

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का बुनियादी रूप सदा सहकारिता का होता है। फिर भी उत्पादन की इस प्रणाली के अधिक विकसित रूपों के साथ-साथ सहकारिता का प्राथमिक रूप भी पूंजीवादी उत्पादन के एक विशिष्ट रूप की तरह क़ायम रहता है।

---

[1] "क्या काम की उन्नति का तरीक़ा यह नहीं है कि एक ही काम साथ मिलकर करनेवाले बहुत से लोगों की संयुक्त निपुणता, उद्योग एवं स्पर्द्धा से लाभ उठाया जाये? और क्या किसी और तरीक़े से इंगलैण्ड अपने ऊनी उद्योग को विकास के इस ऊंचे स्तर पर पहुंचा सकता था?" (Berkeley, "*The Querist*" [बर्कले, 'प्रश्नकर्ता'], London, 1751, पृ० ५६, पैराग्राफ़ ५२१।)

## चौदहवां अध्याय

# श्रम का विभाजन और हस्तनिर्माण (MANUFACTURE)

## अनुभाग १ – हस्तनिर्माण की दोहरी उत्पत्ति

श्रम के विभाजन पर आधारित सहकारिता का प्रतिनिधि रूप हस्तनिर्माण है, और जिसे हस्तनिर्माण का वास्तविक काल कहा जा सकता है, उस पूरे काल में पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का यही विशिष्ट रूप प्रचलित रहा है। यह काल मोटे तौर पर १६ वीं शताब्दी के मध्य से १८ वीं शताब्दी की अन्तिम तिहाई तक माना जाता है।

हस्तनिर्माण दो तरह शुरू होता है:

(१) एक अकेले पूंजीपति के नियंत्रण में एक वर्कशाप के भीतर कुछ ऐसे मजदूरों के इकट्ठा कर दिये जाने के फलस्वरूप, जो वैसे तो अनेक प्रकार की स्वतंत्र दस्तकारियों का काम करते हैं, पर किसी ख़ास वस्तु को तैयार होने के पहले उन सभी के हाथों में से गुजरना पड़ता है। मिसाल के लिये, बग्घी पहले बहुत से स्वतंत्र कारीगरों के श्रम की पैदावार हुआ करती थी, जैसे पहिये बनाने वाले, साज तैयार करने वाले, दर्जी, ताले बनाने वाले, गद्दी-तकिये बनाने वाले, ख़राद का काम करने वाले, झालर बनाने वाले, खिड़कियों में शीशे लगाने वाले, रंगने वाले, पालिश करने वाले, मुलम्मा चढ़ाने वाले, वगैरह, वगैरह। लेकिन बग्घियों के हस्तनिर्माण में सारे कारीगर एक मकान में इकट्ठा कर दिये जाते हैं, जहां उनमें से हरेक अपना काम करके दूसरे के हाथों में सौंपता जाता है। यह सच है कि बग्घी के तैयार होने के पहले उसपर मुलम्मा नहीं चढ़ाया जा सकता। लेकिन यदि कई बग्घियां एक साथ बनायी जा रही हों, तो जब तक बाक़ी बग्घियां पहले की प्रक्रियाओं में से गुजर रही होंगी, तब तक कुछ पर मुलम्मा चढ़ाया जा रहा होगा। अभी तक हम लोग सरल सहकारिता के क्षेत्र के ही भीतर हैं, जिसे मनुष्यों और वस्तुओं के रूप में अपनी सारी सामग्री पहले से तैयार मिलती है। लेकिन बहुत जल्द एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। दर्जी, ताले बनाने वाला और दूसरे तमाम कारीगर क्योंकि अब केवल बग्घी बनाने में ही लगे हुए हैं, इसलिये उनमें से हरेक की अपनी पुरानी दस्तकारी का काम पूरी तरह करने की योग्यता अभ्यास न रहने के कारण जाती रहती है। लेकिन दूसरी ओर, उसका काम चूंकि एक लीक में सीमित हो जाता है, इसलिये वह इस संकुचित कार्य-क्षेत्र के लिये सबसे अधिक उपयुक्त रूप धारण कर लेता है। शुरू में बग्घियों का हस्तनिर्माण बहुत सी स्वतंत्र दस्तकारियों का जोड़ होता है। धीरे-धीरे बग्घी बनाने की क्रिया बहुत सी तफ़सीली क्रियाओं में बंट जाती है, जिनमें से हरेक क्रिया एक ख़ास मजदूर का विशिष्ट कार्य बन जाती है, और ये मजदूर मिलकर सम्पूर्ण हस्तनिर्माण करते हैं। इसी तरह कपड़े का हस्तनिर्माण तथा अन्य प्रकार के अनेक

हस्तनिर्माण भी विभिन्न दस्तकारियों को एक अकेले पूंजीपति के नियंत्रण में इकट्ठा करके शुरू हुए थे।[1]

(२) हस्तनिर्माण इसके ठीक उल्टे ढंग से भी जन्म लेता है,—यानी इस तरह कि एक पूंजीपति एक वर्कशाप के भीतर ऐसे अनेक कारीगरों से एक साथ काम लेने लगता है, जो सब के सब एक ही या एक तरह का ही काम करते हैं, जैसे काग़ज बनाना, टाइप ढालना या सुइयां बनाना। यह सहकारिता का सबसे अधिक प्राथमिक रूप होता है। इनमें से प्रत्येक कारीगर (शायद एक या दो शागिर्द मजदूरों की मदद से) पूरा माल तैयार करता है, और इसलिये उसके उत्पादन से सम्बन्धित जितनी भी आवश्यक क्रियाएं होती हैं, वह बारी-बारी से उन सब को करता है। अब भी वह अपने पुराने दस्तकारी के ढंग से काम करता है। लेकिन बहुत जल्द बाह्य परिस्थितियों के कारण एक स्थान पर इतने सारे मजदूरों के केन्द्रीकरण का, उनके एक साथ काम करने का एक नया उपयोग होने लगता है। शायद पहले से अधिक मात्रा में माल तैयार करके एक निश्चित समय के भीतर दे देना है। इसलिये काम को फिर से बांटा जाता

[1] एक अधिक आधुनिक उदाहरण देखिये। लिओंस और नाइम्स की रेशम की कताई और बुनाई "est toute patriarcale; elle emploie beaucoup de femmes et d'enfants, mais sans les épuiser ni les corrompre; elle les laisse dans leur belles vallées de la Drôme, du Var, de l'Isère, de Vaucluse, pour y élever des vers et dévider leurs cocons; jamais elle n'entre dans une véritable fabrique. Pour être aussi bien observé ... le principe de la division du travail s'y revêt d'un caractère spécial. Il y a bien des dévideuses, des moulineurs, des teinturiers, des encolleurs, puis des tisserands; mais ils ne sont pas réunis dans un même établissement, ne dépendent pas d'un même maître; tous ils sont indépendants" [बहुत पितृसत्तात्मक ढंग का व्यवसाय है।उसमें औरतों और बच्चों की एक बड़ी संख्या काम करती है, पर वह न तो उनकी शक्ति और न उनके स्वास्थ्य को ही एकदम बरबाद करता है। वह उनको द्रोम, वार, इज़ेर और वोक्लूज़ की उनकी सुन्दर तराइयों में ही रहने देता है, जहां वे रेशम के कीड़ों को पालते हैं और उनके कोयों से रेशम निकालते हैं। वह उन्हें कभी किसी सचमुच की फ़ैक्टरी में लाकर नहीं जमा करता। अधिक निकट से अध्ययन करने पर हम पायेंगे कि . . . यहां श्रम-विभाजन के सिद्धान्त की अपनी विलक्षणतायें हैं। इस व्यवसाय में कोयों से रेशम निकालने वाले, रेशम का धागा बनाने वाले, रंगने वाले, कलफ़ देने वाले, बुनने वाले बड़ी संख्या में काम करते हैं, पर वे किसी एक कारख़ाने में इकट्ठा नहीं किये जाते, वे किसी एक मालिक पर निर्भर नहीं रहते, बल्कि वे सब स्वतंत्र होते हैं"]। (A. Blanqui, *"Cours d'Econ. Industrielle"*. Recueilli par A. Blaise. Paris, 1838-39, पृ० ७६।) जिस समय ब्लांक्वी ने यह लिखा था, उसके बाद विभिन्न स्वतंत्र मजदूरों को, कुछ हद तक, फ़ैक्टरियों में एकजुट कर दिया गया है। [और जिस समय मार्क्स ने उपर्युक्त वाक्य लिखा था, तब से अब तक इन फ़ैक्टरियों पर शक्ति से चलने वाले करघे ने चढ़ाई कर दी है, और इस समय—१८८६ में—तो वह बड़ी तेजी से हाथ से चलने वाले करघे का स्थान लेता जा रहा है। (चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: इस सम्बंध में क्रेफ़ेल्ड के रेशम-उद्योग की भी अपनी एक कहानी है।)—फ़्रे० एं०]

है। एक आदमी के बारी-बारी से विभिन्न क्रियाओं को पूरा करने के बजाय अब इन क्रियाओं को असम्बद्ध, अलग-अलग क्रियाओं में बदल दिया जाता है, जो साथ-साथ चलती हैं। हर क्रिया एक अलग कारीगर को सौंप दी जाती है, और इन सारी क्रियायें ये सहकार करने वाले मजदूर एक साथ काम करते हुए पूरी करते हैं। संयोगवश होने वाला काम का यह नये ढंग का बंटवारा फिर दोहराया जाता है, उसके अपने फ़ायदे ज़ाहिर होते हैं, और धीरे-धीरे वह स्थायित्व प्राप्त करके सुनियोजित श्रम-विभाजन बन जाता है। अब माल एक स्वतंत्र कारीगर की व्यक्तिगत पैदावार न रहकर अनेक कारीगरों के समुदाय की सामाजिक पैदावार बन जाता है, जिनमें से प्रत्येक कारीगर उत्पादन-क्रिया की संघटक आंशिक क्रियाओं में से एक को और केवल एक को ही पूरा करता है। जब जर्मनी के काग़ज़ बनानेवालों के किसी शिल्पी-संघ का कोई सदस्य काम करता था, तब जो क्रियाएं एक कारीगर के बारी-बारी से किये जाने वाले कामों के रूप में एक दूसरे में संविलीन हो जाती थीं, वे ही क्रियाएं हालैण्ड के काग़ज़ के हस्तनिर्माण में अनेक आंशिक क्रियाओं का रूप धारण कर लेती हैं, जिनको सहकार करने वाले बहुत से मजदूर साथ-साथ करते रहते हैं। नूरेम्बर्ग के शिल्पी-संघ का सुई बनाने वाला कारीगर ही वह आधार-शिला था, जिसपर इंगलैण्ड के सुइयों के हस्तनिर्माण की इमारत खड़ी की गयी। लेकिन नूरेम्बर्ग में जहां एक अकेला कारीगर एक के बाद दूसरी, शायद २० क्रियाओं का क्रम पूरा करता था, वहां इंगलैण्ड में वह समय आने में बहुत देर नहीं लगी, जब २० सुई बनाने वाले साथ-साथ तो काम करते थे, पर उनमें से हरेक इन २० क्रियाओं में से केवल एक क्रिया को ही पूरा करता था। थोड़ा और अनुभव प्राप्त होने पर तो इन २० क्रियाओं में से हरेक को भी छोटे-छोटे भागों में बांट दिया गया और हर भाग को अलग करके एक अलग मजदूर की ख़ास जिम्मेदारी बना दिया गया।

इसलिये, हस्तनिर्माण का उद्भव, दस्तकारियों में से इसका विकास दो तरह से हुआ है। एक ओर तो वह विविध प्रकार की कुछ ऐसी स्वतंत्र दस्तकारियों के एक में जुड़ जाने से शुरू होता है, जिनकी स्वतंत्रता जाती रहती है और जिनका इस हद तक विशिष्टीकरण हो जाता है कि वे किसी ख़ास माल के उत्पादन की मात्र अनुपूरक एवं आंशिक क्रियाओं में परिणत होकर रह जाती हैं। दूसरी ओर, वह एक दस्तकारी के कारीगरों की सहकारिता से भी शुरू होता है। इस ख़ास दस्तकारी को वह उसकी बहुत सी तफ़सीली क्रियाओं में बांट देता है और इन क्रियाओं को इस हद तक एक दूसरे से अलग और स्वतंत्र कर देता है कि हर क्रिया एक ख़ास मजदूर का विशिष्ट कार्य बन जाती है। इसलिये, हस्तनिर्माण एक तरफ़ या तो उत्पादन की किसी प्रक्रिया में श्रम का विभाजन शुरू कर देता है और या उसे और विकसित कर देता है, और, दूसरी तरफ़, वह ऐसी दस्तकारियों को एक में जोड़ देता है, जो पहले अलग-अलग थीं। लेकिन वह शुरू चाहे जहां से भी हो, उसका अन्तिम रूप सदा एक सा होता है, यानी वह एक ऐसा उत्पादक यंत्र बन जाता है, जिसके अंग मनुष्य होते हैं।

हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन को सही तौर पर समझने के लिये नीचे दी गयी बातों को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। पहली बात यह है कि यहां जब उत्पादन की कोई प्रक्रिया एक दूसरे के बाद आने वाली अनेक प्रक्रियाओं में बंट जाती है, तो उसका सदा यह मतलब होता है कि एक दस्तकारी बारी-बारी से सम्पन्न की जाने वाली हाथ की कुछ प्रक्रियाओं में परिणत हो जाती है। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया, वह चाहे संश्लिष्ट ढंग की हो या सरल ढंग की, हाथ से ही की जाती है, उसका दस्तकारी का रूप क़ायम रहता है और इसलिये वह हर अलग-

अलग मजदूर की अपने औज़ारों से काम लेने की शक्ति, निपुणता, फुर्ती और दक्षता पर निर्भर करती है। आधार अब भी दस्तकारी का ही रहता है। इस संकुचित प्राविधिक आधार के कारण औद्योगिक उत्पादन की किसी भी ख़ास प्रक्रिया का सचमुच कोई वैज्ञानिक विश्लेषण करना असम्भव होता है; कारण कि अब भी यह बात आवश्यक होती है कि पैदावार जिन तफ़सीली प्रक्रियाओं में से गुज़रती है, उनमें से हरेक को इस लायक़ होना चाहिये कि उसे हाथ से किया जा सके, और उनमें से हरेक प्रक्रिया को अपने ढंग से एक अलग दस्तकारी बन जाने के योग्य होना चाहिये। इस तरह, चूंकि उत्पादन की प्रक्रिया का आधार अब भी दस्तकार की निपुणता ही रहती है, इसीलिये हर मजदूर को केवल एक आंशिक कार्य ख़ास तौर पर सौंप दिया जाता है और उसके बाक़ी जीवन के लिये उसकी श्रम-शक्ति इस तफ़सीली कार्य को सम्पन्न करने का साधन बन जाती है।

दूसरी बात यह है कि श्रम का यह विभाजन एक ख़ास ढंग की सहकारिता होता है, और उसकी बहुत सी उपलब्धियां सहकारिता के सामान्य स्वरूप से, न कि उसके इस विशिष्ट रूप से प्राप्त होती हैं।

## अनुभाग २ –
## तफ़सीली काम करने वाला मज़दूर और उसके औज़ार

अब यदि हम थोड़े और विस्तार के साथ इस मामले पर विचार करें, तो पहले तो यह बात साफ़ है कि जो मजदूर अपनी सारी जिन्दगी एक ही सरल सा काम करता रहता है, वह अपने पूरे शरीर को उस काम के एक विशिष्टीकृत एवं स्वसंचालित यंत्र में बदल देता है। चुनांचे, उसे यह काम पूरा करने में उस कारीगर की अपेक्षा कम समय लगता है, जो बहुत से काम बारी-बारी से करता है। लेकिन वह सामूहिक मजदूर, जो हस्तनिर्माण का सजीव यंत्र होता है, केवल इस प्रकार के, तफ़सीली काम करने वाले, विशिष्टीकृत मजदूरों का ही समूह होता है। इसलिये, स्वतंत्र दस्तकारी की अपेक्षा हस्तनिर्माण एक निश्चित समय में अधिक पैदावार तैयार कर देता है, या यूं कहिये कि उसमें श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है।[1] इसके अलावा, यह आंशिक कार्य जब एक बार एक विशिष्ट व्यक्ति की ख़ास जिम्मेदारी बन जाता है, तब उसमें जो तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं, उनका भी पूर्ण विकास हो जाता है। मजदूर चूंकि बार-बार वही एक सरल कार्य करता है और उसपर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किये रहता है, इसलिये उसका अपना अनुभव उसे यह सिखा देता है कि कम से कम मेहनत करके अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति कैसे सम्भव है। लेकिन चूंकि किसी भी एक वक़्त में मजदूरों की कई पीढ़ियां उपस्थित होती हैं और किसी ख़ास वस्तु के हस्तनिर्माण में साथ मिलकर काम करती हैं, इसलिये इस तरह जो प्राविधिक निपुणता प्राप्त होती है, मजदूर धंधे से सम्बन्धित जो गुर सीखते हैं, वे स्थायित्व

---

[1] "कोई ऐसा हस्तनिर्माण, जिसमें तरह-तरह के काम करने होते हैं, जितनी अधिक अच्छी तरह विभिन्न कारीगरों में बांट दिया जायेगा, और उनको सौंप दिया जायेगा, वह लाज़िमी तौर पर उतने ही बेहतर ढंग से होगा, उसमें उतनी ही अधिक फुर्ती दिखाई देगी और उतना ही कम वक़्त तथा कम श्रम ख़र्च होगा।" (*"The Advantages of the East India Trade"* ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ'], London, 1720, पृ० ७१।)

प्राप्त कर लेते हैं, संचित होते जाते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते जाते हैं।[1] हस्तनिर्माण, असल में, तफ़सीली काम करने वाले मजदूर की निपुणता को इस तरह पैदा करता है कि विभिन्न धंधों में जो भेद हस्तनिर्माण के पहले ही पैदा हो गये थे और जो उसे समाज में पहले से तैयार मिले थे, उनको वह वर्कशाप के भीतर पुनः पैदा कर देता है और सुनियोजित ढंग से विकसित करता हुआ पराकाष्ठा पर पहुंचा देता है। दूसरी ओर, एक आंशिक कार्य का किसी एक व्यक्ति के पूरे जीवन के लिये उसका धंधा बन जाना पुराने जमाने की समाज-व्यवस्थाओं की धंधों को पुश्तैनी बना देने की प्रवृत्ति के अनुरूप होता है, जो या तो उनको अलग-अलग वर्णों का रूप दे देती थी और या जहां कहीं कुछ ख़ास ऐतिहासिक परिस्थितियां व्यक्ति में अपना धंधा इस तरह बदलने की प्रवृत्ति पैदा कर देती थीं, जो वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप नहीं होता था, वहां उनको शिल्पी संघों में बांध देती थी। जिस प्राकृतिक नियम के अनुसार वनस्पतियों और पशुओं का विभिन्न जातियों और प्रकारों में विभेदककरण हो जाता है, उसी प्राकृतिक नियम के फलस्वरूप अलग-अलग वर्ण और शिल्पी संघ पैदा हो जाते हैं। अन्तर केवल यह होता है कि जब उनका विकास एक ख़ास मंजिल पर पहुंच जाता है, तो वर्णों का पैतृक स्वरूप और शिल्पी संघों का अनन्य रूप समाज के एक क़ानून के रूप में स्थापित हो जाता है।[2] "उत्कृष्टता में ढाका की मलमल और चमकदार तथा टिकाऊ रंगों में कारोमण्डल की वरेस तथा अन्य कटपीस से बेहतर कपड़ा अभी तक कोई तैयार नहीं हो सका है। फिर भी इन कपड़ों के उत्पादन में न तो पूंजी इस्तेमाल होती है, न मशीनें, न श्रम का विभाजन और न ही वे तरीक़े, जिनसे योरप के हस्तनिर्माण करने वालों को इतनी सुविधा हो जाती है। वहां तो बुनकर महज़ एक पृथक व्यक्ति होता है। कोई ग्राहक आर्डर देता है, तो वह कपड़ा बुनने बैठ जाता है और अत्यन्त फुघड़ बनावट का एक ऐसा करघा इस्तेमाल करता है, जो कभी-कभी तो चन्द टहनियों या लकड़ी के डंडों को जोड़-जोड़कर ही बना लिया जाता है। यहां तक कि ताना लपेटने की भी उसके पास कोई तरक़ीब नहीं होती। इसलिये करघे को उसकी पूरी लम्बाई तक

---

[1] "सुगम श्रम दूसरे से मिली हुई निपुणता होती है।" (Th. Hodgskin, "*Popular Political Economy*" [टोमस होजस्किन, "सुबोध अर्थशास्त्र'], London, 1827, पृ० ४८।)

[2] "मिस्र में ... कलाओं का भी समुचित विकास हुआ है। कारण कि वही एक ऐसा देश है, जहां कारीगरों को नागरिकों के किसी दूसरे वर्ग के मामलों में टांग अड़ाने की इजाज़त नहीं थी, बल्कि वे केवल वही धंधा करते हैं, जो क़ानून के अनुसार उनके गोत्र का पैतृक धंधा होता है ... दूसरे देशों में यह देखा जाता है कि व्यवसायी लोग अपना ध्यान बहुत ज्यादा चीज़ों में बांट देते हैं। कभी वे खेती में हाथ आजमाते हैं, तो कभी व्यापार में हाथ डालते हैं, और कभी एक साथ दो या तीन धंधों को हाथ में ले लेते हैं। स्वतंत्र देशों में तो वे प्रायः लोक-सभाओं में ही भाग लिया करते हैं ... इसके विपरीत, मिस्र में यदि कोई भी कारीगर राज्य के मामलों में दख़ल देता है या एक साथ कई धंधे करने लगता है, तो उसे सख़्त सजा दी जाती है। इस प्रकार, कारीगर वहां सदा अपने-अपने धंधे में लगे रहते हैं और इस बात में कोई चीज़ ख़लल नहीं डाल सकती ... इसके अलावा, कारीगरों को चूंकि अपने बाप-दादों से अनेक नियम विरासत में मिलते हैं, इसलिये वे सदा नये-नये तरीक़ों का आविष्कार करने के लिये उत्सुक रहते हैं।" ("*Diodor's von Sicilien Historische Bibliothek*", पुस्तक १, अध्याय ७४ [पृ० ११७, ११८]।)

खींचकर रखना पड़ता है, और वह इतना ज्यादा बड़ा हो जाता है कि कपड़ा बुनने वाले की झोंपड़ी में समा नहीं पाता और इस कारण बुनकर को बाहर खुले में अपना धंधा करना पड़ता है, जहां मौसम की हर तबदीली उसके काम में बाधा बनती है।"[1] मकड़ी की तरह हिन्दू को भी यह दक्षता केवल उस विशेष नैपुण्य से प्राप्त होती है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी संचित होता है और बाप से बेटे को मिलता जाता है। और फिर भी इस प्रकार के हिन्दू बुनकर का काम हस्तनिर्माण करने वाले मजदूर की तुलना में बहुत पेचीदा ढंग का काम होता है।

जो कारीगर एक तैयार चीज के उत्पादन के लिये आवश्यक विविध प्रकार की तमाम आंशिक क्रियाओं को बारी-बारी से करता है, उसे कभी अपनी जगह बदलनी पड़ती है और कभी अपने औजार बदलने पड़ते हैं। एक क्रिया को छोड़कर दूसरी क्रिया आरम्भ करने में उसके श्रम का प्रवाह बीच में रुक जाता है और उसके काम के दिन में मानों कुछ दरारें पैदा हो जाती हैं। जैसे ही वह कारीगर पूरे दिन के लिये एक ही क्रिया से बांध दिया जाता है, वैसे ही ये दरारें भर जाती हैं। जिस अनुपात में उसके काम में होने वाले परिवर्तन कम होते जाते हैं, उसी अनुपात में ये दरारें ग़ायब होती जाती हैं। उसके फलस्वरूप उत्पादक शक्ति में जो वृद्धि होती है, उसका या तो यह कारण होता है कि एक निश्चित समय में पहले से ज्यादा श्रम-शक्ति खर्च होने लगती है,—अर्थात् श्रम की तीव्रता बढ़ जाती है,—और या उसकी यह वजह होती है कि अनुत्पादक ढंग से खर्च होने वाली श्रम-शक्ति की मात्रा कम हो जाती है। विश्रामावस्था से गति में परिवर्तन होने पर हर बार शक्ति का जो अतिरिक्त व्यय होता है, उसे एक बार सामान्य वेग प्राप्त हो जाने के बाद श्रम की अवधि को लम्बा खींचकर पूरा कर लिया जाता है। दूसरी ओर, बराबर एक ही ढंग का श्रम करते रहने से मनुष्य की तबीयत के जोश की तेजी और प्रवाह में कमी आ जाती है, जब कि, दूसरी ओर, महज काम की तबदीली से ही उसमें ताजगी आ जाती है और उसे आनन्द प्राप्त होने लगता है।

श्रम की उत्पादकता न केवल मजदूर की निपुणता पर, बल्कि उसके औजारों की श्रेष्ठता पर भी निर्भर करती है। एक ही तरह के औजार,—जैसे चाकू, बरमे, गिमलेट, हथौड़े आदि,—अलग-अलग तरह की क्रियाओं में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। और एक ही क्रिया में उसी औजार से कई तरह के काम लिये जा सकते हैं। लेकिन जैसे ही किसी श्रम-क्रिया की विभिन्न उप-क्रियाएं एक दूसरे से अलग कर दी जाती हैं और हर आंशिक उप-क्रिया तफ़सीली काम करने वाले मजदूर के हाथ में एक उपयुक्त एवं विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेती है, वैसे ही उन औजारों में, जिनसे पहले एक से अधिक तरह के काम लिये जाते थे, कुछ परिवर्तन करने जरूरी हो जाते हैं। ये परिवर्तन किस दिशा में होंगे, यह औजार के अपरिवर्तित रूप से पैदा होने वाली कठिनाइयों द्वारा निर्धारित होता है। हस्तनिर्माण की यह एक खास विशेषता है कि उसमें श्रम के औजारों में भेदकरण हो जाता है,—ऐसा भेदकरण, जिससे एक खास ढंग के औजार कुछ

---

[1] *"Historical and Descriptive Account of British India, etc."*, by Hugh Murray, James Wilson, etc., Edinburgh, 1832 ('ब्रिटिश हिन्दुस्तान का ऐतिहासिक और वर्णनात्मक विवरण, इत्यादि', ह्यूह मरे और जेम्स विल्सन इत्यादि द्वारा लिखित, एडिनबरा, १८३२), खण्ड २, पृ० ४४६। हिन्दुस्तानी करघा सीधा खड़ा होता है, यानी ताना ऊर्ध्वाधर दिशा में खिंचा रहता है।

निश्चित ढंग की शक्लें हासिल कर लेते हैं, जिनमें से हरेक शक्ल एक विशिष्ट प्रयोजन के अनुरूप होती है। हस्तनिर्माण की यह भी एक ख़ास विशेषता है कि उसमें इन औज़ारों का विशिष्टीकरण हो जाता है, जिससे हर ख़ास औज़ार केवल एक ख़ास तरह का तफ़सीली काम करने वाले मज़दूर के हाथों में ही पूरी तरह इस्तेमाल हो सकता है। अकेले बिर्मिंघम में ५०० प्रकार के हथौड़े तैयार होते हैं, और न सिर्फ़ उनमें से हरेक किसी विशेष प्रक्रिया में काम आने के लिये बनाया जाता है, बल्कि अक्सर कई प्रकार के हथौड़े एक ही प्रक्रिया की केवल कई अलग-अलग उपक्रियाओं में काम आते हैं। हस्तनिर्माण का काल श्रम के औज़ारों को तफ़सीली काम करने वाले प्रत्येक मज़दूर के विशिष्ट कार्य के अनुरूप ढालकर उन्हें सरल बना देता है, उनमें सुधार करता है और उनकी संख्या को बढ़ा देता है।[1] इस प्रकार हस्तनिर्माण साथ ही मशीनों के अस्तित्व के लिये आवश्यक एक भौतिक परिस्थिति को भी तैयार कर देता है, क्योंकि मशीनें सरल औज़ारों का ही योग होती हैं।

तफ़सीली काम करने वाला मज़दूर और उसके औज़ार हस्तनिर्माण के सरलतम तत्व हैं। आइये, अब हम हस्तनिर्माण के सम्पूर्ण रूप पर विचार करें।

## अनुभाग ३ – हस्तनिर्माण के दो बुनियादी रूप: विविध हस्तनिर्माण और क्रमिक हस्तनिर्माण

हस्तनिर्माण के संगठन के दो बुनियादी रूप होते हैं, जो कभी-कभी एक दूसरे में मिल जाने के बावजूद मूलतया अलग-अलग ढंग के रहते हैं। इतना ही नहीं, वे बाद को हस्तनिर्माण के मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योगों में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया में दो बिलकुल विशिष्ट भूमिकाएं अदा करते हैं। यह दोहरा स्वरूप उत्पादित वस्तु के रूप से उत्पन्न होता है। यह वस्तु या तो स्वतंत्र रूप से तैयार की गयी कुछ आंशिक पैदावारों को महज़ यांत्रिक ढंग से जोड़ देने का नतीजा होती है और या उसका सम्पूरित रूप अनेक सम्बद्ध क्रियाओं और दस्त-प्रयोगों के एक क्रम का फल होता है।

उदाहरण के लिये, रेल के इंजन में ५,००० से अधिक स्वतंत्र पुर्ज़े होते हैं। परन्तु उसको प्रथम प्रकार के वास्तविक हस्तनिर्माण का उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह आधुनिक

---

[1] डार्विन ने जातियों की उत्पत्ति सम्बंधी अपनी युगान्तरकारी रचना में पौधों और पशुओं की प्राकृतिक इन्द्रियों की चर्चा करते हुए कहा है: "जब तक एक ही इन्द्रिय को कई प्रकार के काम करने पड़ते हैं, तब तक उसकी परिवर्तनशीलता का एक आधार सम्भवतया इस बात में मिल सकता है कि केवल एक ख़ास उद्देश्य के लिये काम आने वाली इन्द्रिया की तुलना में इस स्थिति में प्राकृतिक वरण हर छोटे रूप-परिवर्तन को सुरक्षित रखने या दबा देने में कम एहतियात बरतता है। चुनांचे, जिन चाकुओं से विभिन्न प्रकार की सभी चीज़ें काटी जा सकती हैं, वे मोटे तौर पर एक ही शकल के हो सकते हैं, पर जो औज़ार केवल एक ही तरह के काम में आ सकता है, उसके हर अलग-अलग ढंग के इस्तेमाल के लिये उसकी एक अलग शकल का होना ज़रूरी होता है।" (Charles Darwin, *"The Origin of Species, etc."*, London, 1859, पृ० १४६)

ढंग के मशीनों से चलने वाले उद्योग की पैदावार होता है। परन्तु घड़ी से ऐसे उदाहरण का काम लिया जा सकता है। विलियम पेटी ने हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन को स्पष्ट करने के लिये उसका इस्तेमाल किया था। पहले घड़ी नूरेम्बर्ग के किसी कारीगर की व्यक्तिगत पैदावार हुआ करती थी, पर अब वह तफ़सीली काम करने वाले मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या की सामाजिक पैदावार बन गयी है, – जैसे बड़ी कमानी बनाने वाले, घड़ी का चेहरा बनाने वाले, चक्करदार कमानी बनाने वाले, मणियां लगाने के लिये सूराख करने वाले, रूबी-लीवर बनाने वाले, घड़ी की सुइयां बनाने वाले, घड़ी का केस बनाने वाले, पेच बनाने वाले, मुलम्मा चढ़ाने वाले और फिर इनके अनेक उपवर्ग होते हैं, जैसे पहिये बनाने वाले (पीतल के पहिये और इस्पात के पहिये बनाने वाले अलग-अलग), पिन बनाने वाले, हरकत करने वाले पुर्जों को बनाने वाले, acheveur de pignon (वह कारीगर, जो धुरी पर पहिये लगाता है, पहलों को पालिश करता है, इत्यादि), कीलक बनाने वाले, planteur de finissage (वह कारीगर, जो पहिये और कमानियां लगाता है), finisseur de barillet (वह कारीगर, जो पहियों में दांत बनाता है, सही आकार के सूराख बनाता है, इत्यादि), एस्केपमेंट – अथवा चालक शक्ति को नियामक से जोड़ने का यंत्र – बनाने वाले कारीगर, सिलिण्डर-नुमा एस्केपमेंट के लिये सिलिण्डर बनाने वाले, एस्केपमेंट के पहिये बनाने वाले, घड़ी की गति का नियमन करने वाला चक्र बनाने वाले, raquette (घड़ी का नियमन करने वाला यंत्र) बनाने वाले, planteur d'échappement (असली एस्केपमेंट बनाने वाले); उसके बाद आते हैं repasseur de barillet (वह कारीगर, जो कमानी के लिये बक्स आदि तैयार करता है), इस्पात पर पालिश करने वाले, पहियों पर पालिश करने वाले, पेचों पर पालिश करने वाले, अंक अंकित करने वाले, घड़ी के चेहरे पर मीनाकारी करने वाले (जो ताम्बे पर मीना गलाकर लगाते हैं), fabricant de pendants (वह छल्ला बनाने वाला कारीगर, जिससे केस टांगा जाता है), finisseur de charnière (जो ढक्कन में पीतल का कुलाबा आदि लगाता है), faiseur de secret (जो उन कमानियों को लगाता है, जिनसे ढक्कन खुलता है), graveur (नक़्क़ाशी खोदने वाला), ciseleur (तक्षण करने वाला), polisseur de boîte (घड़ी के केस पर पालिश करने वाला), इत्यादि, इत्यादि, और सब के अन्त में repasseur, जो पूरी घड़ी को जोड़कर उसे चालू हालत में सौंप देता है। घड़ी के केवल कुछ ही हिस्से कई आदमियों के हाथों में से गुजरते हैं। और ये तमाम membra disjecta (अलग-अलग टुकड़े) पहली बार केवल उस हाथ में एक जगह इकट्ठा होते हैं, जो उन्हें जोड़कर एक यांत्रिक इकाई तैयार कर देता है। इस प्रकार की अन्य समस्त तैयार वस्तुओं की तरह इस उदाहरण में भी तैयार वस्तु तथा उसके नाना प्रकार के अनेक तत्वों के बीच जो बाह्य सम्बंध होता है, उसके फलस्वरूप तफ़सीली काम करने वाले मजदूर एक वर्कशाप में इकट्ठा किये जाते हैं या नहीं, यह केवल संयोग पर निर्भर करता है। इसके अलावा, तफ़सीली काम बहुत सी स्वतंत्र दस्तकारियों की तरह किये जा सकते हैं, जैसा कि वौद तथा न्यूफ़शैतेल के कैण्टनों में होता है, जब कि जेनेवा में घड़ियों की बड़ी-बड़ी हस्तनिर्माणशालाएं हैं, जिनमें तफ़सीली काम करने वाले मजदूर किसी एक पूंजीपति के नियंत्रण में प्रत्यक्ष रूप से सहकार करते हैं। पर घड़ी का चेहरा, कमानियां और केस इन हस्तनिर्माणशालाओं में भी बहुत कम ही बनते हैं। मजदूरों का केन्द्रीकरण करके एक कारखानेदार के रूप में व्यवसाय चलाना घड़ियों के धंधे में केवल कुछ असाधारण परिस्थितियों में ही लाभदायक होता है। इसका कारण यह है कि जो मजदूर अपने घर पर काम करना चाहते हैं, उनके बीच ज्यादा

ओर से होड़ चलती है, और काम के विविध क्रियाओं में बंटे रहने के कारण सामूहिक श्रम के औज़ारों का उपयोग करने की बहुत कम सम्भावना रह जाती है, और पूंजीपति काम को छितराकर वर्कशाप पर होने वाले ख़र्च को बचा लेता है, इत्यादि, इत्यादि।[1] पर इन सब बातों के बावजूद तफ़सीली काम करने वाला जो मज़दूर घर पर काम करते हुए भी किसी पूंजीपति (कारख़ानेदार या établisseur के लिये काम करता है, उसकी स्थिति उस स्वतंत्र कारीगर की स्थिति से बहुत भिन्न होती है, जो ख़ुद अपने गाहकों के लिये काम करता है।[2]

हस्तनिर्माण का दूसरा प्रकार, जो उसका विकसित रूप होता है, ऐसी वस्तुएं तैयार करता है, जो विकास की परस्पर सम्बद्ध अवस्थाओं में से गुज़रती हैं और जिनको एक के बाद दूसरी अनेक क्रियाओं के क्रम में से निकलना पड़ता है। मिसाल के लिये, सुइयों के हस्तनिर्माण में तार तफ़सीली काम करने वाले ७२ और कभी-कभी तो ९२ विभिन्न मज़दूरों के हाथों तक से गुज़रता है।

इस तरह का हस्तनिर्माण एक बार शुरू हो जाने पर जिस हद तक बिखरी हुई दस्तकारियों को जोड़ देता है, उस हद तक वह उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरे से अलग करने वाली दूरी को कम कर देता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने में जो समय लगता था, वह कम हो जाता है, और इस अवस्था-परिवर्तन में जो श्रम लगता था, वह भी कम हो

---

[1] १८५४ में जेनेवा में ८०,००० घड़ियां तैयार हुई थीं, जो न्यूफ़शैतेल के कैण्टन में होने वाले उत्पादन का पांचवां हिस्सा भी नहीं होतीं। अकेले ला शे-द-फ़ोंद में, जिसे घड़ियों की एक बहुत बड़ी हस्तनिर्माणशाला समझा जा सकता है, हर साल जेनेवा से दुगुनी घड़ियां बनती हैं। १८५० से १८६१ तक जेनेवा में ७,२०,००० घड़ियां तैयार हुईं। देखिये "*Reports by H. M.'s Secretaries of Embassy and Legation on the Manufactures, Commerce, &c.*" ('हस्तनिर्माण, वाणिज्य आदि के विषय में बादशाह सलामत के राजदूतावासों तथा दूतावासों के मंत्रियों की रिपोर्टें') के १८६३ के अंक. ६ में "*Report from Geneva on the Watch Trade*" ('घड़ियों के व्यवसाय के बारे में जेनेवा की रिपोर्ट')। जब किन्हीं ऐसी वस्तुओं का उत्पादन, जो केवल इकट्ठा जोड़ दिये जाने वाले हिस्सों से मिलकर बनती हैं, अलग-अलग क्रियाओं में बांट दिया जाता है, तब इन क्रियाओं में कोई सम्बंध न होने के कारण ही इस प्रकार के हस्तनिर्माण को मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योग की शाखा में रूपान्तरित कर देना बहुत कठिन हो जाता है। पर घड़ियों के साथ तो इसके अलावा दो कठिनाइयां और भी हैं। एक तो यह कि उनके पुर्ज़े बहुत छोटे और नाज़ुक होते हैं। दूसरी यह कि घड़ियां विलास की वस्तुएं समझी जाती हैं, इसलिये वे नाना प्रकार की होती हैं। यहां तक कि लन्दन की सब से अच्छी कम्पनियों में साल भर में मुश्किल से एक दर्जन घड़ियां एक प्रकार की बनती हैं। मैसर्स वैचेरोन एण्ड कोंस्टेंटिन की घड़ियों की फ़ैक्टरी में, जहां मशीनों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है, आकार तथा आकृति की दृष्टि से अधिक से अधिक तीन या चार प्रकार की घड़ियां बनायी जाती हैं।

[2] घड़ी बनाना विविध प्रकार के हस्तनिर्माण का प्रतिनिधि उदाहरण है। दस्तकारियों के उप-विभाजन के फलस्वरूप श्रम के औज़ारों का जो उपर्युक्त भेदकरण तथा विशिष्टीकरण हो जाता है, उसके बहुत यथातथ्य अध्ययन के लिये घड़ी बनाने के व्यवसाय में बहुत सी सामग्री मिल जाती है।

जाता है।[1] दस्तकारी के मुक़ाबले में उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है, और यह वृद्धि हस्तनिर्माण के सामान्य सहकारी स्वरूप के कारण होती है। दूसरी ओर, श्रम-विभाजन के लिये, जो हस्तनिर्माण का विशिष्ट सिद्धान्त है, यह आवश्यक होता है कि उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरे से अलग कर दिया जाये और एक दूसरे से स्वतंत्र बना दिया जाये। पृथक कार्यों के बीच सम्बन्ध जोड़ने और बनाये रखने के लिये वस्तु का एक हाथ से दूसरे हाथ और एक प्रक्रिया से दूसरी प्रक्रिया तक निरन्तर लाना-ले जाना जरूरी हो जाता है। मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योग की दृष्टि से यह आवश्यकता एक विशिष्ट एवं महंगी बुराई के रूप में सामने आती है और वह भी ऐसी बुराई के रूप में, जो हस्तनिर्माण के सिद्धान्त में निहित है।[2]

यदि हम अपना ध्यान कच्चे माल की किसी ख़ास राशि पर ही केन्द्रित करें, जैसे कि यदि हम काग़ज़ के हस्तनिर्माण में रद्दी कपड़ों की या सुइयों के हस्तनिर्माण में तार की किसी ख़ास राशि की ओर ही ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि उसे उत्पादन-क्रिया के पूरा होने के पहले तफ़सीली काम करने वाले अनेक मजदूरों के हाथों और क्रमशः अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। दूसरी ओर, यदि हम पूरी वर्कशाप पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि कच्चा माल एक ही समय पर उत्पादन की सभी अवस्थाओं में से गुजर रहा है। सामूहिक मजदूर अपने बहुत से हाथों में से कुछ में एक तरह के औज़ार लेकर तार खींचता है, तो उसके साथ-साथ कुछ और हाथों में भिन्न प्रकार के औज़ार लेकर वह तार को सीधा करता है, कुछ और हाथों से उसे काटता है, अन्य हाथों से उसकी नोक बनाता है, इत्यादि, इत्यादि। अलग-अलग तफ़सीली क्रियाएं, जो पहले समय की दृष्टि से क्रमानुसार सम्पन्न होती थीं, अब एक साथ चलती हैं और स्थान की दृष्टि से साथ-साथ सम्पन्न होने वाली क्रियाएं बन जाती हैं। इसलिये अब उतने ही समय में तैयार मालों की पहले से अधिक प्रमात्रा का उत्पादन होता है।[3] यह सच है कि तफ़सीली क्रियाओं का इस तरह एक साथ चलना पूरी क्रिया के सामान्य सहकारी स्वरूप का परिणाम होता है। परन्तु सहकारिता के लिये आवश्यक परिस्थितियां हस्तनिर्माण को केवल पहले से तैयार ही नहीं

---

[1] "जब लोग एक दूसरे के इतने नजदीक रहते हैं, तो लाना-ले जाना लाजिमी तौर पर कम हो जाता है।" (*"The Advantages of the East India Trade"* ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ'], पृ० १०६।)

[2] "हाथ के श्रम का उपयोग करने के फलस्वरूप हस्तनिर्माण की विभिन्न अवस्थाओं के पृथक हो जाने से उत्पादन की लागत बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। नुक़सान मुख्यतया केवल वस्तुओं को एक क्रिया से हटाकर दूसरी क्रिया तक ले जाने के कारण ही होता है।" (*"The Industry of Nations"* ['राष्ट्रों का उद्योग'], London, 1855, भाग २, पृ० २००।)

[3] "यह (श्रम का विभाजन) काम को उसकी विभिन्न शाखाओं में बांटकर कुछ समय की भी बचत कर देता है, क्योंकि ये तमाम शाखाएं तब एक ही समय में कार्यान्वित की जा सकती हैं... उन तमाम विभिन्न क्रियाओं को, जिनको पहले एक व्यक्ति एक-एक करके पूरा करता था, अब एक साथ पूरा किया जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि पहले जितने समय में केवल एक पिन या तो काटा जाता था और या उसकी नोक बनायी जाती थी, अब उतने समय में बहुत सारे पिन पूरी तरह बनाकर तैयार किये जा सकते हैं।" (Dugold Stewart, उप० पु०, पृ० ३१६।)

मिल जातीं, दस्तकारी के श्रम का उपविभाजन करके कुछ हद तक वह खुद भी ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता है। दूसरी ओर, हस्तनिर्माण महज हर मजदूर को तफ़सील के केवल एक आंशिक कार्य से जोड़कर ही श्रम-क्रिया का यह सामाजिक संगठन सम्पन्न कर पाता है।

तफ़सीली काम करने वाले हर मजदूर की आंशिक पैदावार चूंकि एक ही तैयार वस्तु के विकास की एक विशेष अवस्था मात्र होती है, इसलिये हर मजदूर या मजदूरों का हरेक दल किसी अन्य मजदूर या अन्य दल के लिये कच्चा माल तैयार करता है। एक के श्रम का फल दूसरे के श्रम का प्रस्थान-बिन्दु होता है। इसलिये एक मजदूर प्रत्यक्ष रूप से दूसरे को रोजी देता है। अभीष्ट प्रभाव पैदा करने के लिये हर आंशिक क्रिया के लिये कितना श्रम-काल आवश्यक है, यह अनुभव से मालूम हो जाता है, और पूरे हस्तनिर्माण का यंत्र इस मान्यता पर आधारित होता है कि एक निश्चित समय में एक निश्चित परिणाम हासिल किया जायेगा। इस मान्यता के आधार पर ही नाना प्रकार की अनुपूरक श्रम-क्रियाएं एक ही समय में, बिना रुके और साथ-साथ चलती रह सकती हैं। यह बात स्पष्ट है कि ये क्रियाएं और इसलिये उनको सम्पन्न करने वाले मजदूर चूंकि प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं, इसलिये उनमें से हरेक इसके लिये मजबूर होता है कि अपने काम पर आवश्यक समय से अधिक न खर्च करे, और इस तरह यहां श्रम की एक ऐसी निरन्तरता, एकरूपता, नियमितता, व्यवस्था[1] और यहां तक कि एक ऐसी तीव्रता पैदा हो जाती है, जैसी स्वतंत्र दस्तकारी में या यहां तक कि सरल सहकारिता में भी नहीं पायी जाती। नियम है कि किसी माल पर जो श्रम-काल खर्च किया जाये, वह उसके उत्पादन के लिये सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल से अधिक नहीं होना चाहिये। मालों के उत्पादन में साधारण तौर पर ऐसा मालूम होता है कि यह नियम केवल प्रतियोगिता के प्रभाव से ही स्थापित हो जाता है। कारण कि यदि हम बहुत सतही ढंग से अपनी बात कहें, तो हर उत्पादक अपना माल बाजार-भाव पर बेचने के लिये मजबूर होता है। इसके विपरीत, हस्तनिर्माण में एक निश्चित समय में पैदावार की एक निश्चित प्रमात्रा तैयार कर देना स्वयं उत्पादन की क्रिया का एक प्राविधिक नियम होता है।[2]

लेकिन अलग-अलग क्रियाओं में अलग-अलग समय लगता है और इसलिये उनके द्वारा समान समय में आंशिक पैदावार की असमान मात्राएं तैयार होती हैं। अतः, यदि एक मजदूर को बार-बार एक ही क्रिया सम्पन्न करनी है, तो हरेक क्रिया के लिये अलग-अलग संख्या में मजदूर होने चाहियें। मिसाल के लिये, टाइप के हस्तनिर्माण में एक घिसने वाले पर चार ढालने वाले और दो तोड़ने वाले होते हैं: ढालने वाला फ़ी घण्टा २,००० टाइप ढालता है, तोड़ने वाला ४,००० टाइप तोड़ता है और घिसने वाला ८,००० टाइप पर पालिश करता है। यहां पर

---

[1] "प्रत्येक हस्तनिर्माण में जितने अधिक प्रकार के कारीगर काम करते हैं... प्रत्येक काम उतनी ही अधिक व्यवस्था और नियमितता से होता है, और हर काम को लाज़िमी तौर पर कम समय में पूरा कर देना पड़ता है और पहले से कम श्रम ख़र्च होता है।" (*"The Advantages, &c."* ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ'], पृ० ६८।)

[2] पर, इसके बावजूद, उद्योग की बहुत सी शाखाओं में हस्तनिर्माण-प्रणाली के रहते हुए भी यह बात बड़े ही अपूर्ण ढंग से देखने में आती है, क्योंकि उसे निश्चित रूप से यह मालूम नहीं होता कि उत्पादन की क्रिया की सामान्य रासायनिक एवं भौतिक परिस्थितियों पर कैसे नियंत्रण रखा जाये।

फिर हम सहकारिता के सिद्धान्त को उसके सरलतम रूप में देखते हैं, यानी एक ही चीज करने वाले बहुत से आदमियों से एक साथ काम लिया जाता है। अन्तर केवल यह है कि अब यह सिद्धान्त एक समन्वित सम्बंध की अभिव्यक्ति है। हस्तनिर्माण में जैसा श्रम-विभाजन कार्यान्वित होता है, वह न केवल सामाजिक एवं सामूहिक मजदूर के गुणात्मक दृष्टि से भिन्न भागों को सरल बनाता है और उनकी संख्या को बढ़ा देता है, बल्कि वह एक ऐसा निश्चित गणितीय सम्बंध अथवा अनुपात भी पैदा कर देता है, जो इन भागों की परिमाणात्मक सीमा का नियमन करता है, – यानी वह हर तफ़सीली काम के लिये मजदूरों की तुलनात्मक संख्या, अथवा मजदूरों के दल का तुलनात्मक आकार, निश्चित कर देता है। सामाजिक श्रम-क्रिया के गुणात्मक उप-विभाजन के साथ-साथ वह इस क्रिया के लिये एक परिमाणात्मक नियम तथा अनुपातिता का भी विकास कर देता है।

जब एक बार प्रयोग के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि किसी ख़ास पैमाने पर उत्पादन करते हुए विभिन्न दलों में तफ़सीली काम करने वाले मजदूरों की संख्या का क्या सही अनुपात होगा, तब केवल प्रत्येक विशिष्ट दल के किसी गुणज का प्रयोग करके ही इस पैमाने को बढ़ाया जा सकता है।[1] ऊपर से यह बात भी है कि कुछ ख़ास तरह के कामों को वही व्यक्ति जितनी अच्छी तरह छोटे पैमाने पर करता है, उतनी ही अच्छी तरह बड़े पैमाने पर कर सकता है। इसकी मिसालें हैं: देख-रेख करने का श्रम, आंशिक पैदावार को एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक लाना – ले जाना, इत्यादि। इस प्रकार के कामों को अलग-अलग कर देना और उनको किसी ख़ास मजदूर को सौंप देना उस समय तक लाभदायक सिद्ध नहीं होता, जब तक कि इसके पहले काम में लगे हुए मजदूरों की संख्या में वृद्धि नहीं हो जाती। पर इस वृद्धि का प्रत्येक दल पर सानुपातिक प्रभाव पड़ना चाहिये।

मजदूरों का वह दल, जिसे औरों से अलग करके कोई ख़ास तफ़सीली काम सौंप दिया गया है, सदृश तत्वों से मिलकर बना होता है, और वह ख़ुद पूरे यंत्र का एक संघटक भाग होता है। किन्तु बहुत सी हस्तनिर्माणशालाओं में यह दल स्वयं ही श्रम का एक संगठित निकाय होता है, और पूरा यंत्र ऐसे प्राथमिक संघटनों के बार-बार दोहराये जाने अथवा गुणन का फल होता है। मिसाल के लिये कांच की बोतलों के हस्तनिर्माण को लीजिये। उसे तीन बुनियादी तौर पर भिन्न अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। पहली प्रारम्भिक अवस्था होती है, जिसमें कांच के संघटकों को तैयार किया जाता है, – रेत और चूने आदि को मिलाया जाता है, – और उनको गलाकर कांच की एक तरल राशि तैयार की जाती है।[2] इस पहली अवस्था में – और साथ ही

---

[1] "जब (प्रत्येक हस्तनिर्माणशाला की पैदावार के विशिष्ट स्वरूप के आधार पर) यह पता लगा लिया जाता है कि उसे कितनी क्रियाओं में बांट देना सबसे अधिक लाभदायक होगा, तथा काम पर लगाये जाने वाले व्यक्तियों की संख्या भी मालूम हो जाती है, तब अन्य ऐसी तमाम हस्तनिर्माणशालाएं, जो इस संख्या के किसी प्रत्यक्ष गुणज से काम नहीं लेतीं, ज्यादा लागत लगाकर वही वस्तु तैयार करेंगी... इस तरह हस्तनिर्माणशालाओं के आकार को बड़ा करने का एक कारण पैदा हो जाता है।" (C. Babbage, "*On the Economy of Machinery*" [सी० बबेज, 'मशीनों के अर्थशास्त्र के विषय में'], पहला संस्करण, London, 1832, अध्याय २१, पृ० १७२-१७३।)

[2] इंगलैण्ड में कांच को गलाने की भट्ठी कांच की उस भट्ठी से अलग होती है, जिसमें कांच से बोतलें बनायी जाती हैं। बेल्जियम में वही भट्ठी दोनों काम देती है।

बोतलों को सुखाने वाली भट्ठी में से निकालने, छांटने और पैक करने आदि की अन्तिम अवस्था में भी – तफ़सीली काम करने वाले बहुत से मज़दूरों से काम लिया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच में वह अवस्था आती है, जिसे सचमुच कांच को गलाने की अवस्था का नाम दिया जा सकता है और जिसमें उस तरल राशि से बोतलें बनायी जाती हैं। भट्ठी के हर मुंह पर एक दल काम करता है, जिसे "hole" ("सूराख़") कहते हैं। उसमें एक bottle maker (बोतल बनानेवाला) या finisher (फ़िनिश करनेवाला) होता है, एक blower (फुलानेवाला), एक gatherer (इकट्ठा करनेवाला), एक putter up (रखनेवाला) या whetter off (घिसनेवाला) और एक taker in (ले आनेवाला) होता है। तफ़सीली काम करने वाले ये पांच मज़दूर एक ऐसे कार्य-रत संघटन की पांच विशेष इन्द्रियों के समान होते हैं, जो केवल एक इकाई के रूप में ही काम करता है और इसलिये जो केवल पांचों आदमियों के प्रत्यक्ष सहकार द्वारा ही कार्य कर सकता है। उसका यदि एक भी सदस्य अनुपस्थित हो, तो पूरे संघटन को जैसे लक़वा मार जाता है। किन्तु कांच की एक भट्ठी के कई मुंह होते हैं (इंगलैण्ड में एक भट्ठी के ४ से ६ मुंह तक होते हैं), जिनमें से हरेक में कांच गलाने का एक मिट्टी का बर्तन होता है, जिसमें गला हुआ कांच भरा रहता है, और हरेक मुंह पर इसी प्रकार का पांच मज़दूरों का एक दल काम करता है। प्रत्येक दल का संगठन श्रम-विभाजन पर आधारित होता है, मगर अलग-अलग दलों के बीच सरल सहकारिता का सम्बंध होता है; यह सहकारिता भट्ठी नामक उत्पादन के एक साधन के सामूहिक उपयोग द्वारा उसका अधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग कराती है। इस प्रकार की एक भट्ठी, मय अपने ४-६ दलों के, एक कांच-घर कहलाती है, और कांच की एक हस्तनिर्माणशाला में ऐसे कई कांच-घर और प्रारम्भिक तथा अन्तिम अवस्थाओं के लिये आवश्यक उपकरण तथा मज़दूर होते हैं।

अन्त में, जिस प्रकार हस्तनिर्माण कुछ हद तक विविध प्रकार की दस्तकारियों के एक में मिल जाने से शुरू होता है, इसी प्रकार वह विकसित होकर विविध प्रकार के हस्तनिर्माणों के योग में भी बदल जाता है। उदाहरण के लिये, इंगलैण्ड के अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर कांच का हस्तनिर्माण करने वाले कांच गलाने के मिट्टी के बर्तन अपने लिये ख़ुद तैयार करते हैं, क्योंकि कांच बनाने की क्रिया में उनकी सफलता या असफलता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि ये बर्तन कितने अच्छे हैं। यहां उत्पादन के एक साधन का हस्तनिर्माण भी पैदावार के हस्तनिर्माण के साथ जुड़ जाता है। दूसरी ओर, पैदावार का हस्तनिर्माण कुछ ऐसे अन्य हस्तनिर्माणों के साथ जोड़ा जा सकता है, जिनके लिये यह पैदावार कच्चे माल का काम करती है, या जिनकी पैदावार के साथ ख़ुद इस पैदावार को बाद में मिला दिया जाता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि सीस-कांच का हस्तनिर्माण कांच काटने तथा पीतल ढालने के हस्तनिर्माण के साथ जोड़ दिया जाता है, – पीतल ढालने के साथ इसलिये कि कांच की बनी विभिन्न वस्तुओं के लिये धातु के चौखटों की आवश्यकता होती है। इस तरह जो विभिन्न प्रकार के हस्तनिर्माण एक दूसरे के साथ जोड़ दिये जाते हैं, वे एक अपेक्षाकृत बड़े हस्तनिर्माण के कमोबेश अलग-अलग विभाग बन जाते हैं, परन्तु साथ ही वे स्वतन्त्र क्रियायें रहते हैं, जिनमें से हरेक का अपना अलग ढंग का श्रम-विभाजन होता है। हस्तनिर्माणों के इस प्रकार के योग से जो बहुत तरह का लाभ होता है, उसके बावजूद यह चीज़ ख़ुद अपनी बुनियाद पर विकसित होकर एक पूर्ण प्राविधिक व्यवस्था कभी नहीं बन पाती। यह केवल तभी होता है, जब वह मशीनों से चलने वाले उद्योग में परिणत हो जाती है।

हस्तनिर्माण के काल के शुरू में इस सिद्धान्त की स्थापना हुई और उसे मान्यता प्राप्त हुई थी कि मालों के उत्पादन में आवश्यक श्रम-काल को कम करने की कोशिश करनी चाहिये,[1] और ख़ास तौर पर कुछ सरल ढंग की प्रारम्भिक क्रियाओं के लिये, जिनको बड़े पैमाने पर सम्पन्न करना आवश्यक होता है और जिनमें बहुत ताक़त इस्तेमाल करने की ज़रूरत पड़ती है, जहां-तहां मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो गया था। उदाहरण के लिये, काग़ज़ के हस्तनिर्माण के प्रारम्भिक काल में रद्दी चिथड़ों के काग़ज़ की मिलों के द्वारा टुकड़े किये जाते थे, और धातु के कारख़ानों में खनिज कूटने का काम कूटने की मशीनों से लिया जाता था।[2] और रोमन साम्राज्य ने तो पन-चक्की के रूप में दुनिया को सभी प्रकार की मशीनों का प्राथमिक रूप दे दिया था।[3]

दस्तकारी के युग से हमें क़ुतुबनुमा, बारूद, टाइप की छपाई और अपने आप चलने वाली घड़ी के महान आविष्कार विरासत में मिले हैं। लेकिन मोटे तौर पर उस युग में मशीनों ने वह गौण भूमिका ही अदा की थी, जो ऐडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन की तुलना में उनके लिये नियत की है।[4] १७ वीं सदी में मशीनों का जो इक्का-दुक्का इस्तेमाल होने लगा, उसका बहुत ही भारी महत्व था, क्योंकि उससे उस काल के महान गणितज्ञों को यांत्रिकी के विज्ञान के सृजन की प्रेरणा एवं व्यावहारिक आधार प्राप्त हुए थे।

तफ़सीली काम करने वाले अनेक मज़दूरों के योग से जो सामूहिक मज़दूर तैयार होता

---

[1] इसके उदाहरण डब्लयू० पेटी, जान बैलेर्स तथा एण्ड्रयू यारण्टन की रचनाओं में, "*The Advantages of the East India Trade*" ('ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ') में, और यदि अन्य लोगों का ज़िक्र न भी किया जाये, तो जे० वैण्डरलिण्ट की रचना में देखे जा सकते हैं।

[2] १६ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में भी फ़्रांस में खनिज को कूटने और धोने के लिये खरल और छलनी इस्तेमाल की जाती थी।

[3] आटा पीसने की मिल के इतिहास में मशीनों के विकास के पूरे इतिहास की रूपरेखा मिल जाती है। इंगलैण्ड में फ़ैक्टरी आज भी "mill" ("चक्की") कहलाती है। वर्तमान शताब्दी के पहले दशक की जर्मन भाषा की प्रौद्योगिक पुस्तकों में न केवल प्रकृति की शक्तियों से चलने वाली तमाम मशीनों के लिये, बल्कि उन तमाम हस्तनिर्माणशालाओं के लिये भी, जिनमें मशीनों के ढंग के यंत्र इस्तेमाल किये जाते हैं, "mühle" ("चक्की") शब्द का प्रयोग किया जाता था।

[4] जैसा कि इस रचना की चौथी पुस्तक में हमें और विस्तार के साथ मालूम होगा, श्रम-विभाजन के विषय में ऐडम स्मिथ ने कोई भी नयी प्रस्थापना पेश नहीं की है। परन्तु जो बात उनको हस्तनिर्माण के युग का सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री बना देती है, वह यह है कि वह श्रम-विभाजन पर निरन्तर ज़ोर देते रहते हैं। मशीनों के लिये उन्होंने जो गौण भूमिका नियत की है, उसके कारण मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योग के शुरू के दिनों में लौडेरडेल और बाद के एक काल में उरे को उनका खण्डन करने का अवसर मिला। ऐडम स्मिथ ने यह ग़लती भी की है कि श्रम के औज़ारों के उस भेदकरण को, जिसमें ख़ुद तफ़सीली काम करने वाले मज़दूर भी सक्रिय भाग लेते हैं, उन्होंने मशीनों के आविष्कार के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया है, जब कि असल में मशीनों के आविष्कार में हस्तनिर्माणशालाओं के मज़दूर भाग नहीं लेते, बल्कि विद्वान लोग, दस्तकार और यहां तक कि किसान (ब्रिण्डले) भाग लेते हैं।

है; वह एक ऐसा यंत्र है, जो हस्तनिर्माण के काल की एक ख़ास विशेषता है। किसी माल का उत्पादक बारी-बारी से जो विविध प्रकार की क्रियाएं सम्पन्न करता है और जो उत्पादन के दौरान में एक दूसरे में मिलकर एक हो जाती हैं, वे उत्पादक से अनेक तरह की मांगें करती हैं। एक क्रिया में उसे अधिक शक्ति ख़र्च करनी पड़ती है, दूसरी में अधिक निपुणता की आवश्यकता होती है और किसी अन्य क्रिया में उसे अधिक ध्यान से काम करना पड़ता है। और किसी एक व्यक्ति में ये सारे गुण समान मात्रा में नहीं होते। जब हस्तनिर्माण एक बार विभिन्न क्रियाओं को अलग करके एक दूसरे से स्वतंत्र एवं पृथक कर देता है, तो मजदूर भी अपने सबसे प्रमुख गुणों के आधार पर अलग-अलग क़िस्मों और दलों में बांट दिये जाते हैं। अब यदि एक ओर उनके स्वाभाविक गुणों से वह बुनियाद तैयार होती है, जिसपर श्रम का विभाजन खड़ा किया जाता है, तो, दूसरी ओर, जब हस्तनिर्माण एक बार शुरू हो जाता है, तो वह ख़ुद मजदूरों में कुछ ऐसी नयी शक्तियों को विकसित कर देता है, जो अपने स्वभाव से ही केवल कुछ सीमित और ख़ास ढंग के कामों के लिये उपयुक्त होती हैं। अब सामूहिक मजदूर के पास वे सारे गुण समान रूप से श्रेष्ठतम मात्रा में मौजूद होते हैं, जिनकी उत्पादन के लिये आवश्यकता है, और वह अपनी इन्द्रियों से, यानी विशिष्ट मजदूरों अथवा मजदूरों के विशिष्ट दलों से, केवल उनके ख़ास काम कराके इन तमाम को अधिक से अधिक मित-व्ययिता के साथ ख़र्च करता है।[1] तफ़सीली काम करने वाले मजदूर जब किसी सामूहिक मजदूर का भाग हो जाता है, तो उसका एकांगीपन और उसके दोष उसके गुण बन जाते हैं।[2] केवल एक ही चीज़ करने की आदत उसे एक ऐसे औज़ार में बदल देती है, जो कभी ख़ता नहीं खाता, और पूरे यंत्र के साथ उसका जो सम्बंध होता है, वह उसे मशीन के पुर्ज़ों की नियमितता के साथ काम करने के लिये विवश कर देता है।[3]

सामूहिक मजदूर को चूंकि सरल और जटिल, भारी और हल्के, दोनों प्रकार के काम करने होते हैं, इसलिये उसकी इन्द्रियों में, उसकी वैयक्तिक श्रम-शक्तियों में, अलग-अलग

---

[1] "कारख़ानेदार काम को अलग-अलग क्रियाओं में बांट देता है, जिनमें से हरेक के लिये अलग-अलग मात्रा में निपुणता की या शक्ति की आवश्यकता होती है। और तब वह निपुणता तथा शक्ति दोनों की ठीक वह मात्रा ख़रीद सकता है, जिसकी प्रत्येक क्रिया के लिये आवश्यकता है। इसके मुक़ाबले में, यदि पूरा काम एक मजदूर को करना पड़े, तो उस एक व्यक्ति में इतनी निपुणता होनी चाहिये कि वह इस वस्तु का उत्पादन जिन क्रियाओं में बंटा हुआ है, उनमें से सबसे अधिक जटिल क्रिया को कर सके, और इतना बल होना चाहिये कि वह उनमें से सबसे अधिक श्रमसाध्य क्रिया को भी सम्पन्न कर सके।" (Ch. Babbage, उप॰ पु॰, अध्याय १६।)

[2] उदाहरण के लिये, अक्सर मजदूरों की किन्हीं ख़ास मांस-पेशियों का असाधारण विकास हो जाता है, हड्डियां मुड़ जाती हैं, इत्यादि।

[3] एक जांच-कमिश्नर ने यह प्रश्न पूछा था कि नौजवानों को किस तरह बराबर काम में लगाकर रखा जाता है। कांच की एक हस्तनिर्माणशाला के जनरल मैनेजर मि॰ विलियम मार्शल ने इसका यह बिल्कुल सही उत्तर दिया था कि "वे अपने काम के प्रति लापरवाही नहीं दिखा सकते। एक बार काम शुरू कर देने के बाद उनको बराबर काम करते रहना पड़ता है। वे तो बिल्कुल मशीन के पुर्ज़ों की तरह होते हैं।" (*"Children's Empl. Comm*, 4th Rep., 1865" ['बाल-सेवायोजन आयोग, चौथी रिपोर्ट, १८६५'], पृ॰ २४७।)

मूल्य होना चाहिये। अतएव, हस्तनिर्माण में श्रम-शक्तियों का एक श्रेणी-क्रम विकसित हो जाता है, जिसके अनुरूप मजदूरियों का भी एक क्रम होता है। यदि, एक ओर, अलग-अलग मजदूर पूरे जीवन के लिये एक सीमित ढंग के काम के लिये वक़्फ़ हो जाते हैं, तो, दूसरी ओर, श्रेणी-क्रम की अलग-अलग क्रियाएं मजदूरों की स्वाभाविक तथा उपार्जित, दोनों प्रकार की क्षमताओं के अनुसार उनमें बांट दी जाती हैं।[1] किन्तु उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में कुछ ऐसे सरल काम भी होते हैं, जिनको करने की क्षमता हर आदमी में होती है। पर अब इन कामों का भी क्रियाशीलता के अपेक्षाकृत अधिक सारगर्भित क्षणों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वे खास तौर पर नियुक्त किये गये मजदूरों के विशिष्ट काम बनकर रह जाते हैं। इसलिये हस्तनिर्माण जिस दस्तकारी पर भी अधिकार कर लेता है, उसी में वह तथाकथित अनिपुण मजदूरों का एक वर्ग पैदा कर देता है, जब कि दस्तकारी में इस वर्ग के लिये कभी कोई स्थान नहीं होता था। यदि हस्तनिर्माण आदमी की सम्पूर्ण कार्य-शक्ति को खतम करके उसकी एकांगी विशेषता को पूर्णतया विकसित कर देता है, तो उसके साथ-साथ वह सभी प्रकार के विकास के अभाव को भी एक विशेषता में परिणत करना आरम्भ कर देता है। मजदूरों के श्रेणी-क्रम के साथ-साथ निपुण तथा अनिपुण मजदूरों का यह सरल विभाजन भी सामने आता है। अनिपुण मजदूरों के लिये काम सीखने के काल के खर्च की जरूरत नहीं रहती; निपुण मजदूरों के लिये दस्तकारों की तुलना में यह खर्चा कम हो जाता है, क्योंकि उनके काम पहले से अधिक सरल हो जाते हैं। दोनों सूरतों में श्रम-शक्ति का मूल्य गिर जाता है।[2] जब कभी श्रम-क्रिया के विच्छेदन के फलस्वरूप ऐसे नये और व्यापक काम पैदा हो जाते हैं, जिनका दस्तकारियों में या तो कोई स्थान नहीं था या था, तो बहुत कम, तब यह नियम लागू नहीं होता। काम को सीखने की अवधि का खर्चा कम हो जाने या बिलकुल ग़ायब हो जाने से श्रम-शक्ति के मूल्य में जो गिराव आता है, उसका मतलब यह होता है कि पूंजी के हित में अतिरिक्त मूल्य

---

[1] डा० उरे ने अपनी जिस रचना में मशीनों से चलने वाले उद्योग को ईश्वरीय चमत्कार के पद पर आसीन कर दिया है, उसमें उन्होंने हस्तनिर्माण के विशिष्ट स्वरूप की ओर निर्देश करने में अपने से पहले के अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा, जिनकी इस विषय का खण्डन-मण्डन करने में डा० उरे जैसी रुचि नहीं थी, अधिक कुशाग्रता का परिचय दिया है और यहां तक कि अपने समकालीन अर्थशास्त्रियों से भी अधिक कुशाग्रता दिखायी है। उदाहरण के लिये बैबेज को ही लीजिये, जो गणितज्ञ तथा यांत्रिकी-विज्ञान के विद्वान के रूप में उरे से श्रेष्ठ हैं, पर जिन्होंने मशीनों से चलने वाले उद्योग की विवेचना केवल हस्तनिर्माण की दृष्टि से की है। उरे ने लिखा है: "प्रत्येक प्रकार के श्रम को समुचित मूल्य तथा लागत का एक मजदूर स्वाभाविक ढंग से मिल जाता है। यह चीज़ श्रम-विभाजन का सार-तत्व है।" दूसरी ओर, उरे ने इस विभाजन को "मनुष्यों की अलग-अलग ढंग की योग्यताओं के अनुरूप श्रम का अनुकूलन" कहा है और अन्त में उन्होंने पूरी हस्तनिर्माण-प्रणाली का "श्रम के विभाजन अथवा क्रम-स्थापन की प्रणाली" तथा "निपुणता की अलग-अलग मात्राओं में श्रम के विभाजन" इत्यादि के रूप में वर्णन किया है। (Ure, उप० पु०, पृ० १९-२३, विभिन्न स्थानों पर।)

[2] "हर दस्तकार क्योंकि ... अब एक काम में अभ्यास द्वारा पारंगत बन सकता है, इसलिये ... वह पहले से सस्ता मजदूर हो जाता है।" (Ure, उप० पु०, पृ० १९।)

सीधे तौर पर उतना ही बढ़ जाता है। कारण कि हर वह चीज़, जो श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल को छोटा कर देती है, वह अतिरिक्त श्रम के क्षेत्र को विस्तृत कर देती है।

## अनुभाग ४ – हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन और समाज में श्रम-विभाजन

हमने पहले हस्तनिर्माण की उत्पत्ति पर विचार किया, फिर उसके सरल तत्वों पर – तफ़सीली काम करने वाले मजदूर तथा उसके औज़ारों पर – और अन्त में इस यंत्र के सम्पूर्ण स्वरूप पर। अब हम थोड़ा इस विषय पर विचार करेंगे कि हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन और उस सामाजिक श्रम-विभाजन के बीच क्या सम्बंध है, जो मालों की सभी प्रकार की उत्पादन-व्यवस्थाओं का आधार होता है।

यदि हम केवल श्रम की ओर ही ध्यान दें, तो जब सामाजिक उत्पादन को उसके मुख्य भागों में, अथवा प्रजातियों में, जैसे कि खेती, उद्योगों आदि में बांट दिया जाता है, तब हम उसे सामान्य श्रम-विभाजन कह सकते हैं; और जब ये प्रजातियां जातियों तथा उप-जातियों में बांट दी जाती हैं, तब हम उसे विशिष्ट श्रम-विभाजन कह सकते हैं; और वर्कशाप के भीतर जो श्रम-विभाजन होता है, उसे हम व्यष्टिगत या तफ़सीली श्रम-विभाजन कह सकते हैं।[1]

[1] "श्रम-विभाजन अत्यधिक भिन्न प्रकार के धंधों को अलग करने के रूप में आरम्भ होता है और उस विभाजन तक बढ़ता चला जाता है, जिसमें कई मजदूर एक ही पैदावार की तैयारी के काम को आपस में बांट लेते हैं, जैसा कि हस्तनिर्माण में होता है।" (Storch, "*Cours d'Econ., Pol.*", पेरिस संस्करण, ग्रंथ १, पृ० १७३।) "Nous rencontrons chez les peuples parvenus à un certain degré de civilisation trois genres de divisions d'industrie: la première, que nous nommerons générale, amène la distinction des producteurs en agriculteurs, manufacturiers et commerçants, elle se rapporte aux trois principales branches d'industrie nationale; la seconde, qu'on pourrait appeler spéciale, est la division de chaque genre d'industrie en espèces ... la troisième division d'industrie, celle enfin qu'on devrait qualifier de division de la besogne ou de travail proprement dit, est celle qui s'établit dans les arts et les métiers séparés ... qui s'établit dans la plupart des manufactures et des ateliers." ["जो क़ौमें सभ्यता की एक ख़ास मंज़िल तक पहुंच गयी हैं, उनके यहां हमें श्रम का तीन प्रकार का विभाजन मिलता है। पहला वह, जिसे हम सामान्य विभाजन कहेंगे और जिसमें खेती, उद्योग और व्यापार सम्बन्धी उत्पादकों के बीच भेद किया जाता है, जो कि राष्ट्रीय उत्पादन की तीन प्रमुख शाखायें हैं। दूसरा वह, जिसे विशिष्ट विभाजन कहा जा सकता है और जिसमें प्रत्येक प्रकार का श्रम अपनी जातियों में बांट दिया जाता है... और, अन्त में, श्रम का तीसरा विभाजन वह, जिसे सचमुच धंधों का अथवा कामों का विभाजन कहा जा सकता है और जो विभाजन अलग-अलग कलाओं या धंधों के भीतर होता है... तथा जो अधिकतर हस्तनिर्माणशालाओं और वर्कशापों के भीतर पाया जाता है।"] (Skarbeck, उप० पु०, पृ० ८४, ८५।)

समाज में जो श्रम-विभाजन होता है और उसके अनुरूप अलग-अलग व्यक्ति जिस प्रकार एक ख़ास धंधे से बंध जाते हैं, वह ठीक हस्तनिर्माण की तरह दो विरोधी प्रस्थान-बिन्दुओं से विकसित होता है। परिवार के भीतर[1] – और कुछ और विकास होने के बाद क़बीले के भीतर – लिंग और आयु के भेदों के कारण एक प्रकार का श्रम-विभाजन स्वाभाविक ढंग से पैदा हो जाता है, और इसलिए यह श्रम-विभाजन विशुद्ध देहव्यापारिक कारणों पर आधारित होता है। समुदाय का विस्तार होने, आबादी के बढ़ने और ख़ास तौर से विभिन्न क़बीलों के बीच झगड़े होने तथा एक क़बीले के दूसरे क़बीले के द्वारा जीत लिये जाने पर इस विभाजन की सामग्री भी बढ़ जाती है। दूसरी ओर, जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं, जहां-जहां विभिन्न परिवार, क़बीले तथा समुदाय एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, उन बिंदुओं पर पैदावारों का विनिमय आरम्भ हो जाता है। कारण कि सभ्यता के आरम्भ में अलग-अलग व्यक्ति नहीं, बल्कि परिवार, क़बीले आदि स्वतंत्र हैसियत के साथ एक दूसरे से मिलते थे। अलग-अलग समुदायों को अपने प्राकृतिक वातावरण में अलग-अलग प्रकार के उत्पादन के और जीविका के साधन मिलते हैं। इसलिए उनकी उत्पादन की प्रणालियां, रहन-सहन की प्रणालियां और उनकी पैदावार भी अलग-अलग ढंग की होती हैं। जब विभिन्न समुदायों का एक दूसरे से सम्पर्क क़ायम होता है, तब इस स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित भेद के कारण ही उनके बीच पैदावारों का पारस्परिक विनिमय होने लगता है और तब पैदावार की ये वस्तुएं धीरे-धीरे मालों में बदल जाती हैं। विनिमय ख़ुद उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों के बीच कोई भेद पैदा नहीं करता, बल्कि जो भेद पहले से मौजूद होते हैं, वह उनके बीच बस एक सम्बंध स्थापित कर देता है और इस तरह उनको एक परिवर्द्धित समाज के सामूहिक उत्पादन की न्यूनाधिक अन्योन्याश्रित शाखाओं में बदल देता है। परिवर्द्धित समाज में सामाजिक श्रम-विभाजन उत्पादन के उन अलग-अलग क्षेत्रों के बीच होने वाले विनिमय से पैदा होता है, जो मूलतया एक दूसरे से पृथक और स्वतंत्र होते हैं। परन्तु परिवार या क़बीले में, जहां प्रस्थान-बिंदु देहव्यापारीय श्रम-विभाजन है, प्रधानतया दूसरे समुदायों के साथ मालों का विनिमय होने के कारण एक गंठी हुई इकाई की विशिष्ट इन्द्रियां ढीली पड़ जाती हैं, टूटकर अलग हो जाती हैं और अन्त में एक दूसरे से इतनी पृथक हो जाती हैं कि विभिन्न प्रकार के कामों के बीच केवल मालों के रूप में उनकी पैदावारों के विनिमय का ही एकमात्र नाता रह जाता है। एक जगह जो पहले स्वावलम्बी था, उसे अवलम्बी बना दिया जाता है; दूसरी जगह जो पहले अवलम्बी था, उसे स्वावलम्बी कर दिया जाता है।

ऐसे प्रत्येक श्रम-विभाजन का आधार, जो अच्छी तरह विकसित हो चुका है और जो मालों के विनिमय के कारण अस्तित्व में आया है, शहर और देहात का अलगाव होता

[1] तीसरे संस्करण का फ़ुटनोट: बाद को मनुष्य की आदिम-कालीन अवस्था का बहुत गहरा अध्ययन करने के बाद लेखक इस नतीजे पर पहुंचा कि असल में परिवार ने विकसित होकर क़बीले का रूप नहीं धारण किया था, बल्कि, इसके विपरीत, क़बीला ही मानव-समुदाय का आदिम एवं स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित रूप था, जिसका आधार रक्त-सम्बंध था, और जब क़बीले के सूत्र पहले-पहल ढीले पड़ने शुरू हुए, तब उसी में से परिवार के विविध प्रकार के अनेक रूप निकले थे। – फ़्रे० एं०

है।[1] यह तक कहा जा सकता है कि समाज के पूरे आर्थिक इतिहास का सारांश इस विरोध की प्रगति में निहित है। लेकिन फ़िलहाल हम इस विषय की चर्चा न करके आगे बढ़ते हैं।

जिस तरह हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन के अस्तित्व में आने के लिए यह भौतिक शर्त आवश्यक होती है कि एक ख़ास संख्या में मज़दूरों से एक साथ काम लिया जाये, उसी तरह समाज में श्रम-विभाजन के अस्तित्व में आने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जन-संख्या काफ़ी बड़ी और काफ़ी घनी हो। कारण कि यहां पर आबादी की संख्या और घनत्व वही काम करते हैं, जो वर्कशाप में मज़दूरों का एक ख़ास संख्या में इकट्ठा होना।[2] फिर भी यह घनत्व न्यूनाधिक सापेक्ष ही होता है। यदि अपेक्षाकृत हल्की आबादी वाले किसी देश में संचार के साधन खूब विकसित हैं और किसी दूसरे देश में अपेक्षाकृत अधिक आबादी के होते हुए भी यदि संचार के साधन कम विकसित हैं, तो पहले प्रकार के देश में अधिक घनी आबादी समझी जायेगी, और इस अर्थ में, मिसाल के लिए अमरीकी संघ के उत्तरी राज्यों की आबादी हिन्दुस्तान की आबादी से अधिक घनी है।[3]

चूंकि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के अस्तित्व में आने के पहले यह आवश्यक है कि मालों का उत्पादन और परिचलन जारी हो गया हो, इसलिए हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन होने के पहले यह ज़रूरी है कि समाज में साधारण रूप से श्रम-विभाजन पहले ही विकास के एक ख़ास स्तर पर पहुंच चुका हो। उसकी उल्टी बात को यदि लिया जाये, तो हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन की समाज में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन पर प्रतिक्रिया होती है; उसके फलस्वरूप वह विकास करता है और उसका गुणन होता है। साथ ही, श्रम के औज़ारों के भेदकरण के साथ-साथ इन औज़ारों को तैयार करने वाले उद्योगों का भेदकरण भी

---

[1] सर जेम्स स्टीवर्ट ही ऐसे अर्थशास्त्री हैं, जिन्होंने इस विषय का सबसे अच्छा विवेचन किया है। उनकी पुस्तक का, जो "*Wealth of Nations*" ('राष्ट्रों का धन') के दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी, आज भी लोगों को कितना कम ज्ञान है, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि माल्थूस के प्रशंसकों को यह भी मालूम नहीं कि जन-संख्या के बारे में माल्थूस की पुस्तक में, उसके विशुद्ध आलंकारिक भाग को छोड़कर, स्टीवर्ट की रचना के उद्धरणों तथा उससे कुछ कम मात्रा में वैलेस तथा टाउनसेण्ड की रचनाओं के उद्धरणों के सिवा और कुछ नहीं है।

[2] "जन-संख्या के घनत्व की एक ऐसी ख़ास मात्रा सामाजिक आदान-प्रदान के लिए तथा साथ ही शक्तियों के उस योग के लिए भी उपयुक्त होती है, जिसके द्वारा श्रम की उपज बढ़ा दी जाती है।" (James Mill, उप० पु०, पृ० ५०।) "जैसे-जैसे मज़दूरों की संख्या बढ़ती है, वैसे-वैसे समाज की उत्पादक शक्ति भी इस वृद्धि के मिश्र अनुपात में बढ़ती जाती है; क्योंकि वह श्रम-विभाजन के प्रभाव से गुणित हो जाती है।" (Th. Hodgskin, उप० पु०, पृ० १२५–१२६।)

[3] १८६१ के बाद कपास की मांग बहुत बढ़ जाने के फलस्वरूप हिन्दुस्तान के कुछ घनी आबादी वाले इलाक़ों में चावल की खेती को कम करके कपास की पैदावार बढ़ायी गयी। उसका नतीजा यह हुआ कि विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय ढंग के अकाल पड़ने लगे, क्योंकि संचार के साधनों के दोषपूर्ण होने के कारण एक इलाक़े में चावल की कमी होने पर दूसरे इलाक़े से चावल मंगाना सम्भव नहीं हुआ।

अधिकाधिक बढ़ता जाता है।[1] यदि किसी ऐसे उद्योग पर, जो पहले अन्य उद्योगों के साथ सम्बंधित अवस्था में – या तो एक प्रमुख या एक गौण उद्योग के रूप में – किसी एक उत्पादक के द्वारा चलाया जाता था, हस्तनिर्माण-प्रणाली का अधिकार हो जाता है, तो इन उद्योगों का पारस्परिक सम्बंध तत्काल ही टूट जाता है और वे एक दूसरे से स्वतंत्र हो जाते हैं। यदि यह प्रणाली किसी माल के उत्पादन की किसी एक ख़ास अवस्था पर अधिकार कर लेती है, तो उसके उत्पादन की बाक़ी अवस्थाएं स्वतंत्र उद्योगों में बदल जाती हैं। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि जहां तैयार वस्तु महज़ आपस में जोड़ दिये गये कई-एक भागों की बनी होती है, वहां पर तफ़सीली काम ख़ुद पुनः सचमुच अलग-अलग दस्तकारियों का रूप धारण कर सकते हैं। हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन को और अच्छी तरह कार्यान्वित करने के लिए उत्पादन की कोई एक शाखा उसके कच्चे माल के विभिन्न प्रकारों के अनुसार अथवा एक ही कच्चे माल द्वारा धारण किये गये विभिन्न रूपों के अनुसार बहुत से और कुछ हद तक तो सर्वथा नये हस्तनिर्माणों में बांट दी जाती है। चुनांचे, अकेले फ़्रांस में १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में १०० अलग-अलग प्रकार के रेशमी कपड़े बुने जाते थे, और एविग्नौन में तो यह क़ानून लागू था कि "हर शागिर्द को केवल एक क़िस्म का कपड़ा तैयार करना सीखना चाहिए और उसे एक साथ कई क़िस्म के कपड़े तैयार करना नहीं सीखना चाहिए।" श्रम के क्षेत्रीय विभाजन को, जो उत्पादन की कुछ ख़ास शाखाओं को देश के कुछ ख़ास ज़िलों तक सीमित कर देता है, हस्तनिर्माण की प्रणाली से नया प्रोत्साहन प्राप्त होता है, क्योंकि यह प्रणाली हर प्रकार की विशेष सुविधा से लाभ उठाती है।[2] हस्तनिर्माण के युग के लिए जिन सामान्य परिस्थितियों का होना आवश्यक है, उनमें औपनिवेशिक व्यवस्था तथा दुनिया की मण्डियों का खुल जाना भी शामिल हैं, और इन दोनों ही बातों से समाज में श्रम-विभाजन के विकास को बहुत मदद मिलती है। यहां हम इस बात पर पूरी तरह विचार नहीं कर सकते कि श्रम-विभाजन किस प्रकार न केवल आर्थिक क्षेत्र पर, बल्कि समाज के अन्य तमाम क्षेत्रों पर भी अधिकार कर लेता है और हर जगह वह किस तरह आदमियों को छांटने और उनका विशिष्टीकरण करने और मनुष्य की अन्य तमाम क्षमताओं को नष्ट करके उसकी केवल एक क्षमता का विकास करने की सर्वग्राही प्रणाली की नींव डालता है, जिसे देखकर ही ऐडम स्मिथ के गुरु ए० फ़र्गुसन ने यह कहा था कि "हमारी क़ौम गुलामों की क़ौम बन गयी है, और हमारे यहां कोई स्वतंत्र नागरिक नहीं है।"[3]

---

[1] चुनांचे बुनकरों की ढरकियां बनाना १७ वीं सदी में ही हालैण्ड के उद्योग की एक विशेष शाखा बन गया था।

[2] "क्या इंगलैण्ड का ऊनी हस्तनिर्माण कई-एक ऐसे हिस्सों या शाखाओं में नहीं बंट गया है, जिनपर उन ख़ास स्थानों का अधिकार हो गया है, जहां केवल अथवा मुख्यतया उसी प्रकार का सामान तैयार होता है, जैसे सोमरसेटशायर में महीन कपड़े, योर्कशायर में मोटा कपड़ा, एकसटर में लम्बा कपड़ा, सडबरी में स्वा नामक कपड़ा, नौरविक में क्रेप, केण्डल में सूत के ताने और ऊन के बाने का कपड़ा, व्हिटनी में कम्बल और उसी तरह अन्य प्रकार के कपड़े अन्य स्थानों में तैयार होते हैं।" (Berkeley, "*The Querist*" [बर्कले, 'प्रश्नकर्ता'], 1750, पैराग्राफ़ ५२०।)

[3] A. Ferguson, "*History of Civil Society*" (ए० फ़र्गुसन, 'सभ्य समाज का इतिहास'), Edinburgh, 1767, भाग ४, अनुभाग २, पृ० २८५।

लेकिन, समाज में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन और एक वर्कशाप के भीतर पाये जाने वाले श्रम-विभाजन के बीच जो बहुत सी समानताएं और सम्बंध दिखाई देते हैं, उन सब के बावजूद ये दोनों न केवल मात्रा में, बल्कि मूल प्रकृति में भी भिन्न होते हैं। दोनों का सादृश्य सबसे अधिक निर्विवाद रूप में वहां सामने आता है, जहां व्यवसाय की विभिन्न शाखाएं एक अदृश्य सम्बंध से जुड़ी होती हैं। उदाहरण के लिए, ढोर पालने वाला खालें तैयार करता है, चमड़ा पकाने वाला खालों से चमड़ा तैयार करता है और मोची चमड़े के जूते बनाता है। यहां पर प्रत्येक जो वस्तु तैयार करता है, उसे बनाकर वह केवल उसके अन्तिम रूप की ओर एक क़दम उठाता है, और यह अन्तिम रूप सब के संयुक्त श्रम की पैदावार होता है। इसके अलावा, वे तमाम उद्योग भी हैं, जो ढोर पालने वाले, चमड़ा पकाने वाले और मोची को उत्पादन के साधन उपलब्ध कराते हैं। अब ऐडम स्मिथ की तरह हम भी बड़ी आसानी से यह कल्पना कर सकते हैं कि उपर्युक्त सामाजिक श्रम-विभाजन और हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन का अन्तर केवल एक मनोगत अन्तर है, जिसका अस्तित्व केवल दर्शक के लिए ही है। हस्तनिर्माण में दर्शक एक दृष्टि में तमाम क्रियाओं को एक ही स्थान में सम्पन्न होते हुए देख सकता है, जब कि ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें काम चूंकि बहुत लम्बे-चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ होता है और श्रम की प्रत्येक शाखा में चूंकि लोगों की एक बड़ी संख्या काम करती है, इसलिए इन शाखाओं का सम्बंध आंखों से ओझल हो जाता है।[1] लेकिन ढोर पालने वाले, चमड़ा पकाने वाले और मोची के स्वतंत्र श्रमों को जोड़ने वाली क्या चीज़ है? वह यह तथ्य है कि इन सब की अलग-अलग पैदावार माल होती है। दूसरी ओर, हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन का ख़ास लक्षण बनने वाली क्या चीज़ होती है? यह तथ्य कि तफ़सीली काम करने वाला मज़दूर कोई माल तैयार नहीं करता।[2] तफ़सीली काम

[1] ऐडम स्मिथ ने कहा है कि जिसे सचमुच हस्तनिर्माण कहा जा सकता है, उसमें इसलिए अधिक श्रम-विभाजन मालूम पड़ता है कि "जो लोग काम की अलग-अलग शाखाओं में नौकर रखे जाते हैं, वे अक्सर एक ही वर्कशाप में इकट्ठा किये जा सकते हैं और तुरन्त दर्शक की निगाह के सामने लाये जा सकते हैं। इसके विपरीत, उन बड़े-बड़े हस्तनिर्माणों में(!), जिनको अधिकतर लोगों की अधिकतर आवश्यकताओं को पूरा करना है, काम की प्रत्येक अलग-अलग शाखा में इतनी बड़ी संख्या में मज़दूरों को नौकर रखा जाता है कि उन सब को एक वर्कशाप में इकट्ठा करना असम्भव होता है... इनमें विभाजन इतना स्पष्ट नहीं होता।" (A. Smith, "*Wealth of Nations*" [ऐ० स्मिथ, 'राष्ट्रों का धन'], पुस्तक १, अध्याय १।) इसी अध्याय का वह प्रसिद्ध अंश, जो इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है कि "किसी सभ्य तथा समृद्ध देश में किसी अत्यन्त साधारण कारीगर या दिन-मजदूर के निवास-स्थान को देखिये", इत्यादि, और जिसमें आगे चलकर यह वर्णन मिलता है कि एक साधारण मजदूर की आवश्यकताओं को पूरा करने में विभिन्न प्रकार के कितने अधिक उद्योग भाग लेते हैं,—यह पूरा अंश लगभग शब्दशः बी० दे मैंदेवील की रचना "*Fable of the Bees, or Private Vices, Public Benefits*" ('मधु-मक्खियों की उपकथा, अथवा निजी व्यसन, सार्वजनिक लाभ') में उनकी "टिप्पणियों" से लिया गया है (पहला संस्करण, बिना टिप्पणियों के, १७०६; टिप्पणियों सहित, १७१४)।

[2] "अब कोई ऐसी चीज़ नहीं रह जाती, जिसे हम व्यक्तिगत श्रम का स्वाभाविक पुरस्कार कह सकें। अब तो प्रत्येक मज़दूर एक पूरी इकाई का कोई न कोई भाग पैदा करता है, और

करने वाले सभी मजदूरों की संयुक्त पैदावार ही माल होती है।[1] समाज में श्रम-विभाजन उद्योग की अलग-अलग शाखाओं की पैदावार की खरीद और बिक्री के फलस्वरूप शुरू होता है, जब कि एक वर्कशाप के भीतर तरह-तरह के तफ़सीली कामों के बीच पाया जाने वाला सम्बंध इस कारण होता है कि कई मजदूरों ने अपनी श्रम-शक्ति एक पूंजीपति के हाथ बेच दी है, जो उसका एक संयुक्त श्रम-शक्ति के रूप में प्रयोग कर रहा है। वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन का मतलब यह होता है कि उत्पादन के साधनों का एक पूंजीपति के हाथों में केन्द्रीकरण हो गया है; समाज में श्रम-विभाजन का मतलब यह होता है कि उत्पादन के साधन मालों के बहुत से स्वतंत्र उत्पादकों के बीच बिखर गये हैं। जहां वर्कशाप के भीतर सानुपातितता का लौह नियम मजदूरों की एक निश्चित संख्या को कुछ निश्चित कामों के आधीन बना देता है, वहां वर्कशाप के बाहर, समाज में, उत्पादकों तथा उनके उत्पादन के साधनों को उद्योग की विभिन्न शाखाओं के बीच बांटने के मामले में संयोग और मनमानी का राज रहता है। यह सच है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में निरन्तर एक संतुलन पर पहुंचने की प्रवृत्ति होती है। कारण कि एक ओर तो जहां किसी भी माल के प्रत्येक उत्पादक को किसी सामाजिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कोई उपयोग-मूल्य पैदा करना पड़ता है,—और इन आवश्यकताओं के विस्तार में परिमाणात्मक दृष्टि से अन्तर होते हुए भी उनके बीच एक अन्दरूनी सम्बंध होता है, जो उनके अनुपातों को एक नियमित व्यवस्था का रूप दे देता है, तथा यह व्यवस्था

---

प्रत्येक भाग का चूंकि अपने में कोई मूल्य अथवा उपयोगिता नहीं होती, इसलिए ऐसी कोई चीज नहीं होती, जिसे पकड़कर मजदूर यह कह सके कि "यह मेरी पैदावार है, इसे मैं अपने पास रखूंगा।" (*"Labour Defended against the Claims of Capital"* ['पूंजी के दावों के मुक़ाबले में श्रम का समर्थन'], London, 1825, पृ० २५।) इस प्रशंसनीय रचना के लेखक टोमस होजस्किन हैं। मैं उनको पहले भी उद्धृत कर चुका हूं।

[1] समाज में और हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन का यह भेद व्यावहारिक रूप में यांकियों के सामने प्रकट हुआ था। गृह-युद्ध के काल में वाशिंग्टन में जिन नये करों को सोचकर निकाला गया था, उनमें से एक "सभी औद्योगिक पैदावारों पर" लगने वाली ६ प्रतिशत की चुंगी थी। सवाल पैदा हुआ कि औद्योगिक पैदावार क्या है? विधान-सभा ने जवाब दिया: पैदा चीज तब होती है, "जब वह बनायी जाती है" ("when it is made"), और चीज बनती उस वक़्त है, जब वह बिक्री के लिए तैयार हो जाती है। अब बहुत सी मिसालों में से एक को लीजिये। इसके पहले न्यू-यार्क और फ़िलेडेलफ़िया के कारख़ानेदारों को छतरियों को मय उनके तमाम सामान के "बनाने" की आदत थी। लेकिन छतरी चूंकि विविध भागों से मिल-जुलकर बनी एक वस्तु (mixtum compositum) है, इसलिए धीरे-धीरे ये भाग ख़ुद अलग-अलग स्थानों में स्वतंत्र रूप से संचालित अनेक उद्योगों की पैदावार बन गये। छतरियों की हस्तनिर्माणशाला में ये भाग अलग-अलग मालों के रूप में प्रवेश करते थे, और वहां उन्हें एक में जोड़ दिया जाता था। इस तरह जोड़ी गयी वस्तुओं को यांकियों ने "assembled articles" ("समन्वायोजित वस्तुओं") का नाम दिया है, जो नाम उनके सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि उनके रूप में "करों का समन्वायोजन" (an assemblage of taxes) कर दिया जाता है। इस प्रकार, छतरी पहले अपने प्रत्येक अंश पर और फिर ख़ुद अपने पूरे दाम पर ६ प्रतिशत की चुंगी का "समन्वायोजन" करती है।

स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित होती है, – और, दूसरी ओर, अन्त में मालों के मूल्य का नियम यह तै करता है कि समाज काम का कुल जितना समय ख़र्च कर सकता है, मालों के प्रत्येक विशिष्ट वर्ग पर वह उसका कितना भाग ख़र्च करेगा। लेकिन उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों की संतुलन पर पहुंचने की यह अनवरत प्रवृत्ति केवल संतुलन के लगातार बिगड़ते रहने के कारण प्रतिक्रिया के रूप में ही अमल में आती है। वर्कशाप के भीतर जिस निगम्य (a priori) अथवा तर्कगम्य प्रणाली के आधार पर श्रम-विभाजन नियमित रूप से कार्यान्वित होता है, वह समाज के श्रम-विभाजन में एक अनुभवगम्य (a posteriori) अथवा उद्गम्य आवश्यकता, प्रकृति द्वारा अनिवार्य बना दी गयी आवश्यकता, बन जाती है, जो उत्पादकों की नियम-विहीन मनमानी को नियंत्रण में रखती है और मण्डी के भावों के बैरोमीटर के उतार-चढ़ाव में देखी जा सकती है। वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन का मतलब मजदूरों पर पूंजीपति का निर्विवाद अधिकार होता है, और वे एक ऐसे यंत्र के पुर्जे भर होते हैं, जो पूंजीपति के स्वामित्व में है। समाज का श्रम-विभाजन मालों के उन स्वतंत्र उत्पादकों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाता है, जो प्रतियोगिता के सिवा और किसी का प्राधिकार नहीं मानते; जो केवल अपने पारस्परिक हितों के दबाव की उस जबर्दस्ती को मानते हैं, जिसका महत्व पशु-जगत में bellum omnium contra omnes (सबके ख़िलाफ़ सब का युद्ध) के समान है, जो प्रत्येक जाति के अस्तित्व के लिए आवश्यक परिस्थितियों को न्यूनाधिक सुरक्षित रखता है। जो पूंजीवादी दिमाग़ वर्कशाप के भीतर होने वाले श्रम-विभाजन की, मजदूर का समस्त जीवन एक आंशिक क्रिया के लिए समर्पित हो जाने की और उसके पूर्णतया पूंजी के आधीन बन जाने की प्रशंसा करता है और कहता है कि यह श्रम का एक ऐसा संगठन है, जिससे उसकी उत्पादकता बढ़ जाती है, वही पूंजीवादी दिमाग़ जब उत्पादन की क्रिया का सामाजिक नियंत्रण तथा नियमन करने की कोई भी सजग कोशिश की जाती है, तो उसकी उतने ही जोर-शोर से निन्दा करता है और कहता है कि यह सम्पत्ति के अधिकार, स्वाधीनता तथा पूंजीपतियों के अनियंत्रित ढंग से इच्छानुसार काम करने के हक़ जैसी पवित्र वस्तुओं का अतिक्रमण करने की कोशिश है। यह एक बहुत सारगर्भित बात है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था के बड़े जोशीले समर्थकों के पास समाज के श्रम का सामान्य संगठन करने के विचार के विरुद्ध इससे ज्यादा जोरदार और कोई दलील नहीं है कि यदि ऐसा किया गया, तो पूरा समाज एक बहुत बड़ा कारख़ाना बन जायेगा।

यदि पूंजीवादी उत्पादन वाले समाज में सामाजिक श्रम-विभाजन की अराजकता और वर्कशाप के श्रम-विभाजन की निरंकुशता एक दूसरे के अस्तित्व के लिए आवश्यक होती हैं, तो, इसके विपरीत, समाज के उन प्रारम्भिक रूपों में, जिन में धंधों का अलगाव स्वयंस्फूर्त ढंग से इस तरह बढ़ा है कि पहले उसका विकास हुआ, फिर उसका स्फटिकीकरण हो गया और अन्त में उसने क़ानून के द्वारा स्थायित्व प्राप्त कर लिया, – ऐसी समाज-व्यवस्थाओं में हम एक तरफ़ तो एक मान्य एवं अधिकृत योजना के अनुसार समाज के श्रम के संगठन का नमूना पाते हैं, और, दूसरी तरफ़, हम यह देखते हैं कि वर्कशाप के भीतर होने वाला श्रम-विभाजन उनमें एकदम ग़ायब है या कम से कम उसका महज एक बौनानुमा या इक्का-दुक्का तथा आकस्मिक ढंग से विकसित रूप ही उनमें पाया जाता है।[1]

---

[1] "On peut... établir en règle générale, que moins l'autorité préside á la division du travail dans l'intérieur de la société, plus la division du travail se

हिन्दुस्तान के वे छोटे-छोटे तथा अत्यन्त प्राचीन ग्राम-समुदाय, जिनमें से कुछ आज तक क़ायम हैं, जमीन पर सामूहिक स्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी के मिलाप और एक ऐसे श्रम-विभाजन पर आधारित हैं, जो कभी नहीं बदलता, और जो जब कभी एक नया ग्राम-समुदाय आरम्भ किया जाता है, तो पहले से बनी-बनायी और तैयार योजना के रूप में काम में आता है। सौ से लेकर कई हजार एकड़ तक के रक़बे में फैले हुए इन ग्राम-समुदायों में से प्रत्येक एक गठी हुई इकाई होता है, जो अपनी जरूरत की सभी चीजें पैदा कर लेती है। पैदावार का मुख्य भाग सीधे तौर पर समुदाय के ही उपयोग में आता है, और वह माल का रूप धारण नहीं करता। इसलिए यहां पर उत्पादन उस श्रम-विभाजन से स्वतंत्र होता है, जो मालों के विनिमय ने मोटे तौर पर पूरे हिन्दुस्तानी समाज में चालू कर दिया है। केवल अतिरिक्त पैदावार ही माल बनती है, और यहां तक कि उसका भी एक हिस्सा उस वक़्त तक माल नहीं बनता, जब तक कि वह राज्य के हाथों में नहीं पहुंच जाता। अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह रीति चली आ रही है कि इस पैदावार का एक निश्चित भाग सदा जिन्स की शकल में दिये जाने वाले लगान के तौर पर राज्य के पास पहुंच जाता है। हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में इन समुदायों का विधान अलग-अलग ढंग का है। जिनका सबसे सरल विधान है, उन समुदायों में जमीन को सब मिलकर जोतते हैं और पैदावार सदस्यों के बीच बांट ली जाती है। इसके साथ-साथ हर कुटुम्ब में सहायक धंधों के रूप में कताई और बुनाई होती हैं। इस प्रकार, उन आम लोगों के साथ-साथ, जो सदा एक ही प्रकार के काम में लगे रहते हैं, एक "मुखिया" होता है, जो जज, पुलिस और वसूलदार का काम एक साथ करता है; एक पटवारी होता है, जो खेती-बारी का हिसाब रखता है और उसके बारे में हर बात अपने काग़जों में दर्ज करता जाता है; एक और कर्मचारी होता है, जो अपराधियों पर मुक़दमा चलाता है, अजनबी मुसाफ़िरों की हिफ़ाजत करता है और उनको अगले गांव तक सकुशल पहुंचा आता है; पहरेदार होता है, जो पड़ोस के समुदायों से सरहद की रक्षा करता है; आबपाशी का हाकिम होता है, जो सिंचाई के लिये पंचायती तालाबों से पानी बांटता है; ब्राह्मण होता है, जो धार्मिक अनुष्ठान कराता है; पाठशाला का पंडित होता है, जो बच्चों को बालू पर लिखना-पढ़ना सिखाता है; पंचांग वाला ब्राह्मण या ज्योतिषी होता है, जो बोवाई और कटाई और खेत के अन्य हर काम के लिये मुहूरत विचारता है; एक लोहार और एक बढ़ई होते हैं, जो खेती के तमाम औजार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं; कुम्हार होता है, जो सारे गांव के लिये बर्तन-भांडे तैयार करता है; नाई होता है; धोबी होता है, जो कपड़े धोता है; सुनार

---

développe dans l'intérieur de l'atelier, et plus elle y est soumise á l'autorité d'un seul. Ainsi l'autorité dans l'atelier et celle dans la société, par rapport á la division du travail, sont en raison inverse l'une de l'autre." ["एक सामान्य नियम के रूप में... हम यह कह सकते हैं कि समाज के भीतर पाये जाने वाले श्रम-विभाजन में प्राधिकार का प्रभुत्व जितना कम होता है, वर्कशाप में श्रम-विभाजन उतना ही अधिक विकसित हो जाता है और वह उतना ही एक अकेले व्यक्ति के प्राधिकार के अधीन बन जाता है। इस प्रकार, जहां तक श्रम-विभाजन का सम्बंध है, वर्कशाप में प्राधिकार और समाज में प्राधिकार एक दूसरे के प्रतिलोम अनुपात में होते हैं।"] (Karl Marx, "*Misère,* &c." [कार्ल मार्क्स, 'दर्शन की दरिद्रता'], Paris, 1847, पृ० १३० – १३१।)

होता है और कहीं-कहीं पर कवि भी होता है, जो कुछ समुदायों में सुनार का और कुछ में पाठशाला के पंडित का स्थान ले लेता है। इन एक दर्जन व्यक्तियों की जीविका पूरे समुदाय के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ़ जाती है, तो खाली पड़ी ज़मीन पर पुराने समुदाय के ढांचे के मुताबिक़ एक नये समुदाय की नींव डाल दी जाती है। पूरे ढांचे से एक सुनियोजित श्रम-विभाजन का प्रमाण मिलता है। किन्तु इस प्रकार का विभाजन हस्तनिर्माण में असम्भव होता है, क्योंकि यहां तो लोहार और बढ़ई आदि के सामने एक ऐसी मण्डी होती है, जो कभी नहीं बदलती, और अधिक से अधिक केवल यह अन्तर होता है कि गांवों के आकार के अनुसार एक के बजाय दो-दो या तीन-तीन लोहार और बढ़ई आदि हो जाते हैं।[1] ग्राम-समुदाय में जिस नियम के अनुसार श्रम-विभाजन का नियमन होता है, वह एक प्राकृतिक नियम की भांति काम करता है, जिसके आड़े कोई नहीं आ सकता; और साथ ही हर अलग-अलग कारीगर—जैसे लोहार, बढ़ई आदि—अपनी वर्कशाप में अपनी दस्तकारी की सारी क्रियाएं परम्परागत ढंग से, किन्तु स्वतंत्र रूप से करता चलता है और अपने ऊपर किसी अन्य व्यक्ति का आधिकार नहीं मानता। इन आत्म-निर्भर ग्राम-समुदायों में, जो लगातार एक ही रूप के समुदायों में पुनः प्रकट होते रहते हैं, और जब अकस्मात बरबाद हो जाते हैं, तो उसी स्थान पर और उसी नाम से फिर खड़े हो जाते हैं,[2]—इन ग्राम-समुदायों में उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग का होता है, और उसकी यह सरलता ही एशियाई समाजों की अपरिवर्तनशीलता की कुंजी है, उस अपरिवर्तनशीलता की, जिसके बिल्कुल विपरीत एशियाई राज्य सदा बिगड़ते और बनते रहते हैं और राजवंशों में होने वाले परिवर्तन तो मानो कभी रुकते ही नहीं। राजनीति के आकाश में जो तूफ़ानी बादल उठते हैं, वे समाज के आर्थिक तत्वों के ढांचे को नहीं छू पाते।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, कोई उस्ताद अधिक से अधिक कितने शागिर्दों और मजदूर-कारीगरों को नौकर रख सकता है, शिल्पी संघों के नियम इसकी एक सीमा निश्चित

---

[1] लेफ़्टिनेंट-कर्नल Mark Wilks, "*Historical Sketches of the South of India*" (मार्क वाइल्क्स, 'हिन्दुस्तान के दक्षिण के ऐतिहासिक रेखा-चित्र'), London, 1810–1817, खण्ड १, पृ० ११८–२००। हिन्दुस्तानी ग्राम-समुदाय के विभिन्न रूपों का एक अच्छा वर्णन १८५२ में लन्दन से प्रकाशित जार्ज कैम्पबेल की रचना 'आधुनिक हिन्दुस्तान' (George Campbell, "*Modern India*", London, 1852) में मिलता है।

[2] "इस देश के निवासी अत्यन्त प्राचीन काल से... इस सरल रूप के अन्तर्गत रह रहे हैं। गांवों की सीमाओं में कभी-कभार ही कोई परिवर्तन होता है; और यद्यपि ख़ुद इन गांवों को कभी-कभी युद्ध, अकाल तथा महामारी से हानि पहुंची है और यहां तक कि वे तबाह भी हो गये हैं, परन्तु गांव का वही नाम, वे ही सीमाएं, वे ही हित और यहां तक कि वे ही कुटुम्ब भी सदियों तक चलते गये हैं। उनके निवासी राज्यों के छिन्न-भिन्न हो जाने और बंट जाने से कभी परेशान नहीं होते; जब तक गांव पूरा क़ायम रहता है, तब तक उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं होती कि उनका गांव किस राज्य को सौंप दिया गया है या किस राजा के अधिकार में पहुंच गया है; गांव की अन्दरूनी अर्थ-व्यवस्था ज्यों की त्यों रहती है।" (Th. Stamford Raffles, जावा के भूतपूर्व लेफ़्टिनेंट-गवर्नर, "*The History of Java*" ['जावा का इतिहास'], London, 1817, खण्ड १, पृ० २८५।)

कर देते थे, और इस तरह ये नियम उस्ताद को पूंजीपति नहीं बनने देते थे। इसके अलावा, वह जिस धंधे का उस्ताद होता था, उसके सिवा किसी और दस्तकारी का काम वह अपने कारीगरों से नहीं करा सकता था। स्वतंत्र पूंजी का केवल एक ही रूप था, जिसके सम्पर्क में ये शिल्पी संघ आते थे। वह था सौदागरों की पूंजी का रूप। पर उसके प्रत्येक अतिक्रमण को शिल्पी संघों के जोरदार प्रतिरोध का मुक़ाबला करना पड़ता था। सौदागर हर प्रकार का माल ख़रीद सकता था, परन्तु श्रम को माल के रूप में वह नहीं ख़रीद सकता था। वह यदि दस्तकारियों की पैदावार के व्यापारी के रूप में जिन्दा था, तो केवल इसीलिये कि शिल्पी संघों को उसके अस्तित्व पर कोई आपत्ति नहीं थी। यदि परिस्थितियों के कारण श्रम का और विभाजन करना जरूरी हो जाता था, तो पहले से मौजूद शिल्पी संघ उपसंघों में बंट जाते थे या पुराने संघों के साथ-साथ नये संघों की स्थापना कर दी जाती थी। यह सब होता था, मगर किसी एक वर्कशाप में तरह-तरह की अनेक दस्तकारियां केन्द्रीभूत नहीं हो पाती थीं। इसलिये, शिल्पी संघों के संगठन ने दस्तकारियों को एक दूसरे से अलग और पृथक करके तथा उनका विकास करके हस्तनिमार्ण के अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियों को तैयार करने में चाहे जितनी सहायता की हो, पर उसके अन्तर्गत वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन कभी नहीं हो सकता था। सामान्यतः मजदूर अपने उत्पादन के साधनों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता था, जैसे घोंघा अपने खोल से जुड़ा रहता है, और, इस प्रकार, हस्तनिर्माण के मुख्य आधार का अभाव था, यानी मजदूर अपने उत्पादन के साधनों से अलग नहीं हुआ था और ये साधन पूंजी में परिवर्तित नहीं हुए थे।

मोटे तौर पर समाज में श्रम-विभाजन का होना – चाहे वह मालों के विनिमय का फल हो या न हो – समाज की अत्यन्त भिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं की एक समान विशेषता है। परन्तु वर्कशाप का श्रम-विभाजन, जैसा कि हस्तनिर्माण में होता है, केवल उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की ही एक विशिष्ट पैदावार है।

## अनुभाग ५ – हस्तनिर्माण का पूंजीवादी स्वरूप

बड़ी संख्या में मजदूरों का एक पूंजीपति के नियंत्रण में काम करना जिस तरह से ख़ास तौर पर हस्तनिर्माण का, उसी तरह से वह आम तौर पर सभी प्रकार की सहकारिता का भी स्वाभाविक प्रस्थान-बिंदु होता है। परन्तु हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन मजदूरों की संख्या की इस वृद्धि को एक प्राविधिक आवश्यकता बना देता है। यहां पर पहले से स्थापित श्रम-विभाजन ने ही यह तै कर रखा है कि किसी पूंजीपति के लिये कम से कम कितने मजदूरों को नौकर रखना जरूरी है। दूसरी ओर, और अधिक श्रम-विभाजन से केवल उसी समय लाभ उठाया जा सकता है, जब मजदूरों की संख्या में और वृद्धि कर दी जाये; और यह केवल इसी तरह हो सकता है कि हम तफ़सीली काम करने वाले विभिन्न दलों के गुणजों को जोड़ते जायें। परन्तु जब व्यवसाय में लगी हुई पूंजी के अस्थिर भाग में वृद्धि होती है, तो उसके स्थिर भाग में – वर्कशापों, औजारों आदि में और ख़ास कर कच्चे माल में – भी वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। कच्चे माल की मांग मजदूरों की संख्या की तुलना में कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है। एक निश्चित समय में श्रम की एक निश्चित मात्रा कितने कच्चे माल

उपयोग करेगी, इसकी मात्रा उसी अनुपात में बढ़ती है, जिस अनुपात में श्रम के विभाजन के फलस्वरूप श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है। इसलिये, स्वयं हस्तनिर्माण के स्वरूप के आधार पर यह नियम बन जाता है कि प्रत्येक पूंजीपति के पास कम से कम जितनी पूंजी होना आवश्यक होता है, उसकी मात्रा सदा बढ़ती जानी चाहिये; दूसरे शब्दों में, उत्पादन और जीवन-निर्वाह के सामाजिक साधनों का पूंजी में अधिकाधिक विस्तृत पैमाने पर रूपान्तरण होना चाहिये।[1]

सरल सहकारिता की तरह हस्तनिर्माण में भी सामूहिक कार्यकारी संघटन पूंजी के अस्तित्व का एक रूप होता है। तफ़सीली काम करने वाले अनेक मजदूरों से मिलकर जो यंत्र बनता है, वह पूंजीपति की सम्पत्ति होता है। इसलिये मजदूरों के योग से जो उत्पादक शक्ति पैदा होती है, वह पूंजी की उत्पादक शक्ति प्रतीत होती है। सही अर्थ में हस्तनिर्माण न केवल भूतपूर्व स्वतन्त्र मजदूरों को पूंजी के अनुशासन तथा समादेश के आधीन बना देता है, बल्कि खुद मजदूरों में भी एक श्रेणी-क्रम पैदा कर देता है। सरल सहकारिता व्यक्ति की कार्य-प्रणाली में प्रायः कोई ख़ास परिवर्तन नहीं करती; पर हस्तनिर्माण उसमें एक पूरी क्रान्ति पैदा कर देता है और श्रम-शक्ति की जड़ों तक पहुंच जाता है। वह मजदूर की एक तफ़सीली क्षमता का विकास करने के लिये उसकी अन्य समस्त क्षमताओं और नैसर्गिक भावनाओं को नष्ट करके उसे उसी तरह एक लुंज-पुंज, कुरूप प्राणी में बदल देता है, जिस तरह ला प्लाता के राज्यों में एक खाल या थोड़ी सी चर्बी के लिये लोग एक पूरे जानवर को मार डालते हैं। न सिर्फ़ तफ़सीली काम अलग-अलग व्यक्तियों में बांट दिया जाता है, बल्कि खुद व्यक्ति को भी एक आंशिक क्रिया की स्वचालित मोटर बना दिया जाता है,[2] और इस प्रकार मेनेनियस एग्रिप्पा की वह बेतुकी उपकथा भी चरितार्थ हो जाती है, जिसमें मनुष्य को उसके शरीर का एक अंश

---

[1] "इतना काफ़ी नहीं है कि दस्तकारियों के उप-विभाजन के लिये आवश्यक पूंजी" (लेखक को यहां असल में "जीवन-निर्वाह के तथा उत्पादन के आवश्यक साधन" कहना चाहिये था) "समाज में पहले से तैयार हो। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि यह पूंजी मालिकों के पास इतनी मात्रा में संचित हो जाये, जो उनके लिये अपनी कार्रवाइयों को बड़े पैमाने पर करने के लिये काफ़ी हो... विभाजन जितना बढ़ता जाता है, मजदूरों की एक निश्चित संख्या को बराबर काम देते रहने के लिये यह उतना ही जरूरी होता जाता है कि औजारों, कच्चे माल आदि के रूप में पहले से अधिक पूंजी लगायी जाये।" (Storch, "*Cours d'Economie Politique*", पेरिस-संस्करण, ग्रंथ १, पृ० २५०, २५१।) "La concentration des instruments de production et la division du travail sont aussi inséparables l'une de l'autre que le sont, dans le régime politique, la concentration des pouvoirs publics et la division des intérêts privés." ["राजनीतिक जीवन के क्षेत्र में सार्वजनिक शक्ति के केन्द्रीकरण और निजी हितों के विभाजन में जैसा अविच्छिन्न सम्बंध है, उत्पादन के औजारों के केन्द्रीकरण और श्रम के विभाजन के बीच उससे कम अविच्छिन्न सम्बंध नहीं है।"] (Karl Marx, उप० पु०, पृ० १३४।)

[2] डूगल्ड स्टीवर्ट ने हस्तनिर्माण करने वाले मजदूरों को "living automatons... employed in the details of the work" ("तफ़सीली ढंग के कामों में लगी हुई... जीवित स्वसंचालित मशीनें") कहा है। (उप० पु०, पृ० ३१८।)

मात्र बना दिया गया था।[1] यदि शुरू-शुरू में मजदूर अपनी श्रम-शक्ति इसलिये पूंजी को बेचता है कि उसके पास माल पैदा करने के भौतिक साधन नहीं होते, तो अब ख़ुद उसकी श्रम-शक्ति उस वक़्त तक काम करने से इनकार कर देती है, जब तक कि उसे पूंजीपति के हाथ नहीं बेच दिया जाता। अब वह केवल उसी वातावरण में काम कर सकती है, जो उसकी बिक्री के बाद पूंजीपति की वर्कशाप में पाया जाता है। हस्तनिर्माण करने वाला मजदूर स्वभावतः चूंकि स्वतंत्र ढंग से कोई चीज़ तैयार करने के लायक़ नहीं रह जाता, इसलिये वह केवल पूंजीपति की वर्कशाप के एक गौणांग के रूप में ही अपनी उत्पादक क्रियाशीलता का विकास कर सकता है।[2] जिस तरह यहूदियों के माथे पर इसका चिन्ह अंकित हो गया था कि वे जेहोवाह की सम्पत्ति हैं, उसी तरह श्रम-विभाजन हस्तनिर्माण करने वाले मजदूर के माथे पर यह छाप अंकित कर देता है कि यह शख़्स पूंजी की सम्पत्ति है।

जंगली आदमी के लिये युद्ध की पूरी कला अपनी व्यक्तिगत चालाकी का प्रयोग करने में निहित होती है। इसी प्रकार स्वतंत्र किसान या दस्तकार भी चाहे जितनी कम मात्रा में सही, पर अपने ज्ञान, निर्णय-शक्ति और इच्छा-शक्ति का कुछ न कुछ प्रयोग करता ही है। परन्तु अब, हस्तनिर्माण में, केवल पूरी वर्कशाप को ही इन सारी क्षमताओं की ज़रूरत होती है। उत्पादन में बुद्धि का एक दिशा में इसलिये विकास होता है कि अन्य बहुत सी दिशाओं में वह ग़ायब हो जाती है। तफ़सीली काम करने वाले मजदूर जिन क्षमताओं को खो देते हैं, वे मजदूरों को नौकर रखने वाली पूंजी में केन्द्रीभूत हो जाती हैं।[3] हस्तनिर्माणों में होने वाले श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप ही मजदूर को उत्पादन की भौतिक क्रिया की बौद्धिक शक्तियों का किसी दूसरे की सम्पत्ति और मजदूर पर शासन करने वाली एक ताक़त के रूप में सामना करना पड़ता है। यह अलगाव सरल सहकारिता में आरम्भ होता है, जहां पर अकेले एक मजदूर के मुक़ाबले में पूंजीपति सम्बद्ध श्रम की एकता और इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

---

[1] मूंगों में प्रत्येक मूंगा वास्तव में पूरे समूह के पेट का काम करता है; परन्तु रोमन अभिजातवर्गीय व्यक्ति की तरह समूह का आहार ख़ुद नहीं हड़प जाता, बल्कि समूह को आहार देता है।

[2] "L'ouvrier qui porte dans ses bras tout un métier, peut aller partout exercer son industrie et trouver des moyens de subsister: l'autre n'est qu'un accessoire qui, séparé de ses confrères, n'a plus ni capacité, ni indépendance, et qui se trouve forcé d'accepter la loi qu'on juge à propos de lui imposer." ["जिस मजदूर में एक पूरी दस्तकारी की योग्यता होती है, वह कहीं भी अपना धंधा कर सकता है और जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त कर सकता है। पर दूसरे प्रकार का मजदूर (हस्तनिर्माण करने वाला मजदूर) एक सहायक से अधिक और कुछ नहीं होता। अपने साथियों से अलग हो जाने पर उसमें न तो योग्यता रहती है और न स्वाधीनता, और इसलिये लोग उसपर जैसे भी नियम लादना चाहें, वह उन्हें मानने के लिये मजबूर होता है।"] (Storch, उप० पु०, सेण्ट पीटर्सबुर्ग संस्करण, १८१५, ग्रंथ १, पृ० २०४।)

[3] A. Ferguson, उप० पु०, पृ० २८१: "दूसरे ने जो खो दिया है, सम्भव है, पहले ने वह प्राप्त कर लिया हो।"

हस्तनिर्माण में, जो कि मजदूर को महज एक तफ़सीली काम करने वाला मजदूर बना देता है, यह अलगाव और बढ़ जाता है। आधुनिक उद्योग में, जो विज्ञान को श्रम से बिल्कुल अलग उत्पादक शक्ति बना देता है और उसे पूंजी की सेवा में जोत देता है, यह अलगाव पूरा हो जाता है।[1]

हस्तनिर्माण में सामूहिक मजदूर को और उसके जरिये पूंजी को सामाजिक उत्पादक शक्ति की दृष्टि से धनी बनाने के लिये हर अलग-अलग मजदूर को व्यक्तिगत उत्पादक शक्तियों के मामले में ग़रीब बना देना पड़ता है। "अज्ञान भी अंधविश्वास के साथ-साथ उद्योग की मां है। चिन्तन और कल्पना ग़लती कर सकते हैं, पर हाथ या पैर को हिलाने की आदत दोनों से स्वतंत्र होती है। चुनांचे, हस्तनिर्माण सबसे अधिक वहां फलते-फूलते हैं, जहां मस्तिष्क से कम से कम परामर्श लिया जाता है और जहां वर्कशाप ... एक इंजन की तरह होती है, जिसके पुर्जे इनसान होते हैं।"[2] सच बात तो यह है कि १८ वीं सदी के मध्य में कुछ इने-गिने कारखानेदार ऐसी क्रियाओं के लिये, जो व्यापारिक रहस्य होती थीं, अर्ध-मूढ़ व्यक्तियों को नौकर रखना पसन्द करते थे।[3]

ऐडम स्मिथ ने कहा है: "अधिकतर मनुष्यों की समझ-बूझ की संरचना अनिवार्य रूप से उनके साधारण धंधों द्वारा होती है। जिस आदमी का पूरा जीवन चन्द सरल सी क्रियाओं को सम्पन्न करने में खर्च हो जाता है ... उसको अपनी समझ-बूझ पर जोर डालने का कोई मौक़ा नहीं मिलता ... ऐसा आदमी आम तौर पर इतना मूर्ख और जाहिल हो जाता है, जितना कोई मनुष्य कभी हो सकता है।" तफ़सीली काम करने वाले मजदूर की मूर्खता का वर्णन करने के बाद ऐडम स्मिथ आगे लिखते हैं: "उसके निश्चल जीवन की एकरसता स्वाभाविक रूप से उसके मन के साहस को कुंठित कर देती है ... यहां तक कि वह उसके शरीर की क्रियाशीलता को भी कुंठित कर देती है, और जिसमें वह पला है, एक उस धंधे को छोड़कर अन्य किसी भी धंधे में तेजी और लगन के साथ अपनी शक्ति का प्रयोग करने के उसे अयोग्य बना देती है। इस तरह खुद अपने विशेष धंधे में उसकी निपुणता कुछ इस तरह की प्रतीत होती है, जैसे वह उसके बौद्धिक, सामाजिक एवं सामरिक गुणों की बलि देकर प्राप्त की गयी हो। परन्तु हर उन्नत और सभ्य समाज में श्रमजीवी ग़रीबों को (the labouring poor),

---

[1] "ज्ञानी व्यक्ति और उत्पादक मजदूर एक दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं, और ज्ञान मजदूर के हाथ में उसकी उत्पादक शक्तियां बढ़ाने के लिए श्रम की परिचारिका के रूप में काम करने के बजाय ... लगभग हर जगह श्रम के विरोध में खड़ा हो गया है ... और उनकी (मजदूरों की) मांस-पेशियों की शक्तियों को सर्वथा यांत्रिक एवं आज्ञाकारी बना देने के उद्देश्य से उनको सुनियोजित ढंग से धोखा देता है और गुमराह करता है।" (W. Thompson, "*An Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth*" [डब्ल्यू० टौम्पसन, 'धन के बंटवारे के सिद्धान्तों की जांच'], London, 1824, पृ० २७४।)

[2] A. Ferguson, उप० पु०, पृ० २८०।

[3] J. D. Tuckett, "*A History of the Past and Present State of the Labouring Population*" [जे० डी० टकेट्ट, 'श्रमजीवी आबादी की भूतकालिक तथा वर्तमान अवस्था का इतिहास'], London, 1846 (ग्रन्थ १, पृ० २७४)।

यानी जनता के अधिकतर भाग को, अनिवार्य रूप से इसी अवस्था को पहुंच जाना पड़ता है।"[1] श्रम-विभाजन के कारण जन-साधारण पूर्ण पतन के गर्त में न गिर जायें, इसके लिये ऐडम स्मिथ की सलाह है कि राज्य को जनता की शिक्षा का प्रबंध करना चाहिये, परन्तु सोच-समझकर और बहुत ही सूक्ष्म प्रमात्राओं में। ऐडम स्मिथ के फ़्रांसीसी अनुवादक तथा टीकाकार जी० गार्नियर ने, जो पहले फ़्रांसीसी साम्राज्य के काल में बड़े स्वाभाविक ढंग से सेनेटर बन गये थे, इस मामले में उतने ही स्वाभाविक ढंग से ऐडम स्मिथ का विरोध किया है। उन्होंने कहा है कि जनता को शिक्षा देने से श्रम-विभाजन के पहले नियम का प्रतिक्रमण होता है, और यदि ऐसा हुआ, तो "हमारी पूरी समाज-व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी।" उनका कहना है कि "श्रम के अन्य सभी विभाजनों की तरह हाथ के श्रम और दिमाग़ के श्रम का विभाजन[2] भी उसी अनुपात में अधिक स्पष्ट और निर्णायक रूप धारण करता जाता है, जिस अनुपात में समाज (गार्नियर ने पूंजी, भू-सम्पत्ति तथा उनके राज्य के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है, जो ठीक ही है) अधिक धनी होता जाता है। श्रम का यह विभाजन अन्य किसी भी विभाजन की तरह भूत-काल का प्रभाव और भावी प्रगति का कारण होता है ... तब क्या सरकार को इस श्रम-विभाजन के विरोध में काम करना और उसके स्वाभाविक विकास को रोकना चाहिये? क्या सरकार को सार्वजनिक मुद्रा का एक भाग श्रम के दो ऐसे वर्गों को, जिनकी प्रवृत्ति विभाजन और अलगाव की है, जबर्दस्ती आपस में गड्ड-मड्ड कर देने और मिलाकर रखने की कोशिश में ख़र्च कर देना चाहिये?"[3]

शरीर और मस्तिष्क का कुछ हद तक लुंज हो जाना तो पूरे समाज में होने वाले श्रम-विभाजन में भी अनिवार्य है। लेकिन हस्तनिर्माण चूंकि श्रम की शाखाओं के इस सामाजिक अलगाव को कहीं ज़्यादा दूर तक ले जाता है और इसके अलावा चूंकि अपने ख़ास तरह के श्रम-विभाजन के द्वारा वह व्यक्ति के जीवन की जड़ों पर प्रहार करता है, इसलिये यह पहला श्रम-विभाजन

---

[1] A. Smith, "*Wealth of Nations*" (ऐडम स्मिथ, 'राष्ट्रों का धन'), पुस्तक ५, अध्याय १, लेख २। ऐडम स्मिथ चूंकि ए० फ़र्गुसन के शिष्य थे, जिन्होंने श्रम-विभाजन से पैदा होने वाली बुराइयों पर प्रकाश डाला था, इसलिये इस सवाल पर उनका दिमाग़ बिल्कुल साफ़ था। अपनी पुस्तक की भूमिका में, जहां उन्होंने श्रम-विभाजन की ex professo (बहुत होशियारी से) प्रशंसा की है, उन्होंने इस बात की ओर महज़ सरसरी ढंग से इशारा किया है कि श्रम-विभाजन से सामाजिक असमानताएं पैदा हो जाती हैं। और ५ वीं पुस्तक के पहले, जिसका विषय राज्य की आय है, उन्होंने इस विषय के सम्बंध में फ़र्गुसन को कहीं उद्धृत नहीं किया है। मैंने अपनी रचना "*Misère de la Philosophie*" ('दर्शन की दरिद्रता') में इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि फ़र्गुसन, ऐ० स्मिथ, लेमोन्ते और से की श्रम-विभाजन सम्बन्धी आलोचनाओं के बीच क्या ऐतिहासिक सम्बंध है, और पहली बार यह प्रमाणित किया है कि हस्तनिर्माण में जिस प्रकार का श्रम-विभाजन होता है, वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का एक विशिष्ट रूप है।

[2] फ़र्गुसन ने उप० पु०, पृ० २८१, में पहले ही यह कह दिया था कि "और अलगावों के इस युग में चिन्तन ख़ुद एक ख़ास धंधा बन सकता है।"

[3] G. Garnier, ऐडम स्मिथ की पुस्तक के उनके अनुवाद का खण्ड ५, पृ० ४–५।

है, जो औद्योगिक व्याधि-विज्ञान के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है और इस विज्ञान का श्रीगणेश करता है।[1]

"किसी आदमी का उप-विभाजन कर देना उसे प्राणदण्ड दे देने के समान है, बशर्ते कि वह इस दण्ड के योग्य हो; अन्यथा यह उसकी हत्या कर देने के बराबर है ... श्रम का उप-विभाजन एक क़ौम की हत्या कर देता है।"[2]

श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता, या दूसरे शब्दों में कहिये, तो हस्तनिर्माण एक स्वयंस्फूर्त संघटन के रूप में आरम्भ होता है। जैसे ही वह कुछ स्थिरता तथा विस्तार प्राप्त कर लेता है, वैसे ही वह पूंजीवादी उत्पादन का मान्य, नियमित एवं सुनियोजित रूप बन जाता है। इतिहास से इस बात का पता चलता है कि जिसे सचमुच हस्तनिर्माण कहा जा सकता है, उसमें जो विशिष्ठ प्रकार का श्रम-विभाजन पाया जाता है, वह पहले अनुभव से, यानी मानो पात्रों के पीठ पीछे, सबसे उपयुक्त रूप प्राप्त कर लेता है और फिर शिल्पी संघों की दस्तकारियों की तरह एक बार इस रूप का पता लगा लेने के बाद सदा उससे चिपके रहने की कोशिश करता है और जहां-तहां सदियों तक अपना यही रूप बनाये रखता है। छोटी-मोटी बातों में होने वाली तबदीलियों को छोड़कर इस रूप में कोई परिवर्तन केवल श्रम के औजारों में होने वाली किसी क्रान्ति के कारण ही होता है। आधुनिक हस्तनिर्माण जहां कहीं भी शुरू होता है,—मैं यहां मशीनों पर आधारित आधुनिक उद्योग की चर्चा नहीं कर

---

[1] पैडुआ में व्यावहारिक चिकित्सा के प्रोफ़ेसर रैमेज़ीनी ने अपनी रचना "*De morbis artificum*" ('मज़दूरों की बीमारियां') १७१३ में प्रकाशित की थी। उसका फ़्रांसीसी अनुवाद १७८१ में हुआ, और १८४१ में वह "*Encyclopédie des Sciences Médicales. 7me Dis. Auteurs Classiques*" में पुन:मुद्रित की गयी। उन्होंने मज़दूरों की बीमारियों की जो सूची बनायी थी, उसे मशीनों से चलने वाले आधुनिक उद्योग के युग ने, ज़ाहिर है, बहुत बढ़ा दिया है। देखिये "*Hygiène physique et morale de l'ouvrier dans les grandes villes en général et dans la ville de Lyon en particulier. Par le Dr. A. L. Fonteret, Paris, 1858*" और "*Die Krankheiten, welche verschiednen Ständen, Altern und Geschlechtern eigenthümlich sind.*" ६ खण्ड, Ulm, 1860, और इसी प्रकार की कुछ अन्य पुस्तकें। १८५४ में Society of Arts (धंधों की परिषद) ने औद्योगिक बीमारियों की जांच करने के लिये एक जांच-आयोग नियुक्त किया था। इस आयोग ने जो कागज़-पत्र जमा किये थे, उनकी सूची "*Twickenham Economic Museum*" ('ट्विकेनहेम के आर्थिक संग्रहालय') के सूचीपत्र में देखी जा सकती है। "*Reports on Public Health*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टें') नामक सरकारी प्रकाशन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अलावा, एडुअर्ड राइख़ (Eduard Reich) एम० डी०, की रचना "*Ueber die Entartung des Menschen*", Erlangen, 1868, भी देखिये।

[2] (D. Urquhart, "*Familiar Words*" [डी० उर्कुहार्ट, 'सुपरिचित शब्द'], London, 1855, पृ० ११९।) श्रम-विभाजन के विषय में हेगेल के बहुत ही रूढ़ि-विरोधी विचार हैं। अपनी "*Rechtsphilosophie*" (दूसरा संस्करण, Berlin, 1840, पृ० २४७) में उन्होंने कहा है: "सबसे पहले सुशिक्षित लोगों से हमारा अभिप्राय उन व्यक्तियों से होता है, जो हर वह काम कर सकते हैं, जो दूसरे लोग कर सकते हैं।"

रहा हूं, – वहीं पर उसे या तो उस संघटन के अवयव, जिससे उसे काम लेना है, इधर-उधर बिखरे हुए पहले से तैयार मिल जाते हैं, जिनको उसे केवल जमा कर देना होता है, – जैसा कि बड़े शहरों में कपड़े के हस्तनिर्माण में होता है, – और या वह महज किसी दस्तकारी (जैसे जिल्दसाज़ी) की विभिन्न क्रियाओं को केवल कुछ ख़ास व्यक्तियों को सौंपकर बड़ी आसानी से विभाजन के सिद्धान्त को व्यवहार में ला सकता है। ऐसी सूरत में एक सप्ताह का अनुभव ही अलग-अलग कामों के लिये आवश्यक मज़दूरों की संख्याओं का अनुपात निर्धारित करने के लिये काफ़ी होता है।[1]

दस्तकारियों को छिन्न-भिन्न करके, श्रम के औज़ारों का विशिष्टीकरण करके, तफ़सीली काम करने वाले मज़दूरों को जन्म देकर और उनको जत्थेबन्द करके तथा एक संयुक्त यंत्र का रूप देकर हस्तनिर्माण में होने वाला श्रम-विभाजन उत्पादन की सामाजिक क्रिया में एक गुणात्मक पद-सोपान और परिमाणात्मक अनुपात पैदा कर देता है। इसके फलस्वरूप वह समाज के श्रम का एक निश्चित संगठन पैदा कर देता है और साथ ही उसके द्वारा समाज में नयी उत्पादक शक्तियों को विकसित करता है। श्रम-विभाजन अपने विशिष्ट पूंजीवादी रूप में, – और जैसी परिस्थितियां पहले से मौजूद थीं, उनमें वह पूंजीवादी रूप के सिवा और कोई रूप नहीं धारण कर सकता था, – केवल सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने या मज़दूर के मत्थे पूंजी के आत्म-विस्तार को और तेज़ करने की ही एक ख़ास पद्धति होता है। इसी पूंजी को प्रायः सामाजिक धन, "wealth of nations" ("राष्ट्रों का धन") आदि कहा जाता है। अपने पूंजीवादी रूप में श्रम-विभाजन न केवल मज़दूर के बजाय पूंजीपति के हित में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है, बल्कि वह मज़दूरों को लुंज बनाकर यह कार्य सम्पन्न करता है। वह श्रम के ऊपर पूंजी की प्रभुता के लिये नयी परिस्थितियां पैदा कर देता है। इसलिये, यदि एक तरफ़ वह ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रगतिशील क़दम तथा समाज के आर्थिक विकास की एक ज़रूरी मंज़िल के रूप में सामने आता है, तो, दूसरी तरफ़, वह शोषण की एक सुसंस्कृत एवं सभ्य प्रणाली भी है।

एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र ने पहले-पहल हस्तनिर्माण के काल में जन्म लिया था। वह सामाजिक श्रम-विभाजन को केवल हस्तनिर्माण के दृष्टिकोण से ही देखता है[2] और इसे केवल श्रम की एक निश्चित मात्रा की बदौलत पहले से अधिक माल तैयार करने और

---

[1] यह सरल विश्वास कि अलग-अलग पूंजीपति श्रम का विभाजन करने में किसी निगम्य (a priori) आविष्कार-प्रतिभा का प्रयोग करते हैं, आजकल केवल हेर रोश्चेर के ढंग के जर्मन प्रोफ़ेसरों में ही पाया जाता है। हेर रोश्चेर यह मानकर चलते हैं कि श्रम-विभाजन का विचार पूंजीपति के दिमाग़ से बना-बनाया तैयार निकलता है, जिस तरह मिनर्वा जुपिटर के माथे से निकली थी, और इसके एवज़ में हेर रोश्चेर पूंजीपति को "विभिन्न प्रकार की मज़दूरियां" ("diverse Arbeitslöhne") समर्पित कर देते हैं। श्रम-विभाजन का छोटे पैमाने पर प्रयोग किया जायेगा या बड़े पैमाने पर, यह, असल में, पूंजीपति की प्रतिभा पर नहीं, बल्कि उसकी थैली के आकार पर निर्भर करता है।

[2] पेटी तथा "*Advantages of the East India Trade*" ('ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ') के गुमनाम लेखक जैसे पुराने लेखक हस्तनिर्माण में इस्तेमाल होने वाले श्रम-विभाजन के पूंजीवादी स्वरूप का ऐडम स्मिथ से अधिक स्पष्टता के साथ निरूपण करते हैं।

इस तरह मालों को सस्ता करने तथा पूंजी के संचय में तेजी लाने का ही केवल साधन समझता है। मात्रा तथा विनिमय-मूल्य पर जोर देने की इस प्रवृत्ति के बिल्कुल विपरीत प्राचीन काल के लेखक केवल गुण तथा उपयोग-मूल्य पर जोर देते हैं।[1] उनका कहना है कि उत्पादन की सामाजिक शाखाओं के अलग-अलग हो जाने के फलस्वरूप माल पहले से बेहतर तैयार होते हैं, मनुष्यों की अलग-अलग प्रकार की प्रवृत्तियों तथा प्रतिभाओं को उनके उपयुक्त क्षेत्र मिल जाता है,[2] और बहरहाल बिना किसी प्रतिबंध के कभी कहीं कोई महत्वपूर्ण काम नहीं किया जा सकता है।[3] इसलिये श्रम-विभाजन से पैदावार और उत्पादक, दोनों का सुधार होता है।

---

[1] आधुनिक लेखकों में १८ वीं सदी के चन्द लेखकों को इसका अपवाद माना जा सकता है, जैसे बेकारिया और जेम्स हैरिस, जो श्रम-विभाजन के सम्बंध में लगभग पूरी तरह प्राचीन काल के लेखकों का अनुकरण करते हैं। चुनांचे बेकारिया ने लिखा है: "Ciascuno prova coll'-esperienza, che applicando la mano e l'ingegno sempre allo stesso genere di opere e di produtte, egli più facili, più abbondanti e migliori ne traca risultati, di quello che se ciascuno isolatamente le cose tutte a se necessarie soltanto facesse ... Dividendosi in tal maniera per la comune e privata utilità gli uomini in varie classi e condizioni." ["यह दैनिक अनुभव की बात है कि जो आदमी अपने हाथों तथा अपनी बुद्धि का सदा एक ही प्रकार के काम में और एक ही तरह की पैदावार तैयार करने में उपयोग करता है, वह उस आदमी की अपेक्षा, जो अपनी ज़रूरत की बहुत सारी चीज़ों को ख़ुद बनाता है, ज्यादा आसानी से और बेहतर काम कर सकेगा और ज्यादा पैदावार तैयार कर सकेगा... और इस प्रकार मनुष्यों का विभिन्न वर्गों और श्रेणियों में विभाजन हो जाता है, जिससे सार्वजनिक और निजी हित आगे बढ़ते हैं।"] (Cesare Beccaria, "*Elementi di Econ. Pubblica*", Custodi का संग्रह, Parte Moderna, ग्रंथ ११, पृ० २८।) जेम्स हैरिस ने, जो बाद को माल्मसबरी के अर्ल हो गये थे और जो सेण्ट पीटर्सबुर्ग के अपने राजदूतावास की "*Diaries*" ('डायरियों') के लिये विख्यात हैं, अपनी रचना "*Dialogue Concerning Happiness*" ('सुख विषयक सम्वाद') (London, 1741; बाद को "*Three Treatises, &c.*" ['तीन रचनाएं, आदि'] के लन्दन से १७७२ में प्रकाशित तीसरे संस्करण में पुनःमुद्रित) के एक फ़ुटनोट में लिखा है: "समाज को (धंधों के विभाजन के द्वारा) प्राकृतिक सिद्ध करने के लिए दिया गया पूरा तर्क प्लेटो के 'प्रजातंत्र' के दूसरे भाग से लिया गया है।"

[2] चुनांचे होमर ने 'ओडीसी' में लिखा है: «Ἄλλος γάρ τ'ἄλλοισιν ἀνὴρ ἐπιτέρπεται ἔργοις» ("लोग असमान होते हैं—ये एक चीज़ को पसन्द करते हैं, वे दूसरी को") (XIV, 228); और आर्किलोकस ने सेक्सटस एम्पीरिकस की रचना में यही बात कही है: «ἄλλος ἄλλῳ ἐπ' ἔργῳ καρδίην ἰαίνεται» ("विभिन्न आदमियों को अलग-अलग कामों में आनन्द आता है")।

[3] «Πολλ' ἠπίσταto ἔργα, κακῶς δ'ἠπίστατο πάντα.» ("जो सब कामों में टांग लड़ाता है, वह कोई काम नहीं सीख पाता।")—मालों के उत्पादक के रूप में प्रत्येक एथेन्सनिवासी अपने को स्पार्टावालों से श्रेष्ठ समझता था, क्योंकि स्पार्टावालों के पास लड़ाई के समय आदमी तो काफ़ी होते थे, पर रुपया नहीं होता था। पेरिक्लीज़ ने एथेंसवासियों को

यदि ये लेखक कभी-कभार पैदावार की मात्रा में होने वाली वृद्धि का जिक्र करते भी हैं, तो केवल इस संदर्भ में कि उपयोग-मूल्यों की पहले से अधिक बहुतायत हो जाती है। विनिमय-मूल्य अथवा मालों के पहले से सस्ते हो जाने के बारे में उनकी रचनाओं में एक शब्द भी नहीं मिलता। प्लेटो,[1] जो कि श्रम-विभाजन को वह नींव समझते हैं, जिसपर समाज का वर्गों में

---

पेलेपोनीशियन युद्ध के लिये भड़काते हुए जो भाषण दिया था, उसके दौरान में थ्यूसिडिडीज़ ने उससे यह भी कहलवाया है कि "σώμασί τε ἑτοιμότεροι οἱ αὐτουργοὶ τῶν ἀνθρώπων ἢ χρήμασι πολεμεῖν» ("जो लोग अपने उपभोग के लिये ख़ुद वस्तुएं बनाते हैं, वे युद्ध के समय अपनी सम्पत्ति की अपेक्षा अपनी जान ज्यादा आसानी से जोखिम में डालने को तैयार हो जाते हैं") (थ्यूसिडिडीज़, भाग १, अध्याय ४१)। फिर भी भौतिक उत्पादन के मामले में भी एथेन्सवासियों का आदर्श αὐταρχεία (आत्मनिर्भरता) था, न कि श्रम-विभाजन: "παρ'ὧν γάρ τό, εὖ, παρὰ τούτωνκαὶ τὸ αὔταρκες" ("सामान और स्वतन्त्रता का एक ही स्रोत है")। यहां यह बता देना जरूरी है कि ३० अत्याचारियों के पतन के समय भी एथेन्स में ५,००० ऐसे आदमी नहीं थे, जिनके पास कोई भू-सम्पत्ति न हो।

[1]प्लेटो की राय में समाज में श्रम-विभाजन इसलिये होता है कि हर व्यक्ति की आवश्यकताएं तो बहुत सी, पर उनकी क्षमताएं बहुत सीमित होती हैं। उनका मुख्य जोर इस बात पर है कि काम को मजदूर के अनुसार ढालना ग़लत है, मजदूर को काम के अनुसार अपने को ढालना चाहिये। पर यदि मजदूर एक समय में कई धंधे करेगा, तो उनमें से एक न एक धंधा गौण हो जायेगा और तब लाज़िमी तौर पर काम को मजदूर के अनुसार ढालने की कोशिश की जायेगी। "Οὐ γάρ ἐθέλει τὸ πραττόμενον τὴν τοῦ πράττοντος σχολὴν περιμένειν, ἀλλ' ἀνάγκη τὸν πράττοντα τῷ πραττομένῳ ἐπακολουθεῖν μὴ ἐν παρέρ-γου μέρει.—' Ανάγκη.—'Εκ δὴ τούτν πλείω τε ἕκαστα γίγνεται καὶ κάλλιον καὶ ῥᾷον, ὅταν εἷς ἓν κατὰ φύσιν καὶ ἐν καιρῷ σκολὴν τῶν ἄλλων ἄγων, πράττῃ." ["कारण, काम इस बात का इन्तजार नहीं करेगा कि काम करने वाले को फ़ुरसत मिले, तो वह उसमें हाथ लगाये। यह तो काम करने वाले का फ़र्ज़ है कि वह जो कुछ कर रहा है, उसका अनुकरण करे और काम को अपना प्रथम उद्देश्य समझे। – उसे यही करना चाहिये। – और यदि ऐसा है, तो हमें इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि जब एक आदमी केवल वह काम करता है, जो उसके लिये स्वाभाविक है, और उसे सही वक़्त पर करता है तथा बाक़ी कामों को औरों के लिये छोड़ देता है, तब सब चीज़ें ज्यादा बहुतायत से, ज्यादा आसानी से और बेहतर तैयार होती हैं।"] (*"De Republica"* ['प्रजातंत्र'], खण्ड १, Baiter, Orelli, etc. का दूसरा संस्करण।) इसी प्रकार थ्यूसिडिडीज़ (उप० पु०, अध्याय १४२) ने भी लिखा है कि "अन्य किसी भी धंधे की तरह जहाजरानी भी एक धंधा है, और उसे परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार एक गौण धंधे के रूप में कोई नहीं कर सकता। नहीं, बल्कि कहना चाहिये कि इस धंधे के साथ अन्य गौण धंधे नहीं किये जा सकते।" प्लेटो का कहना है कि यदि काम को मजदूर का इन्तज़ार करना पड़ता है, तो क्रिया का नाजुक क्षण हाथ से निकल जाता है और वस्तु ख़राब हो जाती है, "Ἔργου καιρὸν διόλλυται" ("काम का फल बरबाद हो जायेगा")। इंगलैण्ड के कपड़े सफ़ेद करने के कारख़ानों के मालिक सभी मजदूरों के लिये भोजन का एक समय निश्चित करने वाली फ़ैक्टरी-क़ानून की धारा का जो विरोध कर रहे

विभाजन आधारित होता है, केवल उपयोग-मूल्य पर ज़ोर देने का यह ढंग क्सेनोफ़ोन[1] की भांति ही सुस्पष्टता के साथ अपनाते हैं, जो अपनी पूंजीवादी प्रवृत्ति के कारण वर्कशाप में होने वाले श्रम-विभाजन के ज्यादा नज़दीक पहुंच जाते हैं। प्लेटो के प्रजातंत्र में जहां तक राज्य के निर्माणकारी सिद्धान्त के रूप में श्रम-विभाजन की चर्चा की गयी है, वहां तक प्लेटो का प्रजातंत्र केवल मिस्र की वर्ण-व्यवस्था का ही एक एथेन्सीय आदर्श रूप है। प्लेटो के बहुत से समकालीन लोगों के लिये भी मिस्र एक औद्योगिक देश के नमूने का काम कर चुका है। अन्य लोगों के अलावा आइसोक्रेटस[2] का भी यही विचार

---

हैं, उसमें भी हमें प्लेटो का यही विचार फिर से सुनाई पड़ रहा है। इन लोगों का व्यवसाय मज़दूरों की सुविधा का इन्तज़ार नहीं कर सकता, क्योंकि उनके कारख़ानों में "झुलसाने, धोने, सफ़ेद करने, इस्तरी करने, भाप से इस्तरी करने और रंगने की जो क्रियाएं होती हैं, उनमें से कोई भी किसी एक निश्चित क्षण पर नुक़सान के ख़तरे के बिना नहीं रोकी जा सकती ... सभी मज़दूरों के लिये यदि भोजन का कोई एक समय निश्चित किया गया, तो कभी-कभी अपूर्ण क्रिया के कारण बहुत क़ीमती सामान के नष्ट हो जाने का ख़तरा पैदा हो जायेगा।" Le platonisme où va-t-il se nicher! (इसके बाद अब और कहां पर हमें प्लेटोवाद के दर्शन होंगे!)

[1] क्सेनोफ़ोन का कहना है कि ईरान के राजा के लिये तैयार किये गये भोजन में से कुछ पा जाना न केवल सम्मान की बात है, बल्कि यह भोजन अन्य भोजन से अधिक स्वादिष्ट होता है। "और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण कि जिस तरह बड़े शहरों में अन्य कलाओं का ख़ास विकास होता है, उसी तरह शाही भोजन भी एक ख़ास ढंग से तैयार किया जाता है। कारण कि छोटे शहरों में चारपाइयां, दरवाज़े, हल और मेज़, सब एक ही आदमी बनाता है, और अक्सर तो घर भी वही बना देता है, और यदि उसके जीवन-निर्वाह के लायक़ ग्राहक मिल जाते हैं, तो वह ख़ूब संतुष्ट रहता है। जो आदमी इतने बहुत से काम एक साथ करता हो, उसके लिये उन सब को अच्छी तरह करना सर्वथा असम्भव है। परन्तु बड़े शहरों में, जहां हरेक को बहुत से ख़रीदार मिल सकते हैं, एक आदमी के जीवन-निर्वाह के लिये केवल एक धंधा ही काफ़ी होता है। नहीं, बल्कि अक्सर तो एक पूरे धंधे की भी ज़रूरत नहीं होती; एक आदमी मर्दों के लिये जूते बनाता है, तो दूसरा आदमी औरतों के लिये। कहीं-कहीं पर एक आदमी जूते सीकर जीविका कमाता है, तो दूसरा जूतों के लिये चमड़ा काटकर गुज़र करता है; एक आदमी कपड़े की कटाई के सिवा और दूसरा कटे हुए टुकड़ों को सीने के सिवा और कुछ नहीं करता। तो इससे हम अनिवार्य रूप से इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जो आदमी सबसे सरल ढंग का काम करता है, वह निस्सन्देह उसे सबसे बेहतर करता है। भोजन बनाने की कला के लिये भी यही बात सच है।" (Xenophon, "*Cyropaedia*", ग्रन्थ ८, अध्याय २।) क्सेनोफ़ोन ने यहां केवल इस बात पर ज़ोर दिया है कि पहले से कितना अच्छा उपयोग-मूल्य तैयार हो सकेगा, हालांकि वह अच्छी तरह जानते हैं कि श्रम-विभाजन के सोपान-क्रम मण्डी के विस्तार पर निर्भर करते हैं।

[2] "उसने (बुसाइरिस ने) उन सब को विशेष वर्णों में बांट दिया था ... उसका आदेश था कि एक व्यक्ति को सदा एक ही धंधा करना चाहिये। यह इसलिये कि बुसाइरिस को यह मालूम था कि जो लोग अपना धंधा बदलते रहते हैं, वे किसी धंधे में निपुण नहीं हो

था, और रोमन साम्राज्य के काल के यूनानियों के लिये भी मिश्र का यही महत्व बना रहा था।[1]

जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, अर्थात् जिस काल में पूंजीवादी उत्पादन का मुख्य रूप हस्तनिर्माण का होता है, उस काल में हस्तनिर्माण की विशिष्ट प्रवृत्तियों के पूर्ण विकास के रास्ते में बहुत सी बाधाएं आती हैं। यद्यपि, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, हस्तनिर्माण मजदूरों में वर्गों का एक सोपान-क्रम पैदा करने के साथ-साथ उनके बीच निपुण और अनिपुण मजदूरों का एक सरल अलगाव भी पैदा कर देता है, तथापि निपुण मजदूरों का प्रभाव बहुत अधिक होने के कारण अनिपुण मजदूरों की संख्या बहुत सीमित रहती है। यद्यपि हस्तनिर्माण तफ़सीली कामों को श्रम के जीवित यंत्रों की अलग-अलग स्तर की परिपक्वता, शक्ति और विकास के अनुरूप बना देता है, जिससे स्त्रियों और बच्चों का शोषण करने में मदद मिलती है, फिर भी मोटे तौर पर यह प्रवृत्ति पुरुष मजदूरों की आदतों तथा उनके प्रतिरोध से टकराकर चकनाचूर हो जाती है। यद्यपि दस्तकारियों के छोटे-छोटे कामों में बंट जाने से मजदूर को तैयार करने का खर्चा कम हो जाता है और इस तरह उसका मूल्य गिर जाता है, पर ज्यादा मुश्किल ढंग के तफ़सीली काम के लिये अब भी ज्यादा लम्बे समय तक काम सीखने की जरूरत पड़ती है, और कहीं-कहीं तो अनावश्यक होने पर भी मजदूर ईर्ष्यावश उसके लिये इसरार करते हैं। मिसाल के लिये, इंगलैण्ड में हम पाते हैं कि हस्तनिर्माण के काल के अन्त तक वहां पर काम सीखने के ऐसे क़ानून लागू रहे, जिनके मातहत हर मजदूर को सात साल तक शागिर्दी करनी पड़ती थी; और जब तक आधुनिक उद्योग का काल आरम्भ नहीं हो गया, तब तक इन क़ानूनों को एक तरफ़ नहीं फेंका गया। दस्तकारी की निपुणता चूंकि हस्तनिर्माण का आधार है और चूंकि मोटे तौर पर हस्तनिर्माण के यंत्र के पास खुद मजदूरों से अलग कोई ढांचा नहीं होता, इसलिये पूंजी को लगातार मजदूरों की अवज्ञा से कुश्ती लड़नी पड़ती है। मित्र उरे ने लिखा है: "मानव-स्वभाव के अवगुणों का यह परिणाम होता है कि मजदूर जितना अधिक निपुण होता है, उसके उतनी ही ज्यादा मनमानी करने और बेक़ाबू हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है, और इसलिये जाहिर है कि वह उस यांत्रिक व्यवस्था का अंग बनने के उतना ही कम योग्य रह जाता है, जिसमें काम करते हुए... वह पूरे यंत्र को भारी नुक़सान पहुंचा सकता है।"[2] इसलिये हस्तनिर्माण के पूरे काल में हम मजदूरों

---

पाते; मगर जो लोग सदा एक ही धंधे में लगे रहते हैं, वे उसका अधिक से अधिक पूर्ण विकास करने में सफल होते हैं। कलाओं और दस्तकारियों के मामले में तो हम यह तक पायेंगे कि एक उस्ताद एक नौसिखुए के मुक़ाबले में हमेशा जितना आगे रहता है, ये लोग अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुक़ाबले में उससे भी ज्यादा आगे निकल गये हैं, और राजतंत्र को तथा अपने राज्य की अन्य संस्थाओं को क़ायम रखने के लिये उन्होंने जो उपाय निकाले हैं, वे इतने प्रशंसनीय हैं कि सब से अधिक विख्यात दार्शनिक भी जब इस विषय की चर्चा करने बैठते हैं, तो अन्य राज्यों की अपेक्षा मिश्री राज्य की संगठना की अधिक प्रशंसा करते हैं।" (Isocrates, "*Busiris*" (आइसोक्रेटस, 'बुसाइरिस'), अध्याय ८।)

[1] देखिये Diodorus Siculus ("*Diodor's V. Sicilien Historische Bibliothek*", ग्रन्थ १, 1831)।

[2] Ure, उप० पु०, पृ० २०।

में अनुशासन के अभाव की शिकायत सुनते रहते हैं।[1] और इस विषय में यदि हमारे पास तत्कालीन लेखकों की रचनाओं का प्रमाण न भी होता, तो भी इस प्रकार के साधारण तथ्य से ही कि १६ वीं शताब्दी और आधुनिक उद्योग के युग के बीच के काल में पूंजी कभी हस्तनिर्माण करने वाले मजदूरों के समस्त प्राप्य श्रम-काल की मालिक नहीं बन पायी, या इससे कि हस्तनिर्माण प्रायः अल्पजीवी होते थे और एक देश से दूसरे देश को आते-जाते रहने वाले मजदूरों के साथ-साथ अपना स्थान बदलते रहते थे, इस विषय पर काफ़ी प्रकाश पड़ जाता है। *"Essay on Trade and Commerce"* ('व्यापार और वाणिज्य पर निबंध') के उस लेखक ने, जिसे हम कई बार उद्धृत कर चुके हैं, १७७० में घोषणा की: "व्यवस्था किसी न किसी तरह क़ायम करनी ही पड़ेगी।" इसके ६६ वर्ष बाद डा० एण्ड्रयू उरे मानो उसके शब्दों को दोहराते हुए फिर मांग करते हैं: "व्यवस्था होनी चाहिये।" उनके शब्दों में, "श्रम-विभाजन की पंडिताऊ रूढ़ि पर आधारित" हस्तनिर्माण में "व्यवस्था" का अभाव था, और "व्यवस्था आर्कराइट ने पैदा की है।"

इसके साथ-साथ हस्तनिर्माण या तो समाज के उत्पादन पर पूरी तरह अधिकार करने में असमर्थ रहता था और या वह इस उत्पादन की अन्तरात्मा में क्रान्ति नहीं पैदा कर पाता था। वह शहर की दस्तकारियों और देहात के घरेलू उद्योगों की विशाल नींव पर एक आर्थिक कलाकृति के रूप में सिर उठाये हुए खड़ा था। जब उसके विकास की एक ख़ास मंजिल आयी, तो वह संकुचित प्राविधिक आधार, जिसपर हस्तनिर्माण टिका हुआ था, उत्पादन की उन आवश्यकताओं से टकराने लगा, जिनको स्वयं उसी ने जन्म दिया था।

हस्तनिर्माण की एक सबसे अधिक परिष्कृत सृष्टि वह वर्कशाप थी, जिस में ख़ुद श्रम के औज़ारों का उत्पादन होता था और जिसमें ख़ास तौर पर वे पेचीदा यांत्रिक उपकरण तैयार किये जाते थे, जो उस समय तक उत्पादन में इस्तेमाल होने लगे थे। उरे ने कहा है कि "ऐसी वर्कशाप बहुसंख्यक सोपानों सहित श्रम-विभाजन का परिचय देती थी। रेती, बरमा, ख़राद का अलग-अलग मजदूर था, जो सोपान-क्रम के अनुसार अपनी निपुणता के स्तर के आधार पर एक या दूसरे ढंग से दूसरे मजदूरों से सम्बन्धित था।" (पृ० २१।) यह वर्कशाप, जो हस्तनिर्माण में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन की पैदावार थी, मशीनें तैयार करती थी। ये मशीनें ही सामाजिक उत्पादन के नियामक सिद्धान्त के रूप में दस्तकार के काम को उठाकर अलग फेंक देती हैं। इस प्रकार एक तरफ़ तो मजदूर को सारी उम्र के लिये एक तफ़सीली काम से बांध देने का प्राविधिक कारण समाप्त हो गया। दूसरी तरफ़, वे बंधन टूट गये, जो स्वयं इस सिद्धान्त ने पूंजी के प्रभुत्व पर लगा रखे थे।

---

[1] हालैण्ड की अपेक्षा फ़्रांस के लिये और फ़्रांस की अपेक्षा इंगलैण्ड के लिये यह बात अधिक सच है।

# पूंजीवादी उत्पादन

भाग ४ – (पूर्वानुबद्ध)

# सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

## पन्द्रहवां अध्याय

## मशीनें और आधुनिक उद्योग

### अनुभाग १ – मशीनों का विकास

जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक "*Principles of Political Economy*" ('अर्थशास्त्र के सिद्धान्त') में कहा है: "अभी तक जितने यांत्रिक आविष्कार हुए हैं, उनसे किसी भी मनुष्य की[1] दिन भर की मेहनत जरा भी हल्की हो गयी हो, यह एक काफ़ी संशयास्पद बात है।" किन्तु मशीनों के पूंजीवादी उपयोग का यह उद्देश्य तो कदापि नहीं है। श्रम की उत्पादकता में होने वाली दूसरी प्रत्येक वृद्धि की भांति मशीनों का भी उद्देश्य मालों को सस्ता बनाना और काम के दिन के उस भाग को छोटा करके, जिसमें मजदूर खुद अपने लिये काम करता है, उस दूसरे भाग को लम्बा कर देना होता है, जो वह उसका सम-मूल्य पाये बिना ही पूंजीपति को दे देता है। संक्षेप में, मशीनें अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन होती हैं।

हस्तनिर्माण में उत्पादन की प्रणाली में होने वाली क्रान्ति श्रम-शक्ति से शुरू होती है, आधुनिक उद्योग में वह श्रम के औजारों से शुरू होती है। इसलिये सब से पहले हमें यह पता लगाना है कि श्रम के औजार औजारों से मशीनों में कैसे बदल गये, या यह कि मशीन और दस्तकारी के औजारों में क्या फ़र्क़ होता है? हमारा सम्बंध यहां पर केवल उल्लेखनीय एवं सामान्य विशेषताओं से है, क्योंकि जिस प्रकार भूगर्भ-विज्ञान के युगों को एक दूसरे से अलग करने वाली कोई कठोर और निश्चित सीमा-रेखाएं नहीं होतीं, उसी प्रकार समाज के इतिहास के युगों को अलग करने वाली भी नहीं होतीं।

गणित और यांत्रिकी के विद्वान औजार को सरल मशीन और मशीन को संश्लिष्ट औजार कहते हैं, और इंगलैण्ड के कुछ अर्थशास्त्री भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। वे उनमें कोई बुनियादी अन्तर नहीं देखते, और यहां तक कि उन्होंने सरल ढंग की यांत्रिक शक्तियों को,

---

[1] मिल को यहां असल में यह कहना चाहिये था: "किसी भी ऐसे मनुष्य की, जो दूसरों के श्रम पर जीवित नहीं रहता," क्योंकि मशीनों ने धनी मुफ़्तख़ोरों की संख्या निस्सन्देह बहुत बढ़ा दी है।

जैसे लीवर, ढालू समतल, पेच, पच्चर आदि को भी मशीन का नाम दे दिया है।[1] प्रत्येक मशीन असल में इन सरल शक्तियों का ही योग होती है, भले ही उन पर किसी भी प्रकार का आवरण डाल दिया गया हो। आर्थिक दृष्टिकोण से इस व्याख्या का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि इसमें ऐतिहासिक तत्व का अभाव है। औज़ार और मशीन के अन्तर की एक और व्याख्या यह है कि औज़ार की चालक शक्ति मनुष्य होता है, जब कि मशीन की चालक शक्ति मनुष्य से भिन्न कोई चीज़ होती है, जैसे, मिसाल के लिये, कोई जानवर, पानी, हवा, आदि, आदि।[2] इस मत के अनुसार, बैलों द्वारा खींचा जाने वाला हल, जो एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न युगों में समान रूप से पाया जाता है, मशीन है, मगर Claussen's circular loom (क्लौस्सेन का वृत्ताकार करघा), जिसपर केवल एक मजदूर काम करता है और जो एक मिनट में ९६,००० फन्दे बुनता है, महज़ औज़ार है। इतना ही नहीं, यही loom (करघा) जब हाथ से चलाया जायेगा, तो औज़ार माना जायेगा, मगर यदि उसे भाप से चलाया गया, तो वह मशीन हो जायेगा। और चूंकि पशु-शक्ति का प्रयोग मनुष्य के सब से पहले आविष्कारों में से है, इसलिये मशीनों के द्वारा होने वाला उत्पादन, इस मत के अनुसार, दस्तकारियों वाले उत्पादन के भी पहले शुरू हो गया था। १७३५ में जब जान व्याट्ट ने अपनी कातने की मशीन तैयार की और १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया तो उन्होंने आदमी के बजाय गधे के द्वारा इसके चलाये जाने के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा था, मगर फिर भी यह काम गधे के ही जिम्मे पड़ा। व्याट्ट ने उसका वर्णन इस तरह किया था कि यह "बिना उंगलियों के कातने की" मशीन है।[3]

---

[1] उदाहरण के लिये, देखिये हट्टन की रचना 'गणित का पाठ्य-क्रम' (Hutton, *"Course of Mathematics"*, खण्ड १–२)।

[2] "इस दृष्टिकोण से हम औज़ार और मशीन के बीच एक स्पष्ट सीमा-रेखा खींच सकते हैं। फावड़े, हथौड़े, छेनियां आदि और लीवरों और पेचों के योग – इन सब में, और अन्य बातों में वे चाहे जितने पेचीदा क्यों न हों, चालक शक्ति मनुष्य होता है ... ये सारी चीज़ें औज़ारों की मद में आती हैं। लेकिन हल, जो पशु-शक्ति से खींचा जाता है, और पवन-चक्की आदि को मशीनों की मद में रखना पड़ेगा।" (Wilhelm Schulz, *"Die Bewegung der Produktion"*, Zürich, 1843, पृ० ३८।) अनेक दृष्टियों से यह पुस्तक पठनीय है।

[3] व्याट्ट के काल के पहले भी मशीनों का इस्तेमाल हो चुका था, हालांकि वे मशीनें बहुत अधूरे ढंग की थीं। इटली में वे शायद सबसे पहले सामने आयी थीं। यदि प्रौद्योगिकी का कोई आलोचनात्मक इतिहास लिखा जाये, तो उससे यह बात स्पष्ट हो जाये कि १८ वीं सदी के किसी भी आविष्कार को किसी एक व्यक्ति का काम समझना कितना ग़लत है। अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गयी है। डार्विन ने प्रकृति की प्रौद्योगिकी के इतिहास में, यानी पौधों और पशुओं की उन इन्द्रियों के निर्माण के इतिहास में, जो उनके भरण-पोषण के लिये उत्पादन के साधनों का काम करती हैं, हमारी रुचि पैदा कर दी है। तब क्या मनुष्य की उत्पादक इन्द्रियों का इतिहास – उन इन्द्रियों का इतिहास, जो समस्त सामाजिक संगठन का आधार होती हैं, – इस योग्य नहीं है कि उसकी ओर भी हम उतना ही ध्यान दें? और क्या इस तरह का इतिहास तैयार करना ज्यादा आसान नहीं होगा, क्योंकि, जैसा कि विको ने

पूरी तरह विकसित सभी मशीनें तीन बुनियादी तौर पर भिन्न भागों की बनी होती हैं: एक—मोटर-यंत्र, दूसरा—संचालक यंत्र और, अन्त में, तीसरा—औज़ार या कार्यकारी यंत्र। मोटर-यंत्र वह होता है, जो पूरी मशीन को गति में लाता है। वह या तो खुद अपनी चालक शक्ति पैदा करता है, जैसा कि भाप से चलने वाला इंजन, गरम हवा से चलने वाला इंजन, विद्युत-चुम्बकीय मशीन आदि करते हैं, और या उसे पहले से मौजूद किसी प्राकृतिक शक्ति से आवेग प्राप्त होता है, जैसे पन-चक्की को ऊंचाई पर से नीचे गिरने वाले पानी से और पवन-चक्की को हवा से आवेग प्राप्त होता है, इत्यादि। संचालक यंत्र गतिपालक चक्रों, ईषासंहति, दंत-चक्रों, घिरनियों, पट्टों, रस्सियों, पट्टियों, दांतों वाले छोटे पहियों और अनेक प्रकार के योक्त्रों का बना होता है। वह गति का नियमन करता है, जहां आवश्यकता होती है, वहां उसका रूप बदल देता है, जैसे कि अनुरेख गति को वृत्तीय गति में बदल देता है, और गति का विभाजन करके उसे कार्यकारी यंत्रों में बांट देता है। सम्पूर्ण मशीन के ये पहले दो भाग केवल कार्यकारी यंत्रों को गति में लाने के लिये होते हैं, जिस गति के द्वारा श्रम की विषय-वस्तु पर अधिकार करके उसे इच्छानुसार परिवर्तित कर दिया जाता है। औज़ार या कार्यकारी यंत्र मशीन का वह भाग है, जिससे १८ वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ हुई थी। और आज तक जब कभी कोई दस्तकारी या हस्तनिर्माण मशीन से चलने वाले उद्योग में रूपान्तरित किया जाता है, तो सदा इसी हिस्से से परिवर्तन आरम्भ होता है।

कार्यकारी यंत्र का ज़्यादा नज़दीक से अध्ययन करने पर हम एक सामान्य नियम के तौर पर, हालांकि काफ़ी बदले हुए रूप में, वही उपकरण और औज़ार पाते हैं, दस्तकार या हस्तनिर्माण करने वाला मज़दूर जिनका इस्तेमाल करता था। अन्तर केवल इतना होता है कि मनुष्य के औज़ार होने के बजाय ये एक यंत्र के औज़ार होते हैं, या यूं कहिये कि ये यांत्रिक औज़ार होते हैं। या तो पूरी मशीन दस्तकारी के पुराने औज़ार का एक कमोबेश बदला हुआ यांत्रिक संस्करण मात्र होती है, जैसा कि, उदाहरण के लिये, शक्ति से चलने वाला करघा

---

कहा है, मानव-इतिहास प्राकृतिक इतिहास से केवल इसी बात में भिन्न है कि उसका निर्माण हमने किया है, जब कि प्राकृतिक इतिहास का निर्माण हमने नहीं किया है? प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार पर और उत्पादन की उस क्रिया पर प्रकाश डालती है, जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह करता है, और इस तरह वह उसके सामाजिक सम्बंधों तथा उनसे पैदा होने वाली मानसिक अवधारणाओं के निर्माण की प्रणाली को भी खोलकर रख देती है। यहां तक कि धर्म का इतिहास लिखने में भी यदि इस भौतिक आधार को ध्यान में नहीं रखा जाता, तो ऐसा प्रत्येक इतिहास आलोचनात्मक दृष्टि से वंचित हो जाता है। असल में जीवन के वास्तविक सम्बंधों से इन सम्बंधों के तदनुरूप दैविक सम्बंधों का विकास करने की अपेक्षा धर्म की धूमिल सृष्टि का विश्लेषण करके उसके लौकिक सार का पता लगाना कहीं अधिक आसान है। यही एकमात्र भौतिकवादी पद्धति है, और इसलिये यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। प्राकृतिक विज्ञान का अमूर्त भौतिकवाद ऐसा भौतिकवाद है, जो इतिहास तथा उसकी प्रक्रिया को अपने क्षेत्र से बाहर रखता है। जब कभी उसके प्रवक्ता अपने विशेष विषय की सीमाओं के बाहर क़दम रखते हैं, तब उनकी अमूर्त एवं वैचारिक अवधारणाओं से इस भौतिकवाद की त्रुटियां तुरन्त स्पष्ट हो जाती हैं।

होता है,[1] और या मशीन के ढांचे में लगे हुए कार्यकारी औज़ार हमारे पुराने परिचित औज़ार होते हैं। कताई करने वाले म्यूल में लगे हुए तकुए, मोज़े बुनने के करघे में लगी हुई सुइयां, आराकशी की मशीन में लगे हुए आरे, काटने वाली मशीन में लगे हुए चाकू इसी तरह के औज़ार हैं। इन औज़ारों और मशीन के मुख्य ढांचे का भेद उनके जन्म से ही चला आता है; क्योंकि ये औज़ार अब भी प्रायः दस्तकारी अथवा हस्तनिर्माण के द्वारा ही तैयार होते रहते हैं और बाद को मशीन के ढांचे में, जो कि मशीनों द्वारा तैयार होता है, जोड़ दिये जाते हैं।[2] इसलिये, मशीन असल में एक ऐसा यंत्र होती है, जो गतिमान होने के बाद अपने औज़ारों से वही क्रियाएं करता है, जो पहले मज़दूर इसी तरह के औज़ारों के द्वारा करते थे। चालक शक्ति चाहे मनुष्य से प्राप्त होती हो, चाहे किसी अन्य मशीन से, इससे इस सिलसिले में कोई अन्तर नहीं आता। जिस क्षण कोई औज़ार मनुष्य से लेकर किसी यंत्र में जोड़ दिया जाता है, बस उसी क्षण से महज़ औज़ार का स्थान मशीन ले लेती है। यहां तक कि जहां पर ख़ुद मनुष्य ही मूल चालक बना रहता है, वहां पर भी यह अन्तर तुरन्त ध्यान आकर्षित करता है। जिन औज़ारों को आदमी ख़ुद इस्तेमाल कर सकता है, उनकी संख्या उत्पादन के उसके अपने प्राकृतिक औज़ारों की संख्या से, यानी उसकी शारीरिक इन्द्रियों की संख्या से, सीमित होती है। जर्मनी में लोगों ने पहले एक कातने वाले से दो चर्खों को चलवाने की कोशिश की, यानी वे चाहते थे कि मज़दूर अपने दोनों हाथों और अपने दोनों पैरों से एक साथ काम करे। यह बहुत मुश्किल साबित हुआ। बाद को पैरों से चलाया जाने वाला चर्खा ईजाद किया गया, जिसमें दो तकुए लगे थे, पर कताई करने में प्रवीण ऐसे मज़दूर, जो एक साथ दो धागे निकाल सकते हों, लगभग उतने ही दुर्लभ थे, जितने दो सिर वाले इनसान। दूसरी ओर, जेनी अपने जन्म-काल से ही १२–१८ तकुओं से कताई करती थी और मोज़े बुनने का करघा कई हज़ार सुइयों से एक साथ बुनाई करता है। मशीन एक साथ जितने औज़ारों से काम ले सकती है, उनकी संख्या शुरू से ही उन सीमाओं से मुक्त हो जाती है, जो दस्तकारों के औज़ारों पर उसकी इन्द्रियों के रूप में लगी रहती हैं।

हाथ के बहुत से औज़ारों में मात्र चालक शक्ति रूपी मनुष्य और मज़दूर रूपी मनुष्य – या औज़ारों से सचमुच काम लेने वाले कारीगर रूपी मनुष्य – का भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये, पैर केवल चर्खे की चालक शक्ति का काम करता है, जब कि हाथ, तकुए से काम लेता हुआ और धागे को खींचता और ऐंठता हुआ, कताई की वास्तविक क्रिया को

---

[1] ख़ास तौर पर उसके आदिम रूप में तो पहली दृष्टि में ही प्राचीन काल का करघा नज़र आ जाता है। अपने आधुनिक रूप में शक्ति से चलने वाले करघे में कुछ मौलिक परिवर्तन हो गये हैं।

[2] अभी पिछले पन्द्रह बरस से ही (यानी लगभग १८५० से) मशीनों के इन औज़ारों का अधिकांश इंगलैण्ड में मशीनों के द्वारा तैयार होने लगा है। और अब भी इन औज़ारों को मशीन बनाने वाले कारख़ानेदार तैयार नहीं करते। इस तरह के यांत्रिक औज़ारों को बनाने वाली मशीनों की कुछ मिसालें ये हैं: automatic bobbin making engine (स्वचालित मशीनों की फिरकियां बनाने वाली मशीन), card-setting engine (धुनाई का औज़ार बनाने वाली मशीन), तुरी बनाने वाली मशीनें और म्यूल तथा थ्रौसल के तकुओं को गढ़ने वाली मशीनें।

सम्पन्न करता है। औद्योगिक क्रान्ति दस्तकार के औज़ार के इस अन्तिम भाग पर सब से पहले अधिकार करती है, और अपनी आंखों से मशीन को बराबर देखते रहने और उसकी ग़लतियों को अपने हाथों से ठीक कर देने का जो नया श्रम अब मज़दूर को करना पड़ता है, उसके अलावा उसके ज़िम्मे केवल यह यांत्रिक भूमिका ही रह जाती है कि वह मशीन की चालक शक्ति के रूप में काम आये। दूसरी ओर, जिन औज़ारों के सम्बंध में मनुष्य सदा एक सरल चालक शक्ति का काम करता रहा है, – जैसा कि वह, मिसाल के लिये, चक्की की कुहनी पकड़कर घुमाने,[1] पम्प चलाने, धौंकनी का हैंडिल ऊपर-नीचे चलाने, कुंडी में सोटे से पीटने आदि के समय करता है, – उन औज़ारों के लिये शीघ्र ही पशु, पानी[2] या हवा का चालक शक्तियों के रूप में उपयोग करने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। कहीं-कहीं पर हस्तनिर्माण के काल के बहुत पहले और कुछ हद तक उस काल में भी ये औज़ार मशीनों का रूप धारण कर लेते हैं, लेकिन उससे उत्पादन की पद्धति में कोई क्रान्ति नहीं होती। किन्तु आधुनिक उद्योग के काल में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हाथ से चलाये जाने वाले साधनों के रूप में भी ये औज़ार मशीनों का रूप धारण कर चुके हैं। मिसाल के लिये, जिन पम्पों से डच लोगों ने १८३६ – ३७ में हार्लेम झील को ख़ाली कर दिया था, वे साधारण पम्पों के सिद्धान्त के अनुसार ही बनाये गये थे। अन्तर केवल यह था कि उनके पिस्टन आदमियों द्वारा नहीं, बल्कि भाप के दैत्याकार इंजनों द्वारा चलाये जाते थे। इंगलैण्ड में लोहार की साधारण तथा अत्यन्त अविकसित धौंकनी कभी-कभी अपने दस्ते को किसी भाप के इंजन के साथ जोड़कर इंजन-धौंकनी बन जाती है। ख़ुद भाप के इंजन से, जैसा कि वह १७ वीं सदी के अन्त में, हस्तनिर्माण के काल में, अपने आविष्कार के समय था और जैसा कि वह १७८० तक बना रहा,[3] किसी प्रकार की औद्योगिक

---

[1]मूसा ने कहा है: "जो बैल अनाज मांड़ता है, उसके मुंह पर कभी छीका मत चढ़ा।" पर, इसके विपरीत, जर्मनी के ईसाई दानवीर, जब वे अर्द्ध-दासों से आटा पीसने की क्रिया में चालक शक्ति का काम लेते थे, तो उनके गले में लकड़ी का एक तख़्ता बांध देते थे, ताकि वे हाथ से उठाकर आटा मुंह में न डाल सकें।

[2]डच लोग यदि चालक शक्ति के रूप में हवा का उपयोग करने पर मजबूर हो गये, तो इसका कुछ हद तक तो यह कारण था कि उनके देश में ऐसी नदियों की कमी थी, जो काफ़ी ऊंचाई से गिरती हों, और कुछ हद तक यह कारण था कि उन्हें अक्सर अन्य क्षेत्रों में पानी की आवश्यकता से अधिक प्रचुरता के विरुद्ध संघर्ष करना होता था। पवन-चक्की ख़ुद उन्हें जर्मनी से मिली थी, जहां पर उसके आविष्कार से सामन्तों, पादरियों और सम्राट के बीच इस बात पर एक अच्छा-ख़ासा झगड़ा शुरू हो गया था कि हवा उनमें से किसकी "सम्पत्ति है"। सारे जर्मनी में शोर मच गया कि हवा लोगों को ग़ुलामी में जकड़ देती है, जब कि वही हवा हालैण्ड को आज़ादी दे रही थी। वहां हवा के द्वारा हालैण्ड-वासी ग़ुलामी में नहीं जकड़े गये, बल्कि ज़मीन हालैण्ड-वासियों की ग़ुलाम बना दी गयी। १८३६ में भी हालैण्ड में ६,००० अश्व-शक्ति की १२,००० पवन-चक्कियां देश की दो तिहाई भूमि को फिर से दलदल बन जाने से बचाने के लिये इस्तेमाल हो रही थीं।

[3]वाट्ट के पहले तथाकथित एक-दिश-क्रिय इंजन का आविष्कार होने पर भाप का इंजन बहुत-कुछ सुधर गया था, पर इस रूप में वह महज़ पानी ऊपर उठाने और नमक की खानों में से नमक का पानी निकालने की मशीन बना रहा।

क्रान्ति का आरम्भ नहीं हुआ था। इसके विपरीत, मशीनों के आविष्कार के कारण भाप के इंजनों के रूप में क्रान्ति होना आवश्यक हो गया था। जिस क्षण मनुष्य अपने श्रम की विषय-वस्तु पर किसी औजार के जरिये काम करने के बजाय किसी औजार-मशीन की चालक शक्ति बन जाता है, बस उसी क्षण से चालक शक्ति का मनुष्य की मांस-पेशियों के रूप में होना महज एक संयोग हो जाता है। उतनी ही आसानी से वह हवा, पानी या भाप का रूप भी धारण कर सकती है। पर, जाहिर है, ऐसा होने पर उस यंत्र में, जो शुरू में केवल मनुष्य के द्वारा चलाये जाने के लिये बनाया गया था, बहुत बड़ी प्राविधिक तबदीलियां हो जाती हैं। आजकल ऐसी सभी मशीनें, जिनका प्रचार होना अभी बाक़ी है, जैसे सीने की मशीनें या डबल रोटी बनाने की मशीनें आदि, जब तक कि उनके स्वरूप के कारण ही छोटे पैमाने पर उनका उपयोग असम्भव न हो, इस तरह बनायी जाती हैं कि वे मानव चालक शक्ति और विशुद्ध यांत्रिक चालक शक्ति दोनों के द्वारा चलायी जा सकें।

औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश करने वाली मशीन अकेले एक औजार से काम करने वाले मजदूर के स्थान पर एक ऐसा यंत्र स्थापित कर देती है, जो इसी प्रकार के कई औजारों से एक साथ काम करता है और जो केवल एक चालक शक्ति द्वारा ही गति में लाया जाता है, उस शक्ति का रूप चाहे कुछ भी हो।[1] यह मशीन तो होती है, पर अभी वह मशीनों से होने वाले उत्पादन का केवल एक प्राथमिक तत्व ही होती है।

मशीन के आकार में तथा वह जिन औजारों से काम करती है, उनकी संख्या में वृद्धि हो जाने पर उसे चलाने के लिये पहले से अधिक भारी-भरकम यंत्र की आवश्यकता होती है, और इस यंत्र के लिये, उसके प्रतिरोध पर क़ाबू पाने के वास्ते, मनुष्य से अधिक बलवान चालक शक्ति की जरूरत होती है। इसके अलावा, यह बात तो है ही कि समरूप निरन्तर गति पैदा करने के लिये मनुष्य बहुत अच्छा साधन नहीं है। मगर मान लीजिये कि मनुष्य केवल एक मोटर के रूप में काम कर रहा है और उसके औजार का स्थान किसी मशीन ने ले लिया है। ऐसी हालत में जाहिर है कि उसका स्थान प्राकृतिक शक्तियां ले सकती हैं। हस्तनिर्माण के काल से जितनी चालक शक्तियां विरासत में मिली थीं, उनमें अश्व-शक्ति सबसे खराब थी। कुछ हद तक तो इसलिये कि अश्व का खुद अपना भी एक मस्तिष्क होता है, और कुछ हद तक इसलिये कि वह बहुत महंगा होता है और कारखानों में बहुत सीमित पैमाने पर ही उसका उपयोग किया जा सकता है।[2] फिर भी आधुनिक उद्योग के बाल्य-काल में घोड़े का

---

[1] "इन तमाम सरल औजारों का योग जब किसी एक मोटर द्वारा हरकत में लाया जाता है, तो वह मशीन बन जाता है।" (Babbage, उप० पु० [पृ० १३६])।

[2] जनवरी १८६१ में जान सी० मौर्टन ने Society of Arts (धंधों की परिषद) के सामने "खेती में इस्तेमाल होने वाली शक्तियों" के विषय में एक निबंध पढ़ा था। उसमें उन्होंने कहा है: "हर ऐसे सुधार के फलस्वरूप, जिससे जमीन की समरूपता बढ़ती है, भाप का इंजन विशुद्ध यांत्रिक शक्ति के उत्पादन में अधिकाधिक इस्तेमाल होने लगता है ... अश्व-शक्ति वहां आवश्यक होती है, जहां कहीं टेढ़ी-मेढ़ी मेंड़ों तथा अन्य रुकावटों के कारण समरूप कार्य में बाधा पड़ती है। इस तरह की रुकावटें दिन-ब-दिन मिटती जा रही हैं। ऐसे कार्यों में, जिनमें वास्तविक बल की अपेक्षा इच्छा-शक्ति के उपयोग की अधिक आवश्यकता होती है, एकमात्र वही शक्ति इस्तेमाल हो सकती है, जिसपर प्रत्येक क्षण मानव-मस्तिष्क का नियंत्रण

काफ़ी व्यापक पैमाने पर उपयोग किया गया था। इसका एक प्रमाण तो यह है कि "अश्व-शक्ति" शब्द आज तक यांत्रिक शक्ति के नाम के रूप में जीवित है। इसके साथ-साथ, उसका दूसरा प्रमाण समकालीन काश्तकारों की शिकायतें थीं।

हवा बहुत अनिश्चित रहती थी, और उसपर नियंत्रण करना भी सम्भव नहीं था। इसके अलावा, इंगलैण्ड में, जो कि आधुनिक उद्योग का जन्म-स्थान है, हस्तनिर्माण के काल में भी पानी की शक्ति का ज्यादा इस्तेमाल होता था। एक अकेली पन-चक्की से आटा पीसने की दो चक्कियां चलाने की कोशिशें १७ वीं सदी में ही हो चुकी थीं। लेकिन योक्त्र या गियर का आकार इतना बढ़ गया था कि पानी की शक्ति उसे संभाल नहीं पाती थी और वह अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी। यह कठिनाई भी एक कारण थी, जिसने घर्षण के नियमों का अधिक सही अध्ययन आवश्यक बनाया। इसी प्रकार जो चक्कियां एक लीवर को दबाकर और खींचकर गति में लायी जाती थीं, उनमें चालक शक्ति से पैदा होने वाली अनियमितता के फलस्वरूप गतिपालक चक्र के सिद्धान्त ने जन्म लिया और उसका उपयोग आरम्भ हुआ। इसने बाद में आधुनिक उद्योग में बहुत बड़ी भूमिका अदा की।[1] इस प्रकार, हस्तनिर्माण के काल में आधुनिक यांत्रिक उद्योग के प्रथम वैज्ञानिक एवं प्राविधिक तत्व विकसित किये गये। आर्करराइट की थ्रौसल-कताई-मशीन शुरू से ही पानी के जरिये चलायी जाती थी। लेकिन इस सब के बावजूद प्रमुख चालक शक्ति के रूप में पानी का उपयोग करने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। पानी की शक्ति को इच्छानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता था, कुछ ख़ास मौसमों में वह बेकार हो जाती थी; और सबसे बड़ी बात यह थी कि बुनियादी तौर पर यह एक स्थानीय ढंग की शक्ति

---

रहता है। अर्थात् ऐसे कार्यों में केवल मनुष्य-शक्ति ही उपयोग में आ सकती है।" इसके बाद मि० मौर्टन भाप-शक्ति, अश्व-शक्ति और मनुष्य-शक्ति को उस इकाई में परिवर्तित कर देते हैं, जो भाप के इंजनों में आम तौर पर इस्तेमाल होती है। ३३,००० पौण्ड वजन को एक मिनट में एक फ़ुट ऊपर उठाने के लिए जो शक्ति आवश्यक होती है, वही यह इकाई है। फिर वह हिसाब लगाकर दिखाते हैं कि जब भाप के इंजन से एक अश्व-शक्ति ली जाती है, तो उसकी लागत ३ पेन्स प्रति घण्टा बैठती है, और जब वह घोड़े से ली जाती है, तो उसकी लागत ५$\frac{१}{२}$ पेन्स प्रति घण्टा होती है। इतना ही नहीं, यदि हम किसी घोड़े का स्वास्थ्य ठीक रखना चाहते हैं, तो हम उससे ८ घण्टे रोज़ाना से ज्यादा काम नहीं ले सकते। इसलिये, यदि भाप की शक्ति का उपयोग किया जाये, तो ज़मीन के जोतने-बोने में इस्तेमाल होने वाले हर सात घोड़ों में से कम से कम तीन घोड़ों के बिना ही काम चल सकता है। और भाप की शक्ति में पूरे एक साल में जो ख़र्च होगा, वह इन तीन घोड़ों के उन तीन या चार महीनों के ख़र्च से ज्यादा नहीं होगा, जिनमें उनसे सक्रिय रूप से काम लिया जा सकता था। अन्त में, खेती की जिन क्रियाओं में भाप की शक्ति का उपयोग किया जा सकता है, उनमें उसके इस्तेमाल से अश्व-शक्ति की अपेक्षा काम का स्तर ऊंचा हो जाता है। एक भाप के इंजन का काम करने के लिये ६६ आदमियों की ज़रूरत होगी, जिनपर कुल १५ शिलिंग फ़ी घण्टा ख़र्च होंगे, जब कि एक घोड़े का काम करने के लिये ३२ आदमियों की ज़रूरत होगी, जिनपर कुल ८ शिलिंग फ़ी घण्टा ख़र्च होंगे।

[1] फ़ौलहाबेर, १६२५; दे कौज़, १६८८।

थी।[1] वाट्ट के दूसरे और भाप के तथाकथित उभय-क्रिया इंजन का आविष्कार होने तक कोई ऐसा मूल चालक नहीं बनाया जा सका था, जो कोयला और पानी खर्च करके खुद अपनी शक्ति पैदा कर लेता हो; जिसकी शक्ति पूर्णतया मनुष्य के नियंत्रण में हो; जिसे एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाना सम्भव हो; जो संचलन के साधन के रूप में काम में आ सकता हो; जो शहरी हो, न कि पन-चक्की की तरह देहाती; जो पन-चक्कियों की तरह पूरे देहात में बिखरा हुआ न हो, बल्कि जिसके द्वारा उत्पादन को शहरों में केन्द्रीभूत किया जा सके,[2] जिसका सार्वत्रिक प्राविधिक उपयोग किया जा सके और जिसके निवास-स्थान पर स्थानीय परिस्थितियों का अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव पड़ता हो। वाट्ट ने अप्रैल १७८४ में अपने आविष्कार के उपयोग का जो एकाधिकार-पत्र प्राप्त किया था, उसके विवरण से प्रकट होता है कि उनकी प्रतिभा कितनी महान कोटि की थी। उस विवरण में वाट्ट के बनाये हुए भाप के इंजन का एक विशिष्ट प्रयोजन के आविष्कार के रूप में वर्णन नहीं किया गया था, बल्कि उसमें कहा गया है कि यांत्रिक उद्योग में इस आविष्कार का सार्वत्रिक उपयोग हो सकता है। उसमें वाट्ट ने उसके बहुत से उपयोग गिनाये हैं, जिनमें से बहुत से तो आधी शताब्दी बाद तक भी कार्यान्वित नहीं हो पाये थे। इसकी एक मिसाल है भाप का हथौड़ा। फिर भी वाट्ट को भाप के इंजन के जहाजरानी में इस्तेमाल हो सकने के बारे में सन्देह था। पर उनके उत्तराधिकारी बूल्टन और वाट्ट ने १८५१ की प्रदर्शनी में महासागरों में चलने वाले जहाजों के लिये विराट आकार के भाप के इंजन बनाकर भेजे थे।

जब मनुष्य के हाथ के औजार किसी यांत्रिक उपकरण के – अर्थात् मशीन के – औजारों में बदल गये, तो चालक यंत्र ने भी तुरन्त ही एक ऐसा स्वतंत्र रूप प्राप्त कर लिया, जो मानव-शक्ति की सीमाओं से सर्वथा मुक्त था। इसके बाद वह एक अकेली मशीन, जिसपर हम अभी तक विचार करते रहे हैं, मशीनों से होने वाले उत्पादन का मात्र एक तत्व बन गयी। अब एक चालक यंत्र बहुत सी मशीनों को एक साथ चलाने लगा। एक साथ जितनी मशीनें चलायी जाती हैं, उनकी संख्या के साथ-साथ चालक यंत्र भी विकसित होता जाता है, और संचालक यंत्र एक बहुत फैलता हुआ उपकरण बन जाता है।

---

[1] जल-शक्ति के औद्योगिक उपयोग पर पहले जो अनेक बंधन लगे हुए थे, उनमें से कई-एक से उसे आधुनिक टर्बाइन (जल-चक्र) ने मुक्त कर दिया है।

[2] "कपड़े के हस्तनिर्माण के शुरू के दिनों में कारख़ाना उस स्थान पर बनाया जाता था, जहां इतनी ऊंचाई से गिरने वाली कोई नदी होती थी, जिससे पन-चक्की को चलाना सम्भव होता था। और हालांकि पानी से चलने वाली मिलों की स्थापना से हस्तनिर्माण की घरेलू व्यवस्था का विघटन आरम्भ हो गया था, परन्तु फिर भी मिलें चूंकि अनिवार्य रूप से नदियों के तट पर खोली जाती थीं और अक्सर दो मिलों के बीच काफ़ी फ़ासला होता था, इसलिये वे एक शहरी व्यवस्था का नहीं, बल्कि एक देहाती व्यवस्था का ही भाग थीं। और जब तक नदी का स्थान भाप की शक्ति ने नहीं ले लिया, तब तक कारख़ानों को शहरों में, और ऐसे स्थानों में इकट्ठा नहीं किया जा सका, जहां पर भाप के उत्पादन के लिये आवश्यक कोयला और पानी पर्याप्त मात्रा में मिलते थे। भाप का इंजन ही कारख़ानों वाले शहरों का जनक है।" (ए० रेड्ग्रेव; *"Reports of Inspectors of Factories for 30th April, 1860"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८६०'], पृ० ३६।)

अब हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि एक ही प्रकार की अनेक मशीनों के सहकार और मशीनों की एक संश्लिष्ट प्रणाली में क्या भेद है।

पहली सूरत में पूरी वस्तु एक मशीन से तैयार होती है। यह मशीन तरह-तरह की उन तमाम क्रियाओं को कर डालती है, जिन्हें पहले या तो कोई एक दस्तकार अपने औज़ार से करता था, जैसे, मिसाल के लिये, बुनकर अपने करघे द्वारा, या जिनको कई दस्तकार एक के बाद एक अलग-अलग रूप से अथवा हस्तनिर्माण की किसी प्रणाली के सदस्यों के रूप में करते थे।[1] मिसाल के लिये, लिफ़ाफ़ों के हस्तनिर्माण में एक आदमी भांजने वाले औज़ार से काग़ज़ की तह करता था, दूसरा गोंद लगाता था, तीसरा वह सिरा मोड़ देता था, जिसपर कोई चिन्ह अंकित करना होता था, चौथा चिन्ह अंकित कर देता था और इसी तरह अन्य लोग अन्य प्रकार के काम करते जाते थे; और इनमें से प्रत्येक क्रिया के लिये लिफ़ाफ़े को एक नये हाथ में पहुंचना पड़ता था। पर लिफ़ाफ़े बनाने वाली एक अकेली मशीन अब ये सारी क्रियाएं एक साथ करती जाती है और एक घण्टे में ३,००० लिफ़ाफ़े बनाकर फेंक देती है। १८६२ की लन्दन की प्रदर्शनी में काग़ज़ की थैलियां बनाने वाली एक मशीन दिखायी गयी थी। वह काग़ज़ काटती थी, चिपकाती थी, मोड़ती थी और एक मिनट में ३०० थैलियां तैयार कर देती थी। यहां उस पूरी क्रिया को, जो कि हस्तनिर्माण के रूप में कई उपक्रियाओं में बंटी हुई थी, अनेक औज़ारों के योग से काम लेने वाली एक अकेली मशीन पूरा कर डालती है। अब, ऐसी मशीन चाहे किसी संश्लिष्ट ढंग के हाथ के औज़ार का नवीन रूप मात्र हो या चाहे वह हस्तनिर्माण द्वारा विशिष्टीकृत अनेक प्रकार के सरल औज़ारों का योग हो, दोनों सूरतों में फ़ैक्टरी में, यानी उस वर्कशाप में, जिसमें केवल मशीनों का ही इस्तेमाल होता है, हमारी एक बार फिर सरल सहकारिता से भेंट होती है। और यदि फ़िलहाल मज़दूर को एक तरफ़ छोड़ दिया जाये, तो यह सहकारिता सबसे पहले एक ही प्रकार की कई एक साथ काम करने वाली मशीनों के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने के रूप में हमारे सामने आती है। चुनांचे, बुनाई की फ़ैक्टरी साथ-साथ काम करने वाले कई शक्ति-चालित करघों की और सिलाई की फ़ैक्टरी एक ही मकान के अन्दर काम करने वाली सीने की बहुत सी मशीनों की बनी होती है। लेकिन यहां पर पूरी व्यवस्था में एक प्राविधिक एकता होती है, क्योंकि सब मशीनों को एक समान मूल चालक के स्पन्दनों से, संचालक यंत्र के माध्यम द्वारा एक साथ और बराबर मात्रा में आवेग प्राप्त होता है। और यह संचालक यंत्र भी कुछ हद तक सब मशीनों का साझा ही होता है, क्योंकि उसकी केवल विशिष्ट उप-शाखाएं ही प्रत्येक मशीन से जा मिलती हैं। इसलिये, जिस प्रकार कई औज़ार किसी एक मशीन की इंद्रियां होते हैं, उसी प्रकार एक ही तरह की कई मशीनें चालक यंत्र की इंद्रियां होती हैं।

---

[1] हस्तनिर्माण में होने वाले श्रम-विभाजन की दृष्टि से बुनाई कोई सरल श्रम नहीं था, बल्कि, इसके विपरीत, वह एक पेचीदे ढंग का हाथ का श्रम था। और इसलिये ताक़त से चलने वाला करघा एक ऐसी मशीन है, जो बहुत पेचीदे ढंग का काम करती है। यह समझना बिल्कुल ग़लत है कि आधुनिक मशीनों ने शुरू में केवल उन क्रियाओं पर अधिकार किया था जिनको श्रम-विभाजन ने सरल बना दिया था। हस्तनिर्माण के काल में कताई और बुनाई नयी प्रजातियों में बंट गयी थीं और उनके औज़ारों में बहुत से परिवर्तन और सुधार कर दिये गये थे, लेकिन ख़ुद श्रम किसी तरह नहीं बंटा था, और वह उस समय भी दस्तकारी ही बना हुआ था। इसलिये श्रम नहीं, बल्कि श्रम का औज़ार मशीन के प्रस्थान-बिंदु का काम करता है।

लेकिन जिसे सचमुच "मशीनों की संहति" कहा जा सकता है, वह इन स्वतंत्र मशीनों का स्थान उस वक़्त तक नहीं ले सकती, जब तक कि श्रम की विषय-वस्तु उन तफ़सीली क्रियाओं के एक सम्बद्ध क्रम से नहीं गुजरती, जिनको एक दूसरे का काम पूरा करने वाली, नाना प्रकार की अनेक मशीनों की एक पूरी माला सम्पन्न करती है। यहां पर फिर वही श्रम-विभाजन के द्वारा सम्पन्न होने वाली सहकारिता दिखाई देती है, जो हस्तनिर्माण की मुख्य विशेषता है। किन्तु अब यहां तफ़सीली काम करने वाली मशीनों का योग होता है। तरह-तरह के तफ़सीली काम करने वाले मजदूरों के औजार, – जैसे ऊन के हस्तनिर्माण में ऊन छांटने वालों, ऊन साफ़ करने वालों और ऊन कातने वालों आदि के औजार, – अब विशिष्टीकृत मशीनों के औजारों में बदल जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक मशीन पूरी प्रणाली की एक विशिष्ट इन्द्रिय होती है, जो एक ख़ास काम करती है। उद्योग की जिन शाखाओं में मशीनों की संहति का पहले-पहल उपयोग शुरू होता है, उनमें, मोटे तौर पर, स्वयं हस्तनिर्माण उत्पादन की क्रिया का विभाजन तथा, इसलिये, संगठन करने के लिये एक प्राकृतिक आधार प्रस्तुत कर देता है।[1] फिर भी एक मूलभूत अन्तर तुरन्त प्रकट हो जाता है। हस्तनिर्माण में हर ख़ास तफ़सीली क्रिया मजदूरों को या तो अकेले और या दल बनाकर अपने दस्तकारी के औजारों से पूरी करनी पड़ती है। उसमें एक ओर यदि मजदूर को उत्पादन-प्रक्रिया के अनुरूप ढाला जाता है, तो, दूसरी ओर, उत्पादन-प्रक्रिया को भी पहले ही से मजदूर के योग्य बना दिया गया था। श्रम-विभाजन का यह मनोगत सिद्धान्त मशीनों से होने वाले उत्पादन में लागू नहीं होता। यहां तो पूरी क्रिया को अलग करके उसका वस्तुगत ढंग से अध्ययन किया जाता है, यानी इस बात का ख़याल किये बिना कि यह क्रिया

---

[1] यांत्रिक उद्योग के युग के पहले ऊन का हस्तनिर्माण इंगलैण्ड का सबसे प्रमुख हस्तनिर्माण था। यही कारण है कि अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में इस उद्योग में सबसे अधिक प्रयोग किये गये। ऊन के सम्बंध में जो अनुभव प्राप्त हुआ, उसका लाभ कपास ने उठाया, जिसे मशीन में डालने के वास्ते तैयार करने में कम एहतियात की जरूरत होती है। इसी तरह, बाद को मशीनों के द्वारा ऊन की कताई-बुनाई मशीनों के द्वारा कपास की कताई और बुनाई के रास्ते पर चलकर विकसित हुई। ऊन के हस्तनिर्माण के कुछ ख़ास तफ़सीली काम, जैसे ऊन साफ़ करने का काम, १८५६ और १८६६ के बीच के दस वर्षों में ही फ़ैक्टरी-व्यवस्था में शामिल किये गये हैं। "ऊन साफ़ करने की मशीन के और ख़ास तौर पर लिस्टर की मशीन के इस्तेमाल में आने के समय से ही ऊन साफ़ करने की क्रिया में बड़े व्यापक पैमाने पर शक्ति का उपयोग हो रहा है ... और उसका निस्सन्देह यह प्रभाव हुआ है कि मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो गयी है। पहले ऊन को हाथ से साफ़ किया जाता था, और वह भी बहुधा साफ़ करने वाले की झोंपड़ी में। अब वह आम तौर पर कारख़ाने में साफ़ किया जाता है, और कुछ ख़ास तरह के कामों को छोड़कर, जिनमें अब भी हाथ से साफ़ किया गया ऊन ही पसन्द किया जाता है, अब हाथ के श्रम के लिये स्थान नहीं रह गया। हाथ से ऊन साफ़ करने वाले बहुत से कारीगरों को कारख़ानों में नौकरी मिल गयी, लेकिन हाथ से साफ़ करने वालों की पैदावार मशीनों की पैदावार के अनुपात में इतनी कम बैठती है कि हाथ से ऊन साफ़ करने वाले कारीगरों की एक बहुत बड़ी संख्या को रोजी मिलना अब असम्भव हो गया है।" (*"Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct., 1856"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० १६।)

मानव-हाथों को पूरी करनी होगी, उसका विश्लेषण किया जाता है और उसको उसकी संघटक उपक्रियाओं में बांट दिया जाता है और हर तफ़सीली उपक्रिया को कार्यान्वित करने तथा सारी उपक्रियाओं को एक सम्पूर्ण इकाई में जोड़ने की समस्या को मशीनों तथा रसायन-विज्ञान आदि की सहायता से हल किया जाता है।[1] लेकिन ज़ाहिर है कि इस सूरत में भी बड़े पैमाने पर अनुभव संचय करके सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान करना आवश्यक होता है। तफ़सीली काम करने वाली हर मशीन क्रम में अगले नम्बर की मशीन को कच्चा माल तैयार करके देती है, और चूंकि तमाम मशीनें एक साथ काम करती होती हैं, इसलिये पैदावार सदा अपने निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में से गुज़रती रहती है और साथ ही वह निरन्तर एक परिवर्तनकालीन दशा में, एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करने की दशा में, बनी रहती है। जिस प्रकार हस्तनिर्माण में तफ़सीली काम करने वाले मज़दूरों की प्रत्यक्ष सहकारिता विशिष्ट दलों की संख्या के बीच एक अनुपात स्थापित कर देती है, ठीक उसी प्रकार मशीनों की संगठित संहति में भी, जहां तफ़सीली काम करने वाली एक मशीन सदा किसी दूसरी मशीन को काम में लगाये रहती है, मशीनों की संख्या, आकार तथा गति के बीच एक निश्चित अनुपात क़ायम हो जाता है। सामूहिक मशीन अब नाना प्रकार की मशीनों तथा मशीनों के दलों की एक संगठित संहति होती है, और वह उतनी ही पूर्ण होती जाती है, जितनी उत्पादन की पूरी क्रिया एक निरन्तर चलने वाली क्रिया बनती जाती है, अर्थात् कच्चे माल के उत्पादन-प्रक्रिया की पहली अवस्था से अन्तिम अवस्था तक गुज़रने में जितने कम व्याघात होते हैं, या, दूसरे शब्दों में, जितना उसके एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचने का कार्य मनुष्य के हाथों के द्वारा नहीं, बल्कि ख़ुद मशीनों के द्वारा सम्पन्न होता है। हस्तनिर्माण में हर तफ़सीली उपक्रिया का पृथक कर दिया जाना श्रम-विभाजन के स्वरूप के कारण अनिवार्य हो जाता है, पर एक पूरी तरह विकसित फ़ैक्टरी में, इसके विपरीत, इन क्रियाओं की अविच्छिन्नता अनिवार्य होती है।

मशीनों की संहति चाहे केवल एक ही प्रकार की मशीनों की सहकारिता पर आधारित हो, जैसा कि बुनाई में होता है, और चाहे अलग-अलग प्रकार की मशीनों के योग पर आधारित हो, जैसा कि कताई में होता है, वह ख़ुद जब कभी किसी स्वचालित मूल चालक के द्वारा चलायी जाती है, तब सदा एक बड़ा लम्बा-चौड़ा स्वचालित यंत्र बन जाती है। लेकिन जहां कोई फ़ैक्टरी पूरी की पूरी ख़ुद अपने आप के इंजन द्वारा चलायी जाती है, वहां पर भी या तो कुछ ख़ास मशीनों को अपने कुछ ख़ास संचलनों के लिये मज़दूर की मदद की आवश्यकता हो सकती है (स्वचालित म्यूल का आविष्कार होने के पहले म्यूल के आधार को इधर से उधर दौड़ाने में इस तरह की मदद की ज़रूरत होती थी, और महीन कताई करने वाली मिलों में उसकी आज भी आवश्यकता होती है) और या किसी मशीन के काम करने के लिये यह ज़रूरी हो सकता है कि उसके कुछ ख़ास हिस्सों से मज़दूर हाथ के औज़ारों की तरह काम ले। जब तक slide rest (फिसलने वाला आधार) स्वचालित नहीं हो गया, तब तक मशीन बनाने वालों की वर्कशापों में यही सूरत होती थी। जब कोई मशीन बिना आदमी की मदद के कच्चे

[1] "अतएव, फ़ैक्टरी-व्यवस्था का सिद्धान्त यह है कि ... कारीगरों के बीच श्रम का विभाजन अथवा क्रम-भाजन करने के बजाय किसी क्रिया को उसके मौलिक संघटकों में विभक्त कर दिया जाये।" (Andrew Ure, *"The Philosophy of Manufactures"* [एण्ड्र्यू उरे, 'उद्योगों का दर्शन'], London, 1835, पृ० २०।)

माल का परिष्कार करने के लिये आवश्यक समस्त क्रियाओं को पूरा करने लगती है और जब उसे आदमी की केवल देखरेख की ही आवश्यकता रह जाती है, तब मशीनों की स्वचालित संहति तैयार हो जाती है। इस संहति की तफ़सीली बातों में निरन्तर सुधार किया जा सकता है। मिसाल के लिये, वह उपकरण, जो धागे के टूटते ही कताई की मशीन को चलने से रोक देता है, और वह self-acting stop (स्वचालित रोक), जो शटल बोबिन में बाना ख़तम हो जाते ही ताक़त से चलने वाले करघे को रोक देती है,—इस प्रकार के सुधार काफ़ी आधुनिक आविष्कारों के फल हैं। उत्पादन की निरन्तरता तथा स्वतःचलन के सिद्धान्त का उपयोग—इन दोनों बातों के उदाहरण के रूप में हम काग़ज़ की किसी आधुनिक मिल को ले सकते हैं। काग़ज़-उद्योग में आम तौर पर हम न केवल उत्पादन के विभिन्न साधनों पर आधारित उत्पादन की अलग-अलग प्रणालियों के भेदों का विस्तार के साथ उपयोगी अध्ययन कर सकते हैं, बल्कि उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियों का इन प्रणालियों से जो सम्बंध होता है, उसका भी तफ़सील के साथ अध्ययन कर सकते हैं। कारण कि पुराने ज़माने में जर्मनी में जिस तरह काग़ज़ बनाया जाता था, वह दस्तकारी के ढंग के उत्पादन का नमूना था, १७ वीं सदी में हालैण्ड में और १८ वीं सदी में फ़्रांस में जिस तरह काग़ज़ बनाया जाता था, वह हस्तनिर्माण की मिसाल था, और आधुनिक इंगलैण्ड में काग़ज़ तैयार करने का ढंग स्वचालित उत्पादन का नमूना है; इसके अलावा, हिन्दुस्तान और चीन में इसी उद्योग के दो प्राचीन एशियाई रूप आज भी मौजूद हैं।

मशीनों की ऐसी संगठित संहति, जिसे संचालक यंत्र के द्वारा एक केन्द्रीय स्वचालित यंत्र से गति प्राप्त होती है, मशीनों से होने वाले उत्पादन का सबसे अधिक विकसित रूप होती है। यहां पर अलग-अलग काम करने वाली मशीनों के बजाय एक यांत्रिक दैत्य होता है, जिसकी देह पूरी फ़ैक्टरियों को भर देती है और जिसकी राक्षसी शक्ति, जो शुरू में उसके दैत्याकार अवयवों की नपी-तुली और धीमी गति के आवरण के पीछे छिपी हुई थी, आख़िर अब उसकी असंख्य कार्यकारी इन्द्रियों के कोलाहलपूर्ण आवर्तन के रूप में फूट पड़ती है।

इससे पहले कि ऐसे मज़दूर, जिनका एकमात्र धंधा म्यूल और भाप के इंजन बनाना था, दिखाई दिये, दुनिया में म्यूल और भाप के इंजन आये। यह उसी तरह की बात है जैसे दर्ज़ियों के पैदा होने के बहुत पहले से लोग कपड़े पहन रहे थे। किन्तु यदि वौकान्सन, आर्कराइट, वाट्ट तथा अन्य व्यक्तियों के आविष्कार व्यावहारिक सिद्ध हुए, तो केवल इसीलिये कि इन आविष्कारकों के लिये हस्तनिर्माण के काल ने पहले से ही निपुण यांत्रिक मज़दूरों की एक काफ़ी बड़ी संख्या तैयार कर रखी थी। इनमें से कुछ मज़दूर विभिन्न धंधों के स्वतंत्र दस्तकार थे, दूसरे ऐसे हस्तनिर्माणों में एकत्रित हो गये थे, जिनमें, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रम-विभाजन का कड़ाई के साथ उपयोग किया जाता था। जैसे-जैसे आविष्कारों की संख्या बढ़ती गयी और नयी-नयी ईजाद की गयी मशीनों की मांग में वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे मशीन बनाने वाला उद्योग अधिकाधिक अनेक स्वतंत्र शाखाओं में बंटता गया और इन हस्तनिर्माणों में श्रम-विभाजन का अधिकाधिक विकास होता गया। इस तरह यहां पर हम देखते हैं कि हस्तनिर्माण में आधुनिक उद्योग का तात्कालिक प्राविधिक आधार था। हस्तनिर्माण ने ही वे मशीनें तैयार की थीं, जिनके ज़रिये आधुनिक उद्योग ने उत्पादन के उन क्षेत्रों में, जिनपर उसने सबसे पहले अधिकार किया था, दस्तकारी तथा हस्तनिर्माण की प्रणालियों का अन्त कर दिया। इसलिये, घटनाओं के स्वाभाविक विकास-क्रम के अनुसार फ़ैक्टरियों की व्यवस्था एक अपर्याप्त नींव पर

खड़ी हुई थी। जब इस व्यवस्था का एक ख़ास हद तक विकास हो गया, तो उसे इस नींव को, जो उसे पहले से तैयार मिली थी और जो इस बीच पुराने ढर्रे पर ही विकसित हो गयी थी, उखाड़ देना पड़ा और अपने लिये खुद एक ऐसा आधार तैयार करना पड़ा, जो उसके उत्पादन के तरीक़ों के अनुरूप था। जिस प्रकार जब तक मशीन केवल मनुष्य की शक्ति से ही चलती है, तब तक वह वामनाकार बनी रहती है, और जिस प्रकार जब तक प्राचीन काल की चालक शक्तियों का स्थान – अर्थात् पशुओं, हवा और यहां तक कि पानी का भी स्थान – भाप के इंजन ने नहीं ले लिया, तब तक मशीनों की किसी भी संहति का अच्छी तरह विकास नहीं हो सका, उसी प्रकार जब तक आधुनिक उद्योग के उत्पादन के विशिष्ट साधन – मशीन – का अस्तित्व व्यक्तिगत बल और व्यक्तिगत निपुणता पर निर्भर था और जब तक उसका अस्तित्व हस्तनिर्माणों में तफ़सीली काम करने वाले मजदूरों और दस्तकारियों के हाथ से काम करने वाले कारीगरों की मांस-पेशियों के विकास, दृष्टि की तीक्ष्णता और अपने वामनाकार औज़ारों से काम करने में उनकी हाथ की सफ़ाई पर निर्भर करता था, तब तक आधुनिक उद्योग के पूर्ण विकास को मानो लक़वा मारे रहा। इस तरह जो मशीनें बनायी जाती थीं, वे बहुत महंगी पड़ती थीं, और यह एक ऐसी बात है, जिसका पूंजीपति को हमेशा ख़याल रहता है। पर इसके अलावा यह बात भी साफ़ है कि मशीनों का इस्तेमाल करने वाले उद्योगों के विस्तार की और उत्पादन के नये क्षेत्रों पर मशीनों की चढ़ाई की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि मजदूरों के एक ख़ास वर्ग की संख्या में कितनी वृद्धि होती है, जब कि यह ख़ास वर्ग अपने धंधे के लगभग कलापूर्ण स्वरूप के कारण अपनी संख्या को एक ही झटके में नहीं, केवल धीरे-धीरे ही बढ़ा सकता था। इतना ही नहीं, विकास की एक विशेष अवस्था पर पहुंचकर आधुनिक उद्योग प्रौद्योगिक दृष्टि से उस आधार के साथ मेल नहीं खा पाया, जो दस्तकारी तथा हस्तनिर्माण ने उसके लिये तैयार किया था। मूल चालकों का, संचालक यंत्रों का और खुद मशीनों का आकार बढ़ता गया। ये मशीनें जितनी ही हाथ के श्रम से बनायी गयी उन आदिम मशीनों के नमूनों से भिन्न होती गयीं और जितनी ही वे एक ऐसा रूप धारण करती गयीं, जो कार्य की परिस्थितियों[1] के सिवा और किसी बात से प्रभावित नहीं होता, उनके छोटे-छोटे हिस्सों की जटिलता, अनेकरूपता और

---

[1] शक्ति से चलने वाला करघा पहले मुख्यतया लकड़ी का बनाया जाता था। अपने सुधरे हुए रूप में वह लोहे का बनाया जाता है। उत्पादन के औज़ारों के पुराने रूप शुरू-शुरू में अपने नये रूपों को कितना अधिक प्रभावित करते थे, यह बात अन्य चीज़ों के अलावा शक्ति से चलने वाले मौजूदा करघे की पुराने करघे के साथ बहुत ही सतही ढंग से तुलना करने पर भी देखी जा सकती है; यह बात हवा-भट्ठी को धौंकने वाले आधुनिक यंत्र का साधारण धौंकनी की उस प्रथम निकम्मी यांत्रिक पुनरावृत्ति से मुक़ाबला करने पर भी स्पष्ट हो जाती है; और इस बात पर सबसे अधिक प्रकाश शायद उन कोशिशों से पड़ता है, जो रेल के वर्तमान इंजन का आविष्कार होने के पहले एक ऐसा इंजन बनाने के लिये की गयी थीं, जिसके दो पैर ऐसे हों, जिनको वह घोड़े की तरह बारी-बारी से ज़मीन से उठा सके। जब यांत्रिकी के विज्ञान का काफ़ी विकास हो जाता है और बहुत सारा व्यावहारिक अनुभव इकट्ठा हो जाता है, केवल तभी किसी मशीन का रूप पूरी तरह यांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार तै हो पाता है और केवल तभी वह उस औज़ार के परम्परागत रूप से मुक्त हो पाती है, जिसने उसको जन्म दिया है।

नियमितता भी उतनी ही बढ़ती गयी। स्वतःचलन की प्रणाली का अधिकाधिक विकास होता गया। दिन-ब-दिन पहले से अधिक ऊष्मसह पदार्थ का—जैसे लकड़ी के बजाय लोहे का—प्रयोग अनिवार्य बनता गया। परन्तु परिस्थितियों के प्रभाव से अपने आप उत्पन्न हो गयी इन तमाम समस्याओं का हल करने में एक रुकावट का हर जगह सामना करना पड़ता था। वह उन व्यक्तिगत सीमाओं की रुकावट थी, जिन्हें हस्तनिर्माण का सामूहिक मजदूर भी कुछ हद तक ही दूर कर सका था, लेकिन उनसे पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था। हस्तनिर्माण ऐसी मशीनें कभी नहीं बना सकता था, जैसे आधुनिक द्रवचालित दाबक, ताक़त से चलने वाला आधुनिक करघा और धुनाई की आधुनिक मशीन।

जब उद्योग के किसी एक क्षेत्र में उत्पादन की प्रणाली में मौलिक क्रान्ति हो जाती है, तो अन्य क्षेत्रों में भी उसी प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। यह सबसे पहले उद्योग की उन शाखाओं में होता है, जो एक ही प्रक्रिया की अलग-अलग अवस्थाएं होने के नाते तो जुड़ी हुई होती हैं, पर साथ ही जो सामाजिक श्रम-विभाजन के द्वारा एक दूसरे से इस तरह अलग कर दी गयी हैं कि उनमें से प्रत्येक एक स्वतंत्र माल तैयार करती है। चुनांचे, जब कताई मशीनों से होने लगी, तो मशीनों से बुनाई करना भी आवश्यक हो गया; और फिर दोनों ने मिलकर कपड़े सफ़ेद करने के धंधे में और कपड़ों की छपाई और रंगाई में भी वह यान्त्रिक तथा रासायनिक क्रान्ति आवश्यक बना दी, जो बाद को सम्पन्न हुई। दूसरी ओर, इसी तरह कपास की कताई में क्रान्ति होने पर बिनौलों को रूई से अलग करने के लिये कपास ओटने की कल का आविष्कार करना आवश्यक हो गया। कताई की मशीनों के लिये आजकल जिस बृहत् पैमाने पर रूई का उत्पादन करना जरूरी हो गया है, वह केवल इसी आविष्कार के फलस्वरूप सम्भव हुआ था।[1] इससे भी अधिक विशेष रूप से, जब उद्योग तथा खेती की उत्पादन-प्रणालियों में क्रान्ति हुई, तो उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया की सामान्य परिस्थितियों में—अर्थात् संचार और परिवहन के साधनों में—भी एक क्रान्ति का होना आवश्यक हो गया। फ़ूरिये के शब्दों में, जिस समाज की pivôt (धुरी) सहायक घरेलू उद्योगों समेत छोटे पैमाने की खेती और शहरों की दस्तकारियां थी, उस समाज में जिस प्रकार के संचार और परिवहन के साधन थे, वे हस्तनिर्माण के काल के उत्पादन की आवश्यकताओं के लिये, जिसमें सामाजिक श्रम का विस्तारित विभाजन था, जिसके श्रम के औजारों और मजदूरों का केन्द्रीकरण हो गया था और जिसके लिये उपनिवेशों में मंडियां तैयार हो गयी थीं, इतने अधिक अपर्याप्त थे कि उनमें सचमुच क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। इसी प्रकार हस्तनिर्माण के काल से आधुनिक उद्योग को संचार और परिवहन के जो साधन मिले, वे इस नये ढंग के उद्योग के लिये, जिसमें तूफ़ानी गति से उत्पादन होता है, जिसका विस्तार बहुत लम्बा-चौड़ा है, जो पूंजी और श्रम को सदा उत्पादन के एक क्षेत्र से निकालकर दूसरे क्षेत्र में डालता रहता है और जिसके पूरे संसार की मण्डियों से नवोत्पादित सम्बंध स्थापित हो चुके

---

[1] एलि व्हिटने की बनायी हुई cotton gin (कपास ओटने की कल) में अभी हाल तक जितने कम मौलिक परिवर्तन हुए थे, उतने कम परिवर्तन १८ वीं सदी की किसी और मशीन में नहीं हुए थे। यह केवल (१८५६ के बाद के) पिछले दस वर्षों की ही बात है कि अल्बानी, न्यू यार्क के निवासी, मि० एमेरी नामक एक और अमरीकी व्यक्ति ने व्हिटने की कल में एक ऐसा सुधार करके, जो जितना कारगर है, उतना ही सरल भी है, उसे बीते जमाने की चीज बना दिया।

हैं, शीघ्र ही असहनीय बाधायें बन गये। इसलिये, समुद्र में चलने वाले वाष्प-जलपोतों की बनावट में जो मूलभूत परिवर्तन किये गये, उनके अलावा नदियों में चलने वाले स्टीमरों, रेलों और समुद्र में चलने वाले वाष्प-जलपोतों की एक पूरी व्यवस्था और तार-प्रणाली के जन्म से संचार और परिवहन के साधन धीरे-धीरे यांत्रिक उद्योग की उत्पादन-पद्धतियों के अनुरूप बन गये। लेकिन अब लोहे की जिन भारी राशियों को गढ़ना, जोड़ना, काटना, बरमाना और ढालना पड़ता था, उनके लिये दैत्याकार मशीनों की आवश्यकता हुई, जिनको बनाने के लिये हस्तनिर्माण के काल के तरीक़े सर्वथा अपर्याप्त थे।

चुनांचे, आधुनिक उद्योग को उत्पादन के अपने इस विशिष्ट औज़ार को – अर्थात् मशीन को – ख़ुद अपने हाथ में लेना पड़ा और मशीनों के द्वारा मशीनें बनानी पड़ीं। जब तक उसने यह नहीं किया, तब तक वह अपने लिये एक समुचित प्राविधिक आधार नहीं तैयार कर पाया और न अपने पैरों पर ही खड़ा हो पाया। इधर मशीनों का उपयोग बढ़ता गया, उधर उसी के साथ-साथ वर्तमान शताब्दी के शुरू के बीस-तीस वर्षों में मशीनों ने धीरे-धीरे मशीनों के निर्माण पर भी अधिकार कर लिया। लेकिन यह बात १८६६ के पहले के दस वर्षों में ही देखने में आयी कि रेलों और समुद्र में चलने वाले जहाज़ों का बहुत ही बड़े पैमाने पर निर्माण करने के लिये वे दैत्याकार मशीनें तैयार होने लगीं, जो आजकल मूल चालकों के निर्माण में इस्तेमाल होती हैं।

मशीनों द्वारा मशीनें तैयार करने के लिये सबसे अधिक ज़रूरी चीज़ यह थी कि कोई ऐसा मूल चालक मिले, जो किसी भी मात्रा में बल का प्रयोग कर सके और फिर भी जो पूरी तरह नियंत्रण में रहे। भाप के इंजन ने यह ज़रूरत पहले ही से पूरी कर दी थी। लेकिन इसके साथ-साथ मशीनों के तफ़सीली हिस्सों के लिये आवश्यक, रेखागणित की दृष्टि से बिल्कुल नपी-तुली सीधी रेखाएं, समतल, वृत्त, बेलन, कोन और गोले बनाने की आवश्यकता थी। यह समस्या हेनरी मौड्स्ले ने इस शताब्दी के पहले दशक में slide rest (फिसलने वाले आधार) का आविष्कार करके हल कर दी। यह औज़ार शीघ्र ही स्वचालित बना दिया गया, और ख़राद के अलावा, जिसके लिये वह शुरू-शुरू में बनाया गया था, वह कुछ संशोधित रूप में कतिपय अन्य निर्माणकारी मशीनों में भी इस्तेमाल होने लगा। यह यांत्रिक उपकरण किसी विशेष औज़ार का नहीं, बल्कि ख़ुद आदमी के हाथ का स्थान ले लेता है। आदमी का हाथ काटने वाले औज़ार को पकड़कर उसकी धार लोहे या अन्य किसी पदार्थ से लगाता था और इस तरह उस पदार्थ को कोई निश्चित रूप दे देता था। अब यह काम यह यांत्रिक उपकरण करने लगता है। इस प्रकार, मशीनों के अलग-अलग हिस्सों को "इतनी आसानी और फ़ुर्ती के साथ और इतने नपे-तुले ढंग से" बनाया जाने लगा, "जिसका अधिक से अधिक निपुण मज़दूर के हाथ में संचित अनुभव भी मुक़ाबला नहीं कर सकता था।"[1]

---

[1] *"The Industry of Nations"* ('राष्ट्रों का उद्योग'), London, 1855, भाग २, पृ० २३९। इस पुस्तक में यह भी लिखा है: "ख़रादों में लगा यह उपकरण ऊपर से चाहे जितना सरल और महत्वहीन प्रतीत होता हो, पर हमारा विचार है कि यदि हम यह कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि मशीनों के उपयोग का सुधार तथा विस्तार करने में इस उपकरण ने उतना ही प्रभाव डाला है, जितना ख़ुद भाप के इंजन में वाट्ट के किये सुधारों ने डाला था। उसका इस्तेमाल होने पर सभी मशीनें तुरन्त ही पहले से अच्छी बन गयीं, सस्ती हो गयीं और आविष्कार तथा सुधार को बहुत प्रोत्साहन मिला।"

अब यदि हम अपना ध्यान मशीनों के निर्माण में इस्तेमाल होने वाली मशीनों के उस भाग पर केन्द्रित करें, जो कार्यकारी औज़ार का काम करता है, तो एक बार फिर हाथ के औज़ार हमारे सामने आते हैं, मगर इस बार उनका आकार बहुत बड़ा होता है। बरमाने की मशीन का कार्यकारी भाग एक बहुत बड़ा बरमा होता है, जो भाप के इंजन द्वारा चलाया जाता है। दूसरी ओर, इस मशीन के बिना भाप के बड़े इंजनों और द्रवचालित दाबकों के बेलन नहीं बनाये जा सकते थे। यांत्रिक ख़राद केवल पैर से चलाये जानेवाले साधारण ख़राद का ही एक दैत्याकार नवसंस्करण है; रन्दा करने वाली मशीन लोहे के एक बढ़ई के समान होती है,—वह उन्हीं औज़ारों से काम करती है, जिनको बढ़ई का काम करने वाला मनुष्य लकड़ी पर इस्तेमाल करता है; लन्दन के घाटों पर जिस औज़ार से लकड़ी के पतले पत्तर काटे जाते हैं, वह असल में एक बहुत बड़ा उस्तरा है; कतरने वाली मशीन, जो लोहे को उतनी ही आसानी से कतर डालती है, जितनी आसानी से दर्ज़ी की कैंची कपड़ा काटती है, एक दैत्याकार कैंची होती है, और भाप के हथौड़े का सिरा एक साधारण हथौड़े के ही समान होता है, मगर वह इतना भारी होता है कि ख़ुद थोर—स्कैंडिनेविया के निवासियों का एक बिजली-देवता—भी उससे काम न ले पाता।[1] भाप के ये हथौड़े नासमिथ के आविष्कार हैं, और उनमें से एक हथौड़ा ६ टन से भी अधिक भारी है और वह ३६ टन के अहरन पर ७ फ़िट की सीधी ऊंचाई से गिरता है। उसके लिये ग्रेनाइट पत्थर की एक सिल का चूरा कर देना बच्चों के खेल के समान है। मगर साथ ही वह दो-चार बार बहुत हल्की सी थाप देकर एक कील को भी मुलायम लकड़ी में गाड़ सकता है।[2]

जब श्रम के औज़ार मशीनों का रूप धारण कर लेते हैं, तब मानव-शक्ति के स्थान पर प्राकृतिक शक्तियों का और अनुभव-सिद्ध रीति के बजाय विज्ञान का सजग उपयोग करना आवश्यक हो जाता है। हस्तनिर्माण में सामाजिक श्रम-प्रक्रिया का विशुद्ध मनोगत संगठन किया जाता है,—उसमें बहुत से तफ़सीली काम करने वाले मज़दूरों को जोड़ दिया जाता है; आधुनिक उद्योग के पास अपनी मशीनों की संहति के रूप में एक ऐसा उत्पादक संघटन होता है, जो विशुद्ध वस्तुगत संगठन है और जिसमें मज़दूर पहले से तैयार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों का एक उपांग मात्र बन जाता है। सरल सहकारिता में और यहां तक कि श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता में भी सामूहिक मज़दूर का अलग-अलग काम करने वाले मज़दूरों का स्थान ले लेना न्यूनाधिक रूप में एक आकस्मिक बात प्रतीत होता है। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका बाद में ज़िक्र किया जायेगा, मशीनें केवल सम्बद्ध श्रम के द्वारा, केवल सामूहिक श्रम के द्वारा ही काम करती हैं। इसलिये, जहां मशीनों का इस्तेमाल होता है, वहां श्रम-क्रिया का सहकारी स्वरूप ख़ुद श्रम के औज़ार के कारण एक प्राविधिक आवश्यकता बन जाता है।

---

[1] इनमें से एक मशीन, जो लन्दन में padde-wheel shafts (जहाज़ चलाने की चर्ख़ी के धुरे) गढ़ने के काम में आती है, "थोर" कहलाती है। वह $16\frac{1}{2}$ टन का धुरा उतनी ही आसानी से गढ़ देती है, जितनी आसानी से लुहार घोड़े की नाल गढ़ता है।

[2] लकड़ी का काम करने वाली मशीनें, जो छोटे पैमाने पर भी इस्तेमाल हो सकती हैं, प्रायः अमरीकी आविष्कार हैं।

## अनुभाग २–मशीनों द्वारा पैदावार में स्थानांतरित कर दिया गया मूल्य

हम यह देख चुके हैं कि सहकारिता तथा श्रम-विभाजन से जो उत्पादक शक्तियां उत्पन्न होती हैं, उनमें पूंजी का एक पैसा भी ख़र्च नहीं होता। ये तो सामाजिक श्रम की स्वाभाविक शक्तियां होती हैं। इसी प्रकार, जब भाप, पानी आदि भौतिक शक्तियों का उत्पादक क्रियाओं में उपयोग होता है, तब उनपर कुछ खर्च नहीं होता। लेकिन जिस तरह आदमी को सांस लेने के लिये फेफड़ों की ज़रूरत होती है, उसी तरह उसे भौतिक शक्तियों का उत्पादक ढंग से उपयोग करने के लिये आदमी के हाथ की बनी किसी चीज़ की ज़रूरत होती है। पानी की शक्ति का उपयोग करने के लिये पन-चक्की की और भाप की प्रत्यास्थता से लाभ उठाने के लिये भाप के इंजन की आवश्यकता होती है। जब एक बार किसी विद्युत-धारा के क्षेत्र में चुम्बक की सुई के विचलन का नियम या जिस लोहे के चारों ओर कोई विद्युत-धारा बह रही हो, उसके चुम्बक बन जाने का नियम मालूम हो जाता है, तब फिर उसके बाद इन नियमों पर एक पाई भी ख़र्च नहीं होती।[1] लेकिन तार-प्रणाली आदि में इन नियमों का उपयोग करने के लिये एक बहुत क़ीमती और विस्तृत उपकरण की आवश्यकता होती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, औज़ार को मशीन नष्ट नहीं कर देती। मानव-शरीर के एक छोटे से, वामनाकार औज़ार के बजाय वह फैलकर और बढ़कर आदमी के बनाये हुए एक यंत्र का औज़ार बन जाता है। अब पूंजी मज़दूर से काम लेती है, तो उसे हाथ के औज़ार से नहीं, बल्कि एक ऐसी मशीन से काम करना पड़ता है, जो ख़ुद उस औज़ार को चलाती है। इसलिये, यद्यपि यह बात पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाती है कि आधुनिक उद्योग विराट भौतिक शक्तियों और प्राकृतिक विज्ञान दोनों का उत्पादन की क्रिया में समावेश करके श्रम की उत्पादकता में असाधारण वृद्धि कर देता है, तथापि यह बात इतनी स्पष्ट कदापि नहीं होती कि यह पहले से बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति पहले से अधिक श्रम ख़र्च करके नहीं ख़रीदी जाती। स्थिर पूंजी के दूसरे हरेक संघटक की भांति मशीनें भी कोई नया मूल्य नहीं पैदा करतीं, बल्कि वे जिस पैदावार को तैयार करने में मदद देती हैं, उसको ख़ुद अपना मूल्य समर्पित कर देती हैं। जिस हद तक मशीन का मूल्य होता है और उसके परिणामस्वरूप जिस हद तक वह अपना मूल्य पैदावार को दे देती है, उस हद तक वह उस पैदावार के मूल्य का एक तत्व बन जाती है। पैदावार पहले से सस्ती होने के बजाय मशीन के मूल्य के अनुपात में पहले से महंगी हो जाती है। और आज यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि आधुनिक उद्योग के ये विशिष्ट

---

[1] आम तौर पर विज्ञान पर पूंजीपति का एक पैसा ख़र्च नहीं होता। मगर इस बात से पूंजीपति के विज्ञान से लाभ उठाने में कोई रुकावट नहीं पड़ती। जिस प्रकार पूंजी दूसरों के श्रम पर अधिकार कर लेती है, उसी प्रकार वह दूसरों के विज्ञान पर भी कब्ज़ा कर लेती है। लेकिन विज्ञान पर अथवा भौतिक धन पर पूंजीवादी हस्तगतकरण और व्यक्तिगत हस्तगतकरण दो बिल्कुल अलग-अलग चीज़ें होती हैं। ख़ुद डा० उरे ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि मशीनों का उपयोग करने वाले उनके प्रिय कारख़ानेदारों में यांत्रिक विज्ञान का तनिक सा भी ज्ञान नहीं पाया जाता, और इंगलैण्ड के रासायनिक कारख़ानों के मालिकों में रसायन-विज्ञान का कैसा आश्चर्यजनक अज्ञान पाया जाता है, इसके बारे में लीबिग एक पूरी कथा सुना सकते हैं।

श्रम के औज़ार, अर्थात् मशीनें और मशीनों की संहतियां इतने अधिक मूल्य से लदी होती हैं कि दस्तकारियों और हस्तनिर्माणों में इस्तेमाल होने वाले औज़ारों का उनसे कोई मुक़ाबला हो ही नहीं सकता।

सब से पहली बात, जिसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिये, यह है कि मशीनें श्रम-प्रक्रिया में सदा पूरी की पूरी प्रवेश करती हैं, पर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वे थोड़ा-थोड़ा करके प्रवेश करती हैं। वे घिसाई-छिजाई के फलस्वरूप औसतन जितना मूल्य खो देती हैं, उससे अधिक मूल्य कभी पैदावार में नहीं जोड़तीं। इसलिये, किसी मशीन के मूल्य में और वह मशीन किसी निश्चित समय में जितना मूल्य पैदावार में स्थानांतरित कर देती है, उसमें बहुत बड़ा अन्तर होता है। श्रम-प्रक्रिया में मशीन के जीवन की अवधि जितनी लम्बी होती है, उतना ही यह अन्तर भी अधिक होता है। जैसा कि हम ऊपर भी देख चुके हैं, यह निस्सन्देह सच है कि श्रम का प्रत्येक औज़ार श्रम-क्रिया में पूरे का पूरा प्रवेश करता है, मगर मूल्य पैदा करने की क्रिया में वह केवल थोड़ा-थोड़ा करके और घिसाई-छिजाई के फलस्वरूप होने वाली अपनी औसत दैनिक क्षति के अनुपात में ही प्रवेश करता है। लेकिन समूचे उपकरण और उसकी दैनिक घिसाई-छिजाई का यह अन्तर साधारण औज़ार की अपेक्षा मशीन में कहीं ज़्यादा होता है, क्योंकि एक तो मशीन ज़्यादा टिकाऊ पदार्थ की बनी हुई होने के कारण अधिक समय तक चलती है; दूसरे, उसका उपयोग विशुद्ध वैज्ञानिक नियमों द्वारा नियंत्रित होने के कारण उसके कल-पुर्ज़ों की घिसाई कम होती है और उसके द्वारा उपभोग की जाने वाली सामग्री में मितव्ययिता होती है; और अन्तिम बात यह कि उसका उत्पादन का क्षेत्र औज़ार के क्षेत्र की तुलना में कहीं अधिक बड़ा होता है। चाहे मशीन हो और चाहे औज़ार हो, यदि हम इसका हिसाब लगा लेते हैं कि उनकी औसत दैनिक लागत कितनी बैठती है,—यानी वे अपनी औसत दैनिक घिसाई के द्वारा कितना मूल्य उत्पादन में स्थानांतरित कर देते हैं,—और यह भी समझ लेते हैं कि वे जो तेल, कोयला आदि सहायक पदार्थ ख़र्च करते हैं, उनपर कितना ख़र्च होगा, तो उसके बाद मशीन या औज़ार अपना काम ठीक उन शक्तियों की भांति मुफ़्त करते हैं, जिनको प्रकृति मनुष्य की सहायता के बिना प्रस्तुत कर देती है। औज़ार की तुलना में मशीनों की उत्पादक शक्ति जितनी अधिक होती है, औज़ार की अपेक्षा वे उतनी ही ज़्यादा मुफ़्त सेवा करती हैं। आधुनिक उद्योग में मनुष्य पहली बार अपने पिछले श्रम की पैदावार से बड़े पैमाने पर प्रकृति की शक्तियों की भांति मुफ़्त काम कराने में सफल हुआ है।[1]

---

[1] मशीनों के इस प्रभाव पर रिकार्डो ने इतना अधिक ज़ोर दिया है (हालांकि अन्य बातों में वह श्रम-प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की क्रिया के सामान्य अन्तर की ओर जितना अधिक ध्यान देते हैं, उन्होंने उससे अधिक ध्यान मशीनों की ओर नहीं दिया है) कि कभी-कभी तो जो मूल्य मशीनें पैदावार को समर्पित कर देती हैं, वह उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है, और वह मशीनों को प्राकृतिक शक्तियों की हैसियत दे देते हैं। चुनांचे उन्होंने लिखा है: "प्राकृतिक शक्तियां और मशीनें हमारी जो सेवाएं करती हैं, ऐडम स्मिथ उनका महत्त्व कहीं पर भी कम करके नहीं आंकते; लेकिन वे जो मूल्य मालों में जोड़ती हैं, स्मिथ उसके स्वरूप में ज़रूर फ़र्क़ करते हैं, जो उचित ही है . . . ये शक्तियां चूंकि अपना काम मुफ़्त करती हैं, इसलिये वे हमें जो मदद देती हैं, उससे विनिमय-मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ३३६, ३३७।) रिकार्डो का यह मत,

सहकारिता और हस्तनिर्माण पर विचार करते समय हम यह बता चुके हैं कि उत्पादन के कुछ खास तत्व – मसलन इमारतें – सामूहिक ढंग से इस्तेमाल होने के कारण अलग-अलग काम करने वाले मजदूरों के बिखरे हुए उत्पादन के साधनों की तुलना में अधिक मितव्ययिता के साथ खर्च होते हैं और इसलिये वे पैदावार को पहले से सस्ती बना देते हैं। मशीनों की संहति में न केवल मशीन का ढांचा उसके अनेक कार्यकारी कल-पुर्जों के द्वारा सामूहिक ढंग से इस्तेमाल किया जाता है, बल्कि मूल चालक और उसके साथ-साथ संचारक यंत्र का एक भाग भी अनेक कार्यकारी मशीनों के द्वारा सामूहिक ढंग से इस्तेमाल किया जाता है।

यदि हमें यह पहले से मालूम है कि मशीनों का मूल्य और वे रोजाना जितना मूल्य पैदावार में स्थानांतरित कर देती हैं, उनमें कितना अन्तर है, तो यह स्थानांतरित मूल्य पैदावार को कितना महंगा बना देगा, यह सबसे पहले इस बात पर निर्भर करता है कि पैदावार का आकार – अर्थात् उसका विस्तार – कितना बड़ा है। ब्लैकबर्न-निवासी मि० बेन्स ने १८५८ में प्रकाशित अपने एक भाषण में यह अनुमान लगाया है कि "प्रत्येक वास्तविक यांत्रिक अश्व-शक्ति[1] तैयारी सम्बन्धी सभी सहायक उपकरणों सहित ४५० स्वचालित म्यूल-तकुओं

---

ज़ाहिर है, उस हद तक सही है, जिस हद तक कि उससे जे० बी० से के इस मत का खण्डन होता है कि मशीनें मूल्य पैदा करने के रूप में हमारी "सेवा" करती हैं और वह मूल्य "मुनाफ़े" का एक भाग होता है।

[1] एक अश्व-शक्ति ३३,००० फ़ुट-पौंड प्रति मिनट की शक्ति के बराबर होती है, यानी वह उस शक्ति के बराबर होती है, जो एक मिनट में ३३,००० पौंड वजन को एक फ़ुट ऊपर उठा सकती है या जो एक मिनट में एक पौण्ड वज़न को ३३,००० फ़ुट ऊपर उठा सकती है। पाठ में इसी अश्व-शक्ति का ज़िक्र किया गया है। साधारण भाषा में और कहीं-कहीं पर इस पुस्तक में दिये गये उद्धरणों में भी एक ही इंजन की "नाम मात्र की" और "व्यावसायिक", अथवा "निर्दिष्ट", अश्व-शक्ति में भेद किया गया है। पुरानी, अथवा नाम मात्र की, अश्व-शक्ति का केवल पिस्टन के आघात की लम्बाई और बेलन के व्यास के आधार पर हिसाब लगाया जाता है और भाप की दाब और पिस्टन की गति का कोई ख़याल नहीं रखा जाता। व्यवहार में वह यह व्यक्त करता है कि यदि इस इंजन को भाप की वैसी ही कम दाब और पिस्टन की वैसी ही गति से चलाया जाये, जैसी बूल्टन और वाट्ट के ज़माने में इस्तेमाल होती थीं, तो यह इंजन ५० अश्व-शक्ति का काम करेगा। लेकिन उस ज़माने के मुक़ाबले में अब भाप की दाब और पिस्टन की गति बहुत बढ़ गयी हैं। आजकल यह नापने के लिये कि किसी इंजन में कितनी ताक़त है, एक सूचक का आविष्कार किया गया है, जो बता देता है कि बेलन में भाप की दाब कितनी है। पिस्टन की गति आसानी से मालूम हो जाती है। इस तरह, किसी इंजन की "निर्दिष्ट", अथवा "व्यावसायिक", अश्व-शक्ति गणित के एक सूत्र के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिसका बेलन के व्यास, आघात की लम्बाई, पिस्टन की गति और भाप की दाब, सबसे सम्बंध होता है और जो यह बता देता है कि यह इंजन एक मिनट में ३३,००० पौण्ड वज़न के सचमुच किस गुणज को ऊपर उठा देगा। इसलिये "नाम मात्र की" एक अश्व-शक्ति तीन, चार या यहां तक कि पांच "निर्दिष्ट", अथवा "वास्तविक", अश्व-शक्तियों का भी कार्य कर सकती है। आगे के पृष्ठों में जो अनेक उद्धरण दिये गये हैं, उनको स्पष्ट करने के उद्देश्य से यह बात यहां कही गयी है। – फ़े० एं०

को चला सकती है, या वह २०० थ्रौसल-तकुओं को चला सकती है, या वह ४० इंची कपड़े के १५ करघों को तानी करने, मांड़ी देने आदि के उपकरणों समेत चला सकती है।" एक अश्व-शक्ति की दैनिक लागत और इस शक्ति द्वारा गति प्राप्त करने वाली मशीनों की घिसाई-छिजाई पहली सूरत में ४५० म्यूल-तकुओं की पैदावार पर, दूसरी सूरत में २०० थ्रौसल-तकुओं की पैदावार पर और तीसरी सूरत में शक्ति से चलने वाले १५ करघों की पैदावार पर फैल जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि इस प्रकार की घिसाई-छिजाई से एक पौण्ड सूत या एक गज कपड़े में बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में मूल्य स्थानांतरित होता है। ऊपर जिस भाप के हथौड़े का जिक्र किया गया था, उसके बारे में भी यही बात सच है। उसकी दैनिक घिसाई-छिजाई, उसका कोयले का खर्च आदि चूंकि लोहे की उन विराट राशियों पर फैल जाता है, जिनको यह हथौड़ा एक दिन में कूट-पीटकर फेंक देता है, इसलिये एक हंड्रेडवेट लोहे में बहुत थोड़ा सा ही मूल्य जुड़ता है; लेकिन यदि यह दैत्याकार औज़ार कीलें गाड़ने के लिये इस्तेमाल किया जाये, तो, ज़ाहिर है, बहुत अधिक मूल्य स्थानांतरित हो जायेगा।

यदि किसी मशीन की काम करने की क्षमता,—अर्थात् उसके कार्यकारी पुर्ज़ों की संख्या या, जहां पर बल का प्रश्न हो, वहां पर उनकी मात्रा,—हमें पहले से मालूम हो, तो उसकी पैदावार की मात्रा उसके कार्यकारी पुर्ज़ों के वेग पर निर्भर करेगी; उदाहरण के लिये, वह तकुओं की गति पर या एक मिनट में हथौड़ा कितने प्रहार करता है, उनकी संख्या पर निर्भर करेगी। इन दैत्याकार हथौड़ों में से बहुत से एक मिनट में सत्तर बार आघात करते हैं, और राइडर की तकुए गढ़ने की पेटेंट मशीन अपने छोटे-छोटे हथौड़ों से एक मिनट में ७०० आघात करती है।

यदि यह मालूम हो कि मशीनें किस रफ़्तार से अपना मूल्य पैदावार में स्थानांतरित कर रही हैं, तो इस प्रकार स्थानांतरित हो जाने वाले मूल्य की मात्रा मशीनों के कुल मूल्य पर निर्भर करेगी।[1] मशीनों में जितना कम श्रम लगा होगा, वे उतना ही कम मूल्य पैदावार को देंगी। मशीनें जितना कम मूल्य पैदावार को देंगी, वे उतनी ही अधिक उत्पादक होंगी और उनकी सेवाएं प्राकृतिक शक्तियों की सेवाओं से उतनी ही अधिक मिलती-जुलती होंगी। लेकिन जब मशीनों का उत्पादन मशीनों से होने लगता है, तब विस्तार तथा कार्य-क्षमता की तुलना में उनका मूल्य कम हो जाता है।

---

[1] जिस पाठक के मन में पूंजीवादी धारणाओं ने घर कर रखा है, उसे यह देखकर स्वभावतया काफ़ी आश्चर्य होगा कि यहां पर उस "सूद" का कोई ज़िक्र नहीं किया गया है, जो मशीन अपने पूंजीगत मूल्य के अनुपात में पैदावार में जोड़ देती है। किन्तु यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि जिस तरह स्थिर पूंजी का कोई अन्य भाग नया मूल्य नहीं पैदा करता, उसी तरह चूंकि मशीन भी कोई नया मूल्य नहीं उत्पन्न करती, इसलिये वह "सूद" के नाम से कोई मूल्य पैदावार में नहीं जोड़ सकती। यहां पर यह बात भी स्पष्ट है कि जिस जगह हम लोग अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन पर विचार कर रहे हैं, वहां हम अतिरिक्त मूल्य के "सूद" नामक किसी भाग का अस्तित्व a priori (पहले से) मानकर नहीं चल सकते। हिसाब लगाने की वह पूंजीवादी प्रणाली क्या है, जो primâ facie (पहली ही दृष्टि में) बिल्कुल बेतुकी और मूल्य के सृजन के नियमों के सर्वथा प्रतिकूल प्रतीत होती है, यह इस रचना की तीसरी पुस्तक में समझाया जायेगा।

**यदि दस्तकारियों अथवा हस्तनिर्माणों द्वारा तैयार किये गये मालों के दामों का और उसी प्रकार के मशीनों द्वारा तैयार किये गये मालों के दामों का विश्लेषण और मुक़ाबला किया जाये, तो आम तौर पर यह पता चलेगा कि मशीनों की पैदावार में श्रम के औज़ारों द्वारा स्थानांतरित मूल्य सापेक्ष दृष्टि से तो बढ़ जाता है, पर निरपेक्ष दृष्टि से कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसकी निरपेक्ष मात्रा तो घट जाती है, मगर पैदावार के कुल मूल्य की तुलना में, — उदाहरण के लिये, एक पौण्ड सूत के कुल मूल्य की तुलना में, — उसकी मात्रा बढ़ जाती है।[1]**

---

[1] जब मशीनें उन घोड़ों तथा अन्य पशुओं को अनावश्यक बना देती हैं, जिनको पदार्थ का रूप बदल देने वाली मशीनों के रूप में नहीं, बल्कि केवल चालक शक्तियों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, तब मूल्य का वह हिस्सा, जो मशीनों द्वारा जोड़ा गया है, सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों दृष्टियों से कम हो जाता है। यहां पर चलते-चलते यह भी बता दिया जाये कि देकार्ते ने मात्र मशीनों के रूप में पशुओं की परिभाषा करते समय हस्तनिर्माण के काल के दृष्टिकोण से काम लिया था, जब कि मध्य युग की दृष्टि में पशु मनुष्य के सहायक थे, जैसा कि वे फ़ोन हैलेर को उनकी पुस्तक "*Restauration der Staatswissenschaften*" में प्रतीत हुए थे। देकार्ते की रचना "*Discours de la Méthode*" से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बेकन की भांति उन्होंने भी यह अनुमान कर लिया था कि चिन्तन की बदली हुई पद्धतियों के फलस्वरूप उत्पादन के रूप में परिवर्तन हो जायेगा और मनुष्य प्रकृतिं को व्यावहारिक ढंग से अपने आधीन बना लेगा। उस पुस्तक में देकार्ते ने लिखा है: "Il est possible de parvenir à des connaissances fort utiles à la vie, et qu'au lieu de cette philosophie spéculative qu'on enseigne dans les écoles, on en peut trouver une pratique, par laquelle, connaissant la force et les actions du feu, de l'eau, de l'air, des astres, et de tous les autres corps qui nous environnent, aussi distinctement que nous connaissons les divers métiers de nos artisans, nous les pourrions employer en même façon à tous les usages auxquels ils sont propres, et ainsi nous rendre comme maîtres et possesseurs de la nature" और इस तरह "contribuer au perfectionnement de la vie humaine." ["ऐसा ज्ञान प्राप्त करना भी (उन विधियों द्वारा, जिनका उन्होंने दर्शन में समावेश किया) सम्भव है, जो जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा, और तब स्कूलों में आजकल जो काल्पनिक दर्शन पढ़ाया जाता है, उसके स्थान पर एक व्यावहारिक दर्शन पढ़ाया जायेगा, जिसके द्वारा आग, पानी, हवा और नक्षत्रों की तथा हमारे इर्द-गिर्द और जितनी वस्तुएं हैं, उन सब की शक्ति एवं कार्य का उतना ही अच्छा ज्ञान प्राप्त करके, जितना अच्छा ज्ञान हमें अपने दस्तकारों की विभिन्न दस्तकारियों का प्राप्त है, हम उनका उसी तरह उन तमाम कामों में उपयोग कर सकेंगे, जिनके लिये वे उपयुक्त हैं, और इस प्रकार हम प्रकृति के स्वामी और मालिक बन जायेंगे" और इस तरह "मानव-जीवन का अधिक से अधिक विकास करने में योग देंगे।"] सर डडली नर्थ की रचना "*Discourses upon Trade*" ('व्यापार के सम्बंध में कुछ प्रवचन') (१६९१) में कहा गया है कि देकार्ते की पद्धति ने अर्थशास्त्र को सोने, व्यापार आदि के विषय में पुरानी कपोल-कल्पित कथाओं और अंधविश्वासों से भरे विचारों से मुक्त करना आरम्भ कर दिया था। लेकिन मोटे तौर पर देखा जाये, तो शुरू के दिनों के अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों

यह बात स्पष्ट है कि जहां पर किसी मशीन को तैयार करने में उतना ही श्रम लग जाता है, जितना श्रम उस मशीन का उपयोग करने से बचता है, वहां पर श्रम के स्थान-परिवर्तन के सिवा और कुछ नहीं होता। इसीलिये उससे किसी माल को तैयार करने के लिये आवश्यक कुल श्रम में कोई कमी नहीं आती और न ही श्रम की उत्पादकता में कोई वृद्धि होती है। किन्तु यह बात स्पष्ट है कि किसी मशीन में जितना श्रम लगता है और उससे जितने श्रम की बचत होती है, इन दोनों का अन्तर, अर्थात् उसकी उत्पादकता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसके अपने मूल्य में और जिस औज़ार का वह स्थान ले लेती है, उसके मूल्य में कितना अन्तर है। जब तक किसी मशीन पर खर्च किया गया श्रम और चुनांचे उसके मूल्य का वह भाग, जो पैदावार में जुड़ जाता है, उस मूल्य से कम रहता है, जो मज़दूर अपने औज़ार से पैदावार में जोड़ देता था, तब तक मशीन के उपयोग से श्रम की सदा कुछ न कुछ बचत ही होती है। इसलिये किसी भी मशीन की उत्पादकता उस मानव-श्रम-शक्ति से नापी जाती है, जिसका वह मशीन स्थान ले लेती है। मि० बेन्स के हिसाब के अनुसार, तैयारी करने वाली मशीनों सहित ४५० म्यूल-तकुओं के लिये, जो एक अश्व-शक्ति के द्वारा चलाये जाते हैं, २ १/२ मज़दूरों की आवश्यकता होती है।[1] प्रत्येक self-acting mule spindle (स्वचालित म्यूल-तकुआ) १० घण्टे काम करके (औसत नम्बर या मोटाई का) १३ औंस सूत तैयार करता है। इसलिये २ १/२ मज़दूर हर हफ़्ते ३६५ ५/८ पौण्ड सूत कात देते हैं। अतएव, यदि काम के दौरान में ज़ाया हो जाने वाली कपास की ओर ध्यान न दिया जाये, तो ३६६ पौण्ड कपास सूत में बदले जाने के दौरान में केवल १५० घण्टे के श्रम का—यानी दस घण्टे रोज़ाना के हिसाब से केवल १५ दिन के श्रम का ही अवशोषण करती है। लेकिन यदि चर्खा इस्तेमाल करने पर मान लीजिये कि कोई हाथ से कताई करने वाला मज़दूर साठ घण्टे में तेरह औंस सूत तैयार करता है, तो वही ३६६ पौंड कपास दस घण्टे रोज़ाना के हिसाब से २,७०० दिन के—या २७,००० घण्टे के—श्रम का अवशोषण करेगी।[2] छींट की छपाई (block-printing) का पुराना तरीक़ा ठप्पों के ज़रिये हाथ से छपाई करने का था। जहां

---

ने अपने दार्शनिकों के रूप में बेकन और हौब्स का समर्थन किया था, जब कि बाद के काल में इंगलैण्ड, फ़्रांस और इटली में लॉक को अर्थशास्त्र का κατ'ἐξοχήν (सर्वश्रेष्ठ) दार्शनिक माना जाता था।

[1] एस्सेन के व्यापार-मंडल की वार्षिक रिपोर्ट (१८६३) के अनुसार, क्रुप्प के ढलवां इस्पात के कारख़ाने में, जिसमें १६१ भट्ठियां, बत्तीस भाप के इंजन (१८०० में लगभग कुल इतने ही भाप के इंजन पूरे मानचेस्टर में काम कर रहे थे), चौदह भाप के हथौड़े (जो कुल १,२३६ अश्व-शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे), उनचास भट्ठियां, २०३ यांत्रिक औज़ार और लगभग २,४०० मज़दूर थे, १८६२ में कुल १ करोड़ ३० लाख पौण्ड ढलवां इस्पात तैयार हुआ था। यहां एक अश्व-शक्ति के पीछे दो मज़दूर भी नहीं होते।

[2] बैबेज का अनुमान है कि जावा में केवल कताई का श्रम कपास के मूल्य में ११७ प्रतिशत की वृद्धि कर देता है। इसी काल (१८३२) में महीन सूत के उद्योग में मशीनों ने और श्रम ने कुल मिलाकर कपास में जो मूल्य जोड़ा था, वह कपास के मूल्य के लगभग ३३ प्रतिशत के बराबर बैठा था। (*"On the Economy of Machinery"* ['मशीनों की अर्थ-प्रणाली के विषय में'], London, 1832, पृ० १६५, १६६।)

इस तरीक़े के स्थान पर मशीन से छपाई होने लगी है, वहां एक मशीन एक पुरुष या लड़के की मदद से एक घण्टे में चार रंगों की जितनी छींट छाप देती है, उतनी पहले कहीं २०० आदमी छाप पाते थे।[1] एलि ह्विटने ने cotton gin (कपास ओटने की मशीन) का आविष्कार १७९३ में किया था। उसके पहले एक पौण्ड कपास के बिनौले अलग करने में औसतन एक दिन का श्रम खर्च हो जाता था। ह्विटने के आविष्कार के फलस्वरूप एक हबशी औरत रोजाना १०० पौण्ड कपास ओटने लगी, और तब से अब तक cotton gin (कपास ओटने की मशीन) की कार्य-क्षमता बहुत बढ़ गयी है। पहले एक पौण्ड कच्ची रुई तैयार करने में ५० सेंट खर्च होते थे। इस आविष्कार के बाद उसमें पहले से अधिक अवेतन श्रम शामिल होने लगा, और इसलिए वह १० सेंट में बेची जाती थी और फिर भी उससे पहले से ज्यादा मुनाफ़ा होता था। हिन्दुस्तान में रुई को बिनौलों से अलग करने के लिए चरखी इस्तेमाल की जाती है, जो आधी मशीन और आधी औज़ार होती है; उसकी मदद से एक आदमी और एक औरत रोजाना २८ पौण्ड कपास साफ़ कर सकते हैं। पर अभी कुछ बरस हुए डा० फ़ोर्ब्स ने जिस प्रकार की चरखी का आविष्कार किया है, उसकी मदद से एक आदमी और एक लड़का दिन भर में २५० पौण्ड रुई तैयार कर सकते हैं। यदि उसे चलाने के लिए बैल, भाप या पानी इस्तेमाल किया जाये, तो फिर उसमें कपास डालने के लिए ही चन्द लड़के-लड़कियों की जरूरत होती है। इस तरह की सोलह मशीनें जब बैलों द्वारा चलायी जाती हैं, तो वे एक दिन में उतना काम करती हैं, जितना काम पहले ७५० आदमी करते थे।[2]

जैसा कि पहले भी कहा चुका है, भाप से चलने वाला एक हल एक घण्टे में तीन पेंस की लागत पर जितना काम कर देता है, उतना काम पहले ६६ आदमी कर पाते थे, जिसमें १५ शिलिंग की लागत लगती थी। मैं एक ग़लत धारणा को दूर कर देने के उद्देश्य से इस उदाहरण को एक बार फिर ले रहा हूं। ६६ आदमी एक घण्टे में कुल जितना श्रम खर्च कर देते हैं, ये १५ शिलिंग मुद्रा के रूप में कदापि उस सब की अभिव्यंजना नहीं हैं। यदि आवश्यक श्रम के प्रति अतिरिक्त श्रम का अनुपात १०० प्रतिशत हो, तो ये ६६ आदमी एक घण्टे में ३० शिलिंग का मूल्य पैदा करेंगे, हालांकि उनकी मजदूरी, यानी १५ शिलिंग केवल आधे घण्टे के श्रम का ही प्रतिनिधित्व करेंगे। अब मान लीजिये कि किसी मशीन की लागत उन १५० आदमियों की एक वर्ष की मजदूरी के बराबर है, जिनका वह स्थान ले लेती है,— जैसे कि मान लीजिये कि उसकी लागत ३,००० पौंड है। ये ३,००० पौण्ड उस श्रम की मुद्रा के रूप में अभिव्यंजना नहीं हैं, जो ये १५० आदमी इस मशीन का आविष्कार होने के पहले पैदावार में जोड़ देते थे, बल्कि वे तो उनके साल भर के श्रम के केवल उस भाग की मुद्रा के रूप में अभिव्यंजना हैं, जो खुद इन लोगों के ऊपर खर्च हुआ था और जिसका प्रतिनिधित्व उनकी मजदूरी करती थी। दूसरी ओर, मशीन के मुद्रा-मूल्य के रूप में ये ३,००० पौण्ड उसके उत्पादन में खर्च किये गये समस्त श्रम को अभिव्यक्त करते हैं, और उसमें इससे कोई अन्तर

---

[1] मशीन की छपाई से रंग की भी बचत होती है।

[2] इस सम्बंध में हिन्दुस्तान की सरकार के पैदावारों के रिपोर्टर, डा० वाटसन ने १७ अप्रैल १८६० को धंधों की परिषद के सामने जो निबंध पढ़ा था, उसे (Paper, read by Dr. Watson, Reporter on Products to the Government of India, before the Society of Arts, 17th April, 1860) देखिये।

नहीं पड़ता कि इस श्रम का कितना भाग मजदूरों की मजदूरी पर खर्च हुआ है और कितना पूंजीपति का अतिरिक्त मूल्य बन गया है। इसलिए, मशीन की लागत यदि उस श्रम-शक्ति की लागत के बराबर है, जिसका वह स्थान ले लेती है, तो भी उसमें मूर्त्त हुआ श्रम उस जीवित श्रम से बहुत कम होता है, जिसका वह मशीन स्थान ले लेती है।[1]

केवल पैदावार को सस्ता करने के उद्देश्य से मशीनों का उपयोग इस तरह सीमित हो जाता है कि ये मशीनें जिस श्रम का स्थान लेंगी, उनको पैदा करने में उससे कम श्रम खर्च होना चाहिए। किन्तु पूंजीपति के लिए तो यह उपयोग और भी सीमित हो जाता है। वह श्रम की क़ीमत नहीं देता, बल्कि केवल उस श्रम-शक्ति का मूल्य देता है, जिससे वह काम लेता है। इसलिए वह किसी मशीन का कितना उपयोग कर पायेगा, यह इस बात से सीमित हो जाता है कि मशीन के मूल्य में और वह जिस श्रम-शक्ति का स्थान ले लेती है, उसके मूल्य में कितना अन्तर है। चूंकि दिन भर के काम का आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम में विभाजन अलग-अलग देशों में और यहां तक कि एक ही देश में अलग-अलग कालों में या उद्योग की अलग-अलग शाखाओं में अलग-अलग ढंग से होता है और, इसके अलावा, चूंकि मजदूर की वास्तविक मजदूरी एक समय उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे गिर जाती है और दूसरे समय उसके ऊपर उठ जाती है, इसलिए मशीन को तैयार करने के लिए जितना श्रम आवश्यक होता है और वह कुल जितने श्रम का स्थान ले लेती है, उनका अन्तर स्थिर रहते हुए भी यह मुमकिन है कि मशीन के मूल्य तथा जिस श्रम-शक्ति की जगह वह मशीन लेती है, उस श्रम-शक्ति के मूल्य का यह अन्तर बहुत घटता-बढ़ता रहे।[2] परन्तु कोई माल तैयार करने में पूंजीपति को कितनी लागत लगानी पड़ती है, यह केवल इसी अन्तर से निर्धारित होता है, और वह प्रतियोगिता के दबाव के जरिये उसके आचरण को प्रभावित करता है। इसीलिए आजकल इंगलैण्ड में जिन मशीनों का आविष्कार हो रहा है, वे केवल उत्तरी अमरीका में इस्तेमाल की जाती हैं। यह उसी तरह की बात है, जैसे सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में जर्मनी में जिन मशीनों का आविष्कार होता था, वे केवल हालैण्ड में इस्तेमाल की जाती थीं, और अठारहवीं शताब्दी के बहुत से फ़्रांसीसी आविष्कारों से केवल इंगलैण्ड में ही लाभ उठाया गया था। पुराने देशों में जब उद्योग की किन्हीं शाखाओं में मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, तो वह दूसरी शाखाओं में श्रम का ऐसा आधिक्य पैदा कर देता है कि इन शाखाओं में मजदूरी श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे गिर जाती है और इस वजह से मशीनों का उपयोग करना कठिन हो जाता है, और पूंजीपति के दृष्टिकोण से, जिसका मुनाफ़ा तमाम श्रम में कमी करके नहीं, बल्कि केवल उस श्रम में कमी करके पैदा होता है, जिसकी उसे क़ीमत देनी पड़ती है, मशीनों का उपयोग करना अनावश्यक और अक्सर असम्भव हो जाता है। इंगलैण्ड में ऊनी उद्योग की कुछ शाखाओं में बच्चों को नौकर रखने के सम्बन्ध में हाल के कुछ वर्षों में काफ़ी कमी आ गयी है और कहीं-कहीं तो बच्चों का नौकर रखा जाना एकदम बन्द हो

---

[1] "ये मूक साधन (मशीनें) जिस श्रम का स्थान ले लेते हैं, वे सदा उससे कहीं कम श्रम की पैदावार होते हैं, यहां तक कि जहां दोनों का मुद्रा-मूल्य बराबर होता है, वहां पर भी यही बात होती है।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ४०।)

[2] इसीलिए पूंजीवादी समाज में मशीनों के उपयोग की जितनी सम्भावना हो सकती है, साम्यवादी समाज में उससे बहुत भिन्न प्रकार की सम्भावना होगी।

गया है। ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि फ़ैक्टरी-क़ानूनों ने बच्चों की दो पालियों से काम लेना ज़रूरी बना दिया था — एक पाली से ६ घण्टे, दूसरी से चार घण्टे, या दोनों से पांच-पांच घण्टे। लेकिन बच्चों के मां-बाप ने "half-timers" ("आधे समय काम करने वालों") को "full-timers" ("पूरा समय काम करने वालों") की अपेक्षा सस्ते में बेचने से इनकार कर दिया। इसलिए "half-timers" ("आधे समय काम करने वालों") के स्थान पर मशीनें आ गयीं।[1] खानों में १० वर्ष से कम उम्र के बच्चों और औरतों के काम करने पर रोक लगायी जाने के पहले पूंजीपति नंगी औरतों और लड़कियों से अक्सर पुरुषों के साथ-साथ काम लेना अपनी नैतिकता के सर्वथा अनुकूल समझते थे, और उनके बही-खातों की दृष्टि से तो यह और भी उचित था। इसीलिए उनको उपर्युक्त क़ानून बन जाने के बाद ही अपनी खानों में मशीनें इस्तेमाल करने का ख्याल आया। यांकियों ने पत्थर तोड़ने की एक मशीन ईजाद की है। पर अंग्रेज लोग इस मशीन का उपयोग नहीं करते। वह इसलिए कि जो "wretch" ("अभागा")[2] यह काम करता है, उसे उसके श्रम के केवल इतने कम भाग की क़ीमत मिलती है कि मशीनों का उपयोग करने पर पूंजीपति की उत्पादन की लागत एकदम बढ़ जायेगी।[3] इंगलैण्ड में अब भी नहरों में चलने वाली नावों को खींचने के लिए घोड़ों के बजाय कभी-कभी औरतों को इस्तेमाल किया जाता है।[4] यह इसलिए कि घोड़ों तथा मशीनों को पैदा करने में कितना श्रम लगेगा, उसका तो ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता

---

[1] मज़दूरों को नौकर रखने वाले लोग तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों की दो पालियों को अनावश्यक रूप से नहीं रखे रहेंगे... वास्तव में, कारख़ानेदारों का एक वर्ग, यानी ऊन की कताई करने वाले तो अब तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों को, अर्थात् half-timers (आधे समय काम करने वालों) को, बहुत कम ही नौकर रखते हैं। इन लोगों ने तरह-तरह की नयी और पहले से बेहतर मशीनें लगा ली हैं, जिन्होंने बच्चों को (यानी १३ वर्ष से कम उम्र के मज़दूरों को) नौकर रखना बिल्कुल अनावश्यक बना दिया है। मिसाल के लिए मैं एक प्रक्रिया का ज़िक्र करूंगा, जिससे स्पष्ट हो जायेगा कि बच्चों को नौकर रखने में यह कमी क्यों आ गयी है। इस प्रक्रिया में काम आने वाली पुरानी मशीनों के साथ एक नया उपकरण और जोड़ दिया गया है। उसे piecing machine (धागे जोड़ने वाली मशीन) कहा जाता है और उसके ज़रिये हर मशीन की विशिष्टता के अनुसार आधे समय काम करने वाले चार से लेकर छः बच्चों तक का काम (१३ वर्ष से अधिक उम्र का) एक लड़का पूरा कर देता है... Half-time system (आधे समय काम करने की प्रणाली) से piecing machine (धागे जोड़ने की मशीन) के आविष्कार को 'प्रोत्साहन' मिला।" ("*Reports of Insp. of Fact. for 31st Oct., 1858*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५८']।)

[2] खेतिहर मज़दूरों के लिए अंग्रेज़ों के अर्थशास्त्र में "wretch" ("अभागा") शब्द के प्रयोग को ही मान्यता मिली हुई है।

[3] "मशीनों का... अक्सर उस वक़्त तक कोई इस्तेमाल नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम (लेखक का मतलब यहां मज़दूरी से है) बहुत चढ़ नहीं जाता।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ४७९।)

[4] देखिये "*Report of the Social Science Congress at Edinburgh. October 1863*" ('एडिनबरा में हुए समाज-विज्ञान-सम्मेलन की रिपोर्ट, अक्तूबर १८६३')।

है, लेकिन फ़ालतू आबादी की औरतों को जीवित रखने में इतना कम श्रम लगता है कि उसका हिसाब लगाने की भी कोई खास जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि मशीनों की भूमि– इंगलैण्ड – में मानव-श्रम-शक्ति का अत्यन्त निकृष्ट कामों के लिए जैसा लज्जाजनक एवं घोर अपव्यय किया जाता है, वैसा और किसी देश में नहीं किया जाता।

## अनुभाग ३ – मजदूर पर मशीनों का प्राथमिक प्रभाव

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, आधुनिक उद्योग का प्रस्थान-बिन्दु श्रम के औज़ारों में होने वाली क्रान्ति होती है, और यह क्रान्ति अपना सबसे अधिक विकसित रूप फ़ैक्टरी में पायी जाने वाली मशीनों की संगठित संहति में प्राप्त करती है। इस वस्तुगत संघटन में मानव-सामग्री का किस प्रकार समावेश किया जाता है, इसकी छानबीन करने के पहले आइये, हम यह देखें कि इस क्रान्ति का खुद मजदूर पर सामान्यतया क्या प्रभाव पड़ता है।

### क) पूंजी द्वारा अनुपूरक श्रम-शक्ति पर अधिकार। – स्त्रियों और बच्चों का काम पर लगाया जाना

जिस हद तक मशीनें मांस-पेशियों की शक्ति को अनावश्यक बना देती हैं, उस हद तक मशीनें मांस-पेशियों की बहुत थोड़ी शक्ति रखने वाले मजदूरों को और उन मजदूरों को नौकरी देने का साधन बन जाती हैं, जिनका शारीरिक विकास तो अपूर्ण है, पर जिनके अवयव और भी लोचदार हैं। इसलिए मशीनों का इस्तेमाल करने वाले पूंजीपतियों को सबसे पहले स्त्रियों और बच्चों के श्रम की तलाश होती थी। अतएव, श्रम तथा श्रम-जीवियों का स्थान लेने के लिए जिस विराट यंत्र का आविष्कार हुआ था, वह तुरन्त ही मजदूर के परिवार के प्रत्येक सदस्य को, बिना किसी आयु-भेद या लिंग-भेद के, पूंजी के प्रत्यक्ष दासों में भर्ती करके मजदूरी करने वालों की संख्या को बढ़ाने का साधन बन गया। उसके बाद से बच्चों को पूंजीपति के लिए जो अनिवार्य काम करना पड़ता था, उसने न केवल बच्चों के खेल-कूद का स्थान छीन लिया, बल्कि परिवार की जीविका के लिए घर पर रहकर किये जाने वाले कुछ सीमित ढंग के स्वतंत्र श्रम का भी स्थान ले लिया।[1]

---

[1] जिन दिनों अमरीकी गृह-युद्ध के कारण कपास का संकट पैदा हो गया था, उन्हीं दिनों इंगलैण्ड की सरकार ने डा० एडवर्ड स्मिथ को सूती मिलों में काम करने वाले मजदूरों की सफ़ाई सम्बंधी हालत की जांच करने के लिए लंकाशायर, चेशायर और अन्य स्थानों पर भेजा था। डा० स्मिथ ने रिपोर्ट दी कि इस बात के अलावा कि मजदूरों को कारखानों के वातावरण से हटा दिया गया है, कुछ और प्रकार का लाभ भी हुआ है। स्त्रियों को अब अपने बच्चों को "गोडफ़्रे का शरबत" ("Godfrey's cordial") नाम का जहर नहीं पिलाना पड़ता, बल्कि उन्हें अपने बच्चों को दूध पिलाने के लिए काफ़ी अवकाश मिल जाता है। उनको खाना पकाने का ढंग सीखने के लिए वक़्त मिल गया है। दुर्भाग्यवश यह कला उन्होंने ऐसे समय पर सीखी है, जब उनके पास पकाने के लिये कुछ नहीं है। परन्तु इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि घर पर परिवार के लालन-पालन के लिए जो श्रम आवश्यक था, पूंजी ने अपना विस्तार

श्रम-शक्ति का मूल्य केवल इसी बात से निर्धारित नहीं होता था कि अकेले वयस्क मजदूर को जीवित रखने के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है, बल्कि इस बात से भी कि मजदूर के परिवार को जीवित रखने के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है। मशीनें उसके परिवार के प्रत्येक सदस्य को श्रम की मण्डी में लाकर पटक देती हैं और इस तरह मजदूर की श्रम-शक्ति के मूल्य को उसके पूरे परिवार पर फैला देती हैं। इस प्रकार, मशीनें उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य को कम कर देती हैं। यह मुमकिन है कि पहले परिवार के मुखिया की श्रम-शक्ति को ख़रीदने में जितना ख़र्चा होता था, अब चार सदस्यों के पूरे परिवार की श्रम-शक्ति को ख़रीदने में उससे कुछ अधिक ख़र्चा हो; लेकिन उसके एवज में एक दिन के श्रम की जगह पर चार दिन का श्रम मिल जाता है, और चार दिन का अतिरिक्त श्रम एक दिन के अतिरिक्त श्रम से जितना अधिक होता है, उसी अनुपात में इन चार दिनों के श्रम का दाम गिर जाता है। परिवार को जीवित रखने के लिए अब चार व्यक्तियों को न केवल श्रम, बल्कि पूंजीपति के लिए अतिरिक्त श्रम भी करना पड़ता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि मशीनें उस मानव-सामग्री में, जो पूंजी की शोषक शक्ति का प्रधान लक्ष्य होती है, वृद्धि करने के साथ साथ[1] शोषण की मात्रा में भी वृद्धि कर देती हैं।

---

करने के उद्देश्य से किस प्रकार उसपर भी अधिकार कर लिया था। सीने-पिरोने के स्कूलों में मजदूरों की बेटियों को सिलाई सिखाने के लिए भी इस संकट का उपयोग किया गया। जो सारी दुनिया के लिए कातती हैं, उनको सिलाई सीखने का मौक़ा तब मिला, जब अमरीका में एक क्रान्ति हो गयी और सारा संसार आर्थिक संकट में फंस गया!

[1] "पुरुषों की जगह पर स्त्रियों की भर्ती और सबसे अधिक वयस्क मजदूरों की जगह पर बच्चों की भर्ती के फलस्वरूप मजदूरों की संख्या में भारी वृद्धि हो गयी है। परिपक्व आयु के १८ शिलिंग से लेकर ४५ शिलिंग तक की साप्ताहिक मजदूरी पाने वाले पुरुष का स्थान तेरह-तेरह वर्ष की तीन लड़कियां ले लेती हैं, जिनको ६ शिलिंग से लेकर ८ शिलिंग तक प्रति सप्ताह की मजदूरी देनी पड़ती है।" ( Th. de Quincey, *"The Logic of Political Economy"* [टोमस दे क्विंसी, 'अर्थशास्त्र का तर्क'], London, 1844, पृ० १४७ से सम्बन्धित नोट।) चूंकि कुछ पारिवारिक काम, जैसे बच्चों की देखभाल करना और उनको दूध पिलाना, पूरी तरह बन्द नहीं किये जा सकते, इसलिए पूंजी जिन माताओं को छीन लेती है, उनको इन जरूरतों को पूरा करने के लिए कोई और तरकीब निकालनी पड़ती है। सीने-पिरोने और मरम्मत करने के घरेलू काम के स्थान पर अब बनी-बनायी तैयार चीजें ख़रीदनी पड़ती हैं। इसलिए, घर में ख़र्च होने वाले श्रम में कमी आने के साथ-साथ मुद्रा के ख़र्च में वृद्धि हो जाती है। परिवार के भरण-पोषण का ख़र्च बढ़ जाता है, और वह आमदनी में जो थोड़ी बढ़ती हुई है, उसका सफ़ाया कर देता है। इसके अलावा, जीवन-निर्वाह के साधनों को तैयार करने तथा ख़र्च करने में विवेक और मितव्ययिता से काम लेना असम्भव हो जाता है। इन तथ्यों पर सरकारी अर्थशास्त्र ने तो पर्दा डाल रखा है, परन्तु *"Reports of Inspectors of Factories"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों') में, *"Children's Employment Commission"* ('बाल-सेवायोजन आयोग') की रिपोर्टों में और ख़ास तौर पर *"Reports on Public Health"* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टों') में इनसे सम्बंध रखने वाली बहुत सी सामग्री मिल जाती है।

मजदूर और पूंजीपति के बीच जो क़रार होता है, जो उनके पारस्परिक सम्बंधों को विधिवत् निश्चित करता है, मशीनें उसमें भी एक पूरी क्रान्ति पैदा कर देती हैं। मालों के विनिमय को अपना आधार बनाते हुए हम सबसे पहले यह मानकर चल रहे थे कि पूंजीपति और मजदूर स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में, मालों के स्वतंत्र मालिकों की तरह, एक दूसरे से मिलते हैं; एक के पास मुद्रा और उत्पादन के साधन होते हैं, दूसरे के पास श्रम-शक्ति। परन्तु अब पूंजीपति बच्चों और कम-उम्र लड़के-लड़कियों को ख़रीदने लगती है। पहले मजदूर खुद अपनी श्रम-शक्ति बेचता था, जिसका वह कम से कम नाम-मात्र के लिए एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में सौदा कर सकता था। पर अब वह अपनी पत्नी और अपने बच्चे को बेचने लगता है। वह गुलामों का व्यापार करने वाला बन जाता है।[1] बच्चों के श्रम की मांग का रूप अक्सर हबशी गुलामों की मांग के समान होता है, जिनके बारे में पहले अमरीकी पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन निकला करते थे। इंगलैण्ड के एक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने कहा है: "मेरे डिस्ट्रिक्ट के एक सबसे महत्वपूर्ण औद्योगिक नगर के स्थानीय पत्र में प्रकाशित एक विज्ञापन की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया गया है। इस विज्ञापन की नक़ल इस तरह है: १२ से २० तक लड़के-लड़कियां चाहियें; देखने में १३ वर्ष से कम के नहीं मालूम होने चाहिए। मजदूरी ४ शिलिंग प्रति सप्ताह होगी। दरख़ास्त भेजिये, इत्यादि।"[2] "देखने में १३ वर्ष से कम के नहीं मालूम होने चाहिए" इसलिए लिखा गया है कि Factory Act (फ़ैक्टरी-क़ानून) के मुताबिक़ १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को केवल ६ घण्टे काम करने की इजाज़त थी। सरकारी तौर पर

---

[1] इंगलैण्ड की फ़ैक्टरियों में काम करने वाली स्त्रियों और बच्चों के श्रम के घण्टों को पुरुष मज़दूरों ने पूंजी से ज़बर्दस्ती कम कराया था। परन्तु इस महत्वपूर्ण तथ्य के बिल्कुल विपरीत "*Children's Employment Commission*" ('बाल-सेवायोजन आयोग') की सबसे ताज़ा रिपोर्टों में बच्चों की ख़रीद-फ़रोख़्त के सम्बंध में मज़दूर मां-बापों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का प्रमाण मिलता है, जिनको देखकर सचमुच बहुत ग्लानि होती है और जो गुलामों का व्यापार करने वालों की प्रवृत्तियों से बिल्कुल मिलती हैं। परन्तु इन्हीं रिपोर्टों से यह भी पता चलता है कि बगुलाभगत पूंजीपति इस पाशविकता की निन्दा करने में कभी नहीं हिचकिचाता, जिसे ख़ुद उसी ने पैदा किया है, जिसको वह सदा क़ायम रखता है, जिससे वह लाभ उठाता है और, इसके अतिरिक्त, जिसको उसने "श्रम की स्वतंत्रता" का सुन्दर नाम दे रखा है। "वे ख़ुद अपनी रोटी कमाने तक के लिए भी... शिशु-श्रम की सहायता लेते हैं। इन बच्चों में इतनी शक्ति नहीं होती कि वयस्कों के योग्य इस मेहनत को बर्दाश्त कर सकें, अपने भावी जीवन के लिए उनको किसी से शिक्षा नहीं मिलती, इसलिए वे भौतिक और नैतिक दृष्टि से एक दूषित परिस्थिति में डाल दिये गये हैं। एक यहूदी इतिहासकार ने टाइटस द्वारा जेरुसलम को जीत लेने की चर्चा करते हुए लिखा है कि जब हम यह देखते हैं कि जेरुसलम की एक निर्दयी मां ने सर्वभक्षी भूख को संतुष्ट करने के लिए ख़ुद अपनी सन्तान की बलि दे दी थी, तब हमें इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होता कि जेरुसलम को इस बुरी तरह नष्ट कर दिया गया।" ("*Public Economy Concentrated*" ['सार्वजनिक अर्थशास्त्र का सार'], Carlisle, 1833, पृ० ६६।)

[2] ए० रेड्ग्रेव; "*Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1858*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ४०, ४१।

नियुक्त किये गये किसी डाक्टर को उनकी उम्र की जांच करके प्रमाण-पत्र देना पड़ता था। इसलिए यह कारख़ानेदार ऐसे बच्चे चाहता है, जो देखने में अभी से १३ वर्ष के मालूम हों। फ़ैक्टरियों में काम करने वाले १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों की संख्या में अक्सर जो यकायक भारी कमी आ जाती है और जो इंगलैण्ड के पिछले २० वर्ष के आंकड़ों में आश्चर्यजनक रूप से व्यक्त हुई है, उसका अधिकतर भाग खुद फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों के कथनानुसार certifying surgeons (प्रमाण-पत्र देने वाले डाक्टरों) के काम का परिणाम है। ये लोग पूंजीपति के शोषण के मोह और बच्चों के मां-बापों के घृणित लालच का ख़याल करके बच्चों की उम्र ज़्यादा लिख देते थे। बेथनल ग्रीन के बदनाम डिस्ट्रिक्ट में हर सोमवार और मंगलवार की सुबह को एक पैठ लगती है, जिसमें ६ वर्ष और उससे अधिक उम्र के लड़के और लड़कियां अपने को रेशम के कारख़ानों के मालिकों के हाथ किराये पर उठाते हैं। "भाव आम तौर पर होता है १ शिलिंग ८ पेन्स प्रति सप्ताह (यह रक़म मां-बापों की जेब में चली जाती है) और २ पेंस और चाय मेरे लिए।" यह क़रार केवल एक सप्ताह तक चलता है। इस पैठ में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है और जो दृश्य उपस्थित होता है, वह सचमुच लज्जा की बात है।[1] इंगलैण्ड में अक्सर ऐसा भी हुआ है कि औरतें मुहताज-ख़ानों से बच्चों को ले गयी हैं और जो भी २ शिलिंग ६ पेंस प्रति सप्ताह देने को तैयार हुआ, उसी के हाथ उनको सौंप दिया।[2] ब्रिटेन में तमाम क़ानूनों के बावजूद २,००० से अधिक लड़कों को उनके मां-बापों ने चिमनी साफ़ करने की ज़िन्दा मशीनों का काम करने के लिए बेच दिया है (हालांकि अब उनका स्थान लेने के लिए अनेक मशीनें मौजूद हैं)।[3] मशीनों ने श्रम-शक्ति के ग्राहक तथा विक्रेता के क़ानूनी सम्बंधों में जो क्रान्ति पैदा कर दी है और जिसके फलस्वरूप इस पूरे सौदे का रूप अब दो स्वतंत्र व्यक्तियों के क़रार का रूप नहीं रह गया है, उससे इंगलैण्ड की संसद को न्याय के सिद्धान्तों के नाम पर कारख़ानों में राज्य के हस्तक्षेप के लिए बहाना मिल गया। जब कभी क़ानून किन्हीं ऐसे उद्योगों में बच्चों के श्रम पर ६ घण्टे की सीमा का प्रतिबंध लगाता है, जिनमें पहले ऐसा प्रतिबंध लागू नहीं था, तब कारख़ानेदार हमेशा छाती पीटने लगते हैं। वे कहते हैं कि जिस उद्योग पर यह क़ानून लागू कर दिया जाता है, उसमें काम करने वाले बहुत से बच्चों को उनके मां-बाप वहां से हटाकर ऐसे उद्योगों में बेच आते हैं, जिनमें अब भी "श्रम की स्वतंत्रता" का राज्य है, यानी जहां १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को वयस्क लोगों के बराबर काम करना पड़ता है और इसलिए जहां उनको ज़्यादा ऊंचे दामों पर बेचा जा सकता है। लेकिन पूंजी चूंकि अपने स्वभाववश सबको बराबर करती चलती है, चूंकि वह उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रम के शोषण की समान परिस्थितियों को लागू करती है, इसलिए

---

[1] *"Children's Employment Commission, Fifth Report"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की पांचवीं रिपोर्ट'), London, 1866, पृ० ८१, अंक ३१। [चौथे संस्करण का फ़ुटनोट: बेथनल ग्रीन का रेशम का उद्योग अब लगभग चौपट हो गया है।—फ़्रे० एं०]

[2] *"Children's Employment Commission, Third Report"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट') London, 1864, पृ० ५३, अंक १५।

[3] l. c., Fifth Report ('बाल-सेवायोजन आयोग की पांचवीं रिपोर्ट'), पृ० XXII (बाईस), अंक १३७।

जब उद्योग की किसी एक शाखा में बच्चों के श्रम पर क़ानून द्वारा सीमा लगा दी जाती है, तो वह उद्योगों की अन्य शाखाओं में भी सीमा लगाने का कारण बन जाता है।

पहले प्रत्यक्ष रूप से उन कारख़ानों में, जो मशीनों के आधार पर खड़े हो जाते हैं, और फिर अप्रत्यक्ष रूप से उद्योग की बाक़ी तमाम शाखाओं में मशीनें जिन बच्चों और लड़के-लड़कियों को और साथ ही जिन स्त्रियों को पूंजी के शोषण का शिकार बना देती हैं, उनका जो शारीरिक पतन होता है, उसकी ओर हम पहले भी संकेत कर चुके हैं। इसलिए यहां पर हम केवल एक ही बात की सविस्तार चर्चा करेंगे। वह यह कि मज़दूरों के बच्चों के जीवन के शुरू के चन्द वर्षों में उनकी मृत्यु-संख्या बेहद बढ़ जाती है। जन्म और मृत्यु की रजिस्टरी के लिए इंगलैण्ड जिन डिस्ट्रिक्टों में बंटा हुआ है, उनमें से सोलह डिस्ट्रिक्टों में एक वर्ष से कम उम्र के हर १ लाख जीवित बच्चों के पीछे साल भर में औसतन केवल ६,००० मौतें होती हैं (एक डिस्ट्रिक्ट में केवल ७,०४७ मौतें होती हैं); २४ डिस्ट्रिक्टों में मौतों की संख्या १०,००० से ज़्यादा, पर ११,००० से कम है; ३९ डिस्ट्रिक्टों में वह ११,००० से ज़्यादा, पर १२,००० से कम है; ४८ डिस्ट्रिक्टों में वह १२,००० से ज़्यादा, पर १३,००० से कम है; २२ डिस्ट्रिक्टों में वह २०,००० से ज़्यादा है; २५ डिस्ट्रिक्टों में वह २१,००० से ज़्यादा है; १७ डिस्ट्रिक्टों में वह २२,००० से ज़्यादा है; ११ डिस्ट्रिक्टों में वह २३,००० से ज़्यादा है; हू, वोल्वरहैम्पटन, लाइन-नदी-तट-पर-स्थित-ऐश्टन और प्रेस्टन नामक डिस्ट्रिक्टों में २४,००० से ज़्यादा है; नोटिंघम, स्टोकपोर्ट और ब्रैडफ़र्ड में वह २५,००० से ज़्यादा है; विसबीच में वह २६,००० है और मानचेस्टर में २६,१२५ है।[1] जैसा कि १८६१ की एक सरकारी डाक्टरी जांच से प्रकट हुआ था, स्थानीय कारणों के अलावा इस भारी मृत्यु-संख्या का मुख्य कारण यह है कि बच्चों की माताओं को घर से बाहर काम करने जाना पड़ता है, और उनकी अनुपस्थिति में बच्चों के प्रति लापरवाही बरती जाती है और उनके साथ बुरा बरताव किया जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि उनको काफ़ी भोजन नहीं मिलता, ख़राब भोजन मिलता है और अक्सर अफ़ीम-मिली कोई दवा चटाकर सुला दिया जाता है। इसके अतिरिक्त मां और बच्चे के बीच एक अजीब सा खिंचाव पैदा हो जाता है, और उसके फलस्वरूप अक्सर मातायें जान-बूझकर बच्चों को भूखा मार डालती हैं और ज़हर दे देती हैं।[2] जिन खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में "नौकरी करने वाली औरतों की संख्या कम से कम है, वहां, दूसरी ओर, मृत्यु-अनुपात बहुत कम है।"[3] लेकिन १८६१ के जांच-कमीशन से यह अप्रत्याशित बात मालूम हुई कि उत्तरी सागर से मिले हुए कुछ विशुद्ध खेतीहर डिस्ट्रिक्टों में एक वर्ष से कम उम्र के

[1] "*Sixth Report on Public Health*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट'), London, 1864, पृ० ३४।

[2] "उससे (१८६१ की जांच से)... इसके अलावा यह पता चला कि जहां एक तरफ़ उपर्युक्त परिस्थितियों में माताओं के अपने धंधों में लगे रहने का यह अर्थ होता है कि उनको अपने बच्चों के प्रति लापरवाही बरतनी पड़ती है और वे उनका ठीक इन्तज़ाम नहीं कर पातीं और बच्चे इस चीज़ का शिकार हो जाते हैं, वहां, दूसरी ओर, अपनी सन्तान की ओर माताओं का रुख़ भी बहुत अस्वाभाविक हो जाता है,—वे आम तौर पर बच्चों की मौत की कोई नहीं परवाह करतीं और कभी-कभी तो... ख़ुद इसकी पक्की व्यवस्था कर देती हैं" (उप० पु०)।

[3] उप० पु०, पृ० ४५४।

बच्चों का मृत्यु-अनुपात कारखानों वाले सबसे खराब डिस्ट्रिक्टों के मृत्यु-अनुपात के लगभग बराबर है। चुनांचे डा० जूलियन हण्टर को मौक़े पर जाकर स्थिति की जांच करने के लिए नियुक्त किया गया। उनकी रिपोर्ट "*Sixth Report on Public Health*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट')[1] में शामिल है। उस वक़्त तक यह समझा जाता था कि बच्चे मौसमी बुखार और कछार तथा दलदल वाले डिस्ट्रिक्टों में फैलने वाली बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। परन्तु इस जांच से बिल्कुल उल्टी बात मालूम हुई। पता चला कि जाड़ों में दलदल और गर्मियों में बहुत खराब सी चरागाह बनी रहने वाली जमीन को जब खूब गल्ला पैदा करने वाली उपजाऊ जमीन में बदल दिया जाता है, तब उसके फलस्वरूप ऐसे इलाक़ों से जहां, एक तरफ़, मौसमी बुखार भाग जाता है, वहां, दूसरी तरफ़, शिशुओं की मृत्यु-दर असाधारण रूप से बढ़ जाती है।[2] डा० हण्टर ने इस डिस्ट्रिक्ट के ७० डाक्टरों के बयान लिये थे। इस प्रश्न पर सब का "आश्चर्यजनक रूप से एकमत था"। सच तो यह है कि खेती की प्रणाली में क्रान्ति होने के फलस्वरूप यहां पर भी औद्योगिक व्यवस्था जारी हो गयी थी। विवाहित स्त्रियां लड़के-लड़कियों के साथ-साथ टोलियों में काम करती हैं। काश्तकार के लिए एक व्यक्ति, जिसे "undertaker" ("ठेकेदार") कहते हैं, एक निश्चित रक़म के एवज में इन स्त्रियों की व्यवस्था करता है और पूरी टोली का ठेका ले लेता है। "ये टोलियां अपने गांव से कभी-कभी तो कई मील दूर जाकर काम करती हैं। सुबह-शाम वे आप को सड़कों पर मिलेंगी। ये औरतें छोटे-छोटे लहंगे, उपयुक्त ढंग के कोट और जूते और कभी-कभी पतलूनें भी पहने रहती हैं। वे इतनी स्वस्थ और बलवान दिखाई देती हैं कि दर्शक को आश्चर्य होता है; परन्तु उसके साथ-साथ उनमें आदत के रूप में एक अनैतिकता का रंग भी स्पष्ट दिखाई देता है, और लगता है, जैसे इन स्त्रियों को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि इस स्वतंत्र एवं व्यस्त जीवन से उनको जो इतना प्रेम हो गया है, उसका उनके उन अभागे बच्चों के लिए कैसा भयानक परिणाम हो रहा है, जो उनकी अनुपस्थिति में घर पर अकेले बिलखते रहते हैं।"[3] इस प्रकार, फ़ैक्टरियों वाले डिस्ट्रिक्टों की प्रत्येक बात यहां पर भी दिखाई देने लगती है। अन्तर केवल इतना होता है कि यहां गुप्त शिशु-हत्याएं और बच्चों को अफ़ीम-मिली दवाएं चटाना और भी अधिक प्रचलित हैं।[4] प्रिवी काउंसिल के डाक्टर और सार्वजनिक

---

[1] उप० पु०, पृ० ४५४-४६३। "*Report by Dr. Henry Julian Hunter on the excessive mortality of infants in some rural districts of England*" ('इंगलैण्ड के कुछ देहाती डिस्ट्रिक्टों में शिशुओं की अत्यधिक मृत्यु-संख्या के विषय में डा० हेनरी जूलियन हण्टर की रिपोर्ट')।

[2] उप० पु०, पृ० ३५ और पृ० ४५५, ४५६।

[3] उप० पु०, पृ० ४५६।

[4] फ़ैक्टरियों वाले डिस्ट्रिक्टों की तरह खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में भी वयस्क मजदूरों में, – स्त्रियों और पुरुषों, दोनों में, – अफ़ीम का उपयोग दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। "अफ़ीम-मिली दवाओं की बिक्री की वृद्धि ... कुछ उत्साही थोक व्यापारियों का मुख्य उद्देश्य है। दवाफ़रोश उन्हें बिक्री की सबसे महत्त्वपूर्ण चीज समझते हैं।" (उप० पु०, पृ० ४५९।) जो बच्चे अफ़ीम-मिली दवाएं खाते हैं, वे "सूखकर नन्हे-नन्हे बूढ़ों के समान बन जाते हैं" या "ज़रा-ज़रा से बन्दर प्रतीत होने लगते हैं।" (उप० पु०, पृ० ४६०।) हिन्दुस्तान और चीन ने इंगलैण्ड से किस तरह बदला लिया है, यह यहां साफ़ हो जाता है।

स्वास्थ्य की रिपोर्टों के प्रधान सम्पादक, डा० साइमन ने कहा है: "जब कहीं पर वयस्क स्त्रियों से बड़े पैमाने पर कारखानों में काम कराया जाता है, तो मुझे हमेशा यह भय होता है कि इसका बहुत अनिष्टकर परिणाम होगा। इसका कारण यह है कि मुझे इस चीज से पैदा होने वाली बुराइयों का अच्छा ज्ञान है।"[1] मि० बेकर नामक एक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है: "इंगलैण्ड के कारखानों वाले डिस्ट्रिक्टों के लिए यह सचमुच बड़े सौभाग्य की बात होगी, जब बाल-बच्चों वाली प्रत्येक विवाहित स्त्री को किसी भी कपड़ा-मिल में काम करने की मनाही कर दी जायेगी।"[2]

पूंजीवादी शोषण स्त्रियों और बच्चों को जिस घोर नैतिक पतन के गढ़े में धकेल देता है, उसका फ़्रे० एंगेल्स ने अपनी पुस्तक *"Lage der Arbeitenden Klasse Englands"* ('इंगलैण्ड के मजदूर-वर्ग की हालत') में तथा अन्य लेखकों ने इतना सुविस्तृत वर्णन किया है कि इस स्थान पर केवल उसका जिक्र कर देना ही काफ़ी होगा। परन्तु अपरिपक्व मनुष्यों को महज अतिरिक्त मूल्य पैदा करने वाली मशीनों में बदलकर बनावटी ढंग से जो बौद्धिक शून्यता पैदा कर दी गयी थी और जो उस स्वाभाविक अज्ञान से बिल्कुल भिन्न थी, जिसमें मनुष्य का मस्तिष्क परती जमीन की तरह खाली तो पड़ा रहता है, पर उसकी विकास करने की क्षमता, उसकी स्वाभाविक उर्वरता नष्ट नहीं हो जाती, – इस मनोदशा ने अन्त में इंगलैण्ड की संसद तक को यह नियम बनाने के लिए विवश कर दिया कि ऐसे तमाम उद्योगों में, जिनपर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हैं, १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को केवल उसी समय "उत्पादक" ढंग से नौकर रखा जा सकेगा, जब साथ ही उनकी प्राथमिक शिक्षा का भी बन्दोबस्त कर दिया जायेगा। पूंजीवादी उत्पादन किस भावना से उत्प्रेरित होता है, यह इस बात से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि फ़ैक्टरी-क़ानूनों की तथाकथित शिक्षा सम्बंधी धाराओं की शब्दावली अत्यन्त हास्यास्पद है; इन धाराओं को लागू करने वाला कोई प्रशासन-यंत्र नहीं है, जिससे इन धाराओं की अनिवार्यता महज एक काग़जी चीज बनकर रह जाती है; कारखानेदार खुद इन धाराओं का डटकर विरोध कर रहे हैं और व्यवहार में उनसे बचने के लिए तरह-तरह की तरकीबें करते हैं और चालें चलते हैं। "इसके लिए महज संसद ही दोषी है। उसने एक धोखे से भरा क़ानून (delusive law) बनाया है। ऊपर से देखने में लगता है कि इस क़ानून ने फ़ैक्टरियों में काम करने वाले सभी बच्चों को शिक्षा देना जरूरी बना दिया है। पर उसमें ऐसी कोई धारा नहीं है, जिससे सचमुच इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। उसमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा गया है कि सप्ताह के कुछ खास दिन बच्चे कुछ निश्चित घण्टों के लिए (तीन घण्टों के लिए) स्कूल नामक एक स्थान की चारदीवारी के भीतर बन्द कर दिये जायेंगे और बच्चों को नौकर रखने वाला कारखानेदार उसके द्वारा नियुक्त स्कूल-मास्टर या मास्टरानी के पद पर काम करने वाले एक व्यक्ति से हर हफ़्ते इस बात के प्रमाण-पत्र पर दस्तखत करा लेगा।"[3] १८४४ के संशोधित फ़ैक्टरी-क़ानून के पास होने के पहले

---

[1] उप० पु०, पृ० ३७।

[2] *"Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct., 1862"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ५९। मि० बेकर पहले डाक्टर थे।

[3] लेओनार्ड होर्नर; *"Reports of Inspectors of Factories for 30th June, 1857"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० जून १८५७'), पृ० १७।

अक्सर यह होता था कि स्कूल में बच्चों की हाजिरी के प्रमाण-पत्र पर स्कूल का मास्टर या मास्टरानी हस्ताक्षर नहीं करते थे, बल्कि सिर्फ़ एक चिन्ह बना देते थे, क्योंकि वे खुद लिखना नहीं जानते थे। लेग्रोनार्ड होर्नर ने लिखा है: "एक बार में एक ऐसा स्थान देखने गया, जो स्कूल कहलाता था और जहां से बच्चों की हाजिरी के प्रमाण-पत्र भी जारी हुए थे। मुझे इस स्कूल के मास्टर का अज्ञान देखकर इतना आश्चर्य हुआ कि मैं उससे यह पूछ ही बैठा कि 'कहिये, जनाब, आप पढ़ना तो जानते हैं?' उसने जवाब दिया 'हां, कुछ-कुछ (summat)।' और फिर मानो प्रमाण-पत्र देने के अपने अधिकार का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसने कहा: 'बहरहाल, मैं अपने विद्यार्थियों से तो पहले हूं ही।'" जब १८४४ का बिल तैयार हो रहा था, उस समय फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने उन स्थानों का सवाल उठाया, जो स्कूल कहलाते थे और जिनकी स्थिति बहुत लज्जाजनक थी तथा जिनके प्रमाण-पत्रों को उन्हें क़ानून के आदेश-पालन के रूप में स्वीकार करना पड़ता था। परन्तु उनकी तमाम कोशिशों का केवल इतना ही परिणाम हुआ कि १८४४ के क़ानून के पास हो जाने के बाद यह नियम बन गया कि "स्कूल के प्रमाण-पत्र में खुद स्कूल-मास्टर की लिखावट में अंक होने चाहिए, जिसे अपना पूरा नाम, पिता का नाम और कुल का नाम भी अपने हाथ से लिखना होगा।"[1] स्कोटलैण्ड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर सर जान किनकेड ने भी इसी प्रकार के एक अनुभव का वर्णन किया है। "हम जो पहला स्कूल देखने गये, उसका बन्दोबस्त श्रीमती ऐन किलिन के हाथ में था। हमने जब उनसे अपने नाम का वर्ण-विन्यास करने को कहा, तो वह फ़ौरन ग़लती कर बैठीं। उन्होंने अपने नाम को "सी" (C) अक्षर से शुरू किया। लेकिन उसके बाद फ़ौरन ही उन्होंने अपनी भूल सुधारी और कहा कि उनका नाम "के" (K) अक्षर से शुरू होता है। किन्तु स्कूल के प्रमाण-पत्रों में जब हमने उनके हस्ताक्षर देखे, तो पता चला कि वे अपने नाम को तरह-तरह से लिखती रही हैं और उनकी लिखावट से इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि उनमें बच्चों को पढ़ाने की योग्यता नहीं है। यह बात तो उन्होंने खुद भी स्वीकार की कि रजिस्टर भरना उनके बस की बात नहीं है... एक दूसरे स्कूल में मैंने देखा कि स्कूल का कमरा १५ फ़ीट लम्बा और १० फ़ीट चौड़ा है और इतने स्थान में ७५ बच्चे भरे हुए कुछ बड़बड़-बड़बड़ कर रहे हैं, जिसे सुनकर समझना असम्भव है।"[2] "लेकिन यह केवल इन उपर्युक्त दयनीय स्थानों में ही नहीं होता कि बच्चों को किसी काम की शिक्षा नहीं मिलती और फिर भी स्कूल में हाजिरी के प्रमाण-पत्र दे दिये जाते हैं। बहुत से स्कूलों में शिक्षक योग्य है, पर उसकी सब कोशिशें बेकार रहती हैं, क्योंकि ३ वर्ष के शिशुओं से शुरू करके सभी उम्रों के बच्चों की वह बेशुमार भीड़ उसको कुछ नहीं करने देती। वह बहुत मुश्किल से ही अपनी गुजर-बसर कर पाता है, और यह भी इस बात पर निर्भर करता है कि उस जरा से स्थान में वह अधिक से अधिक कितने बच्चों को ठूंस सकता है, क्योंकि इन बच्चों से मिलने वाली पेनियों के सहारे ही उसकी जीविका चलती है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इन स्कूलों में फ़र्नीचर का अभाव होता है, किताबों की और पढ़ाई की अन्य सामग्री की कमी रहती है और घुटन

---

[1] लेग्रोनार्ड होर्नर; *"Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1855"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५५'), पृ० १८, १९।

[2] सर जान किनकेड; *"Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct., 1858"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ३१, ३२।

और शोर के वातावरण का बेचारे बच्चों के मन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मैं बहुत से ऐसे स्कूलों में हो आया हूं, जहां मैंने देखा कि बच्चों की पंक्तियों की पंक्तियां बैठी हैं और वे कुछ भी कर नहीं रहे हैं; पर स्कूल की हाज़िरी के लिए इतना काफ़ी माना जाता है और सरकारी आंकड़ों में ऐसे बच्चों को शिक्षित (educated) दिखाया जाता है।"[1] स्कोटलैण्ड में कारख़ानेदार इसकी जी-तोड़ कोशिश करते हैं कि वे उन बच्चों के बिना ही काम चला लें, जिनको स्कूल भेजना ज़रूरी होता है। "अब यह बात साबित करने के लिए और दलीलों की ज़रूरत नहीं है कि फ़ैक्टरी-क़ानून की शिक्षा-सम्बंधी धाराओं का, जो मिल-मालिकों को इतनी नापसन्द हैं, प्रायः यह नतीजा होता है कि इन बच्चों को न तो नौकरी मिलती है और न वह शिक्षा, जो यह क़ानून उनको देना चाहता था।"[2] कपड़ा छापने के कारख़ानों में, जिनपर एक विशेष क़ानून लागू है, यह बात बहुत ही भयानक रूप धारण कर लेती है। इस विशेष क़ानून के अनुसार "कपड़ा छापने के किसी कारख़ाने में नौकर होने के पहले हर बच्चे के लिए यह ज़रूरी होता है कि उसने नौकरी के प्रथम दिन के पहले छः महीने के दौरान कम से कम ३० दिन और कम से कम १५० घण्टे तक किसी स्कूल में हाज़िरी दी हो; और कपड़ा छापने के कारख़ाने में नौकरी करने के दौरान में भी उसे हर छः महीने में कम से कम एक बार ३० दिन और १५० घण्टे की यह हाज़िरी पूरी करके दिखानी होगी ... स्कूल में हाज़िरी का समय सुबह ८ बजे से शाम के ६ बजे के बीच होना चाहिये। यदि एक दिन में कोई बच्चा २$\frac{१}{२}$ घण्टे से कम या ५ घण्टे से ज़्यादा स्कूल में उपस्थित रहेगा, तो वह समय १५० घण्टों में शामिल नहीं किया जायेगा। साधारणतया बच्चे ३० दिन तक सुबह को और तीसरे पहर को रोज़ कम से कम पांच घण्टे स्कूल में हाज़िर रहते हैं; और ३० दिन पूरे हो जाने के बाद, जब १५० घण्टे की क़ानूनी अवधि पूरी हो जाती है, या, इन लोगों की भाषा में, ख़ानापुरी हो जाने के बाद, वे कपड़ा छापने के कारख़ाने में लौट आते हैं, जहां वे छः महीने तक काम करते रहते हैं, और छः महीने पूरे हो जाने पर स्कूल की हाज़िरी की एक नयी क़िस्त शुरू हो जाती है, और जब तक दोबारा ख़ानापुरी नहीं हो जाती, तब तक वे फिर स्कूल में हाज़िरी बजाते रहते हैं . . . बहुत से लड़के क़ानून द्वारा निर्धारित घण्टे स्कूल में बिताकर कपड़ा छापने के कारख़ाने में काम करने चले जाते हैं और छः महीने का काम पूरा करने के बाद जब वहां से लौटते हैं, तो वे उसी हालत में होते हैं, जिस हालत में वे पहली बार कपड़ा छापने के कारख़ानों में काम करने वाले लड़कों के रूप में स्कूल में हाज़िर हुए थे; और पहली बार स्कूल में बैठकर उन्होंने जो कुछ पाया था, उस सब को खो आते हैं . . . कपड़ा छापने के दूसरे कारख़ानों में स्कूल में बच्चों की हाज़िरी पूरी तरह इस बात पर निर्भर करती है कि कारख़ाने का काम उसकी इजाज़त देता है या नहीं। हर छः महीने के पीछे जो १५० घण्टे की हाज़िरी आवश्यक होती है, वह ३ घण्टे से लेकर ५ घण्टों तक की बहुत सी फैली हुई क़िस्तों में पूरी कर दी जाती है। कभी-कभी तो ये क़िस्तें पूरे छः महीनों

---

[1] लेओनार्ड होर्नर; *"Reports, &c., for 31st Oct., 1857"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५७'), पृ० १७, १८।

[2] सर जान किनकेड; *"Reports, &c., 31st Oct., 1856"* ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० ६६।

पर फैला दी जाती हैं . . . मिसाल के लिये, एक दिन की हाजिरी सुबह ८ से ११ बजे तक की हो सकती है, दूसरे दिन की १ बजे दोपहर से शाम के ४ बजे तक की, और फिर मुमकिन है कि कई रोज तक बच्चा स्कूल में मुंह न दिखाये; उसके बाद वह तीसरे पहर के ३ बजे से शाम के ६ बजे तक स्कूल में बैठ सकता है; इस तरह ३ या ४ दिन तक या एक सप्ताह तक लगातार स्कूल में आने के बाद वह ३ सप्ताह या एक महीने तक ग़ैर-हाजिर रह सकता है; और उसके बाद जब कभी उसका मालिक उसे काम कम होने पर छुट्टी दे दे, वह कभी-कभार स्कूल में जा सकता है; और जब तक १५० घण्टे का वह क़िस्सा पूरा नहीं हो जाता, तब तक बच्चा कभी स्कूल से कारखाने में और कभी कारखाने से स्कूल में इसी तरह धक्के खाता रहता है।"[1]

स्त्रियों और बच्चों को अत्यधिक संख्या में मजदूरों में भर्ती करके मशीनें आखिर पुरुष मजदूरों के उस प्रतिरोध को तोड़ देती हैं, जिसका पूंजी के निरंकुश शासन को हस्तनिर्माण के काल में लगातार सामना करना पड़ा था।[2]

---

[1] ए० रेड्ग्रेव; *"Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1857"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५७'), पृ० ४१-४२। जिन उद्योगों पर ख़ास फ़ैक्टरी-क़ानून (कपड़ा छापने के कारख़ानों का वह विशेष क़ानून [Print Works Act] नहीं, जिसका यहां ज़िक्र किया गया है) कुछ समय से लागू है, उनमें शिक्षा सम्बंधी धाराओं के रास्ते की रुकावटों को हाल के कुछ वर्षों में दूर कर दिया गया है। जिन उद्योगों पर यह क़ानून लागू नहीं है, उनमें अब भी कांच के कारख़ाने के मालिक मि० जे० गेड्डेज़ के विचारों का ही दौर-दौरा है। इन सज्जन ने जांच-आयोग के एक सदस्य, मि० व्हाइट से कहा था: "जहां तक मैं देख सकता हूं, पिछले कुछ वर्षों से मजदूर-वर्ग का एक भाग जो पहले से अधिक शिक्षा प्राप्त कर रहा है, वह एक बड़ी भारी बुराई है। यह एक ख़तरनाक चीज़ है, क्योंकि वह मजदूरों को आज़ाद बना देती है।" (*"Children's Empl. Comm., Fourth Report"* ['बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'], London, 1865, पृ० २५३।)

[2] "मि० ई० नामक एक कारखानेदार ने ... मुझे यह सूचना दी कि वह शक्ति से चलने वाले अपने करघों पर काम करने के लिये केवल स्त्रियों को ही नौकर रखते हैं ... और उनमें भी विवाहित स्त्रियों को वह ज्यादा तरजीह देते हैं, -ख़ास तौर पर उन स्त्रियों को, जिनके परिवार अपनी जीविका के लिये उन्हीं पर निर्भर होते हैं। ये स्त्रियां अविवाहित स्त्रियों की तुलना में अधिक ध्यान लगाकर काम करती हैं, अधिक विनयी होती हैं और जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिये उनको मजबूर होकर ज्यादा से ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है। इस प्रकार, नारी के गुणों को, -उसके विशिष्ट गुणों को, -ऐसा रूप दे दिया जाता है कि वे ख़ुद उसी के लिये घातक बन जाते हैं। इस प्रकार नारी के स्वभाव में जो कुछ भी अत्यन्त कर्तव्य-पालन की भावना और ममता से भरा है, उसे उसके लिये दासता का साधन और यातनाओं का कारण बना दिया जाता है।" (*"Ten Hours' Factory Bill. The Speech of Lord Ashley, 15th March"* ['दस घण्टे का फ़ैक्टरी-बिल, लार्ड ऐशले का भाषण, १५ मार्च'], London, 1844, पृ० २०।)

## ख) काम के दिन का लम्बा कर दिया जाना

यदि मशीनें श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने का – अर्थात् किसी माल के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल को छोटा करने का – सबसे शक्तिशाली साधन हैं, तो जिन उद्योगों पर वे पहले-पहल चढ़ाई करती हैं, उनमें वे पूंजीपति के हाथों में मानव-प्रकृति की तमाम सीमाओं का अतिक्रमण करके काम के दिन को लम्बा खींचने का सबसे शक्तिशाली साधन बन जाती हैं। मशीनें एक तरफ़ तो ऐसी नयी परिस्थितियां पैदा कर देती हैं, जिनमें पूंजी को अपनी इस अनवरत प्रवृत्ति को खुली छूट दे देने का अवसर मिल जाता है, और, दूसरी तरफ़, वे दूसरों के श्रम को हड़पने की पूंजी की भूख को तेज करने के लिये नये उद्देश्य पैदा कर देती हैं।

सबसे पहली बात यह है कि मशीनों के रूप में श्रम के औजार स्वचालित बन जाते हैं। वे ऐसी चीजें बन जाते हैं, जो मजदूर से स्वाधीन रहते हुए खुद हरकत करती और चलती हैं। और इस समय से ही श्रम के औजार एक औद्योगिक perpetuum mobile (चिरन्तन चालक शक्ति) बन जाते हैं। यदि इस शक्ति की देखरेख करने वाले इन्सानों के निर्बल शरीरों तथा दृढ़ इच्छाओं के रूप में कुछ प्राकृतिक रुकावटें उसके रास्ते में न आ खड़ी होतीं, तो यह शक्ति निरन्तर काम करती रहती। पूंजी के रूप में, – और चूंकि वह पूंजी है, इसलिये स्वचालित यंत्र को पूंजीपति की शकल में बुद्धि और इच्छा-शक्ति मिल जाती है, – उसमें यह इच्छा पैदा हो जाती है कि मनुष्य रूपी उस प्रतिकारक, किन्तु लोचदार प्राकृतिक रुकावट के प्रतिरोध को कम से कम कर दे।[1] इसके अतिरिक्त, मशीन का काम चूंकि ऊपर से देखने में हल्का होता है और उसके लिये नौकर रखी गयी स्त्रियां और बच्चे चूंकि अधिक विनयी और दब्बू होते हैं, इसलिये भी यह प्रतिरोध कुछ कम हो जाता है।[2] जैसा कि हम ऊपर

---

[1] "जब से आम तौर पर मशीनों का इस्तेमाल होने लगा है, तब से इन्सानों से इतना ज्यादा काम लिया जाने लगा है, जो उनकी औसत शक्ति से बहुत ज्यादा होता है।" (Rob. Owen, *"Observations on the Effects of the Manufacturing System"* [रोबर्ट ओवेन, 'कारखानेदारी व्यवस्था के प्रभावों के विषय में कुछ विचार'], दूसरा संस्करण, London, 1817 [पृ० १६]।)

[2] अंग्रेज लोगों में किसी भी चीज की अभिव्यंजना के सबसे प्रारम्भिक रूप को उसके अस्तित्व का कारण समझने की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के कारण वे अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि फ़ैक्टरियों में अगर बहुत ज्यादा देर तक काम कराया जाता है, तो इसका कारण यह है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था के बाल्य-काल में पूंजीपति मुहताजखानों और अनाथालयों से बेशुमार बच्चों को उठा लाया करते थे और इस डकैती के जरिये उनको शोषण के लिये ऐसी सामग्री मिल जाती थी, जो उनके विरोध में कभी चीं तक नहीं करती थी। मिसाल के लिये, फ़ील्डेन ने, जो ख़ुद भी एक कारखानेदार हैं, कहा है: "यह स्पष्ट है कि काम के ये लम्बे घण्टे इस बात का परिणाम हैं कि देश के विभिन्न भागों से कारखानों के मालिकों को इतनी अधिक संख्या में मुहताज बच्चे मिल गये थे कि उनको मजदूरों की कोई परवाह नहीं रह गयी थी, और इस प्रकार प्राप्त की गयी अभागी सामग्री की मदद से एक बार कोई रिवाज क़ायम करके वे फिर उसे अपने पड़ोसियों पर अधिक आसानी से लाद सकते थे।" (J. Fielden, *"The Curse of the Factory System"* [जे० फ़ील्डेन, 'फ़ैक्टरी-व्यवस्था का अभिशाप'], London, 1836, पृ० ११।)

देख चुके हैं, मशीनों की उत्पादकता उस मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में होती है, जिसे वे पैदावार में स्थानांतरित कर देती हैं। मशीन का जीवन जितना लम्बा होता है, उसके द्वारा स्थानांतरित किया गया मूल्य पैदावार की उतनी ही अधिक मात्रा पर फैल जाता है, और इस मूल्य का जो अंश हर अकेले माल में जुड़ता है, वह उतना ही कम हो जाता है। किन्तु किसी भी मशीन का सक्रिय जीवन-काल स्पष्ट रूप से काम के दिन की लम्बाई – या दैनिक श्रम-प्रक्रिया की लम्बाई – और जितने दिनों तक यह प्रक्रिया चलायी जाती है, उनके गुणनफल पर निर्भर करता है।

किसी भी मशीन की घिसाई-छिजाई ठीक-ठीक उसके कार्य-काल के अनुपात में नहीं घटती-बढ़ती। और यदि ऐसा हो भी, तो ७$\frac{1}{2}$ वर्ष तक १६ घण्टे रोज़ काम करने वाली मशीन का कार्य-काल उतना ही होगा और वह कुल पैदावार में उतना ही मूल्य स्थानांतरित करेगी, जितना इस मशीन का कार्य-काल उस हालत में होगा और जितना मूल्य वह उस हालत में स्थानांतरित करेगी, जब उससे १५ वर्ष तक केवल ८ घण्टे रोज़ काम लिया जायेगा। लेकिन दूसरी सूरत की अपेक्षा पहली सूरत में मशीन के मूल्य का पुनरुत्पादन दुगुनी तेज़ी से हो जायेगा और मशीन का इस तरह उपयोग करके पूंजीपति ७$\frac{1}{2}$ वर्षों में ही उतना अतिरिक्त मूल्य कमा लेगा, जितना दूसरी सूरत में वह १५ वर्षों में कमा पायेगा।

मशीन की भौतिक घिसाई दो तरह की होती है। एक उपयोग के कारण होती है, जैसे सिक्के परिचलन में घिस जाते हैं। दूसरी उपयोग न होने के कारण होती है, जैसे अगर कोई तलवार बहुत दिन तक म्यान में पड़ी रहे, तो उसमें जंग लग जाता है। यह दूसरी प्रकार की घिसाई प्राकृतिक तत्वों के कारण होती है। पहली प्रकार की घिसाई न्यूनाधिक मशीन के उपयोग के अनुलोम अनुपात में होती है, दूसरी प्रकार की घिसाई कुछ हद तक इसी चीज़ के प्रतिलोम अनुपात में होती है।[1]

लेकिन भौतिक घिसाई-छिजाई के अलावा मशीन उस क्रिया से भी गुज़रती है, जिसे हम नैतिक मूल्य-ह्रास की क्रिया कह सकते हैं। उसका विनिमय-मूल्य या तो इसलिये कम हो जाता है कि उसी तरह की मशीनें उसकी अपेक्षा सस्ती तैयार होने लगती हैं और या इसलिये कि उससे बेहतर मशीनें उससे प्रतियोगिता करने लगती हैं।[2] दोनों सूरतों में, मशीन चाहे जितनी

---

स्त्रियों के श्रम के विषय में सौण्डर्स नामक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने १८४४ की अपनी रिपोर्ट में लिखा है: "मज़दूर औरतों में कुछ ऐसी औरतें हैं, जिनको दो-चार रोज़ छोड़कर बाक़ी कई-कई हफ़्ते तक लगातार सुबह ६ बजे से आधी रात तक काम करना पड़ता है और जिनको बीच में केवल भोजन करने के लिये २ घण्टे से भी कम की एक छुट्टी मिलती है। इस तरह, इन स्त्रियों के पास हफ़्ते में पांच दिन कारख़ाने से घर तक आने-जाने और बिस्तर पर लेटकर आराम करने के लिये २४ घण्टे में से केवल ६ घण्टे बचते हैं।"

[1] "धातु का कोई यंत्र निष्क्रिय पड़ा रहेगा, तो उसके चलने वाले नाज़ुक कल-पुर्ज़ों को नुक़सान... पहुंच सकता है।" (Ure, उप० पु०, पृ० २८।)

[2] मानचेस्टर के कताई के कारख़ाने के जिस मालिक ("Manchester Spinner") का ऊपर भी ज़िक्र किया जा चुका है, उसने (*"The Times"* के २६ नवम्बर १८६२ के अंक में) इस

कम-उम्र और जिन्दगी से भरी-पूरी हो, उसका मूल्य तब इस बात से निर्धारित नहीं होगा कि उसमें कितने श्रम ने सचमुच भौतिक रूप धारण किया है, बल्कि इस बात से निर्धारित होगा कि उसके पुनरुत्पादन के लिये या उससे बेहतर मशीन के उत्पादन के लिये कितना श्रम-काल आवश्यक होता है। इसलिये ऐसी हालत में मशीन के मूल्य में न्यूनाधिक कमी आ जाती है। उसके कुल मूल्य के पुनरुत्पादन में जितना कम समय लगेगा, उतना ही उसके नैतिक मूल्य-ह्रास का कम ख़तरा रहेगा; और काम का दिन जितना अधिक लम्बा होगा, मशीन के कुल मूल्य के पुनरुत्पादन में उतना ही कम समय लगेगा। जब किसी उद्योग में मशीन का इस्तेमाल पहले-पहल शुरू होता है, तो उसका अधिक सस्ते में पुनरुत्पादन करने का एक के बाद दूसरा तरीक़ा ईजाद होने लगता है[1] और न केवल मशीन के अलग-अलग हिस्सों और कल-पुर्जों में, बल्कि उसकी पूरी बनावट में नये-नये सुधार होते रहते हैं। इसलिये मशीनों के जीवन के एकदम प्रारम्भिक दिनों में काम के दिन को लम्बा खींचने की इच्छा पैदा करने वाला यह विशिष्ट कारण सबसे अधिक ज़ोर दिखाता है।[2]

यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से मालूम हो और अन्य सब परिस्थितियां समान रहें, तो पहले से दुगुनी संख्या में मजदूरों का शोषण करने के लिये स्थिर पूंजी के न केवल मशीनों और मकानों में लगे भाग को, बल्कि उस भाग को भी दुगुना करना पड़ता है, जो कच्चे माल और सहायक पदार्थों में लगाया जाता है। दूसरी ओर, काम के दिन को लम्बा करने पर मशीनों और मकानों में लगी हुई पूंजी में बिना कोई परिवर्तन किये हुए ही पहले से बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है।[3] इसलिये, वैसी हालत में न सिर्फ़ अतिरिक्त मूल्य बढ़ जाता

---

विषय में यह लिखा है: "इसका (यानी "मशीनों के ख़राब हो जाने के लिये पहले से ही पैसा निकालकर अलग रख देने" का) यह उद्देश्य भी होता है कि मशीनें चूंकि घिसने के पहले ही नयी और बेहतर बनावट की मशीनों का आविष्कार हो जाने के फलस्वरूप पुरानी पड़ जाती हैं, इसलिये इससे निरन्तर होने वाले नुक़सान को पूरा करने की पहले से व्यवस्था कर दी जाये।"

[1] "मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया गया है कि जब किसी नयी मशीन का आविष्कार होता है, तो उस प्रकार की पहली मशीन बनाने में वैसी ही दूसरी मशीन की अपेक्षा लगभग पांच-गुना ख़र्चा लग जाता है।" (Babbage, उप० पु०, पृ० २११।)

[2] "अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं, जब कि पेटेण्ट-शुदा जाली बनाने के ढांचों में इतने बड़े-बड़े सुधार कर दिये गये थे कि जिस मशीन में १,२०० पौण्ड की लागत लगी थी, वह अच्छी हालत में होते हुए भी उसके चन्द साल बाद ही केवल ६० पौण्ड में बिकती थी... एक के बाद दूसरा सुधार इतनी जल्दी-जल्दी हो रहा था कि मशीनें तैयार नहीं हो पाती थीं और उसके पहले ही ख़रीदार उन्हें उनको बनाने वालों के पास छोड़कर ख़ुद अलग हो जाते थे, क्योंकि इस बीच नये सुधार उनकी उपयोगिता को कम कर देते थे।" (Babbage, उप० पु०, पृ० २३३।) चुनांचे, तरक़्क़ी के इन तूफ़ानी दिनों में रेशमी जाली बनाने वाले कारख़ानेदारों ने शीघ्र ही मजदूरों की दो पालियों से काम लेना शुरू कर दिया और इस तरह काम के दिन को आठ घण्टे से चौबीस घण्टे का कर दिया।

[3] "यह बात स्वतःस्पष्ट है कि मंडियों के उतार-चढ़ाव और मांग के बारी-बारी से बढ़ने-घटने के बीच बार-बार ऐसे अवसर आते हैं, जब कारख़ानेदार अतिरिक्त अचल पूंजी लगाये बिना ही अतिरिक्त चल पूंजी का उपयोग कर सकता है,.. बशर्ते कि मकानों और मशीनों पर

है, बल्कि उसे प्राप्त करने में जो ख़र्चा लगता था, वह कम हो जाता है। यह सच है कि काम के दिन को लम्बा करने पर हर बार कमोबेश यह बात होती है, मगर जिस विशेष परिस्थिति पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन होता है, क्योंकि यहां पर पूंजी का वह भाग अपेक्षाकृत अधिक होता है, जो श्रम के औज़ारों में बदल दिया गया है।[1] फ़ैक्टरियों की व्यवस्था का विकास पूंजी के एक लगातार बढ़ते हुए भाग को एक ऐसे रूप में स्थिर कर देता है, जिसमें एक ओर तो उसका मूल्य लगातार ख़ुद अपना विस्तार कर सकता है और, दूसरी ओर, जिसमें वह जीवित श्रम के साथ सम्पर्क खोते ही अपने उपयोग-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य दोनों को खो देता है। मि० ऐशवर्थ नामक एक बड़े कपड़ा-मिल-मालिक ने प्रोफ़ेसर नस्साऊ डबल्यू० सीनियर से कहा था: "जब कोई मज़दूर फावड़ा उठाकर रख देता है, तो उस काल के लिये वह अठारह पेन्स की पूंजी को व्यर्थ बना देता है। पर जब हमारा कोई आदमी मिल छोड़कर चला जाता है, तो वह उस पूंजी को व्यर्थ बना देता है, जिसमें १ लाख पौण्ड की लागत लगी है।"[2] ज़रा कल्पना तो कीजिये! १,००,००० पौण्ड की पूंजी को एक क्षण के लिये भी "व्यर्थ" बना दिया गया, तो कितना भारी नुक़सान होगा! सचमुच, यह तो भयानक बात है कि हमारा कोई भी आदमी कभी फ़ैक्टरी छोड़कर जाये! जैसा कि सीनियर ने ऐशवर्थ की यह सीख सुनने के बाद साफ़-साफ़ कहा था, मशीनों का बढ़ता हुआ उपयोग यह "वांछनीय" बना देता है कि काम के दिन को अधिकाधिक लम्बा किया जाये।[3]

मशीनें सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करती हैं न केवल इस तरह कि वे श्रम-शक्ति के मूल्य को प्रत्यक्ष रूप से कम कर देती हैं और उसके पुनरुत्पादन में भाग लेने वाले मालों को सस्ता

---

अतिरिक्त ख़र्चा किये बिना ही कच्चे माल की अतिरिक्त मात्राओं का उपयोग करना सम्भव हो।" (R. Torrens, "*On Wages and Combination*" [आर० टोरेन्स, 'मज़दूरी और संघों के विषय में'], London, 1834, पृ० ६४।)

[1] इस परिस्थिति का यहां केवल पूर्णता की दृष्टि से ज़िक्र कर दिया गया है, क्योंकि जब तक मैं तीसरी पुस्तक पर नहीं पहुंचता, तब तक मैं मुनाफ़े की दर पर – अर्थात् पेशगी लगायी गयी कुल पूंजी के साथ अतिरिक्त मूल्य के अनुपात पर – विचार नहीं करूंगा।

[2] Senoir, "*Letters on the Factory Act*" (सीनियर, 'फ़ैक्टरी-क़ानून के सम्बंध में कुछ ख़त'), London, 1837, पृ० १३, १४।

[3] "चल पूंजी के साथ अचल पूंजी का अनुपात बहुत ऊंचा होने के कारण... काम के लम्बे घण्टे वांछनीय हो जाते हैं।" मशीनों आदि का उपयोग बढ़ जाने पर "लम्बे घण्टों तक काम कराने की प्रेरणा अधिक बलवती हो जायेगी, क्योंकि यही एक ऐसा तरीक़ा है, जिससे अचल पूंजी के एक बड़े भाग को लाभदायक बनाया जा सकता है।" (उप० पु०, पृ० ११–१३।) "किसी भी मिल के कुछ ख़र्चे ऐसे होते हैं जो, चाहे मिल पूरे समय काम करे या चाहे कम समय तक चले, एक से रहते हैं, जैसे, मिसाल के लिये, लगान, टैक्स और कर, आग का बीमा, अनेक स्थायी कर्मचारियों का वेतन, मशीनों का ह्रास और कारख़ाने के ऐसे अन्य ख़र्चे, जिनका मुनाफ़ों के साथ अनुपात उत्पादन के घटने के साथ-साथ बढ़ता जाता है।" ("*Rep. of Insp. of Fact. for 31st. Oct., 1862*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० १९।)

बनाकर अप्रत्यक्ष रूप से खुद उसको भी सस्ता बना देती हैं, बल्कि इस तरह भी कि जब किसी उद्योग में कहीं एकाध जगह पर मशीनों का उपयोग होने लगता है, तब इन मशीनों का मालिक जिस श्रम से काम लेता है, वह अपेक्षाकृत ऊंचे दर्जे और ऊंची कार्य-क्षमता का श्रम बन जाता है, पैदावार का सामाजिक मूल्य उसके व्यक्तिगत मूल्य से कुछ अधिक हो जाता है और इस प्रकार पूंजीपति इस स्थिति में होता है कि एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य दिन भर की पैदावार के पहले से कम भाग से पूरा कर दे। परिवर्तन के इस काल में, जब मशीनों के इस्तेमाल पर एक तरह से किन्हीं इने-गिने पूंजीपतियों का इजारा होता है, असाधारण ढंग के मुनाफ़े होते हैं और पूंजीपति काम के दिन को भरसक लम्बा करके "अपने इस पहले प्यार के वसन्त से" अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। मुनाफ़ा जितना ज्यादा होता है, उसकी मुनाफ़ा पाने की भूख भी उतनी ही बढ़ जाती है।

जैसे-जैसे किसी ख़ास उद्योग में मशीनों का उपयोग अधिकाधिक सामान्य होता जाता है, वैसे-वैसे पैदावार का सामाजिक मूल्य उसके व्यक्तिगत मूल्य के स्तर के निकट आता जाता है और यह नियम अपना ज़ोर दिखाता है कि अतिरिक्त मूल्य उस श्रम-शक्ति से पैदा नहीं होता, जिसका स्थान मशीनों ने ले लिया है, बल्कि वह उस श्रम-शक्ति से उत्पन्न होता है, जो सचमुच मशीनों से काम लेने के लिये नौकर रखी गयी है। अतिरिक्त मूल्य एकमात्र अस्थिर पूंजी से ही उत्पन्न होता है; और हम यह देख चुके हैं कि अतिरिक्त मूल्य की मात्रा दो बातों पर निर्भर करती है, यानी एक तो अतिरिक्त मूल्य की दर पर और, दूसरे, जिन मज़दूरों से एक साथ काम लिया जा रहा है, उनकी संख्या पर। यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से मालूम हो, तो अतिरिक्त मूल्य की दर इस बात से निर्धारित होती है कि एक दिन में आवश्यक श्रम तथा अतिरिक्त श्रम की तुलनात्मक अवधि कितनी है। उधर, जिन मज़दूरों से एक साथ काम लिया जा रहा है, उनकी संख्या स्थिर पूंजी के साथ अस्थिर पूंजी के अनुपात पर निर्भर करती है। अब मशीनों के उपयोग से श्रम की उत्पादकता बढ़ जाने के फलस्वरूप आवश्यक श्रम के मुक़ाबले में अतिरिक्त श्रम चाहे जितना बढ़ जाये, यह बात साफ़ है कि यह केवल इसी तरह सम्पन्न होता है कि पूंजी की एक निश्चित मात्रा मज़दूरों की जिस संख्या से काम लेती है, उस में कमी आ जाती है। जो पहले अस्थिर पूंजी था और श्रम-शक्ति पर ख़र्च किया गया था, वह अब मशीनों में बदल दिया जाता है, और मशीनें स्थिर पूंजी होने के कारण अतिरिक्त मूल्य पैदा नहीं करतीं। मिसाल के लिये, २४ मज़दूरों में से जितना अतिरिक्त मूल्य चूसा जा सकता है, २ मज़दूरों में से उतना सम्भव नहीं। यदि इन २४ आदमियों में से हरेक १२ घण्टे में केवल १ घण्टा अतिरिक्त श्रम करता है, तो २४ आदमी कुल मिलाकर २४ घण्टों के बराबर अतिरिक्त श्रम करेंगे, जब कि २४ घण्टे का श्रम दो आदमियों का कुल श्रम है। इसलिये, अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में मशीनों के उपयोग में एक भीतरी विरोध निहित होता है, क्योंकि पूंजी की एक निश्चित मात्रा द्वारा पैदा किया गया अतिरिक्त मूल्य जिन दो बातों पर निर्भर करता है, उनमें से एक को – यानी अतिरिक्त मूल्य की दर को – उस वक़्त तक नहीं बढ़ाया जा सकता, जब तक कि दूसरी को – यानी मज़दूरों की संख्या को – घटा न दिया जाये। जैसे ही किसी ख़ास उद्योग में मशीनों का आम तौर पर उपयोग होने के फलस्वरूप मशीन से तैयार होने वाले माल का मूल्य उसी प्रकार के अन्य सब मालों के मूल्य का नियमन करने लगता है, वैसे ही यह भीतरी विरोध सामने आ जाता है। और फिर यह विरोध ही पूंजीपति को इस बात के लिये मजबूर

कर देता है, – हालांकि उसकी चेतना में यह चीज़ नहीं होती,[1] – कि वह काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा कर दे, ताकि उसके मजदूरों की संख्या में जो तुलनात्मक कमी आ गयी है, उसकी क्षति न केवल सापेक्ष अतिरिक्त श्रम में, बल्कि निरपेक्ष अतिरिक्त श्रम में भी वृद्धि करके पूरी कर दी जाये।

अतः मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से यदि एक ओर काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा कर देने की प्रेरणा देने वाले नये और शक्तिशाली कारण उत्पन्न हो जाते हैं और सामाजिक कार्यकारी संघटन के स्वरूप के साथ-साथ श्रम के तरीक़े भी मौलिक रूप से इस तरह बदल जाते हैं कि इस प्रवृत्ति का सारा विरोध ख़तम हो जाता है, तो, दूसरी ओर, उससे कुछ हद तक तो मजदूर-वर्ग के उन नये हिस्सों तक पूंजीपति की पहुंच हो जाने के फलस्वरूप, जिनतक पहले उसकी पहुंच नहीं थी, और कुछ हद तक उन मजदूरों के मुक्त हो जाने के फलस्वरूप, जिनका स्थान मशीनें ले लेती हैं, काम करने वालों की एक फ़ालतू आबादी[2] पैदा हो जाती है, जिसे मजबूर होकर पूंजी का हुक्म बजाना पड़ता है। इसीलिये हमें आधुनिक उद्योग के इतिहास में यह विलक्षण बात दिखाई पड़ती है कि काम के दिन को लम्बा करने के रास्ते में जितनी नैतिक और प्राकृतिक बाधाएं होती हैं, मशीनें उन सब को हटाकर साफ़ कर देती हैं। इसीलिये हमें यह आर्थिक विरोधाभास दिखाई देता है कि श्रम-काल को छोटा करने का सबसे शक्तिशाली अस्त्र ही मजदूर और उसके परिवार के समय का एक-एक क्षण पूंजीपति को सौंप देने का सबसे अधिक कारगर अस्त्र बन जाता है, ताकि वह इस समय का अपनी पूंजी के मूल्य का विस्तार करने के लिये उपयोग कर सके। प्राचीन काल के सबसे महान विचारक, अरस्तू ने मानों स्वप्न देखते हुए लिखा था: "जिस प्रकार देदेलस के बनाये हुए यंत्र अपने आप चला करते थे, या हेफ़ेस्तोस की तिपाइयां ख़ुद अपने पवित्र कार्य में व्यस्त हो जाती थीं, उसी प्रकार यदि प्रत्येक औज़ार भी उसके बुलाये जाते ही या यहां तक कि ख़ुद अपनी मर्ज़ी से अपने योग्य काम को पूरा कर दिया करे, यदि बुनकरों की नलियां अपने आप बुनाई करने लगें, तो न तो उस्तादों के लिये शागिर्दों की जरूरत रहेगी और न ही मालिकों के लिये गुलामों की।"[3] और अनाज पीसने की पन-चक्की का आविष्कार सभी प्रकार की मशीनों का प्राथमिक रूप था। सिसेरो के काल के ऐन्तीपैत्रोस नामक एक कवि ने उस आविष्कार का यह कहकर अभिनन्दन किया था कि वह गुलाम स्त्रियों को मुक्त कर देगा और इस प्रकार स्वर्ण-युग वापिस ले आयेगा।[4] ये काफ़िर बेचारे! जैसा कि विद्वान बास्तियात ने और उनके पहले उनसे भी अधिक बुद्धिमान मैक्कुलक ने पता लगाया था,

---

[1] पूंजीपतियों में और उन अर्थशास्त्रियों में, जिनके दिमाग़ों में पूंजीपतियों के विचार भरे हुए हैं, इस भीतरी विरोध की चेतना क्यों नहीं होती, यह बात तीसरी पुस्तक के प्रथम भाग से स्पष्ट होगी।

[2] रिकार्डो का एक सबसे बड़ा गुण यह है कि उन्होंने मशीनों को केवल माल तैयार करने के साधन के रूप में ही नहीं देखा, बल्कि उनका यह रूप भी पहचाना कि वे "redundant population" ("फ़ालतू आबादी") पैदा करने का साधन होती हैं।

[3] F. Biese, "*Die Philosophie des Aristoteles*", खंड २, Berlin, 1842, पृ० ४०८।

[4] नीचे मैं इस कविता का स्तौलबर्ग का किया हुआ अनुवाद दे रहा हूं, क्योंकि श्रम-विभाजन से सम्बंधित उपर्युक्त उद्धरणों की ही भांति यह कविता भी प्राचीन काल के लोगों और

उस ज़माने के लोगों को अर्थशास्त्र और ईसाई धर्म का ज़रा भी ज्ञान नहीं था। उदाहरण के लिये, वे यह नहीं समझ पाये थे कि मशीनें काम के दिन को लम्बा करने का सबसे सफल साधन होती हैं। वे लोग गुलामी को शायद इस तर्क के आधार पर उचित समझ लेते थे कि एक की गुलामी दूसरे के पूर्ण विकास का साधन है। लेकिन उनको चूंकि ईसाई धर्म की देन नहीं प्राप्त थी, इसलिये जनता की गुलामी का केवल इसलिये समर्थन करने की उनमें क्षमता नहीं हो सकती थी कि उससे चन्द असभ्य, अर्ध-शिक्षित नये रईस "eminent spinners" ("प्रसिद्ध कताई करने वाले"), "extensive sausage-makers" ("बड़े पैमाने पर सासेज बनाने वाले") और "influential shoe-black dealers" (प्रभावशाली बूट-पालिश बेचने वाले") बन जायेंगे।

## ग) श्रम का और अधिक तीव्र कर दिया जाना

पूंजी के हाथ में आने पर मशीनें काम के दिन को जिस अनुचित ढंग से लम्बा कर देती हैं, उसकी समाज पर प्रतिक्रिया होती है, जिसके जीवन के स्रोतों के लिये संकट पैदा हो जाता है। और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप काम का एक साधारण दिन निश्चित होता है, जिसकी लम्बाई क़ानून द्वारा तै कर दी जाती है। बस उसी समय से वह चीज़ बहुत महत्व प्राप्त कर लेती है, जिसकी हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं और जिसे श्रम का तीव्रीकरण कहते हैं। हमने निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का जो विश्लेषण किया था, उसका मूलतया केवल श्रम के प्रसार अथवा उसकी अवधि से सम्बंध था और उसकी तीव्रता को हम स्थिर मानते रहे थे। अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि अपेक्षाकृत अधिक समय तक किये जाने वाले श्रम का स्थान अपेक्षाकृत अधिक तीव्र श्रम कैसे ले सकता है और किस हद तक ले सकता है।

यह बात स्वतःस्पष्ट है कि जिस अनुपात में मशीनों का उपयोग फैलता जाता है और मशीनों से काम करने के आदी मज़दूरों के एक विशेष वर्ग का अनुभव संचित होता जाता है, वैसे-वैसे

---

आधुनिक काल के लोगों के विचारों के परस्पर विरोधी स्वरूप को बिल्कुल स्पष्ट कर देती है।

> "Schonet der mahlenden Hand, o Müllerinnen, und schlafet
> Sanft! es verkünde der Hahn euch den Morgen umsonst!
> Däo hat die Arbeit der Mädchen den Nymphen befohlen,
> Und jetzt hüpfen sie leicht über die Räder dahin,
> Daß die erschütterten Achsen mit ihren Speichen sich wälzen,
> Und im Kreise die Last drehen des wälzenden Steins.
> Laßt uns leben das Leben der Väter, und laßt uns der Gaben
> Arbeitslos uns freun, welche die Göttin uns schenkt."

("आटा पीसने वाली लड़कियो, अब उस हाथ को विश्राम करने दो, जिस से तुम चक्की पीसती हो, और धीरे से सो जाओ! मुर्ग़ा बांग देकर सूरज निकलने का ऐलान करे, तो भी मत उठो! देवी ने अप्सराओं को लड़कियों का काम करने का आदेश दिया है, और अब वे पहियों पर हल्के-हल्के उछल रही हैं, जिससे उनके धुरे आरों समेत घूम रहे हैं और चक्की के भारी पत्थरों को घुमा रहे हैं। आओ, अब हम भी अपने पूर्वजों का सा जीवन बितायें, काम बन्द करके आराम करें और देवी के प्रसाद से लाभ उठायें।") (Gedichte aus dem Griechischen übersetzt von Christian Graf zu Stolberg, Hamburg, 1782 [पृ० ३१२]।)

उसके एक स्वाभाविक परिणाम के रूप में श्रम की तेज़ी और तीव्रता भी बढ़ती जाती है। चुनांचे इंगलैण्ड में आधी सदी के दौरान काम के दिन की लम्बाई बढ़ने के साथ-साथ फ़ैक्टरी-मजदूरों के श्रम की तीव्रता भी बढ़ती गयी है। फिर भी पाठक यह बात बहुत आसानी से समझ सकेंगे कि जहां कहीं श्रम ठहर-ठहरकर नहीं किया जाता, बल्कि एक अपरिवर्तनीय एकरूपता के साथ रोज़ दोहराया जाता है, वहां अनिवार्य रूप से एक बिंदु ऐसा आयेगा, जब काम के दिन को और लम्बा करना तथा श्रम को और तीव्र बनाना, ये दोनों चीज़ें एक दूसरे का इस तरह अपवर्जन कर देंगी कि काम के दिन को लम्बा करना केवल उसी हालत में सम्भव होगा, जब श्रम की तीव्रता कुछ कम कर दी जायेगी, और श्रम की तीव्रता को बढ़ाना केवल उसी हालत में सम्भव होगा, जब काम का दिन कुछ छोटा कर दिया जायेगा। जब मजदूर-वर्ग के धीरे-धीरे बढ़ते हुए विद्रोह ने संसद को श्रम के घण्टों को अनिवार्य रूप से छोटा कर देने के लिये मजबूर कर दिया और जब संसद ने जो सचमुच फ़ैक्टरियां कहला सकती थीं, उनमें काम का एक सामान्य दिन लागू कर दिया, यानी जब काम के दिन को लम्बा करके अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को बढ़ाना एक बार हमेशा के लिये रोक दिया गया, तो बस उसी क्षण से पूंजी अपनी पूरी ताक़त के साथ मशीनों में जल्दी-जल्दी और सुधार करके सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में जुट गयी। इसके साथ-साथ सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के स्वरूप में भी एक परिवर्तन हो गया। मोटे तौर पर, सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का तरीक़ा यह है कि मजदूर की उत्पादक शक्ति बढ़ा दी जाये, ताकि वह एक निश्चित समय में पहले जितना ही श्रम खर्च करके पहले से अधिक पैदावार तैयार कर दिया करे। श्रम-काल अब भी कुल पैदावार में वही मूल्य स्थानांतरित करता है, जो वह पहले करता था, परन्तु विनिमय-मूल्य की यह अपरिवर्तित मात्रा अब पहले से अधिक उपयोग-मूल्यों पर फैल जाती है; इसलिये हर अकेले माल का मूल्य पहले से गिर जाता है। किन्तु जब श्रम के घण्टों को अनिवार्य रूप से कम कर दिया जाता है, तब स्थिति इससे भिन्न होती है। उससे उत्पादक शक्ति के विकास के लिये और उत्पादन के साधनों में मितव्ययिता बरतने के लिये जो ज़बर्दस्त बढ़ावा मिलता है, उससे मजदूर के लिये यह ज़रूरी हो जाता है कि वह एक निश्चित समय में पहले से अधिक श्रम करे, उससे श्रम-शक्ति का तनाव बढ़ जाता है और काम के दिन के छिद्र पहले से अधिक भरं दिये जाते हैं, – या यूं कहिये कि श्रम का इस हद तक संघनन कर दिया जाता है, जो केवल छोटे दिन में ही सम्भव है। इसके बाद से यदि एक निश्चित अवधि में पहले से अधिक मात्रा में श्रम का संघनन हो जाता है, तो उसे वही समझा जाता है, जो वह सचमुच होता है, यानी उसे अधिक मात्रा का श्रम ही समझा जाता है। श्रम के विस्तार की – अर्थात् उसकी अवधि की – एक माप तो पहले ही थी, अब उसके अलावा श्रम की तीव्रता को या उसके संघनन अथवा घनता को भी मापा जाने लगता है।[1] दस घण्टे के काम के दिन के पहले से अधिक सघन घण्टे में बारह घण्टे के काम

---

[1] ज़ाहिर है कि अलग-अलग उद्योगों में श्रम की तीव्रता में सदा अन्तर होता है। लेकिन, जैसा कि ऐडम स्मिथ ने सिद्ध करके दिखाया है, इस तरह के अन्तर कुछ हद तक हर प्रकार के श्रम की कुछ विशिष्ट, किन्तु गौण परिस्थितियों के कारण दूर हो जाते हैं। लेकिन इस सूरत में मूल्य की माप के रूप में श्रम-काल पर केवल उसी हद तक कुछ प्रभाव पड़ता है, जिस हद तक कि श्रम की अवधि और उसकी तीव्रता की मात्रा श्रम की उसी एक मात्रा की दो परस्पर विरोधी एवं परस्पर अपवर्जी अभिव्यंजनाएं होती हैं।

के दिन के अपेक्षाकृत अधिक सरंध्र घण्टे की अपेक्षा अधिक श्रम होता है, अर्थात् उसमें श्रम-शक्ति की अधिक मात्रा ख़र्च होती है। इसलिये इस प्रकार के एक घण्टे की पैदावार में उतना ही या उससे भी अधिक मूल्य होता है, जितना दूसरे प्रकार के $1\frac{1}{5}$ घण्टे की पैदावार में होता है। श्रम की बढ़ी हुई उत्पादकता से पैदावार में जो वृद्धि होती है, उसके अलावा अब यह अन्तर भी आ जाता है कि पहले चार घण्टे के अतिरिक्त श्रम और आठ घण्टे के आवश्यक श्रम से मूल्य की जितनी मात्रा पैदा होती थी, अब उतनी ही मात्रा, मिसाल के लिये, $3\frac{1}{3}$ घण्टे के अतिरिक्त श्रम और $6\frac{2}{3}$ घण्टे के आवश्यक श्रम से पूंजीपति के लिये तैयार हो जाती है।

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि श्रम को तीव्र कैसे किया जाता है?

काम के दिन को छोटा करने का पहला प्रभाव इस स्वतःस्पष्ट नियम के कारण पैदा होता है कि श्रम-शक्ति की कार्यक्षमता उसके ख़र्च की अवधि के प्रतिलोम अनुपात में होती है। इसलिये अवधि को कम करने से जो कुछ नुक़सान होता है, वह कुछ सीमाओं के भीतर श्रम-शक्ति के बढ़ते हुए तनाव के फलस्वरूप पूरा हो जाता है। मजदूर सचमुच पहले से अधिक श्रम-शक्ति ख़र्च करेगा, पूंजीपति उसको मजदूरी देने की विशेष पद्धति के द्वारा उसे सुनिश्चित कर देता है।[1] मिट्टी के बर्तन बनाने के और ऐसे ही अन्य उद्योगों पर, जिनमें मशीनों की कोई भूमिका नहीं होती और यदि होती है, तो बहुत कम, फ़ैक्टरी-क़ानून के लागू होने से यह बात सिद्ध हो गयी है कि महज काम के दिन को छोटा कर देने से श्रम की नियमितता, एकरूपता, कार्य-व्यवस्था, निरन्तरता और ऊर्जा आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाती हैं।[2] लेकिन जिसको सचमुच फ़ैक्टरी कहा जा सकता है और जहां मशीनों की निरन्तर एवं एकरूप गति पर निर्भर रहने के कारण मजदूर में पहले से ही कठोरतम अनुशासन पैदा हो जाता है, वहां भी काम के दिन को छोटा कर देने का यही प्रभाव हुआ होगा, इसमें काफ़ी सन्देह था। इसीलिये, १८४४ में जब काम के दिन को छोटा करके बारह घण्टे से कम का कर देने के सवाल पर बहस चल रही थी, तो मालिकों ने लगभग एक आवाज से यह ऐलान किया था कि "अलग-अलग कमरों में उनके फ़ोरमैन इस बात का पूरा ख़याल रखते हैं कि मजदूर जरा भी वक़्त ज़ाया न करें" तथा "मजदूर आजकल जिस सतर्कता और ध्यान के साथ काम करते हैं ("the extent of vigilance and attention on the part of the workmen"), उसमें मुश्किल से ही कोई वृद्धि हो सकती है" और इसलिये, जब तक मशीनों की रफ़्तार और अन्य परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक "किसी भी सुव्यवस्थित फ़ैक्टरी में यह आशा करना कि मजदूरों के ज्यादा ध्यान देने से ही कोई महत्वपूर्ण परिणाम निकल आयेगा, बिल्कुल बेतुकी बात है।"[3] परन्तु विभिन्न प्रयोगों ने इस कथन को झूठा सिद्ध कर

---

[1] ख़ास तौर पर कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के द्वारा। इस पद्धति का अध्ययन हम इस पुस्तक के भाग ६ में करेंगे।

[2] देखिये *"Rep. of Insp. of Fact. for 31st October, 1865"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५')।

[3] *"Rep. of Insp. of Fact. for 1844 and the quarter ending 30th April, 1845"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, १८४४ की और ३० अप्रैल १८४५ को समाप्त होने वाले त्रिमास की'), पृ० २०-२१।

दिया। मि० रोबर्ट गार्डनर ने २० अप्रैल १८४४ को प्रेस्टन में स्थित अपनी दो बड़ी फ़ैक्टरियों में श्रम के घण्टे बारह से घटाकर ग्यारह घण्टे रोजाना कर दिये थे। साल भर तक इस तरह काम करने का नतीजा यह निकला कि "पहले जितनी ही पैदावार हुई और उसमें पहले जितनी ही लागत लगी, और मजदूर पहले बारह घण्टे में जितनी मजदूरी कमाते थे, वही मजदूरी उन्होंने ग्यारह घण्टे में कमा ली।"[1] कताई और बुनाई के विभागों में जो प्रयोग किये गये, उनकी मैं यहां चर्चा नहीं करूंगा, क्योंकि उनके साथ-साथ मशीनों की चाल भी २ प्रतिशत बढ़ा दी गयी थी। परन्तु बुनाई-विभाग में, जहां पर हम यह भी बता दें कि बहुत कामदार और बढ़िया सामान तैयार होता है, काम की परिस्थितियों में जरा सा भी परिवर्तन नहीं हुआ था। वहां पर इस प्रयोग का यह नतीजा निकला: "६ जनवरी से २० अप्रैल १८४४ तक बारह घण्टे के दिन के अनुसार काम हुआ और हर मजदूर की औसत साप्ताहिक मजदूरी १० शिलिंग १ $\frac{१}{२}$ पेन्स बैठी; २० अप्रैल से २६ जून १८४४ तक ग्यारह घण्टे के दिन के अनुसार काम किया गया और तब औसत साप्ताहिक मजदूरी १० शिलिंग३ $\frac{१}{२}$ पेन्स बैठी।"[2] यहां पर पहले बारह घण्टे में जितनी पैदावार होती थी, ग्यारह घण्टे में उससे ज्यादा पैदावार हुई, और वह पूर्णतया इस कारण हुई कि मजदूरों ने अधिक लगन के साथ काम किया और समय का मितव्ययिता के साथ उपयोग किया। उनको यदि पहले जितनी मजदूरी और एक घण्टे का अधिक अवकाश मिला, तो पूंजीपति के लिये पहले जितनी ही पैदावार तैयार हो गयी और साथ ही एक घण्टे में जितना कोयला, गैस तथा अन्य वस्तुएं खर्च होती थीं, उनकी बचत हो गयी। मेसर्स होराक्स एण्ड जेक्सन की मिलों में भी इसी प्रकार के प्रयोग किये गये और उनमें भी समान रूप से सफलता मिली।[3]

श्रम के घण्टों को कम कर देने से सबसे पहले तो श्रम के संघटन के लिये आवश्यक मनोगत परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि उसके बाद मजदूर एक निश्चित समय में पहले से अधिक शक्ति खर्च कर सकता है। जैसे ही श्रम के घण्टे अनिवार्य रूप से कम कर दिये जाते हैं, वैसे ही मशीनें पूंजी के हाथों में एक निश्चित समय में नियमित रूप से पहले से अधिक श्रम कराने का वस्तुगत साधन बन जाती हैं। यह दो तरह से किया जाता है: मशीनों की रफ़्तार बढ़ाकर और एक मजदूर को पहले से अधिक संख्या में मशीनों पर लगाकर। मशीनों की बनावट में भी सुधार करना आवश्यक होता है। कुछ हद तक तो इसलिये कि उसके बग़ैर मजदूर पर पहले से ज्यादा दबाव नहीं डाला जा सकता, और कुछ हद तक इसलिये कि श्रम के घण्टों

---

[1] उप० पु०, पृ० १६। कार्यानुसार मजदूरी की दर में चूंकि कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, इसलिये साप्ताहिक मजदूरी पैदावार की मात्रा पर निर्भर करती थी।

[2] उप० पु०, पृ० २०।

[3] इन प्रयोगों में नैतिक तत्व की भी एक महत्वपूर्ण भूमिका थी। मजदूरों ने फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर को बताया: "अब हम ज्यादा उत्साह से काम करते हैं, अब इस पुरस्कार की आशा सदा हमें प्रोत्साहित करती रहती है कि रात को हम जल्दी घर लौट सकेंगे; और धागे जोड़ने वाले सबसे कमसिन लड़के से लेकर सबसे बूढ़े मजदूर तक पूरी मिल में जिन्दादिली का वातावरण रहता है और हम सब एक दूसरे की बहुत मदद करते हैं।" (उप० पु०, पृ० २१।)

में कमी हो जाने के फलस्वरूप पूंजीपति को उत्पादन के खर्च पर ज्यादा से ज्यादा कड़ी नजर रखनी पड़ती है। भाप के इंजन में जो सुधार हुए हैं, उनसे पिस्टन की रफ़्तार बढ़ गयी है और साथ ही यह मुमकिन हो गया है कि उसी इंजन में पहले जितना या उससे भी कम कोयला खर्च करते हुए पहले से अधिक संख्या में मशीनें चलायी जायें। यह शक्ति के खर्च में पहले से अधिक मितव्ययिता बरतने के कारण सम्भव होता है। संचालक यंत्र में जो सुधार हुए हैं, उन्होंने घर्षण को कम कर दिया है, और—जो आधुनिक मशीनों और पुरानी मशीनों का सबसे उल्लेखनीय भेद है—इन सुधारों ने ईषा-संहति के व्यास और भार को घटाकर एक अल्पतम स्तर पर पहुंचा दिया है, जो अधिकाधिक कम होता जाता है। अन्तिम बात यह है कि कार्यकारी मशीनों में जो सुधार हुए हैं, उन्होंने इन मशीनों के आकार को कम करने के साथ-साथ उनकी रफ़्तार तथा कार्य-क्षमता को बढ़ा दिया है, जैसा कि शक्ति से चलने वाले आधुनिक करघे में हुआ है, या उनके ढांचे के आकार को बढ़ाने के साथ-साथ उनके कार्यकारी पुर्जों की संख्या तथा विस्तार में भी वृद्धि कर दी है, जैसा कि कताई करने वाले म्यूलों में हुआ है; और या उन्होंने इन कार्यकारी पुर्जों में ऐसी बारीक तबदीलियां करके, जो दिखाई तक नहीं देतीं, उनकी रफ़्तार बढ़ा दी है,—मिसाल के लिये, दस साल पहले self-acting mules (स्वचालित म्यूलों) में इसी तरह की तबदीलियों के फलस्वरूप तकुओं की रफ़्तार में $\frac{१}{५}$ की वृद्धि हो गयी थी।

इंगलैण्ड में १८३२ में काम के दिन को घटाकर बारह घण्टे का किया गया था। १८३६ में एक कारखानेदार ने कहा: "तीस या चालीस बरस पहले की तुलना में... अब फ़ैक्टरियों में कहीं अधिक श्रम किया जाता है। इसका कारण यह है कि मशीनों की रफ़्तार बहुत ज्यादा बढ़ा दी गयी है, और उसकी वजह से अब मजदूरों को पहले से कहीं अधिक ध्यान लगाकर काम करना पड़ता है और अधिक क्रियाशीलता दिखानी पड़ती है।"[1] १८४४ में लार्ड ऐशले ने, जो अब लार्ड शैफ़्टेसबरी कहलाते हैं, हाउस आफ़ कामन्स में निम्नलिखित बातें कहीं थीं और उनके समर्थन में लिखित प्रमाण पेश किये थे:

"औद्योगिक प्रक्रियाओं में लगे हुए लोग इन प्रक्रियाओं के शुरू के दिनों की अपेक्षा आजकल तीनगुना अधिक काम करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मशीनों ने ऐसा-ऐसा काम पूरा कर दिया है, जिसमें करोड़ों मनुष्यों की मांस-पेशियों को लगना पड़ता। किन्तु इसके साथ-साथ मशीनों ने उन लोगों के श्रम को भी बहुत अधिक (prodigiously) बढ़ा दिया है, जो उनकी डरावनी हरकतों के ताबे रहते हैं... यदि १२ घण्टे के काम के दिन के अनुसार हिसाब लगाया जाये, तो १८२५ में नं० ४० के सूत की कताई करने वाले एक जोड़ी म्यूलों का अनुसरण करने में ८ मील पैदल चलना पड़ता था। १८३२ में इसी नम्बर के सूत का धागा तैयार करने वाले एक जोड़ी म्यूलों का अनुसरण करने में २० मील और अक्सर उससे भी ज्यादा चलना आवश्यक हो गया था। १८२५ में कताई करने वाला मजदूर प्रत्येक म्यूल पर रोजाना ८२० बार धागा तानता था, यानी प्रत्येक दिन उसे कुल १,६४० बार धागा तानना पड़ता था। १८३२ में वह हर म्यूल पर २,२०० बार, यानी दिन भर में कुल ४,४०० बार, धागा तानता था। १८४४ में उसे प्रत्येक म्यूल पर २,४०० बार, यानी कुल ४,८०० बार, धागा तानना पड़ता है,

---

[1] John Fielden, "*The Curse of the Factory System*" (जान फ़ील्डेन, 'फ़ैक्टरी-व्यवस्था का अभिशाप'), London, 1836, पृ० ३२।

और कहीं-कहीं पर तो इससे भी अधिक मात्रा में श्रम (amount of labour) की आवश्यकता होती है... १८४२ में एक और दस्तावेज मेरे पास आयी, जिसमें लिखा था कि श्रम अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है, और वह केवल इसलिये नहीं कि मजदूर को पहले से अधिक दूरी तक चलना पड़ता है, बल्कि इसलिये भी कि अब पहले से कहीं अधिक मात्रा में पैदावार तैयार होती है और उसके अनुपात में मजदूरों की संख्या पहले से बहुत कम रह गयी है; और, इसके अलावा, इसका यह कारण भी है कि अब अक्सर पहले से घटिया क़िस्म की कपास की कताई की जाती है, जिसके साथ काम करना अधिक कठिन होता है... धुनाई-विभाग के श्रम में भी बहुत वृद्धि हो गयी है। वहां जो काम पहले दो व्यक्तियों के बीच बंटा रहता था, उसे अब एक व्यक्ति करता है। बुनाई-विभाग में, जहां बहुत बड़ी तादाद में आदमी काम करते हैं और उनमें भी स्त्रियों की संख्या अधिक होती है,.. पिछले चन्द सालों में कताई करने वाली मशीन की बढ़ी हुई रफ़्तार के कारण श्रम में पूरे १० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। १८३८ में हर हफ़्ते १८,००० hanks (लच्छे) सूत काता जाता था, १८४३ में २१,००० hanks (लच्छे) सूत काता जाने लगा था। १८१९ में शक्ति से चलने वाले करघे से जो बुनाई की जाती थी उसमें प्रति मिनट ६० फन्दे डाले जाते थे, - १८४२ में १४० फंदे डाले जाने लगे थे, जिससे पता चलता है कि श्रम में कितनी भारी वृद्धि हो गयी थी।"[1]

बारह घण्टों के क़ानून के मातहत १८४४ में ही श्रम की तीव्रता जिस ऊंचे स्तर पर पहुंच गयी थी, उसे देखते हुए अंग्रेज कारख़ानेदारों का यह कथन उचित प्रतीत होता था कि इस दिशा में अब और प्रगति करना असम्भव है और इसलिये अब यदि श्रम के घण्टों में और कमी की जायेगी, तो हर कमी का मतलब होगा पहले से कम उत्पादन। उनकी दलीलें स्पष्टतया कितनी सही मालूम होती थीं, यह कारख़ानेदारों पर सदैव कड़ी निगाह रखने वाले फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लेग्रोनार्ड होर्नर के उसी काल के निम्नलिखित वक्तव्य से प्रकट हो जाता है:

"अब चूंकि पैदावार की मात्रा मुख्यतया मशीनों की रफ़्तार पर निर्भर करती है, इसलिये मिल-मालिक के हित में यह है कि वह मशीनों को ज़्यादा से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से चलाये, पर निम्नलिखित बातों का सदा ध्यान रखे: मशीनों को बहुत जल्दी ख़राब हो जाने से बचाया जाये; जो सामान तैयार किया जा रहा हो, उसका स्तर न गिरे; और मजदूर मशीन की गति का अनुसरण करने में लगातार जितनी ताक़त ख़र्च कर सकता है, उसे उससे ज़्यादा ताक़त न ख़र्च करनी पड़े। इसलिये, किसी भी फ़ैक्टरी के मालिक को जिन सबसे महत्वपूर्ण समस्याओं को हल करना पड़ता है उनमें से एक यह मालूम करना होता है कि ऊपर बतायी गयी बातों का ख़याल रखते हुए वह ज़्यादा से ज़्यादा किस रफ़्तार से अपनी मशीनों को चला सकता है। अक्सर वह पाता है कि वह अपनी मशीनों को हद से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार पर चलाने लगा है और उनकी बढ़ी हुई रफ़्तार से जो फ़ायदा होता है, टूट-फूट और ख़राब काम के फलस्वरूप उससे कहीं ज़्यादा नुक़सान हो जाता है, और इसलिये उसे रफ़्तार कम करने के लिये मजबूर होना पड़ता है। चुनांचे मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि चूंकि एक क्रियाशील एवं बुद्धिमान मिल-मालिक यह पता लगा लेगा कि मशीनों की ज़्यादा से ज़्यादा क्या रफ़्तार हो

---

[1] *"Ten Hours' Factory Bill. The Speech of Lord Ashley, 15th March"* ('दस घण्टे का फ़ैक्टरी-बिल, लार्ड ऐशले का भाषण, १५ मार्च'), London, 1844, पृ० ६ - ९, विभिन्न स्थानों पर।

सकती है, इसलिये ग्यारह घण्टे में बारह घण्टे के बराबर पैदावार तैयार करना सम्भव न होगा। इसके अलावा, मैंने यह भी खुद ही मान लिया कि जिस मजदूर को कार्यानुसार मजदूरी मिलती है, वह ज्यादा से ज्यादा जोर लगाकर काम करेगा, बशर्ते कि उसमें लगातार इसी रफ़्तार से काम करने की शक्ति हो।"[1] अतएव, होर्नर इस परिणाम पर पहुंचे कि यदि काम के घण्टों को बारह से कम किया जायेगा, तो उत्पादन अनिवार्य रूप से घट जायेगा।[2] इसके दस वर्ष बाद उन्होंने १८४५ के अपने मत का हवाला देते हुए बताया कि उस वर्ष उन्होंने मशीनों की और मनुष्य की श्रम-शक्ति की प्रत्यास्थता को कितना कम करके आंका था, हालांकि असल में काम के दिन को अनिवार्य रूप से छोटा करके इन दोनों को एक साथ उनकी चरम सीमा तक खींचा जाता है।

अब हम उस काल पर आते हैं, जो १८४७ में इंगलैण्ड की सूती, ऊनी, रेशमी और पटसन की मिलों में दस घण्टे का क़ानून लागू हो जाने के बाद आरम्भ हुआ।

"तकुओं की रफ़्तार में थ्रोसलों में ५०० और म्यूलों में १,००० परिक्रमण प्रति मिनट की वृद्धि हो गयी है, अर्थात् थ्रोसल-तकुए की रफ़्तार, जो १८३९ में ४,५०० बार प्रति मिनट थी, अब (१८६२ में) ५,००० बार प्रति मिनट हो गयी है, और म्यूल-तकुए की रफ़्तार, जो पहले ५,००० थी, अब ६,००० बार प्रति मिनट हो गयी है। इस तरह थ्रोसल-तकुए की रफ़्तार में $\frac{१}{१०}$ और म्यूल-तकुए की रफ़्तार में $\frac{१}{५}$ की वृद्धि हो गयी है।"[3] मानचेस्टर के नजदीक पैट्रिक्रोफ़्ट के प्रसिद्ध सिविल इंजीनियर जेम्स नाजमिथ ने १८५२ में लेओनार्ड होर्नर को एक ख़त लिखकर यह समझाया था कि १८४८ और १८५२ के बीच भाप के इंजन में किस प्रकार के सुधार हो गये थे। यह बताने के बाद कि भाप के इंजनों की अश्व-शक्ति का सरकारी कागजों में सदा १८२८ के इसी प्रकार के इंजनों की अश्व-शक्ति के आधार पर अनुमान लगाया जाता है[4] और इसलिये वह केवल नाम-मात्र की अश्व-शक्ति होती है और उनकी

---

[1] "*Rep. of Insp. of Fact. for Quarter ending 30th September, 1844, and from 1st October, 1844 to 30th April, 1845*" ('३० सितम्बर १८४४ को समाप्त होने वाले तिमास और १ अक्तूबर १८४४ से ३० अप्रैल १८४५ तक की फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें'), पृ० २०।

[2] उप० पु०, पृ० २२।

[3] "*Rep. of Insp. of Fact. for 31st October, 1862*" ("फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ६२।

[4] १८६२ के "*Parliamentary Return*" ('संसदीय विवरण') में यह चीज बदल दी गयी थी। उसमें आधुनिक भाप के इंजनों और पन-चक्कियों की नाम-मात्र की अश्व-शक्ति के स्थान पर उनकी वास्तविक अश्व-शक्ति दी गयी थी। इसके अलावा, अब गुणन करने वाले तकुओं को कताई करने वाले तकुओं में नहीं शामिल किया जाता (जैसा कि १८३९, १८५० और १८५६ के "*Returns*" ('विवरणों') में किया गया था); इसके अलावा, ऊनी मिलों के विवरण में "*gigs*" (रोएं उठाने वाली मशीनें) भी जोड़ दी गयी हैं; एक तरफ़ पाट और सन की मिलों में और दूसरी तरफ़ फ़्लैक्स की मिलों में भेद किया गया है; और अन्तिम बात यह कि रिपोर्ट में मोजों की बुनाई को पहली बार शामिल किया गया है। . . .

वास्तविक अश्व-शक्ति की ओर केवल संकेत ही कर सकती है, उन्होंने आगे कहा : "मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि पहले ही जितने वज़न की भाप के इंजन वाली मशीनों से आजकल हम औसतन कम से कम ५० प्रतिशत अधिक काम ले रहे हैं और भाप के जिन इंजनों से २२० फ़ीट प्रति मिनट की सीमित रफ़्तार के दिनों में ५० अश्व-शक्ति मिल पाती थी, ठीक उन्हीं इंजनों से बहुत सी जगहों में आजकल १०० अश्व-शक्ति से भी अधिक मिल जाती है ..." "१०० अश्व-शक्ति के भाप के आधुनिक इंजन को अब पहले से कहीं अधिक ज़ोर के साथ चलाया जा सकता है। यह उसकी बनावट तथा बायलरों की बनावट और धारिता आदि से सम्बन्धित सुधारों का परिणाम है . . ." "यद्यपि अश्व-शक्ति के अनुपात में अब भी पहले जितने मज़दूरों से काम लिया जाता है, मशीनों के अनुपात में अब पहले से कम मज़दूरों से काम लिया जाता है।"[1] "१८५० में ब्रिटेन की फ़ैक्टरियों में १,५६,३८,७१६ तकुओं और ३,०१,४४५ करघों में गति पैदा करने के लिये नाम-मात्र की १,३४,२१७ अश्व-शक्ति का उपयोग किया जाता था। १८५६ में तकुओं और करघों की संख्या क्रमशः ३,३५,०३,५८० और ३,६९,२०५ थी। यह मानकर कि नाम-मात्र की एक अश्व-शक्ति में १८५६ में भी वही बल था, जो १८५० म था, इतने तकुओं और करघों के लिये १,७५,००० अश्वों के बराबर शक्ति की आवश्यकता होती; परन्तु १८५६ के विवरण से पता चलता है कि असल में केवल १,६१,४३५ अश्व-शक्ति इस्तेमाल हुई थी। १८५० के विवरण के आधार पर हिसाब लगाते हुए १८५६ में फ़ैक्टरियों को जितनी अश्व-शक्ति की आवश्यकता होनी चाहिये थी, यह उससे १०,००० अश्व-शक्ति कम थी।"[2] इस प्रकार, (१८५६ के) विवरण से जो तथ्य सामने आते हैं, उनसे पता चलता है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था तेज़ी के साथ बढ़ रही है; अश्व-शक्ति के अनुपात में यद्यपि अब भी पहले जितने ही मज़दूरों से काम लिया जाता है, पर मशीनों के अनुपात में पहले से कम मज़दूरों से काम लिया जाता है; और शक्ति का मितव्ययितापूर्ण प्रयोग तथा अन्य तरीक़ों के फलस्वरूप अब भाप के इंजन से पहले से अधिक भारी मशीनों को चलाया जा सकता है, और मशीनों में तथा उद्योग के तरीक़ों में सुधार करके, मशीनों की रफ़्तार बढ़ाकर और तरह-तरह की अन्य तरक़ीबों से पहले से अधिक मात्रा में काम निकाला जा सकता है।"[3]

"हर प्रकार की मशीनों में जो बड़े-बड़े सुधार हो गये हैं, उनसे उनकी उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रम के घण्टों में कमी कर दिये जाने से . . . इन सुधारों को बढ़ावा मिला है। इन सुधारों का और साथ ही मज़दूर को जो पहले से अधिक कड़ी मेहनत करनी पड़ रही है, उसका यह परिणाम हुआ है कि पहले से छोटे (पहले से दो घण्टे कम या $\frac{१}{६}$ छोटे) काम के दिन में अब कम से कम उतनी पैदावार ज़रूर तैयार हो जाती है, जितनी पहले अधिक लम्बे काम के दिन में तैयार हुआ करती थी।"[4]

---

[1] "*Rep. of Insp. of Fact. for 31st October, 1856*" ('फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० १३–१४, २०, और १८५२ की रिपोर्ट, पृ० २३।

[2] उप० पु०, पृ० १४–१५।

[3] उप० पु०, पृ० २०।

[4] "*Reports, &c., for 31st October, 1858*" ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ९–१०। "*Reports, &c., for 30th April, 1860*" ('रिपोर्ट, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६०'), पृ० ३० और आगे के पृष्ठों से तुलना कीजिये।

श्रम-शक्ति का अधिक तीव्र शोषण करने के साथ-साथ कारख़ानेदारों की दौलत कितनी अधिक बढ़ गयी थी, यह जानने के लिये केवल एक तथ्य को जान लेना काफ़ी है। वह यह कि जहां १८३८ से १८५० तक इंगलैण्ड की सूती मिलों तथा अन्य फ़ैक्टरियों में ३२ प्रतिशत की औसत सानुपातिक वृद्धि हुई थी, वहां १८५० से १८५६ तक उनमें ८६ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी।

लेकिन १८४८ से १८५६ तक दस घण्टे के काम के दिन के प्रभाव के कारण इंगलैण्ड के उद्योगों ने चाहे जितनी प्रगति की हो, वह १८५६ से १८६२ तक के अगले ६ सालों की प्रगति के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं थी। मिसाल के लिये, रेशम की फ़ैक्टरियों में १८५६ में १०,६३,७६६ तकुए थे, १८६२ में उनकी संख्या १३,८८,५४४ हो गयी; १८५६ में उनमें ६,२६० करघे थे, १८६२ में उनकी संख्या १०,७०६ हो गयी। लेकिन मजदूरों की संख्या, जो १८५६ में ५६,१३१ थी, १८६२ में ५२,४२६ रह गयी। इसलिये, तकुओं की संख्या में २६.६ प्रतिशत और करघों की संख्या में १५.६ की वृद्धि हुई, पर मजदूरों की संख्या में ७ प्रतिशत की कमी हो गयी। १८५० में बटे हुए ऊन का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों में ८,७५,८३० तकुओं से काम लिया जा रहा था, १८५६ में उनकी संख्या १३,२४,५४६ हो गयी (यानी ५१.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई) और १८६२ में यह संख्या १२,८६,१७२ रह गयी (यानी २.७ प्रतिशत की कमी आ गयी)। लेकिन गुणन करने वाले जो तकुए १८५६ की संख्या में तो शामिल हैं, पर १८६२ की संख्या में शामिल नहीं हैं, यदि उनको हम अलग कर दें, तो पता लगेगा कि १८५६ के बाद तकुओं की संख्या लगभग स्थिर रही है। दूसरी ओर, १८५० के बाद तकुओं और करघों की रफ़्तार बहुत सी जगहों में दुगुनी कर दी गयी थी। बटे हुए ऊन का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों में जो शक्ति से चलने वाले करघे इस्तेमाल किये जाते हैं, उनकी संख्या १८५० में ३२,६१७ थी, १८५६ में ३८,६५६ और १८६२ में ४३,०४८। मजदूरों की संख्या १८५० में ७६,७३७ थी, १८५६ में ८७,७६४ और १८६२ में ८६,०६३। इनमें शामिल १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों की संख्या १८५० में ६,९५६, १८५६ में ११,२२८ और १८६२ में १३,१७८ थी। इसलिये, इस बात के बावजूद कि १८५६ की अपेक्षा १८६२ में करघों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी, मजदूरों की कुल संख्या घट गयी थी और शोषित बच्चों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी।[1]

२७ अप्रैल १८६३ को मि० फ़ेरॅण्ड ने हाउस आफ़ कामन्स में कहा था: "लंकाशायर और चीशायर के १६ डिस्ट्रिक्टों के जिन प्रतिनिधियों की ओर से मैं यहां बोल रहा हूं, उन्होंने मुझे सूचना दी है कि मशीनों में जो सुधार हुए हैं, उनके फलस्वरूप फ़ैक्टरियों में काम लगातार बढ़ता जा रहा है। पहले एक आदमी दो सहायकों की मदद से दो करघों पर काम करता था; अब इसके बजाय एक आदमी बिना किसी सहायक के तीन करघों पर काम करता है, और एक आदमी का चार करघों को सम्भालना भी कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। ऊपर जो तथ्य दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बारह घण्टे का काम अब १० घण्टे

[1] *"Reports of Insp. of Fact. for 31st Oct., 1862."* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० १०० और १३०।

से कम में ही पूरा हो जाता है। इसलिये यह स्वतःस्पष्ट है कि पिछले १० सालों में फ़ैक्टरी में काम करने वाले मजदूर का श्रम कितना अधिक बढ़ गया है।"[1]

इसलिये, हालांकि फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर १८४४ और १८५० के क़ानूनों के परिणामों की सदा प्रशंसा ही करते हैं और उनका प्रशंसा करना न्यायसंगत भी है, परन्तु साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि श्रम के घण्टों में कमी करने के फलस्वरूप श्रम अभी से इतना अधिक तीव्र कर दिया गया है कि उससे मजदूर के स्वास्थ्य को और उसकी काम करने की क्षमता को हानि पहुंचने लगी है। "अधिकतर सूती मिलों, बटे हुए ऊन का कपड़ा तैयार करने वाली मिलों और रेशम की मिलों में पिछले चन्द सालों में मशीनों की गति बहुत तेज कर दी गयी है, और उनपर संतोषजनक ढंग से काम करने के लिये जो उत्तेजित मनःस्थिति आवश्यक होती है, वह आदमी को एकदम थका डालती है। मुझे लगता है कि डा० ग्रीनहाऊ ने फेफड़ों की बीमारी से मरने वालों की हद से ज्यादा बढ़ी हुई जिस संख्या की ओर इस विषय की अपनी हाल की एक रिपोर्ट में संकेत किया है, उसका एक कारण यह उत्तेजित मनःस्थिति भी हो, तो कोई आश्चर्य न होगा।"[2] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि श्रम के घण्टों को लम्बा करने की एक बार हमेशा के लिये मनाही हो जाने के बाद जो प्रवृत्ति तुरन्त ही पूंजीपति को विधिपूर्वक श्रम की तीव्रता बढ़ाकर अपनी क्षति-पूर्ति करने के लिये मजबूर कर देती है और जो प्रवृत्ति उसे मशीनों में होने वाले प्रत्येक सुधार को मजदूर को चूस डालने के अधिक कारगर साधन में बदल देने के लिये विवश कर देती है, वही प्रवृत्ति शीघ्र ही एक ऐसी हालत अनिवार्य रूप से पैदा कर देगी, जिसमें श्रम के घण्टों को फिर से घटाना लाज़िमी हो जायेगा।[3] इंगलैण्ड के उद्योगों ने १८३३ से १८४७ तक, जब कि काम का दिन १२ घण्टे का था, जो प्रगति की थी, उसने फ़ैक्टरी-व्यवस्था के पहले-पहल चालू होने के बाद के उन पचास वर्षों की

---

[1] शक्ति से चलने वाले दो आधुनिक करघों पर आजकल एक बुनकर ६० घण्टे के एक सप्ताह में एक ख़ास क़िस्म, लम्बाई और चौड़ाई के २६ टुकड़े तैयार करता है, जब कि शक्ति से चलने वाले पुराने करघे पर वह ४ टुकड़ों से ज्यादा नहीं तैयार कर पाता था। इस तरह के कपड़े का एक टुकड़ा बुनने का ख़र्च १८५० के बाद ही २ शिलिंग ६ पेन्स से घटकर $५\frac{१}{८}$ पेन्स रह गया था।

"तीस वर्ष पहले (१८४१ में) धागे जोड़ने वाले तीन आदमियों के साथ कताई करने वाले एक मजदूर को ३०० से ३२४ तकुओं तक के एक जोड़ी म्यूलों से अधिक पर काम नहीं करना पड़ता था। इस वक़्त (१८७१ में) उसे धागे जोड़ने वाले पांच आदमियों की मदद से २,२०० तकुओं की ओर ध्यान देना पड़ता है, और १८४१ में वह जितना सूत तैयार किया करता था, अब उससे कम से कम सात-गुना अधिक सूत उसे तैयार करना पड़ता है।" (एलेक्ज़ाण्डर रेड्ग्रेव, फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर, – "*Journal of the Society of Arts*" ['धंधों की समिति की पत्रिका'] के ५ जनवरी १८७२ के अंक में।)

[2] "*Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct. 1861*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६१'), पृ० २५, २६।

[3] लंकाशायर के फ़ैक्टरी-मजदूरों में अब (१८६७ में) ८ घण्टे के काम के दिन का आन्दोलन शुरू हो गया है।

प्रगति को बहुत पीछे छोड़ दिया था, जब कि काम के दिन की कोई सीमा नहीं थी। लेकिन १८४८ से अब तक १० घण्टे के दिन के फलस्वरूप उद्योगों ने जो उन्नति की है, उसने १८३३ से १८४७ तक के १२ घण्टे के जमाने की प्रगति को और भी अधिक पीछे छोड़ दिया है।[1]

---

[1] नीचे दिये हुए कुछ आंकड़ों से पता चलेगा कि १८४८ से अब तक ब्रिटेन की "फ़ैक्टरियों" में कितनी वृद्धि हुई है:

| | निर्यातित मात्रा, १८४८ | निर्यातित मात्रा, १८५१ | निर्यातित मात्रा, १८६० | निर्यातित मात्रा, १८६५ |
|---|---|---|---|---|
| **कपास** | | | | |
| सूत . . . . . | पौण्ड<br>१३,५८,३१,१६२ | पौण्ड<br>१४,३९,६६,१०६ | पौण्ड<br>१९,७३,४३,६५५ | पौण्ड<br>१०,३७,५१,४५५ |
| सीने का धागा . . | | पौण्ड<br>४३,९२,१७६ | पौण्ड<br>६२,९७,५५४ | पौण्ड<br>४६,४८,६११ |
| सूती कपड़ा . . . | गज़<br>१,०९,१३,७३,९३० | गज़<br>१,५४,३१,६१,७८९ | गज़<br>२,७७,६२,१८,४२७ | गज़<br>२,०१,५२,३७,८५१ |
| **फ़्लैक्स और सन** | | | | |
| धागा . . . . . | पौण्ड<br>१,१७,२२,१८२ | पौण्ड<br>१,८८,४१,३२६ | पौण्ड<br>३,१२,१०,६१२ | पौण्ड<br>३,६७,७७,३३४ |
| कपड़ा . . . . . | गज़<br>८,८९,०१,५१९ | गज़<br>१२,९१,०६,७५३ | गज़<br>१४,३९,९६,७७३ | गज़<br>२४,७०,१२,५२९ |
| **रेशम** | | | | |
| धागा . . . . . | पौण्ड<br>४,६६,८२५ | पौण्ड<br>४,६२,५१३ | पौण्ड<br>८,९७,४०२ | पौण्ड<br>८,१२,५८९ |
| कपड़ा . . . . . | | गज़<br>११,८१,४५५ | गज़<br>१३,०७,२९३ | गज़<br>२८,६९,८३७ |
| **ऊन** | | | | |
| ऊनी धागा और बटा हुआ धागा . . | | पौण्ड<br>१,४६,७०,८८० | पौण्ड<br>२,७५,३३,९६८ | पौण्ड<br>३,१६,६९,२६७ |
| कपड़ा . . . . . | | गज़<br>२४,११,२०,९७३ | गज़<br>१९,०३,८१,५३७ | गज़<br>२७,८८,३७,४३८ |

## अनुभाग ४ – फ़ैक्टरी

इस अध्याय के शुरू में हमने उस चीज का अध्ययन किया था, जिसे हम फ़ैक्टरी का शरीर कह सकते हैं, अर्थात् वहां हमने एक संहति में संगठित मशीनों का अध्ययन किया था। वहां हमने देखा था कि मशीनें स्त्रियों और बच्चों के श्रम पर अधिकार करके किस प्रकार उन

---

| | निर्यातित मूल्य, १८४८ | निर्यातित मूल्य, १८५१ | निर्यातित मूल्य, १८६० | निर्यातित मूल्य, १८६५ |
|---|---|---|---|---|
| **कपास** | **पौण्ड** | **पौण्ड** | **पौण्ड** | **पौण्ड** |
| सूत . . . | ५६,२७,८३१ | ६६,३४,०२६ | ६८,७०,८७५ | १,०३,५१,०४६ |
| कपड़ा . . | १,६७,५३,३६६ | २,३४,५४,८१० | ४,२१,४१,५०५ | ४,६६,०३,७६६ |
| **फ़्लैक्स और सन** | | | | |
| धागा. . . | ४,६३,४४६ | ६,५१,४२६ | १८,०१,२७२ | २५,०५,४९७ |
| कपड़ा . . | २८,०२,७८६ | ४१,०७,३६६ | ४८,०४,८०३ | ६१,५५,३१८ |
| **रेशम** | | | | |
| धागा. . . | | १,६५,३८० | ६,१८,३४२ | ७,६८,०६७ |
| कपड़ा . . | ७७,७८६ | ११,३०,३६८ | १५,८७,३०३ | १४,०६,२२१ |
| **ऊन** | | | | |
| धागा. . . | ७,७६,६७५ | १४,८४,५४४ | ३८,४३,४५० | ५४,२४,०१७ |
| कपड़ा . . | ५७,३३,८२८ | ८३,७७,१८३ | १,२१,५६,६६८ | २,०१,०२,२५६ |

ये सरकारी प्रकाशन देखिये: *"Statistical Abstract of the United Kingdom"* ('ब्रिटेन का सांख्यिकीय संक्षेप'), अंक ८ और १३, London, 1861 और 1866। लंकाशायर में मिलों की संख्या में १८३८ और १८५० के बीच केवल ४ प्रतिशत की, १८५० और १८५६ के बीच १६ प्रतिशत की और १८५६ तथा १८६२ के बीच ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जब कि ग्यारह-ग्यारह वर्ष के इन दोनों कालों में से प्रत्येक में मजदूरों की संख्या निरपेक्ष दृष्टि से तो बढ़ गयी, मगर सापेक्ष दृष्टि से घट गयी। (देखिये *"Rep. of Insp. of Fact., for 31st Oct., 1862"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ६३।) लंकाशायर में सूती धंधे का जोर है। इस डिस्ट्रिक्ट में सूती धंधे का आकार कितना विशाल है, इसका कुछ आभास हमें इस बात से मिल सकता है कि ब्रिटेन में कपड़े की कुल जितनी फ़ैक्टरियां हैं, उनका ४५.२ प्रतिशत भाग, तकुओं का ८३.३ प्रतिशत भाग, शक्ति से चलने वाले करघों का ८१.४ प्रतिशत भाग, यांत्रिक अश्व-शक्ति का ७२.६ प्रतिशत भाग और कपड़े के धंधे में काम करने वाले तमाम मजदूरों का ५८.२ प्रतिशत भाग यहां केन्द्रित है। (उप० पु०, पृ० ६२-६३।)

मनुष्यों की संख्या में वृद्धि कर देती हैं, जो पूंजीवादी शोषण की सामग्री बन जाते हैं; वे किस तरह श्रम के घण्टों को अनुचित ढंग से बढ़ाकर मजदूर के उस सारे समय को हड़प जाती हैं, जिसे वह बेच सकता है; और, अन्त में, मशीनों की उन्नति, जिसके कारण अधिकाधिक कम समय में उत्पादन में भारी वृद्धि कर देना सम्भव होता है, किस प्रकार मजदूर से विधिपूर्वक अपेक्षाकृत कम समय में अधिक काम कराने–या श्रम-शक्ति का अधिक तीव्र शोषण करने–का साधन बन जाती है। यहां हम पूरी की पूरी फ़ैक्टरी और उसके सबसे अधिक विकसित रूप पर विचार करेंगे।

स्वचालित फ़ैक्टरी का यशगान करने वाले डा० उरे ने उसका, एक ओर, इस तरह वर्णन किया है कि फ़ैक्टरी "वयस्क और कम-उम्र अनेक प्रकार के मजदूरों की संयुक्त सहकारिता होती है, जो बड़ी तत्पर निपुणता के साथ उत्पादक मशीनों की एक ऐसी संहति की देखरेख करते हैं, जिसको एक केन्द्रीय शक्ति (मूल चालक) "लगातार चलाती रहती है"; और, दूसरी ओर, उन्होंने कहा है कि फ़ैक्टरी "एक विशाल स्वचालित यंत्र है, जो विभिन्न यांत्रिक और बौद्धिक अवयवों का बना हुआ होता है, जो किसी एक वस्तु को तैयार करने के उद्देश्य से एक दूसरे के निरन्तर सहयोग में काम करते हैं और जो सब के सब एक स्वनियमित चालक शक्ति के आधीन रहते हैं।" ये दो वर्णन कदापि एक से नहीं हैं। एक में सामूहिक मजदूर, या श्रम का सामाजिक निकाय, प्रभावशाली कर्ता के रूप में सामने आता है और स्वचालित यंत्र की स्थिति केवल कर्म की होती है। दूसरे में स्वचालित यंत्र स्वयं कर्ता है और मजदूर उसके सचेतन अवयव मात्र हैं, जो उसके अचेतन अवयवों के साथ समन्वित होते हैं और जो अचेतन अवयवों के साथ-साथ केन्द्रीय चालक शक्ति के अधीन होते हैं। पहला वर्णन बड़े पैमाने के मशीनों के प्रत्येक सम्भव उपयोग पर लागू होता है, दूसरा विशेष रूप से पूंजी द्वारा मशीनों के उपयोग पर और इसलिये आधुनिक फ़ैक्टरी-व्यवस्था पर लागू होता है। इसीलिये उरे उस केन्द्रीय मशीन को, जिससे गति प्राप्त होती है, केवल एक स्वचालित यंत्र ही नहीं, बल्कि एक निरंकुश शासक भी कहना पसन्द करते हैं। उन्होंने लिखा है: "इन लम्बे-चौड़े हालों में भाप की दयालु शक्ति खुशी-खुशी काम करने वाले अपने असंख्य नौकरों से काम लेती है।"[1]

औज़ार के साथ-साथ औज़ार से काम लेने की मजदूर की निपुणता भी मशीन के पास पहुंच जाती है। औज़ार की क्षमताओं को उन बंधनों से मुक्त कर दिया जाता है, जो मानव-श्रम-शक्ति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। इस प्रकार वह प्राविधिक आधार नष्ट हो जाता है, जिसकी नींव पर हस्तनिर्माण में श्रम-विभाजन हुआ था। चुनांचे, विशिष्टीकृत मजदूरों के उस पद-सोपान के स्थान पर, जो हस्तनिर्माण की विशेषता है, स्वचालित फ़ैक्टरी में मशीनों की देखरेख करनेवाले मजदूरों के प्रत्येक काम को बस एक ही स्तर पर पहुंचा देने की प्रवृत्ति काम करती है,[2] और तफ़सीली काम करने वाले मजदूरों के बीच बनावटी ढंग से पैदा किये गये भेदों का स्थान आयु और लिंग के प्राकृतिक भेद ले लेते हैं।

फ़ैक्टरी में जिस हद तक श्रम-विभाजन पुनः प्रकट होता, उस हद तक उसका मूलतया

---

[1] Ure, उप० पु०, पृ० १८।

[2] Ure, उप० पु०, पृ० ३१। देखिये Karl Marx, "*Misère de la Philosophie*" (कार्ल मार्क्स, 'दर्शन की दरिद्रता'), Paris, 1847, पृ० १४०-४१।

यह रूप होता है कि मजदूर विशिष्टीकृत मशीनों के बीच बांट दिये जाते हैं और मजदूरों के समूह, जो दलों में संगठित नहीं होते, फ़ैक्टरी के अलग-अलग विभागों में बांट दिये जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक विभाग में वे साथ-साथ रखी हुई एक ही प्रकार की बहुत सी मशीनों पर काम करते हैं; इसलिये उनके बीच केवल साधारण सहयोग होता है। उस संगठित दल का स्थान, जो हस्तनिर्माण की विशेषता था, अब हेड मजदूर और उसके चन्द सहायकों का सम्बंध ग्रहण कर लेता है। बुनियादी विभाजन यह होता है कि एक तरफ़ तो वे मजदूर होते हैं, जो सचमुच मशीनों पर काम करते हैं (और जिनमें इंजन की देखभाल करने वाले कुछ लोग भी शामिल होते हैं), और दूसरी तरफ़ इन मजदूरों के महज सहायक होते हैं (जिनमें लगभग सभी केवल बच्चे होते हैं)। सहायकों में कमोबेश उन सभी feeders (कच्चा माल देने वालों) को भी गिना जाता है, जो वह सामग्री मशीनों तक पहुंचाते हैं, जिसपर काम किया जाता है। इन दो मुख्य वर्गों के अलावा कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक वर्ग होता है, जिनका काम सभी मशीनों की देखभाल और समय-समय पर उनकी मरम्मत करना होता है। मिसाल के लिये, इंजीनियर, मिस्त्री, बढ़ई आदि इस वर्ग में आते हैं। संख्या की दृष्टि से यह वर्ग महत्वहीन होता है। ये एक अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के मजदूर होते हैं। उनमें से कुछ को वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त हुई है, दूसरों को बचपन से ही एक ख़ास धंधे की शिक्षा मिली है। यह वर्ग फ़ैक्टरी के मजदूरों के वर्ग से बिल्कुल अलग होता है, उसे केवल उनके साथ जोड़ दिया जाता है।[1] श्रम का यह विभाजन विशुद्ध प्राविधिक विभाजन होता है।

किसी मशीन पर काम कर सकने के लिये मजदूर को बचपन से ही शिक्षा मिलनी चाहिये, ताकि वह ख़ुद अपनी क्रियाओं को एक स्वचालित यंत्र की एकरूप एवं निरन्तर गति के अनुसार ढालना सीख जाये। जब सभी मशीनों का, कुल मिलाकर, एक दूसरे के साथ-साथ और सहयोग में काम करने वाली विभिन्न प्रकार की मशीनों की एक संहति का रूप होता है, तब उनपर आधारित सहकारिता के लिये यह आवश्यक होता है कि मजदूरों के विभिन्न दल अलग-अलग प्रकार की मशीनों के बीच बांट दिये जायें। लेकिन मशीनों का उपयोग करने पर इसकी आवश्यकता नहीं रहती कि हस्तनिर्माण के ढंग पर एक ख़ास आदमी को लगातार एक ख़ास काम के साथ बांधे रखकर इस विभाजन को स्थायी रूप दे दिया जाये।[2] इस पूरी

---

[1] इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-क़ानून ने इस अन्तिम वर्ग के मजदूरों को अपने कार्य-क्षेत्र से अलग कर दिया है, हालांकि संसदीय विवरणों में न केवल इंजीनियर, मिस्त्री आदि को, बल्कि मैनेजर, सेल्समैन, चपरासी, गोदामी, गांठ बांधने वाले आदि को भी, और संक्षेप में कहा जाये, तो ख़ुद फ़ैक्टरी के मालिक को छोड़कर बाक़ी सभी लोगों को साफ़ तौर पर फ़ैक्टरी-मजदूरों की मद में शामिल किया जाता है। आंकड़ों के रूप में यह सोद्देश्य भ्रामक प्रयास जैसा लगता है (अन्य जगहों पर भी जिसे सविस्तार भ्रामक सिद्ध करना सम्भव होगा)।

[2] उरे भी यह बात स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं कि "जरूरत होने पर" मैनेजर मजदूरों को अपनी इच्छानुसार एक मशीन से हटाकर दूसरी मशीन पर लगा सकता है, और फिर उरे विजय की भावना के साथ घोषणा करते हैं: "इस प्रकार का परिवर्तन उस पुरानी रूढ़ि के बिल्कुल उल्टा पड़ता है, जिसके अनुसार श्रम का विभाजन कर दिया जाता है और एक मजदूर को सुई का मुंह बनाने का काम और दूसरे को नोक तेज करने का काम सौंप दिया जाता है।" बेहतर होता, यदि उरे अपने से यह प्रश्न करते कि स्वचालित फ़ैक्टरी में केवल "जरूरत होने पर ही" इस "पुरानी रूढ़ि" को क्यों त्यागा जाता था।

संहति की गति चूंकि मजदूर से नहीं, बल्कि मशीनों से ग्राती है, इसलिये काम को बीच में रोके बिना किसी भी समय पर व्यक्तियों की ग्रदला-बदली की जा सकती है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण relays system (पालियों की प्रणाली) में मिलता है, जिसे कारखानेदारों ने १८४८-१८५० में ग्रपने विद्रोह के समय चालू किया था। ग्रन्त में, चूंकि लड़के-लड़कियां मशीन का काम बहुत जल्दी सीख लेते हैं, इसलिये मजदूरों के किसी खास वर्ग को केवल मशीनों पर काम करने के लिये सिखा-पढ़ाकर तैयार करने की भी कोई जरूरत नहीं रहती।[1] जहां तक महज सहायकों का सम्बंध है, मिल में कुछ हद तक उनका स्थान मशीनें ले सकती हैं,[2] ग्रौर इस तरह का काम चूंकि बहुत ही सरल ढंग का होता है, इसलिये जिन व्यक्तियों के कंधों पर इस ग्ररुचिकर काम का बोझा पड़ता है, उनमें तेजी से ग्रौर लगातार परिवर्तन किये जा सकते हैं।

---

[1] जब व्यवसाय की दशा बहुत ही शोचनीय होती है, जैसी कि ग्रमरीकी गृह-युद्ध के दिनों में थी, तब कभी-कभी पूंजीपति फ़ैक्टरी-मजदूर से सख़्त से सख़्त काम, जैसे सड़क बनाना इत्यादि, लेने लगता है। १८६२ ग्रौर उसके बाद के वर्षों में इंगलैण्ड में सूती मिलों के बेकार मजदूरों के लिये जो "ateliers nationaux" ("राष्ट्रीय वर्कशापें") खोली गयी थीं, वे १८४८ में फ़्रांस में खोली गयी राष्ट्रीय वर्कशापों से इस बात में भिन्न थीं कि जहां फ़्रांस में मजदूरों को राज्य के ख़र्चे पर ग्रनुत्पादक काम करना पड़ता था, इंगलैण्ड की "राष्ट्रीय वर्कशापों" में मजदूरों को पूंजीपति के हित में नगरपालिका का उत्पादक काम करना होता था, ग्रौर वे नियमित मजदूरों के मुक़ाबले में सस्ते पड़ते थे ग्रौर इस तरह उनसे इन मजदूरों के साथ प्रतियोगिता करा दी जाती थी। "सूती मिलों के मजदूरों की शारीरिक ग्रवस्था में निस्सन्देह सुधार हो गया है। जहां तक पुरुषों का सम्बंध है, मैं समझता हूं ... इसका कारण यह है कि इन लोगों से बाहर खुली हवा में लोक-निर्माण का काम लिया जाता है।" ("*Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1863*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ ग्रक्तूबर १८६३'], पृ० ५९।) यहां लेखक प्रेस्टन फ़ैक्टरी के मजदूरों का जिक्र कर रहा है, जिनसे प्रेस्टन के खादर में काम लिया जा रहा था।

[2] इसका एक उदाहरण वे तरह-तरह के यांत्रिक उपकरण हैं, जिनसे १८४४ के क़ानून के बाद से बच्चों के श्रम के स्थान पर काम लिया जाने लगा है। जैसा ही यह होने लगेगा कि ख़ुद कारख़ानेदारों के बच्चों को मिल में सहायकों के रूप में शिक्षा लेनी पड़ा करेगी, वैसे ही यांत्रिकी के इस लगभग ग्रनन्वेषित क्षेत्र में ग्रसाधारण प्रगति होगी। "मशीनों में self-acting mules (स्वचालित म्यूल) शायद उतने ही ख़तरनाक होते हैं, जितनी ग्रौर मशीनें। उनसे जो दुर्घटनाएं होती हैं, उनके शिकार प्राय: छोटे-छोटे बच्चे होते हैं, क्योंकि वे जब म्यूल चलते रहते हैं, तब उनके नीचे रेंग-रेंगकर फ़र्श की सफ़ाई करते हैं। इन "minders" (म्यूलों पर काम करने वालों) में से कुछ पर इस जुर्म के लिये जुर्माना भी हो चुका है, पर इससे कोई सामान्य लाभ नहीं हुग्रा है। यदि मशीनें बनाने वाले किसी ऐसे सफ़ाई करने वाले स्वचालित यंत्र का ग्राविष्कार कर देते, जिसका उपयोग करने पर नन्हे-नन्हे बच्चों को मशीनों के नीचे रेंगकर जाने की जरूरत न रहती, तो मजदूरों की सुरक्षा के लिये उठाये गये क़दमों में यह एक बहुत उपयोगी नया क़दम होता।" ("*Reports of Insp. of Fact. for 31st. Oct. 1866*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ ग्रक्तूबर १८६६'], पृ० ६३।)

इसलिये प्राविधिक दृष्टि से यद्यपि मशीनें श्रम-विभाजन की पुरानी प्रणाली का तख्ता उलट देती हैं, परन्तु हस्तनिर्माण से विरासत में मिली एक परम्परागत आदत के रूप में वह फ़ैक्टरी में जीवित रहती है और बाद को पूंजी उसको सुनियोजित ढंग से और नये सिरे से संवारकर श्रम-शक्ति का शोषण करने के साधन के तौर पर एक और भी भयानक रूप में स्थापित कर देती है। सारे जीवन एक ही औज़ार से काम करने की विशिष्टता अब सारे जीवन एक ही मशीन की सेवा करने की विशिष्टता बन जाती है। मशीनों का अब मजदूर को उसके बचपन से ही तफ़सीली काम करने वाली किसी मशीन का अंग बना देने के उद्देश्य से दुरुपयोग किया जाता है।[1] इस तरह, न केवल मजदूर के पुनरुत्पादन का खर्च बहुत-कुछ कम हो जाता है, बल्कि उसके साथ-साथ पूरी फ़ैक्टरी पर और इसलिये पूंजीपति पर मजदूर की निस्सहाय निर्भरता भी पूर्णता को पहुंच जाती है। अन्य प्रत्येक स्थान की भांति यहां पर भी हमें इस बात को समझना चाहिये कि उत्पादन की सामाजिक क्रिया के विकास के फलस्वरूप उत्पादकता में जो वृद्धि होती है और इस क्रिया के पूंजीवादी शोषण के कारण उत्पादकता में जो वृद्धि होती है, उनमें भेद होता है। दस्तकारियों तथा हस्तनिर्माण में मजदूर औज़ार को इस्तेमाल करता है, फ़ैक्टरी में मशीन मजदूर को इस्तेमाल करती है। वहां श्रम के औज़ारों की क्रियायें मजदूर से शुरू होती हैं, यहां पर उसे खुद मशीन की क्रियाओं का अनुकरण करना पड़ता है। हस्तनिर्माण में मजदूर एक जीवित संघटन के अंग होते हैं। फ़ैक्टरी में मजदूरों से स्वतंत्र एक निर्जीव यंत्र होता है और मजदूर इस यंत्र के मात्र जीवित उपांगों में बदल जाते हैं। "अन्तहीन श्रम और मेहनत का वह नीरस नित्यक्रम, जिसमें एक ही यांत्रिक क्रिया को बार-बार दोहराना पड़ता है, सिसाइफ़स के श्रम के समान होता है। सिसाइफ़स के पत्थर की तरह यहां पर श्रम का बोझा बार-बार सदा इस थके हुए मजदूर पर ही आकर गिरता है।"[2] फ़ैक्टरी का काम जहां स्नायु-मण्डल को हद से ज्यादा थका डालता है, वहां उसके साथ-साथ उसमें मांस-पेशियों की

---

[1] प्रूधों की विलक्षण धारणा के खण्डन के लिये इतना काफ़ी है। वह मशीन का अर्थ यह नहीं लगाते कि वह श्रम के साधनों का योग होती है, बल्कि यह कि ख़ुद मज़दूर के हित में तफ़सीली क्रियाओं का समन्वय ही मशीन होता है।

[2] F. Engels, उप० पु०, पृ० २१७। स्वतंत्र व्यापार के मि० मोलिनारी जैसे एक साधारण तथा आशावादी समर्थक ने भी यहां तक कह डाला है कि "Un homme s'use plus vite en surveillant, quinze heures par jour, l'évolution uniforme d'un mécanisme, qu'en exerçant, dans le même espace de temps, se force physique. Ce travail de surveillance qui servirait peut-être d'utile gymnastique à l'intelligence, s'il n'était pas trop prolongé, détruit à la longue, par son excès, et l'intelligence, et le corps même." ["जब कोई आदमी पन्द्रह घण्टे रोज़ाना किसी यंत्र की एकरूपी क्रियाओं की देखरेख करता है, तो वह उस आदमी की अपेक्षा अधिक जल्दी थक जाता है, जो इतने ही समय तक ख़ुद अपनी शारीरिक शक्तियों से काम लेता है। देखरेख का यह काम अगर अनुचित ढंग से बहुत देर तक न खींचा जाता, तो शायद बुद्धि के विकास में सहायक होता। पर यहां पर वह अन्त में अपने अतिरेक से मन और शरीर दोनों को नष्ट कर डालता है।"] (G. de Molinari, "*Études Économiques*", Paris, 1846.)

विविध प्रकार की चेष्टाओं की कोई जरूरत नहीं रहती और वह शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार की क्रियाशीलता के प्रत्येक कण का अपहरण कर लेता है।[1] मशीन से श्रम कुछ हल्का हो जाता है, पर यह चीज भी यहां पर एक ढंग की यातना बन जाती है, क्योंकि मशीन मजदूर को काम से मुक्त नहीं करती, बल्कि काम की सारी दिलचस्पी ख़तम कर देती है। हर प्रकार का पूंजीवादी उत्पादन जिस हद तक न सिर्फ़ श्रम-प्रक्रिया, बल्कि अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया भी होता है, उस हद तक उसमें एक समान विशेषता होती है। वह यह कि उसमें मजदूर श्रम के औजारों से नहीं, बल्कि श्रम के औजार मजदूर से काम लेते हैं। लेकिन यह विपर्यय पहले-पहल केवल फ़ैक्टरी-व्यवस्था में ही प्राविधिक एवं इन्द्रियगम्य वास्तविकता प्राप्त करता है। एक स्वचालित यंत्र में रूपान्तरित हो जाने के फलस्वरूप श्रम का औजार श्रम-प्रक्रिया में पूंजी की शकल में, यानी उस मृत श्रम के रूप में मजदूर के सामने खड़ा होता है, जो जीवित श्रम-शक्ति पर हावी रहता है और चूस-चूसकर उसका सत निकाल लेता है। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, हाथ के श्रम से उत्पादन की बौद्धिक शक्तियों के अलग कर दिये जाने और इन शक्तियों के श्रम पर पूंजी के आधिपत्य में बदल जाने की क्रिया अन्तिम रूप से उस आधुनिक उद्योग के द्वारा पूर्णता प्राप्त करती है, जो मशीनों के आधार पर खड़ा किया जाता है। फ़ैक्टरी के हर अलग-अलग महत्वहीन मजदूर की व्यक्तिगत एवं विशेष निपुणता उस विज्ञान के, उन विराट भौतिक शक्तियों के तथा श्रम की उस विशाल राशि के सम्मुख एक अत्यणु मात्रा बनकर रह जाती है, जो फ़ैक्टरी-यंत्र में निहित होती हैं और इस यंत्र के साथ-साथ जिनके कारण "मालिक" (master) के हाथ में इतनी बड़ी ताक़त होती है। इस "मालिक" के मस्तिष्क में मशीनों के तथा उनपर उसके एकाधिकार के बीच एक अविच्छिन्नीय एकता होती है, और इसलिये जब कभी उसका अपने मजदूरों से कोई झगड़ा होता है, तो वह बड़े तिरस्कार के भाव से उनसे कहता है: "फ़ैक्टरी के मजदूरों को यह तथ्य अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि उनका श्रम वास्तव में एक हीन कोटि का निपुण श्रम है और दूसरा ऐसा कोई श्रम नहीं है, जिसे इतनी आसानी से सीखा जा सकता हो या जो इसी स्तर का श्रम हो और फिर भी जिसके लिये इस से अधिक पारिश्रमिक दिया जाता हो, या जिसे सबसे कम निपुणता रखने वाले किसी विशेषज्ञ से थोड़ी सी शिक्षा लेकर इससे जल्दी तथा इससे अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो ... उत्पादन के व्यवसाय में मालिक की मशीनें वास्तव में मजदूर के श्रम तथा निपुणता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, और यह निपुणता तो ६ महीने की शिक्षा से प्राप्त की जा सकती है और कोई भी साधारण खेत-मजदूर उसे प्राप्त कर सकता है।"[2] मजदूर चूंकि श्रम के औजारों की एकरूपी गति की प्राविधिक अधीनता में फंस जाता है और मजदूरों में चूंकि स्त्री और पुरुष दोनों और हर उम्र के व्यक्ति होते हैं और इसलिये चूंकि उनके समुदाय की बनावट एक विचित्र ढंग की

---

[1] F. Engels, उप० पु०, पृ० २१६।

[2] "*The Master Spinners' and Manufacturers' Defence Fund. Report of the Committee*" ('कताई करने वाली मिलों के मालिकों और कारख़ानेदारों का सुरक्षा-कोष। – समिति की रिपोर्ट'), Manchester, 1854, पृ० १७। आगे हम देखेंगे कि "मालिक" जब अपने "जीवन्त" स्वचालित यंत्र को खो बैठने का ख़तरा देखता है, तब वह एक बिल्कुल दूसरा राग भी अलाप सकता है।

होती है, इसलिये उनमें सिपाहियों की बारक (निवास-स्थान) जैसा अनुशासन पैदा हो जाता है। यह अनुशासन फ़ैक्टरी में एक पूर्ण व्यवस्था का रूप प्राप्त कर लेता है, और उसमें दूसरों के काम की देखरेख करने का उपर्युक्त श्रम पूरी तरह विकसित हो जाता है। इससे मजदूर काम करने वालों और काम की देखरेख करने वालों में, औद्योगिक सेना के साधारण सिपाहियों और हवलदारों में बंट जाते हैं। "(स्वचालित फ़ैक्टरी में) मुख्य कठिनाई ... सबसे अधिक ... इस बात को लेकर होती थी कि मनुष्यों को अनियमित ढंग से काम करने की आदतों को छोड़कर संश्लिष्ट स्वचालित यंत्र की अपरिवर्तनीय नियमितता के साथ अपने को एकाकार कर देने की शिक्षा कैसे दी जाये। फ़ैक्टरी के श्रम की आवश्यकताओं के अनुरूप फ़ैक्टरी-अनुशासन की एक सफल नियमावली को तैयार करने और फिर उसे लागू करने के इस अति-दुष्कर कार्य को आर्कराइट ने पूरा किया, और यह उनकी महान उपलब्धि है! आज भी, जब कि पूरी व्यवस्था बहुत अच्छी तरह संगठित की जा चुकी है और उसका श्रम अधिक से अधिक हल्का हो गया है, जो लोग तरुणावस्था को पार कर गये हैं, उनको फ़ैक्टरी के उपयोगी मजदूर बनाना लगभग असम्भव होता है।"[1] फ़ैक्टरी की इस नियमावली में पूंजी निजी क़ानून बनाने वाले व्यक्ति की तरह और अपनी इच्छा के अनुसार अपने मजदूरों पर क़ायम अपने निरंकुश शासन को क़ानून का रूप दे देती है। पर इस निरंकुशता के साथ उत्तरदायित्व का वह विभाजन जुड़ा हुआ नहीं होता, जो अन्य मामलों में पूंजीपति-वर्ग को इतना अधिक पसन्द है, और न ही उसके साथ प्रतिनिधान की वह प्रणाली जुड़ी हुई होती है, जो पूंजीपति-वर्ग को और भी ज्यादा पसन्द है। यह नियमावली श्रम-प्रक्रिया के उस सामाजिक नियमन का पूंजीवादी व्यंग-चित्र मात्र होती है, जो एक विशाल अनुमाप की सहकारिता में और श्रम के औजारों के—विशेष कर मशीनों के—सामूहिक उपयोग में आवश्यक होता है। गुलामों को मार-मारकर काम लेनेवाले सरदार के कोड़े का स्थान फ़ोरमैन का जुर्मानों का रजिस्टर ले लेता है। सभी प्रकार के दण्ड स्वाभाविक ढंग से जुर्मानों का और मजदूरी में कटौतियों का रूप धारण कर लेते हैं, और फ़ैक्टरी के लाइकरगस की विधिकारी प्रतिभा ऐसी व्यवस्था करती है कि जहां तक सम्भव है, उनके बनाये हुए क़ानूनों का पालन होने की अपेक्षा उनके उल्लंघन से उन्हें अधिक लाभ होता है।[2]

---

[1] Ure, उप०, पु०, पृ० १५। जो कोई भी आर्कराइट की जीवनी से परिचित है, वह इस प्रतिभाशाली नाई को कभी "उदारमना" नहीं कहेगा। १८ वीं सदी में जितने महान आविष्कारक हुए हैं, उनमें दूसरे लोगों के आविष्कारों का सबसे बड़ा चोर और सबसे अधिक नीच व्यक्ति निर्विवाद रूप से यह आर्कराइट ही था।

[2] "पूंजीपति-वर्ग ने सर्वहारा को जिस गुलामी में जकड़ दिया है, उसपर जितना अधिक प्रकाश फ़ैक्टरी-व्यवस्था में पड़ता है, उतना और कहीं नहीं पड़ता। इस व्यवस्था में हर प्रकार की स्वाधीनता—क़ानूनी तौर पर और वास्तव में, दोनों तरह—ख़तम हो जाती है। मजदूर को सुबह साढ़े पांच बजे फ़ैक्टरी में हाजिर होना पड़ता है। यदि उसे दो-चार मिनट की भी देर हो जाती है, तो सजा मिलती है। यदि वह १० मिनट देर से पहुंचता है, तो उसे नाश्ते की छुट्टी के समय तक फ़ैक्टरी में नहीं घुसने दिया जाता है, और इस तरह उसकी चौथाई दिन की मजदूरी मारी जाती है। उसे मालिक के हुक्म पर खाना, पीना और सोना पड़ता है ... फ़ैक्टरी की निरंकुश घंटी उसे बिस्तर से उठा देती है, नाश्ते और खाने को बीच

यहां हम उन भौतिक परिस्थितियों का केवल ज़िक्र ही करेंगे, जिनमें फ़ैक्टरियों के मजदूरों को श्रम करना पड़ता है। फ़ैक्टरियों में तापमान कृत्रिम रूप से बढ़ा दिया जाता है, हवा में धूल भर जाती है और शोर के मारे कान फटे जाते हैं। इन तमाम चीज़ों से मजदूर

---

में छुड़वा देती है। और मिल में उसपर क्या गुज़रती है? वहां हर चीज़ मालिक की उंगली के इशारे पर नाचती है। वह जैसे चाहता है, वैसे नियम बनाता है; नियमावली में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करता रहता है और नयी बातें जोड़ता रहता है, और अगर वह बिल्कुल बेहूदा बातें उसमें शामिल कर लेता है, तब भी अदालतें मजदूर से यही कहती हैं कि तुमने यह क़रार अपनी इच्छा से किया है, अब तो तुम्हें उसका पालन करना ही होगा ... नौ वर्ष की आयु से मृत्यु तक इन मजदूरों को हर घड़ी यह मानसिक और शारीरिक यातना सहन करनी पड़ती है।" (F. Engels, उप० पु०, पृ० २१७ और उसके आगे के पृष्ठ।) "अदालतें कैसे फ़ैसले करती हैं", इसके मैं दो उदाहरण दूंगा। एक उदाहरण १८६६ के अन्तिम दिनों का शेफ़ील्ड का है। उस शहर में एक मजदूर था, जिसने इस्पात के एक कारख़ाने में २ साल तक काम करने का क़रार किया था। अपने मालिक से झगड़ा हो जाने के फलस्वरूप वह कारख़ाना छोड़कर चला गया और उसने ऐलान कर दिया कि अब वह किसी हालत में भी इस मालिक के लिये काम नहीं करेगा। उसपर क़रार भंग करने का मुक़दमा चला और दो महीने की कैद हो गयी। (यदि कोई मालिक क़रार भंग करता है, तो उसपर केवल दीवानी का मुक़दमा चलाया जा सकता है। और उसको सिवाय इसके और कोई ख़तरा नहीं होता कि शायद कुछ रक़म हरजाने की देनी पड़ जाये।) मजदूर दो महीने की जेल काटकर बाहर आया, तो मालिक ने उससे फिर कहा कि क़रार के अनुसार मेरे कारख़ाने में आकर काम करो। मजदूर ने कहा: नहीं, मुझे इस क़रार को तोड़ने की सज़ा मिल चुकी है, अब मैं काम नहीं करूंगा। मालिक ने उसपर फिर मुक़दमा दायर कर दिया। अदालत ने इस बार भी मजदूर को ही दोषी ठहराया, हालांकि मि० शी नामक एक जज ने सार्वजनिक रूप से इस क़ानूनी विभीषिका की सख़्त निन्दा की, जिसके द्वारा किसी भी मनुष्य को एक ही अपराध या जुर्म के लिये जब तक वह ज़िन्दा रहता है, थोड़े-थोड़े समय के बाद बार-बार दण्ड दिया जा सकता है। यह फ़ैसला *"Great Unpaid"* – ज़िलों के अवैतनिक न्यायाधीशों – ने नहीं, बल्कि लन्दन के एक सबसे ऊंचे न्यायालय ने सुनाया था। – [चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: इस स्थिति का अब अन्त कर दिया गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर, – मिसाल के लिये, जैसे गैस के सार्वजनिक कारख़ानों को छोड़कर, – बाक़ी सब जगह क़रार भंग करने के मामले में अंग्रेज मजदूर की स्थिति अब मालिकों के समान बना दी गयी है और उसपर भी केवल दीवानी अदालत में ही मुक़दमा चलाया जा सकता है। – फ़्रे० एं०] दूसरा उदाहरण नवम्बर १८६३ के अन्तिम दिनों का विल्टशायर का है। वहां वेस्टबरी लेह नामक स्थान में लेओवर की कपड़ा-मिल के हैरंप नामक मालिक की ३० बुनकरों ने, जो शक्ति से चलने वाले करघों पर काम करती थीं, हड़ताल कर दी। कारण यह था कि हैरंप साहब को यह आदत थी कि वह सुबह को देरी से काम पर आने वाली मजदूरों की मजदूरी में कटौती कर दिया करते थे। कामगारिनें यदि २ मिनट देर से आती थीं, तो ६ पेंस की, ३ मिनट देर से आती थीं, तो १ शिलिंग की, और दस मिनट देर से आती थीं, तो १ शिलिंग ६ पेंस की कटौती हो जाती थी। यानी, कटौती की दर ६ शिलिंग फ़ी

की प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय पर समान मात्रा में आघात लगता है। और मशीनों की भीड़ में मजदूर की जान जाने या हाथ-पैर कटने का जो खतरा हमेशा बना रहता है, वह अलग है। जिस तरह एक के बाद दूसरा मौसम आता है, उसी नियमित ढंग से फ़ैक्टरियां भी समय-समय पर

---

घण्टा और ४ पौण्ड १० शिलिंग प्रति दिन की बैठती थी, जब कि बुनकरों की मजदूरी, यदि वर्ष का औसत निकालकर देखा जाये, तो कभी १० शिलिंग–१२ शिलिंग फ़ी हफ़्ता से ज्यादा नहीं होती थी। इसके अलावा, हैर्रप ने सीटी बजाकर काम आरम्भ करने का समय सूचित करने के लिये एक लड़के को नियुक्त कर रखा था। वह अक्सर सुबह को ६ बजने के पहले ही सीटी बजा देता था, और अगर सीटी बन्द होने के समय तक सब कामगारिनें कारख़ाने में नहीं पहुंच जाती थीं, तो कारख़ाने के फाटक बन्द कर दिये जाते थे, और जो कामगारिनें बाहर रह जाती थीं, उनपर जुर्माना कर दिया जाता था। कारख़ाने में चूंकि कोई घड़ी नहीं थी, इसलिये अभागी कामगारिनों को हैर्रप द्वारा प्रोत्तेजित उस टाइम-कीपर लड़के की दया पर निर्भर रहना पड़ता था। हड़ताल करने वाली कामगारिनों का, जिनमें कम-उम्र लड़कियां और कुटुम्ब-परिवार वाली माताएं भी थीं, यह कहना था कि वे फिर से काम शुरू करने को तैयार हैं, बशर्ते कि टाइम-कीपर की जगह पर कारख़ाने में एक घड़ी लगा दी जाये और जुर्माने एक ज्यादा मुनासिब दर के अनुसार किये जायें। हैर्रप ने १९ स्त्रियों और लड़कियों पर क़रार भंग करने का मुक़दमा दायर कर दिया। अदालत में उपस्थित सभी लोगों को यह देखकर बहुत क्रोध आया कि इनमें से हर स्त्री तथा हर लड़की से ६ पेंस जुर्माने के और २ शिलिंग ६ पेंस मुक़दमे के ख़र्च के वसूल किये गये। हैर्रप अदालत से चला, तो एक भीड़ फबतियां कसती हुई उसके पीछे-पीछे चल रही थी। – कारख़ानेदारों की एक प्रिय तरक़ीब यह है कि मजदूर जिस सामग्री पर मेहनत करते हैं, उसमें कुछ ख़राबी होने पर वे मजदूरों को सजा देते हैं और उनकी मजदूरी में से पैसे काट लेते हैं। १८६६ में इस प्रथा के फलस्वरूप इंगलैण्ड के मिट्टी के बर्तन बनाने वाले डिस्ट्रिक्टों में एक आम हड़ताल हो गयी। "*Ch. Empl. Com.*" ['बाल-सेवायोजन आयोग'] (१८६३–१८६६) की रिपोर्टों में ऐसे उदाहरण बताये गये हैं, जिनमें मजदूर को न सिर्फ़ कोई मजदूरी नहीं मिली, बल्कि ऊपर से वह अपने श्रम के द्वारा और जुर्माने के नियमों के फलस्वरूप अपने योग्य मालिक का बुरी तरह क़र्जदार भी बन गया। हाल में कपास का संकट आने के समय भी मजदूरों की मजदूरी काटने के मामले में फ़ैक्टरियों के निरंकुश मालिकों की दूरदर्शिता के अनेक उदाहरण देखने को मिले थे। फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टर मि० आर० बेकर ने कहा है: "अभी हाल में ख़ुद मुझको एक सूती मिल के मालिक के ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर करना पड़ा है। ग़रीबी के इन कष्टदायक दिनों में भी उसने अपने कुछ कम-उम्र मजदूरों की मजदूरी में से डाक्टर के सर्टीफ़िकेट की फ़ीस के १०-१० पेंस काट लिये थे (जिसके लिये ख़ुद उसको केवल ६ पेंस देने पड़े थे), जब कि क़ानून उसको केवल ३ पेंस काटने की इजाजत देता था और प्रथा के अनुसार कुछ भी नहीं कटा जाता . . . और मुझे एक और मालिक का पता चला है, जो भी यही चीज करना चाहता है, मगर क़ानून की लपेट में नहीं आना चाहता। उसके यहां जो ग़रीब बच्चे काम करते हैं, जैसे ही डाक्टर उनको इस धंधे के योग्य क़रार दे देता है, वैसे ही यह मालिक उनको कपास की बुनाई की रहस्यमयी कला सिखाने की फ़ीस के रूप में उनसे १ शिलिंग प्रति व्यक्ति वसूल करना शुरू कर देता है। इसलिये, हड़तालों जैसी असाधारण घटनाओं के कुछ अन्तर्भूत कारण

औद्योगिक संग्राम में हताहत होने वाले मजदूरों की सूचियां प्रकाशित किया करती हैं।[1] फ़ैक्टरी-व्यवस्था में उत्पादन के सामाजिक साधनों की मितव्ययिता का इस तरह जबर्दस्ती विकास किया जाता है, जैसे तापगृहों में पौधों को बनावटी ढंग से बढ़ाया जाता है। यह मितव्ययिता पूंजी

---

हो सकते हैं। इन कारणों को समझे बिना आजकल के जैसे समय में हड़तालों जैसी असाधारण घटनाओं को समझना असम्भव है।" यहां मि० बेकर डार्विन के शक्ति से चलने वाले करघों पर काम करने वाले बुनकरों की उस हड़ताल का ज़िक्र कर रहे हैं, जो जून १८६३ में हुई थी। (*"Reports of Insp. of Fact. for 30 April, 1863"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ५०-५११) इन रिपोर्टों पर जो तारीखें पड़ी रहती हैं, उनमें इन तारीखों से सदा आगे का हाल रहता है।

[1] ख़तरनाक मशीनों से मजदूरों के बचाव की जो व्यवस्था फ़ैक्टरी-क़ानूनों ने की है, उसका लाभकारी प्रभाव हुआ है। "लेकिन . . . अब कुछ ऐसे कारणों से दुर्घटनाएं होने लगी हैं, जिनका बीस वर्ष पहले अस्तित्व नहीं था। मिसाल के लिये, अब ख़ास तौर पर मशीनों की बढ़ी हुई रफ़्तार के कारण बहुत सी दुर्घटनाएं होने लगी हैं। अब पहियों, बेलनों, तकुओं और ढरकियों को पहले से बढ़ी हुई रफ़्तार पर चलाया जाता है और उनकी रफ़्तार बराबर बढ़ती ही जा रही है। इसलिये अब उंगलियों को टूटा हुआ धागा पकड़ने के लिये अपनी हरकतों में पहले से अधिक तेजी और फुर्ती दिखानी पड़ती है, क्योंकि धागा पकड़ने में यदि ज़रा भी असमंजस या सुस्ती दिखायी जाती है, तो उंगलियों से हाथ धोना पड़ता है . . . मजदूरों में अपना काम जल्दी से पूरा कर डालने की जो उत्सुकता रहती है, उसके कारण भी बहुत सी दुर्घटनाएं होती हैं। यह याद रखना चाहिये कि कारख़ानेदारों के लिये इस बात का अत्यधिक महत्त्व होता है कि उनकी मशीनें बराबर चलती रहें, यानी वे सदा सूत और सामान तैयार करती रहें। यदि एक मिनट के लिये भी उनका चलना रुक जाता है, तो न सिर्फ़ शक्ति का नुक़सान होता है, बल्कि उत्पादन की भी हानि होती है, और फ़ोरमैन लोग, जिनको सदा ज्यादा से ज्यादा मात्रा में काम निकालने की फ़िक्र रहती है, मजदूरों से हमेशा मशीनें चालू रखने को कहा करते हैं। और मशीनों को चालू रखने का उन मजदूरों के लिये भी कम महत्त्व नहीं है जिनको पैदावार के वजन या माप के हिसाब से मजदूरी मिलती है। चुनांचे, यद्यपि बहुत सी फ़ैक्टरियों में, बल्कि कहना चाहिये कि अधिकतर फ़ैक्टरियों में, चलती हुई मशीनों को साफ़ करने की सख़्त मनाही है, फिर भी यदि सब फ़ैक्टरियों में नहीं, तो ज्यादातर फ़ैक्टरियों में यह आम रिवाज है कि जब मशीनें चलती रहती हैं, तब मजदूर उनमें से कूड़ा निकाला करते हैं और उनके बेलनों और पहियों को साफ़ किया करते हैं, और कोई उन्हें ऐसा करने से नहीं रोकता। इस प्रकार पिछले छः महीनों में केवल इस एक कारण से ६०६ दुर्घटनाएं हुई हैं . . . हालांकि सफ़ाई का बहुत-कुछ काम लगातार रोजाना होता रहता है, फिर भी शनिवार का दिन इस काम के लिए ख़ास तौर पर अलग कर दिया जाता है और उस दिन मशीनों की ख़ूब अच्छी तरह सफ़ाई की जाती है, और इस काम का बड़ा हिस्सा उस वक़्त किया जाता है, जब मशीनें चलती रहती हैं। सफ़ाई के काम की चूंकि कोई मजदूरी नहीं मिलती, इसलिये मजदूर उसे यथासम्भव जल्दी से ख़तम कर डालना चाहते हैं। चुनांचे शुक्रवार और ख़ास तौर पर शनिवार के बराबर बड़ी संख्या में दुर्घटनाएं और किसी दिन नहीं होतीं। सप्ताह के पहले चार दिन दुर्घटनाओं की संख्या का जो औसत रहता है, शुक्रवार को

के हाथ में कार्यरत मजदूर के जीवन के लिये आवश्यक प्रत्येक वस्तु की सुनियोजित लूट में बदल जाती है। मजदूर के काम करने की जगह अधिकाधिक छोटी होती जाती है, रोशनी और हवा कम होती जाती है और उत्पादक क्रिया के ख़तरनाक एवं हानिकारक उपकरणों से उसके बचाव की व्यवस्था में अधिकाधिक काट-छांट होती रहती है। मजदूर के आराम के उपकरणों में जो काट-छांट होती है, वह अलग है।[1] जब फ़ूरिये फ़ैक्टरियों को "परिष्कृत जेलखाने" कहते हैं, तो क्या ग़लती करते हैं?[2]

---

उससे १२ प्रतिशत अधिक और शनिवार को पहले पांच दिन के औसत से २५ प्रतिशत अधिक दुर्घटनाएं होती हैं; या यदि शनिवार के काम के घण्टों का ख़याल रखा जाये, — क्योंकि शनिवार को $७\frac{१}{२}$ घण्टे और बाक़ी दिन $१०\frac{१}{२}$ घण्टे काम होता है, — तो शनिवार को बाक़ी पांच दिन के औसत से ६५ प्रतिशत अधिक दुर्घटनाएं होती हैं।" (*"Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1866"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६६'], पृ० ९, १५, १६, १७।)

[1] फ़ैक्टरी-क़ानून की उन धाराओं के ख़िलाफ़, जिनके द्वारा ख़तरनाक मशीनों से मजदूरों के बचाव की व्यवस्था की गयी है, इंगलैण्ड के कारख़ानेदारों ने हाल में जो आन्दोलन चलाया था, उसका मैं तीसरी पुस्तक के भाग १ में वर्णन करूंगा। फ़िलहाल लेओनार्ड होर्नर की सरकारी रिपोर्ट का यह एक उद्धरण दे देना काफ़ी होगा: "कुछ मिल-मालिकों को मैंने कुछ दुर्घटनाओं का अक्षम्य लापरवाही के साथ ज़िक्र करते हुए सुना है। मिसाल के लिये, जब किसी मजदूर की उंगली कट जाती है, ये लोग इस तरह उसका ज़िक्र करते हैं, जैसे कोई बहुत ही महत्त्वहीन बात हो। मजदूर की जीविका और उसका भविष्य उसकी उंगलियों पर इतना अधिक निर्भर करते हैं कि उसकी एक भी उंगली का कट जाना उसके लिये बहुत भयानक बात होती है। जब कभी मैंने मिल-मालिकों को ऐसी विवेकहीन बातें करते सुना है, तब मैंने प्रायः उनसे यह प्रश्न किया है कि, मान लीजिये, आपको एक नये मजदूर की आवश्यकता है और इस एक जगह के लिये दो मजदूर आपके पास आते हैं, और दोनों की योग्यता अन्य सब बातों में तो एक सी है, पर एक मजदूर का एक अंगूठा या एक उंगली कटी हुई है; ऐसी हालत में आप उनमें से किस मजदूर को नौकर रखेंगे? इस प्रश्न का उत्तर देने में मालिकों को कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई..." कारख़ानेदारों ने सुन रखा है कि "यह क़ानून झूठमूठ की परोपकारी भावना से प्रेरित होकर बनाया गया है, और उसके ख़िलाफ़ उनके मन में बहुत से ग़लत ढंग के पूर्वग्रह हैं।" (*"Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1855"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८५५']।) ये कारख़ानेदार बड़े होशियार लोग हैं, और ग़ुलामों के मालिकों के विद्रोह के सम्बंध में उन्होंने जो उत्साह दिखाया था, वह अकारण नहीं था।

[2] जिन फ़ैक्टरियों पर सबसे अधिक समय से फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हैं, उनमें श्रम के घण्टों के अनिवार्य रूप से सीमित कर दिये जाने तथा अन्य नियमों के फलस्वरूप बहुत सी पुरानी बुराइयां अब दूर हो गयी हैं। मशीनों में जो सुधार हो गये हैं, उनके कारण भी कुछ हद तक यह जरूरी हो जाता है कि "मकानों का निर्माण पहले से बेहतर ढंग से किया जाये," और इससे मजदूरों का लाभ होता है। (देखिये *"Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct., 1863"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'], पृ० १०९।)

## अनुभाग ५ – मज़दूर और मशीन के बीच चलने वाला संघर्ष

पूंजीपति और मज़दूर का संघर्ष पूंजी के जन्म के साथ ही शुरू हुआ। हस्तनिर्माण के समूचे काल में यह प्रकोप दिखाता रहा।[1] लेकिन यह बात केवल मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो जाने के बाद ही देखने में आयी है कि मज़दूर खुद श्रम के औज़ार से – पूंजी के मूर्त रूप से – लड़ने लगा है। साधनों का यह विशिष्ट रूप चूंकि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का भौतिक आधार होता है, इसलिये मज़दूर उसके ख़िलाफ़ विद्रोह कर उठता है।

१७ वीं सदी में लगभग पूरे योरप में रिबन-करघे के ख़िलाफ़ मज़दूरों के विद्रोह हुए थे। यह मशीन फ़ीते और झालर बनाने के काम में आती थी और जर्मनी में Bandmühle, Schnurmühle और Mühlenstuhl कहलाती थी। इन मशीनों का आविष्कार जर्मनी में हुआ था। एक पुस्तक में, जो वेनिस से १६३६ में प्रकाशित हुई थी, पर जो लिखी १५७९ में गयी थी, पादरी लैंसेलोत्ती ने लिखा है: "डांज़िग-निवासी एंथनी मुलर ने लगभग ५० वर्ष हुए उस शहर में एक बहुत ही बढ़िया मशीन देखी थी, जो ४ से लेकर ६ टुकड़े तक एक बार में बुन डालती थी। लेकिन शहर के मेयर को यह डर था कि इस आविष्कार के फलस्वरूप कहीं बहुत से मज़दूर सड़कों पर बेकार न फिरें, और चुनांचे उसने गुप्त रूप से आविष्कारक का गला घुटवाकर या उसे नदी में फिंकवाकर मार डाला।" लेडेन में यह मशीन पहली बार १६२९ में इस्तेमाल हुई। वहां फ़ीते तैयार करने वाले बुनकरों के बलवों ने आख़िर शहर की कौंसिल को उसपर प्रतिबंध लगाने के लिये मज़बूर कर दिया। लेडेन में इस मशीन का इस्तेमाल पहले-पहल किस तरह शुरू हुआ, इसका ज़िक्र करते हुए बोक्सहोर्न ने अपनी रचना "*Institutiones Politicae*" (१६६३) में लिखा है: "In hac urbe, ante hos viginti circiter annos instrumentum quidam invenerunt textorium, quo solus plus panni et facilius conficere poterat, quam plures aequali tempore. Hinc turbae ortae et querulae textorum, tandemque usus hujus instrumenti a magistratu prohibitus est" ("इस शहर में लगभग बीस वर्ष हुए बुनाई की एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ था, जिससे एक आदमी इतने फ़ीते तैयार कर डालता था, जितने पहले उतने ही समय में बहुत से आदमी नहीं तैयार कर पाते

---

[1] अन्य पुस्तकों के अलावा देखिये जान हाउटन की रचना 'उन्नत खेती और व्यापार' (John Houghton, "*Husbandry and Trade Improved*", London, 1727) तथा "*The Advantages of the East India Trade, 1720*" ('ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ, १७२०') और जान बैलेर्स की वह पुस्तक जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं (John Bellers, "*Proposals for Raising a College of Industry*", London, 1696)। "मालिक और उनके मज़दूर दुर्भाग्यवश सदा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। मालिकों की इच्छा हमेशा यह होती है कि अपना काम अधिक से अधिक सस्ते में करा लें, और इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये वे हर तरह की जुगत से काम लेते हैं। उधर मज़दूरों को उतनी ही फ़िक्र इस बात की रहती है कि मौक़ा हाथ आते ही अपने मालिकों को अपनी पहले से बढ़ी हुई मांगों को मानने के लिये मजबूर कर दें।" ("*An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions*" ['खाद्य-पदार्थों के वर्तमान ऊंचे दामों के कारणों की जांच'], पृ० ६१-६२। इस पुस्तक के लेखक, पादरी नथेनियल फ़ोर्स्टर, मज़दूरों के ख़ासे पक्षपाती हैं।)

थे, और ये फ़ीते पहले से बेहतर क़िस्म के होते थे। चुनांचे स्थानीय पैमाने पर अनेक उपद्रव होने लगे, बुनकरों ने शोर मचाया, और आख़िर शहर की कौंसिल ने इस औज़ार के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया")। १६३२, १६३९ आदि में इस करघे पर न्यूनाधिक रूप में प्रतिबंध लगाने वाले अनेक आदेश जारी करने के बाद हालैण्ड की स्टेट्स-जनरल ने आख़िर १५ दिसम्बर १६६१ के आदेश के ज़रिये कुछ शर्तों के साथ उसके उपयोग की इजाज़त दे दी। १६७६ में कोलोन में भी इस औज़ार पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इंगलैण्ड में इसी समय उसके उपयोग के फलस्वरूप मजदूरों के उपद्रव हो रहे थे। १९ फ़रवरी १६८५ के एक शाही फ़रमान के ज़रिये सारे जर्मनी में उसके इस्तेमाल की मनाही कर दी गयी। हैम्बर्ग में सेनेट के हुक्म पर उसे सार्वजनिक रूप से जलाया गया। सम्राट् चार्ल्स छठे ने ६ फ़रवरी १७१९ को १६८५ के आदेश को फिर से जारी किया, और सैक्सोनी की एलेक्टोरट में १७६५ तक उसका खुल्लमखुल्ला इस्तेमाल करने की इजाज़त नहीं दी गयी। यह मशीन, जिसने योरप की नींव हिला दी, असल में म्यूल की और शक्ति से चलने वाले करघे की और १८ वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति की पूर्वज थी। उसकी मदद से एक सर्वथा अनुभवहीन लड़का केवल करघे की मूठ को आगे-पीछे करके उसकी सारी ढरकियों सहित पूरे करघे में गति पैदा कर सकता था, और इस मशीन का सुधरा हुआ रूप एक बार में ४० से ५० टुकड़े तक तैयार कर डालता था।

लन्दन के नज़दीक एक डच व्यक्ति ने हवा से चलने वाली लकड़ी चीरने की एक मशीन लगा रखी थी। १६३० के लगभग उसे लोगों ने नष्ट कर डाला। यहां तक कि १८ वीं सदी के शुरू में भी पानी से चलने वाली लकड़ी चीरने की मशीन बहुत मुश्किल से ही संसद का समर्थन पाने वाली जनता के विरोध पर क़ाबू पा सकी। १७५८ में एवेरेट ने पानी की शक्ति से चलने वाली ऊन कतरने की पहली मशीन बनाकर खड़ी ही की थी कि १ लाख ऐसे व्यक्तियों ने, जो बेकार हो गये थे, उसमें आग लगा दी। पचास हज़ार मजदूरों ने, जो पहले ऊन धुनकर जीविका कमाया करते थे, आर्कराइट की बनायी हुई धुनने और तूमने की मशीनों के ख़िलाफ़ संसद को एक दरख़ास्त भेजी। वर्तमान शताब्दी के पहले पन्द्रह वर्षों में इंगलैण्ड के कल-कारख़ानों वाले डिस्ट्रिक्टों में मुख्यतया शक्ति से चलने वाले करघे का उपयोग आरम्भ हो जाने के कारण बड़े विशाल पैमाने पर मशीनों को नष्ट किया गया था। यही आन्दोलन लुड्डाइट आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उससे सिडमाउथ, कैसलरीह और उन सरीखे व्यक्तियों की जैकोबिन-विरोधी सरकारों को बल-प्रयोग के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी क़दम उठाने का बहाना मिल गया। काफ़ी समय बीत जाने और बहुत-कुछ अनुभव प्राप्त करने के बाद ही मजदूर यह समझ पाये कि मशीनों में और पूंजी के द्वारा मशीनों के उपयोग में भेद होता है और उन्हें उत्पादन के भौतिक औज़ारों पर नहीं, बल्कि उनके उपयोग की प्रणाली पर अपने प्रहार करने चाहिये।[1]

हस्तनिर्माण में मजदूरी के सवाल पर होने वाले झगड़े हस्तनिर्माण के अस्तित्व को पहले से मान लेते थे, और उनका उद्देश्य किसी भी अर्थ में हस्तनिर्माण के अस्तित्व पर प्रहार करना नहीं होता था। नये हस्तनिर्माणों की स्थापना का विरोध शिल्पी संघों तथा विशेषाधिकार

---

[1] पुराने ढंग के उद्योगों में मशीनों के ख़िलाफ़ मजदूरों के बलवे आज भी यदा-कदा बर्बर स्वरूप धारण कर लेते हैं। मसलन १८६५ में शेफ़ील्ड के रेती बनाने वालों के उपद्रव का रूप भी ऐसा ही हो गया था।

प्राप्त नगरों की ओर से होता था, न कि मजदूरों की ओर से। इसीलिये, हस्तनिर्माण के काल के लेखक काम में लगे हुए मजदूरों का स्थान ले लेने के साधन के रूप में नहीं, बल्कि मुख्यतया मजदूरों की कमी को पूरा करने के साधन के रूप में श्रम-विभाजन की चर्चा करते हैं। यह भेद स्वतःस्पष्ट है। यदि यह कहा जाये कि आजकल इंगलैण्ड में ५,००,००० व्यक्ति म्यूलों के द्वारा जितनी कपास कातते हैं, उतनी कपास पुराने चर्खे से कातने के लिये १० करोड़ आदमियों की आवश्यकता होगी, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि म्यूलों ने उन करोड़ों आदमियों का स्थान ले लिया है, जो कभी पैदा नहीं हुए थे। इसका केवल यह अर्थ होता है कि कताई की मशीनों का स्थान लेने के लिये कई करोड़ आदमियों की जरूरत होगी। दूसरी ओर, यदि हम यह कहते हैं कि इंगलैण्ड में शक्ति से चलने वाले करघे ने ८,००,००० बुनकरों को बेरोजगार कर दिया, तो हम पहले से मौजूद किन्हीं मशीनों का जिक्र नहीं करते, जिनका स्थान मजदूरों की एक निश्चित संख्या को लेना होगा, बल्कि पहले से मौजूद उन बुनकरों की संख्या का जिक्र करते हैं, जिनका स्थान सचमुच करघों ने ले लिया था या जिनको उन्होंने बेकार कर दिया था। हस्तनिर्माण के काल का आधार भी दस्तकारी का श्रम ही था, हालांकि उसमें श्रम-विभाजन ने कुछ परिवर्तन कर दिया था। मध्य युग से विरासत में मिले हुए शहरी कारीगरों की अपेक्षाकृत छोटी संख्या के कारण नयी औपनिवेशिक मण्डियों की मांगों को संतुष्ट करना सम्भव न था। और जिनको वास्तव में हस्तनिर्माण कहा जा सकता था, ऐसे व्यवसायों ने देहात की उस आबादी के लिये उत्पादन के नये क्षेत्र खोल दिये थे, जिसे सामन्ती व्यवस्था के विसर्जन ने जमीन से भगा दिया था। इसलिये उस वक़्त वर्कशाप के भीतर पाये जाने वाले श्रम-विभाजन तथा सहकारिता की ओर इस सकारात्मक दृष्टि से अधिक देखा जाता था कि इन चीजों से मजदूरों का श्रम अधिक उत्पादक हो जाता है।[1] आधुनिक उद्योग के काल के बहुत पहले सहकारिता और चन्द आद-

[1] सर जेम्स स्टीवर्ट ने भी मशीनों को ठीक इसी अर्थ में समझा है। "Je considère donc les machines comme des moyens d'augmenter (virtuellement) le nombre des gens industrieux qu'on n'est pas obligé de nourrir... En quoi l'effet d'une machine diffère-t-il de celui de nouveaux habitants?" ["इसलिये मैं मशीनों को मेहनत करने वालों की संख्या को बढ़ाने का एक ऐसा साधन समझता हूं, जिसमें नये मजदूरों को खिलाने-पिलाने का खर्चा बर्दाश्त नहीं करना पड़ता . . . मशीनों का प्रभाव आबादी के बढ़ने के प्रभाव से किस बात में भिन्न होता है?"] (Sir James Steuart, *"An Inquiry into the Principles of Political Economy"* ['अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की जांच'], फ़्रांसीसी अनुवाद, खण्ड १, पुस्तक १, अध्याय १६।) इससे अधिक भोलेपन का परिचय पेटी देते हैं। वह कहते हैं कि मशीनें "बहुपत्नी प्रथा" का स्थान ले लेती हैं। यह दृष्टिकोण अधिक से अधिक संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागों पर ही लागू होता है। दूसरी ओर, "किसी एक व्यक्ति का श्रम कम करने के उद्देश्य से मशीनों का बहुत मुश्किल से ही कभी सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। उनके उपयोग से जितने समय की बचत होगी, उससे अधिक समय उनके बनाने में जाया हो जायेगा। मशीनें केवल उसी हालत में उपयोगी होती हैं, जब वे लोगों की बड़ी संख्या पर प्रभाव डालती हैं और जब एक मशीन हजारों के काम में मदद दे सकती है। चुनांचे मशीनें सबसे अधिक बहुतायत के साथ ज्यादा आबादी वाले देशों में पायी जाती हैं, जहां बेकार लोगों की संख्या

मियों के हाथों में श्रम के औजारों का केन्द्रीकरण हो जाने के फलस्वरूप अनेक ऐसे देशों में, जिनमें इन तरीक़ों को खेती में इस्तेमाल किया गया था, उत्पादन की प्रणालियों में बड़ी-बड़ी आकस्मिक क्रान्तियां जबर्दस्ती हो गयी थीं और उनके फलस्वरूप देहात की आबादी के जीवन की परिस्थितियों में और उसके जीविका के साधनों में भी बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये थे। लेकिन शुरू-शुरू में यह संघर्ष पूंजी और मजदूरों की अपेक्षा बड़े और छोटे भू-स्वामियों के बीच ज्यादा होता है। दूसरी ओर, जब मजदूरों का स्थान श्रम के औजार – या भेड़ें और घोड़े आदि – ले लेते हैं, तब ऐसी स्थिति में शुरू-शुरू में औद्योगिक क्रान्ति की भूमिका के रूप में प्रत्यक्ष रूप से बल का प्रयोग किया जाता है। पहले मजदूरों को जमीन से खदेड़ दिया जाता है, फिर भेड़ें आ जाती हैं। बड़े पैमाने की खेती की स्थापना के लिये क्षेत्र तैयार करने की क्रिया में पहला क़दम जमीन की बड़े पैमाने की नोच-खसोट होती है, जैसी कि इंगलैण्ड में हुई थी।[1] इसलिये खेती में होने वाला यह उलट-फेर शुरू-शुरू में राजनीतिक क्रान्ति अधिक प्रतीत होता है।

जब श्रम का औजार मशीन का रूप धारण कर लेता है, तब वह तत्काल ही खुद मजदूर का प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है।[2] मशीनों के द्वारा पूंजी का अपने आप जो विस्तार होता है, वह इसके बाद से उन मजदूरों की संख्या के अनुलोम अनुपात में होता है, जिनकी जीविका के साधनों को इन मशीनों ने नष्ट कर दिया है। पूंजीवादी उत्पादन की पूरी व्यवस्था इस तथ्य पर आधारित है कि मजदूर अपनी श्रम-शक्ति को माल के रूप में बेचता है। श्रम-विभाजन इस श्रम-शक्ति को एक खास औजार से काम लेने की निपुणता में परिणत करके उसका विशिष्टीकरण कर देता है। जैसे ही इस औजार से काम लेना किसी मशीन का कार्य बन जाता है, वैसे ही मजदूर की श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य के साथ-साथ उसका विनिमय-मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। उस काग़ज़ी मुद्रा की तरह, जिसे क़ानून बनाकर चलन के बाहर फेंक दिया गया है, यह मजदूर भी अब बिकने के लायक़ नहीं रहता। इस प्रकार, मशीनें मजदूर-वर्ग के जिस भाग को फ़ालतू बना देती हैं, अर्थात् जिस भाग की पूंजी के आत्म-विस्तार के लिये तात्कालिक आवश्यकता नहीं रहती, वह या तो मशीनों के साथ पुरानी दस्तकारियों और हस्तनिर्माणों की असमान प्रतियोगिता में परास्त होकर नेस्त-नाबूद हो जाता है और या उद्योग की उन समस्त शाखाओं में बाढ़ के पानी की तरह भर जाता है, जिनतक उसकी अधिक आसानी से पहुंच सम्भव होती है।

---

सबसे ज्यादा होती है . . . मशीनों का उपयोग आदमियों की कमी के कारण नहीं होता, बल्कि वह इस बात पर निर्भर करता है कि किस आसानी के साथ आदमियों को बड़ी संख्याओं में काम करने के लिये इकट्ठा किया जा सकता है।" (Piercy Ravenstone, "*Thoughts on the Funding System and its Effects*" [पियर्सी रैवेनस्टोन, 'निधिपन प्रणाली तथा उसके प्रभावों के विषय में कुछ विचार'], London, 1824, पृ० ४५।)

[1] [चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: यह बात जर्मनी पर भी लागू होती है। जर्मनी में जहां कहीं बड़े पैमाने की खेती पायी जाती है, यानी ख़ास तौर पर पूर्वी भाग में, वहां यह जागीरों को ख़ाली कराने ("Bauernlegen") की उस प्रथा के कारण अस्तित्व में आ सकी है, जो १६ वीं सदी से ही प्रचलित है और जिसने १६४८ के बाद से ख़ास तौर पर जोर पकड़ लिया है। – फ़्रे० एं०]

[2] "मशीनों और श्रम के बीच बराबर प्रतियोगिता चला करती है।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ४७६।)

वह श्रम की मण्डी को पाट देता है और श्रम-शक्ति के दाम को उसके मूल्य के नीचे गिरा देता है। मजदूरों को यह कहकर बहुत दिलासा दिया जाता है कि एक तो उनका कष्ट केवल अस्थायी कष्ट ("a temporary inconvenience") है और, दूसरे, मशीनें उत्पादन के किसी भी खास क्षेत्र पर बहुत धीरे-धीरे ही अधिकार करती हैं, जिससे उनके विनाशकारी प्रभाव की व्यापकता एवं तीव्रता कम हो जाती है। पहला आश्वासन दूसरे आश्वासन को खतम कर देता है। जब मशीनें किसी उद्योग पर धीरे-धीरे अधिकार करती हैं, तब उन मशीनों से प्रतियोगिता करने वाले कारीगरों को स्थायी रूप से मुसीबत आ जाती है। जब परिवर्तन तेजी से होता है, तब उसका प्रभाव बहुत तीव्र होता है और बहुत बड़ी संख्या में लोग उसके शिकार हो जाते हैं। इंगलैण्ड में हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकरों का जिस प्रकार धीरे-धीरे विनाश हुआ, उससे अधिक भयानक घटना इतिहास में और कोई नहीं मिलती। उनके विनाश की यह क्रिया कई दशकों तक चलती रही और अन्त में १८३८ में पूर्ण हुई। उनमें से बहुत से भूखों मर गये। बहुत से कुटुम्ब-परिवार वाले बुनकर बहुत समय तक ढाई पेन्स रोजाना की मजदूरी पर एड़ियां रगड़ते रहे।[1] दूसरी ओर, इंगलैण्ड की बनी हुई सूती मशीनों ने हिन्दुस्तान पर बड़ा तीव्र प्रभाव डाला। वहां के गवर्नर-जनरल ने १८३४-३५ में रिपोर्ट भेजी थी कि "जैसी

---

[1] इंगलैण्ड में हाथ की बुनाई और शक्ति की मदद से होने वाली बुनाई के बीच जो प्रतियोगिता चल रही थी, उसे १८३३ में ग़रीबों का क़ानून पास होने के पहले कुछ समय के लिये लम्बा कर दिया गया था। वह इस तरह कि जिन कारीगरों की मजदूरी आवश्यक अल्पतम से भी नीचे गिर गयी थी, उनको चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता दे दी जाती थी। "रेवरेण्ड मि० टर्नर १८२७ में कल-कारख़ानों वाले चेशायर डिस्ट्रिक्ट में विल्मस्लो नामक स्थान के पादरी थे। परावास सम्बंधी समिति के प्रश्नों तथा मि० टर्नर के उत्तरों से पता चलता है कि मशीनों के ख़िलाफ़ मानव-श्रम की प्रतियोगिता को किस तरह क़ायम रखा जाता था। 'प्रश्न: क्या शक्ति से चलने वाले करघे का उपयोग हाथ के करघे के उपयोग का स्थान नहीं ले लेता? उत्तर: निस्सन्देह वह उसका स्थान ले लेता है। यदि हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकरों को अपनी मजदूरी में कटौती मंजूर करने के लिये तैयार न कर दिया जाता, तो शक्ति से चलने वाला करघा हाथ के करघे के उपयोग का और भी अधिक स्थान ले लेता।' 'प्रश्न: लेकिन कटौती मंजूर करके बुनकर ने ऐसी मजदूरी स्वीकार कर ली है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिये अपर्याप्त है, और वह बाक़ी के लिये चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता का सहारा लेता है? उत्तर: हां, यह बात सही है; और सच पूछिये, तो हाथ के करघे और शक्ति से चलने वाले करघे की प्रतियोगिता को ग़रीबों की सहायता के लिये वसूल किये जाने वाले करों के जरिये ही जारी रखा जाता है।' इस प्रकार, मशीनों के इस्तेमाल से मेहनत करने वालों का यह लाभ होता है कि वे पतन के गड्ढे में धकेल देने वाले दिवालियापन के शिकार हो जाते हैं या परावासी बन जाते हैं और प्रतिष्ठावान तथा किसी हद तक स्वतंत्र कारीगरों से मनुष्य को अधोगति को पहुंचाने वाली दान की रोटी खाकर जिन्दा रहने वाले और सदा गिड़गिड़ाते रहने वाले मुहताजों में बदल जाते हैं। और इसे ये लोग अस्थायी असुविधा कहते हैं।" ("A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co-operation" ['प्रतियोगिता और सहकारिता के तुलनात्मक गुणों के विषय में एक पुरस्कृत निबंध'], London, 1834, पृ० २९।)

मुसीबत यहां आयी है, वाणिज्य के इतिहास में उसकी मिसाल मिलनी मुश्किल है। हिन्दुस्तान के मैदान सूती कपड़ा बुनने वालों की हड्डियों से सफ़ेद हो गये हैं।" इन बुनकरों को इस "नश्वर" संसार से विदा करके मशीनों ने निस्सन्देह उन्हें केवल "एक अस्थायी असुविधा" दी थी। फिर मशीनें चूंकि सदा उत्पादन के नये क्षेत्रों पर अधिकार जमाया करती हैं, इसलिये उनका अस्थायी प्रभाव वास्तव में स्थायी होता है। इसलिये, मोटे तौर पर, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली मजदूर के मुक़ाबले में श्रम के औजारों को स्वतंत्रता और अलगाव का जो स्वरूप दे देती है, वह मशीनों के द्वारा विकसित होकर भरपूर विरोध बन जाता है।[1] अतएव मशीनों के आने के बाद ही मजदूर पहली बार श्रम के औजारों के ख़िलाफ़ उग्र विद्रोह करता है।

श्रम का औज़ार मजदूर को धराशायी कर देता है। जब कभी मशीनें नयी-नयी इस्तेमाल होती हैं और उनकी पुराने वक़्तों से विरासत में मिली दस्तकारियों और हस्तनिर्माणों से प्रतियोगिता आरम्भ होती है, तब मजदूर और श्रम के औज़ार का यह प्रत्यक्ष विरोध सबसे अधिक स्पष्ट रूप में सामने आता है। मगर आधुनिक उद्योग में भी मशीनों के निरन्तर सुधार और स्वचलन की प्रणाली के विकास का सदृश प्रभाव होता है। "उन्नत मशीनों का उद्देश्य यह होता है कि हाथ के श्रम को कम कर दें और इस बात की व्यवस्था करें कि कोई क्रिया या उत्पादन की कोई कड़ी मानव-उपकरण के बजाय लोहे के बने उपकरण की सहायता से सम्पन्न हो जाया करे।"[2] "अभी तक हाथ से चलायी जाने वाली मशीन को अब शक्ति द्वारा चलाना — यह लगभग रोजमर्रा की बात हो गयी है... मशीनों में इस तरह के छोटे-छोटे सुधार, जिनका उद्देश्य यह होता है कि शक्ति के खर्च में बचत हो, उतने ही समय में पहले से ज्यादा काम निकले, या मशीन किसी बच्चे का, स्त्री का या पुरुष का स्थान ले ले, — इस तरह के सुधार बराबर होते रहते हैं और यद्यपि ऊपर से देखने में उनका बहुत महत्व मालूम नहीं होता, तथापि उनके परिणाम बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं।"[3] "जब कभी किसी क्रिया में एक ख़ास तरह की पटुता और हाथ की मजबूती की आवश्यकता होती है, तब उसे जितनी जल्दी सम्भव होता है, चतुर मजदूर के हाथ से निकाल लिया जाता है, जिसके अनेक प्रकार की अनियमितताएं करने की सम्भावना रहती है। यह क्रिया एक ख़ास तरह के ऐसे यंत्र को सौंप दी जाती है,

---

[1] "जिस कारण से देश का राजस्व" (अर्थात्, जैसा कि रिकार्डो ने इसी अंश में समझाया है, जमींदारों और पूंजीपतियों की आय, क्योंकि आर्थिक दृष्टिकोण से वही Wealth of the Nation [राष्ट्र की दौलत] होती है) "बढ़ सकता है, उसी का साथ-साथ यह भी नतीजा हो सकता है कि आबादी फ़ालतू और मजदूर की हालत ख़राब हो जाये।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ४६९।) "मशीनों में जो भी सुधार होता है, उसका निरन्तर यह उद्देश्य और यह प्रवृत्ति होती है कि मनुष्य के श्रम की तनिक भी आवश्यकता न रहे या वयस्क पुरुषों के श्रम के स्थान पर स्त्रियों और बच्चों के श्रम का अथवा निपुण मजदूरों के श्रम की जगह पर अनिपुण मजदूरों के श्रम का उपयोग करके श्रम का दाम घटा दिया जाये।" (Ure, उप० पु०, ग्रंथ १, पृ० ३५।)

[2] *"Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1858"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५८'), पृ० ४३।

[3] *"Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1856"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० १५।

जो इस हद तक खुद अपना नियमन कर लेता है कि एक बच्चा भी उसकी देखरेख का काम कर सकता है।"[1] "स्वचालित प्रणाली चालू होने पर निपुण श्रम अधिकाधिक स्थान-च्युत होता जाता है।"[2] "मशीनों में जो सुधार होते हैं, उनका केवल यही असर नहीं होता कि एक खास तरह की पैदावार तैयार करने के लिये वयस्क श्रम की पहले जितनी मात्रा से काम लेने की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि उसका यह असर भी होता है कि एक प्रकार के मानव-श्रम के स्थान पर दूसरे प्रकार के मानव-श्रम से – अधिक निपुण श्रम के स्थान पर कम निपुण श्रम से, वयस्क श्रम के स्थान पर बच्चों के श्रम से, पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों के श्रम से – काम लिया जाने लगता है। और इस सब का यह नतीजा होता है कि मजदूरी की दर में नयी गड़बड़ पैदा हो जाती है।"[3] "साधारण म्यूल के स्थान पर स्वचालित म्यूल लगा देने का असर यह होता है कि कताई करने वाले अधिकतर पुरुषों को जवाब दे दिया जाता है और लड़के-लड़कियों तथा बच्चों को बरक़रार रखा जाता है।"[4] जब काम का दिन पहले से छोटा कर दिया गया था, तब उसके दबाव के फलस्वरूप फ़ैक्टरी-व्यवस्था ने जिन लम्बे डगों से प्रगति की थी, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि संचित व्यावहारिक अनुभव, तैयार यांत्रिक साधनों और अनवरत प्राविधिक प्रगति के कारण फ़ैक्टरी-व्यवस्था का कैसे असाधारण वेग से विस्तार होने लगता है। परन्तु १८६० में भी, जो कि इंगलैण्ड के सूती उद्योग के चरमोत्कर्ष का वर्ष था, कौन यह कल्पना कर सकता था कि अगले तीन साल में अमरीकी गृह-युद्ध का अंकुश लगने के फलस्वरूप मशीनों में इस तूफ़ानी गति से सुधार होंगे और उनके परिणामस्वरूप मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या को काम से जवाब मिल जायेगा? इस विषय के सम्बंध में फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों से कुछ उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। मानचेस्टर के एक कारख़ानेदार ने कहा है: "हमारे पास पहले बुनने की ७५ मशीनें थीं, अब १२ हैं, जो पहले जितना ही काम करती हैं... अब हम पहले

[1] Ure, उप० पु०, पृ० १६। "ईंटें बनाने में जो मशीनें इस्तेमाल की जाती हैं, उनका यह बहुत बड़ा लाभ होता है कि मालिक निपुण मजदूरों से पूर्णतया स्वतंत्र हो जाता है।" (*"Ch. Empl. Comm. V Report"* ['बाल-सेवायोजन आयोग की पांचवीं रिपोर्ट'], London, 1866, पृ० १३०, अंक ४६।) Great Northern Railway के मशीन विभाग के अधीक्षक, मि० स्टुर्रोक ने रेल के इंजन आदि के निर्माण के बारे में कहा है: "दिन प्रति दिन महंगे (expensive) अंग्रेज मजदूरों को अधिकाधिक कम इस्तेमाल किया जा रहा है। इंगलैण्ड की वर्कशापों में पहले से बेहतर औज़ारों के इस्तेमाल के ज़रिये उत्पादन बढ़ाया जा रहा है, और इन औज़ारों के लिये निम्न कोटि के श्रम (a low class of labour) की आवश्यकता होती है... पहले इंजनों के सभी पुर्ज़े अनिवार्य रूप से मजदूरों के निपुण श्रम द्वारा तैयार किये जाते थे। अब इंजनों के पुर्ज़े कम निपुण श्रम से तैयार हो जाते हैं, पर औज़ार अच्छे इस्तेमाल किये जाते हैं। औज़ारों से मेरा मतलब इंजीनियर की मशीनों, ख़राद, रंदा करने वाली मशीनों, बरमों और इसी तरह के अन्य यंत्रों से है।" (*"Royal Com. on Railways"* ['रेलों की जांच का शाही कमीशन'], London, 1867, Minutes of Evidence [साक्ष्य-विवरण], नोट १७,८६२ और १७,८६३।)

[2] Ure, उप० पु०, पृ० २०।

[3] Ure, उप० पु०, पृ० ३२१।

[4] Ure, उप० पु०, पृ० २३।

से १४ कम मजदूरों से काम ले रहे हैं, जिससे मजदूरी में १० पौण्ड प्रति सप्ताह की बचत हो जाती है। हमारा अनुमान है कि जितनी कपास हम इस्तेमाल करते हैं, उसमें अब पहले से १० प्रतिशत कम कपास जाया हुआ करेगी।" "मानचेस्टर की एक दूसरी महीन कताई करने वाली मिल में मुझे बताया गया कि रफ़्तार को बढ़ाकर और कुछ स्वचालित क्रियाओं के उपयोग के द्वारा एक विभाग के मजदूरों की संख्या में चौथाई की कमी कर दी गयी है, एक दूसरे विभाग में आधे से ज्यादा मजदूर हटा दिये गये हैं, और दूसरी धुनाई की मशीन के स्थान पर तूमने की मशीन का इस्तेमाल करके धुनाई-विभाग में पहले जितने आदमी काम करते थे, उनमें काफ़ी कमी कर दी गयी है।" अनुमान है कि कताई करने वाली एक और मिल श्रम में १० प्रतिशत की बचत करने में सफल हुई है। मानचेस्टर में कताई का व्यवसाय करने वाली फ़र्म मेसर्स गिल्मूर ने बताया है: "हमारा विचार है कि हमारे blowing department (हवा-घर) में नयी मशीनों के फलस्वरूप मजदूरी और मजदूरों के खर्च में पूरी एक तिहाई की कमी हो गयी है... जैक-फ्रेम और ड्राइंग-फ्रेम वाले विभाग का खर्चा लगभग एक तिहाई कम हो गया है और मजदूरों की संख्या में भी एक तिहाई की कमी हो गयी है; कताई-विभाग के खर्चे में क़रीब एक तिहाई की कमी आ गयी है। परन्तु इतना ही सब नहीं है। जब हमारा सूत कारखानेदारों के पास पहुंचेगा, तो नयी मशीनों के प्रयोग के फलस्वरूप वह पहले से इतना बेहतर सूत होगा कि वे लोग पुरानी मशीनों से तैयार किये हुए सूत से जितना और जैसा कपड़ा तैयार किया करते थे, अब उससे कहीं अधिक और कहीं बेहतर क़िस्म का कपड़ा तैयार कर सकेंगे।"[1] इसी रिपोर्ट में मि० रेडग्रेव ने आगे कहा है: "उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ मजदूरों की संख्या में, असल में, बराबर कमी होती जा रही है। ऊनी मिलों में यह कमी कुछ समय पहले ही शुरू हो गयी थी और अब भी जारी है। चन्द दिन पहले की बात है कि रोशडेल के पास के एक स्कूल के मास्टर ने मुझे बताया कि लड़कियों के स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या में जो भारी कमी हो गयी है, उसका कारण केवल संकट ही नहीं है, बल्कि उसका कारण यह भी है कि ऊनी मिलों की मशीनों में बहुत सी तबदीलियां हो गयी हैं, जिनके परिणामस्वरूप कम समय काम करने वाले ७० मजदूरों की छटनी हो गयी है।"[2]

---

[1] *"Rep. Insp. Fact., 31st Oct., 1863"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६३'), पृ० १०८, १०९।

[2] उप० पु०, पृ० १०९। कपास-संकट के समय मशीनों में बहुत तेज़ी से जो सुधार हुए, उनकी मदद से अंग्रेज़ कारखानेदारों ने अमरीकी गृह-युद्ध समाप्त होने के तत्काल बाद ही और देखते ही देखते एक बार फिर सारी दुनिया की मंडियों को अपने माल से पाट दिया। १८६६ के अन्तिम छः महीनों में यह हालत हो गयी थी कि कपड़े को बेच सकना लगभग असम्भव हो गया था। तब हिन्दुस्तान और चीन को माल भेजना शुरू हुआ, जिससे स्वभावतया मंडियों में मालों की इफ़रात और भी बढ़ गयी। १८६७ के शुरू में कारखानेदारों ने इस कठिनाई से निकलने के लिये उसी उपाय का सहारा लिया, जिसका वे अक्सर सहारा लिया करते हैं,—यानी उन्होंने मजदूरों की मजदूरी में ५ प्रतिशत की कटौती कर दी। मजदूरों ने इसका विरोध किया और कहा कि समस्या का एकमात्र हल यह है कि उनसे कम समय काम लिया जाये और सप्ताह में ४ दिन काम कराया जाये। और मजदूरों की बात ही सही थी। उद्योग के आत्म-नियुक्त सेनापति मालिक कुछ समय तक तो अपनी बात पर डटे रहे, पर बाद

निम्नलिखित तालिका से पता चलेगा कि अमरीकी गृहयुद्ध के कारण इंगलैण्ड के सूती उद्योग में जो यांत्रिक सुधार किये गये, उनका कुल मिलाकर क्या परिणाम हुआ।

**फ़ैक्टरियों की संख्या**

| | १८५८ | १८६१ | १८६८ |
|---|---|---|---|
| इंगलैण्ड और वेल्स | २,०४६ | २,७१५ | २,४०५ |
| स्काटलैण्ड | १५२ | १६३ | १३१ |
| आयरलैण्ड | १२ | ९ | १३ |
| संयुक्तांगल राज्य | २,२१० | २,८८७ | २,५४९ |

**शक्ति से चलने वाले करघों की संख्या**

| | १८५८ | १८६१ | १८६८ |
|---|---|---|---|
| इंगलैण्ड और वेल्स | २,७५,५९० | ३,६८,१२५ | ३,४४,७१९ |
| स्काटलैण्ड | २१,६२४ | ३०,११० | ३१,८६४ |
| आयरलैण्ड | १,६३३ | १,७५७ | २,७४६ |
| संयुक्तांगल राज्य | २,९८,८४७ | ३,९९,९९२ | ३,७९,३२९ |

**तकुओं की संख्या**

| | १८५८ | १८६१ | १८६८ |
|---|---|---|---|
| इंगलैण्ड और वेल्स | २,५८,१८,५७६ | २,८३,५२,१५२ | ३,०४,७८,२२८ |
| स्काटलैण्ड | २०,४१,१२९ | १९,१५,३९८ | १३,९७,५४६ |
| आयरलैण्ड | १,५०,५१२ | १,१९,९४४ | १,२४,२४० |
| संयुक्तांगल राज्य | २,८०,१०,२१७ | ३,०३,८७,४६४ | ३,२०,००,०१४ |

**फ़ैक्टरियों में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या**

| | १८५८ | १८६१ | १८६८ |
|---|---|---|---|
| इंगलैण्ड और वेल्स | ३,४१,१७० | ४,०७,५९८ | ३,५७,०५२ |
| स्काटलैण्ड | ३४,६९८ | ४१,२३७ | ३९,८०९ |
| आयरलैण्ड | ३,३४५ | २,७३४ | ४,२०३ |
| संयुक्तांगल राज्य | ३,७९,२१३ | ४,५१,५६९ | ४,०१,०६४ |

---

में उनको मज़दूरों से कम समय काम लेने के लिये राज़ी होना पड़ा। कुछ स्थानों में मालिकों ने काम का समय कम करने के साथ-साथ मज़दूरी भी घटा दी, अन्य स्थानों में मज़दूरी वही रही, मगर समय घट गया।

इस तरह, १८६१ और १८६८ के बीच ३३८ सूती फ़ैक्टरियां ग़ायब हो गयीं। दूसरे शब्दों में, पहले से बड़े पैमाने की अधिक उत्पादक मशीनें पूंजीपतियों की पहले से छोटी संख्या के हाथों में केन्द्रित हो गयीं। शक्ति से चलने वाले करघों की संख्या में २०,६६३ की कमी आ गयी। लेकिन इसी काल में चूंकि उनकी पैदावार पहले से बढ़ गयी, इसलिये इसका यही मतलब है कि सुधरे हुए करघे के द्वारा पुराने करघे की अपेक्षा अधिक पैदावार होने लगी होगी। अन्तिम बात यह है कि तकुओं की संख्या में तो १६,१२,५४१ की वृद्धि हो गयी, पर मजदूरों की संख्या में ५०,५०५ की कमी आ गयी। कपास के संकट ने मजदूरों पर जो "अस्थायी" मुसीबत ढायी थी, वह मशीनों की तेज एवं अनवरत प्रगति के फलस्वरूप और भी बढ़ गयी और अस्थायी से स्थायी मुसीबत बन गयी।

परन्तु मशीनें न केवल मजदूर के एक ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का ही काम करती हैं, जो मजदूर को परास्त कर देता है और जो उसे सदा बेकार बना देने पर तुला रहता है, वे मजदूर से बैर रखने वाली एक शक्ति का भी काम करती हैं। पूंजी ढोल पीटकर इस बात का ऐलान और इसी रूप में मशीनों का उपयोग किया करती है। हड़तालों को, पूंजी के निरंकुश शासन के खिलाफ़ मजदूर-वर्ग के समय-समय पर फूट पड़ने वाले उन विद्रोहों को कुचलने का सबसे शक्तिशाली अस्त्र मशीनें होती हैं।[1] गैस्केल का कहना है कि भाप का इंजन शुरू से ही मानव-शक्ति का बैरी था। इसी बैरी के कारण पूंजीपति उन मजदूरों की बढ़ती हुई मांगों को अपने पैरों तले कुचलने में सफल हुआ, जिनसे नवजात फ़ैक्टरी-व्यवस्था के लिये संकट का खतरा पैदा हो गया था।[2] १८३० के बाद से आज तक पूंजी के हाथ में मजदूर-वर्ग के विद्रोहों को कुचलने के अस्त्र देने के एकमात्र उद्देश्य से कुल जितने आविष्कार हुए हैं, उनका एक अच्छा-खासा इतिहास तैयार किया जा सकता है। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण आविष्कार self-acting mule (स्वचालित म्यूल) का है, क्योंकि उसने स्वचालित यंत्र-व्यवस्था के इतिहास में एक नये युग का श्रीगणेश किया था।[3]

भाप से चलने वाले हथौड़े के आविष्कारक नाजमिथ ने मशीनों में जो सुधार किये थे, वे १८५१ की इंजीनियरों की व्यापक और लम्बी हड़तालों के फलस्वरूप व्यवहार में आये थे। नाजमिथ ने इन सुधारों के विषय में Trades' Union Commission (ट्रेड यूनियन कमीशन) के सामने यह बयान दिया था: "हमारे आधुनिक यांत्रिक सुधारों की खास विशेषता यह है कि स्वचालित औजारों वाली मशीनों का प्रयोग होने लगा है। अब यांत्रिक काम करने वाले प्रत्येक मजदूर को जैसा काम करना पड़ता है, वह एक लड़का भी कर सकता है। अब

---

[1] "बलोन-फ़्लिंट कांच की बोतलें बनाने के व्यवसाय में मालिक और मजदूर का सम्बंध एक बराबर जारी रहने वाली हड़ताल के समान होता है।" इसी कारण प्रेस्ड कांच के निर्माण को बहुत बढ़ावा मिला है, जिसमें मुख्य क्रियाएं मशीनों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। न्यूकैसल की एक फ़र्म जो पहले ३,५०,००० पौण्ड फ़्लिंट कांच तैयार किया करती थी, अब उसके स्थान पर ३०,००,५०० पौण्ड प्रेस्ड कांच तैयार करती है। ("*Ch. Empl. Comm. Fourth Rep.*, 1865" ['बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट, १८६५'], पृ० २६२-२६३।)

[2] Gaskell, "*The Manufacturing Population of England*" (गैस्केल, 'कारखानों में काम करने वाली इंगलैण्ड की आबादी'), London, 1833, पृ० ३,४।

[3] डब्ल्यू० फ़ेयरबेर्न ने मशीनों के निर्माण में मशीनों के उपयोग के कई महत्वपूर्ण ढंग निकाले थे। इसका कारण यह था कि खुद उसकी अपनी वर्कशाप में कई हड़तालें हो चुकी थीं।

उसे खुद काम नहीं करना होता, बल्कि मशीन के सुन्दर श्रम की देखरेख करनी होती है। केवल अपनी निपुणता पर निर्भर करने वाले मजदूरों का पूरा वर्ग अब समाप्त हो गया है। पहले मैं हर कारीगर के पीछे चार लड़कों को नौकर रखता था। अब इन नये यांत्रिक आविष्कारों के फलस्वरूप मैंने वयस्क मजदूरों की संख्या को १,५०० से घटाकर ७५० कर दी है। नतीजा यह हुआ है कि मेरे मुनाफ़े में काफ़ी इज़ाफ़ा हो गया है।"

छींट की छपाई में इस्तेमाल होने वाली एक मशीन का ज़िक्र करते हुए उरे ने कहा है: "आखिरकार पूंजीपतियों ने इस असहनीय दासता से" (यानी, मजदूरों के साथ किये गये क़रारों की उन शर्तों से, जो पूंजीपतियों की दृष्टि में बहुत सख्त थीं) "मुक्ति पाने के लिये विज्ञान की शक्ति का सहारा लिया, और उसके द्वारा शीघ्र ही, जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर की गौण इन्द्रियों पर शासन करता है, उसी प्रकार का पूंजीपतियों का भी न्यायोचित शासन पुनः स्थापित हो गया।" ताना तैयार करने की एक मशीन के आविष्कार की चर्चा करते हुए उरे ने लिखा है: "तब उन संघबद्ध असंतुष्ट लोगों को, जो समझते थे कि श्रम-विभाजन की पुरानी सीमा-रेखाओं के पीछे उनकी मोर्चेबंदी इतनी मजबूत है कि उसमें कोई व्यक्ति ज़रा भी दरार नहीं डाल सकता, – उनको पता चला कि शत्रु की फ़ौज बाजू से निकलकर उनके पीछे पहुंच गयी है और नयी यांत्रिक कार्य-नीति ने उनकी मोर्चेबंदी को बिल्कुल बेकार बना दिया; और तब इन लोगों को मजबूर होकर इसीमें अपनी भलाई दिखाई दी कि आत्म-समर्पण कर दें।" Self-acting mule (स्वचालित म्यूल) के आविष्कार के बारे में उरे ने कहा है: "यह आविष्कार उद्योगरत वर्गों में पुनः अनुशासन स्थापित करने का काम करेगा...यह आविष्कार उस महान सिद्धान्त की पुष्टि करता है, जिसका पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है, – वह यह कि जब कभी पूंजी विज्ञान को अपना सेवक बना लेती है, तब ढीठ मजदूरों को सदा थोड़ा विनम्रता का पाठ सीखना पड़ता है।"[1] यद्यपि उरे की यह रचना ३० वर्ष पहले, उस समय प्रकाशित हुई थी, जब फ़ैक्टरी-व्यवस्था का अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हुआ था, तथापि वह फ़ैक्टरी की भावना को आज भी पूरी तरह अभिव्यक्त करती है। कारण कि इस रचना में न केवल उसकी आस्थाहीनता सर्वथा अनावृत रूप में सामने आ जाती है, बल्कि वह पूंजीवादी मस्तिष्क के मूर्खतापूर्ण विरोधों को भी बड़े भोलेपन के साथ बिना सोचे-समझे खोलकर रख देती है। उदाहरण के लिये, इस उपर्युक्त "सिद्धान्त" का प्रतिपादन करने के बाद कि विज्ञान को अपना सेवक बनाकर पूंजी उसकी मदद से सदा ढीठ मजदूर को विनम्र बना देती है, उरे इस बात पर अपना क्रोध प्रकट करते हैं कि "उसपर (भौतिक-यांत्रिक विज्ञान पर) यह आरोप लगाया जाता है कि वह धनी पूंजीपति के हाथ में ग़रीबों को सताने का साधन बन जाता है।" फिर मशीनों के तेज़ विकास से मजदूरों को कितना लाभ होता है, इस सम्बन्ध में श्रमजीवियों को एक लम्बा उपदेश सुनाने के बाद उरे उनको चेतावनी देते हैं कि वे अपनी ज़िद्द तथा अपनी हड़तालों से विकास की इस गति को और तेज़ बना रहे हैं। उरे ने लिखा है: "इस प्रकार की तीव्र उथल-पुथल अदूरदर्शी मनुष्य को खुद अपने को सताने वाले व्यक्ति के घृणास्पद रूप में पेश करती है।" पर इसके कुछ पहले उन्होंने इसकी उल्टी बात कही है: "यदि फ़ैक्टरी-मजदूरों में पाये जाने वाले ग़लत विचारों के कारण इस तरह की तेज़ टक्करें न होतीं और काम बार-बार बीच में न रुक जाया करता, तो फ़ैक्टरी-व्यवस्था का और भी तेज़ी से विकास होता, जिससे सबको लाभ पहुंचता।" आगे उन्होंने फिर यह कहा है कि "ग्रेट ब्रिटेन के

---

[1] Ure, उप० पु०, पृ० ३६८–३७०।

सूती कपड़े की बुनाई के डिस्ट्रिक्टों की आबादी के लिये यही सौभाग्य की बात है कि वहां मशीनों में क्रमिक सुधार हो रहे हैं।" "कहा जाता है कि इनसे" (मशीनों में होने वाले सुधारों से) "वयस्क मजदूरों की कमाई की दर गिर जाती है, क्योंकि उनके एक भाग को काम से जवाब मिल जाता है और इस तरह उनके श्रम के लिये जो मांग रह जाती है, उसकी तुलना में वयस्क मजदूरों की संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती है। निश्चय ही इससे बच्चों के श्रम की मांग बढ़ जाती है और उनकी मजदूरी की दर बढ़ जाती है।" दूसरी ओर, सबको दिलासा देने वाला यह लेखक बच्चों की कम मजदूरी को इस बिना पर उचित सिद्ध करने की कोशिश करता है कि बच्चों की कम मजदूरी उनके मां-बाप को उन्हें बहुत छोटी उम्र में फ़ैक्टरी में काम करने के लिये भेजने से रोकती है। उरे की इस पूरी पुस्तक से इस बात की पुष्टि होती है कि काम के दिन की लम्बाई पर किसी प्रकार की सीमा या प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिये। यह देखकर कि संसद ने १३ वर्ष के बच्चों से १२-१२ घण्टे रोजाना काम लेकर उनको थका डालने की मनाही कर दी है, उरे की उदारपंथी आत्मा को मध्य युग के सबसे अधिक अंधकारमय दिनों की याद आ जाती है। पर फिर भी वह मजदूरों से यह कहने में नहीं चूकते कि उन्हें विधाता को इसके लिये धन्यवाद देना चाहिये कि उसने मशीनों के द्वारा उन्हें अपने "शाश्वत हितों" के बारे में सोचने का अवकाश प्रदान किया है।[1]

## अनुभाग ६ –
## मशीनों द्वारा विस्थापित मजदूरों की क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त

जेम्स मिल, मैक्कुलक, टोरेन्स, सीनियर, जान स्टुअर्ट मिल और उनके अलावा अन्य बहुत से पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों का दावा है कि ऐसी सभी मशीनें, जो मजदूरों को विस्थापित कर देती हैं, इसके साथ-साथ और अनिवार्य रूप से इतनी मात्रा में पूंजी को भी मुक्त कर देती हैं, जो ठीक इन्हीं विस्थापित मजदूरों को नौकर रखने के लिये काफ़ी होती है।[2]

मान लीजिये कि एक पूंजीपति ने क़ालीन बनाने की एक फ़ैक्टरी में १०० मजदूरों को ३० पौण्ड सालाना के वेतन पर नौकर रखा है। ऐसी हालत में उसकी अस्थिर पूंजी, जो वह हर साल लगा देता है, ३,००० पौण्ड बैठती है। यह भी मान लीजिये कि वह अपने ५० मजदूरों को जवाब दे देता है और बाक़ी ५० को नयी मशीनों पर काम करने के लिये लगा देता है, जिनपर उसे १,५०० पौण्ड खर्च करने पड़े हैं। हिसाब को सरल रखने के लिये यहां पर हम मकानों, कोयला आदि की ओर कोई ध्यान नहीं देंगे। अब यह और मान लीजिये कि कच्चे माल पर इस परिवर्तन के पहले भी और अब भी हर साल ३,००० पौण्ड खर्च होते हैं।[3] क्या इस

---

[1] Ure, उप० पु०, पृ० ३६८, ७, ३७०, २८०, २८१, ३२१, ३७०, ४७५।

[2] शुरू में रिकार्डो की भी यही राय थी, लेकिन बाद को उन्होंने अपनी उस वैज्ञानिक निष्पक्षता और सत्य के प्रेम का स्पष्ट प्रमाण देते हुए, जो उनके ख़ास गुण थे, साफ़ तौर पर यह कह दिया था कि उन्होंने अपना पुराना मत त्याग दिया है। देखिये उप० पु०, अध्याय XXXI (इकतीस), "*On Machinery*"।

[3] पाठक को यह याद रखना चाहिये कि मैंने यहां बिलकुल उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों के ढंग का ही उदाहरण दिया है।

रूपान्तरण से कोई पूंजी मुक्त हो जाती है? परिवर्तन के पहले ६,००० पौण्ड की कुल पूंजी का आधा भाग स्थिर पूंजी का और आधा अस्थिर पूंजी का था। परिवर्तन के बाद उसमें ४,५०० पौण्ड स्थिर पूंजी के होते हैं (३,००० पौण्ड कच्चे माल के और १,५०० पौण्ड मशीनों के) और १,५०० पौण्ड अस्थिर पूंजी के। यानी अस्थिर पूंजी कुल पूंजी की आधी होने के बजाय केवल चौथाई रह जाती है। पूंजी का मुक्त होना तो दूर रहा, यहां उल्टे उसका एक भाग इस तरह फंस जाता है कि उसका श्रम-शक्ति से विनिमय नहीं किया जा सकता। अस्थिर पूंजी स्थिर पूंजी में बदल जाती है। यदि अन्य बातें समान रहें, तो ६,००० पौण्ड की पूंजी भविष्य में ५० आदमियों से ज्यादा को नौकर नहीं रख पायेगी। मशीनों में होने वाले प्रत्येक सुधार के साथ वह पहले से कम मजदूरों को नौकर रखती है। यदि नयी मशीनों पर उतना खर्च नहीं होता, जितना उस श्रम-शक्ति तथा उन औज़ारों पर होता था, जिनका इन नयी मशीनों ने स्थान ले लिया है, यदि, उदाहरण के लिये, १,५०० पौण्ड के बजाय नयी मशीनों पर केवल १,००० पौण्ड ही खर्च होते हैं, तब १,००० पौण्ड की अस्थिर पूंजी तो स्थिर पूंजी में बदल जायेगी और ५०० पौण्ड की पूंजी मुक्त हो जायेगी। यदि यह मान लिया जाये कि मजदूरी में कोई तबदीली नहीं होती, तो यह दूसरी रक़म इसके लिये काफ़ी होगी कि जिन ५० मजदूरों को काम से जवाब मिल गया है, उनमें से लगभग १६ को फिर से नौकर रख लिया जाये। नहीं, बल्कि १६ से भी कम को ही नौकर रखा जा सकेगा, क्योंकि ५०० पौण्ड की इस रक़म को पूंजी के रूप में इस्तेमाल होने के लिये इसके एक हिस्से को अब स्थिर पूंजी बन जाना होगा, और उसके बाद जो कुछ बचेगा, केवल वही श्रम-शक्ति पर खर्च किया जा सकेगा।

लेकिन इसके अलावा यह भी मान लीजिये कि नयी मशीनें बनाने में पहले से अधिक यान्त्रिकों को नौकरी मिल जाती है। तब क्या यह कहा जा सकता है कि जिन क़ालीन बनाने वाले कारीगरों की रोज़ी छिन गयी है, इस तरह उनकी क्षति-पूर्ति हो जायेगी? अधिक से अधिक अनुकूल परिस्थितियों में भी मशीनों के उपयोग से जितने मजदूरों को जवाब मिल जाता है, मशीनें बनाने में उससे कम संख्या में ही मजदूरों को काम मिलता है। १,५०० पौण्ड की वह रक़म, जो पहले क़ालीन बनाने वाले उन कारीगरों की मजदूरी का प्रतिनिधित्व करती थी, जिनको जवाब दे दिया गया है, अब मशीनों के रूप में इन चीज़ों का प्रतिनिधित्व करती है: (१) इन मशीनों को बनाने में इस्तेमाल किये गये उत्पादन के साधनों का मूल्य; (२) इनको बनाने में जिन यान्त्रिकों से काम लिया गया, उनकी मजदूरी, और (३) वह अतिरिक्त मूल्य, जो इन मजदूरों के "मालिक" के हिस्से में पड़ा। इसके अलावा, जब तक मशीनें एकदम घिस नहीं जातीं, तब तक उनकी जगह पर नयी मशीनें लगाना जरूरी नहीं होता। इसलिये, मशीनें बनाने वाले मजदूरों की पहले से बढ़ी हुई संख्या के रोजगार को लगातार क़ायम रखने के लिये यह जरूरी है कि क़ालीन तैयार करने वाले एक पूंजीपति के बाद दूसरा पूंजीपति मजदूरों को जवाब देता जाये और उनकी जगह पर मशीनें लगाता जाये।

असल में, इस व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्री जब पूंजी के मुक्त कर दिये जाने की चर्चा करते हैं, तब उनका यह मतलब नहीं होता। उनके दिमाग़ में, असल में, मजदूरों के जीवन-निर्वाह के मुक्त कर दिये गये साधन होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में [इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मशीनें न केवल ५० आदमियों को मुक्त कर देती हैं, जिनको अब दूसरे पूंजीपति इस्तेमाल कर सकते हैं, बल्कि इसके साथ-साथ वे १,५०० पौण्ड के मूल्य के जीवन-निर्वाह के साधनों को मजदूरों के उपभोग की परिधि के बाहर खींच लेती हैं और इस प्रकार

उन को भी मुक्त कर देती हैं। इसलिये, इस साधारण तथ्य का – जो कोई नया तथ्य कदापि नहीं है – कि मशीनें मजदूरों को उनके जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग कर देती हैं, अर्थशास्त्र की भाषा में यह अर्थ होता है कि मशीनें मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों को आजाद कर देती हैं, या इन साधनों को मजदूर को नौकरी देने के लिये पूंजी में बदल देती हैं। इसलिये, जैसा कि आप खुद देख सकते हैं, असली महत्व बात का नहीं, बात करने के ढंग का होता है। Nominibus mollire licet mala (बुरी चीजों को अच्छे नामों की रामनामी उढ़ायी जानी चाहिये)।

इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि १,५०० पौण्ड के मूल्य के जीवन-निर्वाह के साधन वह पूंजी थे, जिसका विस्तार उन ५० आदमियों के श्रम के द्वारा हो रहा था, जिनको जवाब दे दिया गया है। और इसलिये जैसे ही इन मजदूरों की जबर्दस्ती की छुट्टी आरम्भ होती है, वैसे ही इस पूंजी का उपयोग में आना बन्द हो जाता है, और जब तक उसे कोई ऐसा नया क्षेत्र नहीं मिल जाता, जहां वह फिर उन्हीं ५० आदमियों के द्वारा उत्पादक ढंग से खर्च की जा सके, तब तक उसे चैन नहीं आता। और इसलिये देर या सबेर इस पूंजी का और उन मजदूरों का फिर से इकट्ठा होना जरूरी है, और उनके इकट्ठा होने पर ही पूरी क्षति-पूर्ति हो सकती है। चुनांचे, मशीनें जिन मजदूरों को विस्थापित कर देती हैं, उनके कष्ट उतने ही क्षण-भंगुर होते हैं जितनी क्षण-भंगुर इस दुनिया की दौलत होती है।

जहां तक नौकरी से हटाये गये मजदूरों का सम्बंध है, १,५०० पौंड के मूल्य के ये जीवन-निर्वाह के साधन कभी पूंजी नहीं थे। इन मजदूरों के सामने जो चीज पूंजी बनकर आयी थी, वह थी १,५०० पौण्ड की रक़म, जो बाद को मशीनों पर खर्च कर दी गयी। जरा और ध्यान से देखने पर आप पायेंगे कि यह रक़म उन क़ालीनों के एक भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जिनको वे ५० आदमी, जिनको अब जवाब मिल गया है, साल भर में तैयार करते थे। यह रक़म उन क़ालीनों के उस भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जो मजदूरों को अपने मालिक से क़ालीनों के बजाय मुद्रा की शकल में बतौर मजदूरी के मिल जाता था। मुद्रा की शकल में इन क़ालीनों से मजदूर १,५०० पौण्ड के मूल्य के जीवन-निर्वाह के साधन खरीद लेते थे। इसलिये, जहां तक इन मजदूरों का सम्बंध है, जीवन-निर्वाह के ये साधन पूंजी नहीं, बल्कि माल थे, और इन मालों के सिलसिले में मजदूर मजदूरी लेकर मेहनत करने वाले नहीं, बल्कि खरीदार थे। अब चूंकि उनको मशीनों ने खरीदने के साधनों से "मुक्त" कर दिया है, इसलिये वे खरीदारों से न-खरीदने वालों में बदल जाते हैं। चुनांचे उन मालों की मांग में कमी हो जाती है – और voilà tout (बस, बात खतम हो जाती है)। यदि किसी अन्य क्षेत्र में मांग की वृद्धि से इस कमी की क्षति-पूर्ति नहीं हो जाती, तो मालों का बाजार-भाव गिर जाता है। यदि कुछ समय तक यही स्थिति बनी रहती है और उसका विस्तार कुछ और बढ़ जाता है, तो इन मालों के उत्पादन में लगे हुए मजदूरों को काम से जवाब मिल जाता है। जो पूंजी पहले जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के उत्पादन में लगी हुई थी, उसका किसी और रूप में पुनरुत्पादन होना आवश्यक हो जाता है। इधर दाम गिरते हैं और पूंजी विस्थापित होती है, उधर जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के उत्पादन में लगे मजदूरों को उनकी मजदूरी के एक भाग से "मुक्त" कर दिया जाता है। इसलिये, यह साबित करने के बजाय कि जब मशीनें मजदूर को उसके जीवन-निर्वाह के साधनों से मुक्त कर देती हैं, तब वे उसके साथ-साथ इन साधनों को ऐसी पूंजी में बदल देती हैं, जो मजदूर को फिर नौकर रख सकती है, पूंजीवादी

व्यवस्था के ये वकील पूर्ति और मांग के अपने नपे-तुले नियम के द्वारा यह प्रमाणित कर देते हैं कि मशीनें उत्पादन के न केवल उस क्षेत्र में मजदूरों को बेरोजगार बना देती हैं, जिसमें वे खुद इस्तेमाल की जाती हैं, बल्कि वे उन क्षेत्रों के मजदूरों की भी रोजी छीन लेती हैं, जिनमें वे इस्तेमाल नहीं की जा रही हैं।

अर्थशास्त्रियों के आशावाद ने जिन वास्तविक तथ्यों को इस हास्यास्पद रूप में पेश किया है, वे इस प्रकार हैं: मशीनें जिन मजदूरों को वर्कशाप से निकालकर बाहर कर देती हैं, वे श्रम की मण्डी में मारे-मारे फिरते हैं और वहां उन बेकार मजदूरों की संख्या को बढ़ाते हैं, जिनसे पूंजीपति जब चाहें काम ले सकते हैं। इस पुस्तक के भाग ७ में पाठक देखेंगे कि मशीनों का यह प्रभाव, जिसे अर्थशास्त्री मजदूर-वर्ग की क्षति-पूर्ति के रूप में पेश करते हैं, वास्तव में, इसके विपरीत, मजदूरों के लिये एक अत्यन्त भयानक विपत्ति होता है। फ़िलहाल मैं केवल इतना ही कहूंगा कि इसमें शक नहीं कि जिन मजदूरों को उद्योग की किसी एक शाखा से जवाब मिल जाता है, वे किसी और शाखा में नौकरी की तलाश कर सकते हैं। पर यदि उनको नौकरी मिल जाती है और यदि इस प्रकार वे जीवन-निर्वाह के साधनों के साथ पुनः अपना सम्बंध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं, तो यह केवल किसी नयी एवं अतिरिक्त पूंजी, जो विनियोजन के लिये उत्सुक है, की मध्यस्थता से ही सम्भव होता है। जिस पूंजी ने उनको पहले नौकरी दे रखी थी और जो बाद को मशीनों में बदल गयी थी, उसकी मध्यस्थता से यह कदापि सम्भव नहीं होता। और यदि उनको नौकरी मिल जाती है, तब भी, जरा सोचिये कि उनका भविष्य कितना अंधकारमय रहता है! इन अभागों को तो श्रम-विभाजन ने लुंज बना रखा है, इसलिये अपने पुराने धंधे के बाहर उनकी बहुत कम क़ीमत रह जाती है, और घटिया क़िस्म के चंद उद्योगों को छोड़कर, जिनमें बहुत कम मजदूरी पाने वाले मजदूरों की सदा जरूरत से ज्यादा इफ़रात रहती है, उनको और किसी उद्योग में जगह नहीं मिलती।[1] इसके अलावा, उद्योग की प्रत्येक शाखा हर वर्ष मजदूरों की एक नयी धारा को अपनी ओर खींचती है। इस शाखा में जो जगहें खाली होती हैं, उनको इस धारा से भर लिया जाता है, और शाखा का विस्तार करने में भी ये आदमी काम में आते हैं। जैसे ही मशीनें उद्योग की किसी खास शाखा में नौकरी करने वाले मजदूरों के एक हिस्से को मुक्त कर देती हैं, वैसे ही ये रिजर्व मजदूर भी नौकरी के नये क्षेत्रों में चले जाते हैं और अन्य शाखाओं में लग जाते हैं। इस बीच, जो लोग शुरू में बेकार हुए थे, वे परिवर्तन के काल में प्रायः भूख का शिकार बनकर खतम हो जाते हैं।

---

[1] जे० बी० से की फुसफुसी बातों के जवाब में रिकार्डो के एक शिष्य ने इस विषय के सम्बंध में यह लिखा है: "जहां श्रम-विभाजन का अच्छा विकास होता है, वहां मजदूर की निपुणता से केवल उसी ख़ास शाखा में काम लिया जा सकता है, जिस शाखा में वह निपुणता प्राप्त की गयी है। मजदूर ख़ुद भी एक ढंग की मशीन होता है। इसलिये, तोते की तरह बार-बार यह रटते रहने से तनिक भी सहायता नहीं मिलती कि चीजों में स्वयं अपना स्तर तलाश कर लेने की प्रवृत्ति होती है। यदि हम अपने इर्द-गिर्द आंखें दौड़ाकर देखें, तो लाजिमी तौर पर यह पायेंगे कि चीजों को बहुत समय तक अपना स्तर नहीं मिलता, और जब वह स्तर मिल भी जाता है, तब वह क्रिया के आरम्भ होने के समय से सदा नीचे का स्तर होता है।" (*"An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand, &c."* ['मांग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तों की समीक्षा, आदि'], London, 1821, पृ० ७२।)

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन-निर्वाह के साधनों से मजदूर को "मुक्त कर देने" की जिम्मेदारी खुद मशीनों पर नहीं होती। मशीनें तो उस शाखा में उत्पादन को बढ़ाती हैं और सस्ता कर देती हैं, जिसपर वे अधिकार कर लेती हैं, और शुरू-शुरू में अन्य शाखाओं में तैयार होने वाले जीवन-निर्वाह के साधनों में मशीनों के कारण कोई तबदीली नहीं आती। इसलिये, जिन मजदूरों को काम से जवाब मिल गया है, उनके लिये समाज के पास मशीनों का उपयोग आरम्भ होने के बाद यदि अधिक नहीं, तो कम से कम उतनी जीवनोपयोगी वस्तुएं अवश्य होती हैं, जितनी इसके पहले उसके पास थीं। और वार्षिक पैदावार का जो बड़ा भारी हिस्सा काम न करने वाले लोग खाया कर देते हैं, वह अलग है। और पूंजीवादी व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्री असल में इसी नुक्ते को अपना आधार बनाते हैं! उनका कहना है कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग के साथ जो असंगतियां और विरोध अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, वे चूंकि खुद मशीनों से नहीं, बल्कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से पैदा होते हैं, इसलिये, वास्तव में, उनका कोई अस्तित्व नहीं होता! इसलिये, मशीनों पर यदि अलग से विचार किया जाये, तो उनसे श्रम के घण्टे छोटे हो जाते हैं, लेकिन पूंजी की सेवा में लग जाने पर उनसे श्रम के घण्टे लम्बे हो जाते हैं; मशीन खुद श्रम को हल्का करती है, मगर जब पूंजी उससे काम लेती है, तब वह श्रम की तीव्रता को बढ़ा देती है; मशीन खुद प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य की विजय का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु पूंजी के हाथों में पहुंचकर वह मनुष्य को इन शक्तियों का दास बना देती है; मशीन खुद उत्पादकों की दौलत में वृद्धि करती है, लेकिन पूंजी के हाथों में पहुंचकर वह उत्पादकों को कंगाल बना देती है,—पूंजीवादी अर्थशास्त्री का दावा है कि इन तमाम और इनके अलावा कुछ अन्य कारणों से भी, और अधिक झंझट में पड़े बिना ही, यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाती है कि ये तमाम असंगतियां वास्तविकता का महज दिखावटी रूप हैं और असल में उनका न तो कोई वास्तविक और न कोई सैद्धान्तिक अस्तित्व है। इस प्रकार, वह आगे की सारी माथापच्ची से बच जाता है, और उससे भी बड़ी बात यह है कि वह अपने विरोधियों के बारे में घोषित कर देता है कि वे इतने मूर्ख हैं कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग के विरुद्ध लड़ने के बजाय खुद मशीनों से लड़ते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पूंजीवादी अर्थशास्त्री कभी इस बात से इनकार नहीं करता कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से कुछ अस्थायी असुविधा हो सकती है। लेकिन हर सिक्के का दूसरा रुख भी तो होता है! पूंजीवादी अर्थशास्त्री के विचार से पूंजी के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा मशीनों का उपयोग असम्भव है। इसलिये, पूंजीवादी अर्थशास्त्री की नजरों में, मशीनों द्वारा मजदूर का शोषण और मजदूर द्वारा मशीनों का शोषण, दोनों समान ही बातें हैं। अतएव जो कोई भी मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से पैदा होने वाली वास्तविक परिस्थिति का भण्डाफोड़ करता है, वह मशीनों के किसी भी प्रकार के उपयोग का विरोधी है और सामाजिक प्रगति का शत्रु है।[1] प्रसिद्ध

[1] अन्य व्यक्तियों के अलावा मैक्कुलक भी शेखी बघारने के साथ-साथ इस तरह की बेतुकी बकवास करने की कला के परम आचार्य हैं। उन्होंने ८ वर्ष के बच्चे के भोलेपन का प्रदर्शन करते हुए लिखा है: "यदि मजदूर की निपुणता को अधिकाधिक बढ़ाते जाना लाभदायक है, ताकि उसमें पहले जितने या पहले से कम श्रम के द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा में माल तैयार करने की सामर्थ्य पैदा होती जाये, तो इस फल की प्राप्ति में जिन मशीनों से उसे सबसे अधिक कारगर सहायता मिल सकती हो, उनकी मदद लेना भी लाभदायक होना चाहिये।"

बिल साइक्स की दलील भी ठीक इसी तरह की थी। उसने कहा था: "जूरी के सदस्यो! इसमें शक नहीं कि सौदागर का गला काटा गया है। मगर इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, दोष चाकू का है। इस जरा सी अस्थायी असुविधा के कारण क्या हमें चाकू का उपयोग बन्द कर देना चाहिये? जरा सोचिये तो! बिना चाकू के खेती और व्यापार की क्या दशा होगी? शरीर-रचना का ज्ञान प्राप्त करने में चाकू से जितनी सहायता मिलती है, क्या शल्य-क्रिया में भी उससे उतनी ही सहायता नहीं मिलती? और, इसके अलावा, क्या खुशी की दावत में भी चाकू काम में नहीं आता? यदि आप चाकू का प्रयोग बन्द कर देंगे, तो आप हमें बर्बरता के गड्ढे में धकेल देंगे।"[1]

जिन उद्योगों में मशीनें इस्तेमाल होने लगती हैं, उनमें यद्यपि वे लाजिमी तौर पर मजदूरों को बेकार बना देती हैं, तथापि, इस बात के बावजूद, यह मुमकिन है कि अन्य उद्योगों में मशीनों के कारण पहले से ज्यादा आदमी नौकर रखे जाने लगें। किन्तु इस प्रभाव में और तथाकथित क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त में कोई समानता नहीं है। चूंकि मशीन से तैयार की गयी प्रत्येक वस्तु हाथ से तैयार की गयी उसी प्रकार की वस्तु से सस्ती होती है, इसलिये हम इस अचूक नियम पर पहुंच जाते हैं: यदि मशीनों से तैयार की गयी किसी वस्तु की कुल मात्रा दस्तकारी या हस्तनिर्माण के द्वारा बनायी गयी उस वस्तु की कुल मात्रा के बराबर रहती है, जिसका मशीनों द्वारा तैयार की गयी वस्तु ने स्थान ले लिया है, तो उसके उत्पादन में खर्च किया गया कुल श्रम पहले से घट जाता है। श्रम के उपकरणों – मशीनों, कोयले और इसी प्रकार की अन्य चीजों – पर जो नया श्रम खर्च होता है, वह उस श्रम से लाजिमी तौर पर कम होता है, जिसे मशीनों के प्रयोग ने बेकार बना दिया है। यदि ऐसा न हो, तो मशीन की पैदावार उतनी ही महंगी रहे, जितनी हाथ के श्रम की पैदावार होती है, या हो सकता है कि उससे भी अधिक महंगी हो जाये। लेकिन, असल में, मशीनों के द्वारा पहले से कम मजदूरों की मदद से जो वस्तु तैयार की जाती है, उसकी कुल मात्रा हाथ से बनायी गयी उस वस्तु की कुल मात्रा के बराबर नहीं होती, जिसका मशीन की बनायी वस्तु ने स्थान ग्रहण कर लिया है, बल्कि वह उससे बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। मान लीजिये कि पहले जितने बुनकर हाथ से काम करके १,००,००० गज कपड़ा तैयार कर सकते थे, उनसे कम बुनकर शक्ति से चलने वाले करघों पर ४,००,००० गज कपड़ा तैयार कर देते हैं। पैदावार पहले से चौगुनी हो जाती है। उसमें पहले से चौगुना कच्चा माल लगता है। इसलिये कच्चे माल का उत्पादन पहले से चौगुना हो जाना चाहिये। लेकिन जहां तक श्रम के उपकरणों का सम्बंध है, जैसे कि मकान, कोयला, मशीनें इत्यादि, उनपर यह बात लागू नहीं होती। उनके उत्पादन के लिये जिस अधिक श्रम की आवश्यकता होती है, वह एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता, और यह सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि मशीन से बनायी गयी वस्तु की मात्रा में और उतने ही मजदूरों द्वारा हाथ से बनायी गयी इसी वस्तु की मात्रा में कितना अन्तर होता है।

---

(MacCulloch, "*Princ. of Pol. Econ.*" [मैक्कुलक, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], London, 1830, पृ० १६६।)

[1] "कताई की मशीन के आविष्कारक ने हिन्दुस्तान को बरबाद कर दिया है। पर यह एक ऐसा तथ्य है, जो हमारे हृदय को कोई ख़ास नहीं छूता" (A. Thiers, "*De la propriété*", Paris, 1848, पृ० २७५) श्री थिये ने यहां पर कताई की मशीन को शक्ति से चलने वाले करघे के साथ गड़बड़ा दिया है, "पर यह एक ऐसा तथ्य है, जो हमारे हृदय को कोई ख़ास नहीं छूता।"

इसलिये, जैसे-जैसे किसी उद्योग में मशीनों के उपयोग का विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे उसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि इस उद्योग को उत्पादन के साधन देने वाले दूसरे उद्योगों में उत्पादन बढ़ जाता है। इस तरह कितने नये मजदूरों को नौकरी मिल जायेगी, यह काम के दिन की लम्बाई तथा श्रम की तीव्रता को पहले से निश्चित मानते हुए इस बात पर निर्भर करता है कि जो पूंजी इस्तेमाल की जा रही है, उसकी संरचना किस प्रकार की है, यानी उसके अस्थिर संघटक के साथ उसके स्थिर संघटक का क्या अनुपात है। यह अनुपात खुद बहुत कुछ इस बात के साथ बदलता रहता है कि मशीनों ने इन धंधों पर किस हद तक अधिकार जमा लिया है या वे उनपर किस हद तक अधिकार जमाती जा रही हैं। कोयले और धातु की खानों में काम करने के लिये मजदूर लोगों की संख्या में इंगलैण्ड की फ़ैक्टरी-व्यवस्था की प्रगति के फलस्वरूप बहुत भारी वृद्धि हो गयी थी, किन्तु पिछले कुछ दशकों में खानों में नयी मशीनों के इस्तेमाल के कारण मजदूरों की संख्या की यह वृद्धि कुछ मंद पड़ गयी है।[1] मशीन के साथ-साथ एक नये प्रकार का मजदूर जन्म लेता है। हमारा मतलब मशीन को बनाने वाले से है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि उत्पादन की इस शाखा पर भी मशीनों ने एक ऐसे पैमाने पर अधिकार कर लिया है, जो दिन-ब-दिन बढ़ता ही जाता है।[2] जहां तक कच्चे माल का सम्बंध है,[3] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कपास की कताई में जो तेज उन्नति हुई है, उसने न केवल संयुक्त राज्य अमरीका में कपास की खेती को उष्णदेशीय प्रचुरता के साथ बढ़ा दिया है और उसके साथ-साथ अफ़्रीका के दासों के व्यापार में तेजी ला दी है, बल्कि उसके फलस्वरूप सीमान्त के उन राज्यों में, जिनमें दास-प्रथा पायी जाती है, गुलामों को पालना लोगों का मुख्य व्यवसाय बन गया है। १७६० में संयुक्त राज्य अमरीका में गुलामों की पहली गणना की गयी थी। उस समय उनकी संख्या ६,६७,००० थी। १८६१ तक उनकी संख्या लगभग ४० लाख तक पहुंच गयी थी। दूसरी ओर, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इंगलैंड में ऊनी

---

[1] १८६१ की जन-गणना के अनुसार (देखिये खण्ड २, लन्दन, १८६३) इंगलैण्ड और वेल्स की कोयला-खानों में नौकरी करने वालों की संख्या २,४६,६१३ बैठती थी, जिनमें से ७३,५४६ की आयु २० वर्ष से कम और १,७३,०६७ की आयु २० वर्ष से अधिक थी। २० वर्ष से कम आयु के मजदूरों में ८३५ की आयु ५ वर्ष और १० वर्ष के बीच, ३०,७०१ की आयु १० और १५ वर्ष के बीच और ४२,०१० की आयु १५ और १९ वर्ष के बीच थी। लोहे, ताम्बे, सीसे और टिन की खानों में और अन्य हर प्रकार की धातु-खानों में काम करने वालों की कुल संख्या ३,१९,२२२ थी।

[2] इंगलैंड और वेल्स में १८६१ में ६०,८०७ व्यक्ति मशीन बनाने के धंधे में लगे हुए थे। मालिक लोग और क्लर्क आदि तथा तमाम एजेंट और इस उद्योग से सम्बंधित व्यावसायिक लोग इस संख्या में सम्मिलित हैं; लेकिन सिलाई की मशीनों जैसी छोटी-छोटी मशीनें बनाने वाले और साथ ही मशीनों के तकुओं जैसे कार्यकारी पुर्जों को बनाने वाले इस संख्या के बाहर थे। असैनिक इंजीनियरों की कुल संख्या ३,३२९ बैठती थी।

[3] लोहा चूंकि एक सबसे महत्वपूर्ण कच्चा माल है, इसलिये मैं यहां पर यह बता दूं कि १८६१ में इंगलैण्ड और वेल्स में १,२५,७७१ व्यक्ति लोहा ढालते थे, जिनमें से १,२३,४३० पुरुष थे और २,३४१ स्त्रियां। पुरुषों में ३०,८१० की आयु २० वर्ष से कम और ९२,६२० की आयु २० वर्ष से अधिक थी।

मिलों के खुलने और उसके साथ-साथ खेती-योग्य जमीन के धीरे-धीरे भेड़ों की चरागाहों में बदल जाने के फलस्वरूप खेती के मजदूरों की एक बड़ी संख्या फ़ालतू हो गयी है, जिसके कारण मजदूरों को बड़ी तादाद में शहरों की ओर भाग जाना पड़ा है। पिछले बीस वर्ष में आयरलैण्ड की आबादी घटते-घटते लगभग आधी रह गयी है, और इस वक़्त वहां के रहने वालों की संख्या को और भी घटा देने की क्रिया जारी है, ताकि वह ठीक-ठीक उस स्तर पर पहुंच जाये, जिसकी आयरलैण्ड के जमींदारों और इंगलैण्ड के ऊनी मिल-मालिकों को आवश्यकता है।

श्रम की विषय-वस्तु को उत्पादन-क्रिया के सम्पूर्ण होने के पहले जिन प्रारम्भिक अथवा अन्तर्कालीन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है, जब उनमें से किन्हीं अवस्थाओं में मशीनों का उपयोग किया जाता है, तब उनमें पहले से अधिक सामग्री तैयार होने लगती है और उसके साथ-साथ उन दस्तकारियों या हस्तनिर्माणों में श्रम की मांग बढ़ जाती है, जिनको इन मशीनों की पैदावार की आवश्यकता होती है। मिसाल के लिये, जब कताई मशीनों से होने लगी, तब उससे इतना सस्ता और इतनी बहुतायत के साथ सूत तैयार हुआ कि शुरू-शुरू में हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकर पूरे समय काम करने लगे और उनके ख़र्च में भी कोई वृद्धि नहीं हुई। चुनांचे इन बुनकरों की कमाई पहले से बढ़ गयी।[1] उसका नतीजा यह हुआ कि कपास की कताई के धंधे में लोगों की संख्या बराबर बढ़ती गयी, और यह क्रिया उस वक़्त तक जारी रही, जब तक कि आख़िर शक्ति से चलने वाले करघे ने उन ८,००,००० बुनकरों को कुचल नहीं दिया, जिनको जेनी, थ्रौसल और म्यूल ने जन्म दिया था। इसी तरह जब मशीनों के कारण पोशाकों के कपड़े बहुतायत से तैयार होने लगे, तो दर्जियों, दर्जिनों और सीने-पिरोने का काम करने वाली औरतों की संख्या में वृद्धि होने लगी, और वह उस वक़्त तक होती रही, जब तक कि सीने की मशीन बाजार में नहीं आ गयी।

मजदूरों की अपेक्षाकृत कम संख्या की मदद से मशीनों से जो कच्चे माल, अन्तरकालीन पैदावार और श्रम के औजार आदि तैयार किये जाते हैं, उनकी मात्रा जिस अनुपात में बढ़ती है, उसी अनुपात में इन कच्चे मालों तथा अन्तरकालीन पैदावार की आगे की तैयारी असंख्य शाखाओं में बंट जाती है। सामाजिक उत्पादन की विविधता बढ़ जाती है। हस्तनिर्माण सामाजिक श्रम-विभाजन को जितना आगे ले गया था, फ़ैक्टरी-व्यवस्था उसको उससे कहीं अधिक आगे ले जाती है, क्योंकि वह जिन उद्योगों पर भी अधिकार कर लेती है, उनकी उत्पादकता में हस्तनिर्माण की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि कर देती है।

मशीनों का तात्कालिक परिणाम यह होता है कि अतिरिक्त मूल्य में और पैदावार की उस राशि में वृद्धि हो जाती है, जिसमें अतिरिक्त मूल्य निहित होता है। और जैसे-जैसे उन तमाम चीजों की बहुतायत होती जाती है, जिनको पूंजीपति और उनपर आश्रित व्यक्ति इस्तेमाल करते हैं, वैसे-वैसे समाज की इन श्रेणियों की संख्या भी बढ़ती जाती है। एक ओर, इन लोगों की दौलत बढ़ती जाती है। दूसरी ओर, जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं को तैयार करने के

---

[1] "पिछली शताब्दी के अन्त में और वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में चार वयस्क व्यक्तियों का परिवार, जो दो बच्चों से सूत लपेटवाने का काम लेता था, रोजाना दस घण्टे का श्रम करके एक सप्ताह में ४ पौण्ड कमा लेता था। यदि काम बहुत जरूरी होता था, तो थोड़ी ज्यादा आमदनी हो जाती थी . . . उसके पहले इन लोगों के पास हमेशा सूत की कमी रहती थी।" (Gaskell, उप० पु०, पृ० २५-२७।)

लिये अब मजदूरों की अपेक्षाकृत कम संख्या जरूरी होती है। इन दोनों बातों का यह परिणाम होता है कि विलास की नयी आवश्यकताओं के पैदा होने के साथ-साथ आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन भी पैदा होते जाते हैं। समाज की पैदावार का पहले से बड़ा हिस्सा अतिरिक्त पैदावार में बदल जाता है, और अतिरिक्त पैदावार का पहले से बड़ा हिस्सा नाना प्रकार के परिष्कृत रूपों में उपभोग के निमित्त चला जाता है। दूसरे शब्दों में, विलास की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है।[1] इसी प्रकार, आधुनिक उद्योग दुनिया की मण्डियों के साथ जो नये सम्बंध स्थापित कर देता है, उनसे भी पैदावार विविध प्रकार के नये परिष्कृत रूप धारण कर लेती है। न केवल देशी पैदावार के साथ पहले से अधिक मात्रा में विलास की विदेशी वस्तुओं का विनिमय होने लगता है, बल्कि देशी उद्योगों में पहले से अधिक मात्रा में विदेशी कच्चे मालों, सामग्रियों और अन्तर्कालीन पैदावारों का उत्पादन के साधनों के रूप में उपयोग होने लगता है। दुनिया की मंडियों के साथ इन सम्बंधों के स्थापित हो जाने के फलस्वरूप सामान लाने-ले जाने के धंधे नाना प्रकार की शाखाओं में बंट जाते हैं और उनमें श्रम की मांग बढ़ जाती है।[2]

उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों में जो वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ मजदूरों की संख्या में जो तुलनात्मक कमी आ जाती है, उनके फलस्वरूप नहरें बनाने, डॉक तैयार करने, सुरंगें खोदने और इसी प्रकार के केवल सुदूर भविष्य में फल देने वाले अन्य कामों में श्रम की मांग बढ़ जाती है। या तो मशीनों के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में और या मशीनों से उत्पन्न सामान्य औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पादन की सर्वथा नयी शाखाएं पैदा हो जाती हैं, जो श्रम के नये क्षेत्र पैदा कर देती हैं। लेकिन सामान्य उत्पादन में इन शाखाओं को जो स्थान प्राप्त होता है, वह अधिक से अधिक विकसित देशों में भी महत्वपूर्ण नहीं होता। इन शाखाओं में नौकरी पाने वाले मजदूरों की संख्या सीधे इस बात पर निर्भर करती है कि इन उद्योगों ने सबसे अधिक अपरिष्कृत ढंग के हाथ के श्रम की कितनी बड़ी मांग को जन्म दिया है। आजकल इस प्रकार के मुख्य उद्योग ये हैं: गैस तैयार करने वाले कारखाने, तार-व्यवस्था, फ़ोटोग्राफ़ी, भाप से चलने वाले जहाज और रेलें। इंगलैंड और वेल्स की १८६१ की जन-गणना के अनुसार उस समय गैस-उद्योग में काम करन वाले लोगों की संख्या १५,२११ थी (इनमें गैस के कारखानों में काम करने वाले मजदूर, आवश्यक यांत्रिक उपकरण तैयार करने वाले मजदूर, गैस-कम्पनियों के कर्मचारी इत्यादि शामिल थे), तार-व्यवस्था में २,३९९, फ़ोटोग्राफ़ी में २,३६६, भाप से चलने वाले जहाजों में ३,५७० और रेलों में ७०,५९९ व्यक्ति काम कर रहे थे, जिनमें खुदाई का काम करने वाले ऐसे अनिपुण मजदूरों की, जिनको न्यूनाधिक रूप में स्थायी नौकरी प्राप्त थी, और पूरे प्रशासकीय एवं वाणिज्यिक कर्मचारी-दल की संख्या लगभग २८,००० बैठती थी। इसलिये, इन पांच नये उद्योगों में कुल मिलाकर ९४,१४५ व्यक्तियों को रोजगार हासिल था।

---

[1] F. Engels ने अपनी रचना "*Lage, &c.*" में बताया है कि विलास की इन वस्तुओं को जो लोग तैयार करते हैं, उनमें से एक बड़ी संख्या बहुत मुसीबत का जीवन बिताती है। इसके अलावा "*Reports of the Children's Employment Commission*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की रिपोर्टों') में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

[2] १८६१ में इंगलैण्ड और वेल्स में ९४,६६५ मल्लाह व्यापारिक बेड़े में काम कर रहे थे।

अन्तिम बात यह है कि आधुनिक उद्योगों की असाधारण उत्पादकता के कारण, जिसके साथ-साथ उत्पादन के अन्य सभी क्षेत्रों में श्रम-शक्ति का पहले से अधिक व्यापक और पहले से अधिक तीव्र शोषण होने लगता है, मजदूर-वर्ग के अधिकाधिक बड़े हिस्से से अनुत्पादक ढंग का काम लेना सम्भव होता जाता है और इसके फलस्वरूप प्राचीन काल के घरेलू दासों का नौकर-वर्ग के नाम से, जिसमें नौकर-नौकरानियां, टहलुए आदि शामिल होते हैं, निरन्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होने लगता है। १८६१ की जन-गणना के अनुसार, इंगलैण्ड और वेल्स की आबादी २,००,६६,२२४ थी। उसमें ६७,७६,२५६ पुरुष थे और १,०२,८६,९६५ स्त्रियां थीं। इस संख्या में से यदि हम उन लोगों की तादाद घटा दें, जो या तो बहुत अधिक आयु होने के कारण और या बहुत कम आयु के कारण काम नहीं कर सकते थे, उत्पादन में भाग न लेने वाली सभी स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चों की गणना न करें, "वैचारिक" धंधों में लगे हुए व्यक्तियों को, जैसे सरकारी कर्मचारियों, पादरियों, वकीलों, सिपाहियों आदि को,—घटा दें, और इसके अलावा, यदि हम उन लोगों को भी अलग कर दें, जिनका लगान, सूद आदि के रूप में दूसरों के श्रम को हड़पने के सिवाय और कोई धंधा नहीं है, और, अन्त में, कंगालों, आवारा लोगों और अपराधियों को भी एक तरफ़ छोड़ दें, तो मोटे तौर पर अस्सी लाख व्यक्ति बच रहते हैं, जिनमें प्रत्येक आयु की स्त्रियां और पुरुष दोनों शामिल हैं। उद्योगों, वाणिज्य तथा वित्त-प्रबंध में किसी भी रूप में लगा हुआ प्रत्येक पूंजीपति भी इस संख्या में शामिल होता है। इन ८० लाख व्यक्तियों में हैं:

खेतिहर मजदूर (जिनमें गड़रिये, फ़ार्मों के नौकर और किसानों के घरों में काम करने वाली नौकरानियां भी शामिल हैं) . . . . . . १०,९८,२६१

वे तमाम लोग, जो सूती, ऊनी और बटे हुए ऊन का सामान तैयार करने वाली मिलों में, फ़्लैक्स, सन, रेशम और पाट की फ़ैक्टरियों में, और मशीनों से मोजे और लैस बनाने के धंधों में काम करते हैं . . . . . . . . ६,४२,६०७[1]

वे तमाम लोग, जो कोयला-खानों और धातु की खानों में काम करते हैं . . . . ५,६५,८३५

वे तमाम लोग, जो धातु के कारखानों (पिघलाऊ भट्ठियों, रोलिंग मिलों आदि) में और हर तरह का धातु का सामान तैयार करने वाले कारखानों में काम करते हैं . . . ३,९६,९९८[2]

नौकर-वर्ग . . . . . . . . . १२,०८,६४८[3]

[1]इनमें से १३ वर्ष से अधिक उम्र के केवल १,७७,५९६ ही पुरुष हैं।

[2]इनमें से ३०,५०१ स्त्रियां हैं।

[3]इनमें से १,३७,४४७ पुरुष हैं। १२,०८,६४८ की इस संख्या में ऐसे किसी व्यक्ति को शामिल नहीं किया गया है, जो किसी के घर में नौकरी नहीं करता। १८६१ और १८७० के बीच पुरुष नौकरों की संख्या लगभग दुगुनी हो गयी। वह २,६७,६७१ पर पहुंच गयी। १८४७ में (जमींदारों की शिकारगाहों में) शिकार के पशुओं की देखरेख करने वालों की

कपड़ा-मिलों और खानों में काम करने वाले सभी व्यक्तियों की संख्या कुल मिलाकर १२,०८,४४२ होती है। कपड़ा-मिलों और धातु के उद्योगों में काम करने वाले सभी व्यक्तियों की कुल संख्या १०,३९,६०५ बैठती है। दोनों संख्याएं आधुनिक काल के घरेलू दास-दासियों की संख्या से कम हैं। मशीनों के पूंजीवादी उपयोग का कैसा शानदार परिणाम है यह!

## अनुभाग ७–फ़ैक्टरी-व्यवस्था द्वारा मज़दूरों का प्रतिकर्षण और आकर्षण। –सूती उद्योग में संकट

वे सभी अर्थशास्त्री, जिनका थोड़ा सा भी नाम है, यह बात स्वीकार करते हैं कि नयी मशीनों का इस्तेमाल होने से उन पुरानी दस्तकारियों और हस्तनिर्माणों के मजदूरों पर बहुत घातक प्रभाव पड़ता है, जिनसे ये मशीनें शुरू-शुरू में प्रतियोगिता करती हैं। लगभग सभी अर्थशास्त्री फ़ैक्टरी-मजदूर की दासता पर दुःख प्रकट करते हैं। और फिर वे कौनसी बड़ी चाल चलते हैं? यह कि जब मशीनों के प्रयोग के प्रारम्भिक काल की और उनके विकास-काल की विभीषिकाएं कुछ मंद पड़ जाती हैं, तब श्रम के दासों की संख्या घटने के बजाय अन्त में बढ़ जाती है। जी हां, अर्थशास्त्र इसी बीभत्स सिद्धान्त पर, जो ऐसे प्रत्येक "परोपकारी" को बीभत्स प्रतीत होता है, जो पूंजीवादी उत्पादन की प्रकृति-विरचित शाश्वत आवश्यकता में विश्वास करता है,–अर्थशास्त्र इसी सिद्धान्त पर बेहद खुश है कि मशीनों पर आधारित फ़ैक्टरी-व्यवस्था शुरू में जितने मजदूरों को बेकार बनाकर सड़कों पर फेंकती है, वह विकास और परिवर्तन के एक काल के बाद, अपने चरमोत्कर्ष के समय, उससे अधिक मजदूरों को पीसती है।[1]

---

संख्या २,६६४ थी। १८६१ तक वह ४,६२१ पर पहुंच गयी। लन्दन के निम्न-मध्य वर्ग के घरों में जो नौजवान लड़कियां नौकरानियों का काम करती हैं, उनको आम बोलचाल की भाषा में "slaveys" (या "दासियां") कहा जाता है।

[1] गानिल्ह ने, इसके विपरीत, फ़ैक्टरी-व्यवस्था का अन्तिम परिणाम यह समझा था कि मजदूरों की संख्या में निरपेक्षतः कमी आ जाती है और उसके एवज़ में "gens honnêtes" ("भले लोगों") की संख्या बढ़ जाती है, जो अपनी सुप्रसिद्ध "perfectibilité perfectible" ("विकासशील विकासशीलता") का विकास करते रहते हैं। गानिल्ह उत्पादन की गति को तो बहुत कम समझ पाये हैं, पर कम से कम वह इतना जरूर महसूस करते हैं कि यदि मशीनों के इस्तेमाल से काम-धंधे में लगे मजदूर कंगाल बन जाते हैं और यदि मशीनों के विकास से जितने मजदूरों की रोटी छिनी है, उससे अधिक श्रम के दास पैदा हो जाते हैं, तो मशीनें अवश्य ही बहुत घातक क़िस्म की चीजें होंगी। गानिल्ह के दृष्टिकोण की बेहूदगी को खोलकर रखने का इसके सिवाय और कोई तरीक़ा नहीं है कि खुद उन्हीं के शब्दों को उद्धृत कर दिया जाये: "Les classes condamnées à produire et à consommer diminuent, et les classes qui dirigent le travail, qui soulagent, consolent, et éclairent toute la population, se multiplient ... et s'approprient tous les bienfaits qui résultent de la diminution des frais du travail, de l'abondance des productions, et du

जैसा कि हम इंगलैण्ड की बढ़े हुए ऊन का सामान तैयार करने वाली मिलों और रेशम की फ़ैक्टरियों के सिलसिले में देख चुके हैं, यह सच है कि कुछ सूरतों में फ़ैक्टरी-व्यवस्था का असाधारण विस्तार होने पर उसके विकास की एक खास अवस्था में इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में केवल सापेक्ष ही नहीं, बल्कि निरपेक्ष कमी भी आ जाती है। १८६० में संसद के आदेश पर संयुक्तांगल राज्य की तमाम फ़ैक्टरियों की एक विशेष गणना की गयी थी। उस समय लंकाशायर, चेशायर और योर्कशायर के उन हिस्सों में, जो मि० बेकर नामक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर के क्षेत्र में आते थे, ६५२ फ़ैक्टरियां थीं। इनमें से ५७० फ़ैक्टरियों में शक्ति से चलने वाले ८५,६२२ करघे तथा ६८,१९,१४६ तकुए थे (गुणन करने वाले तकुए इस संख्या में शामिल नहीं थे), और उनमें २७,४३९ अश्व-शक्ति (भाप) और १,३९० अश्व-शक्ति (पानी) से तथा ९४,११९ व्यक्तियों से काम लिया जाता था। १८६५ में इन्हीं फ़ैक्टरियों में ९५,१६३ करघे और ७०,२५,०३१ तकुए लगे थे, और वे २८,९२५ अश्व-शक्ति की भाप की ताक़त तथा १,४४५ अश्व-शक्ति की पानी की ताक़त से और ८८,९१३ व्यक्तियों से काम लेती थीं। इसलिये, १८६० और १८६५ के बीच करघों की संख्या में ११ प्रतिशत की, तकुओं की संख्या में ३ प्रतिशत की और इंजन-शक्ति में ३ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी और साथ ही काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या में ५$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की कमी आ गयी थी।[1] १८५२ और १८६२ के बीच इंगलैण्ड में ऊन के कारखानों का काफ़ी

---

bon marché des consommations. Dans cette direction, l'espèce humaine s'élève aux plus hautes conceptions du génie, pénètre dans les profondeurs mystérieuses de la religion, établit les principes salutaires de la morale (which consists in s'approprier tous les bienfaits, &c.), les lois tutélaires de la liberté (liberty of les classes condamnées à produire?) et du pouvoir, de l'obéissance et de la justice, du devoir et de l'humanité" ["जिन वर्गों को पैदा करना और ख़र्च करना पड़ता है, उनकी संख्या कम हो जाती है, और जो वर्ग श्रम का संचालन करते हैं और जो पूरी आबादी को सहायता, दिलासा और शिक्षा देते हैं, उनकी संख्या बढ़ जाती है . . . और श्रम की लागत में कमी आ जाने से, पैदावार की बहुतायत से और उपभोग की वस्तुओं के सस्ती हो जाने से जितने प्रकार के लाभ होते हैं, उन सब पर ये वर्ग अधिकार कर लेते हैं। इस दिशा में मनुष्य-जाति प्रतिभा के उच्चतम स्तर पर पहुंच जाती है, धर्म की रहस्यमयी गहराइयों तक पैठती है और नैतिकता के हितकारी सिद्धान्तों को" (जिनके मातहत परजीवी वर्ग "सभी प्रकार के लाभ इत्यादि पर अधिकार कर लेते हैं"), "स्वतंत्रता के संरक्षक नियमों को" (सम्भवतया उन कुछ ख़ास वर्गों की स्वतंत्रता के नियमों को, जिन्हें सदा "पैदा करना पड़ता है"?) "और सत्ता, आज्ञापालन, न्याय, कर्तव्य तथा मानवता के नियमों को स्थापित करती है"]। यह बकवास आपको M. Ch. Ganilh की रचना *"Des Systèmes d'Economie Politique, &c."*, दूसरा संस्करण, Paris, 1821, ग्रंथ १ में मिल सकती है; देखिये पृ० २२४ और पृ० २१२ भी।

[1] *"Reports of Insp. of Fact., 31 Oct., 1865"* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ५८ और उसके आगे के पृष्ठ। किन्तु इसके साथ-साथ ११० नयी

विस्तार हुआ था, पर उनमें काम करने वाले मजदूरों की संख्या ज्यों की त्यों रही थी। इससे पता चलता है कि नयी मशीनों के उपयोग ने किस हद तक बीते हुए कालों के श्रम का स्थान ले लिया था।[1] कुछ सूरतों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में केवल दिखावटी वृद्धि होती है, यानी यह वृद्धि पहले से क़ायम फ़ैक्टरियों के विस्तार के कारण नहीं होती, बल्कि इसलिये होती है कि मशीनें धीरे-धीरे सम्बंधित धंधों पर भी अधिकार कर लेती हैं। उदाहरण के लिये, १८३८ और १८५६ के बीच सूती व्यवसाय में शक्ति से चलने वाले करघों तथा उनपर काम करने वाले मजदूरों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी, उसका कारण केवल यह था कि उद्योग की इस शाखा का विस्तार हो गया था; लेकिन कुछ अन्य धंधों में करघों और मजदूरों की वृद्धि इसलिये हुई थी कि पहले आदमियों द्वारा चलाये जाने वाले क़ालीन बुनने वाले, फ़ीते तैयार करने वाले और सन का कपड़ा तैयार करने वाले करघों में अब भाप की ताक़त इस्तेमाल होने लगी थी।[2] इसलिये, इन धंधों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी, वह केवल इस बात का प्रतीक थी कि कुल मजदूरों की संख्या में कमी आ गयी है। अन्तिम बात यह है कि इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमने इस तथ्य को सदा अलग रखा है कि धातु के उद्योगों को छोड़कर बाक़ी सब जगह फ़ैक्टरी-मजदूरों के वर्ग में सबसे बड़ी संख्या (१८ वर्ष से कम उम्र के) लड़के-लड़कियों, औरतों और बच्चों की होती है।

फिर भी, इस बात के बावजूद कि मशीनें मजदूरों की एक बहुत बड़ी संख्या को सचमुच विस्थापित कर देती हैं और एक तरह से उनकी जगह ले लेती हैं, हम यह बात समझ सकते हैं कि किसी ख़ास उद्योग में नयी मिलों के बनने और पुरानी मिलों का विस्तार होने के फलस्वरूप फ़ैक्टरी-मजदूरों की संख्या किस तरह हस्तनिर्माण करने वाले उन मजदूरों और दस्तकारों की संख्या से बढ़ सकती है, जिनका इन फ़ैक्टरी-मजदूरों ने स्थान ले लिया है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि प्रति सप्ताह ५०० पौण्ड की पूंजी से उत्पादन की पुरानी प्रणाली के अनुसार काम लिया जाता है और इसके पांच में से दो हिस्से स्थिर पूंजी के और तीन हिस्से अस्थिर पूंजी के हैं। कहने का मतलब यह है कि ५०० पौण्ड की पूंजी में से २००

---

मिलों की शकल में मजदूरों की एक पहले से बढ़ी हुई संख्या को नौकरी देने के साधन तैयार हो गये थे, जिनमें ११,६२५ करघे और ६,२८,५७६ तकुए लगे थे और जो कुल २,६९५ अश्व-शक्ति की भाप और पानी की ताक़त का इस्तेमाल करती थीं।

[1] "*Reports, etc., for 31st October, 1862*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ७९। १८७१ के अन्त में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर मि० ए० रेड्ग्रेव ने ब्रेडफ़ोर्ड के "New Mechanic's Institution" में एक भाषण देते हुए कहा था: "पिछले कुछ समय से मेरा ध्यान इस बात की ओर जा रहा है कि ऊनी फ़ैक्टरियों की शकल-सूरत बदली हुई दिखाई देती है। पहले उनमें औरतें और बच्चे भरे रहते थे। अब लगता है, जैसे सारा काम मशीनें कर डालती हैं। मैंने एक कारख़ानेदार से इसका कारण पूछा, तो उसने मुझे यह जवाब दिया: 'पुरानी व्यवस्था में मैंने ६३ व्यक्तियों को नौकर रख रखा था। सुधरी हुई मशीनें लग जाने के बाद मैंने मजदूरों की संख्या को घटाकर ३३ कर दिया, और हाल में कुछ नवीन एवं व्यापक परिवर्तनों के फलस्वरूप मैं इन ३३ को घटाकर १३ कर देने में सफल हुआ हूं।'"

[2] देखिये "*Reports, &c., 31st Oct., 1856*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३१ अक्तूबर १८५६'), पृ० १६।

पौण्ड उत्पादन के साधनों में लगा दिये जाते हैं और ३०० पौण्ड १ पौण्ड फ़ी आदमी के हिसाब से श्रम-शक्ति पर ख़र्च कर दिये जाते हैं। जब मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, तो इस पूंजी की संरचना बदल जाती है। हम यह मान लेते हैं कि उसके पांच में से चार हिस्से स्थिर पूंजी के हो जाते हैं और अस्थिर पूंजी केवल एक हिस्सा रह जाती है, जिसका मतलब यह है कि अब श्रम-शक्ति पर केवल १०० पौण्ड ही ख़र्च किये जाते हैं। चुनांचे, दो तिहाई मजदूरों को जवाब मिल जाता है। अब यदि व्यवसाय का विस्तार हो जाता है और उसमें लगी हुई कुल पूंजी पहले जैसी परिस्थितियों में ही बढ़कर १,५०० पौण्ड हो जाती है, तो मजदूरों की संख्या बढ़कर ३००, अर्थात् उतनी ही हो जायेगी, जितनी वह मशीनों के इस्तेमाल के पहले थी। यदि पूंजी में और भी वृद्धि होती है और वह २,००० पौण्ड हो जाती है, तो ४०० मजदूरों से काम लिया जायेगा, अर्थात् पुरानी व्यवस्था में जितने आदमी काम करते थे, उनसे एक तिहाई ज्यादा मजदूर नौकर रखे जायेंगे। इस तरह, असल में तो मजदूरों की संख्या में १०० की वृद्धि हो जाती है, पर तुलनात्मक दृष्टि से देखिये, तो उसमें ८०० की कमी आ जाती है, क्योंकि पुरानी व्यवस्था में २,००० पौण्ड की पूंजी को ४०० के बजाय १,२०० मजदूरों को नौकर रखना पड़ता। इसलिये, मजदूरों की संख्या में वास्तव में वृद्धि होने पर भी तुलनात्मक कमी आ सकती है। ऊपर हम यह मानकर चल रहे थे कि कुल पूंजी तो बढ़ जाती है, पर उसकी संरचना ज्यों की त्यों रहती है, क्योंकि उत्पादन की परिस्थितियां एक सी रहती हैं। लेकिन हम पहले ही यह देख चुके हैं कि मशीनों के उपयोग में जब कभी प्रगति होती है, तो पूंजी का स्थिर अंश, यानी वह भाग, जो मशीनों, कच्चे माल आदि में लगाया जाता है, बढ़ जाता है और अस्थिर अंश, यानी वह भाग, जो श्रम-शक्ति पर ख़र्च किया जाता है, घट जाता है। हम यह भी जानते हैं कि उत्पादन की किसी भी अन्य व्यवस्था में फ़ैक्टरी-व्यवस्था के समान निरन्तर सुधार नहीं होता और उद्योग में लगी पूंजी की संरचना भी इस निरन्तर ढंग से अन्य किसी व्यवस्था में नहीं बदलती जाती। किन्तु इन परिवर्तनों के बीच में बार-बार अवकाश का समय आता रहता है, जब पहले से मौजूद प्राविधिक आधार पर फ़ैक्टरियों का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है। ऐसी अवधियों के दौरान कामगारों की संख्या बढ़ जाती है। चुनांचे, १८३५ में संयुक्तांगल राज्य की सूती, ऊनी और बटे हुए ऊन का सामान तैयार करने वाली मिलों तथा फ़्लैक्स और रेशम की फ़ैक्टरियों में मजदूरों की कुल संख्या केवल ३,५४,६८४ थी, जब कि १८६१ में अकेले शक्ति से चलने वाले करघों पर काम करने वाले बुनकरों की संख्या (जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों और आठ वर्ष से ऊपर की हर आयु के मजदूर शामिल थे) २,३०,६५४ हो गयी थी। निश्चय ही उस समय यह वृद्धि कम महत्वपूर्ण मालूम होती है, जब हम यह याद करते हैं कि १८३८ तक हाथ के करघे पर काम करने वाले बुनकरों की संख्या उनके परिवारों के लोगों समेत ८,००,००० थी।[1] और एशिया तथा योरपीय

---

[1] "हाथ के करघे पर काम करने वाले बुनकरों की यातनाओं की एक शाही आयोग ने जांच की थी, लेकिन यद्यपि उनके कष्टों को सब ने स्वीकार किया और उनपर दुःख भी प्रकट किया, तथापि उनकी दशा को सुधारने का प्रश्न संयोग तथा समय के परिवर्तनों के हाथ में छोड़ दिया गया, और शायद ऐसा करना आवश्यक भी था। अब" (२० वर्ष बाद!) "यह आशा की जा सकती है कि संयोग ने और समय के परिवर्तनों ने इन कष्टों को लगभग (nearly) दूर कर दिया होगा, और बहुत मुमकिन है कि इसका कारण यह हो कि वर्तमान काल में

महाद्वीप में जो बुनकर बेकार हो गये थे, उनकी संख्या अलग है।

इस विषय पर मुझे दो-चार बातें और कहनी हैं। उनके सिलसिले में मैं उन सम्बंधों का जिक्र करूंगा, जो सचमुच पाये जाते हैं और जिनके अस्तित्व पर हमारी सैद्धान्तिक खोज अभी तक प्रकाश नहीं डाल पायी है।

जब तक उद्योग की किसी शाखा में फ़ैक्टरी-व्यवस्था पुरानी दस्तकारियों या हस्तनिर्माण के स्थान पर विस्तृत होती जाती है, तब तक इस संघर्ष का परिणाम उतना ही निश्चित रहता है, जितना निश्चित तीर और कमान से लड़ने वाली सेना के साथ बन्दूक़ों से लैस सेना की मुठभेड़ का परिणाम होता है। यह पहला काल, जिसमें मशीनें अपने कार्य-क्षेत्र को जीतती हैं, निर्णायक महत्व का होता है, क्योंकि इस काल से असाधारण मुनाफ़े कमाने में मदद मिलती है। इन मुनाफ़ों के कारण न केवल पहले से तेज़ गति से संचय करना सम्भव होता है, बल्कि ये मुनाफ़े उस अधिक सामाजिक पूंजी के एक बड़े हिस्से को भी उत्पादन के इस क्षेत्र में खींच लेते हैं, जो बराबर पैदा होती और अपने लिये नित नये क्षेत्रों की तलाश में रहती है। तेज़ और अंधाधुंध कार्रवाइयों के इस पहले काल से जो विशेष लाभ होते हैं, वे उत्पादन के प्रत्येक ऐसे क्षेत्र में महसूस किये जाते हैं, जिनपर मशीनें चढ़ाई कर देती हैं। लेकिन जैसे ही फ़ैक्टरी-व्यवस्था एक ख़ास हद तक सुविस्तृत आधार और परिपक्वता प्राप्त कर लेती है और ख़ास तौर पर जैसे ही उसका प्राविधिक आधार – मशीनें – भी ख़ुद मशीनों के द्वारा तैयार होने लगता है, जैसे ही कोयला-खानों और लोहे की खानों में, धातु के उद्योगों में और यातायात के साधनों में क्रान्ति पैदा हो जाती है, – संक्षेप में, जैसे ही आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पादन करने के लिये आवश्यक सामान्य परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं, वैसे ही उत्पादन की यह प्रणाली एक ऐसा लोच और यकायक छलांग मारकर विस्तार करने की ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है, जिसके रास्ते में कच्चे माल की पूर्ति और पैदावार की बिक्री के सवालों को छोड़कर और कोई कठिनाई आड़े नहीं आती। एक ओर तो मशीनों का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति उसी तरह बढ़ जाती है, जिस तरह cotton gin (कपास ओटने की मशीन) का इस्तेमाल होने पर कपास का उत्पादन बढ़ गया था।[1] दूसरी ओर, मशीनों से तैयार की जाने वाली वस्तुएं चूंकि सस्ती होती हैं और साथ ही चूंकि यातायात और संचार के साधनों में बहुत सुधार हो जाता है, इसलिये ये चीज़ें विदेशी मंडियों को जीतने का अस्त्र बन जाती हैं। दूसरे देशों के दस्तकारी के उत्पादन को बरबाद करके मशीनें उनको जबर्दस्ती कच्चा माल पैदा करने वाले क्षेत्रों में बदल देती हैं। इस प्रकार, ईस्ट इण्डिया को ब्रिटेन के वास्ते कपास, ऊन, सन और पाट और नील पैदा करने के लिये मजबूर किया गया।[2]

---

शक्ति से चलने वाले करघे ने बहुत विस्तार प्राप्त कर लिया है।" (*"Reports of Inspectors of Factories for 31st October, 1856"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५६'], पृ० १५।)

[1] कच्चे माल के उत्पादन पर मशीनें अन्य जिन तरीक़ों से असर डालती हैं, उनका ज़िक्र तीसरी पुस्तक में किया जायेगा।

[2] हिन्दुस्तान से ब्रिटेन को कपास का निर्यात

| | |
|---|---|
| १८४६ | ३,४५,४०,१४३ पौण्ड |
| १८६० | २०,४१,४१,१६८ पौण्ड |
| १८६५ | ४४,५६,४७,६०० पौण्ड |

उन तमाम देशों में, जहां आधुनिक उद्योग ने जड़ पकड़ ली है, वह मजदूरों के एक हिस्से को लगातार "फ़ालतू" बनाता चलता है और इस तरह परावास तथा विदेशों में जाकर बसने को बढ़ावा देता है, जिसके फलस्वरूप विदेश स्वदेश के वास्ते कच्चा माल पैदा करने वाली बस्तियों में बदल जाते हैं, जैसे कि, मिसाल के लिये, आस्ट्रेलिया ऊन पैदा करने वाले उपनिवेश में बदल गया है।[1] एक नया और अन्तरराष्ट्रीय श्रम-विभाजन हो जाता है, जो आधुनिक उद्योग के मुख्य केन्द्रों की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। यह श्रम-विभाजन भूगोल के एक भाग को मुख्यतया कृषि-उत्पादन का क्षेत्र बना देता है, जो दूसरे भाग को, जो कि मुख्यतया औद्योगिक क्षेत्र बना रहता है, कच्चा माल दिया करता है। इस विकास के साथ-साथ खेती में कुछ मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं, जिनपर और विचार करने की फ़िलहाल आवश्यकता नहीं है।[2]

मि० ग्लैड्स्टन के प्रस्ताव पर हाउस आफ़ कामन्स ने १७ फ़रवरी १८६७ को इस बात के आंकड़े तैयार करने का आदेश दिया कि संयुक्तांगल राज्य में १८३१ और १८६६ के

---

[1]

हिन्दुस्तान से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

| | |
|---|---|
| १८४६ | ४५,७०,५८१ पौण्ड |
| १८६० | २,०२,१४,१७३ पौण्ड |
| १८६५ | २,०६,७६,१११ पौण्ड |

केप प्रदेश से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

| | |
|---|---|
| १८४६ | २६,५८,४५७ पौण्ड |
| १८६० | १,६५,७४,३४५ पौण्ड |
| १८६५ | २,६६,२०,६२३ पौण्ड |

आस्ट्रेलिया से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

| | |
|---|---|
| १८४६ | २,१७,८६,३४६ पौण्ड |
| १८६० | ५,६१,६६,६१६ पौण्ड |
| १८६५ | १०,६७,३४,२६१ पौण्ड |

[2] संयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक विकास ख़ुद योरप के और विशेषकर इंगलैण्ड के आधुनिक उद्योग का फल है। अमरीका के संयुक्त राज्यों को उनके वर्तमान रूप में (१८६६ में) अब भी योरप का उपनिवेश ही समझना चाहिये। [चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: तब से अब तक संयुक्त राज्य अमरीका दुनिया का दूसरे नम्बर का औद्योगिक देश बन गया है, परन्तु इससे भी उसका औपनिवेशिक स्वरूप पूरी तरह दूर नहीं हुआ है।— फ़्रे० एं०]

संयुक्त राज्य अमरीका से ब्रिटेन को कपास का निर्यात

| | |
|---|---|
| १८४६ | ४०,१६,४६,३६३ पौण्ड |
| १८५२ | ७६,५६,३०,५४३ पौण्ड |
| १८५६ | ८६,१७,०७,२६४ पौण्ड |
| १८६० | १,११,५८,६०,६०८ पौण्ड |

बीच विभिन्न प्रकार के कुल कितने अनाज, मक्का और आटे का आयात हुआ और वहां से निर्यात किया गया है। इस जांच का जो नतीजा निकला, उसका सारांश मैं नीचे दे रहा हूं। आटे की मात्रा ग़ल्ले के क्वार्टरों में बदल दी गयी है। (देखिये पृ० ५१२।)

फ़ैक्टरी-व्यवस्था में यकायक छलांग मारकर विस्तृत होने की जो प्रचण्ड शक्ति होती है, उसका तथा इस व्यवस्था के दुनिया की मण्डियों पर निर्भर रहने का लाज़िमी नतीजा यह होता है कि उत्पादन अंधाधुंध होता है, जिसके फलस्वरूप मण्डियां माल से अंट जाती हैं, और तब मण्डियों के सिकुड़ जाने के कारण उत्पादन को लक़वा मार जाता है। आधुनिक उद्योग का जीवन संयत क्रियाशीलता, समृद्धि, अति-उत्पादन, संकट और ठहराव के एक क्रम का रूप धारण कर लेता है। मशीनों के कारण नौकरी के बारे में, और इसलिये मज़दूरों के जीवन की परिस्थितियों में जो अनिश्चितता तथा अस्थिरता पैदा हो जाती है, वह औद्योगिक चक्र के इन नियतकालिक परिवर्तनों के कारण उनके जीवन की सामान्य बात बन जाती है। समृद्धि के कालों को छोड़कर पूंजीपतियों के बीच सदा मण्डियों की हिस्सा-बांट के लिये अत्यन्त तीव्र संघर्ष चला करता है। हरेक का हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी पैदावार कितनी सस्ती है। इस संघर्ष से नयी-नयी, सुधरी हुई मशीनों का इस्तेमाल करने के मामले में होड़ शुरू हो जाती है, ताकि उनसे श्रम-शक्ति के स्थान पर काम लिया जा सके, और उत्पादन के नये तरीक़े इस्तेमाल करने के मामले में भी होड़ चलने लगती है। इसके अलावा, हर औद्योगिक चक्र के दौरान में एक ऐसा समय भी आता है, जब मालों को सस्ता करने के लिये मज़दूरी को जबर्दस्ती घटाकर श्रम-शक्ति के मूल्य से भी कम कर देने की कोशिश की जाती है।[1]

---

संयुक्त राज्य अमरीका से ब्रिटेन को ग़ल्ले आदि का निर्यात

| | १८५० | १८६२ |
|---|---|---|
| गेहूं (हण्ड्रेडवेट में) | १,६२,०२,३१२ | ४,१०,३३,५०३ |
| जौ " | ३६,६६,६५३ | ६६,२४,८०० |
| जई " | ३१,७४,८०१ | ४४,२६,९९४ |
| रई " | ३,८८,७४९ | ७,१०८ |
| आटा " | ३८,१९,४४० | ७२,०७,११३ |
| मोथी " | १,०५४ | १९,५७१ |
| मक्का " | ५४,७३,१६१ | १,१६,९४,८१८ |
| Bere या bigg " (एक क़िस्म का जौ) | २,०३९ | ७,६७५ |
| मटर " | ८,११,६२० | १०,२४,७२२ |
| सेम की फलियां " | १८,२२,९७२ | २०,३७,१३७ |
| कुल निर्यात | ३,४३,६५,८०१ | ७,४०,८३,३५१ |

[1] लीसेस्टर के जूते बनाने वालों ने, जो तालाबन्दी के कारण बेरोज़गार हो गये थे, जुलाई १८६६ में "Trade Societies of England" ("इंगलैण्ड की धंधों की समितियों") से एक अपील की थी। उसमें कहा गया था: "बीस वर्ष हुए जब सीने के बजाय रिपट करने की प्रथा का

पंचवर्षीय अवधियां और १८६६ का वर्ष

| वार्षिक औसत | १८३१ — — १८३५ | १८३६ — — १८४० | १८४१ — — १८४५ | १८४६ — — १८५० | १८५१ — — १८५५ | १८५६ — — १८६० | १८६१ — — १८६५ | १८६६ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| आयात (क्वार्टरों में) . . . | १०,९६,३७३ | २३,८९,७२९ | २८,४३,८६५ | ८७,७६,५५२ | ८३,४५,२३७ | १,०९,१३,६१२ | १,५०,०९,८७१ | १,६४,५७,३४० |
| निर्यात . . . | २,२५,३६३ | २,५१,७७० | १,३९,०५६ | १,५५,४६१ | ३,०७,४९१ | ३,४१,१५० | ३,०२,७५४ | २,१६,२१८ |
| निर्यात से आयात का आधिक्य . . | ८,७१,११० | २१,३७,९५९ | २७,०४,८०९ | ८६,२१,०९१ | ८०,३७,७४६ | १,०५,७२,४६२ | १,४७,०७,११७ | १,६२,४१,१२२ |
| आबादी | | | | | | | | |
| प्रत्येक काल का वार्षिक औसत | २,४६,२१,१०७ | २,५९,२९,५०७ | २,७२,६२,५६९ | २,७७,९७,५९८ | २,७५,७२,९२३ | २,८३,९१,५४४ | २,९३,८१,४६० | २,९९,३५,४०४ |
| देशी पैदावार के अलावा साल भर में फ़ी आदमी औसतन और कितने ग़ल्ले वग़ैरह का उपभोग हुआ (क्वार्टरों में) . . . . . . | ०.०३६ | ०.०८२ | ०.०९९ | ०.३१० | ०.२९१ | ०.३७२ | ०.५४३ | ०.५४३ |

इसलिये, फ़ैक्टरी-मजदूरों की संख्या में वृद्धि होने की एक आवश्यक शर्त यह है कि मिलों में लगी हुई पूंजी की मात्रा में उससे कहीं अधिक तेजी के साथ वृद्धि हो। किन्तु पूंजी की वृद्धि औद्योगिक चक्र के उतार-चढ़ाव पर निर्भर करती है। इसके अलावा, समय-समय पर यह वृद्धि प्राविधिक प्रगति के कारण रुक जाती है, क्योंकि यदि एक समय प्राविधिक प्रगति एक तरह से नये मजदूरों का काम करती है, तो दूसरे समय वह पुराने मजदूरों को सचमुच विस्थापित कर देती है। यांत्रिक उद्योग में इस प्रकार जो गुणात्मक परिवर्तन होते हैं, उनके कारण लगातार फ़ैक्टरी के मजदूरों को जवाब मिलता रहता है या नये मजदूरों के लिये फ़ैक्टरी के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। इसके विपरीत, जब फ़ैक्टरियों का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तब न केवल उन मजदूरों को फिर से काम मिल जाता है, जिनको पहले जवाब मिल गया था, बल्कि मजदूरों के नये जत्थे भी रोजी पा जाते हैं। इस प्रकार, मजदूरों के आकर्षण और प्रतिकर्षण, दोनों प्रकार की क्रिया लगातार चलती रहती है। उन्हें कभी इसका सहारा लेना पड़ता है, तो कभी उसका। और इसके साथ-साथ औद्योगिक सेना के सिपाहियों के लिंग, आयु तथा निपुणता में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं।

---

आरम्भ हुआ, तो लीसेस्टर के जूतों के धंधे में क्रान्ति हो गयी। उन दिनों अच्छी मजदूरी कमायी जा सकती थी। अलग-अलग फ़र्मों के बीच सबसे अधिक साफ़-सुथरा माल तैयार करने की बड़ी होड़ चलती थी। किन्तु उसके कुछ समय बाद ही एक ज्यादा ख़राब क़िस्म की होड़ होने लगी। इस बात की होड़ होने लगी कि देखें, कौन किससे कम भाव पर बाज़ार में अपना माल बेच सकता है। इसके ख़तरनाक नतीजे जल्द ही इस शकल में सामने आये कि मजदूरी में कटौतियां होने लगीं। श्रम के दामों में इतनी तेजी से गिराव आया कि आजकल बहुत सी फ़र्में पुराने दिनों की केवल आधी मजदूरी देती हैं। और फिर भी, यद्यपि मजदूरी बराबर नीचे गिरती जा रही है, तथापि मुनाफ़े मजदूरी की दर में होने वाले हर परिवर्तन के साथ बढ़ते हुए लगते हैं।" – जब व्यवसाय के लिये मंदी का वक़्त आता है, तब उससे भी कारख़ानेदार फ़ायदा उठाते हैं। वे मजदूरी को हद से ज्यादा कम करके, यानी मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों को प्रत्यक्ष रूप से लूटकर, असाधारण मुनाफ़े कमाने की कोशिश करते हैं। एक उदाहरण देखिये (इसका कोवेण्ट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग के संकट से सम्बंध है): "मुझे मजदूरों के साथ-साथ कारख़ानेदारों से भी जो सूचना मिली है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता या अन्य कारणों से मजदूरी में जितनी कटौती करना आवश्यक था, उससे कहीं अधिक कटौती कर दी गयी है... अधिकतर बुनकर पहले से ३० से ४० प्रतिशत तक कम मजदूरी पर काम कर रहे हैं। पांच साल पहले फ़ीते के जिस टुकड़े को बनाने के लिये बुनकर को ६ शिलिंग या ७ शिलिंग मिल जाते थे, अब उसके लिये केवल ३ शिलिंग ३ पेंस या ३ शिलिंग ६ पेंस मिलते हैं। अन्य प्रकार के काम की मजदूरी आजकल २ शिलिंग या २ शिलिंग ३ पेंस है; पहले वह ४ शिलिंग और ४ शिलिंग ३ पेंस थी। मांग को बढ़ाने के लिये मजदूरी में जितनी कटौती करना आवश्यक था, मालूम होता है, उससे अधिक कटौती कर दी गयी है। वास्तव में अनेक प्रकार के फ़ीतों की बुनाई के ख़र्चे में जो कमी आ गयी है, निश्चय ही उसके साथ-साथ तैयार माल के बाजार-भाव में उसके अनुरूप कमी नहीं की गयी है।" (मि० एफ़० डी० लोंगे की रिपोर्ट; "*Ch. Emp. Com., V Rep., 1866*" ['बाल-सेवायोजन आयोग की पांचवीं रिपोर्ट, १८६६'], पृ० ११४, अंक १।)

फ़ैक्टरी-मजदूरों के भाग्य की कुछ जानकारी प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि इंगलैण्ड के सूती उद्योग के इतिहास का जल्दी से सिंहावलोकन कर डाला जाये।

१७७० से लेकर १८१५ तक इस धंधे में केवल ५ वर्ष के लिये मंदी या ठहराव रहा। ४५ वर्ष के इस काल में अंग्रेज कारख़ानेदारों का मशीनों पर और दुनिया की मण्डियों पर एकाधिकार था। १८१५ से १८२१ तक मन्दी रही। १८२२ और १८२३ समृद्धि के वर्ष थे। १८२४ में ट्रेड-यूनियनों के ख़िलाफ़ बनाये गये क़ानूनों को रद्द कर दिया गया और हर जगह फ़ैक्टरियों का बड़ा विस्तार हुआ। १८२५ में संकट आया। १८२६ में फ़ैक्टरी-मजदूरों की हालत बहुत ख़राब हो गयी और जगह-जगह पर मजदूरों के उपद्रव हुए। १८२७ में स्थिति में कुछ सुधार हुआ। १८२८ में शक्ति से चलने वाले करघों की संख्या में और निर्यात में भारी वृद्धि हुई। १८२९ में निर्यात, ख़ास कर हिन्दुस्तान को जाने वाला निर्यात, पिछले सभी वर्षों से बढ़ गया। १८३० में मण्डियां माल से अंट गयीं और हर तरफ़ मुसीबत आ गयी। १८३१ से १८३३ तक लगातार मंदी रही और ईस्ट इण्डिया कम्पनी से हिन्दुस्तान और चीन के साथ व्यापार करने का एकाधिकार छीन लिया गया। १८३४ में फ़ैक्टरियों और मशीनों की संख्या में भारी वृद्धि हुई और मजदूरों की कमी हुई। ग़रीबों के बारे में जो नया क़ानून बना, उससे खेतिहर मजदूरों को औद्योगिक डिस्ट्रिक्टों में आकर बस जाने के लिये बढ़ावा मिला। देहाती इलाक़े बच्चों से ख़ाली हो गये। लड़कियों से वेश्या-वृत्ति कराने के लिये उनकी बिक्री शुरू हो गयी। १८३५ महान समृद्धि का वर्ष था, पर इसी समय हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले बुनकर भूखों मर रहे थे। १८३६ महान समृद्धि का वर्ष था। १८३७ और १८३८ मंदी और संकट के वर्ष थे। १८३९ में उद्योग का पुनरुत्थान हुआ। १८४० में भयानक मंदी आयी और ऐसे भयंकर मजदूर उपद्रव हुए, जिनको दबाने के लिये सेना को बुलाना पड़ा। १८४१ और १८४२ में फ़ैक्टरी-मजदूरों को भयानक कष्ट उठाना पड़ा। १८४२ में कारख़ानेदारों ने ग़ल्ले के क़ानून को मंसूख़ कराने के लिये फ़ैक्टरियों में ताले डाल दिये। मजदूर हजारों की संख्या में लंकाशायर और यार्कशायर के शहरों में भर गये। वहां से फ़ौज ने उन्हें जबर्दस्ती बाहर निकाला, और उनके नेताओं पर लांकेस्टर में मुक़दमा चलाया गया। १८४३ बड़ी मुसीबत का वर्ष था। १८४४ में फिर पुनरुत्थान हुआ। १८४५ में महान समृद्धि का काल आया। १८४६ में शुरू में स्थिति का सुधरना जारी रहा, फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी; ग़ल्ले के क़ानून मंसूख़ कर दिये गये। १८४७ में संकट आया; "big loaf" ("मोटी रोटी") के सम्मान में मजदूरी में सामान्य रूप से १० प्रतिशत और उससे भी अधिक की कटौती कर दी गयी। १८४८ में मंदी जारी रही, मानचेस्टर सैनिक संरक्षण में रहा। १८४९ में उद्योग का पुनरुत्थान हुआ। १८५० में समृद्धि का समय आया। १८५१ में दाम गिरे, मजदूरी गिरी और अक्सर हड़तालें हुईं। १८५२ में परिस्थिति सुधरनी शुरू हुई, पर हड़तालें जारी रहीं; कारख़ानेदारों ने धमकी दी कि वे विदेशों से मजदूर बुला लेंगे। १८५३ में निर्यात बढ़ने लगे, ८ महीने तक हड़ताल चली और प्रेस्टन में मजदूरों को भयानक ग़रीबी का सामना करना पड़ा। १८५४ में फिर समृद्धि का समय आ गया और मण्डियां माल से अंट गयीं। १८५५ में बराबर संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और पूरब की मण्डियों से लोगों के दिवाले निकलने की ख़बरें आती रहीं। १८५६ महान समृद्धि का वर्ष रहा। १८५७ में संकट आया। १८५८ में कुछ सुधार हुआ। १८५९ में फिर महान समृद्धि का समय आया, फ़ैक्टरियों की संख्या में वृद्धि हो गयी। १८६० में इंगलैण्ड का सूती धंधा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा; इस साल हिन्दुस्तान, आस्ट्रेलिया

तथा अन्य देशों की मण्डियां माल से इस बुरी तरह अंट गयीं कि १८६३ तक भी वे इस माल को पूरी तरह हजम नहीं कर सकीं; व्यापार की फ़्रांसीसी संधि सम्पन्न हुई; फ़ैक्टरियों और मशीनों की संख्या में बहुत भारी वृद्धि हुई। १८६१ में कुछ समय तक समृद्धि जारी रही, फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, अमरीका का गृह-युद्ध छिड़ गया, कपास का अकाल पड़ गया। १८६२ से १८६३ तक व्यवसाय पूरी तरह चौपट रहा।

कपास के अकाल का इतिहास इतना अर्थपूर्ण है कि उसपर थोड़ा विचार किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। १८६० और १८६१ में दुनिया की मण्डियों की हालत की जो अलामतें देखने को मिली थीं, उनसे पता चलता है कि कारख़ानेदारों के दृष्टिकोण से कपास का अकाल बिल्कुल ठीक समय पर आया था, और उन्हें कुछ हद तक उससे लाभ हुआ था। इस तथ्य को मानचेस्टर की व्यापार-परिषद (चेम्बर आफ़ कामर्स) की रिपोर्टों में स्वीकार किया गया, पाल्मर्स्टन और डरबी ने संसद में उसकी घोषणा की और घटनाओं ने उसे प्रमाणित कर दिया।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्तांगल राज्य में १८६१ में जो २,८८७ सूती मिलें थीं, उनमें से अनेक का आकार छोटा था। मि० ए० रेड्ग्रेव की रिपोर्ट के मुताबिक, उनके ज़िले में जो २,१०९ मिलें थीं, उनमें से ३९२ – या १९ प्रतिशत – में प्रति मिल दस अश्व-शक्ति से कम, ३४५ – या १६ प्रतिशत – में प्रति मिल १० अश्व-शक्ति या उससे अधिक, पर २० अश्व-शक्ति से कम ताक़त इस्तेमाल होती थी और १,३७२ मिलें २० अश्व-शक्ति या उससे अधिक ताक़त का प्रयोग करती थीं।[2] छोटी मिलों में से अधिकतर इससे ज्यादा कुछ नहीं थीं कि वहां छप्पर डालकर बुनाई का इन्तज़ाम कर दिया गया था। १८५८ के बाद जब समृद्धि का काल आया था, तब इन्हें बनवाया गया था। इनमें से ज्यादातर सट्टेबाज़ों द्वारा बनवायी गयी थीं। एक सट्टेबाज सूत लाता था, दूसरा मशीनें और तीसरा मकान खड़ा कर देता था। और उनको चलाते वे लोग थे, जो मिलों में overlookers (फ़ोरमैन) रह चुके थे, या कम साधनों वाले ऐसे ही लोग। इन छोटे-छोटे कारख़ानेदारों में से अधिकतर का जल्दी ही दिवाला निकल गया। उस व्यापारिक संकट में भी उनका यही हाल हुआ होता, जो केवल कपास के अकाल के कारण रुक गया था। यद्यपि कारख़ानेदारों की कुल संख्या का एक तिहाई भाग इन छोटे-छोटे कारख़ानेदारों का था, तथापि उनकी मिलों में सूती धंधे में लगी हुई कुल पूंजी का अपेक्षाकृत बहुत छोटा भाग ही लगा हुआ था। जहां तक काम के बीच में रुक जाने का सवाल है, प्रामाणिक अनुमानों से प्रतीत होता है कि अक्तूबर १८६२ में ६०.३ प्रतिशत तकुए और ५८ प्रतिशत करघे बेकार खड़े थे। ये आंकड़े पूरे सूती धंधे के सम्बंध में हैं, और ज़ाहिर है कि अलग-अलग डिस्ट्रिक्टों की स्थिति जानने के लिये उनमें काफ़ी संशोधन करना होगा। बहुत कम मिलें पूरे समय (६० घण्टे प्रति सप्ताह) काम करती थीं। बाक़ी रुक-रुककर चलती थीं। जिन चन्द मिलों में पूरे समय काम होता था और आम तौर पर कार्यानुसार मजदूरी मिलती थी, उनमें भी मजदूरों की मजदूरी अनिवार्य रूप से कम हो गयी थी। इसका कारण यह था कि अच्छी कपास की जगह पर ख़राब क़िस्म की कपास इस्तेमाल होने लगी थी, जैसे (महीन सूत कातने वाली मिलों में) Sea Island की कपास की जगह पर मिस्री कपास, अमरीकी और मिस्री कपास की

---

[1] देखिये "*Reports of Insp. of Fact., 31st October, 1862*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'), पृ० ३०।

[2] उप० पु०, पृ० १९।

जगह पर सूरत की कपास और शुद्ध कपास की जगह पर सूरत की कपास तथा रद्दी कपास को मिलाकर इस्तेमाल किया जाने लगा था। सूरत की कपास का रेशा छोटा था और वह काफ़ी गन्दी हालत में आती थी। उसका धागा ज्यादा कमजोर होता था। ताने में मांड़ी लगाने के लिये जो आटा इस्तेमाल होता था, उसकी जगह पर तरह-तरह के दूसरे मोटे तत्त्व इस्तेमाल किये जाने लगे थे। इन सब कारणों से मशीनों की रफ़्तार कम हो गयी थी, या एक बुनकर अब पहले जितने करघों की देखभाल नहीं कर पाता था, और मशीनों में पाये जाने वाले दोषों के कारण जो श्रम करना पड़ता था, उसमें भी वृद्धि हो गयी थी। इन सब कारणों से पहले से कम मात्रा में पैदावार होने लगी थी और उसके फलस्वरूप कार्यानुसार मिलने वाली मजदूरी कम हो गयी थी। जब सूरती कपास इस्तेमाल की जाती थी, तब पूरे समय काम करने वाले मजदूरों को २० प्रतिशत, ३० प्रतिशत या उससे भी अधिक का नुक़सान होता था। किन्तु, इसके अलावा, अधिकतर कारखानेदारों ने वैसे भी कार्यानुसार मजदूरी की दर में ५,७ $\frac{१}{२}$ और १० प्रतिशत तक की कटौती कर दी थी। इसलिये हम उन मजदूरों की दशा की कल्पना कर सकते हैं, जिनसे सप्ताह में केवल ३ दिन, ३ $\frac{१}{२}$ दिन या ४ दिन अथवा दिन भर में केवल ६ घण्टे काम कराया जाता था। १८६३ तक स्थिति में कुछ सुधार हो गया था। पर उस वर्ष भी कताई करने वाले मजदूरों और बुनकरों की साप्ताहिक मजदूरी ३ शिलिंग ४ पेंस, ३ शिलिंग १० पेंस, ४ शिलिंग ६ पेंस और ५ शिलिंग १ पेंस थी।[1] लेकिन इस अत्यन्त शोचनीय स्थिति में भी मिल-मालिक की आविष्कारक प्रतिभा ने कभी विश्राम नहीं किया। वह निरन्तर मजदूरी में कटौती करने की नयी-नयी तरक़ीबें निकालता रहा। ये कटौतियां कुछ हद तक तैयार वस्तु में पायी जाने वाली ख़राबियों के बहाने से की जाती थीं, हालांकि, असल में, ये ख़राबियां मिल-मालिक की ख़राब कपास और अनुपयुक्त मशीनों के कारण पैदा होती थीं। इसके अलावा, जहां कहीं मजदूरों के रहने के घरों का मालिक भी कारखानेदार ही होता था, वहां वह उनकी तुच्छ मजदूरी में से पैसे काटकर अपना किराया वसूल कर लेता था। मि० रेडग्रैव बताते हैं कि स्वचालित म्यूलों की एक जोड़ी की देखरेख करने वाले मजदूर (self-acting minders) "पूरे एक पखवारे तक काम करके ८ शिलिंग ११ पेंस कमाते थे और इस रक़म में से घर का किराया काट लिया जाता था। लेकिन कारखानेदार उनपर मेहरबानी करके आधा किराया लौटा देता था। मजदूरों को ६ शिलिंग ११ पेंस की रक़म मिलती थी। बहुत सी जगहों में १८६२ के अन्तिम दिनों में स्वचालित म्यूलों की जोड़ी की देखरेख करने वाले मजदूरों की आमदनी ५ शिलिंग से लेकर ६ शिलिंग प्रति सप्ताह तक और बुनकरों की २ शिलिंग से लेकर ६ शिलिंग तक बैठती थी।"[2] मजदूर जब कम समय काम करते थे, तब भी उनकी मजदूरी में से किराये की रक़म अक्सर काट ली जाती थी।[3] इसलिये कोई आश्चर्य नहीं, यदि लंकाशायर के कुछ हिस्सों में भूख से पैदा होने वाले एक तरह के बुख़ार ने महामारी का रूप धारण कर

---

[1] "*Rep. Insp. of Fact., 31st October, 1863*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६३'), पृ० ४१-४५।

[2] उप० पु०, पृ० ४१-४२।

[3] उप० पु०, पृ० ५७।

लिया था। पर इन तमाम बातों से अधिक अर्थपूर्ण वह क्रान्ति है, जो मजदूरों की क़ीमत पर उत्पादन की क्रिया में हुई। जैसे शरीर-रचना विज्ञान के विशेषज्ञ मेंढकों पर प्रयोग करते हैं, वैसे ही इन मजदूरों के शरीरों पर प्रयोग (experimenta in corpore vili) किये गये। मि० रेड्ग्रेव ने बताया है: "यद्यपि मैंने यहां पर कई मिलों के मजदूरों की वास्तविक कमाई का उल्लेख किया है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लगातार हर सप्ताह यही रक़म कमाते हैं। कारख़ानेदार लोग जो तरह-तरह के प्रयोग लगातार किया करते हैं, उनकी वजह से मजदूरों को बड़े उतार-चढ़ाव का शिकार होना पड़ता है... कपास में जैसी मिलावट होती है, उसके अनुसार उनकी कमाई घटती-बढ़ती रहती है। कभी-कभी उसमें और उनकी पुराने दिनों की कमाई में केवल १५ प्रतिशत का ही अन्तर रह जाता है, और फिर एक-दो सप्ताह के भीतर ही उसमें ५० से लेकर ६० प्रतिशत तक की कमी आ जाती है।"[1] ये प्रयोग केवल मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों को कम करके ही नहीं किये जाते थे। मजदूर की पांचों इन्द्रियों को भी इसका दण्ड भुगतना पड़ता था। "जो लोग सूरती कपास से कताई करते हैं, उनको बहुत ज्यादा शिकायतें हैं। उन्होंने मुझे बताया है कि कपास की गांठें खोलने पर उनमें से एक असहनीय बदबू निकलती है, जिससे मजदूरों को क़ै होने लगती है... कपास मिलाने, धुनने और बुनने के कमरों में जो धूल और गंदगी उसमें से निकलती है, वह मुंह, नाक, आंखों और कानों में विकार पैदा कर देती है, और मजदूरों को खांसी हो जाती है तथा सांस लेने में कठिनाई होने लगती है। मजदूरों में चर्म-रोग भी पाया जाता है, जो इसमें सन्देह नहीं कि सूरती कपास की गंदगी से पैदा होने वाले विकार से फैलता है... इस कपास का रेशा बहुत छोटा होने के कारण वनस्पति से बनी और चमड़े से बनी दोनों प्रकार की मांड़ी बहुत अधिक मात्रा में इस्तेमाल की जाती है... धूल के कारण ब्रांकाइटिस की बीमारी बहुत होती है। इसी कारण अक्सर गला दुखने लगता है और सूज जाता है। बाना अक्सर टूटता रहता है, और हर बार बुनकर को ढरकी के छेद में मुंह लगाकर बाने को बाहर खींचना पड़ता है। इससे मतली और मंदाग्नि हो जाती है।" दूसरी ओर, आटे की जगह पर जो अधिक भारी पदार्थ इस्तेमाल किये जाते थे, वे कारख़ानेदारों के लिये फ़ारचुनेटस की थैली बन गये थे, क्योंकि उनसे सूत का वजन बढ़ गया था। इन पदार्थों के कारण "कताई के बाद १५ पौण्ड कच्चे माल का वजन २६ पौंड हो जाता था।"[2] फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की ३० अप्रैल १८६४ की रिपोर्ट में हमें यह पढ़ने को मिलता है: "इस व्यवसाय में इस ख़ास तरक़ीब से आजकल इतना ज्यादा फ़ायदा उठाया जा रहा है कि वह निन्द्य है। ८ पौण्ड वजन के एक कपड़े के बारे में मुझे एक अधिकारी व्यक्ति से यह मालूम हुआ कि उसमें ५$\frac{१}{२}$ पौण्ड कपास और २$\frac{३}{४}$ पौण्ड मांड़ी लगी है। एक और कपड़ा है, जिसका वजन ५$\frac{१}{४}$ पौण्ड है और जिसमें २ पौण्ड मांड़ी लगी है। ये दोनों विदेशों को भेजने के लिये बनाये गये क़मीज़ों के साधारण कपड़े थे। दूसरी क़िस्मों के कपड़ों में कभी-कभी ५० प्रतिशत तक मांड़ी जोड़ दी जाती थी। कारख़ानेदार यहां तक कह सकता था – और वह अक्सर इसकी डींग मारा करता था – कि उसने जिस भाव पर सूत ख़रीदा था, अपना कपड़ा वह उससे भी

---

[1] उप० पु०, पृ० ५०-५१।
[2] उप० पु०, पृ० ६२-६३।

कम भाव पर बेचता है और फिर भी धनी हुआ जाता है।"[1] लेकिन केवल मिलों के अन्दर मिल-मालिकों और बाहर नगरपालिकाओं द्वारा किये जाने वाले प्रयोगों, मजदूरी में कटौतियों और बेरोजगारी, अभाव और भीख की रोटी और हाउस आफ़ लार्ड्स तथा हाउस आफ़ कामन्स के प्रशस्ति-भाषणों के कारण ही मजदूरों को दुःख उठाना नहीं पड़ता था। "वे अभागी नारियां, जो कपास के अकाल के फलस्वरूप अकाल आरम्भ होते ही बेकार हो गयी थीं, समाज से बहिष्कृत हो गयी हैं; और अब हालांकि व्यवसाय में फिर से जान पड़ गयी है और काम की भी कोई कमी नहीं है, पर वे आज भी उसी अभागी श्रेणी की सदस्याएं बनी हुई हैं और आगे भी उनके इसी श्रेणी में पड़े रहने की सम्भावना है। नगर में कम-उम्र वेश्याओं की संख्या जितनी आजकल बढ़ गयी है, उतनी मैंने पिछले २५ वर्ष में कभी नहीं देखी थी।"[2]

इस तरह हम देखते हैं कि १७७० से १८१५ तक—इंगलैण्ड के सूती व्यवसाय के पहले ४५ वर्षों में—केवल ५ वर्ष संकट और ठहराव के थे। परन्तु यह एकाधिकार का काल था। १८१६ से १८६३ तक का दूसरा काल ४८ वर्ष का था। उसमें से २८ वर्ष मंदी और ठहराव के वर्ष थे, और उनके मुक़ाबले में केवल २० वर्ष व्यवसाय के पुनरुत्थान और समृद्धि के थे। १८१५ और १८३० के बीच योरपीय महाद्वीप और संयुक्त राष्ट्र अमरीका से प्रतियोगिता छिड़ गयी। १८३३ के बाद "मनुष्य-जाति का विनाश करके" (हाथ का करघा इस्तेमाल करने वाले हिन्दुस्तानी बुनकरों की पूरी की पूरी आबादी को मिटाकर) एशिया की मण्डियों का बलपूर्वक विस्तार किया गया है। ग़ल्ले के क़ानूनों के रद्द कर दिये जाने के बाद, १८४६ से १८६३ तक, ७ वर्ष यदि साधारण क्रियाशीलता और समृद्धि का काल रहता है, तो ९ वर्ष मंदी और ठहराव में गुजरते हैं। समृद्धि के वर्षों में भी वयस्क पुरुष मजदूरों की क्या दशा रहती थी, इसका कुछ ज्ञान नीचे दिये गये फ़ुटनोट से प्राप्त हो सकता है।[3]

---

[1] "*Rep., &c., 30th April, 1864*" ('रिपोर्टें, इत्यादि, ३० अप्रैल १८६४'), पृ० २७।

[2] बोल्टन के चीफ़ कांस्टेबल, मि० हैरिस के एक पत्र से। देखिये "*Rep. of Insp. of Fact., 31st October, 1865*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ६१-६२।

[3] लंकाशायर आदि के फ़ैक्टरी-मजदूरों ने संगठित परावास का आयोजन करने वाली एक संस्था बनाने के उद्देश्य से १८६३ में एक अपील प्रकाशित की थी। इस अपील में हमें यह पढ़ने को मिलता है: "इस बात से तो अब इने-गिने लोग ही इनकार करेंगे कि मजदूरों को उनकी मौजूदा तबाह हालत से ऊपर उठाने के लिये यह बिल्कुल जरूरी है कि बड़े पैमाने पर उनके परावास की व्यवस्था की जाये। लेकिन यह स्पष्ट करने के लिये कि परावास के एक निरन्तर प्रवाह की हर घड़ी आवश्यकता रहती है और उसके बिना साधारण काल में भी मजदूरों के लिये अपनी स्थिति को बनाये रखना असम्भव हो जाता है, हम निम्नलिखित तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं: १८१४ में जो सूती सामान विदेशों को भेजा गया था, उसका सरकारी मूल्य १,७६,६५,३७८ पौण्ड था, जब कि बाजार में वह असल में २,००,७०,८२४ पौण्ड की क़ीमत पर बेचा जा सकता था। १८५८ में जो सूती सामान विदेशों को भेजा गया, उसका सरकारी मूल्य १८,२२,२१,६८१ पौण्ड था, लेकिन उसका वास्तविक मूल्य, या वह मूल्य, जिसपर, उसे बाजार में बेचा जा सकता था, केवल ४,३०,०१,३२२ पौण्ड था। यानी पहले से दस गुना सामान अधिक पुरानी क़ीमत के दुगने से थोड़े ज्यादा दाम लेकर बेच दिया

## अनुभाग ८—आधुनिक उद्योग द्वारा हस्तनिर्माण, दस्तकारियों और घरेलू उद्योग में की गयी क्रान्ति

### (क) दस्तकारी और श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता का पतन

हम यह देख चुके हैं कि दस्तकारियों पर आधारित सहकारिता को और दस्तकारी श्रम के विभाजन पर आधारित हस्तनिर्माण को मशीनें किस तरह समाप्त कर देती हैं। पहले ढंग की मिसाल है घास काटने की मशीन। वह घास काटने वाले व्यक्तियों की सहकारिता का स्थान ले लेती है। दूसरे ढंग की एक अच्छी मिसाल है सुइयां बनाने की मशीन। ऐडम स्मिथ के अनुसार, उनके जमाने में १० आदमी सहकार करते हुए एक दिन में ४८,००० से अधिक सुइयां तैयार कर देते थे। दूसरी ओर, सुइयां बनाने की एक अकेली मशीन ११ घण्टे के काम के दिन में १,४५,००० सुइयां बना डालती है। एक औरत या लड़की ऐसी चार मशीनों की देखभाल करती है, और इस तरह वह दिन भर में लगभग ६,००,००० सुइयां या एक सप्ताह में ३०,००,००० से अधिक सुइयां तैयार कर देती है।[1] जब कोई मशीन सहकारिता या हस्तनिर्माण का स्थान ले लेती है, तब इस तरह की एक अकेली मशीन दस्तकारी के ढंग के उद्योग का खुद एक आधार बन सकती है। फिर भी दस्तकारी की ओर इस तरह लौटकर भी महज़ फ़ैक्टरी-व्यवस्था की ओर ही क़दम बढ़ाया जाता है, और जैसे ही मशीनों को चलाने के लिये मानव-मांस-पेशियों के बजाय भाप

---

गया था। सामान्य रूप से देश के लिये और विशेष रूप से फ़ैक्टरी-मज़दूरों के लिये यदि इतना अहितकर परिणाम हुआ, तो उसके पीछे कई कारण मिलकर काम कर रहे थे। अगर परिस्थितियां इजाज़त देतीं, तो हम इन कारणों को अधिक स्पष्टता के साथ आपके सामने रखते। बहरहाल, अभी इतना ही कह देना काफ़ी है कि इनमें से सबसे स्पष्ट कारण यह है कि श्रम का निरन्तर आधिक्य रहता है। यदि यह न होता, तो ऐसा सत्यानाशी व्यवसाय, जिसे नष्ट होने से बचाने के लिये एक निरन्तर बढ़ती हुई मण्डी की आवश्यकता होती है, कभी जारी न रह पाता। वर्तमान व्यवस्था में व्यवसाय में समय-समय पर आने वाला ठहराव उतना ही अवश्यम्भावी होता है, जितनी मौत, और इन ठहरावों से हमारी सूती मिलों में ताला पड़ सकता है। लेकिन मानव-मस्तिष्क निरन्तर काम करता रहता है, और यद्यपि हमारा विश्वास है कि जब हम यह कहते हैं कि पिछले २५ वर्षों में ६० लाख व्यक्ति इस देश को छोड़कर चले गये हैं, तब हम वास्तविकता को कुछ कम करके ही पेश कर रहे हैं, तथापि जनसंख्या में जो प्राकृतिक वृद्धि होती रहती है और पैदावार को सस्ता करने के लिये श्रम का जो विस्थापन होता रहता है, उसके कारण अधिक से अधिक समृद्धि के दिनों में भी वयस्क पुरुषों की एक बड़ी भारी संख्या को फ़ैक्टरियों में किसी भी शर्त पर काम नहीं मिलता।" (*"Reports of Insp. of Fact., 30th April, 1863"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० ५१-५२।) बाद के एक अध्याय में हम देखेंगे कि जब सूती व्यवसाय पर संकट आया था, उन दिनों हमारे मित्र कारख़ानेदारों ने मज़दूरों के परावास को रोकने के लिये हर मुमकिन कोशिश की थी और यहां तक कि राज्य के हस्तक्षेप का भी सहारा लिया था।

[1] *"Ch. Empl. Comm. III Report, 1864"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० १०८, अंक ४४७।

या पानी जैसी किसी यांत्रिक चालक शक्ति से काम लिया जाने लगता है, वैसे ही यह फ़ैक्टरी-व्यवस्था अस्तित्व में आ जाती है। जहां-तहां कोई उद्योग यांत्रिक शक्ति से भी छोटे पैमाने पर चलाया जा सकता है, पर किसी भी हालत में यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रहती। इस प्रकार का छोटे पैमाने का उद्योग या तो भाप की शक्ति किराये पर लेकर चलाया जा सकता है, जैसा कि बिरमिंघम के कुछ धंधों में होता है, या छोटे ताप-इंजनों का उपयोग करके चलाया जा सकता है, जैसा कि बुनाई की कुछ शाखाओं में होता है।[1] कोवेन्ट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग में "कुटीर-फ़ैक्टरियों" का प्रयोग किया गया था। एक आंगन में चारों ओर झोंपड़ियों की पंक्तियां खड़ी कर दी गयी थीं, बीच में engine house (इंजन का घर) बनाया गया था और इंजन को धुरों के जरिये झोंपड़ियों में रखे हुए करघों से जोड़ दिया गया था। शक्ति के एवज में फ़ी करघा एक निश्चित रक़म किराये के तौर पर देनी पड़ती थी। करघे चाहे चलें या न चलें, साप्ताहिक किराया हर हालत में देना होता था। हर झोंपड़ी में २ से ६ तक करघे होते थे। उनमें से कुछ बुनकर की सम्पत्ति होते थे, कुछ को वह उधार ख़रीद लेता था और कुछ किराये पर ले लेता था। इन कुटीर-फ़ैक्टरियों और असली फ़ैक्टरी के बीच १२ साल तक संघर्ष चलता रहा। यह संघर्ष अन्त में ३०० कुटीर-फ़ैक्टरियों को तबाह करके ही समाप्त हुआ।[2] जहां कहीं पर स्वयं उत्पादन-प्रक्रिया के स्वरूप के कारण बड़े पैमाने का उत्पादन आवश्यक नहीं था, वहां पर पिछले कुछ दशकों में जिन नये उद्योगों – मसलन लिफ़ाफ़े बनाने के उद्योग, लोहे के क़लम बनाने के उद्योग इत्यादि – का जन्म हुआ है, वे फ़ैक्टरी-व्यवस्था तक पहुंचने के पूर्व आम तौर पर पहले दस्तकारी की और फिर हस्तनिर्माण की दो छोटी-छोटी अन्तरकालीन अवस्थाओं में से गुजरे हैं। जहां हस्तनिर्माण के द्वारा किसी वस्तु का उत्पादन कुछ आनुक्रमिक क्रियाओं का एक क्रम न होकर अनेक असम्बद्ध प्रक्रियाओं के रूप में होता है, वहां यह संक्रमण बहुत कठिनाई से होता है। इस बात से लोहे के क़लम बनाने वाली फ़ैक्टरियां खोलने के रास्ते में बड़ी मुश्किलें पैदा हो गयी थीं। फिर भी क़रीब १५ वर्ष पहले एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ, जो बिल्कुल अलग-अलग ६ क्रियाएं एक बार में पूरी कर डालती थी। शुरू-शुरू में जो लोहे के क़लम दस्तकारी की प्रणाली के अनुसार बनाये गये थे, वे १८२० में ७ पौण्ड ४ शिलिंग फ़ी गुरूस (१२ दर्जन) के भाव पर बिके थे। १८३० में वे हस्तनिर्माण के द्वारा बनाये जाने लगे, तो उनका भाव ८ शिलिंग फ़ी गुरूस हो गया। और आजकल फ़ैक्टरी-व्यवस्था २ से लेकर ६ पेंस फ़ी गुरूस तक के भाव पर इन क़लमों को थोक व्यापारियों को बेच देती है।[3]

---

[1] संयुक्त राज्य अमरीका में इस तरह अक्सर दस्तकारियों को मशीनों के आधार पर पुनः चालू कर दिया जाता है, और इसलिये वहां पर जब वह अवश्यम्भावी परिवर्तन होगा तथा फ़ैक्टरी-व्यवस्था क़ायम होगी, तब वहां केन्द्रीकरण की क्रिया ऐसे प्रचण्ड वेग से चलेगी कि योरप और यहां तक कि इंगलैण्ड भी पीछे छूट जायेगा।

[2] देखिये "*Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1865*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ६४।

[3] मि० गिलोट ने बिर्मिंघम में पहली बड़ी पैमाने की लोहे के क़लम बनाने की फ़ैक्टरी खड़ी की थी। यह फ़ैक्टरी १८५१ में ही हर साल १८ करोड़ क़लम तैयार करने लगी थी और १२० टन इस्पात ख़र्च करती थी। संयुक्तांगल राज्य में इस उद्योग का एकाधिकार बिर्मिंघम को मिला हुआ है, और वह आजकल अरबों क़लम तैयार कर रहा है। १८६१ की जन-गणना के अनुसार, इस उद्योग में १,४२८ व्यक्ति काम करते थे, जिनमें से १,२६८ लड़कियां और स्त्रियां थीं, जिनकी आयु ५ वर्ष से आरम्भ होती थी।

## (ख) हस्तनिर्माण और घरेलू उद्योगों पर फ़ैक्टरी-व्यवस्था की प्रतिक्रिया

फ़ैक्टरी-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ खेती में भी क्रान्ति हो जाती है, और इन दोनों घटनाओं के साथ-साथ उद्योग की अन्य तमाम शाखाओं में न केवल उत्पादन बढ़ जाता है, बल्कि उसका स्वरूप ही बदल जाता है। फ़ैक्टरी-व्यवस्था में व्यावहारिक रूप पाने वाला यह सिद्धान्त कि उत्पादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करके उसे उसकी संघटक अवस्थाओं में बांट देना चाहिये और इस तरह जो समस्याएं सामने आयें, उनको यांत्रिकी, रसायन और प्राकृतिक विज्ञान की सभी शाखाओं का प्रयोग करके हल करना चाहिये, – यह सिद्धान्त अब हर जगह निर्णायक सिद्धान्त बन जाता है। चुनांचे मशीनें पहले सामान तैयार करने वाले उद्योगों की किसी एक तफ़सीली प्रक्रिया में घुस जाती हैं और फिर किसी दूसरी प्रक्रिया में प्रवेश कर जाती हैं। इस प्रकार इन उद्योगों की व्यवस्था का वह ठोस स्फटिक, जो पुराने श्रम-विभाजन पर आधारित था, घुल जाता है और निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के लिये रास्ता खुल जाता है। इससे बिल्कुल अलग ढंग से सामूहिक मजदूर की बनावट में मौलिक परिवर्तन हो जाता है, मिलकर काम करने वाले व्यक्ति बदल जाते हैं। हस्तनिर्माण-काल के विपरीत अब आगे से श्रम-विभाजन का आधार यह होता है कि जहां कहीं भी सम्भव होता है, वहां पर स्त्रियों, हर उम्र के बच्चों तथा अनिपुण मजदूरों से और यदि संक्षेप में कहें, तो "cheap labour" (सस्ते श्रम) से काम लिया जाता है, – इंगलैण्ड में इस प्रकार के मजदूरों के लिये इसी विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। यह बात न केवल हर प्रकार के बड़े पैमाने के उत्पादन पर, – उसमें चाहे मशीनें इस्तेमाल की जाती हों या नहीं, – बल्कि तथाकथित घरेलू उद्योगों पर भी लागू होती है, वे चाहे मजदूरों के घरों में चलाये जाते हों और चाहे छोटे-छोटे कारखानों में। आधुनिक काल के इस तथाकथित घरेलू उद्योग और पुराने ढंग के घरेलू उद्योग में नाम के सिवा और कोई समानता नहीं है। पुराने ढंग का घरेलू उद्योग अपने अस्तित्व के लिये स्वतंत्र शहरी दस्तकारियों, स्वतंत्र किसान की खेती और इनसे भी अधिक इस बात पर निर्भर था कि मजदूर और उसके परिवार के पास रहने का अपना मकान होता था। पुराने ढंग का वह उद्योग फ़ैक्टरी, हस्तनिर्माणशाला या गोदाम के एक बाहरी विभाग में बदल दिया गया है। पूंजी फ़ैक्टरी-मजदूरों, हस्तनिर्माण करने वाले कारीगरों और दस्तकारों को तो एक जगह पर बड़ी संख्या में इकट्ठा करके उनका संचालन तो करती है, उनके अलावा वह कुछ अदृश्य सूत्रों के द्वारा एक और सेना को भी गतिमान बना देती है। यह है घरेलू उद्योगों के मजदूरों की सेना, जो बड़े-बड़े शहरों में रहते हैं और देहातों में भी फैले हुए हैं। एक मिसाल देखिये: लंडनडरी में मैसर्स टिल्ली की एक क़मीज़ों की फ़ैक्टरी है। उसके १,००० मजदूर खुद फ़ैक्टरी के अन्दर काम करते हैं और ६,००० देहात में बिखरे हुए हैं तथा अपने-अपने घरों में बैठकर काम करते हैं।[1]

आधुनिक हस्तनिर्माण में फ़ैक्टरी की तुलना में ज्यादा बेशर्मी के साथ सस्ती और अपरिपक्व श्रम-शक्ति का शोषण किया जाता है। इसका कारण यह है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था के प्राविधिक आधार – अर्थात् मांस-पेशियों की शक्ति के स्थान पर मशीनों से काम लेने और श्रम के हल्के स्वरूप – का हस्तनिर्माण में लगभग सर्वथा अभाव होता है और इसके साथ-साथ स्त्रियों

---

[1] *"Children's Employment Commission. 2nd Report, 1864"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० LXVIII (अड़सठ), अंक ४१२।

और बहुत ही कम-उम्र बच्चों को अत्यन्त अविवेकपूर्ण ढंग से जहरीले अथवा हानिकारक पदार्थों के प्रभाव का शिकार बनने दिया जाता है। हस्तनिर्माण की अपेक्षा तथाकथित घरेलू उद्योग में यह शोषण और भी बेशर्मी के साथ किया जाता है। इसका कारण यह है कि मजदूर जितना अधिक बिखर जाते हैं, उतना ही उनकी प्रतिरोध करने की शक्ति कम हो जाती है। इसका यह भी कारण है कि इस तथाकथित घरेलू उद्योग में मालिक और मजदूर के बीच बहुत सारे मुफ़्तखोर लुटेरे घुस आते हैं। फिर घरेलू उद्योग को सदा या तो फ़ैक्टरी-व्यवस्था के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है, या उत्पादन की उसी शाखा में हस्तनिर्माण के साथ। इसके साथ-साथ इसकी यह वजह भी है कि ग़रीबी मजदूर से स्थान, प्रकाश और शुद्ध वायु आदि वे तमाम चीजें छीन लेती है, जो उसके श्रम के लिये अत्यन्त आवश्यक होती हैं। फिर मजदूरों का नौकरी पाना अधिकाधिक अनिश्चित होता जाता है। और अन्तिम कारण यह है कि आधुनिक उद्योग और खेती मजदूरों की जिस विशाल संख्या को "फ़ालतू" बना देती हैं, उसका आख़िरी सहारा ये घरेलू उद्योग होते हैं और इसलिये यहां पर काम पाने के लिये मजदूरों की होड़ चरम सीमा पर पहुंच जाती है। फ़ैक्टरी-व्यवस्था में ही सबसे पहले सुनियोजित ढंग से उत्पादन के साधनों के ख़र्च में मितव्ययिता बरती जाती है। और उसके साथ-साथ वहां पर शुरू से ही आंखें बन्द करके श्रम-शक्ति का अपव्यय किया जाता है और श्रम के लिये जो परिस्थितियां सामान्य रूप में आवश्यक होती हैं, उन्हें छीन लिया जाता है। अब उद्योग की किसी ख़ास शाखा में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति तथा उत्पादन-क्रियाओं के योग के लिये आवश्यक प्राविधिक आधार जितने कम विकसित होते हैं, उस शाखा में इस प्रकार की मितव्ययिता का विरोधी और घातक स्वरूप उतना ही अधिक खुलकर सामने आ जाता है।

## (ग) आधुनिक हस्तनिर्माण

ऊपर जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है, अब मैं उनके उदाहरण प्रस्तुत करूंगा। असल में तो पाठक काम के दिन वाले अध्याय में दिये गये अनेक उदाहरणों से पहले ही परिचित है। बिर्मिंघम और उसके आस-पड़ोस में धातु का सामान तैयार करने वाले हस्तनिर्माणों में १०,००० स्त्रियों के अलावा ३०,००० बच्चे और लड़के काम करते हैं, और उनमें से अधिकतर से भारी काम लिया जाता है। वहां उनको पीतल की ढलाई करने वाले कारख़ानों में, बटन बनाने वाली फ़ैक्टरियों में और मीनाकारी करने वाले, जस्ते की कलई चढ़ाने वाले और लाख की पालिश करने वाले कारख़ानों में काम करते हुए देखा जा सकता है। इन सभी कारख़ानों में बड़ी अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितियां होती हैं।[1] लन्दन के कुछ ऐसे छापेख़ानों में, जहां अख़बार और किताबें छपती हैं, वयस्क मजदूरों और बच्चों, दोनों से ही इतना अधिक श्रम कराया जाता है कि लोगों ने इन्हें "क़साई-घरों" का मनहूस नाम दे रखा है।[2] जिल्दसाजी में भी इसी तरह की ज्यादतियां की जाती हैं, वहां मुख्यतया स्त्रियां, लड़कियां और बच्चे

---

[1] और आजकल तो बच्चों से शेफ़ील्ड के रेती बनाने वाले कारख़ानों में भी काम लिया जाता है।

[2] *"Ch. Empl. Comm. V Rep., 1866"*, ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट, १८६६'), पृ० ३, अंक २४; पृ० ६, अंक ५५, ५६; पृ० ७, अंक ५६,६०।

इनका शिकार बनते हैं। लड़के-लड़कियों को रस्सी बटने के कारखानों में भारी काम करना पड़ता है और नमक की खानों में, मोमबत्तियों की हस्तनिर्माणशालाओं में और रासायनिक कारखानों में रात को काम करना पड़ता है; रेशम की बुनाई के व्यवसाय में, जब यह धंधा मशीनों द्वारा नहीं किया जाता, तो करघा चलाते-चलाते लड़के-लड़कियों का दम निकल जाता है।[1] एक सब से ज्यादा शर्मनाक, सबसे अधिक गन्दा और सबसे कम मजदूरी वाला श्रम चीथड़ों को छांटने का है; इस काम के लिये औरतों और लड़कियों को ज्यादा तरजीह दी जाती है। यह एक सुविदित बात है कि ब्रिटेन में चीथड़ों का उसका अपना एक विशाल भण्डार तो है ही, उसके अलावा वह पूरे संसार के चीथड़ों के व्यापार की मण्डी बना हुआ है। यहां जापान, दक्षिणी अमरीका के सुदूर राज्यों और कनारी द्वीपों से चीथड़े आते हैं। लेकिन चीथड़ों की पूर्ति के मुख्य केन्द्र हैं जर्मनी, फ़्रांस, रूस, इटली, मिस्र, तुर्की, बेल्जियम और हालैण्ड। ये चीथड़े खाद बनाने, बिस्तर के गद्दे बनाने और shoddy (कतरनों से बनने वाला कपड़ा) तैयार करने के काम में आते हैं और कागज बनाने के व्यवसाय में कच्चे माल की तरह इस्तेमाल होते हैं। जो लोग चीथड़ों को छांटने का काम करते हैं, वे चेचक तथा छूत की अन्य बीमारियों को फैलाने वाले माध्यम का काम करते हैं और इन बीमारियों के वे खुद पहले शिकार बनते हैं।[2] मजदूरों से किस तरह कमर-तोड़ काम लिया जाता है, उनको कितना कठिन और अनुपयुक्त श्रम करना पड़ता है और इस प्रकार के श्रम का उनपर बचपन से ही कितना बुरा प्रभाव पड़ता है और वह कैसे उन्हें पशु समान बना देता है, इसकी अच्छी मिसालें आप न सिर्फ़ कोयला-खानों में तथा आम तौर पर सभी खानों में, बल्कि खपरैल और ईंट बनाने के उद्योग में भी देख सकते हैं। इस उद्योग की मशीनों का अभी हाल में आविष्कार हुआ है और इंगलैण्ड में अभी केवल जहां-तहां ही उनका उपयोग शुरू हुआ है। इस व्यवसाय में मई और सितम्बर के बीच के दिनों में काम सुबह को ५ बजे शुरू होता है और रात के ८ बजे तक चलता रहता है, और जहां ईंटें खुली हवा में सुखायी जाती हैं, वहां अक्सर सुबह के ४ बजे से रात के ९ बजे तक काम होता रहता है। यदि सुबह के ५ बजे से रात के ७ बजे तक काम कराया जाये, तो वह "कम" और "हल्का" काम समझा जाता है। छः-छः और यहां तक कि चार-चार बरस के लड़कों और लड़कियों से काम लिया जाता है। ये बच्चे भी वयस्क मजदूरों के बराबर घण्टों तक काम करते हैं, और अक्सर बच्चों से और भी ज्यादा देर तक काम कराया जाता है। काम बहुत सख्त होता है और गरमियों की तपन थकान को और भी बढ़ा देती है। मिसाल के लिये, मोस्ले में खपरैल बनाने का एक भट्ठा है। वहां एक औरत, जिसकी उम्र २४ बरस की थी, रोजाना २,००० खपरैलें बनाया करती थी। २ नन्ही-नन्ही लड़कियां उसकी मदद करती थीं। वे मिट्टी ढोकर उसके पास ले आती थीं और खपरैलों का ढेर लगाती थीं। ये जरा-जरा सी लड़कियां ३० फ़ुट की गहराई से मिट्टी उठाकर गढ़े के ढालू किनारों पर चढ़ती थीं

---

[1] उप० पु०, पृ० ११४, ११५, अंक ६,७। कमीशन के सदस्य ने ठीक ही कहा है कि यद्यपि आम तौर पर मशीनें मनुष्य का स्थान ले रही हैं, तथापि इस व्यवसाय में अक्षरशः लड़के-लड़कियां मशीनों का स्थान ले रहे हैं।

[2] चीथड़ों के व्यवसाय की रिपोर्ट और बहुत सी तफ़सीली बातों के लिये देखिये *"Public Health, VIII Rep."* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की ८ वीं रिपोर्ट'), London, 1866, परिशिष्ट, पृ० १९६–२०८।

और फिर ऊपर आकर २१० फ़ुट की दूरी तक चलती थीं और इस तरह रोजाना १० टन बोझा ढोती थीं। खपरैलों के भट्ठे की इस नरक-भूमि में से कोई बच्चा गुजर जाये और उसका घोर नैतिक पतन न हो, यह असम्भव है... इन बच्चों को बाल्यावस्था से ही गन्दी जबान सुनने की आदत हो जाती है; उनका विकास अनजाने में गंदी, फूहड़ और बेशर्मी की आदतों के बीच होता है; वे आधे जंगली हो जाते हैं और बड़े होकर उच्छृंखल, बदमाश और आवारा हो जाते हैं... नैतिक पतन का एक भयानक कारण उनके जीवन का ढंग होता है। सांचे में खपरैल ढालने वाला हरेक कारीगर (moulder), जो सदा एक निपुण मजदूर और एक जत्थे का मुखिया होता है, अपने ७ मातहतों को अपनी झोंपड़ी में रहने के लिये स्थान देता है और उनकी रोटी का प्रबंध करता है। उसके मातहत काम करने वाले इन पुरुषों, लड़कों और लड़कियों को, वे चाहे उसके परिवार के सदस्य हों या न हों, उसी एक झोंपड़े में सोना पड़ता है। हर झोंपड़े में आम तौर पर दो और कभी-कभी ३ कोठरियां होती हैं, जो सब की सब नीचे वाली मंजिल में होती हैं और जिनमें ताजा हवा बहुत ही कम होती है। ये लोग दिन भर के काम के बाद इतना ज्यादा थक जाते हैं कि फिर वे न तो स्वास्थ्य और सफ़ाई के नियमों का तनिक भी पालन करते हैं और न ही मर्यादा का कोई ख़याल रखते हैं। इन झोंपड़ियों में से बहुत सी गंदगी, कूड़े और धूल का नमूना होती हैं... कम-उम्र लड़कियों से इस प्रकार का काम लेने वाली इस व्यवस्था की सब से बड़ी बुराई यह है कि वह सदा इन लड़कियों को उनके बचपन से ही और बाद के उनके समस्त जीवन के लिये हद से ज्यादा बिगड़े हुए लोगों के साथ बांध देती है। इसके पहले कि प्रकृति उनको यह सिखा सके कि वे नारियां हैं, ये लड़कियां उद्दण्ड और गंदी बातें बकने वाले लड़कों ("rough, foul-mouthed boys") में बदल जाती हैं। कपड़ों के नाम पर चंद गंदे चीथड़े उनके बदन पर लटकते रहते हैं, उनकी टांगें घुटनों के भी बहुत ऊपर तक नंगी रहती हैं, बाल और चेहरा मैल से ढंका रहता है। वे मर्यादा तथा लज्जा की प्रत्येक भावना को उपेक्षा की दृष्टि से देखना सीख जाती हैं। खाने की छुट्टी के समय वे खेतों में चित लेटी रहती हैं या पास की नहर में लड़कों को नहाते हुए देखा करती हैं। जब उनकी दिन भर की सख्त मेहनत आखिर ख़तम होती है, तो वे कुछ बेहतर कपड़े पहन-पहनकर मर्दों के साथ शराबख़ानों की तरफ़ चल देती हैं। "ऐसी हालत में यह स्वाभाविक ही है कि इस पूरे वर्ग में बचपन से ही हद से ज्यादा शराब पी जाती है।" सबसे ख़राब बात यह है कि ईंटें बनाने वाले खुद भी अपने बारे में निराश हो जाते हैं। उनमें से एक अपेक्षाकृत भले आदमी ने साउथालफ़ील्ड के एक पादरी से कहा था कि जनाब, किसी ईंटें बनाने वाले को सुधारने की कोशिश करना शैतान को सुधारने के बराबर है।[1]

जहां तक इस बात का ताल्लुक़ है कि आधुनिक हस्तनिर्माण में (जिसमें मैं असली फ़ैक्टरियों को छोड़कर बड़े पैमाने के बाक़ी सभी कारख़ानों को शामिल करता हूं) श्रम के लिये आवश्यक वस्तुओं के सम्बंध में पूंजी किस प्रकार की मितव्ययिता बरतती है, इस विषय से सम्बंधित सरकारी सामग्री सार्वजनिक स्वास्थ्य की चौथी (१८६१) और छठी (१८६३)

---

[1] *"Ch. Empl. Comm. V Rep., 1866"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ 'वीं रिपोर्ट, १८६६'), पृ० XVI–XVII (सोलह–अठारह), अंक ८६–६७, और पृ० १३०–१३३, अंक ३६–७१। इसके अलावा, *"III Rep., 1864"* ('तीसरी रिपोर्ट, १८६४') के पृ० ४८, ५६ भी देखिये।

रिपोर्टों में बहुतायत से मिल जाती है। वहां हमें workshops (कारखानों) का और खास तौर पर छापेखानों तथा दर्जी-घरों का जैसा लोमहर्षक वर्णन पढ़ने को मिलता है, उसके सामने हमारे उपन्यासकारों की अत्यन्त घिनौनी कल्पनाएं भी फीकी पड़ जाती हैं। इसका मजदूरों के स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह स्वतःस्पष्ट है। Privy Council के प्रधान डाक्टर और "*Public Health Reports*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टों') के सरकारी सम्पादक डा० साइमन ने कहा है: "अपनी चौथी रिपोर्ट (१८६१) में मैंने यह बताया था कि किस तरह व्यावहारिक रूप में मजदूरों के लिये सफ़ाई के सम्बंध में अपने पहले अधिकार पर भी इसरार करना असम्भव हो गया है। अर्थात् वे यह भी मांग नहीं कर सकते कि मालिक उनको चाहे जिस काम के लिये कारखाने में इकट्ठा करे, पर जहां तक यह बात उसपर निर्भर करती है, उसको ऐसी तमाम अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों से मजदूरों को मुक्त कर देना चाहिये, जिनको दूर किया जा सकता है। मैंने बताया था कि सफ़ाई के मामले में मजदूर खुद अपने साथ यह न्याय करने में तो असमर्थ होते ही हैं, सफ़ाई-विभाग की पुलिस के वेतन पाने वाले अधिकारियों से भी उनको कोई कारगर मदद नहीं मिल पाती . . . असंख्य मजदूरों और मजदूरिनों का जीवन अन्तहीन कष्ट में बीतता है, जो महज उनके धंधे से उत्पन्न होता है; उनको व्यर्थ की यातनाएं उठानी पड़ती हैं, और आखिर उनकी असमय मृत्यु हो जाती है।"[1] कारखानों की कोठरियों का मजदूरों के स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके एक उदाहरण के रूप में डा० साइमन ने मृत्यु-संख्या के आंकड़ों की निम्नलिखित तालिका दी है।[2]

| अलग-अलग उद्योगों में हर आयु के कुल कितने व्यक्ति काम करते हैं | स्वास्थ्य की दृष्टि से अलग-अलग उद्योग एक दूसरे की तुलना में | मृत्यु-संख्या (प्रति १ लाख व्यक्ति) | | |
|---|---|---|---|---|
| | | २५ और ३५ वर्ष की आयु के बीच | ३५ और ४५ वर्ष की आयु के बीच | ४५ और ५५ वर्ष की आयु के बीच |
| ९,५८,२६५ | इंगलैण्ड और वेल्स में खेती | ७४३ | ८०५ | १,१४५ |
| २२,३०१ पुरुष<br>१२,३७९ स्त्रियां | लन्दन के दर्जी-घर . . | ९५८ | १,२६२ | २,०९३ |
| १३,८०३ | लन्दन के छापेखाने . . | ८९४ | १,७४७ | २,३६७ |

[1] "*Public Health. Sixth Rep.*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट'), London, 1864, पृ० २९,३१।

[2] उप० पु०, पृ० ३०। डाक्टर साइमन ने लिखा है कि लन्दन के दर्जियों और छपाई का काम करने वाले मजदूरों की २५ वर्ष और ३५ वर्ष के बीच की मृत्यु-संख्या वास्तव में इससे भी कहीं अधिक बैठती है। कारण कि लन्दन के दर्जी-घरों और छापेखानों के मालिक ३० वर्ष तक की आयु के बहुत से नौजवानों को "शागिर्दों" और "improvers" (थोड़े पारिश्रमिक पर काम सीखने वालों) के रूप में देहात से मंगा लेते हैं। ये लोग धंधा सीखने के उद्देश्य से लन्दन चले आते हैं। जन-गणना में ये लोग लन्दनवासियों में गिने जाते हैं, और इस तरह लन्दन की जिस कुल आबादी के अनुपात में इस शहर की मृत्यु-संख्या निकाली जाती है,

## घ) आधुनिक घरेलू उद्योग

अब मैं तथाकथित घरेलू उद्योग पर आता हूं। इस क्षेत्र में पूंजी आधुनिक यांत्रिक उद्योग की पृष्ठ-भूमि में अपना शोषण-चक्र चलाती है। वहां कैसी-कैसी रोंगटे खड़े कर देने वाली बातें पायी जाती हैं, उनका कुछ आभास पाने के लिये हमें कीलें बनाने के व्यवसाय[1] की ओर मुड़ना पड़ेगा, जो इंगलैण्ड के चन्द दूर के गांवों में केन्द्रित है और जो ऊपर से देखने में एक काफ़ी सुन्दर और मनोरम धंधा प्रतीत होता है। किन्तु यहां पर लैस बनाने और सूखी घास की बुनी हुई चीजें बनाने के उद्योगों की उन शाखाओं से ही कुछ उदाहरण दे देना काफ़ी होगा, जिनमें अभी मशीनें इस्तेमाल नहीं की जातीं और जिनकी अभी उन शाखाओं से प्रतियोगिता नहीं होती, जो फ़ैक्टरियों अथवा हस्तनिर्माणशालाओं में केन्द्रित हो गयी हैं।

इंगलैण्ड में कुल १,५०,००० व्यक्ति लैस के उत्पादन में लगे हुए हैं। १८६१ का फ़ैक्टरी-क़ानून इनमें से लगभग १०,००० पर लागू होता है। बाक़ी १,४०,००० प्रायः स्त्रियां, लड़के-लड़कियां और बच्चे-बच्चियां हैं। परन्तु लड़कियों और बच्चियों की अपेक्षा लड़कों और बच्चों की संख्या कम है। शोषण की इस सस्ती सामग्री के स्वास्थ्य का क्या हाल था, यह नीचे दी गयी तालिका से साफ़ हो जायेगा। यह तालिका नौटिंघम के General Dispensary (सामान्य अस्पताल) के चिकित्सक डा० ट्रूमैन की तैयार की हुई है। उनके यहां ६८६ लैस बनाने वाली मजदूरिनें इलाज कराने आती थीं, जिनमें से अधिकतर की उम्र १७ और २४ वर्ष के बीच थी। इन ६८६ स्त्रियों में तपेदिक़ की बीमारों की संख्या इस प्रकार थी:

| | |
|---|---|
| १८५२ – ४५ में १ | १८५७ – १३ में १ |
| १८५३ – २८ में १ | १८५८ – १५ में १ |
| १८५४ – १७ में १ | १८५९ – ९ में १ |
| १८५५ – १८ में १ | १८६० – ८ में १ |
| १८५६ – १५ में १ | १८६१ – ८ में १[2] |

तपेदिक़ की बीमारों की संख्या ने जिस तरह प्रगति की है, उससे प्रगतिवादियों में सबसे अधिक आशावादी व्यक्तियों का और जर्मनी के स्वतंत्र व्यापार के फेरीवालों में झूठ के अपेक्षाकृत बड़े सौदागरों का भी मुंह बंद हो जाना चाहिये।

१८६१ का फ़ैक्टरी-क़ानून सचमुच लैस बनाने के श्रम का उस हद तक नियमन करता है, जिस हद तक कि यह श्रम मशीनों के द्वारा किया जाता है, और इंगलैण्ड में आम तौर

---

वह तो इन लोगों के कारण बढ़ जाती है, पर उसके अनुपात में मौतों की संख्या नहीं बढ़ती। इन नौजवानों में से अधिकतर, असल में, देहात को लौट जाते हैं, और जब कोई गम्भीर बीमारी उन्हें आ घेरती है, तब तो ख़ास तौर पर वे ऐसा ही करते हैं। (उप० पु०।)

[1] मेरा मतलब यहां पर हथौड़े से पीट-पीटकर बनायी जाने वाली कीलों से है, न कि उनसे, जो मशीनों के द्वारा काटकर बनायी जाती हैं। देखिये *"Child. Empl. Comm. Third Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'), पृ० XI (ग्यारह), पृ० XIX (उन्नीस), अंक १२५–१३०; पृ० ५२, अंक ११; पृ० ११४, अंक ४८७; पृ० १३७, अंक ६७४।

[2] *"Ch. Empl. Comm. II. Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट'), पृ० XXII (बाईस), अंक १६६।

पर यह श्रम मशीनों के द्वारा ही किया जाता है। अब हम केवल उन मजदूरों की दशा की जांच करेंगे, जो अपने घरों पर बैठकर काम करते हैं और जो हस्तनिर्माणशालाओं या गोदामों में काम नहीं करते। और यहां हम इस व्यवसाय की जिन शाखाओं पर विचार करेंगे, वे दो श्रेणियों में बंट जाती हैं, यानी (१) फ़िनिश करने वाली शाखाएं और (२) मरम्मत करने वाली शाखाएं। पहली श्रेणी में मशीन के बने हुए लैस पर फ़िनिश की जाती है, और उसमें अनेक उपशाखाएं शामिल हैं।

लैस पर फ़िनिश करने का काम (lace finishing) या तो उन मकानों में किया जाता हैं, जो "mistresses' houses" ("मालकिनों के मकान") कहलाते हैं, या मजदूरिनें अपने घर पर ही अपने बच्चों की मदद से या उसके बिना यह काम पूरा कर देती हैं। "मालकिन के मकान" की मालकिन खुद भी ग़रीब होती है। जिस कोठरी में काम होता है, वह किसी निजी घर में होती है। मालकिन कारखानेदारों से या गोदामों के मालिकों से काम ले आती है और कोठरी के आकार तथा काम की घटती-बढ़ती मांग को ध्यान में रखते हुए औरतों, लड़कियों और छोटे-छोटे बच्चों को नौकर रख लेती है। इन कोठरियों में काम करने वाली मजदूरिनों की संख्या कहीं २० से ४० तक और कहीं १० से २० तक होती है। बच्चे औसतन ६ वर्ष की उम्र में काम करना शुरू कर देते हैं, पर बहुत सी जगहों में ५ वर्ष से भी कम के बच्चे होते हैं। काम के घण्टे साधारणतया सुबह ८ बजे से रात के ८ बजे तक होते हैं; बीच में $१\frac{१}{२}$ घण्टे की खाने की छुट्टी मिलती है, जिसका कोई समय निश्चित नहीं होता, और अक्सर उन्हीं गंदी कोठरियों में खाना खाया जाता है। जब व्यवसाय में तेजी रहती है, तब अक्सर सुबह के ८ बजे या यहां तक कि ६ बजे ही काम शुरू हो जाता है और रात के १०, ११ या १२ बजे तक चलता रहता है। इंगलैण्ड की फ़ौजी बारकों में हर फ़ौजी को क़ानूनन ५००—६०० घन-फ़ुट स्थान दिया जाता है, फ़ौजी अस्पतालों में हर व्यक्ति के लिये १,२०० घन-फ़ुट की व्यवस्था रहती है। लेकिन इन गंदी कोठरियों में, जहां लैस को फ़िनिश देने का काम होता है, हर व्यक्ति के लिये केवल ३७ से लेकर १०० घन-फ़ुट तक ही स्थान होता है। साथ ही गैस की रोशनियां हवा की आक्सिजन को खा जाती हैं। हालांकि इन कोठरियों का फ़र्श टाइलों या पत्थरों का बना होता है, फिर भी लैस को साफ़ रखने के लिये बच्चों को अक्सर जाड़ों में भी अन्दर आने के पहले जूते उतार देने पड़ते हैं। "नोटिंघम में यह कोई असाधारण बात कदापि नहीं है कि १४ से २० तक बच्चे एक ऐसी तंग कोठरी में भरे हों, जो शायद १२ वर्ग-फ़ुट से अधिक की नहीं है, और दिन के २४ घण्टों में से १५ घण्टे तक काम करते रहते हों, और काम भी ऐसा, जो एक तो खुद ही इतना थका देने वाला और नीरस हो कि आदमी का कचूमर निकाल दे और, दूसरे, जिसे हर प्रकार से अस्वास्थ्यप्रद वातावरण में करना पड़े . . . सबसे नन्हे बच्चे भी तनावपूर्ण वातावरण में और इतना ध्यान लगाकर तथा ऐसी फ़ुर्ती के साथ काम करते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वे मुश्किल से ही कभी अपनी उंगलियों को कोई आराम देते हैं या अपनी गति को धीमी करते हैं। यदि उनसे कोई सवाल किया जाता है, तब भी वे इस उद्देश्य से कि एक क्षण भी बरबाद न हो जाये, अपनी आंखें कभी काम से नहीं हटाते।" मालकिन जैसे-जैसे काम के घण्टों को लम्बा करती जाती है, वैसे-वैसे अंकुश के रूप में अधिकाधिक डण्डे का प्रयोग करने लगती है। "यह धंधा बड़ा ही नीरस, आंखों पर बहुत जोर डालने वाला और शरीर को सदा एक

ही स्थिति में रखने के कारण बहुत ही थका देने वाला है। इस धंधे में लगे हुए बच्चे अधिकाधिक थकते जाते हैं और कई घण्टों की लम्बी क़ैद की समाप्ति का समय निकट आने तक चिड़ियों के समान बेचैन हो उठते हैं। उनका काम क्या है, सरासर गुलामी है" ("Their work is like slavery")।[1] जब औरतें और उनके बच्चे अपने घर पर, जिसका आजकल मतलब है किराये की कोठरी और अक्सर तो केवल एक बरसाती, काम करते हैं, तब यदि सम्भव हो सकता है, तो स्थिति और भी ख़राब होती है। नोटिंघम को यदि केन्द्र माना जाये, तो ८० मील के अर्ध-व्यास का जो वृत्त बनता है, उसमें इस तरह का काम बांटा जाता है। बच्चे जब रात को ९ या १० बजे गोदामों के बाहर निकलते हैं, तो अक्सर उनको लैस का एक-एक बण्डल घर पर बैठकर पूरा करने के लिये थमा दिया जाता है। बगुलाभगत पूंजीपति, जिसका प्रतिनिधित्व उसका कोई कर्मचारी यहां पर करता है, हर बच्चे को एक-एक बण्डल देने के साथ-साथ यह पाखण्डपूर्ण वाक्य भी कहता जाता है कि "यह मां के लिये है", हालांकि वह अच्छी तरह जानता है कि इन अभागे बच्चों को भी रात को जागकर मां की मदद करनी पड़ेगी।[2]

तकिये का लैस बनाने का धंधा मुख्यतया इंगलैण्ड के दो खेतिहर इलाकों में होता है। उनमें से एक हौनिटन नामक लैस का इलाक़ा है, जो डेवनशायर के दक्षिणी किनारे पर २० से ३० मील तक फैला हुआ है और जिसमें उत्तरी डेवन के भी कुछ स्थान शामिल हैं। दूसरे इलाक़े में बकिंघम, बेडफ़ोर्ड और नोर्थेम्पटन के ज़िलों का अधिकतर भाग और साथ ही इनसे मिले हुए ओक्सफ़ोर्डशायर तथा हंटिंगडनशायर के कुछ हिस्से भी शामिल हैं। काम प्रायः खेतिहर मजदूरों की झोंपड़ियों में होता है। बहुत से कारख़ानेदार ३,००० से भी अधिक लैस बनाने वालों से काम लेते हैं। लैस बनाने वालों में मुख्यतया बालिकायें और युवा लड़कियां होती हैं; उनमें लड़का एक नहीं होता। लैस पर फ़िनिश करने के धंधे (lace finishing) के सम्बंध में हमने जिन परिस्थितियों का वर्णन किया है, वे सब यहां पर भी पायी जाती हैं। केवल इतना अन्तर होता है कि "mistresses' houses" ("मालकिनों के मकानों") के स्थान पर यहां "lace-schools" ("लैस के स्कूल") होते हैं, जिनको ग़रीब औरतें अपने झोंपड़ों में क़ायम कर देती हैं। पांच वर्ष की उम्र से और अक्सर तो इसके भी पहले से बच्चे यहां काम शुरू करते हैं और बारह या पन्द्रह वर्ष के होने तक काम करते हैं। बिल्कुल नन्हे बच्चे पहले वर्ष चार से आठ घण्टे तक काम करते हैं, बाद को उनके काम का समय छः बजे सुबह से रात के आठ या दस बजे तक हो जाता है। "जिन कोठरियों में काम होता है, वे आम तौर पर छोटे-छोटे झोंपड़ों की उन साधारण कोठरियों के समान होती हैं, जिनको लोग रहने के लिये इस्तेमाल करते हैं। इसलिये कि हवा के तेज़ झोंके अन्दर न आयें, चिमनी का मुंह बन्द कर दिया जाता है। कोठरी के अन्दर जो लोग काम करते हैं, वे महज़ अपने बदन की गरमी से ही गरम रहते हैं। जाड़ों में भी अक्सर यही स्थिति होती है। अन्य स्थानों में तथाकथित स्कूलों की ये कोठरियां सामान रखने की छोटी-छोटी कोठरियों के समान होती हैं, जिनमें उन्हें गर्माने के लिये कोई अंगीठी भी नहीं होती . . .

---

[1] "*Ch. Empl. Comm. II Rep., 1864*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० XIX (उन्नीस), XX (बीस), XXI (इक्कीस)।

[2] उप० पु०, पृ० XXI (इक्कीस), XXII (बाईस)।

इन कोठरियों में अक्सर हद से ज्यादा भीड़ होती है और उसके कारण हवा एकदम दूषित हो जाती है। छोटे-छोटे झोंपड़ों के आस-पास आम तौर पर पायी जाने वाली नालियों, पाखानों, सड़ी-गली चीजों और गन्दगी का जो घातक प्रभाव होता है, वह अलग है।" स्थान की तंगी का हाल सुनिये: "लैस के एक स्कूल में १८ लड़कियां और एक मालकिन काम करती हैं, हर व्यक्ति के हिस्से में ३५ घन-फ़ुट स्थान आता है। एक और स्कूल में, जहां सदा असहनीय बदबू पायी जाती है, १८ व्यक्ति काम करते हैं, जिनमें से हरेक के हिस्से में २४$\frac{१}{२}$ घन-फ़ुट स्थान आता है। इस उद्योग में दो-दो और ढाई-ढाई बरस की उम्र के बच्चे भी काम करते हुए पाये जाते हैं।"[1]

बकिंघम और बेडफ़ोर्ड की काउण्टियों में जिस स्थान पर लैस बनाने का धंधा समाप्त हो जाता है, उस स्थान से सूखी घास की बुनी हुई चीजें बनाने का काम आरम्भ हो जाता है। यह धंधा हेर्टफ़ोर्डशायर के एक बड़े हिस्से में और एसेक्स के पश्चिमी तथा उत्तरी भागों में फैला हुआ है। १८६१ में सूखी घास की बुनी हुई चीजें और सूखी घास के टोप बनाने के व्यवसाय में लगे हुए थे ४०,०४३ व्यक्ति। इनमें से ३,८१५ तो हर उम्र के पुरुष थे और बाक़ी सब औरतें, लड़कियां और बच्चियां थीं। इनमें १४,६१३ की उम्र २० वर्ष से कम थी, और उनमें से लगभग ७,००० बच्चियां थीं। लैस के स्कूलों की जगह पर यहां "straw-plait schools" ("सूखी घास की बुनाई के स्कूल") हैं। बच्चे आम तौर पर अपने चौथे वर्ष में और ३ और ४ वर्ष की उम्र के बीच में ही सूखी घास की बुनाई का काम सीखना शुरू कर देते हैं। शिक्षा उनको, जाहिर है, तनिक भी नहीं मिलती। बच्चे खुद प्राथमिक स्कूलों को "natural schools" ("प्राकृतिक स्कूल") कहते हैं, ताकि उनको कोई इन बुनाई के स्कूलों के साथ, इन खून चूसने वाली संस्थाओं के साथ न गड़बड़ा दे, जिनमें बच्चों को केवल उनकी अधभूखी माताओं द्वारा निश्चित काम को पूरा कर देने के उद्देश्य से रखा जाता है। साधारणतया इन बच्चों को रोज ३० गज बुनाई करनी पड़ती है। और जब स्कूल का समय समाप्त हो जाता है, तब उनकी माताएं अक्सर उनसे घर पर काम कराती हैं, और बच्चे रात के १०, ११ और १२ बजे तक काम करते रहते हैं। बच्चों को बार-बार मुंह से घास को नम करना पड़ता है, जो उनका मुंह काट देती है और उंगलियों को जख़्मी कर देती है। डा० बैलर्ड लन्दन के सभी डाक्टरों की यह सामूहिक राय बताते हैं कि सोने या काम के कमरे में हर व्यक्ति को कम से ३०० घन-फ़ुट स्थान मिलना चाहिये। लेकिन स्थान के मामले में सूखी घास की बुनाई के स्कूलों में लैस बनाने के स्कूलों से भी अधिक उदारता दिखायी जाती है। यहां "हर व्यक्ति को १२$\frac{२}{३}$, १७, १८$\frac{१}{२}$ तथा २२ घन-फ़ुट से कम स्थान मिलता है।" जांच-आयोग के मि० व्हाइट नामक एक सदस्य ने बताया है कि यदि एक बच्चे को ३ फ़ुट लम्बे, ३ फ़ुट चौड़े और ३ फ़ुट ऊंचे बक्स में बन्द कर दिया जाये, तो बच्चा जितनी जगह लेगा, १२$\frac{२}{३}$ घन-फ़ुट उसके आधे से भी कम होता है। १२ या १४ बरस की उम्र तक बच्चे इस प्रकार के जीवन का आनन्द लेते हैं। उनके अध-भूखे, अभागे मां-बापों को इसके सिवाय

---

[1] उप० पु०, पृ० XXIX (उनतीस), XXX (तीस)।

और किसी बात की चिन्ता नहीं होती कि अपने बच्चों के जरिये वे जितना ज्यादा से ज्यादा कमा सकते हों, कमा लें। बच्चे बड़े होते हैं, तो मां-बाप की एक कौड़ी बराबर भी परवाह नहीं करते, जो स्वाभाविक ही है, और घर छोड़कर चल देते हैं। "कोई आश्चर्य नहीं, यदि उस आबादी में, जिसका लालन-पालन इस तरह होता है, सदा जहालत और दुराचार का बोलबाला रहता है . . . उनकी नैतिकता निम्नतम स्तर पर रहती है . . . औरतों की एक बड़ी संख्या के हरामी बच्चे होते हैं, और वह भी इतनी अपरिपक्व अवस्था में कि दुराचार के आंकड़ों की सबसे अधिक जानकारी रखने वाले व्यक्ति भी देख कर स्तम्भित रह जाते हैं।"[1] और इन आदर्श परिवारों की भूमि सारे योरप का आदर्श ईसाई देश मानी जाती है, – कम से कम काउंट मोंटालेम्बर्ट का तो यही ख़याल है, जो निश्चय ही ईसाई धर्म के एक अधिकारी विद्वान हैं!

उपर्युक्त उद्योगों में जो मजदूरी मिलती है, वह बहुत ही कम होती है (सूखी घास की बुनाई के स्कूलों में बच्चों को ३ शिलिंग की मजदूरी भी कभी-कभार ही मिलती है); ऊपर से हर जगह और ख़ास तौर पर लैस बनाने वाले डिस्ट्रिक्टों में truck system (जरूरत का सामान मालिक की दूकान से ख़रीदने की प्रणाली) का प्रचार है, जिसका नतीजा यह होता है कि नाम को जो मजदूरी मिलती है, असल में वह और भी कम हो जाती है।[2]

### (ङ) आधुनिक हस्तनिर्माण तथा घरेलू उद्योग का आधुनिक यांत्रिक उद्योग में परिवर्तन। इन उद्योगों पर फ़ैक्टरी-क़ानूनों के लागू हो जाने के कारण इस क्रान्ति का और भी तेज हो जाना

स्त्रियों और बच्चों के श्रम का सरासर दुरुपयोग करके, काम करने और जिन्दा रहने की सामान्य रूप से आवश्यक परिस्थितियों को छीनकर और सर्वथा पाशविक ढंग से अत्यधिक काम कराके तथा रात को काम लेकर श्रम-शक्ति को सस्ता करने की जो कोशिशें की जाती हैं, वे आख़िर कुछ ऐसी प्राकृतिक बाधाओं से टकराती हैं, जिनको रास्ते से हटाना असम्भव हो जाता है। इन तरीक़ों को अपना आधार बनाकर मालों को सस्ता करने और आम तौर पर पूंजीवादी शोषण करने की जो कोशिशें की जाती हैं, वे भी आख़िर को इसी तरह की बाधाओं से टकराकर रुक जाती हैं। जैसे ही यह अवस्था आती है, – और उसके आने में बहुत वर्ष लग जाते हैं, – वैसे ही मशीनों के उपयोग की घड़ी आ जाती है, और उसी समय से बिखरे हुए घरेलू उद्योग तथा साथ ही हस्तनिर्माण भी जल्दी-जल्दी फ़ैक्टरी-उद्योग में परिवर्तित होने लगते हैं।

इस प्रकार के परिवर्तन का एक बहुत ही विराट पैमाने का उदाहरण हमें "wearing apparel" (पहनने की पोशाकें) बनाने के उद्योग की शकल में देखने को मिलता है। Children's Employment

---

[1] उप० पु०, पृ० XL (चालीस), XLI (इकतालीस)।

[2] *"Child. Empl. Comm. I Rep., 1863"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट, १८६३'), पृ १८५।

Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) ने उद्योगों का जो वर्गीकरण किया है, उसके अनुसार इस उद्योग में ये लोग शामिल हैं: सूखी घास के टोप बनाने वाले, औरतों के टोप बनाने वाले, टोपियां बनाने वाले, दर्जी, milliners (जनानी टोपियां बनाने वाले), dressmakers (जनाने कपड़े सीने वाले), क़मीज़ें सीने वाले, कोर्सेट सीने वाले, दस्ताने बनाने वाले और जूते बनाने वाले। इनके अलावा बहुत सी गौण शाखाएं—जैसे नेक-टाई बनाना, कालर बनाना इत्यादि—भी इसी उद्योग में शामिल हैं। इंगलैण्ड और वेल्स में इन उद्योगों में काम करने वाली औरतों और लड़कियों की संख्या १८६१ में ५,८६,२९९ थी, जिनमें से कम से कम १,१५,२४२ की उम्र २० वर्ष से कम थी और १६,६५० की उम्र १५ वर्ष से कम थी। १८६१ में पूरे संयुक्तांगल राज्य में इन मजदूरिनों की संख्या ७,५०,३३४ थी। टोप बनाने, जूते बनाने, दस्ताने बनाने और दर्जी का काम करने वाले पुरुषों की संख्या इंगलैण्ड और वेल्स में ४,३७,९६९ थी। इनमें से १४,९६४ की आयु १५ वर्ष से कम, ८९,२८५ की आयु १५ और २० वर्ष के बीच और ३,३३,११७ की आयु २० वर्ष से ऊपर थी। बहुत सी छोटी-छोटी शाखाएं इन संख्याओं में शामिल नहीं हैं। लेकिन इन संख्याओं को इसी रूप में लीजिये। तब १८६१ की जन-गणना के अनुसार केवल इंगलैण्ड और वेल्स में उन लोगों की संख्या कुल मिलाकर १०,२४,२७७ पर पहुंच जाती है। लगभग इतने ही व्यक्ति खेती और पशु-पालन में लगे हुए हैं। अब हमारी समझ में यह बात आनी शुरू होती है कि मशीनों के जादू से जो बेशुमार सामान तैयार होता है और ये मशीनें मजदूरों की जिस विशाल संख्या को हर तरह के रोज़गार से मुक्त कर देती हैं, उनका आख़िर क्या होता है।

"Wearing apparel" (पहनने की पोशाकों) का उत्पादन कुछ हद तक तो उन हस्तनिर्माणशालाओं में होता है, जिनके काम के कमरों में केवल उस श्रम-विभाजन का पुनरुत्पादन कर दिया जाता है, जिसके membra disjecta (अलग-अलग अंग और अवयव) पहले से तैयार मिल गये थे। कुछ हद तक वह छोटे-छोटे उस्ताद कारीगरों के द्वारा सम्पन्न होता है। लेकिन ये लोग अब पहले की तरह सीधे उपभोगियों के लिये नहीं, बल्कि हस्तनिर्माणशालाओं और गोदामों के लिये काम करते हैं। और यह बात इस हद तक बढ़ जाती है कि पूरे के पूरे शहर और देहाती इलाक़े कुछ ख़ास शाखाओं के उत्पादन में व्यस्त हो जाते हैं,—मसलन जूते बनाना,—और यह उनका ख़ास धंधा बन जाता है। और, अन्त में तथाकथित घरेलू मजदूर बहुत बड़े पैमाने पर इस प्रकार का उत्पादन करते हैं। इन लोगों की हैसियत हस्तनिर्माणशालाओं, गोदामों और यहां तक कि अपेक्षाकृत छोटे मालिकों के कारख़ानों के बाहरी विभाग की होती है।[1]

कच्चे माल आदि की पूर्ति यांत्रिक उद्योग करता है। सस्ते मजदूरों की विशाल संख्या ("taillable à merci et miséricorde" [जो विजेता की दया और क्रोध पर निर्भर करते हैं]) में वे व्यक्ति होते हैं, जिनको यांत्रिक उद्योग तथा उन्नत खेती ने "मुक्त" कर दिया है। इस श्रेणी की हस्तनिर्माणशालाओं के जन्म का मुख्य कारण पूंजीपतियों की यह आवश्यकता थी कि उनके पास एक ऐसी सेना पहले से तैयार हो, जो मांग की प्रत्येक वृद्धि

[1] इंगलैण्ड में millinery और dressmaking (जनानी टोपियां और जनाने कपड़े बनाने) का काम प्रायः मालिक के मकान के अन्दर होता है। कुछ हद तक तो उसी मकान में रहने वाली मजदूरिनें और कुछ हद तक कहीं और रहने वाली कामगारिनें यह काम करती हैं।

को पूरा कर सके।[1] फिर भी इन हस्तनिर्माणों ने बिखरी हुई दस्तकारियों और घरेलू उद्योगों को एक व्यापक आधार के रूप में जीवित रहने दिया था। श्रम की इन शाखाओं में यदि बहुत अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता था और उनकी तैयार की हुई वस्तुएं यदि अधिकाधिक सस्ती होती जाती थीं, तो इसके मुख्य कारण पहले भी यही थे और आज भी यही हैं कि मजदूरों को कम से कम मजदूरी दी जाती है, जो अत्यन्त हीनावस्था में केवल जिन्दा रहने भर के लिये ही काफ़ी होती है, और काम के समय को मानव-शरीर के सहन की आखिरी हद तक बढ़ा दिया जाता है। यदि मण्डियों का लगातार विस्तार हो रहा था और आज भी रोजाना हो रहा है, तो, असल में, उसकी वजह यह है कि इनसान का पसीना और खून बहुत सस्ता है और उनको आसानी से माल में बदल दिया जाता है। इंगलैण्ड की औपनिवेशिक मण्डियों के विस्तार के सम्बन्ध में तो यह बात ख़ास तौर पर लागू होती है। इन मण्डियों में इंगलैण्ड के बने माल के अलावा अंग्रेजी रुचि तथा अंग्रेजी आदतों का भी बोलबाला है। और आखिर क्रान्तिक बिन्दु आ ही गया। एक ऐसी अवस्था आ पहुंची, जब पुरानी प्रणाली का आधार, यानी मजदूरों का शोषण करने में सरासर बेरहमी दिखाना और उसके साथ-साथ न्यूनाधिक रूप में एक सुनियोजित श्रम-विभाजन का इस्तेमाल करना—ये दोनों बातें फैलती हुई मण्डियों के लिये और उनसे भी ज्यादा तेजी के साथ बढ़ती हुई पूंजीपतियों की प्रतियोगिता के लिये नाकाफ़ी साबित होने लगीं। मशीनों के आगमन की घड़ी आ पहुंची। जिस मशीन ने निर्णायक रूप में क्रान्ति पैदा की और जिसने उत्पादन के इस क्षेत्र की सभी शाखाओं को—पोशाक बनाने, दर्जीगीरी, जूते बनाने, सीने, टोप बनाने और अन्य बहुत सी शाखाओं को—समान मात्रा में प्रभावित किया, वह थी सीने की मशीन।

सीने की मशीन का मजदूरों पर उसी प्रकार का तात्कालिक प्रभाव होता है, जिस प्रकार का प्रभाव उन तमाम मशीनों का हुआ है, जिन्होंने आधुनिक उद्योग के जन्म के बाद से व्यवसाय की नयी शाखाओं पर अधिकार किया है। बहुत ही कम-उम्र बच्चों को जवाब दे दिया जाता है। अपने घरों पर बैठकर काम करने वाले मजदूरों के मुक़ाबले में, जिनमें से बहुत से तो हद से ज्यादा ग़रीब ("the poorest of the poor") होते हैं, मशीन से काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी बढ़ जाती है। जिन दस्तकारों की हालत पहले अपेक्षाकृत अच्छी थी और जिनसे अब मशीन प्रतियोगिता करने लगती है, उनकी मजदूरी गिर जाती है। मशीनों से काम करने वाले नये मजदूरों में केवल लड़कियां और कम उम्र की औरतें होती हैं। अपेक्षाकृत भारी काम पर पुरुषों का पहले जो इजारा क़ायम था, उसे ये मजदूरिनें यांत्रिक शक्ति की मदद से ख़तम कर देती हैं, और साथ ही वे अपेक्षाकृत हल्के काम से बहुत सी बूढ़ी औरतों और बहुत कम उम्र के बच्चों को हटा देती हैं। हाथ से काम करने वाले मजदूरों में जो सबसे ज्यादा कमजोर होते हैं, वे इस जबर्दस्त प्रतियोगिता में कुचल दिये जाते हैं। पिछले दस वर्षों में लन्दन में भूख के कारण प्राण दे देने वालों की संख्या की भयानक वृद्धि मशीन की सिलाई के प्रसार

---

[1] जांच-कमीशन के मि० व्हाइट नामक सदस्य फ़ौजी कपड़े तैयार करने वाली एक हस्तनिर्माणशाला को देखने गये थे, जिसमें १,००० से १,२०० तक व्यक्ति काम करते थे। इनमें लगभग सभी स्त्रियां थीं। इसके अलावा, मि० व्हाइट जूते बनाने वाली एक हस्तनिर्माणशाला भी देखने गये थे, जिसमें १,३०० व्यक्ति काम करते थे। इनमें लगभग आधी संख्या बच्चों और लड़के-लड़कियों की थी।

के समानान्तर चलती है।[1] मशीन का वजन, आकार और विशेष बनावट कैसी है, इसके अनुसार नयी मजदूरिनें उसे या तो हाथों और पैरों दोनों से चलाती हैं और या केवल हाथों से, वे कभी बैठकर मशीन चलाती हैं, तो कभी खड़ी होकर, और इस तरह बहुत भारी श्रम-शक्ति खर्च कर डालती हैं। काम के लम्बे घण्टों के कारण उनका धंधा स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है, हालांकि अधिकतर जगहों में उनको पुरानी व्यवस्था के समान देर तक काम नहीं करना पड़ता। उन संकरी और तंग कोठरियों में, जिनमें पहले ही से बहुत ज्यादा भीड़ थी, जहां कहीं सिलाई की मशीन भी दाखिल हो जाती है, वहां स्वास्थ्य के लिये पहले से भी अधिक हानिकारक परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं। मि० लोर्ड ने कहा है: "नीची छत वाले उन कमरों में, जिनमें ३० से ४० तक मजदूर मशीनों पर काम करते रहते हैं, घुसना भी असहनीय होता है . . . वहां की गरमी खौफ़नाक होती है। कुछ हद तक वह गैस के उन चूल्हों के कारण होती है, जो इस्तरी को गरम करने के लिये इस्तेमाल किये जाते हैं . . . ऐसी जगहों में जब मजदूरों के काम के घण्टे सामान्य ढंग के होते हैं, अर्थात् जब उन्हें सुबह ८ बजे से शाम के ६ बजे तक काम करना होता है, तब भी ३ या ४ व्यक्ति रोजाना नियमित रूप से बेहोश हो जाते हैं।"[2]

उत्पादन के औजारों में क्रान्ति हो जाने के एक लाजिमी नतीजे के तौर पर औद्योगिक तरीक़ों में जो क्रान्ति होती है, वह नाना प्रकार के परिवर्तनकालीन रूपों के द्वारा सम्पन्न होती है। कहां कौनसा रूप सामने आता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सिलाई की मशीन का उद्योग की इस शाखा में या उस शाखा में किस सीमा तक प्रसार हुआ है, वह कितने समय से इस्तेमाल हो रही है, उसके इस्तेमाल होने के पहले मजदूरों की क्या हालत थी, उस शाखा में हस्तनिर्माण का जोर था या दस्तकारियों का अथवा घरेलू उद्योग का, और जिन कमरों में काम होता है, उनका क्या किराया है[3], इत्यादि, इत्यादि। मिसाल के लिये, पोशाक तैयार करने की शाखा में, जहां श्रम प्रायः पहले से ही मुख्यतया सरल सहकारिता के अनुसार संगठित था, सिलाई की मशीन ने शुरू-शुरू में हस्तनिर्माण करने वाले इस उद्योग में केवल एक नवीन तत्व का काम किया था। दर्जीगीरी, क़मीजें बनाने और जूते बनाने आदि के

---

[1] एक मिसाल देखिये। "*Registrar-General*" की २६ फ़रवरी १८६४ की मौतों की साप्ताहिक रिपोर्ट में भूख से होने वाली ५ मौतों का जिक्र है। इसी दिन "*The Times*" ने इस तरह की एक और मौत का समाचार छापा था। यानी एक सप्ताह में ६ व्यक्ति भूख के शिकार हुए!

[2] "*Child. Empl. Comm., Second Rep., 1864*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० LXVII (सड़सठ), अंक ४०६-६; पृ० ८४, अंक १२४; पृ० LXXIII (तिहत्तर), अंक ४४१; पृ० ६८, अंक ६; पृ० ८४, अंक १२६; पृ० ७८, अंक ८५; पृ० ७६, अंक ६६; पृ० LXXII (बहत्तर), अंक ४८३।

[3] "मालूम होता है कि आखिर में जाकर यह बात इसी से तै होती है कि इन कमरों का कितना किराया देना पड़ता है। और इसलिये छोटे-छोटे मालिकों और परिवारों को ठेके पर काम देने की पुरानी प्रणाली सबसे ज्यादा देर तक राजधानियों में क़ायम रहती है और वहां जल्दी से जल्दी उसकी ओर क़दम लौटाया जाता है।" (उप० पु०, पृ० ८३, अंक १२३।) इस उद्धरण की अन्तिम बात केवल जूते बनाने के व्यवसाय पर लागू होती है।

व्यवसायों में तमाम रूप आपस में मिले हुए हैं। यहां वह व्यवस्था पायी जाती है, जिसे सचमुच फ़ैक्टरी-व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था में बीच के लोगों को पूंजीपति en chef (मुख्य पूंजीपति) से कच्चा माल मिलता है, और वे १० से ५० तक या उससे भी ज्यादा मजदूरों को "कमरा" या "बरसातियों" में अपनी मशीनों पर काम करने के लिये इकट्ठा कर लेते हैं। अन्त में, कुछ ऐसे स्थान भी हैं, जहां पर वही हालत है, जो सभी स्थानों में पैदा हो जाती है, जहां मशीनें किसी संहति में संगठित नहीं होतीं और जहां बहुत ही छोटे पैमाने पर भी उनको इस्तेमाल किया जा सकता है। यहां दस्तकार और घरेलू मजदूर अपने परिवार के लोगों के साथ या बाहर के थोड़े से श्रम की मदद से खुद अपनी सिलाई की मशीनों को इस्तेमाल करते हैं।[1] इंगलैण्ड में जो व्यवस्था सचमुच पायी जाती है, वह यह है कि पूंजीपति अपने मकान पर मशीनों की एक बड़ी संख्या जमा कर लेता है और फिर इन मशीनों की पैदावार को घरेलू मजदूरों के बीच बांट देता है, ताकि वे उसपर आगे काम कर सकें।[2] किन्तु संक्रान्तिकालीन रूपों की विविधता से वास्तविक फ़ैक्टरी-व्यवस्था में रूपान्तरित हो जाने की प्रवृत्ति पर पर्दा नहीं पड़ पाता। स्वयं सिलाई की मशीन का स्वरूप ही इस प्रवृत्ति का पोषण करता है। इस मशीन के नाना प्रकार के उपयोग होते हैं। इससे एक ही धंधे की जो बहुत सी शाखाएं पहले एक दूसरे से अलग-अलग थीं, उनको एक छत के नीचे और एक प्रबंध के मातहत केन्द्रीभूत करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। इसमें इस बात से भी मदद मिलती है कि शुरू की तैयारी का सुई का काम और अन्य कुछ क्रियाएं सबसे अधिक सुविधा के साथ उसी मकान में सम्पन्न हो सकती हैं, जिसमें मशीन लगी है। साथ ही हाथ से सीने वालों का और खुद अपनी मशीनों पर काम करने वाले घरेलू मजदूरों का लाजिमी तौर पर दिवाला निकल जाने से भी इस बात में मदद मिलती है। कुछ हद तक उनका यह हाल हो भी चुका है। सिलाई की मशीनों में लगी हुई पूंजी की मात्रा बराबर बढ़ती जाती है।[3] इससे मशीन से तैयार होने वाली वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा मिलता है, और मण्डियां उनसे अंट जाती हैं। तब घरेलू मजदूरों को मालूम हो जाता है कि अब उनके लिये अपनी मशीनें बेच देने का समय आ गया है। खुद सिलाई की मशीनों का अति-उत्पादन होने लगता है, जिसकी वजह से उत्पादकों को अपनी मशीनें बेचने की इतनी ज्यादा फ़िक्र हो जाती है कि वे उनको हफ़्तेवार किराये पर उठाने लगते हैं। इस तरह जो खौफ़नाक प्रतियोगिता शुरू होती है, उसमें मशीनों के छोटे-छोटे मालिक एकदम पिस जाते हैं।[4] मशीनों की बनावट में भी बराबर परिवर्तन होते रहते हैं, और वे अधिकाधिक सस्ती होती जाती हैं। इससे पुराने ढंग की मशीनों का दिन-ब-दिन मूल्य-ह्रास होता जाता है, और वे बहुत ही कम दामों पर बड़ी भारी संख्या में बड़े पूंजीपतियों के हाथों बिकने लगती हैं, क्योंकि अब महज वे ही उनको इस्तेमाल करके मुनाफ़ा कमा सकते हैं। अन्त

---

[1] दस्ताने बनाने के व्यवसाय में और अन्य ऐसे उद्योगों में, जिनके मजदूरों की हालत इतनी ज्यादा ख़राब होती है कि उनमें और कंगालों में कोई भेद नहीं किया जा सकता, यह बात नहीं होती।

[2] उप० पु०, पृ० ८३, अंक १२२।

[3] अकेले लीसेस्टर के बूटों और जूतों के थोक व्यवसाय में ही १८६४ में सिलाई की ८०० मशीनें इस्तेमाल हो रही थीं।

[4] उप० पु०, पृ० ८४, अंक १२४।

में, इस प्रकार की अन्य तमाम क्रान्तियों के समान इस क्रान्ति में भी मनुष्य के स्थान पर भाप के इंजन का प्रयोग पुरानी व्यवस्था को अन्तिम रूप से ख़तम कर देता है। शुरू में भाप की शक्ति के उपयोग के रास्ते में केवल प्राविधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे कि मशीनों में स्थिरता का अभाव होता है, उनकी चाल पर नियंत्रण रखना कठिन होता है, ज़्यादा हल्की मशीनें बहुत जल्दी घिस जाती हैं, इत्यादि। इन तमाम कठिनाइयों को अनुभव द्वारा बहुत जल्द दूर कर दिया जाता है।[1] यदि, एक ओर, बड़ी-बड़ी हस्तनिर्माणशालाओं में बहुत सी मशीनों के केन्द्रीकरण से भाप की शक्ति के इस्तेमाल को बढ़ावा मिलता है, तो, दूसरी ओर, मानव-मांस-पेशियों के साथ भाप की जो प्रतियोगिता चलती है, उससे बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों में मज़दूरों और मशीनों के केन्द्रीकरण में तेज़ी आ जाती है। इस प्रकार, इंगलैण्ड में इस वक़्त न केवल पहनने की पोशाकों के विराट उद्योग में, बल्कि ऊपर जिन उद्योगों का ज़िक्र किया गया है, उनमें से अधिकतर में हस्तनिर्माण, दस्तकारियों और घरेलू काम के फ़ैक्टरी-व्यवस्था में बदल जाने की क्रिया सम्पन्न हो रही है। और इसके बहुत पहले ही उत्पादन के इन तीनों रूपों में से प्रत्येक, आधुनिक उद्योग के प्रभाव से पूर्णतया परिवर्तित एवं असंगठित होकर, फ़ैक्टरी-व्यवस्था की तमाम विभीषिकाओं का पुनरुत्पादन कर चुका है और यहां तक कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था से भी अधिक उग्र रूप में उसके तमाम अवगुणों को पैदा कर चुका है, हालांकि फ़ैक्टरी-व्यवस्था में सामाजिक प्रगति के जो तत्व निहित होते हैं, उनमें से कोई इन रूपों में नहीं दिखाई दिया है।[2]

यह औद्योगिक क्रान्ति स्वयंस्फूर्त ढंग से होती है, पर फ़ैक्टरी-क़ानूनों को उन तमाम उद्योगों पर लागू करके, जिन में स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चों को नौकर रखा जाता है, इस क्रांति को बनावटी ढंग से भी आगे बढ़ाया जाता है। जब काम के दिन की लम्बाई, विराम के समय और काम के आरम्भ और समाप्त होने के समय का अनिवार्य रूप से नियमन होने लगता है, बच्चों की पालियों की प्रणाली पर नियंत्रण लग जाता है और एक निश्चित आयु से कम के बच्चों को नौकर रखने की मनाही हो जाती है, इत्यादि, इत्यादि, तब एक तरफ़ तो पहले

---

[1] उदाहरण देखिये: पिमलिको (लन्दन) की फ़ौजी पोशाकों की फ़ैक्टरी, लण्डनडरी में टिल्ली एंड हेण्डरसन की क़मीज़ों की फ़ैक्टरी और लिमेरिक में मैसर्स टेट की कपड़ों की फ़ैक्टरी, जिसमें लगभग १,२०० मज़दूर काम करते हैं।

[2] "फ़ैक्टरी-व्यवस्था की ओर प्रवृत्ति" (उप० पु०, पृ० LXVII (सड़सठ))। "इस वक़्त पूरा धंधा संक्रमण की अवस्था से गुज़र रहा है, और उसमें वही परिवर्तन हो रहा है, जो लैस के धंधे में और बुनाई आदि में हो चुका है" (उप० पु०, अंक ४०५)। "एक पूर्ण क्रान्ति" (उप० पु०, पृ० XLVI [छियालीस], नोट ३१८)। जिस समय १८४० का Child. Empl. Comm. (बाल-सेवायोजन आयोग) काम कर रहा था, उस समय तक मोज़े बनाने का काम हाथ से ही किया जाता था। १८४६ के बाद से तरह-तरह की मशीनें इस्तेमाल होने लगी हैं, जो आजकल भाप से चलायी जाती हैं। इंगलैण्ड में मोज़े बनाने का काम करने वाले व्यक्तियों की कुल संख्या, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों तथा ३ वर्ष से ऊपर सभी उम्रों के लोग शामिल थे, १८६२ में १,२९,००० थी। ११ फ़रवरी १८६२ के Parliamentary Return (संसदीय विवरण) के अनुसार इनमें से केवल ४,०६३ फ़ैक्टरी-क़ानूनों के मातहत काम कर रहे थे।

से ज्यादा मशीनें जरूरी हो जाती हैं[1] और मांस-पेशियों के स्थान पर चालक शक्ति के रूप में भाप का उपयोग करने की आवश्यकता पैदा हो जाती है[2]। और, दूसरी तरफ़, समय की क्षति को पूरा करने के उद्देश्य से उत्पादन के उन साधनों का विस्तार हो जाता है, जिनका सामूहिक ढंग से इस्तेमाल किया जाता है, जैसे भट्ठियां, मकान आदि, – संक्षेप में कहा जाये, तो तब उत्पादन के साधनों का पहले से अधिक केन्द्रीकरण हो जाता है और उसके अनुरूप पहले से बड़ी संख्या में मजदूर इकट्ठा कर दिये जाते हैं। जब कभी किसी हस्तनिर्माण पर फ़ैक्टरी-क़ानून के लागू होने का ख़तरा पैदा होता है, तब उसकी ओर से बार-बार और बड़े जोरों के साथ ख़ास एतराज असल में यह किया जाता है कि फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हो जाने के बाद पुराने पैमाने पर धंधा करने के लिये पहले से ज्यादा पूंजी लगानी पड़ेगी। लेकिन जहां तक तथाकथित घरेलू उद्योगों और उनके तथा हस्तनिर्माण के बीच पाये जाने वाले अन्तर्कालीन रूपों का सम्बंध है, जैसे ही काम के दिन पर और बच्चों को नौकर रखने पर सीमाएं लगा दी जाती हैं, वैसे ही ये उद्योग चौपट हो जाते हैं। वे प्रतियोगिता में केवल उसी समय तक खड़े रह सकते हैं, जब तक कि उनको सस्ती श्रम-शक्ति का निर्बाध शोषण करने का अधिकार प्राप्त होता है।

फ़ैक्टरी-व्यवस्था के अस्तित्व के लिये जो शर्तें अत्यन्त आवश्यक हैं, उनमें से एक यह है कि फल पहले से निश्चित होना चाहिये, अर्थात् यह मालूम होना चाहिये कि इतने समय में मालों की इतनी मात्रा तैयार हो जायेगी या अमुक उपयोगी प्रभाव पैदा हो सकेगा। जहां काम के दिन की लम्बाई पहले से निश्चित होती है, वहां यह शर्त ख़ास तौर पर जरूरी हो जाती है। इसके अलावा, क़ानून के अनुसार क्योंकि काम के दिन को बीच-बीच में रोक देना जरूरी होता है, इसलिये पहले से ही यह मान लिया जाता है कि काम को समय-समय पर यकायक बीच में रोक देने से उस वस्तु को कोई हानि नहीं पहुंचेगी, जो उत्पादन की क्रिया में से गुजर रही है। जाहिर है, उन उद्योगों की अपेक्षा, जिनमें रासायनिक एवं भौतिक क्रियाओं का भी भाग होता है, विशुद्ध रूप से यांत्रिक उद्योगों में फल अधिक निश्चित रहता है और काम को बीच में रोक देना अधिक सहज होता है; मिसाल के लिये, मिट्टी के बर्तनों के धंधे, कपड़े सफ़ेद करने के व्यवसाय, रोटी पकाने में और धातु के अधिकतर उद्योगों में चूंकि रासायनिक एवं भौतिक क्रियाओं का भी प्रयोग किया जाता है, इसलिये उनमें काम का फल उतना निश्चित नहीं होता और न ही उनमें काम को उतनी आसानी से बीच में रोका जा सकता है। जहां कहीं काम के दिन की लम्बाई पर कोई सीमा नहीं लगी होती, जहां कहीं रात को काम

---

[1] मिसाल के लिये, मिट्टी के बर्तनों के व्यवसाय में, ग्लासगो की Britain Pottery के मालिक, मैसर्स कोक्रेन ने बताया था कि "उत्पादन की मात्रा को बनाये रखने के लिये हम अब बड़े पैमाने पर उन मशीनों का प्रयोग करने लगे हैं, जिनपर अनिपुण मजदूर काम करते हैं। और दिन प्रति दिन हमारा यह विश्वास बढ़ता जाता है कि पुरानी पद्धति की अपेक्षा इस तरह हम अधिक मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं।" (*"Rep. of Insp. of Fact, 31st Oct., 1865"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० १३।) "फ़ैक्टरी-क़ानूनों का असर यह हुआ है कि मशीनों का प्रयोग और भी बढ़ा देना पड़ा है।" (उप० पु०, पृ० १३–१४।)

[2] चुनांचे, मिट्टी के बर्तनों के व्यवसाय पर फ़ैक्टरी-क़ानून के लागू हो जाने के बाद hand-moved jiggers (हाथ की छलनियों) के स्थान पर power-jiggers (शक्ति से चलने वाली छलनियों) की संख्या में भारी वृद्धि हो गयी है।

कराया जाता है और मानव-जीवन का अनियंत्रित ढंग से अपव्यय किया जाता है, वहां यदि काम के स्वरूप के कारण काम के ढंग को सुधारने में ज़रा सी भी कठिनाई महसूस होती है, तो उसे लोग शीघ्र ही प्रकृति की बनायी हुई एक शाश्वत बाधा समझने लगते हैं। इस प्रकार की शाश्वत बाधाओं को फ़ैक्टरी-क़ानून जिस निश्चित रूप से हटा देता है, उससे अधिक निश्चित रूप में कोई ज़हर हानिकारक कीड़ों को नहीं मारता। "असम्भव बातों" के बारे में हमारे मित्र, मिट्टी के बर्तनों के कारख़ानों के मालिकों के समान अन्य किसी ने इतना अधिक शोर नहीं मचाया था। किन्तु १८६४ में उनपर भी क़ानून लागू हो गया, और सोलह महीने के अन्दर ही सारी "असम्भव बातें" सम्भव हो गयीं। इस क़ानून के लागू होने के फलस्वरूप "बर्तनों पर रोगन चढ़ाने का मसाला (slip) तैयार करने के लिये सुखाने के बजाय दबाने वाला तरीक़ा इस्तेमाल होने लगा, जो पहले तरीक़े से बेहतर है; बर्तनों को कच्ची हालत में ही सुखाने के लिये नये ढंग की भट्ठियां बनायी जाने लगीं; इत्यादि इत्यादि। ऐसी प्रत्येक घटना का मिट्टी के बर्तन बनाने की कला के लिये भारी महत्व है, और वह एक ऐसी प्रगति की सूचक है, जिसका पिछली शताब्दी क़तई मुक़ाबला नहीं कर सकती थी... इससे ख़ुद भट्ठियों तक का तापमान कम हो गया है, जिससे ईंधन में बहुत काफ़ी बचत होने लगी है और बर्तन पहले से अच्छे पकते हैं।"[1] तमाम भविष्यवाणियों के बावजूद फ़ैक्टरी-क़ानून लागू होने के परिणामस्वरूप बर्तनों की लागत नहीं बढ़ी, मगर पैदावार की मात्रा अवश्य बढ़ गयी, सो भी इस हद तक कि दिसम्बर १८६५ के साथ पूरे होने वाले बारह महीनों में जो निर्यात हुआ, उसका मूल्य पिछले तीन वर्षों के औसत निर्यात के मूल्य से १,३८,६२८ पौण्ड ज़्यादा बैठा। दियासलाइयों के हस्तनिर्माण में यह बात नितान्त आवश्यक समझी जाती थी कि लड़के अपना भोजन भसकने के समय भी दियासलाइयों को गली हुई फ़ासफ़रोस में डुबो-डुबोकर रखने का काम बराबर करते रहें, हालांकि इससे फ़ासफ़ोरस का विषैला वाष्प उनकी नाक और मुंह में घुसता रहता था। फ़ैक्टरी-क़ानून (१८६४) ने इस उद्योग में समय की बचत को ज़रूरी बना दिया, और चुनांचे दियासलाइयां फ़ासफ़रोस में डुबोने के लिये एक मशीन (dipping machine) का आविष्कार करना आवश्यक हो गया। इस मशीन से जो भाप उठती है, वह मज़दूरों के सम्पर्क में नहीं आ सकती है।[2] इसी तरह लेस के हस्तनिर्माण की उन शाखाओं में, जिनपर अभी फ़ैक्टरी-क़ानून लागू नहीं हुआ है, यह कहा जाता है कि विभिन्न प्रकार के लेसों को सुखाने के लिये चूंकि अलग-अलग समय की आवश्यकता होती है और चूंकि यह समय तीन मिनट से लेकर एक घण्टा या उससे ज़्यादा तक कुछ भी हो सकता है, इसलिये खाने की छुट्टी किसी एक निश्चित समय पर नहीं दी जा सकती। Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) ने इस दलील का यह जवाब दिया है: "इस धंधे में जो परिस्थितियां पायी जाती हैं, वे ठीक उन परिस्थितियों के अनुरूप हैं, जो काग़ज़ रंगने वालों के धंधे में पायी जाती हैं,

---

[1] "*Reports of Insp. of Fact., 31st Oct., 1865*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ९६ और १२७।

[2] दियासलाई बनाने के व्यवसाय में इस मशीन के तथा अन्य मशीनों के उपयोग का यह परिणाम हुआ कि अकेले एक विभाग में २३० लड़के-लड़कियों का स्थान १४ से १७ वर्ष तक की आयु के ३२ लड़के-लड़कियों ने ले लिया। इस तरह श्रम की जो बचत हुई, उसे १८६५ में भाप की शक्ति का प्रयोग करके और भी आगे बढ़ा दिया गया।

जिसपर हम अपनी पहली रिपोर्ट में विचार कर चुके हैं। इस धंधे के प्रमुख कारखानेदारों का कहना था कि वे जिस तरह की सामग्री इस्तेमाल करते हैं और जिन विविध प्रकार की क्रियाओं का उपयोग करते हैं, उनके कारण वे भारी नुक़सान उठाये बिना किसी एक निश्चित समय पर भोजन की छुट्टी के लिये काम को बीच में नहीं रोक सकते। परन्तु गवाहियां लेने पर पता चला कि यदि आवश्यक सतर्कता बरती जाये और पहले से सब प्रबंध कर लिया जाये, तो जिस कठिनाई का डर है, उसे दूर किया जा सकता है। और चुनांचे संसद के वर्तमान अधिवेशन में Factory Acts Extension Act (फ़ैक्टरी-क़ानूनों के विस्तार का क़ानून) पास कर दिया गया, जिसकी छठी धारा की उपधारा ६ के अनुसार इन कारखानेदारों को सूचित कर दिया गया है कि इस क़ानून के पास हो जाने के अठारह महीने के अन्दर उनको फ़ैक्टरी-क़ानूनों के मुताबिक भोजन की छुट्टी का समय निश्चित कर देना होगा।"[1] क़ानून पास हुआ ही था कि हमारे मित्र कारखानेदारों को यह पता चला: "हस्तनिर्माण की हमारी शाखा पर फ़ैक्टरी-क़ानूनों के लागू होने से हमें जिन असुविधाओं के पैदा होने का डर था, वे,—मुझे यह कहते हुए खुशी होती है,—पैदा नहीं हुईं। उत्पादन में ज़रा भी रुकावट नहीं पड़ी; संक्षेप में, हम उतने ही समय में पहले से ज़्यादा उत्पादन करने लगे हैं।"[2] स्पष्ट है कि इंगलैण्ड की धारा-सभा, जिसपर कोई भी यह आरोप लगाने का दुस्साहस नहीं करेगा कि उसमें प्रतिभा का अतिरेक है, अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुंच गयी है कि काम के दिन पर नियंत्रण लगाने और उसका नियमन करने के रास्ते में खुद उत्पादन-प्रक्रिया के स्वरूप से पैदा होने वाली जितनी तथाकथित बाधाओं का रोना रोया जाता है, उन सब को दूर कर देने के लिये एक सरल सा क़ानून, जिसको मानना सब के लिये ज़रूरी हो, पर्याप्त होता है। इसलिये जब किसी ख़ास उद्योग पर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू किया जाता है, तब उसके लिये छः महीने से अठारह महीने तक की एक ऐसी अवधि नियत कर दी जाती है, जिसमें कारखानेदारों को उन तमाम प्राविधिक बाधाओं को हटा देना पड़ता है, जिनसे क़ानून के अमल में आने में रुकावट पड़ सकती है। मिराबो की वह प्रसिद्ध उक्ति: "Impossible! ne me dites jamais ce bête de mot!" ("असम्भव! इस मूर्खतापूर्ण शब्द का मेरे सामने कभी व्यवहार मत करना!")—आधुनिक प्रौद्योगिकी पर ख़ास तौर पर लागू होती है। परन्तु ये फ़ैक्टरी-क़ानून हालांकि उन भौतिक तत्वों को बनावटी ढंग से परिपक्व कर देते हैं, जो हस्तनिर्माण-व्यवस्था के फ़ैक्टरी-व्यवस्था में रूपान्तरित हो जाने के लिये आवश्यक होते हैं, फिर भी चूंकि उनकी वजह से पहले से ज़्यादा पूंजी लगाना आवश्यक हो जाता है, इसलिये इसके साथ-साथ छोटे-छोटे मालिकों के पतन तथा पूंजी के संकेन्द्रण की क्रिया में भी तेज़ी आ जाती है।[3]

---

[1] "*Ch. Empl. Comm.*, II. *Rep.*, *1864*" ('बाल-सेवायोजन कमीशन की दूसरी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० IX (नौ), अंक ५०।

[2] "*Rep. of Insp. of Fact.*, *31st Oct.*, *1865*" ('फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० २२।

[3] "परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि यद्यपि ये सुधार कुछ प्रतिष्ठानों में पूरी तौर पर कार्यान्वित हो चुके हैं, तथापि वे सब जगह नहीं पाये जाते; और पुरानी हस्तनिर्माणशालाओं में से बहुत सी ऐसी हैं, जिनमें ये सुधार उस वक़्त तक अमल में नहीं लाये जा सकते, जब तक कि इतना ख़र्चा न किया जाये, जो इन हस्तनिर्माणशालाओं के मौजूदा मालिकों में से बहुतों के बूते के बाहर है।" सब-इंस्पेक्टर मे ने लिखा है: "इस प्रकार के क़ानून के लागू होने पर (जैसा

विशुद्ध रूप से प्राविधिक बाधाओं के अलावा, जिन्हें प्राविधिक साधनों के द्वारा हटाया जा सकता है, खुद मजदूरों की अनियमित आदतों के कारण भी श्रम के घण्टों का नियमन करना मुश्किल हो जाता है। यह मुश्किल खास तौर पर वहां देखने को मिलती है, जहां कार्यानुसार मजदूरी का अधिक चलन है और जहां दिन या सप्ताह के एक भाग में यदि समय की कुछ हानि हो जाती है, तो वह बाद को ओवरटाइम काम करके या रात को काम करके पूरी कर दी जाती है। यह एक ऐसी क्रिया है, जो वयस्क मजदूर को पशु-तुल्य बना देती है और उसकी पत्नी तथा बच्चों को बरबाद कर देती है।[1] श्रम-शक्ति खर्च करने में नियमितता का यह अभाव यद्यपि एक ही तरह के नीरस काम की नागवार थकन की प्राकृतिक एवं तीव्र प्रतिक्रिया होता है, परन्तु उसके साथ-साथ इससे भी अधिक मात्रा में वह उत्पादन की अराजकता से पैदा होता है,—उस अराजकता से, जो खुद पूंजीपति द्वारा श्रम-शक्ति के अनियंत्रित शोषण की सूचक होती है। औद्योगिक चक्र में जो नियतकालिक सामान्य परिवर्तन आते रहते हैं और हर उद्योग पर मन्दियों के जिन विशिष्ट उतार-चढ़ावों का असर पड़ा करता है, उनके अलावा हमें उस चीज़ का भी ध्यान रखना होगा, जो "अनुकूल मौसम" कहलाती है और जो या तो इस बात पर निर्भर करती है कि वर्ष के कुछ खास मौसम समुद्री परिवहन के लिये उपयुक्त होते हैं और वे एक निश्चित समय पर आते हैं, और या जो फ़ैशन पर और उन बड़े आर्डरों पर निर्भर करती है जो यकायक मिल जाते हैं और जिनको कम से कम समय में पूरा कर देना पड़ता है। रेल और तार-व्यवस्था के विस्तार के साथ इस तरह के आर्डर देने की आदत और ज़ोर पकड़ लेती है। "रेल-व्यवस्था का देश भर में प्रसार हो जाने से फ़ौरी आर्डर देने की आदत को बहुत प्रोत्साहन मिला है। अब खरीदार ग्लासगो, मानचेस्टर और एडिनबरा से चौदह दिन में एक

---

कि फ़ैक्टरी-क़ानूनों के विस्तार का क़ानून है) जो अस्थायी अव्यवस्था अनिवार्य रूप से पैदा होती है और जो असल में प्रत्यक्ष रूप से उन बुराइयों की सूचक होती है, जिनको दूर करना इस क़ानून का उद्देश्य था, उस अस्थायी अव्यवस्था के बावजूद मैं खुश हुए बिना नहीं रह सकता हूं, इत्यादि।" (*"Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1865"* ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० ६६, ६७)।

[1] उदाहरण के लिये, पिघलाऊ भट्ठियों के सिलसिले में यह स्थिति है कि "सप्ताह के अन्तिम दिनों में आम तौर पर काम की अवधि बहुत ज्यादा बढ़ा दी जाती है, क्योंकि मजदूरों को सोमवार को तथा कभी-कभी मंगलवार को भी कुछ समय तक या पूरा दिन काहिली में बिता देने की आदत पड़ी हुई है।" (*"Child. Empl. Comm., III Rep."* ['बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'], पृ० VI [छ:]।) "छोटे-छोटे मालिकों के यहां आम तौर पर काम के घण्टे बहुत अनियमित होते हैं। वे दो-दो या तीन-तीन दिन जाया कर देते हैं और फिर इस क्षति को पूरा करने के लिये रात भर काम करते हैं... यदि उनके बच्चे होते हैं, तो वे सदा उनसे भी काम लेते हैं।" (उप० पु०, पृ० VII [सात]।) "काम पर आने में नियमितता का अभाव होता है, जिसे देर तक काम करके समय की क्षति को पूरा कर देने की सम्भावना तथा प्रचलित प्रथा से प्रोत्साहन मिलता है।" (उप० पु०, पृ० XVIII [अठारह]) "बिर्मिंघम में... अत्यधिक समय जाया हो जाता है... कुछ समय मजदूर काहिली में बिता देते हैं, बाक़ी समय वे गुलामों की तरह मेहनत करते हैं।" (उप० पु०, पृ० XI [ग्यारह]।)

बार या कुछ इसी प्रकार की अवधि के बाद शहर के थोक व्यापार करने वाले उन गोदामों में पहुंचते हैं, जिन्हें हम माल देते हैं, और पहले की तरह स्टाक से खरीदने के बजाय फ़ौरी आर्डर देते हैं, जिनको फ़ौरन पूरा करना होता है। बरसों पहले हम व्यापार में शिथिलता के समय हमेशा काम करते रह सकते थे, ताकि अगले मौसम की मांग को पूरा करने के लिये माल तैयार कर लें, पर अब कोई पहले से नहीं कह सकता कि अगला मौसम आने पर मांग क्या होगी।"[1]

जिन फ़ैक्टरियों और हस्तनिर्माणशालाओं पर अभी तक फ़ैक्टरी-क़ानून लागू नहीं हुए हैं, उनमें यकायक मिलने वाले आर्डरों के परिणामस्वरूप समय-समय पर, यानी तथाकथित "मौसम" के आने पर, मजदूरों से भयानक हद तक अधिक काम लिया जाता है। फ़ैक्टरी के, हस्तनिर्माणशाला के और गोदाम के बाहरी विभाग में काम करने वाले तथाकथित घरेलू मजदूर, जिनका रोजगार बहुत अच्छी परिस्थितियों में भी बड़ा अनियमित होता है, अपने कच्चे माल और अपने आर्डरों के लिये पूरी तरह से पूंजीपति की सनक पर निर्भर करते हैं। और इस उद्योग में पूंजीपति को अपने मकानों और मशीनों के मूल्य-ह्रास की कोई चिन्ता नहीं होती, उसका हाथ बिल्कुल खुला रहता है, और काम को बीच में रोक देने से खुद मजदूर की खाल के लिये पैदा होने वाले खतरे के सिवा उसे कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती। अतः यहां पर वह एक ऐसी रिजर्व औद्योगिक सेना का निर्माण करने के लिये सुनियोजित ढंग से कोशिश करने लगता है, जो एक क्षण की सूचना पर काम में जुट जाने के लिये तैयार रहे। वर्ष के एक भाग में वह इस सेना से अत्यन्त अमानवीय श्रम कराके उसे नष्टप्राय कर देता है, और दूसरे भाग में वह उसे काम न दे कर भूखों मारता है। "जब कभी यकायक अतिरिक्त काम कराने की आवश्यकता होती है, तब मालिक लोग घरेलू काम की अभ्यासगत अनियमितता से लाभ उठाते हैं, और काम रात के ११ बजे, १२ बजे या २ बजे तक, या, जैसा कि आम तौर पर कहा जाता है, "चौबीसों घण्टे" चलता रहता है, और वह भी उन मुहल्लों में जहां "बदबू इतनी ज्यादा होती है कि तमाचे की तरह आपके मुंह पर आकर लगती है" (the stench is enough to knock you down)। "आप दरवाजे तक जाते हैं, शायद दरवाजा खोलते भी हैं, पर आगे नहीं बढ़ पाते, आपकी हिम्मत जवाब दे देती है।"[2] एक गवाह ने, जो जूते बनाता था, अपने मालिकों का जिक्र करते हुए कहा था: "वे अजीब ढंग के लोग हैं। वे समझते हैं कि अगर कोई लड़का साल में छः महीने लगभग खाली हाथ बैठा रहता है, तो बाक़ी छः महीने यदि उससे अत्यधिक काम भी लिया जाये, तो उसे कोई नुक़सान नहीं पहुंचेगा।"[3]

कुछ ऐसी "प्रथाएं हैं, जिनका प्रचार व्यवसाय के विकास के साथ बढ़ता गया है"

---

[1] *"Child. Empl. Comm. IV Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'), पृ० XXXII (बत्तीस)। "रेल-व्यवस्था के प्रसार को यकायक आर्डर देने की इस प्रथा के विस्तार के लिये बहुत हद तक जिम्मेदार बताया जाता है, जिसके फलस्वरूप काम में बहुत जल्दी की जाती है, भोजन की छुट्टी का कोई ख़याल नहीं रखा जाता और मजदूरों को देर तक काम करना पड़ता है।" (उप० पु०, पृ० XXXI [इकतीस]।)

[2] *"Ch. Empl. Comm. IV Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'), पृ० XXXV (पैंतीस), अंक २३५, २३७।

[3] *"Ch. Empl. Comm. IV Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'), पृ० १२७, अंक ५६।

("usages which have grown with the growth of trade"), और उन्हें भी, प्राविधिक बाधाओं की तरह ही, ग़रज़मन्द पूंजीपति काम के स्वरूप से उत्पन्न प्राकृतिक बाधाओं के रूप में पेश करते थे और करते हैं। जब सूती व्यवसाय के स्वामियों के लिये पहली बार फ़ैक्टरी-क़ानूनों का ख़तरा पैदा हुआ था, तो उन्होंने ख़ास तौर पर इस तरह का शोर मचाया था। यद्यपि अन्य किसी भी उद्योग की अपेक्षा उनका उद्योग नौ-परिवहन पर अधिक निर्भर करता है, तथापि अनुभव ने उनके प्रचार को झूठा सिद्ध कर दिया है। उस समय से जब कभी मालिकों ने किसी रुकावट का बहाना बनाया है, तब फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने उसे सदा महज़ धोखे की टट्टी समझा है।[1] पूरी ईमानदारी के साथ काम करने वाले Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) की खोज से यह सिद्ध हो जाता है कि काम के घण्टों के नियमन का कुछ उद्योगों में यह फल हुआ है कि पहले से ही काम में लगे हुए श्रम को अब पूरे साल पर अधिक समतुलित रूप में फैला दिया जाता है[2]; कि फ़ैशन की अर्थहीन और घातक सनक पर, उस सनक पर, जो आधुनिक उद्योग की व्यवस्था से क़तई मेल नहीं खाती, इस नियमन के रूप में पहली बार एक विवेकसंगत लगाम लगायी गयी थी;[3] कि महासागरों के नौ-परिवहन और आम तौर पर संचार के सभी प्रकार के साधनों के विकास के फलस्वरूप वह प्राविधिक आधार

---

[1] "जहाज़ से माल भेजने के जो आर्डर मिलते हैं, उनको यदि ठीक समय पर पूरा नहीं किया जाता, तो व्यवसाय में बड़ी हानि होती है। मुझे याद है कि १८३२ और १८३३ में फ़ैक्टरी-मालिकों की यह एक प्रिय दलील हुआ करती थी। अब इस विषय पर जो कुछ भी कहा जा सकता है, उसमें वह ज़ोर नहीं हो सकता, जो उस समय तक हुआ करता था, जब तक कि भाप ने हर दूरी को आधा नहीं कर दिया था और यातायात के नये नियमों की स्थापना नहीं कर दी थी। उन दिनों जब इस तर्क को प्रमाण की कसौटी पर कसा गया था, तो वह सर्वथा असफल रहा था, और अब भी यदि उसे परखकर देखा जाये, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह झूठा ही सिद्ध होगा।" (*"Reports of Insp. of Fact., 31 Oct., 1862"* ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६२'], पृ० ५४, ५५।)

[2] *"Ch. Empl. Comm. IV Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की चौथी रिपोर्ट'), पृ० XVIII (अठारह), अंक ११८।

[3] जान बैलेर्स ने १६९९ में ही यह कह दिया था कि "फ़ैशन की अनिश्चितता से अवश्य ही ज़रूरतमन्द ग़रीबों की संख्या में वृद्धि होती है। उसमें दो बड़ी बुराइयां होती हैं। पहली यह कि कारीगर जाड़ों में काम के अभाव से बहुत दुःखी रहते हैं; जब तक वसन्त नहीं आ जाता और यह नहीं मालूम हो जाता कि तब क्या फ़ैशन होगा, उस वक़्त तक कपड़ों के सौदागर तथा उस्ताद बुनकर अपना स्टाक बाहर निकालने की हिम्मत नहीं करते और इसलिये कारीगरों को काम नहीं दे पाते। दूसरी बुराई यह है कि वसन्त में कारीगर काफ़ी नहीं होते, लेकिन उस्ताद बुनकरों को तीन या छः महीने के अन्दर राज्य के पूरे व्यापार की पूर्ति कर देने के लिये बहुत सारे शागिर्दों को भर्ती करना पड़ता है, जिससे खेती में हलवाहों की कमी हो जाती है, देहाती इलाक़े मज़दूरों से ख़ाली हो जाते हैं और शहर प्रायः भिखारियों से भर जाते हैं, और जो लोग भीख मांगने में सकुचाते हैं, वे जाड़ों में भूखों मरने लगते हैं।" (*"Essays about the Poor, Manufactures, &c."* ['ग़रीबों, हस्तनिर्माणों आदि के विषय में निबंध'], पृ० ९।)

नष्ट हो गया है, जिसके सहारे मौसमी काम सचमुच खड़ा हुआ था;[1] कि जब पहले से बड़े मकान बनने लगते हैं, नयी मशीनें लगायी जाती हैं, काम में लगे हुए मज़दूरों की संख्या में वृद्धि होती है[2] और जब इन सब बातों के परिणामस्वरूप थोक व्यापार करने की प्रणाली में तबदीलियां हो जाती हैं,[3] तो बाक़ी तमाम तथाकथित अजेय कठिनाइयां भी गायब हो जाती हैं। लेकिन, इन तमाम बातों के बावजूद, पूंजी ऐसी तबदीलियों को कभी दिल से स्वीकार नहीं करती,– और यह बात खुद उसके प्रतिनिधि भी बार-बार तसलीम कर चुके हैं। पूंजी तभी इन्हें स्वीकारती है, जब संसद श्रम के घण्टों का अनिवार्य रूप से नियमन करने के लिये कोई सामान्य क़ानून बना देती है और पूंजी पर उस क़ानून का दबाव पड़ता है।[4]

## अनुभाग ६ – फ़ैक्टरी-क़ानून। – उनकी सफ़ाई और शिक्षा से सम्बंध रखने वाली धाराएं। – इंगलैण्ड में उनका सामान्य प्रसार

उत्पादन की प्रक्रिया के स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित रूप के विरुद्ध समाज की पहली सचेतन एवं विधिवत प्रतिक्रिया फ़ैक्टरी-क़ानूनों के रूप में सामने आती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, फ़ैक्टरी-क़ानून सूत, स्वचालित यंत्र और बिजली से काम करने वाली तार-व्यवस्था के समान

---

[1] "*Ch. Empl. Comm. V Rep.*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट'), पृ० १७१, अंक ३४।

[2] निर्यात का काम करने वाली ब्रैडफ़ोर्ड की कुछ कम्पनियों की गवाही इस प्रकार है: "इन परिस्थितियों में यह बात साफ़ है कि काम पूरा करने के लिये किसी भी लड़के से सुबह ८ बजे से शाम के ७ या ७.३० बजे से ज्यादा देर तक काम कराने की कोई ज़रूरत नहीं है। यह केवल अतिरिक्त मज़दूरों को नौकर रखने और अतिरिक्त पूंजी लगाने का सवाल है। यदि कुछ मालिक इतने लालची न हों, तो लड़कों को इतनी देर तक काम न करना पड़े। एक अतिरिक्त मशीन पर केवल १६ या १८ पौण्ड खर्च होते हैं। मज़दूरों से आजकल जो ओवरटाइम काम कराया जाता है, उसका अधिकांश उपकरणों की कमी और स्थान के अभाव का परिणाम होता है।" ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट', पृ० १७१, अंक ३५, ३६, ३८।)

[3] उप० पु०। लन्दन का एक कारख़ानेदार है, जो यह समझता है कि श्रम के घण्टों का अनिवार्य नियमन कारख़ानेदारों से मज़दूरों की रक्षा और ख़ुद कारख़ानेदारों की थोक व्यापारियों से रक्षा के लिये ज़रूरी है। उसने कहा है: "हमारे व्यवसाय में जो दबाव दिखाई दे रहा है, वह उन व्यापारियों का पैदा किया हुआ है, जो, मिसाल के लिये, अपना सामान पालदार जहाज़ से भेजना चाहते हैं, ताकि वह एक ख़ास मौसम में अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाये और साथ ही पालदार जहाज़ और भाप से चलने वाले जहाज़ के किराये में जो अन्तर होता है, वह भी उनकी जेब में पहुंच जाये; या जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों से पहले विदेशी मण्डी में पहुंच जाने के उद्देश्य से भाप के दो जहाज़ों में से जो पहले रवाना होने वाला होता है, उसको चुन लेते हैं।"

[4] एक कारख़ानेदार के शब्दों में, "इस चीज़ से इस क़ीमत पर बचा जा सकता है कि संसद के बनाये हुए किसी सामान्य क़ानून के दबाव के फलस्वरूप कारख़ाने का विस्तार करना ज़रूरी हो जाये।" (उप० पु०, पृ० X [दस], अंक ३८।)

आधुनिक उद्योग की ही अनिवार्य पैदावार है। इन क़ानूनों के इंगलैण्ड में विस्तार पर विचार करने के पहले हम फ़ैक्टरी-क़ानूनों की कुछ ख़ास धाराओं पर, जो काम के घण्टों से सम्बंधित नहीं हैं, संक्षेप में विचार करेंगे।

सफ़ाई से सम्बंध रखने वाली धाराओं की शब्दावली इस ढंग की है कि पूंजीपति बड़ी आसानी से अपने बचाव की तरक़ीब निकाल लेते हैं। इसके अलावा, इन धाराओं का क्षेत्र बहुत ही अपर्याप्त है, और सच पूछिये, तो ये धाराएं केवल दीवारों पर सफ़ेदी कराने, कुछ अन्य मामलों में सफ़ाई रखने, ताज़ा हवा के लिये रोशनदानों की व्यवस्था करने और ख़तरनाक मशीनों से मज़दूरों के बचाव का प्रबंध करने से सम्बंध रखने वाली धाराओं तक ही सीमित हैं। मालिकों ने इन धाराओं का, जिनके कारण उनको अपने मज़दूरों के अंगों के बचाव के उपकरणों पर कुछ ख़र्चा करना पड़ रहा था, दीवानों की तरह जो ज़बर्दस्त विरोध किया था, उसकी हम तीसरी पुस्तक में फिर चर्चा करेंगे। उनके इस विरोध से स्वतंत्र व्यापार की उस रूढ़ि पर भी एक नया और तीखा प्रकाश पड़ता है, जिसका यह कहना है कि विरोधी हितों वाले समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के सिवाय और किसी चीज़ की चिन्ता न करते हुए अनिवार्य रूप से सब के कल्याण के लिये काम करता है। यहां एक उदाहरण काफ़ी होगा। पाठक को मालूम है कि पिछले २० वर्षों में फ़्लैक्स के उद्योग का बहुत विस्तार हुआ है और इस विस्तार के साथ आयरलैण्ड में scutching mills (फ़्लैक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलों) की संख्या भी बढ़ गयी है। १८६४ में उस देश में १,८०० ऐसी mills (मिलें) थीं। शरद और शीत ऋतु में वहां नियमित रूप से स्त्रियों और लड़के-लड़कियों को, पास-पड़ोस के छोटे काश्तकारों की पत्नियों और पुत्र-पुत्रियों को, जिनका मशीनों के बिलकुल आदी न होने वाले वर्ग से सम्बन्ध होता है, खेतों से उठाकर scutching mills (फ़्लैक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलों) के बेलनों के बीच में फ़्लैक्स डालने का काम करने के लिये नौकर रखा जाता है। इन मिलों में जितनी और जैसी भायानक दुर्घटनाएं होती हैं, उनकी मशीनों के इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती। कोर्क के निकट किल्डिनान में स्थित इस तरह की एक मिल में १८५२ और १८५६ के बीच छः दुर्घटनाएं ऐसी हुईं, जिनमें मज़दूरों की जान गयी, और साठ दुर्घटनाओं में वे लुंज-पुंज हुए। इन तमाम दुर्घटनाओं को कुछ शिलिंग के सस्ते और बहुत ही सरल उपकरण लगाकर रोका जा सकता था। डाउनपैट्रिक में फ़ैक्टरियों को सर्टीफ़िकेट देने वाले डाक्टर (certifying surgeon) डा० डब्ल्यू० व्हाइट ने १५ दिसम्बर १८६५ की अपनी रिपोर्ट में लिखा है: "scutching mills (फ़्लैक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलों) में घटने वाली गम्भीर दुर्घटनाएं बहुत डरावनी क़िस्म की होती हैं। बहुत सी दुर्घटनाओं में शरीर का चौथाई भाग धड़ से अलग हो जाता है, और उसके फलस्वरूप या तो आदमी मर जाता है और या उसे बाक़ी जीवन लाचार और मुहताज बनकर दुःख भोगना पड़ता है। देश में मिलों की संख्या में वृद्धि हो जाने से, ज़ाहिर है, इन भयानक परिणामों की और वृद्धि होगी, और यदि इन मिलों को क़ानून के मातहत कर दिया जाये, तो बड़ा भारी उपकार हो। मुझे विश्वास है कि scutching mills (फ़्लैक्स को पीट-पीटकर उसका रेशा अलग करने वाली मिलों) का यदि समुचित रूप से निरीक्षण हो, तो आजकल जाने वाली जानों और भेंट चढ़ने वाले अंगों को बचाया जा सकता है।"[1]

---

[1] उप० पु०, पृ० XV (पन्द्रह), अंक ७२ और उसके आगे के अंक।

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का असली स्वरूप इसकी अपेक्षा और किस बात से अधिक स्पष्ट हो सकता था कि सफ़ाई रखने और मजदूरों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये बहुत ही मामूली से उपकरण लगवाने के लिये भी संसद द्वारा क़ानून बनवाकर उसके साथ जबर्दस्ती करनी पड़ती है? जहां तक मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कारख़ानों का सम्बंध है, १८६४ के फ़ैक्टरी-क़ानून ने "२०० से अधिक कारख़ानों में सफ़ाई और सफ़ेदी करवा दी हैं। इनमें से बहुत से कारख़ानों में २० वर्ष से सफ़ाई नहीं हुई थी और कुछ को तो कभी भी साफ़ नहीं किया गया था (यह है पूंजीपति का "परिवर्जन"!)। इन कारख़ानों में २७,८०० कारीगर काम करते हैं, जो अभी तक मेहनत के लम्बे दिन और अक्सर लम्बी रातें इस सड़ांध से भरे वातावरण में बिताया करते थे, जिसने इस धंधे को, जो औरों की तुलना में कम हानिकारक धंधा है, बीमारियों और मौत का कारण बना रखा था। क़ानून से साफ़ हवा के इन्तजाम में बहुत सुधार हो गया है।"[1] इसके साथ-साथ क़ानून के इस हिस्से से यह बात भी एकदम साफ़ हो जाती है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें एक बिन्दु के आगे कोई विवेकसंगत सुधार नहीं किया जा सकता। यह बात बारबार कही जा चुकी है कि अंग्रेज डाक्टरों की यह सर्वसम्मत राय है कि जहां पर काम लगातार होता हो, वहां पर हर व्यक्ति के लिये कम से कम ५०० घन-फ़ुट स्थान होना चाहिये। इन फ़ैक्टरी-क़ानूनों से उनकी अनिवार्य धाराओं के कारण अप्रत्यक्ष रूप से छोटे-छोटे कारख़ानों के फ़ैक्टरियों में बदल जाने की क्रिया में तेजी आ जाती है और इस तरह छोटे पूंजीपतियों के स्वामित्व के अधिकारों पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रहार होता है तथा बड़े पूंजीपतियों को एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। अब यदि हर कारख़ाने में प्रत्येक मजदूर के लिये समुचित स्थान रखना अनिवार्य बना दिया जाये, तो एक झटके में हजारों की संख्या में छोटे मालिकों की सम्पत्ति का प्रत्यक्ष रूप से अपहरण हो जायेगा! उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की जड़ – अर्थात श्रम-शक्ति की "स्वतंत्र" ख़रीदारी और उपभोग के द्वारा छोटी या बड़ी, हर प्रकार की पूंजी के आत्म-विस्तार – पर ही चोट होगी। चुनांचे ५०० घन-फ़ुट के स्थान के इस लक्ष्य तक पहुंचने के पहले ही फ़ैक्टरी-क़ानूनों में गतिरोध पैदा हो जाता है। सफ़ाई-विभाग के अफ़सर, औद्योगिक जांच-कमिश्नर, फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर, सब बार-बार यही राग अलापते हैं कि ५०० घन-फ़ुट स्थान अत्यन्तावश्यक है, और यह रोना रोते हैं कि पूंजी से यह स्थान पाना असम्भव है। इस प्रकार, वे असल में यह घोषणा करते हैं कि मजदूरों में तपेदिक और फेफड़े की अन्य बीमारियों का होना पूंजी के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त है।[2]

---

[1] "*Rep. Insp. Fact., 31st October, 1865*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० १२७।

[2] प्रयोग करके यह पता लगाया गया है कि जब कोई औसत क़िस्म का तंदरुस्त आदमी औसत तीव्रता का सांस लेता है, तो वह लगभग २५ घन-इंच हवा ख़र्च कर डालता है, और एक मिनट में लगभग २० बार सांस ली जाती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति २४ घण्टे में ७,२०,००० घन-इंच, या ४१६ घन-फ़ुट हवा अपने अन्दर ले जाता है। किन्तु यह बात स्पष्ट है कि जो हवा एक बार मनुष्य के शरीर के अन्दर चली जाती है, वह उस वक़्त तक फिर सांस लेने के काम नहीं आ सकती, जब तक कि वह प्रकृति के विराट कारख़ाने में शुद्ध नहीं कर दी जाती। वैलेंटिन और बुन्नेर के प्रयोगों के अनुसार, स्वस्थ आदमी हर घंटा १,३०० घन-इंच कार्बोनिक एसिड हवा में छोड़ता है, यानी २४ घण्टे में एक आदमी के फेफड़े ८ आउंस ठोस कार्बन हवा में फेंक देते हैं। "हर आदमी के पास कम से कम ८०० घन-फ़ुट स्थान होना चाहिये।" (Huxley, पृ० १०५)

फ़ैक्टरी-क़ानून की शिक्षा-सम्बंधी धाराएं कुल मिलाकर भले ही तुच्छ प्रतीत होती हों, पर उनसे यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि प्राथमिक शिक्षा बच्चों को नौकर रखने की एक नितान्त आवश्यक शर्त बना दी गयी है।[1] इन धाराओं की सफलता से पहली बार यह प्रमाणित हुआ कि हाथ के श्रम के साथ शिक्षा और व्यायाम[2] को जोड़ना सम्भव है और इसलिये शिक्षा और व्यायाम के साथ हाथ का श्रम भी जोड़ा जा सकता है। स्कूल-मास्टरों से पूछताछ करने पर फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि यद्यपि फ़ैक्टरी में काम करने वाले बच्चों को नियमित रूप से स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की केवल आधी शिक्षा ही मिलती है, तथापि वे उन विद्यार्थियों के बराबर और अक्सर उनसे भी अधिक सीख जाते हैं। "इसका कारण यह साधारण तथ्य है कि केवल आधे दिन स्कूल में बैठने के कारण ये बच्चे हमेशा ताजा रहते हैं और शिक्षा प्राप्त करने के लिये वे लगभग सदैव ही तैयार तथा राजी होते हैं। वे जिस व्यवस्था के अनुसार काम करते हैं, – यानी आधे दिन हाथ का श्रम करना और आधे दिन स्कूल में पढ़ना, – उससे श्रम और पढ़ाई दोनों एक दूसरे के सम्बंध में विश्राम और राहत का रूप धारण कर लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि दोनों काम बच्चे के लिये अधिक सुखकर बन जाते हैं। यदि बच्चे से लगातार श्रम या पढ़ाई करायी जाती, तो ऐसा न होता। यह बात बिल्कुल साफ़ है कि जो लड़का (ख़ास तौर पर गरमियों के मौसम में) सुबह से स्कूल में पढ़ रहा है, वह उस लड़के का मुक़ाबला नहीं कर सकता, जो अपने काम से ताजा और उल्लासपूर्ण दिमाग़ लिये हुए लौटता है।"[3] इस विषय में और जानकारी सीनियर के उस

---

[1] इंगलैण्ड के फ़ैक्टरी-क़ानून के मुताबिक़ मां-बाप १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को उन फ़ैक्टरियों में, जिनपर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू है, उस वक़्त तक काम करने के लिये नहीं भेज सकते जब तक कि उसके साथ-साथ वे उनको प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति नहीं दे देते। क़ानून की धाराओं का पालन करने की ज़िम्मेदारी कारख़ानेदार पर होती है। "फ़ैक्टरी में दी जाने वाली शिक्षा अनिवार्य है, और वह श्रम की एक आवश्यक शर्त है।" (*"Rep. Insp. Fact. 31 st Oct., 1865"* ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० १११।)

[2] फ़ैक्टरी में काम करने वाले बच्चों और मुहताज विद्यार्थियों की अनिवार्य शिक्षा के साथ-साथ व्यायाम (और लड़कों के लिये क़वायद) का प्रबंध करने के जो अत्यन्त हितकारी परिणाम हुए हैं, उनकी जानकारी पाने के लिये एन० डब्लयू० सीनियर का वह भाषण देखिये, जो उन्होंने "The National Association for the Promotion of Social Science" ('सामाजिक विज्ञान की उन्नति के लिये बनायी गयी राष्ट्रीय संस्था') की सातवीं वार्षिक कांग्रेस के सामने दिया था। यह भाषण *"Report of Proceedings, &c."* ('कार्यवाही, आदि, की रिपोर्ट'), London, 1863, में प्रकाशित हुआ है। देखिये पृ० ६३, ६४। *"Rep. Insp. Fact., 31st Oct., 1865"* ('फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ११८, ११९, १२०, १२६ और उसके आगे के पृष्ठ भी देखिये।

[3] *"Rep. Insp. Fact. 31st Oct., 1865"* ('फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० ११८। रेशम के कारख़ाने के एक मालिक ने Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) के सदस्यों को बड़े भोलेपन के साथ बताया था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुदक्ष मजदूर तैयार करने का असली गुर यह है कि बचपन से ही

भाषण से मिल सकती है, जो उन्होंने १८६३ में एडिनबरा में सामाजिक विज्ञान कांग्रेस के सामने दिया था। उसमें सीनियर ने अन्य बातों के अलावा यह भी बताया है कि उच्च और मध्य श्रेणियों के बच्चों को स्कूलों में जो नीरस और व्यर्थ के लिये लम्बा समय बिताना पड़ता है, उससे शिक्षक का श्रम किस तरह फ़िज़ूल ही बढ़ जाता है, और शिक्षक किस तरह "न केवल अनुपयोगी ढंग से, बल्कि सर्वथा हानिकारक ढंग से बच्चों के समय, स्वास्थ्य और शक्ति का अपव्यय किया करता है।"[1] जैसा कि रोबर्ट ग्रोवेन ने विस्तार के साथ हमें बताया है, फ़ैक्टरी-व्यवस्था में से भावी शिक्षा की कली फूटती है, – उस शिक्षा की, जो एक निश्चित आयु से ऊपर के प्रत्येक बच्चे के लिये शिक्षा और व्यायाम के साथ-साथ उससे कोई उत्पादक श्रम कराने का भी प्रबंध करेगी, और यह केवल इसलिये नहीं किया जायेगा कि यह उत्पादन की कार्य-क्षमता को बढ़ाने का एक तरीक़ा है, बल्कि इसलिये भी कि पूरी तरह विकसित मानव के उत्पादन का यह एकमात्र तरीक़ा है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, आधुनिक उद्योग प्राविधिक साधनों के द्वारा हस्तनिर्माण के उस श्रम-विभाजन को समाप्त कर देता है, जिसके अन्तर्गत हर आदमी जीवन भर के लिये एक अकेली तफ़सीली क्रिया से बंध जाता है। साथ ही इस उद्योग का पूंजीवादी रूप इसी श्रम-विभाजन को पहले से भी अधिक भयानक शकल में पुनः पैदा कर देता है। जिसे सचमुच फ़ैक्टरी कहा जा सकता है, उसमें मजदूर को मशीन का जीवित उपांग बनाकर ऐसा किया जाता है; और फ़ैक्टरी के बाहर हर जगह कुछ हद तक मशीनों तथा मशीन पर काम करने

---

शिक्षा और श्रम को जोड़ दिया जाये। ज़ाहिर है, काम बहुत कठिन, नागवार या स्वास्थ्य के लिये हानिकारक नहीं होना चाहिये। परन्तु शिक्षा और श्रम के मिलाप के लाभदायक होने के बारे में मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है। इसलिये कि मेरे बच्चों की शिक्षा में विविधता आ सके, मैं चाहता हूं कि वे पढ़ाई के साथ-साथ कुछ काम भी किया करें और खेलें-कूदें भी।" ("*Ch. Empl. Comm. V Rep.*" ['बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट'], पृ० ८२, अंक ३६।)

[1] Senior, उप० पु०, पृ० ६६। आधुनिक उद्योग एक ख़ास स्तर पर पहुंचकर उत्पादन की प्रणाली में तथा उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियों में जो क्रान्ति पैदा कर देता है, उसके द्वारा वह किस तरह लोगों के दिमाग़ों में भी इनक़िलाब पैदा कर सकता है, इसकी एक अच्छी मिसाल सीनियर के १८६३ के भाषण की, १८३३ के फ़ैक्टरी-क़ानून की उन्होंने जो तीव्र आलोचना की थी, उससे तुलना करके देखी जा सकती है। इसका एक और उदाहरण देखना हो, तो उपर्युक्त कांग्रेस के विचारों की इस तथ्य से तुलना कीजिये कि इंगलैण्ड के कुछ देहाती ज़िलों में ग़रीब मां-बापों को अपने बच्चों को शिक्षा देने की मुमानियत है, और यदि वे यह प्रतिबंध तोड़ते हैं, तो उनको भूख से तड़प-तड़पकर मर जाना पड़ता है। मिसाल के लिये, मि० स्नेल के कथनानुसार, सोमरसेटशायर की यह रोज़मर्रा की घटना है कि जब कोई ग़रीब आदमी चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता मांगता है, तो उसे अपने बच्चों को स्कूल से हटा लेने के लिये मजबूर किया जाता है। फ़ेल्थम के पादरी मि० वोल्लार्टन ने भी कुछ इस तरह के उदाहरण बताये हैं, जहां कुछ परिवारों को इस बिना पर किसी भी तरह की सहायता देने से इनकार कर दिया गया था कि "वे अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं!"

वाले मज़दूरों का इक्का-दुक्का उपयोग करके[1] और कुछ हद तक स्त्रियों और बच्चों के श्रम का तथा आम तौर पर सस्ते अनिपुण श्रम का उपयोग करके और इस तरह एक नये आधार पर श्रम-विभाजन को पुनः स्थापित करके यह चीज़ की जाती है।

हस्तनिर्माण के श्रम-विभाजन और आधुनिक उद्योग के तरीक़ों में पाया जाने वाला विरोध बलपूर्वक सामने आता है। अन्य बातों के अलावा, वह इस भयानक तथ्य में व्यक्त होता है कि आधुनिक फ़ैक्टरियों और हस्तनिर्माणों में जिन बच्चों से काम लिया जाता है, उनमें से अधिकतर अपने अत्यन्त प्रारम्भिक वर्षों से ही सरलतम क्रियाओं से बंध जाते हैं, वर्षों तक उनका शोषण होता रहता है, पर उनको एक भी ऐसा काम नहीं सिखाया जाता, जो उनको बाद में इसी हस्तनिर्माण या फ़ैक्टरी में भी किसी मसरफ़ का बना देता। मिसाल के लिये, इंगलैण्ड में टाइप की छपाई के व्यवसाय में पहले पुराने हस्तनिर्माणों और दस्तकारियों से मिलती-जुलती यह व्यवस्था थी कि काम सीखने वाले मज़दूरों को हल्के काम से क्रमशः अधिकाधिक कठिन काम दिया जाता था। इस तरह वे शिक्षा के एक पूरे दौर से गुज़रते थे और अन्त में छपाई में निपुण बन जाते थे। उनके धंधे की यह एक आवश्यक शर्त थी कि उनमें से हर आदमी पढ़ना और लिखना जानता हो। पर छपाई की मशीन ने आकर ये सारी बातें बदल दीं। यह मशीन दो प्रकार के मज़दूरों से काम लेती है: एक तो वयस्क मज़दूरों से, जो मशीन की देखभाल करते हैं, और, दूसरे, प्रायः ११ से १७ वर्ष तक के लड़कों से, जिनका एकमात्र काम यह होता है कि वे या तो काग़ज़ के ताव मशीन के नीचे बिछाते जाते हैं और या मशीन से छप-छपकर निकलने वाले तावों को उठाकर रखते जाते हैं। ख़ास तौर पर लन्दन में ये लड़के यह थकाने वाला काम हफ़्ते में कई दिन रोज़ाना १४, १५ और १६ घण्टे तक लगातार करते जाते हैं, और अक्सर वे ३६ घण्टे तक यह काम करते हैं और बीच में भोजन और सोने के लिये उनको केवल २ घण्टे की छुट्टी मिलती है।[2] उनमें से अधिकतर पढ़ना नहीं जानते, और आम तौर पर वे पूरे जंगली और बहुत ही असाधारण ढंग के जीव होते हैं। "उन्हें जो काम करना पड़ता है, उसे सीखने के लिये किसी प्रकार की बौद्धिक शिक्षा की आवश्यकता

---

[1] जहां कहीं आदमियों के द्वारा चलायी जाने वाली दस्तकारी की मशीनें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में यांत्रिक शक्ति द्वारा चलायी जाने वाली अधिक विकसित मशीनों से प्रतियोगिता करती हैं, वहां मशीन चलाने वाले मज़दूर के सम्बंध में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। शुरू-शुरू में भाप का इंजन इस मज़दूर का स्थान ले लेता है, बाद को उसे भाप के इंजन का स्थान लेना पड़ता है। चुनांचे, तनाव बहुत बढ़ जाता है और ख़र्च होने वाली श्रम-शक्ति की मात्रा बेहद बढ़ जाती है। और उन बच्चों के सम्बंध में यह बात ख़ास तौर पर देखने में आती है, जिनको यह यातना भोगनी पड़ती है। जांच-कमीशन के सदस्य मि० लोंगे ने कोवेण्ट्री और उसके आस-पड़ोस में १० से १५ वर्ष तक के बच्चों को पट्टी से चलने वाले करघे चलाते हुए देखा था। इतना ही नहीं, इससे भी छोटे बच्चों को कुछ छोटी मशीनें चलानी पड़ रही थीं। "यह असाधारण रूप से थका देने वाला काम है। लड़का महज़ भाप की शक्ति का एवज़ी होता है।" (*"Ch. Empl. Comm. V Rep. 1866"* ['बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट, १८६६'], पृ० ११४, अंक ६।) सरकारी रिपोर्ट ने उसे "गुलामी की इस व्यवस्था" का नाम दिया है। उसके घातक परिणामों के बारे में देखिये उप० पु०, पृ० ११४ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] उप० पु०, पृ० ३, अंक २४।

नहीं होती। इस काम में निपुणता के लिये बहुत कम और चतुराई के लिये उससे भी कम गुंजाइश होती है। इस नाते कि वे लड़के होते हैं, उनकी मजदूरी अधिक ही होती है, पर उनकी आयु के बढ़ने के साथ-साथ उसमें सानुपातिक वृद्धि नहीं होती और उनमें से अधिकतर यह आशा नहीं बांध सकते कि किसी दिन उनको मशीन की देखरेख करने वाले मजदूर का बेहतर मजदूरी और ज्यादा जिम्मेदारी वाला पद मिल जायेगा, – कारण कि हर मशीन की देखरेख करने के लिये जहां केवल एक मजदूर होता है, वहां उसके मातहत कम से कम दो और अक्सर चार लड़के काम करते हैं।"[1] यह काम बच्चे ही करते हैं, और जब उनकी उम्र बढ़ जाती है, यानी १७ के क़रीब हो जाती है, तो उनको छापेखानों से जवाब मिल जाता है। तब उनके अपराधियों की सेना में भर्ती होने की सम्भावना हो जाती है। कई बार उनको कहीं और नौकरी दिलवाने की कोशिश की गयी, पर उनकी जहालत और वहशीपन के कारण और उनके मानसिक एवं शारीरिक पतन के कारण कोई कोशिश कामयाब नहीं हुई।

हस्तनिर्माण करने वाले कारखानों के भीतर पाये जाने वाले श्रम-विभाजन के लिये जो बात सच है, समाज के भीतर पाये जाने वाले श्रम-विभाजन के लिये भी वही सच है। जब तक दस्तकारी और हस्तनिर्माण सामाजिक उत्पादन का सामान्य मूलाधार रहते हैं, तब तक उत्पादक का उत्पादन की केवल एक विशिष्ट शाखा के अधीन रहना और उसके धंधे की बहुरूपता का छिन्न-भिन्न हो जाना[2] आगे के विकास का एक आवश्यक क़दम होता है। इस मूलाधार के सहारे उत्पादन की हर अलग-अलग शाखा अनुभव के द्वारा वह ख़ास रूप प्राप्त कर लेती है, जो प्राविधिक दृष्टि से उसके लिये उपयुक्त होता है, उसको धीरे-धीरे विकसित करती जाती है, और जैसे ही यह रूप एक निश्चित मात्रा में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, वैसे ही उसका तीव्रता के साथ स्फटिकीकरण हो जाता है। वाणिज्य से जो नया कच्चा माल मिलने लगता है, उसके अतिरिक्त केवल एक ही चीज़ है, जो जहां-तहां कुछ परिवर्तन कर देती है। वह है श्रम के औज़ारों में होने वाले क्रमिक परिवर्तन। परन्तु अनुभव से एक बार निश्चित हो जाने के बाद श्रम के औज़ारों का रूप भी पथरा जाता है, जो इस बात से साबित है कि अनेक औज़ार पिछले कई हज़ार वर्षों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को एक ही रूप में मिलते गये हैं। यह बात बहुत अर्थ रखती है कि अठारहवीं सदी तक भी अलग-अलग

---

[1] उप० पु०, पृ० ७, नोट ६०।

[2] "यह बहुत वर्ष पहले की बात नहीं है कि स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश के कुछ भागों में, सांख्यिकीय विवरण के अनुसार, हर किसान ख़ुद अपने हाथ से कमाये हुए चमड़े के जूते बनाकर पहना करता था। बहुत से गड़रिये और किसान भी अपने बीवी-बच्चों के साथ ऐसे कपड़े पहनकर गिरजाघर में पहुंचते थे, जिन्हें केवल उन्हीं के हाथों ने छुआ होता था, क्योंकि उनका ऊन वे ख़ुद अपनी भेड़ों को मूंड़कर तैयार करते थे और फ़्लैक्स उनके अपने खेतों में उगा था। यह भी बताया जाता है कि इन कपड़ों को तैयार करने के लिये सूजा, सुई, अंगुश्ताना और बुनाई में इस्तेमाल होने वाले लोहे की कल के कुछ इने-गिने हिस्सों को छोड़कर और कोई भी चीज़ ख़रीदी नहीं जाती थी। रंग भी स्त्रियों द्वारा मुख्यतया पेड़ों, झाड़ियों और जड़ी-बूटियों से तैयार किये जाते थे।" (Dugald Stewart, "*Works*" ['रचनाएं'], Hamilton का संस्करण, खण्ड ८, पृ० ३२७-३२८।)

धंधे "mysteries" (mystères) (भेद) कहलाते थे।[1] इन भेदों को केवल वे ही लोग जान सकते थे, जिन्हें विधिवत् दीक्षा मिल चुकी थी, – और कोई उनको नहीं जान सकता था। परन्तु आधुनिक उद्योग ने उस नक़ाब को तार-तार कर अलग कर दिया, जिसने उत्पादन की सामाजिक क्रिया को खुद मनुष्यों की आंखों से छिपा रखा था और जिसके कारण उत्पादन की स्वयंस्फूर्त ढंग से बंटी हुई विभिन्न शाखाएं केवल बाहरी आदमियों के लिये ही नहीं, बल्कि दीक्षितों के लिये भी पहेलियां बनी हुई थीं। आधुनिक उद्योग ने हर क्रिया को उसकी संघटक गतियों में बांट देने के सिद्धान्त का अनुसरण किया और ऐसा करते हुए इस बात का कोई ख़याल नहीं किया कि मनुष्य का हाथ इन गतियों को कैसे सम्पन्न कर पायेगा। इस सिद्धान्त ने प्रौद्योगिकी के नये आधुनिक विज्ञान को जन्म दिया। औद्योगिक प्रक्रियाओं के नाना प्रकार के, प्रकटतः असम्बद्ध प्रतीत होने वाले और पथराये हुए रूप निश्चित ढंग के उपयोगी प्रभाव पैदा करने के लिये प्राकृतिक विज्ञान को सचेतन और सुनियोजित ढंग से प्रयोग करने के तरीक़ों में परिणत हो गये। प्रौद्योगिकी ने गति के उन थोड़े से मौलिक रूपों का भी पता लगाया, जिनमें से किसी न किसी रूप में ही मानव-शरीर की प्रत्येक उत्पादक कार्रवाई व्यक्त होती है, हालांकि मानव-शरीर नाना प्रकार के औज़ारों को इस्तेमाल करता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे यांत्रिकी का विज्ञान अधिक से अधिक संश्लिष्ट मशीनों में भी सरल यांत्रिक शक्तियों की निरन्तर पुनरावृत्ति के सिवा और कुछ नहीं देखता।

आधुनिक उद्योग किसी भी प्रक्रिया के वर्तमान रूप को कभी उसका अन्तिम रूप नहीं समझता और न ही व्यवहार में उसे ऐसा मानता है। इसलिये इस उद्योग का प्राविधिक आधार क्रान्तिकारी ढंग का है, जब कि इसके पहले वाली उत्पादन की तमाम प्रणालियां बुनियादी तौर पर रूढ़िवादी थीं।[2] आधुनिक उद्योग मशीनों, रासायनिक क्रियाओं तथा अन्य तरीक़ों के द्वारा

---

[1] एटिएन्न बोयलियो की प्रसिद्ध रचना "Livre des métiers" में हम यह प्रदिष्ट पाते हैं कि जब किसी कारीगर को उस्तादों की श्रेणी में प्रवेश करने की अनुमति मिलती थी, तब उसे यह सौगंध खानी पड़ती थी कि वह "अपने भाइयों से भाइयों जैसा प्यार करेगा, उनके अपने धंधों में उनकी सहायता करेगा, कभी जान-बूझकर अपने व्यवसाय के भेद नहीं खोलेगा और इसके अलावा सब के हितों का ध्यान रखते हुए कभी अपने माल की प्रशंसा करने के लिये दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं के अवगुणों की ओर ख़रीदार का ध्यान आकर्षित नहीं करेगा।"

[2] "उत्पादन के औज़ारों में लगातार क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना पूंजीपति-वर्ग का अस्तित्व असंभव है, और इस तरह उत्पादन के सम्बंधों में और उनके साथ-साथ तमाम सामाजिक सम्बंधों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। पुराने ज़माने के तमाम औद्योगिक वर्गों की बात बिलकुल उल्टी थी। उत्पादन के पुराने तरीक़ों को ज्यों का त्यों बनाये रखना उनके जीवित रहने की पहली शर्त थी। उत्पादन प्रणाली में निरंतर क्रान्तिकारी परिवर्तन, सामाजिक सम्बंधों में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अस्थिरता और हलचल – पूंजीवादी युग की ये मुख्य विशेषताएं हैं, जो पहले के सभी युगों से उसे भिन्न बना देती हैं। अपने तमाम प्राचीन और पूज्य कहलाने वाले पूर्वग्रहों तथा मतों के साथ सब गतिहीन और जड़ सम्बंध समाप्त कर दिये जाते हैं। नये सम्बंधों के बनने में देर नहीं होती कि वे भी पुराने पड़ जाते हैं, उनके रूढ़ हो जाने की नौबत ही नहीं आ पाती। जिन चीज़ों को ठोस समझा जाता था, वे हवा में उड़ जाती हैं, जिन्हें पवित्र माना जाता था, वे भू-लुंठित हो रही हैं, और अन्त में मनुष्य मजबूर हो जाता है कि वह

न केवल उत्पादन के प्राविधिक आधार में, बल्कि मजदूर के कार्यों में और श्रम-प्रक्रिया के सामाजिक संयोजनों में भी लगातार तबदीलियां कर रहा है। साथ ही वह इस तरह समाज में पाये जाने वाले श्रम-विभाजन में भी क्रान्ति पैदा कर देता है और पूंजी की राशियों को तथा मजदूरों के समूहों को उत्पादन की एक शाखा से दूसरी शाखा में निरन्तर स्थानांतरित करता रहता है। लेकिन इसलिये आधुनिक उद्योग खुद अपने स्वरूप के कारण यदि श्रम के निरन्तर परिवर्तन, काम के रूप में लगातार तबदीली और मजदूरों में सार्वत्रिक गतिशीलता को जरूरी बना देता है, तो, दूसरी ओर, अपने पूंजीवादी रूप में आधुनिक उद्योग पुराने श्रम-विभाजन को, उसके अस्थीकृत विशेषीकरण के साथ, पुनः पैदा कर देता है। हम यह देख चुके हैं कि आधुनिक उद्योग की प्राविधिक आवश्यकताओं और उसके पूंजीवादी रूप में निहित सामाजिक स्वरूप के बीच पाया जाने वाला यह परम विरोध किस तरह मजदूर के सम्बंध में हर प्रकार की स्थिरता और निश्चितता को खतम कर देता है और किस तरह वह सदा मजदूर को उसके श्रम के औजारों से वंचित करके जीवन-निर्वाह के साधनों को उससे छीन लेने[1] और उसके तफ़सीली काम को अनावश्यक बनाकर खुद उसको फ़ालतू बना देने की धमकी दिया करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि यह विरोध किस तरह उस डरावनी वस्तु का – उस रिजर्व औद्योगिक सेना का – निर्माण करके अपना गुस्सा निकालता है, जिसे केवल इसलिये मुसीबत में रखा जाता है कि वह सदा पूंजी के काम में आने के लिये तैयार रहे। हम देख चुके हैं कि यह विरोध किस तरह मजदूर-वर्ग के अनवरत बलिदानों में, श्रम-शक्ति के अंधाधुंध अपव्यय में और उस सामाजिक अराजकता द्वारा ढायी गयी तबाही के रूप में अपना क्रोध व्यक्त करता है, जो हर आर्थिक प्रगति को एक सामाजिक विपत्ति में परिणत कर देती है। यह हुआ उसका नकारात्मक पहलू। लेकिन यदि, एक ओर, काम में होने वाले परिवर्तन इस समय एक प्राकृतिक नियम की तरह जबर्दस्ती अपना असर दिखाते हैं और यदि वे उस प्राकृतिक नियम की भांति, जिसका हर बिन्दु पर विरोध हो रहा है, एक अंधी शक्ति के रूप में मिटाते और नाश करते हुए अमल में आते हैं,[2] तो, दूसरी ओर, आधुनिक उद्योग जिन विपत्तियों को ढाता

---

अपने जीवन की सच्ची परिस्थितियों और दूसरों के साथ अपने सम्बंधों पर गंभीरता के साथ विचार करे।" (F. Engels und Karl Marx, "*Manifest der Kommunistischen Partei*" [फ़्रे० एंगेल्स और कार्ल मार्क्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र'], London, 1848, पृ० ५।)

[1] "You take my life
When you do take the means whereby I live."

["जब तुम मेरे जीविका के साधन छीन लेते हो, तब असल में तुम मेरे प्राण हर लेते हो।"] (शेक्सपियर।)

[2] एक फ़्रांसीसी मजदूर ने सान-फ़्रांसिस्को से लौटकर यह लिखा है: "कैलिफ़ोर्निया में मैंने जितने अलग-अलग तरह के धंधे किये, मैं कभी विश्वास नहीं कर सकता था कि मुझमें इतने प्रकार के काम करने की क्षमता है। मेरा दृढ़ विश्वास था कि मैं टाइप की छपाई के सिवा और किसी काम के लायक़ नहीं हूं... पर जब एक बार मैं दुस्साहसी लोगों की दुनिया में पहुंच गया, जो क़मीज की तरह अपना धंधा बदलते हैं, तब, जाहिर है, जिस तरह दूसरे लोग करते थे, उसी तरह मैंने भी करना शुरू कर दिया। खान के काम से चूंकि काफ़ी कमाई नहीं हुई, इसलिये मैं

है, उनके द्वारा वह सबसे यह मनवा लेता है कि काम में बराबर परिवर्तन होते रहना और इसलिये मजदूर में विविध प्रकार के काम करने की योग्यता का होना तथा इस कारण उसकी विभिन्न प्रकार की क्षमताओं का अधिक से अधिक विकास होना उत्पादन का एक मौलिक नियम है। उत्पादन की प्रणाली को इस नियम के सामान्य कार्य के अनुकूल बनाने का सवाल समाज की जिन्दगी और मौत का सवाल बन जाता है। वस्तुतः आधुनिक उद्योग समाज को मौत की धमकी देकर इसके लिये मजबूर करता है कि आजकल के तफ़सीली काम करने वाले मजदूर को, जो जीवन भर एक ही, बहुत तुच्छ क्रिया को दुहरा-दुहराकर पंगु हो गया है और इस प्रकार इनसान का एक अंश भर रह गया है, एक पूर्णतया विकसित ऐसे व्यक्ति में बदल दे, जो अनेक प्रकार का श्रम करने की योग्यता रखता हो, जो उत्पादन में होने वाले किसी भी परिवर्तन के लिये तैयार हो और जिसके लिये उसके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले विभिन्न सामाजिक कार्य केवल अपनी प्राकृतिक एवं उपार्जित क्षमताओं को स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार में लाने की प्रणालियां भर हों।

इस क्रान्ति को पैदा करने के लिये एक क़दम पहले ही से स्वयंस्फूर्त ढंग से उठाया जा चुका है। वह है प्राविधिक एवं कृषि स्कूलों और "écoles d'enseignement professionnel" (व्यावसायिक स्कूलों) की स्थापना, जिनमें मजदूरों के बच्चों को प्रौद्योगिकी की, और श्रम के विभिन्न औजारों का व्यावहारिक उपयोग करने की थोड़ी-बहुत शिक्षा मिल जाती है। फ़ैक्टरी-क़ानून के रूप में पूंजी से जो पहली और बहुत तुच्छ रियायत छीनी गयी है, उसमें फ़ैक्टरी के काम के साथ-साथ केवल प्राथमिक शिक्षा देने की ही बात है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि जब मजदूर-वर्ग सत्ता पर अधिकार कर लेगा, जो कि अनिवार्य है, तब सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ढंग की प्राविधिक शिक्षा मजदूरों के स्कूलों में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इस तरह की क्रान्तिकारी उथल-पुथल, जिसके अन्तिम परिणाम के रूप में पुराना श्रम-विभाजन ख़तम हो जायेगा, उत्पादन के पूंजीवादी रूप के और इस रूप में मजदूर की जो आर्थिक हैसियत है, उसके बिल्कुल ख़िलाफ़ पड़ती है। परन्तु उत्पादन के किसी भी निश्चित रूप में निहित विरोधों का ऐतिहासिक विकास ही एकमात्र ऐसा तरीक़ा है, जिसके ज़रिये उत्पादन का वह रूप मिट सकता है और एक नया रूप स्थापित हो सकता है। "Ne sutor ultra crepidam" ("मोची को अपने कलबूत से ही चिपके रहना चाहिये") – दस्तकारी सम्बन्धी बुद्धि का यह nec plus ultra (चमत्कारपूर्ण सूत्र) उसी क्षण से सरासर बकवास बन गया है, जब से घड़ीसाज वाट्ट ने भाप के इंजन का, नाई आर्कराइट ने थ्रौसल का और सुनार फ़ुल्टन ने भाप से चलने वाले जहाज का आविष्कार किया है।[1]

---

उसे छोड़कर शहर में चला आया, जहां मैंने बारी-बारी से छपाई, छत डालने और नलों की मरम्मत करने आदि का काम किया। इस प्रकार मुझे मालूम हुआ कि मैं किसी भी तरह का काम कर सकता हूं, और इसके फलस्वरूप अब मैं अपने को घोंघा कम और इनसान ज्यादा महसूस करता हूं।" (A. Corbon, "*De l'enseignement professionnel*", दूसरा संस्करण, पृ० ५०।)

[1] जान बैलेर्स ने, जो अर्थशास्त्र के इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना के रूप में प्रकट हुए थे, १७ वीं शताब्दी के अन्त में यह बात सबसे अधिक स्पष्टता के साथ समझी थी कि

जब तक फ़ैक्टरी-क़ानून फ़ैक्टरियों, हस्तनिर्माणशालाओं आदि में श्रम का नियमन करने तक ही सीमित रहते हैं, तब तक केवल इतना ही समझा जाता है कि इन क़ानूनों के द्वारा पूंजी के शोषण करने के अधिकार में हस्तक्षेप किया जा रहा है। मगर जब तथाकथित "घरेलू श्रम" का भी नियमन किया जाने लगता है,[1] तब तुरन्त ही यह विचार ज़ोर पकड़ता है कि इस तरह तो patria potestas पर – मां-बाप के अधिकारों पर – प्रत्यक्ष प्रहार किया जा रहा है। इंगलैण्ड की दयालु-हृदय संसद बहुत दिनों तक यह क़दम उठाने में हिचकिचाती रही। परन्तु तथ्यों के प्रभाव ने उसे आख़िर इस बात को स्वीकार करने के लिये मजबूर कर ही दिया कि आधुनिक उद्योग ने उस आर्थिक आधार को उलटकर, जिसपर परम्परागत परिवार और उस व्यवस्था के लिये उपयुक्त पारिवारिक श्रम टिके हुए थे, परम्परा से चले आये तमाम पारिवारिक बंधनों को भी ढीला कर दिया है। बच्चों के अधिकारों की घोषणा करना आवश्यक हो गया। १८६६ के Ch. Empl. Comm. (बाल-सेवायोजन आयोग) की अन्तिम रिपोर्ट में कहा गया है: "हमारे सामने जितनी गवाहियां हुई हैं, दुर्भाग्य से उन सभी से यह बात स्पष्ट है: और इतनी अधिक स्पष्ट है कि देखकर तकलीफ़ होती है – कि बच्चों और बच्चियों दोनों को उनके मां-बापों से बचाने की जितनी आवश्यकता है, उतनी और किसी व्यक्ति से बचाने की नहीं।" बच्चों के श्रम का अनियंत्रित शोषण करने की प्रणाली आम तौर पर और तथाकथित घरेलू श्रम की प्रथा ख़ास तौर पर "केवल इसीलिये क़ायम है कि मां-बापों को अपनी कम-उम्र और सुकुमार सन्तान पर निरंकुश और घातक अधिकार प्राप्त हैं और वे बिना किसी रोक-टोक के उनका दुरुपयोग करते हैं ... मां-बापों को अपने बच्चों को महज़ हर सप्ताह इतना पैसा कमाने वाली मशीनों में बदल देने का अनियन्त्रित अधिकार नहीं होना चाहिये ... इसलिये जहां कहीं ऐसी स्थिति हो, वहां बच्चों और लड़के-

---

शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था तथा श्रम-विभाजन का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है, जो समाज के दो विरोधी छोरों पर अतिपुष्टिता और अपुष्टिता पैदा कर देते हैं। अन्य बातों के साथ-साथ बैलेर्स ने यह भी लिखा है: "निकम्मा पांडित्य काहिली की शिक्षा से कोई ख़ास अच्छा नहीं होता... शारीरिक श्रम ईश्वर की बनायी हुई एक आदिम प्रथा है... श्रम करना शरीर के स्वास्थ्य के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना उसको जिन्दा रखने के लिये भोजन करना, क्योंकि आदमी आराम से रहकर जिन तकलीफ़ों से बचने की कोशिश करता है, वे सब उसे बीमारियों की शकल में आ घेरती हैं . . . जीवन के दीप में श्रम स्नेह का काम करता है और चिन्तन उसे प्रज्वलित करता है . . . यदि बच्चों से केवल कोई शिशु-तुल्य, मूर्खतापूर्ण काम ही लिया जाता है" (यहां पर मानों भविष्य की आशंका से चिन्तित होकर बेज़डो और उसके आधुनिक नक़्क़ालों की करतूतों के विरुद्ध पहले ही से चेतावनी दी जा रही है) "तो बच्चे मूर्ख के मूर्ख रह जाते हैं।" (*"Proposals for Raising a Colledge of Industry of all Useful Trades and Husbandry"* ['सभी उपयोगी धंधों और खेती के लिये उद्योग का एक कालिज खोलने के सम्बंध में कुछ सुझाव'], London, 1696, पृ० १२, १४, १८।)

[1] जैसा कि हम लैस बनाने और सूखी घास की बुनी हुई वस्तुएं तैयार करने के धंधों में देख चुके हैं, इस प्रकार का श्रम प्रायः छोटे-छोटे कारख़ानों में कराया जाता है। शेफ़ील्ड, बिर्मिंघम आदि के धातु के धंधों में इस तरह के श्रम का अधिक विस्तार के साथ अध्ययन किया जा सकता है।

लड़कियों को एक प्राकृतिक अधिकार के रूप में संसद से यह मांग करने का हक़ होना चाहिये कि उनसे कोई ऐसा काम न लिया जाये, जो उनकी शारीरिक शक्ति को समय से पहले ही नष्ट कर देता हो और जो बौद्धिक तथा नैतिक जीवों के रूप में उनको पतन के गर्त में गिरा देता हो।"[1] किन्तु बच्चों के श्रम का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष पूंजीवादी शोषण इसलिये नहीं शुरू हुआ था कि मां-बाप अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगे थे, बल्कि, इसके विपरीत, यह शोषण की पूंजीवादी प्रणाली थी, जिसने मां-बापों के अधिकार के आर्थिक आधार को नष्ट करके इस अधिकार के उपयोग को उसके घातक दुरुपयोग में परिणत कर दिया था। पूंजीवादी व्यवस्था में पुराने पारिवारिक बंधनों का टूटना चाहे जितना भयंकर और घृणित क्यों न प्रतीत होता हो, परन्तु आधुनिक उद्योग स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चे-बच्चियों को घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की क्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका देकर परिवार के और नारी तथा पुरुष के सम्बंधों के एक अधिक ऊंचे रूप के लिये एक नया आर्थिक आधार तैयार कर देता है। जाहिर है, परिवार के ट्यूटौनिक-ईसाई रूप को उसका अन्तिम और शाश्वत रूप समझना उतनी ही बेतुकी बात है, जितना यह समझना कि परिवार के प्राचीन रोम, प्राचीन यूनान अथवा पूर्व के रूप उसके अन्तिम और शाश्वत रूप थे, क्योंकि ये तमाम रूप तो असल में परिवार के ऐतिहासिक विकास-क्रम की कड़ियां हैं। इसके अलावा, यह बात भी साफ़ है कि यदि काम करने वालों के सामूहिक दल में स्त्री और पुरुष दोनों और हर उम्र के व्यक्ति शामिल हों, तो उपयुक्त परिस्थितियां होने पर यह तथ्य लाजिमी तौर पर मानवीय विकास का कारण बन जायेगा, हालांकि अपने स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित, पाशविक, पूंजीवादी रूप में, जहां उत्पादन की क्रिया मजदूर के लिये नहीं होती, बल्कि मजदूर का अस्तित्व उत्पादन की क्रिया के लिये होता है, यह तथ्य समाज में दुराचार और दासता का विष फैलाने का कारण बन जाता है।[2]

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, फ़ैक्टरी-क़ानूनों का सामान्यकरण करने की, अर्थात् उनको केवल मशीनों की पहली पैदावार – यांत्रिक कताई-बुनाई – से सम्बंध रखने वाले अपवादस्वरूप क़ानूनों के बजाय पूरे सामाजिक उत्पादन पर प्रभाव डालने वाले क़ानूनों में बदल देने की, आवश्यकता आधुनिक उद्योग के ऐतिहासिक विकास के ढंग से पैदा हुई। आधुनिक उद्योग के पृष्ठभाग में हस्तनिर्माण, दस्तकारी तथा घरेलू उद्योग का परम्परागत रूप एकदम बदल जाता है। हस्तनिर्माण निरन्तर फ़ैक्टरी-व्यवस्था में और दस्तकारियां हस्तनिर्माणों में रूपान्तरित होती जाती हैं। और अन्तिम बात यह है कि यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये, तो दस्तकारी तथा घरेलू उद्योगों के क्षेत्र बहुत ही थोड़े समय में सरासर नरक बन जाते हैं, जहां पूंजीवादी शोषण को जी भरकर ज्यादतियां करने की छूट मिल जाती है। दो बातें हैं, जो अन्त में एकदम पासा पलट देती हैं। एक तो बार-बार यह अनुभव होता है कि जब कभी एक बिंदु पर पूंजी पर कोई क़ानूनी

---

[1] "*Ch. Empl. Comm. V Rep.*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट'), पृ० XXV (पचीस), अंक १६२, और "II Rep." ('दूसरी रिपोर्ट'), पृ० XXXVIII (अड़तीस), अंक २८५ और २८९; पृ० XXV (पच्चीस) तथा XXVI (छब्बीस), अंक १९१।

[2] "फ़ैक्टरी का श्रम भी घरेलू श्रम जितना ही और शायद उससे भी अधिक शुद्ध और अधिक अच्छा हो सकता है।" ("*Rep. Insp. Fact., 31st October, 1865*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६५'], पृ० १२९।)

नियंत्रण लगा दिया जाता है, तो तुरन्त ही वह अन्य बिंदुओं पर और भी जोर-शोर से इस क्षति की पूर्ति करने लगती है।[1] दूसरे, पूंजीपति यह शोर मचाते हैं कि प्रतियोगिता की शर्तें सब के लिये बराबर होनी चाहिये, अर्थात् श्रम के सभी प्रकार के शोषण पर समान नियंत्रण लगाया जाना चाहिये।[2] इस सम्बंध में दो टूटे हुए दिलों की चीख़-पुकार सुनिये। ब्रिस्टल के मेसर्स कुक्सले ने, जो कीलें, जंजीरें आदि तैयार करते हैं, अपने कारख़ाने में अपने आप फ़ैक्टरी-क़ानून के नियमों को लागू कर दिया है। "आस-पड़ोस के कारख़ानों में चूंकि अभी तक पुरानी अनियमित प्रणाली ही चली आती है, इसलिये मेसर्स कुक्सले को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि उनके यहां काम करने वाले लड़कों को शाम को ६ बजे के बाद लोग किसी और कारख़ाने में काम करने के लिये फ़ुसला (enticed) ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे स्वभावतया यह कहते हैं कि 'यह बड़ी बेइन्साफ़ी है और इससे हमारा बहुत नुक़सान होता है, क्योंकि इससे लड़के की ताक़त का एक हिस्सा ख़र्च हो जाता है, जब कि हमें उससे पूरा फ़ायदा उठाने का मौक़ा होना चाहिये था।'"[3] (लन्दन के काग़ज़ के बक्स और थैले बनाने वाले) मि० सिम्पसन ने Ch. Empl. Comm. (बाल-सेवायोजन आयोग) के सदस्यों के सामने कहा था कि "मैं" (क़ानूनी हस्तक्षेप की मांग करते हुए) "किसी भी आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर करने को तैयार हूं... जो स्थिति इस समय है, उसके अनुसार शाम को अपना कारख़ाना बन्द करने के बाद मुझे रात को हमेशा यह ख़याल परेशान किया करता है ("he always felt restless at night") कि कहीं दूसरे कारख़ानेदार ज़्यादा देर तक न काम कर रहे हों और कहीं ऐसा न हो कि इस तरह वे मेरे आर्डर छीन ले जायें।"[4] इस सवाल से ताल्लुक़ रखने वाली गवाहियों का सार निकालते हुए Ch. Empl. Comm. (बाल-सेवायोजन आयोग) ने लिखा है: "यदि बड़े मालिकों की फ़ैक्टरियों पर क़ानून का नियंत्रण लागू कर दिया जाता है, मगर व्यवसाय की उसी शाखा के अपेक्षाकृत छोटे कारख़ानों में श्रम के घण्टों पर कोई क़ानूनी प्रतिबंध नहीं लगाया जाता, तो यह बड़े मालिकों के साथ अन्याय होगा, और श्रम के घण्टों के सम्बंध में असमान परिस्थितियों में प्रतियोगिता होने से जो अन्याय होगा, उसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारख़ानेदारों को एक यह नुक़सान भी होगा कि उनके यहां काम करने के बजाय लड़के-लड़कियां और स्त्रियां उन कारख़ानों में चले जायेंगे, जिनको क़ानून के नियमों से छूट मिली हुई है। इसके अलावा, छोटे कारख़ानों की संख्या में बड़ी तेज़ी से वृद्धि होने लगेगी, हालांकि लोगों के स्वास्थ्य, आराम, शिक्षा तथा सामान्य सुधार की दृष्टि से ये कारख़ाने लगभग अनिवार्य रूप से सब से कम उपयुक्त होते हैं।"[5]

---

[1] *"Rep. Insp. Fact., 31st October, 1865"*, ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६५'), पृ० २७-३२।

[2] *"Rep. of Insp. of Fact."* ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें') में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे।

[3] *"Ch. Empl. Comm. V Rep,"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट'), पृ० X (दस), अंक ३५।

[4] *"Ch. Empl. Comm. V Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट'), पृ० IX (नौ), अंक २८।

[5] उप० पु०, पृ० XXV (पच्चीस), अंक १६५-१६७। छोटे पैमाने के उद्योगों की तुलना में बड़े पैमाने के उद्योगों से जो लाभ होते हैं, उनके लिये देखिये *"Ch. Empl. Comm.*

अपनी अन्तिम रिपोर्ट में Ch. Empl. Comm. (बाल-सेवायोजन आयोग) ने १४,००,००० से अधिक बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों पर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू करने का सुझाव दिया है। इनमें से लगभग आधे ऐसे हैं, जिनका छोटे उद्योगों में और तथाकथित घरेलू काम के द्वारा शोषण हो रहा है।[1] आयोग ने लिखा है: "परन्तु यदि संसद को बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों की उस पूरी संख्या को, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है, क़ानून के संरक्षण में रख देना उचित प्रतीत हो ... तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसा क़ानून न केवल बच्चों और दुर्बल व्यक्तियों के लिये, जिन्हें संरक्षण देना इसका फ़ौरी उद्देश्य है, अत्यन्त हितकारी सिद्ध होगा, बल्कि उससे उन वयस्क मजदूरों को भी बहुत लाभ पहुंचेगा, जिनकी संख्या और भी बड़ी होती है और जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ढंग से इन तमाम धंधों में तत्काल ही इस क़ानून के असर के नीचे आ जायेंगे। इस तरह का क़ानून इन तमाम मजदूरों के लिये काम के नियमित और सीमित घण्टे अनिवार्य बना देगा; इस क़ानून के फलस्वरूप मजदूरों के काम के स्थान स्वास्थ्यप्रद एवं स्वच्छ दशा में रखे जाने लगेंगे; अतएव उससे मजदूरों की शारीरिक शक्ति के उस भण्डार की सुरक्षा और वृद्धि में सहायता मिलेगी, जिसपर उनका अपना कल्याण और उनके देश का कल्याण इतना अधिक निर्भर करता है; इस प्रकार के क़ानून से नयी पीढ़ी बचपन में ही अत्यधिक श्रम करने से बच जायेगी, जो उनके बदन का सारा सत सोख डालता है और उनको असमय ही बूढ़ा बना देता है; और, अन्त में, इस तरह का क़ानून नयी पीढ़ी के लिये कम से कम १३ वर्ष की आयु तक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर सुनिश्चित करेगा, और इस तरह यह क़ानून उस भयानक जहालत का अन्त कर देगा... जिसका हमारे सहायक कमिश्नरों की रिपोर्टों में इतना सच्चा चित्र देखने को मिलता है और जिसे देखकर हरेक को अत्यधिक कष्ट और राष्ट्रीय पतन की तीव्र अनुभूति का होना अनिवार्य है।"[2]

अनुदार* दल के मंत्रिमण्डल ने ५ फ़रवरी १८६७ को शाही अभिभाषण के रूप में यह

---

*III Rep.*" ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'), पृ० १३, अंक १४४; पृ० २५, अंक १२१; पृ० २६, अंक १२५; पृ० २७, अंक १४०, इत्यादि।

[1] आयोग ने जिन धंधों पर क़ानून लागू करने का सुझाव दिया है, उनकी सूची इस प्रकार है: लैस बनाना, मोज़े बुनना, सूखी घास की बुनी हुई वस्तुएं तैयार करना, पहनने के कपड़ों का हस्तनिर्माण तथा उसकी अनेक उपशाखाएं, बनावटी फूल बनाना, जूतें बनाना, टोप बनाना, दस्ताने बनाना, दर्ज़ीगीरी, पिघलाऊ-भट्ठियों से लेकर सुई बनाने के कारख़ानों तक धातु का काम करने वाले हर तरह के कारख़ाने, काग़ज़ की मिलें, कांच के कारख़ाने, तम्बाकू के कारख़ाने, रबड़ के कारख़ाने, धागे बटना (बुनाई के लिये), हाथ से क़ालीन बनाना, छाते और छतरियां बनाना, तकुए और फिरकियां बनाना, टाइप की छपाई, जिल्दसाज़ी, लेखनसामग्री (stationery, जिसमें काग़ज़ के थैले, कार्ड, रंगीन काग़ज़ आदि भी शामिल हैं) बनाना, रस्सियां बनाना, काले पत्थर (jet) के जेवर बनाना, ईंटें बनाना, रेशम का हस्तनिर्माण, कोवेण्टरी की बुनाई, नमक के कारख़ाने, चरबी की बत्तियां बनाना, सीमेंट के कारख़ाने, चीनी साफ़ करने वाली मिलें, बिस्कुट बनाना, लकड़ी से सम्बंधित अनेक उद्योग और दूसरे मिले-जुले धंधे।

[2] उप० पु०, पृ० XXV (पच्चीस), अंक १६६।

*यहां पर ("अनुदार दल के मंत्रिमण्डल . . ." से "सीनियर के शब्दों में" तक) अंग्रेज़ी पाठ जिसके अनुसार हिन्दी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार बदल दिया गया है। – सम्पा०

ऐलान किया कि उसने औद्योगिक जांच-आयोग की सिफ़ारिशों को बिलों का रूप दे दिया है।[1] ऐसा होने के पहले, २० वर्ष तक एक नया प्रयोग (experimentum in corpore vili) चलता रहा था, जिसका ख़मियाज़ा मज़दूर-वर्ग को उठाना पड़ा था ; उसके बाद कहीं जाकर यह ऐलान हो सका था। संसद ने बच्चों के श्रम के बारे में जांच करने के लिए १८४० में ही एक आयोग नियुक्त कर दिया था। सीनियर के शब्दों में, इस आयोग की १८४२ की रिपोर्ट से "मालिकों और मां-बापों के लोभ, स्वार्थ और निर्दयता का और लड़के-लड़कियों तथा बच्चों के कष्ट, पतन और विनाश का एक ऐसा भयानक चित्र सामने आया, जैसा इसके पहले कभी नहीं आया था... ऐसा भी समझा जा सकता है कि यह रिपोर्ट एक बीते हुए युग की विभीषिकाओं का वर्णन करती है। परन्तु दुर्भाग्य से हमारे पास इस बात का प्रमाण मौजूद है कि ये विभीषिकाएं आज भी ज्यों की त्यों मौजूद हैं। लगभग २ वर्ष हुए हार्डविक ने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें बताया गया है कि १८४२ में जिन बुराइयों का रोना रोया गया, वे आज भी उसी तरह फल-फूल रही हैं। मज़दूर-वर्ग के बच्चों के आचरण तथा स्वास्थ्य के प्रति आम तौर पर कैसी लापरवाही बरती जाती है, इसका प्रमाण यह है कि यह रिपोर्ट २० वर्ष तक यों ही पड़ी रही और किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया ; और इस बीच वे बच्चे, जिनको इस बात का तनिक भी आभास नहीं दिया गया था कि नैतिकता शब्द का क्या अर्थ होता है, और जिनमें न तो ज्ञान था, न धर्म और न ही स्वाभाविक स्नेह, वे मौजूदा पीढ़ी के मां-बाप बन गये।"[2]

अब चूंकि सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया था, इसलिये संसद को १८४० के आयोग की मांगों की भांति १८६२ के आयोग की मांगों को भी टाल देने की हिम्मत नहीं हुई। चुनांचे, आयोग ने अभी अपनी रिपोर्टों का केवल एक भाग ही प्रकाशित किया था कि १८६४ में मिट्टी का सामान (जिसमें मिट्टी के बर्तन भी शामिल थे) बनाने वाले उद्योगों पर, दीवार पर मढ़ने वाला काग़ज़, दियासलाइयां, कारतूस और टोपियां बनाने वालों पर और फ़स्टियन काटने वालों पर वे क़ानून लागू कर दिये गये, जो कपड़ा-उद्योगों पर लागू थे। ५ फ़रवरी १८६७ को अनुदार-दलीय मंत्रिमण्डल ने शाही अभिभाषण में ऐलान किया कि अब जांच-आयोग की, जिसने अपना काम १८६६ में समाप्त कर दिया था, सिफ़ारिशों पर आधारित बिल संसद में पेश किये जा रहे हैं।

---

[1] Factory Acts Extension Act (फ़ैक्टरी-क़ानूनों के प्रसार का क़ानून) १२ अगस्त १८६७ को पास हुआ था। उसके द्वारा धातु की ढलाई, गढ़ाई और धातु का काम करने वाले तमाम कारख़ानों का, जिनमें मशीनें बनाने वाले कारख़ाने भी शामिल थे, नियमन किया गया था। इसके अलावा, कांच, काग़ज़, गटापारचा, रबड़ और तम्बाकू के कारख़ानों पर, छापेख़ानों पर, जिल्दसाज़ी का काम करने वाले कारख़ानों पर और, अन्त में, ५० से अधिक व्यक्तियों से काम लेने वाले सभी कारख़ानों पर भी यह क़ानून लागू किया गया था। – १७ अगस्त १८६७ को पास किया गया Hours of Labour Regulation Act (श्रम के घण्टों का नियमन करने वाला क़ानून) अपेक्षाकृत छोटे कारख़ानों और तथाकथित घरेलू काम का नियमन करता है।

इन क़ानूनों की और १८७२ के नये Mining Act (खानों के क़ानून) की मैं दूसरे खण्ड में पुनः चर्चा करूंगा।

[2] Senior, "*Social Science Congress*" (सीनियर, 'सामाजिक विज्ञान की कांग्रेस'), पृ० ५५-५८।

१५ अगस्त १८६७ को Factory Acts Extension Act (फ़ैक्टरी-क़ानूनों के प्रसार के क़ानून) को और २१ अगस्त को Workshops' Regulation Act (वर्कशाप-नियमन-क़ानून) को शाही स्वीकृति मिल गयी। पहला क़ानून बड़े और दूसरा छोटे उद्योगों से सम्बंध रखता है।

पहला क़ानून पिघलाऊ-भट्ठियों, लोहे और ताम्बे की मिलों, ढलाई का काम करने वाले कारखानों और यंत्रशालाओं, धातु का काम करने वाली हस्तनिर्माणशालाओं, गटापारचा के कारखानों, कागज की मिलों, कांच के कारखानों, तम्बाकू का सामान तैयार करने वाली हस्तनिर्माणशालाओं, टाइप की छपाई (जिसमें अखबार भी शामिल थे), जिल्दसाजी,—और संक्षेप में कहिये, तो इस प्रकार की उन सभी औद्योगिक संस्थाओं पर लागू होता है, जिनमें ५० या ५० से अधिक व्यक्तियों से साल भर में कम से कम १०० दिन एक साथ काम लिया जाता है।

Workshops' Regulation Act (वर्कशाप-नियमन-क़ानून) के काम-क्षेत्र का कुछ आभास देने के लिये हम उसकी व्याख्या सम्बंधी धारा से निम्नलिखित अंश उद्धृत करेंगे:

"दस्तकारी हाथ के किसी भी श्रम को कहा जायेगा, बशर्ते कि वह व्यवसाय की तरह या लाभ के हेतु, या कोई वस्तु या किसी वस्तु का कोई भाग बनाने के सिलसिले में, या किसी वस्तु को बिक्री के वास्ते तैयार करने के उद्देश्य से उसमें तबदीली करने, मरम्मत करने, सजावट करने, फ़िनिश देने या किसी और प्रकार उसका अनुकूलन करने के दौरान में या उसके सम्बंध में किया गया हो।"

"वर्कशाप किसी भी कमरे को या स्थान को कहा जायेगा, वह खुला हो या ढंका हो, बशर्ते कि उसमें कोई बच्चा, लड़का या लड़की अथवा स्त्री किसी दस्तकारी का काम करती हो और बशर्ते कि जिस व्यक्ति ने ऐसे किसी बच्चे, लड़के या लड़की अथवा स्त्री को नौकर रख रखा है, उसको इस कमरे या स्थान में प्रवेश करने तथा उसपर अपना नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त हो।"

"नौकर होने का मतलब होगा किसी भी तरह का दस्तकारी का काम करना, वह चाहे मजदूरी लेकर किया जाये या बिना मजदूरी के और चाहे किसी मालिक के मातहत किया जाये या, निम्नलिखित परिभाषा के अनुसार, किसी जनक के मातहत।"

"जनक का अर्थ होगा मां-बाप, संरक्षक या वह व्यक्ति, जिसकी अधीनता या नियंत्रण में कोई... बच्चा, लड़का या लड़की है।"

७ वीं धारा में इस क़ानून की धाराओं को तोड़कर बच्चों, लड़के-लड़कियों अथवा स्त्रियों को नौकर रखने वालों पर जुर्माना करने की व्यवस्था की गयी है। इस धारा के अनुसार, ऐसी स्थिति में न केवल वर्कशाप के मालिक पर, वह चाहे जनक की श्रेणी में आता हो या नहीं, जुर्माना होगा, बल्कि "बच्चे, लड़के-लड़की अथवा स्त्री के जनक और उसके श्रम से प्रत्यक्ष लाभ उठाने वाले या उसपर नियंत्रण रखने वाले किसी भी व्यक्ति पर" भी जुर्माना किया जा सकेगा।

Factory Acts Extension Act (फ़ैक्टरी-क़ानूनों के प्रसार का क़ानून), जिसका बड़े-बड़े कारखानों पर प्रभाव पड़ता है, उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा फ़ैक्टरी-क़ानून था, क्योंकि उसमें बहुत सी बातों में त्रुटिपूर्ण छूट दे दी गयी है और कायरतापूर्ण ढंग से मालिकों से समझौता कर लिया गया है।

Workshops' Regulation Act (वर्कशाप-नियमन-क़ानून) अपनी सारी तफ़सीलों की दृष्टि से एक बहुत ही तुच्छ सा क़ानून था। नगरपालिका के अधिकारियों तथा स्थानीय अधिकारियों को इस क़ानून को अमल में लाने की जिम्मेदारी दी गयी थी। उनके हाथों में वह महज़ काग़ज़ का एक टुकड़ा बनकर रह गया। १८७१ में संसद ने इन लोगों से यह अधिकार छीन लिया और उसे फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को सौंप दिया। इस प्रकार, उनके क्षेत्र में एक झटके में ही एक लाख वर्कशापों और ईंट के तीन सौ भट्ठों की वृद्धि कर दी गयी। पर साथ ही फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को, जिनके पास पहले से ही कर्मचारियों की बेहद कमी थी, आठ नये सहायकों से अधिक न देने की सावधानी बरती गयी।[1]

अतएव, १८६७ के अंग्रेज़ी क़ानूनों में जो बातें सबसे ज़्यादा ध्यान आकर्षित करती हैं, उनमें से एक तो यह है कि शासक वर्गों की संसद को पूंजीवादी शोषण की ज़्यादतियों के ख़िलाफ़ इतने बड़े पैमाने पर और ऐसे असाधारण ढंग के क़दम सिद्धान्त के रूप में उठाने के लिये मजबूर होना पड़ा, और दूसरी बात यह है कि अमली तौर पर इन क़दमों को उठाते हुए उसने बेहद हिचकिचाहट, अनिच्छा और बेईमानी का परिचय दिया।

१८६२ के औद्योगिक जांच-आयोग ने खानों के उद्योग का नव नियमन करने का भी सुझाव दिया था। अन्य उद्योगों की तुलना में इस उद्योग की एक असाधारण विशेषता है कि उसमें ज़मींदार और पूंजीपति के हित जुड़ जाते थे। इन दो हितों के विरोध से फ़ैक्टरी-क़ानूनों को सहायता मिली थी, और खानों के सम्बंध में क़ानून बनाने के सिलसिले में टालमटूल और वाक्-छल के प्रदर्शन का असली कारण इसी विरोध का प्रभाव था।

१८४० के जांच-आयोग ने ऐसी-ऐसी भयानक और लोमहर्षक बातों का भण्डाफोड़ किया था और उससे सारे योरप में ऐसी बदनामी हो गयी थी कि संसद ने आख़िर अपनी आत्मा की आवाज़ को शान्त करने के लिये १८४२ का Mining Act (खानों का क़ानून) पास कर दिया। इस क़ानून में केवल १० वर्ष से कम उम्र के बच्चों तथा स्त्रियों से खानों में ज़मीन की सतह के नीचे काम लेने की मनाही करके ही संतोष कर लिया गया था।

इसके बाद एक और क़ानून – १८६० का Mines' Inspecting Act (खानों के निरीक्षण का क़ानून) – बनाया गया। इस क़ानून में इस बात की व्यवस्था की गयी कि विशेष रूप से नियुक्त सार्वजनिक अफ़सर खानों का निरीक्षण किया करेंगे और १० तथा १२ वर्ष के बीच की उम्र के लड़कों से तब तक काम नहीं लिया जायेगा, जब तक कि उनके पास स्कूल का प्रमाण-पत्र नहीं होगा या जब तक कि वे कुछ निश्चित घण्टे स्कूल में नहीं बितायेंगे। पर निरीक्षण करने वाले इंस्पेक्टरों की संख्या चूंकि मज़ाक़ की हद तक कम थी और चूंकि उनको नहीं के बराबर अधिकार दिये गये थे, और कुछ अन्य कारणों से, जिनपर आगे प्रकाश पड़ेगा, यह क़ानून महज़ काग़ज़ी कार्रवाई बनकर रह गया।

खानों के सम्बंध में एक सबसे ताज़ा सरकारी प्रकाशन है "*Report from the Select Committee on Mines, together with &c. Evidence, 23rd*

---

[1] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों के कार्यालय में काम करने वाले कर्मचारियों में २ इंस्पेक्टर, २ सहायक इंस्पेक्टर और ४१ सब-इंस्पेक्टर थे। १८७१ में आठ नये सब-इंस्पेक्टर नियुक्त किये गये। इंगलैण्ड, स्कोटलैण्ड और आयरलैण्ड में इन क़ानूनों को अमल में लाने का कुल ख़र्चा १८७१–१८७२ में २५,३४७ पौण्ड से अधिक नहीं बैठा था, जिसमें क़ानून भंग करने वाले मालिकों पर चलाये गये मुक़दमों का क़ानूनी ख़र्च भी शामिल था।

*July, 1866*" ('खानों के बारे में प्रवर समिति की रिपोर्ट, मय... के। गवाहियां, २३ जुलाई १८६६')। इस रिपोर्ट को एक संसदीय समिति ने तैयार किया है, जिसके सदस्य हाउस ग्राफ़ कामन्स के सदस्यों में से चुने गये थे और जिनको गवाहों को तलब करने और उनके बयान लेने का अधिकार दिया गया था। यह बड़े आकार की एक मोटी पोथी है। रिपोर्ट खुद केवल पांच पंक्तियों में पूरी हो जाती है, जिनमें कहा गया है कि समिति को कुछ नहीं कहना है, और यह कि अभी और गवाहों के बयान लेने की जरूरत है!

गवाहों के बयान लेने का तरीक़ा ऐसा था, जिसे देखकर अंग्रेजी अदालतों में गवाहों की जिरह (cross-examination) की याद आती थी, जहां वकील गवाह को डराने, उलझाने और घबराहट में डाल देने के लिये उसके साथ गुस्ताखी करता है, उससे अप्रत्याशित, गोलमोल और उलझन में डाल देने वाले सवाल पूछता है, जिनका विषय से कोई सम्बंध नहीं होता, और उससे घुमा-फिराकर हासिल किये गये जवाब को मनमाने अर्थ पहनाने की कोशिश करता है। इस जांच में समिति के सदस्य खुद गवाहों से जिरह करते थे, और उनमें खानों के मालिक और खानों का उपयोग करने वाले पूंजीपति दोनों शामिल थे; गवाह ज्यादातर कोयला-खानों में काम करने वाले मजदूर थे। यह पूरा नाटक पूंजी की भावना का एक इतना अच्छा उदाहरण है कि इस रिपोर्ट के कुछ उद्धरण हम पाठक के सामने प्रस्तुत किये बिना नहीं रह सकते। पूरी सामग्री को संक्षिप्त रूप में पेश करने के लिये मैंने इन उद्धरणों का वर्गीकरण कर दिया है। मैं यह भी कह दूं कि सरकारी प्रकाशनों में हर सवाल और उसके जवाब पर नम्बर पड़ा हुआ है।

१) खानों में १० वर्ष और उससे अधिक आयु के लड़कों को नौकर रखना—खानों में काम प्रायः १४ या १५ घण्टे चलता है, जिसमें आने-जाने का समय भी शामिल है; कभी-कभी तो सुबह के ३, ४ और ५ बजे से शाम के ५ और ६ बजे तक काम चलता रहता है (नं० ६, ४५२, ८३)। वयस्क मजदूर आठ-आठ घण्टे की दो पालियों में काम करते हैं; लेकिन खर्च के कारण लड़कों के लिये ऐसी व्यवस्था नहीं होती (नं ८०, २०३, २०४)। छोटे लड़कों से मुख्यतया खान के विभिन्न भागों में रोशनदान का काम करने वाले दरवाजों को खोलने और बन्द करने का काम लिया जाता है; बड़े लड़कों से कोयला ढोने आदि का ज्यादा भारी काम कराया जाता है (नं० १२२, ७३९, १७४७)। ये लड़के १८ या २२ वर्ष की आयु तक जमीन की सतह के नीचे रोजाना इतनी देर तक काम करते रहते हैं। उसके बाद उनको खान खोदने वालों का वास्तविक काम मिल जाता है (नं० १६१)। बच्चों और लड़के-लड़कियों के साथ आजकल जैसा खराब व्यवहार किया जाता है और उनसे जैसी कड़ी मेहनत करायी जाती है, वैसा इसके पहले कभी देखने में नहीं आया था (नं० १६६३-१६६७)। खान-कामगार लगभग एक स्वर से यह मांग करते हैं कि संसद एक क़ानून बनाकर खानों में १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को नौकर रखने की मनाही कर दे। और अब हस्सी विवियन (जो खुद भी खानों का उपयोग करते हैं) प्रश्न करते हैं: "क्या मजदूर की राय उसके परिवार की ग़रीबी पर निर्भर नहीं करेगी?"—मि० ब्रूस: "आपके विचार में १२ और १४ वर्ष के बीच की उम्र के जिस बच्चे का जनक चोट खा गया है, या बीमार है, या जिसका बाप मर गया है और केवल मां जिन्दा है, उसको अपने परिवार के पालन-पोषण के लिये १ शिलिंग ७ पेन्स रोजाना कमाने से रोक देना क्या अन्याय नहीं होगा?.. क्या आप चाहते हैं कि सब के लिये एक सामान्य नियम बनाया जाये?.. क्या आप यह सिफ़ारिश करने के लिये तैयार हैं कि १२ और १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से, उनके मां-बापों की चाहे कुछ भी हालत हो, क़ानून बनाकर काम लेने की

बिल्कुल मनाही कर दी जाये?" "हां।" (नं० १०७-११०।) विवियन: "मान लीजिये कि १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से काम लेने की मनाही करते हुए एक क़ानून बना दिया जाता है। तब क्या इसकी सम्भावना नहीं है कि... बच्चों के मां-बाप अपनी सन्तान के लिये किसी और क्षेत्र में, – उदाहरण के लिये, हस्तनिर्माण में, – नौकरी तलाश करने लगेंगे?" "मैं समझता हूं कि आम तौर पर ऐसा नहीं होगा।" (नं० १७४।) किन्नेर्ड: "कुछ लड़के दरवाजों की देख-भाल करते हैं न?" "जी, हां।" "क्या ऐसा नहीं होता कि जब कभी दरवाजा खोला या बन्द किया जाता है, तब हर बार हवा का एक बहुत तेज झोंका आता है?" "जी हां, आम तौर पर ऐसा ही होता है।" "सुनने में तो यह बहुत आसान लगता है, पर, असल में, तो यह बहुत तकलीफ़देह चीज है न?" "लड़का वहां इस तरह क़ैद रहता है, जैसे जेलखाने की कोठरी में बन्द हो।" पूंजीपति विवियन: "जब कभी किसी लड़के को मोमबत्ती मिल जाती है, तब क्या वह पढ़ नहीं सकता?" "जी हां, वह पढ़ सकता है, बशर्ते कि उसके पास मोमबत्तियां हों... मेरा ख़याल है, यदि उसे पढ़ते हुए पाया गया, तो उसपर डांट पड़ जायेगी। वह खान में काम करने के लिये आता है। उसे अपना एक फ़र्ज पूरा करना होता है और सबसे पहले अपने काम में ध्यान लगाना पड़ता है। नहीं, मैं समझता हूं, उसे खान में पढ़ने की इजाजत नहीं मिलेगी।" (नं० १३९, १४१, १४३, १५८, १६०।)

२) शिक्षा – फ़ैक्टरियों की तरह खानों में काम करने वाले मजदूर भी अपने बच्चों की अनिवार्य शिक्षा के लिये एक क़ानून बनवाना चाहते हैं। उनका कहना है कि १८६० के क़ानून की वह धारा बिल्कुल निरर्थक है, जिसके अनुसार १० और १२ वर्ष के लड़कों को नौकर रखने के पहले स्कूल के प्रमाण-पत्र की आवश्यकता होती है। इस विषय में गवाहों से जो जिरह की गयी है, वह सचमुच बड़ी अजीब है। "इसकी (क़ानून की) आवश्यकता मालिकों या मां-बापों के ख़िलाफ़ ज्यादा है?" "मैं समझता हूं, इसकी दोनों के ख़िलाफ़ आवश्यकता है।" "क्या आप यह नहीं कह सकते कि दोनों में से किसके ख़िलाफ़ इसकी ज्यादा आवश्यकता है?" "नहीं, इस सवाल का जवाब देना मेरे लिये मुश्किल है।" (नं० ११५, ११६।) "क्या मालिकों की तरफ़ से इस इच्छा का कोई आभास मिलता है कि लड़कों से इतने समय काम कराया जाये, जिससे वे स्कूल भी जा सकें?" "नहीं, इसके लिये काम के समय में कभी कोई कमी नहीं की जाती।" (नं० १३७।) मि० किन्नेर्ड: "आपके विचार में क्या कोयला-खानों के मजदूर आम तौर पर अपनी शिक्षा में प्रगति कर लेते हैं? क्या आपको कुछ ऐसे लोगों की मिसाल मालूम है, जिन्होंने खानों में काम शुरू करने के बाद शिक्षा के मामले में बहुत प्रगति की हो? और क्या इसकी अपेक्षा यह नहीं देखा जाता कि वे उल्टे पिछड़ जाते हैं और उन्होंने जो कुछ पढ़ा-लिखा होता है, वह भी भूल जाते हैं?" "वे आम तौर पर और ख़राब हो जाते हैं। उनमें सुधार नहीं होता, बल्कि बुरी आदतें आ जाती हैं। वे शराब पीना और जुआ खेलना शुरू कर देते हैं और इसी तरह की और आदतें सीख जाते हैं और फिर एकदम चौपट हो जाते हैं।" (नं० २११।) "क्या वे इस तरह की (मजदूरों को शिक्षा देने की) कोई कोशिश रात के स्कूल खुलवाकर करते हैं?" "कुछ इनी-गिनी कोयला-खानें ही ऐसी हैं, जहां पर रात के स्कूल चलते हैं। शायद वहां कुछ लड़के इन स्कूलों में जाते हैं। मगर उस वक़्त तक लड़के शारीरिक दृष्टि से इतना अधिक थक जाते हैं कि स्कूल में बैठने से कोई लाभ नहीं होता।" (नं० ४५४।) पूंजीपति निष्कर्ष निकालता है: "तो इसका मतलब यह हुआ कि आप शिक्षा के ख़िलाफ़ हैं?" "हरगिज नहीं, मगर," वग़ैरह-वग़ैरह। (नं० ४४३।) "मगर क्या उनके लिये (मालिकों के

लिये) उनकी (स्कूल के प्रमाण-पत्रों की) मांग करना लाज़िमी नहीं है?" "क़ानून की निगाह में तो यह ज़रूरी है, लेकिन मैं नहीं जानता कि मालिक सचमुच ऐसे प्रमाण-पत्रों की मांग करते हैं।" "तब आपकी राय यह है कि प्रमाण-पत्र देखने के सम्बंध में क़ानून की धारा पर कोयला-खानों में आम तौर पर अमल नहीं हो रहा।" "हां, इसपर अमल नहीं हो रहा है।" (नं० ४४३, ४४४।) "क्या इस सवाल में (शिक्षा में) मज़दूर बहुत अधिक दिलचस्पी लेते हैं?" "हां, ज़्यादातर मज़दूरों को इस सवाल में बहुत दिलचस्पी है।" (नं० ७१७।) "क्या वे इसके लिये बहुत उत्सुक हैं कि इस क़ानून को अमल में लाया जाये?" "हां, अधिकतर उत्सुक हैं।" (नं० ७१८।) "क्या आपके ख़याल से इस देश में कोई भी क़ानून, जो आप बनाते हैं,.. उस वक़्त तक सचमुच अमल में आ सकता है, जब तक कि इस देश के लोग उसको अमल में लाने के काम में मदद नहीं करते?" "ऐसे बहुत से लोग हो सकते हैं, जो लड़कों से काम लेने का विरोध करना चाहते हों, पर ऐसा करने पर वे शायद उनकी आंखों में खटकने लगेंगे।" (नं० ७२०।) "किनकी आंखों में खटकने लगेंगे?" "अपने मालिकों की आंखों में।" (नं० ७२१।) "क्या आपका यह ख़याल है कि मालिक क़ानून का पालन करने वाले आदमी को दोषी समझेंगे..?" "मेरे ख़याल में, वे ज़रूर उसको दोषी समझेंगे।" (नं० ७२२।) "क्या आपने किसी ऐसे मज़दूर का ज़िक्र सुना है, जिसने १० और १२ वर्ष के बीच की उम्र के किसी ऐसे लड़के से, जो पढ़ना-लिखना न जानता हो, काम लेने पर एतराज़ किया हो?" "मज़दूरों को ऐसा करने का अधिकार नहीं है।" (नं० १२३।) "क्या आप चाहेंगे कि इस मामले में संसद हस्तक्षेप करे?" "मेरी राय में, अगर कोयला-खानों में काम करने वाले मज़दूरों के बच्चों की शिक्षा के मामले में कोई कारगर चीज़ करनी है, तो संसद के बनाये हुए किसी क़ानून के ज़रिये शिक्षा अनिवार्य कर देनी होगी।" (नं० १६३४।) "केवल कोयला-मज़दूरों के लिये ही आप ऐसी क़ानूनी बाध्यता चाहते हैं या ग्रेट ब्रिटेन के सभी मज़दूरों के लिये?" "मैं तो कोयला-मज़दूरों की तरफ़ से बोलने के लिये यहां आया हूं।" (नं० १६३६।) "कोयला-खानों में काम करने वाले लड़कों और अन्य लड़कों में आप भेद क्यों करते हैं?" "इसलिये कि मेरी राय में कोयला-खानों में काम करने वाले लड़के औरों से भिन्न हैं।" (नं० १६३८।) "किस दृष्टि से?" "शारीरिक दृष्टि से।" (नं० १६३९।) "अन्य प्रकार के लड़कों की अपेक्षा उनके लिये शिक्षा क्यों अधिक महत्वपूर्ण है?" "यह तो मैं नहीं जानता कि उनके लिये शिक्षा का अधिक महत्व है, लेकिन खानों के अन्दर अत्यधिक मेहनत करने के कारण वहां नौकरी करने वाले लड़कों को रविवारीय स्कूलों में, या दिन के स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने का कम मौक़ा मिलता है।" (नं० १६४०।) "पर इस ढंग के सवाल पर उसे और सब चीज़ों से अलग करके विचार करना तो असम्भव है न?" (नं० १६४४।) "क्या स्कूल संख्या में काफ़ी हैं?" "नहीं..." (नं० १६४६।) "यदि राज्य हर बच्चे को स्कूल भेजना अनिवार्य बना दे, तो क्या बच्चों के लिये स्कूल काफ़ी होंगे?" "नहीं, लेकिन मेरा ख़याल है कि अगर आवश्यक परिस्थितियां पैदा हो जायें, तो स्कूल भी खुल जायेंगे।" (नं० १६४७।) "मैं समझता हूं कि उनमें से कुछ (लड़के) तो बिल्कुल पढ़-लिख नहीं सकते?" "उनमें से अधिकतर नहीं पढ़-लिख सकते... खुद वयस्क मज़दूरों में से भी अधिकतर पढ़ना-लिखना नहीं जानते।" (नं० ७०५, ७२५।)

३) स्त्रियों को नौकर रखना – १८४२ के बाद से ज़मीन की सतह के नीचे स्त्रियों से काम लेना बन्द हो गया है, लेकिन ज़मीन की सतह पर उनसे कोयला लादने, टबों को खींचकर

नहरों और माल-गाड़ियों तक ले जाने, छांटने आदि का काम लिया जाता है। पिछले तीन या चार वर्षों में उनकी संख्या में बड़ी वृद्धि हो गयी है। (नं० १७२७।) ये स्त्रियां प्रायः खानों में काम करने वाले मजदूरों की पत्नियां, पुत्रियां और विधवाएं होती हैं, और उनकी आयु १२ वर्ष से लेकर ५० या ६० वर्ष तक होती है। (नं० ६४५, १७७६।) "स्त्रियों से काम लेने के विषय में खान-मजदूरों की क्या भावना है?" "मैं समझता हूं, वे आम तौर पर इसे बुरा समझते हैं।" (नं० ६४८।) "आपको इस में क्या एतराज है?" "मैं समझता हूं, यह चीज नारी-जाति के लिये अपमानजनक है।" (नं० ६४६) "उनकी पोशाक भी अजीब होती है न?" "जी हां,.. उसे मर्दों की पोशाक कहना ज्यादा सही होगा, और मेरे ख्याल में इस पोशाक से कम से कम कुछ स्त्रियों में तो हया-शर्म बाक़ी नहीं रहती।" "क्या स्त्रियां तम्बाकू भी पीती हैं?" "जी हां, कुछ स्त्रियां पीती हैं।" "और मैं समझता हूं, यह बहुत गन्दा काम है?" "बहुत गंदा।" "वे स्याह हो जाती होंगी?" "जी हां, जमीन के नीचे खान में काम करने वालों के समान स्याह ये हो जाती हैं... मैं समझता हूं, बच्चों वाली औरतें (और यहां काम करने वाली बहुत सारी औरतों के पास बच्चे हैं) अपने बच्चों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पातीं।" (नं० ६५०–६५४, ७०१।) "क्या आपके ख़याल में इन विधवाओं को इतनी ही मजदूरी (८ शिलिंग से १० शिलिंग प्रति सप्ताह तक) देने वाली नौकरी कहीं और मिल सकती है?" "इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता।" (नं० ७०६।) "और फिर भी आप चाहेंगे" (ओ संगदिल इनसान!) "कि वे यहां काम करके अपनी जीविका न कमाया करें?" "जी हां, मैं यही चाहूंगा।" (नं० ७१०।) "स्त्रियों को नौकर रखने के बारे में... डिस्ट्रिक्ट में आम भावना क्या है?" "भावना यह है कि यह काम स्त्रियों के लिये अपमानजनक है, और खान-मजदूरों के रूप में हम स्त्रियों को खानों के किनारे काम करते हुए देखना नहीं चाहते, नारी-जाति का कुछ अधिक आदर करना चाहते हैं... काम का कुछ भाग तो बहुत ही कठिन होता है। इनमें से कुछ लड़कियों ने एक-एक दिन में १०-१० टन बोझ उठाया है।" (नं० १७१५, १७१७।) "क्या आपके विचार में फ़ैक्टरियों में काम करने वाली स्त्रियों की तुलना में खानों के आस-पास काम करने वाली स्त्रियां नैतिकता की दृष्टि से ज्यादा खराब होती हैं?" "...फ़ैक्टरियों में काम करने वाली लड़कियों की अपेक्षा... यहां बुरी लड़कियों का अनुपात कुछ अधिक हो सकता है।" (नं० १७३२।) "लेकिन आप फ़ैक्टरियों में पायी जाने वाली नैतिकता के स्तर से भी संतुष्ट तो नहीं हैं?" "नहीं।" (नं० १७३३।) "तब क्या आप फ़ैक्टरियों में भी स्त्रियों को नौकर रखने की मनाही कर देंगे?" "नहीं, मैं उसकी मनाही नहीं करूंगा।" (नं० १७३४।) "क्यों नहीं?" "मैं समझता हूं, मिलों में काम करना उनके लिये अधिक सम्मान की बात है।" (नं० १७३५।) "फिर भी, आपके विचार में, उनकी नैतिकता को तो धक्का लगता ही है?" "उतना नहीं, जितना खानों के किनारे काम करने पर; लेकिन मेरा मत सामाजिक पक्ष पर अधिक आधारित है, मैं केवल नैतिकता के आधार पर बात नहीं कर रहा हूं। सामाजिक दृष्टि से लड़कियों का जो पतन होता है, वह बहुत ही लज्जा-जनक है। जब ये ४०० या ५०० लड़कियां कोयला-मजदूरों की पत्नियां बन जाती हैं, तब इस पतन के कारण पुरुषों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है, और वे घर छोड़कर चले जाते हैं और शराब पीने लगते हैं।" (नं० १७३६।) "पर जब आप कोयला-खानों में स्त्रियों को नौकर रखने की मनाही कर देंगे, तब तो आपको लोहे का काम करने वाले कारखानों में भी इसकी मनाही कर देनी होगी?" "मैं किसी और धंधे के बारे में कुछ नहीं कह सकता।" (नं० १७३७।)

"क्या लोहे के कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों की स्थिति में और खानों में जमीन की सतह के ऊपर काम करने वाली स्त्रियों की स्थिति में आपको कोई अन्तर दिखाई देता है?" "मैंने ऐसी कोई जांच नहीं की।" (नं० १७४०।) "क्या आप कोई ऐसी बात देखते हैं, जिससे एक श्रेणी और दूसरी श्रेणी में फ़र्क़ पैदा हो जाता हो?" "मैंने ऐसी कोई बात जांची नहीं, लेकिन अपने डिस्ट्रिक्ट में मैं घर-घर घूमा हूं और यह जानता हूं कि वहां हालत बहुत ही शोचनीय है..." (नं० १७४१।) "क्या आप हर ऐसी जगह पर स्त्रियों को नौकर रखने की मनाही करना चाहेंगे, जहां उससे उनका पतन होता हो?" "मैं समझता हूं, उससे इस तरह हानि होगी कि अंग्रेजों में जो सर्वोत्तम भावनाएं पायी जाती हैं, वे उनको माता की शिक्षा से प्राप्त हुई हैं..." (नं० १७५०।) "यह बात तो कृषि-कार्यों पर भी उतनी ही लागू होती है न?" "जी हां, पर वह केवल दो मौसमों की नौकरी होती है, और यहां पर हमें चारों मौसमों में काम करना पड़ता है।" (नं० १७५१।) "वे अक्सर दिन-रात काम करती हैं और एकदम भीग जाती हैं; उनकी देह खोखली और स्वास्थ्य चौपट हो जाता है।" "इस मामले की आपने शायद कोई खास जांच-पड़ताल नहीं की है?" "राह चलते जो कुछ भी मेरी आंखों के सामने से गुजरा है, उसे मैंने अवश्य देखा है, और निश्चय ही मैंने कहीं भी कोई ऐसी चीज नहीं देखी है, जो खानों के किनारे काम करने वाली औरतों की हालत की बराबरी कर सके... यह तो मर्दों का काम है... खूब मजबूत मर्दों का।" (नं० १७५३, १७६३, १७६४।) "तो इस पूरे सवाल पर आप का यह विचार है कि कोयला-मजदूरों का श्रेष्ठ भाग अपने को कुछ ऊपर उठाना और इनसान बनना चाहता है, लेकिन इस चीज में उसे स्त्रियों से कोई मदद नहीं मिलती और उल्टे वे उसको नीचे की ओर खींचती हैं?" "जी हां।" (नं० १८०८।) इन पूंजीपतियों के कुछ और छलपूर्ण सवालों के बाद आखिर यह बात खुल गयी कि विधवाओं, ग़रीब परिवारों आदि के प्रति उनकी "सहानुभूति" का क्या रहस्य है। "खान का मालिक कुछ महानुभावों को काम की देखभाल करने के लिये नियुक्त कर देता है, और मालिक की नजरों में ऊपर उठने के लिये इन लोगों की यह नीति होती है कि अधिक से अधिक मितव्ययिता करके दिखायें, और जहां मर्द को २ शिलिंग ६ पेंस रोजाना की मजदूरी देनी पड़ेगी, वहां इन लड़कियों को १ शिलिंग से १ शिलिंग ६ पेंस तक देने से ही काम चल जाता है।" (नं० १८१६।)

४) मौत के सबब की जांच करने वाली अदालत की कार्रवाई — "कोई दुर्घटना हो जाने पर आपके डिस्ट्रिक्ट में मौत का सबब जांचने वाली अदालत में तफ़तीश की कार्रवाई जिस तरह होती है, क्या मजदूर उसपर विश्वास करते हैं?" "नहीं, मजदूर उसपर विश्वास नहीं करते।" (नं० ३६०।) "क्यों नहीं करते?" "मुख्यतया इसलिये कि इस अदालत के लिये आम तौर पर जो लोग चुने जाते हैं, उनको खानों के बारे में और इस तरह की अन्य चीजों के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती।" "क्या मजदूरों को कभी जूरी का काम करने के लिये नहीं बुलाया जाता?" "जहां तक मुझे जानकारी है, गवाहों के अतिरिक्त वे और किसी हैसियत में कभी नहीं बुलाये जाते।" "जूरी का काम करने के लिए आम तौर पर कौन लोग बुलाये जाते हैं?" "आम तौर पर आस-पड़ोस के व्यापारी... जो अपनी स्थिति के कारण कभी-कभी उन लोगों के प्रभाव में आ जाते हैं, जिनके लिये वे काम करते हैं... यानी उनपर कारखानों के मालिकों का असर पड़ जाता है। वे आम तौर पर ऐसे लोग होते हैं, जिनको कोई जानकारी नहीं होती; और उनके सामने जो गवाह पेश होते हैं, वे उनकी बातों को या उनकी शब्दावली आदि को नहीं समझ पाते।" "क्या आप ऐसे व्यक्तियों का जूरी में होना पसन्द करेंगे, जो

खान-उद्योग में काम कर चुके हैं?" "जी हां, आंशिक रूप में... उनका (मजदूरों का) ख़याल है कि फ़ैसला आम तौर पर गवाहों के बयानों के मुताबिक़ नहीं होता।" (नं० ३६१, ३६४, ३६६, ३६८, ३७१, ३७५।) "जूरी बुलाने का एक बड़ा उद्देश्य यह है न कि वह निष्पक्ष हो?" "जी, मैं तो ऐसा ही समझता हूं।" "यदि जूरी के सदस्यों में से अधिकतर मजदूर हों, तो क्या आपके ख़याल में ऐसी जूरी निष्पक्ष होगी?" "मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती, जिसके कारण मजदूरों को पक्षपात करना पड़ेगा... खान के काम-काज की उनको लाजिमी तौर पर बेहतर जानकारी होती है।" आपका क्या ख़याल है कि क्या उनमें मजदूरों के पक्ष में बहुत ज्यादा सख़्त फ़ैसले देने की कोई प्रवृत्ति नहीं होगी?" "नहीं, मेरा ऐसा विचार नहीं है।" (नं० ३७८, ३७९, ३८०।)

५) झूठे बाट और झूठे गज – मजदूरों की मांग है कि उनको मजदूरी चौदह दिन में एक बार के बजाय हफ़्ते में एक बार दी जाये और उसका हिसाब टबों के घन मान के आधार पर नहीं, बल्कि टबों में भरे हुए कोयले के वजन के आधार पर लगाया जाये। उनकी यह भी मांग है कि झूठे बाटों वग़ैरह से उनकी रक्षा की जाये। (नं० १०७१।) "अगर टबों का आकार बेईमानी से बढ़ा दिया जाता है, तो मजदूर चौदह दिन का नोटिस देकर काम छोड़ सकता है?" "लेकिन यदि वह किसी और जगह काम करने जाता है, तो वहां भी यही हालत है।" (नं० १०७१।) "लेकिन मजदूर वह जगह तो छोड़ सकता है, जहां उसके साथ बेईमानी की गयी है?" "मगर यह तो एक आम बेईमानी है। वह जहां जाता है, वहीं उसे यह अन्याय सहन करना पड़ता है।" (नं० १०७२) "कोई भी मजदूर १४ दिन का नोटिस देकर काम छोड़ सकता है या नहीं?" "हां, वह छोड़ सकता है।" (नं० १०७३।) और ये लोग फिर भी संतुष्ट नहीं हैं!

६) खानों का निरीक्षण – खानों में विस्फोट होते हैं, तो मजदूर हताहत हो जाते हैं। मगर उनके लिये यही एक मुसीबत नहीं है। (नं० २३४ और उसके आगे के प्रश्नोत्तर।) "हमारे साथियों को इसकी बहुत शिकायत है कि खानों में ताजा हवा आने का बहुत ख़राब इन्तजाम है... उसका प्रबंध आम तौर पर इतना ज्यादा ख़राब है कि मजदूर मुश्किल से सांस ले पाते हैं। कुछ समय तक खानों में काम करने के बाद वे हर क़िस्म के काम के लिये बेकार हो जाते हैं। बल्कि सच पूछिये, तो खान के जिस हिस्से में मैं काम करता हूं, वहां काम करने वाले बहुत से मजदूरों को कुछ समय तक नौकरी करने के बाद इसी कारण काम छोड़कर घर चले जाना पड़ा है...जहां विस्फोटक गैस नहीं होती, वहां ताजा हवा के आने की व्यवस्था इतनी ख़राब होती है कि उसके फलस्वरूप कुछ मजदूर हफ़्तों के लिये बेकार हो गये हैं... मुख्य नालियों में आम तौर पर काफ़ी हवा होती है, पर जिन स्थानों पर मजदूर काम करते हैं, वहां तक हवा ले आने की कोई कोशिश नहीं की जाती।" "तब आप इंस्पेक्टर से क्यों नहीं कहते?" "सच पूछिये, तो इंस्पेक्टर से इसकी चर्चा करने में बहुत से आदमी डरते हैं। कई बार ऐसा हुआ है कि इंस्पेक्टर से इस बात की शिकायत करने वाले लोग बलि चढ़ गये हैं और नौकरी खो बैठे हैं।" "क्यों? क्या शिकायत करने वाले मजदूर का नाम नोट हो जाता है?" "जी हां।" "और उसको किसी और खान में भी काम नहीं मिलता?" "जी हां।" "क्या आपकी राय में आपके आस-पड़ोस की खानों का इतना काफ़ी निरीक्षण होता रहता है कि उनके द्वारा क़ानून की धाराओं का सुनिश्चित पालन करवाया जा सके?" "जी नहीं, उनका जरा भी निरीक्षण नहीं होता... एक खान सात बरस से काम कर रही है और उसका निरीक्षण करने के लिये

केवल एक बार इंस्पेक्टर आया है...जिस डिस्ट्रिक्ट में मैं रहता हूं, वहां इंस्पेक्टरों की संख्या पर्याप्त नहीं है। ७० वर्ष से अधिक आयु के एक वृद्ध व्यक्ति को १३० से अधिक कोयला-खानों का निरीक्षण करने का काम मिला हुआ है।" "आप चाहते हैं कि सब-इंस्पेक्टरों की भी एक श्रेणी हो?" "जी हां।" (नं० २३४, २४१, २५१, २५४, २७४, २७५, ५५४, २७६, २९३।) "लेकिन क्या आपके ख़याल में सरकार के लिये इंस्पेक्टरों की इतनी बड़ी सेना को नौकर रखना सम्भव होगा, जो बिना मजदूरों से कोई इत्तिला पाये वे सारे काम कर सके, जो आप उससे कराना चाहते हैं?" "नहीं, मैं समझता हूं, यह बिलकुल असम्भव है"... "इंस्पेक्टर ज्यादा जल्दी-जल्दी आयें, तो बेहतर होगा?" "जी हां, और उनको बिना बुलाये आना चाहिये।" (नं० २८०, २७७।) "आपके विचार में, इन इंस्पेक्टरों से इतनी जल्दी-जल्दी कोयला-खानों का निरीक्षण कराने का यह असर तो नहीं होगा कि ताज़ा हवा के उचित इन्तज़ाम की ज़िम्मेदारी (!) कोयला-खानों के मालिकों से हटकर सरकारी कर्मचारियों के कंधों पर आ जायेगी?" "जी नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता। मेरे विचार में इंस्पेक्टरों का काम यह होना चाहिये कि पहले से मौजूद क़ानूनों को अमली जामा पहनायें।" (नं० २८५।) "जब आप सब-इंस्पेक्टरों की बात करते हैं, तो क्या आपका यह मतलब है कि वर्तमान इंस्पेक्टरों से कम योग्यता वाले व्यक्तियों को कम तनख़ाह पर नियुक्त किया जाये?" "अगर बेहतर आदमी मिल सकें, तो मैं यह नहीं चाहूंगा कि कम योग्यता वाले आदमी नियुक्त किये जायें।" (नं० २९४।) "आप महज़ ज्यादा इंस्पेक्टर चाहते हैं या अपेक्षाकृत निम्न वर्ग के व्यक्तियों को इंस्पेक्टरों के रूप में चाहते हैं?" "ऐसा आदमी होना चाहिये, जो बराबर घूमता रहे और इसका ख़याल रखे कि सब चीज़ें ठीक हैं या नहीं, और जिसे ख़ुद अपने बारे में डर न लगता हो।" (नं० २९५।) "यदि आपकी यह इच्छा पूरी हो जाये और एक निम्न श्रेणी के इंस्पेक्टर नियुक्त कर दिये जायें, तो क्या निपुणता के अभाव आदि से कोई ख़तरा नहीं होगा?" "नहीं, मेरे विचार में तो ऐसा कोई ख़तरा नहीं है। मैं समझता हूं, सरकार इसका ख़याल रखेगी और इस पद पर सही आदमियों को नियुक्त करेगी।" (नं० २९७।) इस तरह की जिरह आख़िर समिति के अध्यक्ष को भी नागवार मालूम होती है, और वह बीच में बोल उठता है: "आप यह चाहते हैं न कि कुछ ऐसे लोग हों, जो खान की तमाम तफ़सीली बातों की जांच कर सकें, एक-एक कोने में घुसकर हर चीज़ को देख सकें और असलियत का पता लगा सकें... और ये लोग मुख्य इंस्पेक्टर को रिपोर्ट दिया करें और वह तब उनके बताये हुए तथ्यों पर अपने वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में विचार किया करे?" (नं० २९८, २९९।) "यदि इन तमाम पुरानी खानों में ताज़ा हवा का इन्तज़ाम किया गया, तो क्या इसमें बहुत ज्यादा ख़र्चा नहीं हो जायेगा?" "हां, ख़र्चा तो होगा, पर साथ ही मनुष्यों के जीवन की सुरक्षा की व्यवस्था भी हो जायेगी।" (नं० ५३१।) एक खान-मजदूर ने १८६० के क़ानून की १७ वीं धारा पर आपत्ति की। उसने कहा: "आजकल यदि खानों का इंस्पेक्टर यह पाता है कि खान का कोई हिस्सा इस लायक़ नहीं है कि वहां काम किया जाये, तो उसे खान-मालिक को और गृह-मन्त्री को रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। उसके बाद २० दिन का समय मालिक को इस मामले की जांच करने के लिये दिया जाता है। २० दिन पूरे हो जाने पर मालिक को यह अधिकार होता है कि खान में कोई भी तबदीली करने से इनकार कर दे। लेकिन ऐसा करने पर खान के मालिक को गृह-मन्त्री को सूचना देनी पड़ती है और साथ ही पांच इंजीनियरों को नामज़द करना पड़ता है। ख़ुद मालिक के नामज़द किये हुए इन पांच इंजीनियरों में से किसी एक या दो-तीन को गृह

मन्त्री पंच के रूप में नियुक्त कर देता है। हम तो यह समझते हैं कि इस प्रकार एक तरह से खुद मालिक ही अपना पंच नियुक्त कर देता है।" (नं० ५८१।) जो पूंजीपति गवाह से जिरह कर रहा है, वह खुद भी खान का मालिक है: वह पूछता है: "पर... क्या यह एक महज़ ख़याली एतराज़ है?" (नं० ५८६।) "तब तो खान-इंजीनियरों की ईमानदारी के बारे में आपकी राय बहुत अच्छी नहीं है?" "उनका रुख निश्चय ही अन्याय और बेइन्साफ़ी का होता है"। (नं० ५८८।) "क्या खानों के इंजीनियरों का एक प्रकार से सार्वजनिक व्यक्तित्व नहीं होता और क्या आपके विचार में यह सच नहीं है कि आपको जैसी आशंका है, वैसा पक्षपात ये इंजीनियर कभी नहीं करेंगे?" "इन लोगों के व्यक्तिगत चरित्र के बारे में आपने जिस प्रकार का प्रश्न किया है, मैं उसका उत्तर देना नहीं चाहता। मेरा विश्वास है कि बहुत से मामलों में वे निश्चय ही बहुत अधिक पक्षपात करेंगे, और जहां इनसानों की जान दांव पर लगी हुई है, वहां उन्हें ऐसा करने का कोई मौक़ा नहीं होना चाहिये।" (नं० ५८६।) पर इसी पूंजीपति को यह प्रश्न करने में कोई संकोच नहीं हुआ: "आपके खयाल में क्या विस्फोट से मालिक की कोई हानि नहीं होती?" और अन्त में वह पूछता है: "लंकाशायर के आप मज़दूर लोग क्या सरकार का मुंह जोहे बिना खुद अपनी मदद नहीं कर सकते?" "नहीं।" (नं० १०४२।)

१८६५ में ब्रिटेन में ३,२१७ कोयला-खानें थीं और १२ इंस्पेक्टर। यार्कशायर के एक खान-मालिक ने ("*The Times*" के २६ जनवरी १८६७ के अंक में) खुद हिसाब लगाया है कि यदि इंस्पेक्टरों के दफ़्तर के काम को, जिसमें उनका सारा समय चला जाता है, ध्यान में न रखा जाये, तो भी प्रत्येक खान का दस वर्ष में केवल एक बार निरीक्षण किया जा सकता है। तब क्या आश्चर्य है यदि पिछले दस वर्षों में विस्फोटों की संख्या और प्रभाव-क्षेत्र में बराबर वृद्धि होती गयी है (और कभी-कभी तो एक-एक विस्फोट में दो-दो सौ, तीन-तीन सौ आदमियों की जान चली जाती है)? यह है "स्वतंत्र" पूंजीवादी उत्पादन के मज़े!*

१८७२ में जो बहुत त्रुटिपूर्ण क़ानून पास हुआ, वह पहला क़ानून है, जो खानों में नौकरी करने वाले बच्चों के श्रम के घण्टों का नियमन करता है और तथाकथित दुर्घटनाओं के लिये किसी हद तक शोषकों और मालिकों को जिम्मेवार ठहराता है।

जो बच्चे, लड़के-लड़कियां और स्त्रियां खेती का काम करने के लिये नौकर रखे जाते हैं, उनकी हालत की जांच करने के लिये १८६७ में एक राजकीय आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। खेती में फ़ैक्टरी-क़ानूनों के सिद्धान्तों को, मगर संशोधित रूप में, लागू करने की कई कोशिशें हो चुकी हैं, पर अभी तक वे पूरी तरह असफल होती रही हैं। यहां पर मैं केवल इस बात की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि इन सिद्धान्तों को आम तौर पर सभी क्षेत्रों में लागू करने की एक अरोध्य प्रवृत्ति पायी जाती है।

यदि मज़दूर-वर्ग के मस्तिष्क एवं शरीर की सुरक्षा के उद्देश्य से सभी धंधों पर आम तौर से फ़ैक्टरी-क़ानूनों का लागू किया जाना एक अवश्यम्भावी बात बन गया है, तो, दूसरी ओर, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, फ़ैक्टरी-क़ानूनों का यह विस्तार अलग-अलग काम करने

---

*यह वाक्य अंग्रेज़ी पाठ में, जिसके अनुसार हिन्दी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार जोड़ दिया गया है।—सम्पा०

वाले बहुत से छोटे-छोटे उद्योगों के बड़े पैमाने के थोड़े से संयुक्त उद्योगों में परिवर्तित हो जाने की क्रिया को और तेज कर देता है और इस तरह पूंजी के केन्द्रीकरण और फ़ैक्टरी-व्यवस्था के एकछत्र प्रभुत्व की स्थापना को बहुत गति प्रदान करता है। यह विस्तार उन प्राचीन तथा अन्तर्कालीन, दोनों प्रकार के रूपों को नष्ट कर देता है, जिन्होंने अभी तक पूंजी के प्रभुत्व पर आंशिक रूप से पर्दा डाल रखा था, और उनके स्थान पर पूंजी का प्रत्यक्ष और खुला आधिपत्य स्थापित कर देता है। परन्तु ऐसा करके वह इस आधिपत्य के प्रत्यक्ष विरोध को भी एक सामान्य रूप दे देता है। प्रत्येक अलग-अलग कारखाने में जहां वह अनिवार्य रूप से एकरूपता, नियमितता, व्यवस्था और मितव्ययिता को व्यवहार में लाता है, वहां वह काम के दिन पर सीमा लगाकर तथा उसका नियमन करके और इस तरह प्राविधिक प्रगति को बहुत तेज बनाकर पूरे पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता और मुसीबतों को, श्रम की तीव्रता को और मजदूर के साथ मशीनों की प्रतियोगिता को और बढ़ा देता है। छोटे और घरेलू उद्योगों को नष्ट करके वह "फ़ालतू आबादी" के आखिरी सहारे को खतम कर देता है और उसके साथ-साथ पूरे सामाजिक संघटन के एकमात्र बचे हुए सुरक्षा-मार्ग को भी बन्द कर देता है। भौतिक परिस्थितियों को और पूरे समाज के पैमाने पर उत्पादन की क्रियाओं के योग को परिपक्व बना कर वह उत्पादन के पूंजीवादी रूप के विरोधों और असंगतियों को परिपक्व करता है और इस तरह एक नये समाज के निर्माण के लिये आवश्यक तत्वों के साथ-साथ पुराने समाज को नष्ट कर देने वाली शक्तियों को भी तैयार करता है।[1]

[1] रोबर्ट ओवेन सहकारी फ़ैक्टरियों और दूकानों के जन्मदाता थे, किन्तु जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, अपने अनुयायियों की तरह उनके मन में इस विषय में कोई भ्रम नहीं था कि परिवर्तन के इन इक्के-दुक्के तत्वों का असल में क्या महत्व है। उन्होंने न केवल व्यवहार में फ़ैक्टरी-व्यवस्था को अपने प्रयोगों का एकमात्र आधार बनाया था, बल्कि सैद्धान्तिक रूप में इस व्यवस्था को सामाजिक क्रान्ति का प्रस्थान-बिन्दु घोषित किया था। लेडेन-विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर, हेर विस्सेरिंग ने जब अपनी रचना "*Handboek van Praktische Staatshuishoudkunde*", १८६० – ६२, में, जिसमें अप्रामाणिक अर्थशास्त्र की तमाम महत्वहीन बातों को दुहरा दिया गया है, फ़ैक्टरी-व्यवस्था के मुक़ाबले में दस्तकारियों का ज़ोरदार समर्थन किया था, तब मालूम होता है, उनके मन में इस बात का कुछ आभास था। [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया अंश**: एक दूसरे के विरोधी Factory Acts (फ़ैक्टरी-क़ानूनों), Factory Extension Act (फ़ैक्टरी-विस्तार-क़ानून) और Workshops' Act (वर्कशाप-क़ानून) के रूप में जो क़ानूनी गड़बड़-झाला तैयार हुआ था (पृष्ठ ३१४) (इस संस्करण का पृष्ठ ३४१), वह अन्त में असह्य हो गया, और चुनांचे १८७८ के Factory and Workshop Act (फ़ैक्टरी और वर्कशाप क़ानून) ने इन तमाम क़ानूनों को एक नयी संहिता का रूप दे दिया। ज़ाहिर है, हम इस स्थान पर इंगलैण्ड की वर्तमान औद्योगिक संहिता की कोई विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत नहीं कर सकते। यहां निम्नलिखित टिप्पणियां पर्याप्त होंगी। यह क़ानून इतनी तरह की फ़ैक्टरियों पर लागू है:

(१) कपड़ा-मिलों पर। इनके सम्बंध में स्थिति लगभग वही है, जो पहले थी। १० वर्ष से अधिक आयु के बच्चों को ५ $\frac{१}{२}$ घण्टे प्रति दिन या शनिवार की छुट्टी और ६ घण्टे प्रति

## अनुभाग १०—आधुनिक उद्योग और खेती

आधुनिक उद्योग ने खेती में और खेतिहर उत्पादकों के सामाजिक सम्बंधों में जो क्रान्ति पैदा कर दी है, उसपर हम बाद में विचार करेंगे। इस स्थान पर हम पूर्वानुमान के रूप में कुछ परिणामों की ओर संकेत भर करेंगे। खेती में मशीनों के प्रयोग का मजदूरों के शरीरों पर फ़ैक्टरी-मजदूरों के समान घातक प्रभाव नहीं होता, किन्तु, जैसा कि हम बाद में विस्तार से देखेंगे, मजदूरों का स्थान लेने में मशीनें यहां फ़ैक्टरियों से ज्यादा तेजी दिखाती हैं और यहां इसका विरोध भी कम होता है। मिसाल के लिये, कैम्ब्रिज और सफ़ोक की काउंटियों में खेती का रक़बा पिछले २० वर्षों में (१८६८ तक) बहुत अधिक बढ़ गया है, पर इसी काल में

---

दिन काम करने की इजाजत है। लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों को ५ दिन १० घण्टे रोज और शनिवार को अधिक से अधिक ६ $\frac{१}{२}$ घण्टे काम करने की इजाजत है।

(२) अन्य प्रकार की मिलों पर। इनके लिये बनाये गये क़ानूनों को नं० १ के लिये बनाये गये क़ानूनों के अधिक समान कर दिया गया है। फिर भी अनेक बातों में पूंजीपतियों को छूट दे दी गयी है, और कुछ ख़ास परिस्थितियों में गृह-मंत्रालय इस छूट के क्षेत्र को और बढ़ा सकता है।

(३) उन वर्कशापों पर, जिनकी इस क़ानून में भी वही परिभाषा है, जो पुराने क़ानून में थी। जहां तक उनमें काम करने वाले बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों का सम्बंध है, वर्कशापों को लगभग उसी श्रेणी में रखा गया है, जिस श्रेणी में कपड़ा-मिलों के सिवा अन्य प्रकार की मिलें आती हैं, लेकिन उनको भी कुछ बातों में विशेष छूट दे दी गयी है।

(४) उन वर्कशापों पर, जिनमें बच्चे या लड़के-लड़कियां काम नहीं करतीं और जिनमें केवल १८ वर्ष से अधिक आयु के स्त्री-पुरुषों से ही काम लिया जाता है। उन्हें और भी अधिक सुविधाएं प्राप्त हैं।]

(५) घरेलू वर्कशापों (Domestic Workshops) पर, जिनमें केवल परिवार के सदस्य ही अपने घर पर बैठकर काम करते हैं। इनके लिये और भी ढीले नियम बनाये गये हैं और ऊपर से यह प्रतिबंध लगा दिया गया है कि जिन कमरों में काम करने के साथ-साथ मजदूर रहते भी हैं, उनमें कोई इंस्पेक्टर बिना मंत्री या जज की इजाजत के प्रवेश नहीं कर सकता। अन्तिम बात यह है कि सूखी घास की बुनी हुई वस्तुएं तैयार करने, लैस बनाने और दस्ताने बनाने के धंधों को पूरी आजादी दे दी गयी है। लेकिन इन तमाम ख़ामियों के बावजूद, यह क़ानून और स्विस राज्य मण्डल का २३ मार्च १८७७ को पास किया गया फ़ैक्टरी-क़ानून इस क्षेत्र के और सब क़ानूनों से कहीं बेहतर हैं। इन दो संहिताओं की तुलना विशेष रूप से उपयोगी होगा, क्योंकि उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि क़ानून बनाने की इन दो भिन्न पद्धतियों के गुण-अवगुण क्या हैं। इनमें से इंगलैण्ड की "ऐतिहासिक" पद्धति है, जो जब-तब आवश्यक होने पर एक के बाद दूसरे मामले में हस्तक्षेप करती हुई बढ़ती है, और दूसरी योरपीय महाद्वीप की फ़ांसीसी क्रान्ति की परम्पराओं पर आधारित पद्धति है, जो सामान्यीकरण का अधिक प्रयोग करती है। दुर्भाग्यवश इंगलैण्ड की नियमावली इंस्पेक्टरों की कमी के कारण वर्कशापों के सम्बंध में अभी तक प्रायः एक कागजी चीज ही बनी हुई है। —फ़्रे० एं०।]

देहाती आबादी न केवल तुलनात्मक, बल्कि निरपेक्ष दृष्टि से भी घट गयी है। संयुक्त राज्य अमरीका में अभी तक केवल प्रभावतः ही खेती की मशीनें मजदूरों का स्थान ले लेती हैं; दूसरे शब्दों में, उनकी मदद से किसान पहले से बड़े रक़बे में खेती कर सकता है, लेकिन उनकी वजह से पहले से काम करने वाले मजदूरों को जवाब नहीं मिल जाता। १८६१ में इंगलैण्ड और वेल्स में खेती की मशीनों के बनाने में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या १,०३४ थी, जब कि खेती की मशीनों और भाप के इंजनों का इस्तेमाल करने वाले खेतिहर मजदूरों की संख्या १,२०५ से अधिक नहीं थी।

खेती के क्षेत्र पर आधुनिक उद्योग का जैसा क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ता है, वैसा और कहीं नहीं पड़ता। उसका कारण यह है कि आधुनिक उद्योग पुराने समाज के आधार-स्तम्भ – यानी किसान – को नष्ट कर देता है और उसके स्थान पर मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूर को स्थापित करता है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तनों की चाह और वर्गों के विरोध गांवों में भी शहरों के स्तर पर पहुंच गये हैं। खेती के पुराने, अविवेकपूर्ण तरीक़ों के स्थान पर वैज्ञानिक तरीक़े इस्तेमाल होने लगते हैं। खेती और हस्तनिर्माण के शैशव-काल में जिस नाते ने इन दोनों को साथ बांध रखा था, पूंजीवादी उत्पादन उसे एकदम तोड़कर फेंक देता है। परन्तु इसके साथ-साथ वह भविष्य में सम्पन्न होने वाले एक अधिक ऊंचे समन्वय – यानी अपने अस्थायी अलगाव के दौरान में प्रत्येक ने जो अधिक पूर्णता प्राप्त की है, उसके आधार पर कृषि और उद्योग के मिलाप – के लिये भौतिक परिस्थितियां भी तैयार कर देता है। पूंजीवादी उत्पादन आबादी को बड़े-बड़े केन्द्रों में केन्द्रीभूत करके और शहरी आबादी का पलड़ा अधिकाधिक भारी बनाकर एक ओर तो समाज की ऐतिहासिक चालक शक्ति का केन्द्रीकरण कर देता है, और, दूसरी ओर, वह मनुष्य तथा धरती के बीच पदार्थ के परिचलन को अस्त-व्यस्त कर देता है, अर्थात् भोजन-कपड़े के रूप में मनुष्य धरती के जिन तत्वों को खर्च कर डालता है, उन्हें धरती में लौटने से रोक देता है, और इसलिये वह उन शर्तों का उल्लंघन करता है, जो धरती को सदा उपजाऊ बनाने के लिये आवश्यक हैं। इस तरह वह शहरी मजदूर के स्वास्थ्य को और देहाती मजदूर के बौद्धिक जीवन को एक साथ चौपट कर देता है।[1] परन्तु पदार्थ के इस परिचलन के लिये जो परिस्थितियां खुद-ब-खुद तैयार हो गयी थीं, उनको अस्त-व्यस्त करने के साथ-साथ पूंजीवादी उत्पादन बड़ी शान के साथ इस बात का तक़ाज़ा करता है कि इस परिचलन को एक व्यवस्था के रूप में, सामाजिक उत्पादन के एक नियामक क़ानून के रूप में, और एक ऐसी शकल में पुनः क़ायम किया जाये, जो मानव-जाति के पूर्ण विकास के लिये उपयुक्त हो। हस्तनिर्माण की तरह खेती में भी उत्पादन के रूपान्तरण और पूंजी के आधिपत्य की स्थापना का अर्थ साथ ही यह भी होता है कि उत्पादक की हत्या हो जाती है;

[1] "आप लोगों ने क़ौम को असभ्य भांड़ों और बौने हिजड़ों के दो विरोधी पक्षों में बांट दिया है। हे भगवान! एक राष्ट्र खेतिहर और व्यापारिक हितों में बंटा हुआ है और फिर भी अपने होश-हवास दुरुस्त बताता है। नहीं, बल्कि जाग्रत और सभ्य होने का दावा करता है और कहता है कि न सिर्फ़ इस बेहूदा और अस्वाभाविक विभाजन के बावजूद ऐसा है, बल्कि यह इस विभाजन का ही परिणाम है।" (David Urquhart, उप० पु०, पृ० ११६।) इस उद्धरण से उस प्रकार की आलोचना की शक्ति और कमजोरी दोनों एक साथ प्रकट हो जाती हैं, जो वर्तमान को आंककर उसकी निन्दा करना तो जानती है, पर उसको समझ नहीं सकती।

**श्रम का औज़ार मज़दूर को ग़ुलाम बनाने, उसका शोषण करने और उसको ग़रीब बनाने का साधन बन जाता है, और श्रम-प्रक्रियाओं का सामाजिक संयोजन और संगठन मज़दूर की व्यक्तिगत जीवन-शक्ति, स्वतंत्रता और स्वाधीनता को कुचलकर ख़तम कर देने की संगठित पद्धति का रूप ले लेते हैं। देहाती मज़दूर पहले से बड़े रक़बे में बिखर जाते हैं, जिससे उनकी प्रतिरोध की शक्ति टूट जाती है, जब कि उधर शहरी मज़दूरों की शक्ति केन्द्रीकरण के कारण बढ़ जाती है। शहरी उद्योगों की भांति आधुनिक खेती में भी काम में लगाये हुए श्रम की उत्पादकता और मात्रा में वृद्धि तो होती है, पर इस क़ीमत पर कि श्रम-शक्ति ख़ुद तबाह और बीमारियों से नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त, पूंजीवादी खेती में जो भी प्रगति होती है, वह न केवल मज़दूर को, बल्कि धरती को लूटने की कला की भी प्रगति होती है; एक निश्चित समय के वास्ते धरती की उर्वरता बढ़ाने के लिये उठाया जाने वाला हर क़दम साथ ही इस उर्वरता के स्थायी स्त्रोतों को नष्ट कर देने का क़दम होता है। मिसाल के लिये, संयुक्त राज्य अमरीका की तरह जितना अधिक कोई देश आधुनिक उद्योग की नींव पर अपने विकास का श्रीगणेश करता है, वहां विनाश की यह प्रक्रिया उतनी ही अधिक तेज़ होती है।[1]**

---

[1] देखिये Liebig की रचना "*Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie*" (सातवां संस्करण, १८६२), और विशेषकर उसके पहले खण्ड में "*Einleitung in die Naturgesetze des Feldbaus*" ('खेती के प्राकृतिक नियमों का परिचय')। लीबिग की एक अमर देन यह है कि उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से आधुनिक खेती के नकारात्मक अथवा विनाशकारी पहलू का विवेचन किया है। उन्होंने खेती के इतिहास का जो सारांश प्रस्तुत किया है, उसमें भी, कुछ भोंड़ी ग़लतियों के बावजूद, प्रकाश की चमक दिखाई देती है। किन्तु यह दुःख की बात है कि उन्होंने नीचे दिये गये कुछ उद्धरणों के समान अटकलपच्चू बातें कहने का भी दुस्साहस किया है। "मिट्टी को ज्यादा भुरभुरी बना देने और अक्सर हल चलाने से सरंध्र मिट्टी के भीतर वायु के परिचलन में सहायता मिलती है, और धरती का जो हिस्सा वायुमण्डल के प्रभाव के लिये खुला रहता है, उसका रक़बा बढ़ जाता है और उसे नव-जीवन प्राप्त हो जाता है। लेकिन यह देखना कठिन नहीं है कि भूमि की उपज भूमि पर ख़र्च किये गये श्रम के अनुपात में नहीं बढ़ सकती, बल्कि उसके अनुपात में वह बहुत कम बढ़ती है। इस नियम का"—आगे लीबिग कहते हैं—"सबसे पहले जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी रचना "*Principles of Pol. Econ.*" ('अर्थशास्त्र के सिद्धान्त') (खण्ड १, पृ० १७) में इस प्रकार प्रतिपादन किया था: 'यह खेती के उद्योग का सार्वत्रिक नियम है कि caeteris paribus (अन्य बातों के समान रहते हुए) भूमि की उपज मज़दूरों की संख्या की वृद्धि के ह्रासमान अनुपात में बढ़ती है' (मिल ने यहां पर रिकार्डो के अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित नियम का ग़लत रूप में प्रयोग किया है; कारण कि 'the decrease of the labourers employed' ["काम करने वाले मज़दूरों की संख्या में होने वाली कमी"] चूंकि इंगलैण्ड में खेती की प्रगति के साथ क़दम से क़दम मिलाकर हुई थी, इसलिये यह नियम, जिसका इंगलैण्ड में आविष्कार हुआ और जिसे इंगलैण्ड पर ही लागू करने की कोशिश की गयी, उस देश पर हरगिज़ लागू नहीं होता था)। यह बात बहुत उल्लेखनीय है क्योंकि मिल को इस नियम के कारणों का ज्ञान नहीं था" (Liebig, उप० पु०, खण्ड १, पृ० १४३ और नोट)। लीबिग ने "श्रम" शब्द का ग़लत अर्थ लगाया है। अर्थशास्त्र में इस शब्द

**इसलिये, पूंजीवादी उत्पादन प्रौद्योगिकी का और उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं को जोड़कर एक सामाजिक इकाई का रूप देने की कला का विकास तो करता है, पर यह काम केवल समस्त धन-सम्पदा के मूल स्त्रोतों को –धरती को और मजदूर को–सोखकर करता है।**

---

का जो अर्थ है, लीबिग ने उसका उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ लगाया है। पर इसके अलावा यह बात भी अवश्य ही "बहुत उल्लेखनीय" है कि जिस सिद्धान्त को सबसे पहले जेम्स ऐण्डर्सन ने ऐडम स्मिथ के काल में प्रकाशित किया था और जिसको १६ वीं शताब्दी के आरम्भ होने तक विभिन्न ग्रंथों में बार-बार दोहराया गया था, लीबिग ने जान स्टुअर्ट मिल को उसका प्रथम प्रतिपादक बना दिया है; १८१५ में साहित्यिक चोरी की कला के आचार्य माल्थूस ने (उनका जन-संख्या वाला पूरे का पूरा सिद्धान्त बेशर्मी के साथ चुराया हुआ है) इस सिद्धान्त को अपनी सम्पत्ति बताया था; वेस्ट ने ऐण्डर्सन के साथ-साथ और स्वतंत्र रूप से इसका विकास किया था; १८१७ में रिकार्डो ने इस सिद्धान्त को मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया था, और तब इस सिद्धान्त ने रिकार्डो के सिद्धान्त के नाम से सारी दुनिया का चक्कर लगाया था; १८२० में जान स्टुअर्ट मिल के पिता, जेम्स मिल ने उसका अप्रामाणिक रूप प्रस्तुत किया था, और, अन्त में, जान स्टुअर्ट मिल आदि ने एक ऐसी रूढ़ि के रूप में उसका पुनरुत्पादन किया था, जो उस वक़्त तक एक अत्यन्त साधारण बात बन गयी थी और जिसकी हर स्कूली लड़के को जानकारी थी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जान स्टुअर्ट मिल की सर्वथा "उल्लेखनीय" प्रतिष्ठा लगभग पूरी तरह इस प्रकार की quid-pro-quos (हेरा-फेरी) पर ही आधारित है।

भाग ५

# निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन

## सोलहवां अध्याय

## निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य

श्रम-प्रक्रिया पर हमने पहले (देखिये सातवां अध्याय) अमूर्त ढंग से, उसके ऐतिहासिक रूपों से उसको अलग करके, मनुष्य और प्रकृति के बीच चलने वाली एक प्रक्रिया के रूप में विचार किया था। वहां, पृ० २०६ पर, हमने कहा था: "यदि हम पूरी प्रक्रिया पर उसके फल के दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह बात स्पष्ट है कि श्रम के औज़ार और श्रम की विषय-वस्तु दोनों उत्पादन के साधन होते हैं और श्रम खुद उत्पादक श्रम होता है।" और उसी पृष्ठ के दूसरे फ़ुटनोट में हमने यह और जोड़ा था: "अकेले श्रम-प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह निर्धारित करना कि उत्पादक श्रम क्या होता है,—यह तरीक़ा उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष रूप से हरगिज़ लागू नहीं होता।" अब हम इस विषय की आगे व्याख्या करते हैं।

श्रम-प्रक्रिया जहां तक विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत होती है, वहां तक वही एक मज़दूर उन सारे कार्यों को करता है, जो बाद को अलग-अलग हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी जीविका के लिये किन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं को हस्तगत कर लेता है, तब उस पर उसका केवल अपना ही नियंत्रण रहता है, और किसी का नहीं। बाद को दूसरे लोग उसका नियंत्रण करने लगते हैं। एक अकेला आदमी खुद अपने मस्तिष्क के नियंत्रण में अपनी मांस-पेशियों से काम लिये बिना प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। जिस प्रकार शरीर में मस्तिष्क और हाथ एक दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार श्रम-प्रक्रिया में हाथ का श्रम मस्तिष्क के श्रम के साथ जुड़ा रहता है। बाद में उनका साथ छूट जाता है, और वे एक दूसरे के जानी दुश्मन तक हो जाते हैं। तब पैदावार प्रत्यक्ष रूप में एक व्यक्ति की पैदावार न रहकर सामाजिक पैदावार बन जाती है, जिसे एक सामूहिक मज़दूर, यानी बहुत से मज़दूरों का योग, सामूहिक ढंग से पैदा करता है, और इनमें से प्रत्येक मज़दूर का अपने श्रम की विषय-वस्तु के हस्त-साधन में कम या ज़्यादा केवल एक भाग होता है। जैसे-जैसे श्रम-प्रक्रिया का सहकारी स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उसके एक अनिवार्य परिणाम के रूप में उत्पादक श्रम तथा उसके कर्ता—उत्पादक मज़दूर—के विषय में हमारी अवधारणा विस्तृत होती जाती है। उत्पादक ढंग से श्रम करने के लिये अब यह आवश्यक नहीं रहता कि आप खुद अपने हाथ से काम करें।

अब तो यदि आप किसी सामूहिक मजदूर की एक इन्द्रिय के रूप में उसका कोई गौण काम कर देते हैं, तो वही काफ़ी होता है। उत्पादक श्रम की वह पहली परिभाषा, जो ऊपर दी गयी है और जो खुद भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के स्वरूप से निकाली गयी थी, एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में सामूहिक मजदूर के लिये अब भी सही रहती है। परन्तु इस समूह के अलग-अलग सदस्य के लिये यह परिभाषा अब सही नहीं रहती।

किन्तु, दूसरी ओर, उत्पादक श्रम की हमारी अवधारणा संकुचित हो जाती है। पूंजीवादी उत्पादन केवल मालों का उत्पादन नहीं होता। वह बुनियादी तौर पर अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता है। मजदूर खुद अपने लिये नहीं, बल्कि पूंजी के लिये पैदा करता है। इसलिये अब उसके लिये केवल पैदा करना ही काफ़ी नहीं होता। उसे अतिरिक्त मूल्य पैदा करना होता है। केवल वही मजदूर उत्पादक माना जाता है, जो पूंजीपति के लिये अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है और जो इस तरह पूंजी के आत्म-विस्तार में हाथ बंटाता है। यदि हम भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र के बाहर से एक मिसाल लें, तो स्कूल-मास्टर उस वक़्त उत्पादक मजदूर माना जायेगा, जब वह अपने विद्यार्थियों के दिमाग़ों की ठुकाई-पिटाई करने के अलावा स्कूल के मालिक का धन बढ़ाने के लिये घोड़े की तरह कसकर मेहनत करेगा। मालिक ने यदि सोसेज की फ़ैक्टरी के बजाय पढ़ाई की फ़ैक्टरी में अपनी पूंजी लगा रखी है, तो उससे इस सम्बंध में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिये उत्पादक मजदूर की अवधारणा का केवल इतना ही अर्थ नहीं होता कि काम तथा उसके उपयोगी प्रभाव के बीच और मजदूर तथा श्रम के फल के बीच एक सम्बंध होता है, बल्कि उसका यह अर्थ भी होता है कि यहां उत्पादन का एक विशिष्ट सामाजिक सम्बंध होता है, जिसका एक ऐतिहासिक क्रिया के द्वारा जन्म हुआ है और जिसने मजदूर को अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का प्रत्यक्ष साधन बना दिया है। इसलिये उत्पादक मजदूर होना कोई सौभाग्य न होकर दुर्भाग्य की बात है। इस ग्रंथ की चौथी पुस्तक में हमने सिद्धान्त के इतिहास का विवेचन किया है। वहां यह बात और स्पष्ट हो जायेगी कि प्रामाणिक अर्थशास्त्रियों ने अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को सदा उत्पादक मजदूर का एक विशिष्ट लक्षण माना है। इसलिये जैसे-जैसे अतिरिक्त मूल्य के स्वरूप की उनकी समझ बदलती जाती है, वैसे-वैसे उनकी उत्पादक मजदूर की परिभाषा में भी परिवर्तन होता जाता है। चुनांचे फ़िज़िओक्रेटों का कहना था कि केवल खेती का श्रम ही उत्पादक होता है, क्योंकि उनकी राय में केवल उसी श्रम से अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है। और उनकी यह राय इसलिये थी कि उनकी नजरों में लगान के सिवा अतिरिक्त मूल्य के अस्तित्व का कोई और रूप नहीं है।

काम के दिन को उस बिन्दु के आगे खींच ले जाना, जहां तक मजदूर केवल अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का सम-मूल्य ही पैदा कर पाता है, और पूंजी का इस अतिरिक्त श्रम पर अधिकार कर लेना – यह निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन है। इस प्रकार का उत्पादन पूंजीवादी व्यवस्था का सामान्य मूलाधार और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का प्रस्थान-बिंदु है। सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन यह मानकर चलता है कि काम का दिन पहले से ही दो भागों में – आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम में – बंटा हुआ है। अतिरिक्त श्रम को बढ़ाने के लिये आवश्यक श्रम को ऐसे तरीक़ों से छोटा कर दिया जाता है, जिनसे मजदूरी का सम-मूल्य पहले की अपेक्षा कम समय में तैयार हो जाता है। निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन मात्र काम के दिन की लम्बाई पर निर्भर करता है; सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन श्रम की प्राविधिक प्रक्रियाओं और समाज की बनावट में मूलभूत क्रान्ति पैदा कर देता

है। इसलिये, वह उत्पादन की एक विशिष्ट प्रणाली–पूंजीवादी प्रणाली–को पूर्वाधार मान लेता है; श्रम के औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन हो जाने के फलस्वरूप जो बुनियाद तैयार हुई थी, उसके आधार पर इस प्रणाली का, मय उसके तरीक़ों, साधनों और परिस्थितियों के, स्वयंस्फूर्त ढंग से जन्म और विकास हुआ है। इस विकास के दौरान में पूंजी के मातहत श्रम की औपचारिक अधीनता के स्थान पर वास्तविक अधीनता स्थापित हो जाती है।

यहां पर कुछ ऐसे अन्तर्कालीन रूपों की ओर संकेत भर कर देना काफ़ी होगा, जिनमें उत्पादक के साथ सीधे तौर पर जबर्दस्ती करके अतिरिक्त मूल्य हासिल नहीं किया जाता और जिनमें ख़ुद उत्पादक को भी अभी तक औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन नहीं बनाया जाता। ऐसे रूपों में श्रम-प्रक्रिया पर अभी पूंजी का प्रत्यक्ष नियंत्रण क़ायम नहीं होता है। पुराने परम्परागत ढंग से अपनी दस्तकारियों और खेती का संचालन करने वाले स्वतंत्र उत्पादकों के साथ-साथ सूदख़ोर महाजन या सौदागर भी, मय अपनी महाजनी पूंजी या सौदागरी पूंजी के, क़ायम रहता है और परजीवी की तरह स्वतंत्र उत्पादकों का रक्त चूसता है। जब किसी समाज में शोषण के इस रूप का प्रभुत्व होता है, तो फिर वहां उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली नहीं हो सकती। लेकिन यह रूप उस प्रणाली की ओर बढ़ने के लिये एक अन्तर्कालीन क़दम का काम कर सकता है, जैसा कि उसने मध्य युग के अन्तिम दिनों में किया था। अन्तिम बात यह है कि आधुनिक उद्योग की पृष्ठभूमि में जहां-तहां कुछ दरमियानी रूपों का पुनरुत्पादन मुमकिन है, हालांकि उनका रंग-रूप बिल्कुल बदल जाता है; मसलन आधुनिक "घरेलू उद्योग" से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यदि, एक ओर, निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के लिये श्रम का केवल औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन हो जाना काफ़ी होता है,–मिसाल के लिये, यदि उसके लिये केवल इतना ही काफ़ी होता है कि वे दस्तकार, जो पहले ख़ुद अपने वास्ते या किसी उस्ताद के शागिर्द की तरह काम किया करते थे, अब किसी पूंजीपति के प्रत्यक्ष नियंत्रण में मजदूरी लेकर काम करने वाले मजदूर बन जायें,–तो, दूसरी ओर, हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने के तरीक़े उसके साथ-साथ निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने के भी तरीक़े होते हैं। नहीं, बल्कि हमें यह भी पता चला था कि काम के दिन को हद से ज्यादा लम्बा खींचना आधुनिक उद्योग का एक ख़ास फल है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन की विशिष्ट पूंजीवादी प्रणाली जैसे ही उत्पादन की किसी एक पूरी शाखा पर अधिकार कर लेती है, वैसे ही वह केवल सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन नहीं रह जाती; और जब वह उत्पादन की सभी महत्वपूर्ण शाखाओं पर अधिकार कर लेती है, तब तो उसका यह रूप और भी कम रह जाता है। तब वह उत्पादन का सामान्य, सामाजिक दृष्टि से प्रधान रूप बन जाती है। सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य पैदा करने के एक ख़ास तरीक़े के रूप में वह केवल उसी हद तक कारगर साबित होती है, जिस हद तक कि वह उन उद्योगों पर अधिकार करती जाती है, जो पहले केवल औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन थे, यानी जिस हद तक कि वह अपने क्षेत्र का विस्तार करती हुई अपना प्रचार करती चलती है। दूसरे, इस रूप में वह केवल उस हद तक कारगर साबित होती है जिस हद तक उसके अधिकार में आये हुए उद्योगों में, उत्पादन के तरीक़ों में होने वाली तबदीलियों के फलस्वरूप, क्रान्तिकारी परिवर्तन होते जाते हैं।

एक दृष्टि से निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का भेद मिथ्या मालूम होता है। सापेक्ष

अतिरिक्त मूल्य भी निरपेक्ष होता है, क्योंकि उसके लिये काम के दिन को खुद मजदूर के अस्तित्व के लिये आवश्यक श्रम-काल के आगे निरपेक्ष ढंग से खींचना जरूरी होता है। निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य सापेक्ष होता है, क्योंकि उसके लिये श्रम की उत्पादकता का एक ऐसा विकास आवश्यक होता है, जो आवश्यक श्रम-काल को काम के दिन के एक भाग तक ही सीमित बना रहने दे। परन्तु यदि हम अतिरिक्त मूल्य के व्यवहार को ध्यान में रखें, तो यह दिखावटी एकरूपता ग़ायब हो जाती है। उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के एक बार क़ायम हो जाने और सामान्य बन जाने के बाद जब कभी अतिरिक्त मूल्य की दर को ऊपर उठाने का सवाल सामने आता है, तब निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का भेद हमेशा अपना ज़ोर दिखाता है। यह मान लेने के बाद कि श्रम-शक्ति की उजरत उसके मूल्य के अनुसार दी जाती है, हमारे सामने ये दो विकल्प आते हैं: एक यह कि यदि श्रम की उत्पादकता और उसकी सामान्य तीव्रता पहले से निश्चित हो, तो अतिरिक्त मूल्य की दर को ऊपर उठाने का केवल एक यही तरीक़ा है कि सचमुच काम के दिन को लम्बा खींचा जाये; और दूसरा यह कि यदि काम के दिन की लम्बाई पहले से निश्चित हो, तो अतिरिक्त मूल्य की दर को केवल काम के दिन के दो संघटक भागों की – अर्थात् आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम की – तुलनात्मक मात्राओं में परिवर्तन करके ही अधिक किया जा सकता है। यदि मजदूरी को श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे नहीं गिर जाना है, तो ऐसा परिवर्तन लाने के लिये या तो श्रम की उत्पादकता या उसकी तीव्रता में तबदीली करनी होगी।

यदि मजदूर को अपना सारा समय अपने तथा अपने बाल-बच्चों के जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधन पैदा करने में दे देना पड़े, तो दूसरों के वास्ते मुफ़्त में काम करने के लिये उसके पास कोई समय न बचेगा। जब तक उसके श्रम में एक ख़ास दर्जे की उत्पादकता नहीं होती, तब तक उसके पास ऐसा कोई फ़ालतू समय नहीं हो सकता; और जब तक उसके पास ऐसा फ़ालतू समय नहीं होता, तब तक वह कोई अतिरिक्त श्रम नहीं कर सकता और इसलिये तब तक न तो पूंजीपति हो सकते हैं, न गुलामों के मालिक और न ही सामन्ती प्रभु, – थोड़े में यों कहा जा सकता है कि फ़ालतू समय के अभाव में बड़े मालिकों का कोई भी वर्ग नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि अतिरिक्त मूल्य का एक प्राकृतिक आधार होता है। पर यह बात हम केवल इस अत्यन्त सामान्य अर्थ में ही कह सकते हैं कि जिस प्रकार यदि कोई आदमी दूसरे आदमी का मांस खाना चाहता है, तो कोई ऐसी प्राकृतिक बाधा उसके रास्ते में नहीं आती, जो उसके लिये अपनी इच्छा को पूरा करना असम्भव बना दे और जिसपर क़ाबू पाना उसके लिये नामुमकिन हो,[2] उसी प्रकार यदि कोई आदमी अपने जीवन-निर्वाह के लिये श्रम करने का बोझा अपने सिर से उतारकर किसी दूसरे आदमी के सिर पर लादना

---

[1] "एक विशिष्ट वर्ग के रूप में मालिक पूंजीपतियों का अस्तित्व ही उद्योग की उत्पादकता पर निर्भर करता है।" (Ramsay, उप० पु०, पृ० २०६।) "यदि हर आदमी का श्रम केवल उसका अपना भोजन तैयार करने के लिये ही पर्याप्त होता, तो किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का होना असम्भव था।" (Ravenstone, उप० पु०, पृ० १४, १५।)

[2] हाल में अनुमान लगाया गया है कि दुनिया के जिन हिस्सों की खोज हो चुकी है, उनमें कम से कम ४,००,००० आदमख़ोर रहते हैं।

चाहता है, तो उसके रास्ते में भी कोई ऐसी प्राकृतिक बाधा नहीं आ सकती, जो उसके लिये ऐसा करना सर्वथा असम्भव बना दे। श्रम की उत्पादकता का ऐतिहासिक ढंग से विकास हुआ है, और, जैसा कि कभी-कभी देखने में आता है, उसके साथ किन्हीं रहस्यवादी विचारों को हरगिज नहीं जोड़ना चाहिये। जब मनुष्य पशुओं के स्तर से ऊपर उठ जाते हैं और इसलिये जब उनके श्रम का कुछ हद तक समाजीकरण हो जाता है, केवल तभी ऐसी स्थिति पैदा होती है, जिसमें एक आदमी का अतिरिक्त श्रम दूसरे आदमी के अस्तित्व की शर्त बन जाता है। सभ्यता के उदय के काल में श्रम की उत्पादकता बहुत कम होती है, पर उसके साथ-साथ आवश्यकताएं भी कम होती हैं, वे तो उनको पूरा करने के साधनों के साथ-साथ और उनके द्वारा बढ़ती हैं। इसके अलावा, उस प्रारम्भिक काल में समाज का दूसरों के श्रम पर जीवित रहने वाला भाग प्रत्यक्ष उत्पादकों की विशाल संख्या के मुक़ाबले में बहुत ही छोटा था। श्रम की उत्पादकता में प्रगति होने के साथ-साथ समाज का यह छोटा सा भाग निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों दृष्टियों से बढ़ता जाता है।[1] इसके अतिरिक्त, पूंजी, मय उन सम्बंधों के, जो उसके साथ-साथ चलते हैं, एक ऐसी आर्थिक भूमि में जन्म लेती है, जो खुद विकास की एक लम्बी क्रिया का फल होती है। श्रम की उत्पादकता, जो पूंजी की नींव और उसके प्रस्थान-बिंदु का काम करती है, प्रकृति की नहीं, सदियों पुराने इतिहास की देन है।

सामाजिक उत्पादन के रूप के न्यूनाधिक विकास के अलावा श्रम की उत्पादकता भौतिक परिस्थितियों से भी सीमित होती है। ये सारी परिस्थितियां खुद मनुष्य की गठन से (नस्ल आदि से) और उसके इर्द-गिर्द के प्राकृतिक वातावरण से सम्बंध रखती हैं। बाहरी भौतिक परिस्थितियां दो बड़ी आर्थिक श्रेणियों में बंट जाती हैं: (१) जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में पायी जाने वाली प्राकृतिक सम्पदा, अर्थात् उपजाऊ धरती, मछलियों आदि से भरी हुई नदियां, सागर और तालाब आदि, और (२) श्रम के साधनों के रूप में पायी जाने वाली प्राकृतिक सम्पदा, जैसे जल-प्रपात, नावें ले जाने योग्य नदियां, जंगली लकड़ी, धातु, कोयला आदि। सभ्यता के उदय-काल में पहली श्रेणी पासा पलटती है, विकास की अधिक ऊंची अवस्था में दूसरी श्रेणी का निर्णायक महत्त्व होता है। मिसाल के लिये, इंगलैण्ड का हिन्दुस्तान के साथ मुक़ाबला कीजिये या प्राचीन काल के एथेंस और कोरिन्थ की काले सागर के किनारे के देशों से तुलना कीजिये।

तत्काल सन्तुष्टि की मांग करने वाली प्राकृतिक आवश्यकताओं की संख्या जितनी कम होती है और भूमि की स्वाभाविक उर्वरता जितनी ज्यादा तथा जलवायु जितना अधिक उपयुक्त होता है, उत्पादक के जीवन-निर्वाह तथा पुनरुत्पादन के लिये उतना ही कम श्रम-काल आवश्यक होता है। और इसलिये खुद अपने लिये वह जो श्रम करता है, उसके मुक़ाबले में वह दूसरों के लिये उतना ही अधिक श्रम कर सकता है। डियोडोरस ने बहुत दिन पहले प्राचीन मिस्र के निवासियों के सम्बंध में यह कहा था: "अपने बच्चों के लालन-पालन में उनको इतना कम

---

[1] "अमरीका के आदिवासियों में लगभग हर चीज मजदूर की होती है; सौ में से ९९ हिस्से मजदूर के हिसाब में जाते हैं। इंगलैण्ड में शायद $\frac{२}{३}$ भी मजदूर के हिस्से में नहीं पड़ता।" (*"The Advantages of the East India Trade, &c."* ['ईस्ट इण्डिया के व्यापार के लाभ, इत्यादि'], पृ० ७३।)

कष्ट उठाना पड़ता है और इस काम में उनका इतना कम खर्चा होता है कि विश्वास नहीं किया जा सकता। उनको जो भोजन सबसे ज्यादा आसानी से मिल जाता है, वे उसी को पकाकर अपने बच्चों के लिये तैयार कर देते हैं। साथ ही वे श्रीपत्र के तने का निचला हिस्सा, जहां तक वह आग में भूना जा सकता है, और दलदल में उगने वाले पौधों की जड़ें उबालकर तथा भूनकर बच्चों को खाने को दे देते हैं। अधिकतर बच्चे नंगे पैर और उघारे बदन घूमते हैं, क्योंकि यहां की वायु बड़ी शान्त-मन्द होती है। इसलिये, बच्चे के बड़े होने तक मां-बाप को उसके ऊपर कुल मिलाकर बीस दिरम से ज्यादा नहीं खर्च करने पड़ते। यही वह मुख्य कारण है, जिसके फलस्वरूप मिस्र की आबादी इतनी ज्यादा है और इसीलिये वहां निर्माण के इतने बड़े-बड़े कार्य किये जा सकते हैं।"[1] फिर भी प्राचीन मिस्र के विशाल निर्माण-कार्यों का मुख्य कारण उसकी बड़ी आबादी नहीं, बल्कि यह है कि इस आबादी का एक बड़ा हिस्सा किसी भी काम में लगाये जाने के लिये आसानी से उपलब्ध था। जिस तरह किसी एक मजदूर को जितना कम आवश्यक श्रम करना पड़ता है, वह उतना ही अधिक अतिरिक्त श्रम कर सकता है। उसी प्रकार किसी भी देश की काम करने वाली आबादी को भी जितना कम आवश्यक श्रम करना पड़ता है, वह उतना ही अधिक अतिरिक्त श्रम कर सकती है। जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के उत्पादन के लिये देश की आबादी के जितने ही छोटे भाग की जरूरत होती है, उसके उतने ही बड़े भाग को और कामों में लगाया जा सकता है।

... इसलिये, हम अब एक बार पूंजीवादी उत्पादन का अस्तित्व मान लेते हैं और अगर काम के दिन की लम्बाई पहले से मालूम हो तथा अन्य सब बातें ज्यों की त्यों रहें, तो अतिरिक्त श्रम की मात्रा श्रम की भौतिक परिस्थितियों के साथ-साथ और खास तौर पर भूमि की उर्वरता के साथ-साथ घटती-बढ़ती जायेगी। लेकिन इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि सबसे अधिक उपजाऊ भूमि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होती है। यह प्रणाली तो प्रकृति पर मनुष्य के आधिपत्य पर आधारित है। जहां प्रकृति बहुत मुक्तहस्त होती है, वहां तो वह "मनुष्य को सदा हाथ पकड़कर चलाती है, जैसे बच्चे को चलाया जाता है।" वहां मनुष्य को अपना विकास करने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।[2] पूंजी की मातृभूमि उष्ण कटिबंध नहीं, जहां वनस्पति का बाहुल्य होता है,

---

[1] Diodorus, उप० पु०, ग्रंथ १, अध्याय ८० (पृ० १२६)।

[2] "इनमें से पहला तत्व (अर्थात् प्राकृतिक सम्पदा) जितना अधिक श्रेष्ठ और हितकारी होता है, वह लोगों को उतना ही अधिक लापरवाह और घमण्डी बना देता है और उनमें ज्यादती करने की प्रवृत्ति पैदा कर देता है, जब कि दूसरा तत्व सतर्कता, साहित्य, कलाओं और नीति को जन्म देता है।" (*"England's Treasure by Foreign Trade. Or the Balance of our Foreign Trade is the Rule of our Treasure. Written by Thomas Mun of London, merchant, and now published for the common good by his son John Mun"* ['इंगलैण्ड को विदेशी व्यापार से मिलने वाला धन, अथवा हमारे विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ ही हमारे ख़जाने का मूल है। लन्दन-निवासी टोमस मुन, सौदागर, द्वारा लिखित और उसके पुत्र जान मुन द्वारा सब की भलाई के उद्देश्य से प्रकाशित'], London, 1669, पृ० १८१, १८२।) "किसी भी क़ौम के लिये मैं इससे बड़े और किसी अभिशाप की कल्पना नहीं कर सकता कि वह भूमि के किसी ऐसे टुकड़े

बल्कि समशीतोष्ण कटिबंध है। सामाजिक श्रम-विभाजन का भौतिक आधार केवल भूमि की उर्वरता से नहीं, बल्कि भूमि की विभिन्नता, प्राकृतिक पैदावार की विविधता और मौसमों की अदला-बदली से तैयार होता है। और ये ही चीजें प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन पैदा करके आदमी को अपनी आवश्यकताओं, अपनी क्षमताओं और श्रम करने के अपने साधनों और प्रणालियों को बढ़ाने के लिये अंकुश लगाती रहती हैं। किसी प्राकृतिक शक्ति को मनुष्य के हाथों के द्वारा समाज के नियंत्रण में लाने, उसका मितव्ययिता के साथ उपयोग करने, उसको हस्तगत करने या उसको बड़े पैमाने पर अपने आधीन बनाने की आवश्यकता ही उद्योग के इतिहास में पहले-पहल निर्णायक भूमिका अदा करती है। इसके उदाहरण हैं मिस्र,[1] लोम्बार्डी और हालैण्ड की सिंचाई की व्यवस्थाएं या हिन्दुस्तान और ईरान, जहां इनसान की बनायी हुई नहरों के द्वारा सिंचाई की ऐसी व्यवस्था की गयी है कि न केवल भूमि को उसके लिये नितान्त आवश्यक पानी मिल जाता है, बल्कि पहाड़ों से लायी हुई तलछट के रूप में उसको खनिज खाद भी प्राप्त हो जाती है। अरबों के राज्य में स्पेन और सिसिली में यदि उद्योग इतना फल-फूल रहा था, तो इसका रहस्य अरबों की सिंचाई की व्यवस्था में निहित था।[2]

---

पर फेंक दी जाये, जहां भरण-पोषण और भोजन की वस्तुओं का उत्पादन ज्यादा हद तक स्वयंस्फूर्त ढंग से होता हो और जहां का जलवायु ऐसा हो कि कपड़े पहनने और ओढ़ने की न तो आवश्यकता हो और न उनके बारे में कोई ख़ास चिन्ता ही जरूरी हो ... दूसरी दिशा में भी ज्यादती हो सकती है। जो धरती बहुत श्रम करने पर भी कुछ नहीं पैदा करती, वह भी बिना किसी श्रम के बहुत कुछ पैदा करने वाली धरती के समान ही ख़राब होती है।" "*An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions*" (['खाद्य-पदार्थों के मौजूदा ऊंचे दामों के कारणों की जांच'], London, 1767, पृ० १०।)

[1] नील नदी में पानी कब चढ़ेगा और कब उतरेगा, इसकी भविष्यवाणी करने की आवश्यकता से मिस्री ज्योतिष का जन्म हुआ, और उसके साथ-साथ वहां खेती के संचालकों के रूप में पुरोहितों का आधिपत्य क़ायम हो गया। "Le solstice est le moment de l'année où commence la crue du Nil, et celui que les Egyptiens ont dû observer avec le plus d'attention... C'était cette année tropique qu'il leur importait de marquer pour se diriger dans leurs opérations agricoles. Ils durent donc chercher dans le ciel un signe apparent de son retour." ["अयनान्त वह समय होता है, जब नील नदी में पानी चढ़ना शुरू होता है, और मिस्रवासी इस क्षण की सबसे अधिक ध्यानपूर्वक बाट जोहते थे . . . अपनी खेती की क्रियाओं को ठीक समय पर शुरू और ख़तम करने के लिए उनको इस सायन वर्ष का पंचांग बनाने की आवश्यकता थी। अतएव सायन वर्ष के फिर लौटने की स्पष्ट सूचना उनको आकाश में खोजनी पड़ी"] (Cuvier, "*Discours sur les révolutions du globe*", Hoefer का संस्करण, Paris, 1863, पृ० १४१)।

[2] हिन्दुस्तान के छोटे-छोटे, असम्बद्ध, उत्पादक संघटनों के ऊपर राज्य की सत्ता का एक भौतिक आधार सिंचाई की जल-पूर्ति का नियमन था। हिन्दुस्तान के मुसलमान शासक इस बात को अपने अंग्रेज उत्तराधिकारियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझते थे। इस सिलसिले में १८६६ के अकाल को याद कर लेना काफ़ी है, जिसमें बंगाल प्रेसीडेंसी के उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट में दस लाख से ज्यादा हिन्दुओं की जान चली गयी थी।

केवल उपयुक्त प्राकृतिक परिस्थितियों से अतिरिक्त श्रम और इसलिये अतिरिक्त मूल्य तथा अतिरिक्त पैदावार की सम्भावना भर पैदा होती थी, उनसे इनकी वास्तविकता कभी अस्तित्व में नहीं आती थीं। श्रम की प्राकृतिक परिस्थितियों में जो अन्तर होता है, उसका यह परिणाम होता है कि श्रम की एक ही मात्रा अलग-अलग देशों में अलग-अलग परिमाण में मानव-आवश्यकताओं को पूरा करती है,[1] और चुनांचे अन्य बातों के समान रहते हुए आवश्यक श्रम-काल की मात्रा हर स्थान में अलग होती है। ये परिस्थितियां अतिरिक्त श्रम पर केवल प्राकृतिक सीमाओं के रूप में प्रभाव डालती हैं, अर्थात् वे उन बिन्दुओं को निर्धारित कर देती हैं, जहां से दूसरों के लिये किया जाने वाला श्रम आरम्भ हो सकता है। उद्योग जितनी प्रगति करता जाता है, ये प्राकृतिक-सीमाएं उतनी ही पीछे हटती जाती हैं। पश्चिमी योरप के हमारे समाज में मजदूर खुद अपनी जीविका के लिये काम करने का अधिकार केवल अतिरिक्त श्रम के रूप में उसकी क़ीमत चुकाकर ही खरीदता है, और इसलिये यहां यह विचार बड़ी आसानी से जड़ जमा लेता है कि अतिरिक्त पैदावार पैदा करना मानव-श्रम का एक स्वाभाविक गुण है।[2] मगर, मिसाल के लिये, एशियाई द्वीप-समूह के पूर्वी द्वीपों के किसी निवासी को ले लीजिये, जहां साबूदाना जंगलों में खुदरौ पैदा होता है। "यहां के निवासी पहले पेड़ में सूराख करके यह निश्चित कर लेते हैं कि गूदा पक गया है या नहीं। फिर वे तने को काट डालते हैं और उसके कई टुकड़े बना लेते हैं। गूदा निकाला जाता है, पानी में मिलाया और छाना जाता है। तब वह साबूदाने के रूप में इस्तेमाल में आने के लिये एकदम तैयार हो जाता है। एक पेड़ से आम तौर पर ३०० पौण्ड साबूदाना तैयार होता है, कभी-कभी ५०० से ६०० पौण्ड तक निकल आता है। सो हमारे यहां लोग जिस तरह जंगलों में जाकर जलाने की लकड़ी काट लाते हैं,

---

[1] "दुनिया में कोई ऐसे दो देश नहीं हैं, जो जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की एक समान संख्या को समान बहुतायत के साथ मुहैया करते हों और जो इस काम में श्रम की समान मात्रा ख़र्च करते हों। मनुष्य जिस जलवायु में रहते हैं, उसकी कठोरता या समशीतोष्णता के साथ उनकी आवश्यकताएं भी बढ़ या घट जाती हैं। चुनांचे, अलग-अलग देशों के निवासियों को आवश्यकता से विवश होकर जितना व्यापार करना पड़ता है, उसका अनुपात हर देश में एक सा नहीं हो सकता, और हर देश के अनुपात में औरों से कितना अन्तर रहता है, इसका गरमी या ठण्ड की मात्रा को देखकर जिस हद तक पता लगाया जा सकता है, उससे ज्यादा सही तौर पर पता लगाने का कोई व्यावहारिक तरीक़ा नहीं है। और इससे यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोगों की एक निश्चित संख्या के लिये ठण्डे जलवायु के देशों में सबसे अधिक और गरम जलवायु के देशों में सबसे कम मात्रा में श्रम की आवश्यकता होती है। कारण कि ठण्डे जलवायु के देशों में न केवल मनुष्यों को ज्यादा कपड़ों की, बल्कि धरती को भी ज्यादा जुताई-बुवाई की जरूरत पड़ती है।" (*"An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest"* ['सूद की स्वाभाविक दर के निर्णायक कारणों पर एक निबंध'], *London, 1750,* पृ० ५९।) इस युगांतरकारी गुमनाम रचना के लेखक जे० मैस्सी हैं। ह्यूम ने अपना सूद का सिद्धान्त इसी पुस्तक से लिया है।

[2] प्रूधों ने कहा है: "Chaque travail doit laisser un excédant" ["श्रम को हमेशा कुछ न कुछ फ़ालतू पैदावार तैयार करनी चाहिये"] (लगता है, जैसे यह भी नागरिक के अधिकारों तथा कर्तव्यों में शामिल हो!)।

उसी तरह वहां के लोग जंगलों से अपने लिये रोटी काट लाते हैं।"[1] अब मान लीजिये कि पूर्वी द्वीप-समूह के रोटी काटकर लाने वाले इस मनुष्य को अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये प्रति सप्ताह १२ घण्टे काम करना पड़ता है। उसके लिये प्रकृति की प्रत्यक्ष देन अवकाश का बाहुल्य है। पर इस अवकाश का खुद अपने वास्ते भी वह केवल उसी वक़्त उत्पादक ढंग से उपयोग कर सकता है, जब ऐतिहासिक घटनाओं का एक पूरा क्रम पहले ही गुज़र गया हो, और किन्हीं दूसरे आदमियों के लिये वह यह अवकाश तभी खर्च करेगा, जब उसके साथ ज़बर्दस्ती की जायेगी। यदि पूंजीवादी उत्पादन चालू कर दिया जाये, तो इस भले आदमी को एक दिन के काम की पैदावार अपने वास्ते पाने के लिये हफ़्ते में शायद ६ दिन काम करना पड़ेगा। प्रकृति की उदारता इसका कोई कारण नहीं बता सकती कि तब इस आदमी को हफ़्ते में ६ दिन क्यों काम करना पड़ेगा या ५ दिन का अतिरिक्त श्रम क्यों किसी दूसरे को सौंप देना पड़ेगा। प्रकृति की उदारता तो केवल इतना ही स्पष्ट करती है कि क्यों उसका आवश्यक श्रम-काल सप्ताह में केवल एक दिन तक ही सीमित रहता है। परन्तु किसी भी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अतिरिक्त पैदावार मानव-श्रम में निहित किसी गुप्त गुण से उत्पन्न हुई है।

सो, इस तरह, न केवल ऐतिहासिक ढंग से विकसित श्रम की सामाजिक उत्पादकता, बल्कि उसकी स्वाभाविक उत्पादकता भी उस पूंजी की उत्पादकता प्रतीत होती है, जिसमें उस श्रम का समावेश हो गया है।

रिकार्डो को इसकी चिन्ता कभी नहीं हुई कि अतिरिक्त मूल्य का उद्भव-स्रोत क्या है। वह तो उसे एक ऐसी चीज़ समझते हैं, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली में निहित है, और उनकी दृष्टि में पूंजीवादी प्रणाली सामाजिक उत्पादन की स्वाभाविक प्रणाली है। वह जब कभी श्रम की उत्पादकता की चर्चा करते हैं, तो उसमें अतिरिक्त मूल्य के कारण की नहीं, बल्कि उसमें अतिरिक्त मूल्य का परिमाण निर्धारित करने वाले कारण की खोज करते हैं। दूसरी ओर, रिकार्डो के अनुयायियों ने खुले-आम यह घोषणा कर दी है कि मुनाफ़े का (यहां पढ़िये: अतिरिक्त मूल्य का) मूल कारण श्रम की उत्पादकता है। यह उन व्यापारवादियों के मुक़ाबले में तो हर हालत में एक प्रगतिशील विचार है, जो यह समझते थे कि पैदावार की लागत और पैदावार के दाम का अन्तर विनिमय-कार्य के दौरान में पैदा हो जाता है और उसका कारण यह है कि पैदावार की बिक्री के समय खरीदार से उसके मूल्य से अधिक वसूल कर लिया जाता है। और रिकार्डो के अनुयायी भी समस्या से कन्नी काट गये थे, उन्होंने उसे हल नहीं किया था। सच पूछिये, तो ये पूंजीवादी अर्थशास्त्री सहज ही यह समझ गये थे—और उनका यह समझना सही भी था—कि अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति के विकट प्रश्न को ज़्यादा कुरेदना बहुत ख़तरनाक है। लेकिन हम जान स्टुअर्ट मिल के बारे में क्या कहें, जो अपने काम के आधार पर दावा तो करते हैं व्यापारवादियों से बहुत श्रेष्ठ होने का, पर जैसे रिकार्डो की मृत्यु के आधी शताब्दी बाद भद्दे ढंग से केवल उन लोगों की गोलमोल बातों को दुहराया करते हैं, जिन्होंने सबसे पहले रिकार्डो के सिद्धान्तों को अति-सरल रूप में पेश करने की कोशिश में उनको विकृत करके पेश किया था?

---

[1] F. Schouw, "*Die Erde, die Pflanzen und der Mensch*" दूसरा संस्करण, Leipzig, 1854, पृ० १४८।

मिल ने लिखा है: "मुनाफ़े का कारण यह है कि श्रम के भरण-पोषण के लिये जितना जरूरी है, वह उससे अधिक पैदा कर देता है।" यहां तक तो वही पुराना राग है, पर मिल अपनी तरफ़ से भी कुछ जोड़ना चाहते हैं, सो वह आगे कहते हैं: "प्रमेय का रूप बदलकर हम यह कह सकते हैं कि पूंजी के मुनाफ़ा देने का कारण यह है कि भोजन, कपड़ा सामान और औजारों को तैयार करने में जितना समय लगता है, ये सब चीजें उससे ज्यादा समय तक काम में आती रहती हैं।" यहां मिल ने श्रम-काल की अवधि को उसकी पैदावार के इस्तेमाल की अवधि के साथ गड़बड़ा दिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, अगर एक रोटी पकाने वाले की पैदावार केवल एक दिन चलती है, तो वह अपने मजदूरों से मशीन बनाने वाले के बराबर मुनाफ़ा कभी हासिल नहीं कर सकता, जिसकी पैदावार २० वर्ष तक या उससे भी ज्यादा चल जाती है। जाहिर है, इतनी बात तो सच है ही कि पक्षियों को घोंसला बनाने में जितना समय लग जाता है, अगर घोंसला उतने से अधिक समय न टिक पाये, तो परिन्दे घोंसले बनाना बन्द कर दें।

इस मौलिक सत्य की एक बार स्थापना हो जाने के बाद मिल व्यापारवादियों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हैं। वह लिखते हैं; "इस प्रकार, हम देखते हैं कि मुनाफ़ा विनिमय की घटना से नहीं, बल्कि श्रम की उत्पादक शक्ति से उत्पन्न होता है; और किसी भी देश का सामान्य मुनाफ़ा, वहां विनिमय होता हो या नहीं, सदा श्रम की उत्पादक शक्ति से निर्धारित होता है। यदि धंधों का विभाजन न हो, तो खरीदना-बेचना भी नहीं होगा, मगर मुनाफ़ा फिर भी होगा।" इसलिये, मिल की दृष्टि में विनिमय, खरीदना और बेचना – पूंजीवादी उत्पादन की ये सामान्य परिस्थितियां – एक घटना मात्र हैं, और श्रम-शक्ति का क्रय-विक्रय न होने पर भी मुनाफ़ा जरूर होगा!

वह आगे लिखते हैं: "यदि देश के मजदूर मिलकर अपनी मजदूरी से बीस प्रतिशत ज्यादा पैदा कर देते हैं, तो चीजों के दाम कुछ भी हों या न हों, मुनाफ़ा बीस प्रतिशत का होगा।" यह एक ओर तो एक असाधारण ढंग की पुनरुक्ति है, क्योंकि अगर मजदूर पूंजीपति के लिये २० प्रतिशत का अतिरिक्त मूल्य पैदा कर देते हैं, तो जाहिर है कि मजदूरों की कुल मजदूरी के साथ उसके मुनाफ़े का २०:१०० का अनुपात होगा। दूसरी ओर, यह कहना बिलकुल ग़लत है कि "मुनाफ़ा बीस प्रतिशत का होगा"। मुनाफ़ा इससे हमेशा कम होगा, क्योंकि वह सदा पूंजी के कुल जोड़ पर निकाला जायेगा। मिसाल के लिये, अगर पूंजीपति ने ५०० पौण्ड की पूंजी लगायी है, जिसमें से ४०० पौण्ड उत्पादन के साधनों पर खर्च हुए हैं और १०० पौण्ड मजदूरी पर और यदि अतिरिक्त मूल्य की दर २० प्रतिशत है, तो मुनाफ़े की दर २०:५००, अर्थात् ४ प्रतिशत होगी, न कि २० प्रतिशत।

इसके बाद हमें इसकी एक बड़ी बढ़िया मिसाल देखने को मिलती है कि मिल सामाजिक उत्पादन के विभिन्न ऐतिहासिक रूपों के साथ कैसे पेश आते हैं। वह लिखते हैं: "मैं बराबर वह परिस्थिति मानकर चल रहा हूं, जो कुछ अपवादों को छोड़कर सारे संसार में पायी जाती है; जहां मजदूरों और पूंजीपतियों के दो अलग-अलग वर्ग होते हैं। यानी मैं बराबर यह मानकर चल रहा हूं कि मय मजदूर की उजरत के सारा खर्चा पूंजीपति करता है।" यह भी एक अजीब ढंग का दृष्टि-भ्रम है कि मिल को सारे संसार में वह स्थिति दिखाई देती है, जो अभी तक हमारी धरती के चन्द खास-खास स्थानों पर ही पायी जाती है। बहरहाल हम अपनी बात पूरी करें। मिल यह मानने को तैयार हैं कि "उसका ऐसा करना किसी नैसर्गिक आवश्यकता के

कारण जरूरी नहीं है।"* इसके विपरीत, "मजदूर चाहे, तो अपनी मजदूरी के उस सारे भाग के लिये, जो महज जीवन की आवश्यकताओं से अधिक होता है, उत्पादन पूरा होने तक ठहर सकता है। और यदि अस्थायी रूप से अपने भरण-पोषण के लिये काफ़ी पैसा उसके हाथ में हो तो वह पूरी मजदूरी के लिये भी ठहर सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में मजदूर व्यवसाय को चलाने के लिये आवश्यक पैसे का एक भाग अपने पास से देकर असल में इस हद तक खुद पूंजीपति की भूमिका अदा करने लगता है।" थोड़ा और आगे बढ़कर मिल यह भी कह सकते थे कि जो मजदूर न केवल अपनी जीवन की आवश्यकताओं को खुद पूरा कर लेता है, बल्कि उत्पादन के साधन भी मुहैया कर लेता है, वह असल में खुद अपना मजदूर होता है। और तब वह यह भी कह सकते थे कि अमरीका का खुदकाश्त करने वाला किसान महज कृषि-दास होता है, जो सामन्त के बजाय खुद अपने लिये बेगार करता है।

इस प्रकार, साफ़-साफ़ यह साबित करने के बाद कि अगर पूंजीवादी उत्पादन का अस्तित्व न हो, तो भी वह हमेशा क़ायम रहेगा, मिल बड़ी सुसंगतता का परिचय देते हुए इसके विपरीत यह भी प्रमाणित कर देते हैं कि जहां पर पूंजीवादी उत्पादन क़ायम है, वहां भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। "और पहली स्थिति में भी" (जहां पूंजीपति मजदूर को जीवन के लिये आवश्यक सभी वस्तुएं देता है) "उसको" (मजदूर को) "उसी रोशनी में देखा जा सकता है," अर्थात् उसको भी पूंजीपति समझा जा सकता है, "क्योंकि वह अपना श्रम बाजार-भाव से कम क़ीमत पर दे देता है (!) और इसलिये यह समझा जा सकता है कि उसके श्रम के बाजार-भाव तथा उसकी मजदूरी में जो अन्तर होता है, वह रक़म (?) मजदूर अपने मालिक को उधार दे देता है, जिसका उसे सूद मिल जाता है, इत्यादि।"[1] वास्तव में मजदूर एक हफ़्ते आदि तक अपना श्रम पूंजीपति को मुफ़्त में पेशगी देता रहता है, और हफ़्ते आदि के अन्त में उसे बाजार-भाव के अनुसार उसके दाम मिल जाते हैं। और यह चीज है, जो, मिल के कथनानुसार, मजदूर को पूंजीपति में बदल देती है! समतल मैदान में साधारण टीले भी पहाड़ियों जैसे मालूम होते हैं; और आजकल के क्षीण-बुद्धि पूंजीपति-वर्ग की दिमाग़ी समतलता उसके महान दिमाग़ों की ऊंचाई से नापी जा सकती है।

---

* २८ नवम्बर १८७८ के अपने पत्र में मार्क्स ने एन० एफ़० डेनियलसन (निकोलाई-ओन) को जो सुझाव दिया था, उसके आधार पर इस पैरे का "यह भी एक अजीब ढंग का दृष्टि-भ्रम" से लेकर "किसी नैसर्गिक आवश्यकता के कारण जरूरी नहीं है" तक का अंश इस तरह होना चाहिये: "मि० मिल यह मानने को तैयार हैं कि एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था में भी, जहां मजदूरों और पूंजीपतियों के दो अलग-अलग वर्ग हैं, पूंजीपति का यह करना सर्वथा जरूरी नहीं है।"—रूसी संस्करण में मार्क्सवाद-लेनिनवाद इंस्टीट्यूट का नोट।

[1] J. St. Mill, "*Principles of Pol. Econ.*" (जान स्टुअर्ट मिल, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'), London, 1868, पृ० २५२-२५३, विभिन्न स्थानों पर।

## सत्रहवां अध्याय

## श्रम-शक्ति के दाम में और अतिरिक्त मूल्य में होने वाले परिमाणात्मक परिवर्तन

श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन के लिये आवश्यक उन वस्तुओं के मूल्य से निर्धारित होता है, जिनकी औसत ढंग के मजदूर को आदतन जरूरत होती है। किसी भी खास समाज के एक खास युग में इन आवश्यक वस्तुओं की मात्रा पहले से मालूम होती है, और इसलिये उसे हम एक स्थिर मात्रा मान सकते हैं। परिवर्तन इस मात्रा के मूल्य में होता है। इसके अलावा, दो चीजें और हैं, जो श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करने में भाग लेती हैं। उनमें से एक है श्रम-शक्ति का विकास करने का खर्च, जो उत्पादन की प्रणाली के साथ बदलता रहता है। दूसरी चीज है श्रम-शक्ति की प्राकृतिक विविधरूपता, अर्थात् पुरुषों और स्त्रियों, बच्चों और वयस्कों के श्रम में पाया जाने वाला भेद। उत्पादन की प्रणाली यह जरूरी बना देती है कि विभिन्न प्रकार की श्रम-शक्तियों से काम लिया जाये, और अलग-अलग तरह की श्रम-शक्तियों से काम लेने पर मजदूर के परिवार के भरण-पोषण के खर्चे में और वयस्क पुरुष की श्रम-शक्ति के मूल्य में बहुत अन्तर पड़ जाता है। लेकिन नीचे जो विश्लेषण किया गया है, उसमें इन दोनों चीजों को अलग रखकर समस्या की छान-बीन की गयी है।[1]

मैं यह मानकर चलता हूं कि (१) माल अपने मूल्य पर बिकते हैं और (२) श्रम-शक्ति का दाम कभी-कभार उसके मूल्य के ऊपर तो उठ जाता है, पर उसके नीचे कभी नहीं गिरता।

हम यह देख चुके हैं कि इन दो बातों को मान लेने के बाद अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के दाम के सापेक्ष परिमाण तीन बातों से निर्धारित होते हैं: (१) काम के दिन की लम्बाई, या श्रम के विस्तार का परिमाण; (२) श्रम की सामान्य तीव्रता, या उसकी तीव्रता का परिमाण, जिसके फलस्वरूप एक निश्चित समय में श्रम की एक निश्चित मात्रा खर्च हो जाती है, और (३) श्रम की उत्पादकता, जिसके फलस्वरूप श्रम की एक निश्चित प्रमात्रा एक निश्चित समय में पैदावार की कम या अधिक प्रमात्रा पैदा कर सकती है, जो इस पर निर्भर करती है कि उत्पादन की परिस्थितियों का कितना विकास हो गया है। इन तीनों तत्वों में से एक तत्व स्थिर है और बाक़ी दो तत्व बदलते रहते हैं, या दो तत्व स्थिर हैं और एक बदलता रहता है और या तीनों एक साथ बदलते रहते हैं,—इसके अनुसार, जाहिर है, तीनों तत्वों के बहुत

---

[1] तीसरे जर्मन संस्करण का फ़ुटनोट: पृ० ३६०—३६३ पर जिस उदाहरण पर विचार किया गया था, उसको, जाहिर है, यहां छोड़ दिया गया है।— फ़े० एं०

भिन्न प्रकार के योग हो सकते हैं। और इस बात से इन योगों की संख्या और भी बढ़ जाती है कि जब ये तीनों तत्व एक साथ बदलते हैं, तब मुमकिन है कि उनके परिवर्तन की मात्रा और दिशा भिन्न-भिन्न हों। नीचे हमने इनमें से केवल महत्वपूर्ण योगों पर विचार किया है।

## १. काम के दिन की लम्बाई और श्रम की तीव्रता स्थिर रहती हैं, श्रम की उत्पादकता बदलती जाती है

जब हम यह मानकर चलते हैं, तब श्रम-शक्ति का मूल्य और अतिरिक्त मूल्य का परिमाण तीन नियमों के अनुसार निर्धारित होते हैं:

(१) श्रम की उत्पादकता और उसके साथ-साथ पैदावार की राशि और प्रत्येक अलग-अलग माल के दाम में चाहे जितने परिवर्तन होते रहें, एक खास लम्बाई का काम का दिन मूल्य की हमेशा एक ही मात्रा पैदा करता है।

मान लीजिये कि १२ घण्टे के काम के दिन में छः शिलिंग का मूल्य पैदा होता है, तो हालांकि पैदावार की राशि तो श्रम की उत्पादकता के साथ घटती-बढ़ती रहेगी, मगर उसका केवल यही नतीजा होगा कि छः शिलिंग जिस मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, वह वस्तुओं की पहले से कम या अधिक संख्या पर फैल जायेगा।

(२) अतिरिक्त-मूल्य और श्रम-शक्ति का मूल्य उल्टी दिशाओं में घटते-बढ़ते हैं। श्रम की उत्पादकता में जो परिवर्तन आता है, जो घटा-बढ़ी होती है, वह श्रम-शक्ति के मूल्य को उल्टी दिशा में और अतिरिक्त मूल्य को उसी दिशा में बदल देती है।

मान लीजिये कि १२ घण्टे के काम के दिन में छः शिलिंग का मूल्य पैदा होता है। यह एक स्थिर मात्रा है, जो अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य का जोड़ होती है, जिनमें से श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान मजदूर एक सम-मूल्य के द्वारा भर देता है। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि जब कोई स्थिर मात्रा दो हिस्सों के जुड़ने से तैयार होती है, तब उनमें से कोई हिस्सा उस वक़्त तक नहीं बढ़ सकता, जब तक कि दूसरा हिस्सा उतना ही घट न जाये। मान लीजिये, शुरू में दोनों हिस्से बराबर हैं: श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है और अतिरिक्त मूल्य भी ३ शिलिंग है। अब श्रम-शक्ति का मूल्य उस वक़्त तक तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य तीन शिलिंग से घटकर दो शिलिंग का नहीं रह जाता। और अतिरिक्त मूल्य तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से घटकर दो शिलिंग नहीं रह जाता। इसलिये, इन परिस्थितियों में अतिरिक्त मूल्य के या श्रम-शक्ति के मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ उनके सापेक्ष परिमाणों में भी, यानी एक दूसरे की तुलना में भी उनके परिमाणों में, परिवर्तन नहीं हो जाता। ये दोनों एक साथ न तो घट सकते हैं और न बढ़ सकते हैं।

इसके अलावा, श्रम-शक्ति का मूल्य उस वक़्त तक गिर नहीं सकता और नतीजे अतिरिक्त मूल्य उस वक़्त तक बढ़ नहीं सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादकता नहीं बढ़ जाती। ऊपर जो मिसाल हमने ली थी, उसमें श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से गिरकर दो शिलिंग उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादकता में इतनी वृद्धि न हो जाये, जिससे

४ घण्टे में जीवन के लिये आवश्यक उतनी ही वस्तुएं तैयार होने लगें, जितनी पहले ६ घण्टे में तैयार होती थीं। दूसरी ओर, श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग उस वक्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादकता में इतनी कमी नहीं आ जाती, जिससे पहले छः घण्टे में जीवन के लिये आवश्यक जितनी वस्तुएं तैयार हो जाया करती थीं, उनको तैयार करने में आठ घण्टे लगने लगें। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होती है, तब श्रम-शक्ति के मूल्य में गिराव आ जाता है और उसके फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य बढ़ जाता है; और, दूसरी ओर, जब श्रम की उत्पादकता कम हो जाती है, तब श्रम-शक्ति का मूल्य बढ़ जाता है और अतिरिक्त मूल्य में गिराव आ जाता है।

इस नियम की स्थापना करते हुए रिकार्डो एक बात को भूल गये थे। वह यह कि यद्यपि अतिरिक्त मूल्य अथवा अतिरिक्त श्रम के परिमाण में परिवर्तन होने से श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में अथवा आवश्यक श्रम की मात्रा में उल्टी दिशा में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज नहीं निकलता कि दोनों परिवर्तन एक अनुपात में होते हैं। उनमें एक ही मात्रा की घटा-बढ़ी होती है। परन्तु उनकी आनुपातिक वृद्धि या कमी इस बात पर निर्भर करती है कि श्रम की उत्पादकता में परिवर्तन होने के पहले उनके मूल परिमाण क्या थे। यदि श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग हो अथवा आवश्यक श्रम-काल ८ घण्टे का हो और अतिरिक्त मूल्य २ शिलिंग हो अथवा अतिरिक्त श्रम ४ घण्टे का हो, और अगर श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का मूल्य गिरकर ३ शिलिंग रह जाये या आवश्यक श्रम घटकर ६ घण्टे का हो जाये, तो अतिरिक्त मूल्य बढ़कर ३ शिलिंग का हो जायेगा, या यूं कहिये कि अतिरिक्त श्रम बढ़कर ६ घण्टे का हो जायेगा। परिवर्तन की मात्रा एक ही है। एक में १ शिलिंग या २ घण्टे की वृद्धि हो जाती है, दूसरे में उतनी ही कमी आ जाती है। पर हर अवस्था में परिमाण का आनुपातिक परिवर्तन भिन्न है। जहां श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग से गिरकर ३ शिलिंग हो जाता है, यानी उसमें जहां $\frac{१}{४}$ या २५ प्रतिशत की कमी आती है, वहां अतिरिक्त मूल्य २ शिलिंग से बढ़कर ३ शिलिंग हो जाता है, यानी उसमें $\frac{१}{२}$ या ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम की उत्पादकता में परिवर्तन होने पर अतिरिक्त मूल्य में जो आनुपातिक वृद्धि या कमी आती है, वह इस बात पर निर्भर करती है कि शुरू में काम के दिन का वह हिस्सा कितना बड़ा था, जिसने अतिरिक्त मूल्य में मूर्त रूप धारण किया है। यह हिस्सा जितना छोटा होता है, आनुपातिक परिवर्तन उतना ही बड़ा होता है; यह हिस्सा जितना बड़ा होता है, आनुपातिक परिवर्तन उतना ही छोटा होता है।

(३) अतिरिक्त मूल्य में जो वृद्धि या कमी आती है, वह सदा श्रम-शक्ति के मूल्य की तदनुरूप कमी या वृद्धि का परिणाम ही होती है, उसका कारण कभी नहीं होती।[1]

---

[1] इस तीसरे नियम में अन्य बातों के अलावा मैक्कुलक ने यह बेतुकी बात भी और जोड़ दी है कि पूंजीपति को जो कर देने होते हैं, यदि उनको मंसूख कर दिया जाये, तो श्रम-शक्ति के मूल्य में किसी गिराव के बिना भी अतिरिक्त मूल्य में वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार के करों को मंसूख कर देने से उस अतिरिक्त मूल्य की मात्रा में कोई भी परिवर्तन नहीं आता, जिसे पूंजीपति पहली ही बार में मजदूर से निकाल लेता है। उससे तो केवल वह अनुपात

काम का दिन चूंकि परिमाण में स्थिर है और उसका प्रतिनिधित्व स्थिर मात्रा का एक मूल्य करता है, चूंकि अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ श्रम-शक्ति के मूल्य में उल्टी दिशा में परिवर्तन हो जाता है, और चूंकि श्रम-शक्ति के मूल्य में केवल श्रम की उत्पादकता में परिवर्तन आने के फलस्वरूप ही कोई तबदीली हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिये इन सब बातों से साफ़-साफ़ यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसी हालत में अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में होने वाले उल्टी दिशा के परिवर्तन से उत्पन्न होता है। तब, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, यदि श्रम-शक्ति के मूल्य में और अतिरिक्त मूल्य में निरपेक्ष परिमाण का कोई परिवर्तन उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ उनके सापेक्ष परिमाणों में भी परिवर्तन नहीं हो जाता, तो इससे अब यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके सापेक्ष परिमाणों में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक कि उसके पहले श्रम-शक्ति के निरपेक्ष परिमाण में तबदीली नहीं हो जाती।

तीसरे नियम के अनुसार, अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में परिवर्तन होने के पहले यह ज़रूरी है कि श्रम-शक्ति के मूल्य में कुछ घटा-बढ़ी हो, जो घटा-बढ़ी श्रम की उत्पादकता में तबदीली आने के कारण होती है। अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में परिवर्तन की सीमा श्रम-शक्ति का बदला हुआ मूल्य तय करता है। परन्तु, इसके बावजूद, उस समय भी, जब परिस्थितियां इस नियम को अमल में आने की इजाज़त देती हैं, कुछ गौण घटा-बढ़ी भी हो सकती है। मिसाल के लिये, यदि श्रम की उत्पादकता के बढ़ जाने के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग से गिरकर ३ शिलिंग हो जाता है, या आवश्यक श्रम-काल ८ घण्टे से घटकर ६ घण्टे रह जाता है, तो सम्भव है कि श्रम-शक्ति का दाम ३ शिलिंग ८ पेंस, ३ शिलिंग ६ पेन्स या ३ शिलिंग २ पेन्स के नीचे न गिरे और चुनांचे अतिरिक्त मूल्य ३ शिलिंग ४ पेन्स, ३ शिलिंग ६ पेन्स या ३ शिलिंग १० पेन्स के ऊपर न बढ़ पाये। यह गिराव, जिसकी निम्नतम सीमा ३ शिलिंग (श्रम-शक्ति का नया मूल्य) है, असल में कितना होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि एक तरफ़ पूंजी के दबाव और दूसरी तरफ़ मजदूर के प्रतिरोध में किसका पलड़ा भारी रहता है।

श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के मूल्य से निर्धारित होता है। श्रम की उत्पादकता के साथ इन वस्तुओं का परिमाण नहीं, बल्कि उनका मूल्य बदलता है। लेकिन यह मुमकिन है कि उत्पादकता में वृद्धि हो जाने के कारण श्रम-शक्ति के दाम या अतिरिक्त मूल्य में कोई परिवर्तन हुए बिना ही मजदूर और पूंजीपति दोनों साथ-साथ जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा को हस्तगत करने में सफल हो जायें। यदि श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग हो और आवश्यक श्रम-काल ६ घण्टे का हो और

---

बदलता है, जिसके अनुसार इस अतिरिक्त मूल्य का पूंजीपति और अन्य व्यक्तियों के बीच बंटवारा होता है। फलतः इससे अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए मैक्कुलक ने जो अपवाद बताया है, उससे केवल यही प्रमाणित होता है कि उन्होंने नियम को ग़लत समझा है। रिकार्डो को अति-सरल रूप में पेश करने की कोशिश में मैक्कुलक पर अक्सर यह मुसीबत नाज़िल होती है: ठीक इसी प्रकार ऐडम स्मिथ को अति-सरल रूप में पेश करने की कोशिश में जे० बी० से अक्सर ऐडम स्मिथ के सिद्धान्तों का ग़लत मतलब लगा बैठते हैं।

इसी तरह यदि अतिरिक्त मूल्य भी ३ शिलिंग का हो और अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे का हो, तब यदि अतिरिक्त श्रम के साथ आवश्यक श्रम का अनुपात बदले बिना ही श्रम की उत्पादकता पहले से दुगुनी कर दी जाये, तो अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के दाम में कोई परिमाणात्मक परिवर्तन नहीं होगा। उसका केवल इतना ही फल होगा कि अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति का दाम, दोनों पहले से दुगुने उपयोग-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे, पर ये उपयोग-मूल्य पहले से दुगुने सस्ते हो जायेंगे। यद्यपि श्रम-शक्ति का दाम तो नहीं बदलेगा, तथापि वह अपने मूल्य से अधिक होगा। श्रम-शक्ति के नये मूल्य को देखते हुए उसके दाम की निम्नतम सीमा १ शिलिंग ६ पेन्स है। यदि उसका दाम इतना नीचे न गिरे, बल्कि २ शिलिंग १० पेन्स, या २ शिलिंग ६ पेन्स हो जाये, तब यह गिरा हुआ दाम भी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगा। इस तरह, श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के साथ-साथ यह भी मुमकिन है कि श्रम-शक्ति का दाम गिरता जाये और फिर भी, इस गिराव के साथ-साथ, मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों की राशि लगातार बढ़ती जाये। लेकिन ऐसा होने पर भी श्रम-शक्ति के मूल्य में जो गिराव आयेगा, उसके फलस्वरूप अतिरिक्त मूल्य में तदनुरूप वृद्धि हो जायेगी, और इस तरह मजदूर की स्थिति और पूंजीपति की स्थिति के बीच की खाई बराबर चौड़ी होती जायेगी।[1]

ऊपर हमने जिन तीन नियमों का जिक्र किया है, उनकी सबसे पहले रिकार्डो ने सम्यक रूप में स्थापना की थी। लेकिन वह नीचे दी गयी ग़लतियां कर गये: (१) ये नियम जिन विशेष परिस्थितियों में लागू होते हैं, उनको रिकार्डो पूंजीवादी उत्पादन की सामान्य एवं एकमात्र परिस्थितियां समझ बैठे हैं। उनके ख़याल में न तो काम के दिन की लम्बाई में कोई परिवर्तन हो सकता है और न श्रम की तीव्रता में; चुनांचे, उनकी दृष्टि में केवल एक ही तत्व है, जो बदल सकता है, – वह है श्रम की उत्पादकता। (२) दूसरी ग़लती यह है – और इस ग़लती ने उनके विश्लेषण को पहली ग़लती की अपेक्षा अधिक विकृत किया है – कि अन्य अर्थशास्त्रियों की तरह उन्होंने भी अतिरिक्त मूल्य पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया, अर्थात् अतिरिक्त मूल्य के मुनाफ़ा, लगान आदि जो कई विशिष्ट रूप होते हैं, उनसे अलग करके उन्होंने कभी अतिरिक्त मूल्य पर विचार नहीं किया। इसीलिये उन्होंने अतिरिक्त मूल्य की दर के नियमों को और मुनाफ़े की दर के नियमों को आपस में गड़बड़ कर दिया है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, मुनाफ़े की दर यह बताती है कि जो कुल पूंजी लगायी गयी है, उसके साथ अतिरिक्त मूल्य का क्या अनुपात है, उधर अतिरिक्त मूल्य की दर यह बताती है कि इस पूंजी के अस्थिर भाग के साथ अतिरिक्त मूल्य का क्या अनुपात है। मान लीजिये कि ५०० पौण्ड की एक पूंजी (पूं) में कच्चा माल, श्रम के औज़ार आदि (स्थि) के ४०० पौण्ड और मजदूरी (अस्थि) के १०० पौण्ड शामिल हैं, और, इसके अलावा, अतिरिक्त मूल्य (अ) १०० पौण्ड का होता है।

---

[1] "जब उद्योग की उत्पादकता में कोई परिवर्तन होता है और श्रम और पूंजी की एक निश्चित मात्रा से पहले की अपेक्षा कम या अधिक पैदावार होने लगती है, तब यह मुमकिन है कि मजदूरी के अनुपात में साफ़-साफ़ कोई परिवर्तन आ जाये, पर वह अनुपात जिस परिमाण का प्रतिनिधित्व करता है, वह ज्यों का त्यों रहे, या अनुपात ज्यों का त्यों रहे, पर मजदूरी की मात्रा में परिवर्तन आ जाये।" (*"Outlines of Political Economy, &c."* ['अर्थशास्त्र की रूपरेखा, आदि'], पृ० ६७।)

तब अतिरिक्त मूल्य की दर $\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}} = \frac{\text{१०० पौण्ड}}{\text{१०० पौण्ड}} = \text{१००}$ प्रतिशत। लेकिन मुनाफ़े की दर $\frac{\text{अ}}{\text{पूं}} = \frac{\text{१०० पौण्ड}}{\text{५०० पौण्ड}} = \text{२०}$ प्रतिशत। इसके अतिरिक्त यह बात भी स्पष्ट है कि मुनाफ़े की दर ऐसी बातों पर निर्भर कर सकती है, जिनका अतिरिक्त मूल्य की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मैं तीसरी पुस्तक में स्पष्ट करूंगा कि अतिरिक्त मूल्य की एक दर निश्चित होते हुए भी मुनाफ़े की अनेक दरें हो सकती हैं और कुछ ख़ास परिस्थितियों में मुनाफ़े की एक दर में अतिरिक्त मूल्य की विभिन्न दरें व्यक्त हो सकती हैं।

## २. काम का दिन स्थिर रहता है, श्रम की उत्पादकता स्थिर रहती है, श्रम की तीव्रता में परिवर्तन होता है

श्रम की बढ़ी हुई तीव्रता का अर्थ यह होता है कि एक निश्चित समय में पहले से अधिक श्रम ख़र्च हो जाता है। इसलिये, कम तीव्र श्रम का एक दिन जितनी पैदावार में निहित होता है, अधिक तीव्र श्रम का दिन उससे अधिक पैदावार में निहित होगा, बशर्ते कि काम के दिन की लम्बाई वही रहे। यह सच है कि अगर श्रम की उत्पादकता में वृद्धि हो जाये, तो भी एक निश्चित लम्बाई के काम के दिन में पहले से अधिक पैदावार तैयार होने लगती है। लेकिन इस सूरत में हर अलग-अलग पैदावार का मूल्य गिर जायेगा, क्योंकि अब उस में पहले से कम श्रम लगेगा। इसके विपरीत, पहली सूरत में, यह मूल्य ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि हर वस्तु में अब भी पहले जितना ही श्रम लगता है। यहां पैदावार की संख्या में तो वृद्धि हो जाती है, पर उसके साथ-साथ हर पैदावार के व्यक्तिगत दाम में कोई गिराव नहीं आता। पैदावार की संख्या के साथ-साथ उनके दामों का जोड़ भी बढ़ता जाता है। लेकिन उत्पादकता के बढ़ने पर एक निश्चित मूल्य पैदावार की पहले से अधिक राशि पर फैल जाता है। इसलिये, काम के दिन की लम्बाई यदि स्थिर रहे, तो पहले से बढ़ी हुई तीव्रता का एक दिन का श्रम पहले से अधिक मूल्य में निहित होगा और यदि मुद्रा का मूल्य ज्यों का त्यों रहता है, तो वह पहले से अधिक मुद्रा में निहित होगा। अब जो मूल्य पैदा होगा, वह पहले से कितना कम या कितना ज़्यादा होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि अब श्रम की तीव्रता समाज में पायी जानेवाली साधारण तीव्रता से कितनी कम या ज़्यादा हो गयी है। इसलिये, अब एक निश्चित लम्बाई का काम का दिन एक स्थिर मूल्य नहीं, बल्कि एक अस्थिर मूल्य पैदा करता है। साधारण तीव्रता के १२ घण्टे के दिन में, मान लीजिये, ६ शिलिंग का मूल्य पैदा होता है, लेकिन तीव्रता बढ़ जाने पर ७ शिलिंग, ८ शिलिंग या उससे भी अधिक मूल्य पैदा हो सकता है। यह बात साफ़ है कि अगर एक दिन के श्रम से तैयार होनेवाला मूल्य ६ शिलिंग से बढ़कर ८ शिलिंग हो जाता है, तो यह मूल्य जिन दो भागों में बंटा रहता है, यानी श्रम-शक्ति का दाम और अतिरिक्त-मूल्य, वे दोनों साथ-साथ और या तो समान मात्रा में, या असमान मात्रा में बढ़ सकते हैं। हो सकता है कि वे दोनों एक साथ ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग हो जायें। यहां श्रम-शक्ति के दाम में होनेवाली वृद्धि का लाज़िमी तौर पर यह मतलब नहीं होता कि श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से बढ़ गया है। इसके विपरीत, दाम के बढ़ने के साथ-साथ

मूल्य गिर सकता है। जहां कहीं श्रम-शक्ति के दाम में होने वाली वृद्धि से उसकी पहले से अधिक घिसाई की क्षति-पूर्ति नहीं होती, वहां सदा यही होता है।

हम जानते हैं कि कुछ अस्थिर अपवादों को छोड़कर श्रम की उत्पादकता में आने वाली किसी भी तबदीली से श्रम-शक्ति के मूल्य में और इसलिये अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं होता, जब तक कि इस तबदीली का जिन उद्योगों पर प्रभाव पड़ता है, उनमें वे वस्तुएं न तैयार होती हों, जिनको मज़दूर आदतन इस्तेमाल करते हैं। लेकिन हम जिस सूरत पर विचार कर रहे हैं, उसमें यह शर्त लागू नहीं होती। कारण कि जब परिवर्तन या तो श्रम की अवधि में होता है और या उसकी तीव्रता में, तब उस श्रम से पैदा होने वाले मूल्य के परिमाण में सदा तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है, जो उस वस्तु के स्वरूप से स्वतंत्र होता है, जिसमें यह मूल्य निहित है।

यदि श्रम की तीव्रता उद्योग की प्रत्येक शाखा में एक साथ और समान मात्रा में बढ़ जाये, तो नयी और पहले से बढ़ी हुई तीव्रता समाज की साधारण तीव्रता बन जायेगी, और तब उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जायेगा। परन्तु, फिर भी, ऐसा होने पर भी, अलग-अलग देशों में श्रम की तीव्रता अलग-अलग होगी और उससे अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में मूल्य का नियम जिस ढंग से व्यवहार में आता है, उसमें कुछ परिवर्तन हो जायेगा। एक देश का काम का दिन अधिक तीव्र श्रम का होगा, और मुद्रा की एक अपेक्षाकृत बड़ी रक़म उसका प्रतिनिधित्व करेगी। दूसरे देश का काम का दिन अपेक्षाकृत कम तीव्र श्रम का होगा, और मुद्रा की एक अपेक्षाकृत छोटी रक़म उसका प्रतिनिधित्व करेगी।[1]

## ३. श्रम की उत्पादकता और तीव्रता स्थिर रहती हैं, काम के दिन की लम्बाई बदलती रहती है

काम का दिन दो तरह से बदल सकता है। उसको पहले से अधिक लम्बा या पहले से छोटा कर दिया जा सकता है। इस वक़्त हमारे पास जो सामग्री मौजूद है, उसके आधार पर और पृ० ५८३-५८४ पर हमने जो बातें पहले से मान ली हैं, उनकी सीमाओं के भीतर रहते हुए नीचे लिखे नियम हमारे सामने आते हैं:

(१) काम के दिन की लम्बाई जितनी होती है, वह उसी के अनुपात में कम या ज़्यादा मात्रा में मूल्य पैदा करता है। इस प्रकार वह मूल्य की एक स्थिर मात्रा नहीं, बल्कि अस्थिर मात्रा पैदा करता है।

---

[1] "अन्य बातों के समान रहते हुए अंग्रेज़ कारख़ानेदार एक निश्चित समय में किसी भी विदेशी कारख़ानेदार के मुक़ाबले में ज़्यादा काम निकाल सकता है, जिससे यहां तक कि भिन्न-भिन्न प्रकार के काम के दिनों – जैसे इंगलैण्ड में ६० घण्टे और अन्य देशों में ७२ या ८० घण्टे प्रति सप्ताह – से पैदा होनेवाला अन्तर भी पूरा हो जाता है।" (*"Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct. 1855"*. ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८५५'], पृ० ६५।) इंगलैंड के काम के घण्टे और योरप के काम के घण्टे में जो यह गुणात्मक अन्तर पाया जाता है, उसे कम करने का सबसे अचूक तरीक़ा यह है कि एक क़ानून बनाकर योरप की फ़ैक्टरियों में काम के दिन की लम्बाई परिमाणात्मक ढंग से कम कर दी जाये।

(२) अतिरिक्त मूल्य के परिमाण और श्रम शक्ति के मूल्य के परिमाण के पारस्परिक सम्बंध में जो भी तबदीली आती है, वह अतिरिक्त श्रम के निरपेक्ष परिमाण में और इसलिये अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में परिवर्तन होने के फलस्वरूप आती है।

(३) श्रम-शक्ति की घिसाई पर अतिरिक्त श्रम को लम्बा खींचने की जो प्रतिक्रिया होती है, श्रम-शक्ति का निरपेक्ष मूल्य केवल उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही बदल सकता है। इसलिये श्रम-शक्ति के निरपेक्ष मूल्य में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन अतिरिक्त मूल्य के परिमाण में होने वाले परिवर्तन का कारण कभी न होकर सदा उसका परिणाम होता है।

हम सबसे पहले उस सूरत को लेते हैं, जब काम का दिन छोटा कर दिया जाता है।

(१) जब उपर्युक्त परिस्थितियों में काम का दिन छोटा किया जाता है, तो श्रम-शक्ति का मूल्य और उसके साथ-साथ आवश्यक श्रम-काल ज्यों के त्यों बने रहते हैं। पर अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्य कम हो जाते हैं। अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के साथ-साथ उसका सापेक्ष परिमाण भी कम हो जाता है, अर्थात् उसका परिमाण श्रम-शक्ति के मूल्य की तुलना में कम हो जाता है, जिसका परिमाण ज्यों का त्यों रहता है। इस स्थिति में पूंजीपति किसी भी तरह के नुक़सान से केवल इसी प्रकार बच सकता है कि श्रम-शक्ति के दाम को उसके मूल्य से भी कम कर दे।

काम के दिन को छोटा करने के विरुद्ध आम तौर पर जितनी दलीलें दी जाती हैं, उन सब में यह मान लिया जाता है कि काम का दिन उन परिस्थितियों में छोटा किया जाता है, जिनको हम यहां मानकर चल रहे हैं। वास्तव में इसका उल्टा होता है। श्रम की उत्पादकता और तीव्रता का परिवर्तन या तो काम के दिन के छोटा किये जाने के पहले या तुरन्त उसके बाद हो जाता है।[1]

(२) मान लीजिये कि काम के दिन को लम्बा कर दिया जाता है। फ़र्ज़ कीजिये कि आवश्यक श्रम-काल ६ घण्टे का है, या श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है। और मान लीजिये कि अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे का होता है, या अतिरिक्त मूल्य भी ३ शिलिंग का होता है। तब काम का पूरा दिन १२ घण्टे का होगा और वह ६ शिलिंग के मूल्य में निहित होगा। अब यदि काम के दिन को २ घण्टे और बढ़ा दिया जाये और श्रम-शक्ति का दाम ज्यों का त्यों रहे, तो अतिरिक्त मूल्य निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों दृष्टियों से बढ़ जायेगा। श्रम-शक्ति के मूल्य में यद्यपि कोई निरपेक्ष परिवर्तन नहीं होता, तथापि वह सापेक्ष दृष्टि से गिर जाता है। जिन परिस्थितियों को हम १ में मान कर चले थे, उनके अन्तर्गत श्रम-शक्ति के मूल्य के सापेक्ष परिमाण में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था, जब तक कि उसके निरपेक्ष परिमाण में भी परिवर्तन नहीं हो जाता। यहां पर, उसके विपरीत, श्रम-शक्ति के मूल्य के सापेक्ष परिमाण में होने वाला परिवर्तन अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के परिवर्तन का नतीजा होता है।

[1] "इसकी क्षति-पूर्ति करने वाली कुछ परिस्थितियां होती हैं... जिनपर Ten Hours' Act (दस घण्टे के क़ानून) के अमल में आने से कुछ प्रकाश पड़ा है।" ("*Rep. of Insp. of Fact. for 31st Oct. 1848*" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८४८'], पृ० ७।)

चूंकि वह मूल्य, जिसमें दिन भर का श्रम निहित होता है, दिन की लम्बाई के साथ-साथ बढ़ता जाता है, इसलिये यह बात स्पष्ट है कि अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति का दाम दोनों समान या असमान मात्राओं में एक साथ बढ़ सकते हैं। इसलिये, इन दोनों का साथ-साथ बढ़ना दो सूरतों में मुमकिन होता है: एक, उस वक़्त, जब काम के दिन को सचमुच लम्बा किया जाता है, और, दूसरे, उस वक़्त, जब श्रम की तीव्रता बढ़ जाती है, जिसके साथ-साथ काम के दिन की लम्बाई नहीं बढ़ायी जाती।

जब काम के दिन की लम्बाई बढ़ायी जाती है, तब श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य के भी नीचे गिर सकता है, हालांकि मुमकिन है कि यह दाम नामचारे के लिये ज्यों का त्यों रहे, या यहां तक कि कुछ बढ़ भी जाये। पाठक को याद होगा कि एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य का अनुमान इस आधार पर लगाया जाता है कि सामान्यतया उसकी औसत अवधि कितनी होती है, या मजदूर सामान्यतया कितने समय तक जिन्दा रहते हैं, और मनुष्य की प्रकृति के अनुसार संगठित शारीरिक पदार्थ सामान्यतया किस प्रकार गति में रूपान्तरित होता है।[1] काम के दिन के लम्बा कर दिये जाने पर श्रम-शक्ति की घिसाई अनिवार्य रूप से बढ़ जाती है, पर एक बिन्दु तक बढ़ी हुई मजदूरी देकर इसकी क्षति-पूर्ति की जा सकती है। लेकिन इस बिन्दु के आगे घिसाई गुणोत्तर श्रेढी के अनुसार बढ़ती जाती है और श्रम-शक्ति के सामान्य पुनरुत्पादन और उसके व्यवहार में आने के लिये जितनी परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, वे सब अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। तब श्रम-शक्ति का दाम और उसके शोषण की मात्रा सम्मेय राशियां नहीं रहतीं।

## ४. श्रम की अवधि, उत्पादकता और तीव्रता में एक साथ परिवर्तन होते हैं

यह बात स्पष्ट है कि इस स्थिति में कई प्रकार के योग सम्भव हैं। किन्हीं भी दो तत्वों में परिवर्तन हो सकते हैं और तीसरा तत्व स्थिर रह सकता है, या तीनों में एकबारगी परिवर्तन हो सकता है। वे तीनों एक ही या अलग-अलग मात्राओं में बदल सकते हैं; वे एक दिशा में या भिन्न-भिन्न दिशाओं में बदल सकते हैं, जिसका यह नतीजा हो सकता है कि तीनों तत्वों के परिवर्तन पूरी तरह या आंशिक रूप में एक दूसरे के असर को ख़तम कर दें। फिर भी १, २ और ३ में दिये गये निष्कर्षों के आधार पर प्रत्येक सम्भव दशा का विश्लेषण किया जा सकता है। बारी-बारी से एक-एक तत्व को अस्थिर और बाक़ी दो तत्वों को वक़्ती तौर पर स्थिर मानकर हर सम्भव योग के प्रभाव का पता लगाया जा सकता है। इसलिये यहां पर हम केवल दो महत्त्वपूर्ण उदाहरणों पर ही और वह भी बहुत संक्षेप में विचार करेंगे।

---

[1] "एक आदमी २४ घण्टे में कितना श्रम करता है, उसका कुछ मोटा सा अनुमान यह देखकर लगाया जा सकता है कि उसके शरीर में कौन-कौन से रासायनिक परिवर्तन हो गये हैं। पदार्थ के बदले हुए रूपों से यह मालूम हो जायेगा कि उनके पहले कितनी जीवन-शक्ति व्यवहार में आ चुकी है।" (Grove, "*On the Correlation of Physical Forces*" [ग्रोव, 'भौतिक शक्तियों के पारस्परिक सम्बंध के विषय में']।)

## (१) श्रम की उत्पादकता के घटने के साथ-साथ काम का दिन लम्बा होता जाता है

जब हम श्रम की उत्पादकता के घटने की बात करते हैं, तब हमारा मतलब यहां पर केवल उन उद्योगों से होता है, जिनकी पैदावार श्रम-शक्ति के मूल्य को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिये, श्रम की उत्पादकता में इस प्रकार की कमी भूमि की उर्वरता के घट जाने और उसके कारण भूमि की उपज के उतनी ही महंगी हो जाने के कारण आ सकती है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घण्टे का है और एक दिन में ६ शिलिंग का मूल्य तैयार होता है, जिसमें से आधा श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान भरता है और आधा अतिरिक्त मूल्य होता है। मान लीजिये कि भूमि की उपज की बढ़ी हुई महंगाई के कारण श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग और इसलिये आवश्यक श्रम ६ घण्टे से बढ़कर ८ घण्टे का हो जाता है। यदि काम के दिन की लम्बाई में कोई परिवर्तन न किया जाये, तो ऐसा होने पर अतिरिक्त श्रम ६ घण्टे से कम होकर ४ घण्टे का रह जायेगा और अतिरिक्त मूल्य ३ शिलिंग से घटकर २ शिलिंग हो जायेगा। यदि काम का दिन २ घण्टे बढ़ा दिया जाये, यानी १२ घण्टे से १४ घण्टे का कर दिया जाये, तो अतिरिक्त श्रम पहले की तरह ६ घण्टे का, और अतिरिक्त मूल्य ३ शिलिंग का ही बना रहेगा। लेकिन श्रम-शक्ति के मूल्य की तुलना में, जो कि आवश्यक श्रम-काल से नापा जाता है, अतिरिक्त मूल्य घट जायेगा। यदि काम का दिन ४ घण्टे बढ़ा दिया जाये, यानी १२ घण्टे से १६ घण्टे का कर दिया जाये, तो अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य के और अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम के आनुपातिक परिमाण ज्यों के त्यों बने रहेंगे, मगर अतिरिक्त मूल्य का निरपेक्ष परिमाण ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग और अतिरिक्त श्रम का निरपेक्ष परिमाण ६ घण्टे से बढ़कर ८ घण्टे हो जायेगा, जो कि ३३$\frac{१}{३}$ प्रतिशत की वृद्धि होती है। इसलिये, जब श्रम की उत्पादकता घट जाती है और साथ ही काम का दिन लम्बा कर दिया जाता है, तो मुमकिन है कि अतिरिक्त मूल्य का निरपेक्ष परिमाण ज्यों का त्यों रहे, और साथ ही उसका सापेक्ष परिमाण घट जाये; या उसका सापेक्ष परिमाण ज्यों का त्यों बना रहे, पर साथ ही उसका निरपेक्ष परिमाण बढ़ जाये; और या अगर काम के दिन की लम्बाई में बहुत काफ़ी वृद्धि कर दी जाती है, तो यह भी मुमकिन है कि अतिरिक्त मूल्य का सापेक्ष परिमाण और निरपेक्ष परिमाण दोनों बढ़ जायें।

१७९९ और १८१५ के बीच के काल में इंगलैण्ड में खाने-पीने की वस्तुओं के दाम बढ़ जाने के कारण मजदूरी में नाममात्र की बढ़ती हो गयी थी, हालांकि जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के रूप में असल मजदूरी में कमी आ गयी थी। इस तथ्य से वेस्ट और रिकार्डो दोनों ने यह निष्कर्ष निकाला कि खेतिहर श्रम की उत्पादकता घट जाने के कारण अतिरिक्त मूल्य की दर में गिराव आ गया है। इस तथ्य का केवल उनकी कल्पना में ही अस्तित्व था, परन्तु उन्होंने उसे मजदूरी, मुनाफ़ों और लगान के सापेक्ष परिमाणों की अपनी छान-बीन का प्रस्थान-बिंदु बना डाला। मगर वास्तव में उस काल में श्रम की तीव्रता बढ़ जाने और काम का दिन लम्बा कर दिये जाने के कारण अतिरिक्त मूल्य का सापेक्ष परिमाण और निरपेक्ष परिमाण दोनों बढ़ गये थे। यह वह काल था, जब श्रम के घण्टों को बर्बरता की हद तक बढ़ा देने का अधिकार स्वीकार किया

गया था[1] और जिसकी ख़ास विशेषता यह थी कि यहां पर अगर पूंजी का बड़ी तेजी के साथ संचय हो रहा था, तो वहां पर कंगाली बढ़ रही थी।[2]

---

[1] "अनाज और श्रम बहुत कम साथ-साथ चलते हैं, लेकिन एक स्पष्ट सीमा है, जिसके बाद उनको अलग नहीं किया जा सकता। जहां तक श्रमजीवी वर्गों की उस असाधारण मेहनत का ताल्लुक़ है, जो वे महंगाई के दिनों में करते हैं और जिससे मजदूरी में वह गिराव आ जाता है, जिसकी ओर गवाहियों में (यानी १८१४-१५ की संसदीय जांच-समिति के सामने दी गयी गवाहियों में) ध्यान आकर्षित किया गया है, जिन व्यक्तियों ने वह मेहनत की, वे प्रशंसा के पात्र हैं और उससे निश्चय ही पूंजी के विकास में सहायता मिली है। लेकिन जिस मनुष्य में थोड़ी भी मानवता है, वह यह नहीं चाहेगा कि यह असाधारण मेहनत कभी रुके नहीं और लगातार चलती ही रहे। अस्थायी सहायता के रूप में यह एक बड़ी उत्तम चीज है, परन्तु यदि वह लगातार चलती जाती है, तो उसके उसी तरह के नतीजे होंगे, जैसे किसी देश की आबादी के चरम सीमा तक पहुंचने और ख़ुराक की कमी के कारण होते हैं।" (Malthus, "*Inquiry into the Nature and Progress of Rent*" [माल्थूस, 'लगान के स्वरूप तथा प्रगति की समीक्षा'], London, 1815, पृ० ४८, नोट।) माल्थूस सम्मान के पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने श्रम के घण्टों के बढ़ाये जाने पर ज़ोर दिया है। अपनी पुस्तिका में अन्यत्र भी उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जब कि रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने तो अत्यन्त स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए भी काम के दिन की लम्बाई की अपरिवर्तनशीलता को अपनी तमाम छान-बीन का मूलाधार बनाया है। परन्तु माल्थूस जिन दक़ियानूसी हितों की सेवा करते थे, उन्होंने उनको यह नहीं देखने दिया कि काम के दिन की लम्बाई को मनमाने ढंग से बढ़ाते जाने का, मशीनों के असाधारण विकास और स्त्रियों और बच्चों के शोषण के साथ मिलकर, लाज़िमी तौर पर यह नतीजा होगा कि मजदूर-वर्ग का एक बड़ा भाग "फ़ालतू" बन जायेगा, और ख़ास तौर पर जब कभी युद्ध बन्द हो जायेगा तथा दुनिया की मण्डियों पर इंगलैण्ड का एकाधिकार ख़तम हो जायेगा, तब तो यह बात और भी ज़ोरों के साथ होगी। ज़ाहिर है, माल्थूस जिन शासक वर्गों की पुजारी की तरह पूजा करते थे, यह बात उनके लिये अधिक सुविधाजनक और उनके हितों के अधिक अनुकूल थी कि पूंजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक नियमों की छान-बीन करने की अपेक्षा इस "जनाधिक्य" को प्रकृति के शाश्वत नियमों के आधार पर ही अनिवार्य सिद्ध करके मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया जाये।

[2] "युद्ध के दौरान में पूंजी के बढ़ने का एक प्रधान कारण यह था कि श्रमजीवी वर्गों को, जिनकी संख्या प्रत्येक समाज में सबसे अधिक रहती है, इस काल में पहले से ज्यादा मेहनत करनी पड़ी और शायद पहले से ज्यादा तकलीफ़ें भी उठानी पड़ीं। परिस्थितियों से मजबूर होकर पहले से अधिक संख्या में स्त्रियों और बच्चों को सख़्त मेहनत के काम करने पड़े, और इसी कारण पहले से काम करने वाले मजदूरों को अपने समय का पहले से बड़ा भाग उत्पादन बढ़ाने में लगाना पड़ा।" ("*Essays on Pol. Econ., in which are illustrated the Principal Causes of the Present National Distress*" ['अर्थशास्त्र पर निबंध, जिसमें वर्तमान राष्ट्रीय विपत्ति के प्रधान कारणों का निदर्शन किया गया है'], London, 1830, पृ० २४८।)

## (२) श्रम की तीव्रता और उत्पादकता बढ़ती जाती है और साथ ही काम का दिन छोटा होता जाता है

बढ़ी हुई उत्पादकता और श्रम की पहले से अधिक तीव्रता दोनों का एक सा असर होता है। उन दोनों से एक निश्चित समय में पैदा होने वाली वस्तुओं की राशि में वृद्धि हो जाती है। इसलिये, दोनों ही काम के दिन के उस भाग को छोटा कर देती हैं, जिसकी मजदूर को अपने जीवन-निर्वाह के साधन, या उनका सम-मूल्य, पैदा करने के लिये आवश्यकता होती है। काम के दिन के इस आवश्यक, किन्तु संकोचनशील भाग से काम के दिन की अल्पतम लम्बाई निर्धारित होती है। यदि काम का पूरा दिन सिकुड़कर बस इस भाग की लम्बाई जितना ही रह जाये, तो अतिरिक्त श्रम ग़ायब हो जायेगा,—ऐसा समापन पूंजी के राज्य में बिलकुल असम्भव है। केवल उत्पादन के पूंजीवाद रूप को नष्ट करके ही काम के दिन की लम्बाई को घटाकर आवश्यक श्रम-काल के बराबर लाया जा सकता है। लेकिन ऐसा होने पर भी, आवश्यक श्रम-काल अपनी सीमाओं से आगे बढ़ जायेगा। वह इसलिये कि एक ओर तो "जीवन-निर्वाह के साधनों" की अवधारणा में बहुत सी नयी वस्तुएं शामिल हो जायेंगी और मजदूर पहले से बिल्कुल भिन्न जीवन-स्तर की मांग करने लगेगा। दूसरी ओर, इसलिये कि आजकल जो कुछ अतिरिक्त श्रम है, उसका एक हिस्सा आवश्यक श्रम में गिना जाने लगेगा। यहां मेरा मतलब उस श्रम से है, जो आरक्षित एवं संचित निधि का संग्रह करने के लिये किया जाता है।

श्रम की उत्पादकता जितनी बढ़ जाती है, काम का दिन उतना ही छोटा हो जाता है, और काम का दिन जितना छोटा हो जाता है, श्रम की तीव्रता उतनी ही अधिक बढ़ सकती है। सामाजिक दृष्टिकोण से, उत्पादकता उसी अनुपात में बढ़ती है, जिस अनुपात में श्रम के ख़र्च में मितव्ययिता बरती जाती है। श्रम के ख़र्च में मितव्ययिता बरतने का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि उत्पादन के साधनों का उपयोग करने में मितव्ययिता बरती जाये, बल्कि यह भी कि हर प्रकार के अनुपयोगी श्रम से बचा जाये। जहां, एक तरफ़, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली हर अलग-अलग व्यवसाय में मितव्ययिता बरतना ज़रूरी बना देती है, वहां, दूसरी तरफ़, उसकी प्रतियोगिता की अराजकतापूर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का तथा उत्पादन के साधनों का हद से ज्यादा अपव्यय होता है और, इसके अलावा, पूंजीवादी उत्पादन बहुत से ऐसे धंधे पैदा कर देता है, जो इस समय भले ही नितान्त आवश्यक प्रतीत होते हों, पर ख़ुद अपने में अनावश्यक होते हैं।

यदि श्रम की तीव्रता और उत्पादकता पहले से निश्चित हों, तो समाज के सभी समर्थ सदस्यों के बीच जैसे-जैसे काम का विभाजन अधिकाधिक समतुलित रूप में किया जाता है और जैसे-जैसे किसी ख़ास वर्ग से श्रम का प्राकृतिक बोझा अपने कंधों से हटाकर समाज के किसी अन्य स्तर के कंधों पर डाल देने की क्षमता छीन ली जाती है, वैसे-वैसे समाज को भौतिक उत्पादन में अधिकाधिक कम समय लगाना पड़ता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति के स्वतंत्र, बौद्धिक एवं सामाजिक विकास के लिये उतना ही अधिक समय मिलने लगता है। इस दिशा में काम के दिन को अधिकाधिक छोटा करते जाने की क्रिया पर आख़िर एक सीमा का प्रतिबंध लग ही जाता है। वह है श्रम के सामान्यकरण की सीमा। पूंजीवादी समाज में जनता के सम्पूर्ण जीवन को श्रम-काल में बदलकर एक वर्ग के लिये अवकाश प्राप्त किया जाता है।

## अठारहवां अध्याय

# अतिरिक्त मूल्य की दर के विभिन्न सूत्र

हम यह देख चुके हैं कि अतिरिक्त मूल्य की दर को निम्नलिखित सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

$$१)\ \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{अस्थिर पूंजी}}\left(\frac{\text{अ}}{\text{अस्थि}}\right)=\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{श्रम-शक्ति का मूल्य}}=\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$$

इन सूत्रों में से पहले दो में उसी चीज को मूल्यों के अनुपात के रूप में व्यक्त किया गया है, जिसे तीसरे सूत्र में इन मूल्यों के उत्पादन में जितना समय लगा है, उसके अनुपात के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक दूसरे के लिये अनुपूरक का काम करने वाले ये तीनों सूत्र अत्यन्त निश्चित ढंग के नपे-तुले सूत्र हैं। इसलिये हम यह पाते हैं कि प्रामाणिक अर्थशास्त्र में इन सूत्रों का सचेतन ढंग से तो नहीं, किन्तु सार-रूप में प्रतिपादन किया गया है। वहां हमें इनसे व्युत्पन्न निम्नलिखित सूत्र मिलते हैं:

$$२)\ \frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{काम का दिन}}=\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{पैदावार का मूल्य}}=\frac{\text{अतिरिक्त पैदावार}}{\text{कुल पैदावार}}$$

यहां एक ही अनुपात तीन तरह व्यक्त किया गया है: श्रम-कालों के अनुपात की तरह; ये श्रम-काल जिन मूल्यों में निहित हैं, उन मूल्यों के अनुपात की तरह; और ये मूल्य जिन पैदावारों में निहित हैं, उन पैदावारों के अनुपात की तरह। जाहिर है, यहां यह मानकर चला जाता है कि "पैदावार का मूल्य" केवल वह मूल्य है, जो काम के दिन के दौरान में नया-नया पैदा हुआ है, और पैदावार के मूल्य के स्थिर भाग को इससे अलग रखा जाता है।

इन (२ के) तमाम सूत्रों में श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा, अथवा अतिरिक्त मूल्य की दर, ग़लत ढंग से व्यक्त की गयी है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घण्टे का है। तब पिछले उदाहरणों में हम जितनी बातों को मानकर चले थे, उन सब को फिर मानकर चलते हुए श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा निम्नलिखित अनुपातों में व्यक्त होगी:

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{६ घण्टे का आवश्यक श्रम}}=\frac{\text{३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य}}{\text{३ शिलिंग की अस्थिर पूंजी}}=\text{१०० प्रतिशत}$$

लेकिन २ के सूत्रों से बहुत भिन्न निष्कर्ष निकलता है:

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{१२ घण्टे का काम का दिन}}=\frac{\text{३ शिलिंग का अतिरिक्त मूल्य}}{\text{६ शिलिंग के बराबर उत्पादित मूल्य}}=\text{५० प्रतिशत}$$

ये व्युत्पन्न सूत्र असल में केवल उस अनुपात को व्यक्त करते हैं, जिसके अनुसार काम का दिन या उसके दौरान उत्पादित मूल्य पूंजीपति और मजदूर के बीच बंट जाता है। यदि इन सूत्रों को पूंजी के आत्म-विस्तार की मात्रा की प्रत्यक्ष अभिव्यंजनाएं समझा जाये, तो यह ग़लत नियम लागू हो जायेगा कि अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्य १०० प्रतिशत तक पहुंच सकता है।[1] चूंकि अतिरिक्त श्रम काम के दिन का एक अशेषभाजक मात्र होता है, या चूंकि अतिरिक्त मूल्य उत्पादित मूल्य का एक अशेषभाजक मात्र होता है, इसलिये यह अनिवार्य है कि अतिरिक्त श्रम सदा काम के दिन से कम होगा, या यूं कहिये कि अतिरिक्त मूल्य सदा कुल उत्पादित मूल्य से कम होगा। किन्तु १००:१०० के अनुपात पर पहुंचने के लिये दोनों को बराबर होना पड़ेगा। और यदि अतिरिक्त श्रम को पूरा दिन (अर्थात् किसी भी सप्ताह या वर्ष का एक औसत दिन) हड़प कर लेना है, तो आवश्यक श्रम को शून्य हो जाना पड़ेगा। परन्तु यदि आवश्यक श्रम नहीं रहेगा, तो अतिरिक्त श्रम भी ग़ायब हो जायेगा, क्योंकि वह आवश्यक श्रम का ही एक भित है। इसलिये अनुपात $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{काम का दिन}}$ या $\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{उत्पादित मूल्य}}$ कभी $\frac{100}{100}$ की सीमा तक नहीं पहुंच सकता, और उसका $\frac{100+\text{क}}{100}$ तक पहुंचना तो और भी कठिन है। परन्तु

[1] मिसाल के लिये, देखिये „*Dritter Brief an v. Kirchmann von Rodbertus. Widerlegung der Ricardo' schen Lehre von der Grundrente und Begründung einer neuen Rententheorie*", Berlin, 1851। मैं इस पत्र का बाद में ज़िक्र करूंगा। इसका लगान का सिद्धान्त तो ग़लत है, पर उसके बावजूद पत्र का लेखक पूंजीवादी उत्पादन के स्वरूप को समझने में सफल हुआ है। [तीसरे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट: इससे यह भी देखा जा सकता है कि जब कभी मार्क्स को अपने पूर्वजों में वास्तविक प्रगति या नये और सही विचारों की थोड़ी सी भी झलक दिखाई देती थी, तो वह उनके बारे में कितनी अच्छी राय व्यक्त करते थे। बाद को रुड० मेयर के नाम रोड्बर्टस के पत्रों के प्रकाशित होने पर ज्ञात हुआ कि मार्क्स ने रोड्बर्टस की ऊपर जो प्रशंसा की है, उसमें कुछ काट-छांट करनी होगी। इन पत्रों का एक अंश इस प्रकार है: "पूंजी को न केवल श्रम से, बल्कि ख़ुद अपने आप से भी बचाना होगा, और इसका सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि औद्योगिक पूंजीपति की कार्रवाइयों को कुछ ऐसी आर्थिक तथा राजनीतिक ज़िम्मेदारियां समझा जाये, जो उसको पूंजी के साथ-साथ सौंप दी गयी हैं, और उसके मुनाफ़े को एक तरह की तनख़ाह समझा जाये, क्योंकि अभी तक हम किसी और सामाजिक संगठन से परिचित नहीं हैं। लेकिन तनख़ाहों का नियमन किया जा सकता है, और यदि उनके कारण मज़दूरी में बहुत ज़्यादा कमी हो जाती है, तो उनमें कटौती भी की जा सकती है। समाज पर मार्क्स की चढ़ाई – उनकी पुस्तक को यह नाम दिया जा सकता है – से बचना ही पड़ेगा ... कुल मिलाकर मार्क्स की पुस्तक में पूंजी का इतना विवेचन नहीं, जितना पूंजी के वर्तमान रूप पर हमला किया गया है। इस रूप को उन्होंने स्वयं पूंजी की अवधारणा के साथ गड्ड-मड्ड कर दिया है।" ("*Briefe, &c., von Dr. Rodbertus-Jagetzow, herausgg. von Dr. Rud. Meyer*", Berlin, 1881, खण्ड १, पृ० १११, रोड्बर्टस का ४८ वां पत्र।) अपने "सामाजिक पत्रों" में रोड्बर्टस ने जो साहसी प्रहार किये थे, वे सिकुड़ते-सिकुड़ते अन्त में इस तरह की पिटी-पिटायी बातें बनकर रह गये थे। – फ़्रे०एं०]

अतिरिक्त मूल्य की दर के लिये, जो श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा को अभिव्यक्त करती है, यह बात सच नहीं है। मिसाल के लिये, ए० दे लाबोर्दे के अनुमान पर विचार कीजिये, जिसके अनुसार अंग्रेज खेतिहर मजदूर को पैदावार का[1] या उसके मूल्य का केवल $\frac{१}{४}$ भाग मिलता है, जब कि कृषि-पूंजीपति उसका $\frac{३}{४}$ भाग ले लेता है। लूट का यह माल बाद को पूंजीपति, जमींदार और अन्य लोगों के बीच किस तरह बांटा जाता है, वह एक अलग सवाल है। एल० दे लावेर्गने के अनुमान के अनुसार अंग्रेज खेतिहर मजदूर के अतिरिक्त श्रम का उसके आवश्यक श्रम के साथ ३:१ का अनुपात रहता है, जिसका मतलब यह होता है कि उसके शोषण की दर ३०० प्रतिशत है।

काम के दिन को परिमाण में स्थिर मानने का यह मन-पसन्द तरीक़ा २ के सूत्रों के उपयोग के द्वारा एक जमी हुई रूढ़ि बन गया है, क्योंकि इन सूत्रों में अतिरिक्त श्रम की एक निश्चित लम्बाई के काम के दिन से सदा तुलना की जाती है। जब केवल उत्पादित मूल्य के पुनर्विभाजन की ओर ही ध्यान दिया जाता है, तब भी यही होता है। काम का जो दिन पहले ही एक निश्चित मूल्य में मूर्त हो चुका है, वह अनिवार्य रूप से एक निश्चित लम्बाई का ही दिन होगा।

अतिरिक्त मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य को उत्पादित मूल्य के अंशों के रूप में पेश करने की आदत खुद उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से उत्पन्न हुई है, और उसका महत्व बाद को स्पष्ट होगा। यह आदत खास उस सौदे पर पर्दा डाल देती है, जो पूंजी का विशिष्ट लक्षण होता है, अर्थात् यह आदत जीवित श्रम-शक्ति के साथ अस्थिर पूंजी के विनिमय पर और उसके फलस्वरूप मजदूर को पैदावार से वंचित कर देने की क्रिया पर पर्दा डाल देती है। वास्तविक सम्बंध की जगह पर हम इस सम्बंध का केवल एक दिखावटी और झूठा रूप देखने लगते हैं, जिसमें मजदूर और पूंजीपति पैदावार के निर्माण में जो अलग-अलग तत्व देते हैं, उनके अनुपात में वे पैदावार को आपस में बांट लेते हैं।[2]

इसके अलावा, २ के सूत्रों को किसी भी समय पुनः १ के सूत्रों में बदला जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि हमारे पास यह अनुपात है:

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{१२ घण्टे का काम का दिन}}$$

---

[1] पैदावार का जो भाग केवल स्थिर पूंजी की स्थान-पूर्ति करता है, उसे, बेशक, इस हिसाब से अलग रखा गया है। मि० एल० दे लावेर्गने इंगलैण्ड के अंध-प्रशंसक थे। उनमें पूंजीपति के हिस्से को बहुत ज्यादा नहीं, बल्कि बहुत कम आंकने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

[2] पूंजीवादी उत्पादन के सभी सुविकसित रूप चूंकि सहकारिता के रूप होते हैं, इसलिए, जाहिर है, इससे अधिक आसान और कोई चीज नहीं है कि उनको उनके विरोधी स्वरूप से अलग कर दिया जाये और मानो मंत्र पढ़कर उनको स्वतंत्र सहयोग के किसी रूप में बदल दिया जाये, जैसा कि ए० दे लाबोर्दे ने अपनी पुस्तक *"De L'Esprit d'Association dans tous les intérêts de la communauté"* (Paris, 1818) में किया है। अमरीकी लेखक एच० केरी तो गुलामी से पैदा होने वाले सम्बंधों के साथ भी कभी-कभी यह बाजीगरी का हाथ इसी कामयाबी के साथ दिखा देते हैं।

और आवश्यक श्रम-काल १२ घण्टे में से अतिरिक्त श्रम के ६ घण्टे घटाने से मालूम हो जाता है, तो हम नीचे लिखे परिणाम पर पहुंचते हैं:

$$\frac{\text{६ घण्टे का अतिरिक्त श्रम}}{\text{६ घण्टे का आवश्यक श्रम}} = \frac{१००}{१००}$$

एक तीसरा सूत्र भी है, जिसका मैं जहां-तहां पहले ही जिक्र कर चुका हूं। वह यह है:

$$३)\ \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{श्रम-शक्ति का मूल्य}} = \frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}} = \frac{\text{अवेतन श्रम}}{\text{सवेतन श्रम}}$$

ऊपर हम जो विश्लेषण कर चुके हैं, उसके बाद इसकी कोई सम्भावना नहीं होनी चाहिये कि हम $\frac{\text{अवेतन श्रम}}{\text{सवेतन श्रम}}$ से गुमराह होकर यह समझ बैठें कि पूंजीपति श्रम-शक्ति की नहीं, बल्कि श्रम की क़ीमत चुकाता है। यह सूत्र $\frac{\text{अतिरिक्त श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$ का ही एक लोकगम्य रूप है। जिस हद तक दाम मूल्य के बराबर होता है, उस हद तक पूंजीपति श्रम-शक्ति का मूल्य चुकाता है, और बदले में उसे स्वयं जीवित श्रम-शक्ति से अपनी इच्छानुसार काम लेने का अधिकार मिल जाता है। फलोपभोग का यह अधिकार दो कालों पर फैला होता है। एक काल में मजदूर वह मूल्य पैदा करता है, जो केवल उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर होता है, यानी वह उसका सम-मूल्य पैदा करता है। पूंजीपति ने श्रम-शक्ति का जो दाम पेशगी दिया था, उसके एवज में इस काल में उसे उसी दाम की पैदावार मिल जाती है। यह उसी तरह की बात है जैसे उसने बनी-बनायी तैयार पैदावार बाजार में खरीद ली हो। दूसरे काल में, जो अतिरिक्त श्रम का काल होता है, श्रम-शक्ति के फलोपभोग का अधिकार पूंजीपति के लिये एक ऐसा मूल्य पैदा कर देता है, जिसके एवज में उसे कोई सम-मूल्य नहीं देना पड़ता है।[1] इस काल में होने वाला श्रम-शक्ति का व्यय उसे मुफ़्त में मिल जाता है। अतिरिक्त श्रम को इसी अर्थ में अवेतन श्रम कहा जा सकता है।

इसलिये केवल श्रम कराने का अधिकार ही पूंजी नहीं है, जैसा कि ऐडम स्मिथ समझते हैं। मूलतया, अवेतन श्रम कराने का अधिकार पूंजी है। हर प्रकार का अतिरिक्त मूल्य, वह स्फटिकीकरण के बाद चाहे जो रूप (मुनाफ़ा, सूद या लगान) धारण कर ले, वास्तव में अवेतन श्रम का मूर्त रूप होता है। इस प्रकार एक निश्चित मात्रा में दूसरों के अवेतन श्रम पर पूंजी के अधिकार में उसके आत्म-विस्तार का रहस्य निहित है।

---

[1] यद्यपि फ़िज़िओक्रेट अतिरिक्त मूल्य के रहस्य में नहीं पैठ सके थे, तथापि इतनी बात उनके दिमाग़ में साफ़ थी कि अतिरिक्त मूल्य „une richesse indépendante et disponible qu'il n'a point achetée et qu'il vend" ["एक ऐसा स्वतंत्र और क्रय-योग्य धन है, जिसे उसके मालिक ने ख़रीदा नहीं है, पर जिसे वह बेचता है"]। (Turgot, "*Réflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses*", पृ० ११।)

भाग ६

# मज़दूरी

## उन्नीसवां अध्याय

## श्रम-शक्ति के मूल्य (और क्रमशः दाम) का मजदूरी में रूपान्तरण

पूंजीवादी समाज को सतही नजर से देखिये, तो मजदूर की मजदूरी उसके श्रम का दाम प्रतीत होती है; लगता है जैसे श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज में मुद्रा की एक निश्चित मात्रा दे दी जाती है। इसीलिये लोग आम तौर पर श्रम के मूल्य की बात करते हैं और मुद्रा के रूप में इस मूल्य की अभिव्यंजना को उसका आवश्यक अथवा स्वाभाविक दाम कहते हैं। दूसरी ओर, वे श्रम के बाजार-भाव का, अर्थात् दामों का भी जिक्र करते हैं, जो श्रम के स्वाभाविक दाम के ऊपर-नीचे चढ़ते-उतरते रहते हैं।

लेकिन माल का मूल्य क्या होता है? उसके उत्पादन में खर्च होने वाले सामाजिक श्रम का वस्तुगत रूप। और इस मूल्य की मात्रा को हम नापते कैसे हैं? उसमें निहित श्रम की मात्रा के द्वारा। तब, मिसाल के लिये, १२ घण्टे के काम के दिन का मूल्य कैसे तै होगा? १२ घण्टे के काम के दिन में निहित १२ काम के घण्टों से। पर यह तो बिल्कुल बेतुकी पुनरुक्ति है।[1]

---

[1] "मि० रिकार्डो, काफ़ी चतुराई का परिचय देते हुए, उस कठिनाई से बच जाते हैं, जो पहली दृष्टि में लगता था कि उनके सिद्धान्त के लिये एक रोड़ा बन जायेगी, – वह यह कि मूल्य उस श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है, जो उत्पादन में लगा है। यदि इस सिद्धान्त को दृढ़ता के साथ माना जाये, तो हम इस नतीजे पर पहुंच जाते हैं कि श्रम का मूल्य श्रम की उस मात्रा पर निर्भर करेगा, जो उसको पैदा करने में लगा है, जो कि, जाहिर है, एक बेतुकी बात है। इसलिये, हाथ की एक अच्छी सफ़ाई दिखाते हुए, मि० रिकार्डो श्रम के मूल्य को मजदूरी के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा पर निर्भर बना देते हैं; या, यदि स्वयं उनकी भाषा का प्रयोग किया जाये, तो वह यह कहते हैं कि श्रम के मूल्य का अनुमान लगाने के लिये यह देखना होगा कि मजदूरी पैदा करने के लिये श्रम की कितनी मात्रा चाहिये, जिससे उनका मतलब यह है कि मजदूर को जो मुद्रा या जो माल दिये जाते हैं, उनको पैदा करने के लिये कितने श्रम की आवश्यकता है। यह तो उसी तरह की बात है, जैसे कोई यह कहे कि कपड़े का मूल्य उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से नहीं, बल्कि जिस चांदी के साथ कपड़े का विनिमय होता है, उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है।" (*"A Critical Dissertation on the Nature, &c., of Value"* ['मूल्य के स्वरूप आदि के विषय में एक आलोचनात्मक प्रबंध'], पृ० ५०, ५१।)

माल के रूप में मण्डी में बिकने के वास्ते श्रम के लिये यह हर हालत में जरूरी है कि बिकने के पहले उसका सचमुच अस्तित्व हो। परन्तु यदि मजदूर खुद श्रम को एक स्वतंत्र वस्तुगत अस्तित्व दे सकता, तो वह श्रम न बेचकर माल बेचता।[1]

इन असंगतियों के अलावा, यदि जीवित श्रम के साथ मुद्रा का – अर्थात् भौतिक रूप प्राप्त श्रम का – प्रत्यक्ष विनिमय किया जायेगा, तो वह या तो मूल्य के नियम को नष्ट कर देगा, जिसका पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर स्वतंत्र विकास आरम्भ ही होता है, और या वह स्वयं पूंजीवादी उत्पादन को खतम कर देगा, जो कि प्रत्यक्ष रूप में मजदूरी लेकर किये जाने वाले श्रम पर टिका हुआ है। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि १२ घण्टे का काम का दिन ६ शिलिंग के मुद्रा-मूल्य में निहित हुआ है। अब या तो सम-मूल्यों का विनिमय होता है, और उस दशा में मजदूर को १२ घण्टे के श्रम के एवज में ६ शिलिंग मिल जाते हैं। इस स्थिति में उसके श्रम का दाम उसकी पैदावार के दाम के बराबर होगा। और इस सूरत में वह अपने श्रम के खरीदार के वास्ते जरा भी अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा कर पायेगा और ६ शिलिंग की वह रक़म पूंजी में रूपान्तरित नहीं होगी। यानी पूंजीवादी उत्पादन का आधार ही ग़ायब हो जायेगा। परन्तु मजदूर तो इसी आधार पर अपना श्रम बेचता है, और इसी आधार पर उसका श्रम मजदूरी का श्रम है। और या उसे १२ घण्टे के श्रम के एवज में ६ शिलिंग से कम, अर्थात् १२ घण्टे के श्रम से कम मिलता है। यानी बारह घण्टे के श्रम का १० घण्टे के श्रम के साथ, ६ घंण्टे के श्रम के साथ या उससे भी कम श्रम के साथ विनिमय किया जाता है। असमान मात्राओं का यह समानीकरण केवल मूल्य के निर्धारण का ही अन्त नहीं कर देता। ऐसी आत्मविनाशी असंगति का तो किसी नियम के रूप में प्रतिपादन या स्थापना भी नहीं की जा सकती।[2]

यह कहने से कोई लाभ न होगा कि अधिक श्रम का कम श्रम के साथ इसलिये विनिमय होता है कि दोनों के रूप में अन्तर है और उनमें से एक मूर्त रूप प्राप्त और दूसरा जीवन्त श्रम है।[3]

---

[1] "यदि आप श्रम को माल मानते हैं, तो उसमें माल की तरह यह बात नहीं होती कि विनिमय करने के पहले उसको पैदा करना जरूरी हो और फिर उसे मण्डी में लाया जाये, जहां उसका अन्य मालों के साथ, उस समय वे माल जिस-जिस मात्रा में मण्डी में मौजूद हों, उसके अनुपात में उसका विनिमय किया जाये। श्रम तो उसी क्षण पैदा होता है, जिस क्षण वह मण्डी में लाया जाता है; नहीं, बल्कि श्रम को तो पैदा करने के पहले ही मण्डी में ले आते हैं।" (*"Observations on Certain Verbal Disputes, etc."* ['कुछ शाब्दिक विवादों पर टिप्पणियां, आदि'], पृ० ७५, ७६।)

[2] "श्रम को एक प्रकार का माल और श्रम की उपज पूंजी को एक अन्य प्रकार का माल मानते हुए यदि इन दोनों मालों के मूल्यों का श्रम की समान मात्राओं के द्वारा नियमन होता हो, तो श्रम की एक निश्चित मात्रा का... पूंजी की उस मात्रा के साथ विनिमय होगा, जिसके उत्पादन में भी श्रम की यही मात्रा लगी है। जो श्रम पहले हो चुका है.., उसका समान मात्रा के वर्तमान श्रम से विनिमय होगा। लेकिन अन्य मालों के सम्बंध में श्रम का मूल्य... श्रम की समान मात्राओं के द्वारा निर्धारित नहीं होता।" (ई० जी० वेकफ़ील्ड, ऐडम स्मिथ के *„Wealth of Nations"* ['राष्ट्रों का धन'] के अपने संस्करण में, खण्ड १, London, 1836, पृ० २३१, नोट।)

[3] "Il a fallu convenir que toutes les fois qu'il échangerait du travail fait contre du travail à faire, le dernier (le capitaliste) aurait une valeur supérieure

यह बात इसलिए और भी बेतुकी है कि किसी भी माल का मूल्य उस श्रम की मात्रा से नहीं निर्धारित होता, जिसने सचमुच उसमें मूर्त रूप धारण किया है, बल्कि वह उस जीवन्त श्रम की मात्रा के द्वारा निर्धारित होता है, जो इस माल के उत्पादन के लिये आवश्यक होता है। मान लीजिये कि कोई माल काम के ६ घण्टों का प्रतिनिधित्व करता है। यदि कोई ऐसा आविष्कार हो जाये, जिससे वह ३ घण्टे में तैयार होने लगे, तो जो माल पहले तैयार हो चुका है, उसका मूल्य भी पहले का आधा रह जायेगा। यह माल पहले ६ घण्टे के आवश्यक माने जाने वाले सामाजिक श्रम की जगह अब ३ घण्टे का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी माल के मूल्य की मात्रा उसके उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा से, न कि उस श्रम के मूर्त रूप से निर्धारित होती है।

मण्डी में मुद्रा के मालिक का जिससे सीधे तौर पर सामना होता है, वह असल में श्रम नहीं, बल्कि मजदूर होता है। मजदूर जो चीज बेचता है, वह उसकी श्रम-शक्ति होती है। जैसे ही उसका श्रम सचमुच आरम्भ होता है, वैसे ही वह मजदूर की सम्पत्ति नहीं रह जाता और इसलिये तब मजदूर उसे नहीं बेच सकता। श्रम मूल्य का सार और उसकी अन्तर्भूत माप होता है, पर खुद उसका कोई मूल्य नहीं होता।[1]

जब हम "श्रम का मूल्य" शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब मूल्य का भाव न केवल पूरी तरह खतम हो जाता है, बल्कि वास्तव में उलट दिया जाता है। ये शब्द पृथ्वी के मूल्य की चर्चा करने के समान काल्पनिक हैं। किन्तु इस प्रकार की काल्पनिक अभिव्यंजनाएं स्वयं उत्पादन के सम्बंधों से उत्पन्न होती हैं। ये परिकल्पनाएं मौलिक सम्बंधों के इन्द्रियगम्य रूपों के लिये हैं। अर्थशास्त्र के सिवा प्रत्येक विज्ञान में यह बात काफ़ी सुविदित है कि अपने दिखावटी रूप में चीजें अक्सर उल्टी नजर आती हैं।[2]

---

au premier (le travailleur)" ["सब को यह मानना पड़ा है" (यह एक नये ढंग का „contrat social" ["सामाजिक क़रार"] है!) "कि जहां कहीं कार्यान्वित श्रम का ऐसे श्रम के साथ विनिमय किया जाता है, जो भविष्य में किया जाने वाला है, वहां पहला (पूंजीपति) दूसरे (मजदूर) से अधिक मूल्य प्राप्त करेगा"]। (Simonde de Sismondi, "*De la Richesse Commerciale*", Genève, 1803, ग्रंथ १, पृ० ३७।)

[1] "मूल्य का एकमात्र मापदण्ड – श्रम ... हर प्रकार के धन का जनक होता है, वह माल नहीं होता।" (Th. Hodgskin, "*Popul. Polit. Econ.*" [टोमस होजस्किन, 'सरल अर्थशास्त्र'], पृ० १८६।)

[2] दूसरी ओर, इस प्रकार के शब्दों को केवल कवियोचित अनियमितता बताना महज अपने विश्लेषण के निकम्मेपन को साबित करना है। इसीलिये जब प्रूधों ने यह लिखा कि „Le travail est dit valoir, non pas en tant que marchandise lui-même, mais en vue des valeurs qu'on suppose renfermées puissanciellement en lui. La valeur du travail est une expression figurée" ("हम जो यह कहते हैं कि श्रम का मूल्य होता है, वह इसलिये नहीं कि श्रम ख़ुद बिक्री की चीज होता है, बल्कि हम यह उन मूल्यों का ख़याल करके कहते हैं, जो सम्भावित रूप में श्रम में निहित समझे जाते हैं। श्रम का मूल्य एक लाक्षणिक अभिव्यक्ति है"), इत्यादि, – तो मैंने जवाब में यह कहा था कि „Dans le travail-marchandise qui est d'une réalité effrayante, il (Proudhon) ne voit qu'une ellipse grammati-

प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने "श्रम का दाम" नामक परिकल्पना रोजमर्रा के जीवन से, बिना इसकी आगे छान-बीन किये, आंखें बन्द करके उधार ले ली और फिर बस यह प्रश्न कर डाला कि यह दाम किस तरह निर्धारित होता है। शीघ्र ही उसने यह स्वीकार कर लिया कि मांग और पूर्ति के सम्बंधों में जो परिवर्तन आते रहते हैं, उनसे अन्य तमाम मालों की तरह श्रम के दाम के विषय में भी उसकी तबदीलियों – यानी एक निश्चित मध्यमान के ऊपर-नीचे बाजार-भाव के उतार-चढ़ावों – के सिवा और कुछ नहीं मालूम होता। यदि मांग और पूर्ति का सन्तुलन हो जाता है और अन्य बातें सब ज्यों की त्यों रहती हैं, तो दामों का उतार-चढ़ाव बन्द हो जाता है। परन्तु तब मांग और पूर्ति से भी कोई चीज समझ में नहीं आती। जब मांग और पूर्ति संतुलन की अवस्था में होती हैं, उस समय निर्धारित होने वाला दाम श्रम का स्वाभाविक दाम होता है, जो मांग और पूर्ति के सम्बंध से स्वतंत्र रूप में निर्धारित होता है। और यह दाम किस तरह निर्धारित होता है – यही तो सवाल है। या जब एक अधिक लम्बे काल के – जैसे एक वर्ष के –

---

cale. Donc, toute la société actuelle, fondée sur le travail-marchandise, est désormais fondée sur une license poétique, sur une expression figurée. La société veut-elle 'éliminer tous les inconvénients; qui la travaillent, eh bien! qu'elle élimine les termes malsonnant, qu'elle change de langage, et pour cela elle n'a qu'á s'adresser à l'Académie pour lui demander une nouvelle édition de son dictionnaire" ["बिक्री की चीज के रूप में श्रम एक भयानक वास्तविकता है; परन्तु उन्हें (प्रूधों को) उसमें कहने के एक संक्षिप्त ढंग के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता। इसलिये उनके अनुसार हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि आजकल के इस पूरे समाज को, जो बिक्री की चीज के रूप में श्रम पर आधारित है, आगे से कवियोचित अनियमितता पर, एक अलंकारिक शब्दावली पर आधारित समझना चाहिये। समाज जितनी असुविधाओं से पीड़ित है, यदि वह उन सब से छुटकारा पाना चाहता है, तो, ठीक है, उसे तमाम कर्कश शब्दों से छुटकारा पा लेना चाहिये और कहने के ढंग को बदल देना चाहिये। इस सबके लिये उसे सिर्फ़ इतना ही करना है कि अकादमी को एक आवेदन-पत्र भेजकर उससे अपने शब्दकोष का एक नया संस्करण प्रकाशित करने का अनुरोध करे"] (Karl Marx, "*Misère de la Philosophie*" [कार्ल मार्क्स, 'दर्शन की दरिद्रता'], पृ० ३४, ३५)। जाहिर है, यदि यह मानकर चला जाये कि मूल्य का अर्थ कुछ नहीं होता, तो और भी सुविधा हो जायेगी। तब हम बिना किसी कठिनाई के प्रत्येक वस्तु को इस परिकल्पना में सम्मिलित कर सकेंगे। उदाहरण के लिये, जे० बी० से ठीक यही करते हैं। „Valeur" ("मूल्य") क्या होता है? उत्तर: „C'est ce qu'une chose vaut" ("किसी चीज की क़ीमत उसका मूल्य होती है")। और „prix" ("दाम") क्या होता है? उत्तर: „La valeur d'une chose exprimée en monnaie" (किसी चीज का मूल्य जब मुद्रा में अभिव्यक्त होता है, तब वह उसका दाम होता है")। और „le travail de la terre" ("भूमि की जुताई-बुवाई") करने के लिये "une valeur" ("मूल्य") क्यों देना होता है? "Parce qu'on y met un prix" ("क्योंकि हम उसके दाम लगा देते हैं")। इसलिये, मूल्य किसी चीज की क़ीमत को कहते हैं, और भूमि का "मूल्य" इसलिये होता है कि उसका मूल्य "मुद्रा में अभिव्यक्त किया जाता है"। चीजें जैसी हैं, वैसी क्यों हैं और किस तरह अस्तित्व में आयी हैं, इस सब का पूरा ज्ञान प्राप्त करने का यह निश्चय ही बहुत सहज तरीक़ा है।

बाजार-भावों के उतार-चढ़ावों पर विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि वे एक दूसरे का असर बराबर कर देते हैं और इस तरह एक मध्यक औसत मात्रा बच रहती है, जो अपेक्षाकृत रूप से एक स्थिर मात्रा होती है। इस मात्रा में एक दूसरे की क्षति-पूर्ति करने वाले जो परिवर्तन आते रहते हैं, स्वभावतया उनके सिवा किसी और तत्व के द्वारा इस मात्रा को निर्धारित करना आवश्यक था। यह दाम, जो श्रम के आकस्मिक बाजार-भावों पर अन्त में हमेशा हावी हो जाता है और जिसे फ़िजिओक्रेटों ने श्रम का "आवश्यक दाम" कहा था और ऐडम स्मिथ ने "स्वाभाविक दाम" का नाम दिया था, वह अन्य तमाम मालों के दामों की तरह मुद्रा के रूप में श्रम के मूल्य की अभिव्यंजना के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र ने इस तरह श्रम के आकस्मिक दामों की तह में पैठकर श्रम के मूल्य तक पहुंच पाने की आशा की। अन्य मालों की तरह श्रम का यह मूल्य उत्पादन की लागत से निर्धारित होता था। परन्तु मजदूर के उत्पादन की – अर्थात् खुद मजदूर का उत्पादन अथवा पुनरुत्पादन करने की – लागत क्या होती है? अचेतन ढंग से इस प्रश्न ने अर्थशास्त्र में मौलिक प्रश्न का स्थान ले लिया, क्योंकि खुद श्रम के उत्पादन के खर्चे की तलाश सदा एक अंध-कूप में चक्कर लगाती रही और उसके बाहर वह कभी न निकल सकी। इसलिये, अर्थशास्त्री जिसे श्रम का मूल्य कहते हैं, वह असल में श्रम-शक्ति का मूल्य होता है, जिसका अस्तित्व मजदूर के व्यक्तित्व में होता है। यह श्रम-शक्ति अपने कार्य से, अर्थात् श्रम से, उतनी ही भिन्न होती है, जितनी मशीन, वह जो काम करती है, उससे भिन्न होती है। अर्थशास्त्रियों का ध्यान चूंकि इस प्रकार के प्रश्नों पर केन्द्रित था, जैसे यह कि श्रम के बाजार-भाव और उसके तथाकथित मूल्य में क्या अन्तर होता है, इस मूल्य का मुनाफ़े की दर से और श्रम के साधनों द्वारा उत्पादित मालों के मूल्य से क्या सम्बंध होता है, इत्यादि, इत्यादि, – इसलिये उनको यह कभी पता न चला कि अपने विश्लेषण के दौरान में वे न सिर्फ़ श्रम के बाजार-भाव से उसके तथाकथित मूल्य पर पहुंच गये हैं, बल्कि श्रम का यह मूल्य खुद श्रम-शक्ति के मूल्य में परिणत हो गया है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र खुद अपने विश्लेषण के परिणामों के बारे में सजग न हो पाया; "श्रम का मूल्य", "श्रम का स्वाभाविक दाम" आदि परिकल्पनाओं को उसने आंखें बन्द करके विचाराधीन मूल्य-सम्बंध की अन्तिम और पर्याप्त अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार कर लिया था, और जैसा कि हम बाद को देखेंगे, इसके फलस्वरूप वह एक अजीब उलझावे और असंगतियों में फंस गया था और साथ ही अप्रामाणिक अर्थशास्त्रियों को, जो सिद्धान्ततः केवल दिखावटी बातों की ही पूजा करते हैं, उसने उनके छिछलेपन के उपयोग के लिये एक मजबूत आधार दे दिया था।

आइये, अब हम यह देखें कि श्रम-शक्ति का मूल्य और दाम इस रूपान्तरित अवस्था में अपने को मजदूरी के रूप में कैसे पेश करते हैं।

हम जानते हैं कि श्रम-शक्ति के दैनिक मूल्य का हिसाब लगाने के लिये हम मजदूर के जीवन की एक खास अवधि मानकर चलते हैं और उसके अनुरूप काम के दिन की भी एक खास लम्बाई मान ली जाती है। मान लीजिये कि प्रचलित काम का दिन १२ घण्टे का और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो मुद्रा के रूप में एक ऐसे मूल्य की अभिव्यंजना है, जिसमें ६ घण्टे का श्रम निहित है। अब मजदूर को ३ शिलिंग मिलते हैं, तो वह १२ घण्टे तक काम करने वाली अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पा जाता है। अब यदि एक दिन की श्रम-शक्ति के इस मूल्य को खुद एक दिन के श्रम का मूल्य मान लिया जाये, तो यह सूत्र सामने आता है कि १२ घण्टे के श्रम का मूल्य ३ शिलिंग है। इस प्रकार, श्रम-शक्ति का मूल्य श्रम

के मूल्य को, या – यदि उसे मुद्रा के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, तो – उसके आवश्यक दाम को निर्धारित करता है। दूसरी ओर, यदि श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से भिन्न है, तो श्रम का दाम भी उसके तथाकथित मूल्य से उसी तरह भिन्न होता है।

श्रम का दाम चूंकि केवल श्रम-शक्ति के दाम का ही एक अयुक्तियुक्त रूप होता है, इसलिये ज़ाहिर है कि इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि श्रम का मूल्य उसके द्वारा पैदा किये गये मूल्य से सदा कम होगा, क्योंकि ख़ुद श्रम-शक्ति के मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये जितना काम करना आवश्यक होता है, पूंजीपति श्रम-शक्ति से सदा इससे ज्यादा काम लेता है। ऊपर जो मिसाल दी गयी है, उसमें १२ घण्टे तक काम करने वाली श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है। इतने मूल्य के पुनरुत्पादन के लिये ६ घण्टे आवश्यक होते हैं। पर, दूसरी ओर, श्रम-शक्ति जो मूल्य पैदा कर देती है, वह ६ शिलिंग के बराबर होता है, क्योंकि असल में तो वह १२ घण्टे काम करती है और वह कितना मूल्य पैदा करेगी, यह ख़ुद उसके मूल्य पर नहीं, बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी देर तक काम करती रहती है। इस प्रकार हम एक ऐसे नतीजे पर पहुंच जाते हैं, जो पहली दृष्टि में बेतुका प्रतीत होता है, – वह यह कि ६ शिलिंग का मूल्य पैदा करने वाले श्रम का मूल्य ३ शिलिंग होता है।[1]

हम आगे यह भी देखते हैं कि ३ शिलिंग का वह मूल्य, जिसके द्वारा काम के दिन के केवल एक भाग की – अर्थात् ६ घण्टे के श्रम की – ही उजरत चुकायी जाती है, १२ घण्टे के पूरे दिन के मूल्य अथवा दाम के रूप में सामने आता है, और इन १२ घण्टों में इस तरह वे ६ घण्टे भी शामिल होते हैं, जिनमें मजदूर ने बिना उजरत के काम किया है। इस प्रकार, मजदूरी-रूप इस बात के प्रत्येक चिन्ह को मिटा देता है कि काम के दिन के आवश्यक श्रम और अतिरिक्त श्रम में, मजदूरी पाने वाले और मजदूरी न पाने वाले श्रम में विभाजन हो जाता है। सारा श्रम मजदूरी पाने वाले श्रम के रूप में सामने आता है। हरी-बेगार की प्रथा में, मजदूर ख़ुद अपने लिये जो श्रम करता है और उसे अपने मालिक के लिये जो बेगार करनी पड़ती है, उन दोनों के बीच स्थान और समय का बहुत ही स्पष्ट अन्तर होता है। ग़ुलामी की प्रथा में काम के दिन के जिस हिस्से में ग़ुलाम केवल अपने जीवन-निर्वाह के साधनों के मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करता है और इसलिये जिस हिस्से में वह महज़ अपने लिये काम करता है, उस हिस्से का श्रम भी मालिक के लिये किया गया श्रम ही प्रतीत होता है। ग़ुलाम का सारा श्रम मजदूरी न पाने वाला प्रतीत होता है।[2] इसके विपरीत, मजदूरी-श्रम में अतिरिक्त श्रम, या मजदूरी न पाने

[1] देखिये "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" ('अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), पृ० ४०, जहां मैंने यह कहा है कि उस पुस्तक के पूंजी से सम्बंध रखने वाले भाग में इस समस्या को हल किया जायेगा कि "केवल श्रम-काल के द्वारा निर्धारित होने वाले विनिमय-मूल्य के आधार पर उत्पादन हमें इस नतीजे पर कैसे पहुंचा देता है कि श्रम का विनिमय-मूल्य श्रम की पैदावार के विनिमय-मूल्य से कम होता है?"

[2] स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों के लन्दन के "*Morning Star*" नामक पत्र की सरलता मूर्खता की सीमा तक पहुंच जाती है। आदमी जितना नैतिक क्रोध बटोर सकता है, वह सारा बटोरकर उसने अमरीकी गृह-युद्ध के दिनों में बार-बार यह कहा कि "Confederate States" (दक्षिण राज्यों) में हब्शियों को एकदम मुफ़्त में काम करना पड़ता है। उसे देखना यह चाहिये था कि अमरीका के इन राज्यों में एक हब्शी मजदूर पर रोज़ाना कितना ख़र्च किया जाता है और उसके मुक़ाबले में लन्दन के ईस्ट एण्ड में रहने वाले एक स्वतंत्र मजदूर का दैनिक ख़र्चा कितना बैठता है।

वाला श्रम भी मजदूरी पाने वाला लगता है। वहां गुलाम खुद अपने लिये जो श्रम करता है, सम्पत्ति का सम्बंध उसपर पर्दा डाल देता है; यहां मुद्रा का सम्बंध मजदूरी लेकर श्रम करने वाले मजदूर के मजदूरी न पाने वाले श्रम को आंखों से छिपा देता है।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि श्रम-शक्ति के मूल्य तथा दाम के इस रूपान्तरण का, उनके इस तरह मजदूरी का या खुद श्रम के मूल्य तथा दाम का रूप धारण कर लेने का कितना निर्णायक महत्व होता है। यह दृश्य-रूप वास्तविक सम्बंध को अदृश्य कर देता है, और सच पूछिये, तो वह उस सम्बंध को ठीक उल्टा करके हमें दिखाता है। मजदूर और पूंजीपति दोनों की तमाम वैधिक धारणाएं, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से सम्बंधित तमाम रहस्यमयी बातें, स्वतंत्रता के विषय में उसकी समस्त भ्रांतियां और अप्रामाणिक अर्थशास्त्री अपने मत की वकालत करने के लिये जितनी पैंतरेबाजियां दिखाते हैं, वे सब की सब इस दृश्य-रूप पर ही आधारित हैं।

यदि इतिहास ने मजदूरी के रहस्य की तह तक पहुंचने में बहुत समय लगा दिया है, तो, दूसरी ओर, इस दृश्य-रूप की आवश्यकता को, उसके raison d'être (अस्तित्व के कारण) को, समझने से अधिक सहज काम और कोई नहीं है।

पूंजी और श्रम के बीच जो विनिमय होता है, वह शुरू में अन्य सब मालों के क्रय-विक्रय के समान ही हमारे सामने आता है। खरीदार मुद्रा की एक निश्चित रक़म देता है, विक्रेता मुद्रा से भिन्न स्वरूप की कोई वस्तु देता है। क़ानूनदां की चेतना को इसमें अधिक से अधिक एक भौतिक अन्तर दिखाई देता है, जो उसके क़ानूनी पर्याय का काम करने वाले इन सूत्रों में व्यक्त होता है कि: "Do ut des, do ut facias, facio ut des, facio ut facias" ("मैं इसलिये देता हूं कि तुम भी दे सको, मैं इसलिये देता हूं कि तुम बना सको, मैं इसलिये बनाता हूं कि तुम दे सको, मैं इसलिये बनाता हूं कि तुम भी बना सको")।

और देखिये। विनिमय-मूल्य और उपयोग-मूल्य चूंकि अपने में असम्मेय मात्राएं होती हैं, इसलिये "श्रम का मूल्य" और "श्रम का दाम" की शब्दावली "कपास का मूल्य" और "कपास का दाम" से अधिक अविवेकपूर्ण नहीं प्रतीत होती। इसके अलावा, मजदूर को अपना श्रम दे देने के बाद उजरत मिलती है। भुगतान के साधन का काम करती हुई, मुद्रा पेशगी दे दी गयी वस्तु के मूल्य अथवा दाम को मूर्त रूप देती है। इस विशिष्ट उदाहरण में वह पेशगी दे दिये गये श्रम के मूल्य अथवा दाम को मूर्त रूप देती है। अन्तिम बात यह है कि मजदूर पूंजीपति को जो उपयोग-मूल्य देता है, वह, वास्तव में, उसकी श्रम-शक्ति नहीं, बल्कि श्रम-शक्ति का कार्य होता है। वह किसी खास तरह का—जैसे दर्जीगीरी, मोचीगीरी या कताई का—उपयोगी श्रम होता है। यह बात साधारण दिमाग़ की पहुंच के बाहर है कि इसके साथ-साथ यही श्रम मूल्य पैदा करने वाला सार्वत्रिक तत्व भी होता है और इस तरह उसमें एक ऐसा गुण होता है, जो और किसी माल में नहीं होता।

आइये, हम अपने को जरा उस मजदूर की स्थिति में रखकर विचार करें, जिसको, मान लीजिये, १२ घण्टे के श्रम के एवज में ६ घण्टे के श्रम द्वारा उत्पादित मूल्य मिलता है। मान लीजिये कि यह मूल्य ३ शिलिंग के बराबर है। इस मजदूर के लिये १२ घण्टे का उसका श्रम असल में ३ शिलिंग की रक़म खरीदने का साधन होता है। वह आम तौर पर जीवन-निर्वाह के जिन साधनों का उपयोग करता है, उनके साथ-साथ उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य भी बदल सकता है। वह ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग या ३ शिलिंग से घटकर २ शिलिंग हो सकता है। या अगर उसकी श्रम-शक्ति का मल्य स्थिर रहता है, तो मांग और पूर्ति के बदलते हुए सम्बंधों

के फलस्वरूप उसके दाम में घटा-बढ़ी हो सकती है। वह बढ़कर ४ शिलिंग हो सकता है या घटकर २ शिलिंग हो सकता है। पर मजदूर सदा १२ घण्टे का श्रम ही देता है। इसलिये अपने श्रम का जो सम-मूल्य उसे मिलता है, उसकी मात्रा में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन उसे अनिवार्य रूप से उसके १२ घण्टे के काम के मूल्य अथवा दाम का परिवर्तन प्रतीत होता है। ऐडम स्मिथ को, जो काम के दिन को एक स्थिर मात्रा मानते थे[1], इस बात ने गुमराह कर दिया, और वह कहने लगे कि जीवन-निर्वाह के साधनों के मूल्य में हालांकि उतार-चढ़ाव आ सकते हैं और इसलिये काम के एक ही दिन से हालांकि मजदूर को कभी अधिक और कभी कम मुद्रा मिल सकती है, परन्तु फिर भी श्रम का मूल्य स्थिर रहता है।

दूसरी ओर, जरा पूंजीपति की स्थिति पर विचार कीजिये। वह कम से कम मुद्रा देकर ज्यादा से ज्यादा काम लेना चाहता है। इसलिये व्यावहारिक रूप में उसको केवल इस एक बात में दिलचस्पी होती है कि श्रम-शक्ति के दाम में और श्रम-शक्ति का कार्य जो मूल्य पैदा कर देता है, उसमें कितना अन्तर है। परन्तु उधर वह सभी मालों को सस्ते से सस्ते दामों पर ख़रीदने की कोशिश करता है और दूसरों की आंखों में धूल झोंककर माल ख़रीदते समय मूल्य से कम दाम देने और माल बेचते समय मूल्य से अधिक दाम लेने को ही वह अपने मुनाफ़े का कारण समझता है। इसलिये वह यह कभी नहीं देख पाता कि यदि "श्रम का मूल्य" नाम की कोई वस्तु सचमुच होती और यदि पूंजीपति को सचमुच श्रम का मूल्य देना पड़ता, तो पूंजी का अस्तित्व ही असम्भव हो जाता और उसकी मुद्रा हरगिज़ पूंजी न बन पाती।

इसके अतिरिक्त, मजदूरी के उतार-चढ़ाव में भी कुछ ऐसी बातें दिखाई देती हैं, जिनसे यह लगता है कि श्रम-शक्ति का मूल्य नहीं, बल्कि श्रम-शक्ति के कार्य का – स्वयं श्रम का – मूल्य अदा किया जा रहा है। इन बातों को दो बड़ी श्रेणियों में बांटा जा सकता है: (१) काम के दिन की लम्बाई के बदलने के साथ-साथ मजदूरी का भी बदल जाना। इससे हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि किसी मशीन को दिन भर के लिये किराये पर लेने की अपेक्षा चूंकि सप्ताह भर के लिये किराये पर लेने में ज्यादा ख़र्च होता है, इसलिये इससे यह साबित होता है कि किराये के रूप में मशीन का मूल्य नहीं, बल्कि मशीन के कार्य का मूल्य दिया जाता है। (२) एक ही तरह का काम करने वाले विभिन्न मजदूरों की मजदूरी में व्यक्तिगत भेद। यह व्यक्तिगत भेद गुलामी की व्यवस्था में भी होता है, पर वहां हम उसकी वजह से किसी धोखे में नहीं पड़ते। वहां तो बिना किसी लाग-लपेट के, खुले-आम और साफ़ तौर पर, खुद श्रम-शक्ति की बिक्री होती है। किन्तु गुलामी की व्यवस्था में यदि श्रम-शक्ति औसत से ज्यादा अच्छी है, तो उसका लाभ, और यदि वह औसत से कम अच्छी है, तो उसकी हानि गुलाम के मालिक को होती है, जब कि मजदूरी की व्यवस्था में खुद मजदूर को हानि-लाभ होता है। इसका कारण यह है कि जहां मजदूर अपनी श्रम-शक्ति को खुद बेचता है, वहां गुलाम की श्रम-शक्ति को कोई तीसरा व्यक्ति बेचता है।

जहां तक बाक़ी बातों का सम्बंध है, "श्रम का मूल्य तथा दाम", या "मजदूरी" नामक दृश्य रूप में और इस रूप में व्यक्त होने वाले मौलिक सम्बंध – अर्थात् श्रम-शक्ति के मूल्य तथा दाम – में वही अन्तर पाया जाता है, जो अन्य तमाम दृश्य घटनाओं और उनके गुप्त सार-तत्व के बीच होता है। दृश्य घटनाएं सीधे तौर पर और स्वयंस्फूर्त ढंग से चिन्तन की प्रचलित प्रणालियों के रूप में प्रकट होती हैं; उनके गुप्त सार-तत्व का विज्ञान के द्वारा पता लगाना पड़ता है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र वस्तुओं के वास्तविक सम्बंध को लगभग छू लेता है, परन्तु वह सचेतन ढंग से उसकी स्थापना नहीं कर पाता। और जब तक वह अपनी पूंजीवादी केंचुल को उतारकर नहीं फेंक देता, वह ऐसा नहीं कर सकता।

---

[1] काम के दिन में जो घटा-बढ़ी हो सकती है, उसका ऐडम स्मिथ ने कार्यानुसार मजदूरी की चर्चा करते हुए केवल संयोगवश कुछ ज़िक्र कर दिया है।

## बीसवां अध्याय

# समयानुसार मज़दूरी

मज़दूरी खुद भी अनेक प्रकार के रूप धारण करती है, हालांकि अर्थशास्त्र की साधारण पुस्तकों में इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जाता। इन पुस्तकों को प्रश्न के केवल भौतिक रूप में ही दिलचस्पी होती है, और वे रूप के प्रत्येक भेद को अनदेखा कर देती हैं। किन्तु इन तमाम रूपों का विवेचन तो केवल विशेष रूप से मज़दूरी का अध्ययन करने वाले ग्रंथों में ही किया जा सकता है। इस पुस्तक में उसका स्थान नहीं है। फिर भी यहां पर मज़दूरी के दो मौलिक रूपों का संक्षिप्त वर्णन तो करना ही होगा।

पाठक को याद होगा कि श्रम-शक्ति की बिक्री सदा एक निश्चित अवधि के लिये होती है। इसलिये श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य, साप्ताहिक मूल्य आदि जिस परिवर्तित रूप में सामने आते हैं, वह समयानुसार मज़दूरी, अर्थात् दैनिक मज़दूरी, साप्ताहिक मज़दूरी आदि का रूप है।

दूसरी बात हमें यह देखनी चाहिये कि १७ वें अध्याय में श्रम-शक्ति के दाम और अतिरिक्त मूल्य के सापेक्ष परिमाणों में होने वाले परिवर्तनों से सम्बंधित, जिन नियमों का जिक्र किया गया है, वे एक साधारण रूपान्तरण के द्वारा मज़दूरी के नियमों में बदल जाते हैं। इसी प्रकार, श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य और यह मूल्य जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की जिस राशि में बदल दिया जाता है, इन दोनों के बीच जो अन्तर होता है, वह अब नाम-मात्र की मज़दूरी और वास्तविक मज़दूरी के अन्तर के रूप में पुनः प्रकट होता है। सारभूत रूप के विषय में हम जिन बातों की पहले ही चर्चा कर आये हैं, उनको अब दृश्य रूप के विषय में दुहराना निरर्थक है। इसलिये हम यहां पर समयानुसार मज़दूरी के कुछ विशेष लक्षणों तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

मज़दूर को अपने दैनिक अथवा साप्ताहिक श्रम के एवज़ में मुद्रा की जो रक़म[1] मिलती है, वह उसकी नाम-मात्र की मज़दूरी, या मूल्य के रूप में अनुमानित मज़दूरी, होती है। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि काम के दिन की लम्बाई के अनुसार, अर्थात् मज़दूर सचमुच जितना श्रम रोज़ाना देता है, उसके अनुसार, एक ही दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी से श्रम के बहुत अलग-अलग दाम व्यक्त हो सकते हैं, यानी श्रम की एक ही मात्रा के लिये मुद्रा की बहुत अलग-अलग रक़में दी जा सकती हैं।[2] इसलिये, समयानुसार मज़दूरी पर विचार करते हुए हमें एक बार फिर

---

[1] ख़ुद मुद्रा का मूल्य हम यहां पर सदा स्थिर मानकर चल रहे हैं।

[2] "श्रम का दाम वह रक़म होती है, जो श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में दी जाती है।" (Sir Edward West, *"Price of Corn and Wages of Labour"* [सर एडवर्ड वेस्ट, 'अनाज का दाम और श्रम की मज़दूरी'], London, 1826, पृ० ६७।) वेस्ट ने ही गुमनाम

यह समझना चाहिये कि दैनिक मजदूरी, साप्ताहिक मजदूरी आदि की कुल रक़म और श्रम के दाम में भेद होता है। तब इस दाम का – अर्थात् श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में दिये गये मुद्रा-मूल्य का – कैसे पता लगाया जाये? जब श्रम-शक्ति के औसत दैनिक मूल्य को काम के दिन के घंटों की औसत संख्या से भाग दिया जाता है, तो हमें श्रम का औसत दाम मालूम हो जाता है। मिसाल के लिये, यदि श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो कि ६ घण्टों के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है, और यदि काम का दिन १२ घण्टों का है, तो १ घण्टे का दाम $\frac{३}{१२}$ शिलिंग या ३ पेंस बैठता है। इस प्रकार, काम के घण्टे का जो दाम हमें मालूम हो जाता है, वह श्रम के दाम को मापने की इकाई का काम करता है।

इसलिये इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम के दाम के बराबर गिरते जाने पर भी यह मुमकिन है कि दैनिक मजदूरी, साप्ताहिक मजदूरी आदि ज्यों की त्यों बनी रहें। मिसाल के लिये, यदि प्रचलित काम का दिन १० घण्टे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, तो काम के एक घण्टे का दाम ३$\frac{३}{५}$ पेन्स बैठता है। जैसे ही काम का दिन बढ़कर १२ घण्टे का हो जाता है, वैसे ही यह दाम घटकर ३ पेन्स, और जैसे ही काम का दिन १५ घण्टे का हो जाता है, वैसे ही काम के एक घण्टे का दाम केवल २$\frac{२}{५}$ पेन्स ही रह जाता है। परन्तु इस सब के बावजूद दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसके विपरीत, यह भी मुमकिन है कि श्रम का दाम स्थिर रहे या यहां तक कि कम हो जाये, पर दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी बढ़ जाये। मिसाल के लिये, यदि काम का दिन १० घण्टे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, तो काम के एक घण्टे का दाम ३$\frac{३}{५}$ पेन्स बैठता है। यदि व्यवसाय में तेजी आने के फलस्वरूप मजदूर १२ घण्टे रोज काम करने लगता है, पर श्रम का दाम ज्यों का त्यों बना रहता है, तो उसकी दैनिक मजदूरी बढ़कर ३ शिलिंग ७$\frac{१}{५}$ पेंस हो जायेगी, हालांकि श्रम के दाम में कोई तबदीली नहीं आयेगी। यदि श्रम के विस्तार में वृद्धि होने के बजाय उसकी तीव्रता में वृद्धि हो जाये, तो उसका भी यही नतीजा होगा।[1] इसलिये नाम-मात्र की दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी में वृद्धि होने के साथ-साथ

---

पुस्तक "*Essay on the Application of Capital to Land. By a Fellow of the University College of Oxford*" ('भूमि पर पूंजी के उपयोग के विषय में एक निबंध। ओक्सफ़ोर्ड के यूनिवर्सिटी-कालेज के एक फ़ैलो द्वारा') (London, 1815) लिखी है। अर्थशास्त्र के इतिहास में यह एक युगान्तरकारी पुस्तक है।

[1] "श्रम की मजदूरी श्रम के दाम और इस बात पर निर्भर करती है कि कितना श्रम किया गया है... यदि श्रम की मजदूरी में वृद्धि हो जाती है, तो उसका लाज़िमी तौर पर यह मतलब नहीं होता कि श्रम का दाम भी बढ़ गया है। श्रम का दाम ज्यों का त्यों बना रहते हुए भी यदि मजदूर के समय का अधिक पूर्ण उपयोग किया जाता है और वह पहले से अधिक मेहनत करता है, तो श्रम की मजदूरी में काफ़ी वृद्धि हो सकती है।" (वेस्ट, उप० पु०, पृ० ६७,

यह मुमकिन है कि श्रम का दाम स्थिर बना रहे या उसमें गिराव आ जाये। किसी मज़दूर-परिवार का मुखिया जो श्रम करता है, जब उसकी मात्रा में परिवार के अन्य सदस्यों के श्रम के फलस्वरूप वृद्धि हो जाती है, तब परिवार की आय भी इसी तरह बढ़ जाती है, हालांकि श्रम का दाम ज्यों का त्यों रहता है। इसलिये, नाम-मात्र की दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी को घटाने से अलग भी श्रम के दाम को कम करने के कुछ तरीक़े हैं।[1]

एक सामान्य नियम के रूप में इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि दैनिक श्रम, साप्ताहिक श्रम आदि की मात्रा पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी श्रम के दाम पर निर्भर करती है, जो खुद या तो श्रम-शक्ति के मूल्य के साथ घटता-बढ़ता रहता है और या श्रम-शक्ति के दाम तथा मूल्य में जो अन्तर होता है, उसके साथ बदलता रहता है। दूसरी ओर, यदि श्रम का दाम पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी दैनिक या साप्ताहिक श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है।

समयानुसार मज़दूरी मापने की इकाई, अर्थात् काम के एक घण्टे का दाम वह भागफल होता है, जो एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य को काम के औसत दिन के घण्टों की संख्या से भाग देने पर निकलता है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घण्टे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो ६ घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है। इन परिस्थितियों में, काम के एक घण्टे का दाम होगा ३ पेन्स, और एक घण्टे में मूल्य पैदा होगा ६ पेन्स का। अब यदि मज़दूर से १२ घण्टे से कम ('या सप्ताह में ६ दिन से कम) काम लिया जाता है,—मिसाल के लिये, यदि उससे केवल ६ या ८ घण्टे काम लिया जाता है, तो श्रम के इस दाम के अनुसार उसे केवल २ शिलिंग या १ शिलिंग ६ पेन्स रोज़ाना ही

---

६८, ११२।) मुख्य प्रश्न यह है कि "श्रम का दाम कैसे निर्धारित होता है।" परन्तु महज़ कुछ पिटी-पिटायी बातों को दुहराकर वेस्ट इस प्रश्न को टाल देते हैं।

[1] अठारहवीं सदी के औद्योगिक पूंजीपति-वर्ग के उस कट्टर प्रतिनिधि ने भी यह बात महसूस की है जिसने "*Essay on Trade and Commerce*" ('व्यापार और व्यवसाय पर निबंध') लिखा है। इस रचना को हम अक्सर उद्धृत कर चुके हैं। परन्तु इस लेखक ने सवाल को कुछ गड़बड़ ढंग से पेश किया है। उसने लिखा है: "खाने-पीने की वस्तुओं और जीवन के लिये आवश्यक अन्य चीज़ों के दाम से श्रम का दाम निर्धारित नहीं होता" (दाम से उसका मतलब नाम-मात्र की दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी से है), "बल्कि श्रम की मात्रा निर्धारित होती है। जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के दाम को घटाकर बहुत कम कर दो, तो ज़ाहिर है कि श्रम की मात्रा भी उसी अनुपात में कम हो जायेगी। कारख़ानों के मालिक जानते हैं कि श्रम के दाम की नाम-मात्र की राशि में परिवर्तन करने के अलावा भी उसे बढ़ाने और घटाने के अनेक तरीक़े हैं।" (उप० पु०, पृ० ४८, ६१।) एन० डब्ल्यू० सीनियर ने अपनी रचना "*Three Lectures on the Rate of Wages*" ['मज़दूरी की दर के विषय में तीन भाषण'] (London, 1830) में वेस्ट की रचना का, बिना उनका नाम लिये हुए, उपयोग किया है। उसमें उन्होंने लिखा है: "मज़दूर की दिलचस्पी मुख्यतया मज़दूरी की रक़म में होती है" (पृ० १५),—यानी, सीनियर के कथनानुसार, मज़दूर की दिलचस्पी मुख्यतया उसमें होती है, जो उसके हाथ में आता है, न कि उसमें जो उसे देना पड़ता है; अर्थात् उसकी दिलचस्पी मज़दूरी की नाम-मात्र की रक़म में होती है, न कि श्रम की मात्रा में!

मिलेंगे।[1] चूंकि हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके अनुसार मजदूर को महज़ अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर मजदूरी रोज़ कमाने के लिये औसतन ६ घण्टे रोज़ाना काम करना चाहिये और चूंकि वह काम के हर घण्टे में केवल आधा घण्टा खुद अपने लिये और आधा घण्टा पूंजीपति के लिये काम करता है, इसलिये यह बात साफ़ है कि यदि उससे १२ घण्टे से कम काम लिया जाये, तो वह अपने लिये ६ घण्टे की पैदावार का मूल्य नहीं हासिल कर सकता। इसके पहले के अध्यायों में हम मजदूर से अत्यधिक काम लेने के हानिकारक परिणामों को देख चुके हैं। यहां हम यह देखते हैं कि मजदूर से अपर्याप्त समय तक काम लेने के फलस्वरूप उसको क्यों तकलीफ़ होती है।

यदि घण्टे की मजदूरी इस तरह निश्चित की जाये कि पूंजीपति दिन भर की या पूरे सप्ताह की मजदूरी देने का ज़िम्मा न ले, बल्कि वह जितने घण्टे मजदूर से काम कराये, केवल उतने ही घण्टों की मजदूरी उसे देनी पड़े, तो श्रम का दाम मापने की इकाई के रूप में घण्टे की मजदूरी का शुरू-शुरू में जिस आधार पर हिसाब लगाया गया था, पूंजीपति उससे कम समय तक मजदूर से काम ले सकता है। यह इकाई चूंकि $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित संख्या के घण्टों का काम का दिन}}$ के अनुपात से निर्धारित होती है, इसलिये जब काम के दिन में घण्टों की कोई निश्चित संख्या नहीं रहती, तब यह इकाई अर्थहीन हो जाती है। सवेतन और अवेतन श्रम के बीच जो सम्बंध होता है, वह नष्ट हो जाता है। अब पूंजीपति मजदूर के पास वह श्रम-काल भी नहीं छोड़ता, जो उसके अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक होता है, और फिर भी एक निश्चित मात्रा का अतिरिक्त मूल्य उससे निकाल लेता है। अब पूंजीपति काम की सारी नियमितता ख़तम कर सकता है और अपनी सुविधा, सनक और क्षणिक हित के अनुसार जब चाहे, तब मजदूर से भयानक सीमा तक अत्यधिक काम ले सकता है और जब चाहे, तब सापेक्ष अथवा निरपेक्ष रूप से काम को बन्द कर सकता है। "श्रम का सामान्य दाम" देने के बहाने अब वह तदनुरूप मुआवज़ा दिये बिना काम के दिन को असाधारण रूप से लम्बा कर सकता है। यही कारण है कि १८६० में जब लन्दन के मकान बनाने के धंधे से सम्बन्धित मजदूरों पर पूंजीपतियों ने इस तरह की घण्टे की मजदूरी लादने की कोशिश की, तो उन्होंने उनके ख़िलाफ़ सर्वथा विवेक-संगत विद्रोह किया। जब क़ानून के द्वारा काम का दिन सीमित कर दिया जाता है, तो इस तरह की बुराई का अन्त हो जाता है, हालांकि उसका, ज़ाहिर है, काम की उस कमी पर कोई

---

[1] मज़दूर के काम में इस तरह की असाधारण कमी का जो प्रभाव होता है, वह क़ानून के द्वारा अनिवार्य रूप से और आम तौर पर काम के दिन में कमी कर देने के प्रभाव से बिल्कुल भिन्न होता है। पहले प्रकार की कमी का काम के दिन की निरपेक्ष लम्बाई से कोई सम्बंध नहीं होता। उस प्रकार की कमी जैसे ६ घण्टे के दिन में हो सकती है, वैसे ही १५ घण्टे के दिन में भी हो सकती है। पहली सूरत में श्रम के सामान्य दाम का १५ घण्टे के काम के आधार पर हिसाब लगाया जाता है, दूसरी सूरत में रोज़ाना औसतन ६ घण्टे के काम के आधार पर हिसाब लगाया जाता है। इसलिये यदि एक सूरत में केवल $7\frac{1}{2}$ घण्टे काम लिया जाये और दूसरी सूरत में केवल ३ घण्टे, तो नतीजा एक ही होता है।

असर नहीं पड़ता, जो मशीनों की प्रतियोगिता के कारण, काम पर लगे हुए मज़दूरों के स्तर में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप और आंशिक अथवा सामान्य संकटों से पैदा होती है।

यह मुमकिन है कि दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी के बढ़ते जाने पर भी श्रम का दाम नाम-मात्र के लिये स्थिर बना रहे और फिर भी अपने सामान्य स्तर के नीचे गिर जाये। जब कभी श्रम का (फ़ी घण्टे के हिसाब से) दाम स्थिर रहते हुए काम का दिन प्रचलित सीमा से अधिक लम्बा कर दिया जाता है, तब हर बार यही चीज़ होती है। यदि $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{काम का दिन}}$ — इस भिन्न में हर बढ़ता है, तो अंश और भी तेजी से बढ़ता है। श्रम-शक्ति का मूल्य चूंकि उसकी घिसाई पर निर्भर करता है, इसलिये जब श्रम-शक्ति से काम लेने की अवधि बढ़ती है, तो यह मूल्य भी बढ़ जाता है, और वह उस अवधि की तुलना में अधिक द्रुत अनुपात के साथ बढ़ता है। इसलिये उद्योग की बहुत सी ऐसी शाखाओं में, जिनमें आम तौर पर समयानुसार मज़दूरी का नियम है, पर काम के समय की कोई क़ानूनी सीमा नहीं है, स्वयंस्फूर्त ढंग से यह प्रथा प्रचलित हो गयी है कि काम के दिन को एक ख़ास बिन्दु तक, मिसाल के लिये, दसवें घण्टे के पूरे होने तक ही सामान्य दिन समझा जाता है (उसके लिये "normal working-day" ["काम का सामान्य दिन"], "the day's work" ["दिन भर का काम"] या "the regular hours of work" ["काम के नियमित घण्टे"] नामों का प्रयोग किया जाता है)। इस बिन्दु के आगे का समय ओवरटाइम माना जाता है, और माप की इकाई के रूप में घण्टे का प्रयोग करते हुए इस समय के लिये कुछ बेहतर मज़दूरी (extra pay) दी जाती है, हालांकि अक्सर वह सामान्य मज़दूरी से बहुत थोड़ी ही अधिक होती है।[1] यहां काम का सामान्य दिन काम के वास्तविक दिन के एक भाग के रूप में होता है। और अक्सर पूरे साल यही हालत रहती है कि वास्तविक दिन सामान्य दिन से लम्बा होता है।[2] काम के

---

[1] "(लैस बनाने के उद्योग में) ओवरटाइम" काम की उजरत की दर $\frac{1}{2}$ पेनी और $\frac{3}{4}$ पेनी से लेकर २ पेंस प्रति घण्टा तक होती है। इस तरह के काम से मज़दूरों के स्वास्थ्य तथा कार्य-शक्ति को जो हानि पहुंचती है, उसकी तुलना में यह दर बहुत ही कम होती है... इस प्रकार जो थोड़ी सी रक़म मिलती है, वह अक्सर अतिरिक्त भोजन पर ख़र्च कर देनी पड़ती है।" (*"Child. Empl. Com. II. Rep."* ['बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट'], पृ० XVI [सोलह], नोट ११७।)

[2] मिसाल के लिये, काग़ज़ की रंगीन छपाई के धंधे में उसपर फ़ैक्टरी-क़ानून के लागू होने के पहले यही स्थिति थी। उसपर अभी हाल में ही फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हुआ है। Children's Employment Commission (बाल-सेवायोजन आयोग) के सामने बयान देते हुए मि० स्मिथ ने कहा था: "हम खाने के लिये नहीं रुकते और बराबर काम करते चले जाते हैं, जिससे १०$\frac{1}{2}$ घण्टे का दिन भर का काम तीसरे पहर के साढ़े चार बजे तक पूरा हो जाता है, और उसके बाद का सारा काम ओवरटाइम का काम होता है। और ऐसा बहुत कम होता है, जब ६ बजने के पहले हमने काम बन्द कर दिया हो। इस तरह, असल में हम पूरे साल ओवरटाइम काम करते रहते हैं।" (*"Child. Emp. Com. I Rep."* ['बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट'], पृ० १२५।)

दिन को एक सामान्य सीमा के आगे खींचने से श्रम के दाम में होने वाली वृद्धि अनेक ब्रिटिश उद्योगों में ऐसा रूप धारण कर लेती है कि तथाकथित सामान्य समय में श्रम का दाम बहुत कम होने के कारण मजदूर को, यदि वह पर्याप्त मजदूरी कमाना चाहता है, मजबूर होकर बेहतर मजदूरी का ओवरटाइम काम करना पड़ता है।[1] जब काम के दिन पर क़ानून के द्वारा सीमा लगा दी जाती है, तो इन सुविधाओं का अन्त हो जाता है।[2]

---

[1] मिसाल के लिये, स्कोटलैण्ड के कपड़ा सफ़ेद करने के कारख़ानों में यह बात पायी जाती है। "स्कोटलैण्ड के कुछ भागों में यह धंधा" (१८६२ में फ़ैक्टरी-क़ानून लागू होने के पहले) "ओवरटाइम की प्रणाली के अनुसार चलाया जाता था; अर्थात् काम का नियमित समय १० घण्टे प्रति दिन था, जिसके लिये १ शिलिंग २ पेन्स प्रति दिन की नाम-मात्र की मजदूरी दी जाती थी, और तीन या चार घण्टे का रोज़ाना ओवरटाइम होता था, जिसके लिये ३ पेन्स प्रति घण्टा की दर पर मजदूरी दी जाती थी। इस प्रणाली का नतीजा यह हुआ था कि... कोई आदमी साधारण समय तक काम करके ८ शिलिंग प्रति सप्ताह से अधिक नहीं कमा सकता था... बिना ओवरटाइम के इन लोगों के लिये उचित मजदूरी कमाना असम्भव था।" ("*Rept. of Insp. of Factories.* April 30th, 1863" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'], पृ० १०।) "वयस्क पुरुषों को अधिक समय तक काम करने के एवज में अपेक्षाकृत ऊंची दर पर जो मजदूरी मिलती है, उसका मोह इतना प्रबल होता है कि मजदूर उसका संवरण नहीं कर सकते।" ("*Rept. of Insp. of Fact.* April 30th, 1848" ['फ़ैक्टरी के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८४८'], पृ० ५।) लन्दन शहर के जिल्दसाज़ी के व्यवसाय में १४ से १५ वर्ष तक की बहुत सी कम-उम्र लड़कियों से काम लिया जाता है, और वह भी ऐसे शर्तनामों के मातहत, जिनमें श्रम के कुछ ख़ास घण्टे निश्चित कर दिये जाते हैं। फिर भी ये लड़कियां हर महीने के अन्तिम दिनों में रात के १०, ११, १२ या १ बजे तक अपने से अधिक उम्र की मजदूरिनों और पुरुषों के साथ मिल-जुलकर काम करती रहती हैं। "मालिक उनको अतिरिक्त वेतन और रात के भोजन का लालच देकर इसके लिये तैयार कर लेते हैं।" यह रात का भोजन लड़कियां पास के शराबख़ानों में खाती हैं। इस तरह जो भयानक दुराचार फैलता है, उसका इन "young immortals" ('अल्पवयस्क अमर आत्माओं") पर (देखिये "*Children's Employment Comm.*, *V Rept.*" ['बाल-सेवायोजन आयोग की ५ वीं रिपोर्ट'], पृ० ४४, अंक १९१) जो घातक प्रभाव पड़ता है, उसकी कुछ हद तक इस बात से क्षति-पूर्ति हो जाती है कि अन्य पुस्तकों के साथ-साथ इन लड़कियों को बहुत सी बाइबिलों और अन्य धार्मिक पुस्तकों की भी जिल्द बांधनी पड़ती है।

[2] देखिये "*Reports of Insp. of Fact., 30th April, 1863*" ('फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८६३'), पृ० १०। लन्दन के मकान आदि बनाने का धंधा करने वाले मजदूरों ने परिस्थिति के अत्यन्त यथार्थ ज्ञान का परिचय देते हुए १८६० की बड़ी हड़ताल और तालाबन्दी के दौरान में यह ऐलान कर दिया था कि वे घण्टों के हिसाब से केवल दो शर्तों पर मजदूरी स्वीकार करेंगे: (१) यह कि एक घण्टे के काम के दाम के साथ-साथ यह भी तै हो जाना चाहिये कि काम का सामान्य दिन ९ और १० घण्टे का रहेगा और नौ घण्टे के दिन के एक घण्टे के लिये जो मजदूरी दी जायेगी, दस घण्टे के दिन के एक घण्टे के

यह बात आम तौर पर सभी लोग जानते हैं कि उद्योग की किसी शाखा में काम का दिन जितना लम्बा होता है, उसमें मजदूरी की दर उतनी ही नीची होती है।[1] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ए० रेड्ग्रेव ने इसके उदाहरण के रूप में १८३९ से १८५९ तक २० वर्षों का तुलनात्मक सिंहावलोकन किया है। उससे पता चलता है कि इन बीस वर्षों में जिन फ़ैक्टरियों पर १० घण्टे का क़ानून लागू हो गया था, उनमें मजदूरी की दर बढ़ गयी थी, और जिन फ़ैक्टरियों में रोज चौदह-चौदह, पन्द्रह-पन्द्रह घण्टे काम चलता रहता था, उनमें मजदूरी गिर गयी थी।[2]

हम ऊपर इस नियम का जिक्र कर चुके हैं कि "यदि श्रम का दाम पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी इस बात पर निर्भर करती है कि कितना श्रम खर्च किया गया है।" इससे पहला निष्कर्ष यह निकलता है कि श्रम का दाम जितना कम होगा, श्रम की मात्रा उतनी ही अधिक होगी या काम के दिन को उतना ही अधिक लम्बा होना पड़ेगा, अन्यथा मजदूर को जरा सी औसत मजदूरी भी नहीं मिल पायेगी। श्रम के दाम का बहुत कम होना यहां श्रम-काल को बढ़ाने की प्रेरणा का काम करता है।[3]

दूसरी ओर, काम का समय बढ़ा दिये जाने से श्रम के दाम में गिराव आ जाता है, और उसके साथ-साथ दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी भी कम हो जाती है।

श्रम के दाम के $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित संख्या के घण्टों का दिन}}$ से निर्धारित होने से पता चलता है कि यदि काम के दिन को महज लम्बा कर दिया जाता है और किसी तरह उसकी क्षति-पूर्ति

---

लिये उससे अधिक ऊंची दर की मजदूरी देनी होगी; और (२) यह कि काम के दिन की सामान्य सीमा के आगे का प्रत्येक घण्टा ओवरटाइम का घण्टा माना जायेगा और उसके एवज में अपेक्षाकृत ऊंची उजरत देनी होगी।

[1] "यह एक बहुत उल्लेखनीय बात है कि जहां लम्बे घण्टों का क़ायदा है, वहां कम मजदूरी देने का भी क़ायदा होता है" ("*Reports of Insp. of Fact.* 31st Oct., 1863" ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६३'], पृ० ९)। "जिस काम के एवज में महज जरा सा भोजन मिल जाता है, वह काम प्रायः बहुत ज्यादा देर तक चलता है" ("*Public Health. Sixth Report, 1864*" ['सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट, १८६४'], पृ० १५)।

[2] "*Reports of Inspectors of Fact.*, 30th April, 1860" ('फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८६०'), पृ० ३१, ३२।

[3] मिसाल के लिये, इंगलैण्ड में हाथ से कीलें बनाने वालों को श्रम का दाम कम होने के कारण अपनी अत्यल्प साप्ताहिक मजदूरी कमाने के लिये रोजाना पन्द्रह घण्टे काम करना पड़ता है। "वे दिन के बहुत से घण्टों (सुबह के ६ बजे से रात के ८ बजे) तक काम करते हैं। और ११ पेंस से लेकर १ शिलिंग तक कमाने के लिये मजदूर को पूरे समय सख्त मेहनत करनी पड़ती है। औजारों की घिसाई, ईंधन का खर्च और जो लोहा जाया हो जाता है, कुछ रक़म उसके एवज में इस मजदूरी में से काट ली जाती है। इस सब में कुल मिलाकर २$\frac{1}{2}$ पेन्स या ३ पेन्स चले जाते हैं।" ("*Children's Employment Com. III Report*" ['बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'], पृ० १३६, अंक ६७१।) इतनी ही देर तक काम करके औरतें सप्ताह में केवल ५ शिलिंग कमाती हैं। (उप० पु०, पृ० १३७, अंक ६७४।)

नहीं होती, तो उसके फलस्वरूप श्रम का दाम कम हो जायेगा। लेकिन जिन बातों के कारण पूंजीपति काम के दिन को लम्बा करने में सफल होता है, वे ही बातें पहले उसे इस बात की इजाजत देती हैं और अन्त में फिर उसको इसके लिये विवश कर देती हैं कि वह श्रम के दाम को नाम मात्र के लिये उस समय तक कम करता चला जाये, जब तक कि घण्टों की पहले से बढ़ी हुई संख्या का कुल दाम और इसलिये दैनिक अथवा साप्ताहिक मजदूरी भी कम न हो जाये। यहां दो बातों का हवाला देना काफ़ी होगा। यदि एक आदमी $१\frac{१}{२}$ या २ आदमियों का काम करने लगता है, तो श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है, हालांकि मण्डी में श्रम-शक्ति की पूर्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस प्रकार मजदूरों के बीच जो प्रतियोगिता आरम्भ हो जाती है, उससे पूंजीपति को श्रम के दाम को जबर्दस्ती नीचे गिराने और, दूसरी ओर, श्रम के दाम के गिर जाने से काम के समय को और भी बढ़ाने का अवसर मिल जाता है।[1] किन्तु शीघ्र ही असामान्य मात्राओं में, अर्थात् औसत सामाजिक मात्रा से अधिक मात्राओं में, अवेतन श्रम से काम लेने के इस अधिकार का यह फल होता है कि खुद पूंजीपतियों के बीच भी प्रतियोगिता छिड़ जाती है। माल के दाम का एक भाग श्रम के दाम का होता है। श्रम के दाम के अवेतन हिस्से को माल के दाम में गिनने की जरूरत नहीं होती। वह खरीदार को मुफ़्त भेंट किया जा सकता है। यह पहला क़दम है, जो प्रतियोगिता के कारण उठाया जाता है। प्रतियोगिता के अनिवार्य फल के रूप में दूसरा क़दम यह उठाया जाता है कि काम के दिन का विस्तार करने से जो असामान्य अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, उसका भी कम से कम एक हिस्सा माल की बिक्री के दाम से अलग कर दिया जाता है। इस तरह माल असामान्य रूप से कम दाम पर बिकने लगता है। शुरू में इक्के-दुक्के यह बात होती है, फिर यह एक स्थायी चीज बन जाती है। माल की बिक्री का यह गिरा हुआ दाम भविष्य के लिये बहुत ही कम मजदूरी देकर अत्यधिक समय तक काम लेने का एक स्थायी आधार बन जाता है, हालांकि शुरू में वह ठीक इन्हीं बातों से पैदा हुआ था। इस पूरी क्रिया की ओर यहां पर हमने संकेत भर किया है, क्योंकि प्रतियोगिता का विश्लेषण हमारे विषय के वर्तमान भाग का अंश नहीं है। फिर भी एक क्षण के लिये हम पूंजीपति को खुद अपनी बात कहने का अवसर देंगे। "बिर्मिंघम में मालिकों के बीच ऐसी भयानक प्रतियोगिता चल रही है कि उनमें से बहुतों को मालिकों के रूप में ऐसी-ऐसी हरकतें करनी पड़ती हैं, जिनको किसी दूसरी स्थिति में करते हुए उनको शर्म आती। और फिर भी वे कुछ ज्यादा पैसा नहीं कमा पाते (and yet no more money

---

[1] मिसाल के लिये, यदि कोई मज़दूर प्रचलित लम्बे घण्टों तक काम करने से इनकार कर दे, तो "शीघ्र ही उसके स्थान पर ऐसा आदमी नौकर रख लिया जायेगा, जो कितनी भी देर तक काम करने को तैयार होगा, और इस तरह पहले आदमी को नौकरी से जवाब मिल जायेगा।" ("*Reports of Inspectors of Fact*. 30th April, 1848" ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० अप्रैल, १८४८], गवाहियां, पृ० ३९, अंक ५८।) "यदि एक आदमी दो आदमियों का काम करने लगता है, तो... श्रम की अतिरिक्त पूर्ति के कारण श्रम का दाम घट जाने के फलस्वरूप... मुनाफ़ों की दर सामान्यतया ऊंची हो जायेगी।" (Senior, उप० पु०, पृ० १५।)

is made)। बस केवल जनता को लाभ होता है।"[1] पाठक को लन्दन के उन दो तरह के रोटी वालों की याद होगी, जिनमें से एक तरह के रोटी वाले अपनी रोटी पूरे दाम पर बेचते थे (इस तरह के रोटीवाले the "fullpriced" bakers ["पूरे दाम वाले नानबाई"] कहलाते थे) और दूसरी तरह के रोटी वाले सामान्य दाम से कम लेते थे (इस तरह के रोटी वाले "the underpriced" ["कम दाम वाले"] या "the undersellers" ["कम दाम पर बेचने वाले"] कहलाते थे)। "Fullpriced" ("पूरे दाम वालों") ने संसदीय जांच-समिति के सामने प्रतिद्वंद्वियों की भर्त्सना करते हुए कहा था कि "अब ये लोग केवल इसी तरह जीवित हैं कि पहले जनता को धोखा देते हैं और फिर १२ घण्टे की मजदूरी देकर अपने मजदूरों से १८ घण्टे का काम कराते हैं... यह प्रतियोगिता... मजदूरों के अवेतन श्रम (the unpaid labour) के सहारे चलायी जा रही थी और आज भी वह उसी के सहारे चलायी जा रही है... रोटी वालों में आपस में जो प्रतियोगिता चल रही है, उसके कारण रात का काम बन्द करने में कठिनाई हो रही है। आटे के भाव के अनुसार रोटी की जो लागत बैठती है, जो नानबाई (underseller) उससे भी कम दाम पर अपनी रोटी बेचता है, उसे यह कमी मजदूरों से ज्यादा काम लेकर पूरी करनी पड़ती है... यदि मैं अपने मजदूरों से केवल १२ घण्टे काम लेता हूं और मेरा पड़ोसी १८ से २० घण्टे तक काम लेता है, तो रोटी के भाव के मामले में वह लाजिमी तौर पर मुझसे बाजी मार जायेगा। यदि मजदूर ओवरटाइम की उजरत मांग सकते, तो यह स्थिति सुधर जाती... Undersellers (कम दामों पर रोटी बेचने वालों) ने जिन लोगों को नौकर रख रक्खा है, उनमें एक बड़ी संख्या विदेशियों और लड़के-लड़कियों की है। उनको जो भी मजदूरी मिल जाती है, वे मजबूरन उसी को स्वीकार कर लेते हैं।"[2]

यह विलाप इसलिये भी दिलचस्प है कि उससे यह जाहिर हो जाता है कि पूंजीपति के मस्तिष्क में उत्पादन के सम्बंधों का केवल दिखावटी रूप ही प्रतिबिम्बित होता है। पूंजीपति यह नहीं जानता कि श्रम के सामान्य दाम में भी अवेतन श्रम की एक निश्चित मात्रा शामिल होती है और सामान्यतया यह अवेतन श्रम ही उसके लाभ का स्रोत होता है। अतिरिक्त श्रम-काल नामक परिकल्पना का उसके लिये कोई अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह काम के सामान्य दिन में शामिल होता है, जिसके बारे में पूंजीपति का खयाल है कि मजदूर को मजदूरी देकर उसने उसकी पूरी क़ीमत चुका दी है। लेकिन पूंजीपति के लिये ओवरटाइम का – काम के दिन

---

[1] *"Children's Employment Com., III Rep."* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'), गवाहियां, पृ० ६६, अंक २२।

[2] *"Report, & c., Relative to the Grievances Complained of by the Journeymen Bakers"* ('रोटी बनाने वाले मजदूरों की शिकायतों से ताल्लुक़ रखने वाली रिपोर्ट, इत्यादि'), London, 1862, पृ० LII (बावन), और इसी पुस्तिका के गवाहियों वाले अंश में अंक ४७९, ३५९, २७। बहरहाल जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है और जैसा कि ख़ुद उनके प्रवक्ता बेनेट ने भी स्वीकार किया है, fullpriced (पूरे दाम लेने वाले नानबाई) भी अपने मजदूरों से "आम तौर पर रात को ११ बजे काम शुरू करवाते हैं... अगले दिन सुबह के ८ बजे तक उनसे काम लेते रहते हैं... फिर वे सारे दिन काम में लगे रहते हैं... उनका काम रात के ७ बजे ख़तम होता है" (उप० पु०, पृ० २२)।

को श्रम के साधारण दाम के अनुरूप सीमाओं से आगे खींचकर ले आने का—ज़रूर अस्तित्व है। जब उसका अपने कम दाम पर बेचने वाले प्रतिद्वन्द्वी से मुक़ाबला होता है, तो वह इस बात पर भी ज़ोर देने लगता है कि इस ओवरटाइम काम के लिये अतिरिक्त मजदूरी (extra pay) दी जानी चाहिये। मगर यहां भी उसको यह मालूम नहीं होता कि जिस तरह श्रम के साधारण घण्टे के दाम में कुछ अवेतन श्रम शामिल होता है, उसी तरह इस अतिरिक्त मजदूरी में भी कुछ ऐसा श्रम शामिल होता है, जिसके लिये उजरत नहीं दी जाती। मिसाल के लिये, मान लीजिये कि १२ घण्टे के काम के दिन के एक घण्टे का दाम ३ पेन्स होता है, जो आधे घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है, जब कि ओवरटाइम काम के एक घण्टे का दाम ४ पेन्स होता है, जो $\frac{२}{३}$ घण्टे के श्रम की पैदावार के मूल्य के बराबर होता है। पहली सूरत में पूंजीपति काम के घण्टे के आधे भाग को मुफ़्त में हस्तगत कर लेता है, दूसरी सूरत में वह एक तिहाई भाग पर मुफ़्त में अधिकार कर लेता है।

## इक्कीसवां अध्याय

# कार्यानुसार मजदूरी

जिस तरह समयानुसार मजदूरी श्रम-शक्ति के मूल्य अथवा दाम के एक परिवर्तित रूप के सिवा और कुछ नहीं होती, उसी तरह कार्यानुसार मजदूरी समयानुसार मजदूरी के परिवर्तित रूप के सिवा और कुछ नहीं होती।

कार्यानुसार मजदूरी में पहली दृष्टि में ऐसा मालूम होता है, मानो मजदूर से जो उपयोग-मूल्य खरीदा गया है, वह उसकी श्रम-शक्ति का कार्य – अर्थात् उसका जीवित श्रम – नहीं है, बल्कि पैदावार में पहले से निहित श्रम है, और जैसे कि इस श्रम का दाम समयानुसार मजदूरी की प्रणाली के समान नीचे लिखे भिन्न $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित संख्या के घण्टों का काम का दिन}}$ के अनुसार नहीं, बल्कि उत्पादक की काम करने की क्षमता से निर्धारित होता है।[1]

इस दिखावटी रूप में जिन लोगों को विश्वास है, उनको पहला धक्का इस बात से लगना चाहिये कि उद्योग की समान शाखाओं में दोनों तरह की मजदूरी साथ-साथ पायी जाती है। मिसाल के लिये, "लन्दन के कम्पोज़िटर आम तौर पर कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली

---

[1] "कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली श्रमजीवी मनुष्य के इतिहास के एक विशेष युग का द्योतक है। उसकी स्थिति पूंजीपति की इच्छा पर निर्भर रहने वाले और महज़ रोज़नदारी पर काम करने वाले मजदूर और उस सहकारी कारीगर के बीच, जिसके अनतिदूर भविष्य में कारीगर और पूंजीपति दोनों को अपने रूप में मिलाकर एक कर देने की सम्भावना है। कार्यानुसार मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर मालिक की पूंजी पर काम करते हुए भी वास्तव में ख़ुद अपने मालिक होते हैं।" (John Watts, "*Trade Societies and Strikes, Machinery and Co-operative Societies*" [जान वाट्स, 'व्यापार-समितियां और हड़तालें, मशीनें और सहकारी समितियां'], Manchester, 1865, पृ० ५२, ५३।) इस नन्ही सी पुस्तिका को मैंने इसलिये उद्धृत किया है कि पूंजीवादी व्यवस्था की वकालत में दी जाने वाली जितनी अति-साधारण दलीलें बरसों पहले सड़ गयी हैं, यह पुस्तिका उन सब का मानों चहेता बच्चा है। यही मि० वाट्स इसके पहले ओवेनवाद की तिजारत किया करते थे और १८४२ में उन्होंने "*Facts and Fictions of Political Economists*" ('अर्थशास्त्रियों के तथ्य एवं कपोल-कल्पनाएं') शीर्षक से एक और पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने अन्य बातें कहने के अलावा यह घोषणा भी की थी कि "सम्पत्ति डाकाजनी है" ("property is robbery")। पर यह बहुत पुरानी बात है।

के मुताबिक़ काम करते हैं और समयानुसार मजदूरी अपवाद-स्वरूप होती है, जब कि देहात के कम्पोजिटरों को दिन के हिसाब से मजदूरी मिलती है और वहां कार्यानुसार मजदूरी अपवाद होती है। लन्दन के बन्दरगाह के जहाज बनाने वाले ठेके पर या कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के मुताबिक़ काम करते हैं, जब कि बाक़ी सभी स्थानों के जहाज बनाने वालों को दिन के हिसाब से मजदूरी मिलती है।[1]

लन्दन की जीनसाजी की दूकानों में अक्सर एक से काम के लिये फ़्रांसीसी मजदूरों को कार्यानुसार और अंग्रेज मजदूरों को समयानुसार मजदूरी दी जाती है। नियमित रूप से काम करने वाली जिन फ़ैक्टरियों में शुरू से आखिर तक कार्यानुसार मजदूरी का दौर-दौरा है, उनमें भी कुछ ख़ास ढंग के काम इस प्रकार की मजदूरी के लिये अनुपयुक्त होते हैं और इसलिये उनकी उजरत समय के अनुसार दी जाती है।[2] लेकिन इसके अलावा यह बात भी स्वतःस्पष्ट है कि मजदूरी देने के रूप में जो भेद होता है, उससे मजदूरी के भौतिक स्वरूप में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, हालांकि उसका एक रूप दूसरे रूप की अपेक्षा पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिये अधिक सुविधाजनक होता है।

मान लीजिये कि काम के साधारण दिन में १२ घण्टे होते हैं, जिनमें से मजदूर को ६ घण्टों की उजरत मिलती है और ६ घण्टों की नहीं। मान लीजिये कि इस तरह के एक दिन में ६ शिलिंग का मूल्य पैदा होता है और इसलिये एक घण्टे के श्रम से ६ पेन्स का मूल्य तैयार होता है। फ़र्ज़ कीजिये कि अनुभव के द्वारा हम यह जानते हैं कि जो मजदूर औसत मात्रा की

---

[1] T. J. Dunning, "*Trades'Unions and Strikes*" (टी० जे० डन्निंग, 'ट्रेड-यूनियनें और हड़तालें'), London, 1860, पृ० २२।

[2] मज़दूरी के इन दोनों रूपों का एक ही समय में और साथ-साथ योग करने से मालिकों को धोखा देने का कितना बड़ा मौक़ा मिलता है, इसका एक उदाहरण देखिये। "एक फ़ैक्टरी में ४०० व्यक्ति नौकर हैं। उनमें से आधे कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली पर काम करते हैं, और उनको प्रत्यक्षतः ज़्यादा देर तक काम करने में दिलचस्पी होती है। बाक़ी २०० को दिन के हिसाब से मज़दूरी मिलती है, पर वे भी दूसरे २०० मज़दूरों के समान ही देर तक काम करते हैं और ओवरटाइम काम के लिये उनको कोई अतिरिक्त मज़दूरी नहीं मिलती . . . इन २०० व्यक्तियों का आधे घण्टे रोज़ का काम एक व्यक्ति के ५० घण्टे के काम के बराबर, या एक व्यक्ति के सप्ताह भर के श्रम के $\frac{५}{६}$ के बराबर होता है, जिससे मालिक सरासर फ़ायदे में रहता है।" ("*Reports of Insp. of Fact., 31st Oct., 1860*" ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६०'], पृ० ९।) "अत्यधिक काम लेने का आजकल भी बहुत काफ़ी चलन है, और अधिकतर स्थानों में ख़ुद क़ानून ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि अपराधी के लिये पकड़े जाने और सज़ा पा जाने का कोई ख़तरा नहीं रहता। मैं पुरानी बहुत सी रिपोर्टों में यह दिखा चुका हूं कि . . . इससे उन मज़दूरों को क्या हानि पहुंचती हैं, जिनको कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली के मुताबिक़ नौकर नहीं रखा गया है और जिनको साप्ताहिक मज़दूरी मिलती है।" (लेओनार्ड होर्नर की रिपोर्ट, "*Reports of Insp. of Fact.*, 30th April, 1859" ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८५९'], पृ० ८, ९।)

तीव्रता और निपुणता के साथ काम करता है और जो इसलिये किसी वस्तु के उत्पादन में केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम लगाता है, वह १२ घण्टे में २४ अदद तैयार करता है, जो या तो अलग-अलग वस्तुएं होते हैं और या किसी एक सतत इकाई के मापे जाने लायक़ अंश होते हैं। इन २४ अदद का मूल्य उनमें निहित स्थिर पूंजी के अंश को घटा देने के बाद ६ शिलिंग होता है और एक अदद का मूल्य ३ पेन्स बैठता है। मजदूर को हर अदद के लिये $1\frac{1}{2}$ पेन्स मिलते हैं, और इस तरह वह १२ घण्टे में ३ शिलिंग कमा लेता है। जिस तरह समयानुसार मजदूरी में हम चाहे यह मान लें कि मजदूर ६ घण्टे अपने लिये काम करता है और ६ घण्टे पूंजीपति के लिये, और चाहे यह मान लें कि वह हर घण्टे में आधा घण्टा अपने लिये और आधा घण्टा पूंजीपति के लिये काम करता है, उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, उसी तरह कार्यानुसार मजदूरी में चाहे हम यह कहें कि हर अदद की आधी उजरत मजदूर को दे दी गयी है और आधी नहीं दी गयी, और चाहे यह कहें कि श्रम-शक्ति का मूल्य केवल १२ अदद के दाम में निहित है और बाक़ी १२ अदद में अतिरिक्त मूल्य निहित है, बात एक ही रहती है।

कार्यानुसार मजदूरी का रूप समयानुसार मजदूरी के रूप के समान ही अयुक्तिसंगत है। हमारे उदाहरण में दो अदद माल की क़ीमत उनके उत्पादन में ख़र्च कर दिये गये उत्पादन के साधनों का मूल्य घटा देने के बाद ६ पेंस होती है, क्योंकि वे एक घण्टे की पैदावार होते हैं। परन्तु मजदूर को उनके एवज में केवल ३ पेन्स ही मिलते हैं। कार्यानुसार मजदूरी वास्तव में मूल्य के किसी सम्बंध को स्पष्टतापूर्वक अभिव्यक्त नहीं करती। इसलिये, यहां माल के किसी अदद का मूल्य उसमें निहित श्रम-काल के द्वारा नहीं नापा जाता, बल्कि, इसके विपरीत, मजदूर ने जो श्रम-काल ख़र्च किया है, वह इस बात से नापा जाता है कि उसने कितने अदद माल तैयार किया है। समयानुसार मजदूरी में श्रम को उसकी तात्कालिक अवधि के द्वारा मापा जाता है, कार्यानुसार मजदूरी में उसे उन उत्पादित वस्तुओं की मात्रा से मापा जाता है, जिनमें वह श्रम एक निश्चित समय के भीतर समाविष्ट हो गया है।[1] खुद श्रम-काल का दाम अन्त में इस समीकरण के द्वारा निर्धारित होता है: एक दिन के श्रम का मूल्य = श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य। इसलिये, कार्यानुसार मजदूरी केवल समयानुसार मजदूरी का ही एक परिवर्तित रूप होती है।

आइये, अब कार्यानुसार मजदूरी की चरित्रगत विशेषताओं पर थोड़ा निकट से विचार करें।

यहां श्रम के गुणगत स्तर पर काम खुद नियंत्रण रखता है, क्योंकि कार्यानुसार पूरा दाम उसी वक़्त मिलेगा, जब काम औसत निपुणता का होगा। इस दृष्टि से कार्यानुसार मजदूरी वेतन में कटौती करने और पूंजीवादी धोखेबाजी में बहुत मददगार साबित होती है।

कार्यानुसार मजदूरी के रूप में पूंजीपति को श्रम की तीव्रता की एक अचूक माप मिल जाती है। केवल वही श्रम-काल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल माना जाता है और

---

[1] "Le salaire peut se mesurer de deux manières: ou sur la durée du travail, ou sur son produit" ("मजदूरी को दो तरह से मापा जा सकता है: या तो श्रम की अवधि के द्वारा और या श्रम की पैदावार के द्वारा") (*"Abrégé élémentaire des principes de l'Economie Politique"*, Paris, 1796, पृ० ३२)। इस गुमनाम रचना के लेखक हैं जी० गार्नियर।

उसी रूप में उसकी उजरत दी जाती है, जो मालों की एक ख़ास प्रमात्रा में निहित होता है। यह ख़ास प्रमात्रा अनुभव के द्वारा पहले ही से तै हो जाती है। इसलिये, लन्दन के दर्ज़ियों की अपेक्षाकृत बड़ी वर्कशापों में कोई ख़ास कार्य – उदाहरण के लिये, एक वास्कट – एक घण्टा या आधा घण्टा कहलाता है, और एक घण्टे की मजदूरी ६ पेन्स होती है। अभ्यास से यह मालूम हो जाता है कि एक घण्टे की औसत पैदावार कितनी होती है। नये फ़ैशन का या मरम्मत आदि का काम होता है, तो मालिक और मजदूर के बीच में इस प्रश्न को लेकर झगड़ा शुरू हो जाता है कि अमुक विशिष्ट कार्य एक घण्टे के बराबर है या नहीं, और जब तक यह प्रश्न भी अनुभव के आधार पर तै नहीं हो जाता, तब तक यह झगड़ा चलता ही रहता है। लन्दन की फ़र्नीचर बनाने वाली वर्कशापों आदि में भी यही चीज़ होती है। यदि मजदूर में औसत दर्जे की योग्यता नहीं होती और यदि इसके फलस्वरूप वह प्रति दिन एक निश्चित अल्पतम मात्रा में काम नहीं कर पाता, तो उसे काम से बर्खास्त कर दिया जाता है।[1]

यहां काम के स्तर पर और उसकी तीव्रता पर चूंकि ख़ुद मजदूरी के रूप का नियंत्रण लगा रहता है, इसलिये श्रम पर निगाह रखने के कार्य का अधिकांश अनावश्यक हो जाता है। इसलिये कार्यानुसार मजदूरी उस आधुनिक "घरेलू श्रम" की नींव डाल देती है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, और साथ ही एक पद-सोपान के अनुसार संगठित शोषण और उत्पीड़न की व्यवस्था क़ायम कर देती है। इस व्यवस्था के दो बुनियादी रूप होते हैं। कार्यानुसार मजदूरी से एक तरफ़ तो पूंजीपति और मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर के बीच कुछ परजीवियों को डाल देने और "श्रम के शिकमी" बना देने ("sub-letting of labour") में सहायता मिलती है। पूंजीपति श्रम का जो दाम देता है और इस दाम का जो हिस्सा सचमुच मजदूर तक पहुंचने दिया जाता है, उनके बीच के अन्तर से ही इन शिकमियों का पूरा मुनाफ़ा निकलता है।[2] इंगलैण्ड में यह व्यवस्था "Sweating system" ("प्रस्वेदन-प्रणाली") कहलाती है, जो बड़ा अर्थपूर्ण नाम है। दूसरी तरफ़, कार्यानुसार मजदूरी से पूंजीपति को मजदूरों के मेट के साथ फ़ी अदद के हिसाब से मजदूरी का क़रार करने का मौक़ा मिल जाता है। हस्तनिर्माण में यह मेट मजदूरों के किसी दल का मुखिया होता है, कोयला-खानों में वह कोयला खोदने वाला होता है और फ़ैक्टरी में यह क़रार ख़ुद मशीन पर काम करने वाले मजदूर के साथ हो

---

[1] "उसको (कताई करने वाले को) कपास की निश्चित मात्रा सौंप दी जाती है, और उसे एक निश्चित समय के भीतर उसके एवज़ में एक निश्चित वजन और एक निश्चित दर्जे की बारीकी का सूत या लच्छी तैयार करके देनी पड़ती है। उसके बदले में उसे फ़ी पौण्ड के हिसाब से कुछ रक़म मिल जाती है। यदि उसके काम में कोई दोष नज़र आता है, तो उसका ख़मियाज़ा मजदूर को भुगतना पड़ता है। यदि पैदावार मात्रा में एक निश्चित समय के लिये निर्धारित अल्पतम मात्रा से कम होती है, तो कताई करने वाले को बर्ख़ास्त कर दिया जाता है और कोई अधिक योग्य मजदूर रख लिया जाता है।" (Ure, उप० पु०, पृ० ३१७।)

[2] "जब काम कई हाथों से गुज़रता है, जिनमें से हर हाथ मुनाफ़े में हिस्सा बंटाता है, मगर काम केवल आख़िरी हाथ करता है, तब मजदूरिन के पास जो मजदूरी पहुंचती है, वह अनुपात में बहुत ही कम रह जाती है।" (*"Child. Emp. Com. II Report"* ['बाल-सेवायोजन आयोग की दूसरी रिपोर्ट'], पृ० *LXX* [सत्तर], अंक ४२४।)

जाता है। क़रार में जो दाम तै होता है, उसके एवज में मेट खुद मजदूरों को नौकर रखता है और उनकी मजदूरी देता है। यहां पूंजी द्वारा श्रम का शोषण मजदूर द्वारा मजदूर के शोषण से सम्पन्न होता है।[1]

कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में स्वभावतया यह बात खुद मजदूर के व्यक्तिगत हित में होती है कि वह अपनी श्रम-शक्ति से ज्यादा से ज्यादा जोर लगाकर काम ले। इससे पूंजीपति को श्रम की सामान्य तीव्रता को बहुत आसानी से बढ़ाने में मदद मिलती है।[2] इसके अलावा, काम के दिन की लम्बाई को बढ़ाना भी मजदूर के व्यक्तिगत हित में होता है, क्योंकि उसके साथ-साथ उसकी दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी बढ़ती जाती है।[3] इसकी धीरे-धीरे इसी प्रकार

---

[1] वर्तमान व्यवस्था के वकील वाट्स तक ने यह लिखा है: "कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में बड़ा सुधार हो जाये, यदि एक काम में लगे हुए सभी मजदूरों में से प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार क़रार में साझीदार बना दिया जाये और मौजूदा तरीक़ा ख़तम हो जाये, जिसमें एक आदमी अपने निजी लाभ के वास्ते अपने सहयोगियों से कमर-तोड़ काम लेता है।" (उप० पु०, पृ० ५३।) इस प्रणाली की ज़िल्लत के बारे में देखिये *"Child. Emp. Com. Rep. III"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की तीसरी रिपोर्ट'), पृ० ६६, अंक २२; पृ० ११, अंक १२४; पृ० *XI* (ग्यारह), अंक १३, ५३, ५६, इत्यादि।

[2] यह बात स्वयंस्फूर्त ढंग से तो होती ही है, उसको बनावटी ढंग से भी बढ़ावा दिया जाता है। मिसाल के लिये, लन्दन के इंजीनियरिंग के व्यवसाय में बहुधा यह तरकीब काम में लायी जाती है कि "औरों से ज्यादा शारीरिक बल तथा फुर्ती वाले एक आदमी को कई मजदूरों के मुखिया के रूप में छांट लिया जाता है और सामान्य मजदूरी के अलावा उसे हर तीन महीने या किसी दूसरी अवधि के बाद अतिरिक्त मजदूरी देकर इसके लिये राज़ी कर लिया जाता है कि वह ज्यादा से ज्यादा सख़्त मेहनत करेगा, ताकि साधारण मजदूरी पाने वाले बाक़ी मजदूर भी उसके बराबर काम करने की कोशिश करें ... हम इसपर कोई टीका-टिप्पणी नहीं करते। पर इससे यह बात काफ़ी साफ़ हो जानी चाहिये कि मालिक ट्रेड-यूनियनों के ख़िलाफ़ अक्सर इस तरह की जो शिकायतें किया करते हैं कि वे मजदूरों को लगन के साथ काम नहीं करने देते और अपनी पूरी निपुणता और कार्यक्षमता का प्रयोग नहीं करने देते ("stinting the action superior skill and working-power"), उनके पीछे असल में क्या चीज़ होती है।" (Dunning, उप० पु०, पृ० २२, २३।) इसका लेखक चूंकि ख़ुद एक मजदूर और एक ट्रेड-यूनियन का सेक्रेटरी है, इसलिये समझा जा सकता है कि उसकी बात में कुछ अतिशयोक्ति होगी। परन्तु पाठक इसकी जे० सी० मौर्टन की 'highly respectable' ('अत्यन्त प्रतिष्ठित') रचना 'खेती का विश्वकोष' के *"Labourer"* ('मजदूर') शीर्षक लेख से तुलना करके देख सकते हैं, जहां किसानों को इस प्रणाली का जांची-परखी प्रणाली के रूप में उपयोग करने की सलाह दी गयी है।

[3] "जिनको कार्यानुसार मजदूरी मिलती है, उन सब को ... काम की क़ानूनी सीमाओं का अतिक्रमण करने में फ़ायदा रहता है। जिन औरतों से बुनकरों और अटेरने वालों का काम लिया जाता है, वे ख़ास तौर पर ओवरटाइम काम करने के लिये तैयार रहती हैं।" (*"Rept. of Insp. of Fact., 30th April, 1858"* ['फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३० अप्रैल १८५८'], पृ० ६।) "इस प्रणाली से (कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली से) मालिक को

की प्रतिक्रिया होती है, जिस प्रकार की प्रतिक्रिया का हम समयानुसार मजदूरी के सम्बंध में वर्णन कर चुके हैं। यदि कार्यानुसार मजदूरी स्थिर रहती है, तब भी काम के दिन के और लम्बा कर दिये जाने के फलस्वरूप श्रम के दाम में अनिवार्य रूप से जो गिराव आ जाता है, वह इस सब से अलग रहता है।

समयानुसार मजदूरी की प्रणाली में कुछ अपवादों को छोड़कर कुछ तरह के काम के लिये सदा एक सी मजदूरी दी जाती है, पर कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में हालांकि श्रम-काल का दाम पैदावार की एक निश्चित मात्रा के द्वारा मापा जाता है, फिर भी दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी मजदूरों के व्यक्तिगत भेदों के साथ-साथ घटती-बढ़ती जायेगी ; एक मजदूर एक निश्चित समय में केवल अल्पतम मात्रा में पैदावार तैयार करेगा, दूसरा औसत मात्रा पैदा कर देगा और तीसरा औसत से ज्यादा पैदा कर देगा। इसलिये, जहां तक मजदूरों की वास्तविक आय का सम्बंध है, वह अलग-अलग मजदूरों की अलग-अलग निपुणता, शक्ति, क्रियाशीलता, काम में जुटने की क्षमता आदि के अनुसार कम या ज्यादा अनेक प्रकार की हो सकती है।[1] जाहिर है, इससे पूंजी और मजदूरी के बीच पाये जाने वाले सामान्य सम्बंधों में कोई परिवर्तन नहीं होता। एक तो पूरी वर्कशाप में अलग-अलग व्यक्तिगत भेद एक दूसरे का पलड़ा बराबर कर देते हैं और इस तरह एक निश्चित समय में वर्कशाप औसत पैदावार तैयार कर देती है, और सब मजदूरों को मिलाकर जो मजदूरी दी जाती है, वह उद्योग की उस ख़ास शाखा की औसत मजदूरी होती है। दूसरे, मजदूरी और अतिरिक्त मूल्य के बीच का अनुपात ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि हर अलग-अलग मजदूर अतिरिक्त श्रम की जो मात्रा देता है, वह उसको मिलने वाली मजदूरी के अनुरूप होती है। परन्तु कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में व्यक्तित्व के विकास की अधिक सम्भावना रहती है, और उससे एक ओर तो उस व्यक्तित्व का और उसके साथ-साथ मजदूरों की स्वतंत्रता, स्वाधीनता तथा आत्म-नियंत्रण की भावना का विकास होता है और दूसरी ओर उनके बीच प्रतियोगिता बढ़ जाती है। इसलिये कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली में जहां एक तरफ़ अलग-अलग व्यक्तियों की मजदूरी को औसत मजदूरी के ऊपर उठाने की प्रवृत्ति होती है, वहां उसमें इस औसत को नीचे गिराने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। परन्तु जहां कहीं बहुत दिनों से कार्यानुसार मजदूरी की एक ख़ास दर परम्परा से निश्चित हो गयी है और इसलिये उसे नीचे गिराना विशेष रूप से कठिन प्रतीत

---

बड़ा लाभ होता है... नौजवान बर्तन बनाने वालों को चार या पांच बरस तक कार्यानुसार मजदूरी की प्रणाली के अनुसार नौकर रखा जाता है, पर मजदूरी की दर बहुत नीची होती है। इस प्रणाली से प्रत्यक्ष रूप में ऐसे मजदूरों को इन पूरे चार-पांच वर्षों तक अत्यधिक परिश्रम करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है... बर्तन बनाने वालों के बुरे स्वास्थ्य का यह भी एक बड़ा कारण है।" (*"Child. Empl. Com. I Rept."* ['बाल-सेवायोजन आयोग की पहली रिपोर्ट'], पृ० *XIII* [तेरह]।)

[1] "जब किसी धंधे में मजदूरी कार्यानुसार दी जाती है, तो . . . मजदूरी की मात्रा में बहुत काफ़ी फ़र्क़ हो सकता है . . . लेकिन जहां दिन के हिसाब से काम लिया जाता है, वहां आम तौर पर एक सी दर होती है . . . जिसे मालिक और नौकर दोनों उस धंधे में काम करने वाले साधारण मजदूरों की मजदूरी का मानदण्ड मानते हैं।" (Dunning, उप० पु०, पृ० १७।)

होता है, ऐसी असाधारण परिस्थितियों में मालिक लोग कभी-कभी इस तरक़ीब का सहारा लेते हैं कि वे कार्यानुसार मज़दूरी को ज़बर्दस्ती समयानुसार मज़दूरी में बदल देते हैं। मिसाल के लिये, १८६० में कोवेण्टरी के फ़ीते बुनने वाले मज़दूरों ने इसी कारण एक बड़ी हड़ताल की थी।[1] अन्तिम बात यह है कि पिछले अध्याय में हमने जिस घण्टेवार प्रणाली का वर्णन किया था, कार्यानुसार मज़दूरी उसका एक मुख्य आधार-स्तम्भ है।[2]

---

[1] "Le travail des Compagnons-artisans sera réglé à la journée ou à la pièce... Ces maîtres-artisans savent à peu près combien d'ouvrage un compagnon-artisan peut faire par jour dans chaque métier, et les payent souvent à proportion de l'ouvrage qu'ils font; ainsi cet compagnons travaillent autant qu'ils peuvent, pour leur propre intérêt, sans autre inspection" ("मज़दूर कारीगरों को दिन के हिसाब से या कार्य के हिसाब से काम करना होगा . . . मालिकों को मालूम होता है कि प्रत्येक धंधे में एक मज़दूर कारीगर रोज़ाना कितना काम कर सकता है, और इसलिये उसकी तनख़्वाह अक्सर वह जितना काम करता है, उसके अनुसार तै होती है, इसलिये मज़दूर कारीगर ख़ुद अपना हित-साधन करने के उद्देश्य से भरसक मेहनत करते हैं और उनपर निगाह रखने की कोई ज़रूरत नहीं होती")। (Cantillon, '*Essai sur la Nature du Commerce en général*', Amsterdam का संस्करण, 1756, पृ० १८५ और २०२। इस पुस्तक का पहला संस्करण १७५५ में प्रकाशित हुआ था।) कैंतिलों ने, जिनसे क्वेज़ने, सर जेम्स स्टीवर्ट और ऐडम स्मिथ ने बहुत-कुछ उधार लिया है, इसी पुस्तक में कार्यानुसार मज़दूरी को केवल समयानुसार मज़दूरी के एक परिवर्तित रूप की तरह पेश किया था। कैंतिलों की रचना के फ़्रांसीसी संस्करण के मुखपृष्ठ में कहा गया है कि वह अंग्रेज़ी संस्करण का अनुवाद है, लेकिन अंग्रेज़ी संस्करण "*The Analysis of Trade, Commerce, etc., by Philip Cantillon, late of the city of London, Merchant*" ('व्यापार, व्यवसाय आदि का विश्लेषण। – लन्दन नगरी के सौदागर फ़िलिप कैंतिलों द्वारा लिखित') पर न सिर्फ़ बाद की तारीख़ (१७५९) पड़ी हुई है, बल्कि उसकी अन्तर्वस्तु से भी यह प्रमाणित होता है कि यह इस पुस्तक का बाद का और संशोधित संस्करण है। उदाहरण के लिये, फ़्रांसीसी संस्करण में ह्यूम का अभी तक कोई ज़िक्र नहीं है, जब कि, दूसरी ओर, अंग्रेज़ी संस्करण में पेटी की लगभग सारी चर्चा काट दी गयी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से अंग्रेज़ी संस्करण कम महत्वपूर्ण है, लेकिन उसमें इंगलैण्ड के वाणिज्य, सोना-चांदी के व्यवसाय आदि के बारे में ऐसी बहुत सी ब्यौरे की बातें मिलती हैं, जो फ़्रांसीसी पाठ में नहीं हैं। इसलिये अंग्रेज़ी संस्करण के मुख-पृष्ठ पर जो यह लिखा है कि यह रचना "taken chiefly from the manuscript of a very ingenious gentleman deceased and adapted, etc." ("मुख्यतया एक बहुत ही चतुर, मृत व्यक्ति की हस्तलिपि में संशोधन करके तैयार की गयी है, इत्यादि"), वह विशुद्ध कल्पना की उपज प्रतीत होता है। उस ज़माने में इस तरह का बहुत चलन था।

[2] "Combien de fois n'avons-nous pas vu, dans certains ateliers, embaucher beaucoup plus d'ouvriers que ne le demandait le travail à mettre en main? Souvent, dans la prévision d'un travail aléatoire, quelquefois même imaginaire, on admet des ouvriers: comme on les paie aux, pièces, on se dit qu'on ne court aucun risque, parce que toutes les partes de temps seront à la charge

अभी तक जो कुछ बताया जा चुका है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्यानुसार मजदूरी ही मजदूरी का वह रूप है, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से सबसे अधिक मेल खाता है। यद्यपि यह रूप कदापि नया नहीं है,—फ्रांस और इंगलैण्ड के मजदूर सम्बंधी क़ानूनों में १४ वीं शताब्दी में ही समयानुसार मजदूरी के साथ कार्यानुसार मजदूरी का भी सरकारी तौर पर ज़िक्र हो चुका है,—तथापि वह अपने लिये अपेक्षाकृत बड़ा कार्य-क्षेत्र केवल उसी काल में जीत पाता है, जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है। आधुनिक युग के तूफ़ानी यौवन-काल में, विशेषकर १७९७ से १८१५ तक, कार्यानुसार मजदूरी ने काम के दिन की लम्बाई को बढ़ाने और समयानुसार मजदूरी को नीचे गिराने के लीवर का काम लिया। इस काल में मजदूरी में जो उतार-चढ़ाव आते रहे, उनके बारे में बहुत महत्वपूर्ण सामग्री इन सरकारी प्रकाशनों में मिलती है: "*Report and Evidence from the Select Commitee on Petitions respecting the Corn Laws*" ('अनाज के क़ानूनों के विषय में आयी हुई दरख़ास्तों पर विचार करने के लिये नियुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट, गवाहियों सहित') (१८१३-१४ का संसदीय अधिवेशन) और "*Report from the Lords' Committee, on the State of the Growth, Commerce, and Consumption of Grain, and all Laws relating thereto*" ('अनाज की उपज, वाणिज्य और उपभोग सम्बंधी स्थिति तथा अनाज सम्बंधी तमाम क़ानूनों की स्थिति पर विचार करने के लिये नियुक्त की गयी लार्ड्‌स-समिति की रिपोर्ट') (१८१४-१५ का अधिवेशन)। इन रिपोर्टों में इसका लिखित प्रमाण मिल जाता है कि जैकोबिन-विरोधी युद्ध के आरम्भ से ही श्रम का दाम लगातार गिरता जा रहा था। उदाहरण के लिये, बुनाई के उद्योग में कार्यानुसार मजदूरी इतनी ज्यादा गिर गयी थी कि हालांकि काम का दिन पहले से बहुत ज्यादा लम्बा कर दिया गया था, फिर भी दैनिक मजदूरी पहले से कम ही बैठती थी। "सूती कपड़े की बुनाई करने वाले मजदूर की असली कमाई अब पहले से बहुत कम होती है; पहले साधारण मजदूर की तुलना में उसका दर्जा बहुत ऊंचा था, अब उसकी श्रेष्ठता लगभग पूरी तरह समाप्त हो गयी है। सच तो यह है कि... निपुण और साधारण मजदूर की मजदूरी के बीच आजकल जितना कम अन्तर रह गया है, उतना पहले कभी नहीं था।"[1] कार्यानुसार मजदूरी के द्वारा श्रम की तीव्रता और विस्तार में जो वृद्धि हुई थी, उससे खेतिहर सर्वहारा को कितना कम लाभ हुआ, इसका एक उदाहरण ज़मींदारों तथा काश्तकारों की हिमायत करने वाली एक पुस्तक से लिये गये निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है: "खेती की क्रियाओं में से अधिकतर

---

des inoccupés" ("यह अक्सर देखने में आता है कि कुछ ख़ास वर्कशापों में, मालिकों के हाथ में जो काम होता है, उसके लिये जितने मजदूरों की आवश्यकता होती है, वे उससे ज्यादा मजदूरों को नौकर रख लेते हैं। बहुधा संभावित कार्य की आशा में (जो सर्वथा काल्पनिक आशा भी सिद्ध हो सकती है) अधिक मजदूरों को नौकर रख लिया जाता है। इन मजदूरों को चूंकि कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है, इसलिये मालिक को किसी तरह का नुक़सान नहीं हो सकता, क्योंकि जो भी समय जाया होगा, उसका पूरा ख़मियाज़ा बेकार बैठे मजदूरों को भुगतना पड़ेगा")। (H. Grégoir, "*Les Typographes devant le Tribunal correctionnel de Bruxelles*", Bruxelles, 1865, पृ० ९।)

[1] "*Remarks on the Commercial Policy of Great Britain*" ('ब्रिटेन की वाणिज्य-नीति पर कुछ टिप्पणियां'), London, 1815, पृ० ४८।

क्रियाएं बहुधा उन लोगों के द्वारा सम्पन्न होती हैं, जिनको दिन भर के लिये या कार्यानुसार मजदूरी पर नौकर रखा जाता है। इन लोगों की साप्ताहिक मजदूरी १२ शिलिंग के लगभग होती है, और हालांकि यह माना जा सकता है कि कार्यानुसार मजदूरी पर काम करने वाले आदमी को चूंकि अधिक श्रम करने की प्रेरणा मिलती रहती है, इसलिये वह साप्ताहिक मजदूरी पर काम करने वाले आदमी की अपेक्षा १ शिलिंग या २ शिलिंग ज्यादा कमा लेता होगा, परन्तु उसकी कुल आमदनी का हिसाब लगाने पर पता चलता है कि साल भर में उसे जितने दिन बेकार रहना पड़ता है, उन दिनों का नुक़सान इस लाभ से कहीं ज्यादा होता है... इसके अलावा, आम तौर पर हम यह भी पायेंगे कि इन लोगों की मजदूरी का जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दाम के साथ एक विशेष अनुपात होता है, जिसके फलस्वरूप दो बच्चों वाला मजदूर बिना चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता लिये अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है।"[1] संसद ने जो तथ्य प्रकाशित किये थे, उनका हवाला देते हुए माल्थूस ने उस समय कहा था: "मैं यह स्वीकार करता हूं कि कार्यानुसार मजदूरी की प्रथा का चलन जितना बढ़ गया है, उसे देखकर मुझे भय होता है। दिन में १२ या १४ घण्टे, या उससे भी ज्यादा देर तक सचमुच कड़ी मेहनत करते जाना किसी भी मनुष्य के लिये हानिकारक सिद्ध होगा।"[2]

जिन कारखानों पर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हैं, उनमें कार्यानुसार मजदूरी एक सामान्य नियम बन जाती है, क्योंकि वहां पूंजी केवल श्रम की तीव्रता को बढ़ाकर ही काम के दिन को अधिक लाभदायक बना सकती है।[3]

जब श्रम की उत्पादकता बदल जाती है, तो पैदावार की वही प्रमात्रा पहले से भिन्न श्रम-काल का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इसलिये कार्यानुसार मजदूरी भी घटती-बढ़ती रहती है, क्योंकि वह पहले से निश्चित एक श्रम-काल की मुद्रा के रूप में अभिव्यंजना होती है। ऊपर हमने जो उदाहरण दिया था, उसमें १२ घण्टे में २४ अदद तैयार हो जाते थे और १२ घण्टे की पैदावार का मूल्य ६ शिलिंग था, श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग था, श्रम के एक घण्टे का दाम ३ पेन्स था और फ़ी अदद मजदूरी $१\frac{१}{२}$ पेन्स थी। एक अदद में आधे घण्टे का श्रम समाविष्ट हो जाता था। अब यदि श्रम की उत्पादकता दुगुनी हो जाये और उसके फलस्वरूप १२ घण्टे के काम के दिन में २४ के बजाय ४८ अदद तैयार होने लगें और अन्य सब परिस्थितियां ज्यों की त्यों रहें, तो कार्यानुसार मजदूरी $१\frac{१}{२}$ पेंस से घटकर $\frac{३}{४}$ पेनी रह जायेगी, क्योंकि

[1] "*A Defence of the Landowners and Farmers of Great Britain*" ('ब्रिटेन के जमींदारों और काश्तकारों की सफ़ाई'), London, 1814, पृ० ४,५।

[2] Malthus, „*Inquiry into the Nature and Progress of Rent*" (माल्थूस, 'लगान के स्वरूप एवं प्रगति की समीक्षा'), London, 1815।

[3] "फ़ैक्टरियों में काम करने वाले मजदूरों का शायद ८० प्रतिशत भाग ... उन लोगों का है, जिनको कार्यानुसार मजदूरी मिलती है।" ("*Reports of Insp. of Fact.*, 30th April 1858" ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३० अप्रैल १८५८'], पृ० ९।)

अब हर मदद श्रम के $\frac{१}{२}$ घण्टे के बजाय केवल $\frac{१}{४}$ घण्टे का ही प्रतिनिधित्व करेगा। २४ बार १$\frac{१}{२}$ पेन्स = ३ शिलिंग, और इसी तरह ४८ बार $\frac{३}{४}$ पेनी = ३ शिलिंग। दूसरे शब्दों में, एक ही समय में तैयार हो जाने वाले मददों की संख्या जिस अनुपात में बढ़ती जाती है[1] और इसलिये एक मदद पर खर्च होने वाला श्रम-काल जिस अनुपात में घटता जाता है, उसी अनुपात में कार्यानुसार मजदूरी भी घटती जाती है। कार्यानुसार मजदूरी में इस तरह जो परिवर्तन होता है, वह यहां तक केवल नाम-मात्र का परिवर्तन है। परन्तु उसके कारण पूंजीपति और मजदूर के बीच हमेशा संग्राम चलता रहता है। यह संग्राम या तो इसलिये चलता है कि पूंजीपति इसका बहाना बनाकर असल में श्रम का दाम कम कर देता है, और या इसलिये कि श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ उसकी तीव्रता भी बढ़ जाती है, या इसलिये कि मजदूर कार्यानुसार मजदूरी के दिखावटी स्वरूप को हक़ीक़त मान बैठता है, यानी वह यह समझने लगता है कि पूंजीपति उसकी श्रम-शक्ति की नहीं, बल्कि उसकी पैदावार की क़ीमत देता है, और इसलिये जब उसकी मजदूरी तो कम कर दी जाती है, पर माल जिस दाम पर बिकता है, उसमें कोई कमी नहीं आती, तब वह विद्रोह का झण्डा लेकर खड़ा हो जाता है। "मजदूर लोग... बहुत ध्यानपूर्वक कच्चे माल के दाम पर और तैयार माल के दाम पर निगाह रखते हैं, और इस प्रकार वे अपने मालिक के मुनाफ़े का बिल्कुल ठीक-ठीक अनुमान लगा लेते हैं।"[2]

---

[1] "उसकी कताई की मशीन की उत्पादक शक्ति बिल्कुल ठीक-ठीक माप ली जाती है, और इस उत्पादक शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ काम की मजदूरी की दर घटती जाती है, हालांकि वह उसी अनुपात में नहीं घटती।" (Ure, उप० पु०, पृ० ३१७।) इस अन्तिम सफ़ाई के रूप में लिखे गये वाक्यांश को ख़ुद उरे ने ही बाद को काट दिया था। वह यह मानते हैं कि म्यूल के लम्बा कर दिये जाने के फलस्वरूप श्रम में कुछ वृद्धि हो जाती है। इसलिये, उत्पादकता जिस अनुपात में बढ़ती है, उस अनुपात में श्रम में कमी नहीं आती। उरे ने आगे लिखा है: "इस वृद्धि से मशीन की उत्पादक शक्ति में पांचवें हिस्से का इज़ाफ़ा हो जायेगा। जब वह चीज़ होगी, तो कताई करने वाले मजदूर को उसके काम की मजदूरी उस दर पर नहीं मिलेगी, जिस दर पर पहले मिलती थी, लेकिन इस दर में चूंकि पांचवें हिस्से के अनुपात में कमी नहीं आयेगी, इसलिये यदि किन्हीं भी घण्टों के काम को लिया जायेगा, तो इस सुधार के फलस्वरूप मजदूर की कमाई कुछ बढ़ जायेगी।" लेकिन "उपर्युक्त कथन में एक संशोधन करने की आवश्यकता है... कताई करने वाला अल्पवयस्क मजदूरों से जो मदद लेता है, उसके एवज़ में उसे अपनी ६ पेन्स की अतिरिक्त आमदनी में से कुछ अतिरिक्त रक़म दे देनी होगी, और साथ ही वयस्क मजदूरों के एक हिस्से को काम से जवाब मिल जायेगा" (उप० पु०, पृ० ३२१), जिससे जाहिर है कि मजदूरी में किसी तरह वृद्धि नहीं हो सकती।

[2] H. Fawcett, "*The Economic Position of the British Labourer*" (एच० फ़ौसेट, 'ब्रिटिश मजदूर की आर्थिक स्थिति'), Cambridge and London, 1865, पृ०, १७८।

पूंजीपति इस तरह के हर दावे के जवाब में ठीक ही कहता है कि जो लोग इस तरह की बातें करते हैं, उन्होंने मजदूरी के स्वरूप को बिल्कुल नहीं समझा है।[1] वह बड़ी चीख़-पुकार शुरू कर देता है कि यह उद्योग की प्रगति पर कर लगाने की अनधिकृत चेष्टा है, और साफ़-साफ़ यह घोषणा कर देता है कि श्रम की उत्पादकता से मजदूर का क़तई कोई सम्बंध नहीं है।[2]

---

[1] २६ अक्तूबर १८६१ के लन्दन के "*Standard*" में रौचडेल के मजिस्ट्रेटों के सामने जान ब्राइट एण्ड कम्पनी नाम की एक फ़र्म के मुक़दमे की रिपोर्ट छपी है। इस फ़र्म ने "क़ालीन बुनने वालों की ट्रेड-यूनियन के एजेण्टों पर धमकी देने के लिये मुक़दमा दायर किया था। ब्राइट कम्पनी के हिस्सेदारों ने कुछ नयी मशीनें लगा ली थीं। पहले जितने समय में और जितना श्रम लगाकर १६० गज़ क़ालीन तैयार होता था, अब ये नयी मशीनें उतने ही समय में और उतना ही श्रम (!) लगाकर २४० गज़ क़ालीन तैयार कर डालती थीं। यांत्रिक सुधारों में अपनी पूंजी लगाकर मालिक लोग जो मुनाफ़ा कमा रहे हैं, उसमें हिस्सा बंटाने का मजदूरों को कोई अधिकार नहीं है। चुनांचे, ब्राइट कम्पनी ने तै किया कि मजदूरी की दर $१\frac{१}{२}$ पेन्स फ़ी गज़ से घटाकर १ पेनी फ़ी गज़ कर दी जाये, ताकि मजदूर एक निश्चित परिणाम में श्रम करके अब भी ठीक पहले जितना ही कमा सकें। लेकिन नाम के लिये तो मजदूरी की दर में कमी हो ही रही थी, और यह कहा गया था कि मजदूरों को इसकी पहले से कोई सूचना नहीं दी गयी थी, जो अन्याय की बात है।"

[2] "ट्रेड-यूनियनें मजदूरी की दर को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती हैं और इसलिये सुधरी हुई मशीनों से जो लाभ होता है, उसमें हिस्सा बंटाने की कोशिश करती हैं। (यह कितनी भयानक बात है!) ... वे पहले से ऊंची मजदूरी की मांग करती हैं, क्योंकि श्रम पहले से कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वे यांत्रिक सुधारों पर कर लगाने की कोशिश करती हैं।" ("*On Combination of Trades*" ['व्यावसायिक संघों के विषय में'], नया संस्करण, London, 1834, पृ० ४२।)

## बाईसवां अध्याय

# मजदूरी के राष्ट्रगत भेद

१७ वें अध्याय में हमने अनेक प्रकार के उन योगों पर विचार किया था, जिनसे श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में तबदीली आ सकती है। ये तबदीलियां या तो उसके निरपेक्ष परिमाण में आ सकती हैं और या उसके सापेक्ष परिमाण में—अथवा अतिरिक्त मूल्य की तुलना में उसके परिमाण में—आ सकती हैं। दूसरी ओर, श्रम का दाम जीवन-निर्वाह के साधनों की जिस प्रमात्रा में मूर्त रूप धारण करता है, उसमें इस दाम की तबदीलियों से स्वतंत्र या उससे भिन्न घटा-बढ़ी हो सकती है।[1] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जब श्रम-शक्ति का मूल्य या क्रमशः उसका दाम मजदूरी के बोधगम्य रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो इस साधारण सी बात के फलस्वरूप ये सारे नियम मजदूरी के उतार-चढ़ाव के नियमों में बदल जाते हैं। एक देश के भीतर मजदूरी के इस उतार-चढ़ाव में जो कुछ नाना प्रकार के योगों के एक क्रम के रूप में सामने आता है, वह अलग-अलग देशों में राष्ट्रीय मजदूरी के समकालीन भेद के रूप में प्रकट हो सकता है। इसलिये, अलग-अलग राष्ट्रों की मजदूरी की तुलना करते हुए, हमें उन सभी तत्वों पर विचार करना चाहिये, जिनसे श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में होने वाले परिवर्तन निर्धारित होते हैं। उसके लिये हमें जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक मुख्य वस्तुओं के स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक रूप से विकसित दाम और विस्तार पर, मजदूरों की शिक्षा के खर्चे पर विचार करना चाहिये; यह देखना चाहिये कि स्त्रियों और बच्चों के श्रम की क्या भूमिका रहती है, श्रम की उत्पादकता का खयाल रखना चाहिये तथा उसके विस्तार तथा तीव्रता पर विचार करना चाहिये। बहुत ही सतही ढंग की तुलना करने के लिये भी पहले अलग-अलग देशों में एक से धंधों की औसत दैनिक मजदूरी को काम के समान दिन की मजदूरी में परिणत कर देना आवश्यक होता है। जब अलग-अलग देशों की दैनिक मजदूरी एक ही प्रकार के काम के दिन की मजदूरी में परिणत हो जाती है, तो फिर समयानुसार मजदूरी को पुनः कार्यानुसार मजदूरी में बदलना पड़ता है, क्योंकि केवल कार्यानुसार मजदूरी के द्वारा ही श्रम की उत्पादकता और तीव्रता दोनों की माप की जा सकती है।

हर देश में श्रम की एक खास औसत तीव्रता होती है, जिससे कम तीव्रता होने पर किसी भी माल के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय से अधिक समय खर्च होने लगता है।

---

[1] "मजदूरी" (यहां लेखक मजदूरी की मुद्रा-अभिव्यंजना की चर्चा कर रहा है) "के एवज में अगर किसी सस्ती वस्तु की पहले से अधिक मात्रा मिलने लगती है, तो यह कहना सही नहीं है कि मजदूरी बढ़ गयी है।" (डैविड बुकानन, ऐडम स्मिथ की रचना "*Wealth of Nations*" ['राष्ट्रों का धन'] के अपने संस्करण में; १८१४, खण्ड १, पृ० ४१७, नोट।)

इसलिये इस औसत तीव्रता से कम तीव्रता का श्रम साधारण स्तर का श्रम नहीं गिना जाता है। किसी भी ख़ास देश में केवल श्रम-काल की अवधि के द्वारा श्रम के मापे जाने पर महज़ उसी वक़्त कुछ असर पड़ता है, जब श्रम की तीव्रता राष्ट्रीय औसत से अधिक हो जाती है। संसार-व्यापी मण्डी में, जिसके अलग-अलग देश अभिन्न अंग हैं, ऐसा नहीं होता। श्रम की औसत तीव्रता हर देश में अलग-अलग होती है,—कहीं ज्यादा, तो कहीं कम। इन राष्ट्रीय औसतों की एक श्रेणी सी बन जाती है, जिसकी मापने की इकाई सार्वत्रिक श्रम की औसत इकाई होती है। इसलिये, कम तीव्रता के राष्ट्रीय श्रम की तुलना में अधिक तीव्रता का राष्ट्रीय श्रम उतने ही समय में अधिक मूल्य पैदा कर देता है, जो अपने को अधिक मुद्रा में अभिव्यक्त करता है।

परन्तु जब मूल्य का नियम अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र पर लागू होता है, तब उसमें यह परिवर्तन और अधिक हो जाता है, क्योंकि दुनिया की मण्डी में अधिक उत्पादक राष्ट्रीय श्रम साथ ही उस वक़्त तक अधिक तीव्रता का श्रम माना जाता है, जब तक कि अधिक उत्पादक राष्ट्र प्रतियोगिता के कारण अपने मालों का दाम घटाकर उनके मूल्य के स्तर पर ले आने के लिये विवश नहीं हो जाता।

किसी देश में पूंजीवादी उत्पादन का जितना विकास हो चुका होता है, वहां श्रम की राष्ट्रीय तीव्रता और उत्पादकता उसी अनुपात में अन्तरराष्ट्रीय स्तर के ऊपर उठ जाती हैं।[1] जब अलग-अलग देशों में एक ही समय में एक ही क़िस्म के मालों की अलग-अलग मात्राएं तैयार होती हैं, तो उनका अन्तरराष्ट्रीय मूल्य असमान होता है, जो अलग-अलग दामों में, अर्थात् अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों के अनुरूप मुद्रा की भिन्न-भिन्न रक़मों में, व्यक्त होता है। इसलिये जिस राष्ट्र में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली अधिक विकसित होती है, उसमें कम विकसित पूंजीवादी प्रणाली वाले राष्ट्र की तुलना में मुद्रा का सापेक्ष मूल्य कम होगा। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाम-मात्र की मजदूरी—यानी मुद्रा के रूप में श्रम-शक्ति का सम-मूल्य—पहली प्रकार के राष्ट्र में दूसरी प्रकार के राष्ट्र की तुलना में अधिक ऊंची होगी। पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वास्तविक मजदूरी पर—अर्थात् मजदूर को मिलने वाले जीवन-निर्वाह के साधनों पर—भी यह बात लागू होती है।

लेकिन अलग-अलग देशों में मुद्रा के मूल्य में इस प्रकार का जो तुलनात्मक अन्तर पाया जाता है, उससे अलग भी अक्सर यह देखने में आता है कि पहली प्रकार के राष्ट्र में दूसरी प्रकार के राष्ट्र की अपेक्षा दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी अधिक ऊंची होती है, जब कि श्रम का सापेक्ष दाम, अर्थात् अतिरिक्त मूल्य और पैदावार के मूल्य दोनों की तुलना में श्रम का दाम, पहली प्रकार के राष्ट्र की अपेक्षा दूसरी प्रकार के राष्ट्र में अधिक ऊंचा होता है।[2]

---

[1] हम अन्यत्र यह पता लगायेंगे कि उत्पादकता से सम्बंध रखने वाली किन बातों से उद्योग की अलग-अलग शाखाओं के लिये इस नियम में कुछ परिवर्तन हो जाता है।

[2] जेम्स ऐण्डर्सन ने ऐडम स्मिथ के मत का खण्डन करते हुए कहा है: "इसी प्रकार यह बात भी उल्लेखनीय है कि हालांकि ग़रीब देशों में, जहां धरती की उपज और ग़ल्ला आम तौर पर सस्ते होते हैं, श्रम के दिखावटी दाम प्रायः नीचे होते हैं, फिर भी वे अन्य देशों की अपेक्षा अधिकांशतया असल में ऊंचे होते हैं। कारण कि श्रम का वास्तविक दाम वह मजदूरी नहीं होती, जो मजदूर को रोज़ाना दी जाती है, हालांकि दिखावटी दाम वही होती है। श्रम

१८३३ के फ़ैक्टरी-आयोग के एक सदस्य, जे० डब्लयू० कौवेल कताई के व्यवसाय की बहुत ध्यानपूर्वक जांच-पड़ताल करने के बाद इस नतीजे पर पहुंचे थे कि "योरपीय महाद्वीप की अपेक्षा इंगलैण्ड में पूंजीपति के दृष्टिकोण से मजदूरी कम वस्तुतः है, हालांकि मजदूर के दृष्टिकोण से वह अधिक है।" (Ure, पृ० ३१४।) अंग्रेज फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर एलेक्जाण्डर रेड्ग्रेव ने अपनी ३१ अक्तूबर १८६६ की रिपोर्ट में योरपीय राज्यों के आंकड़ों के साथ इंगलैण्ड के आंकड़ों का मुक़ाबला करके यह साबित किया है कि अपेक्षाकृत कम मजदूरी और लम्बे श्रम-काल के बावजूद पैदावार के अनुपात में योरपीय श्रम अंग्रेजी श्रम से अधिक महंगा पड़ता है। ओल्डेनबुर्ग में स्थित एक सूती फ़ैक्टरी के अंग्रेज मैनेजर का कहना है कि उनके यहां शनिवार समेत काम का समय सुबह ५.३० बजे से रात के ८ बजे तक है, मगर जर्मन मजदूर अंग्रेज निरीक्षकों की देखरेख में काम करते हुए भी उतनी पैदावार नहीं तैयार कर पाते, जितनी पैदावार अंग्रेज मजदूर १० घण्टे में तैयार कर देते हैं, और जर्मन निरीक्षकों की मातहती में तो वे और भी कम पैदावार तैयार करते हैं। यहां इंगलैण्ड की अपेक्षा मजदूरी बहुत कम है, बहुत से स्थानों में तो वह ५० प्रतिशत कम है, लेकिन मशीनों के अनुपात में मजदूरों की संख्या यहां बहुत अधिक है; कुछ विभागों में तो यह अनुपात ५ : ३ का है। मि० रेड्ग्रेव ने रूस की सूती फ़ैक्टरियों के विषय में बहुत विस्तृत सूचना दी है। उनको ये तथ्य एक अंग्रेज मैनेजर से प्राप्त हुए थे, जो अभी हाल तक रूस में नौकर था। इस रूसी धरती पर, जहां सभी प्रकार के कलंक खूब फलते-फूलते हैं, इंगलैण्ड की फ़ैक्टरियों के प्रारम्भिक काल की तमाम विभीषिकाएं आज भी अपने पूरे जोर के साथ दिखाई देती हैं। मैनेजर लोग, जाहिर है, यहां भी अंग्रेज हैं, क्योंकि रूसी पूंजीपति खुद फ़ैक्टरी-व्यवसाय में किसी मसरफ़ का नहीं होता। इन फ़ैक्टरियों में दिन-रात लगातार कमर-तोड़ काम लिया जाता है और सारी शर्म और हया को ताक़ पर रखकर मजदूरों को बहुत ही कम मजदूरी दी जाती है, मगर इस सब के बावजूद रूसी फ़ैक्टरी-उत्पादन केवल इसीलिये जिन्दा है कि विदेशी प्रतियोगिता पर रोक लगा दी गयी है। अन्त में मैं मि० रेड्ग्रेव की तैयार की हुई वह तुलनात्मक तालिका दे रहा हूं, जिसमें बताया गया है कि योरप के अलग-अलग देशों में हर फ़ैक्टरी के पीछे और कताई करने वाले हर मजदूर के पीछे तकुओं की औसत संख्या कितनी है। मि० रेड्ग्रेव ने खुद लिखा है कि उन्होंने ये आंकड़े कुछ वर्ष पहले जमा

---

का वास्तविक दाम वह है, जो मालिक को किसी निश्चित मात्रा का काम कराने के लिये सचमुच ख़र्च करना पड़ता है, और इस दृष्टि से धनी देशों में ग़रीब देशों की अपेक्षा श्रम लगभग सभी जगह सस्ता होता है, हालांकि अनाज के और खाने-पीने की अन्य वस्तुओं के दाम ग़रीब देशों में धनी देशों की अपेक्षा बहुत कम होते हैं... दिन के हिसाब से श्रम का दाम इंगलैण्ड की अपेक्षा स्कोटलैण्ड में बहुत कम है ... इंगलैण्ड में कार्यानुसार मजदूरी आम तौर पर कम है।" (James Anderson, *"Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry, &c."* [जेम्स ऐण्डर्सन, 'राष्ट्रीय उद्योग की भावना पैदा करने के साधनों के विषय में कुछ टिप्पणियां, आदि'], Edinburgh, 1777, पृ० ३५०, ३५१।) इसके विपरीत, अगर मजदूरी कम होती है, तो श्रम महंगा हो जाता है। "इंगलैण्ड की अपेक्षा आयरलैण्ड में श्रम अधिक महंगा है . . . क्योंकि वहां मजदूरी उतनी ही कम है।" (*"Royal Commission on Railways, Minutes"* ['रेलों सम्बन्धी शाही आयोग का मत'], 1867, अंक २०७४।)

किये थे और तब से अब तक इंगलैण्ड में फ़ैक्टरियों का आकार और तकुओं की प्रति मजदूर संख्या पहले से बढ़ गयी है। लेकिन उन्होंने यह फ़र्ज़ कर लिया है कि योरप के जिन देशों के आंकड़े तालिका में दिये गये हैं, उन देशों में भी लगभग इसके समान प्रगति हो गयी है और इस तरह तुलनात्मक अध्ययन के लिये तालिका के आंकड़ों का अब भी पहले जैसा ही महत्व है।

प्रति फ़ैक्टरी तकुओं की औसत संख्या

| | | |
|---|---|---|
| इंगलैण्ड, | प्रति फ़ैक्टरी तकुओं का औसत . . . . . . . . . . . | १२,६०० |
| फ़्रांस, | " " " " " . . . . . . . . . . . | १,५०० |
| प्रशिया, | " " " " " . . . . . . . . . . . | १,५०० |
| बेल्जियम, | " " " " " . . . . . . . . . . . | ४,००० |
| सैक्सोनी, | " " " " " . . . . . . . . . . . | ४,५०० |
| आस्ट्रिया, | " " " " " . . . . . . . . . . . | ७,००० |
| स्विटज़रलैण्ड, | " " " " " . . . . . . . . . . . | ८,००० |

प्रति मजदूर तकुओं की औसत संख्या

| | | |
|---|---|---|
| फ़्रांस, | एक व्यक्ति के पीछे . . . . . . . . . . | १४ तकुए |
| रूस, | " " " " . . . . . . . . . . | २८ " |
| प्रशिया, | " " " " . . . . . . . . . . | ३७ " |
| बवेरिया, | " " " " . . . . . . . . . . | ४६ " |
| आस्ट्रिया, | " " " " . . . . . . . . . . | ४९ " |
| बेल्जियम, | " " " " . . . . . . . . . . | ५० " |
| सैक्सोनी, | " " " " . . . . . . . . . . | ५० " |
| स्विटज़रलैण्ड, | " " " " . . . . . . . . . . | ५५ " |
| जर्मनी के छोटे राज्य, | " " " " . . . . . . . . . . | ५५ " |
| ब्रिटेन, | " " " " . . . . . . . . . . | ७४ " |

मि० रेडग्रेव ने लिखा है: "यह तुलना इसलिये और ब्रिटेन के प्रतिकूल पड़ती है कि वहां ऐसी फ़ैक्टरियों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें कताई के साथ-साथ शक्ति द्वारा बुनाई भी की जाती है (हालांकि तालिका में से बुनकरों की संख्या घटायी नहीं गयी है), और विदेशों में जो फ़ैक्टरियां हैं, वे मुख्यतया कताई की फ़ैक्टरियां हैं। यदि कढ़ाई के साथ केवल एक ही प्रकार की चीज़ों का मुक़ाबला करना सम्भव होता, तो मेरे डिस्ट्रिक्ट में मुझे ऐसी बहुत सी सूत की कताई करने वाली फ़ैक्टरियां मिल जातीं, जिनमें २,२०० तकुए लगे हुए म्यूलों की केवल एक आदमी (minder) और उसके दो सहायक देखरेख करते हैं और रोजाना २२० पौण्ड सूत तैयार कर देते हैं, जो लम्बाई में ४०० मील के बराबर होता है।" (*"Reports of Insp. of Fact., 31st Oct., 1866"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६६'], पृ० ३१–३७, विभिन्न स्थानों पर।)

यह बात सुविदित है कि एशिया और पूर्वी योरप में भी अंग्रेज कम्पनियां रेलें बना रही हैं और इस काम के लिये उन्होंने देशी मजदूरों के साथ-साथ कुछ अंग्रेज मजदूरों को भी नौकर रखा हुआ है। इस प्रकार, उनको व्यावहारिक आवश्यकता से विवश होकर श्रम की तीव्रता के राष्ट्रगत भेदों का ख़याल रखना पड़ा है, पर इससे उनका कोई नुक़सान नहीं हुआ है। उनके अनुभव से प्रकट होता है कि हालांकि मजदूरी का स्तर श्रम की औसत तीव्रता के न्यूनाधिक अनुरूप होता है, फिर भी श्रम का सापेक्ष दाम आम तौर पर उसकी उल्टी दिशा में घटता-बढ़ता है।

एच० केरी ने अपनी एक शुरू की आर्थिक रचना 'मजदूरी की दर पर एक निबंध'[1] में यह साबित करने की कोशिश की है कि अलग-अलग राष्ट्रों में मजदूरी वहां के काम के दिन की उत्पादकता के अनुलोम अनुपात में होती है। और इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से केरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मजदूरी हर जगह श्रम की उत्पादकता के अनुपात में घटती-बढ़ती है। अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का हमने जो पूरा विश्लेषण किया है, उस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह निष्कर्ष कितना बेतुका है। यदि केरी ने अपनी सदा की रीति के अनुसार आंखें मूंदकर और सतही ढंग से आंकड़ों की पंचमेल खिचड़ी में कड़छी चलाते रहने के बजाय खुद अपने पूर्वाधारों को प्रमाणित किया होता, तो भी यह निष्कर्ष बेतुका ही रहता। सबसे बढ़िया बात यह है कि केरी का यह दावा नहीं है कि परिस्थिति सचमुच वही है, जो उनके सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिये। कारण कि राज्य के हस्तक्षेप ने स्वाभाविक आर्थिक सम्बंधों को विकृत कर दिया है। इसलिये केरी की राय में अलग-अलग देशों की राष्ट्रीय मजदूरी का हिसाब लगाते समय हमें यह मानकर चलना चाहिये कि हर देश में मजदूरी का जो हिस्सा करों के रूप में राज्य के कोषागार में चला जाता है, वह मजदूर को ही मिलता है। मि० केरी को एक क़दम आगे बढ़कर यह क्यों नहीं सोचना चाहिये कि ये "राज्य के खर्चे" कहीं पूंजीवादी विकास के "स्वाभाविक" फल तो नहीं हैं? इस प्रकार का तर्क उनको शोभा देता है, क्योंकि आखिर उन्होंने तो शुरू में यह घोषणा की थी कि पूंजीवादी उत्पादन के सम्बंध प्रकृति और विवेक के शाश्वत नियमों पर आधारित हैं और उनकी स्वतंत्र और सुमेल कार्रवाइयों में राज्य के हस्तक्षेप से केवल गड़बड़ ही पैदा होती है, और बाद को यह आविष्कार कर डाला था कि दुनिया की मण्डी पर इंगलैण्ड का जो शैतानी प्रभाव पड़ रहा है (और जो प्रभाव, लगता है, पूंजीवादी उत्पादन के प्राकृतिक नियमों से उत्पन्न नहीं होता), उसके कारण राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है, अर्थात् उसके कारण प्रकृति तथा विवेक के इन नियमों को राज्य द्वारा संरक्षण की – alias (यानी) संरक्षण-प्रणाली की – आवश्यकता होने लगी है। इसके अलावा उन्होंने यह आविष्कार भी किया था कि रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के जिन प्रमेयों में वर्तमान सामाजिक विग्रहों और विरोधों को सूत्रबद्ध किया गया है, वे एक वास्तविक आर्थिक क्रिया की भावगत उपज नहीं हैं, बल्कि, इसके विपरीत, इंगलैण्ड में तथा अन्यत्र पूंजीवादी उत्पादन के जो वास्तविक विरोध

---

[1] "*Essay on the Rate of Wages; with an Examination of the Causes of the Differences in the Condition of the Labouring Population throughout the World*" ('मजदूरी की दर पर एक निबंध, जिसमें संसार भर में श्रमजीवी आबादी की अवस्था में पाये जाने वाले भेदों के कारणों का भी विवेचन किया गया है'), Philadelphia, 1835।

पाये जाते हैं, वे रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों का फल हैं! और, अन्त में, मि० केरी ने आविष्कार किया है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के सहज सौंदर्य तथा माधुर्य को जो चीज आखिर में नष्ट कर देती है, वह है वाणिज्य। मि० केरी एक क़दम और आगे बढ़े होते, तो शायद यह आविष्कार भी कर डालते कि पूंजीवादी उत्पादन में केवल एक ही चीज बुरी है, और वह है पूंजी। इस व्यक्ति में आलोचनात्मक क्षमता का इतना भयानक अभाव और साथ ही नक़ली पाण्डित्य का ऐसा बाहुल्य था कि अपने संरक्षणवादी धर्म-द्रोह के बावजूद केवल वही इस योग्य था कि बस्तियात जैसे आदमी की और स्वतंत्र व्यापार के समर्थक, आजकल के अन्य सभी आशावादियों की सुमेल बुद्धि का गुप्त स्रोत बन जाये।

भाग ७

# पूंजी का संचय

मूल्य की वह प्रमात्रा, जो पूंजी की तरह काम करने वाली है, पहला क़दम यह उठाती है कि मुद्रा की एक रक़म उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति में बदल देती है। यह रूपान्तरण मण्डी में, परिचलन के क्षेत्र के भीतर, होता है। दूसरा क़दम – यानी उत्पादन की प्रक्रिया – उस वक़्त पूरा होता है, जब उत्पादन के साधन उन मालों में बदल जाते हैं, जिनका मूल्य अपने संघटक भागों के मूल्य से अधिक होता है और इसलिये जिनमें शुरू में पेशगी लगायी गयी पूंजी और साथ ही कुछ अतिरिक्त मूल्य भी निहित होता है। उसके बाद इन मालों को परिचलन में डालना पड़ता है। उनको बेचकर उनका मूल्य मुद्रा के रूप में वसूल करना पड़ता है, फिर इस मुद्रा को नये सिरे से पूंजी में बदलना पड़ता है, – और यही क्रम फिर आरम्भ हो जाता है। यह वृत्ताकार गति, जिसमें बारी-बारी से एक सी अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है, पूंजी का परिचलन कहलाती है।

संचय की पहली शर्त यह है कि पूंजीपति अपना सारा माल बेचने में कामयाब हुआ हो और इस तरह उसे जो मुद्रा मिली हो, उसके अधिकांश को उसने पूंजी में बदल डाला हो। आगे के पृष्ठों में हम यह मानकर चलेंगे कि पूंजी का परिचलन अपने सामान्य ढंग से होता है। इस क्रिया का विस्तृत विश्लेषण दूसरी पुस्तक में मिलेगा।

जो पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, – अर्थात् जो प्रत्यक्ष रूप में मज़दूरों का अवेतन श्रम चूसता है और उसे मालों में जमा देता है, वह इसमें सन्देह नहीं कि इस अतिरिक्त मूल्य को सबसे पहले हस्तगत करता है, लेकिन इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि आख़िर तक यह अतिरिक्त मूल्य उसी के हाथ में रहता है। अतिरिक्त मूल्य में से इस पूंजीपति को अन्य पूंजीपतियों को, ज़मींदारों आदि को हिस्सा देना पड़ता है, जो सामाजिक उत्पादन के संश्लेष में अन्य प्रकार के कार्यों को पूरा करते हैं। इसलिये अतिरिक्त मूल्य बहुत से भागों में बंट जाता है। ये टुकड़े अलग-अलग कोटियों के व्यक्तियों के हिस्से में पड़ते हैं और विभिन्न प्रकार के रूप धारण कर लेते हैं, जिनमें से प्रत्येक रूप दूसरे से स्वतंत्र होता है। ये रूप हैं मुनाफ़ा, सूद, सौदागर का नफ़ा, लगान, इत्यादि। अतिरिक्त मूल्य के इन परिवर्तित रूपों पर केवल तीसरी पुस्तक में ही विचार करना सम्भव होगा।

इसलिये, एक ओर तो हम यह माने लेते हैं कि पूंजीपति ने जो माल तैयार किया है, उसको वह उसके मूल्य पर बेचता है; और परिचलन के क्षेत्र में पूंजी जो नये-नये रूप धारण

कर लेती है या इन रूपों के पीछे पुनरुत्पादन की जो ठोस परिस्थितियां छिपी रहती हैं, उनकी तरफ़ हम कोई ध्यान नहीं देते। दूसरी ओर, हम पूंजीवादी उत्पादक को पूरे अतिरिक्त मूल्य का मालिक मानकर चलते हैं, या शायद यह कहना बेहतर होगा कि उसके साथ और जितने लोग लूट में हिस्सा बंटाते हैं, हम उसे उन सबका प्रतिनिधि मान लेते हैं। अतएव, सबसे पहले हम संचय पर एक अमूर्त दृष्टिकोण से, अर्थात् उसे उत्पादन की वास्तविक क्रिया की एक विशेष अवस्था मात्र समझकर उसपर विचार करते हैं।

जहां तक संचय होता है, वहां तक यह आवश्यक है कि पूंजीपति ने अपना माल बेच दिया हो और उसकी बिक्री से जो मुद्रा प्राप्त होती है, उसे पूंजी में बदल डाला हो। इसके अलावा, अतिरिक्त मूल्य के अनेक टुकड़ों में बंट जाने से न तो उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन आता है और न ही वे परिस्थितियां, जिनमें अतिरिक्त मूल्य संचय का एक तत्व बन जाता है, बदल जाती हैं। औद्योगिक पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य के जिस भाग को अपने पास रख लेता है या जिसको दूसरों को दे देता है, उसका अनुपात कुछ भी हो, अतिरिक्त मूल्य पर सबसे पहले वही अधिकार करता है। इसलिये, जो कुछ सचमुच होता है, हम उसके सिवा और कुछ मानकर नहीं चल रहे हैं। दूसरी ओर, संचय की क्रिया के सरल एवं मौलिक रूप पर परिचलन की घटना से, जिसका संचय फल होता है, और अतिरिक्त मूल्य के बंट जाने से एक पर्दा सा पड़ जाता है। इसलिये इस क्रिया का ठीक-ठीक विश्लेषण करने के लिये आवश्यक है कि हम कुछ समय के लिये उन तमाम घटनाओं को अनदेखा कर दें, जिनसे इस क्रिया के आन्तरिक यंत्र की कार्य-विधि पर आवरण पड़ जाता है।

## तेईसवां अध्याय

## साधारण पुनरुत्पादन

समाज में उत्पादन की प्रक्रिया का रूप कुछ भी हो, यह आवश्यक है कि वह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया हो और एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार उन्हीं अवस्थाओं में से गुज़रे। जिस तरह कोई समाज कभी उपभोग करना बन्द नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह कभी उत्पादन करना भी बन्द नहीं कर सकता। इसलिये, यदि उत्पादन-प्रक्रिया पर एक सम्बद्ध इकाई के रूप में और एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में विचार किया जाये, जो हर बार नये सिरे से आरम्भ हो जाती है, तो उत्पादन की प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया साथ ही पुनरुत्पादन की भी प्रक्रिया होती है।

जो बातें उत्पादन के लिये आवश्यक होती हैं, वे ही पुनरुत्पादन के लिये भी आवश्यक होती हैं। उस वक़्त तक कोई समाज लगातार उत्पादन नहीं कर सकता, – दूसरे शब्दों में, उस वक़्त तक कोई समाज पुनरुत्पादन नहीं कर सकता, – जब तक कि वह अपनी पैदावार के एक भाग को बार-बार उत्पादन के साधनों में, अथवा नयी पैदावार के तत्वों में, नहीं बदलता जाता। यदि अन्य सभी बातें ज्यों की त्यों रहें, तो केवल एक ही तरीक़ा है, जिससे समाज अपने धन का पुनरुत्पादन कर सकता है और उसे एक स्तर पर क़ायम रख सकता है। वह तरीक़ा यह है कि वह सदा उत्पादन के साधनों का स्थान भरता जाये, अर्थात् साल भर में जितने श्रम के औज़ार, कच्चा माल तथा सहायक पदार्थ ख़र्च हो जाते हैं, उतनी ही मात्रा में ये सारे पदार्थ हर बार नये तैयार करता जाये। इन पदार्थों को वर्ष की बाक़ी पैदावार से अलग करके नये सिरे से उत्पादन की प्रक्रिया में झोंक देना होता है। इसलिये, हर साल की पैदावार का एक निश्चित भाग उत्पादन के क्षेत्र की सम्पत्ति होता है। इस भाग के लिये पहले से ही यह तै होता है कि उसका उत्पादक ढंग से उपभोग किया जायेगा; और वह अधिकतर ऐसी वस्तुओं की शकल में होता है, जो व्यक्तिगत उपभोग के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं।

यदि उत्पादन का रूप पूंजीवादी है, तो पुनरुत्पादन का रूप भी वही होगा। जिस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन में श्रम-प्रक्रिया पूंजी के आत्म-विस्तार का एक साधन मात्र होती है, उसी प्रकार पूंजीवादी पुनरुत्पादन में वह पेशगी लगाये गये मूल्य का पूंजी के रूप में – अर्थात् स्वयं अपना विस्तार करने वाले मूल्य के रूप में – पुनरुत्पादन करने का साधन मात्र होती है। कोई आदमी पूंजीपति का आर्थिक भेस केवल इसीलिये भर सकता है कि उसकी मुद्रा लगातार पूंजी की तरह काम करती रहती है। उदाहरण के लिये, यदि इस साल १०० पौण्ड की रक़म पूंजी में बदली गयी है और उससे २० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य पैदा हुआ है, तो अगले वर्ष और

उसके बाद आने वाले वर्षों में भी उसको बार-बार यही क्रिया दोहरानी पड़ेगी। अतिरिक्त मूल्य पेशगी लगायी गयी पूंजी की नियतकालिक वृद्धि की शकल में, अथवा क्रियारत पूंजी के नियतकालिक फल की शकल में, पूंजी से उत्पन्न होने वाली आय का रूप धारण कर लेता है।[1]

यदि यह आय केवल पूंजीपति के उपभोग की वस्तुएं मुहैया करने के ही काम में आती है और जिस तरह वह एक नियत अवधि में पैदा होती है, यदि उसी तरह एक नियत अवधि के भीतर खर्च कर दी जाती है, तो अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए यह साधारण पुनरुत्पादन होता है। और यद्यपि इस प्रकार का पुनरुत्पादन पुराने पैमाने की उत्पादन की क्रिया की एक पुनरावृत्ति मात्र होती है, तथापि महज यह पुनरावृत्ति अथवा निरन्तरता ही उत्पादन की क्रिया को एक नया स्वरूप दे देती है। या शायद यह कहना बेहतर होगा कि एक अलग-थलग, विरल क्रिया के रूप में उत्पादन की प्रक्रिया में जो कुछ दृष्ट विशेषताएं होती हैं, वे इस पुनरावृत्ति अथवा निरन्तरता के कारण ग़ायब हो जाती हैं।

---

[1] "Mais ces riches, qui consomment les produits du travail des autres, ne peuvent les obtenir que par des échanges. S'ils donnent-cependant leur richesse acquise et accumulée en retour contre ces produits nouveaux qui sont l'objet de leur fantaisie, ils semblent exposés à épuiser bientôt leur fonds de réserve; ils ne travaillent point, avons-nous dit, et ils ne peuvent même travailler; on croirait donc que chaque jour doit voir diminuer leurs vieilles richesses, et que lorsqu'il ne leur en restera plus, rien ne sera offert en échange aux ouvriers qui travaillent exclusivement pour eux... Mais dans l'ordre social, la richesse a acquis la propriété de se reproduire par le travail d'autrui, et sans que son propriétaire y concoure. La richesse, comme le travail, et par le travail, donne un fruit annuel qui peut être détruit chaque année sans que le riche en devienne plus pauvre. Ce fruit est le *revenu* qui naît du *capital*." ["लेकिन ये धनी लोग, जो दूसरों के श्रम से उत्पादित वस्तुओं को ख़र्च करते हैं, विनिमय (मालों की ख़रीद) के सिवा और किसी तरह इन वस्तुओं को नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु, यदि वे अपनी पसन्द की इन नयी वस्तुओं के एवज़ में अपना पहले से कमा कर इकट्ठा किया हुआ धन देने लगते हैं, तो उनके सुरक्षित कोष के तेज़ी से ख़तम हो जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। यह मैं कह चुका हूं कि ये लोग ख़ुद काम नहीं करते और यहां तक कि वे काम करने की योग्यता भी नहीं रखते। इसलिये ख़याल हो सकता है कि उनके धन का कोष धीरे-धीरे ख़ाली होता जायेगा, और जब उसमें कुछ भी नहीं रहेगा, तब उनके पास ऐसी कोई चीज़ नहीं बचेगी, जिसको देकर वे मज़दूरों को ख़ास तौर पर केवल अपने लिये काम करने को तैयार कर सकें ... लेकिन हमारी समाज-व्यवस्था में धन में दूसरों के श्रम की सहायता से अपना पुनरुत्पादन करने का गुण पैदा हो गया है, और इस श्रम में धन के मालिक को कोई हिस्सा नहीं लेना पड़ता। श्रम की भांति और श्रम की सहायता से धन में भी हर साल फल लगता है, जिसे हर साल नष्ट कर देने पर भी धन के मालिक का कोई नुक़सान नहीं होता। पूंजी से जो आय उत्पन्न होती है, वही यह फल है"।] (Sismondi, "*Nouv. Princ. D'Econ. Pol.*", Paris, 1819, खण्ड १, पृ० ८१-८२।)

एक निश्चित अवधि के लिये श्रम-शक्ति का ख़रीदा जाना उत्पादन की प्रक्रिया की भूमिका होता है, और वह निश्चित अवधि जब-जब पूरी हो जाती है, यानी जब-जब उत्पादन का निश्चित काल, जैसे एक सप्ताह या एक महीना, समाप्त हो जाता है, तब-तब यह भूमिका फिर से दोहरायी जाती है। लेकिन मजदूर को उस वक़्त तक उजरत नहीं मिलती, जब तक कि वह अपनी श्रम-शक्ति को ख़र्च नहीं कर देता और उसके मूल्य को ही नहीं, बल्कि अतिरिक्त मूल्य को भी मालों का मूर्त रूप नहीं दे देता। इस तरह वह केवल अतिरिक्त मूल्य ही नहीं पैदा करता, जिसको हमने फ़िलहाल पूंजीपति के निजी उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाला कोष मान रखा है, बल्कि अस्थिर पूंजी नाम का वह कोष भी पहले ही से पैदा कर देता है, जिसमें से ख़ुद उसकी उजरत आती है और जो बाद को मजदूरी की शकल में उसके पास लौट आता है, और उससे केवल उसी समय तक काम लिया जाता है, जब तक कि वह इस कोष का पुनरुत्पादन करता रहता है। इसी से अर्थशास्त्रियों का वह सूत्र निकला है, जिसका हमने अठारहवें अध्याय में ज़िक्र किया था और जिसमें मजदूरी को ख़ुद पैदावार के एक हिस्से के रूप में पेश किया गया है।[1] मजदूरी की शकल में मजदूर के पास जो चीज़ फिर लौट आती है, वह उस पैदावार का एक हिस्सा है, जिसका वह लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है। यह सच है कि पूंजीपति उसे मुद्रा की शकल में उजरत देता है, परन्तु यह मुद्रा केवल मजदूर के श्रम की पैदावार का परिवर्तित रूप ही होती है। जिस समय वह उत्पादन के साधनों के एक हिस्से को पैदावार में परिवर्तित करता है, उसी दौरान में उसकी पहले की पैदावार का एक भाग मुद्रा में परिवर्तित कर दिया जाता है। मजदूर की इस सप्ताह या इस वर्ष की श्रम-शक्ति की क़ीमत उसके पिछले सप्ताह या पिछले वर्ष के श्रम के द्वारा अदा की जाती है। यदि हम एक अकेले पूंजीपति और एक अकेले मजदूर के बजाय पूंजीपतियों के पूरे वर्ग और मजदूरों के पूरे वर्ग को लें, तो मुद्रा के हस्तक्षेप से पैदा होनेवाला भ्रम तत्काल ग़ायब हो जाता है। पूंजीपति-वर्ग मजदूर-वर्ग को मुद्रा के रूप में लगातार कुछ ऐसे आर्डर-नोट देता रहता है, जिनके ज़रिये मजदूर-वर्ग अपने द्वारा तैयार किये गये उन मालों का एक हिस्सा हासिल कर सकता है, जिनको पूंजीपति-वर्ग ने हस्तगत कर रखा है। मजदूर उसी ढंग से इन आर्डर-नोटों को लगातार पूंजीपति-वर्ग को लौटाते रहते हैं, और इस तरह उनको ख़ुद अपनी पैदावार का वह भाग मिल जाता है, जो उनके हिस्से में आया है। इस पूरे लेन-देन पर पैदावार के माल-रूप और माल के मुद्रा-रूप का आवरण पड़ा रहता है।

अतः अस्थिर पूंजी केवल उस कोष की अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप है, जिसमें से मजदूरों को जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएं दी जाती हैं। या यूं कहिये कि इस विशिष्ट ऐतिहासिक रूप में वह श्रम-कोष प्रकट होता है, जिसकी मजदूर को अपना तथा अपने परिवार का जीवन-निर्वाह करने के लिये आवश्यकता होती है और जिसका, सामाजिक उत्पादन की प्रणाली कुछ भी हो, उसको ख़ुद ही उत्पादन और पुनरुत्पादन करना पड़ता है। यदि यह श्रम-कोष बराबर उस मुद्रा के रूप में उसके पास लौटता रहता है, जिसके द्वारा मजदूर के

---

[1] "मुनाफ़ों की तरह मजदूरी को भी असल में तैयार पैदावार का ही एक हिस्सा समझना चाहिये।" (Ramsay, उप० पु०, पृ० १४२।) "पैदावार का वह हिस्सा, जो मजदूरी की शकल में मजदूर को मिलता है।" (J. Mill, "*Eléments, &c.*" [जेम्स मिल, 'अर्थशास्त्र के तत्व'], Parissot द्वारा फ़्रांसीसी अनुवाद, Paris, 1823, पृ० ३४।)

श्रम की उजरत अदा की जाती है, तो इसका कारण यह है कि उसने जो पैदावार पैदा की थी, वह पूंजी के रूप में लगातार उससे दूर हटती जाती है। लेकिन इस सब से इस तथ्य में कोई अन्तर नहीं आता कि पूंजीपति मजदूर को जो कुछ पेशगी देता है, वह पैदावार के रूप में साकार बना हुआ खुद मजदूर का ही श्रम होता है।[1] मान लीजिये, एक किसान है, जिसे अपने सामन्त को बेगार देनी पड़ती है। वह सप्ताह में ३ दिन खुद अपनी जमीन पर अपने उत्पादन के साधनों से काम करता है। बाक़ी ३ दिन उसे अपने सामन्त के खेतों पर बेगार करनी पड़ती है। अपने श्रम-कोष का वह लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है, लेकिन यहां पर उसका कभी यह रूप नहीं होता कि उसके श्रम की उजरत कोई और व्यक्ति मुद्रा की शकल में पेशगी दे देता हो। लेकिन इसके साथ-साथ उसे सामन्त के लिये बेगार का जो अवेतन श्रम करना पड़ता है, वह भी स्वेच्छा से किये गये सवेतन श्रम का रूप कभी नहीं लेता। यदि एक रोज यकायक सामन्त इस किसान की जमीन, ढोरों और बीज पर, – संक्षेप में कहिये, तो उसके उत्पादन के साधनों पर, – खुद क़ब्ज़ा कर ले, तो उस दिन से किसान को मजबूर होकर अपनी श्रम-शक्ति सामन्त के हाथ बेचनी पड़ेगी। तब, अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए, किसान पहले की तरह ही सप्ताह में ६ दिन श्रम करेगा – ३ दिन खुद अपने लिये और ३ दिन अपने सामन्त के लिये, जो इस दिन से मजदूरी देने वाला पूंजीपति बन जायेगा। पहले की ही भांति अब भी वह उत्पादन के साधनों को उत्पादन के साधनों की तरह खर्च करेगा और उनके मूल्य को पैदावार में स्थानांतरित कर देगा। पहले की ही भांति अब भी पैदावार का एक निश्चित भाग पुनरुत्पादन में लगाया जायेगा। लेकिन जिस क्षण बेगार मजदूरी में बदल जाती है, उसी क्षण से श्रम-कोष, जिसका उत्पादन और पुनरुत्पादन किसान पहले की तरह अब भी खुद ही करता है, सामन्त द्वारा मजदूरी के रूप में पेशगी दी गयी पूंजी का रूप धारण कर लेता है। पूंजीवादी अर्थशास्त्री का संकुचित मस्तिष्क असली वस्तु को उस रूप से अलग नहीं कर पाता, जिसमें वह वस्तु प्रकट होती है। वह इस तथ्य की ओर से आंख मूंद लेता है कि पृथ्वी पर कुछ इने-गिने स्थान ही हैं, जहां आज भी श्रम-कोष पूंजी के रूप में दिखाई देता है।[2]

यह सच है कि अस्थिर पूंजी का पूंजीपति के कोष में से निकालकर पेशगी दिये गये मूल्य का रूप केवल उसी समय समाप्त होता है[3], जब हम पूंजीवादी उत्पादन पर हर बार नये

---

[1] "जब पूंजी मजदूर को उसकी मजदूरी पेशगी देने के काम में आती है, तब उससे श्रम के जीवन-निर्वाह के कोष में कोई वृद्धि नहीं होती।" (माल्थूस की रचना "*Definitions in Pol. Econ.*" ['अर्थशास्त्र की परिभाषाएं'] के काज़ेनोवे के संस्करण में काज़ेनोवे का फ़ुटनोट; London, 1853, पृ० २२)।

[2] "दुनिया में कुल जितने मजदूर हैं, उनमें से एक चौथाई से भी कम की मजदूरी पूंजीपति पेशगी देते हैं।" (Rich. Jones, "*Textbook of Lectures on the Pol. Econ. of Nations*" [रिचर्ड जोन्स, 'राष्ट्रों के अर्थशास्त्र सम्बंधी भाषणों की पाठ्य-पुस्तक'], Hertford, 1852, पृ० ३६।)

[3] "बनाने वाले को" (यानी, मजदूर को) "हालांकि उसका मालिक पेशगी मजदूरी दे देता है, फिर भी असल में इसमें मालिक का कुछ ख़र्चा नहीं होता, क्योंकि इस मजदूरी का मूल्य, मय कुछ मुनाफ़े के, प्राय: उस वस्तु के बढ़े हुए मूल्य में सुरक्षित रहता है, जिसपर मजदूर का श्रम ख़र्च होता है।" (A. Smith, उपर्युक्त रचना, पुस्तक २, अध्याय ३, पृ० ३११।)

सिरे से शुरू हो जाने वाली एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में विचार करते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया का कहीं पर और कभी श्रीगणेश भी तो हुआ होगा। इसलिये हमारे वर्तमान दृष्टिकोण से तो यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि कभी पूंजीपति के पास दूसरों के अवेतन श्रम के बिना ही किसी प्रकार मुद्रा का संचय हो गया होगा और इसी तरह उसमें श्रम-शक्ति के खरीदार के रूप में मण्डी में प्रवेश करने की सामर्थ्य पैदा हुई होगी। वह जैसे भी हुआ हो, इस क्रिया की केवल निरन्तरता ही, अर्थात् केवल साधारण पुनरुत्पादन ही कुछ और बड़े चमत्कारपूर्ण परिवर्तन पैदा कर देता है, जिनका न केवल अस्थिर पूंजी पर, बल्कि कुल पूंजी पर भी प्रभाव पड़ता है।

यदि १,००० पौण्ड की पूंजी से हर साल २०० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य पैदा होता हो और यदि यह अतिरिक्त मूल्य हर साल खर्च कर दिया जाता हो, तो यह बात साफ़ है कि ५ वर्ष में जो अतिरिक्त मूल्य खर्च होगा, वह ५ × २०० पौण्ड या १,००० पौण्ड के बराबर होगा। यानी वह उस रक़म के बराबर होगा, जो शुरू में पेशगी लगायी गयी थी। यदि अतिरिक्त मूल्य का केवल एक भाग, – मान लीजिये, केवल आधा भाग, – खर्च होता है, तो यही बात १० वर्ष में होगी, क्योंकि १० × १०० पौण्ड = १,००० पौण्ड। इससे यह सामान्य नियम निकलता है कि अगर शुरू में लगायी गयी पूंजी को हर साल खर्च कर दिये जाने वाले अतिरिक्त मूल्य से भाग दिया जाये, तो हमें पुनरुत्पादन की अवधि मालूम हो जाती है, यानी हमें यह पता लग जाता है कि पूंजीपति अपनी शुरू में लगायी हुई पूंजी को कितने वर्षों में खर्च कर डालता है, या कितनी अवधि के पूरा हो जाने पर शुरू में लगायी गयी पूंजी ग़ायब हो जाती है। पूंजीपति समझता है कि वह दूसरों के अवेतन श्रम की पैदावार को – अर्थात् अतिरिक्त मूल्य को – खर्च कर रहा है और अपनी मूल पूंजी उसने ज्यों की त्यों बचा रखी है। लेकिन वह जो कुछ समझता है, उससे तथ्यों में परिवर्तन नहीं आ सकता। एक निश्चित अवधि बीत जाने के बाद उसके पास जो पूंजीगत मूल्य होता है, वह उस अतिरिक्त मूल्य के जोड़ के बराबर होता है, जो उसने इन वर्षों में हस्तगत किया है, और इस अवधि में वह जो मूल्य खर्च कर डालता है, वह उसकी मूल पूंजी के बराबर होता है। यह सच है कि तब उसके पास जो पूंजी होती है, उसका परिमाण पहले जितना ही होता है, और उसका एक भाग, जैसे मकान, मशीनें आदि उस वक़्त भी मौजूद थे, जब उसने अपना व्यवसाय आरम्भ किया था। लेकिन यहां हमारा सम्बंध इस पूंजी के भौतिक तत्वों से नहीं, बल्कि उसके मूल्य से है। जब कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के मूल्य के बराबर उधार लेकर अपनी सारी सम्पत्ति का सफ़ाया कर डालता है, तब यह बात स्पष्ट होती है कि उसकी सम्पत्ति उसके क़र्ज़ की कुल रक़म के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती। पूंजीपति पर भी यही बात लागू होती है। जब वह अपनी मूल पूंजी का सम-मूल्य खर्च कर डालता है, तब उसकी बची हुई पूंजी का मूल्य उस अतिरिक्त मूल्य की कुल राशि के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जिसे उसने बिना उजरत दिये हुए हस्तगत कर लिया था। तब उसकी पुरानी पूंजी के मूल्य का एक कण भी बाक़ी नहीं रहता।

इसलिये, किसी भी प्रकार के संचय से अलग, उत्पादन की प्रक्रिया की केवल निरन्तरता ही, – दूसरे शब्दों में, केवल साधारण पुनरुत्पादन ही कभी न कभी प्रत्येक पूंजी को अनिवार्य रूप से संचित पूंजी अथवा पूंजीकृत अतिरिक्त मूल्य में बदल देता है। यदि पूंजी शुरू में मालिक के व्यक्तिगत श्रम से कमायी गयी हो, तब भी वह आज नहीं, तो कल ऐसा मूल्य बन जाती

है, जिसपर बिना सम-मूल्य दिये अधिकार कर लिया गया है, वह दूसरों का अवेतन श्रम बन जाती है, जो या तो मुद्रा में और या किसी अन्य वस्तु में भौतिक रूप प्राप्त कर लेता है।

हमने ४–६ अध्यायों में यह देखा था कि मुद्रा को पूंजी में बदलने के लिये केवल मालों का उत्पादन और परिचलन ही काफ़ी नहीं होता। हमने देखा था कि इसके लिये एक तरफ़ मूल्य अथवा मुद्रा के मालिक को और दूसरी तरफ़ मूल्य पैदा करने वाले पदार्थ के मालिक को,—एक तरफ़ उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक को और दूसरी तरफ़ उसको, जिसके पास श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है,—ग्राहक और विक्रेता के रूप में एक दूसरे के सामने खड़ा होना पड़ता है। इसलिये, असल में श्रम का श्रम की पैदावार से अलग हो जाना, वैयक्तिक श्रम-शक्ति का श्रम के लिये आवश्यक वस्तुगत परिस्थितियों से अलग हो जाना ही पूंजीवादी उत्पादन का वास्तविक आधार और प्रस्थान-बिन्दु था।

लेकिन जो शुरू में केवल एक प्रस्थान-बिन्दु था, वह महज क्रिया की निरन्तरता के फलस्वरूप, केवल साधारण पुनरुत्पादन द्वारा, पूंजीवादी उत्पादन, का एक अनोखा, हर बार नये सिरे से पैदा होने वाला और इस तरह एक स्थायी परिणाम बन जाता है। एक तरफ़, उत्पादन की प्रक्रिया भौतिक धन को बराबर पूंजी में, पूंजीपति के लिये और अधिक धन पैदा करने के साधनों में और विलास के साधनों में बदलती रहती है। दूसरी तरफ़, मजदूर जब इस प्रक्रिया के बाहर निकलता है, तो उसकी वही दशा होती है, जो इस प्रक्रिया में प्रवेश करने के समय थी, यानी, तब भी वह दूसरों के लिये धन का स्रोत होता है, पर खुद उसके पास ऐसी कोई चीज नहीं होती, जिससे वह इस धन को अपना बना सके। उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करने के पहले ही वह अपने श्रम से हाथ धो चुका था; उसने अपनी श्रम-शक्ति बेच डाली थी; पूंजीपति ने उसके श्रम को हस्तगत करके उसका अपनी पूंजी में समावेश कर लिया था। इसलिये उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में उसका श्रम जिस पैदावार में साकार होता है, उसपर भी मजदूर का कोई अधिकार नहीं होता। उत्पादन की प्रक्रिया चूंकि साथ ही वह क्रिया भी होती है, जिसके द्वारा पूंजीपति श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, इसलिये मजदूर की पैदावार बराबर न सिर्फ़ मालों में, बल्कि पूंजी में रूपान्तरित होती रहती है। वह ऐसा मूल्य बनती जाती है, जो मूल्य पैदा करने वाली शक्ति को सोख लेता है; वह जीवन-निर्वाह के ऐसे साधनों का रूप धारण कर लेती है, जिनसे मजदूर का शरीर खरीद लिया जाता है; वह उत्पादन के ऐसे साधनों का रूप धारण कर लेती है, जो उल्टे उत्पादकों पर हुक्म चलाने लगते हैं।[1] इसलिये, मजदूर लगातार भौतिक एवं वस्तुगत धन पैदा करता रहता है, परन्तु यह धन पूंजी के रूप में होता है, वह एक ऐसी परायी शक्ति के रूप में होता है, जो मजदूर को अपना ताबेदार बना लेती है और उसका शोषण करती है; और पूंजीपति उतने ही लगातार ढंग से श्रम-शक्ति पैदा करता रहता है, परन्तु यह श्रम-शक्ति धन के एक वैयक्तिक स्रोत के रूप में होती है, जो उन वस्तुओं से अलग हो जाता है, जिनकी मदद से और जिनके रूप में ही यह स्रोत काम में आ सकता है,—संक्षेप में, पूंजीपति लगातार श्रमजीवी को पैदा करता

[1] "यह उत्पादक श्रम का एक बहुत ही अनोखा गुण है। जिस किसी वस्तु का उत्पादक ढंग से उपभोग किया जाता है, वह पूंजी है, और वह उपभोग के जरिये पूंजी बनती है।" (James Mill, उप० पु०, पृ० २४२।) मगर जेम्स मिल इस "बहुत ही अनोखे गुण" की तह तक कभी न पहुंच पाये।

जाता है, मगर यह श्रमजीवी मजदूरी पर श्रम करने वाले मजदूर के रूप में होता है।[1] यह अनवरत पुनरुत्पादन, मजदूर की नस्ल को क़ायम रखने की यह क्रिया पूंजीवादी उत्पादन की conditio sine qua non (अपरिहार्य शर्त) होती है।

मजदूर दो तरह से उपभोग करता है। उत्पादन करते समय वह अपने श्रम के द्वारा उत्पादन के साधनों का उपभोग करता है और उनको शुरू में लगायी गयी पूंजी के मूल्य से अधिक मूल्य की पैदावार में बदल देता है। यह उसका उत्पादक उपभोग है। यह क्रिया साथ ही उसकी श्रम-शक्ति के उपभोग की भी क्रिया होती है। उसकी श्रम-शक्ति का वह पूंजीपति उपभोग करता है, जिसने श्रम-शक्ति को खरीद रखा है। दूसरी ओर, मजदूर को उसकी श्रम-शक्ति के एवज में जो मुद्रा मिलती है, उसको वह जीवन-निर्वाह के साधनों में बदल डालता है। यह उसका व्यक्तिगत उपभोग है। इसलिये, मजदूर का उत्पादक उपभोग और उसका व्यक्तिगत उपभोग बिल्कुल अलग-अलग होते हैं। उत्पादक उपभोग में वह पूंजी की चालक शक्ति का काम करता है, और उसपर पूंजीपति का अधिकार होता है; व्यक्तिगत उपभोग में अपने ऊपर उसका खुद अपना अधिकार होता है, और वह उत्पादन की प्रक्रिया के क्षेत्र के बाहर अपने जीवन के लिये आवश्यक कुछ कार्य करता है। एक का परिणाम यह होता है कि पूंजीपति जिन्दा रहता है, दूसरे के फलस्वरूप मजदूर जिन्दा रहता है।

काम के दिन पर विचार करते हुए हमने देखा था कि मजदूर को अक्सर मजबूर होकर अपने व्यक्तिगत उपभोग को उत्पादन की प्रक्रिया का एक अंग मात्र बना देना पड़ता है। ऐसी हालत में मजदूर अपनी श्रम-शक्ति को क़ायम रखने के हेतु जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का ठीक उसी तरह उपभोग करता है, जिस तरह से भाप से चलने वाला इंजन कोयले और पानी का और पहिया तेल का उपभोग करते हैं। तब उसके उपभोग के साधन उत्पादन के किसी साधन के लिये आवश्यक उपभोग के साधन होते हैं, तब उसका व्यक्तिगत उपभोग प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक उपभोग होता है। किन्तु यह एक ऐसी बुराई प्रतीत होती है, जो बुनियादी तौर पर पूंजीवादी उत्पादन के साथ नहीं जुड़ी हुई है।[2]

जब हम एक अकेले पूंजीपति और एक अकेले मजदूर पर नहीं, बल्कि पूरे पूंजीपति-वर्ग और पूरे मजदूर-वर्ग पर विचार करते हैं, यानी जब हम उत्पादन की किसी एक अलग प्रक्रिया

---

[1] "यह निश्चय ही सच है कि शुरू-शुरू में किसी उद्योग के चालू होने से बहुत से ग़रीबों को नौकरी मिल जाती है, मगर उनकी ग़रीबी दूर नहीं होती; और अगर यह उद्योग क़ायम रहता है, तो वह बहुत से नये लोगों को ग़रीब बना देता है।" (*"Reasons for a Limited Exportation of Wool"* ['ऊन का सीमित निर्यात करने के कारण'], London, 1677, पृ० १६।) "अब काश्तकार बिल्कुल बेतुके ढंग से यह दावा करता है कि वह ग़रीबों को पालता-पोसता है। इसमें शक नहीं कि वह उन लोगों को ग़रीबी में रखता है।" (*"Reasons for the Late Increase of the Poor Rates: or a Comparative View of the Prices of Labour and Provisions"* ['मुहताजों की सहायता के लिये लगाये गये कर में इतनी देर के बाद वृद्धि करने के कारण; या श्रम तथा खाने-पीने की वस्तुओं के दामों का तुलनात्मक अध्ययन'], London, 1777, पृ० ३१।)

[2] रोस्सी यदि सचमुच "उत्पादक उपभोग" के रहस्य को समझने में सफल हुए होते, तो वह इसके विरुद्ध इतने जोरों से शोर न मचाते।

पर नहीं, बल्कि अपने वास्तविक सामाजिक पैमाने पर पूरे ज़ोर से चालू पूंजीवादी उत्पादन पर विचार करते हैं, तब मामले का एक बिल्कुल दूसरा पहलू सामने आता है। अपनी पूंजी के एक भाग को श्रम-शक्ति में बदलकर पूंजीपति अपनी पूरी पूंजी के मूल्य में वृद्धि कर देता है। वह एक पंथ दो काज करता है। उसे मज़दूर से जो कुछ मिलता है, उससे तो वह मुनाफ़ा कमाता ही है; वह ख़ुद मज़दूर को जो कुछ देता है, उससे भी मुनाफ़ा कमाता है। श्रम-शक्ति के एवज़ में दी गयी पूंजी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं में बदल दी जाती है, जिनके उपभोग से मौजूदा मज़दूरों की मांस-पेशियों, स्नायुओं, हड्डियों और मस्तिष्क का पुनरुत्पादन होता है और नये मज़दूर पैदा किये जाते हैं। इसलिये, जो नितान्त आवश्यक है, उसकी सीमाओं के भीतर मज़दूर-वर्ग का व्यक्तिगत उपभोग श्रम-शक्ति के एवज़ में पूंजी द्वारा दिये गये जीवन-निर्वाह के साधनों को पुनः नयी श्रम-शक्ति में बदल देता है, ताकि पूंजी उसका शोषण कर सके। मज़दूर-वर्ग का व्यक्तिगत उपभोग उत्पादन के उस साधन का उत्पादन तथा पुनरुत्पादन है, जिसके बिना पूंजीपति का काम नहीं चल सकता, – अर्थात् वह स्वयं मज़दूर का उत्पादन तथा पुनरुत्पादन है। इसलिये, मज़दूर का व्यक्तिगत उपभोग चाहे वर्कशाप के भीतर होता हो या उसके बाहर, चाहे उत्पादन की क्रिया का एक भाग हो या न हो, वह हर हालत में पूंजी के उत्पादन और पुनरुत्पादन का ही एक तत्व होता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे मशीनों की सफ़ाई चाहे मशीनों के चलते हुए की जाये और चाहे मशीनों के रुक जाने पर, वह पूंजी के उत्पादन और पुनरुत्पादन का ही एक अंग होती है। इस बात से इसमें कोई फ़र्क़ नहीं आता कि मज़दूर अपने जीवन-निर्वाह के साधनों का पूंजीपति को ख़ुश करने के लिये नहीं, बल्कि ख़ुद अपने मतलब से उपभोग करता है। लद्दू जानवर के सामने जो चारा डाला जाता है, उसे खाने में यदि जानवर को मज़ा आता है, तो इससे इस बात में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उसका चारा खाना उत्पादन की क्रिया का एक आवश्यक अंग है। मज़दूर-वर्ग को जीवित रखना और उसका पुनरुत्पादन पूंजी के पुनरुत्पादन की एक आवश्यक शर्त है और हमेशा रहेगा। लेकिन पूंजीपति पूरे भरोसे के साथ इस काम को मज़दूर की जीवित रहने और अपनी नस्ल को बढ़ाने की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के सहारे छोड़ सकता है। उसको केवल इतनी ही फ़िक्र रहती है कि मज़दूर के व्यक्तिगत उपभोग को घटाकर जहां तक मुमकिन हो, केवल नितान्त आवश्यक उपभोग तक ही सीमित कर दिया जाये, और वह निश्चय ही दक्षिणी अमरीका के उन बेरहम खान-मालिकों की कभी नक़ल नहीं करता, जो अपने मज़दूरों को कम पौष्टिक भोजन की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन ज़बर्दस्ती खिलाना ज़्यादा पसन्द करते हैं।[1]

---

[1] "दक्षिणी अमरीका की खानों में काम करने वाले मज़दूरों का दैनिक काम (जो शायद दुनिया में सबसे भारी काम है) यह है कि वे १८० से २०० पौण्ड तक वज़न की धातु को ४५० फ़ुट की गहराई से अपने कंधों पर लादकर खान के अन्दर से ज़मीन की सतह तक लाते हैं। पर ये लोग केवल रोटी और सेम की फलियों पर ज़िन्दा रहते हैं। वे ख़ुद तो महज़ रोटी ही खाना पसन्द करते, मगर उनके मालिकों को चूंकि यह पता है कि इनसान महज़ रोटी खाकर इतनी सख़्त मेहनत नहीं कर सकते, इसलिये वे मज़दूरों के साथ घोड़ों जैसा व्यवहार करते हैं और उनको ज़बर्दस्ती सेम की फलियां खिलाते हैं। बेशक फलियों में रोटी की अपेक्षा वह चूना (चूने का फ़ासफ़ेट) ज़्यादा होता है, जिससे हड्डियां बनती हैं।" (Liebig, उप० पु०, खण्ड १, पृ० १९४, नोट।)

अतः पूंजीपति और उसका सिद्धान्तकार प्रतिनिधि, अर्थशास्त्री, दोनों मजदूर के व्यक्तिगत उपभोग के केवल उसी भाग को उत्पादक समझते हैं, जो मजदूर-वर्ग को जिन्दा रखने के लिये आवश्यक होता है और इसलिये जिसके बिना पूंजीपति को शोषण करने के लिये श्रम-शक्ति नहीं मिल सकती; इस भाग के आगे मजदूर जो कुछ अपने मजे के लिये खर्च करता है, वह अनुत्पादक उपभोग की मद में आता है।[1] यदि पूंजी के संचय से मजदूरी में वृद्धि और मजदूर के उपभोग में कुछ इजाफ़ा हो जाये, पर उसके साथ-साथ पूंजी के द्वारा श्रम-शक्ति के उपभोग में कोई वृद्धि न हो, तो नयी पूंजी का अनुत्पादक ढंग से उपभोग होने लगेगा।[2] असल में, जहां तक खुद मजदूर का सम्बंध है, उसका व्यक्तिगत उपभोग अनुत्पादक होता है, क्योंकि उससे एक जरूरतमन्द व्यक्ति के अतिरिक्त और किसी चीज का पुनरुत्पादन नहीं होता; पर पूंजीपति और राज्य के लिये उसका व्यक्तिगत उपभोग उत्पादक उपभोग होता है, क्योंकि उससे उस शक्ति का उत्पादन होता है, जो उनके धन को उत्पन्न करती है।[3]

इसलिये, जब मजदूर-वर्ग प्रत्यक्ष रूप से श्रम-क्रिया में व्यस्त नहीं होता, सामाजिक दृष्टि से तब भी वह श्रम के साधारण औजारों की तरह ही पूंजी का उपांग होता है। कुछ खास सीमाओं के भीतर उसका व्यक्तिगत उपभोग तक उत्पादन की प्रक्रिया का एक तत्व मात्र होता है। किन्तु उत्पादन की प्रक्रिया इसका पूरा खयाल रखती है कि ये सचेतन औजार उसको बीच मंझधार में छोड़कर अलग न हो जायें। इसके लिये वह उनकी पैदावार को, जैसे ही वह बनकर तैयार होती है, उनके ध्रुव से हटा कर पूंजी के प्रति-ध्रुव पर पहुंचा देती है। व्यक्तिगत उपभोग से, एक तरफ़, श्रम के इन सचेतन औजारों के जिन्दा रहने और पुनरुत्पादन के साधन मिल जाते हैं, दूसरी ओर, व्यक्तिगत उपभोग जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं को नष्ट करके श्रम की मण्डी में मजदूर के हमेशा मौजूद रहने का पक्का प्रबंध कर देता है। रोमन गुलाम को जंजीरों से बांधकर रखा जाता था; मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर को उसके मालिक के साथ अदृश्य धागों से बांध दिया जाता है। मजदूरों के मालिकों के लगातार होने वाले परिवर्तनों और क़रार के fictio juris (क़ानूनी झूठ) के जरिये मजदूर की आजादी का दिखावटी ढोंग क़ायम रखा जाता है।

पुराने वक़्तों में जब कभी पूंजी को इसकी आवश्यकता होती थी, वह क़ानून बनाकर स्वतंत्र मजदूर पर अपना स्वामित्व का अधिकार जमा देती थी। उदाहरण के लिये, १८१५ तक इंगलैण्ड

---

[1] James Mill, उप० पु०, पृ० २३८।

[2] "यदि श्रम का दाम इतना अधिक बढ़ जाये कि पूंजी की वृद्धि के बावजूद और अधिक श्रम से काम लेना असम्भव हो जाये, तो मैं कहूंगा कि पूंजी की इस प्रकार की वृद्धि का अब भी अनुत्पादक ढंग से उपभोग होगा।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० १६३।)

[3] "जिसे सचमुच उत्पादक उपभोग कहा जा सकता है, वह केवल वह उपभोग है, जिसमें पूंजीपति पुनरुत्पादन करने के उद्देश्य से धन का उपभोग करते हैं या धन को" (यहां धन से उसका मतलब उत्पादन के साधनों से है) "नष्ट करते हैं ... जो व्यक्ति मजदूर को नौकर रखता है, उसके लिये और राज्य के लिये मजदूर एक उत्पादक उपभोगी होता है, लेकिन अगर बिल्कुल सही-सही देखा जाये, तो खुद अपने लिये वह उत्पादक उपभोगी नहीं होता।" (Malthus, "*Definitions, etc.*" [माल्थूस, 'परिभाषाएं, इत्यादि'], पृ० ३०।)

के मशीन बनाने वाले कारीगरों को देश छोड़कर जाने की सख्त मनाही थी। जो कोई इस प्रतिबंध को भंग करता था, उसको भयानक कष्ट उठाना पड़ता था और कठोर दण्ड का भागी बनना पड़ता था।

मजदूर-वर्ग के पुनरुत्पादन के साथ-साथ निपुणता का संचय होता चलता है, जिसे हर पीढ़ी अपने बाद में आने वाली पीढ़ी को सौंपती जाती है।[1] जैसे ही कोई संकट आता है और इस बात का खतरा पैदा होता है कि पूंजीपति को निपुण मजदूर अब और नहीं मिलेंगे, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पूंजीपति इस प्रकार के निपुण वर्ग के अस्तित्व को किस हद तक उत्पादन के उन तत्वों में गिनता है, जिनपर उसको स्वामित्व का अधिकार प्राप्त है, और किस हद तक वह सचमुच उसको अपनी अस्थिर पूंजी की वास्तविकता समझता है। जब अमरीका में गृह-युद्ध छिड़ गया और उसके साथ-साथ जब कपास का अकाल पड़ा, तब, जैसा कि सब जानते हैं, लंकाशायर की सूती मिलों के अधिकतर मजदूरों को काम से जवाब मिल गया। उस वक्त मजदूर-वर्ग और समाज के अन्य हलक़ों, दोनों ही क्षेत्रों से यह आवाज उठी कि "फ़ालतू" मजदूरों को देश छोड़कर उपनिवेशों को या संयुक्त राज्य अमरीका को चले जाने के लिये राज्य की ओर से सहायता मिलनी चाहिये या राष्ट्रीय पैमाने पर सभी लोगों से चन्दा करके उनको मदद दी जानी चाहिये। इसपर "*The Times*" ने २४ मार्च १८६३ को मानचेस्टर के चेम्बर्स आफ़ कामर्स के एक भूतपूर्व अध्यक्ष, एडमण्ड पोटर का एक पत्र प्रकाशित किया। इस पत्र को हाउस आफ़ कामन्स में ठीक ही कारखानेदारों का घोषणा-पत्र कहा गया था।[2] यहां पर हम इस पत्र के कुछ ऐसे विशिष्ट अंश छांटकर उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें बिना शर्म-हया के श्रम-शक्ति पर पूंजी के स्वामित्व के अधिकार का दावा किया गया है।

"उस आदमी को" (जिस आदमी की रोजी छूट गयी है) "बताया जा सकता है कि सूती मिलों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी है... और सच तो यह है कि... उसमें शायद एक तिहाई की कमी करना आवश्यक हो गया है, और उसके बाद जो दो तिहाई मजदूर बचेंगे, उनके लिये एक स्वस्थ ढंग की मांग होगी... जनमत उनके परावास के पक्ष में है... मालिक इसके लिये राजी नहीं हो सकता कि उसके लिये श्रम की पूर्ति का स्रोत ही खतम कर दिया जाये; उसके विचार से यह सुझाव ग़लत भी और दोषपूर्ण भी हो सकता है... लेकिन यदि सार्वजनिक कोष का परावास में सहायता देने के लिये ही उपयोग किया जाना है, तो मालिक को अपनी बात कहने और शायद इसका विरोध करने का हक़ भी है।" इसके आगे मि० पोटर ने यह बताया है कि सूती व्यवसाय कितना लाभदायक है, किस प्रकार इस "धंधे ने आयरलैण्ड और इंगलैण्ड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों की फ़ालतू आबादी को खींच लिया

---

[1] "केवल एक ही चीज है, जिसके बारे में हम कह सकते हैं कि वह पहले से संचित होती जाती है और तैयार की जाती है। वह है मजदूर की निपुणता ... निपुण श्रम का संचय और संग्रह, यह अति महत्वपूर्ण क्रिया, जहां तक अधिकतर मजदूरों का सम्बंध है, बिना किसी पूंजी के ही सम्पन्न हो जाती है।' (Th. Hodgskin, "*Labour Defended, &c.*" [टोमस होजस्किन, 'श्रम का समर्थन, इत्यादि'], पृ० १३।)

[2] "उस ख़त को कारख़ानेदारों का घोषणा-पत्र समझा जा सकता है।" (Ferrand, "*Motion on the Cotton Famine*" [फ़ेर्राण्ड, 'कपास के अकाल पर प्रस्ताव'], हाउस आफ़ कामन्स, २७ अप्रैल १८६३।)

है," वह कितना विस्तार प्राप्त कर चुका है, किस प्रकार १८६० में इंगलैण्ड के कुल निर्यात-माल का $\frac{५}{१३}$ भाग इस धंधे का तैयार किया हुआ था और किस तरह कुछ वर्षों के बाद, जब मण्डी का विस्तार हो जायेगा और ख़ास कर जब हिन्दुस्तानी मण्डी का विस्तार हो जायेगा और कपास ६ पेन्स फ़ी पौण्ड के भाव पर बहुतायत के साथ मिलने लगेगी, तब यह धंधा फिर से विस्तार प्राप्त कर लेगा। इसके बाद मि० पोटर ने लिखा है: "किसी न किसी दिन...एक साल में, दो साल में या, हो सकता है, तीन साल में आवश्यक मात्रा फिर मिलने लगेगी... में जो सवाल करना चाहता हूं, वह यह है: क्या यह धंधा इस लायक़ है कि उसे ज़िन्दा रखा जाये? क्या वह इस लायक़ है कि इन मशीनों को (यहां उसका मतलब श्रम करने वाली जीवित मशीनों से है) अच्छी हालत में रखा जाये, और उनसे हाथ धो बैठना क्या हद दर्जे की मूर्खता नहीं होगी? मैं तो समझता हूं कि यह बड़ी भारी मूर्खता होगी। मैं यह मानता हूं कि मज़दूर किसी की सम्पत्ति नहीं हैं ("I allow that the workers are not a property"), वे लंकाशायर की या मालिकों की सम्पत्ति नहीं हैं। लेकिन वे इन दोनों की शक्ति तो हैं; वे एक ऐसी मानसिक एवं प्रशिक्षित शक्ति हैं, जिसका स्थान एक पीढ़ी तक नहीं भरा जा सकता, हालांकि जिन मशीनों पर वे काम करते हैं ("the mere machinery which they work"), उनमें से बहुत सी ऐसी हैं, जिनको लाभपूर्वक बारह महीने के अन्दर ही हटाकर उनकी जगह नयी और पहले से बेहतर मशीनें लगायी जा सकती हैं।[1] कार्य-शक्ति को विदेश चले जाने के लिये प्रोत्साहन दीजिये या इसकी अनुमति (!) दे दीजिये, — फिर पूंजीपति का क्या होगा? ("Encourage or allow the working-power to emigrate, and what of the capitalist?")... मज़दूरों में जो सर्वोत्तम लोग हैं, उनको हटा दीजिये, — अचल पूंजी का भारी मात्रा में मूल्य-ह्रास हो जायेगा और चल पूंजी उस ख़राब क़िस्म के श्रम के साथ संघर्ष करने को राज़ी नहीं होगी, जो बहुत थोड़ी मात्रा में मिलेगा...हमसे कहा जाता है कि मज़दूर इसे" (परावास को) "चाहते हैं। उनके लिये ऐसी चाह करना तो बहुत स्वाभाविक है...सूती व्यवसाय की कार्य-

---

[1] पाठक यह नहीं भूले होंगे कि साधारण परिस्थितियों में, जब मज़दूरी कम करने का सवाल सामने आता है, तब यही पूंजी सर्वथा दूसरा राग अलापने लगती है। तब मालिक लोग एक स्वर में यह कहते हैं कि "फ़ैक्टरी के मज़दूरों को यह तथ्य अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि उनका श्रम वास्तव में एक हीन कोटि का निपुण श्रम है और दूसरा ऐसा कोई श्रम नहीं है, जिसे इतनी आसानी से सीखा जा सकता हो या जो इसी स्तर का श्रम हो और फिर भी जिसके लिये इससे अधिक पारिश्रमिक दिया जाता हो, या जिसे सबसे कम निपुणता रखने वाले किसी विशेषज्ञ से थोड़ी सी शिक्षा लेकर इससे जल्दी तथा इससे अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो ... उत्पादन के व्यवसाय में मालिक की मशीनें वास्तव में मज़दूर के श्रम तथा निपुणता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं" (हालांकि अब हमें बताया जाता है कि इन मशीनों को १२ महीने के अन्दर ही हटाकर उनकी जगह पर नयी मशीनें लगायी जा सकती हैं), "और यह निपुणता तो ६ महीने की शिक्षा से प्राप्त की जा सकती है, और कोई भी साधारण खेत-मज़दूर उसे प्राप्त कर सकता है" (हालांकि अब हमें बताया जाता है कि यह निपुणता ३० वर्ष में भी नहीं प्राप्त की जा सकती)। (देखिये इसी पुस्तक में पीछे, पृष्ठ ४७८।)

कारी शक्ति को छीनकर ("by taking away its working power") या मज़दूरी के ख़र्चे में, मान लीजिये, पांचवें हिस्से की – या पचास लाख की – कमी करके इस धंधे का विस्तार कम कर दीजिये, उसे दबाकर छोटा कर दीजिये और फिर देखिये कि मज़दूरों के ऊपर जो वर्ग है, – यानी छोटे-छोटे दूकानदार, – उनका क्या हाल होता है? और ज़मीन के लगान का, झोंपड़ों के किरायों का क्या हाल होता है?.. फिर यह भी पता लगाइये कि इस सबका छोटे काश्तकारों पर, खाते-पीते गृहस्थों पर और... ज़मींदारों पर क्या असर होता है? और तब बताइये कि क्या देश के सभी वर्गों के लिये इससे अधिक आत्मघाती सुझाव कोई और हो सकता है कि राष्ट्र की कल-कारख़ानों में काम करनेवाली आबादी के सर्वोत्तम भाग का निर्यात करके और उसकी सबसे अधिक उपजाऊ उत्पादक पूंजी और धन बढ़ाने के साधनों के एक भाग के मूल्य को नष्ट करके राष्ट्र को निर्बल बना दिया जाये। मेरी तो यह सलाह है कि (पचास या साठ लाख पौण्ड स्टर्लिंग के) एक ऋण का प्रबंध किया जाये...उसे सम्भवतया दो या तीन वर्षों पर फैलाया जा सकता है; और उसकी व्यवस्था करने के लिये विशेष क़ानून बनाकर सूती व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टों के संरक्षकों के बोर्डों में कुछ विशेष नये कमिश्नर जोड़ दिये जायें और इस तरह मज़दूरों के लिये किसी धंधे का या किसी प्रकार के श्रम का इन्तज़ाम किया जाये, ताकि जिन लोगों को ऋण दिया जाये, उनका कम से कम नैतिक स्तर क़ायम रहे... ज़मींदारों या मालिकों के लिये इससे बुरी बात और क्या हो सकती है ("can anything be worse for landowners or masters") कि उनके सबसे अच्छे मज़दूर उनसे छिन जायें और बाक़ी का एक दीर्घ एवं आरेचक परावास के फलस्वरूप और एक पूरे प्रान्त में पूंजी तथा मूल्य के आरेचन के परिणामस्वरूप नैतिक मनोबल टूट जाये और वे निराशा के गर्त में डूब जायें?"

कारख़ानेदारों के विशिष्ट प्रवक्ता, पोटर, ने दो क़िस्म की "मशीनों" में भेद किया है। दोनों ही प्रकार की मशीनें पूंजीपति की सम्पत्ति होती हैं, पर उनमें से एक प्रकार की मशीनें सदा फ़ैक्टरी में खड़ी रहती हैं, जब कि दूसरी प्रकार की मशीनें रात के समय और इतवार के दिन फ़ैक्टरी के बाहर, झोंपड़ियों में रहती हैं। एक क़िस्म निर्जीव मशीनों की होती है, दूसरी जीवित मशीनों की। निर्जीव मशीनें न सिर्फ़ रोज़-ब-रोज़ घिसती जाती हैं और उनका मूल्य-ह्रास होता जाता है, बल्कि उनका एक बड़ा भाग निरन्तर होनेवाली प्राविधिक प्रगति के कारण इतनी जल्दी पुराना पड़ जाता है कि चन्द महीनों के बाद ही उनको हटाकर नयी मशीनें लगाने में फ़ायदा नज़र आने लगता है। इसके विपरीत, जीवित मशीनों से जितनी ज़्यादा देर तक काम लिया जाता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत के रूप में मिलने वाली दक्षता जितनी अधिक संचित होती जाती है, ये मशीनें उतनी ही अधिक उपयोगी बनती जाती हैं। *"The Times"* ने सूती कपड़े के इस सेठ को यह जवाब दिया था:

"मि० एडमण्ड पोटर सूती मिलों के मालिकों के असाधारण एवं सर्वोच्च महत्व से इतने अधिक प्रभावित हैं कि इस वर्ग को जीवित रखने तथा उसके धंधे को अमर बनाने के उद्देश्य से वह श्रमजीवी वर्ग के पांच लाख लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक विशाल नैतिक मुहताजख़ाने में बन्द करके रखना चाहते हैं। मि० पोटर ने प्रश्न किया है कि क्या यह धंधा इस लायक़ है कि उसे ज़िन्दा रखा जाये? हम उत्तर देते हैं कि हां, निस्सन्देह, वह इस लायक़ है कि उसे ईमानदारी के तरीक़ों से ज़िन्दा रखा जाये। मि० पोटर फिर सवाल करते हैं कि क्या यह इस लायक़ है कि इन मशीनों को अच्छी हालत में रखा जाये? इस सवाल का जवाब देने में हमें हिचकिचाहट होती है। "मशीनों" से मि० पोटर का मतलब मानव-मशीनों से है, क्योंकि इसके

आगे वह यह कहते हैं कि इन मशीनों का सर्वथा अपनी सम्पत्ति के रूप में उपयोग करने का उनका कोई इरादा नहीं है। हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि हम इसे न तो उपयुक्त और न सम्भव ही समझते हैं कि मानव-मशीनों को अच्छी हालत में रखा जाये, – यानी जब तक कि उनकी फिर जरूरत नहीं होती, तब तक के लिये उनको तेल-वेल लगाकर कहीं बन्द कर दिया जाये। मानव-मशीनें यदि निष्क्रिय रहती हैं, तो उनमें आप चाहे जितना तेल लगायें और उनको चाहे जितना घिसे-मांजे, वे मोरचा जरूर खायेंगी। इसके अलावा, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, मानव-मशीनों में अपने आप भाप भर जायेगी और फिर वे या तो फट पड़ेंगी या हमारे बड़े-बड़े शहरों में पागल होकर मार-पीट करने लगेंगी। जैसा कि मि० पोटर का कहना है, मजदूरों के पुनरुत्पादन में कुछ समय लग सकता है, लेकिन जब मशीनों पर काम करने वाले निपुण कारीगर और पूंजीपति दोनों हमारे देश में मौजूद हैं, तो हमें लगन से काम करने वाले परिश्रमी और उद्योगी व्यक्ति हमेशा मिल सकते हैं, जिनमें से हम इतनी बड़ी संख्या में निपुण मजदूर तैयार कर सकते हैं, जिसकी हमें कभी आवश्यकता नहीं होगी। मि० पोटर का कहना है कि एक साल में, दो साल में या, हो सकता है, तीन साल में व्यवसाय में नयी जान पड़ जायेगी, और इसलिये वह हमसे चाहते हैं कि कार्यकारी शक्ति को विदेशों को चले जाने के लिये प्रोत्साहन या अनुमति (!) न दी जाये। उनका कहना है कि यह बहुत स्वाभाविक बात है कि मजदूर विदेशों को जाना चाहते हैं; परन्तु मि० पोटर की राय है कि इन लोगों की इच्छा के बावजूद राष्ट्र को चाहिये कि इन पांच लाख मजदूरों को, उनके ७ लाख आश्रितों समेत, सूती व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टों में बन्द करके रखे। और इसके लाजिमी नतीजे के तौर पर मि० पोटर की, जाहिर है, यह भी राय है कि इन लोगों के असन्तोष को राष्ट्र को बलपूर्वक दबा देना चाहिये और उनको भीख के जरिये और इस उम्मीद के सहारे जिन्दा रखना चाहिये कि हो सकता है कि किसी दिन सूती मिलों के मालिकों को उनकी जरूरत हो... अब इन द्वीपों के महान जनमत के मैदान में उतरने का और इस "कार्यकारी शक्ति" की उन लोगों से रक्षा करने का समय आ गया है, जो उसके साथ लोहे, कोयले और कपास के समान व्यवहार करना चाहते हैं" ("to save this "*working power*" from those who would deal with it as they would deal with iron, and coal, and cotton").[1]

परन्तु "*The Times*" का लेख केवल अपनी चतुराई (jeu d'esprit) दिखाने के लिये लिखा गया था। "महान जनमत" भी असल में मि० पोटर के ही मत का था। वह भी यही सोचता था कि फ़ैक्टरी-मजदूर फ़ैक्टरी के अस्थावर उपकरणों का ही एक भाग होते हैं। चुनांचे, मजदूरों के परावास पर रोक लगा दी गयी।[2] उनको उस "नैतिक मुहताजखाने" में, सूती

---

[1] "*The Times*", २४ मार्च १८६३।

[2] संसद ने परावास की सहायता के लिये एक पाई भी ख़र्च करने की इजाजत नहीं दी, बल्कि कुछ ऐसे क़ानून पास कर दिये, जिनमें नगरपालिकाओं को मजदूरों को अधभूखी हालत में रखने – यानी साधारण मजदूरी से भी कम देकर उनका शोषण करने – का अधिकार दे दिया गया था। दूसरी ओर, इसके ३ वर्ष बाद जब पशुओं में बड़े पैमाने पर बीमारी फैली, तो संसद ने अपनी सारी रूढ़ियों को यकायक तोड़कर फेंक दिया और करोड़पति जमींदारों की क्षति-पूर्ति करने के लिये झट से करोड़ों की रक़म ख़र्च करने की इजाजत दे दी, हालांकि मांस का भाव बढ़ जाने के कारण इन जमींदारों के काश्तकारों का तो बिलकुल कोई नुक़सान नहीं हुआ। १८६६ में संसद का अधिवेशन आरम्भ होने के समय इन भू-स्वामियों ने बैलों की भांति जिस तरह डकराना शुरू कर दिया था, उससे प्रकट होता था कि आदमी हिन्दू न होने पर भी 'सबला' गऊ माता की पूजा कर सकता है और जुपिटर न होते हुए भी कभी-कभी बैल बन सकता है।

व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टों में, बन्द कर दिया गया; और आज वे पहले की तरह ही लंकाशायर के सूती मिलों के मालिकों की "शक्ति" (the strength) बने हुए हैं।

इसलिये, पूंजीवादी उत्पादन खुद ही श्रम-शक्ति और श्रम के साधनों के बीच पाये जाने वाले अलगाव को पुनः पैदा कर देता है। इस तरह वह मजदूर के शोषण के लिये आवश्यक परिस्थितियों का पुनरुत्पादन करता रहता है और उनको स्थायी बना देता है। वह सदा मजदूर को इसके लिये मजबूर करता है कि यदि वह जिन्दा रहना चाहता है, तो अपनी श्रम-शक्ति बेचे; उधर पूंजीपति को वह यह अवसर देता है कि श्रम-शक्ति को खरीदकर वह अपना धन बढ़ाये।[1] अब मण्डी में पूंजीपति और मजदूर का ग्राहक और विक्रेता के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा होना कोई संयोग की बात नहीं रह जाती। खुद उत्पादन की क्रिया ही मजदूर को बार-बार श्रम-शक्ति के विक्रेता के रूप में मण्डी में झोंकती जाती है और उसकी पैदावार को एक ऐसे साधन में बदलती जाती है, जिसके जरिये कोई और आदमी मजदूर को खरीद सकता है। वास्तव में तो मजदूर पूंजी के हाथ अपने को बेचने के पहले से ही पूंजी की सम्पत्ति होता है। उसको समय-समय पर जिस तरह अपने आप को बेचना पड़ता है, जिस तरह अपने मालिकों को बदलना पड़ता है और श्रम-शक्ति के बाजार-भाव में जिस तरह के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, – ये सारी बातें मजदूर की आर्थिक दासता[2] के कारणों का भी काम करती हैं और उसके आवरण का भी।[3]

---

[1] "L'ouvrier demandait de la subsistence pour vivre, le chef demandait du travail pour gagner" [" मजदूर रोटी-कपड़ा चाहता है, ताकि जिन्दा रह सके; मालिक श्रम चाहता है, ताकि मुनाफ़ा कमा सके "]। ( Sismondi, उप० पु०, पृ० ६१।)

[2] इस दासता का एक बर्बर ढंग से भद्दा रूप डरहम नामक काउण्टी में देखने को मिलता है। यह उन चन्द काउंटियों में से है, जिनमें ऐसी परिस्थितियां पायी जाती हैं, जिनके फलस्वरूप काश्तकार को खेतिहर मजदूर पर स्वामित्व का अधिकार निर्विवाद रूप में नहीं मिला हुआ है। खानों के उद्योग के कारण काश्तकारों के लिये काम करना या न करना कुछ हद तक खेतिहर मजदूरों की इच्छा पर निर्भर करता है। अन्य स्थानों में जो प्रथा पायी जाती है, उसके विपरीत इस काउण्टी के काश्तकार केवल ऐसे फ़ार्म लगान पर लेते हैं, जिनकी ज़मीन पर मजदूरों की झोंपड़ियां भी बनी होती हैं। झोंपड़ी का किराया मजदूरी का हिस्सा होता है। ये झोंपड़ियां "hind's houses" ("खेत-मजदूरों के घर") कहलाती हैं। वे कुछ सामन्ती ढंग की हरी-बेगार के एवज में मजदूरों को किराये पर उठा दी जाती हैं। मजदूर और काश्तकार के बीच एक क़रार हो जाता है, जो "bondage" ("बंधक") कहलाता है। इसमें अन्य बातों के अलावा यह शर्त भी होती है कि जिन दिनों मजदूर कहीं और नौकरी करने जायेगा, उन दिनों वह अपने स्थान पर किसी और को, जैसे अपनी बेटी को, छोड़ जायेगा। मजदूर खुद "bondsman" ("क्रीतदास") कहलाता है। यहां जिस प्रकार का सम्बंध स्थापित होता है, उससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मजदूर द्वारा किया जाने वाला व्यक्तिगत उपभोग किस प्रकार एक बिल्कुल नये दृष्टिकोण से पूंजी के हित में किया गया उपभोग, अर्थात् उत्पादक उपभोग, बन जाता है। "यह बात देखने में बहुत अजीब लगती है कि नौकर और क्रीतदास का पाख़ाना तक उसके सामन्त के काम में आता है, जो सब चीजों का पहले से ही हिसाब लगा लेता है ... और सामन्त अपने शौचगृह के अलावा आस-पास में कोई और शौचगृह नहीं बनने देता। वह अपने जमींदाराना हक़ों में जरा भी कमी करने के मुक़ाबले में यह ज्यादा पसन्द करता है कि किसी के बग़ीचे के लिये थोड़ी-बहुत खाद अपने पास से दे दे।" (*"Public Health, Report VII, 1864."* ['सार्वजनिक स्वास्थ्य की ७ वीं रिपोर्ट, १८६४'], पृ० १८८।)

[3] पाठक यह नहीं भूले होंगे कि जहां बच्चों आदि से काम कराने का सवाल होता है, वहां अपना श्रम अपनी मर्ज़ी से बेचने की रस्म पूरी करने की भी ज़रूरत नहीं रहती।

इसलिये, पूंजीवादी उत्पादन एक निरन्तर चलने वाली सम्बद्ध क्रिया के रूप में, या पुनरुत्पादन की क्रिया के रूप में, केवल मालों का या केवल अतिरिक्त मूल्य का ही उत्पादन नहीं करता, बल्कि वह पूंजीवादी सम्बंध का, एक तरफ़ पूंजीपति का तथा दूसरी तरफ़ मजदूरी पर श्रम करने वाले मजदूर का भी उत्पादन और पुनरुत्पादन करता है।[1]

[1] "पूंजी के लिये मजदूरी का और मजदूरी के लिये पूंजी का अस्तित्व आवश्यक है। उनमें से प्रत्येक दूसरे के अस्तित्व के लिये जरूरी है, और दोनों एक दूसरे को जन्म देते हैं। क्या किसी सूती मिल में काम करने वाला मजदूर सूती सामान के सिवा और कुछ नहीं पैदा करता? नहीं, वह पूंजी पैदा करता है। वह उन मूल्यों को पैदा करता है, जिनसे उसके श्रम पर पूंजी को नया अधिकार प्राप्त हो जाता है, और इस अधिकार के द्वारा वह नये मूल्य पैदा करता है।" (Karl Marx, "*Lohnarbeit und Kapital*" [कार्ल मार्क्स, 'मजदूरी और पूंजी']; "*Neue Rheinische Zeitung*", अंक २६६, ७ अप्रैल १८४९, में; "*Neue Rheinische Zeitung*" में उपर्युक्त शीर्षक से जो लेख प्रकाशित हुए थे, वे मेरे कुछ भाषणों के अंश थे। मैंने ये भाषण इसी विषय पर १८४७ में ब्रूसेल्स की "Arbeiter-Verein" ('मजदूर-परिषद') के सामने दिये थे, और फ़रवरी की क्रान्ति के कारण उनका प्रकाशन बीच में ही रुक गया था।

## चौबीसवां अध्याय

# अतिरिक्त मूल्य का पूंजी में रूपान्तरण

### अनुभाग १ – उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन। मालों के उत्पादन के सम्पत्ति सम्बंधी नियमों का पूंजीवादी हस्तगतकरण के नियमों में बदल जाना

अभी तक हम इसकी छान-बीन करते आये हैं कि पूंजी से अतिरिक्त मूल्य कैसे उत्पन्न होता है। अब हमें यह देखना है कि अतिरिक्त मूल्य से पूंजी कैसे पैदा होती है। अतिरिक्त मूल्य को पूंजी के रूप में इस्तेमाल करना, उसे पुनः पूंजी में बदल देना, पूंजी का संचय कहलाता है।[1]

आइये, पहले हम किसी एक पूंजीपति के दृष्टिकोण से इस क्रिया पर विचार करें। मान लीजिये कि सूत की कताई का व्यवसाय करने वाले किसी पूंजीपति ने १०,००० पौण्ड की पूंजी लगा रखी है। उसके पांच में से चार हिस्से (८,००० पौण्ड) कपास, मशीनों आदि पर और एक हिस्सा (२,००० पौण्ड) मजदूरी पर खर्च हुए हैं। मान लीजिये, वह साल भर में २,४०,००० पौण्ड सूत तैयार करता है, जिसका मूल्य १२,००० पौण्ड के बराबर होता है। अतिरिक्त मूल्य की दर चूंकि १०० प्रतिशत है, इसलिये जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, वह ४०,००० पौण्ड सूत की अतिरिक्त अथवा शुद्ध पैदावार में – यानी कुल पैदावार के छठे भाग में – निहित होता है, जिसका मूल्य २,००० पौण्ड होता है, जो सूत को बेचकर प्राप्त होगा। अब २,००० पौण्ड तो २,००० पौण्ड होते हैं। मुद्रा की इस रक़म में अतिरिक्त मूल्य का न तो कोई चिन्ह दिखाई देता है और न ही उसकी ज़रा भी बू आती है। जब हमें यह मालूम होता है कि अमुक मूल्य अतिरिक्त मूल्य है, तब हम यह भी जान जाते हैं कि यह अतिरिक्त मूल्य उसके स्वामी को कैसे प्राप्त हुआ था, लेकिन उससे न तो मूल्य के और न मुद्रा के स्वरूप में कोई परिवर्तन होता है।

यदि तमाम परिस्थितियां पहले जैसी रहती हैं, तो २,००० पौण्ड की इस अतिरिक्त रक़म को पूंजी में बदलने के लिये सूत की कताई का व्यवसाय करने वाला पूंजीपति उसके पांच में से चार हिस्से (१,६०० पौण्ड) कपास आदि खरीदने पर खर्च करेगा और एक हिस्सा (४०० पौण्ड) अतिरिक्त मजदूरों को खरीदने में लगायेगा, जिनको मण्डी में जीवन के लिये आवश्यक वे वस्तुएं

[1] "पूंजी] का संचय – आय के एक भाग का पूंजी की तरह इस्तेमाल किया जाना।" Malthus, "*Definitions, &c.*" [माल्थूस, 'परिभाषाएं, आदि'], Cazenove का संस्करण, पृ० ११।] "आय का पूंजी में बदल दिया जाना।" (Malthus, "*Princ. of Pol. Econ.*" [माल्थूस, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'], दूसरा संस्करण, London, 1836, पृ० ३२०।)

मिल जायेंगी, जिनका मूल्य उनके मालिक ने उनको पेशगी दे दिया है। उसके बाद २,००० पौण्ड की नयी पूंजी कताई की मिल में काम करने लगेगी, और अब उससे ४०० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा।

पूंजी-मूल्य शुरू में मुद्रा-रूप में लगाया गया था। इसके विपरीत, अतिरिक्त मूल्य शुरू में कुल पैदावार के एक ख़ास हिस्से का मूल्य होता है। यदि यह कुल पैदावार बेच दी जाती है और मुद्रा में बदल दी जाती है, तो पूंजी-मूल्य पुनः अपना मूल रूप प्राप्त कर लेता है। इसके आगे पूंजी-मूल्य और अतिरिक्त मूल्य दोनों मुद्रा की दो रक़में होते हैं और उनको हू-ब-हू एक ही ढंग से पूंजी में बदला जाता है। पूंजीपति इन दोनों ही रक़मों को उन मालों की ख़रीद पर ख़र्च करता है, जिनकी सहायता से वह नये सिरे से अपने सामान का निर्माण शुरू कर सकता है और इस बार जिनकी सहायता से वह पहले से बड़े पैमाने पर सामान तैयार कर सकता है। लेकिन वह इन मालों को तभी ख़रीद सकता है, जब वे उसे मण्डी में तैयार मिल जायें।

ख़ुद उसके सूत का केवल इसलिये परिचलन होता है कि साल भर में उसकी जितनी मात्रा तैयार होती है, वह उसे मण्डी में ले आता है, जिस तरह बाक़ी तमाम पूंजीपति भी अपना-अपना माल वहां ले जाते हैं। लेकिन मण्डी में आने के पहले ये तमाम माल उस सामान्य वार्षिक पैदावार के हिस्से थे, वे हर क़िस्म की वस्तुओं की उस कुल राशि के भाग थे, जिसमें अलग-अलग पूंजियों का जोड़, अर्थात् समाज की कुल पूंजी वर्ष भर के अन्दर रूपान्तरित कर दी गयी थी और जिसका हर अलग-अलग पूंजीपति के हाथ में केवल एक अशेषभाजक भाग ही था। मण्डी में जो सौदे होते हैं, उनसे केवल इस वार्षिक पैदावार के अलग-अलग हिस्सों की अदला-बदली ही सम्पन्न होती है, वे एक हाथ से निकलकर दूसरे हाथ में चले जाते हैं; लेकिन उनसे न तो कुल वार्षिक पैदावार में कोई वृद्धि हो सकती है और न ही उत्पादित वस्तुओं के स्वरूप में कोई परिवर्तन हो सकता है। अतएव, कुल वार्षिक पैदावार का क्या उपयोग किया जा सकता है, यह पूरी तरह केवल उसकी अपनी संरचना पर ही निर्भर करता है और परिचलन पर किसी तरह भी निर्भर नहीं करता।

वार्षिक पैदावार से सबसे पहले तो वे तमाम वस्तुएं (उपयोग-मूल्य) मिलनी चाहियें, जिनके द्वारा पूंजी के उन भौतिक संघटकों का स्थान भर आना है, जो साल भर में ख़र्च हो गये हैं। इनको घटा देने पर शुद्ध अथवा अतिरिक्त पैदावार बच जाती है, जिसमें अतिरिक्त मूल्य निहित होता है। और इस अतिरिक्त पैदावार में कौनसी चीज़ें शामिल होती हैं? क्या उसमें केवल वे ही चीज़ें शामिल होती हैं, जिनका काम पूंजीपति-वर्ग की आवश्यकताओं और इच्छाओं को पूरा करना होता है और इसलिये जो पूंजीपतियों के उपभोग-कोष का भाग होती हैं? यदि ऐसा होता, तो अतिरिक्त मूल्य का प्याला एकदम ख़ाली हो जाता और उसमें तलछट तक न बचती, और साधारण पुनरुत्पादन के सिवा और कुछ कभी न होता।

संचय करने के लिये अतिरिक्त पैदावार के एक भाग को पूंजी में बदलना आवश्यक होता है। लेकिन, कोई अलौकिक चमत्कार हो जाये, तो बात दूसरी है, वरना केवल उन्हीं वस्तुओं को पूंजी में बदला जा सकता है, जिनको श्रम-क्रिया में इस्तेमाल किया जा सकता है (अर्थात् जो वस्तुएं उत्पादन के साधन होती हैं), और इसके अलावा उन वस्तुओं को भी पूंजी में बदला जा सकता है, जो मजदूर के भरण-पोषण के लिये उपयुक्त हैं (अर्थात् जो वस्तुएं जीवन-निर्वाह के साधन होती हैं)। चुनांचे, शुरू में लगायी गयी पूंजी का स्थान भरने के लिये उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों की जिस मात्रा का उत्पादन करना आवश्यक था,

उसके अलावा वार्षिक अतिरिक्त श्रम का एक भाग उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों की एक अतिरिक्त मात्रा के उत्पादन पर खर्च किया गया होगा। संक्षेप में यूं कहिये कि यदि अतिरिक्त मूल्य को पूंजी में बदला जा सकता है, तो इसका एक मात्र कारण यह है कि जिस अतिरिक्त पैदावार का यह मूल्य होता है, उसमें पहले से ही नयी पूंजी के भौतिक तत्व मौजूद होते हैं।[1]

अब इन तत्वों को यदि सचमुच पूंजी की तरह काम करना है, तो पूंजीपति-वर्ग के पास अतिरिक्त श्रम होना चाहिये। यदि पहले से काम में लगे हुए मजदूरों के शोषण का विस्तार अथवा तीव्रता नहीं बढ़ती, तो अतिरिक्त श्रम-शक्ति का पता लगाना आवश्यक होता है। पूंजीवादी उत्पादन के यंत्र में इसके लिये पहले से ही व्यवस्था कर दी गयी है, क्योंकि उसमें मजदूर-वर्ग को मजदूरी पर निर्भर करने वाले एक ऐसे वर्ग में परिणत कर दिया गया है, जिसकी साधारण मजदूरी न केवल उसके जीवन-निर्वाह के लिये, बल्कि इस वर्ग की वृद्धि के लिये भी पर्याप्त होती है। मजदूर-वर्ग हर वर्ष अलग-अलग आयु के मजदूरों की शकल में इस अतिरिक्त श्रम-शक्ति को तैयार कर देता है। पूंजी को बस इतना ही करना होता है कि इस अतिरिक्त श्रम-शक्ति का वार्षिक पैदावार में शामिल उत्पादन के साधनों के साथ समावेश कर दे, और ऐसा करते ही अतिरिक्त मूल्य का पूंजी में रूपान्तरण सम्पन्न हो जाता है। यदि ठोस दृष्टिकोण से देखा जाये, तो संचय का अर्थ यह होता है कि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पूंजी का पुनरुत्पादन हो। साधारण उत्पादन जिस वृत्त में घूमता है, उसका रूप बदल जाता है, और यदि सिस्मोंदी के दिये हुए नाम का प्रयोग किया जाये, तो वह एक कुन्तल में बदल जाता है।[2]

आइये, अब हम अपने उदाहरण की ओर लौट चलें। वह बिल्कुल उस पुरानी कहानी की तरह है कि इब्राहीम के इसहाक़ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, इसहाक़ के याकूब नामक पुत्र, और यह वंश-परम्परा इसी तरह बढ़ती गयी। मूल पूंजी १०,००० पौण्ड की थी; उससे २,००० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य पैदा हुआ। उसका पूंजीकरण हो जाता है। २,००० पौण्ड की नयी पूंजी से ४०० पौण्ड का अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है, और उसका भी पूंजीकरण हो जाता है और वह एक नयी अतिरिक्त पूंजी में बदल दिया जाता है। फिर उसकी बारी आती है, और उससे ८० पौण्ड का नया अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न हो जाता है। और इसी तरह यह क्रम चलता रहता है।

[1] हम यहां पर निर्यात-व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं देते, जिसके द्वारा कोई भी राष्ट्र विलास की वस्तुओं को या तो उत्पादन के साधनों में और या जीवन-निर्वाह के साधनों में बदल सकता है और इसकी उल्टी बात भी कर सकता है। हम जिस विषय की छान-बीन कर रहे हैं, उसका उसकी समग्रता में तथा समस्त विघ्नकारी गौण परिस्थितियों से अलग करके अध्ययन करने के लिये हमें पूरी दुनिया को एक राष्ट्र समझना और यह मानकर चलना चाहिये कि हर जगह पूंजीवादी उत्पादन क़ायम हो गया है और उसने उद्योग की प्रत्येक शाखा पर अधिकार कर लिया है।

[2] सिस्मोंदी ने संचय का जो विश्लेषण किया है, उसमें एक बड़ा दोष यह है कि वह बहुधा केवल "आय का पूंजी में रूपान्तरण" शब्दों का प्रयोग करके ही संतोष कर लेते हैं और इस क्रिया की भौतिक परिस्थितियों की तह में नहीं जाते।

अतिरिक्त मूल्य के जिस भाग का पूंजीपति उपभोग कर डालता है, उसकी ओर हम यहां ध्यान नहीं दे रहे हैं। इसी तरह फ़िलहाल इस बात से भी हमारा कोई सम्बंध नहीं है कि नयी पूंजी मूल पूंजी में जोड़ दी जाती है या उसे अलग करके उससे स्वतंत्र रूप से काम लिया जाता है। फ़िलहाल हम इस बात की भी कोई परवाह नहीं करते कि जिस पूंजीपति ने इस अतिरिक्त पूंजी का संचय किया है, वह खुद उसका उपयोग करता है या उसे किसी और पूंजीपति को दे देता है। हमें केवल यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि नव-निर्मित पूंजी के साथ-साथ मूल पूंजी भी अपना पुनरुत्पादन करना और अतिरिक्त मूल्य पैदा करना जारी रखती है और यह बात समस्त संचित पूंजी तथा उससे उत्पन्न होने वाली अतिरिक्त पूंजी के लिये भी सच होती है।

मूल पूंजी का १०,००० पौण्ड पेशगी लगाकर निर्माण किया गया था। यह रक़म उसके मालिक के पास कहां से आयी थी? अर्थशास्त्र के समस्त प्रवक्ता एक स्वर से उत्तर देते हैं: "यह रक़म मालिक को खुद उसके और उसके पूर्वजों के श्रम से मिली है।"[1] और सचमुच केवल उनकी यह मान्यता ही मालों के उत्पादन के नियमों के अनुरूप प्रतीत होती है।

परन्तु २,००० पौण्ड की अतिरिक्त पूंजी पर यह बात लागू नहीं होती। वह कैसे पैदा हुई, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। उसके मूल्य में एक परमाणु भी ऐसा नहीं है, जो अवेतन श्रम से न उत्पन्न हुआ हो। उत्पादन के वे साधन, जिनके साथ अतिरिक्त श्रम-शक्ति का समावेश किया जाता है, और जीवन के लिये आवश्यक वे वस्तुएं, जिनसे मजदूरों का भरण-पोषण होता है, वे सभी अतिरिक्त पैदावार के संघटक भागों के सिवा और कुछ नहीं होतीं। वे उस सालाना ख़िराज का ही हिस्सा होती हैं, जो पूंजीपति-वर्ग हर साल मजदूर-वर्ग से वसूलता है। जब इस ख़िराज के एक हिस्से से पूंजीपति-वर्ग अतिरिक्त श्रम-शक्ति ख़रीदता है, तब यदि वह उसके पूरे दाम भी दे डालता है और यहां सम-मूल्य का सम-मूल्य के साथ ही विनिमय होता है, तब वह पुराना चकमा ही इस्तेमाल किया जाता है, जिसके द्वारा प्रत्येक विजेता जीते हुए देश के लोगों की मुद्रा लूटकर फिर उसी से उनका माल ख़रीद लेता था।

यदि अतिरिक्त पूंजी उसी व्यक्ति को नौकर रखती है, जिसने उसे उत्पन्न किया है, तो इस उत्पादक को न केवल मूल पूंजी के मूल्य में वृद्धि करने का अपना काम जारी रखना पड़ता है, बल्कि उसे अपने पहले के श्रम की पैदावार को उसकी लागत से अधिक श्रम देकर ख़रीदना पड़ता है। यदि इस चीज़ पर पूंजीपति-वर्ग और मजदूर-वर्ग के बीच होने वाले लेन-देन के रूप में विचार किया जाये, तो इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि अतिरिक्त मजदूरों को पहले से काम में लगे हुए मजदूरों के अवेतन श्रम के द्वारा नौकर रखा जाता है। यह भी हो सकता है कि पूंजीपति अतिरिक्त पूंजी को ऐसी मशीन में बदल डाले, जो इस पूंजी के पैदा करने वालों को काम से जवाब दे दे और उनकी जगह पर कुछ बच्चों को नौकर रख ले। हर हालत में, मजदूर-वर्ग एक वर्ष के अतिरिक्त श्रम से उस पूंजी का सृजन कर देता है, जिसे अगले वर्ष नये श्रम को नौकर रखना है।[2] इसी को पूंजी से पूंजी पैदा करना कहते हैं।

[1] "Le travail primitif auquel son capital a dû sa naissance" ["वह आदिम श्रम, जिससे उसकी पूंजी का जन्म हुआ है"], Sismondi उप० पु०, Paris संस्करण, ग्रंथ १, पृ० १०६।)

[2] "पूंजी श्रम को नौकर रखे, इसके पहले श्रम पूंजी को उत्पन्न करता है।" (E. G. Wakefield, "*England and America*" [ई० जी० वेकफ़ील्ड, 'इंगलैण्ड और अमरीका'], London, 1833, खण्ड २, पृ० ११०।)

२,००० पौण्ड की पहली अतिरिक्त पूंजी का संचय होने के लिये पहले यह आवश्यक था कि पूंजीपति के पास उसके "आदिम श्रम" के फलस्वरूप १०,००० पौण्ड का मूल्य हो, जिसे वह व्यवसाय में लगा दे। इसके विपरीत, ४०० पौण्ड की दूसरी अतिरिक्त पूंजी के संचय के लिये केवल इतना ही आवश्यक था कि २,००० पौण्ड पहले से संचित हो गये हों, जिसका ये ४०० पौण्ड पूंजीकृत अतिरिक्त मूल्य होते हैं। बस इसी समय से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर जीवित अवेतन श्रम को हस्तगत करने की एकमात्र शर्त यह बन जाती है कि भूतकाल में किये गये अवेतन श्रम पर स्वामित्व हो। पूंजीपति जितना संचय कर चुका होता है, भविष्य में वह उतना ही अधिक संचय कर सकता है।

जिस हद तक कि वह अतिरिक्त मूल्य, जिससे अतिरिक्त पूंजी नं० १ तैयार होती है, मूल पूंजी के एक भाग से श्रम-शक्ति के ख़रीदे जाने का नतीजा होता है, – और यह ख़रीदारी मालों के विनिमय के नियमों के अनुसार हुई थी और क़ानूनी दृष्टि से इस ख़रीदारी के लिये इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिये था कि मजदूर को ख़ुद अपनी कार्य-क्षमता को स्वतंत्रतापूर्वक बेचने का अधिकार हो और मुद्रा अथवा मालों के मालिक को अपने मूल्यों को बेचने का अधिकार हो; जिस हद तक कि दूसरी अतिरिक्त पूंजी महज पहली अतिरिक्त पूंजी का नतीजा और इसलिये उपर्युक्त परिस्थितियों का परिणाम होती है; जिस हद तक कि प्रत्येक अलग-अलग सौदा अनिवार्य रूप से मालों के विनिमय के नियमों के अनुसार होता है, अर्थात् पूंजीपति सदा श्रम-शक्ति ख़रीदता है और मजदूर सदा उसे बेचता है और – हम यह भी माने लेते हैं कि – श्रम-शक्ति अपने वास्तविक मूल्य पर ख़रीदी और बेची जाती है, – जिस हद तक कि ये सारी बातें सच हैं, उस हद तक यह बात भी स्पष्ट है कि हस्तगतकरण के नियम, अथवा निजी सम्पत्ति के नियम, जो मालों के उत्पादन तथा परिचलन पर आधारित होते हैं, ख़ुद अपने आन्तरिक एवं अनिवार्य द्वन्द्व के फलस्वरूप अपने बिलकुल उल्टे नियमों में बदल जाते हैं। हमने शुरू किया था एक ऐसी क्रिया से, जिसमें सम-मूल्यों का विनिमय हुआ था; वह अब इस तरह बदल जाती है कि केवल दिखावटी विनिमय ही होता है। इसका कारण एक तो यह है कि श्रम-शक्ति के साथ जिस पूंजी का विनिमय होता है, वह ख़ुद दूसरों के श्रम की पैदावार का एक हिस्सा होती है, जिसे उसके एवज में कोई सम-मूल्य दिये बग़ैर ही हस्तगत कर लिया गया है। और, दूसरे, उसका कारण यह है कि उत्पादक को न केवल इस पूंजी का स्थान भरना पड़ता है, बल्कि उसके साथ-साथ कुछ अतिरिक्त पूंजी भी पैदा करनी पड़ती है। इस तरह, पूंजीपति और मजदूर के बीच विनिमय का जो सम्बंध क़ायम रहता है, वह परिचलन की क्रिया से सम्बंधित एक आभास मात्र, एक रूप मात्र बनकर रह जाता है, जिसका इस लेन-देन के मूल तत्व से तनिक भी सम्बंध नहीं होता और जो उसे केवल एक रहस्यमय आवरण से ढंक देता है। श्रम-शक्ति की बारम्बार होने वाली ख़रीद और बिक्री अब रूप मात्र रह जाती हैं; वास्तव में जो कुछ होता है, वह यह है कि पूंजीपति बार-बार बिना कोई सम-मूल्य दिये हुए दूसरों के पहले से भौतिक रूप में परिवर्तित श्रम के एक भाग पर अधिकार करता जाता है और जीवित श्रम की पहले से अधिक मात्रा के साथ उसका विनिमय करता जाता है। शुरू में हमें लगता था कि सम्पत्ति का अधिकार आदमी के अपने श्रम पर आधारित होता है। कम से कम इस तरह की कोई बात मान लेना ज़रूरी था, क्योंकि केवल समान अधिकार वाले मालों के मालिक ही एक दूसरे के सामने आते थे और केवल एक ही तरीक़ा था, जिससे कोई आदमी दूसरे आदमी के मालों का मालिक बन सकता था, और वह यह कि वह ख़ुद अपने

मालों को हस्तांतरित कर दे, और उसके इन मालों का स्थान केवल श्रम के द्वारा ही भरा जा सकता था। लेकिन अब यह मालूम होता है कि पूंजीपति के लिये सम्पत्ति का अर्थ यह होता है कि उसे दूसरों के अवेतन श्रम को या उस श्रम की पैदावार को हस्तगत करने का हक़ मिल जाता है, और मजदूर के लिये यह कि उसके लिये खुद अपनी पैदावार को हस्तगत करना असम्भव हो जाता है। जो नियम ऊपर से देखने में श्रम और सम्पत्ति के एकात्म्य से उत्पन्न हुआ था, श्रम और सम्पत्ति का अलगाव उसका एक अनिवार्य फल बन गया है।[1]

इसलिये,* ऊपर से देखने में भले ही यह लगता हो कि हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली मालों के उत्पादन के मौलिक नियमों के बिल्कुल खिलाफ़ जाती है, पर असल में यह प्रणाली इन नियमों के अतिक्रमण से नहीं, बल्कि उनके लागू किये जाने से पैदा होती है। उत्तरोत्तर अवस्थाओं के जिस अनुक्रम की चरम परिणति पूंजीवादी संचय है, उसके संक्षिप्त सिंहावलोकन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

पहले तो हम यह देख चुके हैं कि जब शुरू-शुरू में मूल्यों की एक निश्चित मात्रा पूंजी में बदली गयी थी, तो यह परिवर्तन सर्वथा विनिमय के नियमों के अनुसार हुआ था। क़रार करने वाले दो पक्षों में से एक ने अपनी श्रम-शक्ति बेची थी, दूसरे ने उसे खरीदा था। पहले को उसके माल का विनिमय-मूल्य मिल गया था, जब कि उसका उपयोग-मूल्य, अर्थात् श्रम, दूसरे के स्वामित्व में चला गया था। उत्पादन के साधनों पर दूसरे पक्ष का स्वामित्व होता है; इन्हीं साधनों की भांति उसके स्वामित्व में आये हुए श्रम की मदद से वह इन साधनों को नयी पैदावार में बदल देता है; इस नयी पैदावार पर भी उसी को ही स्वामित्व का अधिकार प्राप्त होता है।

इस पैदावार के मूल्य में एक तो उत्पादन के उन साधनों का मूल्य शामिल होता है, जो खर्च कर दिये गये हैं। उपयोगी श्रम उत्पादन के इन साधनों को उनका मूल्य नयी पैदावार में स्थानांतरित किये बग़ैर खर्च नहीं कर सकता। लेकिन बिक्री के योग्य बनने के लिये श्रम-शक्ति में उद्योग की उस शाखा को उपयोगी श्रम दे सकने की क्षमता होनी चाहिये, जहां उससे काम लिया जाने वाला है।

इसके अलावा, नयी पैदावार के मूल्य में श्रम-शक्ति के मूल्य का सम-मूल्य और कुछ अतिरिक्त मूल्य शामिल होता है। यह इसलिये कि एक निश्चित समय के लिये,—जैसे एक दिन, एक सप्ताह आदि के लिये,—बेची गयी श्रम-शक्ति का मूल्य कम और इस समय में उस श्रम-शक्ति के उपयोग से पैदा होने वाला मूल्य अधिक होता है। लेकिन, जैसा कि हर बिक्री और खरीद के समय होता है, मजदूर को उसकी श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य मिल गया है और उसने बदले में अपनी श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य किसी और को सौंप दिया है।

[1] दूसरों के श्रम की पैदावार पर पूंजीपति का स्वामित्व "केवल हस्तगतकरण के उस नियम का परिणाम है, जिसका मूल सिद्धान्त इसके विपरीत यह था कि हर मजदूर का खुद अपने श्रम की पैदावार पर अनन्य अधिकार होता है।" (Cherbuliez, "*Richesse ou Pauvreté*", Paris, 1841, पृ० ५८; किन्तु वहां इसके द्वन्द्वात्मक विपर्यय को ढंग से विकसित नहीं किया गया है।)

*आगे का अंश (पृ० ६५९ पर "परिवर्तित हो जाते हैं" तक) अंग्रेजी पाठ में, जिसके अनुसार हिन्दी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार जोड़ दिया गया है।—सम्पा०

इस तथ्य से कि श्रम-शक्ति नामक इस विशिष्ट माल में श्रम देने का और इसलिये मूल्य पैदा करने का एक विचित्र उपयोग-मूल्य होता है, मालों के उत्पादन के सामान्य नियम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिये, यदि पैदावार में महज मजदूरी की शकल में पेशगी दिये गये मूल्यों के जोड़ का ही पुनरुत्पादन नहीं होता, बल्कि उसमें अतिरिक्त मूल्य भी जुड़ जाता है, तो इसका कारण यह नहीं है कि बेचने वाले के साथ धोखा हुआ है,—क्योंकि उसे तो वास्तव में अपने माल का मूल्य मिल जाता है,—इसका कारण तो केवल यह है कि खरीदार ने इस माल का उपयोग किया है।

विनिमय के नियम के अनुसार, एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने वाले मालों में केवल विनिमय-मूल्यों की समानता आवश्यक होती है। विनिमय का नियम शुरू से ही उनके उपयोग-मूल्यों में असमानता को पूर्वाधार मान लेता है, और इस नियम का इन मालों के उपभोग से कोई सम्बंध नहीं होता, क्योंकि वह तो उस वक़्त तक आरम्भ नहीं होता, जब तक कि यह लेन-देन पूरा नहीं हो जाता।

इसलिये, बिल्कुल शुरू-शुरू में मुद्रा का पूंजी में जो रूपान्तरण होता है, वह पूरी तरह मालों के उत्पादन के आर्थिक नियमों तथा उनसे व्युत्पन्न सम्पत्ति के अधिकार के अनुसार होता है। फिर भी उसके निम्नलिखित परिणाम होते हैं:

१) पैदावार पर मजदूर का नहीं, पूंजीपति का अधिकार होता है;

२) इस पैदावार के मूल्य में पेशगी लगायी गयी पूंजी के मूल्य के अलावा कुछ अतिरिक्त मूल्य भी शामिल होता है। इस अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में मजदूर का श्रम खर्च होता है, मगर पूंजीपति का कुछ भी खर्च नहीं होता, और फिर भी यह पैदावार पूंजीपति की विधि-संगत सम्पत्ति बन जाती है;

३) मजदूर के पास उसकी श्रम-शक्ति बनी रहती है, और यदि उसे खरीदार मिल जाये, तो वह उसे फिर बेच सकता है।

साधारण पुनरुत्पादन इस पहली क्रिया की एक नियतकालिक पुनरावृत्ति मात्र होता है। उसके द्वारा मुद्रा हर बार पूंजी में रूपान्तरित कर दी जाती है। इससे सामान्य नियम का अतिक्रमण नहीं होता; इसके विपरीत, उसे निरन्तर कार्य करने का अवसर मिल जाता है। "उत्तरोत्तर होने वाले अनेक विनिमय-कार्यों ने केवल अन्तिम को प्रथम विनिमय-कार्य का प्रतिनिधि बना दिया है" (Sismondi, "*Nouveaux Principes, etc.*", पृ० ७०।)

फिर भी हम यह देख चुके हैं कि जहां तक कि इस पहली क्रिया को एक अलग-थलग क्रिया समझा जाता है, वहां तक साधारण पुनरुत्पादन उसपर एक सर्वथा उल्टे स्वरूप की छाप डाल देने के लिये पर्याप्त सिद्ध होता है। "राष्ट्रीय आय को जो लोग आपस में बांटते हैं, उनमें से कुछ को (मजदूरों को) हर वर्ष नया श्रम करके इस पैदावार पर अधिकार प्राप्त करना पड़ता है; दूसरों ने (पूंजीपतियों ने) शुरू में कुछ कार्य करके पहले से ही इस पैदावार पर स्थायी अधिकार प्राप्त कर लिया है" (Sismondi, उप० पु०, पृ० ११०, १११)। यह बात निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है कि केवल श्रम का क्षेत्र ही एकमात्र ऐसा नहीं है, जहां ज्येष्ठाधिकार का सिद्धान्त बड़े-बड़े चमत्कारपूर्ण कृत्य कर डालता है।

यदि साधारण पुनरुत्पादन के स्थान पर विस्तारित पैमाने का पुनरुत्पादन होने लगता है, संचय होने लगता है, तो उससे भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पहले में पूंजीपति सारा

अतिरिक्त मूल्य ख़र्च कर डालता है, दूसरे में वह उसके केवल एक भाग को ख़र्च करके और बाक़ी को मुद्रा में बदलकर अपने पूंजीवादी गुणों का परिचय देता है।

अतिरिक्त मूल्य उसकी सम्पत्ति होता है, उसपर कभी किसी और का अधिकार नहीं रहा है। यदि वह उसे उत्पादन में लगा देता है, तो जब वह पहले दिन मण्डी में आया था, तब उसने जिस तरह अपने कोष में से धन निकालकर ख़र्च किया था, उसी तरह वह आज भी उसे अपने कोष में से निकालकर ख़र्च करता है। इस बात से ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वर्तमान उदाहरण में यह कोष उसके मज़दूर के अवेतन श्रम से प्राप्त हुआ है। यदि 'क' नामक मज़दूर द्वारा उत्पादित अतिरिक्त मूल्य से 'ख' नामक मज़दूर को नौकर रखा जाता है, तो पहली बात तो यह है कि इस अतिरिक्त मूल्य को तैयार करने के कारण ऐसा नहीं हुआ है कि 'क' को उसके माल का उचित दाम न मिला हो या उसमें एक पाई की भी कटौती की गयी हो, और दूसरी बात यह है कि इस सौदे से 'ख' का तनिक भी सम्बंध नहीं है। 'ख' जो कुछ मांगता है और जिसे मांगने का उसे अधिकार है, वह यही है कि पूंजीपति उसको उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य अदा करे। "दोनों पक्षों को लाभ होता है: मज़दूर को इस तरह कि किसी भी तरह का श्रम करने के पहले ही" (कहना यों चाहिये: उसके अपने श्रम से कोई फल निकलने के पहले ही) "उसे अपने श्रम का फल पेशगी मिल जाता है" (यों कहिये: उसे दूसरों के अवेतन श्रम का फल मिल जाता है), "और मालिक (la maître) को इसलिये कि यह मज़दूर जो श्रम करता है, उसका मूल्य उसकी मज़दूरी से अधिक होता है" (यों कहना चाहिये: अपनी मज़दूरी के मूल्य से अधिक मूल्य का उत्पादन करता है) (Sismondi, उप० पु०, पृ० १३५)।

यह सच है कि जब हम पूंजीवादी उत्पादन पर उसके नवीकरण के निरन्तर प्रवाह की दृष्टि से विचार करते हैं और जब हम एक अलग पूंजीपति तथा एक अलग मज़दूर के बजाय एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े हुए पूरे पूंजीपति-वर्ग और पूरे मज़दूर-वर्ग पर विचार करते हैं, तब मामले का एक बिल्कुल दूसरा पहलू सामने आता है। लेकिन इस तरह विचार करते समय हमें मालों के उत्पादन के सिलसिले में एक सर्वथा पराये मापदण्ड का प्रयोग करना होगा।

मालों के उत्पादन में केवल एक दूसरे से स्वतंत्र विक्रेता और ग्राहक आपस में मिलते हैं। उनके पारस्परिक सम्बंध उनके आपसी क़रार के समाप्त होने के साथ-साथ ख़तम हो जाते हैं। यदि वह सौदा दोहराया जाता है, तो एक नया क़रार करना पड़ता है, जिसका पहले क़रार से कोई सम्बंध नहीं होता, और केवल संयोगवश ही वही विक्रेता फिर उसी ग्राहक से आ भिड़ता है।

इसलिये, यदि मालों के उत्पादन का या उससे सम्बद्ध किसी क्रिया का स्वयं उसी के आर्थिक नियमों के आधार पर निर्णय होना है, तो हमें प्रत्येक विनिमय-कार्य पर अलग-अलग विचार करना पड़ेगा, और उसके पहले जो विनिमय-कार्य हुआ था और उसके बाद जो विनिमय-कार्य होने वाला है, उन दोनों से उसे अलग करके देखना होगा। और चूंकि क्रय और विक्रय व्यक्तियों के बीच होते हैं, इसलिये उनके पीछे समाज के पूरे वर्गों के सम्बंधों को देखना अनुचित होगा।

इस वक़्त जो पूंजी काम कर रही है, वह नियतकालिक पुनरुत्पादनों और पूर्वकालिक संचय-क्रियाओं के चाहे जितने लम्बे क्रम से गुज़र चुकी हो, उसका आदिम कौमार्य सदा ज्यों का त्यों रहता है। जब तक कि हर अलग-अलग विनिमय-कार्य में विनिमय के नियमों का पालन

किया जाता है, तब तक हस्तगतकरण की प्रणाली में सम्पूर्ण क्रान्ति हो जाने पर भी सम्पत्ति के उन अधिकारों में जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, जो मालों के उत्पादन के अनुरूप होते हैं। चाहे हम उस समय को लें, जब पैदावार पर पैदा करने वाले का अधिकार था और यह पैदा करने वाला सम-मूल्य के साथ सम-मूल्य का विनिमय करते हुए केवल अपने श्रम से ही अपना धन बढ़ा सकता था, और चाहे हम उस समय को लें, जब पूंजीवाद के अन्तर्गत सामाजिक धन अधिकाधिक उन लोगों की सम्पत्ति बनता जाता है, जो लगातार और बार-बार दूसरों के अवेतन श्रम को हस्तगत कर लेने की स्थिति में होते हैं,—हर हालत में ये ही अधिकार क़ायम रहते हैं।

जैसे ही "स्वतंत्र" मजदूर खुद अपनी श्रम-शक्ति को माल की तरह बेचने लगता है, वैसे ही यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है। किन्तु इसी समय से यह भी होता है कि मालों के उत्पादन का सामान्यकरण हो जाता है और वह उत्पादन का प्रतिनिधि रूप बन जाता है; इसी समय से ही यह होता है कि हर पैदावार शुरू से ही बिक्री के लिये बनायी जाती है और जितना भी धन पैदा होता है, उस सब को परिचलन के क्षेत्र से गुजरना होता है। जिस समय और जिस स्थान पर मजदूरी पर किया जाने वाला श्रम, अर्थात् मजदूरी मालों के उत्पादन का आधार बन जाती है, केवल उस समय और उस स्थान पर ही मालों का उत्पादन पूरे समाज पर हावी हो पाता है; मगर तभी और उसी स्थिति में वह अपनी गुप्त क्षमतायें व्यक्त कर पाता है। यदि कोई यह कहता है कि मजदूरी के हस्तक्षेप से मालों के उत्पादन में अपमिश्रण हो जाता है, तो वह तो यह कहने के समान है कि यदि मालों के उत्पादन में अपमिश्रण नहीं होना है, तो उसका विकास नहीं होना चाहिये। मालों का उत्पादन अपने अन्तर्निहित नियमों के अनुसार विकास करता हुआ जिस हद तक पूंजीवादी उत्पादन में परिवर्तित हो जाता है, उसी हद तक मालों के उत्पादन के सम्पत्ति के नियम भी पूंजीवादी हस्तगतकरण के नियमों में परिवर्तित हो जाते हैं।[1]

हम यह देख चुके हैं कि साधारण पुनरुत्पादन की सूरत में भी हर प्रकार की पूंजी, उसका मूल स्रोत चाहे कुछ भी रहा हो, संचित पूंजी में, पूंजीकृत अतिरिक्त मूल्य में, परिवर्तित हो जाती है। लेकिन उत्पादन की बाढ़ में शुरू-शुरू में लगायी गयी पूंजी प्रत्यक्ष रूप से संचित होने वाली पूंजी के मुक़ाबले में,—यानी उस अतिरिक्त मूल्य अथवा अतिरिक्त पैदावार के मुक़ाबले में, जो पुनः पूंजी में रूपान्तरित कर दिया जाता है,—एक लुप्यमान मात्रा (गणित के अर्थ में, magnitudo evanescens) बन जाती है; इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह पूंजी जमा करने वाले के हाथ में रहकर या दूसरों के हाथों में रहकर काम करती है। इसीलिये अर्थशास्त्र में पूंजी को सामान्य रूप से ऐसा "संचित धन" (रूपान्तरित अतिरिक्त मूल्य अथवा रूपान्तरित आय) कहा गया है, "जिससे पुनः अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का काम लिया जाता है"[2], और पूंजीपति को अर्थशास्त्र में "अतिरिक्त मूल्य का

[1] इसलिये, जब प्रूधों मालों के उत्पादन पर आधारित सम्पत्ति के शाश्वत नियमों को लागू करके पूंजीवादी सम्पत्ति को ख़तम कर देने का इरादा जाहिर करते हैं, तब हम यदि उनकी चतुराई को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं, तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

[2] "पूंजी, यानी वह संचित धन, जिससे मुनाफ़ा कमाया जाता है" (Malthus, उप० पु०)। "पूंजी...उस धन को कहते हैं, जो आय में से बचाकर मुनाफ़ा कमाने के लिये इस्तेमाल किया

मालिक"[1] कहा गया है। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार की वर्तमान पूंजी संचित अथवा पूंजीकृत ब्याज होती है; कारण कि ब्याज अतिरिक्त मूल्य का एक अंश मात्र ही होता है।[2]

## अनुभाग २ – उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने के पुनरुत्पादन के विषय में अर्थशास्त्र की ग़लत धारणा

संचय की – या अतिरिक्त मूल्य के पूंजी में पुनः रूपान्तरण की – आगे छान-बीन करने के पहले हमें प्रामाणिक अर्थशास्त्रियों द्वारा पैदा की गयी एक अस्पष्टता का निवारण करना पड़ेगा।

पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य का एक भाग देकर जिन मालों को खुद अपने उपभोग के लिये ख़रीदता है, वे उत्पादन तथा मूल्य के सृजन के काम में नहीं आते। इसी तरह वह अपनी प्राकृतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो श्रम ख़रीदता है, वह भी उत्पादक श्रम नहीं होता। अतिरिक्त मूल्य को पूंजी में रूपान्तरित करने के बजाय वह इन मालों को और इस श्रम को ख़रीदकर अतिरिक्त मूल्य को उल्टे आय के रूप में ख़र्च कर डालता है या उसका उपभोग कर डालता है। जैसा कि हेगेल ने ठीक ही कहा है, सामन्ती काल के पुराने अभिजात वर्ग के जीवन का प्रचलित ढंग यह था कि "जो कुछ हाथ में हो, उसे ख़र्च कर डालो"; यह बात व्यक्तिगत नौकर-चाकर रखने के रूप में ख़ास तौर पर प्रकट होती थी। जीवन के इस ढंग से वास्ता पड़ने पर पूंजीवादी अर्थशास्त्र के लिये इस सिद्धान्त की घोषणा करना अत्यन्त आवश्यक था कि पूंजी का संचय करना प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिये यह अनवरत रूप से प्रचार करना आवश्यक था कि जो आदमी अपनी आय का एक अच्छा हिस्सा अतिरिक्त उत्पादक मजदूरों को नौकर रखने पर ख़र्च नहीं करता और इस तरह उनके ज़रिये लागत से ज़्यादा आमदनी नहीं कमाता और जो इसके बजाय अपनी सारी आय खुद खा जाता है, वह कभी संचय नहीं कर सकता। दूसरी ओर, अर्थशास्त्रियों को जन-साधारण के उस पूर्वग्रह से भी लड़ना पड़ा, जो पूंजीवादी उत्पादन को धन-अपसंचय के साथ गड़बड़ा देता है[3] और जो समझता

जाता है" (R. Jones, "*An Introductory Lecture on Political Economy*" [आर० जोन्स, 'अर्थशास्त्र के विषय में एक प्रारम्भिक भाषण'], London, 1833, पृ० १६)।

[1] "अतिरिक्त मूल्य या पूंजी के स्वामी" ("*The Source and Remedy of the National Difficulties. A Letter to Lord John Russell*" ['राष्ट्रीय कठिनाइयों का कारण और उनका उपचार। – लार्ड जान रसेल के नाम एक पत्र'], London, 1821)।

[2] "बचायी हुई पूंजी के प्रत्येक अंश पर लगने वाले चक्रवृद्धि ब्याज के साथ पूंजी की ऐसी वृद्धि हुई है कि संसार का वह सारा धन, जिससे कुछ आय होती है, बहुत समय पहले से पूंजी का ब्याज बन गया है।" (लन्दन का "*Economist*", १६ जुलाई १८५६।)

[3] "आजकल का कोई अर्थशास्त्री केवल अपसंचय के अर्थ में बचत शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता; और इस संकुचित तथा अपर्याप्त कार्रवाई के आगे राष्ट्रीय धन के सम्बंध में इस शब्द के केवल उसी प्रयोग की कल्पना की जा सकती है, जिसमें जो कुछ बचाया जाता है, उसका

है कि संचित धन या तो वह होता है, जिसे उसके वर्तमान रूप में नष्ट कर दिये जाने से– यानी खर्च कर दिये जाने से–बचा लिया जाता है, और या वह होता है, जिसको परिचलन के क्षेत्र से हटा लिया जाता है। यदि मुद्रा को परिचलन से हटा लिया जायेगा, तो पूंजी के रूप में उसके आत्म-विस्तार की तनिक भी सम्भावना नहीं रहेगी; और मालों के रूप में धन का अपसंचय करना तक परले दर्जे की मूर्खता होगी।[1] बहुत बड़े परिमाणों में मालों का संचय या तो उस समय होता है, जब अति-उत्पादन होने लगता है, और या उस समय होता है, जब परिचलन बीच में रुक जाता है।[2] यह सच है कि जन-साधारण के दिमाग़ पर इस दृश्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है कि एक तरफ़ धनिकों ने बहुत सारा सामान क्रमिक उपभोग करने के लिये जमा कर रखा है[3] और दूसरी तरफ़ बिक्री के मालों के रिजर्व स्टाक जमा किये जा रहे हैं। यह बाद वाली चीज उत्पादन की सभी प्रणालियों में होती है, और जब हम परिचलन का विश्लेषण करने बैठेंगे, तब हम एक क्षण के लिये उसपर भी विचार करेंगे।

इसलिये, प्रामाणिक अर्थशास्त्र का यह दावा बिल्कुल सही है कि अनुत्पादक मजदूरों के बजाय उत्पादक मजदूरों द्वारा अतिरिक्त पैदावार का उपभोग संचय की क्रिया की एक चरित्रगत विशेषता है। लेकिन इसी बिंदु पर ग़लतियां भी शुरू हो जाती हैं। ऐडम स्मिथ ने संचय को उत्पादक मजदूरों द्वारा अतिरिक्त पैदावार के उपभोग के सिवा कुछ और न समझने का फ़ैशन बना दिया है। यह तो यह कहने के समान है कि अतिरिक्त मूल्य का पूंजीकरण केवल अतिरिक्त मूल्य को श्रम-शक्ति में बदल देना है। मिसाल के लिये, देखिये कि रिकार्डो क्या कहते हैं: "हमें यह समझ लेना चाहिये कि किसी भी देश की समस्त पैदावार खर्च कर दी जाती है। लेकिन उसका उपभोग क्या वे लोग करते हैं, जो पुनरुत्पादन करते हैं, या वे, जो किसी और मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं करते, इस बात से बहुत ही बड़ा फ़र्क़ पड़ जाता है। जब हम यह कहते हैं कि आय बचा ली जाती है और पूंजी में जोड़ दी जाती है, तब वास्तव में हमारा यह मतलब होता है कि आय का वह हिस्सा, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि वह पूंजी में जोड़ दिया जाता है, उसका उपभोग अनुत्पादक मजदूरों के बजाय उत्पादक मजदूर करते हैं। यदि कोई यह समझता है कि अनुपभोग से पूंजी में वृद्धि होती है, तो इससे बड़ी ग़लती कोई और नहीं हो सकती।"[4] हां, उससे बड़ी ग़लती कोई और नहीं हो सकती, जो रिकार्डो तथा बाद के सभी अर्थशास्त्रियों

कोई भिन्न उपयोग किया जाता है, जो कि उसके द्वारा पोषित श्रम के विभिन्न प्रकारों के बीच पाये जाने वाले वास्तविक भेद पर आधारित होता है" (Malthus, उप० पु०, पृ० ३८, ३९)।

[1] मिसाल के लिये, बालज़ाक ने, जिन्होंने हर प्रकार के लोभ का बहुत ही गहरा अध्ययन किया था, बुड्ढे सूदखोर गोबसेक के बारे में लिखा है कि जब उसने मालों को बटोरना शुरू किया था, तब वह एकदम सठिया गया था।

[2] "मालों का जमा हो जाना... विनिमय का न होना... अति-उत्पादन का होना" (Th. Corbet, उप० पु०, पृ० १०४)।

[3] इस अर्थ में नेकर ने "objets de faste et de somptuosité" की चर्चा की है, जिन में से "le temps a grossi l'accumulation" और जो "les lois de propriété ont rassemblés dans une seule classe de la société" (Oeuvres de M. Necker, Paris और Lausanne, 1789, ग्रंथ १, पृ० १९१)।

[4] Ricardo, उप० पु०, पृ० १६३, नोट।

ने ऐडम स्मिथ की यह बात दुहराकर की है कि "ग्राय का वह हिस्सा, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि वह पूंजी में जोड़ दिया जाता है, उसका उपभोग... उत्पादक मजदूर करते हैं"। इस मत के अनुसार तो वह सारा अतिरिक्त मूल्य, जो पूंजी में बदल जाता है, अस्थिर पूंजी बन जाता है। असल में यह नहीं होता, बल्कि मूल पूंजी की भांति अतिरिक्त मूल्य भी स्थिर पूंजी और अस्थिर पूंजी में, उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति में विभाजित हो जाता है। श्रम-शक्ति वह रूप है, जिसमें अस्थिर पूंजी उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान में पायी जाती है। इस प्रक्रिया में खुद श्रम-शक्ति का उपभोग तो पूंजीपति कर डालता है, और अपना कार्य करने के दौरान में, यानी श्रम करने के दौरान में, उत्पादन के साधनों का श्रम-शक्ति उपभोग कर डालती है। साथ ही, श्रम-शक्ति को खरीदने के लिये दी गयी मुद्रा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं में बदल दी जाती है, जिनका "उत्पादक श्रम" नहीं, बल्कि "उत्पादक श्रमजीवी" उपभोग करता है। ऐडम स्मिथ बुनियादी तौर पर ग़लत विश्लेषण करके इस बेतुके नतीजे पर पहुंच जाते हैं कि यद्यपि प्रत्येक अलग-अलग पूंजी स्थिर और अस्थिर भागों में बंट जाती है, तथापि पूरे समाज की पूंजी केवल अस्थिर पूंजी में परिणत हो जाती है, अर्थात् वह महज मजदूरी अदा करने पर खर्च की जाती है। उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि कपड़े की किसी मिल का मालिक २,००० पौण्ड की रक़म को पूंजी में बदल देता है। उसका एक भाग वह बुनकरों को खरीदने में लगाता है और दूसरा भाग ऊनी धागा, मशीनें आदि खरीदने पर खर्च करता है। परन्तु वह जिन लोगों से धागा और मशीनें खरीदता है, उनको अपने माल की बिक्री से जो मुद्रा मिलती है, उसका एक भाग वे श्रम पर खर्च करते हैं, और इसी तरह अन्य लोग भी करते जाते हैं, – यहां तक कि अन्त में जाकर २,००० पौण्ड की पूरी रक़म मजदूरी देने में खर्च हो जाती है, अर्थात् अन्त में उस पूरी पैदावार का, जिसका प्रतिनिधित्व २,००० पौण्ड की वह रक़म करती थी, उत्पादक मजदूर उपभोग कर डालते हैं। यह स्पष्ट है कि इस युक्ति का सारा तत्व इन शब्दों में निहित है: "और इसी तरह अन्य लोग भी करते जाते हैं"। ये शब्द हमें धोबी का कुत्ता बना देते हैं। सच पूछिये, तो ऐडम स्मिथ ठीक उसी जगह पर अपनी छान-बीन बन्द कर देते हैं, जहां कठिनाइयां प्रारम्भ होती हैं।[1]

जब तक हम केवल वर्ष भर की कुल पैदावार के दृष्टिकोण से उसपर विचार करते हैं, तब तक पुनरुत्पादन की वार्षिक क्रिया को आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन इस पैदावार के प्रत्येक संघटक को अलग-अलग माल के रूप में मण्डी में लाना होता है, और बस यहीं से कठिनाई प्रारम्भ हो जाती है। अलग-अलग पूंजियों और व्यक्तिगत आमदनियों की गतियां एक दूसरे को काटती हुई चलती हैं और आपस में घुल-मिल जाती हैं और सामान्य स्थान-परिवर्तन में – समाज के धन के परिचलन में – खो जाती हैं। इससे देखने वाले की आंखें चकाचौंध हो जाती हैं, और उसे बहुत ही जटिल समस्याओं को हल करना पड़ता है। दूसरी पुस्तक के तीसरे भाग

[1] जब जान स्टुअर्ट मिल के पूर्वज इस प्रकार का विश्लेषण करते हैं, तब उसमें इतनी त्रुटियां होने पर भी मिल अपने 'तर्कशास्त्र' के बावजूद उसको कभी पकड़ नहीं पाते, हालांकि विज्ञान के पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी उसमें संशोधन की भारी आवश्यकता है। एक शिष्य की रूढ़िवादिता के साथ वह सदा अपने गुरू के उलझे हुए विचारों की ही नक़ल करते हैं। चुनांचे उन्होंने लिखा है: "पूंजी स्वयं अन्त में जाकर पूर्णतया मजदूरी बन जाती है, और जब पैदावार की बिक्री के द्वारा उसका स्थान भर दिया जाता है, तब वह फिर मजदूरी बन जाती है।"

में मैं तथ्यों के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करूंगा। फ़िज़िओक्रेटों का यह एक बड़ा गुण है कि उन्होंने अपनी *"Tableau économique"* ('आर्थिक तालिका') में सबसे पहले वार्षिक पैदावार को उस शकल में पेश करने की कोशिश की थी, जिस शकल में वह परिचलन की प्रक्रिया में से गुजरने के बाद हमारे सामने आती है।[1]

बाक़ी, यह बात स्वतःस्पष्ट है कि पूंजीपति-वर्ग का हित-साधन करते हुए अर्थशास्त्र ऐडम स्मिथ के इस सिद्धान्त से लाभ उठाने से नहीं चूका है कि अतिरिक्त पैदावार का जो भाग पूंजी में रूपान्तरित हो जाता है, वह सारे का सारा मजदूर-वर्ग द्वारा ख़र्च कर दिया जाता है।

## अनुभाग ३ – अतिरिक्त मूल्य का पूंजी तथा आय में विभाजन। – परिवर्जन का सिद्धान्त

पिछले अध्याय में हम अतिरिक्त मूल्य (या अतिरिक्त पैदावार) को केवल पूंजीपति के व्यक्तिगत उपभोग की पूर्ति का कोष मानकर चले थे। इस अध्याय में हम अभी तक उसको केवल संचय का कोष मानकर चले हैं। किन्तु वह न तो केवल पूंजीपति के व्यक्तिगत उपभोग की पूर्ति का कोष होता है और न केवल संचय का कोष होता है; वह तो ये दोनों काम करता है। उसके एक भाग को पूंजीपति आय[2] के रूप में ख़र्च कर देता है। दूसरा भाग पूंजी की तरह इस्तेमाल किया जाता है, यानी दूसरे भाग का संचय हो जाता है।

यदि अतिरिक्त मूल्य की कुल राशि पहले से निश्चित हो, तो इन दोनों भागों में एक जितना बड़ा होगा, दूसरा उतना ही छोटा होगा। यदि अन्य बातें ज्यों की त्यों रहती हैं, तो

[1] पुनरुत्पादन तथा संचय की क्रियाओं का ऐडम स्मिथ ने जो वर्णन किया है, उसमें वह अपने पूर्वजों और विशेष कर फ़िज़िओक्रेटों से न केवल ज़रा भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं, बल्कि यहां तक कि वह कई प्रकार से उनसे पीछे ही रह गये हैं। हमारी पुस्तक के मूल पाठ में जिस भ्रांति का ज़िक्र किया गया है, उससे सम्बंधित एक सचमुच आश्चर्यजनक रूढ़ि ऐडम स्मिथ एक विरासत के रूप में अर्थशास्त्र के लिये छोड़ गये हैं। वह रूढ़ि यह है कि मालों का दाम मजदूरी, मुनाफ़े (ब्याज) और लगान से – यानी मजदूरी और अतिरिक्त मूल्य से – मिलकर बनता है। इस रूढ़ि से आरम्भ करते हुए, स्तोर्च बड़े भोलेपन के साथ यह स्वीकार करता है कि "आवश्यक दाम को उसके सरलतम तत्वों में परिणत करना असम्भव है" (Storch, उप० पु०, Petersbourg का संस्करण, 1815, ग्रंथ २, पृ० १४१, नोट)। ख़ूब है यह अर्थशास्त्र का विज्ञान भी, जो घोषित कर देता है कि माल को उसके सरलतम तत्वों में परिणत करना असम्भव है। तीसरी पुस्तक के सातवें भाग में इस मामले की और छान-बीन की जायेगी।

[2] पाठक ने इस बात की ओर ध्यान दिया होगा कि शब्द "revenue" ("आय") का दोहरे अर्थ में प्रयोग किया जाता है। एक तो जिस हद तक कि अतिरिक्त मूल्य पूंजी से पैदा होने वाला नियतकालिक फल है, उस हद तक उसे आय कहा जाता है; दूसरे, इस फल के उस भाग को यह नाम दिया जाता है, जिसका पूंजीपति नियतकालिक ढंग से उपभोग कर डालता है, या जो उस कोष में जुड़ जाता है, जिससे पूंजी के निजी उपभोग की पूर्ति होती है। शब्द का इस दोहरे अर्थ में मैंने इसलिये प्रयोग किया है कि वह अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी अर्थशास्त्रियों की भाषा से मेल खाता है।

संचय का परिमाण इन भागों के अनुपात से निर्धारित होगा। परन्तु इन दो भागों का विभाजन तो केवल अतिरिक्त मूल्य का मालिक, केवल पूंजीपति, ही करता है। यह विभाजन वह अपनी इच्छानुसार करता है। मजदूर से वह जो ख़िराज वसूल करता है, उसके एक भाग का वह संचय करता है, और इस भाग के बारे में कहा जाता है कि पूंजीपति ने उसे बचा लिया है। कारण कि वह उसे खा नहीं जाता, अर्थात् वह पूंजीपति के कार्य को सम्पन्न करता है और अपना धन बढ़ाता है।

पूंजीपति का इसके सिवा कोई और ऐतिहासिक मूल्य नहीं है कि वह मूर्तिमान पूंजी होता है। और इसके सिवा उसका उस ऐतिहासिक अस्तित्व पर भी कोई अधिकार नहीं है, जिसपर, परिहासपूर्ण लिचनोव्स्की के शब्दों में, "कोई तारीख़ नहीं पड़ी है"। और केवल इसी हद तक उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की क्षणिक आवश्यकता में ख़ुद पूंजीपति के क्षणिक अस्तित्व की आवश्यकता भी निहित होती है। लेकिन जिस हद तक कि वह मूर्तिमान पूंजी है, उस हद तक उसे कार्य-क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा उपयोग-मूल्यों और उनका भोग करने की इच्छा से नहीं, बल्कि विनिमय-मूल्य और उसमें वृद्धि करने की इच्छा से प्राप्त होती है। उसके सिर पर मूल्य से ख़ुद अपना विस्तार कराने का भूत सवार रहता है, और वह निर्मम होकर मनुष्य-जाति को केवल उत्पादन के हेतु उत्पादन करने के लिये विवश करता है। इस प्रकार, वह बलपूर्वक समाज की उत्पादक शक्तियों का विकास कराता है और उन भौतिक परिस्थितियों को जन्म देता है, जो कि एकमात्र वास्तविक समाज के उच्चतर रूप के लिये आधार बनती हैं। यह वह समाज होगा, जिसका मूल सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण एवं स्वतंत्र विकास का नियम होगा। पूंजीपति केवल मूर्तिमान पूंजी के रूप में ही आदर का पात्र होता है। इस रूप में कंजूस की तरह उसको भी सदा धन के रूप में धन का मोह रहता है। लेकिन कंजूस का मोह जहां मात्र उसकी मानसिक विलक्षणता होता है, वहां पूंजीपति का मोह सामाजिक यंत्र का एक प्रभाव होता है, जिसका पूंजीपति महज एक पहिया होता है। इसके अतिरिक्त, पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि किसी भी ख़ास औद्योगिक उद्यम में जो पूंजी लगी हुई है, उसमें लगातार वृद्धि होती जाये, और प्रतियोगिता के कारण पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्निहित नियमों का प्रत्येक अलग-अलग पूंजीपति बलपूर्वक अमल में आने वाले बाह्य नियमों के रूप में अनुभव करता है। प्रतियोगिता पूंजीपति को अपनी पूंजी को सुरक्षित रखने के वास्ते उसका लगातार विस्तार करते रहने के लिये विवश कर देती है। लेकिन उत्तरोत्तर संचय के सिवा उसके सामने विस्तार करने का और कोई तरीक़ा नहीं है।

इसलिये, जिस हद तक कि पूंजीपति का कार्य-कलाप केवल पूंजी का ही एक कर्म है,– और पूंजी उसके व्यक्तित्व के द्वारा चेतना तथा इच्छा-शक्ति प्राप्त कर लेती है,– उस हद तक उसका अपना निजी उपभोग भी संचय के क्षेत्र पर डाका मारकर ही सम्भव हो सकता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे दोहरे खतान वाले बही-खातों में पूंजीपति का निजी ख़र्च उसके हिसाब में नामे बाजू में डाल दिया जाता है। संचय करना सामाजिक धन की दुनिया को जीतना है। पूंजीपति जिस मानव-समुदाय का शोषण करता है, संचय करना उसकी संख्या में वृद्धि करना है; और इस प्रकार संचय का अर्थ पूंजीपति के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ढंग के प्रभुत्व का विस्तार करना है।[1]

[1] पूंजीपति के उस पुराने ढंग के, पर हर बार नये सिरे से सामने आने वाले प्रतिरूप– सूदख़ोर– को अपने विवेचन का विषय बनाते हुए लूथर ने बहुत ही समुचित रूप में यह दिखाया

**परन्तु मूल पाप हर जगह अपना चमत्कार दिखाता है। जैसे-जैसे पूंजीवादी उत्पादन, संचय और धन का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे पूंजीपति केवल पूंजी का अवतार नहीं रह जाता। उसे खुद अपने भीतर के मनुष्य के साथ सहानुभूति होती है और उसको जो शिक्षा मिलती है,**

है कि धनी बनने की इच्छा का एक तत्व शक्ति का प्रेम भी होता है। लूथर ने लिखा है: "मूर्ति-पूजकों ने विवेक की सहायता से यह समझ लिया था कि सूदख़ोर पक्का चोर और हत्यारा होता है। लेकिन हम ईसाई लोग सूदख़ोरों का इतना आदर करते हैं कि उनके पैसे के कारण लगभग उनकी पूजा करने लगते हैं... जो कोई किसी और का पोषण खा जाता है, छीन लेता है और चुरा लेता है, वह (जहां तक उसका बस चलता है) उतनी ही बड़ी हत्या करता है, जितनी बड़ी हत्या वह करता है, जो किसी आदमी को भूखों मारता है या उसका सत्यानाश कर देता है। सूदख़ोर हत्या करता है और फिर भी अपनी गद्दी पर सुरक्षित बैठा रहता है, जब कि होना यह चाहिये था कि वह फांसी पर टंगा होता और उसने जितने पैसे चुराये हैं, उतने ही कव्वे उसकी बोटियां नोचते। पर, ज़ाहिर है, यह तभी सम्भव था, जब उसके बदन पर इतना मांस होता कि इतनी बड़ी संख्या में कव्वे अपनी चोंचें उसमें गड़ाकर हिस्सा बंटा सकते। मगर हम लोग तो छोटे चोरों को फांसी पर लटकाने में लगे हुए हैं... छोटे चोरों को हम काठ में डालकर रखते हैं, पर बड़े चोर सोने और रेशम से लदे हुए अकड़कर चलते हैं... इसलिये इस पृथ्वी पर इनसान का (शैतान के बाद) सूदख़ोर या कुसीदी से बड़ा दुश्मन और कोई नहीं है। कारण कि सूदख़ोर तो सब इनसानों के ऊपर राज करने वाला परमात्मा बनना चाहता है। तुर्क, सिपाही और अत्याचारी भी बुरे होते हैं, परन्तु उनके लिये ज़रूरी होता है कि लोगों को ज़िन्दा रहने दें, और वे ख़ुद तसलीम कर लेते हैं कि वे बुरे आदमी हैं, और कभी-कभी तो वे कुछ इनसानों पर रहम भी करते हैं, बल्कि कहना चाहिये कि उनको रहम करना पड़ता है। लेकिन जहां तक सूदख़ोर और अर्थ-पिशाच का सम्बंध है, यदि उसका बस चले, तो वह सारी दुनिया को भूख और प्यास, ग़रीबी और अभाव से मार डाले, ताकि संसार में जो कुछ है, वह सब उसी का हो जाये और फिर वह परमात्मा की तरह हरेक को भीख बांटा करे और हर आदमी सदा के लिये उसका दास बन जाये। वह बढ़िया लबादे ओढ़ना चाहता है, सोने की मालाएं और अंगूठियां पहनना चाहता है, अपना मुंह धोना चाहता है। वह चाहता है कि लोग उसे भला आदमी समझें और धर्मात्मा मानें... सूदख़ोरी भेड़िये के समान एक भयानक राक्षस है, जो हर एक को तबाह कर देता है। ऐसी तबाही तो कोई कैकस, गेरिओन और ऐण्टस भी नहीं ढा सकता। और फिर भी वह ख़ूब सज-धज कर निकलता है और चाहता है कि लोग उसे बड़ा धर्मात्मा समझें और उनको यह न मालूम होने पाये कि उनके सारे बैल कहां ग़ायब हो गये हैं, और वे यह न जान पायें कि यही राक्षस उनके सारे बैलों को पीछे से पकड़कर अपनी खोह में घसीट ले गया है। लेकिन एक दिन इन बैलों की और इस राक्षस के क़ैदियों की चीख़ें हरक्यूलीज़ को सुनाई देंगी और वह खड़ी चट्टानों और पहाड़ियों में घुसकर कैकस को ढूंढ निकालेगा और इस बदमाश से बैलों को छुड़ाकर एक बार फिर उनको मुक्त करेगा। कारण कि कैकस का मतलब है वह बदमाश, जो सूदख़ोरी करता है और ऊपर से धर्मात्मा बनता है और जो हर एक के यहां चोरी करता है, डाका डालता है और सब कुछ खा जाता है; और यह कभी तसलीम नहीं करता कि वह सब कुछ खा गया है, बल्कि समझता है कि इस बात का किसी को पता नहीं लग पायेगा, क्योंकि बैलों को पीछे

वह धीरे-धीरे उसे उन लोगों पर हंसना सिखा देती है, जो सन्यास के लिये बड़ा उत्साह दिखाते हैं। वह धीरे-धीरे सीख जाता है कि सन्यास पुराने ढंग के कंजूसों का एक पूर्वग्रह मात्र है। पुराने ढंग का पूंजीपति जहां व्यक्तिगत उपभोग को अपने स्वाभाविक कर्म का अतिक्रमण करने वाला पाप तथा संचय का "परिवर्जन" समझता था, वहां आधुनिक ढर्रे पर चलने वाला पूंजीपति संचय को सुख का "परिवर्जन" समझने की योग्यता रखता है।

"Zwei Seelen wohnen, ach! in seiner Brust,
die eine will sich von der andren trennen."

("अफ़सोस कि उसके हृदय में दो आत्माओं का निवास है और एक सदा दूसरे को त्यागने का प्रयत्न किया करती है।")[1]

जब इतिहास में पूंजीवादी उत्पादन का उदय होता है, – और हर पूंजीवादी नये रईस को व्यक्तिगत रूप में इस ऐतिहासिक अवस्था से गुजरना पड़ता है, – तब लालच और धनी बनने का मोह, इन दो भावनाओं का ज़ोर रहता है। परन्तु पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति केवल भोग और विलास के संसार का ही सृजन नहीं करती, वह सट्टेबाजी और ऋण-व्यवस्था के रूप में यकायक धनी बन बैठने के हज़ारों स्रोत खोल देती है। जब विकास एक खास अवस्था पर पहुंच जाता है, तो एक प्रचलित मात्रा की फ़िजूलखर्ची "अभागे" पूंजीपति के लिये एक व्यावसायिक आवश्यकता बन जाती है। यह अतिव्ययिता साथ ही धन-प्रदर्शन भी होती है, इसलिये उससे साख बनती है और उधार मिलने में आसानी होती है। अब विलास पूंजीपति के दिखावा क़ायम रखने के खर्चे का एक अंग बन जाता है। इसके अतिरिक्त, पूंजीपति का धन कंजूस के धन की तरह उसके व्यक्तिगत श्रम और नियंत्रित उपभोग के अनुपात में नहीं बढ़ता, बल्कि वह इस अनुपात में बढ़ता है कि पूंजीपति दूसरों की श्रम-शक्ति को कितना चूसता है और मजदूरों को किस हद तक जीवन के सारे सुख और आनन्द का परिवर्जन कर देने के लिये मजबूर कर देता है। इसलिये, यद्यपि पूंजीपति की अतिव्ययिता में कभी मुक्त-हस्त सामन्त की अतिव्ययिता की सचाई नहीं होती, बल्कि, इसके विपरीत, उसके पीछे से सदा अत्यन्त घृणित धन-तृष्णा और एक-एक पाई का हिसाब रखने की भावना झांका करती है, तथापि संचय के साथ-साथ पूंजीपति का खर्च भी बढ़ता जाता है और यह जरूरी नहीं रहता कि एक के कारण दूसरे पर कोई सीमा लग जाये। लेकिन इस विकास के साथ-साथ पूंजीपति के हृदय में संचय की भावना और भोग की भावना के बीच फ़ॉस्ट के मन के संघर्ष के समान संघर्ष छिड़ जाता है।

की तरफ़ से पकड़कर खोह में खींचा गया है और यदि उनके खुरों के निशानों को कोई देखेगा, तो वह यही समझेगा कि कुछ बैल खोह के अन्दर से बाहर लाकर छोड़ दिये गये हैं। इस तरह सूदखोर दुनिया को धोखा देना चाहता है, ताकि लोग समझें कि उसने संसार का बड़ा उपकार किया है और ये सारे बैल उसी ने दिये हैं, जब कि सचाई यह है कि वह अकेला उन सब को चीर-फाड़कर खा जाता है... और जब हम रहज़नों, हत्यारों और सेंधमारों को तरह-तरह की यातनाएं देते हैं और उनका सिर काट देते हैं, तब इन तमाम सूदखोरों को तो हमें और भी ज्यादा यातनाएं देनी चाहिये, जान से मार डालना चाहिये... खोज-खोजकर मारना चाहिये, शाप देना चाहिये और उनका सिर धड़ से अलग कर देना चाहिये" (Martin Luther, उप० पु०)।

[1] गेटे की रचना 'फ़ॉस्ट' देखिये।

१७९५ में प्रकाशित एक रचना में डा० आइकिन ने लिखा है: "मानचेस्टर के व्यवसाय के इतिहास को चार कालों में बांटा जा सकता है। पहला काल वह था, जब कारख़ानेदारों को अपनी जीविका कमाने के लिये कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी।" वे लोग अपना धन बढ़ाने के लिये मुख्यतया उन मां-बापों को लूटा करते थे, जिनके बच्चे उनके यहां काम सीखते थे। मां-बाप काम सीखने की ऊंची फ़ीस देते थे, जब कि सीखतर बच्चे भूखों मरते थे। दूसरी ओर, मुनाफ़ा औसतन कम होता था और संचय करने के लिये हद दर्जे की कृपणता बरतनी पड़ती थी। ये कारख़ानेदार कंजूसों की तरह रहते थे और अपनी पूंजी का पूरा सूद तक भी ख़र्च नहीं करते थे। "दूसरा काल वह है, जब कारख़ानेदार थोड़ा धन बटोरने में तो कामयाब हो जाते थे, पर मेहनत अब भी उतनी ही सख़्त करते थे," – क्योंकि, जैसा कि दासों से काम लेने वाला हर आदमी अच्छी तरह जानता है, श्रम का प्रत्यक्ष शोषण करने में काफ़ी श्रम ख़र्च होता है, – "और पहले जैसा ही सादा जीवन बिताते थे... तीसरा काल वह है, जब भोग-विलास शुरू हो गया और व्यवसाय को तेज़ करने के लिये राज्य के प्रत्येक ऐसे नगर में, जहां मण्डी लगती थी, हरकारे भेजकर माल के आर्डर मंगवाये जाने लगे... यह सम्भव है कि १६६० के पहले यहां ३,००० पौण्ड या ४,००० पौण्ड की ऐसी बहुत कम पूंजियां थीं या बिल्कुल नहीं थीं, जो व्यवसाय के द्वारा अर्जित की गयी हों। किन्तु १६६० के लगभग या उसके थोड़े बाद की बात है कि व्यवसाइयों के पास काफ़ी रुपये आ गये और वे लकड़ी और पलस्तर के मकानों के स्थान पर ईंटों के आधुनिक मकान बनवाने लगे थे।" यहां तक कि १८ वीं सदी के शुरू के हिस्से में भी, अगर मानचेस्टर का कोई कारख़ानेदार अपने मेहमानों के सामने थोड़ी सी विदेशी शराब भी खोलकर रख देता था, तो उसके सारे पड़ोसी उंगली उठाने और कानाफूसी करने लगते थे। मशीनों के अभ्युदय के पहले शाम को शराबख़ाने में, जहां कारख़ानेदार इकट्ठा हुआ करते थे, किसी कारख़ानेदार का ख़र्चा एक गिलास शराब के लिये छः पेन्स और तम्बाकू के लिये एक पेनी से ज़्यादा नहीं बैठता था। १७५८ के पहले – और उसके आते-आते एक पूरा युग बीत चुका था – सचमुच व्यवसाय में लगा हुआ कोई व्यक्ति ख़ुद अपनी घोड़ा-गाड़ी के साथ कभी नहीं दिखाई देता था। "चौथा काल," – यानी १८ वीं सदी के अन्तिम ३० वर्ष, – "वह है, जिसमें ख़र्च और भोग-विलास बहुत बढ़ जाते हैं, और व्यवसाय के सहारे चलते हैं, जिसे इस बीच हरकारों और आढ़तियों के ज़रिये योरप के हरेक हिस्से में फैला दिया गया था।"[1] यदि डा० आइकिन अपनी क़ब्र से उठकर आजकल के मानचेस्टर को देख पाते, तो वह क्या कहते?

संचय करो, संचय करो! पूंजीपति के लिये तो मूसा का और बाक़ी तमाम पैग़म्बरों का बस यही संदेश है। "उद्योग वही सामग्री देता है, जिसका बचत संचय कर देती है।"[2] इसलिये, बचत करो, बचत करो, अर्थात् अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पैदावार के अधिक से अधिक बड़े हिस्से को पूंजी में बदल डालो! संचय के लिये संचय करो! उत्पादन के लिये उत्पादन करो! – इस सूत्र के द्वारा प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने पूंजीपति-वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका को

[1] Dr. Aikin, "*Description of the Country from 30 to 40 miles round Manchester*" (डा० आइकिन, 'मानचेस्टर के ३०–४० मील के इर्द-गिर्द के देहात का वर्णन'), London, 1795, पृ० १८२ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] A. Smith, उप० पु०, पुस्तक ३, अध्याय ३।

व्यक्त किया था और धन के जन्म-काल की प्रसव-पीड़ा के बारे में एक क्षण के लिये भी कभी अपने को धोखा नहीं दिया था।[1] परन्तु इतिहास के तक़ाज़े के सामने रोने-धोने से क्या होता है? प्रामाणिक अर्थशास्त्र के लिये यदि सर्वहारा अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का एक यंत्र मात्र है, तो पूंजीपति उसकी दृष्टि में केवल इस अतिरिक्त मूल्य को अतिरिक्त पूंजी में परिणत कर देने का यंत्र है। अर्थशास्त्र पूंजीपति के ऐतिहासिक कर्म को अत्यन्त गम्भीर दृष्टि से देखता है। उसके हृदय में भोग की इच्छा और धन की तृष्णा के बीच जो भयानक संघर्ष चला करता है, उसे किसी तरह शान्त करने के लिये माल्थूस ने १८२० के लगभग एक ऐसे श्रम-विभाजन का प्रस्ताव किया था, जिसमें सचमुच उत्पादन में लगे हुए पूंजीपति को तो संचय करने का काम दिया गया था, और अतिरिक्त मूल्य में हिस्सा बंटाने वाले अन्य लोगों – ज़मींदारों, सरकारी अधिकारियों, पैसा पाने वाले पादरियों आदि – को ख़र्च करने का काम सौंपा गया था। माल्थूस ने लिखा है कि यह बात अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि "ख़र्च करने की भावना और संचय करने की भावना ("the passion for expenditure and the passion for accumulation") को अलग-अलग रखा जाये।"[2] मगर पूंजीपति बहुत दिन से जीवन का आनन्द ले रहे थे और अनुभवी तथा व्यावहारिक आदमी थे। उन्होंने सुना तो लगे चीख़-पुकार मचाने। उनके एक प्रवक्ता ने, जो रिकार्डो के शिष्य थे, कहा कि यह क्या हो रहा है? क्या मि० माल्थूस यह चाहते हैं कि लगान और किराये बढ़ा दिये जायें, ऊंचे कर लगाये जायें इत्यादि, ताकि अनुत्पादक उपभोगी सदा उद्यमी व्यक्तियों को अंकुश लगा-लगाकर उनसे काम कराते रहें? उत्पादन, निरन्तर बढ़ते हुए पैमाने का उत्पादन – यह सूत्र तो ठीक है, लेकिन "इस प्रकार की क्रिया से उत्पादन में तेजी आने के बजाय वह और दब जायेगा। और न ही यह बात उचित है (nor is it quite fair) कि अनेक ऐसे व्यक्तियों को केवल दूसरों को कोंचने के लिये निकम्मा बनाकर रखा जाये, जिनका स्वभाव ऐसा है (who are likely, from their characters) कि यदि उनसे जबर्दस्ती काम कराया जाये, तो वे सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं।"[3] औद्योगिक पूंजीपति की रोटी का मक्खन हटाकर उसे कोंचना इस लेखक को अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी मज़दूर को "सदा मेहनती बनाये रखने के लिये" उसकी मज़दूरी को कम से कम कर देना वह बहुत आवश्यक समझता है। और वह इस बात को कभी नहीं छिपाता कि अतिरिक्त मूल्य का रहस्य अवेतन श्रम को हस्तगत करने में निहित है। "मज़दूरों की ओर से बढ़ी हुई मांग का इससे अधिक और कुछ

[1] यहां तक कि जे० बी० से ने भी लिखा है: "Les épargnes des riches se font aux dépens des pauvres" ("धनी लोग ग़रीबों का गला काटकर पैसा बचाते हैं")। सिस्मोंदी के शब्द हैं: "रोमन सर्वहारा लगभग पूर्णतया समाज के ख़र्चे पर पलता था... आधुनिक समाज के बारे में हम एक तरह से यह कह सकते हैं कि वह सर्वहारा के ख़र्चे पर पलता है; श्रम की उजरत में से जो कुछ काट लिया जाता है, समाज उसी के सहारे जिन्दा रहता है।" (Sismondi, "*Études, etc.*", ग्रंथ १, पृ० २४।)

[2] Malthus, उप० पु०, पृ० ३१६, ३२०।

[3] "*An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand, &c.*" ('मांग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तों की समीक्षा, इत्यादि'), पृ० ६७।

अर्थ नहीं होता कि वे खुद अपनी पैदावार का पहले से कम हिस्सा अपने वास्ते चाहते हैं और पहले से अधिक हिस्सा अपने मालिक के पास छोड़ देने को राजी हैं। और अगर यह कहा जाये कि इससे तो 'glut' (प्रचुरता) पैदा हो जायेगी, क्योंकि " (मजदूरों के द्वारा) "उपभोग कम हो जायेगा, तो इसका मैं केवल यही जवाब दे सकता हूं कि 'glut' (प्रचुरता) मोटे मुनाफ़ों का ही दूसरा नाम है।"[1]

परन्तु यह पण्डिताऊ झगड़ा कि मजदूर को चूसकर जो लूट मचायी जाये, उसको अधिक से अधिक संचय करने के दृष्टिकोण से औद्योगिक पूंजीपति और हाथ पर हाथ रखकर खाने वाले धनी के बीच किस तरह बांटा जाये, जुलाई की क्रान्ति का सामना होने पर जल्दी-जल्दी दबा दिया गया। उसके थोड़े समय बाद लियों के शहरी सर्वहारा ने क्रान्ति का शंख बजाया और इंगलैण्ड का देहाती सर्वहारा खलिहानों और अनाज के गोलों में आग लगाने लगा। इंग्लिश चैनल के इस ओर ओवेनवाद फैलने लगा, उस ओर से साइमोंवाद और फ़ूरियेवाद का प्रसार होने लगा। अब अप्रामाणिक अर्थशास्त्र के उदय की घड़ी आ पहुंची थी। जिस दिन नस्साऊ डब्लयू० सीनियर ने मानचेस्टर में यह आविष्कार किया था कि पूंजी का मुनाफ़ा (मय ब्याज के) काम के दिन के बारह घंटों में से केवल अन्तिम घण्टे की पैदावार होता है, उसके ठीक एक वर्ष पहले वह दुनिया के सामने एक और आविष्कार की घोषणा कर चुका था। उसने बड़े गर्व के साथ कहा था: "उत्पादन के एक औजार के रूप में पूंजी शब्द के स्थान पर मैं परिवर्जन शब्द का प्रयोग करता हूं।"[2] अप्रामाणिक अर्थशास्त्र के आविष्कारों का यह एक बेमिसाल नमूना है! यहां एक आर्थिक परिकल्पना के स्थान पर एक चाटुकारितापूर्ण शब्द रख दिया गया है—voilà tout (और बस)। सीनियर ने लिखा है: "जब जंगली आदमी धनुष बनाता है, तब वह उद्योग तो करता है, परन्तु परिवर्जन नहीं करता।" इससे पता

[1] उप० पु०, पृ० ५९।

[2] Senior, "*Principes fondamentaux de l'Écon. Pol.*", Arrivabene का अनुवाद, Paris, 1836, पृ० ३०८।—पुराने प्रामाणिक अर्थशास्त्र के मतावलम्बियों के लिये इस बात को सहन करना असम्भव था। उन्होंने लिखा: "इसके" (श्रम और मुनाफ़ा—इस शब्दावली के) "स्थान पर मि० सीनियर श्रम और परिवर्जन—इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं। जो अपनी आय को रूपान्तरित कर देता है, वह उस भोग का परिवर्जन कर देता है, जो उसे इस आय को ख़र्च कर देने पर प्राप्त होता। मुनाफ़ा पूंजी से नहीं, पूंजी के उत्पादक ढंग के उपयोग से पैदा होता है।" (John Cazenove, उप० पु०, पृ० १३०, नोट।) इसके विपरीत, जान स्टुअर्ट मिल एक तरफ़ तो रिकार्डो के मुनाफ़े के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं और दूसरी तरफ़ सीनियर के "परिवर्जन की उजरत" के सिद्धान्त को भी अपना लेते हैं। सभी प्रकार के द्वन्द्व का स्रोत, हेगेलीय विरोध उनके लिये जितना अरुचिकर है, बेतुके विरोधों से उनको उतना ही आनन्द प्राप्त होता है। इस अप्रामाणिक अर्थशास्त्री के दिमाग़ में यह साधारण सा विचार कभी नहीं आया कि प्रत्येक मानव-कार्य को उसके उल्टे कार्य का "परिवर्जन" समझा जा सकता है। भोजन करना उपवास का परिवर्जन है, चलना निश्चल खड़े रहने का परिवर्जन है, काम करना काहिली का परिवर्जन है, काहिली काम का परिवर्जन है; इत्यादि, इत्यादि। इन महानुभावों को कभी-कभार स्पिनोजा की इस उक्ति पर भी विचार करना चाहिये कि "Determinatio est Negatio" (निर्धारण निषेध है)।

चलता है कि समाज के शुरू के रूपों में श्रम के औजार पूंजीपति के परिवर्जन के बिना ही क्यों और कैसे तैयार हो गये थे। "समाज जितना विकास करता जाता है, परिवर्जन की मांग उतनी ही बढ़ती जाती है,"[1] – यह परिवर्जन उनको करना पड़ता है, जो दूसरों के श्रम के फलों को हस्तगत करने का श्रम करते हैं। श्रम-क्रिया को सम्पन्न करने के लिये जितनी बातें आवश्यक हैं, वे सब यकायक पूंजीपति के परिवर्जन के कृत्य बन जाती हैं। यदि अनाज सारा का सारा नहीं लिया जाता, बल्कि उसका एक भाग बो दिया जाता है, तो यह पूंजीपति का परिवर्जन है। यदि शराब को उठने के लिये रख दिया जाता है, तो यह भी पूंजीपति का परिवर्जन है।[2] जब कभी पूंजीपति "मजदूर को उत्पादन के औजार उधार (!) देता है," – यानी जब कभी वह उत्पादन के औजारों का – भाप के इंजनों, कपास, रेल, खाद, घोड़ों और दूसरी तमाम चीजों का उपभोग खुद नहीं कर लेता, – या, अप्रामाणिक अर्थशास्त्रियों की बचकानी भाषा में, जब कभी वह इन तमाम चीजों का "मूल्य" विलास की वस्तुओं तथा उपभोग की चीजों पर जाया नहीं कर देता, बल्कि इसके बजाय उनके साथ श्रम-शक्ति का समावेश करके इस श्रम-शक्ति से अतिरिक्त मूल्य निकालने के लिये उनका उपयोग करता है, तब हर बार वह खुद अपने घर में डाका डालता है।[3] एक वर्ग के रूप में पूंजीपति यह कमाल कैसे करेंगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसका उद्घाटन करने के लिये अप्रामाणिक अर्थशास्त्र आज तक तैयार नहीं हुआ। उसके लिये बस इतना ही काफ़ी है कि इस आधुनिक विष्णु-भक्त – पूंजीपति – के प्रायश्चित और आत्म-ताड़ना के प्रताप से संसार आज भी किसी तरह हिचकोले खाता हुआ चला आ रहा है। न केवल संचय के लिये, बल्कि "महज पूंजी को सुरक्षित रखने के लिये भी उसका उपभोग कर डालने के प्रलोभन से लगातार संघर्ष करना पड़ता है।"[4] अतएव,

[1] Senior, उप० पु०, पृ० ३४२।

[2] "जब तक किसी को अतिरिक्त मूल्य कमाने की आशा नहीं होगी, तब तक... वह यह हरगिज नहीं करेगा कि अपनी पैदावार का या उसके सम-मूल्य का तुरन्त उपभोग कर डालने के बजाय, मिसाल के लिये, अपना गेहूं बो डाले और उसे बारह महीने तक जमीन में गड़ा रहने दे, या अपनी शराब को बरसों तक तहखाने में डाले रखे।" (Scrope, "*Political Economy*" [स्क्रोप, 'अर्थशास्त्र'], A. Potter का संस्करण, New York, 1841, पृ० १३३–१३४।)

[3] "La privation que s'impose le capitaliste, en prêtant ses instruments de production au travailleur, au lieu d'en consacrer la valeur à son propre usage, en la transforment en objets d'utilité ou d'agrément." ["अपने उत्पादन के औजारों का ख़ुद अपने लिये उपयोग न करके और उनका मूल्य उपयोगी वस्तुओं या विलास की वस्तुओं में न बदलकर पूंजीपति उनको मजदूर को उधार देकर जो कष्ट उठाता है।"] (G. de Molinari, उप०पु०, पृ० ३६।) – यहां "उधार देना" शब्दों का एक मंगल-भाषण के रूप में प्रयोग किया गया है। अप्रामाणिक अर्थशास्त्र की अनुमोदित पद्धति का प्रयोग करते हुए इस मंगल-भाषण के द्वारा उस मजदूर को, जिसका शोषण किया जाता है, उसे औद्योगिक पूंजीपति के साथ एकाकार कर दिया गया है, जो शोषण करता है और जिसको दूसरे पूंजीपति मुद्रा उधार देते हैं।

[4] "La conservation d'un capital exige... un effort constant pour résister à la tentation de le consommer" (Courcelle-Seneuil, उप० पु०, पृ० ५७)।

साधारण मानवता का तक़ाज़ा है कि पूंजीपति को इस शहादत से और इस प्रलोभन से मुक्ति दिला दी जाये, जिस प्रकार हाल में दास-प्रथा का अन्त करके ज्योर्जिया के दासों के मालिक को इस दुविधा से छुटकारा दिला दिया गया था कि अपने हब्शियों को कोड़े मार-मार वह जो अतिरिक्त पैदावार तैयार कराता है, उसे फ़िज़ूलख़र्ची के ज़रिये लुटा दे या उसके एक हिस्से को पुनः नये हब्शियों और नयी ज़मीन में परिणत कर डाले।

समाज के अत्यन्त भिन्न प्रकार के आर्थिक रूपों में केवल साधारण पुनरुत्पादन ही नहीं, बल्कि अलग-अलग मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होता है। हर बार पहले से अधिक उत्पादन और अधिक उपभोग होता है और इसलिये हर बार पहले से अधिक पैदावार को उत्पादन के साधनों में बदलना पड़ता है। किन्तु जब तक मज़दूर के उत्पादन के साधन और उनके साथ-साथ उसकी पैदावार तथा जीवन-निर्वाह के साधन पूंजी की शकल में उसके मुक़ाबले में नहीं खड़े हो जाते, तब तक यह क्रिया पूंजी के संचय के रूप में या किसी पूंजीपति के कार्य के रूप में सामने नहीं आती।[1] रिचर्ड जोन्स ने, जिनकी कुछ वर्ष पहले ही मृत्यु हुई है और जिन्होंने हेलीबरी कालिज में माल्थूस के उत्तराधिकारी के रूप में अर्थशास्त्र के आचार्य का पद ग्रहण किया था, दो महत्वपूर्ण तथ्यों के प्रकाश में इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। भारत की आबादी का अधिकांश चूंकि किसानों का है, जो ख़ुद अपनी ज़मीन जोतते-बोते हैं, इसलिये उनकी पैदावार, उनके श्रम के औज़ार और जीवन-निर्वाह के साधन कभी "आय में से बचाये हुए ("saved from revenue") किसी ऐसे कोष का रूप ("the shape") धारण नहीं करते, जो इस कारण पहले से संचय की किसी क्रिया ("a previous process of accumulation") में से गुज़र चुका हो।"[2] दूसरी ओर, उन प्रान्तों में, जहां अंग्रेज़ी शासन ने पुरानी व्यवस्था को सबसे कम गड़बड़ किया है, खेती के सिवा कोई और काम करने वाले मज़दूर प्रत्यक्ष रूप में ऐसे रईसों के यहां नौकर हैं, जिनको खेती की अतिरिक्त पैदावार का एक भाग ख़िराज या लगान के रूप में मिलता है। इस पैदावार का एक भाग ये रईस जिन्स की शकल में ख़र्च कर जाते हैं, दूसरा भाग उनके उपयोग के वास्ते मज़दूरों द्वारा विलास की वस्तुओं तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं में बदल दिया जाता है, बाक़ी भाग मज़दूरों की मज़दूरी का काम करता है, जो अपने श्रम के औज़ारों के ख़ुद मालिक होते हैं। यहां उत्पादन और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन बराबर होता चलता है, लेकिन उसके लिये उस विचित्र सन्त के, क्षुब्ध मुखाकृति वाले उस सूरमा सरदार के, उस "परिव्राजक" पूंजीपति के हस्तक्षेप की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती।

[1] "राष्ट्रीय पूंजी की प्रगति में आय के जिन विशिष्ट प्रवर्गों से सबसे अधिक सहायता मिलती है, वे अपनी प्रगति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बदलते रहते हैं और इसलिये इस प्रगति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थिति रखनेवाले राष्ट्रों में इस प्रकार के आय के प्रवर्ग बिल्कुल अलग-अलग होते हैं... समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मज़दूरी और लगान की तुलना में... मुनाफ़ा... संचय का एक महत्वहीन स्रोत होता है... जब राष्ट्रीय उद्योग की शक्तियों का सचमुच बहुत काफ़ी विकास हो जाता है, तब कहीं मुनाफ़ा संचय के एक स्रोत के रूप में तुलनात्मक महत्व प्राप्त करता है।" (Richard Jones, "*Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations*" [रिचर्ड जोन्स, 'राष्ट्रों के अर्थशास्त्र पर भाषणों की पाठ्य-पुस्तक'], पृ० १६, २१।)

[2] उप० पु०, पृ० ३६ और उसके आगे के पृष्ठ।

## अनुभाग ४—अतिरिक्त मूल्य के पूंजी तथा आय के सानुपातिक विभाजन से स्वतंत्र किन बातों से संचय की राशि निर्धारित होती है?—श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा।—श्रम की उत्पादकता।—व्यवसाय में लगी हुई पूंजी और ख़र्च कर दी गयी पूंजी का बढ़ता हुआ अन्तर।—पेशगी लगायी गयी पूंजी का परिमाण

यदि यह पहले से निश्चित हो कि अतिरिक्त मूल्य किस अनुपात में पूंजी तथा आय में विभाजित हो जाता है, तो यह स्पष्ट है कि संचित पूंजी का परिमाण अतिरिक्त मूल्य के निरपेक्ष परिमाण पर निर्भर करेगा। मान लीजिये कि ८० प्रतिशत का पूंजीकरण और २० प्रतिशत का उपभोग हो जाता है। तब यदि कुल अतिरिक्त मूल्य ३,००० पौण्ड है, तो संचित पूंजी २,४००, और यदि वह १,५०० पौण्ड है, तो संचित पूंजी १,२०० पौण्ड होगी। इसलिये, जिन तमाम बातों से अतिरिक्त मूल्य की राशि निर्धारित होती है, उन्हीं से संचय का परिमाण भी निर्धारित होता है। इन तमाम बातों का हम संक्षेप में एक बार फिर वर्णन किये देते हैं, लेकिन केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि उनसे संचय के विषय में कुछ नये दृष्टिकोणों से विचार करने में सहायता मिलती है।

पाठक को यह याद होगा कि अतिरिक्त मूल्य की दर मुख्यतया श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा पर निर्भर करती है। अर्थशास्त्र इस तथ्य को इतना अधिक महत्व देता है कि श्रम की बढ़ी हुई उत्पादकता के फलस्वरूप संचय में जो तेजी आ जाती है, उसे अर्थशास्त्र कभी-कभी मजदूर के बढ़े हुए शोषण के फलस्वरूप आयी हुई तेजी समझ बैठता है।[1] अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन से सम्बंध रखने वाले अध्यायों में हम बराबर यह मानकर चले थे कि मजदूरी कम से कम श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर जरूर होती है। किन्तु व्यवहार में मजदूरी को जबर्दस्ती

[1] "रिकार्डो ने लिखा है: 'समाज की अलग-अलग अवस्थाओं में पूंजी का संचय—या श्रम से काम लेने' (अर्थात् उसका शोषण करने) 'के साधनों का संचय—अधिक या कम तेज़ होता है, और हर हालत में वह लाज़िमी तौर पर श्रम की उत्पादक शक्तियों पर निर्भर करता है। सामान्यतया श्रम की सब से अधिक उत्पादक शक्तियां वहां होती हैं, जहां उपजाऊ भूमि की बहुतायत होती है।' यदि पहले वाक्य में श्रम की उत्पादक शक्तियों से लेखक का अर्थ किसी भी उपज के उस अशेषभाजक भाग की अल्पता से है, जो उन लोगों को मिल जाता है, जिनके हाथ के श्रम से वह उपज पैदा हुई है, तो यह वाक्य लगभग एक सा है, क्योंकि बचा हुआ अशेषभाजक भाग उस कोष का होता है, जिससे यदि मालिक चाहे ("if the owner pleases"), तो पूंजी का संचय किया जा सकता है। परन्तु यह बात आम तौर पर ऐसे स्थानों पर नहीं होती, जहां बहुत अधिक उपजाऊ भूमि होती है।" (*"Observations on Certain Verbal Disputes, &c."* ['कुछ शाब्दिक विवादों के विषय में कुछ टिप्पणियां, इत्यादि'], पृ० ७४, ७५।)

इस मूल्य के भी नीचे गिरा देने के प्रयत्नों का इतना अधिक महत्व होता है कि हम जरा रुककर इस विषय पर विचार किये बिना नहीं रह सकते। वस्तुतः कुछ सीमाओं के भीतर इस प्रकार के प्रयत्न मजदूर के आवश्यक उपभोग के कोष को पूंजी के संचय के कोष में परिणत कर देते हैं।

जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है: "मजदूरी में कोई उत्पादक शक्ति नहीं होती, मजदूरी उत्पादक शक्ति का दाम होती है। श्रम के साथ-साथ मजदूरी का मालों के उत्पादन में कोई भाग नहीं होता, जैसे औजारों के साथ-साथ औजारों के दाम का उसमें कोई भाग नहीं होता। यदि श्रम को बिना खरीदे हासिल करना सम्भव होता, तो मजदूरी के बग़ैर ही काम चल सकता था।"[1] लेकिन यदि मजदूरों के लिये केवल हवा खाकर जिन्दा रहना मुमकिन होता, तो उनको किसी भी दाम पर खरीदा नहीं जा सकता था। इसलिये, गणित की दृष्टि से, मजदूरों की लागत की सीमा यह है कि वह शून्य के बराबर हो जाये; पर यह सीमा सदा पहुंच के बाहर रहती है, हालांकि हम सदा उसके अधिकाधिक निकट पहुंच सकते हैं। पूंजी की सदा यह प्रवृत्ति होती है कि श्रम की लागत को जबर्दस्ती इस शून्य की तरफ़ धकेलने की कोशिश करे। जब १८ वीं सदी का एक लेखक, जिसको हम पहले भी अक्सर उद्धृत कर चुके हैं और जिसने "*Essay on Trade and Commerce*" ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध') लिखा है, यह घोषणा करता है कि इंगलैण्ड की ऐतिहासिक भूमिका अंग्रेजों की मजदूरी को जबर्दस्ती घटाकर फ़्रांसीसियों और डच लोगों के स्तर पर पहुंचा देना है, तब वह वास्तव में अंग्रेजी पूंजीवाद की आत्मा के गूढ़तम रहस्य को खोलकर रख देता है।[2] अन्य बातों के अलावा, इस लेखक ने बड़े भोलेपन के साथ यह भी लिखा है: "परन्तु यदि हमारे यहां के ग़रीब लोग" (यह मजदूरों का पारिभाषिक नाम है) "विलास का जीवन व्यतीत करेंगे, तो ... जाहिर है कि श्रम अनिवार्य रूप से महंगा हो जायेगा ... जब हम इसपर विचार करते हैं कि कारखानों में काम करने वाली आबादी विलास की कैसी-कैसी वस्तुओं का उपभोग करती है, जैसे ब्रांडी, जिन, चाय, चीनी, विदेशी फल, तेज बियर, पटसन के छपे हुए कपड़े, नसवार, तम्बाकू, आदि, आदि"।[3] इस लेखक ने नोर्थेम्पटनशायर के एक

[1] J. Stuart Mill, "*Essays on Some Unsettled Questions of Political Economy*" (जान स्टुअर्ट मिल, 'अर्थशास्त्र के कुछ अनिर्णीत प्रश्नों पर निबंध'), London, 1844, पृ० ६०।

[2] "*An Essay on Trade and Commerce*" ('व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध'), London, 1770, पृ० ४४। इसी प्रकार, दिसम्बर १८६६ और जनवरी १८६७ के "*The Times*" ने अंग्रेज खानों के मालिकों के हृदय के कुछ भावों को प्रकाशित किया है। इन लेखों में बेल्जियम के उन खान-मजदूरों के सुखी जीवन का वर्णन किया गया है, जो उससे अधिक न तो मांगते थे और न पाते थे, जो उनके लिये अपने "मालिकों" के हित में जीवित रहने के वास्ते बिल्कुल जरूरी था। बेल्जियम के मजदूरों को बहुत सारे कष्ट उठाने पड़ते हैं, मगर यह तो हद है कि "*The Times*" में उनकी आदर्श मजदूरों के रूप में चर्चा की जाये! १८६७ के फ़रवरी महीने के शुरू में "*The Times*" को इसका जवाब मिला: मारशियेन्न में बेल्जियन खान-मजदूरों ने हड़ताल कर दी, जिसे गोलियों से दबाया गया।

[3] उप० पु०, पृ० ४४, ४६।

कारखानेदार की रचना को उद्धृत किया है, जिसने आकाश की ओर देखकर आह भरते हुए कहा था: "इंगलैण्ड की अपेक्षा फ़्रांस में श्रम एक तिहाई अधिक सस्ता है, क्योंकि वहां ग़रीब लोग सख़्त मेहनत करते हैं और मोटा खाते हैं तथा मोटा पहनते हैं। उनका मुख्य भोजन रोटी, फल, वनस्पति, जड़ें और सुखायी हुई मछली है। वे मांस बहुत कम खाते हैं, और जब गेहूं महंगा हो जाता है, तब वे रोटी भी बहुत कम खाने लगते हैं।"[1] हमारे निबंधकार ने इसके आगे लिखा है: "इसके साथ हम यह भी जोड़ सकते हैं कि ये लोग या तो पानी पीते हैं और या हल्की शराबें और इसलिये बहुत कम पैसा खर्च करते हैं ... यह हालत पैदा कर देना बहुत कठिन तो है, पर अव्यावहारिक नहीं, क्योंकि आखिर फ़्रांस और हालैण्ड दोनों जगह यह हालत पैदा कर दी गयी है।"[2] इसके बीस वर्ष बाद एक अमरीकी मक्कार ने, बेंजामिन टौम्पसन (alias [उर्फ़] काउण्ट रमफ़ोर्ड) नामक एक यांकी ने, जिसे काउण्ट की उपाधि देकर अभिजात वर्ग में शामिल कर दिया गया था, मानव-कल्याण से प्रेरित होकर इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त किया, जिनसे भगवान और इनसान दोनों को बड़ा संतोष हुआ होगा। इन महाशय के "*Essays*" ('निबन्ध') असल में पाकशास्त्र की पुस्तक है, जिसमें मजदूरों के साधारण, महंगे भोजन के स्थान पर सस्ती वस्तुएं प्रयोग करने के तरह-तरह के अनेक नुसखे दिये हुए हैं। इस विचित्र दार्शनिक का एक विशेष रूप से सफल नुसख़ा इस प्रकार है: "५ पौण्ड जौ का सत्तू, साढ़े ७ पेन्स का; ५ पौण्ड मक्का, सवा ६ पेन्स की; लाल हेरिंग मछली, ३ पेन्स की; नमक, १ पेनी का; सिरका, १ पेनी का; काली मिर्च और मसाले, २ पेन्स के। कुल मिलाकर हुए पौने २१ पेन्स । इससे ६४ आदमियों के लिये शोरबा तैयार हो जायेगा, और जौ तथा मक्का के साधारण दामों के आधार पर ... यह शोरबा चौथाई पेनी प्रति २० आउंस के हिसाब से दिया जा सकेगा।"[3]

---

[1] नार्थेम्पटनशायर के इस कारखानेदार ने यहां पर मासूम चालबाज़ी की है। जिस आदमी का दिल इतना भरा हुआ हो, वह अगर थोड़ी चालाकी भी कर जाये, तो उसे क्षमा दिया जा सकता है। यहां पर उसने कहने के लिये इंगलैण्ड और फ़्रांस के कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की तुलना की है, पर वास्तव में ऊपर उद्धृत किये गये शब्दों में उसने फ़्रांस के खेतिहर मज़दूरों का वर्णन किया है, और अपने उलझे हुए ढंग से उसने यह बात स्वीकार भी कर ली है।

[2] उप० पु०, पृ० ७०, ७१।—**तीसरे जर्मन संस्करण का नोट:** तब से अब तक चूंकि संसार की मण्डी में प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी है, इसलिये मामला और आगे बढ़ गया है। संसद के सदस्य, मि० स्टेपलटन ने अपने निर्वाचकों के सामने भाषण करते हुए कहा है: "यदि चीन एक बड़ा औद्योगिक देश बन जाये, तो मेरी समझ में नहीं आता कि कारखानों में काम करने वाली योरप की आबादी अपने प्रतियोगियों के जीवन-स्तर पर पहुंचे बिना कैसे उनसे प्रतियोगिता कर पायेगी" ("*The Times*", ३ सितम्बर १८७३, पृ० ८)। अतः अंग्रेज़ी पूंजी का वांछित लक्ष्य अब योरपीय नहीं, बल्कि चीनी मजदूरी है।

[3] Benjamin Thompson, "*Essays, Political, Economical, and Philosophical, &c.*" (बेंजामिन टौम्पसन, 'निबंध – राजनीतिक, आर्थिक एवं दार्शनिक, इत्यादि'), ३ खण्ड, London, 1796–1802; खण्ड १, पृ० २९४। सर एफ़० एम० ईडेन ने अपनी पुस्तक "*The State of the Poor, or an History of the Labouring Classes in England, &c.*"

पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ-साथ खाने-पीने की वस्तुओं में इतनी ज्यादा मिलावट होने लगी कि टौम्पसन का आदर्श अनावश्यक बन गया।[1]

१८ वीं सदी के अन्त में और १९ वीं सदी के पहले दस वर्षों में अंग्रेज काश्तकारों और जमींदारों ने जबर्दस्ती मजदूरी को उसकी निरपेक्ष रूप से अल्पतम सीमा पर पहुंचा दिया। वह इस तरह कि वे खुद तो खेतिहर मजदूरों को मजदूरी की शकल में अल्पतम से भी कम देने लगे, और बाक़ी पैसा मजदूरों को चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता के रूप में मिलने लगा। मजदूरी की दरें "क़ानूनी ढंग से" निश्चित करने में अंग्रेज जमींदार कैसे मसखरेपन से काम लेते हैं, इसकी एक मिसाल देखिये: "मि० बर्क ने बताया है कि नोरफ़ोक के जमींदारों ने जिस समय मजदूरी की दर निश्चित की थी, उस समय वे रात का खाना खा चुके थे। पर बेर्क्स के जमींदारों ने १७९५ में जब स्पीनहैमलैंड में मजदूरी की दर तै की, तो उस समय, मालूम पड़ता है, उनका यह ख़याल था कि मजदूरों को रात का खाना नहीं खाना चाहिये ... वहां उन्होंने यह फ़ैसला किया कि जिन दिनों एक गैलन या आधा पेक वाली ८ पौण्ड ११ औंस की डबल रोटी का भाव १ शिलिंग हो, उन दिनों एक मजदूर की (साप्ताहिक) आय ३ शिलिंग होनी चाहिये, और डबल रोटी का भाव बढ़ने के साथ-साथ मजदूरी भी बढ़ती रहनी चाहिये; पर जब रोटी का भाव १ शिलिंग ५ पेन्स के ऊपर चढ़ने लगे, तब उसके २ शिलिंग पर पहुंचने तक मजदूरी को बराबर घटाते जाना चाहिये। २ शिलिंग का भाव हो

('ग़रीबों की अवस्था, या इंगलैण्ड के श्रमिक वर्गों का इतिहास, इत्यादि') में बड़े ज़ोरदार ढंग से मुहताजख़ानों के निरीक्षकों को सलाह दी है कि उन्हें यह रमफ़ोर्ड-मार्का भिखारियों का शोरबा इस्तेमाल करना चाहिये; और साथ ही उन्होंने शिकायत के अन्दाज़ में अंग्रेज मज़दूरों को आगाह किया है कि "बहुत से ग़रीब लोग, ख़ास कर स्कोटलैण्ड में, महीनों जई का सत्तू और जौ का सत्तू केवल पानी में घोलकर और नमक मिलाकर पीते जाते हैं और उसी के सहारे ज़िन्दा रहते हैं और बहुत आराम से ज़िन्दा रहते हैं" ("and that very comfortably") (उप० पु०, खण्ड १, पुस्तक १, अध्याय २, पृ० ५०३)। १९ वीं सदी में भी इसी प्रकार की बातें सुनने को मिलती हैं। "(अंग्रेज खेतिहर मज़दूरों ने) आटे का अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद मिश्रण खाने से इनकार कर दिया है... स्कोटलैण्ड में, जहां लोग ज्यादा शिक्षित हैं, शायद यह पूर्वग्रह नहीं पाया जाता" (Charles H. Parry, M. D., "*The Question of the Necessity of the Existing Corn Laws Considered*" [चार्ल्स एच० पैरी, एम० डी०, 'अनाज सम्बंधी वर्तमान क़ानूनों की आवश्यकता के प्रश्न का विवेचन'], पृ० ६९)। किन्तु इन्हीं पैरी की यह भी शिकायत है कि ईडेन के समय (१७९७) में अंग्रेज़ मज़दूर की जो हालत थी, उसके मुक़ाबले में अब (१८१५ में) उसकी हालत बहुत ज्यादा ख़राब हो गयी है।

[1] जीवन-निर्वाह के साधनों में मिलावट की जांच करने के लिए जो अन्तिम संसदीय आयोग नियुक्त किया गया था, उसकी रिपोर्टों से पता चलता है कि इंगलैण्ड में दवाइयों तक में मिलावट की जाती है, और यह बात अपवाद नहीं, बल्कि नियम सी बन गयी है। मिसाल के लिये, लन्दन के ३४ दवाफ़रोशों के यहां से अफ़ीम के ३४ नमूने ख़रीदे गये, तो पता चला कि उनमें से ३१ में पोस्त की डोंड़ी, गेहूं का आटा, गोंद, मिट्टी, रेत आदि मिले हुए थे। कुछ नमूनों में तो अफ़ीम का एक कण भी नहीं था।

जाने पर मजदूर के भोजन में $\frac{1}{5}$ की कमी आ जानी चाहिये।"[1] १८१४ में हाउस आफ़ लार्ड्स की जांच-समिति के सामने जब ए० बेनेट नामक एक बड़ा काश्तकार, जो मजिस्ट्रेट, ग़रीबों की मदद के क़ानून का संरक्षक और मजदूरी का नियामक भी था, गवाही देने के लिये आया, तो उससे यह प्रश्न किया गया कि "क्या मजदूर के दैनिक श्रम के मूल्य का कोई भाग ग़रीबों की सहायता के लिये कर लगाकर जमा किये गये कोष में से अदा किया जाता है?" उत्तर: "हां, एक भाग उसमें से अदा किया जाता है। इस तरह हर परिवार की साप्ताहिक आय एक गैलन वाली डबल रोटी (जिसका वजन ८ पौण्ड ११ औंस होता है) और ३ पेन्स प्रति व्यक्ति तक कर दी जाती है ... हमने यह मान लिया है कि प्रति सप्ताह एक गैलन वाली डबल रोटी परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिये एक हफ़्ते के वास्ते काफ़ी होती है; और ३ पेन्स कपड़ों के लिये होते हैं; और यदि कपड़े चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता के कोष से मिल जाते हैं, तो ये ३ पेन्स काट लिये जाते हैं। यह प्रथा विल्टशायर के पूरे पश्चिमी भाग में और, मैं समझता हूं, पूरे देश में प्रचलित है।"[2] उस काल के एक पूंजीवादी लेखक ने लिखा है: "वर्षों से उन्होंने (काश्तकारों ने) अपने देशवासियों के एक सम्मानित भाग को मुहताजख़ाने की सहायता लेने के लिये विवश करके पतन के गढ़े में धकेल दिया है ... काश्तकार अपने लाभ में तो वृद्धि करता जाता है, पर अपने श्रमजीवी आश्रितों को जरा भी संचय नहीं करने देता।"[3] हमारे जमाने में अतिरिक्त मूल्य और इसलिये पूंजी के संचय-कोष के निर्माण में मजदूर के आवश्यक उपभोग-कोष पर सीधे डाके की क्या भूमिका है, यह तथाकथित घरेलू उद्योग से साफ़ हो गया है (देखिये इस पुस्तक का पन्द्रहवां अध्याय, अनुभाग ८, ग)। इस विषय से सम्बंधित कुछ और तथ्य हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि उद्योग की सभी शाखाओं में स्थिर पूंजी के उस भाग के लिये, जिसमें श्रम के औजार शामिल होते हैं, यह आवश्यक होता है कि वह मजदूरों की एक ख़ास संख्या के लिये (जो व्यवसाय विशेष के आकार से निर्धारित होती है) पर्याप्त हो, फिर भी इसका सदा यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह उसी अनुपात में बढ़ता जायेगा, जिस अनुपात में मजदूरों की संख्या में वृद्धि होती जायेगी। मान लीजिये कि किसी फ़ैक्टरी में १०० मजदूर ८ घण्टे रोजाना काम करके काम के ८०० घण्टे देते हैं। यदि पूंजीपति इस राशि को ड्योढ़ा कर देना चाहता है, तो वह ५० मजदूरों को और नौकर रख सकता है। परन्तु तब उसको न सिर्फ़ मजदूरी की

[1] G. B. Newnham *(barrister-at-law)*, *"A Review of the Evidence before the Committee of the two Houses of Parliament on the Corn Laws"* (जी० बी० न्यूनहैम (बैरिस्टर), 'अनाज सम्बंधी क़ानूनों के विषय में संसद के दोनों सदनों की समिति के सामने दी गयी गवाहियों की समीक्षा'), London, 1815, पृ० २०, नोट।

[2] उप० पु०, पृ० १९, २०।

[3] Ch. H. Parry, उप० पु०, पृ० ७७, ६९। उधर ज़मींदारों ने न केवल इसकी व्यवस्था कर ली थी कि जैकोबिन-विरोधी युद्ध में, जिसे उन्होंने इंगलैण्ड के नाम पर चलाया था, उनका जितना ख़र्चा हुआ था, उसकी पूरी "क्षति-पूर्ति" हो जाये, बल्कि उन्होंने अपने धन में बेशुमार इज़ाफ़ा कर लिया था। "अठारह वर्ष में उनके लगान पहले से दुगने, तिगुने, चौगुने और यहां तक कि छः गुने बढ़ गये थे" (उप० पु०, पृ० १००, १०१)।

मद में, बल्कि श्रम के औज़ारों की मद में भी कुछ नयी पूंजी लगानी पड़ेगी। लेकिन यह भी मुमकिन है कि वह १०० मजदूरों से ८ घण्टे के बजाय १२ घण्टे रोज़ाना काम लेने लगे। तब श्रम के जो औज़ार पहले से मौजूद थे, वे ही काफ़ी होंगे। अन्तर केवल यह होगा कि वे पहले से ज्यादा तेज़ी के साथ ख़र्च हो जायेंगे। इस प्रकार श्रम-शक्ति के पहले से अधिक तनाव से उत्पन्न अधिक श्रम से अधिक पैदावार और अधिक मूल्य का उत्पादन हो सकता है (अर्थात् संचय की विषय-वस्तु में) वृद्धि हो सकती है, पर उसके लिये पूंजी के स्थिर भाग में तदनुरूप वृद्धि न करनी पड़े।

निस्सारक उद्योगों – खानों आदि – में पेशगी लगायी जाने वाली पूंजी में कच्चा माल शामिल नहीं होता। इन उद्योगों में श्रम की विषय-वस्तु किसी पूर्वकालिक श्रम की पैदावार नहीं होती, बल्कि वह प्रकृति से मुफ़्त में मिल जाती है, जैसे धातुएं, खनिज पदार्थ, कोयला, पत्थर इत्यादि। ऐसे उद्योगों में स्थिर पूंजी में प्रायः केवल श्रम के औज़ार ही शामिल होते हैं, जो बिना किसी कठिनाई के पहले से अधिक श्रम का अवशोषण कर सकते हैं (जैसा कि उस समय होता है, जब मजदूरों से दो पालियों में दिन के साथ-साथ रात में भी काम कराया जाता है)। अन्य बातों के समान रहते हुए, जितना अधिक श्रम ख़र्च किया जायेगा, पैदावार की राशि तथा मूल्य उसके अनुलोम अनुपात में बढ़ते जायेंगे। जैसा कि उत्पादन के पहले दिन देखा गया था, उपज के वे मूल निर्माता, जो अब पूंजी के भौतिक तत्वों के सृजनकर्ता बन गये हैं, – अर्थात् मनुष्य और प्रकृति, – अब भी साथ-साथ काम करते हैं। श्रम-शक्ति की प्रत्यास्थता के प्रताप से स्थिर पूंजी में पहले से कोई वृद्धि किये बिना भी संचय के क्षेत्र का विस्तार हो जाता है।

खेती में जब तक पहले से अधिक बीज और खाद मुहैया नहीं किये जाते, तब तक पहले से ज्यादा ज़मीन को जोता-बोया नहीं जा सकता। परन्तु जब एक बार बीज और खाद की व्यवस्था कर दी जाती है, तो धरती को केवल यांत्रिक ढंग से तैयार करने का भी पैदावार पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। इस तरह, जितने मजदूर पहले काम करते थे, उतने ही मजदूर अब भी पहले से अधिक मात्रा में श्रम करके धरती की उर्वरता को बढ़ा देते हैं, और इसके लिये श्रम के औज़ारों पर कोई नयी रक़म नहीं ख़र्च करनी पड़ती। एक बार फिर हम यह देखते हैं कि किसी नयी पूंजी के हस्तक्षेप के बिना मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर प्रभाव डालकर संचय में तुरन्त वृद्धि कर सकता है।

अन्त में, जो कारख़ानों का उद्योग कहलाता है, उसमें जब-जब पहले से अधिक श्रम से काम लेना होता है, तब हर बार तदनुरूप पहले नये कच्चे माल का प्रबंध करना पड़ता है, लेकिन उसके लिये श्रम के नये औज़ार अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं होते। और चूंकि कारख़ानों के उद्योग को कच्चा माल और श्रम के औज़ार की सामग्री निस्सारक उद्योगों तथा खेती से मिलती है, इसलिये उसे उस अधिक पैदावार से भी लाभ पहुंचता है, जिसे निस्सारक उद्योगों तथा खेती ने नयी पूंजी लगाये बिना ही तैयार कर दिया है।

इस सब का सामान्य परिणाम यह निकलता है कि धन के दो मूल स्रष्टाओं का – अर्थात् श्रम-शक्ति और भूमि का – अपने साथ समावेश करके पूंजी विस्तार करने की एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेती है, जिसके द्वारा वह अपने संचय के तत्वों को उन सीमाओं से भी आगे तक परिवर्द्धित कर सकती है, जो लगता है कि स्वयं उसके परिमाण के कारण इन तत्वों पर लग गयी थीं, या जो पहले से उत्पादित उत्पादन के उन साधनों के मूल्य तथा राशि के कारण उनपर लग गयी थीं, जिनमें यह पूंजी निहित होती है।

पूंजी के संचय का एक और महत्वपूर्ण तत्व सामाजिक श्रम की उत्पादकता की मात्रा होती है।

श्रम की उत्पादक शक्ति के साथ उत्पादित वस्तुओं की राशि बढ़ जाती है, जिसमें एक ख़ास मूल्य और इसलिये एक ख़ास परिमाण का अतिरिक्त मूल्य निहित होता है। यदि अतिरिक्त मूल्य की दर ज्यों की त्यों रहे या यदि वह गिरती भी जाये, तो जहां तक उसके गिरने की गति श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ़ने की गति की अपेक्षा मन्द रहती है, वहां तक अतिरिक्त पैदावार की राशि बढ़ती ही जाती है। इसलिये यदि इस पैदावार का आय तथा अतिरिक्त पूंजी में पहले के ही अनुपात में विभाजन होता रहे, तो भी यह मुमकिन है कि पूंजीपति का उपभोग बढ़ जाये, पर संचय के कोष में कोई कमी न आये। बल्कि यह भी सम्भव है कि उपभोग-कोष में कुछ कमी आ जाये और संचय-कोष के तुलनात्मक परिमाण में कुछ वृद्धि हो जाये और फिर भी मालों के सस्ते हो जाने के फलस्वरूप पूंजीपति को पहले के समान या उनसे भी अधिक भोग के साधन मिलते रहें। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, असल मजदूरी के बढ़ते जाने पर भी श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के साथ-साथ मजदूर पहले से सस्ता होता जाता है और इसलिये अतिरिक्त मूल्य की दर ऊपर उठती जाती है। असल मजदूरी कभी श्रम की उत्पादक शक्ति की वृद्धि के अनुपात में नहीं बढ़ती। इसलिये, अस्थिर पूंजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य पहले से अधिक श्रम-शक्ति को और इसलिये पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना देता है। स्थिर पूंजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य अब पहले से अधिक उत्पादन के साधनों में, अर्थात् पहले से अधिक श्रम के औज़ारों, श्रम की सामग्री और सहायक सामग्री में; निहित होता है। और इसलिये स्थिर पूंजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य अब उपयोग-मूल्य और मूल्य दोनों के उत्पादन के पहले से अधिक तत्वों को और इसलिये पहले से अधिक श्रम के अवशोषकों को प्रस्तुत करता है। इसलिये, यदि अतिरिक्त पूंजी का मूल्य ज्यों का त्यों रहे या यहां तक कि कुछ कम भी हो जाये, तो भी पहले से ज्यादा तेज संचय होता है। न केवल पुनरुत्पादन का पैमाना भौतिक दृष्टि से बढ़ जाता है, बल्कि अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में अतिरिक्त पूंजी के मूल्य की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ वृद्धि होती है।

श्रम की उत्पादक शक्ति के विकास का उस मूल पूंजी पर भी प्रभाव पड़ता है, जो पहले से उत्पादन की क्रिया में लगी हुई है। कार्यरत स्थिर पूंजी का एक भाग मशीनों आदि का, अर्थात् श्रम के ऐसे औज़ारों का होता है, जो जब तक काफ़ी लम्बा समय नहीं बीत जाता, तब तक ख़र्च नहीं होते, और इसलिये उस समय तक उनका पुनरुत्पादन करना या उसी प्रकार के औज़ारों के द्वारा उनका रिक्त स्थान भरना आवश्यक नहीं होता। लेकिन श्रम के औज़ारों का एक भाग हर साल नष्ट हो जाता है, या अपने उत्पादक कार्य की अन्तिम सीमा पर पहुंच जाता है। इसलिये, प्रति वर्ष इन औज़ारों के नियतकालिक पुनरुत्पादन का या उनके रिक्त स्थान को उसी प्रकार के औज़ारों से भरने का समय आ जाता है। यदि श्रम के इन औज़ारों के ख़र्च होने के दौरान में श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है (और वह विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की अबाध प्रगति के साथ लगातार बढ़ती जाती है), तो अधिक कार्य-क्षम और (उनकी बढ़ी हुई कार्य-क्षमता को देखते हुए) अधिक सस्ती मशीनें पुराने औज़ारों और उपकरणों का स्थान ले लेती हैं। श्रम के जो औज़ार पहले से इस्तेमाल में आ रहे हैं, उनमें जो तफ़सीली सुधार बराबर होते रहते हैं, उनके अलावा पुरानी पूंजी का तब अधिक उत्पादक रूप में पुनरुत्पादन होता है। स्थिर पूंजी के दूसरे भाग का—कच्चे माल और सहायक पदार्थों का—पुनरुत्पादन एक

साल से कम में ही हो जाता है; खेती से पैदा होने वाले कच्चे माल और सहायक पदार्थों का प्रायः हर वर्ष पुनरुत्पादन होता है। इसलिये हर बार जब उत्पादन में पहले से उन्नत तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं, तब उनका नयी पूंजी पर और पहले से कार्यरत पूंजी पर लगभग एक साथ प्रभाव पड़ता है। रसायन-विज्ञान में जब कभी कोई प्रगति होती है, तो उससे न केवल उपयोगी पदार्थों की संख्या में और पहले से ज्ञात पदार्थों को उपयोग में लाने के तरीक़ों में वृद्धि हो जाती है और इसी प्रकार पूंजी की वृद्धि के साथ-साथ उसके विनियोजन-क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। उसके साथ-साथ लोग उत्पादन और उपभोग की क्रियाओं के मलोत्सर्ग को फिर से पुनरुत्पादन की क्रिया के चक्र में डाल देने के तरीक़े सीख जाते हैं, जिससे पेशगी पूंजी लगाये बिना ही पूंजी की नयी सामग्री का सृजन हो जाता है। जिस प्रकार केवल श्रम-शक्ति के तनाव में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप प्राकृतिक धन से पहले से अधिक लाभ उठाया जाने लगता है, उसी प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी पूंजी को विस्तार करने की एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देते हैं, जो इस बात से स्वतंत्र होती है कि सचमुच कार्य में लगी हुई पूंजी का परिमाण कितना है। साथ ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मूल पूंजी के उस भाग पर भी प्रभाव पड़ता है, जो अपने नवीकरण की अवस्था में प्रवेश कर चुका है। मूल पूंजी का यह भाग अपना नया रूप धारण करते समय मुफ़्त में ही उस सामाजिक प्रगति का अपने में समावेश कर लेता है, जो उस समय सम्पन्न हो रही थी, जिस समय उसकी पुरानी शकल का उपयोग हो रहा था। जाहिर है, उत्पादक शक्ति के इस विकास के साथ-साथ कार्यरत पूंजी का आंशिक मूल्य-ह्रास हो जाता है। इस मूल्य-ह्रास का जिस हद तक प्रतियोगिता पर उग्र प्रभाव पड़ता है, उस हद तक उसका बोझा मजदूर के कंधे बरदाश्त करते हैं, क्योंकि पूंजीपति उसका पहले से अधिक शोषण करके अपनी क्षति-पूर्ति करने की कोशिश करता है।

श्रम उत्पादन के जिन साधनों को खर्च कर डालता है, उनका मूल्य वह अपनी पैदावार में स्थानांतरित कर देता है। दूसरी ओर, श्रम की एक निश्चित मात्रा उत्पादन के जिन साधनों को गतिमान बनाती है, उनके मूल्य तथा राशि में श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के साथ-साथ वृद्धि होती जाती है। यद्यपि श्रम की एक सी मात्रा अपनी पैदावार में सदा एक सा नया मूल्य जोड़ती है, फिर भी श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के साथ-साथ उस पुराने पूंजी-मूल्य में वृद्धि होती जाती है, जो श्रम के द्वारा पैदावार में स्थानांतरित कर दिया जाता है।

मिसाल के लिये, हो सकता है कि एक अंग्रेज कताई करनेवाला और एक चीनी कताई करनेवाला दोनों एक सी तीव्रता के साथ समान समय तक काम करते रहें। तब वे दोनों एक सप्ताह तक बराबर मूल्यों का सृजन करेंगे। परन्तु, इस समानता के बावजूद, एक विशाल स्वसंचालित यंत्र पर काम करनेवाले अंग्रेज मजदूर की सप्ताह भर की पैदावार के मूल्य और उस चीनी मजदूर की सप्ताह भर की पैदावार के मूल्य में, जिसके पास केवल एक चर्खा है, बहुत बड़ा अन्तर होगा। जितने समय में चीनी मजदूर एक पौंड कपास कातता है, उतने ही समय में अंग्रेज कई सौ पौण्ड कपास कात डालता है। उसकी पैदावार का मूल्य उन पुराने मूल्यों की सैकड़ों गुनी बड़ी राशि के कारण बढ़ जाता है, जो इस पैदावार में एक नये उपयोगी रूप में पुनः प्रकट होते हैं और जो इसलिये एक बार फिर पूंजी की तरह कार्य कर सकते हैं। जैसा कि फ़्रेडरिक एंगेल्स ने हमें बताया है, "१७८२ में इंगलैण्ड में ऊन की तीन साल की पूरी फ़सल मजदूरों के अभाव के कारण ज्यों की त्यों पड़ी थी, और यदि नव-आविष्कृत मशीनें

उसकी सहायता को न आतीं और उसे कात न डालतीं, तो वह उसी तरह पड़ी रहती।"[1] मशीनों के रूप में निहित श्रम, जाहिर है, प्रत्यक्ष रूप से तो एक भी मजदूर को पैदा नहीं कर सका, परन्तु उसके कारण मजदूरों की पहले से कम संख्या के लिये अपेक्षाकृत कम नये जीवित श्रम के साथ न केवल उसका उत्पादक ढंग से उपभोग करना और उसमें नया मूल्य जोड़ना सम्भव हो गया, बल्कि वे ऊन के धागे आदि के रूप में उसके पुराने मूल्य को सुरक्षित रखने में भी कामयाब हुए। साथ ही उसके कारण ऊन के पहले से अधिक पुनरुत्पादन की प्रेरणा मिली और अधिक पुनरुत्पादन होने लगा। जीवित श्रम में यह स्वाभाविक गुण होता है कि वह नया मूल्य उत्पन्न करने के साथ-साथ पुराना मूल्य भी स्थानांतरित कर देता है। इसलिये जब उत्पादन के साधनों की कार्य-क्षमता, विस्तार तथा मूल्य में वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप जब उत्पादक शक्ति के विकास के साथ-साथ संचय होता है, तो श्रम एक निरन्तर बढ़ते हुए पूंजी-मूल्य को नित नये रूप में क़ायम रखता है और उसे अजर-अमर बना देता है।[2] श्रम

---

[1] Friedrich Engels, "*Die Lage der arbeitenden Klasse in England*" (फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'इंगलैण्ड के मजदूर-वर्ग की हालत'), पृ० २०।

[2] प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने चूंकि श्रम-क्रिया का और मूल्य पैदा करने की क्रिया का सही-सही विश्लेषण नहीं किया है, इसलिये, जैसा कि रिकार्डो की रचनाओं में देखा जा सकता है, वह पुनरुत्पादन के इस महत्त्वपूर्ण तत्व को कभी नहीं समझ पाया है। मिसाल के लिये, रिकार्डो ने लिखा है कि उत्पादक शक्ति में चाहे जैसा परिवर्तन आ जाये, "दस लाख व्यक्ति उद्योगों में सदा उतना ही मूल्य पैदा करते हैं।" यह बात बिल्कुल सही है, बशर्ते कि इन व्यक्तियों के श्रम का विस्तार और तीव्रता पहले से निश्चित हों। मगर फिर भी यह मुमकिन है (और कुछ निष्कर्ष निकालते समय रिकार्डो यह बात अनदेखी कर जाते हैं) कि यदि दस लाख व्यक्तियों का श्रम भिन्न-भिन्न स्तर की उत्पादकता का हो, तो वे उत्पादन के साधनों की बहुत भिन्न राशियों को पैदावार में रूपान्तरित करेंगे और इसलिये अपनी-अपनी पैदावार में मूल्य की भिन्न-भिन्न राशियों को सुरक्षित रखेंगे, जिसके फलस्वरूप उनकी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में भी बहुत अन्तर होगा। यहां चलते-चलते हम यह भी बता दें कि रिकार्डो ने इसी उदाहरण के द्वारा जे० बी० से को यह समझाने की वृथा कोशिश की थी कि उपयोग-मूल्य (जिसे रिकार्डो ने वहां wealth [धन] या भौतिक सम्पदा कहा था) और विनिमय-मूल्य में क्या अन्तर होता है। जे० बी० से ने उत्तर दिया है: "Quant à la difficulté qu'élève Mr. Ricardo en disant que, par des procédés mieux entendus un million de personnes peuvent produire deux fois, trois fois autant de richesses, sans produire plus de valeurs, cette difficulté n'est pas une lorsque l'on considère, ainsi qu'on le doit, la production comme un échange dans lequel on donne les services productifs de son travail, de sa terre, et de ses capitaux, pour obtenir des produits. C'est par le moyen de ces services productifs, que nous acquérons tous les produits qui sont au monde. Or... nous sommes d'autant plus riches, nos services productifs ont d'autant plus de valeur qu'ils obtiennent dans l'échange appelé production une plus grande quantité de choses utiles." ["मि० रिकार्डो यह ऐतराज करते हैं कि उन्नत प्रक्रियाओं के द्वारा दस लाख व्यक्ति पहले से दुगुना या तिगुना धन पैदा कर सकते हैं,

की यह स्वाभाविक शक्ति उस पूंजी का नैसर्गिक गुण प्रतीत होने लगती है, जिसमें इस

**श्रम का समावेश हो जाता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियां पूंजी के नैसर्गिक गुणों का रूप धारण कर लेती हैं और जैसे पूंजीपतियों द्वारा अतिरिक्त श्रम का निरन्तर हस्तगतकरण पूंजी के निरन्तर विस्तार का रूप धारण कर लेता है।**

---

हालांकि उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। इस ऐतराज़ के जवाब में हमारा कहना यह कि जब हम उत्पादन पर एक ऐसे विनिमय के रूप में विचार करते हैं, जिसमें मनुष्य पैदावार प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने श्रम, अपनी भूमि और अपनी पूंजी की उत्पादक सेवाएं दे देता है, – और वास्तव में हमें उत्पादन पर इसी रूप में विचार करना चाहिये, – तब यह कठिनाई ग़ायब हो जाती है। दुनिया में जितनी तरह की उत्पादित वस्तुएं हैं, उन सब को हम इन उत्पादक सेवाओं के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। अब... उत्पादन नामक विनिमय में इन सेवाओं के द्वारा हम उपयोगी वस्तुओं की पहले से जितनी बड़ी मात्रा प्राप्त करने में सफल होते हैं, हम उतने ही अधिक धनी बन जाते हैं।"] (J. B. Say, "*Lettres à M. Malthus*", Paris, 1820, पृ० १६८, १६९।) से यहां पर जिस "कठिनाई" को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं, – वास्तव में उसका अस्तित्व केवल से के लिये ही है, रिकार्डो के लिये नहीं, – वह यह है कि जब श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ़ जाने के फलस्वरूप उपयोग-मूल्यों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, तब उनके विनिमय-मूल्य में वृद्धि क्यों नहीं हो जाती? और उनका उत्तर यह है कि उपयोग-मूल्य को विनिमय-मूल्य कहने लगिये, यह कठिनाई दूर हो जायेगी। विनिमय-मूल्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका विनिमय से कोई न कोई सम्बंध ज़रूर होता है। इसलिये, यदि उत्पादन को पैदावार के साथ श्रम तथा उत्पादन के साधनों के विनिमय का नाम दे दिया जाये, तो यह बात दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाती है कि उत्पादन से जितना अधिक उपयोग-मूल्य तैयार होगा, आप को उतना ही अधिक विनिमय-मूल्य मिल जायेगा। दूसरे शब्दों में, काम के एक दिन में, मिसाल के लिये, मोज़े बनानेवाले किसी पूंजीपति को जितना अधिक उपयोग-मूल्य, यानी जितने अधिक मोज़े मिलने लगते हैं, मोज़ों के रूप में उसका धन उतना ही बढ़ जाता है। परन्तु यहां पर यकायक से को यह याद आता है कि जब मोज़ों की "पहले से अधिक मात्रा" पैदा होने लगती है, तब उनका "दाम" (जिसका, ज़ाहिर है, उनके विनिमय-मूल्य से कोई सम्बंध नहीं होता!) गिर जाता है, "parce que la concurrence les (les producteurs) oblige à donner les produits pour ce qu'ils leur coûtent" ("क्योंकि प्रतियोगिता उत्पादकों को विवश कर देती है कि वे अपनी पैदावार उसकी लागत के बराबर दामों में दे दें")। परन्तु यदि पूंजीपति अपना माल लागत पर बेच देता है, तो उसका मुनाफ़ा कहां से आता है? उसकी परवाह मत करो! से जवाब देते हैं कि यदि पहले एक निश्चित सम-मूल्य के एवज़ में एक जोड़ी मोज़े मिलते थे, तो अब उत्पादकता के बढ़ जाने के फलस्वरूप हरेक को उसी सम-मूल्य के एवज़ में दो जोड़ी मोज़े मिल जाते हैं। इस तरह वह जिस परिणाम पर पहुंच जाते हैं, वह रिकार्डो की ठीक वही प्रस्थापना है, जिसका वह खण्डन करना चाहते थे। चिन्तन के क्षेत्र में यह महान प्रयास करने के बाद से विजयोल्लास के साथ माल्थूस को सम्बोधन करते हुए कहते हैं: "Telle est, monsieur, la doctrine bienliée, sans laquelle il est impossible, je le déclare, d'expliquer les plus grandes difficultés de l'économie politique, et notamment, comment il se peut qu'une nation soit plus riche lorsque ses produits diminuent

पूंजी की वृद्धि हो जाने पर व्यवसाय में लगी हुई पूंजी और ख़र्च कर दी गयी पूंजी का अन्तर पहले से बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रम के ऐसे औज़ारों के मूल्य में और भौतिक राशि में वृद्धि हो जाती है, जैसे मकान, मशीनें, नालियों के पाइप, काम करनेवाले पशु और ऐसा हर उपकरण, जो बार-बार दुहरायी जानेवाली उत्पादन-क्रियाओं में कम या ज़्यादा समय तक इस्तेमाल होता है या जो किसी ख़ास ढंग का उपयोगी प्रभाव पैदा करने के काम में आता है, पर जो ख़ुद केवल धीरे-धीरे ही घिसता है और इसलिये जो अपना मूल्य सिर्फ़ थोड़ा-थोड़ा करके ही खोता है और इसलिये इस मूल्य को केवल थोड़ा-थोड़ा करके ही पैदावार में स्थानांतरित करता है। श्रम के ये औज़ार जिस अनुपात में पैदावार में नया मूल्य जोड़े बग़ैर ही मूल्य के निर्माताओं का काम करते हैं, अर्थात् जिस अनुपात में वे पूरे के पूरे इस्तेमाल में आते हैं, पर ख़र्च केवल आंशिक रूप में होते हैं, उस अनुपात में वे उसी प्रकार की मुफ़्त सेवा करते हैं, जिस प्रकार की मुफ़्त सेवा प्राकृतिक शक्तियां—पानी, भाप, हवा, बिजली आदि—करती हैं। भूतकालिक श्रम पर जब जीवित श्रम अधिकार कर लेता है और उसमें आत्मा का संचार कर देता है, तब वह इस प्रकार की मुफ़्त सेवा करने लगता है, और संचय की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्थाओं के साथ-साथ इस मुफ़्त की सेवा में भी वृद्धि होती जाती है।

भूतकालिक श्रम चूंकि सदा पूंजी का भेस धारण किये रहता है, अर्थात् चूंकि 'क', 'ख', 'ग' आदि का निष्क्रिय श्रम ग़ैर-मज़दूर 'क्ष' के हाथों में पहुंचकर सक्रिय बन जाता है, इसलिये पूंजीवादी लोग और अर्थशास्त्री सदा भूतकालिक मृत श्रम की सेवाओं की प्रशंसा किया करते हैं। स्कोटलैण्ड की महान प्रतिभा मैक्कुलक के मतानुसार तो उसको ब्याज, मुनाफ़े

---

de valeur, quoique la richesse soit de la valeur." ["सो जनाब, यह है वह सुगठित सिद्धान्त, जिसके अभाव में,—मैं कहता हूं,—अर्थशास्त्र की मुख्य कठिनाइयों को स्पष्ट करना असम्भव है, और सबसे बड़ी बात यह कि जिसके अभाव में इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है कि हालांकि धन मूल्य होता है, फिर भी यह कैसे सम्भव होता है कि किसी राष्ट्र की पैदावार का मूल्य गिर जाने पर भी उसका धन बढ़ जाता है।"] (उप० पु०, पृ० १७०।) से ने अपनी रचना "*Lettres*" में इस प्रकार की कुछ और भी हाथ की सफ़ाई दिखायी है। उसपर टिप्पणी करते हुए एक अंग्रेज अर्थशास्त्री ने लिखा है: "जिसे मोसिये से अपना सिद्धान्त कहते हैं और जिसे हेर्टफ़ोर्ड में पढ़ाने के लिये उन्होंने माल्थूस पर जोर डाला है, क्योंकि योरप के अनेक भागों में वह पहले ही से पढ़ाया जा रहा है, उसमें आम तौर पर बस इसी बनावटी ढंग से बातें ("those affected ways of talking") कही गयी हैं। से ने लिखा है: 'Si vous trouvez une physionomie de paradoxe à toutes ces propositions, voyez les choses qu'elles expriment, et j'ose croire qu'elles vous paraîtront fort simples et fort raisonnables' ('यदि तुम्हारा यह विचार है कि इन तमाम प्रस्थापनाओं में विरोधाभास झलकता है, तो मैं कहूंगा कि जरा उन वस्तुओं पर ग़ौर कीजिये, जिनको ये प्रस्थापनाएं व्यक्त करती हैं, और मेरा ख़याल है कि आपको हर चीज अत्यन्त सरल और अत्यन्त विवेक-संगत प्रतीत होगी')। निस्सन्देह, और इसी क्रिया के फलस्वरूप ये सारी प्रस्थापनाएं और कुछ भी प्रतीत होने लगें, पर मौलिक नहीं प्रतीत होंगी।" (*"An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand, &c."* ['मांग के स्वभाव तथा उपभोग की आवश्यकता के विषय में उन सिद्धान्तों का विवेचन, इत्यादि'], पृ० ११६, ११०।)

आदि की शकल में एक खास उजरत मिलनी चाहिये।[1] इसलिये, उत्पादन के साधनों के रूप में भूतकालिक श्रम जीवित श्रम-क्रिया को जो जोरदार और निरन्तर बढ़ती जाने वाली सहायता देता है, उसके बारे में कहा जाता है कि यह भूतकालिक श्रम के उस रूप का विशेष गुण है, जिस रूप में वह अवेतन श्रम की तरह खुद मजदूर से अलग कर दिया जाता है, अर्थात् कहा जाता है कि यह भूतकालिक श्रम के पूंजीवादी रूप का विशेष गुण है। जिस प्रकार दासों का मालिक यह नहीं सोच सकता कि कभी कोई ऐसा मजदूर भी हो सकता है, जो दास न हो, उसी प्रकार पूंजीवादी उत्पादन के व्यावहारिक अभिकर्ता और बाल की खाल निकालने वाले उनके विचारक यह नहीं सोच सकते कि उत्पादन के कुछ साधन ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्होंने यह विग्रहपूर्ण सामाजिक चेहरा न लगा रखा हो।

यदि श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा पहले से निश्चित हो, तो जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होगा, उसकी कुल राशि इस बात से निर्धारित होगी कि कितने मजदूरों का एक साथ शोषण किया गया है। और मजदूरों की संख्या परिवर्तनशील अनुपात में ही सही, पर वह पूंजी के परिमाण के अनुरूप होती है। इसलिये, उत्तरोत्तर सम्पन्न होने वाली संचय-क्रियाओं के द्वारा पूंजी जितनी बढ़ जाती है, उतना ही वह कुल मूल्य बढ़ जाता है, जो उपभोग-कोष और संचय-कोष में विभाजित किया जाता है। इसलिये तब पूंजीपति ज्यादा आनन्द का जीवन बिता सकता है और साथ ही पहले से अधिक "परिवर्जन" का प्रमाण दे सकता है। और अन्तिम बात यह है कि पेशगी लगायी गयी पूंजी की राशि के साथ-साथ उत्पादन का पैमाना जितना विस्तार करता जाता है, उत्पादन की सारी कमानियां पहले की अपेक्षा उतनी ही ज्यादा लचक के साथ काम करने लगती हैं।

## अनुभाग ५ – तथाकथित श्रम-कोष

इस अन्वेषण के दौरान में यह बताया जा चुका है कि पूंजी का कोई स्थायी परिमाण नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक धन का एक ऐसा लचकदार भाग होती है, जिसका परिमाण नये अतिरिक्त मूल्य का आय तथा अतिरिक्त पूंजी में विभाजन होने के साथ-साथ लगातार बदलता रहता है। इसके अलावा, यह बात भी साफ़ हो चुकी है कि जब कार्यरत पूंजी का परिमाण पहले से निश्चित होता है, तब भी पूंजी में निहित श्रम-शक्ति, विज्ञान और भूमि (आर्थिक दृष्टि से भूमि से हमारा मतलब श्रम के लिये आवश्यक उन तमाम तत्वों से है, जो मनुष्य से स्वतंत्र प्रकृति से मिल जाते हैं) उसकी ऐसी लोचदार शक्तियां बन जाती हैं, जो कुछ सीमाओं के भीतर उसे एक ऐसा कार्य-क्षेत्र प्रदान कर देती हैं, जिसका विस्तार स्वयं पूंजी के अपने परिमाण से स्वतंत्र होता है। इस अन्वेषण में हमने परिचलन की क्रिया के उन तमाम प्रभावों को अनदेखा कर रखा है, जिनके कारण पूंजी की एक सी राशि में बहुत भिन्न-भिन्न मात्रा की कार्य-क्षमता पैदा हो सकती है। और चूंकि हम पूंजीवादी उत्पादन की सीमाओं

[1] जिस समय सीनियर ने "wages of abstinence" ("परिवर्जन की मजदूरी") के अपने आविष्कार का एकस्वकरण कराया था, उसके बहुत दिन पहले मैक्कुलक "wages of past labour" ("भूतकालिक श्रम की मजदूरी") के अपने आविष्कार का एकस्वकरण करा चुके थे।

**को स्वीकार करके चल रहे थे, अर्थात् चूंकि हम सामाजिक उत्पादन का एक ऐसा रूप स्वीकार करके चल रहे थे, जिसका विशुद्ध स्वयंस्फूर्त ढंग से विकास हुआ था, इसलिये हमने इस प्रश्न की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया था कि इस समय उत्पादन के जितने साधन और जितनी श्रम-शक्ति मौजूद है, क्या उनका प्रत्यक्ष रूप में और सुनियोजित ढंग से उपयोग करते हुए कोई अधिक विवेकसंगत व्यवस्था की जा सकती है। प्रामाणिक अर्थशास्त्र को सामाजिक पूंजी को एक निश्चित कार्य-क्षमता की एक निश्चित मात्रा समझने का सदा बड़ा शौक़ रहा है। परन्तु इस पूर्वग्रह की उस घोर कूपमण्डूक, १९ वीं शताब्दी की साधारण पूंजीवादी बुद्धि के उस नीरस, पण्डिताऊ, चमड़े की जबान वाले भविष्यवक्ता जेरेमी बेन्थम ने सब से पहले रूढ़ि के रूप में स्थापना की थी।[1] बेन्थम का दार्शनिकों में वही स्थान है जो कवियों में मार्टिन टुपर का है। दोनों का निर्माण केवल इंगलैण्ड में ही सम्भव था।[2] बेन्थम की रूढ़ि के प्रकाश में उत्पादन की क्रिया की साधारणतम घटनाएं,—मसलन उसका यकायक फैल जाना और यकायक**

---

[1] उदाहरण के लिये देखिये Jeremy Bentham की रचना "*Théorie des Peines et des Récompenses*", d'Et. Dumont द्वारा फ़्रांसीसी भाषा में अनुवादित, तीसरा संस्करण, Paris, 1826, ग्रंथ २, पुस्तक ४, अध्याय २।

[2] बेन्थम एक विशुद्ध अंग्रेज़ी चीज़ हैं। किसी काल में और किसी देश में ऐसी तुच्छ और साधारण बातें इतने घोर आत्म-संतोष और गर्व के साथ पेश नहीं की गयी थीं। यहां तक कि जर्मन दार्शनिक क्रिश्चियन वोल्फ़ भी इसके अपवाद नहीं हैं। उपयोगिता का सिद्धान्त बेन्थम का आविष्कार नहीं था। हेलवेटियस तथा अन्य फ़्रांसीसियों ने जो बात १८ वीं शताब्दी में इतने ओजपूर्ण ढंग से कही थी, उसे बेन्थम ने अपने नीरस ढंग से दुहरा भर दिया है। कुत्ते के लिये क्या चीज़ उपयोगी है, इसका पता लगाने के लिये कुत्ते के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ेगा। ख़ुद इस स्वभाव का उपयोगिता के सिद्धान्त के आधार पर पता नहीं लगाया जा सकता। इसी बात को मनुष्य पर लागू करते हुए जो कोई समस्त मानव-कार्यों, गतियों, सम्बंधों इत्यादि की आलोचना करना चाहता है, उसे पहले सामान्य मानव-स्वभाव का अध्ययन करना चाहिये और फिर यह देखना चाहिये कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में मानव-स्वभाव में क्या परिवर्तन हो जाते हैं। लेकिन बेन्थम इस सारे क़िस्से को एकबारगी निपटा देते हैं। अत्यन्त शुष्क भोलेपन के साथ वह आधुनिक दूकानदार को, ख़ास कर अंग्रेज़ दूकानदार को, सामान्य मानव मान लेते हैं। इस विचित्र ढंग के सामान्य मानव और उसके संसार के लिये जो कुछ उपयोगी है, वही निरपेक्ष रूप से सब के लिये उपयोगी है। और फिर बेन्थम भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों को इस मापदण्ड से माप डालते हैं। उदाहरण के लिये, ईसाई धर्म "उपयोगी" है, क्योंकि वह धर्म के नाम पर ठीक उन्हीं बुराइयों पर रोक लगा देता है, जिनपर ताज़ीरात फ़ौजदारी ने क़ानून के नाम पर रोक लगा रखी है। इसके विपरीत, कला की आलोचना "हानिकारक" है, क्योंकि वह भद्र जनों को मार्टिन टुपर के काव्य का आनन्द लेने से रोकती है और उसमें विघ्न डालती है, इत्यादि। और इस तरह की बकवास लिख-लिखकर इस साहसी व्यक्ति ने, जिसका मूल मंत्र यह है कि "nulla dies sine lineâ" ("बिना कुछ पंक्तियां लिखे कोई दिन नहीं जाना चाहिये"), किताबों के पहाड़ खड़े कर दिये हैं। यदि मुझमें अपने मित्र हाइनरिख़ हाईने जैसी हिम्मत होती, तो मैं कहता कि मि० जेरेमी पूंजीवादी मूर्खता के महान प्रतिभाशाली उदाहरण हैं।

सिकुड़ जाना और यहां तक कि खुद संचय भी, – सर्वथा कल्पनातीत बातें बन जाती हैं।[1] खुद बेन्थम ने और माल्थूस, जेम्स मिल, मैक्कुलक आदि ने भी इस रूढ़ि का वकीलों की दलील के रूप में और खास तौर पर यह साबित करने के लिये प्रयोग किया था कि पूंजी का एक भाग, अर्थात् अस्थिर भाग, या वह भाग, जो श्रम-शक्ति में परिणत कर दिया जाता है, एक स्थिर मात्रा होता है। इन लोगों ने यह क़िस्सा गढ़ रखा था कि अस्थिर पूंजी की सामग्री, अर्थात् अस्थिर पूंजी मजदूर के लिये जीवन-निर्वाह के साधनों की जिस राशि का प्रतिनिधित्व करती है, वह, या तथाकथित श्रम-कोष, सामाजिक धन का एक बिल्कुल अलग भाग होती है, जिसके परिमाण को प्राकृतिक नियमों ने निर्धारित कर रखा है और जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। सामाजिक धन के जिस भाग को स्थिर पूंजी की भूमिका अदा करनी है, या इसी बात को यदि भौतिक रूप में व्यक्त किया जाये, तो जिस भाग को उत्पादन के साधनों की भूमिका अदा करनी है, उसे गतिमान बनाने के लिये जीवित श्रम की एक निश्चित राशि की आवश्यकता होती है। यह राशि कितनी बड़ी होगी, यह प्रौद्योगिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परन्तु न तो यह ही पहले से निश्चित होता है कि श्रम-शक्ति की इस राशि को प्रवाहमान बनाने के लिये कितने मजदूरों की आवश्यकता होगी (यह संख्या हर अलग-अलग श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा के साथ बदलती रहती है) और न ही इस श्रम-शक्ति का दाम पहले से निश्चित होता है; केवल उसके दाम की अल्पतम सीमा पहले से निश्चित होती है, और उसमें भी बहुत परिवर्तन होता रहता है। इस रूढ़ि की तह में जो तथ्य निहित हैं, वे इस प्रकार हैं: एक ओर तो सामाजिक धन का ग़ैर-मजदूरों के भोग के साधनों और उत्पादन के साधनों में जो विभाजन होता है, मजदूर को उसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होता।[2] दूसरी ओर, केवल बहुत अनुकूल और अपवाद-स्वरूप परिस्थितियों में ही मजदूर धनी की "आय" में कमी करके इस तथाकथित श्रम-कोष में वृद्धि कर सकता है।

---

[1] "अर्थशास्त्री बहुधा यह समझते हैं कि पूंजी की एक ख़ास मात्रा और मजदूरों की एक ख़ास संख्या सदा एक सी शक्ति के उत्पादक यंत्र होती हैं, या वे सदा एक ख़ास ढंग की एक सी तीव्रता के साथ काम करती हैं... जो यह मानते हैं... कि वस्तुएं उत्पादन के एकमात्र तत्त्व हैं ... वे यह सिद्ध करते हैं कि उत्पादन को कभी बढ़ाया नहीं जा सकता, क्योंकि उसको बढ़ाने की यह एक अनिवार्य शर्त होती है कि खाद्य-पदार्थ, कच्चा माल और औज़ार पहले से बढ़ा दिये गये हों, इसका वस्तुतः यह अर्थ होता है कि जब तक उत्पादन में पहले से वृद्धि नहीं हो गयी हो, तब तक उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती या, दूसरे शब्दों में, वृद्धि करना असम्भव है।" (S. Bailey, "*Money and its Vicissitudes*" [एस० बेली, 'मुद्रा और उसके उतार-चढ़ाव'], पृ० ५८ और ७०।) बेली ने मुख्यतया परिचलन की क्रिया के दृष्टिकोण से बेन्थम की रूढ़ि की आलोचना की है।

[2] जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक "*Principles of Political Economy*" ('अर्थशास्त्र के सिद्धान्त') में कहा है: "श्रम के जो प्रकार सचमुच आदमी को थका देने वाले और सचमुच अप्रिय होते हैं, उनके लिये अन्य प्रकारों की अपेक्षा अच्छी मजदूरी नहीं, बल्कि प्रायः सदा ही सबसे कम मजदूरी मिलती है... कोई धंधा जितना अरुचिकर होता है, उसकी उजरत निश्चित रूप से उतनी ही कम होती है... कष्ट और आय के बीच अनुलोम अनुपात नहीं होता, जैसा कि किसी भी न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था में होगा, बल्कि आम तौर पर उनके बीच प्रतिलोम अनुपात का सम्बंध होता है।" यहां ग़लतफ़हमी से बचने के लिये मैं यह भी कह दूं कि यद्यपि जान स्टुअर्ट मिल जैसे व्यक्ति इस बात के दोषी हैं कि उनकी परम्परागत आर्थिक रूढ़ियों और उनकी आधुनिक

श्रम-कोष की पूंजीवादी सीमाओं को उसकी स्वाभाविक एवं सामाजिक सीमाओं के रूप में पेश करने पर कैसी मूर्खतापूर्ण पुनरुक्ति सामने आती है, यह प्रोफ़ेसर फ़ौसेट के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।[1] उन्होंने लिखा है: "किसी देश की चल पूंजी उसका मजदूरी का कोष होती है। इसलिये यदि हम इसका हिसाब लगाना चाहते हैं कि प्रत्येक मजदूर को कितनी औसत नक़द मजदूरी मिलेगी, तो हमें बस इतना ही करना है कि इस पूंजी की कुल रक़म को श्रमजीवी जन-संख्या से भाग दे दें।"[2] मतलब यह हुआ कि विभिन्न मजदूरों को जो अलग-अलग मजदूरियां सचमुच दी जाती हैं, पहले हम उन सबको जोड़ लेते हैं और फिर इस बात की पुष्टि करते हैं कि यह कुल रक़म "श्रम-कोष" के कुल मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे भगवान ने और प्रकृति ने निर्धारित करके हमें दे दिया है। और फिर, अन्त में, हम इस रक़म को मजदूरों की संख्या से भाग देकर यह पता लगा लेते हैं कि हर मजदूर को कितनी औसत मजदूरी मिलती है। बहुत ही धूर्ततापूर्ण झांसा है यह! पर इसके बाद एक ही सांस में मि० फ़ौसेट को यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं हुई कि "इंगलैण्ड में हर वर्ष जो कुल धन बचता है, वह दो भागों में बांट दिया जाता है। एक भाग हमारे उद्योगों को क़ायम रखने के लिये पूंजी की तरह इस्तेमाल किया जाता है, और दूसरे भाग का विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है ... इस देश में हर साल जो धन बचता है, उसका केवल एक अंश ही हमारे अपने उद्योगों में लगाया जाता है, और सम्भवतः यह अंश बड़ा नहीं होता।"[3]

इस प्रकार, हर वर्ष अंग्रेज मजदूर से छल करके जो प्रतिवर्ष बढ़ती हुई अतिरिक्त पैदावार ले ली जाती है,—क्योंकि उसके एवज में उसे कोई सम-मूल्य नहीं मिलता,—वह इंगलैण्ड में नहीं, बल्कि विदेशों में पूंजी की तरह इस्तेमाल की जाती है। परन्तु इस तरह जो अतिरिक्त पूंजी विदेशों को भेज दी जाती है, उसके साथ-साथ भगवान तथा बेन्थम द्वारा आविष्कृत "श्रम-कोष" का एक भाग भी विदेश चला जाता है।[4]

---

प्रवृत्तियों के बीच एक विरोध पाया जाता है, तथापि उनको पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की वकालत करने वाले अप्रमाणिक अर्थशास्त्रियों के रेवड़ में शामिल कर देना बहुत ग़लत होगा।

[1] H. Fawcett, Professor of Political Economy at Cambridge, *"The Economic Position of the British Labourer"* (एच० फ़ौसेट, कैम्ब्रिज में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर, 'ब्रिटिश मजदूर की आर्थिक स्थिति'), London, 1865, पृ० १२०।

[2] मैं यहां पाठक को यह याद दिला दूं कि "अस्थिर पूंजी" और "स्थिर पूंजी" की परिकल्पनाओं का सबसे पहले मैंने प्रयोग किया था। इन परिकल्पनाओं के बीच जो मौलिक अन्तर है, उसे अर्थशास्त्र ने ऐडम स्मिथ के समय से ही उस औपचारिक अन्तर के साथ गड्डमड्ड कर रखा है, जो अचल पूंजी और चल पूंजी के बीच पाया जाता है और जो परिचलन की क्रिया में उत्पन्न होता है। इस विषय की और विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये देखिये दूसरी पुस्तक का भाग २।

[3] H. Fawcett, उप० पु०, पृ० १२२, १२३।

[4] कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड से हर वर्ष न केवल पूंजी का, बल्कि परावासियों के रूप में मजदूरों का भी विदेशों को निर्यात होता है। किन्तु मूल पाठ में परावासियों की निजी सम्पत्ति का कोई प्रश्न नहीं है; उनमें से अधिकतर मजदूर नहीं होते। उनका अधिकांश तो काश्तकारों के बेटों का होता है। हर वर्ष विदेश जाने वाले लोगों की संख्या का देश की जन-संख्या की वार्षिक वृद्धि के साथ जो अनुपात होता है, उसकी तुलना में हर वर्ष जो अतिरिक्त पूंजी ब्याज पर उठायी जाने के लिये विदेशों को भेज दी जाती है, उसका वार्षिक संचय के साथ कहीं अधिक ऊंचा अनुपात होता है।

## पचीसवां अध्याय

# पूंजीवादी संचय का सामान्य नियम

### अनुभाग १ – पूंजी की संरचना के ज्यों की त्यों रहते हुए संचय के साथ-साथ श्रम-शक्ति की मांग का बढ़ जाना

इस अध्याय में हम इस विषय पर विचार करते हैं कि पूंजी की वृद्धि का श्रमजीवी वर्ग की अवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस अन्वेषण का सबसे महत्वपूर्ण तत्व पूंजी की संरचना और उसमें संचय की क्रिया के दौरान में होने वाले परिवर्तन हैं।

पूंजी की संरचना के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं। यदि मूल्य के पक्ष को लिया जाये, तो पूंजी की संरचना इस बात से निर्धारित होती है कि वह स्थिर पूंजी – अथवा उत्पादन के साधनों के मूल्य – और अस्थिर पूंजी – अथवा श्रम-शक्ति के मूल्य या मजदूरी की कुल रक़म – के बीच किस अनुपात में बंटी हुई है। यदि पूंजी की सामग्री के पक्ष को लिया जाये और उसपर इस दृष्टि से विचार किया जाये कि उत्पादन की क्रिया में उसकी क्या भूमिका है, तो सारी पूंजी उत्पादन के साधनों और जीवित श्रम-शक्ति में बंटी रहती है। इस दृष्टि से पूंजी की संरचना इस बात से निर्धारित होती है कि एक तरफ़ तो उत्पादन के जो तमाम साधन इस्तेमाल किये जा रहे हैं, उनकी कुल राशि और दूसरी तरफ़ इन साधनों का इस्तेमाल करने के लिये जितना श्रम आवश्यक होता है, उसकी राशि के बीच क्या सम्बंध है। पहली प्रकार की संरचना को मैंने पूंजी की मूल्य-संरचना और दूसरी प्रकार की संरचना को पूंजी की प्राविधिक संरचना का नाम दिया है। दोनों के बीच एक कड़ा सह-सम्बंध होता है। इस सह-सम्बंध को व्यक्त करने के लिये मैं पूंजी की मूल्य-संरचना को, जिस हद तक कि वह पूंजी की प्राविधिक संरचना से निर्धारित होती है और उसके परिवर्तन को प्रतिबिंबित करती है, पूंजी की सांघटनिक संरचना कहता हूं। जब कभी मैं बिना किसी और विशेषण के केवल पूंजी की संरचना का ज़िक्र करता हूं, तब मेरा मतलब सदा सांघटनिक संरचना से होता है।

उत्पादन की किसी खास शाखा में जो बहुत सी अलग-अलग पूंजियां लगायी जाती हैं, उनकी न्यूनाधिक रूप में एक दूसरे से भिन्न प्रकार की संरचना होती है। उनकी अलग-अलग प्रकार की संरचनाओं का औसत निकालने पर हमें पता चलता है कि उत्पादन की इस शाखा में जो कुल पूंजी लगी हुई है, उसकी संरचना क्या है। अन्तिम बात यह है कि उत्पादन की

तमाम शाखाओं की औसत संरचनाओं का औसत निकालने पर हमें यह मालूम हो जाता है कि किसी देश की कुल सामाजिक पूंजी की संरचना क्या है; और आगे के अन्वेषण में हम अन्त में जाकर केवल इसी संरचना पर विचार करेंगे।

पूंजी की वृद्धि के साथ-साथ उसके अस्थिर अंश में—या श्रम-शक्ति पर खर्च किये गये भाग में—भी वृद्धि होती है। जो अतिरिक्त मूल्य अतिरिक्त पूंजी में बदल दिया गया है, उसके एक भाग को सदा अनिवार्य रूप से अस्थिर पूंजी में, या अतिरिक्त श्रम-कोष में, पुनः रूपान्तरित करना होता है। यदि हम यह मान लें कि अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए पूंजी की संरचना भी ज्यों की त्यों रहती है (अर्थात् उत्पादन के साधनों की एक खास मात्रा को गतिमान बनाने के लिये श्रम-शक्ति की सदा एक सी राशि की आवश्यकता होती है), तब यह स्पष्ट है कि श्रम की मांग और मजदूरों के जीवन-निर्वाह-कोष की मांग उसी अनुपात में बढ़ती जायेगी, जिस अनुपात में पूंजी बढ़ती है, और जिस तेजी से पूंजी बढ़ती है, उसी तेजी से वह भी बढ़ती जायेगी। चूंकि पूंजी हर साल कुछ अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है, जिसका एक भाग हर साल मूल पूंजी में जुड़ जाता है; चूंकि कार्यरत पूंजी का परिमाण बढ़ने के साथ-साथ खुद इस वृद्धि की मात्रा में भी हर साल वृद्धि होती जाती है और, अन्त में, चूंकि धनी बनने के किसी विशेष उत्साह से प्रेरित होकर, जैसे नयी मण्डियों के खुलने पर या नव-विकसित सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप पूंजी लगाने के नये क्षेत्र तैयार हो जाने पर, कभी-कभी केवल अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पैदावार के पूंजी तथा आय के बीच विभाजन के अनुपात में परिवर्तन करके ही यकायक संचय के पैमाने का विस्तार कर दिया जाता है, इसलिये यह मुमकिन है कि संचय होने वाली पूंजी की आवश्यकताएं श्रम-शक्ति की या मजदूरों की संख्या की वृद्धि से आगे निकल जायें, मजदूरों की मांग पूर्ति से ज्यादा हो जाये और इसलिये मजदूरी चढ़ जाये। बल्कि असल में तो यह होना अनिवार्य है, बशर्ते कि ऊपर हमने जिन बातों को मान लिया था, वे ज्यों की त्यों रहें। कारण कि हर वर्ष चूंकि पिछले वर्ष की अपेक्षा अधिक मजदूर नौकर रखे जाते हैं, इसलिये देर या सबेर एक ऐसी अवस्था का आना अनिवार्य है, जब संचय की आवश्यकताएं श्रम की प्रचलित पूर्ति से आगे निकलना आरम्भ करती हैं और इसलिये जब मजदूरी ऊपर चढ़ जाती है। इस बात को लेकर इंगलैण्ड में पन्द्रहवीं सदी में बराबर और अठारहवीं सदी के पहले पचास वर्षों में बड़ी चीख-पुकार हुई थी। मजदूरी पर काम करने वाला वर्ग किन न्यूनाधिक अनुकूल परिस्थितियों में अपना भरण-पोषण तथा पुनरुत्पादन करता है, इससे पूंजीवादी उत्पादन के मौलिक स्वरूप में कोई फ़र्क़ नहीं आता। जिस तरह साधारण पुनरुत्पादन स्वयं पूंजी के सम्बंध का—अर्थात् एक ओर पूंजीपतियों और दूसरी ओर मजदूरी पर काम करने वालों के सम्बंध का—भी लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है, उसी तरह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने का पुनरुत्पादन, अथवा संचय, पूंजी के सम्बंध का उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन करता है, और एक छोर पर अधिकाधिक बड़ी संख्या में या अधिकाधिक बड़े आकार के पूंजीपति पैदा होते जाते हैं और दूसरे छोर पर मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है। ऐसी श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन, जिसके लिये अनिवार्य हो कि वह पूंजी के आत्म-विस्तार के हित में उस पूंजी के साथ हर बार अपना पुनः समावेशन करती जाये, जिसके लिये पूंजी से मुक्ति पाना सम्भव न हो और जिसकी दासता पर केवल इस बात का आवरण पड़ा हो कि उसको बहुत से अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथ अपने को बेचना पड़ता है,—ऐसी श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन, वास्तव में, स्वयं पूंजी

के पुनरुत्पादन का एक आवश्यक अंग होता है। अतएव, पूंजी का संचय सर्वहारा की वृद्धि है।[1]

प्रामाणिक अर्थशास्त्र ने इस तथ्य को ऐसी अच्छी तरह से समझा था कि, जैसा कि हम ऊपर भी बता चुके हैं, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो आदि संचय को और उत्पादक मजदूरों द्वारा अतिरिक्त पैदावार के समस्त पूंजीकृत भाग के उपभोग को, या उसके अतिरिक्त मजदूरों में रूपान्तरित कर दिये जाने को, एक चीज़ समझ बैठे थे। जान बैलेर्स ने १६९६ में ही यह कहा था कि "यदि किसी के पास एक लाख एकड़ जमीन और एक लाख पौण्ड मुद्रा तथा एक लाख ढोर हों, पर मजदूर एक भी न हो, तो यह धनी व्यक्ति मजदूर के सिवा और क्या हो सकता है? और चूंकि मजदूरों के कारण ही आदमी धनी बनता है, इसलिये मजदूर संख्या में जितने अधिक होंगे, धनी आदमियों की संख्या भी उतनी ही बढ़ जायेगी ... ग़रीबों का श्रम धनियों की खानों का काम करता है।"[2] इसी प्रकार बर्नार्ड दे मेंदेवील ने भी अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में यह लिखा था कि "जहां सम्पत्ति भली भांति सुरक्षित है, वहां ग़रीबों के बिना जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मुद्रा के बिना जीवन व्यतीत करना ज्यादा आसान होगा, क्योंकि ग़रीब न होंगे, तो काम कौन करेगा?.. जिस प्रकार उनको (ग़रीबों को) भूखों नहीं मरने देना चाहिये, उसी प्रकार उनको इतना अधिक भी नहीं दिया जाना चाहिये कि वे कुछ बचा सकें। यदि निम्नतम वर्ग का कोई व्यक्ति कभी-कभार असाधारण परिश्रम करके और अपना पेट काटकर उस अवस्था से ऊपर उठने में कामयाब हो जाये, जिसमें वह पला था, तो उसके रास्ते में किसी को रुकावट नहीं डालनी चाहिये; नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक परिवार के लिये सबसे अधिक

---

[1] Karl Marx, उप० पु०। "*A égalité d'oppression des masses, plus un pays a de prolétaires et plus il est riche*" ["यदि जनता के उत्पीड़न की मात्रा ज्यों की त्यों रहे, तो किसी देश में सर्वहारा की संख्या जितनी अधिक होगी, वह देश उतना ही अधिक धनी होगा"] (Colins, "*L'Economie Politique. Source des Révolutions et des Utopies prétendues Socialistes*". Paris, 1857, ग्रंथ ३, पृ० ३३१)। हमारा "सर्वहारा" आर्थिक दृष्टि से मजदूरी पर काम करने वाले उस मजदूर के सिवा और कोई नहीं है, जो पूंजी को पैदा करता है और उसमें वृद्धि करता है और जिसको, जब वह, पेक्वेयर के शब्दों में, "श्रीमान पूंजी" के आत्म-विस्तार की जरूरतों के लिये अनावश्यक हो जाता है, तो तुरन्त उठाकर सड़कों पर फेंक दिया जाता है। "आदिम जंगल का रोगी सर्वहारा" रोश्चेर की एक सुन्दर कल्पना है। आदिम जंगलवासी आदिम जंगल का मालिक होता है, और वह जंगल का अपनी सम्पत्ति के रूप में उसी आज़ादी के साथ इस्तेमाल करता है, जिस आज़ादी के साथ वनमानुस उसका इस्तेमाल करता है। इसलिये उसे सर्वहारा कहना उचित नहीं है। उसे सर्वहारा उसी हालत में कहा जा सकता है, जब वह जंगल का शोषण न करता हो, बल्कि उल्टे जंगल उसका शोषण करता हो। जहां तक उसके स्वास्थ्य का सम्बंध है, उसकी स्थिति न केवल आधुनिक सर्वहारा से बेहतर होती है, बल्कि उपदंश और कंठमाला से रुग्न ऊपरी वर्गों से भी बेहतर होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि जब श्री विल्हेल्म रोश्चेर "आदिम जंगल" की चर्चा करते हैं, तब उनका मतलब असल में केवल लूनेबुर्ग की अपनी वनभूमि से होता है।

[2] John Bellers, उप० पु०, पृ० २।

बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग यही है कि वह मितव्ययिता से काम ले; परन्तु सभी धनी राष्ट्रों का हित इस बात में है कि ग़रीबों का अधिकतर भाग लगभग कभी भी ख़ाली हाथ न बैठने पाये और फिर भी जो कुछ उसे मिले, उसे लगातार ख़र्च करता जाये ... जो लोग रोज़ाना श्रम करके अपनी जीविका कमाते हैं ... उनको काम करने की प्रेरणा केवल अपने अभाव से ही मिलती है, जिसको कुछ कम कर देना तो दूरदर्शिता है, पर बिल्कुल दूर कर देना सरासर मूर्खता है। इसलिये एक ही चीज़ है, जो श्रम करने वाले आदमी को मेहनती बना सकती है,— वह है मुद्रा की एक परिमित मात्रा। कारण कि उसे यदि बहुत कम मात्रा में मुद्रा दी गयी, तो अपने स्वभाव के अनुसार वह या तो हतोत्साहित हो जायेगा और या विद्रोह कर उठेगा, और यदि उसे बहुत अधिक मुद्रा दे दी गयी, तो वह और काहिल बन जायेगा ... ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात स्पष्ट है कि किसी भी ऐसे स्वतंत्र राष्ट्र में, जहां दास रखने की इजाज़त नहीं है, सब से अधिक सुनिश्चित प्रकार का धन मेहनती ग़रीबों की विशाल संख्या के रूप में होता है। कारण कि एक तो वे समुद्री बेड़ों और सेनाओं के लिये अक्षय भण्डार का काम करते हैं और, दूसरे, उनके बिना न तो किसी प्रकार का भोग-विलास हो सकता है और न ही किसी देश की पैदावार मूल्यवान हो सकती है। समाज को" (जिसका अर्थ, ज़ाहिर है, काम न करने वाले लोग ही हैं) "सुखी बनाने के लिये और जनता को बुरी से बुरी हालत में भी संतुष्ट रखने के लिये ज़रूरी है कि उसकी बड़ी संख्या को ग़रीबी के साथ-साथ जहालत में भी रखा जाये। ज्ञान हमारी इच्छाओं के आकार और संख्या दोनों में वृद्धि कर देता है, और आदमी जितनी कम वस्तुओं की इच्छा करता है, उसकी आवश्यकताओं को उतनी ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।"[1] मैंडेवील एक ईमानदार व्यक्ति थे, और उनका दिमाग़ साफ़ था। पर इस समय तक वह यह नहीं समझ पाये थे कि संचय की प्रक्रिया का यंत्र स्वयं पूंजी के साथ-साथ "मेहनती ग़रीबों" की संख्या में, अर्थात् उन मज़दूरों की संख्या में भी वृद्धि करता जाता है, जो अपनी श्रम-शक्ति को बढ़ती हुई पूंजी की आत्म-विस्तार करने की बढ़ती हुई शक्ति में परिणत कर डालते हैं और जो इसके फलस्वरूप ख़ुद अपनी पैदावार के साथ, जिसका मूर्त रूप पूंजीपति होते हैं, अपने अधीनता के सम्बंध को अजर-अमर बना देते हैं। अधीनता के इस सम्बंध की चर्चा करते हुए सर एफ़० एम० ईडेन ने अपनी रचना 'ग़रीबों की हालत, या इंगलैण्ड के श्रमजीवी वर्गों का इतिहास' में कहा है कि "हमारी धरती की प्राकृतिक उपज निश्चय ही हमारे जीवन-निर्वाह के लिये पूरी तरह पर्याप्त नहीं है। हमें न तो पहनने को कपड़े मिल सकते हैं, न रहने को घर मिल सकते हैं और न ही खाने को भोजन मिल सकता है, जब तक कि अतीत में श्रम न किया गया हो। समाज के कम से

---

[1] Bernard de Mandeville, "*The Fable of the Bees*" (बर्नार्द दे मैंदेवील, 'मधुमक्खियों की उपकथा'), ५ वां संस्करण, London, 1728, टिप्पणियां, पृ० २१२, २१३, ३२८। "संयत जीवन व्यतीत करना और हमेशा रोज़ी के लिये जुटे रहना ग़रीबों के लिये विवेक-संगत सुख का" (जिससे लेखक का, बहुत सम्भव है, यही अर्थ है कि काम के दिन बहुत लम्बे हों और बहुत कम खाने-पहनने को मिले) "और राज्य के लिये" (अर्थात् ज़मींदारों, पूंजीपतियों और उनके राजनीतिक पदाधिकारियों तथा अभिकर्ताओं के लिये) "समृद्धि और शक्ति का प्रत्यक्ष मार्ग है।" ("*An Essay on Trade and Commerce*" ['व्यापार और वाणिज्य पर एक निबंध'], London, 1770, पृ० ५४।)

कम एक भाग को तो निरन्तर काम में लगाये रखना चाहिये ... कुछ और लोग हैं, जो हालांकि 'न तो मेहनत और न कताई करते हैं,' फिर भी उद्योग की उपज के मालिक होते हैं। इन लोगों को केवल सभ्यता और व्यवस्था के कारण ही मेहनत करने से छुटकारा मिला हुआ है ... ये लोग विशिष्ट रूप से नागरिक संस्थाओं की सृष्टि होते हैं,[1] जिन्होंने यह सिद्धान्त मान रखा है कि विभिन्न व्यक्ति श्रम करने के अलावा कुछ अन्य उपायों से भी सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं ... जिन व्यक्तियों के पास स्वतंत्र आय के साधन हैं ... उनको यह विशेष सुविधा खुद अपने किसी गुण से प्राप्त नहीं हुई है, बल्कि वह लगभग पूर्णतया ... दूसरों के परिश्रम से उनको मिली है। समाज के सम्पन्न भाग और श्रमजीवी भाग के बीच जो विशेष अन्तर पाया जाता है, वह यह नहीं है कि सम्पन्न भाग भूमि या मुद्रा का स्वामी होता है, बल्कि वह यह है कि उसे दूसरों से श्रम कराने का अधिकार ("the command of labour") प्राप्त होता है... यह योजना (ईडेन द्वारा अनुमोदित योजना) सम्पत्तिवान व्यक्तियों का उन लोगों पर, जो... उनके लिये काम करते हैं, पर्याप्त प्रभाव और अधिकार क़ायम कर देगी (परन्तु वह बहुत ज्यादा अधिकार उनको हरगिज़ नहीं देगी), और यह योजना मजदूरों को निकृष्ट दास नहीं बना देगी, बल्कि उनको ऐसी सहज एवं उदार अधीनता की स्थिति ("a state of easy and liberal dependence") में रखेगी, जो जैसा कि मानव-स्वभाव और उसके इतिहास का ज्ञान रखने वाले सभी लोग मानेंगे, उनके अपने सुख के लिये आवश्यक है।"[2] यहां चलते-चलते यह भी कह दिया जाये कि ऐडम स्मिथ के अठारहवीं सदी के शिष्यों में से एक सर एफ़० एम० ईडेन ही ऐसे हैं, जिन्होंने कोई महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है।[3]

---

[1] यहां पर ईडेन को ख़ुद अपने से यह प्रश्न करना चाहिये था कि फिर ये "नागरिक संस्थाएं" किसकी सृष्टि हैं? उनका दृष्टिकोण क़ानूनी भ्रम का दृष्टिकोण है। इसलिये वह क़ानून को उत्पादन के भौतिक सम्बंधों की उपज नहीं मानते, बल्कि, इसके विपरीत, उत्पादन के सम्बंधों को क़ानून की उपज मानते हैं। मोंतेस्क्यू की भ्रांतिमूलक "Esprit des lois" ("क़ानून की आत्मा") को लिंगुएत ने एक वाक्य से पराजित कर दिया था। उसने कहा था: "L'esprit des lois, c'est la propriété" ("क़ानून की आत्मा तो सम्पत्ति है")।

[2] Eden: "*The State of the Poor, or an History of the Labouring Classes in England*" (ईडेन, "ग़रीबों की हालत, या इंगलैण्ड के श्रमजीवी वर्गों का इतिहास'), खण्ड १, पुस्तक १, अध्याय १, पृ० १, २, और भूमिका, पृ० XX (बीस)।

[3] यदि पाठक इस बात पर मुझे माल्थूस की याद दिलायेंगे, जिनकी रचना "*Essay on Population*" ('जन-संख्या पर निबंध') १७६८ में प्रकाशित हो गयी थी, तो मैं उनको यह याद दिलाऊंगा कि यह पुस्तिका अपनी पहली शकल में दे फ़ो, सर जेम्स स्टीवर्ट, टाउनसेण्ड, फ्रैंकलिन, वैलेस आदि की स्कूली लड़कों जैसी, बहुत सतही ढंग की नक़ल के सिवा और कुछ नहीं है और उसमें एक भी ऐसा वाक्य नहीं है, जो माल्थूस के दिमाग़ की उपज हो। इस पुस्तिका के प्रकाशन से जो सनसनी पैदा हुई थी, उसका एकमात्र कारण दलगत स्वार्थ थे। ब्रिटेन में अनेक व्यक्तियों ने बड़े जोश के साथ फ़्रांसीसी क्रान्ति का समर्थन किया था। इसलिये, जब अठारहवीं सदी में धीरे-धीरे "जन-संख्या के सिद्धान्त" को विकसित किया गया और उसके बाद जब एक सामाजिक संकट के काल में ढोल पीटकर और तुरही बजाकर यह घोषणा की गयी कि यह

संचय की जिन परिस्थितियों को हम अभी तक मानकर चल रहे थे, वे मजदूरों के लिये सब से अधिक अनुकूल परिस्थितियां हैं। उनके रहते हुए मजदूरों का पूंजी के साथ अधीनता का जो सम्बंध होता है, वह सहनीय रूप, या, ईडेन के शब्दों में "सहज और उदार" रूप, धारण

---

सिद्धान्त कौंदोर्सेत आदि की सीख के ज़हर को मारने के लिये एक अचूक दवा का काम करता है, तो अंग्रेज़ अभिजात-तंत्र ने उसका मानव-विकास की समस्त आकांक्षाओं को नष्ट कर देने वाली एक महान शक्ति के रूप में विजयोल्लास के साथ स्वागत किया। माल्थूस को अपनी सफलता पर बहुत आश्चर्य हुआ, और वह झट से अपनी पुस्तक में सतही ढंग से एकत्रित की गयी सामग्री ठूंसने और नया मसाला भरने में जुट गये, जिसको उन्होंने खोजकर नहीं निकाला था, बल्कि दूसरों की पुस्तकों से उठा लिया था। इसके अलावा यह बात भी याद रखनी चाहिये कि यद्यपि माल्थूस इंगलैण्ड के राजकीय चर्च के पादरी थे, फिर भी उन्होंने ब्रह्मचारी का जीवन बिताने की प्रतिज्ञा कर रखी थी: कैम्ब्रिज के प्रोटेस्टेंट विश्वविद्यालय का फ़ैलो होने के लिये यह एक ज़रूरी शर्त थी। "Socios collegiorum maritos esse non permittimus, sed statim postquam quis uxorem duxerit, socius collegii desinat esse" ["हम अपने कालिजों में विवाहित लोगों को फ़ैलो नहीं होने देते। कोई फ़ैलो विवाह कर लेता है, तो वह फ़ैलो नहीं रहता"]("*Reports of Cambridge University Commission*" ["कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट'], पृ० १७२)। इस बात में माल्थूस अन्य प्रोटेस्टेंट पादरियों से श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने पादरियों के ब्रह्मचारी रहने के नियम को ताक़ पर उठाकर रख दिया है और बाइबिल की सीख के अनुसार यही अपना विशिष्ट कर्तव्य समझा है कि "उपजाऊ बनो और नस्ल को बढ़ाओ"। और जो इस उत्साह के साथ इस कर्तव्य का पालन कर रहे हैं कि जन-संख्या की वृद्धि में उनकी देन अशोभनीय सीमा तक पहुंच गयी है। और इसके साथ-साथ वे मजदूरों को "जन-संख्या के सिद्धान्त" के उपदेश सुनाते रहते हैं। यह बात काफ़ी अर्थ रखती है कि मनुष्य का आर्थिक पतन, आदिपुरुष आदम का यह सेब, यह "urgent appetite" ("उग्र भूख") और, जैसा कि पादरी टाउनसेंड ने हास्यपूर्ण ढंग से कहा है, "the checks which tend to blunt the shafts of Cupid" ("वे प्रतिबंध, जो कामदेव के बाणों को कुंठित कर देते हैं"),– इस नाज़ुक सवाल पर प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्र के–या कहना चाहिये, प्रोटेस्टेंट चर्च के–पादरियों ने अपना एकाधिकार जमा रखा है। एक वेनिसवासी ईसाई साधु ओर्तेस को छोड़कर, जो एक मौलिक एवं चतुर लेखक हैं, "जन-संख्या के सिद्धान्त" के अधिकतर प्रचारक प्रोटेस्टेंट पादरी हैं। उदाहरण के लिये, ब्रुकनर की रचना "*Théorie du Système animal*", Leyde, 1767, देखिये, जिसमें जन-संख्या के आधुनिक सिद्धान्त के पूरे विषय का अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और जिसमें इस विषय से सम्बंधित विचार क्वेज़ने तथा उनके शिष्य, बड़े मिराबो के बीच अस्थायी विवाद से उधार लिये गये हैं। उसके बाद, यदि उस धारा के कम महत्त्वपूर्ण पादरी लेखकों की चर्चा न भी की जाय, तो भी पादरी वैलेस, पादरी टाउनसेंड, पादरी माल्थूस और उनके शिष्य, पादरी-शिरोमणि टामस चाल्मर्स का नाम लेना अत्यन्त आवश्यक है। पहले अर्थशास्त्र का अध्ययन किया करते थे हौब्स, लॉक और ह्यूम जैसे दार्शनिक, टोमस मोर, टैम्पिल, सुली, दे विट्ट, नर्थ, ला, वैंडरलिण्ट, कैंतिलों और फ़ैंकलिन जैसे व्यवसायी लोग तथा राजनीतिज्ञ और इस क्षेत्र में विशेष सफलता पाने वाले पेटी, बार्बोन,

कर लेता है। पूंजी के विकास के साथ-साथ अधिकाधिक उग्र रूप धारण करने के बजाय इस परिस्थितियों में पराधीनता का यह सम्बंध केवल अधिक विस्तार प्राप्त कर लेता है, अर्थात् पूंजी का शोषण और शासन का क्षेत्र स्वयं पूंजी के आकार तथा उसकी प्रजा की संख्या के बढ़ने के

---

मैंदेवील और क्वेज़ने जैसे डाक्टर। यहां तक कि १८ वीं सदी के मध्य में भी अपने काल के प्रमुख अर्थशास्त्री, पादरी मि० टुकर ने धन-देवता के क्षेत्र में टांग अड़ाने के लिये क्षमा-याचना की थी। बाद को, और सच पूछिये, तो जन-संख्या के इस सिद्धान्त के सामने आने के साथ-साथ, प्रोटेस्टेंट पादरियों के लिये अपने जौहर दिखाने की घड़ी आ पहुंची। पेटी जन-संख्या को धन का आधार समझते थे और ऐडम स्मिथ की तरह वह भी पादरियों का विरोध करने में कभी नहीं हिचकिचाते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा लगता है, जैसे उनको पहले से ही यह अन्देशा था कि पादरी लोग उनके क्षेत्र में अनाड़ियों की तरह टांग अड़ायेंगे। उन्होंने कहा है कि "धर्म सबसे अधिक उस समय फलता-फूलता है, जब पादरी लोग सबसे अधिक दबे रहते हैं, जैसा कि कभी क़ानून के बारे में कहा गया था कि वह उस वक़्त सबसे ज्यादा पनपता है, जब वकीलों के करने के लिये कम से कम काम होता है।" इसलिये, पेटी ने पादरियों को सलाह दी है कि यदि उन्होंने एक बार सदा के लिये सन्त पाल का अनुसरण न करने और ब्रह्मचर्य का कष्ट न उठाने का निश्चय कर लिया है, तो उन्हें कम से कम इतना तो ख़्याल करना चाहिये कि "देश में जितने पादरियों का गुज़ारा हो सकता है, उससे ज्यादा पादरी न पैदा हो जायें ("not to breed more Churchmen"); यानी यदि इंगलैण्ड और वेल्स में बारह हज़ार पादरियों के लिये स्थान है, तो पाल-पोसकर २४,००० पादरी तैयार कर देना ख़तरे से ख़ाली नहीं है ("it will not be safe to breed up 24,000 ministers"), क्योंकि तब बारह हज़ार की जीविका का कोई प्रबंध न होगा और उनको किसी न किसी ढंग से जीविका कमाने की फ़िक्र पड़ जायेगी, और उसका सबसे आसान तरीक़ा उनको यही दिखाई देगा कि जनता को यह समझाने की कोशिश करें कि जीविका कमा पाने वाले वे बारह हज़ार पादरी लोगों की आत्माओं में विष घोल रहे हैं या उनको आध्यात्मिक दृष्टि से भूखा मार रहे हैं और उनको स्वर्ग का मार्ग दिखाने के बजाय गुमराह कर रहे हैं" (पेटी, 'करों और अनुदानों के विषय में एक प्रबंध', London, 1667, पृ० ५७।) ऐडम स्मिथ के बारे में उनके काल के प्रोटेस्टेंट पादरियों की राय निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। नोरविच के बिशप डा० होर्ने ने "*A Letter to A. Smith, L. L. D. On the Life, Death, ana Philosophy of his Friend, David Hume. By one of the People called Christians*" ['ऐ० स्मिथ, एल० एल० डी०, के नाम उनके मित्र, डैविड ह्यूम के जीवन, मृत्यु एवं दर्शन के विषय में एक पत्र। ईसाई कहलाने वाले लोगों में से एक के द्वारा लिखित'] (चौथा संस्करण, Oxford, 1784) में ऐडम स्मिथ को इस बात के लिये फटकारा है कि उन्होंने मि० स्ट्रैहेन के नाम प्रकाशित एक पत्र में "अपने मित्र डैविड" (अर्थात् ह्यूम) की "स्मृति को अमर बना दिया था" और दुनिया को बताया था कि किस प्रकार "मृत्युशय्या पर भी ह्यूम लुसियन की रचनाएं पढ़कर और ताश खेलकर अपना दिल बहलाया करते थे," और उन्होंने ह्यूम के बारे में यह तक लिखने की भी जुरअत की थी कि "मैंने उनके जीवन-काल में तथा उनकी मृत्यु के बाद सदा यह समझा है कि मानव-दुर्बलताओं के स्वरूप को देखते हुए जहां तक सम्भव हो सकता है, ह्यूम एक पूर्णतया बुद्धिमान एवं सदाचारी मनुष्य

**साथ-साथ केवल विस्तार में ही बढ़ता है। पूंजी के प्रजाजनों की अतिरिक्त पैदावार बराबर बढ़ती जाती है और लगातार अतिरिक्त पूंजी में रूपान्तरित होती रहती है। परन्तु उसका एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग भुगतान के साधनों की शकल में खुद उन्हीं के पास लौट आता है, जिससे वे अपने भोग और आनन्द के क्षेत्र का विस्तार कर सकते हैं, कपड़ों, फ़र्नीचर आदि के अपने उपभोग-कोष में कुछ वृद्धि कर सकते हैं और कुछ मुद्रा आरक्षित कोष के रूप में बचा सकते हैं। परन्तु जिस प्रकार यदि दास को पहले से कुछ अच्छा कपड़ा, भोजन आदि मिलने लगता है और उसके साथ मालिक के बरताव में कुछ सुधार हो जाता है तथा उसके पास कुछ अधिक सम्पत्ति (peculium) हो जाती है, तो उससे दास का शोषण समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार इन बातों से मजदूर का शोषण ख़तम नहीं होता। पूंजी के संचय के फलस्वरूप श्रम के दाम में जो वृद्धि हो जाती**

---

की परिकल्पना के मूर्त रूप थे।" बिशप महोदय आगबबूला होकर चिल्ला उठते हैं: "श्रीमान, क्या आपने यह कोई सही काम किया है कि एक ऐसे व्यक्ति के **चरित्र** तथा **आचरण** को 'पूर्णतया बुद्धिमान एवं सदाचारी' व्यक्ति के चरित्र एवं आचरण के रूप में हमारे सामने पेश किया है, जिसको लगता है, जैसे उन तमाम बातों से चिढ़ थी जिनको हम **धर्म** कहते हैं, जिसमें इस चिढ़ ने एक असाध्य रोग का रूप धारण कर लिया था, और जिसने मनुष्यों के हृदय में धर्म की भावना को दबाने, कुचलने और जड़ से मिटा देने के लिये अपनी एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया था, और जिसका यदि बस चलता, तो लोग धर्म का नाम तक भूल जाते?" (उप० पु०, पृ० ८) "परन्तु सत्य के प्रेमियों को हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। अनीश्वरवाद बहुत दिनों तक ज़िन्दा नहीं रह सकता" (पृ० १७)। ऐडम स्मिथ "के मन में इतना घोर पाप ("the atrocious wickedness") भरा हुआ था कि उन्होंने सारे देश में अनीश्वरवाद का प्रचार किया (मिसाल के लिये "*Theory of Moral Sentiments*" ['नैतिक भावनाओं का सिद्धान्त'] का उल्लेख किया जा सकता है)। मोटे तौर पर, डाक्टर, आपका उद्देश्य अच्छा है, परन्तु मैं समझता हूं, इस बार आपको सफलता नहीं मिलेगी। आप श्री डैविड ह्यूम का उदाहरण देकर हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि निराशा की एकमात्र दवा ("cordial") और मृत्यु-भय का सही इलाज अनीश्वरवाद है ... आपको चाहिये कि **बाबुल** के ध्वंसावशेषों को देखकर मुसकराया करें और सख़्तजान **फ़िरऔन** को लाल सागर तक पहुंचने के लिये बधाई दें" (उप० पु०, पृ० २१, २२)। ऐडम स्मिथ के कालिज के दिनों के एक परम्परानिष्ठ मित्र ने उनकी मृत्यु के बाद लिखा है: "स्मिथ के हृदय में ह्यूम के लिये बड़ा स्नेह था और ह्यूम इसके पात्र भी थे... परन्तु इस स्नेह ने उनको ईसाई नहीं रहने दिया ... ऐडम स्मिथ जब कभी किन्हीं ऐसे ईमानदार व्यक्तियों से मिलते थे, जो उनको अच्छे लगते थे, .. तो वे लगभग जो कुछ भी कहते थे, वह उसपर तुरन्त विश्वास कर लेते थे। यदि वह सुयोग्य एवं चतुर होरोक्स के मित्र होते, तो वह इस बात पर भी विश्वास कर लेते कि आकाश में मेघों का एक टुकड़ा न होने पर भी चन्द्रमा कभी-कभी आंखों से ओझल हो जाता है ... अपने राजनीतिक सिद्धान्तों में वह प्रजातंत्रवाद के निकट पहुंच गये थे" ("*The Bee*". By James Anderson ['मधुमक्खी'। जेम्स ऐण्डर्सन द्वारा लिखित], १८ खण्ड, Edinburgh, 1791-93; तीसरा खण्ड, पृ० १६६, १६५)। पादरी टोमस चाल्मर्स को सन्देह है कि ऐडम स्मिथ ने "अनुत्पादक मजदूरों" की कोटि का केवल प्रोटेस्टेंट पादरियों के लिये आविष्कार किया था, हालांकि वे परमात्मा के बग़ीचे में बड़े सवाब का काम करते हैं।

है, उसका असल में केवल इतना ही मतलब होता है कि मजदूर ने अपने लिये सोने की जो जंजीर गढ़कर तैयार की है, उसकी लम्बाई तथा वजन इतना अधिक बढ़ गये हैं कि अब उसको पहले जितना कसकर बांधने की जरूरत नहीं है। इस विषय पर जितना वाद-विवाद हुआ है, उसमें मुख्य तथ्य यानी पूंजीवादी उत्पादन का differentia specifica (वह विशिष्ट गुण, जो उसे अन्य उत्पादन-व्यवस्थाओं से अलग करता है) प्रायः अनदेखा कर दिया गया है। आजकल श्रम-शक्ति इस उद्देश्य से नहीं बेची जाती कि वह अपनी सेवा अथवा अपनी पैदावार के द्वारा खरीदार की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करेगी। खरीदार का उद्देश्य तो अपनी पूंजी में वृद्धि करना होता है; उसका उद्देश्य ऐसे मालों का उत्पादन करना होता है, जिनमें जितने श्रम के उसने दाम दिये हैं, उससे ज्यादा श्रम लगा हो और इसलिये जिनके मूल्य में एक ऐसा भाग हो, जिसके एवज में उसको कुछ भी न देना पड़ा हो और जो फिर भी मालों की बिक्री होने पर उसे प्राप्त हो जाता हो। अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन, उत्पादन की इस प्रणाली का निरपेक्ष नियम है। श्रम-शक्ति उसी हद तक बिक्री के योग्य होती है, जिस हद तक कि वह उत्पादन के साधनों को पूंजी के रूप में सुरक्षित रखती है, खुद अपने मूल्य का पूंजी के रूप में पुनरुत्पादन कर देती है और अपने अवेतन श्रम को अतिरिक्त पूंजी के स्रोत के रूप में सौंप देती है।[1] इसलिए, श्रम-शक्ति की बिक्री जिन शर्तों पर होती है, वे मजदूर के लिये चाहे कम और चाहे ज्यादा अनुकूल हों, उनमें यह बात अवश्य शामिल होती है कि श्रम-शक्ति की निरन्तर और बार-बार बिक्री होती रहनी चाहिये और समस्त प्रकार के धन का पूंजी के रूप में सदा बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं, मजदूरी का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे पाने के लिये मजदूर को सदा एक निश्चित मात्रा में अवेतन श्रम करना पड़ता है। इस बात के अलावा कि श्रम का दाम गिर जाने की हालत में भी मजदूरी में वृद्धि हो सकती है, इत्यादि, इस प्रकार की वृद्धि का अच्छी से अच्छी परिस्थिति में भी कुल मिलाकर केवल इतना ही अर्थ होता है कि मजदूर को जो अवेतन श्रम करना पड़ता है, उसमें थोड़ी परिमाणात्मक कमी आ जाती है। पर यह कमी कभी उस बिन्दु तक नहीं पहुंच सकती, जहां उससे पूरी व्यवस्था के लिये ही खतरा पैदा हो जाये। मजदूरी की दर के सवाल को लेकर जो भयानक झगड़े छिड़ जाते हैं, उनके अलावा (और ऐडम स्मिथ ने पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी है कि इस प्रकार के झगड़ों में, कुल मिलाकर, सदा मालिक का ही पलड़ा भारी रहता है), पूंजी के संचय से श्रम के दाम में जो वृद्धि होती है, उसके कारण निम्नलिखित दो वैकल्पिक परिस्थितियों में से एक सामने आती है।

या तो श्रम का दाम ऊपर चढ़ता जाता है, क्योंकि उसके ऊपर चढ़ने से संचय की प्रगति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं है, क्योंकि, ऐडम स्मिथ के शब्दों

---

[1] "कारीगर और खेत-मजदूर, दोनों में से कोई भी हो, उससे काम लेने की सीमा एक ही बात से निश्चित होती है; वह बात यह है कि मालिक को कारीगर या खेत-मजदूर की मेहनत के फल से मुनाफ़ा कमाने की कितनी सम्भावना दिखाई देती है। यदि मजदूरी की दर ऐसी है कि उसके कारण मालिक का मुनाफ़ा पूंजी के औसत मुनाफ़े के स्तर से भी नीचे रह जाता है, तो वह इन खेत-मजदूरों या कारीगरों से काम लेना बन्द कर देगा या केवल इस शर्त पर उनसे काम लेगा कि वे मजदूरी में कटौती मंजूर कर ले।" (John Wade, उप० पु०, पृ० २४१।)

में, "इनके (मुनाफ़ों के) घट जाने के बाद भी न केवल यह सम्भव है कि पूंजी में वृद्धि होती जाये, बल्कि यह भी मुमकिन है कि उसमें पहले से ज्यादा तेजी के साथ वृद्धि होने लगे... बड़े मुनाफ़े वाली छोटी पूंजी की अपेक्षा छोटे मुनाफ़े वाली बड़ी पूंजी आम तौर पर ज्यादा तेजी से बढ़ती है" (उप० पु०, खण्ड २, पृ० १८६)। इस सूरत में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अवेतन श्रम में जो कमी आती है, उससे पूंजी के क्षेत्र के विस्तार में कोई बाधा नहीं पड़ती।—और या, दूसरी ओर, यह हो सकता है कि श्रम के दाम की वृद्धि के कारण संचय की गति धीमी पड़ जाये, क्योंकि उससे नफ़ा कमाने की आशा से पहले जो पूंजी के संचय की प्रेरणा मिलती थी, वह कुंठित हो जाती है। संचय की दर धीमी पड़ जाती है, परन्तु उसके धीमी पड़ जाने पर दर कम होने का मुख्य कारण खतम हो जाता है, अर्थात् पूंजी तथा शोषण-योग्य श्रम-शक्ति के बीच जो विषमता पैदा हो गयी थी, वह नहीं रहती। पूंजीवादी उत्पादन-क्रिया का यंत्र अस्थायी रूप से जिन बाधाओं को खड़ा करता है, उनको खुद ही मिटा देता है। श्रम का दाम कम होकर फिर उस स्तर पर आ जाता है, जो पूंजी के आत्म-विस्तार की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है, चाहे वह स्तर मजदूरी में वृद्धि होने के पहले वाले सामान्य स्तर से नीचा हो, या ऊंचा हो, या उसके बराबर हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहली सूरत में श्रम-शक्ति अथवा श्रमजीवी जन-संख्या की निरपेक्ष अथवा सानुपातिक वृद्धि की गति में कमी आ जाने के कारण पूंजी आवश्यकता से अधिक नहीं हो जाती, बल्कि, इसके विपरीत, पूंजी के अत्यधिक हो जाने के कारण शोषण-योग्य श्रम-शक्ति अपर्याप्त हो जाती है। दूसरी सूरत में श्रम-शक्ति अथवा श्रमजीवी जन-संख्या की निरपेक्ष अथवा सानुपातिक वृद्धि की गति के बढ़ जाने के कारण पूंजी अपर्याप्त नहीं हो जाती, बल्कि, इसके विपरीत, पूंजी में जो तुलनात्मक कमी आ जाती है, उसके कारण शोषण-योग्य श्रम-शक्ति, या कहना चाहिये कि उसका दाम आवश्यकता से अधिक हो जाता है। पूंजी के संचय का यह निरपेक्ष उतार-चढ़ाव ही शोषण-योग्य श्रम-शक्ति की कुल राशि के सापेक्ष उतार-चढ़ाव के रूप में प्रतिबिम्बित होता है और इसलिये श्रम-शक्ति की स्वतन्त्र गतिविधि का परिणाम जैसा लगता है। गणित की भाषा में कहा जाये, तो संचय की दर परतंत्र चर नहीं होती, बल्कि स्वतंत्र चर होती है, और मजदूरी की दर स्वतंत्र चर न होकर परतंत्र चर होती है। चुनांचे, जब औद्योगिक चक्र संकट की अवस्था में होता है, तब मालों के दामों में जो आम गिराव आता है, वह मुद्रा के मूल्य के ऊपर चढ़ जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है, और समृद्धि की अवस्था में मालों के दामों में जो आम उभार आता है, वह मुद्रा के मूल्य के गिर जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है। तथाकथित "Currency School" ("चलार्थ मत") के अर्थशास्त्रियों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि जब दाम ऊंचे होते हैं, तब बहुत कम मुद्रा परिचलन में होती है, और जब दाम नीचे होते हैं, तब बहुत ज्यादा मुद्रा चालू रहती है। इन लोगों के अज्ञान तथा तथ्यों की ग़लत समझ[1] का मुक़ाबला केवल उन अर्थशास्त्रियों के अज्ञान और नासमझी से ही किया जा सकता है, जो संचय से सम्बंधित उपरोक्त घटनाओं का यह अर्थ लगाते हैं कि समाज में मजदूरों की संख्या कभी तो आवश्यकता से कम हो जाती है और कभी आवश्यकता से अधिक रह जाती है।

---

[1] देखिये Karl Marx, "*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*" (कार्ल मार्क्स, 'अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास'), पृ० १६६ और उसके आगे के पृष्ठ।

जन-संख्या के तथाकथित "प्राकृतिक नियम" की तह में पूंजीवादी उत्पादन का जो नियम सचमुच काम करता है, वह केवल यह है कि पूंजी के संचय और मजदूरी की दर का सह-सम्बंध पूंजी में रूपान्तरित अवेतन श्रम और इस अतिरिक्त पूंजी को गतिमान बनाने के लिये आवश्यक अतिरिक्त सवेतन श्रम के सह-सम्बंध के सिवा और कुछ नहीं है। अतएव, यह दो ऐसी मात्राओं का सम्बंध नहीं है, जो एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, यानी यह एक ओर पूंजी की मात्रा और दूसरी ओर श्रमजीवी जन-संख्या का सम्बंध नहीं है; बल्कि, अगर इसकी तह तक जाइये, तो पता चलता है कि यह उसी श्रमजीवी जन-संख्या के केवल अवेतन और सवेतन श्रम का सम्बंध है। मजदूर-वर्ग जो अवेतन श्रम करता है और जिसका पूंजीपति-वर्ग संचय करता जाता है, उसकी मात्रा यदि इतनी तेजी से बढ़ने लगती है कि उसको पूंजी में रूपान्तरित करने के लिये सवेतन श्रम में असाधारण वृद्धि करना जरूरी हो जाता है, तो मजदूरी की दर बढ़ जाती है और अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए अवेतन श्रम उसी अनुपात में घट जाता है। परन्तु जैसे ही वह घटते-घटते उस बिंदु पर पहुंच जाता है, जहां पूंजी का पोषण करने वाले अतिरिक्त श्रम का सामान्य मात्रा में मिलना बन्द हो जाता है, वैसे ही उल्टी क्रिया आरम्भ हो जाती है: तब आय के पहले से छोटे भाग का पूंजीकरण होने लगता है, संचय धीमा पड़ जाता है और मजदूरी की दर का ऊपर चढ़ना रुक जाता है। इसलिये, मजदूरी की दर केवल उन्हीं सीमाओं के भीतर ऊपर चढ़ सकती है, जिनके भीतर न सिर्फ़ पूंजीवादी व्यवस्था की बुनियादें सुरक्षित रहती हैं, बल्कि साथ ही इस व्यवस्था का उत्तरोत्तर बढ़े पैमाने पर पुनरुत्पादन होता रहता है। पूंजीवादी संचय का नियम, जिसे अर्थशास्त्रियों ने एक तथाकथित प्राकृतिक नियम में बदल दिया है, वास्तव में केवल इतना ही कहता है कि खुद संचय के स्वरूप के कारण श्रम के शोषण की मात्रा में कोई ऐसी कमी नहीं आ सकती और श्रम के दाम में कोई ऐसी वृद्धि नहीं हो सकती, जिससे पूंजीवादी सम्बंधों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर निरन्तर पुनरुत्पादन के लिये कोई गम्भीर ख़तरा पैदा हो जाये। उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली में, जहां भौतिक धन मजदूर के विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नहीं होता, बल्कि, इसके विपरीत, जहां मजदूर पहले से मौजूद मूल्यों के आत्म-विस्तार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विद्यमान होता है, —ऐसी प्रणाली में और कुछ नहीं हो सकता। जिस प्रकार धर्म के क्षेत्र में मनुष्य पर स्वयं उसके मस्तिष्क की पैदावार शासन करती है, उसी प्रकार पूंजीवादी उत्पादन में स्वयं उसके हाथ की पैदावार उसपर शासन करती है।[1]

---

[1] "अब यदि हम फिर अपने पहले विवेचन पर लौट आयें, जिससे यह ज्ञात हुआ था कि पूंजी स्वयं केवल मानव-श्रम का फल होती है, तो ... यह बात क़तई समझ में नहीं आती कि मनुष्य पर पूंजी का, ख़ुद उसकी पैदावार का आधिपत्य क़ायम हो सकता है और वह उसके अधीन बन सकता है; और चूंकि वास्तव में निर्विवाद रूप से यही बात हो गयी है, इसलिये बरबस यह सवाल दिमाग़ में आता है कि मजदूर, जो पूंजी का मालिक था, क्योंकि उसने पूंजी को पैदा किया था, उसका गुलाम कैसे बन गया?" (Von Thünen *"Der isolierte Staat"*, भाग २, अनुभाग २, Rostock, 1863, पृ० ५, ६।) ठूनेन इसके लिये प्रशंसनीय हैं कि उन्होंने यह प्रश्न किया। परन्तु इस प्रश्न का उन्होंने जो उत्तर दिया है, वह बिल्कुल बचकाना है।

## अनुभाग २ – संचय की प्रगति और उसके साथ चलने वाली संकेंद्रण की क्रिया के साथ-साथ पूंजी के अस्थिर अंश की मात्रा में सापेक्ष कमी

स्वयं अर्थशास्त्रियों के मतानुसार, मजदूरी में वृद्धि न तो सामाजिक धन के वास्तविक विस्तार के कारण और न ही उस पूंजी के परिमाण के कारण होती है, जो पहले से काम कर रही है, बल्कि वह केवल संचय की निरन्तर प्रगति और इस प्रगति की तेजी के कारण होती है (ऐडम स्मिथ ['राष्ट्रों का धन'], पुस्तक १, अध्याय ८)। अभी तक हमने इस प्रक्रिया की केवल एक विशेष अवस्था पर ही विचार किया है। यह अवस्था यह है, जिसमें पूंजी की संरचना के स्थिर रहते हुए पूंजी की वृद्धि होती है। लेकिन यह प्रक्रिया इस अवस्था से आगे बढ़ जाती है।

जब एक बार पूंजीवादी व्यवस्था का सामान्य आधार स्थापित हो जाता है, तो संचय के दौरान में एक ऐसा बिंदु आता है, जब सामाजिक श्रम की उत्पादकता का विकास संचय का सब से अधिक शक्तिशाली लीवर बन जाता है। ऐडम स्मिथ ने लिखा है: "जिस कारण से श्रम की मजदूरी बढ़ जाती है, उसी कारण से, – अर्थात् पूंजी की वृद्धि से, – श्रम की उत्पादक शक्तियां भी बढ़ने लगती हैं और श्रम की पहले से छोटी मात्रा पहले से अधिक मात्रा में काम निबटाने लगती है।"

प्राकृतिक परिस्थितियों के अलावा, जैसे भूमि की उर्वरता आदि, और स्वतंत्र रूप से तथा अलग-अलग काम करने वाले उत्पादकों की निपुणता के अलावा (जो उनकी पैदावार की मात्रा की अपेक्षा उसकी गुणात्मक श्रेष्ठता में ज्यादा अभिव्यक्त होती है), किसी भी समाज में श्रम की उत्पादकता की मात्रा इस बात में व्यक्त होती है कि एक मजदूर एक निश्चित समय में श्रम-शक्ति के पहले जितने तनाव के साथ काम करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से कितने अधिक उत्पादन के साधनों को पैदावार में बदल देता है। इस प्रकार, वह उत्पादन के जिन साधनों को रूपान्तरित कर देता है, उनकी राशि उसके श्रम की उत्पादकता के साथ-साथ बढ़ती जाती है। परन्तु उत्पादन के ये साधन दोहरी भूमिका अदा करते हैं। कुछ साधनों की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के कारण होती है, कुछ की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के लिये आवश्यक होती है। उदाहरण के लिये, हस्तनिर्माण में श्रम का विभाजन हो जाने और मशीनों के प्रयोग के कारण उतने ही समय में पहले से ज्यादा कच्चा माल इस्तेमाल किया जाता है और इसलिये पहले से ज्यादा मात्रा में कच्चा माल और सहायक पदार्थ श्रम-प्रक्रिया में प्रवेश कर जाते हैं। यह बढ़ती हुई श्रम-उत्पादकता का परिणाम होता है। दूसरी ओर, अधिक संख्या में मशीनें, बोझा ढोने के पशु, रासायनिक खाद, पानी बाहर निकालने के पाइप आदि श्रम की उत्पादकता की वृद्धि के लिये आवश्यक होते हैं। मकानों, भट्ठियों, परिवहन के साधनों आदि में संकेन्द्रित उत्पादन के साधनों के लिये भी यही बात सच है। परन्तु चाहे उत्पादन के साधनों की वृद्धि श्रम की उत्पादकता के बढ़ने का कारण हो और चाहे वह उसका परिणाम हो, उत्पादन के साधनों में समाविष्ट होने वाली श्रम-शक्ति की तुलना में इन साधनों का जो विस्तार होता है, उसके द्वारा श्रम की बढ़ती हुई उत्पादकता अभिव्यक्त होती है। अतएव, उत्पादकता में जो वृद्धि होती है, वह इस रूप में सामने आती है कि श्रम की राशि उत्पादन के उन साधनों की राशि की तुलना में घट जाती है, जिनको वह श्रम गतिमान बनाता है; या यूं कहिये कि वह इस रूप में सामने आती है कि श्रम-प्रक्रिया के वस्तुगत तत्व की तुलना में वैयक्तिक तत्व में कमी आ जाती है।

पूंजी की प्राविधिक संरचना में इस तरह जो परिवर्तन आता है, उत्पादन के साधनों में जान डालने वाली श्रम-शक्ति की कुल राशि की तुलना में इन साधनों की कुल राशि में जो वृद्धि हो जाती है,—वह पुनः पूंजी की मूल्य-रचना में प्रतिबिंबित होती है। वह इस तरह कि पूंजी का अस्थिर संघटक अंश कम हो जाता है और स्थिर अंश बढ़ जाता है। मिसाल के लिये, मुमकिन है कि शुरू में किसी पूंजी का ५० प्रतिशत भाग उत्पादन के साधनों में लगाया गया हो और ५० प्रतिशत श्रम-शक्ति पर खर्च किया गया हो, पर बाद को, श्रम की उत्पादकता का विकास हो जाने पर, उसका ८० प्रतिशत भाग उत्पादन के साधनों पर खर्च होने लगे और २० प्रतिशत श्रम-शक्ति पर; और आगे भी इसी तरह का परिवर्तन हो सकता है। अस्थिर पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की उत्तरोत्तर वृद्धि के इस नियम की मालों के दामों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर हर क़दम पर (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है) पुष्टि होती जाती है, उसके लिये हम चाहे भिन्न-भिन्न आर्थिक युगों की और चाहे एक ही युग में अलग-अलग राष्ट्रों की तुलना करें। दाम का जो तत्व केवल उत्पादन के साधनों के मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है या जो केवल खर्च कर डाली गयी पूंजी के स्थिर अंश का प्रतिनिधित्व करता है, उसका सापेक्ष परिमाण संचय की प्रगति के अनुलोम अनुपात में होता है, जब कि दाम के उस दूसरे तत्व का सापेक्ष परिमाण (या पूंजी के अस्थिर अंश का सापेक्ष परिमाण), जिसके द्वारा श्रम को उजरत दी जाती है, संचय की प्रगति के प्रतिलोम अनुपात में होता है।

किन्तु पूंजी के स्थिर अंश की तुलना में उसके अस्थिर अंश में जो कमी आती है, या पूंजी की मूल्य-संरचना में जो परिवर्तन आ जाता है, उससे केवल यही प्रकट होता है कि पूंजी के भौतिक संघटकों की संरचना में लगभग क्या परिवर्तन हो गया है। मिसाल के लिये, कताई में आजकल जो पूंजी-मूल्य इस्तेमाल होता है, यदि उसका $\frac{७}{८}$ भाग स्थिर है और $\frac{१}{८}$ अस्थिर है, जब कि, उसके मुक़ाबले में, १८ वीं सदी के आरम्भ में उसका आधा भाग स्थिर और आधा भाग अस्थिर हुआ करता था, तो, दूसरी ओर, अठारहवीं सदी के आरम्भ में कताई के श्रम की एक निश्चित मात्रा कच्चे माल, श्रम के औज़ारों आदि की जितनी बड़ी राशि को उत्पादक ढंग से खर्च कर देती थी, आज वह उनकी उससे कई सौ गुनी राशि को खर्च कर डालती है। इसका कारण केवल यह है कि श्रम की उत्पादकता के बढ़ने के साथ-साथ न केवल उसके द्वारा खर्च कर दिये गये उत्पादन के साधनों की राशि बढ़ती जाती है, बल्कि उनकी राशि की तुलना में उनका मूल्य घटता जाता है। इसलिये, उनका मूल्य निरपेक्ष दृष्टि से तो बढ़ जाता है, पर उनकी राशि के अनुपात में नहीं बढ़ता। अतएव स्थिर पूंजी उत्पादन के साधनों की जिस राशि में रूपान्तरित कर दी जाती है और अस्थिर पूंजी श्रम-शक्ति की जिस राशि में बदल दी जाती है, इन दो राशियों के अन्तर में जितनी अधिक वृद्धि हो जाती है, उसकी अपेक्षा स्थिर तथा अस्थिर पूंजी के अन्तर में बहुत कम वृद्धि होती है। दूसरे प्रकार का अन्तर पहले प्रकार के अन्तर के साथ-साथ बढ़ता है, पर उससे कम मात्रा में।

परन्तु यदि संचय की प्रगति से पूंजी के अस्थिर अंश का सापेक्ष परिमाण कम हो जाता है, तो यह कदापि नहीं होता कि ऐसा होने से उसके निरपेक्ष परिमाण में वृद्धि होने की सारी सम्भावना खतम हो जाती हो। मान लीजिये कि एक पूंजी-मूल्य पहले ५० प्रतिशत स्थिर और ५० प्रतिशत अस्थिर पूंजी में बांटा गया था और बाद को वह ८० प्रतिशत स्थिर और २० प्रतिशत अस्थिर पूंजी में बांट दिया जाता है। यदि इस बीच में मूल पूंजी, जो, मान लीजिये,

६,००० पौण्ड थी, बढ़कर १८,००० पौण्ड हो गयी है, तो जाहिर है कि उसका अस्थिर संघटक भी बढ़ गया होगा। पहले वह ३,००० पौण्ड था, तो अब वह ३,६०० पौण्ड हो गया होगा। परन्तु जहां पहले श्रम की मांग में २० प्रतिशत की वृद्धि करने के लिये पूंजी में २० प्रतिशत की वृद्धि काफ़ी थी, अब उसके लिये मूल पूंजी को तिगुना करना पड़ेगा।

चौथे भाग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार सामाजिक श्रम की उत्पादकता के विकास के लिये बड़े पैमाने की सहकारिता का पहले से विद्यमान होना आवश्यक होता है; किस प्रकार इस तरह की सहकारिता के आधार पर ही श्रम का विभाजन और संयोजन संगठित किया जा सकता है और उत्पादन के साधनों का एक विशाल पैमाने पर संकेन्द्रण करके उनकी बचत की जा सकती है; किस प्रकार केवल इसी आधार पर श्रम के ऐसे औज़ारों का जन्म होता है, जिनका स्वरूप ही ऐसा होता है कि उनका सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, जैसे कि मशीनों की संहति से काम लिया जा सकता है; किस प्रकार इस आधार पर प्रकृति की विराट शक्तियों को उत्पादन की सेवा में लगा देना सम्भव होता है और किस प्रकार इस आधार पर उत्पादन की प्रक्रिया को विज्ञान के प्रौद्योगिक उपयोग का रूप दिया जा सकता है। मालों के उत्पादन के आधार पर, जहां उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होता है और जहां इसलिये कारीगर या तो औरों से अलग तथा स्वतंत्र रूप से माल तैयार करता है और या अपनी श्रम-शक्ति को माल के रूप में बेच देता है, क्योंकि उसके पास स्वतंत्र उद्योग के साधन नहीं होते,—ऐसी परिस्थिति में बड़े पैमाने की सहकारिता केवल अलग-अलग पूंजियों की वृद्धि में ही मूर्त रूप धारण कर सकती है, या यूं कहिये कि वह केवल उसी अनुपात में अमल में आ सकती है, जिस अनुपात में सामाजिक उत्पादन के साधन और जीवन-निर्वाह के साधन पूंजीपतियों की निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाते हैं। मालों के उत्पादन के आधार पर बड़े पैमाने का उत्पादन केवल पूंजीवादी रूप में ही सम्भव है। इसलिये उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली के लिये मालों के अलग-अलग उत्पादकों के पास पूंजी का कुछ संचय पहले से ही आवश्यक होता है। अतः हमें यह मानकर चलना पड़ा था कि यह संचय दस्तकारी के पूंजीवादी उद्योग में रूपान्तरित होने के दौरान में हो जाता है। इसे आदिम संचय कहा जा सकता है क्योंकि यह विशिष्टतया पूंजीवादी उत्पादन का ऐतिहासिक परिणाम नहीं, बल्कि उसका ऐतिहासिक आधार होता है। यह खुद किस तरह आरम्भ होता है, यहां पर इसकी छान-बीन करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं है। यहां तो इतना जान लेना ही काफ़ी है कि आदिम संचय प्रस्थान-बिन्दु का काम करता है। परन्तु इस आधार पर श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति को बढ़ाने के जितने तरीक़े निकाले जाते हैं, वे इसके साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य या अतिरिक्त पैदावार का उत्पादन बढ़ाने के भी तरीक़े होते हैं, जो खुद संचय का सृजनात्मक तत्व होता है। और इसलिये वे पूंजी से पूंजी का उत्पादन करने के, या उसका पहले से तेज़ गति से संचय करने के भी तरीक़े होते हैं। अतिरिक्त मूल्य का पूंजी में जो निरन्तर पुनःरूपान्तरण होता रहता है, वह अब उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करने वाली पूंजी के परिमाण की वृद्धि का रूप धारण कर लेता है। यह चीज़ खुद उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने का आधार बन जाती है; यह चीज़ श्रम की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के उन नये-नये तरीक़ों का आधार बन जाती है, जो उसके साथ-साथ निकलते रहते हैं; यह चीज़ अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में तेज़ी लाने का आधार बन जाती है। इसलिये, अगर एक ख़ास मात्रा तक पूंजी का संचित हो जाना उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली की एक आवश्यक शर्त प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर यह

प्रणाली खुद पूंजी के संचय को और तेज कर देती है। इसलिये, पूंजी के संचय के साथ-साथ उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली विकसित होती जाती है और उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास के साथ-साथ पूंजी का संचय बढ़ता जाता है। ये दोनों आर्थिक तत्व एक दूसरे को जो प्रोत्साहन देते रहते हैं, उसके भिन्न-अनुपात में वे पूंजी की प्राविधिक संरचना में वह परिवर्तन पैदा कर देते हैं, जिससे उसका अस्थिर संघटक स्थिर संघटक की तुलना में सदा अधिकाधिक कम होता जाता है।

प्रत्येक अलग-अलग पूंजी में उत्पादन के साधनों का बड़ा या छोटा संकेन्द्रण होता है, और उसके अनुसार उस पूंजी को छोटी या बड़ी श्रम-सेना से काम लेने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक संचय नये संचय का साधन बन जाता है। पूंजी का काम करने वाले धन की राशि के बढ़ने के साथ-साथ संचय अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथों में इस धन के संकेन्द्रण को बढ़ाता जाता है और उसके द्वारा बड़े पैमाने के उत्पादन का और पूंजीवादी उत्पादन की विशिष्ट पद्धतियों के आधार का विस्तार करता जाता है। बहुत सी अलग-अलग पूंजियों के विकास के फलस्वरूप सामाजिक पूंजी का विकास होता है। अन्य बातों के समान रहते हुए अलग-अलग पूंजियां और उनके साथ-साथ उत्पादन के साधनों का संकेन्द्रण उस अनुपात में बढ़ता है, जिस अनुपात में ये पूंजियां सामाजिक पूंजी का अशेषभाजक भाग होती हैं। इसके साथ-साथ मूल पूंजियों के कुछ हिस्से अलग होकर नयी और स्वतंत्र पूंजियों के रूप में काम करने लगते हैं। अन्य कारणों के अलावा पूंजीवादी परिवारों में होने वाला सम्पत्ति का बंटवारा भी इस क्रिया में बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। इसलिये पूंजी के संचय के साथ-साथ पूंजीपतियों की संख्या में भी न्यूनाधिक वृद्धि होती जाती है। इस संकेन्द्रण की, जो प्रत्यक्ष रूप से संचय के आधार पर होता है, या कहना चाहिये कि जो वही चीज है, जो संचय है, दो विशेषताएं होती हैं। पहली यह कि अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथों में उत्पादन के सामाजिक साधनों का बढ़ता हुआ संकेन्द्रण इस बात से सीमित होता है कि सामाजिक धन में कितनी वृद्धि हुई है। दूसरी बात यह है कि सामाजिक पूंजी का जो भाग उत्पादन के प्रत्येक अलग-अलग क्षेत्र में होता है, वह बहुत से पूंजीपतियों के बीच बंट जाता है, जो एक दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले, मालों के स्वतंत्र उत्पादकों के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होते हैं। अतएव, संचय और उसके साथ-साथ होने वाला संकेन्द्रण न केवल बहुत से बिंदुओं पर बिखर जाते हैं, बल्कि नयी पूंजियों के निर्माण तथा पुरानी पूंजियों के उपविभाजन से प्रत्येक कार्यरत पूंजी की वृद्धि भी होती जाती है। इसलिये, संचय एक ओर तो उत्पादन के साधनों और श्रम से काम लेने के अधिकार के बढ़ते हुए संकेन्द्रण के रूप में सामने आता है, और, दूसरी ओर, वह बहुत सी अलग-अलग पूंजियों के पारस्परिक प्रतिकर्षण के रूप में प्रकट होता है।

समाज की कुल पूंजी का जो इस तरह बहुत सी अलग-अलग पूंजियों में विभाजन हो जाता है, या उसके अंशों के बीच जो पारस्परिक प्रतिकर्षण की क्रिया चलती है, पारस्परिक आकर्षण उसका प्रतिकार करता है। इस आकर्षण से हमारा अर्थ उत्पादन के साधनों के और श्रम से काम लेने के अधिकार के उस साधारण संकेन्द्रण से नहीं है, जो वही चीज होता है, जो संचय है। यह पहले से निर्मित पूंजियों का संकेन्द्रण, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अन्त, पूंजीपति द्वारा पूंजीपति का अपहरण, बहुत सी छोटी-छोटी पूंजियों का इनी-गिनी बड़ी पूंजियों में परिणत होना है। यह क्रिया पहली क्रिया से इस बात में भिन्न होती है कि इसके लिये केवल पहले से विद्यमान एवं

कार्यरत पूंजी के वितरण में परिवर्तन होना आवश्यक होता है। इसलिये उसका कार्य-क्षेत्र सामाजिक धन की निरपेक्ष वृद्धि से या संचय की निरपेक्ष सीमाओं से सीमित नहीं होता। इस क्रिया में तो पूंजी एक स्थान पर इस कारण एक विशाल राशि के रूप में एक हाथ में जमा हो जाती है कि दूसरे स्थान पर वह बहुत से हाथों से निकल गयी है। संचय और संकेन्द्रण से बिल्कुल अलग यह केन्द्रीयकरण की क्रिया है।

पूंजियों के केन्द्रीयकरण के नियमों का, या पूंजी द्वारा पूंजी के आकर्षण के नियमों का यहां पर विकास नहीं किया जा सकता। कुछ तथ्यों की ओर संकेत भर कर देना ही पर्याप्त होगा। प्रतियोगिता की लड़ाई मालों को सस्ता करके लड़ी जाती है। Caeteris paribus (अन्य बातों के समान रहते हुए) मालों का सस्तापन श्रम की उत्पादकता पर निर्भर करता है, और वह खुद उत्पादन के पैमाने पर निर्भर करती है। इसलिये बड़ी पूंजियां छोटी पूंजियों को हरा देती हैं। पाठक को यह भी याद होगा कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का विकास होने पर पूंजी की उस अल्पतम मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जो सामान्य परिस्थितियों में व्यवसाय चालू रखने के लिये आवश्यक होती है। इसलिये अपेक्षाकृत छोटी पूंजियां उत्पादन के प्रायः उन क्षेत्रों में घुस जाती हैं, जिनपर आधुनिक उद्योग केवल कहीं-कहीं या अपूर्ण ढंग से ही अधिकार कर पाया है। यहां परस्पर विरोधी पूंजियों की संख्या के अनुलोम अनुपात में और उनके परिमाणों के प्रतिलोम अनुपात में प्रतियोगिता चलती है। उसका फल सदा यह होता है कि बहुत से छोटे-छोटे पूंजीपति तबाह हो जाते हैं और उनकी पूंजियां कुछ हद तक तो उनके विजेताओं के हाथों में चली जाती हैं और कुछ हद तक ग़ायब हो जाती हैं। इसके अलावा, पूंजीवादी उत्पादन का विकास होने पर बिल्कुल नयी शक्ति का जन्म हो जाता है, — वह है साख-प्रणाली। शुरू में* ऋण-व्यवस्था संचय के एक साधारण सहायक के रूप में चुपचाप समाज में घुस आती है और समाज की सतह पर हर जगह छोटी या बड़ी मात्राओं में मुद्रा के संसाधनों को अदृश्य धागों से खींचकर अलग-अलग या सम्बद्ध पूंजीपतियों के हाथों में इकट्ठा कर देती है। परन्तु शीघ्र ही ऋण-व्यवस्था प्रतियोगिता के संघर्ष में एक नये और ख़ौफ़नाक हथियार का काम करने लगती है, और अन्त में तो वह अपने को पूंजियों के केन्द्रीयकरण के एक विशाल सामाजिक यंत्र में रूपान्तरित कर देती है।

जिस अनुपात में पूंजीवादी उत्पादन तथा संचय का विकास होता जाता है, उसी अनुपात में केन्द्रीयकरण के दो सबसे शक्तिशाली लीवरों का — प्रतियोगिता और साख-प्रणाली का — भी विकास होता जाता है। इसके साथ-साथ संचय की प्रगति के फलस्वरूप उस सामग्री की वृद्धि हो जाती है, जिसका केन्द्रीयकरण किया जा सकता है; अर्थात् अलग-अलग पूंजियों की वृद्धि हो जाती है। उधर पूंजीवादी उत्पादन का विस्तार उन विराट औद्योगिक उद्यमों के लिये, जिनको खड़ा करने के वास्ते यह ज़रूरी होता है कि पहले से पूंजी का केन्द्रीयकरण हो गया हो, एक ओर अगर सामाजिक मांग पैदा कर देता है, तो दूसरी ओर उनके लिये प्राविधिक साधन भी तैयार कर देता है। इसलिये आज अलग-अलग पूंजियों के पारस्परिक आकर्षण की शक्ति और केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति जितनी मज़बूत हैं, उतनी पहले कभी नहीं थीं। लेकिन केन्द्रीयकरण की क्रिया का विस्तार

---

*यहां से ("शुरू में ऋण-व्यवस्था" से) पृ० ७०४ पर "संचित हो गयी होंगी" वाक्यांश तक अंग्रेज़ी पाठ को और अतः हिन्दी पाठ को चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार बदल दिया गया है। — सम्पा०

और तेजी यदि किसी हद तक इस बात से निर्धारित होती हैं कि पूंजीवादी धन कितना बढ़ गया है और आर्थिक यंत्र श्रेष्ठता के किस स्तर पर पहुंच गया है, तो आर्थिक केन्द्रीयकरण की प्रगति इस बात पर हरगिज निर्भर नहीं करती कि सामाजिक पूंजी के परिमाण में कितनी सकारात्मक वृद्धि हो गयी है। केन्द्रीयकरण और संकेन्द्रण की क्रियाओं का यही एक विशिष्ट भेद है, क्योंकि संकेन्द्रण केवल परिवर्द्धित पैमाने के पुनरुत्पादन का ही दूसरा नाम है। केन्द्रीयकरण महज पहले से मौजूद पूंजियों के वितरण में कुछ परिवर्तन के द्वारा सम्पन्न हो सकता है; वह केवल सामाजिक पूंजी के संघटकों के परिमाणात्मक विन्यास में कुछ परिवर्तनों के द्वारा हो सकता है। ऐसी सूरत में बहुत से व्यक्तियों के हाथों से निकलकर पूंजी एक बड़ी राशि में एक हाथ में संचित हो सकती है। यदि उद्योग की किसी खास शाखा में लगी हुई तमाम अलग-अलग पूंजियां एक अकेली पूंजी में एकीकृत हो जायें, तो उस शाखा में केन्द्रीयकरण अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है।[1] कोई विशेष समाज केन्द्रीयकरण की चरम सीमा पर केवल उस वक़्त पहुंचेगा, जब समस्त सामाजिक पूंजी या तो किसी एक अकेले पूंजीपति के हाथ में, या किसी एक अकेली कम्पनी के हाथ में एकीभूत हो जायेगी।

केन्द्रीयकरण औद्योगिक पूंजीपतियों को अपनी कार्रवाइयों का पैमाना बढ़ाने के योग्य बनाकर संचय के कार्य को पूरा करता है। यह लक्ष्य चाहे संचय के द्वारा प्राप्त हो और चाहे केन्द्रीयकरण के द्वारा; केन्द्रीयकरण चाहे बलपूर्वक अधिकारकरण की उस क्रिया के द्वारा सम्पन्न हो, जिसमें कुछ पूंजियां अन्य पूंजियों के लिये आकर्षण का ऐसा केन्द्र बन जाती हैं कि वे उनका व्यक्तिगत संसंजन भंग कर देती हैं और उनके बिखरे हुए टुकड़ों को अपनी ओर खींच लेती हैं, और चाहे अनेक ऐसी पूंजियों का एकीकरण, जो या तो पहले से मौजूद हैं और या जिनका निर्माण हो रहा है, स्टाक-कम्पनियां बनाने के अपेक्षाकृत अधिक सहज मार्ग पर चलकर सम्पन्न हो, दोनों सूरतों में आर्थिक परिणाम एक सा होता है। हर जगह औद्योगिक संस्थापनों का परिवर्द्धित पैमाना बहुत से संस्थापनों के सामूहिक श्रम का अधिक व्यापक रूप में संगठन करने के लिये, उसकी भौतिक चालक शक्तियों का अधिक व्यापक विकास करने के लिये,—दूसरे शब्दों में, प्रचलित ढंग से कार्यान्वित की जाने वाली अलग-अलग उत्पादन-क्रियाओं को अधिकाधिक सामाजिक रूप से संयुक्त और वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित उत्पादन-क्रियाओं का रूप देने के लिये प्रस्थान-बिंदु का काम करता है।

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि संचय की क्रिया, अर्थात् वृत्ताकार रूप से कुन्तलाकार रूप धारण करते हुए पुनरुत्पादन के द्वारा पूंजी की क्रमिक वृद्धि की क्रिया केन्द्रीयकरण की तुलना में बहुत धीमी क्रिया होती है। केन्द्रीयकरण के लिये तो केवल इतना ही आवश्यक होता है कि सामाजिक पूंजी के अभिन्न अंगों के परिमाणात्मक समूहन में हेर-फेर कर दे। यदि दुनिया को उस वक़्त का इन्तजार करना पड़ता, जब कि संचय के द्वारा कुछ अलग-अलग पूंजियां रेल बनाने के योग्य हो जातीं, तो आज भी दुनिया में रेलों का अभाव ही होता। दूसरी ओर, केन्द्रीयकरण ने स्टाक-कम्पनियां बनवाकर आन की आन में यह काम पूरा कर दिया। इस प्रकार, संचय के

---

[1] चौथे जर्मन संस्करण का नोट: इंगलैण्ड और अमरीका के नवीनतम "ट्रस्ट" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अभी से यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उद्योग की किसी एक शाखा में कम से कम तमाम बड़ी कम्पनियों को जोड़कर एक ऐसी विशाल स्टाक-कम्पनी क़ायम कर दी जाये, जिसे व्यावहारिक एकाधिकार प्राप्त हो।—फ़्रे० एं०

प्रभावों में तेजी लाकर और उनकी तीव्रता को बढ़ाकर केन्द्रीयकरण साथ ही पूंजी की प्राविधिक संरचना में होने वाले उन क्रान्तिकारी परिवर्तनों में भी तेजी ला देता है और उनका विस्तार कर देता है, जिनके फलस्वरूप पूंजी के अस्थिर अंश में कमी आ जाती है और स्थिर अंश में वृद्धि हो जाती है और इस तरह श्रम की सापेक्ष मांग घट जाती है।

केन्द्रीयकरण पूंजी की जिन राशियों का रातोरात एकीकरण कर देता है, वे पूंजी की अन्य राशियों की ही तरह अपना पुनरुत्पादन तथा विस्तार करती हैं। अन्तर केवल यह होता है कि ये राशियां अपना पुनरुत्पादन तथा विस्तार ज्यादा तेजी से करती हैं और इस तरह सामाजिक संचय का एक नया एवं शक्तिशाली लीवर बन जाती हैं। इसलिये, आजकल अगर कभी सामाजिक संचय की प्रगति की चर्चा की जाती है, तो अव्यक्त रूप से यह भी मान लिया जाता है कि केन्द्रीयकरण का प्रभाव भी उसमें शामिल है।

सामान्य संचय के दौरान में जिन अतिरिक्त पूंजियों का निर्माण होता है (देखिये चौबीसवां अध्याय, अनुभाग १), वे मुख्यतया नये आविष्कारों और नयी खोजों से और आम तौर पर सभी प्रकार के औद्योगिक सुधारों से लाभ उठाने के साधनों का काम करती हैं। किन्तु पुरानी पूंजी के लिये भी आखिर वह घड़ी आ ही जाती है, जब उसे सिर से पैर तक अपना नवीकरण करना पड़ता है, जब उसे अपनी पुरानी केंचुल उतारकर फेंक देनी पड़ती है और जब उसका भी अपने परिष्कृत प्राविधिक रूप में नवजन्म होता है, जिस रूप में पहले से कम मात्रा का श्रम पहले से अधिक परिमाण की मशीनों और कच्चे माल को गतिमान बना देने के लिये पर्याप्त होता है। इसके फलस्वरूप आवश्यक रूप से श्रम की मांग में जो निरपेक्ष कमी आ जाती है, वह स्पष्टतया उतनी ही बड़ी होगी, जितनी कि कायाकल्प की इस क्रिया में से गुजरने वाली ये पूंजियां केन्द्रीयकरण की क्रिया के द्वारा पहले ही से बड़ी-बड़ी राशियों में संचित हो गयी होंगी।

इसलिये, एक तरफ़ तो संचय के दौरान में निर्मित अतिरिक्त पूंजी अपने परिमाण की तुलना में अधिकाधिक कम मजदूरों को अपनी ओर आकर्षित करती है। दूसरी तरफ़, पुरानी पूंजी, जिसका एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार उसकी संरचना में परिवर्तन करके पुनरुत्पादन किया जाता है, अधिकाधिक संख्या में अपने पुराने मजदूरों को अपने पास से हटाती जाती है।

## अनुभाग ३—सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या या औद्योगिक रिज़र्व सेना का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ उत्पादन

शुरू में ऐसा लगता था कि पूंजी के संचय के दौरान में उसका केवल परिमाणात्मक विस्तार ही होता है। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, पूंजी का संचय उसकी संरचना में उत्तरोत्तर होने वाले गुणात्मक परिवर्तनों के द्वारा सम्पन्न होता है; वह इस तरह सम्पन्न होता है कि पूंजी के स्थिर संघटक में लगातार वृद्धि होती जाती है और उसका अस्थिर संघटक लगातार घटता जाता है।[1]

---

[1] तीसरे जर्मन संस्करण का नोट: मार्क्स की प्रतिलिपि में यहां पर यह पार्श्व-टिप्पणी मिलती है: "बाद में विस्तार के साथ विवेचन करने के लिये यहां यह बात ध्यान में

उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली, श्रम की उत्पादक शक्ति का तदनुरूप विकास और इसके फलस्वरूप पूंजी की सांघटनिक संरचना में पैदा हो जाने वाला परिवर्तन – ये सारी बातें केवल उसी गति के साथ सामने नहीं आतीं, जिस गति के साथ संचय की प्रगति होती है, या सामाजिक धन में वृद्धि होती है। उनका कहीं अधिक तीव्र गति से विकास होता है, क्योंकि साधारण संचय या समाज की कुल पूंजी में होने वाली निरपेक्ष वृद्धि के साथ-साथ यह कुल पूंजी जिन अलग-अलग पूंजियों का जोड़ है, उनका केन्द्रीयकरण भी होता जाता है, और क्योंकि अतिरिक्त पूंजी की प्रौद्योगिक संरचना में जो परिवर्तन आता है, उसके साथ-साथ मूल पूंजी की प्रौद्योगिक संरचना में भी उसी प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। इसलिये, संचय की प्रगति के साथ-साथ अस्थिर पूंजी के साथ स्थिर पूंजी का अनुपात बदल जाता है। शुरू में यदि, मान लीजिये, १ : १ का अनुपात था, तो उत्तरोत्तर २ : १, ३ : १, ४ : १, ५ : १, ७ : १ इत्यादि का अनुपात होता जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि जैसे-जैसे पूंजी में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उसके कुल मूल्य के $\frac{१}{२}$ भाग के बजाय केवल $\frac{१}{३}$, $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{५}$, $\frac{१}{६}$, $\frac{१}{८}$ इत्यादि भाग ही श्रम-शक्ति में रूपान्तरित किया जाता है और दूसरी ओर $\frac{२}{३}$, $\frac{३}{४}$, $\frac{४}{५}$, $\frac{५}{६}$, $\frac{७}{८}$ इत्यादि भाग उत्पादन के साधनों में बदल दिया जाता है। चूंकि श्रम की मांग कुल पूंजी की मात्रा से नहीं, बल्कि केवल उसके अस्थिर संघटक की मात्रा से निर्धारित होती है, इसलिये कुल पूंजी के बढ़ने के साथ-साथ यह मांग उसके अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसा कि हमने पहले मान रखा था, बल्कि वह उत्तरोत्तर घटती जाती है। कुल पूंजी के परिमाण की तुलना में यह मांग कम हो जाती है, और जैसे-जैसे कुल पूंजी का परिमाण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे यह मांग अधिकाधिक तेज़ रफ़्तार के साथ घटती जाती है। कुल पूंजी में वृद्धि होने पर उसका अस्थिर संघटक या उसमें समाविष्ट श्रम भी बढ़ता है, पर लगातार घटते हुए अनुपात में बढ़ता है। वे अन्तर्कालीन अवधियां छोटी हो जाती हैं, जिनमें संचय केवल एक निश्चित प्राविधिक आधार पर उत्पादन का साधारण विस्तार करता है। मजदूरों की अतिरिक्त संख्या को काम में लगाने के लिये, या यहां तक कि पुरानी पूंजी के अनवरत रूपान्तरण के कारण पहले से काम में लगे हुए मजदूरों को काम पर लगाये रखने के लिये भी कुल पूंजी के पहले से तेज़ गति के संचय की आवश्यकता होती है और ज़रूरी होता है कि संचय की गति उत्तरोत्तर अधिक तेज़ होती जाये,– हम केवल इतना ही नहीं पाते हैं। इस बढ़ते हुए संचय और केन्द्रीयकरण के फलस्वरूप पूंजी की संरचना में नये परिवर्तन हो जाते हैं और उसके स्थिर संघटक की तुलना में उसका अस्थिर संघटक और भी तेज़ गति से घटने लगता है। कुल पूंजी की पहले से तेज़ वृद्धि के साथ-साथ उसके अस्थिर संघटक में जो यह पहले से तेज़ तुलनात्मक कमी आती है और जो कमी कुल पूंजी की वृद्धि की गति से अधिक तीव्र गति से बढ़ती है, वह दूसरे ध्रुव पर इसका उल्टा रूप धारण कर लेती है, और लगता है, जैसे श्रमजीवी जन-संख्या में निरपेक्ष वृद्धि होती जा रही

---

रखो: यदि पूंजी का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तो व्यवसाय की उसी शाखा में बड़ी पूंजी लगाने पर बड़ा मुनाफ़ा होगा और छोटी पूंजी लगाने पर छोटा मुनाफ़ा होगा। यदि परिमाणात्मक विस्तार से गुणात्मक परिवर्तन भी हो जाता है तो उसके साथ-साथ ज़्यादा बड़ी पूंजी के मुनाफ़े की दर भी बढ़ जायेगी।" –फ़्रे० एं०

है, और वह भी ऐसी तीव्र गति से कि अस्थिर पूंजी या रोजगार देने के साधनों की वृद्धि की गति सदा उस से पीछे रहती है। परन्तु वास्तव में तो पूंजीवादी संचय खुद ही लगातार मजदूरों की एक अपेक्षाकृत अनावश्यक संख्या का उत्पादन करता रहता है, अर्थात् पूंजी के आत्म-विस्तार की औसत आवश्यकताओं के लिये जो जन-संख्या पर्याप्त होती है, पूंजीवादी संचय उससे बड़ी जन-संख्या का, जो इस कारण अतिरिक्त जन-संख्या होती है, उत्पादन करता रहता है, और यह उत्पादन वह स्वयं अपनी ऊर्जा और विस्तार के प्रत्यक्ष अनुपात में करता है।

यदि सामाजिक पूंजी पर उसकी समग्रता में विचार किया जाये, तो हम देखते हैं कि उसके संचय की क्रिया कभी तो न्यूनाधिक रूप में समूची पूंजी पर असर डालने वाले नियतकालिक परिवर्तन पैदा करती है और कभी एक ही समय में उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में इस क्रिया की अलग-अलग अवस्थाएं दिखाई देने लगती हैं। कुछ क्षेत्रों में पूंजी के निरपेक्ष परिमाण में कोई वृद्धि नहीं होती, पर साधारण केन्द्रीयकरण के फलस्वरूप उसकी संरचना में परिवर्तन हो जाता है; कुछ अन्य क्षेत्रों में पूंजी की निरपेक्ष वृद्धि के साथ-साथ अस्थिर संघटक में, या वह पूंजी जिस श्रम-शक्ति का अवशोषण करती है, उसमें निरपेक्ष कमी आ जाती है; अन्य क्षेत्रों में पूंजी कुछ समय तक तो अपने पुराने प्राविधिक आधार पर बढ़ती रहती है, और अपनी वृद्धि के अनुपात में अतिरिक्त श्रम-शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करती है, पर उसके बाद उसमें सांघटनिक परिवर्तन हो जाता है और उसके अस्थिर संघटक में कमी आ जाती है; सभी क्षेत्रों में पूंजी के अस्थिर भाग में और इसलिये वह जिन मजदूरों से काम लेती है, उनकी संख्या में जो भी वृद्धि होती है, वह सदा जबर्दस्त उतार-चढ़ाव और अतिरिक्त जन-संख्या के क्षणिक उत्पादन के साथ जुड़ी होती है, – यह चीज चाहे पहले से काम में लगे हुए मजदूरों को जवाब मिल जाने के अधिक स्पष्ट रूप में सामने आये और चाहे वह इस अपेक्षाकृत कम स्पष्ट, किन्तु उतने ही वास्तविक रूप में सामने आये कि प्रचलित तरीक़ों के द्वारा अतिरिक्त जन-संख्या को हजम करना पहले से बहुत कठिन हो जाता है।[1] पहले से कार्यरत सामाजिक पूंजी के परिमाण तथा उसकी वृद्धि

---

[1] इंगलैण्ड और वेल्स की जन-गणना के आंकड़ों से पता चलता है: खेती में लगे सभी व्यक्तियों की (जिनमें जमींदार, काश्तकार, माली, गड़रिये आदि शामिल थे) संख्या १८५१ में २०,११,४४७ थी और १८६१ में १६,२४,११० हो गयी थी, यानी उसमें ८७,३३७ की कमी आ गयी थी। बटे हुए ऊन का सामान तैयार करने के धंधे में लगे हुए तमाम-व्यक्तियों की संख्या १८५१ में १,०२,७१४ थी और १८६१ में ७६,२४२ रह गयी थी। रेशम की बुनाई में १८५१ में १,११,६४० व्यक्ति काम करते थे, १८६१ में उनकी संख्या १,०१,६७८ रह गयी थी। दरेस की छपाई के धंधे में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या १८५१ में १२,०६८ थी, और १८६१ में १२,५५६ हो गयी थी, – इस उद्योग का जितना जबर्दस्त विकास हुआ था, उसको देखते हुए मजदूरों की संख्या की यह वृद्धि बहुत ही कम थी, और उसका अर्थ यह था कि आनुपातिक दृष्टि से इस धंधे में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में बहुत बड़ी कमी आ गयी थी। टोप बनाने के धंधे में काम करने वालों की संख्या १८५१ में १५,६५७ थी, १८६१ में वह १३,८१४ रह गयी थी। सूखी घास के टोप और जनानी टोपियां बनाने के व्यवसाय में यह संख्या १८५१ में २०,३६३ थी और १८६१ में १८,१७६। जौ की शराब बनाने के धंधे में यह संख्या १८५१ में १०,५६६ और १८६१ में १०,६७७ थी। मोमबत्तियां

**की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ, उत्पादन के पैमाने का विस्तार होने तथा पूंजी जिन मजदूरों को गतिमान बनाती है, उनकी संख्या के बढ़ने के साथ-साथ, इन मजदूरों के श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होने के साथ-साथ और धन के सभी स्रोतों की व्यापकता एवं पूर्णता में वृद्धि होने के साथ-साथ पूंजी और भी बड़े पैमाने पर पहले से अधिक मजदूरों को अपनी ओर आकर्षित करने के साथ-साथ उनको पहले से ज्यादा जोर से अपने से दूर धकेलने लगती है, इसके साथ-साथ पूंजी की सांघटनिक संरचना में और उसके प्राविधिक रूप में पहले से ज्यादा तेजी के साथ परिवर्तन होने लगते हैं और उत्पादन के क्षेत्रों की एक बढ़ती हुई संख्या कभी एक साथ और कभी बारी-बारी से इस परिवर्तन की लपेट में आने लगती है। इसलिये, श्रम करने वाली जन-संख्या पूंजी के संचय के साथ-साथ उन साधनों को भी पैदा करती जाती है, जो खुद इस जन-संख्या को तुलनात्मक दृष्टि से अनावश्यक बना देते हैं और जो उसे सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या में परिणत कर देते हैं; और इन साधनों को वह सदा एक बढ़ते हुए परिमाण में पैदा करती जाती है।[1]**

---

बनाने के धंधे में काम करने वालों की संख्या १८५१ में ४,९४९ थी और १८६१ में ४,६८६ रह गयी थी, – अन्य कारणों के अलावा इस कमी का एक कारण यह भी था कि लोग गैस की रोशनी इस्तेमाल करने लगे थे। कंघे बनाने के धंधे में काम करने वालों की संख्या १८५१ में २,०३८ और १८६१ में १,४७८ थी। आराकशों की तादाद १८५१ में ३०,५५२ थी और १८६१ में ३१,६४७, – यह थोड़ी सी वृद्धि लकड़ी काटने की मशीनों की संख्या में वृद्धि आ जाने के कारण हुई थी। कीलें बनाने के उद्योग में १८५१ में २६,९४० व्यक्ति काम करते थे और १८६१ में २६,१३०, – यह कमी मशीनों की प्रतियोगिता के कारण आ गयी थी। टिन और ताम्बे की खानों में काम करने वालों की संख्या १८५१ में ३१,३६० थी और १८६१ में ३२,०४१। दूसरी ओर, सूत की कताई और बुनाई के उद्योग में काम करने वालों की संख्या १८५१ में ३,७१,७७७ थी और १८६१ में ४,५६,६४६ तक पहुंच गयी थी; कोयले की खानों में काम करने वालों की तादाद १८५१ में १,८३,३८९ थी और १८६१ में २,४६,६१३ तक पहुंच गयी थी। "१८५१ के बाद से मजदूरों की संख्या में सबसे अधिक वृद्धि आम तौर पर उद्योग की ऐसी शाखाओं में हुई है, जिनमें अभी तक मशीनों का प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है।" (*"Census of England and Wales for 1861"* ['इंगलैण्ड और वेल्स की १८६१ की जन-गणना'], खण्ड ३, London, 1863 पृ० ३६।)

[1] [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया नोट:** अस्थिर पूंजी के सापेक्ष परिमाण में जो उत्तरोत्तर कमी आती जाती है और मजदूरी पर काम करने वालों के वर्ग की स्थिति पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, उनके नियम का प्रामाणिक मत के कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने कुछ-कुछ आभास तो पाया है, पर पूरी तरह समझा नहीं है। इस मामले में सबसे बड़ी सेवा जान बार्टन ने की थी, हालांकि दूसरे लोगों की तरह उन्होंने भी स्थिर तथा अचल और अस्थिर तथा चल पूंजी को गड्डमड्ड कर दिया है। बार्टन ने लिखा है: "श्रम की मांग चल पूंजी की वृद्धि पर निर्भर करती है, अचल पूंजी की वृद्धि पर नहीं। यदि यह बात सच होती कि इन दो प्रकार की पूंजियों के बीच हर समय और हर परिस्थिति में एक सा अनुपात रहता है, तो निश्चय ही उससे यह निष्कर्ष निकलता कि काम पर लगे मजदूरों की संख्या राज्य के धन के अनुपात में होती है। परन्तु इस प्रकार की प्रस्थापना में तो सम्भाव्यता का आभास तक नहीं है। धंधों का जैसे-जैसे विकास होता है, संस्कृति का जैसे-

जन-संख्या का यह नियम उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का एक विशिष्ट नियम है, और सच तो यह है कि उत्पादन की प्रत्येक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रणाली के जन-संख्या के अपने विशेष नियम होते हैं, जो केवल उसी प्रणाली की सीमाओं के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य होते हैं। जन-संख्या का निरपेक्ष नियम केवल पौधों और पशुओं पर लागू होता है, और वह भी केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि मनुष्य ने उनके मामले में हस्तक्षेप नहीं किया है।

परन्तु यदि श्रमजीवियों की एक अतिरिक्त जन-संख्या पूंजीवादी आधार पर धन के संचय अथवा विकास की अनिवार्य उपज है, तो यह अतिरिक्त जन-संख्या उलट कर पूंजीवादी संचय का लीवर भी बन जाती है,—नहीं, बल्कि कहना चाहिये कि वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त बन जाती है। यह अतिरिक्त जन-संख्या एक औद्योगिक रिज़र्व सेना का रूप धारण कर लेती है, जिसपर पूंजी का ऐसा परमाधिकार होता है कि मानो स्वयं पूंजी ने ही उसे अपने ख़र्चे से पाल-पोसकर तैयार किया हो। जन-संख्या में सचमुच कितनी वृद्धि होती है, उसकी सीमाओं से स्वतंत्र होकर यह अतिरिक्त जन-संख्या पूंजी के आत्म-विस्तार की बदलती हुई आवश्यकताओं के लिये मानव-सामग्री की एक ऐसी राशि का सृजन कर देती है, जिसका सदैव ही शोषण किया जा सकता है। संचय और उसके साथ श्रम की उत्पादकता का जो विकास होता है, उनके साथ-साथ पूंजी की यकायक विस्तार कर जाने

---

जैसे विस्तार होता है, वैसे-वैसे चल पूंजी की तुलना में अचल पूंजी का अनुपात बढ़ता जाता है। अंग्रेज़ी मलमल के एक थान के उत्पादन में जो अचल पूंजी इस्तेमाल होती है, उसका परिमाण उसी प्रकार की हिन्दुस्तानी मलमल के एक थान के उत्पादन में इस्तेमाल होने वाली अचल पूंजी के परिमाण से कम से कम सौगुना और सम्भवतया हज़ार गुना बड़ा होता है, और उसमें इस्तेमाल होने वाली चल पूंजी का अनुपात सौ गुना या हज़ार गुना कम होता है ... यदि वर्ष भर की पूरी बचत अचल पूंजी में जोड़ दी जाये, तो भी उससे श्रम की मांग में कोई वृद्धि नहीं होगी।" (John Barton, "*Observations on the Circumstances which Influence the Condition of the Labouring Classes of Society*" [जान बार्टन, 'समाज के श्रमजीवी वर्गों की दशा को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों के विषय में कुछ विचार'], London, 1817, पृ० १६, १७।) "जिस कारण से देश की शुद्ध आय बढ़ सकती है, उसी कारण से साथ ही यह भी हो सकता है कि जन-संख्या अनावश्यक बन जाये और मज़दूर की हालत ख़राब हो जाये।" (Ricardo, उप० पु०, पृ० ४६६।) पूंजी की वृद्धि होने पर (श्रम की) "मांग घटती जायेगी।" (उप० पु०, पृ० ४८०, नोट।) "पूंजी की जो राशि श्रम के जीवन-निर्वाह के लिये इस्तेमाल होती है, वह पूंजी की कुल राशि में कोई परिवर्तन न आने पर भी घट-बढ़ सकती है ... यह सम्भव है कि पूंजी की प्रचुरता के बढ़ने के साथ-साथ काम पर लगे मज़दूरों की संख्या में बार-बार भारी उतार-चढ़ाव आने लगें और उसके फलस्वरूप लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़े।" (Richard Jones, "*An Introductory Lecture on Pol. Econ.*," [रिचर्ड जोन्स, 'अर्थशास्त्र पर एक प्रारम्भिक भाषण'], London, 1833, पृ० १३।) (श्रम की) "मांग... सामान्य पूंजी के संचय के अनुपात में नहीं बढ़ेगी ... इसलिये राष्ट्रीय पूंजी का जो भाग पुनरुत्पादन में लगाया जाने वाला है, उसमें होने वाली प्रत्येक वृद्धि का समाज की प्रगति के साथ-साथ मज़दूर की दशा पर अधिकाधिक कम प्रभाव पड़ता है।" (Ramsay, उप० पु०, पृ० ६०, ६१।)

की शक्ति भी बढ़ जाती है। वह केवल इसीलिये नहीं बढ़ती कि पहले से काम में लगी हुई पूंजी की प्रत्यास्थता में वृद्धि हो जाती है; वह केवल इसीलिये नहीं बढ़ती कि समाज का निरपेक्ष धन बढ़ जाता है, जिसका पूंजी केवल एक प्रत्यास्थतापूर्ण भाग होती है; वह केवल इसीलिये नहीं बढ़ती कि हर प्रकार की विशेष उत्तेजना के फलस्वरूप साख-प्रणाली इस धन के एक असाधारण अंश को फ़ौरन अतिरिक्त पूंजी के रूप म उत्पादन को सौंप देती है; वह इसलिये भी बढ़ जाती है कि उत्पादन की क्रिया के लिये जो प्राविधिक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, —मशीनें, परिवहन के साधन इत्यादि, —वे खुद अब यह सम्भव बना देती हैं कि अतिरिक्त पैदावार को तीव्रतम गति से उत्पादन के अतिरिक्त साधनों में रूपान्तरित कर दिया जाये। संचय की प्रगति के साथ सामाजिक धन की बाढ़ सी आ जाती है, और उसे अतिरिक्त पूंजी में बदला जा सकता है। यह धन मानो पागल होकर या तो उत्पादन की पुरानी शाखाओं में घुसने की कोशिश करता है, जिनकी मंडी का यकायक विस्तार हो जाता है, और या वह उन नवनिर्मित शाखाओं में, जैसे रेलों आदि में, प्रवेश कर जाता है, जिनकी आवश्यकता पुरानी शाखाओं के विकास के फलस्वरूप पैदा होती है। ऐसी तमाम सूरतों में इस बात की आवश्यकता होती है कि अन्य क्षेत्रों में उत्पादन के पैमाने को कोई हानि पहुंचाये बिना निर्णायक बिंदुओं पर बहुत बड़ी संख्याओं में मनुष्यों को झोंका जा सके। ये मनुष्य जनाधिक्य से प्राप्त होते हैं। आधुनिक उद्योग जिस चरित्रगत क्रम में से गुजरता है, —अर्थात् वह औसत दर्जे की क्रियाशीलता, बहुत तेज उत्पादन, संकट और ठहराव के कालों के जिस दशवर्षीय चक्र (जिसके बीच-बीच में अपेक्षाकृत छोटे प्रदोलन आते रहते हैं) में से गुजरता है, —वह इस बात पर निर्भर करता है कि अतिरिक्त जन-संख्या की औद्योगिक रिजर्व सेना का निर्माण, न्यूनाधिक अवशोषण और पुनर्निर्माण बराबर होता रहे। उधर औद्योगिक चक्र की विभिन्न अवस्थाएं अतिरिक्त जन-संख्या में नयी भर्ती करती चलती हैं और उसके पुनरुत्पादन का एक अत्यन्त क्रियाशील अभिकर्ता बन जाती हैं।

आधुनिक उद्योग का यह विचित्र क्रम मानव-इतिहास के किसी भी पुराने युग में नहीं देखा गया था, और पूंजीवादी उत्पादन के बाल्यकाल में भी उसका होना असम्भव था। उस काल में पूंजी की संरचना में बहुत ही धीरे-धीरे परिवर्तन होता था। इसलिये, जिस गति से पूंजी का संचय होता था, लगभग उसी गति से श्रम की मांग में भी तदनुरूप वृद्धि होती जाती थी। अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक काल की तुलना में उन दिनों हालांकि संचय की प्रगति बहुत धीमी थी, फिर भी वह शोषण के योग्य श्रमजीवी जन-संख्या की प्राकृतिक सीमाओं से आगे नहीं बढ़ पाती थी, और इन सीमाओं को केवल जबर्दस्ती ही तोड़ा जा सकता था, जिसका जिक्र हम आगे करेंगे। उत्पादन के पैमाने का रुक-रुककर जो विस्तार होता है, वह उसके उतने ही आकस्मिक संकुचन की भूमिका होता है। और यह संकुचन फिर विस्तार के प्रेरक का काम करता है। परन्तु यदि काम में झोंक देने के लिये मानव-सामग्री का अभाव हो, यदि जन-संख्या की निरपेक्ष वृद्धि से स्वतंत्र रूप से मजदूरों की संख्या में वृद्धि न हो गयी हो, तो विस्तार करना असम्भव होता है। यह वृद्धि उस सरल क्रिया के द्वारा सम्पन्न होती है, जो मजदूरों के एक भाग को लगातार "मुक्त करती" जाती है। यह वृद्धि उन तरीक़ों के जरिये होती है, जिनसे काम में लगे हुए मजदूरों की संख्या को बढ़े हुए उत्पादन के अनुपात में घटा दिया जाता है। अतएव, आधुनिक उद्योग की गति का पूरा रूप इस बात पर निर्भर करता है कि वह श्रमजीवी जन-संख्या के एक भाग को लगातार बेकार या अर्ध-बेकार मजदूरों में बदलती जाती है। अर्थशास्त्र का छिछलापन

इस बात से प्रकट होता है कि वह साख के विस्तार तथा संकुचन को, जो औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तनों का एक चिह्न मात्र होता है, उनका कारण समझता है। जिस तरह आकाश के नक्षत्र एक बार एक निश्चित प्रकार की गति में आ जाने के बाद सदा उसी गति को दोहराते रहते हैं, उसी तरह जब सामाजिक उत्पादन एक बार क्रमानुसार आने वाले विस्तार और संकुचन की इस गति में फंस जाता है, तो वह उसी को दोहराता रहता है। प्रभाव अपनी बारी आने पर कारण बन जाते हैं, और इस पूरी क्रिया के, जो कि सदा अपनी आवश्यक परिस्थितियों का पुनरुत्पादन करती रहती है, आकस्मिक उतार-चढ़ाव नियतकालिकता का रूप धारण कर लेते हैं। जब एक बार यह नियतकालिकता सुदृढ़ हो जाती है, तब अर्थशास्त्र भी यह समझ जाता है कि सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का उत्पादन – अर्थात् पूंजी के आत्म-विस्तार की औसत आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से अतिरिक्त जन-संख्या का उत्पादन – आधुनिक उद्योग की एक आवश्यक शर्त है।

एच० मेरीवेल ने, जो पहले आक्सफ़ोर्ड में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे और बाद में अंग्रेज़ी सरकार के औपनिवेशिक दफ़्तर में कर्मचारी हो गये थे, लिखा है: "मान लीजिये कि ऐसा कोई संकट आने पर राष्ट्र आन्दोलित हो उठता है और कुछ लाख बेकार मजदूरों से परावास के द्वारा छुटकारा पाना चाहता है। उसका क्या परिणाम होगा? उसका परिणाम यह होगा कि पहली बार श्रम की मांग के पुनः पैदा होते ही श्रम की कमी महसूस होने लगेगी। पुनरुत्पादन चाहे जितना तेज क्यों न हो, वयस्क श्रम का स्थान भरने में हर सूरत में एक पीढ़ी का समय गुजर जाता है। अब हमारे कारख़ानेदारों का मुनाफ़ा मुख्यतया इस बात पर निर्भर करता है कि जिस समय मांग ज्यादा होती है, समृद्धि के उस क्षण से लाभ उठाने और कम मांग वाले व्यवधान की क्षति-पूर्ति करने की उनमें कितनी शक्ति है। यह शक्ति उनको मशीनों और हाथ के श्रम से काम लेने के अधिकार से प्राप्त होती है। इसके लिये यह जरूरी है कि उनके पास हमेशा काम करने के लिये मजदूर तैयार रहें और वे जब जरूरत हो, तब अपनी कार्रवाइयों को तेज कर सकें, और मण्डी की हालत के अनुसार जब चाहें, तब फिर उनको मन्द कर सकें। इस चीज के अभाव में कारख़ानेदार सम्भवतया प्रतियोगिता की दौड़ में अपनी उस श्रेष्ठता को क़ायम नहीं रख सकते, जिसपर देश के धन की नींव खड़ी है।"[1] यहां तक कि माल्थूस भी यह बात स्वीकार करते हैं कि आधुनिक उद्योग के लिये जनाधिक्य का होना आवश्यक है, हालांकि अपने संकुचित ढंग के अनुसार वह जनाधिक्य का यह कारण बताते हैं कि श्रमजीवी जन-संख्या निरपेक्ष दृष्टि से बहुत ज्यादा बढ़ जाती है, – तुलनात्मक दृष्टि से अनावश्यक बनने के कारण नहीं। उन्होंने लिखा है: "मुख्यतया कारख़ानों और वाणिज्य पर निर्भर करने वाले देश के श्रमजीवी वर्ग में, विवाह के विषय में विवेकशीलता का जो अभ्यास पाया जाता है, उससे देश को हानि पहुंच सकती है... जन-संख्या का स्वरूप ही ऐसा होता है कि किसी विशेष मांग के फलस्वरूप १६ या १८ वर्ष के पहले मण्डी में मजदूरों की संख्या को नहीं बढ़ाया जा सकता, और मुमकिन है कि बचत के द्वारा आय को इससे कहीं अधिक तेजी के साथ पूंजी में बदला जा सके। प्रत्येक देश में यह सम्भव है कि श्रम के जीवन-निर्वाह के कोष की मात्रा जन-संख्या की अपेक्षा अधिक

---

[1] H. Merivale, "*Lectures on Colonisation and Colonies*" (एच० मेरीवेल, 'उपनिवेशकरण तथा उपनिवेशों पर भाषण'), London, 1841 and 1842, खण्ड १, पृ० १४६।

तेजी से बढ़ती जाये।"[1] इस प्रकार यह प्रमाणित करने के बाद कि मजदूरों की सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का निरन्तर उत्पादन पूंजीवादी संचय के लिये अत्यन्त आवश्यक है, अर्थशास्त्र ने एक चिरकुमारी का अत्यन्त समुपयुक्त रूप धारण करके अपने "beau idéal" ("आदर्श प्रेमी") – पूंजीपति – के मुंह से उन बेकार मजदूरों को सम्बोधन करते हुए, जो खुद अतिरिक्त पूंजी का सृजन करने के कारण बेकार हो गये हैं, निम्नलिखित शब्द कहलवाये हैं: "उस पूंजी को बढ़ाकर, जिसके सहारे तुम्हारी परवरिश होती है, हम कारखानेदार तो तुम लोगों के लिये जो कुछ सम्भव है, सब कुछ कर रहे हैं; बाक़ी तुमको करना चाहिये, और वह यह कि अपनी संख्या को जीवन-निर्वाह के साधनों के अनुरूप कर लो।"[2]

जन-संख्या की स्वाभाविक वृद्धि के फलस्वरूप श्रम-शक्ति की जो मात्रा पूंजीवादी उत्पादन के लिये तैयार होती रहती है, उससे पूंजीवादी उत्पादन को कदापि संतोष नहीं हो सकता। खूब खुलकर खेलने के लिये उसको एक ऐसी औद्योगिक रिज़र्व सेना की जरूरत होती है, जो इन प्राकृतिक सीमाओं से स्वतंत्र हो।

अभी तक हम यह मानकर चलते रहे हैं कि अस्थिर पूंजी में जो घटा-बढ़ी होती है, वह काम में लगे हुए मजदूरों की संख्या की घटा-बढ़ी के पूरी तरह अनुरूप होती है।

परन्तु यह सम्भव है कि पूंजी के अधीन काम करने वाले मजदूरों की संख्या तो ज्यों की त्यों रहे या यहां तक कि गिर भी जाये, परन्तु अस्थिर पूंजी की मात्रा फिर भी बढ़ती रहे। यह उस समय होता है, जब मजदूर व्यक्तिगत रूप से पहले से अधिक श्रम करने लगता है और इसलिये उसकी मजदूरी बढ़ जाती है, हालांकि श्रम का दाम ज्यों का त्यों रहता है या यहां तक कि गिर भी जाता है, परन्तु श्रम की राशि की वृद्धि की तुलना में ज्यादा धीरे-धीरे गिरता है। ऐसी हालत में अस्थिर पूंजी की वृद्धि इस बात की सूचक होती है कि पहले से अधिक श्रम हो रहा है, परन्तु वह इस बात की सूचक नहीं होती कि पहले से अधिक संख्या में मजदूरों से काम लिया जा रहा है। इसमें प्रत्येक पूंजीपति का परम स्वार्थ होता है कि यदि लागत लगभग एक सी बैठती है, तो मजदूरों की एक अपेक्षाकृत बड़ी संख्या की अपेक्षा छोटी संख्या से ही एक निश्चित मात्रा का श्रम करा लिया जाये। जब मजदूरों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या से उतना ही श्रम कराया जाता है, तब स्थिर पूंजी का खर्चा श्रम की जो राशि हरकत में आती है, उसके अनुपात में बढ़ जाता है। पर जब छोटी संख्या से उतना ही श्रम कराया जाता है, तब इस खर्चे में उससे बहुत कम वृद्धि होती है। उत्पादन का पैमाना जितना अधिक विस्तृत होता है, यह स्वार्थ उतना ही अधिक बलवान होता है। पूंजी के संचय के साथ-साथ यह भावना भी अधिकाधिक बल पकड़ती जाती है।

---

[1] Malthus, "*Principles of Political Economy*" (माल्थूस, 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त'), पृ० २१५, ३१९, ३२०। इस रचना में माल्थूस ने अन्त में सिस्मोंदी की सहायता से पूंजीवादी उत्पादन की त्रिमूर्ति का आविष्कार किया है। वह त्रिमूर्ति है: अति-उत्पादन, अति-जन-संख्या और अति-उपभोग, जो three very delicate monsters, indeed (तीनों निश्चय ही बड़े विचित्र राक्षस) हैं। देखिये एंगेल्स की रचना "*Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie*", उप० पु०, पृ० १०७ और उसके आगे के पृष्ठ।

[2] Harriet Martineau, "*A Manchester Strike*" (हैरियेट मार्टिनो, 'मानचेस्टर की हड़ताल'), London, 1832, पृ० १०१।

हम यह देख चुके हैं कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और श्रम की उत्पादक शक्ति का विकास, – जो संचय का कारण भी है और परिणाम भी, – पूंजीपति को इस योग्य बना देता है कि वह पहले जितनी ही अस्थिर पूंजी लगाकर, पर हर अलग-अलग श्रम-शक्ति का पहले से अधिक (विस्तीर्ण या गहन) शोषण करके पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जैसे-जैसे पूंजीपति निपुण मजदूरों के स्थान पर अनिपुण, परिपक्व श्रम-शक्ति के स्थान पर अपरिपक्व, पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों को और वयस्कों के स्थान पर लड़के-लड़कियों तथा बच्चों को नौकर रखता जाता है, वैसे-वैसे वह पहले जितनी ही पूंजी लगाकर उत्तरोत्तर श्रम-शक्ति की पहले से बड़ी राशि खरीदता जाता है।

इसलिये, एक ओर तो संचय की प्रगति के साथ-साथ पहले से बड़ी अस्थिर पूंजी नये मजदूरों को भर्ती किये बिना ही पहले से अधिक श्रम को गतिमान बनाती है; दूसरी ओर, पहले जितनी मात्रा की अस्थिर पूंजी श्रम-शक्ति की पहले जितनी राशि का ही इस्तेमाल करते हुए पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना देती है, और, तीसरे, वह ज्यादा ऊंचे दर्जे की श्रम-शक्ति को जवाब देकर नीचे दर्जे की श्रम-शक्ति से पहले से बड़ी संख्या में काम लेती है।

अतः सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या के उत्पादन की क्रिया, या मजदूरों को बेरोजगार बनाने की क्रिया, उत्पादन क्रिया की उस प्राविधिक क्रान्ति से भी अधिक तेज गति के साथ चलती है, जो संचय की प्रगति के साथ-साथ होती रहती है और जिसकी गति संचय के कारण और तेज हो जाती है; और इस क्रान्ति के साथ-साथ पूंजी के स्थिर अंश की तुलना में उसका अस्थिर अंश जितनी तेजी से घटता है, सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या के उत्पादन की क्रिया उससे भी ज्यादा तेजी के साथ चलती है। उत्पादन के साधनों का विस्तार और कार्य-क्षमता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, जैसे-जैसे यदि मजदूरों को नौकर रखने के साधनों के रूप में उनकी क्षमता घटती जाती है, तो इस बीच में इस तथ्य से फिर यह संशोधन हो जाता है कि श्रम की उत्पादकता जितनी बढ़ जाती है, पूंजी अपनी मजदूरों की मांग की अपेक्षा श्रम की पूर्ति को उतनी ही ज्यादा तेजी से बढ़ा लेती है। मजदूर-वर्ग का काम पर लगा हुआ भाग जो अत्यधिक श्रम करता है, उससे रिजर्व भाग की संख्या और बढ़ जाती है; दूसरी ओर, रिजर्व भाग अपनी प्रतियोगिता के द्वारा नौकरी में लगे हुए भाग पर अब पहले से अधिक दबाव डालता है, और उसके फलस्वरूप इस भाग को अत्यधिक श्रम करने तथा चुपचाप पूंजी का हुक्म बजाने के लिये मजबूर कर देता है। मजदूर-वर्ग के एक भाग से अत्यधिक काम कराके दूसरे भाग को जबर्दस्ती बेकार बनाये रखना और एक भाग को जबर्दस्ती खाली हाथ बैठाकर दूसरे भाग से अत्यधिक काम लेना – यह अलग-अलग पूंजीपतियों का धन बढ़ाने का साधन बन जाता है,[1] और साथ ही उससे औद्योगिक रिजर्व सेना के उत्पादन में तेजी आती है, और वह

---

[1] यहां तक कि १८६३ के कपास के अकाल के दिनों में भी हम यह पाते हैं कि कपास की कताई करने वाले ब्लैकबर्न के कारीगरों की एक पुस्तिका में मजदूरों से अत्यधिक काम लेने की प्रथा की सख्त निन्दा की गयी है। फ़ैक्टरी-क़ानूनों के फलस्वरूप इस प्रथा का बेशक केवल वयस्क पुरुषों पर ही प्रभाव पड़ता था। पुस्तिका में लिखा है: "इस मिल के वयस्क कारीगरों से १२ से १३ घंटे तक रोजाना काम करने के लिये कहा गया है, और उधर सैकड़ों ऐसे आदमी बेकार पड़े हैं, जो अपने बाल-बच्चों को जिन्दा रखने के लिये और अपने भाइयों को अत्यधिक श्रम के कारण असमय मृत्यु का ग्रास बन जाने से बचाने के लिये हर रोज थोड़े

सामाजिक संचय की प्रगति के अनुरूप पैमाना प्राप्त कर लेता है। सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या के निर्माण में इस तत्व का कितना बड़ा महत्त्व है, यह बात इंगलैण्ड के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। इंगलैण्ड के पास श्रम की बचत करने के अतिविशाल प्राविधिक साधन हैं। फिर भी, यदि कल सुबह से आम तौर पर केवल विवेकसंगत मात्रा में मजदूरों से श्रम कराया जाये और पूरे काम को आयु तथा लिंग भेद के अनुसार मजदूर-वर्ग के अलग-अलग हिस्सों में बांट दिया जाये, तो इस समय इंगलैण्ड में जितनी श्रमजीवी जन-संख्या मौजूद है, वह राष्ट्रीय उत्पादन को उसके वर्तमान पैमाने पर चलाने के लिये सर्वथा अपर्याप्त सिद्ध होगी। इस समय के "अनुत्पादक" मजदूरों में से ज्यादातर को तब "उत्पादक" मजदूरों में बदल देना पड़ेगा।

यदि मजदूरी के सामान्य उतार-चढ़ाव की सामान्य क्रियाओं की समग्रता पर विचार किया जाये, तो हम देखते हैं कि औद्योगिक रिज़र्व सेना का विस्तार और संकुचन ही अनन्य रूप से उनका नियमन करते हैं, और ये विस्तार और संकुचन औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तनों के अनुरूप होते हैं। इसलिये, मजदूरी के उतार-चढ़ाव की ये क्रियाएं इस बात से निर्धारित नहीं होतीं कि श्रमजीवियों की निरपेक्ष संख्या में कितनी घटा-बढ़ी हो गयी है, बल्कि

---

समय तक काम करने के लिये भी राज़ी होंगे ..." पुस्तिका में आगे लिखा है: "हम यह प्रश्न करना चाहेंगे कि क्या कुछ मज़दूरों से ओवरटाइम काम कराने की प्रथा के द्वारा मालिकों और नौकरों के बीच सद्भावना पैदा होगी? जिनसे ओवरटाइम काम लिया जाता है, वे भी इसे उतना ही बड़ा अन्याय समझते हैं, जितना वे कारीगर समझते हैं, जिन्हें ज़बर्दस्ती बेकार बनाकर (condemned to forced idleness) रखा जाता है। हमारे इलाक़े में लगभग इतना काम है कि यदि उसका ठीक-ठीक बंटवारा किया जाये, तो सभी कारीगरों को आंशिक रोज़गार मिल सकता है। जब हम मालिकों से यह प्रार्थना करते हैं कि उन्हें मज़दूरों के एक हिस्से से ओवरटाइम काम कराने के बजाय, जिसके कारण बाक़ी मज़दूरों को काम के अभाव में दान के सहारे ज़िन्दा रहना पड़ता है, आम तौर पर हर रोज़ कम घण्टे काम लेने की प्रथा पर चलना चाहिये और ख़ास तौर पर जब तक हम लोगों के लिये फिर से अच्छे दिन नहीं आ जाते, तब तक इसी प्रणाली का अनुसरण करना चाहिये, तब हम बिल्कुल न्यायोचित मांग करते हैं।" (*"Reports of Insp. of Fact., Oct. 31, 1863"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें, ३१ अक्तूबर १८६३'], पृ० ८।) *"Essay on Trade and Commerce"* ('व्यापार और वाणिज्य पर निबंध') के लेखक ने अपनी सामान्य एवं अचूक पूंजीवादी सहज बुद्धि से यह बात भली भांति समझ ली है कि काम से लगे मज़दूरों पर सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का क्या असर होता है। उसने लिखा है: "इस राज्य के लोगों में जो काहिली (idleness) पायी जाती है, उसका एक और कारण यह है कि यहां श्रम करने वाले मज़दूरों की पर्याप्त संख्या का अभाव है ... जब कभी कारख़ानों की बनी चीज़ों की असाधारण मांग के कारण श्रम की कमी महसूस होती है, तब मज़दूर ख़ुद अपना महत्त्व महसूस करने लगते हैं और उसे मालिकों को भी महसूस कराना चाहते हैं, – यह बड़े आश्चर्य की बात है, मगर इन लोगों की प्रवृत्तियां इतनी दूषित हो गयी हैं कि ऐसा होने पर अक्सर मज़दूरों का कोई दल मालिक को तंग करने के लिये इकट्ठा हो जाता है और वे सब मिलकर पूरा दिन काहिली में बिता देते हैं।" (*"Essay, &c."* ['व्यापार और वाणिज्य पर निबंध'], पृ० २७, २८।) ये लोग, असल में, अपनी मज़दूरी बढ़वाना चाहते थे।

वे इस बात से निर्धारित होती हैं कि सक्रिय तथा रिजर्व सेना के बीच मजदूर-वर्ग का सक्रिय विभाजन किस अनुपात में हुआ है, अतिरिक्त जन-संख्या की सापेक्ष मात्रा में वृद्धि हो गयी है या कमी आ गयी है और किस हद तक उसका उद्योग में अवशोषण हो जाता है या उसे किस हद तक फिर उद्योग से निकाल दिया जाता है। दशवर्षीय चक्रों और नियतकालिक अवस्थाओं वाले इस आधुनिक उद्योग के लिये, जिसके ये चक्र तथा अवस्थाएं संचय का विकास होने पर अधिकाधिक शीघ्रता के साथ एक दूसरे का अनुसरण करने वाले अनियमित प्रदोलनों के कारण और भी जटिल बन जाती हैं, यह सचमुच एक बड़ा सुन्दर नियम होगा, जो यह नहीं कहता कि श्रम की मांग और पूर्ति का नियमन पूंजी के बारी-बारी से होने वाले विस्तार और संकुचन से होता है, – और यह कि जब पूंजी का विस्तार होता है, तब श्रम की मण्डी में तुलनात्मक दृष्टि से कम श्रम दिखाई देने लगता है, और जब पूंजी का संकुचन होता है, तब मण्डी फिर श्रम से अटी हुई मालूम होने लगती है, – बल्कि जो इसके बजाय यह दावा करता है कि खुद पूंजी की गति जन-संख्या के निरपेक्ष परिवर्तनों पर निर्भर करती है। परन्तु अर्थशास्त्री इसी रूढ़ि से चिपके हुए हैं। उनके मतानुसार, मजदूरी पूंजी के संचय के फलस्वरूप बढ़ती है। मजदूरी बढ़ जाती है, तो उससे काम करने वाली आबादी को पहले से ज्यादा तेजी के साथ अपनी संख्या को बढ़ाने का प्रोत्साहन मिलता है, और यह चीज उस वक्त तक जारी रहती है, जब तक कि श्रम की मण्डी फिर नहीं अट जाती और इसलिये जब तक कि श्रम की पूर्ति की तुलना में पूंजी फिर अपर्याप्त नहीं हो जाती। तब मजदूरी गिर जाती है और तस्वीर का दूसरा रुख हमारे सामने आता है। मजदूरी के गिरते जाने के फलस्वरूप काम करने वाली आबादी थोड़ी-थोड़ी करके नष्ट होती जाती है, जिससे मजदूरों की तुलना में पूंजी की मात्रा फिर ज्यादा हो जाती है, या, जैसा कि कुछ दूसरे इसे व्यक्त करते हैं, मजदूरी के गिरते जाने और मजदूर के शोषण में तदनुरूप वृद्धि होते जाने के फलस्वरूप संचय में फिर तेजी आ जाती है और उधर इसके साथ-साथ कम मजदूरी मजदूर-वर्ग की वृद्धि पर प्रतिबंध लगाये रहती है। इसके बाद फिर वह समय आता है, जब श्रम की पूर्ति उसकी मांग से कम हो जाती है, मजदूरी बढ़ने लगती है, और वह पूरा क्रम फिर शुरू हो जाता है। विकसित पूंजीवादी उत्पादन की गति की यह कितनी सुन्दर विधि है! इसके पहले कि मजदूरी के बढ़ जाने के फलस्वरूप सचमुच काम करने के योग्य आबादी में कोई ठोस वृद्धि हो, वह समय कई बार आ-आकर गुजर जायेगा, जिसमें यह औद्योगिक संग्राम चलाया जा चुका होगा और लड़ाई लड़कर जीती जा चुकी होगी।

१८४९ और १८५९ के बीच इंगलैण्ड के खेतिहार डिस्ट्रिक्टों में मजदूरी में थोड़ी सी वृद्धि हुई, जो व्यावहारिक दृष्टि से महत्वहीन थी, हालांकि यह सही है कि उसके साथ-साथ अनाज के दाम गिर गये थे। मिसाल के लिये, विल्टशायर में साप्ताहिक मजदूरी ७ शिलिंग से ८ शिलिंग हो गयी थी, डोरसेटशायर में ७ शिलिंग या ८ शिलिंग से ९ शिलिंग हो गयी थी, और इसी तरह अन्य स्थानों में भी। यह इस बात का परिणाम था कि युद्ध की आवश्यकताओं और रेलों, फ़ैक्टरियों, खानों आदि के विस्तार के कारण खेतिहरों की अतिरिक्त जन-संख्या असाधारण परिमाण में गांवों को छोड़-छोड़कर चली गयी थी। मजदूरी जितनी नीची होती है, इस प्रकार की महत्वहीन वृद्धि उसके अनुपात में उतनी ही ऊंची प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये, यदि साप्ताहिक मजदूरी २० शिलिंग हो और वह बढ़कर २२ शिलिंग हो जाये, तो उसमें १० प्रतिशत की वृद्धि होगी; परन्तु यदि वह केवल ७ शिलिंग हो और

बढ़कर ६ शिलिंग हो जाये, तो उसमें २८$\frac{४}{७}$ प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी, जो बहुत प्रभावपूर्ण प्रतीत होगी। चुनांचे हर तरफ़ काश्तकार लोग चीख़-पुकार मचा रहे थे, और मजदूरी की इन दरों के बारे में, जिनके सहारे आदमी केवल आधा पेट खाकर ही जिन्दा रह सकता था, लन्दन के *"Economist"* ने पूर्ण गम्भीरता के साथ कहा था कि खेतिहर मजदूरों की मजदूरी में "a general and substantial advance" ("आम तौर पर और पर्याप्त वृद्धि") हो गयी है।[1] तब काश्तकारों ने क्या किया? क्या उन्होंने इसके लिये इन्तज़ार किया कि इस शानदार उजरत के नतीजे के तौर पर खेतिहर मजदूरों की तादाद इतनी ज्यादा बढ़ जायेगी और उनकी नस्ल इतनी अधिक फले-फूलेगी कि रूढ़िवादी आर्थिक मस्तिष्क के आदेशानुसार उनकी मजदूरी फिर अपने आप लाजिमी तौर पर गिर जायेगी? नहीं, काश्तकारों ने पहले से ज्यादा मशीनें इस्तेमाल करना शुरू कर दिया, और देखते ही देखते मजदूर फिर इस अनुपात में अनावश्यक बन गये, जो काश्तकारों तक के लिये संतोषजनक था। अब "पहले से ज्यादा पूंजी" पहले से अधिक उत्पादक रूप में खेती में लगा दी गयी थी। इसके फलस्वरूप श्रम की मांग न केवल सापेक्ष दृष्टि से कम हो गयी, बल्कि निरपेक्ष दृष्टि से भी गिर गयी।

उपर्युक्त आर्थिक कपोल-कल्पना मजदूरी के आम उतार-चढ़ाव का, या मजदूर-वर्ग – अर्थात् कुल श्रम-शक्ति – और कुल सामाजिक पूंजी के अनुपात का नियमन करने वाले नियमों को उन नियमों के साथ गड़बड़ा देती है, जिनके अनुसार काम करने वाली आबादी का उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में बंटवारा होता है। मिसाल के लिये, यदि कुछ अनुकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पादन के किसी ख़ास क्षेत्र में संचय में विशेष रूप से तेजी आ जाती है और इस क्षेत्र के मुनाफ़े औसत मुनाफ़ों से ऊंचे होने के कारण नयी पूंजी को इस क्षेत्र की ओर आकर्षित करते हैं, तो जाहिर है कि वहां श्रम की मांग बढ़ जायेगी और उसके साथ मजदूरी भी बढ़ जायेगी। ऊंची मजदूरी के कारण काम करने वाली आबादी का भी पहले से बड़ा भाग इस क्षेत्र की ओर खिंच आयेगा, और यह चीज उस वक़्त तक जारी रहेगी, जब तक कि यह क्षेत्र श्रम-शक्ति से अट नहीं जाता और जब तक कि मजदूरी आखिर फिर अपने औसत स्तर पर या मजदूरों का अत्यधिक दबाव होने के कारण उसके भी नीचे नहीं पहुंच जाती। तब न सिर्फ़ उद्योग की इस विशेष शाखा में मजदूरों का आगमन रुक जायेगा, बल्कि उसके स्थान पर इस शाखा से मजदूरों का गमन आरम्भ हो जायेगा। यहां अर्थशास्त्री को यह ख़याल होता है कि इस बिंदु पर पहुंचकर वह यह बात पूरी तरह समझ जाता है कि ऐसा क्यों और किस कारण से होता है कि मजदूरी बढ़ जाने पर मजदूरों की संख्या में निरपेक्ष वृद्धि हो जाती है और मजदूरों की संख्या में निरपेक्ष वृद्धि होने पर मजदूरी घट जाती है। परन्तु वास्तव में वह उत्पादन के केवल एक ख़ास क्षेत्र की श्रम की मण्डी में आने वाले स्थानीय प्रदोलनों को ही देखता है, – वह केवल उन्हीं घटनाओं को देखता है, जो पूंजी की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार पूंजी लगाने के अलग-अलग क्षेत्रों में काम करने वाली आबादी के विभाजन के साथ घटती हैं।

ठहराव और औसत समृद्धि के काल में औद्योगिक रिज़र्व सेना सक्रिय श्रमिक सेना के गले का पत्थर बन जाती है; अति-उत्पादन और अंधाधुंध तेजी के जमाने में वह सक्रिय श्रमिकों की मांगों और दावों को रोक कर रखती है। इसलिये, सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या वह धुरी

---

[1] *"Economist"*, २१ जनवरी १८६०।

है, जिसके सहारे श्रम की मांग और पूर्ति का नियम काम करता है। वह इस नियम के कार्य-क्षेत्र को शोषण की क्रिया और पूंजी के प्रभुत्व के लिये सर्वथा सुविधाजनक सीमाओं तक सीमित कर देती है।

इस स्थान पर हमें फिर वर्तमान व्यवस्था की वकालत करने वाले अर्थशास्त्रियों के एक बड़े शानदार कारनामे पर विचार करना होगा। पाठकों को याद होगा कि जब नयी मशीनों का इस्तेमाल शुरू करके या पुरानी मशीनों का विस्तार करके अस्थिर पूंजी के एक भाग को स्थिर पूंजी में बदल दिया जाता है, तो वर्तमान व्यवस्था की वकालत करने वाला अर्थशास्त्री इस क्रिया का, जो पूंजी को "अचल बना देती है" और साथ ही मजदूरों को रोजगार से मुक्त कर देती है, बिल्कुल उल्टा अर्थ लगाता है और कहता है कि यह क्रिया तो मजदूरों के लिये पूंजी को मुक्त कर देती है। वर्तमान व्यवस्था के इन वकीलों की धृष्टता पूरी तरह केवल अब स्पष्ट होती है। जिनको मुक्ति मिल जाती है, उनमें सिर्फ़ वे ही मजदूर शामिल नहीं होते, जिनको मशीनें आते ही काम से निकलवा देती हैं, बल्कि उनमें आने वाली पीढ़ियों के वे लोग भी शामिल होते हैं, जो इन मजदूरों का भविष्य में स्थान लेंगे, और उनमें मजदूरों का वह नया जत्था भी शामिल होता है, जिसको व्यवसाय का पुराने आधार पर सामान्य विस्तार होने पर नियमित रूप से काम मिलता जाता। अब इन तमाम लोगों को "मुक्ति मिल जाती है" और अपने लिये कार्य-क्षेत्र की तलाश करने वाला पूंजी का हर नया टुकड़ा उनका इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। वह पूंजी चाहे इन मजदूरों को अपनी ओर खींचे, चाहे किन्हीं और मजदूरों को, यदि वह परिमाण में केवल उन मजदूरों को ही मण्डी से निकाल ले जाने के लिये काफ़ी है, जिनको मशीनों ने मण्डी में पटक दिया था, तो श्रम की सामान्य मांग पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि यह पूंजी इससे कम संख्या में मजदूरों को नौकर रखती है, तो फ़ालतू मजदूरों की संख्या बढ़ जायेगी; यदि वह इससे अधिक संख्या में मजदूरों को नौकर रख लेती है, तो इन मजदूरों की संख्या "मुक्त कर दिये गये" मजदूरों की संख्या से जितनी ज्यादा होगी, श्रम की सामान्य मांग में केवल उतनी ही वृद्धि होगी। अतः अपने लिये कार्य-क्षेत्र तलाश करने वाली अतिरिक्त पूंजी से किसी और परिस्थिति में श्रम की सामान्य मांग को जो बढ़ावा मिलता, उसका असर यहां पर हर हालत में उस हद तक ख़तम हो जायेगा, जिस हद तक कि मशीन मजदूरों को काम से जवाब दिलवा देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूंजीवादी उत्पादन का यन्त्र ऐसा प्रबंध करता है कि पूंजी की निरपेक्ष वृद्धि होने पर उसके साथ-साथ श्रम की सामान्य मांग में तदनुरूप वृद्धि नहीं होती। और वर्तमान व्यवस्था की वकालत करने वाला अर्थशास्त्री कहता है कि इससे उन समस्त दुःखों, यातनाओं और सम्भावित मौतों की क्षति-पूर्ति हो जाती है, जिनका पहाड़ विस्थापित मजदूरों पर संक्रमण-काल में टूट पड़ता है, जब कि ये मजदूर उद्योगों से निकाले जाकर औद्योगिक रिज़र्व सेना में भर्ती होने के लिये मजबूर कर दिये जाते हैं! श्रम की मांग और पूंजी की वृद्धि — ये दोनों एक चीज नहीं हैं, न ही श्रम की पूर्ति और मजदूर-वर्ग की वृद्धि एक चीज हैं; यहां ऐसा नहीं है कि दो स्वतंत्र शक्तियां एक दूसरे पर प्रभाव डाल रही हों। *Les dés dont pipés* (यहां तो पासा हमेशा एक के ही पक्ष में पड़ता है)। पूंजी एक ही समय में दोनों तरफ़ अपने हाथ दिखाती है। यदि, एक ओर, उसके संचय से श्रम की मांग बढ़ जाती है, तो, दूसरी ओर, वह मजदूरों को "मुक्त करके" उनकी पूर्ति को बढ़ा देती है, और साथ ही बेकार मजदूरों का दबाव काम से लगे मजदूरों को पहले से अधिक श्रम करने के लिये मजबूर कर देता है

और इसलिये कुछ हद तक श्रम की पूर्ति को मजदूरों की पूर्ति से स्वतंत्र कर देता है। इस आधार पर श्रम की पूर्ति और मांग का नियम जिस तरह कार्य करता है, उससे पूंजी की निरंकुशता सम्पूर्ण हो जाती है। अतः जैसे ही मजदूरों को इस रहस्य का पता चलता है कि वे जितना अधिक काम करते हैं, दूसरों के लिये जितनी अधिक दौलत पैदा करते हैं और उनके श्रम की उत्पादकता जितनी अधिक बढ़ती जाती है, पूंजी के आत्म-विस्तार के एक साधन के रूप में उनका कार्य किस तरह खुद उनके लिये ही उतना ज्यादा खतरनाक बनता जाता है; जैसे ही मजदूरों को यह मालूम होता है कि खुद उनके बीच जो प्रतियोगिता चलती रहती है, उसकी तीव्रता की मात्रा पूरी तरह इस बात पर निर्भर करती है कि उनपर सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का कितना दबाव पड़ रहा है; और इसलिये जैसे ही वे अपने वर्ग को पूंजीवादी उत्पादन के इस स्वाभाविक नियम के सत्यानाशी प्रभाव से मुक्त करने या उसके प्रभाव को कमजोर करने के लिये ट्रेड-यूनियनों आदि के जरिये, काम से लगे मजदूरों और बेकार मजदूरों के बीच नियमित सहकारिता का संगठन करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही पूंजी और उसका चाटुकार–अर्थशास्त्र–यह चिल्लाने लगते हैं कि पूर्ति और मांग के "शाश्वत" और मानों "पावन" नियम का उल्लंघन किया जा रहा है। काम से लगे हुए मजदूरों और बेकार मजदूरों का प्रत्येक सहयोग इस नियम के "निर्विघ्न रूप से" कार्य करने में बाधा डालता है। मगर, दूसरी ओर, प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण (मिसाल के लिये, उपनिवेशों में) औद्योगिक रिजर्व सेना के निर्माण में बाधा पड़ती है और इसलिये मजदूर-वर्ग पूरी तरह पूंजीपति-वर्ग के अधीन नहीं बनता, वैसे ही पूंजी, मय अपने मुसाहब अर्थशास्त्र के, पूर्ति और मांग के इस "पावन" नियम के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है और जोर-जबर्दस्ती तथा राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा उसको अमल में आने से रोकने की कोशिश करने लगती है।

## अनुभाग ४–सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या के विभिन्न रूप। पूंजीवादी संचय का सामान्य नियम

सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या हर सम्भव रूप में मिलती है। हर मजदूर, जिस समय वह केवल आंशिक रूप से रोजगार से लगा होता है या पूरी तरह बेकार होता है, इसी श्रेणी में गिना जाता है। औद्योगिक चक्र की बदलती हुई अवस्थाएं सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या पर अपनी छाप डालती हैं। कभी संकट का काल आता है, तो वह बहुत उग्र रूप धारण कर लेती है; फिर मंदी का जमाना आता है, तो वह दीर्घ-स्थायी बन जाती है। पर यदि हम बार-बार सामने आने वाले इन व्यापक एवं नियतकालिक रूपों की ओर ध्यान न दें, तो सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या हमेशा तीन रूपों में दिखाई देती है: बहते हुए, अव्यक्त और निष्प्रवाह रूप में।

आधुनिक उद्योग के केन्द्रों में–फ़ैक्टरियों, कारखानों, लोहे के कारखानों, खानों आदि में–कभी मजदूरों को काम से जवाब मिल जाता है, कभी पहले से बड़ी संख्या में फिर रख लिया जाता है, और इस तरह काम से लगे हुए मजदूरों की संख्या कुल मिलाकर बढ़ती जाती है, हालांकि उत्पादन के पैमाने के अनुपात में वह बराबर कम होती जाती है। यह अतिरिक्त जन-संख्या का बहता हुआ रूप होता है।

स्वसंचालित फ़ैक्टरियों में और उसी भांति उन सभी बड़ी वर्कशापों में भी, जहां मशीनें व्यवस्था में प्रवेश कर गयी हैं या जहां केवल आधुनिक ढंग का श्रम-विभाजन होता है, लड़कों को बहुत बड़ी संख्या में नौकर रखा जाता है। वे प्रौढ़ होने के समय तक वहां नौकर रहते हैं। जब एक बार यह अवस्था आ जाती है, तब उनमें से बहुत ही कम ऐसे होते हैं, जिनको उद्योग की उन्हीं शाखाओं में काम मिलता है, और उनमें से अधिकतर को प्रौढ़ होते ही नियमित रूप से बर्ख़ास्त कर दिया जाता है। इन मजदूरों का यह अधिकतर भाग बहती हुई अतिरिक्त जन-संख्या का भाग बन जाता है, जो उद्योग की इन शाखाओं के विस्तार के साथ-साथ परिमाण में बढ़ता जाता है। उनमें से कुछ देश छोड़कर चले जाते हैं; वे वास्तव में देश छोड़कर चली जाने वाली पूंजी का ही अनुसरण करते हैं। इसका एक नतीजा यह होता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की आबादी ज्यादा तेजी से बढ़ती है, जैसा कि हम इंगलैण्ड में देख सकते हैं। यह बात कि मजदूरों की संख्या में जो स्वाभाविक वृद्धि होती है, उससे पूंजी के संचय की आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं और फिर भी वह हमेशा उनसे ज्यादा रहती है,—यह विरोध स्वयं पूंजी की गति के भीतर निहित है। पूंजी सदा लड़कों को पहले से बड़ी संख्या में और वयस्कों को पहले से छोटी संख्या में नौकर रखना चाहती है। यह विरोध इस विरोध से अधिक भयानक नहीं है कि एक तरफ़ तो मजदूरों की कमी का रोना रोया जाता है और उसी के साथ-साथ, दूसरी तरफ़, हजारों आदमी बेकार रहते हैं, क्योंकि श्रम-विभाजन उनको उद्योग की एक खास शाखा के साथ बांधे रखता है।[1]

इसके अलावा, पूंजी इतनी तेजी के साथ श्रम-शक्ति का उपभोग करती है कि मजदूर की आधी उम्र भी नहीं बीतने पाती, और उसका लगभग सारा सत निकल जाता है। तब वह या तो बेकारों की पांत में शरीक हो जाता है और या सीढ़ी पर नीचे उतरकर उसे पहले से निम्न स्तर का कोई काम करने के लिये मजबूर होना पड़ता है। सबसे कम आयु तक जिन्दा रहने वाले लोग हमें आधुनिक उद्योग के मजदूरों में ही मिलते हैं। मानचेस्टर के स्वास्थ्य-अफ़सर, डा० ली ने बताया कि "मानचेस्टर में ... मध्यवर्ग के लोगों की मृत्यु औसतन ३८ वर्ष की आयु में होती है, जब कि श्रमजीवी वर्ग के लोग औसतन १७ वर्ष की उम्र में ही मौत का शिकार हो जाते हैं। लिवरपुल में मध्यवर्ग के लोग औसतन ३५ वर्ष की आयु में और श्रमजीवी वर्ग के लोग १५ वर्ष की आयु में मर जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि खाते-पीते वर्गों की जीवन-अवधि (a lease of life) कम भाग्यशाली नागरिकों की जीवन-अवधि की दुगनी से भी अधिक होती है।"[2] ऐसी परिस्थिति में सर्वहारा के

[1] १८६६ के अन्तिम छः महीनों में लन्दन के अस्सी-नब्बे हजार मजदूरों की रोजी छिन गयी थी, पर इसी छमाही की फ़ैक्टरी रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि "यह कहना पूरी तरह सच नहीं प्रतीत होता कि मांग हमेशा ठीक उसी समय पूर्ति को पैदा कर देती है, जिस समय उसकी आवश्यकता होती है। श्रम की पूर्ति इस तरह नहीं पैदा हो सकी है, क्योंकि पिछले वर्ष बहुत सारी मशीनें मजदूरों के अभाव के कारण बेकार पड़ी रही हैं।" (*"Rep. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1866"* ['फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६६'], पृ० ८१।)

[2] सफ़ाई-सम्मेलन, बिर्मिंघम, १५ जनवरी १८७५ का उद्घाटन-भाषण; शहर के मेयर और आजकल (१८८३ में) व्यापार-बोर्ड के अध्यक्ष जे० चैम्बेरलेन द्वारा।

इस हिस्से की संख्या में इस प्रकार की निरपेक्ष वृद्धि होनी चाहिये कि उसके अलग-अलग सदस्यों के बहुत तेजी से मरते-खपते रहने के बावजूद इस हिस्से की कुल संख्या बराबर बढ़ती जाये। इसलिये, जरूरी है कि बहुत जल्दी-जल्दी मजदूरों की एक पीढ़ी का स्थान दूसरी पीढ़ी लेती जाये (आबादी के अन्य वर्गों पर यह नियम लागू नहीं होता)। यह सामाजिक आवश्यकता इस तरह पूरी होती है कि मजदूरों के बच्चों का बहुत जल्दी विवाह हो जाता है। आधुनिक उद्योग में मजदूरों को जिन परिस्थितियों में रहना पड़ता है, उनका यह लाजिमी नतीजा होता है। दूसरे, यह सामाजिक आवश्यकता इस तरह पूरी होती है कि बच्चों के शोषण के परिणामस्वरूप मजदूरों को बच्चे पैदा करने में अपना फ़ायदा दिखाई देने लगता है।

जैसे ही पूंजीवादी उत्पादन खेती पर अधिकार कर लेता है, वैसे ही और जिस हद तक वह ऐसा करता है, उस हद तक खेतिहर श्रमजीवी जन-संख्या की मांग निरपेक्ष रूप से कम हो जाती है और, दूसरी ओर, खेती में लगी हुई पूंजी का तेजी से संचय होने लगता है, परन्तु अन्य उद्योगों की तरह यहां पर मजदूरों के प्रतिकर्षण की आकर्षण की वृद्धि के द्वारा क्षति-पूर्ति नहीं होती। इसलिये खेतिहर आबादी का एक भाग हमेशा शहरी सर्वहारा में अथवा उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों में सम्मिलित हो जाने को विवश होता है और इस रूपान्तरण के लिये अनुकूल परिस्थितियां खोजा करता है। (यहां पर उद्योगों से हमारा मतलब खेती के अलावा तमाम उद्योगों से है)।[1] इस प्रकार, सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का यह स्रोत लगातार बहता रहता है। परन्तु शहरों की ओर लगातार जो धारा बहती रहती है, उसके लिये जरूरी है कि खुद देहात में हमेशा अव्यक्त अतिरिक्त जन-संख्या बनी रहे, जिसका विस्तार केवल उसी समय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जब इस धारा के द्वार असाधारण चौड़ाई तक खोल दिये जाते हैं। [इसीलिये खेतिहर मजदूर को सदा कम से कम मजदूरी मिलती है, और उसका एक पैर सदा कंगाली के दलदल में फंसा रहता है।

तीसरे प्रकार की सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या, निष्प्रवाह अतिरिक्त जन-संख्या, सक्रिय श्रमिक सेना का ही एक भाग होती है, परन्तु उसको बहुत ही अनियमित रूप से काम मिलता है। अतः उसके रूप में पूंजी के लिये सदा उपलब्ध श्रम-शक्ति का एक अक्षय भण्डार तैयार हो जाता है। इन श्रमिकों का जीवन-स्तर मजदूर-वर्ग के औसत सामान्य जीवन-स्तर के नीचे गिर जाता है, और इस कारण श्रमिकों का यह हिस्सा तुरन्त ही पूंजीवादी शोषण की विशेष शाखाओं का व्यापक आधार बन जाता है। इस हिस्से की विशेष बात यह होती है कि उसे ज्यादा से

---

[1] १८६१ की जन-गणना में इंगलैण्ड और वेल्स के जिन ७८१ शहरों का जिक्र है, उनमें "१,०६,६०,६६८ व्यक्ति रहते थे, जब कि गांवों में और देहाती बस्तियों के लोगों की संख्या ६१,०५,२२६ थी। १८५१ की जन-गणना में ५८० शहरों का शहर के रूप में जिक्र किया गया था, और उनकी तथा इर्द-गिर्द के देहात की आबादी लगभग बराबर थी। परन्तु उसके बाद के दस वर्षों में जहां गांवों और देहात की आबादी में ५ लाख का इज़ाफ़ा हुआ, वहां ५८० शहरों की आबादी में पन्द्रह लाख (१५,५४,०६७) की वृद्धि हुई। देहाती बस्तियों की आबादी ६.५ प्रतिशत बढ़ गयी, शहरों की आबादी १७.३ प्रतिशत बढ़ गयी। वृद्धि की दर के इस अन्तर का कारण यह है कि लोग देहात छोड़कर शहरों में चले आये थे। आबादी में कुल जितनी वृद्धि हुई है, उसका तीन चौथाई भाग शहरों की आबादी में वृद्धि का है।" ("*Census, &c.*" ['जन-गणना, इत्यादि'], पृ० ११ और १२।)

ज्यादा देर तक काम करना पड़ता है और कम से कम मजदूरी मिलती है। इसके प्रधान रूप का हम 'घरेलू उद्योग' शीर्षक से पहले ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं। इस हिस्से में आधुनिक उद्योग और खेती के फ़ालतू मजदूर बराबर भर्ती होते रहते हैं, उसमें ख़ास तौर पर उद्योग की उन पतनोन्मुख शाखाओं के मजदूर भर्ती होते हैं, जिनमें दस्तकारी हस्तनिर्माण के सामने मिटती जा रही है और हस्तनिर्माण को मशीनें कुचलती जा रही हैं। जैसे-जैसे संचय के विस्तार और तेजी के साथ अतिरिक्त जन-संख्या बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह हिस्सा भी बढ़ता जाता है। परन्तु इसके साथ-साथ मजदूर-वर्ग का यह एक ऐसा तत्व है, जो खुद अपना पुनरुत्पादन करता रहता है, जो अपने को हमेशा जिन्दा रखता है और जो मजदूर-वर्ग की सामान्य वृद्धि में उसके अन्य तत्वों की अपेक्षा ज्यादा बड़ा हिस्सा लेता है। सच पूछिये, तो न सिर्फ़ जन्म और मृत्यु की संख्या का, बल्कि परिवारों के निरपेक्ष आकार का भी मजदूरी की दर की ऊंचाई के साथ प्रतिलोम अनुपात होता है, अर्थात् उनका अलग-अलग कोटि के मजदूरों को जीवन-निर्वाह के जो साधन मिलते हैं, उनकी मात्रा के साथ प्रतिलोम अनुपात होता है। पूंजीवादी समाज का यह नियम जंगलियों के सम्बन्ध में और यहां तक कि सभ्य उपनिवेशियों के सम्बन्ध में भी बिल्कुल बेतुका प्रतीत होगा। उससे उन पशुओं के अंधाधुंध और सीमाहीन पुनरुत्पादन की याद आती है, जिनमें से हरेक अलग-अलग बहुत कमज़ोर होता है और इसलिये जो हमेशा दूसरे पशुओं के शिकार बनते रहते हैं।[1]

अन्त में हम सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या की सबसे नीचे की तलछट पर आते हैं, जो कंगाली की दुनिया में रहती है। आवारा लोगों, अपराधियों, वेश्याओं और एक शब्द में कहें, तो "ख़तरनाक" वर्गों के अलावा समाज के इस स्तर में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक, वे, जो काम कर सकते हैं। इंगलैण्ड में कंगालों के आंकड़ों पर एक सतही नजर डालने पर भी यह बात साफ़ हो जाती है कि कंगालों की संख्या हर संकट के साथ बढ़ जाती है और व्यवसाय में नयी जान पड़ने पर हर बार घट जाती है। दूसरे, इस स्तर में अनाथ और मुहताज बच्चे शामिल होते हैं। ये औद्योगिक रिज़र्व सेना में भर्ती होने के उम्मीदवार होते हैं, और जब बहुत समृद्धि का काल आता है, जैसा, मिसाल के लिये, १८६० में आया था, तब ये बहुत जल्दी से और बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों की सक्रिय सेना में भर्ती हो जाते हैं। तीसरे, इस स्तर में वे लोग आते हैं, जिनका मनोबल टूट चुका है, जो पतन के गर्त में बहुत गहरे गिर गये हैं और जो काम करने के अयोग्य हैं। ये बहुधा वे लोग होते हैं, जिनमें श्रम-विभाजन के कारण यह क्षमता नहीं

---

[1] "ग़रीबी प्रजनन के लिये अनुकूल प्रतीत होती है" (ऐडम स्मिथ)। बल्कि रसिक और परिहास-प्रिय पादरी गालियानी का तो यह तक विचार है कि यह एक विशेष रूप से बुद्धिमत्तापूर्ण ईश्वरीय विधान है। "Iddio af che gli uomini che esercitano mestieri di prima utilità nascono abbondantemente" ["इसी का यह नतीजा है कि जो लोग प्राथमिक उपयोगिता के धंधों में काम करते हैं, वे ख़ूब बच्चे पैदा करते हैं"] (Galiani, उप० पु०, पृ० ७८)। "तबाही यदि अकाल और महामारी की चरम सीमा तक बढ़ जाये, तो भी आबादी का बढ़ना रुकता नहीं, बल्कि उल्टे वह और बढ़ जाती है।" (S. Laing, "*National Distress*" [एस० लैंग, 'राष्ट्रीय विपत्ति'], 1844, पृ० ६६।) अपने कथन को आंकड़ों से प्रमाणित करने के बाद लैंग ने आगे लिखा है: "यदि सभी लोगों को सुख और चैन से रहने का अवसर मिले, तो पृथ्वी शीघ्र ही जनहीन हो जायेगी।"

रहती कि जो काम उनको मिल सकता है, उसको कर सकें, और जो अपनी अक्षमता के सामने सिर झुका देते हैं; ये वे लोग होते हैं, जिनकी आयु मजदूर की सामान्य आयु से आगे निकल गयी है; इनमें उद्योग के मारे हुए लोग – अपंग, रोगी, विधवाएं आदि – भी शामिल होते हैं, जिनकी संख्या खतरनाक मशीनों, खानों, रासायनिक कारखानों आदि की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। कंगाली सक्रिय श्रमिक सेना का अस्पताल और औद्योगिक रिजर्व सेना के गले का पत्थर होती है। सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या पैदा होती है, तो उसके साथ-साथ कंगाल भी पैदा होते जाते हैं। जैसे सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का होना आवश्यक है, वैसे ही कंगालों का होना भी आवश्यक है। अतिरिक्त जन-संख्या के साथ-साथ कंगाली का होना भी पूंजीवादी उत्पादन की और धन के पूंजीवादी विकास की एक आवश्यक शर्त है। वह पूंजीवादी उत्पादन के faux frais (अनुत्पादक व्यय) का भाग है, परन्तु पूंजी इस खर्चे को – या उसके अधिकतर भाग को – अपने कंधों से हटाकर मजदूर-वर्ग के और निम्न मध्य वर्ग के कंधों पर डाल देने का तरीक़ा जानती है।

सामाजिक धन, कार्यरत पूंजी, उसके विकास का विस्तार तथा तेजी और इसलिये सर्वहारा की निरपेक्ष संख्या तथा उसके श्रम की उत्पादकता जितनी बढ़ती जाती हैं, औद्योगिक रिजर्व सेना का भी उतना ही विस्तार होता जाता है। जिन कारणों से पूंजी के विस्तार की शक्ति बढ़ती है, उन्हीं कारणों से पूंजी के इस्तेमाल के लिये सदा तैयार रहने वाली श्रम-शक्ति भी बढ़ती जाती है। इसलिये, औद्योगिक रिजर्व सेना का सापेक्ष परिमाण धन की संभावी क्रिया-शक्ति के साथ-साथ बढ़ता जाता है। परन्तु सक्रिय श्रमिक सेना के अनुपात में यह रिजर्व सेना जितनी बड़ी होती है, उतनी ही विशाल एक समेकित अतिरिक्त जन-संख्या तैयार होती जाती है, जिसकी ग़रीबी उसकी मेहनत की यातना के प्रतिलोम अनुपात में होती है। और, अन्त में, मजदूर-वर्ग का यह कंगाल स्तर और औद्योगिक रिजर्व सेना जितने बड़े होते हैं, सरकारी काग़ज़ों में उतने ही अधिक मुहताज दर्ज होते हैं। यह पूंजीवादी संचय का निरपेक्ष सामान्य नियम है। अन्य सभी नियमों की तरह यह नियम भी जब व्यवहार में आता है, तब उसमें ऐसी बहुत सी बातों के फलस्वरूप कुछ संशोधन हो जाता है, जिनका यहां विश्लेषण करने की जरूरत नहीं है।

अब अर्थशास्त्र के उन पण्डितों की मूर्खता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, जो मजदूरों से यह कहा करते हैं कि उनको अपनी संख्या को सदा पूंजी की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाते रहना चाहिये। पूंजीवादी उत्पादन और संचय का यंत्र तो स्थायी रूप से इस व्यवस्थापन को अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रभावित करता रहता है। इस अनुकूलन की पुस्तक का पहला शब्द यह है कि एक सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या अथवा औद्योगिक रिजर्व सेना पैदा कर दी जाती है; उसका आख़िरी शब्द है श्रमिकों की सक्रिय सेना के लगातार बढ़ते हुए हिस्सों की ग़रीबी और उनके गले में लटका हुआ मुहताजी का पत्थर।

जिस नियम के अनुसार सामाजिक श्रम की उत्पादकता के विकास के फलस्वरूप उत्तरोत्तर कम मानव-शक्ति खर्च करके उत्पादन के साधनों की अधिकाधिक बड़ी मात्रा को गतिमान बनाना सम्भव होता है, वह नियम पूंजीवादी समाज में, जहां मजदूर उत्पादन के साधनों से काम नहीं लेता, बल्कि उत्पादन के साधन मजदूर से काम लेते हैं, बिल्कुल उलटा रूप धारण कर लेता है। पूंजीवादी समाज में यह नियम इस प्रकार व्यक्त होता है कि श्रम की उत्पादकता जितनी ज्यादा होती है, उत्पादन के साधनों पर मजदूरों का दबाव उतना ही बढ़ जाता है और इसलिये

मजदूरों के अस्तित्व की शर्त का पूरा होना उतना ही मुश्किल हो जाता है, अर्थात् अपनी श्रम-शक्ति को दूसरे का धन बढ़ाने के लिये, या पूंजी के आत्म-विस्तार के लिये बेचना उनके लिये उतना ही कठिन हो जाता है। अतः यह तथ्य कि उत्पादन के साधन और श्रम की उत्पादकता उत्पादक जन-संख्या की अपेक्षा ज्यादा तेजी से बढ़ती हैं, पूंजीवादी समाज में इस उल्टे रूप में व्यक्त होता है कि श्रमजीवी जन-संख्या उन परिस्थितियों की अपेक्षा सदा ज्यादा तेजी से बढ़ती है, जिनमें पूंजी इस वृद्धि का अपने आत्म-विस्तार के लिये उपयोग कर सकती है।

भाग ४ में सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का विश्लेषण करते हुए हमने यह देखा था कि पूंजीवादी समाज के भीतर श्रम की सामाजिक उत्पादकता को बढ़ाने के सारे तरीक़े अलग-अलग मजदूर का गला काटकर अमल में आते हैं; उत्पादन का विकास करने के सारे साधन उत्पादकों पर आधिपत्य जमाने तथा उनका शोषण करने के साधनों में बदल जाते हैं, वे मजदूर का अंग-भंग करके उसको मनुष्य का एक अपखण्ड बना देते हैं, उसको किसी मशीन का उपांग मात्र बना देते हैं, मजदूर के लिये उसके काम का सारा आकर्षण ख़तम कर देते हैं तथा उसे एक घृणित श्रम में परिणत कर देते हैं; जिस हद तक श्रम-क्रिया में विज्ञान का एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में समावेश होता जाता है, उसी हद तक उत्पादन के विकास के ये साधन मजदूर को श्रम-क्रिया की बौद्धिक क्षमताओं से दूर करते जाते हैं; मजदूर जिन परिस्थितियों में काम करता है, वे उनको विकृत कर देते हैं; वे श्रम-क्रिया के दौरान में मजदूर को एक ऐसी निरंकुशता के आधीन बना देते हैं, जो अपनी तुच्छता के कारण और भी अधिक घृणित होती है; वे उसके पूरे जीवन-काल को श्रम-काल में बदल देते हैं और उसकी पत्नी और बच्चों को भी पूंजी के रथ के नीचे कुचले जाने के लिये ला पटकते हैं। लेकिन अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के सारे तरीक़े साथ ही संचय के भी तरीक़े होते हैं, और संचय का जब कभी विस्तार होता है, तो वह इन तरीक़ों को और विकसित करने का साधन बन जाता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस अनुपात में पूंजी का संचय होता जाता है, उसी अनुपात में मजदूर की हालत,—उसको चाहे ज्यादा मजदूरी मिलती हो, चाहे कम,—बिगड़ती जाती है। अन्त में, वह नियम, जो सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या या औद्योगिक रिजर्व सेना का संचय के विस्तार और तेजी के साथ सदा संतुलन स्थापित किया करता है, मजदूर को पूंजी के साथ इतनी मजबूती के साथ जड़ देता है, जितनी मजबूती के साथ वल्कन की बनायी हुई कीलें भी प्रोमीथियस को चट्टान के साथ नहीं जड़ सकी थीं। पूंजी के संचय के साथ-साथ इस नियम के फलस्वरूप ग़रीबी का भी संचय होता जाता है। इसलिये, यदि एक छोर पर धन का संचय होता है, तो उसके साथ-साथ दूसरे छोर पर,—यानी उस वर्ग के छोर पर, जो खुद अपने श्रम की पैदावार को पूंजी के रूप में तैयार करता है,—ग़रीबी, यातनापूर्ण परिश्रम, दासता, अज्ञान, पाशविकता और मानसिक पतन का संचय होता जाता है।

पूंजीवादी संचय के इस आत्म-विरोधी स्वरूप[1] की अर्थशास्त्रियों ने अनेक प्रकार से व्याख्या

---

[1] "De jour en jour il devient donc plus clair que les rapports de production dans lesquels se meut la bourgeoisie n'ont pas un caractère un, un caractère simple, mais un caractère de duplicité; que dans les mêmes rapports dans lesquels se produit la richesse, la misère se produit aussi; que dans les mêmes

की है, हालांकि वे लोग उसे बहुधा ऐसी घटनाओं के साथ गड़बड़ा देते हैं, जो कुछ हद तक तो जरूर इस चीज से मिलती-जुलती हैं, पर फिर भी जो बुनियादी तौर पर बिल्कुल भिन्न कोटि की घटनाएं होती हैं और जिनका सम्बंध पूंजीवाद से पहले की उत्पादन-प्रणालियों से है।

वेनिस का संन्यासी ओर्तेस १८ वीं शताब्दी के महान अर्थशास्त्रियों में गिना जाता है। वह पूंजीवादी उत्पादन के इस आत्म-विरोधी स्वरूप को सामाजिक धन का सामान्य एवं स्वाभाविक नियम मानता है। उसने लिखा है: "किसी भी राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में अच्छी बातें और बुरी बातें सदा एक-दूसरे का संतुलन क़ायम रखती हैं (il bene ed il male economico in una nazione sempre all, istessa misura); कुछ लोगों के पास धन की जितनी बहुतायत होती है, दूसरों के पास धन का ठीक उतना ही अभाव होता है (la copia dei beni in alcuni sempre eguale alla mancanza di essi in altri); थोड़े से लोगों के पास यदि बेशुमार दौलत होती है, तो उसके साथ-साथ सदा बहुत से अन्य लोगों के पास जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं का भी सर्वथा अभाव होता है। किसी भी राष्ट्र का धन उसकी जन-संख्या के अनुपात में होता है, और उसकी ग़रीबी उसके धन के अनुपात में होती है। कुछ लोगों की मेहनत दूसरों को काहिल बना देती है। ग़रीब और बेकार लोग धनी और सक्रिय लोगों का लाजिमी नतीजा होते हैं," इत्यादि, इत्यादि[1]। ओर्तेस के यह लिखने के

---

rapports dans lesquels il y a développement des forces productives, il y a une force productive de répression; que ces rapports ne produisent la richesse bourgeoise, c'est-à-dire la richesse de la classe bourgeoise, qu'en anéantissant continuellement la richesse des membres intégrants de cette classe et en produisant un prolétariat toujours croissant." ["दिन-ब-दिन यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है कि उत्पादन के जिन सम्बंधों के भीतर पूंजीपति-वर्ग घूमता रहता है, उनका न तो कोई अखण्ड और न ही सरल स्वरूप होता है, बल्कि उनका दोहरा स्वरूप होता है; जितना अधिक धन पैदा होता है, उतनी ही अधिक ग़रीबी भी पैदा होती जाती है, और जितना उत्पादन की शक्तियों का विकास होता है, उतना ही दमन पैदा करने वाली एक शक्ति का विकास होता जाता है; ये सम्बंध पूंजीवादी धन का, अर्थात् पूंजीपति-वर्ग के धन का उत्पादन करते हैं, तो केवल इसी तरह कि वे इस वर्ग के अलग-अलग सदस्यों के व्यक्तिगत धन को लगातार नष्ट करते चलते हैं और एक ऐसे सर्वहारा को जन्म देते हैं, जिसकी संख्या लगातार बढ़ती जाती है।"] (Karl Marx, "*Misère de la Philosophie*", पृ० ११६।)

[1] G. Ortes, "*Della Economia Nazionale libri sei, 1777*"; Custodi के संग्रह में; देखिये उसका Parte Moderna (आधुनिक भाग), ग्रंथ २१ (XXI), पृ० ६, ६, २२, २५ इत्यादि। इसी पुस्तक के पृ० ३२ पर ओर्तेस ने लिखा है: "In luoco di progettar sistemi inutili per la felicità de'popoli, mi limiterò a investigare la ragione della loro infelicità" ("काल्पनिक व्यवस्थाएं गढ़ने के बजाय, जिनसे लोगों को सुखी बनाने में जरा भी सहायता नहीं मिलेगी, मैं अपने को केवल उनके दु:खों के कारणों का अध्ययन करने तक ही सीमित रखूंगा")।

46*

लगभग दस वर्ष बाद अंग्रेज़ी चर्च के पादरी टाउनसेण्ड ने बड़ी ही क्रूरता का परिचय देते हुए धन की आवश्यक शर्त के रूप में ग़रीबी का गुणगान किया। उन्होंने लिखा: "यदि (लोगों को) क़ानूनी ढंग से (श्रम करने के लिये) बाध्य किया जाये, तो उसमें बहुत परेशानी उठानी पड़ती है, ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी पड़ती है, और बहुत हो-हल्ला मचता है,.. परन्तु भूख न केवल शान्तिपूर्ण और ख़ामोश ढंग के एक निरन्तर दबाव का काम करती है, बल्कि वह उद्योग और परिश्रम करने की सबसे अधिक स्वाभाविक प्रेरणा के रूप में लोगों से ज़बर्दस्त ढंग की मेहनत कराती है।" इसलिये, सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि किसी तरह मज़दूर-वर्ग के लिये भूख को एक स्थायी चीज़ बना दिया जाये; और टाउनसेण्ड का ख़याल है कि इसके लिये जन-संख्या के सिद्धान्त ने, जो कि ग़रीबों में ख़ास तौर पर सक्रिय रहता है, समुचित व्यवस्था कर दी है। उन्होंने लिखा है: "मालूम होता है कि ग़रीबों का किसी हद तक अदूरदर्शी (improvident) होना भी प्रकृति का ही नियम है" (ग़रीब इसलिये अदूरदर्शी हैं कि वे किसी धनी के घर में नहीं पैदा हुए), "ताकि कुछ लोग हमेशा ऐसे भी हों (that there may always be some), जो समाज के सबसे नीच, सबसे गंदे और सबसे ज़्यादा ज़िल्लत वाले कामों को पूरा करें। इससे मानव-सुख के भण्डार (the stock of human happiness) की भारी वृद्धि हो जाती है, और अधिक सुकुमार (the more delicate) व्यक्तियों को न केवल कठिन परिश्रम से छुटकारा मिल जाता है,.. बल्कि अपनी-अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार वे जिन धंधों के लिये उपयुक्त होते हैं, उनको उनका निर्बाध अनुसरण करने की स्वतंत्रता मिल जाती है... संसार में भगवान तथा प्रकृति ने जो व्यवस्था क़ायम कर रखी है, यह (ग़रीबों का क़ानून) उसके माधुर्य एवं सौंदर्य को और उसकी समिति तथा व्यवस्था को नष्ट कर सकता है।"[1] यदि वेनिस का वह संन्यासी यह समझता था कि जिस नियति ने ग़रीबी को एक शाश्वत चीज़

[1] "*A Dissertation on the Poor Laws. By a Well-wisher of Mankind. (The Rev. J. Townsend) 1786*" ['ग़रीबों के क़ानूनों पर एक प्रबंध। मानवता के एक शुभचिन्तक (रेवरेंड जे० टाउनसेंड) द्वारा लिखित, १७८६'], १८१७ में लन्दन में पुनः प्रकाशित, पृ० १५, ३६, ४१। इस "सुकुमार" पादरी की ऊपर उद्धृत की गयी रचना से तथा पुस्तिका "*Journey through Spain*" ('स्पेन की यात्रा') से भी माल्थूस ने अक्सर पूरे के पूरे पृष्ठ नक़ल किये हैं, लेकिन ख़ुद इस पादरी ने अपने मत का अधिकांश सर जेम्स स्टीवर्ट से उधार लिया है, हालांकि उधार लेते हुए उसने उनके विचारों में हेर-फेर कर दिया है। मिसाल के लिये, स्टीवर्ट ने लिखा था कि "दास-प्रथा में" (काम न करने वालों के हित में) "मानवता को मेहनती बनाने का तरीक़ा था—ज़बर्दस्ती... तब मनुष्यों से इसलिये ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था" (यानी उनसे इस कारण दूसरों के हित में मुफ़्त काम कराया जाता था) "कि वे दूसरों के दास थे; अब मनुष्यों को इसलिये काम करना पड़ता है" (यानी उनको इस कारण काम न करने वालों के हित में मुफ़्त काम करना पड़ता है) "कि वे ज़रूरतों के दास होते हैं।" लेकिन यह लिखने के बाद स्टीवर्ट ने मुफ़्त की खाने वाले उस मोटे पादरी की तरह इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला था कि मज़दूरों को सदा उपवास करते रहना चाहिये। इसके विपरीत, उनकी इच्छा यह थी कि मज़दूरों की ज़रूरतें बराबर बढ़ती जायें और उनकी ज़रूरतों की बढ़ती हुई संख्या से उनको "अधिक सुकुमार" व्यक्तियों के लिये श्रम करने की प्रेरणा मिलती रहे।

बना दिया है, उसी में ईसाइयों की दानवृत्ति, ब्रह्मचर्य, मठों और पवित्र स्थानों के अस्तित्व का raison d'être (औचित्य) निहित है, तो यह धर्म-याजक प्रोटेस्टेंट पादरी यह समझता है कि नियति के इस विधान के कारण उन तमाम क़ानूनों को अनुचित घोषित कर देना चाहिये, जिनके मातहत ग़रीबों को थोड़ी सी सार्वजनिक सहायता पाने का अधिकार मिल जाता था।

स्तोर्च ने लिखा है: "सामाजिक धन बढ़ता है, तो उससे समाज का यह उपयोगी वर्ग उत्पन्न हो जाता है... वह सब से ज्यादा थका देने वाले, सबसे गंदे और सबसे अधिक घृणित काम करता है,—और संक्षेप में कहा जाये, तो जीवन में जो कुछ भी अरुचिकर और दासोचित है, उसे वह अपने कंधों पर संभाल लेता है और इस प्रकार अन्य वर्गों के लिये अवकाश, चित्त की प्रसन्नता और चरित्र की रूढ़िगत (c'est bon!) [ख़ूब!] गरिमा को सम्भव बनाता है।"[1] उसके बाद स्तोर्च अपने से प्रश्न करते हैं कि जब इस पूंजीवादी सभ्यता के साथ-साथ इतनी ग़रीबी फैलती है और आम जनता का ऐसा पतन होता है, तब बर्बरता की तुलना में उसे प्रगति का सूचक क्यों समझा जाता है? इस प्रश्न का स्तोर्च के पास केवल एक ही जवाब है। वह यह कि पूंजीवाद में मनुष्यों को सुरक्षा प्राप्त होती है!

सिस्मोंदी ने लिखा है: "उद्योग तथा विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप हरेक मजदूर उसके उपभोग के लिये जितना आवश्यक होता है, वह रोजाना उससे कहीं ज्यादा पैदा कर सकता है। लेकिन इसके साथ ही साथ यह भी है कि उसका श्रम वैसे तो धन पैदा करता है, परन्तु इस धन का यदि वह ख़ुद उपभोग करने लगे, तो वह उसकी श्रम करने की योग्यता को पहले से कम कर देगा।" सिस्मोंदी के विचार से, "लोग" (अर्थात् काम न करने वाले) "सम्भवतः कला के समस्त विकास और कारख़ानों की बनी तमाम चीजों के आनन्द से वंचित रहना ही ज्यादा पसन्द करेंगे, यदि इन चीजों के एवज में उन्हें मजदूरों की तरह लगातार मेहनत करनी पड़े... आजकल मेहनत और उसके मुआवजे के बीच में एक दीवार खड़ी हो गयी है। जो आदमी काम करता है, बाद को फिर वही आदमी आराम नहीं करता, बल्कि एक क्योंकि काम करता है, इसलिये दूसरा आराम करता है... अतएव श्रम की उत्पादक शक्तियों के लगातार बढ़ते जाने का केवल यही परिणाम हो सकता है कि जो काम नहीं करते, उन धनियों के विलास और भोग में वृद्धि होती जाये।"[2]

अन्त में, उस हृदयहीन पूंजीवादी मतवादी, देस्तूत दे त्रेसी को सुनिये, जिसने साफ़-साफ़ और दो-टूक कह दिया है कि "ग़रीब राष्ट्रों में जनता सुख से रहती है; धनी राष्ट्रों में वह आम तौर पर ग़रीबी का जीवन बिताती है।"[3]

---

[1] Storch, उप० पु०, ग्रंथ ३, पृ २२३।

[2] Sismondi, उप० पु०, पृ० ७६, ८०, ८५।

[3] Destutt de Tracy, उप० पु०, पृ० २३१: "Les nations pauvres, c'est là où le peuple est à son aise; et les nations riches, c'est là où il est ordinairement pauvre."

## अनुभाग ५ – पूंजीवादी संचय के सामान्य नियम के उदाहरण

### (क) इंगलैण्ड में १८४६ से १८६६ तक

पूंजीवादी संचय का अध्ययन करने के लिये आधुनिक समाज का और कोई काल इतना उपयोगी नहीं है, जितना पिछले २० वर्ष का काल है। लगता है, जैसे इस काल को कहीं पर फ़ोरचुनेटस की थैली पड़ी हुई मिल गयी थी। लेकिन अन्य सब देशों की अपेक्षा सब से अच्छा उदाहरण फिर इंगलैण्ड में ही मिलता है। वह इसलिये कि दुनिया की मण्डी में उसका सर्वप्रमुख स्थान है; वही एक ऐसा देश है, जहां पूंजीवादी उत्पादन का पूर्ण विकास हुआ है, और अन्तिम कारण यह कि १८४६ से वहां स्वतंत्र व्यापार का स्वर्ण-युग क़ायम हो गया है, जिसके फलस्वरूप अप्रामाणिक अर्थशास्त्र का आख़िरी सहारा भी टूट गया है। इंगलैण्ड में उत्पादन ने जो प्रचण्ड प्रगति की है, – और उसमें भी इन बीस वर्षों के काल का उत्तरार्ध पूर्वार्ध से जिस तरह बहुत आगे निकल गया है, – उसकी ओर भाग ४ में पर्याप्त संकेत किया जा चुका है।

यद्यपि पिछले पचास वर्षों में इंगलैण्ड की जन-संख्या में बहुत बड़ी निरपेक्ष वृद्धि हुई है, तथापि उसकी सापेक्ष वृद्धि, या वृद्धि की दर, लगातार कम होती गयी है, जैसा कि जन-गणना से ली गयी निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है:

इंगलैण्ड और वेल्स की जन-संख्या
में हर वर्ष की औसत प्रतिशत वृद्धि
(दशकों के अनुसार)

| | |
|---|---|
| १८११ – १८२१ | १.५३३ प्रतिशत |
| १८२१ – १८३१ | १.४४६ " |
| १८३१ – १८४१ | १.३२६ " |
| १८४१ – १८५१ | १.२१६ " |
| १८५१ – १८६१ | १.१४१ " |

दूसरी ओर, यह देखिये कि धन में कितनी वृद्धि हुई है। यहां हमारी जानकारी का सबसे पक्का आधार है उन मुनाफ़ों, ज़मीन के लगान आदि का उतार-चढ़ाव, जिसपर आय-कर लगता है। इंगलैण्ड में जिन मुनाफ़ों पर आय-कर लगता है (इनमें काश्तकारों और कुछ अन्य लोगों के मुनाफ़े शामिल नहीं हैं), उनमें १८५३ और १८६४ के बीच ५०.४७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, जिसका वार्षिक औसत ४.५८ प्रतिशत बैठता है।[1] इसी काल में जन-संख्या की वृद्धि १२ प्रतिशत रही है। ज़मीन के जिस लगान या किराये पर कर लगता है (जिसमें मकानों, रेलों, खानों, मीन-क्षेत्रों आदि का लगान और किराया भी शामिल है), उसमें १८५३ से १८६४

---

[1] *"Tenth Report of the Commissioners of H. M. Inland Revenue"* ('महामहिम सम्राट के कमिश्नरों की दसवीं रिपोर्ट। अन्तर्देशीय आय'), London, 1866, पृ० ३८।

तक ३८ प्रतिशत – या ३$\frac{५}{१२}$ प्रतिशत सालाना – की वृद्धि हुई थी। इस मद में सबसे अधिक वृद्धि निम्नलिखित कोटियों में हुई है:

| | १८५३ की अपेक्षा १८६४ में कितनी अधिक वार्षिक आय हुई | वार्षिक वृद्धि |
|---|---|---|
| मकान. . . . . . . . | ३८.६० प्रतिशत | ३.५० प्रतिशत |
| पत्थर की खानें . . . | ८४.७६ " | ७.७० " |
| खानें . . . . . . . . . | ६८.८५ " | ६.२६ " |
| लोहे के कारखाने . . . | ३९.९२ " | ३.६३ " |
| मीन-क्षेत्र . . . . . . | ५७.३७ " | ५.२१ " |
| गैस के कारखाने. . . . | १२६.०२ " | ११.४५ " |
| रेलें . . . . . . . . . | ८३.२९ " | ७.५७ "[1] |

यदि हम १८५३ से १८६४ तक के इस काल के चार-चार वर्षों के तीन चौकड़ों की एक दूसरे के साथ तुलना करें, तो हम पाते हैं कि आय की वृद्धि की दर लगातार बढ़ती जाती है। मिसाल के लिये, मुनाफ़ों से होने वाली आय में १८५३ से १८५७ तक हर साल १.७३ प्रतिशत की, १८५७ से १८६१ तक २.७४ प्रतिशत की और १८६१ से १८६४ तक ९.३० प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। संयुक्तांगल राज्य में आय-कर की मद में आने वाली कुल आय १८५६ में ३०,७०,६८,८९८ पौण्ड, १८५९ में ३२,८१,२७,४१६ पौण्ड, १८६२ में ३५,१७,४५,२४१ पौण्ड, १८६३ में ३५,९१,४२,८९७ पौण्ड, १८६४ में ३६,२४,६२,२७९ पौण्ड और १८६५ में ३८,५५,३०,०२० पौण्ड थी।[2]

पूंजी के संचय के साथ-साथ उसके संकेन्द्रण और केन्द्रीयकरण की क्रियाएं भी चलती रही थीं। यद्यपि इंगलैण्ड में खेती के कोई सरकारी आंकड़े नहीं हैं (आयरलैण्ड में हैं), तथापि १०

---

[1] उप० पु०, पृ० ३८।

[2] ये आंकड़े तुलना करने के लिये तो ठीक हैं, पर निरपेक्ष दृष्टि से वे झूठे हैं, क्योंकि हर साल शायद १०,००,००,००० पौण्ड की आय की सरकार को कोई सूचना नहीं मिलती। अन्तर्देशीय आय के कमिश्नर अपनी रिपोर्टों में हर बार सुनियोजित ढंग से राज्य को ठगे जाने की शिकायत करते हैं और यह शिकायत करते हैं कि व्यापारी तथा औद्योगिक वर्ग तो ख़ास तौर पर ऐसा करते हैं। मिसाल के लिये, एक रिपोर्ट में कहा गया है: "एक सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनी ने अपने हिसाब में दिखाया कि उसे ६,००० पौण्ड का ऐसा मुनाफ़ा हुआ है, जिसपर आय-कर लगना चाहिये; आपरीक्षक ने इस रक़म को बढ़ाकर ८८,००० पौण्ड कर दिया, और अन्त में कम्पनी ने इसी रक़म के आधार पर कर दिया। एक और कम्पनी ने हिसाब में १,९०,००० पौण्ड का मुनाफ़ा दिखाया था, पर अन्त में उसे यह स्वीकार करना पड़ा था कि असल में यह रक़म २,५०,००० पौण्ड होनी चाहिये थी।" (उप० पु०, पृ० ४२।)

काउंटियों में लोगों ने स्वेच्छा से खेती के आंकड़े दिये हैं। इनसे पता चलता है कि १८५१ से १८६१ तक १०० एकड़ से कम के फ़ार्मों की संख्या ३१,५८३ से कम होकर २६,५६७ रह गयी थी, जिसका मतलब यह है कि ५,०१६ फ़ार्म बड़े फ़ार्मों में मिल गये थे।[1] १८१५ से १८२५ तक १०,००,००० पौण्ड से अधिक की कोई व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति उत्तराधिकार-कर की मद में नहीं आयी थी; लेकिन १८२५ और १८५५ के बीच ऐसी ८ भू-सम्पत्तियां और १८५६ तथा जून १८५९ के बीच, अर्थात् $४\frac{१}{२}$ वर्षों में, ऐसी ४ भू-सम्पत्तियां उत्तराधिकार-कर की मद में आयीं।[2] लेकिन केन्द्रीयकरण का सबसे अच्छा उदाहरण १८६४ और १८६५ की आय-कर की अनुसूची "D" (फ़ार्मों आदि के सिवा अन्य प्रकार के मुनाफ़ों पर लगने वाला आय-कर) का संक्षिप्त विश्लेषण करने पर देखा जा सकता है। सबसे पहले मैं यह बता दूं कि इस मद में ६० पौण्ड से अधिक की प्रत्येक आय को income tax (आय-कर) देना पड़ता है। इंगलैण्ड, स्कोटलैण्ड और आयरलैण्ड में इस प्रकार की आयों का कुल जोड़ १८६४ में ९,५८,४४,२२२ पौण्ड और १८६५ में १०,५४,३५,५७९ पौण्ड था।[3] जिन व्यक्तियों पर कर लगा, १८६४ में उनकी कुल संख्या ३,०८,४१६ थी, जब कि देश की आबादी २,३८,९१,००९ थी; और १८६५ में उनकी संख्या ३,३२,४३१ थी, जब कि देश की आबादी २,४१,२७,००३ थी। नीचे की तालिका में दिखाया गया है कि इन दो वर्षों में इन आयों का बंटवारा किस तरह हुआ था:

| | ५ अप्रैल १८६४ को समाप्त होने वाला वर्ष | | ५ अप्रैल १८६५ को समाप्त होने वाला वर्ष | |
|---|---|---|---|---|
| | मुनाफ़ों से होने वाली आय | व्यक्तियों की संख्या | मुनाफ़ों से होने वाली आय | व्यक्तियों की संख्या |
| कुल आय | ९,५८,४४,२२२ पौण्ड | ३,०८,४१६ | १०,५४,३५,७३८ | ३,३२,४३१ |
| इसमें से | ५,७०,२८,२८९ " | २३,३३४ | ६,४५,५४,२९७ | २४,२६५ |
| – " – | ३,६४,१५,२२५ " | ३,६१९ | ४,२५,३५,५७६ | ४,०२१ |
| – " – | २,२८,०९,७८१ " | ८३२ | २,७५,५५,३१३ | ९७३ |
| – " – | ८७,४४,७६२ " | ९१ | १,१०,७७,२३८ | १०७ |

[1] "*Census, &c.*" ('जनगणना, आदि'), खण्ड ३, पृ० २९। जान ब्राइट के इस कथन का आज तक खण्डन नहीं हुआ है कि १५० जमींदार आधे इंगलैण्ड के मालिक हैं और १२ जमींदार स्कोटलैण्ड की आधी भूमि के स्वामी हैं।

[2] "*Fourth Report, &c., of Inland Revenue*" ('महामहिम सम्राट के कमिश्नरों की चौथी रिपोर्ट। अन्तर्देशीय आय'), London, 1860, पृ० १७।

[3] ये शुद्ध आय की रक़में हैं, अर्थात् उनमें से कुछ ऐसी रक़में घटा दी गयी हैं, जिनको काट देने की क़ानूनी अनुमति मिली हुई है।

१८५५ में संयुक्तांगल राज्य में ६,१४,५३,०७९ टन कोयला निकला था, जिसका मूल्य १,६१,१३,२६७ पौण्ड था; १८६४ में वहां ९,२७,८७,८७३ टन कोयला निकला, जिसका मूल्य २,३१,९७,९९८ पौण्ड था। संयुक्तांगल राज्य में १८५५ में ३२,१८,१५४ टन अशुद्ध लोहा निकाला गया था, जिसका मूल्य ८०,४५,३८५ पौण्ड था; १८६४ में वहां ४७,६७,९५१ टन अशुद्ध लोहा निकाला गया, जिसका मूल्य १,१९,१९,८७७ पौण्ड था। १८५४ में संयुक्तांगल राज्य में रेल की कुल जितनी लाइनें इस्तेमाल होती थीं, उनकी लम्बाई ८,०५४ मील थी, और उनमें २८,६०,६८,७९४ पौण्ड की चुकती पूंजी लगी हुई थी; १८६४ तक रेलों की लम्बाई १२,७८९ मील हो गयी थी और चुकती पूंजी ४२,५७,१९,६१३ पौण्ड पर पहुंच गयी थी। १८५४ में संयुक्तांगल राज्य के आयात और निर्यात का कुल जोड़ २६,८२,१०,१४५ पौण्ड था, १८६५ तक वह ४८,९९,२३,२८५ पौण्ड हो गया था। निर्यात की गति इस तालिका से स्पष्ट हो जाती है:

| | |
|---|---|
| १८४६ – ५,८८,४२,३७७ पौण्ड | १८६० – १३,५८,४२,८१७ पौण्ड |
| १८४९ – ६,३५,९६,०५२ " | १८६५ – १६,५८,६२,४०२ " |
| १८५६ – ११,५८,२६,९४८ " | १८६६ – १८,८९,१७,५६३ "[1] |

इन चंद उदाहरणों के बाद यह बात समझ में आ जाती है कि ब्रिटिश जनता के रजिस्ट्रार-जनरल ने इतने विजयोल्लास के साथ यह क्यों कहा था कि "देश की जन-संख्या तेजी से बढ़ी है, पर वह उतनी तेजी से नहीं बढ़ी है, जितनी तेजी से उद्योग और धन का विकास हुआ है।"[2]

आइये, अब इस उद्योग के प्रत्यक्ष अभिकर्ताओं, या इस धन के उत्पादकों – अर्थात् मजदूर-वर्ग – की ओर ध्यान दें। ग्लैड्स्टन ने कहा है: "इस देश की सामाजिक अवस्था की यह एक सबसे अधिक शोचनीय विशेषता है कि जिस समय जनता की उपभोग करने की शक्तियां कम हो रही थीं और जिस समय श्रमजीवी वर्ग तथा कारीगरों की ग़रीबी और कष्ट बढ़ रहे थे, उसी समय ऊपरी वर्गों में लगातार धन का संचय होता जा रहा था और उनकी पूंजी लगातार बढ़ती जा रही थी।"[3] इस बगुलाभगत मंत्री ने १३ फ़रवरी १८४३ को हाउस आफ़ कामन्स में यह कहा था।

---

[1] इस समय, यानी मार्च १८६७ में, फिर हिन्दुस्तानी और चीनी मंडियां अंग्रेज़ी सूती सामान की गांठों से अटी हुई हैं। १८६६ में सूती मिलों के कारीगरों की मजदूरी में ५ प्रतिशत की कटौती हुई थी। १८६७ में इसी प्रकार की एक कटौती के परिणामस्वरूप प्रेस्टन में २०,००० मजदूरों की हड़ताल भी हुई। [चौथे जर्मन संस्करण का नोट: यह उस संकट की भूमिका थी, जो उसके शीघ्र बाद ही फट पड़ा। – फ़्रे० एं०]

[2] "*Census, &c.*" ('जनगणना, आदि'), खण्ड ३, पृ० ११।

[3] १३ फ़रवरी १८४३ को हाउस आफ़ कामन्स में ग्लैड्स्टन का भाषण। "*The Times*", 14th February 1843 ('टाइम्स', १४ फ़रवरी १८४३)। – "इस देश की सामाजिक अवस्था की यह एक सबसे अधिक शोचनीय विशेषता है कि हम आज यह देखते हैं और इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि जहां जनता की उपभोग करने की शक्तियों में इस समय कमी आ गयी है और ग़रीबी और कष्ट का दबाव बढ़ता जा रहा है, वहां उसके साथ-साथ ऊपरी वर्गों में धन का लगातार संचय हो रहा है, उनकी भोग-विलास की प्रवृत्तियां बढ़ती जा रही हैं और उनके भोग-विलास के साधनों में वृद्धि हो गयी है।" ("*Hansard*", 13th February 1843 ['हैंसर्ड', १३ फ़रवरी १८४३]।)

उसके बीस वर्ष बाद उसने १६ अप्रैल १८६३ को बजट पेश करते हुए अपने भाषण में यह कहा कि "१८४२ से १८५२ तक देश की कर लगाने योग्य आय में ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई... १८५३ से १८६१ तक के ८ वर्षों में वह १८५३ के आधार से २० प्रतिशत ऊपर उठ गयी! यह तथ्य इतना आश्चर्यजनक है कि उसपर सहसा विश्वास नहीं होता... धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि... पूरी तरह सम्पत्तिवान वर्गों तक सीमित है... उससे श्रमजीवी जन-संख्या को अप्रत्यक्ष लाभ पहुंचना चाहिये, क्योंकि इससे सामान्य उपभोग के माल सस्ते हो जाते हैं। इधर धनी अधिकाधिक धनी होते जा रहे हैं, उधर ग़रीबों की ग़रीबी कम होती जा रही है। बहरसूरत, मैं यह दावा नहीं करता कि दरिद्रता की चरम सीमाएं कुछ कम हो गयी हैं।"[1] कहां तो ग्लैड्स्टन इतने ऊंचे उड़ रहे थे और कहां यकायक इतने नीचे आ गिरे! यदि मज़दूर-वर्ग अब भी "ग़रीब" बना हुआ है, यदि उसकी ग़रीबी केवल उसी अनुपात में कम हुई है, जिस अनुपात में वह धनी वर्ग के लिये "धन और शक्ति की मदोन्मत्त कर देने वाली वृद्धि" करता जाता है, तो ज़ाहिर है कि सापेक्ष दृष्टि से वह अब भी उतना ही ग़रीब है। यदि ग़रीबी की चरम सीमाएं पहले से कम नहीं हुई हैं, तो ज़ाहिर है कि वे बढ़ गयी हैं, क्योंकि उधर धन की चरम सीमाएं बढ़ गयी हैं। जहां तक जीवन-निर्वाह के साधनों के सस्ते होने का प्रश्न है, सरकारी आंकड़ों से, मिसाल के लिये, London Orphan Asylum (लन्दन अनाथालय) के हिसाब से पता चलता है कि यदि १८६० से १८६२ तक के तीन वर्षों के औसत की १८५१-१८५३ के औसत से तुलना की जाये, तो दामों में १० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। अगले तीन साल में, यानी १८६३-६५ में, मांस, मक्खन, दूध, चीनी, नमक, कोयला और जीवन-निर्वाह के कई अन्य आवश्यक साधनों के दाम उत्तरोत्तर बढ़ते गये।[2] ग्लैड्स्टन ने अगला बजट पेश करने के समय, ७ अप्रैल १८६४ को, जो भाषण दिया, उसमें अतिरिक्त मूल्य कमाने की कला और "ग़रीबी" की चाशनी के साथ मिली हुई जनता की ख़ुशी का महाकवि पिंदार जैसा प्रशस्ति-गान किया गया है। उसमें उन्होंने कंगाली के कगार पर खड़े जन-साधारण की चर्चा की है, व्यवसाय की उन शाखाओं का ज़िक्र किया है, जिनमें "मज़दूरी नहीं बढ़ी है," और अन्त में मज़दूर-वर्ग की ख़ुशी का निचोड़ इन शब्दों में पेश किया है: "दस में से नौ आदमियों के लिए मानव-जीवन किसी तरह ज़िन्दा रहने के संघर्ष का नाम है।"[3] प्रोफ़ेसर फ़ौसेट को चूंकि ग्लैड्स्टन की तरह

[1] १६ अप्रैल १८६३ को हाउस आफ़ कामन्स में ग्लैड्स्टन का भाषण। "*Morning Star*", April 17th ('मार्निंग स्टार', १७ अप्रैल)।

[2] सरकारी प्रकाशन "*Miscellaneous Statistics of the United Kingdom*" ('संयुक्तांगल राज्य के विविध आंकड़े') में सरकारी विवरण देखिये ; भाग ६, London, 1866, पृ० २६०–२७३, विभिन्न स्थानों पर। अनाथालयों आदि के आंकड़ों के बजाय यदि मंत्रियों की पत्रिकाओं के उन लेखों को पढ़ा जाये, जिनमें राजकुमारों और राजकुमारियों के विवाहों के लिये दहेज की सिफ़ारिश की गयी है, तो उनसे भी इस बारे में काफ़ी जानकारी मिल सकती है। कारण कि इन लेखों में जीवन-निर्वाह के साधनों की बढ़ी हुई महंगाई को हमेशा ध्यान में रखा जाता है।

[3] ७ अप्रैल १८६४ को हाउस आफ़ कामन्स में ग्लैड्स्टन का भाषण।–"*Hansard*" में यह अंश इस प्रकार है: "फिर–और यह बात और भी अधिक व्यापक रूप में सत्य है–ज़्यादातर लोगों के लिये मानव-जीवन किसी तरह ज़िन्दा रहने के संघर्ष के सिवा और क्या है?"–

सरकारी हित-अहित का कोई ख्याल नहीं था, इसलिये उन्होंने साफ़-साफ़ यह कह दिया है कि "ज़ाहिर है, मैं इससे इनकार नहीं करता कि (पिछले दस वर्षों में) पूंजी की जो वृद्धि हुई है, उसके फलस्वरूप नक़द मजदूरी में इज़ाफ़ा हुआ है, लेकिन ऊपर से देखने में जो यह लाभ हुआ है, वह काफ़ी हद तक बेकार साबित हुआ है, क्योंकि जीवन के लिये आवश्यक बहुत सी वस्तुएं अधिकाधिक महंगी होती जा रही हैं" (प्रोफ़ेसर फ़ौसेट का ख्याल है कि बहुमूल्य धातुओं के मूल्य में गिराव आ जाने के कारण इन वस्तुओं के दाम बढ़ते जा रहे हैं) ... "धनी तेजी के साथ और भी धनी बनते जा रहे हैं (the rich grow rapidly richer), जब कि औद्योगिक वर्गों की सुख-सुविधाओं में कोई प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती ... उनको (मजदूरों को) जिन व्यापारियों का क़र्जा देना होता है, वे उनके एक तरह से ग़ुलाम बन जाते हैं।"[1]

काम के दिन और मशीनों सम्बन्धी अध्यायों में पाठक देख चुके हैं कि ब्रिटिश मजदूर-वर्ग ने किन परिस्थितियों में सम्पत्तिवान वर्गों के लिये "धन और सत्ता की मदोन्मत कर देने वाली वृद्धि" की थी। वहां हमने मजदूर के केवल सामाजिक कार्य पर विचार किया था। लेकिन संचय के नियम का पूरी तरह स्पष्टीकरण करने के लिये हमें इसपर भी विचार करना चाहिये कि वर्कशाप के बाहर उसकी क्या हालत है और भोजन तथा निवास-स्थान की दृष्टि से उसकी क्या दशा है। स्थानाभाव के कारण हम यहां पर केवल औद्योगिक सर्वहारा के सबसे कम मजदूरी पाने वाले हिस्से पर, और खेतिहर मजदूरों पर ही विचार करेंगे; ये दोनों हिस्से मिलकर मजदूर-वर्ग का अधिकांश हो जाते हैं।

लेकिन उसके पहले दो शब्द सरकारी मुहताजों के बारे में, या मजदूर-वर्ग के उस भाग के बारे में कह दिये जायें, जो जिन्दा रहने की शर्त पूरी करने में (यानी अपनी श्रम-शक्ति बेचने में) असमर्थ है और जो सार्वजनिक भीख के सहारे एड़ियां रगड़ रहा है। १८५५ में

---

ग्लैड्स्टन के १८६३ और १८६४ के बजट-भाषणों में जो इतनी सारी परस्पर विरोधी बातें दिखाई देती हैं, उनके लिये एक अंग्रेज लेखक ने बोयलियो (Boileau, "*Oeuvres*", खण्ड १, London, 1780, पृ० ५३) की निम्न पंक्तियां उद्धृत की हैं:

> "Voilà l'homme en effet. Il va du blanc au noir,
> Il condamne au matin ses sentiments du soir.
> Importun à tout autre, à soi-même incommode,
> Il change à tout moment d'esprit comme de mode."
>
> ("यह देखो, वह इंसान कि जो पल भर में रंग बदलता है।
> संध्या की अपनी बातों का प्रातः ही खंडन करता है।
> बन शील-विनय की मूर्ति स्वयं के हित का अनहित करता है।
> हर घड़ी बदलते फ़ैशन सा मन को हर घड़ी बदलता है।)

("*The Theory of Exchanges, &c.*" ('मुद्रा के बाज़ारों का सिद्धान्त, इत्यादि'), London, 1864, पृ० १३५।)

[1] H. Fawcett, उप० पु०, पृ० ६७-८२। जहां तक फुटकर दूकानदारों पर मजदूरों की बढ़ती हुई निर्भरता का सम्बंध है, वह इस बात का नतीजा है कि मजदूरों की नौकरी के मामले में अक्सर उतार-चढ़ाव आता रहता है और बीच-बीच में उनकी नौकरी छूट जाती है।

इंगलैण्ड[1] में मुहताजों की सरकारी सूची में ८,५१,३६९ व्यक्ति दर्ज थे, १८५६ में ८,७७,७६७ और १८६५ में ९,७१,४३३। कपास के अकाल के कारण १८६३ में उनकी संख्या बढ़कर १०,७९,३८२ और १८६४ में १०,१४,९७८ हो गयी थी। १८६६ के संकट का लन्दन पर सबसे अधिक भयानक प्रभाव पड़ा था। उसने संसार की मण्डी के इस केन्द्र में, जिसकी जन-संख्या पूरे स्कोटलैण्ड राज्य की जन-संख्या से अधिक है, मुहताजों की संख्या को इतना ज्यादा बढ़ा दिया कि १८६५ की तुलना में १८६६ में उनकी तादाद १९.५ प्रतिशत अधिक हो गयी और १८६४ की तुलना में २४.४ प्रतिशत बढ़ गयी, और १८६६ की तुलना में १८६७ के शुरू के महीनों में तो मुहताजों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हो गयी। मुहताजों के आंकड़ों का विश्लेषण करने पर दो बातें सामने आती हैं। एक तो यह कि मुहताजों की संख्या में जो उतार-चढ़ाव आता रहता है, उसमें औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तन प्रतिबिंबित होते हैं। दूसरी यह कि जैसे-जैसे पूंजी के संचय के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष का और इसलिये श्रमजीवियों की वर्ग-चेतना का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे मुहताजों की वास्तविक संख्या के बारे में सरकारी आंकड़े अधिकाधिक भ्रामक बनते जाते हैं। उदाहरण के लिये, पिछले दो साल से अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाएं (*"The Times"*, *"Pall Mall Gazette"* आदि) इसका बड़ा शोर मचा रही हैं कि मुहताजों के साथ बर्बर व्यवहार किया जाता है, परन्तु असल में यह चीज़ बहुत पुरानी है। फ़्रे० एंगेल्स ने १८४४ में ठीक इन्हीं विभीषिकाओं का वर्णन किया था और उन्होंने बताया था कि उस ज़माने में भी "सनसनीखेज़ खबरें" छापने वाले अख़बारों ने कुछ समय के लिये इसी तरह का ढोंग रचा था और इन चीज़ों के बारे में बहुत शोर मचाया था। लेकिन पिछले दस वर्षों में लन्दन में "भूख से मर जाने वालों" ("deaths by starvation") की संख्या में जो भयानक वृद्धि हुई है, उससे इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं रहता कि मज़दूरी-पेशा लोग मुहताजख़ानों की दासता से, जहां लोगों को उनकी ग़रीबी की सज़ा दी जाती है, कितना डरते हैं और उनका यह डर कितनी तेज़ी से बढ़ता जा रहा है।[2]

## (ख) ब्रिटिश औद्योगिक मज़दूर-वर्ग का बहुत कम मज़दूरी पाने वाला हिस्सा

१८६२ के कपास के अकाल के दिनों में प्रिवी काउंसिल ने डा० स्मिथ को लंकाशायर और चेशायर के दुखी कारीगरों की पोषण सम्बंधी स्थिति की जांच करने का काम दिया था। इसके पहले, अनेक वर्षों के निरीक्षण के बाद, डा० स्मिथ इस नतीजे पर पहुंचे थे कि "भूख से जो बीमारियां पैदा हो जाती हैं (starvation diseases), उनको दूर रखने के लिये" ज़रूरी है कि औसत ढंग की स्त्री के दैनिक भोजन में कम से कम ३,९०० ग्रेन

---

[1] यहां वेल्स को हर जगह इंगलैण्ड में शामिल कर लिया गया है।

[2] ऐडम स्मिथ के दिनों के मुक़ाबले में अब ज़माना कितनी तरक़्क़ी कर गया है, इसका एक सबूत यह है कि ऐडम स्मिथ तक कभी-कभी "manufactory" ("हस्तनिर्माणशाला") के लिये "workhouse" ("मुहताज-ख़ाना") शब्द का प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिये, श्रम-विभाजन सम्बंधी अध्याय के शुरू में उन्होंने लिखा था: "धंधे की हर अलग-अलग शाखा में काम करने वालों को अक्सर एक ही मुहताज-ख़ाने में इकट्ठा किया जा सकता है।"

कार्बन और १८० ग्रेन नाइट्रोजन हो और औसत ढंग के पुरुष के दैनिक भोजन में कम से कम ४,३०० ग्रेन कार्बन और २०० ग्रेन नाइट्रोजन हो; इसका मतलब यह है कि स्त्रियों को उतने पोषक पदार्थ मिलने चाहिये, जितने २ पौण्ड वज़न की गेहूं की अच्छी डबल रोटी में होते हैं, और पुरुषों के भोजन में उससे $\frac{१}{९}$ अधिक पोषक पदार्थ होने चाहिये; इस प्रकार, वयस्क पुरुषों और स्त्रियों को सप्ताह में औसतन कम से कम २८,६०० ग्रेन कार्बन और १,३३० ग्रेन नाइट्रोजन मिलने चाहिये। डा० स्मिथ का यह अनुमान उस समय बड़े आश्चर्यजनक ढंग से व्यवहार में प्रमाणित हो गया, जब अभाव और दरिद्रता ने सूती मिलों के कारीगरों के उपभोग को कम करते-करते अल्पतम सीमा पर पहुंचा दिया और जब यह पता चला कि यह सीमा वही थी, जिसपर डा० स्मिथ अपने अध्ययन के फलस्वरूप पहुंचे थे। दिसम्बर १८६२ में सूती मजदूरों का औसत उपभोग प्रति सप्ताह २९,२११ ग्रेन कार्बन और १,२९५ ग्रेन नाइट्रोजन पर पहुंच गया था।

१८६३ में प्रिवी काउंसिल ने अंग्रेज मजदूर-वर्ग के सब से कम पोषण पाने वाले हिस्से की जांच करने का आदेश दिया। प्रिवी काउंसिल के मेडिकल-अफ़सर डा० साइमन ने इस काम के लिये उपरोक्त डा० स्मिथ को चुना। उनकी जांच के क्षेत्र में एक तरफ़ यदि खेतिहर मजदूर आ गये थे, तो दूसरी तरफ़ वह रेशम की बुनाई करने वाले मजदूरों, सीने-पिरोने का काम करने वाली औरतों, चमड़े के दस्ताने बनाने वालों, मोज़े बनाने वालों, दस्ताने बनाने वालों और जूते बनाने वालों तक फैला हुआ था। मोज़े बनाने वालों को छोड़कर ये तमाम औद्योगिक मजदूर शहरों के रहने वाले थे। जांच के लिये यह नियम बना लिया गया था कि प्रत्येक कोटि में से केवल सबसे अधिक स्वस्थ परिवारों को, जिनकी दशा औरों से अच्छी है, छांटा जायेगा।

और इस जांच का सामान्य परिणाम यह निकला कि "घर के अन्दर काम करने वाले कारीगरों की जितनी कोटियों की जांच की गयी, उनमें से केवल एक ही कोटि ऐसी थी, जिसको मात्र पर्याप्तता के अनुमानित मानदण्ड (अर्थात् जितनी नाइट्रोजन भूख से पैदा होने वाली बीमारियों को दूर रखने के लिये आवश्यक थी) से ज़रा सी अधिक नाइट्रोजन मिल जाती थी, एक और कोटि लगभग अनुमानित मानदण्ड तक पहुंच जाती थी और दो के पोषण में नाइट्रोजन और कार्बन दोनों की कमी थी – और एक कोटि के पोषण में तो ये दोनों तत्व बहुत ही कम थे। इसके अलावा, जहां तक उन खेतिहर परिवारों का सम्बंध है, जिनकी जांच की गयी, उनके बारे में यह पता चला कि उनमें से बीस प्रतिशत से अधिक को कार्बन वाला भोजन पर्याप्तता के अनुमानित मानदण्ड से कम मिलता है, एक तिहाई से अधिक को नाइट्रोजन वाला भोजन पर्याप्तता के अनुमानित मानदण्ड से कम मिलता है और तीन काउंटियों (बर्कशायर, औक्सफ़ोर्डशायर और सोमरसेटशायर) के औसत ढंग के स्थानीय भोजन में नाइट्रोजन वाले पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं होते।"[1] जहां तक खेतिहर मजदूरों का सम्बंध था, संयुक्तांगल राज्य के सबसे धनी भाग – यानी इंगलैण्ड – के खेतिहर मजदूरों को सबसे खराब भोजन मिलता था।[2] खेतिहर मजदूरों में अपर्याप्त भोजन का सबसे घातक प्रभाव मुख्यतया स्त्रियों और बच्चों पर पड़ता था, क्योंकि समझा जाता था कि "पुरुष को तो खाना ही चाहिये,

---

[1] "*Public Health. Sixth Report, 1864*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट, १८६४'), पृ० १३।

[2] उप० पु०, पृ० १७।

क्योंकि उसे काम करना है।" जिन शहरी मजदूरों की जांच की गयी, उनकी हालत और भी खराब निकली। "इन लोगों को इतना बुरा भोजन मिलता है कि उनमें घोर अभाव के मारे हुए लोगों की संख्या निश्चय ही बहुत बड़ी होगी।"[1] (यह सब पूंजीपति के "अभावों" का ही सूचक है! अर्थात् उसके मजदूरों के केवल जिन्दा रहने के लिये जीवन-निर्वाह के जितने साधन नितान्त आवश्यक हैं, पूंजीपति उनको भी खरीदने के लिये अपने मजदूरों को काफ़ी मजदूरी नहीं देता और "इस सुख से वंचित रहता है"।)

डा० स्मिथ द्वारा निर्धारित अल्पतम मानदण्ड की तुलना में और सूती मिलों के मजदूरों को सबसे ज्यादा मुसीबत के जमाने में जितना भोजन मिलता था, उसके मुक़ाबले में विशुद्ध रूप से शहरों में रहने वाले मजदूरों की ऊपर गिनायी गयी कोटियों को कितना पोषण मिलता था, यह नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जाता है:

| स्त्री और पुरुष दोनों | प्रति सप्ताह औसतन कितना कार्बन मिलता था | प्रति सप्ताह औसतन कितना नाइट्रोजन मिलता था |
|---|---|---|
| उन पांच धंधों के मजदूरों को, जो मकानों के अन्दर बैठकर किये जाते थे, कितना पोषण मिलता था | २८,८७६ ग्रेन | १,१९२ ग्रेन |
| लंकाशायर के बेकार कारीगरों को कितना पोषण मिलता था . . . . . . . . . . . . . . . . . . | २८,२११ " | १,२९५ " |
| डा० स्मिथ के मतानुसार लंकाशायर के कारीगरों को पोषण की कम से कम कितनी मात्रा मिलनी चाहिये थी (यह हिसाब पुरुषों और स्त्रियों की संख्या को बराबर मानकर लगाया गया था) . . . . . . | २८,६०० " | १,३३० "[2] |

जितने प्रकार के औद्योगिक मजदूरों की हालत की जांच की गयी, उनमें से आधों को, या $\frac{६०}{१२५}$ को, बियर की एक बूंद भी नहीं मिलती थी, २८ प्रतिशत को दूध नहीं मिलता था। मजदूर-परिवारों को प्रति सप्ताह औसतन जितना द्रव पोषण मिलता था, उसकी मात्रा सबसे कम सीने-पिरोने का काम करने वाली औरतों में थी, जिनको सात औंस द्रव पोषण मिलता था, और सबसे ज्यादा मोजे बनाने वालों में थी, जिनको २४$\frac{३}{४}$ औंस द्रव पोषण मिलता था। जिन्हें दूध नहीं मिलता था, उनका अधिकतर भाग लन्दन की सीने-पिरोने का काम करने वाली औरतों का था। प्रति सप्ताह सब से कम रोटी का उपभोग सीने-पिरोने का काम करने वाली औरतें करती थीं, जो औसतन केवल ७$\frac{३}{४}$ पौण्ड रोटी इस्तेमाल करती थीं,

[1] उप० पु०, पृ० १३।

[2] उप० पु०, परिशिष्ट, पृ० २३२।

ग्रौर सबसे ग्रधिक रोटी जूते बनाने वालों के यहां खर्च होती थी, जो ग्रौसतन $११\frac{१}{२}$ पौण्ड रोटी का हर हफ़्ते उपयोग करते थे; यदि तमाम मजदूरों का ग्रौसत निकाला जाये, तो सप्ताह में एक वयस्क मजदूर ६.६ पौण्ड रोटी का उपभोग करता था। चमड़े के दस्ताने बनाने वाले सबसे कम शक्कर (शीरा, राब ग्रादि की शकल में) खाते थे। वे प्रति सप्ताह ४ ग्रौंस शक्कर इस्तेमाल करते थे। मोजे बनाने वाले सबसे ज्यादा – ११ ग्रौंस शक्कर – इस्तेमाल करते थे। ग्रौर सभी प्रकार के मजदूरों का ग्रौसत निकालने पर प्रति सप्ताह ग्रौर प्रति वयस्क मजदूर का ८ ग्रौंस शक्कर का खर्च बैठता था। मक्खन (चर्बी ग्रादि) का ग्रौसत साप्ताहिक खर्च ५ ग्रौंस प्रति वयस्क मजदूर था। मांस (सुग्रर का मांस इत्यादि) के साप्ताहिक खर्च का ग्रौसत रेशम की बुनाई करने वालों में सबसे कम था – $७\frac{१}{४}$ ग्रौंस, ग्रौर चमड़े के दस्ताने बनाने वालों में सबसे ज्यादा था – $१८\frac{१}{४}$ ग्रौंस; विभिन्न प्रकार के तमाम मजदूरों का ग्रौसत निकाला जाये, तो हर वयस्क मजदूर प्रति सप्ताह १३.६ ग्रौंस मांस खर्च करता था। एक वयस्क मजदूर हर सप्ताह ग्रपने भोजन पर कुल कितना पैसा खर्च करता था, इसका ग्रौसत निकालने पर प्रत्येक कोटि के लिये निम्नलिखित संख्याएं सामने ग्राती हैं: रेशम बुनने वाला २ शिलिंग $२\frac{१}{२}$ पेन्स खर्च करता था, सीने-पिरोने का काम करने वाली ग्रौरत २ शिलिंग ७ पेन्स, चमड़े के दस्ताने बनाने वाला २ शिलिंग $९\frac{१}{२}$ पेन्स, जूते बनाने वाला २ शिलिंग $७\frac{३}{४}$ पेन्स ग्रौर मोजे बनाने वाला २ शिलिंग $६\frac{१}{४}$ पेन्स। मैक्लेजफ़ील्ड के रेशम बुनने वाले मजदूरों में से प्रत्येक केवल १ शिलिंग $८\frac{१}{२}$ पेन्स प्रति सप्ताह भोजन पर खर्च करता था। सबसे खराब हालत सीने-पिरोने का काम करने वाली ग्रौरतों, रेशम की बुनाई करने वालों ग्रौर चमड़े के दस्ताने बनाने वालों की थी।[1]

डा० साइमन ने सामान्य स्वास्थ्य की ग्रपनी रिपोर्ट में इन तथ्यों की चर्चा करते हुए कहा है: "जिस डाक्टर ने भी ग़रीबों के क़ानून के मातहत लोगों का इलाज किया है या जिसे ग्रस्पतालों के वार्डों या बाह्य रोगी-कक्षों का थोड़ा बहुत ग्रनुभव है, वह इस बात की पुष्टि कर सकता है कि बहुत से रोग दोषपूर्ण भोजन के कारण पैदा होते हैं, या उग्र रूप धारण कर लेते हैं ... परन्तु, मेरी राय में, यहां एक ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण सफ़ाई सम्बंधी संदर्भ को याद रखना जरूरी है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भोजन के ग्रभाव को लोग बहुत ग्रनिच्छापूर्वक सहन करते हैं, ग्रौर ग्राम तौर पर भोजन में कमी उस वक़्त ग्राती है, जब उसके पहले ग्रन्य प्रकार के ग्रभाव ग्रा चुके होते हैं। इसके बहुत पहले कि भोजन की कमी स्वास्थ्य की दृष्टि से चिन्ता का विषय बन जाये ग्रौर देहव्यापार-विज्ञान-विशारद नाइट्रोजन ग्रौर कार्बन के उन कणों को गिनने की सोचें, जो जीवन ग्रौर भुखमरी के बीच सीमा-रेखा

[1] उप० पु०, पृ० २३२, २३३।

का काम करते हैं, – इसके बहुत पहले घर का सारा भौतिक सुख चला जाता है; कपड़े और ईंधन की कमी भोजन की कमी से भी ज्यादा भयानक रूप धारण कर लेती है; मौसम की निष्ठुरताओं से बचने के बहुत कम साधन रह जाते हैं; रहने का स्थान इतना कम हो जाता है कि भीड़ के कारण बीमारियां पैदा होने या बढ़ने लगती हैं; घर का सारा फ़र्नीचर और बर्तन-भांडे चले जाते हैं, और यहां तक कि सफ़ाई रखना भी बहुत महंगा या बहुत मुश्किल काम प्रतीत होने लगता है, – और यदि इस हालत पर पहुंच जाने के बाद भी आत्म-सम्मान सफ़ाई रखने की कोशिश करता है, तो ऐसी हर कोशिश के लिये पेट और भी काटा जाता है। घर सब से कम किराये वाले मुहल्लों में लिया जाता है; ये वे मुहल्ले होते हैं, जहां सफ़ाई सम्बन्धी निरीक्षणों का सब से कम असर हुआ है, जहां गन्दे पानी की निकासी का सब से कम इन्तज़ाम है, जहां सब से कम सफ़ाई होती है, जहां सार्वजनिक अनुत्रास को रोकने का सब से कम प्रबंध है, जहां पानी का सब से कम या सब से ख़राब इन्तज़ाम है, और यदि शहर का मामला है, तो जहां सब से कम रोशनी और हवा मयस्सर होती है। जब ग़रीबी इस हद तक पहुंच जाती है कि खाने की तंगी होने लगती है, तब स्वास्थ्य के लिये इन तमाम ख़तरों का पैदा हो जाना लगभग अनिवार्य हो जाता है। और जहां ये सारे ख़तरे मिलकर ज़िन्दगी के लिये एक बहुत भयानक चीज़ बन जाते हैं, वहां अकेली भोजन की कमी ही अत्यन्त चिन्ताजनक बात होती है ... ये बातें ऐसी हैं, जिनके बारे में सोचकर बहुत दुःख होता है, – ख़ास तौर पर इसलिये कि यहां जिस ग़रीबी की चर्चा है, वह काहिलों की ग़रीबी नहीं है, जिसका अपना औचित्य होता है। यह तो हर जगह मेहनत करने वालों की ग़रीबी है। सच पूछिये, तो जहां तक मकानों के अन्दर बैठकर काम करने वालों का सम्बंध है, सब से कम भोजन प्रायः उन लोगों को मिलता है, जिनको सब से ज्यादा देर तक काम करना पड़ता है। ज़ाहिर है कि इस तरह के काम को केवल एक सीमित अर्थ में ही आत्म-निर्भर व्यक्तियों का काम समझा जा सकता है ... और यह नाम-मात्र की आत्म-निर्भरता प्रायः मुहताजी के संक्षिप्त या लम्बे मार्ग का ही काम करती है।"[1]

मजदूर-वर्ग के सब से ज्यादा मेहनती हिस्सों की भुखमरी और पूंजीवादी संचय पर आधारित, धनी लोगों के असंस्कृत अथवा सुसंस्कृत अपव्ययी उपभोग के बीच जो अन्तरंग सम्बंध होता है, वह हमें केवल उसी समय दिखाई देता है, जब हमें आर्थिक नियमों का ज्ञान होता है। "ग़रीबों के रहने की व्यवस्था" की बात दूसरी है। जिसमें पूर्वाग्रह नहीं है, ऐसा प्रत्येक पर्यवेक्षक जानता है कि उत्पादन के साधनों का जितना अधिक केन्द्रीयकरण होता है, मजदूरों की उतनी ही बड़ी संख्या को थोड़े से स्थान के भीतर भर दिया जाता है; और पूंजीवादी संचय जितनी तेजी से होता है, मेहनत करने वालों के रहने के मकान उतने ही ख़राब होते हैं। धन की वृद्धि होने के साथ-साथ जब शहरों का "सुधार" (improvements) किया जाता है – बेढंगे मकानों को गिरा दिया जाता है, बैंकों, गोदामों आदि के लिये महल खड़े किये जाते हैं, व्यावसायिक यातायात के लिये, धनियों की बड़ी-बड़ी गाड़ियों और ट्राम-गाड़ियों आदि के लिये सड़कें चौड़ी की जाती हैं, – तब ग़रीबों को उनके बुरे घरों से निकालकर और भी बुरे तथा और भी अधिक भीड़ से भरे बिलों में छिपने के लिये मजबूर कर दिया जाता है। दूसरी ओर, हर कोई जानता है कि मकानों का किराया उनकी अच्छाई के प्रतिलोम अनुपात

---

[1] उप० पु०, पृ० १४, १५।

में होता है, और मकान किराये पर उठाकर लोगों को लूटने वाले ग़रीबी की खानों से जितना कम खर्च करके जितना ज्यादा मुनाफ़ा कमाते हैं, उतने कम खर्च से उतना ज्यादा मुनाफ़ा पोतोसी की चांदी की खानों के मालिक भी नहीं कमा पाते थे। पूंजीवादी संचय का आत्म-विरोधी स्वरूप और इसलिये आम तौर पर पूंजीवादी सम्पत्ति-सम्बंधों का भी आत्म-विरोधी स्वरूप[1] यहां इतने स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है कि इस विषय की सरकारी रिपोर्टें तक "सम्पत्ति तथा उनके अधिकारों" की तीव्र एवं परम्पराद्रोही आलोचनाओं से भरी हुई हैं। उद्योग के विकास, पूंजी के संचय और शहरों के विकास तथा "सुधार" के साथ-साथ यह बुराई ऐसा भयानक रूप धारण कर लेती है कि १८४७ और १८६४ के बीच केवल छूत की बीमारियों के डर से, जो कि "संभ्रांत लोगों" को भी नहीं छोड़ती हैं, संसद ने सफ़ाई के बारे में कम से कम १० क़ानून बनाये और लिवरपूल, ग्लासगो आदि कुछ शहरों के सहमे हुए पूंजीपतियों ने अपनी नगर-पालिकाओं के जरिये जोरदार क़दम उठाये। फिर भी डा० साइमन ने अपनी १८६५ की रिपोर्ट में कहा है: "यदि मोटे तौर पर देखा जाये, तो हम कह सकते हैं कि इंगलैंड में इन बुराइयों पर कोई नियंत्रण नहीं है।" १८६४ में प्रिवी काउंसिल के आदेश पर खेतिहर मजदूरों के रहने के स्थानों की जांच की गयी, १८६५ में शहरों के ज्यादा ग़रीब वर्गों के रहने के घरों की जांच की गयी। डा० जूलियन हण्टर के इस प्रशंसनीय कार्य के निष्कर्ष हमें "*Public Health*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य') की सातवीं (१८६५) और आठवीं (१८६६) रिपोर्टों में मिलते हैं। खेतिहर मजदूरों का मैं बाद को जिक्र करूंगा। शहरी मजदूरों की क्या हालत थी, इसके विषय में मैं पहले डा० साइमन की एक सामान्य टिप्पणी उद्धृत करूंगा। उन्होंने लिखा है: "यद्यपि मेरा सरकारी दृष्टिकोण केवल भौतिक बातों से ही सम्बंध रखता है, तथापि साधारण मानवता का तक़ाजा है कि इस बुराई के दूसरे पहलुओं को अनदेखा न किया जाये ... जब रहने के घरों में बहुत ज्यादा भीड़ हो जाती है, तब उसके परिणामस्वरूप अनिवार्य रूप से सारा संकोच इस बुरी तरह खतम हो जाता है, देहों और दैहिक व्यापारों की ऐसी अशोभनीय गड़बड़ पैदा हो जाती है और दैहिक एवं लैंगिक नग्नता का ऐसा उद्घाटन होता है कि उसे मनुष्योचित न कहकर पाशविक कहना ज्यादा सही होगा। ऐसे घातक प्रभावों से प्रभावित होना पतन के गड्ढे में गिर जाना है, और जिनपर ये प्रभाव लगातार काम करते रहते हैं, उनके लिये यह गड्ढा अधिकाधिक गहरा होता जाता है। जो बच्चे ऐसे घरों में पैदा होते हैं, वे बहुधा जन्म लेते ही इस गड्ढे में गिर पड़ते हैं। और यदि कोई यह चाहता है कि ऐसी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति अन्य बातों में कभी सभ्यता के उस वातावरण तक पहुंचने की चेष्टा करेंगे, जिसका मूल शारीरिक एवं नैतिक स्वच्छता है, तो उसके मन की इच्छा हरगिज-हरगिज पूरी नहीं हो पायेगी।"[2]

---

[1] "श्रमजीवी वर्ग के रहने के स्थानों के सम्बन्ध में जैसे ऐलानिया ढंग से और जितनी बेशर्मी के साथ सम्पत्ति के अधिकारों की वेदी पर व्यक्तियों के अधिकारों का बलिदान किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। हर बड़े शहर को नर-बलि देने का स्थान समझा जा सकता है, जहां लोभ के देवता की भेंट के रूप में हजारों को हर साल आग में जलना पड़ता है।" (S. Laing, उप० पु०, पृ० १५०।)

[2] "*Public Health, eighth report, 1866*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की आठवीं रिपोर्ट, १८६६'), पृ० १४, नोट।

भीड़ से भरे हुए ऐसे घरों के मामले में, जो इनसानों के रहने के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं, पहला नम्बर लन्दन का है। डा० हण्टर ने लिखा है: "दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक यह कि लन्दन में लगभग दस-दस हजार व्यक्तियों की कोई २० ऐसी बड़ी-बड़ी बस्तियां हैं, जिनकी हालत इतनी खराब है कि वैसी हालत मैंने इंगलैण्ड में और कहीं नहीं देखी, और वह लगभग पूर्णतया रहने के बुरे स्थानों के कारण है। दूसरी बात यह है कि २० वर्ष पहले की तुलना में आज इन बस्तियों के घरों में कहीं ज्यादा भीड़ है और वे कहीं अधिक टूट-फूट गये हैं।"[1] "कोई अतिशयोक्ति न होगी, यदि हम यह कहें कि लन्दन और न्यूकैसल के कुछ हिस्सों में लोग नरक का जीवन बिताते हैं।"[2]

इसके अलावा, लन्दन का जितना "सुधार" होता जाता है, उसकी पुरानी सड़कें और मकान जितने नष्ट होते जाते हैं, राजधानी में कारखानों की संख्या तथा मनुष्यों की भीड़ जितनी बढ़ती जाती है और, अन्त में, भूमि के लगान के साथ-साथ मकानों का किराया जितना ज्यादा होता जाता है, उतना ही वहां के मजदूर-वर्ग का अपेक्षाकृत खाता-पीता भाग तथा छोटे दूकानदार और निम्न मध्य वर्ग के अन्य तत्व भी रहने के घरों के मामले में इसी प्रकार की नारकीय परिस्थितियों के शिकार होते जाते हैं। "किराये इतने बढ़ गये हैं कि मेहनत करने वाले बहुत कम आदमी ऐसे हैं, जो एक से ज्यादा कमरे किराये पर ले सकते हैं।"[3] लन्दन में लगभग कोई मकान ऐसा नहीं है, जिसके ऊपर कई-एक "middlemen" ('बिचवइयों") का बोझा न हो। कारण कि लन्दन में जमीन का दाम उसकी वार्षिक आय की तुलना में हमेशा बहुत ज्यादा होता है और इसलिये हर खरीदार यह सट्टा लगाता है कि कुछ समय बाद वह जमीन के लिये जूरी के दाम (jury price) वसूल करने में कामयाब हो जायेगा (जब जमीन पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया जाता है, तब जूरी उसका दाम निर्धारित करती है) या पड़ोस में कोई बड़ा कारखाना बन जाने के कारण जमीन के मूल्य में असाधारण वृद्धि हो जायेगी। इसका नतीजा यह हुआ है कि "पट्टों के अन्तिम अंशों" को खरीदने का बाक़ायदा एक व्यापार चल पड़ा है। "जो भद्र लोग यह धंधा करते हैं, वे जो कुछ करते हैं, उनसे उसी की आशा की जानी चाहिये—जब तक किरायेदार उनकी मुट्ठी में

---

[1] उप० पु०, पृ० ८९।—इन बस्तियों के बच्चों का ज़िक्र करते हुए डा० हण्टर ने लिखा है: "ग़रीबों की घनी बस्तियों के इस युग के आरम्भ होने के पहले बच्चों को किस तरह पाला जाता था, यह बताने वाला अब कोई जिन्दा नहीं है। और बच्चों की इस मौजूदा पीढ़ी से, जो ऐसी परिस्थितियों में बड़ी हो रही है, जैसी परिस्थितियां इस देश में पहले कभी नहीं देखी गयी थीं; जो आधी-आधी रात तक हर उम्र के अधनंगे, नशे में चूर, गंदी बातें करने वाले झगड़ालू व्यक्तियों के साथ बैठी रहती है और जो इस तरह भविष्य में "ख़तरनाक वर्गों" में अपनी गिनती कराने के लिये अभी से शिक्षा प्राप्त कर रही है,—इस पीढ़ी से भविष्य में किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जानी चाहिये, अभी से यह बताने के लिये भविष्यवक्ता होने की आवश्यकता नहीं है।" (उप० पु०, पृ० ५६।)

[2] उप० पु०, पृ० ६२।

[3] "*Report of the Officer of Health of St. Martins-in-the-Fields, 1865*" ('सेंट मार्टिन्स-इन-दि-फ़ील्ड्स के स्वास्थ्य-अफ़सर की रिपोर्ट, १८६५')।

रहते हैं, तब तक वे उनसे जितना वसूल कर सकते हैं, करते हैं और अपने उत्तराधिकारियों के वास्ते कम से कम उनके पास छोड़ते हैं।"[1]

किराया हफ़्तेवार वसूला जाता है, इसलिये इन भद्र पुरुषों को इसका कोई ख़तरा नहीं रहता कि उसका किराया मारा जायेगा। शहर में रेल की लाइनें बिछ जाने के कारण लन्दन के पूर्वी भाग में हाल में "यह दृश्य देखने में आया है कि शनिवार की रात को बहुत से परिवार अपने इने-गिने सामान की पोटली सिर पर रखे हुए इधर-उधर घूम रहे हैं और सिवाय मुहताजख़ाने के और कोई स्थान उनके सिर छिपाने के लिये नहीं है।"[2] मुहताजख़ानों में पहले से ही भीड़ लगी हुई है, और संसद जिन "सुधारों" की अनुमति दे चुकी है, वे अभी आरम्भ ही हुए हैं। यदि मजदूरों के पुराने घर गिरा दिये जाते हैं, तो वे अपने पुराने मुहल्लों को छोड़ते नहीं, ज्यादा से ज्यादा वे उसकी सीमा पर जाकर बस जाते हैं और यथासम्भव उसके नजदीक ही रहते हैं। "ज़ाहिर है कि वे अपने कारख़ानों के ज्यादा से ज्यादा नजदीक रहने की कोशिश करते हैं। एक मुहल्ले के रहने वाले उस मुहल्ले के या अधिक से अधिक अगले मुहल्ले के आगे नहीं जाते और दो कमरों के बजाय एक-एक कमरे में ही रहना शुरू कर देते हैं, और यहां तक कि एक कमरे में भी काफ़ी सारे लोग रहने लगते हैं ... विस्थापित लोगों को पहले से ज्यादा किराया देने पर भी वैसा घर नहीं मिलता, जैसा कि मामूली सा घर वे छोड़ आये हैं ... स्ट्रैण्ड के ... आधे मजदूरों को काम पर जाने के लिये दो-दो मील पैदल चलना पड़ता है।"[3] यही स्ट्रैण्ड लन्दन की एक मुख्य और बड़ी सड़क है, जिसको देखकर आगन्तुक लन्दन की समृद्धि से सहज ही प्रभावित हो जाता है; पर वह इस बात का भी एक अच्छा उदाहरण है कि इस शहर में इनसानों को कैसे ठसाठस भर दिया गया है। स्वास्थ्य-अफ़सर ने हिसाब लगाया था कि इस सड़क के एक मुहल्ले में ५८१ व्यक्ति प्रति एकड़ भरे हुए हैं, हालांकि टेम्स नदी का आधा पाट भी इस हिसाब में शामिल है। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि सफ़ाई का प्रत्येक ऐसा क़दम, जो रहने के अयोग्य मकानों को गिराकर मजदूरों को एक मुहल्ले से भगा देता है,–और लन्दन में अभी तक यही होता रहा है,–उसका महज यही नतीजा होता है कि किसी और मुहल्ले में मजदूरों की और भी ज्यादा भीड़ हो जाती है। डाक्टर हण्टर ने लिखा है: "या तो यह क्रिया एक बेहूदगी होने के नाते अपने आप बन्द हो जायेगी और या जनता की दया (!) प्रभावपूर्ण ढंग से बढ़ जायेगी और वह इस जिम्मेदारी को समझेगी–जिसे अब बिना किसी अतिशयोक्ति के राष्ट्रीय जिम्मेदारी कहा जा सकता है–कि जिन लोगों के पास पूंजी नहीं है और जो इस कारण खुद अपने लिये आश्रय का प्रबंध नहीं कर सकते, पर जो अपने आश्रय-दाताओं को क़िस्तों के रूप में पुरस्कृत कर सकते हैं, उनके लिये आश्रय का प्रबंध करना समाज का काम है।"[4] लीजिये, इस पूंजीवादी न्याय की प्रशंसा कीजिये! जब जमीन के मालिक की, मकान के मालिक की या व्यवसायी आदमी की सम्पत्ति "नगर-सुधार" के लिये,–जैसे रेल की लाइन

[1] *"Public Health, eighth report, 1866"* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की आठवीं रिपोर्ट, १८६६'), पृ० ९१।

[2] उप० पु०, पृ० ८८।

[3] उप० पु०, पृ० ८८।

[4] उप० पु०, पृ० ८९।

बिछाने के लिये, या नयी सड़कें वग़ैरह बनाने के लिये,—छीन ली जाती है, तो उसको न सिर्फ़ पूरा मुआवज़ा मिलता है, बल्कि मानव एवं ईश्वरीय नियम का यह भी तक़ाज़ा है कि उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल जो "परिवर्जन" करना पड़ा है, उसके एवज़ में उसे मोटे मुनाफ़े के द्वारा दिलासा भी दिया जाये। पर मज़दूर को उसके बाल-बच्चों और चीज़-बसत के साथ सड़क पर फेंक दिया जाता है, और यदि वह उन मुहल्लों में भीड़ बढ़ाता है, जहां मर्यादा का पालन करना आवश्यक होता है, तो सफ़ाई के नाम पर उसके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई की जाती है।

१६ वीं सदी के शुरू में लन्दन को छोड़कर इंगलैण्ड में १,००,००० निवासियों का एक भी शहर नहीं था। केवल ५ शहरों में ५०,००० से ज़्यादा आबादी थी। अब २८ शहर ऐसे हैं, जिनकी आबादी ५०,००० से अधिक है। "इस परिवर्तन का फल यह हुआ है कि न केवल शहरी लोगों के वर्ग में भारी वृद्धि हो गयी है, बल्कि पुराने, बहुत घने बसे हुए छोटे-छोटे क़स्बे अब केन्द्रीय भाग हो गये हैं और उनके इर्द-गिर्द हर तरफ़ मकान बन गये हैं; इस तरह इन पुराने केन्द्रों में ताज़ा हवा आने के लिये कोई रास्ता नहीं रह गया है। अब उनमें रहना धनियों को अच्छा नहीं लगता, इसलिये वे उनको छोड़-छोड़कर शहरों के बाहरी छोर के अधिक सुखकर स्थानों में बसते जा रहे हैं। इन धनियों के स्थान पर जो लोग रहने को आये हैं, वे इन बड़ी-बड़ी हवेलियों में प्रति परिवार एक कमरे के हिसाब से रहते हैं (... और साथ ही दो या तीन किरायेदार भी अपने साथ रख लेते हैं ...)। इस तरह एक ऐसी आबादी वहां बस गयी है, जिसके लायक़ ये मकान नहीं हैं और न ही जिसके लिये ये बनाये गये थे। और यह आबादी ऐसे वातावरण में रहती है, जो वयस्कों को सचमुच पतन के गढ़े में ढकेल देता है और बच्चों को चौपट कर देता है।"[1] किसी औद्योगिक अथवा व्यापारी नगर में जितनी तेज़ी के साथ पूंजी का संचय होता है, शोषण-योग्य मानव-सामग्री भी उतनी ही तेज़ी के साथ बह-बहकर उस नगर में आने लगती है और इन मज़दूरों के रहने के लिये जल्दी-जल्दी जो प्रबंध किया जाता है, वह उतना ही अधिक ख़राब होता जाता है।

नरक जैसे घरों के मामले में लन्दन के बाद दूसरा नम्बर टाइन-नदी-के-तट-पर-स्थित-न्यूकैसल का है, जो कोयले और लोहे के एक ऐसे क्षेत्र का केन्द्र है, जहां उत्पादिता बराबर बढ़ती जा रही है। यहां कम से कम ३४,००० व्यक्ति एक-एक कोठरी में रहते हैं। न्यूकैसल और गेट्सहेड में अधिकारियों ने मकानों की एक बड़ी संख्या को गिरवा दिया है, क्योंकि उनसे पूरी बस्ती के लिये ख़तरा पैदा हो गया था। नये मकान बन रहे हैं, परन्तु बहुत धीरे-धीरे, जब कि व्यवसाय बड़ी तेज़ी से तरक़्क़ी कर रहा है। चुनांचे १८६५ में इस शहर में ऐसी ज़बर्दस्त भीड़ थी, जैसी इसके पहले कभी नहीं देखी गयी थी। एक भी कोठरी किराये के लिये ख़ाली नहीं थी। न्यूकैसल ज्वर अस्पताल के डा० एम्बेलटन ने बताया है: "इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि टाइफ़स ज्वर के फैलने और इतने समय तक जारी रहने का प्रधान कारण यह है कि शहर में लोगों का जमाव बहुत ज़्यादा घना है और रहने के मकान बहुत गंदे हैं। बहुत से मज़दूर जिन कोठरियों में रहते हैं, वे चारों ओर से बन्द और गंदे हातों या आंगनों में स्थित हैं और स्थान, रोशनी, हवा और सफ़ाई की दृष्टि से वे अपर्याप्तता और अस्वास्थ्यप्रदता का नमूना हैं। ये कोठरियां किसी भी सभ्य समाज के लिये कलंक का टीका

[1] उप० पु०, पृ० ५५ और ५६।

हैं। रात को उनमें पुरुष, स्त्रियां और बच्चे सब ठसे हुए पड़े रहते हैं। जहां तक पुरुषों का सम्बंध है, दिन-पाली वाले सोकर उठते हैं, तो रात-पाली वाले उनकी जगह पर सोने के लिये आ जाते हैं, और रात-पाली वाले जागते हैं, तो दिन-पाली वाले आ जाते हैं, और कुछ समय तक यह क्रम इसी तरह चलता रहता है और बीच में एक बार भी नहीं टूटता, जिससे बिस्तरों को ठण्डा होने के लिये भी समय मुश्किल से ही मिलता है। पूरी हवेली में पानी का इन्तजाम बहुत खराब होता है, और शौच-स्थानों की दशा तो उससे भी बुरी होती है, – वे गंदे होते हैं, उनमें साफ़ हवा के आने की व्यवस्था नहीं होती और वहां से बीमारियां फैलती हैं।"[1] इस तरह की कोठरियों का किराया ८ पेन्स से लेकर ३ शिलिंग प्रति सप्ताह तक होता है। डा० हण्टर ने लिखा है: "टाइन-नदी-के-तट-पर-स्थित-न्यूकैसल नगर में हमारे देशवासियों की सब से अच्छी नस्ल के लोग रहते हैं, पर रहने के स्थान तथा पास-पड़ोस की बाह्य परिस्थितियों के कारण वे पतन के गर्त में गिरकर बहुधा जंगलियों की सी अवस्था को पहुंच जाते हैं।"[2]

पूंजी और श्रम में चूंकि एक ज्वार-भाटा सा आता रहता है, इसलिये यह मुमकिन है कि किसी भी औद्योगिक नगर में रहने के मकानों की हालत आज थोड़ी सहनीय हो जाये और कल को फिर वहां नरक बन जाये। या यह भी सम्भव है कि आज नगर के सार्वजनिक अधिकारी सब से अधिक भयानक बुराइयों को दूर करने की मन में ठानें और कल को फटे-हाल आयरलैण्ड-वासी या जर्जर अंग्रेज खेतिहर मजदूर टिड्डी-दल की तरह आकर नगर में भर जायें। ये लोग तहखानों और कोठों में भर दिये जाते हैं, या जो अभी तक मजदूरों के रहने का घर था, उसे सराय या भटियारखाने में तबदील कर दिया जाता है, जिस के निवासी उसी तेजी के साथ बदलते रहते हैं, जिस तेजी के साथ तीस-साला जंग के जमाने में फ़ौजी सिपाहियों के ठहरने के स्थानों के निवासी बदला करते थे। इसका एक उदाहरण है ब्रैडफ़ोर्ड (यार्कशायर)। वहां कुछ समय पहले नगर-पालिका के कूपमण्डूक अधिकारी नगर का सुधार करने में व्यस्त थे। इसके अलावा, १८६१ में ब्रैडफ़ोर्ड में १७५१ मकान खाली पड़े थे। परन्तु तभी व्यापार में नयी जान पड़ी, जिसका हब्शियों के मित्र, कुछ-कुछ उदारपंथी मि० फ़ोर्स्टर ने हाल में इतना ढोल पीटा है। और व्यापार में नयी जान पड़ने के साथ-साथ नित घटती-बढ़ती "रिजर्व सेना" अथवा "सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या" की लहरों ने आ-आकर नगर को आप्लावित कर दिया। डा० हण्टर को एक बीमा-कम्पनी के एजेंट से रहने के स्थानों की एक सूची[3] प्राप्त हुई थी। उसमें जितने भयानक तहखाने और कोठरियां दर्ज थीं, उनमें

---

[1] उप० पु०, पृ० १४६।

[2] उप० पु०, पृ० ५०।

[3] किराया वसूलने वाले एजेंट की सूची (ब्रैडफ़ोर्ड)

मकान

| | | |
|---|---|---|
| वल्कन स्ट्रीट, नं० १२२ . . . . . . . . . . . . | १ कोठरी | १६ व्यक्ति |
| लमले स्ट्रीट, नं० १३ . . . . . . . . . . . . | १ " | ११ " |
| बौवर स्ट्रीट, नं० ४१ . . . . . . . . . . . . | १ " | ११ " |
| पोर्टलैण्ड स्ट्रीट नं० ११२ . . . . . . . . . . . . | १ " | १० " |

मुख्यतया अच्छी मजदूरी पाने वाले मजदूर रहते थे। इन लोगों का कहना था कि अगर उन्हें रहने के लिये बेहतर जगह मिल सके, तो वे उसके लिये ख़ुशी-ख़ुशी ज़्यादा किराया देने को तैयार हैं। पर इसके पहले कि उनके लिये किसी बेहतर जगह का बन्दोबस्त हो, वे तो पतन के गढ़े में गिर जाते हैं, सबके सब बीमार पड़ जाते हैं, और उधर संसद का वह कुछ-कुछ उदारपंथी सदस्य फ़ोर्स्टर स्वतंत्र व्यापार के वरदानों और बटे हुए ऊन की चीज़ों का व्यवसाय करने वाले ब्रैडफ़ोर्ड के प्रतिष्ठित नागरिकों के मोटे मुनाफ़ों पर हर्ष के आंसू बहाने में व्यस्त रहता है। ब्रैडफ़ोर्ड में ग़रीबों के क़ानून के मातहत जो डाक्टर तैनात हैं, उनमें से एक का नाम है डा० बेल। उन्होंने ५ सितम्बर १८६५ की रिपोर्ट में यह मत प्रकट किया है कि उनके इलाक़े में बुख़ार के रोगियों की जो इतनी मौतें हो रही हैं, उसका मुख्य कारण उनके रहने की कोठरियां हैं। उन्होंने लिखा है: "१,५०० घन-फ़ुट के एक छोटे से तहख़ाने में ... दस व्यक्ति रहते हैं ... विंसेंट स्ट्रीट, ग्रीन एयर प्लेस और लेज़ में २२३ मकान हैं, जिनमें

---

| | | | |
|---|---|---|---|
| हार्डी स्ट्रीट, नं० १७ ............ | १ | " | १० " |
| नौर्थ स्ट्रीट, नं० १८ ............ | १ | " | १६ " |
| नौर्थ स्ट्रीट, नं० १७ ............. | १ | " | १३ " |
| वाइमर स्ट्रीट, नं० १९ ........... | १ | " | ८ वयस्क |
| जौवेट स्ट्रीट, नं० ५६ ............ | १ | " | १२ व्यक्ति |
| जार्ज स्ट्रीट, नं० १५० ............ | १ | " | ३ परिवार |
| राइफ़िल कोर्ट | | | |
| मेरीगेट, नं० ११ ............... | १ | " | ११ व्यक्ति |
| मार्शल स्ट्रीट, नं० २८ ............ | १ | " | १० " |
| मार्शल स्ट्रीट, नं० ४९ ............ | ३ | कोठरियां | ३ परिवार |
| जार्ज स्ट्रीट, नं० १२८ ............ | १ | कोठरी | १८ व्यक्ति |
| जार्ज स्ट्रीट, नं० १३० ............ | १ | " | १६ " |
| एडवर्ड स्ट्रीट, नं० ४ ............ | १ | " | १७ " |
| जार्ज स्ट्रीट, नं० ४९ ............ | १ | " | २ परिवार |
| योर्क स्ट्रीट, नं० ३४ ............ | १ | " | २ " |
| साल्ट पाई स्ट्रीट (सब से नीचे की मंज़िल) ... | २ | कोठरियां | २६ व्यक्ति |

तहख़ाने

| | | | |
|---|---|---|---|
| रीजेंट स्क्वायर .............. | १ | तहख़ाना | ८ व्यक्ति |
| एकर स्ट्रीट .............. | १ | " | ७ " |
| ३३, रोबर्ट्स कोर्ट ....... ...... | १ | " | ७ " |
| बेक प्रेट स्ट्रीट, एक ठठेरे की दूकान ..... | १ | " | ७ " |
| २७, एबनेज़र स्ट्रीट ............ | १ | " | ६ " (१८ वर्ष से अधिक उम्र का एक भी पुरुष नहीं था) |

(उप०, पु० पृ० १११।)

१४५० व्यक्ति रहते हैं, और उनके लिये कुल ४३५ बिस्तर और ३६ पाखाने हैं ... हर एक बिस्तर के पीछे – और फटे-पुराने गन्दे चीथड़ों या लकड़ी की छीलन का ढेर भी बिस्तर कहलाता है – ३.३ व्यक्तियों का औसत पड़ता है; बहुत से बिस्तरों को ५ और ६ व्यक्ति इस्तेमाल करते हैं। और मुझे बताया गया कि कुछ लोगों को किसी तरह का भी बिस्तर मयस्सर नहीं होता। वे अपने रोजमर्रा के कपड़ों को पहने हुए नंगे तख़्तों पर सो रहते हैं। युवक और युवतियां, विवाहित और अविवाहित, सब इसी तरह इकट्ठे सोते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कोठरियां अंधेरी, सीलन-भरी, गंदी और बदबूदार होती हैं, वे इनसानों के रहने के लिये हरगिज उपयुक्त नहीं हैं। बीमारी और मौतें केन्द्रों से उन लोगों के बीच फैलती हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति बेहतर है, पर जिन्होंने इन विषैले कीटाणुओं को समाज में पनपने और फैलने की अनुमति दे रखी है।"[1]

रहने के घरों की तंगी और गंदगी के मामले में तीसरा नम्बर ब्रिस्टल का है, "उस ब्रिस्टल का, जो योरप का सबसे धनी नगर है, पर जहां भयानकतम दरिद्रता ("blankest poverty") और रिहायशी मकानियत के अभाव का बोलबाला है।"[2]

## (ग) खानाबदोश आबादी

अब हम एक ऐसे वर्ग पर विचार करना चाहते हैं, जिसका जन्म कृषि में हुआ है, पर जिसका धंधा मुख्यतया उद्योग-प्रधान है। यह वर्ग पूंजी की पैदल सेना है, जिसे वह अपनी आवश्यकता के अनुसार कभी इस बिंदु पर झोंक देती है, तो कभी उस बिंदु पर। जब यह सेना एक बिंदु से दूसरे बिंदु को कूच नहीं करती, तो कहीं पर अस्थायी "पड़ाव" डाल देती है। खानाबदोश मजदूरों को मकान बनाना, नालियां बनाना, ईंटें तैयार करना, चूना फूंकना, रेल की लाइन बिछाना आदि अनेक प्रकार के कामों के लिये इस्तेमाल किया जाता है। ये लोग महामारियों के द्रुतगामी दस्ते की तरह होते हैं, जो जहां भी अपना पड़ाव डालता है, उसी स्थान के आस-पड़ोस में चेचक, टाइफ़स ज्वर, हैजा, स्कारलट ज्वर आदि रोग फैला देता है।[3] जिन उद्यमों में – जैसे रेलें आदि – बहुत अधिक पूंजी लगानी पड़ती है, उनमें ठेकेदार मजदूरों की अपनी सेना के लिये लकड़ी के झोंपड़ों आदि का प्रायः खुद ही बन्दोबस्त कर देता है। इस तरह स्थानीय बोर्डों के नियंत्रण के बाहर और सफ़ाई की किसी भी प्रकार की व्यवस्था से विहीन पूरे गांव के गांव अस्थायी रूप से खड़े हो जाते हैं। ठेकेदार की खूब बन आती है। वह दोहरे ढंग से मजदूर का शोषण करता है: एक तो उद्योग के सैनिकों के रूप में; दूसरे, किरायेदारों के रूप में। लकड़ी के एक झोंपड़े में १, २ अथवा ३ खाने हैं, इसके अनुसार उसमें रहने वाले को, वह चाहे खुदाई का काम करता हो, चाहे और कोई काम, १ शिलिंग, ३ शिलिंग या ४ शिलिंग प्रति सप्ताह किराया देना पड़ता है।[4] यहां एक उदाहरण काफ़ी होगा। सितम्बर

[1] उप० पु०, पृ० ११४।

[2] उप० पु०, पृ० ५०।

[3] "*Public Health. Seventh Report. 1865*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोर्ट, १८६५'), पृ० १८।

[4] उप० पु०, पृ० १६५।

१८६४ में डा० साइमन ने रिपोर्ट दी थी कि सैवेनओक्स की सार्वजनिक Nuisances Removal Committee (अनुत्रास अपनयन समिति) के अध्यक्ष ने गृह-मंत्री, सर जार्ज ग्रे के पास यह शिकायत भेजी थी: "लगभग बारह महीने पहले इस इलाक़े में चेचक का एक भी बीमार कहीं देखने को नहीं मिलता था। पर उसके कुछ समय पहले यहां लेवीशेम से टनब्रिज तक रेल की लाइन बिछाने का काम शुरू हुआ। इस सम्बंध में मुख्य काम इस नगर के बिल्कुल पास होना था। इसके अलावा, यहां पूरे काम का डिपो खोल दिया गया था, जिसकी वजह से यहां लाज़िमी तौर पर बहुत बड़ी संख्या में लोगों को नौकर रखा गया। इन सब के लिये कस्बे के घरों में स्थान मिलना असम्भव था; इसलिये जहां-जहां काम होना था, वहां ठेकेदार मि० जे ने इन मज़दूरों के रहने के लिये झोंपड़ों की लाइन खड़ी कर दी। इन झोंपड़ों में न तो साफ़ हवा के आने की कोई व्यवस्था थी और न ही गन्दे पानी के बाहर निकलने का कोई इन्तज़ाम था। इसके अलावा, लाज़िमी तौर पर उनमें बहुत भीड़ थी, क्योंकि हालांकि हर झोंपड़े में केवल दो कोठरियां थीं, पर उसमें रहने वाले हर मज़दूर को, उसका अपना परिवार चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, कुछ किरायेदारों को जगह देनी पड़ती थी। हमें जो डाक्टरी रिपोर्ट मिली है, उसके मुताबिक़ इसका नतीजा यह हुआ कि झोंपड़ियों की खिड़कियों के ठीक नीचे ठहरे हुए गंदे पानी और पाखानों से उठने वाली ज़हरीली बदबू से बचने के लिये इन ग़रीब लोगों को खिड़कियां बन्द करके सोना पड़ता था और इसलिये सारी रात उनका दम घुटता रहता था। आखिर एक डाक्टर ने, जिसे इन झोंपड़ों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था, सार्वजनिक अनुत्रास अपनयन समिति से शिकायत की। उसने रहने के स्थान के रूप में इन झोंपड़ों की अत्यन्त कठोर शब्दों में निन्दा की और इस बात का भय प्रकट किया कि अगर सफ़ाई का बन्दोबस्त करने के लिये कोई कार्रवाई नहीं की जाती, तो इसके बहुत ख़तरनाक नतीजे हो सकते हैं। लगभग एक वर्ष हुए मि० जे ने वायदा किया था कि वह अपना एक झोंपड़ा इसके लिये अलग कर देंगे कि अगर उनके किसी मज़दूर को कोई छूत की बीमारी हो जाये, तो उसको फ़ौरन इस झोंपड़े में हटा दिया जाये। पिछली २३ जुलाई को उन्होंने यह वायदा फिर दोहराया, परन्तु हालांकि इस तारीख़ के बाद मि० जे के झोंपड़ों में चेचक के कई केस हो चुके हैं और उसी बीमारी से दो मौतें भी हो चुकी हैं, पर फिर भी अपना वायदा पूरा करने के लिये उन्होंने आज तक कोई क़दम नहीं उठाया है। ६ सितम्बर को सर्जन मि० केलसन ने मुझे रिपोर्ट दी कि इन्हीं झोंपड़ों में चेचक के और कई केस हो गये हैं, और उन्होंने बताया कि इन झोंपड़ों की हालत अत्यन्त लज्जाजनक है। आपकी (गृह-मंत्री की) जानकारी के लिये मैं यह और जोड़ दूं कि हमारे इलाक़े में और घरों से अलग एक मकान है, जो बीमारों का घर कहलाता है और जो इलाक़े के उन निवासियों के लिये सुरक्षित रहता है, जिनको छूत की बीमारियां हो जाती हैं। पिछले कई महीनों से यह मकान लगातार ऐसे बीमारों से भरा रहता है और इस समय भी भरा हुआ है। मैं यह भी बता दूं कि एक परिवार में पांच बच्चे चेचक और बुख़ार से मर गये हैं। इस साल हमारे इलाक़े में पहली अप्रैल से पहली सितम्बर तक, पांच महीने के अन्दर, कम से कम १० व्यक्ति चेचक से मर चुके हैं, जिनमें से चार उपर्युक्त झोंपड़ों के रहने वाले थे। और इस रोग से अभी तक कुल कितने लोग बीमार हो चुके हैं, इसकी सही संख्या का पता लगाना असम्भव है, हालांकि यह मालूम है कि उनकी

तादाद काफ़ी बड़ी है। कारण कि हर परिवार इस रोग के समाचार को जहां तक सम्भव होता है, छिपाकर रखने का प्रयत्न करता है।"[1]

कोयला-खानों तथा अन्य प्रकार की खानों में काम करने वाले मजदूर ब्रिटिश सर्वहारा के सब से अच्छी मजदूरी पाने वाले हिस्सों में आते हैं। उनको अपनी मजदूरी की क्या क़ीमत चुकानी पड़ती है, यह हम पहले एक पृष्ठ पर देख चुके हैं।[2] यहां पर मैं केवल उनके रहने के स्थानों पर एक सरसरी नजर डालना चाहता हूं। सामान्यतया, जो भी किसी खान का उपयोग करता है, वह चाहे उसका मालिक हो, चाहे उसने ठेके पर मालिक से खान ले रखी हो, वह सदा अपने मजदूरों के लिये कुछ झोंपड़े बनवाता है। मजदूरों को रहने के लिये झोंपड़े और आग जलाने के लिये कोयला "मुफ़्त में" मिल जाते हैं, – अर्थात् ये वस्तुएं उनकी मजदूरी का एक ऐसा हिस्सा होती हैं, जो उनको चीजों की शकल में दे दिया जाता है। जिनको इस तरह के झोंपड़ों में रहने की जगह नहीं मिलती, उनको प्रति वर्ष ४ पौण्ड मुआवजे के तौर पर मिल जाते हैं। खानों वाले इलाक़ों की आबादी बहुत तेजी से बढ़ती है। उसमें एक तो खुद खान-मजदूर होते हैं; दूसरे, वे तमाम कारीगर, दूकानदार आदि होते हैं, जो खान-मजदूरों के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो जाते हैं। भूमि के लगान की दरें बहुत ऊंची होती हैं, क्योंकि जहां भी आबादी घनी होती है, वहां आम तौर पर ऐसा ही होता है। इसलिये मालिक यह कोशिश करता है कि खान के मुंह के बिल्कुल नजदीक, कम से कम रक़बे में केवल इतने झोंपड़े बनाकर खड़ा कर दें, जो उसके मजदूरों और उनके परिवारों को ठसाठस भरने के लिये जरूरी हों। यदि पड़ोस में नयी खानें खुल जाती हैं या पुरानी खानें फिर काम करने लगती हैं, तो आबादी का दबाव बढ़ जाता है। झोंपड़े बनाने में केवल एक ही बात का महत्व होता है। वह यह कि पूंजीपति को हर ऐसे खर्च से, जो नितान्त अपरिहार्य नहीं है, "परिवर्जन" करना पड़ता है। डा० जूलियन हण्टर ने बताया है: "नौर्थम्बरलैण्ड और डरहम की कोयला-खानों से सम्बंधित कोयला निकालने वालों तथा अन्य मजदूरों को जिस तरह के घरों में रहना पड़ता है, कुल मिलाकर शायद उनसे

---

[1] उप० पु०, पृ० १८, नोट। – चैपेल-आं-ले-फ़्रिथ यूनियन के सहायता-अफ़सर ने रजिसट्रार-जनरल को निम्नलिखित रिपोर्ट दी है: "डवहोल्स में चूने की राख (चूने के भट्ठों के फेंके हुए कचड़े) के एक बड़े टीले को कई जगहों पर थोड़ा-थोड़ा खोद डाला गया है। इस तरह जो गढ़े बन गये हैं, उनका रहने के स्थान की तरह इस्तेमाल किया जाता है। उस टीले के पड़ोस में आजकल जो रेल की लाइन बिछायी जा रही है, उसपर काम करने वाले मजदूर तथा अन्य लोग इन गढ़ों में रहते हैं। ये गढ़े बहुत छोटे और सीलन से भरे हैं। उनमें न तो गंदा पानी बाहर निकलने के लिये नालियां हैं और न ही उनके आस-पास पाखाने हैं। और साफ़ हवा के अन्दर आने का इन गढ़ों में कोई भी रास्ता नहीं है। सिर्फ़ छत में एक सूराख होता है, जो धुआं बाहर निकालने की चिमनी की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इसका नतीजा यह है कि कुछ समय से इन (गढ़ों में रहने वालों) में चेचक फैली हुई है और उनमें से कुछ की उससे मृत्यु भी हो गयी है।" (उप० पु०, नोट २।)

[2] भाग ४ के अन्त में जो विस्तृत विवरण हमने दिया है, उसका सम्बंध विशेष रूप से कोयला-खानों के मजदूरों से है। धातु की खानों के मजदूरों की हालत और भी ख़राब है। उसके बारे में देखिये १८६४ के Royal Commission (शाही आयोग) की रिपोर्ट, जो बहुत ही ईमानदारी के साथ तैयार की गयी है।

ज्यादा खराब और महंगे घर सिर्फ़ मौनमाउथशायर के इसी प्रकार के इलाक़ों को छोड़कर इंगलैण्ड में और कहीं नहीं मिल सकते... सब से ज्यादा खराब बात यह है कि एक-एक कोठरी के अन्दर अनेक व्यक्ति रहते हैं, जमीन के जरा से टुकड़े पर बहुत सारे घर खड़े कर दिये जाते हैं, पानी का अभाव है, पाखाने नहीं हैं और अक्सर एक घर के ऊपर दूसरा घर खड़ा कर दिया जाता है या एक घर को कई परिवारों के रहने के लिये flats (कक्षों) में बांट दिया जाता है... जिसने खान पट्टे पर ले रखी है, वह ऐसा व्यवहार करता है, जैसे पूरी बस्ती वहां रहती नहीं है, बल्कि उसने वहां महज पड़ाव डाल रखा है।"[1]

डाक्टर स्टीवेन्स ने लिखा है: "मुझे जो हिदायतें मिली थीं, उनके मुताबिक़ मैंने डरहम यूनियन के अधिकतर कोयला-खानों वाले गांवों का निरीक्षण किया ... बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर इन सभी गांवों के बारे में आम तौर पर यह कहना सही होगा कि उनके निवासियों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये कोई भी क़दम नहीं उठाया जाता... सभी कोयला-मजदूर बारह महीने के लिये ठेकेदार ("lessee") या मालिक के वास्ते काम करने के लिये बंधे होते हैं ('bondage' ['अधीनता'] शब्द की तरह 'bound' ['बंधे होना'] भी कृषि-दास प्रथा के जमाने का शब्द है)... यदि कोयला-मजदूर किसी प्रकार का असंतोष व्यक्त करते हैं या किसी अन्य बात से अपने निरीक्षक को नाराज कर देते हैं, तो उनके नाम के आगे निशान लगा दिया जाता है या कुछ लिख दिया जाता है, और साल खतम होने पर जब फिर मजदूरों को बांधा जाता है, तो ऐसे तमाम मजदूरों को निकाल दिया जाता है... मुझे लगता है कि इन घने बसे हुए जिलों में जो हालत है, truck-system (जिन्स-मजदूरी प्रणाली) का कोई अंश उससे खराब नहीं हो सकता। कोयला-खान के मजदूर को मजबूरन एक ऐसा घर किराये पर लेना पड़ता है, जो चारों ओर से बीमारियों के प्रभावों से घिरा होता है। वह खुद अपनी मदद नहीं कर सकता, और इसमें काफ़ी सन्देह मालूम होता है कि उसके मालिक के सिवा कोई और उसकी कुछ सहायता कर सकता है (क्योंकि हर दृष्टि से वह कृषि-दास होता है) (he is, to all intents and purposes, a serf), और उसका मालिक हर चीज के लिये पहले अपना बही-खाता देखता है, और उसका क्या नतीजा होता है, यह पहले से निश्चित रहता है। कोयला-मजदूर को अक्सर पानी भी मालिक की तरफ़ से मिलता है, और वह अच्छा हो या खराब, उसे उसके पैसे देने पड़ते हैं, या कहना चाहिये कि पानी के पैसे उसकी मजदूरी में से काट लिये जाते हैं।"[2]

जब पूंजी का "जनमत" से या यहां तक कि स्वास्थ्य-अफ़सरों से भी कोई झगड़ा होता है, तो उसे आंशिक रूप में खतरनाक और आंशिक रूप में पतन के गड्ढे में गिराने वाली इन परिस्थितियों को, जिनके भीतर वह मजदूर के रिहायशी तथा श्रम सम्बन्धी जीवन को बन्द करके रखती है, उचित सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसकी दलील यह होती है कि उसके मुनाफ़े के लिये ये परिस्थितियां आवश्यक हैं। जब पूंजी फ़ैक्टरी में खतरनाक मशीनों से मजदूरों की रक्षा करने के लिये या खानों आदि में साफ़ हवा तथा सुरक्षा का प्रबंध करने के लिये किसी भी प्रकार के क़दम का "परित्याग" करती है, तब भी वह यही दलील देती है। यहां खान-मजदूरों के रहने के स्थानों के बारे में भी यही बात है। प्रिवी कौंसिल के मैडिकल अफ़सर,

---

[1] *"Public Health, Seventh Report, 1865"* ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोर्ट, १८६५'), पृ० १८०, १८२।

[2] उप० पु०, पृ० ५१५, ५१७।

डा० साइमन ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है: "रहने के मकानों की जो बहुत ही खराब व्यवस्था है, उसकी सफ़ाई में... यह कहा जाता है कि खानें आम तौर पर ठेके पर उठा दी जाती हैं और ठेकेदार की दिलचस्पी की मियाद (जो कोयला-खानों में आम तौर पर २१ साल होती है) इतनी कम होती है कि अपने मजदूरों के लिये और व्यापारियों तथा विभिन्न धन्धों के अन्य लोगों के लिये, जो खानों की ओर खिंच आते हैं, रहने का अच्छा प्रबंध करने में वह अपना कोई हित नहीं देखता। कहा जाता है कि यदि ठेकेदार इस मामले में थोड़ी उदारता दिखाना भी चाहे, तो भी वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि जमीन की सतह के ऊपर एक साफ़-सुथरा और आरामदेह गांव बसाने के अधिकार के एवज में, जिसमें जमींदार की जमीन की सतह के नीचे से धन बाहर लाने वाले मजदूर रह सकें, जमींदार भूमि के लगान के तौर पर ठेकेदार से इतना अधिक अतिरिक्त पैसा मांग लेता है कि गांव बसाना उसके बूते के बाहर हो जाता है; और यदि ठेकेदार के अलावा कोई और आदमी मजदूरों के वास्ते मकान बनाना चाहे, तो (यदि जमींदार साफ़-साफ़ इसकी मनाही नहीं कर देता, तो) यह अत्यधिक ऊंचा दाम उसे भी कुछ नहीं करने देता। इस दलील का गुण-दोष विवेचन करना इस रिपोर्ट की सीमाओं से बाहर जाना होगा। न ही यहां इस प्रश्न पर विचार करने की ही आवश्यकता है कि यदि मजदूरों के वास्ते रहने का अच्छा प्रबंध किया जाये, तो उसका खर्चा... अन्त में किसके—जमींदार के, ठेकेदार के, मजदूर के या समाज के—मत्थे पड़ेगा। परन्तु इस रिपोर्ट के साथ जो और रिपोर्टें (डा० हण्टर, डा० स्टीवेन्स आदि की रिपोर्टें) नत्थी हैं, उनमें ऐसे लज्जाजनक तथ्य दिये गये हैं कि इस परिस्थिति का इलाज करना जरूरी है... जमींदारी के हक़ का एक ऐसा बेजा फ़ायदा उठाया जा रहा है, जिससे एक बहुत बड़ी सार्वजनिक बुराई पैदा हो गयी है। खान के मालिक के रूप में जमींदार पहले एक औद्योगिक बस्ती को अपनी जमीन पर मेहनत करने के लिये बुलाता है, और फिर वह खुद जिन मजदूरों को वहां इकट्ठा करता है, उनके लिये जमीन की सतह के मालिक के रूप में अच्छे मकानों में रहना असम्भव बना देता है। उधर ठेकेदार (पूंजीवादी शोषक) का भी इसमें कोई आर्थिक हित नहीं है कि वह इस अजीब सौदे का विरोध करे, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि यदि यह सौदा बहुत महंगा पड़ता है, तो उसके लिये नहीं, बल्कि मजदूरों के लिये महंगा पड़ता है, और मजदूरों में इतनी शिक्षा नहीं है कि वे अपने स्वास्थ्य सम्बंधी अधिकारों के महत्त्व को जान पायेंगे, और उनको चाहे गंदे से गंदा रहने का स्थान दिया जाये और चाहे कीचड़ जैसा पानी पिलाया जाये, वे इस के कारण कभी हड़ताल करने को तैयार नहीं होंगे।"[1]

## (घ) मजदूर-वर्ग के सब से अच्छी मजदूरी पाने वाले हिस्से पर संकटों का प्रभाव

नियमित ढंग के खेतिहर मजदूरों की चर्चा करने के पहले मैं एक उदाहरण द्वारा यह दिखाना चाहता हूं कि सब से अच्छी मजदूरी पाने वाले मजदूरों पर भी, अर्थात् मजदूर-वर्ग के अभिजात स्तर पर भी, औद्योगिक संकटों का क्या असर होता है। पाठकों को याद होगा कि १८५७ में एक बहुत बड़ा संकट आया था। यह इस प्रकार का संकट था, जिसके साथ एक नियत अवधि पूरी हो जाने पर औद्योगिक चक्र सम्पूर्ण हो जाता है। अगला औद्योगिक चक्र १८६६

[1] उप० पु०, पृ० १६।

में सम्पूर्ण होने वाला था। परन्तु फ़ैक्टरियों के इलाक़ों में कपास के अकाल ने पहले ही संकट की सी परिस्थिति पैदा कर दी। उसके कारण बहुत सी पूंजी अपने सामान्य क्षेत्र से निकलकर मुद्रा की मण्डी के बड़े केन्द्रों में आ गयी, और इसलिये संकट ने इस बार विशेष रूप से वित्तीय रूप धारण कर लिया। १८६६ में यह संकट इस प्रकार आरम्भ हुआ कि लन्दन के एक बड़े बैंक का दिवाला निकल गया और उसके बाद फ़ौरन ही अनगिनत ठग-कम्पनियां ठप्प हो गयीं। लन्दन में उद्योग की जिन बड़ी शाखाओं पर यह विपत्ति आयी, उनमें से एक थी लोहे के जहाज़ बनाने की शाखा। इस धंधे के मालिकों ने व्यवसाय की तेजी के दिनों में न केवल अंधाधुंध अति-उत्पादन किया था, बल्कि इसके अलावा उन्होंने आगे के लिये भी बड़े-बड़े सौदे कर रखे थे। उन्हें यह आशा थी कि उतनी ही बड़ी रक़में उन्हें आगे भी उधार मिल जायेंगी। पर अब इसकी भयानक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। यह प्रतिक्रिया इस उद्योग में तथा लन्दन के अन्य उद्योगों में इस समय तक (यह मार्च १८६७ के अन्त की बात है) जारी है।[1] मजदूरों की क्या दशा है, इसका कुछ आभास कराने के लिये मैं नीचे "*Morning Star*" के एक संवाददाता की रिपोर्ट उद्धृत कर रहा हूं, जिसने १८६६ के अन्त में और १८६७ के आरम्भ में उन मुख्य केन्द्रों की यात्रा की थी, जहां लोगों को सब से अधिक कष्ट था: "पूर्वी क्षेत्र के पोपलर, मिलवाल, ग्रीनविच, डेप्टफ़ोर्ड, लाइमहाउस और कैनिंगटाउन नामक क्षेत्रों में कम से कम १५,००० मजदूर और उनके परिवार बिल्कुल कंगाली की हालत में रह रहे हैं, और ३,००० निपुण मिस्त्री (६ महीने तक कंगाली में रहने के बाद) मुहताजख़ाने के आंगन में पत्थर तोड़ रहे हैं... मुहताजख़ाने के फाटक तक पहुंचने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई, क्योंकि उसे एक भूखी भीड़ ने घेर रखा था... ये लोग टिकट पाने के इन्तजार में थे, परन्तु टिकटों के वितरण में अभी देर थी। आंगन एक बड़े चौक की तरह था, जिसके चारों ओर एक खुला हुआ शेड था। आंगन के मध्य में खड़ंजे थे, जिनपर बर्फ़ जम गयी थी। मध्य में ही, थोड़ी-थोड़ी जगहों को टट्टियां लगाकर घेर दिया गया था। वे भेड़ों के बाड़े जैसे लगते थे। अच्छे मौसम में वहीं लोग काम करते थे। पर जिस रोज मैं वहां पहुंचा, उस रोज इन बाड़ों में इतनी बर्फ़ जमी हुई थी कि उनके भीतर कोई बैठ नहीं सकता था। लेकिन खुले शेड में लोग पत्थर तोड़कर गिट्टी बनाने में व्यस्त थे। हर आदमी

---

[1] "लन्दन के ग़रीबों में आम भुखमरी ("Wholesale starvation of the London Poor")... पिछले कुछ दिनों में लन्दन की दीवारों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगाये गये हैं, जिनमें यह विचित्र घोषणा पढ़ने को मिलती है: 'मोटे बैल! भूखे इनसान! मोटे बैल अपने शीश-महल से धनियों के विलास-गृहों में उनका पेट भरने के लिये गये हैं, जब कि भूखे इनसान अपने टूटे-फूटे झोंपड़ों में तड़प-तड़पकर जान दे रहे हैं।' इस प्रकार की अशुभ घोषणा वाले ये पोस्टर थोड़ी-थोड़ी देर बाद दीवारों पर चिपकाये जाते हैं। जैसे ही एक बार लगाये गये पोस्टरों को फाड़-फूड़ दिया जाता है या ढंक दिया जाता है, वैसे ही उन्हीं स्थानों पर या उसी प्रकार के अन्य सार्वजनिक स्थानों पर नये पोस्टर नज़र आने लगते हैं... यह सब देखकर... उन गुप्त क्रान्तिकारी दलों की याद आती है, जिन्होंने फ़्रांसीसी जनता को १७८९ की घटनाओं के लिये तैयार किया था... इस समय, जब कि अंग्रेज़ मजदूर मय अपने बाल-बच्चों के ठण्ड और भूख से जान दे रहे हैं, करोड़ों के मूल्य का अंग्रेज़ी सोना – जो कि अंग्रेज़ी श्रम की उपज है – रूसी, स्पेनी, इटालवी और अन्य विदेशी उद्यमों में लगाया जा रहा है।" – "*Reynolds' Newspaper*", January 20th, 1867।

एक बड़े पत्थर पर बैठा हुआ था और एक बड़े हथौड़े से बर्फ़ जमे हुए ग्रेनाइट पर टुकड़े-टुकड़े होने तक चोट करता जाता था। जरा ध्यान दीजिये कि उसे पांच बुशेल गिट्टी तैयार करनी पड़ती थी, तब कहीं उसका दिन भर का काम समाप्त होता था और उसे एक दिन की मजदूरी मिलती थी – तीन पेंस और कुछ खाने का सामान। आंगन के एक दूसरे हिस्से में एक छोटा और लकड़ी का कमजोर सा मकान था। जब हमने उसका दरवाजा खोला, तो देखा कि उसके अन्दर कुछ लोग एक दूसरे के कंधे से कंधा सटाये हुए बैठे हैं, ताकि उन्हें एक दूसरे के बदन और सांस से गरमी मिलती रहे। ये लोग पुराने रस्सों का सन चुन रहे थे और साथ ही इसपर बहस करते जा रहे थे कि भोजन की विशिष्ट मात्रा के सहारे सब से ज्यादा देर तक कौन काम कर सकता है, – क्योंकि इन लोगों के बीच सहन-शक्ति सम्मान की चीज थी। इस एक मुहताजखाने में... सात हजार आदमियों को... सहायता मिलती थी... पता लगा कि छः या आठ महीने पहले इनमें से सैंकड़ों आदमी... सब से ऊंची मजदूरी पाने वाले कारीगर थे... इन लोगों की संख्या दुगनी हो जाती, यदि हम इनके साथ उन लोगों को और शामिल कर लेते, जिनका बचाया हुआ पैसा तो सारा खतम हो गया है, पर फिर भी जो सार्वजनिक सहायता नहीं लेना चाहते, क्योंकि अभी उनके पास गिरवी रखने के लिये कुछ सामान है। मुहताजखाने से निकलकर मैं उन सड़कों का चक्कर लगाने लगा, जहां अधिकतर छोटे-छोटे इकमंजिले मकान थे, जो पोपलर के आस-पास बहुत बड़ी संख्या में हैं। मेरा पथ-प्रदर्शक बेकारों की समिति का एक सदस्य था... पहले मैं लोहे का काम करने वाले एक मजदूर के घर पर गया, जो सत्ताईस हफ़्ते से बेकार था। यह व्यक्ति अपने परिवार के साथ पीछे के एक नन्हे से कमरे में बैठा हुआ था। कमरे में कोई भी फ़र्नीचर न हो, ऐसा नहीं था। आग भी जल रही थी। यह इसलिये जरूरी थी कि छोटे बच्चों के नंगे पैर पाले के शिकार न हो जायें, क्योंकि उस रोज जोरों की ठण्ड थी। आग के सामने एक ट्रे में पुराने रस्सों का सन पड़ा हुआ था, जिसे इस आदमी की बीवी और बच्चे सार्वजनिक कोष से मिलने वाली सहायता के एवज में चुन रहे थे। पुरुष खुद मुहताजखाने के आंगन में पत्थर तोड़ता था, जिसके बदले में उसे कुछ भोजन और तीन पेन्स प्रति दिन मिलते थे। वह रात के खाने के लिये घर लौटा था और, जैसा कि उसने हमें उदास ढंग से मुस्कराते हुए बताया, उसे खूब भूख लगी हुई थी। और उसका रात का खाना था डबल रोटी के कुछ टुकड़े और चरबी और बिना दूध की एक प्याली चाय... हमने अगले दरवाजे पर दस्तक दी, तो उसे एक प्रौढ़ महिला ने खोला, जो चुपचाप हमें पीछे की ओर एक छोटी बैठक में ले गयी, जहां उसका पूरा परिवार खामोश बैठा हुआ तेजी से बुझती हुई आग को टकटकी बांधकर देख रहा था। इन लोगों के चेहरों पर और उनके इस छोटे से कमरे में ऐसी घोर निराशा और हताशा छायी हुई थी, जिसे मैं दोबारा देखना पसन्द नहीं करूंगा। महिला ने अपने लड़कों की ओर इशारा करके कहा: 'छब्बीस हफ़्ते से इन लोगों को काम नहीं मिला है, जनाब, और हमारा सारा पैसा खर्च हो गया है। जब समय अच्छा था, तब इनके बाप ने और मैंने बीस पौंड बचाये थे; सोचा था, जब हम काम करने के योग्य नहीं रहेंगे, तब यह पैसा काम आयेगा; पर वह भी सब खर्च हो गया है। देखिये इसे,' – उसने तीव्र स्वर में कहा और बैंक की पासबुक निकालकर हमारे सामने कर दी, जिसमें जमा की गयी और निकाली गयी सारी रक़में बहुत साफ़-साफ़ दिखायी गयी थीं और जिससे हम देख सकते थे कि यह थोड़ा सा धन पहले-पहल कैसे पांच शिलिंग जमा करने के साथ शुरू हुआ था और किस तरह वह धीरे-धीरे बढ़कर बीस पौंड हो गया था, और फिर वह किस तरह खतम होने लगा था, और यहां तक कि रक़में पौण्ड

के बजाय शिलिंग में लिखी जाने लगी थीं, और आख़िरी इन्दराज के बाद तो पासबुक कोरे काग़ज़ की तरह मूल्यहीन बनकर रह गयी थी। इस परिवार को मुहताजख़ाने से सहायता मिलती थी, जो दिन भर में केवल एक बार ज़रा सा भोजन पेट में डाल लेने के लिये काफ़ी होती थी... इसके बाद हम लोहे का काम करने वाले एक मज़दूर की पत्नी से मिले, जिसका पति मुहताजख़ाने के आंगन में काम कर चुका था। भोजन के अभाव के कारण यह स्त्री बीमार पड़ी थी और अपने कपड़े पहने हुए एक गद्दे पर लेटी थी। उसने अपने ऊपर दरी का एक टुकड़ा ओढ़ रखा था, क्योंकि सभी बिस्तर गिरवी रखे जा चुके थे। दो दुखियारे बच्चे उसकी देखभाल कर रहे थे, हालांकि ख़ुद उनको भी मां के समान ही देखभाल की आवश्यकता थी। उन्नीस हफ़्ते की बेकारी ने इन लोगों की यह दशा कर दी थी। मां हमें अपने बीते हुए दिनों का दुखभरा इतिहास सुनाती हुई इस तरह कराहती थी, जैसे उसका यह विश्वास अब बिल्कुल मर गया हो कि भविष्य में उसका दुख कभी दूर हो जायेगा... हम बाहर निकले, तो एक नौजवान दौड़ता हुआ हमारे पीछे आया और बोला कि 'ज़रा मेरे घर भी चलिये और बताइये कि क्या आप मेरी कुछ मदद कर सकते हैं।' उसके घर में उसकी जवान बीवी, दो सुन्दर बच्चों, गिरवी की दूकान के टिकटों के ढेर और एक ख़ाली कमरे के सिवा और कुछ न था।"

१८६६ के संकट के बाद जो विपत्ति आयी, उसके बारे में अनुदार दल के समर्थक एक अख़बार का निम्नलिखित उद्धरण देखिये। यहां पाठक को यह नहीं भूलना चाहिये कि इस उद्धरण में लन्दन के पूर्वी छोर का ज़िक्र है, जो न केवल लोहे के जहाज़ बनाने के उपर्युक्त उद्योग का केन्द्र है, बल्कि एक तथाकथित "घरेलू उद्योग" का भी केन्द्र है, जिसके मज़दूरों को हमेशा बहुत कम मज़दूरी मिलती है। अख़बार ने लिखा है: "राजधानी के एक भाग में कल एक ख़ौफ़नाक दृश्य देखने को मिला। यद्यपि पूर्वी भाग के हज़ारों बेकारों ने अपने काले झण्डों के साथ कोई सामूहिक जलूस नहीं निकाला था, परन्तु फिर भी नरमुण्डों की वह धारा दिल पर बहुत असर डालती थी। हमें याद रखना चाहिये कि ये लोग कैसे घोर कष्ट में हैं। वे भूखों मर रहे हैं। बस इतनी ही, पर कितनी भयानक बात है। उनकी संख्या ४०,००० है... हमारी आंखों के सामने, इस सुन्दर राजधानी के एक भाग में, और दुनिया ने अभी तक धन का जो सब से बड़ा भण्डार देखा है, ठीक उसकी बग़ल में, उससे बिल्कुल सटे हुए एक इलाक़े में ४०,००० निस्सहाय, भूखे नर-नारी भरे हुए हैं। अब ये हज़ारों लोग दूसरे इलाक़ों में घुसते आ रहे हैं। हमेशा अधभूखे रहने वाले ये लोग चीख़-चीख़कर अपनी दर्द-कहानी हमारे कानों तक पहुंचाते हैं, भगवान को पुकारते हैं। अपने गन्दे और तंग घरों से वे चीख़-चीख़कर हमसे कह रहे हैं कि उनको कोई काम नहीं मिलता और उनके लिये भीख मांगना भी व्यर्थ है। सार्वजनिक कर देते-देते स्थानीय कर-दाता ख़ुद मुहताजी की हद तक पहुंच गये हैं।" – ("*Standard*", 5th April, 1867।)

अंग्रेज़ पूंजीपतियों में बेल्जियम को श्रमजीवी वर्गों का स्वर्ग मानने का एक चलन सा है, क्योंकि वहां "श्रम की स्वतंत्रता", या, जो कि एक ही बात है, "पूंजी की स्वतंत्रता" को न तो मज़दूर-यूनियनों की निरंकुशता सीमित कर सकी है और न ही फ़ैक्टरी-क़ानून उसपर कोई प्रतिबंध लगा सके हैं। इसलिये आइये, थोड़ा बेल्जियमवासी मज़दूर के "सुखी जीवन" पर भी विचार करें। इस "सुखी जीवन" के रहस्यों को जितनी अच्छी तरह स्वर्गीय एम० दुक्पेतियो जानते थे, शायद उतनी अच्छी तरह और कोई नहीं जानता था। ये महाशय बेल्जियम के जेलख़ानों और दान पर चलने वाली संस्थाओं के इंस्पेक्टर-जनरल तथा बेल्जियम के आंकड़े तैयार करने वाले केन्द्रीय

कमीशन के सदस्य थे। उनकी रचना "*Budgets économiques des classes ouvrières de la Belgique*" (Bruxelles, 1855) को लीजिये। उसमें अन्य बातों के अलावा बेल्जियम के एक सामान्य मजदूर के परिवार से हमारी भेंट होती है। लेखक ने बहुत सही तथ्यों के आधार पर इस परिवार की वार्षिक आय और खर्च का हिसाब लगाया है और फिर उसको मिलने वाले पोषण की फ़ौजी सिपाही, जहाजी मल्लाह और क़ैदी को मिलने वाले पोषण से तुलना की है। परिवार में कुल इतने लोग हैं – "बाप, मां और चार बच्चे"। इन ६ व्यक्तियों में से "चार ऐसे हैं, जो पूरे वर्ष उपयोगी काम कर सकते हैं।" लेखक यह मानकर चलता है कि "उनमें न तो कोई बीमार है और न कोई काम करने के अयोग्य है," और "गिरजाघर की सीटों के लिये उनको जो थोड़ा सा पैसा देना पड़ता है, उसके अतिरिक्त वे धार्मिक, नैतिक तथा बौद्धिक प्रयोजनों के लिये जरा भी खर्च नहीं करते", न ही "किसी सेविंग बैंक में या किसी हितकारी समिति में" कुछ जमा करते हैं, और "भोग-विलास के लिये या अपव्ययिता के कारण भी कोई खर्चा नहीं करते।" हां, बाप और सब से बड़ा बेटा तम्बाकू जरूर पीते हैं और इतवार को शराबखाने में जाते हैं। इस मद में हर सप्ताह ८६ सांतीम का खर्च मान लिया जाता है। "विभिन्न व्यवसायों में मजदूरों को जो मजदूरी मिलती है, उसके आंकड़े जमा करने पर पता चलता है कि दैनिक मजदूरी का सब से ऊंचा औसत पुरुषों के लिये १ फ़्रांक ५६ सांतीम बैठता है, स्त्रियों के लिये ८९ सांतीम, लड़कों के लिये ५६ सांतीम और लड़कियों के लिये ५५ सांतीम। इस आधार पर हिसाब लगाया जाये, तो पूरे परिवार की वार्षिक आय अधिक से अधिक १,०६८ फ़्रांक होगी... जिस परिवार को हम... अन्य सब परिवारों का प्रतिनिधि मानकर चल रहे हैं,.. उसकी प्रत्येक सम्भव आय को हमने जोड़ लिया है, परन्तु मां की मजदूरी जोड़ते समय हम यह सवाल उठाते हैं कि घर का संचालन कौन करेगा? घर की अन्दरूनी अर्थ-व्यवस्था की देखभाल कौन करेगा? छोटे बच्चों को कौन संभालेगा? खाना कौन पकायेगा, और कपड़े कौन धोयेगा और कौन उनकी मरम्मत करेगा? मजदूर हमेशा इस पेशोपेश में पड़े रहते हैं।"

इस आधार पर परिवार का बजट इस प्रकार है:

| | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बाप | ३०० | दिन | काम | करके | १.५६ | फ़्रांक | प्रति | दिन | की | दर पर | कमाता है | ४६८ फ़्रांक |
| मां | " | " | " | " | ०.८९ | " | " | " | " | " | कमाती है | २६७ " |
| लड़का | " | " | " | " | ०.५६ | " | " | " | " | " | कमाता है | १६८ " |
| लड़की | " | " | " | " | ०.५५ | " | " | " | " | " | कमाती है | १६५ " |
| | | | | | | | | | | | कुल जोड़ | १०६८ फ़्रांक |

परिवार का वार्षिक खर्चा आय से ज्यादा होता है। परिवार के लिये कितनी कमी रहेगी, यह इसपर निर्भर करता है कि मजदूर किस तरह का खाना खाता है।

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जंगी बेड़े के मल्लाह के भोजन का खर्च | १८२८ | फ़्रांक | ....... | घाटा | ७६० फ़्रांक |
| फ़ौजी सिपाही " " " " | १४७३ | " | ....... | " | ४०५ " |
| क़ैदी " " " " | १११२ | " | ....... | " | ४४ " |

"इस प्रकार हम देखते हैं कि जंगी बेड़े के मल्लाह या सिपाही के भोजन की बात तो एक तरफ़, क़ैदी के औसत स्तर तक भी बहुत कम परिवार पहुंच पाते हैं। १८४७-१८४९ में अलग-अलग जेलखानों में प्रत्येक क़ैदी पर जो खर्च हुआ, उसका सामान्य औसत ६३ सांतीम बैठता है। इस रक़म का यदि मजदूर के दैनिक खर्च से मुक़ाबला किया जाये, तो १३ सांतीम का अन्तर दिखाई पड़ता है। इसके अलावा, हम यह भी याद रखें कि यदि जेलखाने के खर्च में प्रबंध तथा निगरानी का खर्च शामिल होता है, तो, दूसरी ओर, क़ैदियों को रहने के स्थान का किराया नहीं देना पड़ता, जेल की दूकान से वे जो चीज़ें खरीदते हैं, उनका दाम उनके खर्च में नहीं गिना जाता, और क्योंकि जेलखाने में बहुत से आदमी साथ रहते हैं और भोजन-सामग्री तथा उपभोग की अन्य वस्तुएं चूंकि सब थोक खरीदी जाती हैं, या उनका ठेका दे दिया जाता है, इसलिये क़ैदियों के जीवन-निर्वाह का खर्च वैसे भी आम तौर पर बहुत कम हो जाता है... फिर यह कैसे होता है कि मजदूरों की एक बड़ी संख्या, बल्कि हम कह सकते हैं कि उनका बहुमत क़ैदियों से भी कम खर्च में जिन्दा रहता है? इसके लिये... मजदूर कुछ ऐसे उपायों का प्रयोग करता है, जिनके रहस्य को केवल वही जानता है। वह अपने दैनिक भोजन में कमी कर देता है। गेहूं की जगह पर मोटे अनाज की रोटी खाता है। मांस कम खाता है या बिल्कुल छोड़ देता है। मक्खन और चटनी-मसालों का प्रयोग कम कर देता है या बिल्कुल बन्द कर देता है। एक या दो कोठरियों से ही सन्तोष करता है, जिनमें लड़के और लड़कियां पास-पास और अक्सर एक ही चटाई पर सोते हैं। वह कपड़ों पर, धुलाई पर पैसे बचाता है। वह मर्यादा और शिष्टता की परवाह न करके पैसे बचाता है। वह इतवार को अपना दिल बहलाने के लिये कहीं बाहर नहीं जाता। संक्षेप में, यह कि मजदूर और उसके परिवार के लोग तरह-तरह के अत्यन्त कष्टदायक अभावों को सहन करते हैं और इस तरह अपना खर्च कम करते हैं। और जब वे एक बार कमखर्ची की इस चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं, तो फिर यदि भोजन के दाम जरा भी चढ़ जाते हैं, या काम बन्द हो जाता है, या कोई बीमार पड़ जाता है, तो मजदूर का कष्ट और भी बढ़ जाता है और वह सम्पूर्ण तबाही के निकट पहुंच जाता है। उसके क़र्ज़े बढ़ने लगते हैं, उसको सामान उधार नहीं मिलता, अत्यन्त आवश्यक कपड़े और फ़र्नीचर गिरवी रख दिये जाते हैं, और अन्त में परिवार को मुहताजों की सूची में अपना नाम दर्ज करा लेना पड़ता है।" (Ducpètiaux, उप० पु०, पृ० १५१, १५४, १५५।) सच तो यह है कि "पूंजीपतियों के इस स्वर्ग" में जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनों के दामों में तनिक सा भी परिवर्तन होते ही मरने वालों की तादाद और अपराधों की संख्या में परिवर्तन हो जाता है! (देखिये Maatschappij का घोषणा-पत्र "*De Vlamingen Vooruit!*", Brussels, 1860, पृ० १५, १६।) सारे बेल्जियम में कुल मिलाकर ९,३०,००० परिवार रहते हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, उनमें से ९०,००० धनियों के परिवार हैं, जिनके नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज हैं। ये ९०,००० परिवार = ४,५०,००० व्यक्ति। १,९०,००० परिवार शहरों और गांवों के निम्न मध्य वर्ग के हैं, जिनके अधिकतर भाग का जीवन-स्तर लगातार गिरता और सर्वहारा के स्तर पर पहुंचता जा रहा है। यह हिस्सा = १९,५०,००० व्यक्ति। अन्त में, ४,५०,००० परिवार मजदूर-वर्ग के हैं, जो = २२,५०,००० व्यक्ति, जिनमें से प्रथम श्रेणी के परिवार वह महान सुख भोगते हैं, जिसका दुक्पेतियो ने वर्णन किया है। ४,५०,००० मजदूर-परिवारों में से २,००,००० से अधिक परिवार मुहताजों की सूची में दर्ज हैं।

## (च) ब्रिटेन का खेतिहर सर्वहारा

पूंजीवादी उत्पादन और संचय का आत्मविरोधी स्वरूप जितने कठोर रूप में इंगलैण्ड की खेती (जिसमें पशुपालन भी शामिल है) के विकास और खेतिहर मजदूरों के पतन की शकल में सामने आता है, वैसा और कहीं पर सामने नहीं आता। अंग्रेज खेतिहर मजदूर की वर्तमान दशा पर विचार करने के पहले मैं गुजरे हुए जमाने पर एक सरसरी नजर डालना चाहता हूं। इंगलैण्ड में आधुनिक खेती १८ वीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हुई थी, हालांकि भू-सम्पत्ति में उसके बहुत पहले क्रान्ति हो गयी थी, और यह क्रान्ति ही उत्पादन की बदली हुई प्रणाली का आधार थी।

आर्थर यंग सतही ढंग के विचारक हैं, किन्तु पर्यवेक्षण में वह बहुत सावधानी से काम लेते हैं। १७७१ के खेतिहर मजदूर की स्थिति के बारे में यदि हम उनके दिये हुए विवरण को देखें, तो हम यह पाते हैं कि १५ वीं शताब्दी की बात तो जाने दीजिये, – वह "शहर और देहात के अंग्रेज मजदूर का स्वर्ण-युग" कहलाती है, – १४ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों के मुक़ाबले में भी, "जब कि मजदूर ... खूब अच्छी तरह खा-पहन सकता था और कुछ पैसे जमा कर सकता था",[1] १७७१ के मजदूर की हालत बहुत ही पतली थी। लेकिन हमें इतने पीछे जाने की जरूरत नहीं है। १७७७ की एक बहुत उपयोगी रचना में हमें मिलता है: "बड़ा काश्तकार उठता-उठता उसके (भद्र पुरुष के) स्तर तक पहुंच गया है, जब कि ग़रीब मजदूर गिरता-गिरता लगभग जमीन से लग गया है। यदि हम उसकी वर्तमान दशा का केवल चालीस वर्ष पहले की उसकी दशा से मुक़ाबला करें, तो उसकी शोचनीय अवस्था पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी ... जमींदार और काश्तकार ... दोनों ने मिलकर मजदूर को दबा रखा है।"[2] इसके बाद इस रचना में विस्तार के साथ यह प्रमाणित किया गया है कि १७३७ और १७७७ के बीच खेतिहर मजदूरों की असल मजदूरी में लगभग चौथाई, या २५ प्रतिशत की कमी आयी। डा० रिचर्ड प्राइस ने भी लिखा है कि "आधुनिक नीति ऊपरी वर्गों के अधिक अनुकूल है; और कुछ समय बाद इसका यह परिणाम हो सकता है कि पूरे राज्य में केवल कुलीन लोग और भिखारी, या धनी लोग और उनके गुलाम, ये दो ही वर्ग रह जायें।"[3]

---

[1] James E. Thorold Rogers (ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर), "*A History of Agriculture and Prices in England*" ('इंगलैण्ड में खेती का और दामों का इतिहास'), Oxford, 1866, खण्ड १, पृ० ६९०। यह पुस्तक बड़े अध्यवसाय और परिश्रम का फल है। अभी तक उसके दो खण्ड प्रकाशित हुए हैं। उनमें केवल १२५९ से १४०० तक का ही विवरण है। दूसरे खण्ड में सिर्फ़ आंकड़े दिये गये हैं। इस काल के "दामों के इतिहास" पर यह पहली प्रामाणिक रचना है।

[2] "*Reasons for the Late Increase of the Poor-Rates: or a comparative view of the prices of labour and provisions*" ('मुहताजों की सहायता के लिये लगाये गये करों में इतनी देर के बाद वृद्धि करने के कारण, या श्रम के तथा खाने-पीने की वस्तुओं के दामों का तुलनात्मक अध्ययन'), London, 1777, पृ० ५, ११।

[3] Dr. Richard Price, "*Observations on Reversionary Payments*" (डा० रिचर्ड प्राइस, 'प्रतिवर्ती भुगतानों के विषय में कुछ विचार'), छठा संस्करण, W. Morgan द्वारा प्रकाशित, London, 1803, खण्ड १, पृ० १५८, १५९। प्राइस ने पृ० १५९ पर लिखा

इन तमाम बातों के बावजूद, १७७० से १७८० तक अंग्रेज खेतिहर मजदूर की भोजन और रहने के स्थान के मामले में और साथ ही आत्म-सम्मान तथा मनोरंजन आदि की दृष्टि से जो स्थिति थी, उसे एक ऐसा आदर्श माना जा सकता है, जिसतक वह उसके बाद फिर कभी नहीं पहुंच सका। उसकी औसत मजदूरी, यदि उसे गेहूं के पाइंटों में व्यक्त किया जाये, तो १७७० से १७७१ तक ६० पाइंट थी, जब कि ईडेन के काल में (१७६७ में) वह सिर्फ़ ६५ पाइंट और १८०८ में ६० पाइंट रह गयी थी।[1]

जैकोबिन-विरोधी युद्ध में जमीन के मालिकों, काश्तकारों, कारखानेदारों, सौदागरों, साहूकारों, शेयर बाजार के दलालों, फ़ौज के ठेकेदारों आदि ने असाधारण रूप से धन बटोरा था। उसके अन्तिम दिनों में खेतिहर मजदूर की क्या हालत थी, यह ऊपर बताया जा चुका है। कुछ हद तक तो बैंक-नोटों का मूल्य-ह्रास हो जाने के कारण और कुछ हद तक इसलिये कि इस मूल्य-ह्रास से स्वतंत्र रूप से भी जीवन-निर्वाह के प्राथमिक साधनों के दाम बढ़ गये थे, – इन दोनों कारणों से खेतिहर मजदूरों की नाम मात्र की मजदूरी में वृद्धि हो गयी थी। परन्तु असल मजदूरी में क्या परिवर्तन आया था, इसका बहुत आसानी से पता लगाया जा सकता है, और उसके लिये अनावश्यक विस्तार में जाने की कोई जरूरत नहीं है। १८१४ में भी ग़रीबों का क़ानून और उसका अमली रूप १७९५ के समान ही था। पाठकों को यह याद होगा कि देहाती इलाक़ों में इस क़ानून को कैसे अमल में लाया जाता था। मजदूर को किसी तरह केवल जिन्दा रहने के लिये जिस रक़म की आवश्यकता थी, उसमें और उसकी नाम मात्र की मजदूरी में जितना अन्तर होता था, वह धर्म-कोष से दी जाने वाली भीख के द्वारा पूरा कर दिया जाता था। काश्तकार जो मजदूरी देता था और सार्वजनिक कोष से जो कमी पूरी की जाती थी, उनके अनुपात से दो बातें प्रगट होती हैं। एक तो यह बात सामने आती है कि मजदूरों की मजदूरी अल्पतम सीमा के कितने नीचे गिर गयी थी। दूसरे, यह स्पष्ट होता है कि खेतिहर मजदूर किस हद तक मजदूर और मुहताज का मिश्रण बन गया था, या वह किस हद तक अपने गांव या क़स्बे का अर्ध-दास बन गया था। आइये, एक ऐसी काउण्टी को लें, जो सभी काउण्टियों में पायी जाने वाली औसत परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है। १७९५ में नौर्थेम्प्टनशायर में औसत साप्ताहिक मजदूरी ७ शिलिंग ६ पेन्स थी। ६ व्यक्तियों के परिवार का कुल वार्षिक ख़र्चा ३६ पौण्ड १२ शिलिंग ५ पेन्स बैठता था। उनकी कुल आय २९ पौण्ड १८ शिलिंग होती थी। सार्वजनिक कोष से ६ पौण्ड १४ शिलिंग २ पेन्स की कमी पूरी की जाती थी। १८१४ में इसी काउण्टी में साप्ताहिक मजदूरी १२ शिलिंग २ पेन्स हो गयी थी। ५ व्यक्तियों के परिवार का कुल वार्षिक ख़र्चा ५४ पौण्ड १८ शिलिंग ४ पेन्स बैठता था। उनकी कुल आय होती थी ३६ पौण्ड २ शिलिंग। सार्वजनिक कोष

---

है: "दिन भर के श्रम का दाम इस समय १५१४ के दाम के चौगुने या अधिक से अधिक पांचगुने से ज्यादा नहीं है। परन्तु अनाज का दाम तब से सातगुना हो गया है और मांस तथा कपड़े का दाम लगभग पन्द्रहगुना ज्यादा हो गया है। इसलिये, रहन-सहन के ख़र्चे में जो इजाफ़ा हो गया है, श्रम का दाम उसके अनुपात में नहीं बढ़ा है, बल्कि वह इससे इतना दूर है कि पहले उसका इस ख़र्चे के साथ जो अनुपात था, अब उसका आधा भी प्रतीत नहीं होता।"

[1] Barton, उप० पु०, पृ० २६। १८ वीं सदी के अन्तिम दिनों के लिये देखिये Eden, उप० पु०।

से १८ पौण्ड १६ शिलिंग ४ पेन्स की कमी पूरी की जाती थी।[1] १७९५ में कमी मजदूरी के $\frac{१}{४}$ से भी कम थी, १८१४ में मजदूरी के आधे से भी ज्यादा की कमी रह जाती थी। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि ईडेन के काल में भी खेतिहर मजदूर के झोंपड़े में जो थोड़ा सा आराम दिखाई देता था, वह ऐसी परिस्थितियों में १८१४ तक ग़ायब हो गया था।[2] तभी से काश्तकार के पास जितनी तरह के जानवर होते हैं, उनमें से मजदूर पर – या instrumentum vocale (अमूक औज़ार) पर – सबसे ज्यादा जुल्म हो रहा है, उसे सबसे ख़राब भोजन मिलता है और उसके साथ सबसे अधिक पाशविक व्यवहार किया जाता है।

जब तक कि "१८३० के स्विंग उपद्रवों ने हमारे सामने (अर्थात्, शासक वर्गों के सामने) जलते खलिहानों के प्रकाश में यह बात स्पष्ट नहीं कर दी कि खेतिहर इंगलैण्ड की सतह के नीचे भी वैसी ही ग़रीबी और वैसा ही भयानक, विद्रोही असंतोष सुलग रहे हैं, जैसे औद्योगिक इंगलैण्ड की सतह के नीचे सुलग रहे हैं"[3], तब तक चुपचाप यही हालत चलती रही। इसी समय सैडलर ने हाउस आफ़ कामन्स में बोलते हुए खेतिहर मजदूरों को "सफ़ेद चमड़ी वाले गुलामों" ("white slaves") का नाम दिया था, और एक बिशप ने यही नाम हाउस आफ़ लार्ड्स में दोहराया था। उस काल के सबसे उल्लेखनीय अर्थशास्त्री, ई० जी० वेकफ़ील्ड ने लिखा है: "दक्षिणी इंगलैण्ड का किसान ... न तो स्वतंत्र मनुष्य है और न ही दास है; वह मुहताज है।"[4]

अनाज सम्बंधी क़ानूनों के मंसूख होने के ठीक पहले जो जमाना आया, उसने खेतिहर मजदूरों की हालत पर नयी रोशनी डाली। एक ओर तो मध्य वर्गीय प्रचारकों का हित यह प्रमाणित करने में था कि अनाज सम्बंधी क़ानूनों से उन लोगों की बहुत कम रक्षा हुई है, जो सचमुच अनाज पैदा करते हैं। दूसरी ओर, भू-स्वामी अभिजात वर्ग फ़ैक्टरी-व्यवस्था की जो तीव्र निन्दा कर रहा था और ये सर्वथा भ्रष्ट, हृदयहीन और कुलीन कहलाने वाले आवारा लोग कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के साथ जो दिखावटी सहानुभूति प्रकट कर रहे थे तथा फ़ैक्टरी-क़ानून बनवाने के लिये जिस "कूटनीतिक उत्साह" का प्रदर्शन कर रहे थे, उसे देख-देखकर औद्योगिक पूंजीपति-वर्ग क्रोध से आगबबूला हो रहा था। अंग्रेजी की एक पुरानी कहावत है कि "जब चोरों में खटपट हो जाती है, तब भले लोगों की बन आती है।" और सचमुच, इस प्रश्न को लेकर कि शासक वर्ग के इन दो गुटों में से कौनसा मजदूरों का अधिक लज्जाजनक ढंग से शोषण करता है, उनके बीच जो झगड़ा छिड़ गया था और जिसके सिलसिले में इतना शोर मचाया जा रहा था और इतना तैश दिखाया जा रहा था, उससे दोनों की असलियत सामने आ गयी थी। फ़ैक्टरियों के ख़िलाफ़ अभिजात-वर्गीय लोकोपकारियों के इस आन्दोलन के प्रधान सेनापति शैफ़्टसबरी के अर्ल थे, जो लार्ड ऐशले भी कहलाते थे। चुनांचे १८४५ में "*Morning Chronicle*" खेतिहर मजदूरों की दशा पर प्रकाश डालने

---

[1] Parry, उप० पु०, पृ० ८६।

[2] उप० पु०, पृ० २१३।

[3] S. Laing, उप० पु०, पृ० ६२।

[4] "*England and America*" ('इंगलैण्ड और अमरीका'), London, 1833, खण्ड १, पृ० ४७।

वाले जो लेख प्रकाशित करता था, उनमें इन महोदय की अक्सर चर्चा रहती थी। यह पत्र उन दिनों देश का सबसे महत्वपूर्ण उदारपंथी पत्र था। उसने अपने विशेष प्रतिनिधियों को खेतिहर इलाक़ों की जांच करने के लिये भेजा। उन्होंने केवल सामान्य विवरण लिखकर या आंकड़े जमा करके ही सन्तोष नहीं किया, बल्कि उन्होंने मजदूरों के जिन परिवारों के बयान लिये, उनके तथा इन परिवारों के जमींदारों के नाम भी छाप दिये। निम्नलिखित सूची में दिखाया गया है कि ब्लैनफ़ोर्ड, विमबोर्न और पूल के पड़ोस में तीन गांवों में मजदूरों को कितनी मजदूरी मिलती थी। ये गांव मि० जी० बैंक्स और शैफ़्टेसबरी के अर्ल की सम्पत्ति थे। पाठक देखेंगे कि बैंक्स की तरह ही अंग्रेज धर्म-सुधारकों का यह नेता, "low church" का यह पोप भी मकान के किराये के नाम पर मजदूरों की मजदूरी का एक बड़ा हिस्सा खुद हड़प जाता था। (देखिये पृ० ७५७।)

अनाज सम्बंधी क़ानूनों के मंसूख हो जाने से इंगलैण्ड की खेती को आश्चर्यजनक प्रोत्साहन मिला।[1] इस युग की विशेषताएं थीं: बहुत बड़े पैमाने पर पानी की निकासी का बन्दोबस्त, बांधकर खिलाने और चारे की फ़सलों की बनावटी खेती के नये तरीक़ों का प्रयोग, यांत्रिक ढंग से खाद देने के उपकरणों का इस्तेमाल, चिकनी मिट्टी वाली भूमि को नये तरीक़े से तैयार करना, रासायनिक खादों का पहले से अधिक प्रयोग, भाप के इंजन और हर प्रकार की नयी मशीनों का इस्तेमाल और आम तौर पर पहले से अधिक गहन खेती। राजकीय कृषि-परिषद के अध्यक्ष मि० पुसी ने ऐलान किया है कि नयी मशीनों के इस्तेमाल से खेती का (सापेक्ष) खर्चा लगभग आधा कम हो गया है। दूसरी ओर, धरती की असली उपज तेजी से बढ़ी। नये तरीक़े के लिये यह बिलकुल जरूरी था कि फ़ी एकड़ पहले से ज्यादा पूंजी लगायी जाये, जिसके फलस्वरूप खेतों का संकेन्द्रण और तेजी के साथ होने लगा।[2] साथ ही १८४६ और १८५६ के बीच खेती के रक़बे में ४,६४,११९ एकड़ का इजाफ़ा हो गया। इसमें पूर्वी काउण्टियों का वह बड़ा इलाक़ा शामिल नहीं है, जहां पहले सिर्फ़ खरगोशों को पालने के अहाते और घटिया क़िस्म की चरागाहें थीं पर जो बाद को अनाज के शानदार खेतों में

---

[1] भू-स्वामी अभिजात वर्ग ने इसके लिये राज्य के कोष से बहुत सारा धन बहुत सस्ते सूद पर उधार ले लिया, जिसे काश्तकारों को सूद की बहुत ऊंची दर के साथ अदा करना पड़ रहा है। जाहिर है, यह काम भू-स्वामी अभिजात वर्ग ने संसद के जरिये किया था।

[2] मध्य-वर्गीय काश्तकारों की संख्या में कितनी कमी आ गयी है, यह ख़ास तौर पर जन-गणना की इस मद के आंकड़ों से मालूम किया जा सकता है: "काश्तकार का बेटा, पोता, भाई, भतीजा, बेटी, पोती, बहिन, भतीजी," या, एक शब्द में, उसके अपने परिवार के सदस्य, जो उसके लिये काम करते हैं। १८५१ में २,१६,८५१ व्यक्ति इस मद में आते थे, १८६१ में उनकी संख्या केवल १,७६,१५१ रह गयी। १८५१ से १८७१ तक २० एकड़ से कम के फ़ार्मों की संख्या में ९०० से अधिक की कमी हो गयी, ५० एकड़ से ७५ एकड़ तक के फ़ार्मों की संख्या ८,२५३ से ६,३७० रह गयी और १०० एकड़ से कम के बाक़ी सब फ़ार्मों का भी यही हाल हुआ। दूसरी ओर, इन्हीं बीस वर्षों में बड़े फ़ार्मों की संख्या बढ़ गयी। ३०० एकड़ से ५०० एकड़ तक के फ़ार्मों की तादाद ७,७७१ से बढ़कर ८,४२० हो गयी, ५०० एकड़ से ऊपर के फ़ार्म २,७५५ से बढ़कर ३,९१४ और १,००० एकड़ से ऊपर के फ़ार्म ४९२ से बढ़कर ५८२ हो गये।

**पहला गांव**

| (क) बच्चों की संख्या | (ख) परिवार में सदस्यों की संख्या | (ग) पुरुषों की साप्ताहिक मजदूरी | | (घ) बच्चों की साप्ताहिक मजदूरी | | (ङ) पूरे परिवार की साप्ताहिक आय | | (च) साप्ताहिक किराया | | (छ) किराया काटने के बाद साप्ताहिक आय | | (ज) प्रति व्यक्ति साप्ताहिक आय | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | शिलिंग | पेन्स | शिलिंग | पेन्स | शिलिंग | पेन्स | शिलिंग | पेन्स | शिलिंग | पेन्स | शिलिंग | पेन्स |
| २ | ४ | ८ | ० | — | | ८ | ० | २ | ० | ६ | ० | १ | ६ |
| ३ | ५ | ८ | ० | — | | ८ | ० | १ | ६ | ६ | ६ | १ | ३½ |
| २ | ४ | ८ | ० | — | | ८ | ० | १ | ० | ७ | ० | १ | ९ |
| २ | ४ | ८ | ० | — | | ८ | ० | १ | ० | ७ | ० | १ | ९ |
| ६ | ८ | ७ | ० | १<br>२ | ६<br>० | १० | ६ | २ | ० | ८ | ६ | १ | ०¼ |
| ३ | ५ | ७ | ० | — | | ७ | ० | १ | ४ | ५ | ८ | १ | १½ |

**दूसरा गांव**

| (क) | (ख) | (ग) शिलिंग | पेन्स | (घ) शिलिंग | पेन्स | (ङ) शिलिंग | पेन्स | (च) शिलिंग | पेन्स | (छ) शिलिंग | पेन्स | (ज) शिलिंग | पेन्स |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ६ | ८ | ७ | ० | १<br>१ | ६<br>६ | १० | ० | १ | ६ | ८ | ६ | १ | ०¾ |
| ६ | ८ | ७ | ० | — | | ७ | ० | १ | ३½ | ५ | ८½ | ० | ८½ |
| ८ | १० | ७ | ० | — | | ७ | ० | १ | ३½ | ५ | ८½ | ० | ७ |
| ४ | ६ | ७ | ० | — | | ७ | ० | १ | ६½ | ५ | ५½ | ० | ११ |
| ३ | ५ | ७ | ० | — | | ७ | ० | १ | ६½ | ५ | ५½ | १ | १ |

**तीसरा गांव**

| (क) | (ख) | (ग) शिलिंग | पेन्स | (घ) शिलिंग | पेन्स | (ङ) शिलिंग | पेन्स | (च) शिलिंग | पेन्स | (छ) शिलिंग | पेन्स | (ज) शिलिंग | पेन्स |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ४ | ६ | ७ | ० | — | | ७ | ० | १ | ० | ६ | ० | १ | ० |
| ३ | ५ | ७ | ० | २<br>२ | ०<br>६ | ११ | ६ | ० | १० | १० | ८ | २ | १½ |
| ० | २ | ५ | ० | — | | ५ | ० | १ | ० | ४ | ० | २ | ०[1] |

[1] लन्दन का '*Economist*', २९ मार्च १८४५, पृ० २९०।

बदल गया था। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि इसके साथ-साथ खेती में काम करने वाले व्यक्तियों की कुल संख्या घट गयी। जहां तक खास खेत-मजदूरों का सम्बंध है, १८५१ में हर उम्र के खेतिहर मजदूरों और मजदूरिनों की कुल संख्या १२,४१,३९६ थी और १८६१ में वह घटकर ११,६३,२१७ रह गयी थी।[1] इसलिये, अंग्रेज रजिस्ट्रार-जनरल ने ठीक ही कहा है कि "१८०१ के बाद से काश्तकारों और खेत-मजदूरों की संख्या में जो वृद्धि हुई है, वह ... खेती की उपज की वृद्धि के अनुपात में कुछ भी नहीं है"[2]; परन्तु यह व्यनुपात एकदम अन्तिम काल में अधिक देखने में आया, जब कि खेतिहर जन-संख्या में ठोस कमी होने के साथ-साथ खेती का रक़बा बढ़ गया, पहले से अधिक गहन खेती होने लगी, जमीन के साथ समाविष्ट और उसके विकास में लगी हुई पूंजी का अभूतपूर्व संचय हुआ, धरती की उपज में ऐसी वृद्धि हुई, जिसकी इंगलैण्ड की खेती के इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं मिलती, जमींदारों की जमाबंदियां फूलकर गुब्बारा हो गयीं और पूंजीवादी काश्तकारों का धन बढ़ने लगा। इसके साथ-साथ यदि हम यह भी याद करें कि इस काल में मंडियों का – जैसे शहरों का – अविराम विस्तार हुआ और स्वतंत्र व्यापार का राज्य रहा, तो secundum artem (सैद्धान्तिक दृष्टि से) यह सोचना अस्वाभाविक न होगा कि post tot discrimina rerum (इतने दिनों बाद आखिर) खेतिहर मजदूर हर्षोन्मत्त कर देने वाली परिस्थितियों में रहने लगा होगा।

लेकिन प्रोफ़ेसर रौजर्स इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि खेत-मजदूर के १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा १५ वीं शताब्दी के पूर्वजों की बात तो जाने दीजिये, आज के अंग्रेज खेत-मजदूर की हालत १७७० से १७८० तक के पूर्वजों की तुलना में भी असाधारण रूप से खराब हो गयी है, "किसान फिर कृषि-दास बन गया है," और कृषि-दास भी ऐसा, जिसको पहले से खराब भोजन और पहले से खराब कपड़ा मिलता है।[3] खेतिहर मजदूरों के निवास-स्थानों के सम्बंध में अपनी युगान्तरकारी रिपोर्ट में डा० जूलियन हण्टर ने कहा है: "hind" (खेत-मजदूर का नाम, जो कृषि-दास प्रथा के काल से विरासत में मिला है) "का खर्चा इस आधार पर निर्धारित किया जाता है कि वह कम से कम कितनी रक़म में जिन्दा रह सकता है ... उसे कितनी मजदूरी और आश्रय मिलना चाहिये, इसका हिसाब इस आधार पर नहीं लगाया जाता कि उसकी मेहनत से कितना मुनाफ़ा हासिल किया जा सकता है। खेती के हिसाब-किताब में उसे तो शून्य मान लिया जाता है[4] ... और उसके (जीवन-निर्वाह के)

---

[1] गड़रियों की संख्या १२,५१७ से बढ़कर २५,५५९ हो गयी।

[2] Census (जन-गणना), उप० पु०, पृ० ३६।

[3] Rogers, उप० पु०, पृ० ६९३, पृ० १०। मि० रौजर्स उदारपंथी मत के अर्थशास्त्री और कोबडेन और ब्राइट के व्यक्तिगत मित्र हैं, और इसलिये यह सम्भव नहीं है कि वह laudator temporis acti (प्राचीन काल के पुजारी) हों।

[4] "*Public Health. Seventh Report*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोर्ट'), London, 1865, पृ० २४२। इसलिये, ज्यों ही यह सुनायी देता है कि मजदूर पहले से कुछ ज्यादा कमा लेता है, त्यों ही अगर जमींदार अपना किराया बढ़ा देता है, या काश्तकार अगर इस बहाने से कि "मजदूर की पत्नी को कुछ काम मिल गया है," उसकी मजदूरी कम कर देता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (उप० पु०।)

साधनों को हमेशा एक स्थिर मात्रा माना जाता है।"[1] "जहां तक उसकी आय के और घटा दिये जाने का सवाल है, वह कह सकता है कि nihil habeo nihil curo (मेरे पास न तो कुछ है, और न मैं परवाह करता हूं)। उसे भविष्य का कोई भय नहीं है, क्योंकि अब उसके पास केवल उतना ही है, जितना उसे जिन्दा रखने के लिये जरूरी है। वह उस शून्य पर पहुंच गया है, जहां से काश्तकार का हिसाब प्रारम्भ होता है। अब तो भविष्य कैसा भी हो, वह न तो समृद्धि में हिस्सा बंटा सकता है और न विपत्ति में।"[2]

१८६३ में उन अपराधियों के पोषण और श्रम सम्बंधी स्थिति की सरकारी जांच हुई, जिनको काले पानी की और कड़ी क़ैद की सजा मिली हुई थी। इस जांच के नतीजे दो बड़े पोथों (Blue books) में दर्ज हैं। अन्य बातों के अलावा उनमें कहा गया है कि "इंगलैण्ड के जेलखानों में दण्डित बन्दियों के भोजन की इसी देश के मुहताजखानों में मुहताजों तथा स्वतंत्र खेत-मजदूरों के भोजन के साथ विस्तारपूर्वक तुलना करने पर निश्चय ही यह बात सामने आती है कि बन्दियों को दूसरे दोनों वर्गों से बहुत अच्छा भोजन मिलता है",[3] जब कि "कड़ी क़ैद भोगने वाले एक साधारण बन्दी को जितना श्रम करना पड़ता है, वह साधारण खेत-मजदूर द्वारा किये जाने वाले श्रम का लगभग आधा होता है"[4] गवाहों के बयानों के कुछ उल्लेखनीय अंश सुनिये। एडिनबरा जेलखाने के गवर्नर जान स्मिथ ने कहा:—नं० ५०५६— "इंगलैण्ड में जेलखानों का भोजन साधारण खेत-मजदूरों के भोजन से बेहतर होता है।" नं० ५०—"यह बिलकुल सच है कि ... स्कोटलैण्ड के साधारण खेत-मजदूरों को बहुत मुश्किल से ही कभी जरा सा मांस मिलता है।" उत्तर नं० ३०४७—"क्या आपको किसी ऐसे कारण की जानकारी है, जिससे इन लोगों को साधारण खेत-मजदूरों की अपेक्षा बहुत अच्छा भोजन देना जरूरी है?"—"जी नहीं।" नं० ३०४८—"क्या आपके विचार से कुछ और प्रयोगों के द्वारा यह पता लगाने की कोशिश करनी चाहिये कि सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में जिन क़ैदियों से काम लिया जा रहा है, उनके लिये क्या ऐसे भोजन की व्यवस्था नहीं की जा सकती, जो स्वतंत्र मजदूरों के भोजन से मिलता-जुलता हो?"[5] "... वह (खेत-मजदूर) कह सकता है कि 'मैं सख़्त मेहनत करता हूं और फिर भी मुझे खाने को काफ़ी नहीं मिलता, पर जब मैं जेल में था, तो पेट भरकर खाता था, मगर वहां से ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ती थी। इसलिये यहां रहने से तो यही बेहतर है कि फिर जेल चला जाऊं'।"[6] रिपोर्ट के पहले खण्ड के साथ जो तालिकाएं नत्थी हैं, उनका निचोड़ निकालकर मैंने यह तुलनात्मक तालिका तैयार की है:

---

[1] उप० पु०, पृ० १३५।

[2] उप० पु०, पृ० १३४।

[3] "*Report of the Commissioners ... relating to Transportation and Penal Servitude*" ('काले पानी और कड़ी क़ैद के सम्बंध में... जांच-कमिश्नरों की रिपोर्ट'), London, 1863, पृ० ४२, नं० ५०।

[4] उप० पु०, पृ० ७७। "*Memorandum by the Lord Chief Justice*" ('लार्ड चीफ़ जस्टिस का स्मृति-पत्र')।

[5] उप० पु०, खण्ड २, गवाहों के बयान (पृ० ४१८, २३६)।

[6] उप० पु०, खण्ड १, परिशिष्ट, पृ० २८०।

भोजन की साप्ताहिक मात्रा

| | नाइट्रोजनी अंश की मात्रा | ग़ैर-नाइट्रोजनी अंश की मात्रा | खनिज पदार्थ की मात्रा | कुल जोड़ |
|---|---|---|---|---|
| | औंस | औंस | औंस | औंस |
| पोर्टलैण्ड का क़ैदी. . . . . . . | २८.९५ | १५०.०६ | ४.६८ | १८३.६९ |
| जहाजी बेड़े का मल्लाह . . . . | २९.६३ | १५२.९१ | ४.५२ | १८७.०६ |
| फ़ौजी सिपाही . . . . . . . . . | २५.५५ | ११४.४९ | ३.९४ | १४३.९८ |
| बग्घी बनाने वाला कारीगर . . . | २४.५३ | १६२.०६ | ४.२३ | १९०.८२ |
| कम्पोज़िटर . . . . . . . . . . | २१.२४ | १००.८३ | ३.१२ | १२५.१९ |
| खेतिहर मजदूर . . . . . . . | १७.७३ | ११८.०६ | ३.२९ | १३९.०८[1] |

१८६३ के डाक्टरी-कमीशन ने सबसे खराब भोजन पाने वाले वर्गों के खाने की जो जांच की थी, उसके सामान्य परिणामों से पाठक पहले ही परिचित हो चुके हैं। उनको याद होगा कि खेतिहर मजदूरों के अधिकतर परिवारों का भोजन उस अल्पतम मात्रा से भी कम होता है, जो "भूख से पैदा होने वाली बीमारियों को दूर रखने के लिये" आवश्यक है। कौर्नवाल, डेवन, सोमरसेट, विल्ट्स, स्टैफ़र्ड, औक्सफ़ोर्ड, बर्क्स और हेर्ट्स जैसे तमाम विशुद्ध रूप से देहाती डिस्ट्रिक्टों में खास तौर पर यह बात देखने में आती है। डा० ई० स्मिथ ने कहा है: "खुद मजदूर को जितना पोषण मिलता है, वह औसत मात्रा से कुछ अधिक होता है, क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा ... भोजन का ज्यादा बड़ा हिस्सा खाता है, .. ताकि वह मेहनत कर सके; अधिक ग़रीब डिस्ट्रिक्टों में लगभग सारा मांस और सुअर का नमकीन गोश्त भी उसी के हिस्से में आता है ... मजदूर की बीवी और बच्चों को, उनके तेज विकास के काल में भी, लगभग प्रत्येक काउण्टी में अपर्याप्त भोजन मिलता है, जिसमें खास तौर पर नाइट्रोजन की बहुत कमी होती है।"[2] जो नौकर-नौकरानियां खुद काश्तकार के घर में रहते हैं, उनका काफ़ी अच्छा पोषण होता है। परन्तु उनकी संख्या, जो १८५१ में २,८८,२७७ थी, १८६१ तक केवल २,०४,९६२ रह गयी थी। डा० स्मिथ ने लिखा है: "खेतों में स्त्रियों के काम करने से और जो भी बुराई पैदा होती हो,... वर्तमान परिस्थिति में वह परिवार के लिये लाभदायक है, क्योंकि उससे आय में वह वृद्धि हो जाती है,.. जिससे जूते और कपड़े आ जाते हैं, किराया दे दिया जाता है और इसलिये जिसकी वजह से भोजन भी बेहतर मिलने लगता है"[3] इस जांच से एक बहुत ही उल्लेखनीय निष्कर्ष यह निकला था कि संयुक्तांगल राज्य के अन्य भागों के खेत-मजदूरों की तुलना में इंगलैण्ड के खेतिहर

[1] उप० पु०, पृ० २७४, २७५।

[2] "*Public Health. Sixth Report*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की छठी रिपोर्ट'), 1864, पृ० २३८, २४९, २६१, २६२।

[3] उप० पु०, पृ० २६२।

मजदूर को सबसे ख़राब भोजन मिलता है ("is considerably the worst fed")। इस सम्बंध में नीचे दी गयी तालिका देखिये:

औसत ढंग का वयस्क खेतिहर व्यक्ति सप्ताह में कार्बन और नाइट्रोजन की कितनी मात्रा खाता है:

| | कार्बन (ग्रेन में) | नाइट्रोजन (ग्रेन में) |
|---|---|---|
| इंगलैण्ड ...... | ४६,६७३ | १,५६४ |
| वेल्स ...... | ४८,३५४ | २,०३१ |
| स्कोटलैण्ड ..... | ४८,६८० | २,३४८ |
| आयरलैण्ड .... | ४३,३६६ | २,४३४[1] |

[1] उप० पु०, पृ० १७। अंग्रेज खेतिहर मज़दूर को आयरलैण्डवासी खेत-मज़दूर के मुक़ाबले में केवल चौथाई दूध और आधी रोटी खाने को मिलती है। *"Tour in Ireland"* ('आयरलैण्ड की यात्रा') शीर्षक अपनी रचना में आर्थर यंग ने इस शताब्दी के आरम्भ में ही इस बात का ज़िक्र किया था कि आयरलैण्डवासी खेत-मज़दूरों को बेहतर भोजन मिलता है। कारण बहुत साधारण था। आयरलैण्ड का ग़रीब काश्तकार इंगलैण्ड के धनी काश्तकार की अपेक्षा बहुत सहृदय होता है। जहां तक वेल्स का सम्बंध है, हमने ऊपर जो कुछ कहा है, वह केवल दक्षिण-पश्चिमी भाग पर लागू नहीं होता। वेल्स के तमाम डाक्टर इस बात से सहमत हैं कि आबादी की शारीरिक हालत के बिगड़ने पर तपेदिक़, ग्रंथियों की सूजन आदि रोगों से मरने वालों की संख्या में बहुत तेज़ी से वृद्धि होने लगती है; और सभी डाक्टरों की राय है कि आबादी की शारीरिक हालत ग़रीबी के कारण बिगड़ती है। "अनुमान है कि उस (खेत-मज़दूर) के जीवन-निर्वाह पर पांच पेन्स रोज़ाना ख़र्च होते हैं, लेकिन बहुत से डिस्ट्रिक्टों में काश्तकार का" (जो ख़ुद बहुत ग़रीब होता है) "इससे बहुत कम ख़र्च होता है... नमक लगा हुआ ज़रा सा मांस या सुअर का गोश्त,.. जो सूखकर और नमक लगकर महोगनी की लकड़ी जैसा हो गया है और जिसको हज़म करने में जितनी ताक़त लग जाता है, उतनी उसको खाने से बदन में नहीं आती,.. यह ज़रा सा मांस आटा या सत्तू और गंदना घास के बने शोरबे या दलिये में मांस की ख़ुशबू पैदा करने के लिये डाल दिया जाता है; और दिन के बाद दिन बीतते चले जाते हैं, और मज़दूर को रोज़ यही भोजन मिलता है।" उद्योगों के विकास का उसके लिये यह परिणाम हुआ कि इस सख़्त ठण्डे और नम जलवायु में रहते हुए भी उसने "घर का कता गाढ़ा पहनना बन्द कर दिया और उसकी जगह सस्ता और तथाकथित सूती कपड़ा पहनने लगा" और शराब या बियर पीना बन्द करके तथाकथित चाय पीने लगा। "खेतिहर कई घण्टे तक हवा और पानी में काम करने के बाद अपने झोंपड़े में जाकर आग तापने के लिये बैठ जाता है। आग या तो जीर्णक से जलायी जाती है और या कोयले के चूरे को मिट्टी में सानकर छोटे-छोटे गोले बना लिये जाते हैं और उनको जलाया जाता है, जिनसे कार्बोनिक और सलफ़्यूरिक अम्ल का ढेरों धुआं निकला करता है। झोंपड़े की दीवारें गारे और पत्थरों की बनी होती हैं; फ़र्श उसी नंगी मिट्टी का होता है, जो झोंपड़ा बनने के पहले भी इसी हालत में थी। छत की जगह पर भारी फूस का एक ढीला सा छप्पर बंधा रहता है। झोंपड़े को गरम रखने के लिये हरेक सूराख़ बन्द कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप सारा वातावरण ज़हरीली बदबू से भरा रहता है। इस वातावरण में मिट्टी

डा० साइमन ने अपनी स्वास्थ्य सम्बंधी सरकारी रिपोर्ट में कहा है: "हमारे खेतिहर मजदूरों के पास रहने का स्थान कितना कम और कैसा खराब है, इसका प्रमाण डा० हण्टर की रिपोर्ट के प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जाता है। और अनेक वर्षों से इस मामले में मजदूर की हालत धीरे-धीरे बिगड़ती ही जा रही है। अब घर के वास्ते स्थान पाने में उसको जितनी अधिक कठिनाई होती है, उतनी कठिनाई उसे शायद कई सदियों से नहीं हुई थी, और अब यदि उसे कोई स्थान मिलता भी है, तो उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए वह इतना

---

के कच्चे फ़र्श पर बैठा हुआ या लेटा हुआ मजदूर अपने बीवी-बच्चों के साथ खाना खाता है और सोता है। उसकी एकमात्र पोशाक उसकी पीठ पर ही सूखती है। जिन दाइयों या डाक्टरों ने बच्चे पैदा करने के लिये इन झोंपड़ों में रात का कोई हिस्सा बिताया है, उन्होंने बताया है कि किस तरह उनके पैर फ़र्श के कीचड़ में धंस गये थे और किस तरह उनको सांस लेने के लिये दीवार में सूराख़ करना पड़ा था (जो, ज़ाहिर है, बहुत आसान काम था)। जीवन के विभिन्न स्तरों से सम्बंध रखने वाले अनेक गवाहों ने यह बताया कि अपर्याप्त पोषण पाने वाले (underfed) किसान को हर रात इस गंदे वातावरण में बितानी पड़ती है। और इसका जो नतीजा होता है, उसके फलस्वरूप क्षीणदेह तथा रोगी लोगों की जो आबादी देहात में नजर आती है, उसके अस्तित्व के प्रमाणों का कोई अभाव नहीं है... कारमार्थेनशायर और कार्डिगनशायर के सहायता-अधिकारियों के बयानों से भी बिल्कुल इसी तरह की हालत ज़ाहिर होती है। इसके अलावा वहां "एक और भी भयंकर महामारी फैली हुई है, वह यह कि वहां मूर्खों की तादाद बहुत बड़ी है"। अब जलवायु के बारे में भी कुछ बता दिया जाये। "साल में ८ या ९ महीने पूरे देश में तेज़ दक्षिण-पश्चिमी हवा चलती है, जो अपने साथ मूसलाधार पानी लाती है। यह पानी मुख्यतया पहाड़ियों की पश्चिमी ढालों पर बरसता है। कुछ परिरक्षित स्थानों को छोड़कर पेड़ बहुत कम हैं, और जहां उनकी रक्षा करने के लिये कोई चीज़ नहीं है, वहां हवा उनको एकदम तोड़-मरोड़ डालती है। झोंपड़े आम तौर पर किसी पुश्ते की गोद में या किसी घाटी या गढ़े में दुबके रहते हैं, और हद दर्जे की छोटी भेड़ों तथा देशी गायों के अलावा और कोई पशु चरागाहों पर नहीं ठहर पाता... लड़के-लड़कियां पूर्व के ग्लामौर्गन और मौनमाउथ के खानों वाले डिस्ट्रिक्टों को चले जाते हैं। कारमार्थेनशायर ही वह जगह है, जहां खानों में काम करने वालों का जन्म होता है, और पंगु हो जाने पर भी वे यहीं रहते हैं। इसलिये, यहां की आबादी बहुत मुश्किल से ही अपनी तादाद को क़ायम रख पाती है। चुनांचे कार्डिगनशायर की आबादी के आंकड़े देखिये:

| | १८५१ | १८६१ |
|---|---|---|
| पुरुष | ४५,१५५ | ४४,४४६ |
| स्त्रियां | ५२,४५९ | ५२,९५५ |
| | ९७,६१४ | ९७,४०१" |

(डा० हण्टर की रिपोर्ट, "*Public Health. Seventh Report, 1865*" ['सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोर्ट, १८६५'], London, 1865, पृ० ४९८–५०२, विभिन्न स्थानों पर।)

अनुपयुक्त होता है, जितना अनुपयुक्त स्थान शायद उसे कई सदियों से नहीं मिला था। पिछले बीस या तीस वर्षों में ख़ास तौर पर यह बुराई बहुत बढ़ गयी है, और घर के मामले में खेत-मजदूर की हालत इस समय बहुत ही शोचनीय है। उसका श्रम जिन लोगों को दौलतमंद बनाता है, वे ही भले कभी-कभार उसपर थोड़ी दया दिखा दें, पर वैसे मजदूर इस मामले में बिल्कुल असहाय होता है। वह जिस जमीन को जोतता है, उसपर उसे रहने के लिये कोई स्थान मिलेगा या नहीं, वह स्थान मनुष्यों के रहने के लायक़ होगा या सुअरों के, और वह अपने घर के पास एक छोटा सा बग़ीचा लगा पायेगा या नहीं, जो कि उसके ग़रीबी के बोझे को बहुत हल्का कर देता है,—यह सब इसपर निर्भर नहीं करता कि वह जिस प्रकार का अच्छा स्थान चाहता है, उसका उचित किराया देने की उसमें इच्छा तथा योग्यता है या नहीं, बल्कि यह सब दूसरों की इच्छा पर निर्भर करता है। उनको अधिकार मिला हुआ है कि "वे अपनी सम्पत्ति के साथ जो चाहें, कर सकते हैं।" यह सब इसपर निर्भर करता है कि दूसरे लोग अपने इस अधिकार का किस प्रकार प्रयोग करते हैं। कोई फ़ार्म कितना भी बड़ा क्यों न हो, ऐसा कोई क़ानून नहीं है कि उसके आकार के अनुपात में मजदूरों के रहने के लिये घर बनवाना जरूरी हो (अच्छे घरों की तो बात ही जाने दीजिये); न ही कोई क़ानून यह कहता है कि जिस धरती के लिये मजदूर की मेहनत उतनी ही आवश्यक है, जितनी धूप और बारिश, उसपर मजदूर का भी किंचित मात्र अधिकार होता है... एक बाहरी तत्व हमेशा उसके विरोधी पलड़े को भारी रखता है ... वह बाहरी तत्व है ग़रीबों के क़ानून की बस्ती तथा प्रभार्यता सम्बंधी धाराएं।[1] इन धाराओं के प्रभाव का यह फल होता है कि प्रत्येक गांव या क़स्बे का आर्थिक हित यही होता है कि अपने यहां बसे हुए मजदूरों की संख्या को कम से कम रखे। कारण कि दुर्भाग्यवश कठोर परिश्रम करने वाले मजदूर तथा उसके परिवार को खेतों पर काम करके सुरक्षित भविष्य तथा स्थायी स्वाधीनता नहीं प्राप्त होती, बल्कि यह उसके लिये प्रायः अन्त में मुहताजी की स्थिति में पहुंच देने का छोटा या लम्बा रास्ता साबित होता है,—इस पूरे रास्ते के दौरान में मुहताजी की यह मंजिल उनके इतनी नजदीक होती है कि कोई भी बीमारी या थोड़ी देर की बेकारी आती है, तो मजदूर को फ़ौरन सार्वजनिक सहायता मांगनी पड़ती है, और इसलिये प्रत्येक गांव या क़स्बे के लिये खेतिहर मजदूरों के वहां बसने का मतलब यह होता है कि उसे मुहताजों की सहायता के कोष के वास्ते ज्यादा कर देना पड़ता है ... जमीन के बड़े-बड़े मालिक[2] ... यदि बस इतना तै कर लेते हैं कि उनकी जमीनों पर मजदूरों के मकान नहीं बनने पायेंगे, तो उनकी जमींदारियां उसी समय से मुहताजों की सहायता करने की आधी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती हैं। अंग्रेजी विधान और क़ानून की दृष्टि से जमीन पर इस प्रकार का प्रतिबंधरहित स्वामित्व कहां तक उचित है और वे इस बात की कहां तक अनुमति देते हैं कि जमींदार अपनी सम्पत्ति का

---

[1] १८६५ में इस क़ानून में कुछ सुधार किया गया। पर शीघ्र ही अनुभव से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इस तरह के पैबंद लगाने से कोई लाभ नहीं है।

[2] इसके आगे जो कुछ लिखा है, उसको समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिये कि close villages (बन्द गांव) वे हैं, जिनके मालिक एक या दो बड़े जमींदार हैं, और open villages (खुले गांव) वे हैं, जिनके मालिक बहुत से छोटे-छोटे जमींदार हैं। मकानों का व्यवसाय करने वाले लोग इन खुले गांवों में ही झोंपड़े और सराय आदि बनवा सकते हैं।

इच्छानुसार उपयोग करते हुए जमीन के जोतने-बोने वालों के साथ विदेशियों जैसा व्यवहार करे और चाहे, तो अपने इलाक़े से उन्हें जलावतन कर दे,—यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसपर मैं यहां विचार करने की जरूरत नहीं समझता ... कारण कि बेदखल करने का वह (अधिकार) ... केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है। बहुत बड़े पैमाने पर यह अधिकार अमल में लाया जाता है ... और इस तरह अमल में लाया जाता है कि जहां तक रहने के लिये घर का सवाल है, खेतिहर मजदूर का जीवन मुख्यतया इसी अधिकार के प्रयोग पर निर्भर करता है ... यह बुराई कितनी फैली हुई है, यह बताने के लिये केवल उस सामग्री का हवाला देना ही काफ़ी है, जो डा० हण्टर ने पिछली जन-गणना से एकत्रित की है। उससे पता चलता है कि स्थानीय रूप से घरों की मांग बहुत बढ़ जाने के बावजूद इंगलैण्ड के ८२१ अलग-अलग गांवों या क़स्बों में पिछले दस वर्ष से घर नष्ट किये जा रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि जिन लोगों को (जिस गांव या क़स्बे में वे काम करते हैं, उस गांव या क़स्बे के लिये) जबर्दस्ती अन्यत्रवासी बना दिया जाता है, वे चाहे जैसे लोग रहे हों, १८६१ में इन गांवों और क़स्बों में १८५१ की तुलना में ५ $\frac{१}{३}$ प्रतिशत अधिक आबादी ४ $\frac{१}{२}$ प्रतिशत कम निवास-स्थान में भरी हुई थी। डाक्टर हण्टर का कहना है कि जब आबादी को उजाड़ने की क्रिया पूरी हो जाती है, तब उसके फलस्वरूप एक नुमायशी गांव (show-village) तैयार हो जाता है, जिसमें झोंपड़ों की संख्या बहुत कम रह जाती है, और उन लोगों के सिवा, जिनकी गड़रियों, मालियों या आखेट-रक्षकों के रूप में जरूरत होती है और जिनके साथ नियमित नौकरों के रूप में अच्छा व्यवहार किया जाता है, वहां और कोई नहीं रह पाता।[1] लेकिन जमीन को जोतना-बोना जरूरी होता है, और आप देखेंगे कि अब जो मजदूर इस गांव की जमीन पर काम करने के लिये नौकर रखे गये हैं, वे अपने मालिक के किरायेदार नहीं हैं, बल्कि पड़ोस के, सम्भवतया तीन मील दूर के किसी खुले गांव से यहां काम करने के लिये आते हैं। जब बन्द गांवों में इन लोगों के घरों को नष्ट कर दिया गया था, तो इस खुले गांव के छोटे मालिकों ने उन्हें अपने घरों में आश्रय दिया था। जो गांव उपर्युक्त अवस्था के निकट पहुंच रहे हैं, उनमें जो झोंपड़े अभी तक खड़े हैं, वे भी प्रायः अपनी खराब हालत और मरम्मत के अभाव के द्वारा यह व्यक्त करते रहते हैं कि अन्त में उनका क्या हाल होने वाला है। इन घरों को प्राकृतिक अपक्षय की विभिन्न अवस्थाओं में देखा

---

[1] इस प्रकार का नुमायशी गांव देखने में बहुत अच्छा लगता है, पर वह उतना ही अवास्तविक होता है, जितने अवास्तविक वे गांव थे, जिनको कैथेरिन द्वितीय ने क्राइमिया जाते हुए रास्ते में देखा था। हाल ही में अक्सर गड़रियों को भी show-villages (नुमायशी गांवों) से बहिष्कृत कर दिया गया है। मिसाल के लिये, मार्केट हारबोरो के नजदीक ५०० एकड़ का भेड़ों का फ़ार्म है, जहां केवल एक आदमी काम करता है। गड़रिये को इन फैले हुए मैदानों को, लीसेस्टर और नौर्थेम्पटन की सुन्दर चरागाहों को, पैदल चलकर न पार करना पड़े, इस ख्याल से उसे फ़ार्म पर ही एक झोंपड़ा दे दिया जाता था। अब उसे घर किराये पर लेने के लिये १ शिलिंग अलग से मिलता है, और उसकी कुल मजदूरी १२ से १३ शिलिंग हो गयी है; पर उसे घर दूर किसी खुले गांव में लेना पड़ता है।

आ सकता है। पर जब तक घर साबित रहता है, तब तक मजदूर को भी उसको किराये पर लेने की इजाजत रहती है; और अक्सर उसे इस बात की बहुत ख़ुशी होती है कि वह इस टूटे-फूटे मकान को अच्छे मकान का भाड़ा देकर किराये पर ले सकता है। परन्तु इस घर की कोई मरम्मत नहीं होगी, न ही उसमें कोई सुधार किया जायेगा; हां, उसमें रहने वाला निर्धन मजदूर अपने ख़र्चे से कोई मरम्मत या सुधार कराना चाहे, तो करा सकता है। और जब आख़िर घर क़तई तौर पर किसी के रहने के लायक़ नहीं रहता,–जब वह कृषि-दास प्रथा के निम्नतम स्तर के दृष्टिकोण से भी रहने के अयोग्य हो जाता है,–तब, तब क्या चिन्ता है, एक झोंपड़ा और गिरा दिया जायेगा और मुहताजों की सहायता के लिये जो कर देना पड़ता है, वह कुछ हल्का हो जायेगा। बड़े मालिक इस तरह अपनी जमीनों पर बस्तियों को उजाड़-उजाड़कर करों के बोझ से हल्के होते जाते हैं; उधर जो क़स्बा या खुला गांव सबसे नजदीक होता है, निकाले हुए मजदूर वहां रहने के लिये पहुंच जाते हैं। मैंने कहा "सबसे नजदीक", पर इसका मतलब यह भी हो सकता है कि जिस फ़ार्म पर मजदूर को रोज मेहनत-मशक़्क़त करनी पड़ती है, उससे यह जगह तीन या चार मील दूर हो। रोज की उस मशक़्क़त में तब छः या आठ मील रोजाना पैदल चलने की मशक़्क़त और जुड़ जायेगी,–और इस तरह जुड़ जायेगी, जैसे कुछ नहीं हुआ है,–क्योंकि बिना इतना पैदल चले तो मजदूर अपनी रोटी कमा नहीं सकता। और यदि उसकी बीबी और बच्चे भी फ़ार्म पर कुछ काम करते हैं, तो अब उनके लिये भी वही कठिनाई पैदा हो जायेगी। और फिर ऐसा भी नहीं है कि इस दूरी के कारण उसे केवल पैदल चलने की ही मशक़्क़त करनी पड़ती हो। खुले गांव में झोंपड़े बनाकर किराये पर उठाने वाले मुनाफ़ाख़ोर जमीन की छोटी-छोटी कतरनें ख़रीद लेते हैं, फिर उनपर सस्ते से सस्ते दड़बे बनाकर ज्यादा से ज्यादा घनी बस्ती खड़ी कर देते हैं। और इन अति-निकृष्ट निवास-स्थानों में (जिनमें खुले देहात के पास होने पर भी शहरों के सबसे ख़राब मकानों के कुछ सबसे भयानक दुर्गुण होते हैं) इंगलैण्ड के खेतिहर मजदूरों को भर दिया जाता है ...[1] परन्तु, दूसरी ओर, हमें भी यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जब

[1] "(खुले गांवों में, जिनमें, ज़ाहिर है, सदा बहुत अधिक भीड़ भरी रहती है) मज़दूरों के घर आम तौर पर लाइनों में बनाये जाते हैं, और उनका पिछवाड़ा ज़मीन के उस टुकड़े के छोरे से मिला रहता है, जिसको मकान बनाने वाला अपना टुकड़ा कह सकता था; और इस कारण मज़दूरों के घरों में सामने से तो कुछ रोशनी और हवा आ सकती हैं, पर और किसी तरफ़ से नहीं आ सकती।" (डा० हण्टर की रिपोर्ट, उप० पु०, पृ० १३५।) अक्सर गांव का मोदी या बियर बेचने वाला ही मकान भी किराये पर उठाता है। ऐसी स्थिति में खेतिहर मज़दूर के ऊपर काश्तकार के अलावा एक और मालिक चढ़ी गांठ लेता है। मज़दूर को इस आदमी का ख़रीदार भी बनना पड़ता है और किरायेदार भी। "मज़दूर को जो थोड़ी सी चाय, शक्कर, आटा, साबुन, मोमबत्तियां और बियर चाहिये, वह सब उसे मुंहमांगे दामों पर ... १० शिलिंग प्रति सप्ताह की अपनी मज़दूरी में से ख़रीदनी पड़ती है, जब कि उसमें से ४ पौण्ड सालाना किराये के कट जाते हैं।" (उप० पु०, पृ० १३२।) सच पूछिये, तो ये खुले गांव इंगलैण्ड के खेतिहर मज़दूरों के वर्ग के जेलख़ाने हैं, जहां उन्हें बामशक़्क़त क़ैद काटनी पड़ती है। बहुत से झोंपड़े महज़ भटियारख़ाने हैं, जिनमें आस-पड़ोस के सारे ऐरे-ग़ैरे आकर ठहरते हैं और चले जाते हैं। देहाती मज़दूर और उसका परिवार ख़राब से ख़राब

मजदूर को उसी जमीन पर रहने को कोई स्थान मिल जाता है, जिसे वह जोतता-बोता है, तब घर के मामले में आम तौर पर उसकी स्थिति वैसी हो जाती है, जैसी उसके उत्पादक उद्योग को देखते हुए होनी चाहिये। यहां तक कि राजकुमारों की जागीरों पर भी ... मजदूर का झोंपड़ा ... खराब से खराब ढंग का हो सकता है। कुछ जमींदार हैं, जो मजदूर और उसके परिवार के लिये गंदे से गंदे अस्तबल को भी बहुत अच्छा समझते हैं, मगर जब किराये का सवाल आता है, तो उसकी खाल उतार लेने में भी संकोच नहीं करते।[1] मुमकिन है कि यह केवल एक कमरे का झोंपड़ा हो, जिसमें न तो अंगीठी हो, न पाखाना हो, न कोई खिड़की हो; जोहड़ के सिवा पानी का भी कोई इन्तजाम न हो, और कोई बग़ीचा भी न हो, —मगर मजदूर लाचार है, वह इस अन्याय के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता ... और अनुत्रास निवारण के क़ानून (the Nuisances Removal Acts) ... कोरे काग़ज़ के टुकड़े बनकर... रह गये हैं, क्योंकि ... इन क़ानूनों का अमल में आना बहुत हद तक उन मकान-मालिकों पर ही निर्भर करता है, जिनसे इस मजदूर ने यह दड़बा किराये पर ले रखा था ... न्याय का तक़ाज़ा है कि अब सुन्दर, किन्तु अपवाद-स्वरूप दृश्यों की ओर से ध्यान हटाकर उन तथ्यों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाये,

---

हालत में रहते हुए भी सचमुच बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से अपनी ईमानदारी तथा चरित्र की शुद्धता को सुरक्षित रखते हैं। पर इन भटियारख़ानों में पहुंचकर वे भी एकदम चौपट हो जाते हैं। मकानों के किराये से अपनी थैलियां भरने वालों, छोटे ज़मींदारों और खुले गांवों को देखकर छि:-छि: करने का अभिजात-वर्गीय रक्त-शोषकों में, जाहिर है, बड़ा चलन है। पर वे अच्छी तरह जानते हैं कि उनके "बन्द गांव" और "नुमायशी गांव" खुले गांवों के जन्म-स्थान हैं, और वे उनके बिना क़ायम नहीं रह सकते। "यदि छोटे मालिक न होते, तो ... अधिकतर मज़दूरों को, जिन फ़ार्मों पर वे काम करते हैं, उनके पेड़ों के नीचे सोना पड़ता।" (उप० पु०, पृ० १३५) "खुले" और "बन्द" गांवों की यह व्यवस्था सभी मध्यदेशीय काउण्टियों में और सारे पूर्वी इंगलैण्ड में पायी जाती है।

[1] "वह मालिक ... प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से मुनाफ़ा ... कमाता है, जो किसी आदमी को १० शिलिंग प्रति सप्ताह पर नौकर रखता है और फिर उस गरीब मज़दूर से ४ पौण्ड या ५ पौण्ड सालाना उस घर के किराये के वसूल कर लेता है, जिसकी क़ीमत स्वतंत्र मण्डी में २० पौण्ड भी नहीं होगी। लेकिन इस घर की क़ीमत जबर्दस्ती बढ़ा दी जाती है, और वह इसलिये कि उसका मालिक किसी भी समय अपने किरायेदार से यह कह सकता है कि 'या तो मेरे घर में रहो और या कहीं और जाकर नौकरी तलाश करो, और याद रखो कि मैं तुम्हें चरित्र-प्रमाणपत्र भी नहीं दूंगा'... मान लीजिये कि कोई आदमी थोड़ा ज्यादा कमाने के उद्देश्य से रेल की लाइन बिछाने का काम करना चाहता है या पत्थर की खान में नौकरी करना चाहता है। तब फिर वही मालिक उससे कहेगा: 'या तो जितनी मजदूरी मैं देता हूं, उतनी लेकर मेरे यहां काम करो और या एक हफ़्ते का नोटिस देकर मेरे घर से निकल जाओ; और अपना सुअर भी साथ लेते जाओ, और तुम्हारे बग़ीचे में जो आलू लगे हुए हैं, उनको भी जिस भाव पर बने, बेच डालो।' और यदि मालिक का हित इसमें हो, तो वह (यानी काश्तकार) काम छोड़ने की सजा के रूप में मजदूर से थोड़ा ज्यादा किराया वसूल कर सकता है।" (डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३२।)

जिनकी इस समय देश में बहुतायत है और जो इंगलैण्ड की सभ्यता के माथे पर कलंक का टीका हैं। यह सचमुच बहुत ही दुःख की बात है कि मौजूदा घरों की हालत क्या है, यह अच्छी तरह जानते हुए भी सभी योग्य पर्यवेक्षकों का समान रूपसे यह मत है कि मकानों की अपर्याप्त संख्या के मुक़ाबले में उनकी मौजूदा हालत भी अपेक्षाकृत कम ग़ौरी बुराई है। देहाती मजदूरों के घरों में जो अत्यधिक भीड़ भरी रहती है वह, वर्षों से न केवल सफ़ाई की ओर ध्यान देने वाले लोगों के लिये, बल्कि उन लोगों के लिये भी चिन्ता का विषय बनी हुई है, जो मर्यादित तथा नैतिक जीवन चाहते हैं। कारण कि देहाती इलाक़ों में महामारियों के प्रसार की रिपोर्टें देने वाले व्यक्तियों ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है,—और उसके लिये इस हद तक एक सी शब्दावली का प्रयोग किया है कि उन सब की रिपोर्टें एक सांचे में ढली हुई मालूम होने लगती हैं,—कि इस सिलसिले में इस भीड़ का अत्यधिक महत्व होता है, क्योंकि जब एक बार कोई बीमारी कहीं पर घुस आती है, तो इस भीड़ के कारण उसको फैलने से रोकना लगभग असम्भव हो जाता है। और यह बात बार-बार कही जा चुकी है कि देहात के जीवन में जो अनेक स्वास्थ्यप्रद बातें हैं, उनके बावजूद इस भीड़ से न सिर्फ़ छूत की बीमारियों के फैलने में मदद मिलती है, बल्कि वे रोग भी फैलते हैं, जो संक्रामक नहीं हैं। एक और बुराई है, जिसके बारे में वे लोग ख़ामोश नहीं रहे हैं, जिन्होंने हमारी देहाती आबादी के बहुत अधिक भीड़ से भरे इन स्थानों में रहने की निन्दा की है। जहां पर इन लोगों को मुख्यतया केवल स्वास्थ्य को पहुंचने वाली हानि का ख़याल था, वहां पर भी उनको अक्सर एक तरह से मजबूर होकर कुछ और सम्बंधित बातों का भी ज़िक्र करना पड़ा है। उनकी रिपोर्टों में बताया गया है कि बहुधा वयस्क पुरुष और वयस्क स्त्रियां, विवाहित और अविवाहित, सब के सब सोने के लिये एक ही कमरे में ठसाठस भर जाते हैं (huddled)। इन रिपोर्टों में यह बात प्रमाणित कर दी गयी है कि उन्होंने जिस प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन किया है, उनमें मर्यादा का अतिक्रमण होना और नैतिकता का नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है।[1] उदाहरण के लिये, मेरी पिछली वार्षिक रिपोर्ट के परिशिष्ट में डा० ओर्ड ने बकिंघमशायर के विंग नामक स्थान में महामारी के रूप में बुख़ार के फैलने के विषय में अपनी रिपोर्ट देते हुए बताया है कि इस स्थान में सबसे पहले एक नौजवान विंग्रेव से बुख़ार लेकर आया था। 'अपनी बीमारी

---

[1] "जब भाई-बहन बड़े हो जाते हैं, तो नव-विवाहित दम्पतियों को बराबर देखते रहना उनके लिये हितकारी नहीं हो सकता; और हम यहां पर विशिष्ट घटनाओं का तो ज़िक्र नहीं कर सकते, लेकिन यह कहने के लिये हमारे पास पर्याप्त तथ्य मौजूद हैं कि सगोत्र सम्भोग के अपराध में जो लड़की भाग लेती है, उसे तरह-तरह की मुसीबतें सहनी पड़ती हैं और कभी-कभी तो उसकी मौत तक हो जाती है।" (डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३७।) देहाती पुलिस के एक सदस्य ने, जिसने अनेक वर्षों तक लन्दन के सबसे ख़राब इलाक़ों में ख़ुफ़िया का काम किया है, अपने गांव की लड़कियों के बारे में कहा है: "मैंने अनेक वर्षों तक पुलिस में काम किया है और लन्दन के सबसे ख़राब मुहल्लों में ख़ुफ़िया का भी काम किया है, पर इन लड़कियों जैसी बेहयाई और बेशर्मी मैंने कभी नहीं देखी थी ... ये सब सुअरों की तरह रहते हैं। बहुत सी जगहों में बड़े-बड़े लड़के-लड़कियां और मां-बाप सब एक कमरे में सोते हैं।" (*"Child. Empl. Com. Sixth Report, 1867"* ['बाल-सेवायोजन-आयोग की छठी रिपोर्ट १८६७'] परिशिष्ट, पृ० ७७, अंक १५५।)

के शुरू के दिनों में वह नौ अन्य व्यक्तियों के साथ एक कमरे में सोता रहा। नतीजा यह हुआ कि चौदह दिन के भीतर इनमें से कई व्यक्तियों को बीमारी ने घेर लिया, कुछ सप्ताह के भीतर नौ में से पांच को बुखार हो आया और एक मर भी गया ...' सेण्ट जोर्ज अस्पताल के डा० हारवे से, जो महामारी के दिनों में अपने धंधे से सम्बंध रखने वाले किसी निजी काम से विंग गये थे, मुझे निम्नलिखित सूचना मिली, जो उपर्युक्त रिपोर्ट से हू-ब-हू मेल खाती है : '... एक युवती को बुखार था। रात को वह उसी कमरे में लेट रही, जिसमें उसके मां-बाप, उसका हरामी बच्चा, दो लड़के (उसके भाई) और उसकी दो बहनें,—दोनों मय एक-एक हरामी बच्चे के,—यानी कुल मिलाकर दस व्यक्ति लेटे हुए थे। कुछ सप्ताह पहले इस कमरे में १३ व्यक्ति सोते थे।'"[1]

डा० हण्टर ने न केवल विशुद्ध रूप से खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में, बल्कि इंगलैण्ड की सभी काउण्टियों में कुल ५,३७५ घरों की जांच की थी। इनमें से २,१९५ में सोने का केवल एक ही कमरा था (जो अक्सर उठने-बैठने के काम में भी आता था), २,९३० में केवल दो कमरे सोने के लिये थे और २५० में दो से ज्यादा थे। मैं नीचे एक दर्जन काउण्टियों में से चुने हुए कुछ नमूने पेश करता हूं।

## (१) बेडफ़ोर्डशायर

रेसलिंगवर्थ। सोने के कमरों की लम्बाई लगभग १२ फ़ुट और चौड़ाई १० फ़ुट है, हालांकि बहुत से इससे भी छोटे हैं। छोटे एकमंजिले घरों को अक्सर तख्ते लगाकर सोने के दो कमरों में बांट दिया जाता है, एक बिस्तर प्रायः ५ फ़ुट छः इंच ऊंची रसोई में डाल दिया जाता है। किराया ३ पौण्ड सालाना है। पाखाने किरायेदारों को खुद अपने बनाने पड़ते हैं, मालिक केवल एक गड्ढे की व्यवस्था कर देता है। ज्यों ही कोई किरायेदार एक पाखाना बना देता है, त्यों ही आस-पड़ोस के सारे आदमी उसको इस्तेमाल करने लगते हैं। रिचर्डसन नामक एक परिवार का घर इतना सुन्दर था कि उस जैसा दूसरा मकान मिलना ही मुश्किल है। "उसकी प्लास्तर की दीवारें जगह-जगह पर इस तरह बाहर को निकल आयी थीं, जैसे अभिवादन करने के लिये झुकती हुई महिला की पोशाक बाहर को निकल आती है। घर का एक कोना उतल था, दूसरा अवतल था, और इस दूसरे कोने पर, दुर्भाग्य से, एक चिमनी टिकी हुई थी, जो हाथी की सूंड की तरह मुड़ी हुई, मिट्टी और लकड़ी की एक नली थी। चिमनी को गिरने से रोकने के लिये एक लम्बे डंडे की टेक लगा दी गयी थी। दरवाजा और खिड़की समचतुर्भुजाकार थे।" १७ घरों की जांच की गयी; उनमें से केवल ४ में एक से अधिक सोने के कमरे थे, और ये चारों घर भीड़ से भरे हुए थे। जिन घरों में एक-एक सोने का कमरा था, उनमें ३ वयस्क और ३ बच्चे, ६ बच्चों के साथ एक विवाहित दम्पति या ऐसी ही संख्या में कोई दूसरे लोग रहते थे।

डण्टन। किराये ऊंचे हैं—४ पौण्ड से ५ पौण्ड तक। पुरुष की साप्ताहिक मजदूरी १० शिलिंग है। परिवार सूखी घास की चीजें बनाकर घर का किराया अदा करने की आशा रखता है। किराया जितना ऊंचा होता है, उसे अदा करने के वास्ते उतने ही अधिक लोगों को मिलकर काम करना पड़ता है। छः वयस्क व्यक्ति, जो सोने के एक कमरे में ४ बच्चों के साथ रहते

---

[1] "*Public Health. Seventh Report, 1865*" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की सातवीं रिपोर्ट, १८६५'), पृ० ९–१४, विभिन्न स्थानों पर।

हैं, इतनी जगह के लिये ३ पौण्ड १० शिलिंग किराया देते हैं। डव्टन में सबसे सस्ता घर बाहर से १५ फ़ुट लम्बा और १० फ़ुट चौड़ा है और ३ पौण्ड सालाना पर उठा हुआ है। जितने घरों की जांच की गयी, उनमें से केवल एक में सोने के २ कमरे थे। गांव के कुछ बाहर एक घर है, जिसमें "रहने वाले लोग घर की दीवार के पास ही पाखाना फिरने बैठ जाते हैं"। इस घर के दरवाज़े का नीचे का हिस्सा ६ इंच की ऊंचाई तक एकदम सड़कर ख़तम हो गया है। रात के समय इस सूराख़ को बड़ी होशियारी के साथ कुछ ईंटें चटाई से ढंककर बन्द कर दिया जाता है। आधी खिड़की, शीशे और चौखटे समेत, प्रत्येक नश्वर वस्तु की भांति काल का ग्रास बन गयी है। बिना किसी फ़र्नीचर के इस घर में ३ वयस्क और ५ बच्चे भरे हुए हैं। और बिगलेसवेड यूनियन के बाक़ी हिस्सों के मुक़ाबले में डव्टन की हालत कोई ख़ास ख़राब नहीं है।

## (२) बर्कशायर

बीनहैम। जून १८६४ की बात है कि एक पुरुष, उसकी पत्नी और ४ बच्चे एक cot (एकमंज़िले घर) में रहते थे। बेटी नौकरी से लौटी, तो स्कार्लेट ज्वर साथ ले आयी। वह मर गयी। एक बच्चा बीमार हो गया, और वह भी चल बसा। जिस समय डा० हण्टर को बुलाया गया, उस समय मां और एक बच्चा टाइफ़स ज्वर में पड़े हुए थे। बाप और एक बच्चा घर के बाहर सोते थे, लेकिन बीमारों को बाक़ी लोगों से अलग करने की कठिनाई यहां भी दिखाई दी, क्योंकि ज्वर-ग्रस्त परिवार के घरेलू कपड़े इस ग़रीब गांव के भीड़-भरे बाज़ार में धुलाई के लिये पड़े हुए थे। "एच०" के घर का किराया १ शिलिंग प्रति सप्ताह है। सोने का एक कमरा है, जिसमें मियां, बीवी और ६ बच्चे रहते हैं। एक घर ८ पेन्स प्रति सप्ताह पर उठा हुआ है; यह १४ फ़ुट ६ इंच लम्बा और ७ फ़ुट चौड़ा है; रसोई ६ फ़ुट ऊंची है। सोने के कमरे में न तो खिड़की है, न अंगीठी है, न ही कोई दरवाज़ा या किसी और तरह का छेद है; हां, दालान में ज़रूर एक रास्ता खुलता है। बग़ीचा भी नहीं है। इस घर में कुछ समय तक एक पुरुष अपनी दो वयस्क बेटियों और एक वयस्क बेटे के साथ रहता था। बाप और बेटा बिस्तर पर सोते थे, लड़कियां रास्ते में। इस घर में रहते हुए दोनों लड़कियों के एक-एक बच्चा हुआ, लेकिन एक लड़की प्रसव के लिये मुहताजख़ाने गयी थी और उसके बाद घर लौट आयी थी।

## (३) बकिंघमशायर

१,००० एकड़ भूमि पर ३० घर हैं, जिनमें लगभग १३० – १४० व्यक्ति रहते हैं। ब्रैडेनहैम नामक गांव का रक़बा १,००० एकड़ है। १८५१ में उसपर ३६ घर बने हुए थे, जिनमें ८४ पुरुष और ५४ स्त्रियां रहती थीं। स्त्रियों और पुरुषों की संख्या का यह अन्तर कुछ हद तक १८६१ में दूर हो गया, जब कि पुरुषों की तादाद ९८ और स्त्रियों की ८७ हो गयी। यानी १० साल में पुरुषों में १४ और स्त्रियों में ३३ की वृद्धि हो गयी। इस बीच मकानों की तादाद में एक की कमी हो गयी।

विंस्लो। इस गांव का अधिकतर भाग नया और अच्छे ढंग से बना हुआ है। घरों की मांग बहुत ज़्यादा मालूम होती है, क्योंकि बहुत ही ख़राब क़िस्म के एकमंज़िले घरों का किराया भी १ शिलिंग से १ शिलिंग ३ पेन्स तक प्रति सप्ताह है।

वाटर ईटन। यहां आबादी को बढ़ते हुए देखकर ज़मींदारों ने लगभग २० प्रतिशत मकानों को नष्ट कर दिया है। एक ग़रीब मजदूर को काम करने के वास्ते ४ मील पैदल चलकर जाना होता है। उससे प्रश्न किया गया कि क्या उसे अपने काम के स्थान के नजदीक कोई घर नहीं मिल सकता। उसने जवाब दिया: "नहीं, वे लोग इतने मूर्ख नहीं हैं कि इतने बड़े परिवार वाले आदमी को घर किराये पर देंगे।"

टिंकर्स एण्ड (विंस्लो के पास)। सोने का एक कमरा, जिसमें ४ वयस्क व्यक्ति और ४ बच्चे रह रहे थे, ११ फ़ुट लम्बा और ६ फ़ुट चौड़ा था, और उसके सबसे ऊंचे हिस्से की ऊंचाई ६ फ़ुट ५ इंच थी। एक और कमरा ११ फ़ुट ३ इंच लम्बा, ६ फ़ुट चौड़ा और ५ फ़ुट १० इंच ऊंचा था, जिसमें ६ व्यक्तियों ने आश्रय ले रखा था। जेल में एक क़ैदी के लिए कम से कम जितना स्थान आवश्यक समझा जाता है, इनमें से प्रत्येक परिवार के पास उससे कम स्थान था। किसी घर में एक से अधिक सोने का कमरा नहीं था। किसी में पिछवाड़े की तरफ़ दरवाजा नहीं था। पानी की बहुत कमी थी। साप्ताहिक किराया १ शिलिंग ४ पेन्स से २ शिलिंग तक था। १६ घरों को देखा गया; उनमें केवल १ पुरुष ऐसा मिला, जो १० शिलिंग प्रति सप्ताह कमा लेता था। ऊपर जिन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, उनमें प्रत्येक व्यक्ति को हवा की उतनी ही मात्रा मिलती थी, जितनी उसे उस स्थिति में मिलती, जब कि उसे रात भर एक ४ फ़ुट लम्बे, ४ फ़ुट चौड़े और ४ फ़ुट ऊंचे बक्स में बन्द करके रखा जाता। परन्तु जो घर बहुत पुराने पड़ गये थे, उनमें, उनके बनाने वालों की इच्छा के विपरीत, हवा आने के कुछ रास्ते खुल जाते थे।

### (४) कैम्ब्रिजशायर

गैम्बलिंगे कई ज़मींदारों की सम्पत्ति है। इस गांव में जितने ख़राब cots (एकमंजिले घर) हैं, उतने ख़राब और कहीं नहीं हैं। सूखी घास की बुनाई यहां बहुत होती है। गैम्बलिंगे में "एक प्राणघातक थकन, गन्दगी के सामने आत्मसमर्पण कर देने की एक निराशा-भरी भावना" छायी हुई है। उसके बीच के भाग में यदि लापरवाही का राज है, तो उत्तर और दक्षिण के छोर के भागों में सड़ांध का राज है, जहां घर सड़-गलकर टूटते जा रहे हैं। अन्यत्रवासी ज़मींदार इस ग़रीब गांव का सारा ख़ून चूसे ले रहे हैं। किराये बहुत ऊंचे हैं। ८ या ६ व्यक्ति सोने के एक कमरे में भर दिये जाते हैं; दो जगहों पर देखा गया कि एक छोटी सी कोठरी है, उसमें ६ वयस्क रह रहे हैं, जिनमें से हरेक के पास एक-एक, दो-दो बच्चे हैं।

### (५) एस्सेक्स

इस काउण्टी के बहुत से गांवों में रहने वालों की संख्या और घरों की संख्या साथ-साथ कम होती जा रही हैं। किन्तु कम से कम २२ गांव ऐसे हैं, जिनमें घरों के गिरा दिये जाने से आबादी का बढ़ना नहीं रुका है और न ही इन गांवों से लोगों का निष्कासन हुआ है, जो आम तौर पर "गांव छोड़कर शहर चले जाने" के नाम से होता है। फ़िंग्रिंगहो नामक गांव में, जिसका रक़बा ३,४४३ एकड़ है, १८५१ में १४५ घर थे, जब कि १८६१ में वहां केवल ११० घर रह गय। लेकिन लोग गांव छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, और यहां तक कि इस परिस्थिति में भी उनकी संख्या में वृद्धि हो गयी। रैम्सडेन क्रैग्स में १८५१ में २५२ व्यक्ति ६१ घरों में रहते

थे, पर १८६१ में २६२ व्यक्ति ठूंस-ठांसकर ४९ घरों में भर दिये गये। बेसिलडेन में १८५१ में १५७ व्यक्ति १,८२७ एकड़ के रक़बे पर ३५ घरों में रहते थे; दस वर्ष बाद पता चला कि वहां १८० व्यक्ति २७ घरों में रह रहे हैं। फ़िंगरिंगहो, दक्षिणी फ़ार्नब्रिज, विडफ़ोर्ड, बेसिलडेन, और रैम्सडेन क्रैस नामक गांवों में १८५१ में १,३९२ व्यक्ति ८,४४९ एकड़ के रक़बे में बने हुए ३१६ घरों में रहते थे; १८६१ में देखा गया कि उसी रक़बे पर १,४७३ व्यक्ति २४९ घरों में रह रहे हैं।

## (६) हियरफ़ोर्डशायर

"किरायेदारों को निकालने की भावना" से इस छोटी सी काउण्टी को जितना नुक़सान पहुंचा है, उतना इंगलैण्ड की और किसी काउण्टी को नहीं पहुंचा। नैडबाई नामक गांव में आम तौर पर सभी घरों में भीड़ भरी हुई है। उनमें सोने के केवल २ कमरे होते हैं। उनके मालिक प्रायः काश्तकार हैं। वे बड़ी आसानी से उनको ३ पौण्ड या ४ पौण्ड सालाना किराये पर उठा देते हैं, और अपने मजदूरों को मजदूरी देते हैं ९ शिलिंग प्रति सप्ताह।

## (७) हंटिंगडन

हार्टफ़ोर्ड में १८५१ में ८७ घर थे। उसके थोड़े ही समय बाद १,७२० एकड़ रक़बे के इस छोटे से गांव के १९ घर नष्ट कर दिये गये। आबादी १८३१ में ४५२, १८५१ में ३८२ और १८६१ में ३४१ थी। १४ घरों को जाकर देखा गया। प्रत्येक में एक-एक सोने का कमरा था। एक में एक विवाहित दम्पत्ति, ३ वयस्क बेटे, १ वयस्क बेटी और ४ बच्चे, – कुल मिलाकर १० व्यक्ति रह रहे थे। एक और कमरे में ३ वयस्क और ६ बच्चे रहते थे। इनमें से एक कमरा, जिसमें ८ व्यक्ति सोते थे, १२ फ़ुट १० इंच लम्बा, १२ फ़ुट २ इंच चौड़ा और ६ फ़ुट ९ इंच ऊंचा था; कमरे के अन्दर की तरफ़ उभरी हुई दीवारों आदि में जो स्थान चला गया था, उसको न घटाते हुए प्रति व्यक्ति के पीछे १३० घन-फ़ुट स्थान का औसत बैठता था। १४ सोने के कमरों में ३४ वयस्क और ३३ बच्चे रहते थे। इन घरों के साथ बगीचे तो कभी-कभार ही होते हैं, पर उनमें रहने वाले बहुत से लोगों को १० शिलिंग या १२ शिलिंग फ़ी rood ($\frac{१}{४}$ एकड़) के लगान पर जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े साग-सब्जी उगाने के लिये मिल जाते हैं। ये टुकड़े घरों से दूर होते हैं, और घरों में पाखाने नहीं होते। परिवार को या तो "जाकर जमीन के इन टुकड़ों में पाखाना फिरना पड़ता है," और या "एक ऐसी कोठरी इस्तेमाल करनी पड़ती है, जिसमें अलमारी की दराज जैसा एक कठौता रखा रहता है, जिसे सप्ताह में एक बार उठाकर पाखाना वहां फेंक आना पड़ता है, जहां इसकी जरूरत होती है।" जापान में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं का परिचलन इससे अधिक स्वच्छता के साथ सम्पन्न होता है।

## (८) लिंकनशायर

लैंगटौफ़्ट। यहां राइट के घर में एक आदमी अपनी पत्नी, सास और पांच बच्चों के साथ रहता है। घर में सामने की तरफ़ एक रसोई है, सामान रखने की कोठरी है और रसोई के ऊपर सोने का कमरा है। रसोई और सोने का कमरा १२ फ़ुट २ इंच

लम्बे और ६ फ़ुट ५ इंच चौड़े हैं। पूरी निचली मंज़िल २१ फ़ुट २ इंच लम्बी और ६ फ़ुट ५ इंच चौड़ी है। सोने का कमरा द्रुकता की तरह का है। उसकी दीवारें ऊपर उठने के साथ-साथ एक दूसरे की ओर झुकती जाती हैं, जिससे कमरे की शक्ल तिकोने जैसी हो गयी है। सामने की तरफ़ एक खिड़की बाहर को निकली हुई है। इस आदमी से पूछा गया: "वह यहां क्यों रहता है? क्या बगीचे की वजह से?" "नहीं, वह तो बहुत छोटा है।" "फिर क्या किराया कम है?" "नहीं, किराया बहुत ज्यादा है – १ शिलिंग ३ पेन्स प्रति सप्ताह।" "तब क्या काम की जगह यहां से नजदीक पड़ती है?" "नहीं, वह तो यहां से ६ मील दूर है, जिसके कारण मजदूर को रोजाना १२ मील पैदल आना-जाना पड़ता है। वह यहां सिर्फ़ इसलिये रहता है कि यह cot (एकमंज़िला घर) किराये पर उठ रहा था," और किसी भी किराये पर, किसी भी दशा में और किसी भी स्थान पर अपने लिये अलग एक cot – घर – चाहता था। लैंगटौफ़्ट के १२ घरों के आंकड़े नीचे देखिये। इन १२ घरों में १२ सोने के कमरे थे, जिनमें ३८ वयस्क और ३६ बच्चे रहते थे।

लैंगटौफ़्ट के बारह घर

| घर | सोने के कमरों की संख्या | वयस्कों की संख्या | बच्चों की संख्या | कुल कितने व्यक्ति रहते हैं | घर | सोने के कमरों की संख्या | वयस्कों की संख्या | बच्चों की संख्या | कुल कितने व्यक्ति रहते हैं |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| घर नं० १ | १ | ३ | ५ | ८ | घर नं० ७ | १ | ३ | ३ | ६ |
| " २ | १ | ४ | ३ | ७ | " ८ | १ | ३ | २ | ५ |
| " ३ | १ | ४ | ४ | ८ | " ९ | १ | २ | ० | २ |
| " ४ | १ | ५ | ४ | ९ | " १० | १ | २ | ३ | ५ |
| " ५ | १ | २ | २ | ४ | " ११ | १ | ३ | ३ | ६ |
| " ६ | १ | ५ | ३ | ८ | " १२ | १ | २ | ४ | ६ |

## (९) केंट

१८५९ में केनिंग्टन में रहने वालों की संख्या बहुत ही ज्यादा बढ़ गयी थी। उस साल वहां डिफ़्टेरिया का रोग फैला, और गांव के डाक्टर ने ज्यादा ग़रीब लोगों की हालत की डाक्टरी जांच की। उसको पता चला कि इस स्थान में, जहां बहुत अधिक मजदूरों से काम लिया जा रहा था, बहुत से पुराने cots (एकमंज़िले घर) तोड़ डाले गये हैं और उनकी जगह पर नये नहीं बनाये गये हैं। एक मुहल्ले में चार घर थे, जो birdcages (चिड़िया के पिंजड़े) कहलाते थे; उनमें से हरेक में ४ कमरे थे, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई-ऊंचाई नीचे दी गयी है:

रसोई: ९ फ़ुट ५ इंच लम्बी, ८ फ़ुट ११ इंच चौड़ी और ६ फ़ुट ६ इंच ऊंची;

सामान रखने की कोठरी: ८ फ़ुट ६ इंच लम्बी, ४ फ़ुट ६ इंच चौड़ी और ६ फ़ुट ६ इंच ऊंची;

सोने का कमरा: ८ फ़ुट ५ इंच लम्बा, ५ फ़ुट १० इंच चौड़ा और ६ फ़ुट ३ इंच ऊंचा;

सोने का कमरा: ८ फ़ुट ३ इंच लम्बा, ८ फ़ुट ४ इंच चौड़ा और ६ फ़ुट ३ इंच ऊंचा।

## (१०) नौर्थेम्प्टनशायर

ब्रिनवर्थ, पिकफ़ोर्ड और फ़्लूर। इन गांवों में जाड़ों के मौसम में २०–३० आदमी काम के अभाव में गलियों में बेकार घूम रहे थे। अनाज और टूरनीप के खेतों को काश्तकार हमेशा उतना नहीं जोतते, जितना उनको जोतना चाहिये। इसलिये जमींदार ने अपने लिये यह बेहतर पाया है कि अपने सारे खेतों को इकट्ठा करके २ या ३ चोक बना दे। इसी से यह बेकारी फैल गयी थी। एक ओर जमीन मजदूरों की मांग करती है, दूसरी ओर बेकार मजदूर भूखी नजरों से जमीन को ताकते हैं। गरमियों में इनसे इतना काम कराया जाता है कि उनका सारा सत निकल जाता है, जाड़ों में उनको भूखों मरने के लिये छोड़ दिया जाता है। कोई आश्चर्य नहीं, यदि यहां के लोग अपनी बोली में कहते हैं कि "the parson and gentlefolk seem frit to death at them"[1]।

उदाहरण के लिये, फ़्लूर में सबसे छोटे आकार के सोने के कमरों में चार-चार, पांच-पांच और छः-छः बच्चों के साथ विवाहित दम्पत्ति रह रहे थे या ५ बच्चों के साथ ३ वयस्क रहते थे, या पति-पत्नी का जोड़ा अपने दादा और ६ बच्चों के साथ रह रहा था, और बच्चे सब स्कार्लेट ज्वर में पड़े हुए थे, इत्यादि, इत्यादि। दो घरों में सोने के दो-दो कमरे थे। उनमें से एक में ८ वयस्कों का और दूसरे में ९ वयस्कों का परिवार रहता था।

## (११) विल्टशायर

स्ट्रेट्टन। ३१ घरों को देखा गया। ८ में सोने का केवल एक कमरा था। इसी गांव के पेंटिल नामक स्थान में एक cot (एकमंज़िला घर) था, जो १ शिलिंग ३ पेन्स प्रति सप्ताह के किराये पर उठा हुआ था और जिसमें ४ वयस्क और ४ बच्चे रहते थे। छोटे-बड़े पत्थर के टुकड़ों के ऊबड़-खाबड़ फ़र्श से लेकर घिसे-पुराने छप्पर की छत तक इस घर में दीवारों के सिवा और कोई चीज सही-सलामत न थी।

## (१२) वोरसेस्टरशायर

यहां घरों को उतने अंधाधुंध ढंग से नहीं गिराया गया है। फिर भी १८५१ और १८६१ के बीच प्रत्येक घर के निवासियों की औसत संख्या ४.२ से बढ़कर ४.६ हो गयी है।

बैडसे। यहां बहुत से घर और उनके छोटे-छोटे बगीचे हैं। कुछ काश्तकारों का कहना है कि "the cots are a great nuisance here, because they bring the poor" ("ये cots [एकमंजिले घर] हमारे लिये निरी मुसीबत हैं, क्योंकि उनके लालच से ग़रीब-गुरबा यहां आकर भीड़ लगाते हैं")। एक भद्र पुरुष ने कहा: "और इन घरों से ग़रीबों का कोई लाभ भी नहीं होता। यदि आप ५०० मकान बनायेंगे, तो वे भी बहुत जल्दी किराये पर चढ़ जायेंगे; और सच पूछिये, तो जितने मकान बनते जाते हैं, उतना ही इन लोगों की मांग बढ़ती जाती है" (इन सज्जन की राय में घरों से उनमें रहने वालों का जन्म होता है, जो उसके

---

[1] "पादरी और बड़े लोगों का तो उन्हें देखते ही दम निकल जाता है।"

दाब प्रकृति के एक नियम के अनुसार "निवास के साधनों" पर दबाव डालने लगते हैं।) डाक्टर हण्टर ने कहा है: "जाहिर है, कोई ऐसा भी स्थान होना चाहिये, जहां से ये ग़रीब लोग यहां आते हैं, और चूंकि बेडसे में बेकारों के भत्ते जैसी कोई आकर्षक चीज भी नहीं है, इसलिये किसी दूसरे अनुपयुक्त स्थान से प्रतिकर्षण के फलस्वरूप वे यहां आते होंगे। यदि उनमें से हर आदमी को अपने काम की जगह के नजदीक घर मिल जाता, तो जाहिर है कि वह बेडसे को न पसन्द करता, जहां उसे जमीन के अपने टुकड़े के लिये काश्तकार से दुगुनी रक़म देनी पड़ती है।"

गांव छोड़कर लोगों का लगातार शहरों में जाकर बसते जाना, खेतों के संकेन्द्रण, जोतने योग्य जमीन के चरागाहों में परिवर्तित हो जाने, मशीनों के उपयोग आदि के परिणामस्वरूप देहात में अतिरिक्त जनसंख्या का लगातार बढ़ते जाना और खेतिहर आबादी के घरों के गिरा दिये जाने के फलस्वरूप उसका बराबर बेदखल होते जाना – ये सारी बातें साथ-साथ होती हैं। कोई इलाक़ा मनुष्यों से जितना ज्यादा खाली होता है, वहां "सापेक्ष अतिरिक्त जनसंख्या" उतनी ही अधिक होती है, रोजगार के साधनों पर उसका दबाव उतना ही ज्यादा होता है, रहने के घरों की तुलना में खेतिहर आबादी उतने ही निरपेक्ष ढंग से बढ़ जाती है और इसलिये गांवों में स्थानीय ढंग की अतिरिक्त आबादी तथा मनुष्यों को जानवरों की तरह ठूंस-ठूंसकर भरना तथा बीमारियों को जन्म देना भी उतना ही अधिक बढ़ जाता है। बिखरे हुए, छोटे-छोटे गांवों और छोटे-छोटे देहाती क़स्बों में लोगों का इस तरह जमाव हो जाना इस बात का नतीजा है कि जमीन की सतह से लोगों को जबर्दस्ती हटा दिया जाता है। हालांकि खेतिहर मजदूरों की संख्या बराबर घटती जाती है और उनकी पैदावार की राशि बराबर बढ़ती जाती है, फिर भी चूंकि उनमें बेकारों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है, इस कारण उनमें मुहताजी पैदा हो जाती है। उनकी मुहताजी अन्त में उनके घरों से निकाल दिये जाने का कारण बन जाती है और यह खास वजह होती है, जिससे उनको इतने खराब क़िस्म के घरों में रहना पड़ता है और जो उनकी प्रतिरोध की शक्ति को आखिरी तौर पर समाप्त कर देती है तथा उनको जमीन के मालिकों और काश्तकारों का महज़ गुलाम बना देती है।[1] इस प्रकार, कम से कम मजदूरी पाना

---

[1] कम्मी का यह विधाता द्वारा निर्धारित काम इस स्थिति में भी उसे एक अनोखी गरिमा प्रदान कर देता है। वह दास नहीं है, बल्कि शान्ति-काल का सैनिक है; और वह विवाहित मनुष्यों के लिये बनाये गये उन घरों में स्थान पाने का अधिकारी है, जिनको ज़मींदार बनायेगा, – वही ज़मींदार, जो कम्मी को उसी तरह श्रम करने के लिये बाध्य करता है, जिस तरह देश सैनिक को बाध्य करता है। जिस प्रकार सैनिक को उसके काम का दाम बाज़ार-भाव के अनुसार नहीं मिलता, उसी प्रकार कम्मी को भी नहीं मिलता। सैनिक की तरह उसे भी युवावस्था में ही पकड़ लिया जाता है, जब उसे किसी बात का ज्ञान नहीं होता और जब वह केवल अपने धंधों से और अपने गांव से ही परिचित होता है। सैनिक पर भर्ती का क़ानून और ग़दर का क़ानून जो असर डालते हैं, वही असर बाल-विवाह की प्रथा और बसने के विभिन्न क़ानूनों की प्रक्रियायें खेत-मजदूर पर डालती हैं।" (डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३२।) कभी-कभी कोई ज़मींदार असाधारण रूप से कोमल-हृदय होता है, तो उसे खुद अपने पैदा किये हुए अकेलेपन पर दुःख होने लगता है। जब लार्ड लीसेस्टर को होल्कहम की पूर्ति पर बधाई दी गयी, तो उन्होंने कहा: "अपने इलाक़े में अकेले खड़े

उनके लिये एक प्राकृतिक नियम बन जाता है। दूसरी ओर, देहात में लगातार "सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या" रहने के बावजूद, जमीन के लिये हमेशा आबादी की कमी रहती है। यह बात स्थानीय रूप से न केवल उन्हीं जगहों में देखने में आती है, जहां के बहुत अधिक लोग शहरों में, खानों में या जहां रेल की लाइनें बिछायी जा रही हैं, आदि-आदि स्थानों पर काम करने चले गये हैं। यह बात हर जगह देखने को मिलती है, फ़सल के समय और वसन्त तथा गरमियों में भी, — और सो भी बार-बार, — जब इंगलैण्ड की इतनी सुव्यवस्थित तथा गहन खेती को अतिरिक्त मजदूरों की आवश्यकता होती है। भूमि की जुताई-बुवाई की साधारण आवश्यकताओं की दृष्टि से सदा मजदूरों की बहुतायत तथा उसकी असाधारण अथवा अस्थायी आवश्यकताओं की दृष्टि से हमेशा मजदूरों की कमी रहती है।[1] इसीलिये सरकारी काग़ज़ों में हमें एक ही जगह पर मजदूरों की कमी

---

रहना काफ़ी दुःख की बात है। मैं चारों ओर नजर दौड़ाता हूं, लेकिन अपने मकान के सिवा मुझे कहीं एक भी घर नजर नहीं आता। मानो मैं दुर्ग में रहने वाला देव हूं और अपने तमाम पड़ोसियों को हड़प गया हूं।"

[1] फ़्रांस में भी पिछले १० वर्षों से कुछ इसी तरह की चीज दिखाई दे रही है। वहां जिस अनुपात में पूंजीवादी उत्पादन खेती पर अधिकार करता जाता है, उसी अनुपात में वह "अतिरिक्त" खेतिहर आबादी को गांवों से शहरों में खदेड़ता जाता है। वहां भी रहने के घरों के मामले में तथा अन्य बातों में मजदूरों की हालत बिगड़ने का मूल कारण अतिरिक्त जन-संख्या में ही दिखाई देता है। जमीन के इस तरह छोटे-छोटे टुकड़े कर देने से फ़्रांस में जो विशेष ढंग का "prolétariat foncier" ("देहाती सर्वहारा") पैदा हो गया है, उसके बारे में अन्य पुस्तकों के अलावा पहले उद्धृत की गयी कोलिन्स (Colins) की रचना "*L'Economie Politique*" और कार्ल मार्क्स की रचना "*Der Achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte*" (दूसरा संस्करण, Hamburg, 1869, पृ० ५६, इत्यादि) का अवलोकन कीजिये। १८४६ में फ़्रांस की शहरी आबादी कुल आबादी की २४.४२ प्रतिशत और खेतिहर आबादी ७५.५८ प्रतिशत थी; १८६१ तक शहरी आबादी २८.८६ प्रतिशत हो गयी और खेतिहर आबादी ७१.१४ प्रतिशत रह गयी। पिछले पांच वर्षों में खेतिहर आबादी और भी कम हो गयी है। पियेर द्यूपोंत ने १८४६ में ही अपनी "*Ouvriers*" ("रचनाएं") में यह कहा था :

Mal vétus, logés dans des trous,
Sous les combles, dans les décombres,
Nous vivons avec les hiboux
Et les larrons, amis des ombres.

(गंदे नाले से सटे हुए,
कूड़े-कचरे के ढेर बीच,
अंधियारे के प्रेमी उलूक
रहते हैं सुख से चोर नीच
जिस जगह, वहीं हम दुखियारे!
मैले-गंदे चिथड़े धारे!
टूटे-फूटे से दरबों में
रहते हैं सारे के सारे! )

और मजदूरों के आधिक्य की परस्पर-विरोधी शिकायतें एक साथ पढ़ने को मिलती हैं। मजदूरों की अस्थायी अथवा स्थानीय मांग से मजदूरी की दर नहीं बढ़ती, बल्कि उसका केवल यही असर होता है कि स्त्रियों और बच्चों को भी खेतों में झोंक दिया जाता है और जिस आयु पर उनका शोषण आरम्भ हो जाता है, वह अधिकाधिक नीचे गिरती जाती है। और जैसे ही स्त्रियों और बच्चों का पहले से बड़े पैमाने पर शोषण होने लगता है, वैसे ही यह चीज खुद पुरुष मजदूरों को फ़ालतू बना देने और उनकी मजदूरी को बढ़ने से रोकने का एक नया साधन बन जाती है। इंगलैण्ड के पूर्वी भाग में इस cercle vicieux (प्राण-लेवा चक्र) का एक नया फल उत्पन्न हुआ है। वह है तथाकथित gang-system (टोलियों की प्रणाली), जिसका अब मैं संक्षेप में वर्णन करूंगा।[1]

टोलियों की प्रणाली लगभग अनन्य रूप से लिंकनशायर, हण्टिंगडनशायर, कैम्ब्रिजशायर, नोरफ़ोक, सफ़ोक और नोटिंघमशायर में तथा कहीं-कहीं पर पड़ोस की नोर्थम्पटन, बड़े फ़ोर्ड और रुटलैण्ड नामक काउण्टियों में पायी जाती है। हम लिंकनशायर को उदाहरण के रूप में लेंगे। इस काउण्टी का एक बड़ा हिस्सा नयी जमीन का है, जहां पहले दलदल था। ऊपर जिन पूर्वी काउण्टियों का नाम लिया गया है, उन्हीं की भांति इसकी जमीन भी अभी हाल ही में समुद्र में से निकाली गयी है। पानी की निकासी के मामले में भाप के इंजन ने बड़े-बड़े चमत्कार कर दिखाये हैं। जहां कुछ समय पहले दलदल या रेतीले किनारे थे, वहां अब अनाज के विशाल खेत लहलहा रहे हैं और इन टुकड़ों के लगान की दर और सब जमीनों की दर से ऊंची है। मानव-श्रम से एक्सहोल्म के द्वीप में तथा ट्रेण्ट नदी के तट पर बसे अन्य गांवों में जो कछार की भूमि उपलब्ध हुई है, वहां भी आज इसी प्रकार का दृश्य दिखाई देता है। जैसे-जैसे नये फ़ार्म खुलते गये, वैसे-वैसे न सिर्फ़ नये घर नहीं बने, बल्कि पुराने घरों को तोड़-तोड़कर गिरा दिया गया, और मजदूरों को मीलों दूर, खुले गांवों से पहाड़ियों में चक्कर लगाती हुई लम्बी सड़कों को तै करके यहां काम करने के लिये आना पड़ा। पुराने दिनों में शीत ऋतु की अनवरत बाढ़ से डरकर भागने वाले लोगों को केवल इन्हीं गांवों में आश्रय मिलता था। ४०० से १,००० एकड़ तक के फ़ार्मों पर जो मजदूर रहते हैं (वे "confined labourers" ["बन्द मजदूर"] कहलाते हैं), उनसे खेती का केवल उसी तरह का काम लिया जाता है, जो स्थायी ढंग का कठिन काम है और जिसे घोड़ों की मदद से करना पड़ता है। हर १०० एकड़ पर औसतन मुश्किल से एक घर होता है। मिसाल के लिए, भूतपूर्व दलदल में खेती करने वाले एक काश्तकार ने जांच-आयोग के सामने बयान देते हुए कहा था: "मैं ३२० एकड़ जमीन पर खेती करता हूं। यह सारी जमीन खेती-योग्य है। मेरे फ़ार्म पर एक भी झोंपड़ा नहीं है। आजकल मेरे फ़ार्म पर केवल एक मजदूर काम करता है। ४ साईस भी फ़ार्म पर ही रहते हैं। हल्का काम हम लोग टोलियों से करवाते हैं।"[2] यहां की धरती के लिये बहुत सारे हल्के ढंग के श्रम की आवश्यकता पड़ती है, जैसे

---

[1] "Sixth and last Report of the Children's Employment Commission" ('बाल-सेवायोजन आयोग की छठी और अन्तिम रिपोर्ट'), जो मार्च १८६७ के अन्त में प्रकाशित हुई थी। इसमें केवल खेतिहर मजदूरों की टोलियों की प्रणाली (gang-system) का ही वर्णन है।

[2] *"Children's Employment Commission. Sixth Report"* ('बाल-सेवायोजन आयोग की छठी रिपोर्ट'), गवाह का बयान, नं० १७३; पृ० ३७।

गिराने, गोड़ने, खाद डालने, पत्थरों को हटाने इत्यादि के लिये। यह सारा काम टोलियां, या खुले गांवों में रहने वाले मजदूरों के संगठित जत्थे करते हैं।

हर टोली में १० से ४० या ५० व्यक्ति तक होते हैं, जिनमें स्त्रियां, लड़के और लड़कियां (लड़के-लड़कियों की आयु १३ से १८ वर्ष तक होती है, हालांकि १३ वर्ष की आयु होने पर लड़कों को प्रायः जवाब दे दिया जाता है) तथा (६ से १३ वर्ष तक के) बच्चे और बच्चियां दोनों होते हैं। टोली का एक मुखिया (gang-master) होता है, जो सदा कोई साधारण खेत-मजदूर ही होता है; आम तौर पर उनमें से कोई ऐसा बदमाश, निकम्मा, बेपेन्दी का लोटा और शराबी आदमी इस काम के लिये छांटा जाता है, जिसमें थोड़ी उद्यमशीलता और योग्यता हो। वही टोली को भर्ती करता है, और टोली काश्तकार के मातहत नहीं, बल्कि इस मुखिया के मातहत ही काम करती है। मुखिया प्रायः काश्तकार से काम का ठेला ले लेता है। उसकी आय,—जो प्रायः एक साधारण खेतिहर मजदूर की आय से बहुत अधिक नहीं होती,[1]—लगभग पूरी तरह इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें अपनी टोली से कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा श्रम करा लेने की कितनी योग्यता है। काश्तकारों का अनुभव है कि स्त्रियां केवल पुरुषों की देख-रेख में ही व्यवस्थित होकर काम करती हैं, लेकिन स्त्रियों और बच्चों को यदि एक बार काम में लगा दीजिये, तो फिर,—जैसा कि फ़ूरिये ने भी लिखा है,—वे अंधाधुंध काम करते जाते हैं और अपने को एकदम खपा डालते हैं, जब कि वयस्क पुरुष ज्यादा चालाक होता है और अपनी शक्ति को कम से कम खर्च करता है। टोली का मुखिया एक फ़ार्म से दूसरे फ़ार्म में घूमता रहता है और इस तरह अपनी टोली को साल में ६–८ महीने काम में लगाये रखता है। इसलिए मजदूरी करने वाले परिवारों के लिए किसी खास काश्तकार के यहां काम करने की अपेक्षा, जो केवल कभी-कभार बच्चों को नौकर रखता है, टोली के मुखिया के जरिये काम हासिल करने में अधिक लाभ तथा सुनिश्चितता रहती है। इससे खुले गांवों में टोली के मुखिया का इतना जबर्दस्त असर क़ायम हो जाता है कि बच्चों को भी आम तौर पर उसके जरिये ही नौकर रखाया जा सकता है। बच्चों को व्यक्तिगत रूप से, अपनी टोली से अलग, काश्तकारों के यहां नौकर रखवाना मुखिया का दूसरा धंधा होता है।

इस प्रणाली की "त्रुटियां" ये हैं कि बच्चों और लड़के-लड़कियों से बहुत ज्यादा काम लिया जाता है, उनको रोजाना बहुत दूर चलकर काम पर जाना पड़ता है, क्योंकि उनके घरों से फ़ार्म ५-५, ६-६ और कभी-कभी तो ७-७ मील दूर होते हैं, और टोली का जीवन बच्चों के आचार-विचार के लिये बहुत घातक होता है। मुखिया को हालांकि कुछ इलाकों में "the driver" कहा जाता है और उसके पास सदा एक लम्बी छड़ी भी रहती है, फिर भी वह उसका इस्तेमाल बहुत कम करता है और उसके खिलाफ़ बुरे व्यवहार की शिकायतें बहुत कम सुनी जाती हैं। वह एक जनवादी सम्राट या हैमेलिन के पाइड पाइपर की तरह होता है। इसलिये, उसके वास्ते अपनी प्रजा का स्नेह-पात्र होना आवश्यक होता है। इस स्नेह का आधार वह आकर्षक यायावर जीवन होता है, जो उसकी देख-रेख में उसकी प्रजा को उपलब्ध होता है। एक अनगढ़ सी स्वतंत्रता, जिन्दादिली से भरा हुआ शोर-शराबा और अशिष्टता की तमाम सीमाओं को पार कर जाने वाली शोखी—इन बातों से टोली का जीवन आकर्षक बन जाता है। आम तौर

---

[1] लेकिन कुछ टोलियों के मुखिया पांच-पांच सौ एकड़ के काश्तकार या मकानों की पूरी लाइन के मालिक बन बैठे हैं।

पर मुखिया किसी शराबखाने में बैठकर मजदूरों को मजदूरी बांटता है। उसके बाद वह घर लौटता है, तो शराब के नशे में लड़खड़ाता हुआ चलता है। दायें-बायें दो मर्दनुमा औरतें उसको संभाले रहती हैं, और उसके पीछे टोली के मजदूरों का जलूस होता है, जिसके पृष्ठ-भाग में शोर मचाते हुए और हंसी-मजाक़ के गंदे गीत गाते हुए बच्चे और लड़के-लड़कियां चलते हैं। गांव लौटने के समय टोली में, फ़ूरिये के शब्दों में, "phanerogamie" (मुक्त यौन सम्बंधों) का राज्य रहता है। १३ और १४ वर्ष की लड़कियों का इसी आयु के अपने सहयोगी लड़कों के द्वारा गर्भवती बना दिया जाना बहुत सामान्य घटना होती है। जिन खुले गांवों के निवासी इन टोलियों में भर्ती होते हैं, वे पाप के केन्द्र (Sodoms and Gomorrahs) बन जाते हैं।[1] इन गांवों में अवैध सन्तानों की जन्म-संख्या राज्य के बाक़ी भाग की अपेक्षा दुगुनी है। इन पाठशालाओं में जिन बालिकाओं की दीक्षा होती है, उनका नैतिक चरित्र विवाहितावस्था में कैसा रहता है, यह ऊपर बताया जा चुका है। उनके बच्चे अक्सर तो मां की खिलाई हुई अफ़ीम के शिकार हो जाते हैं, – जो बच जाते हैं, वे जन्म से ही इन टोलियों के रंगरूट बन जाते हैं।

प्रायः देखी जाने वाली जिस प्रकार की टोली का हमने ऊपर वर्णन किया है, वह सार्वजनिक टोली, सामान्य टोली या घूमती-फिरती टोली (public, common, or tramping gang) कहलाती है। कारण कि कुछ निजी टोलियां (private gangs) भी होती हैं। इनमें सामान्य टोली की भांति ही भर्ती होती है, पर आदमी कम होते हैं, और वे टोली के मुखिया के बजाय फ़ार्म के किसी बूढ़े नौकर के मातहत काम करते हैं, जो काश्तकार की दृष्टि में किसी और काम के लायक़ नहीं रह गया होता। इन टोलियों में खानाबदोशों की जिन्दादिली तो ग़ायब हो जाती है, पर सभी पर्यवेक्षकों का कहना है कि इनमें मजदूरी कम होती है और बच्चों के साथ व्यवहार ज्यादा खराब किया जाता है।

टोलियों की प्रणाली का चलन पिछले वर्षों में बराबर बढ़ता गया है।[2] जाहिर है कि टोलियों से इसलिये नहीं काम कराया जाता कि उससे टोली के मुखिया का लाभ होगा। उनसे बड़े काश्तकारों का[3] और अप्रत्यक्ष ढंग से जमींदारों का[4] धन बढ़ाने के लिये काम कराया जाता है। काश्तकार के लिये, अपने मजदूरों की संख्या को सामान्य स्तर से कम रखने और फिर भी

---

[1] "लुडफ़ोर्ड की आधी लड़कियां" (टोलियों में काम करने के लिये) "बाहर जाने के कारण ख़राब हो गयी हैं।" (उप० पु०, परिशिष्ट, पृ० ६, अंक ३२।)

[2] "पिछले कुछ वर्षों में उनकी (टोलियों) की संख्या बहुत बढ़ गयी है। कुछ स्थानों में अभी हाल में ही उनका प्रयोग शुरू हुआ है। अन्य स्थानों में, जहां टोलियां ... अनेक वर्षों से काम कर रही हैं, .. बच्चों से ज्यादा बड़ी संख्या में काम लिया जाता है और ज्यादा छोटे बच्चे नौकर रखे जाते हैं।" (उप० पु०, पृ० ७६, अंक १७४।)

[3] "छोटे काश्तकार टोलियों से कभी काम नहीं लेते।" "बड़ी संख्या में स्त्रियों और बच्चों से ख़राब जमीन पर नहीं, बल्कि ४० शिलिंग से ५० शिलिंग तक का लगान देने वाली जमीनों पर काम कराया जाता है।" (उप० पु०, पृ० १७, १४।)

[4] इनमें से एक महानुभाव को अपना लगान इतना प्रिय था कि वह जांच-आयोग के सामने गुस्से से लाल होकर बोले कि इस प्रणाली के ख़िलाफ़ केवल उसके नाम के कारण इतना शोर मचाया जा रहा है। यदि इनको "टोलियां" न कहकर "खेतिहर तरुण-तरुणियों के आत्मनिर्भर औद्योगिक संघ" कहा जाये, तो सारा झगड़ा मिट जायेगा।

अतिरिक्त काम के लिये हमेशा अतिरिक्त मजदूरों को पा जाने और कम से कम पैसा खर्च करके ज्यादा से ज्यादा काम लेने[1] तथा वयस्क पुरुषों को "अनावश्यक" बना देने का इससे बेहतर तरीका और कोई नहीं हो सकता था। ऊपर जो वर्णन किया गया है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि ऐसा क्यों है कि एक ओर तो यह स्वीकार किया जाता है कि खेतिहर मजदूरों के लिये रोजी का न्यूनाधिक अभाव रहता है, और दूसरी ओर यह भी ऐलान किया जाता है कि वयस्क पुरुषों की इतनी कमी हो गयी है और वे इतनी बड़ी संख्या में शहरों में चले गये हैं कि टोलियों की प्रणाली अत्यन्त "आवश्यक" हो गयी है।[2] लिंकनशायर में, जहां जमीन के झाड़-झंखाड़ को बड़ी मेहनत के साथ साफ़ कर दिया जाता है, पर मनुष्य-रूपी झाड़-झंखाड़ हर तरफ़ फैले हुए नजर आते हैं, हम पूंजीवादी उत्पादन के ध्रुव और प्रति-ध्रुव दोनों को देख सकते हैं।[3]

---

[1] "टोलियों का काम दूसरे मज़दूरों के काम से सस्ता होता है, इसीलिये उनसे काम लिया जाता है," – यह एक भूतपूर्व मुखिया का कथन है। (उप० पु०, पृ० १७, अंक ४।) और एक काश्तकार ने कहा है: "टोलियों की प्रणाली काश्तकार के लिये निश्चय ही सबसे सस्ती और बच्चों के लिये निश्चय ही सबसे अधिक घातक प्रणाली होती है।" (उप० पु०, पृ० १६, अंक ३।)

[2] "इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल टोलियों में बच्चों से जो काम कराया जाता है, उसमें से बहुत सा काम पहले पुरुषों और स्त्रियों से कराया जाता था। जहां बच्चों और स्त्रियों से काम लिया जाता है, वहां बेकार पुरुषों की संख्या पहले से बढ़ गयी है (more men are out of work)।" (उप० पु०, पृ० ४३, अंक २०२।) दूसरी ओर, "कुछ खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में, ख़ास कर जहां जोतने-बोने योग्य ज़मीन है, वहां परावास के फलस्वरूप और इस कारण कि रेलें बन जाने से बड़े शहरों को चले जाने की सुविधा हो गयी है, श्रम के प्रश्न (labour question) ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया है कि मैं (यह "मैं" महोदय एक बड़े श्रीमन्त के कारिन्दे हैं) समझता हूं कि अब बच्चों से काम लेना हमारे लिये एकदम अनिवार्य हो गया है।" (उप० पु०, पृ० ८०, अंक १८०।) असल में, बाक़ी सभ्य संसार से बिल्कुल भिन्न, इंगलैण्ड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में "the labour question" ("श्रम का प्रश्न") the landlords' and farmers' question (ज़मींदारों और काश्तकारों का प्रश्न) होता है। यहां इस प्रश्न का अर्थ यह है कि इस बात के बावजूद कि खेतिहर लोग अधिकाधिक बड़ी संख्या में गांव छोड़-छोड़कर चले जा रहे हैं, देहात में पर्याप्त परिमाण में सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या बनाये रखना और उसके द्वारा खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी को अल्पतम स्तर पर दबाये रखना किस प्रकार सम्भव है?

[3] "Public Health Report" ('सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्ट') में बच्चों की मृत्यु-संख्या की चर्चा करते हुए, चलते-चलाते टोलियों की प्रणाली का भी ज़िक्र कर दिया गया है। परन्तु समाचारपत्रों को और इसलिये ब्रिटिश जनता को उसकी जानकारी नहीं है। दूसरी ओर, "*Child. Empl. Com.*" ('बाल-सेवायोजन आयोग') की अन्तिम रिपोर्ट में समाचारपत्रों को कुछ इस तरह का सनसनीख़ेज़ मसाला मिल गया था, जिसका अख़बार हमेशा स्वागत करते हैं। उदारपंथी पत्रों ने प्रश्न किया कि यह कैसे सम्भव हुआ कि ये तमाम भद्र पुरुष और भद्र महिलाएं और राजकीय चर्च के मोटी तनख़ाह पाने वाले पादरी लोग, जिनसे लिंकनशायर सदा भरा रहता है, – ये तमाम सहृदय लोग, जो ख़ास "दक्षिणी सागर के द्वीपों के निवासियों की नैतिकता

## (छ) आयरलैण्ड

इस अनुभाग को समाप्त करने के पहले आयरलैण्ड पर एक नजर डालना जरूरी है। पहले मैं वहां से सम्बंधित मुख्य तथ्य आपके सामने रखता हूं।

१८४१ में आयरलैण्ड की जन-संख्या ८२,२२,६६४ पर पहुंच गयी थी; १८५१ तक वह घटकर केवल ६६,२३,९८५ रह गयी; १८६१ में वह ५८,५०,३०९ हो गयी और १८६६ में तो केवल ५५ लाख ही रह गयी, यानी वह लगभग १८०१ के स्तर पर पहुंच गयी। यह कमी आरम्भ हुई थी १८४६ में, जब कि अकाल पड़ा था, और इस तरह बीस साल से कम समय में

---

को ऊपर उठाने के लिये" एकदम दूसरे ध्रुव के प्रदेश में अपने मिशनरी भेजा करते हैं,—यह कैसे सम्भव हुआ कि ये तमाम लोग देखते रहे और इनकी आंखों के सामने, उनकी ज़मींदारियों पर ऐसी भयानक व्यवस्था क़ायम हो गयी; अधिक सुसंस्कृत पत्रों ने केवल इस बात पर दुःख प्रकट करने तक ही अपने को सीमित रखा कि खेतिहर आबादी का इतना घोर पतन हो गया है कि लोग अपने बच्चों को चन्द पैसों के बदले में ऐसी भयानक ग़ुलामी में बेच देते हैं। सचाई यह है कि इन "नाज़ुक मिज़ाज" लोगों ने खेतिहर मज़दूरों को जिस नरक में रख छोड़ा है, उसमें यदि वे अपने बच्चों को खा भी जायें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। आश्चर्य की बात तो असल में यह है कि ऐसी हालत में रहते हुए भी उनका चरित्र-बल अधिकांश रूप में इतना कम क्षीण हुआ है। सरकारी रिपोर्टों से प्रमाणित हो जाता है कि जिन इलाक़ों में टोलियों की प्रणाली पायी जाती है, उनमें भी मां-बाप इस प्रणाली को हृदय से घृणा करते हैं। "गवाहों के बयानों में इस तरह की काफ़ी सामग्री मौजूद है, जिससे पता चलता है कि बहुत से बच्चों के मां-बापों को ख़ुशी होगी, यदि कोई क़ानून बनाकर उनपर कोई ऐसी ज़िम्मेदारी डाल दी जाये, जिससे उनको उस दबाव और लालच का मुक़ाबला करने में मदद मिले, जिसका उनको बराबर सामना करना पड़ता है। उनपर कभी-कभी गांव के अफ़सर और कभी-कभी मालिक इसके लिये दबाव डालते हैं कि उनको अपने बच्चों को ऐसी आयु में ही काम करने के वास्ते भेज देना चाहिये, जब कि ... स्कूल की हाज़िरी देने में ... स्पष्ट ही उनका अधिक लाभ होगा, और मालिक तो यह धमकी भी देते हैं कि अगर वे नहीं मानेंगे, तो ख़ुद उनको भी बर्ख़ास्त कर दिया जायेगा ... मज़दूरों का इस तरह जो समय और शक्ति ज़ाया होते हैं, ख़ुद उनको और उनके बच्चों को अत्यधिक और अलाभप्रद परिश्रम करने से जो कष्ट होता है, ऐसा प्रत्येक उदाहरण, जब कि मां-बाप इस नतीजे पर पहुंचे होंगे कि उनके बच्चे का नैतिक पतन घरों की भीड़ के घातक प्रभाव अथवा सार्वजनिक टोली के ज़हरीले असर के कारण हुआ है,—ये सारी बातें ऐसी हैं, जिन्होंने श्रम करनेवाले ग़रीबों के मन में ऐसी भावनाएं पैदा कर दी होंगी, जिनको आसानी से समझा जा सकता है और जिनको यहां गिनाना अनावश्यक है। उनके मन में जरूर यह विचार आता होगा कि उनको इतना अधिक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट ऐसे कारणों से उठाना पड़ा है, जिनकी ज़िम्मेदारी उनपर कतई नहीं है और जिनको यदि उनके बस में होता, तो वे हरगिज़ बर्दाश्त न करते, और जिनके ख़िलाफ़ संघर्ष करना उनकी शक्ति के बाहर है।" (उप० पु०, पृ० XX [बीस], अंक ८२, और पृ० XXIII [तेईस), अंक ९६।]

आयरलैण्ड अपनी आबादी के $\frac{५}{१६}$ हिस्से को खो बैठा।[1] मई १८५१ से जुलाई १८६५ तक आयरलैण्ड से १५,९१,४८७ व्यक्ति विदेशों को चले गये; १८६१ से १८६५ तक ५ लाख से अधिक लोग परावासी बन गये। बसे हुए घरों की तादाद में १८५१ से १८६१ तक, ५२,९९० की कमी आ गयी। १८५१–१८६१ में १५ से ३० एकड़ तक के फ़ार्मों की संख्या में ६१,००० की और ३० एकड़ से ऊपर के फ़ार्मों की संख्या में १,०९,००० की वृद्धि हो गयी, मगर सभी प्रकार के फ़ार्मों की कुल संख्या में १,२०,००० की कमी आ गयी। इन आंकड़ों का यह मतलब है कि यह पूरी कमी केवल १५ एकड़ से कम के फ़ार्मों के मिट जाने से, अर्थात् उनका संकेंद्रण हो जाने से, आयी थी।

तालिका (क)

पशु-धन

| वर्ष | घोड़े | | गायें | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | कुल संख्या | कमी | कुल संख्या | कमी | वृद्धि |
| १८६० | ६,१९,८११ | – | ३६,०६,३७४ | – | – |
| १८६१ | ६,१४,२३२ | ५,९९३ | ३४,७१,६८८ | १,३८,३१६ | – |
| १८६२ | ६,०२,८९४ | ११,३३८ | ३२,५४,८९० | २,१६,७९८ | – |
| १८६३ | ५,७९,९७८ | २२,९१६ | ३१,४४,२३१ | १,१०,६९५ | – |
| १८६४ | ५,६२,१५८ | १७,८२० | ३२,६२,२९४ | – | १,१८,०६३ |
| १८६५ | ५,४७,८६७ | १४,२९१ | ३४,९३,४१४ | – | २,३१,१२० |

| वर्ष | भेड़ें | | | सुअर | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | कुल संख्या | कमी | वृद्धि | कुल संख्या | कमी | वृद्धि |
| १८६० | ३५,४२,०८० | – | – | १२,७१,०७२ | – | – |
| १८६१ | ३५,५६,०५० | – | १३,९७० | ११,०२,०४२ | १,६९,०३० | – |
| १८६२ | ३४,५६,१३२ | ९९,९१८ | – | ११,५४,३२४ | – | ५२,२८२ |
| १८६३ | ३३,०८,२०४ | १४७,९८२ | – | १०,६७,४५८ | ८६,८६६ | – |
| १८६४ | ३३,६६,९४१ | – | ५८,७३७ | १०,५८,४८० | ८,९७८ | – |
| १८६५ | ३६,८८,७४२ | – | ३,२१,८०१ | १२,९९,८९३ | – | २,४१,४१३ |

[1] आयरलैण्ड की जन-संख्या १८०१ में ५३,१९,८६७, १८११ में ६०,८४,९९६, १८२१ में ६८,६९,५४४, १८३१ में ७८,२८,३४७ और १८४१ में ८२,२२,६६४ थी।

इन तालिकाओं से यह निष्कर्ष निकलता है:

| घोड़े | गायें | भेड़ें | सुअर |
|---|---|---|---|
| निरपेक्ष कमी | निरपेक्ष कमी | निरपेक्ष वृद्धि | निरपेक्ष वृद्धि |
| ७२,३५८ | १,१६,६२६ | १,४६,६०८ | २८,८१९[1] |

तालिका (ख)

विभिन्न फ़सलों और घास के रक़बे में कितनी वृद्धि या कमी हुई

| वर्ष | अनाज की फ़सलें | हरी फ़सलें | | घास और तिपतिया घास | | फ़्लैक्स | | जोती-बोयी गयी कुल भूमि | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | कमी | कमी | वृद्धि | कमी | वृद्धि | कमी | वृद्धि | कमी | वृद्धि |
| | एकड़ | एकड़ | एकड़ | एकड़ | एकड़ | एकड़ | एकड़ | एकड़ | एकड़ |
| १८६१ | १५,७०१ | ३६,९७४ | — | ४७,९६९ | — | — | १९,२७१ | ८१,८७३ | — |
| १८६२ | ७२,७३४ | ७४,७८५ | — | — | ६,६२३ | — | २,०५५ | १,३८,८४१ | — |
| १८६३ | १,४४,७१९ | १९,३५८ | — | — | ७,७२४ | — | ६३,९२२ | ९२,४३१ | — |
| १८६४ | १,२२,४३७ | २,३१७ | — | — | ४७,४८६ | — | ८७,७६१ | — | १०,४९३ |
| १८६५ | ७२,४५० | — | २५,२४१ | — | ६८,९७० | ५०,१५९ | — | २८,२१८ | — |
| १८६१ से १८६५ तक | ४,२८,०४१ | १,०७,९८४ | — | — | ८२,८३४ | — | १,२२,८५० | ३,३०,८६० | — |

[1] यदि हम और पीछे के आंकड़ों को देखें, तो और भी ख़राब स्थिति सामने आती है। १८६५ में भेड़ों की संख्या ३६,८८,७४२ थी, पर १८५६ में उनकी संख्या ३६,९४,२९४ थी। सुअरों की तादाद १८६५ में १२,९९,८९३ थी, पर उसके पहले १८५८ में वह १४,०९,८८३ थी।

आबादी में कमी आयी, तो स्वभावतया उसके साथ-साथ पैदावार की राशि में भी कमी आ गयी। यहां पर १८६१ से १८६५ तक के उन ५ वर्षों पर ही विचार कर लेना काफ़ी होगा, जिनके दौरान में ५ लाख से ज्यादा आदमी देश छोड़कर चले गये थे और कुल आबादी में सवा तीन लाख से अधिक की कमी आ गयी थी।

अब आइये, खेती पर विचार करें, जिससे पशुओं और मनुष्यों के जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त होते हैं। निम्न तालिका में यह दिखाया गया है कि हर अलग-अलग वर्ष की पैदावार में उसके पहले वर्ष की तुलना में कितनी कमी आयी या कितनी वृद्धि हुई। 'अनाज की फ़सलें' शीर्षक में गेहूं, जई, जौ, रई, फलियां और मटर शामिल हैं। 'हरी फ़सलें' शीर्षक में आलू, शलजम, चुकन्दर, गोभी, गाजर, गर्जेरिका और उड़द आदि शामिल हैं।

१८६५ के वर्ष में १,२७,४७० एकड़ नयी ज़मीन 'घास की ज़मीन' वाली मद में जुड़ गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि 'दलदल और अनधिकृत पड़ती ज़मीन' की मद के रक़बे में १,०१,५४३ एकड़ की कमी आ गयी थी। यदि हम १८६५ की १८६४ के साथ तुलना करें, तो हम यह पाते हैं कि अनाज के उत्पादन में २,४६,६६७ क्वार्टर की कमी आ गयी थी, जिसमें से ४८,९९९ क्वार्टर की कमी गेहूं में, १,६०,६०५ क्वार्टर की कमी जई में, २९,८९२ की कमी जौ में और इसी प्रकार अन्य अनाजों में आयी थी। आलुओं में ४,४६,३९८ टन की कमी आ गयी थी, हालांकि उनकी फ़सल का रक़बा १८६५ में बढ़ गया था। [देखिये तालिका (ग), पृष्ठ ७८४-७८५।]

आयरलैण्ड की आबादी और खेती की पैदावार में जो उतार-चढ़ाव आता रहा है, उसे देखने के बाद अब हमें यह देखना चाहिये कि वहां के ज़मींदारों, बड़े काश्तकारों और औद्योगिक पूंजीपतियों के धन में क्या उतार-चढ़ाव आया है। यह उतार-चढ़ाव आय-कर के उतार-चढ़ाव में प्रतिबिम्बित होता है। पाठकों को याद होगा कि अनुसूची "घ" (जिसमें काश्तकारों के अलावा बाक़ी सब के मुनाफ़े दिखाये जाते हैं) में तथाकथित "वृत्तियों के मुनाफ़े", अर्थात् वकीलों, डाक्टरों आदि की आय भी शामिल होती है और अनुसूची "ग" और "च" में, जिनमें ब्योरे की बातें नहीं दी जातीं, कर्मचारियों, अफ़सरों, राज्य से मुफ़्त में तनख़्वाह पाने वालों और राजकीय बंधकधारियों आदि की आय भी शामिल होती है।

अनुसूची "घ" के अनुसार आयरलैण्ड में १८५३ से १८६४ तक आय में औसत वार्षिक वृद्धि केवल ०.९३ प्रतिशत हुई थी, जब कि उन्हीं वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में आय में औसत वार्षिक वृद्धि ४,५८ प्रतिशत हुई थी। तालिका "च" बताती है कि १८६४ और १८६५ में (काश्तकारों को छोड़कर बाकी सब लोगों के) मुनाफ़ों का बंटवारा किस प्रकार हुआ था।

इंगलैण्ड एक पूर्णतया विकसित पूंजीवादी उत्पादन का और प्रधानतया एक औद्योगिक देश है। आयरलैण्ड की आबादी में जितनी बड़ी कमी आ गयी है, यदि उतनी बड़ी कमी इंगलैण्ड की आबादी में आ जाती, तो उसका तो दम निकल जाता। लेकिन आजकल तो आयरलैण्ड महज़ इंगलैण्ड का एक खेतिहर इलाक़ा बना हुआ है, यद्यपि एक चौड़ा जलडमरू-मध्य उसे इंगलैण्ड से जुदा किये हुए है। वह इंगलैण्ड को अनाज, ऊन, ढोर और उद्योग-धंधों तथा सेना के लिये रंगरूट देता है।

आयरलैण्ड की आबादी के उजड़ जाने के कारण वहां की बहुत सारी ज़मीन खेती से निकल

१८६४ की तुलना में १८६५ में अलग-अलग फ़सलों के रक़बे में, प्रति

| फ़सल | फ़सल का रक़बा (एकड़) | | रक़बे की कमी या वृद्धि, १८६५ | | प्रति एकड़ पैदावार | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | १८६४ | १८६५ | वृद्धि | कमी | १८६४ | १८६५ |
| गेहूं . . . . | २,७६,४८३ | २,६६,९८९ | – | ९,४९४ | १३.३ हं० बे० | १३.० हं० बे० |
| जई . . . . | १८,१४,८८६ | १७,४५,२२८ | – | ६९,६५८ | १२.१ " | १२.३ " |
| जौ . . . . | १,७२,७०० | १,७७,१०२ | ४,४०२ | – | १५.९ " | १४.९ " |
| बियर(Bere) } रई . . . } | ८,८९४ | १०,०९१ | १,१९७ | – | १६.४ " <br> ८.५ " | १४.८ " <br> १०.४ " |
| आलू . . . . | १०,३९,७२४ | १०,६६,२६० | २६,५३६ | – | ४.१ टन | ३.६ टन |
| शलजम . . | ३,३७,३५५ | ३,३४,२१२ | – | ३,१४३ | १०.३ " | ९.९ " |
| चुकन्दर . . . | १४,०७३ | १४,८३९ | ३१६ | – | १०.५ " | १३.३ " |
| गोभी . . . | ३१,८२१ | ३३,६२२ | १,८०१ | – | ९.३ " | १०.४ " |
| फ़्लेक्स . . . | ३,०१,६९३ | २,५१,४३३ | – | ५०,२६० | ३४.२ स्टोन (१४ पौंड) | २५.२ स्टोन |
| सूखी घास . . | १६,०९,५६९ | १६,७८,४९३ | ६८,९२४ | – | १.६ टन | १.८ टन |

गयी है, धरती की पैदावार बहुत कम हो गयी है,[1] और हालांकि उस जमीन का रक़बा पहले से बढ़ गया है, जिसपर ढोर पाले जाते हैं, लेकिन फिर भी पशु-प्रजनन की कुछ शाखाओं में निरपेक्ष ढंग की कमी आ गयी है, और अन्य शाखाओं में नाम मात्र की वृद्धि हुई है, और वह भी रुक-रुककर। किन्तु, इन सब बातों के बावजूद, आबादी की तादाद में कमी आने के साथ-साथ लगान और काश्तकारों के मुनाफ़े बढ़ते गये हैं, हालांकि ये मुनाफ़े उतने अनवरत ढंग से नहीं बढ़े हैं, जितने अनवरत ढंग से लगान बढ़े हैं। इसका कारण आसानी से समझ में आ जाता है। एक ओर यह हुआ है कि छोटी जोतों के बड़ी जोतों में मिल जाने से और खेती योग्य जमीन के चरागाहों में बदल दिये जाने से पूरी पैदावार का एक ज्यादा बड़ा हिस्सा अतिरिक्त पैदावार में बदल गया। अतिरिक्त पैदावार बढ़ गयी, हालांकि कुल पैदावार, जिसका अतिरिक्त पैदावार एक अंश होती है, घट गयी। दूसरी ओर, पिछले २० वर्षों में और विशेषकर आख़िरी १० वर्षों में

[1] जब हम यह देखते हैं कि प्रति एकड़ पैदावार भी सापेक्ष दृष्टि से कम हो गयी है, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि डेढ़ सौ वर्ष से इंगलैण्ड अप्रत्यक्ष ढंग से आयरलैण्ड की धरती का निर्यात करता आ रहा है, और साथ ही उसने धरती के जोतने वालों के पास इसके भी कोई साधन नहीं छोड़े हैं, जिनसे वे धरती के उन संघटक अंशों की कमी को पूरा कर देते, जो ख़तम हो गये हैं।

तालिका (ग)

एकड़ पैदावार में और कुल पैदावार में कितनी वृद्धि या कमी हुई[1]

| प्रति एकड़ पैदावार में वृद्धि या कमी, १८६५ | | कुल पैदावार | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| | | कुल पैदावार की मात्रा | | कुल पैदावार में वृद्धि या कमी | |
| वृद्धि | कमी | १८६४ | १८६५ | वृद्धि | कमी |
| | | क्वार्टर | | | |
| – | ०.३ हूं० वे० | ८,७५,७८२ | ८,२६,७८३ | – | ४८,९९९ क्वार्टर |
| ०.२ हूं० वे० | – | ७८,२६,३३२ | ७६,५९,७२७ | – | १,६६,६०५ " |
| – | १.० हूं० वे० | ७,६१,९०९ | ७,३२,०१७ | – | २९,८९२ " |
| – | १.६ हूं० वे० | १५,१६० | १३,९८९ | | १,१७१ " |
| १.९ हूं० वे | – | १२,६८० | १८,३६४ | ५,६८४ क्वार्टर | – |
| – | ०.५ टन | ४३,१२,३८८ टन | ३८,६५,९९० टन | – | ४,४६,३९८ टन |
| – | ०.४ टन | ३४,६७,६५९ " | ३३,०१,६८३ " | – | १,६५,९७६ " |
| २.८ टन | – | १,४७,२८४ " | १,९१,९३७ " | ४४,६५३ टन | – |
| १.१ टन | – | २,९७,३७५ " | ३,५०,२५२ " | ५२,८७७ " | – |
| – | ९.० स्टोन | ६४,५०६ स्टोन | ३९,५६१ स्टोन | – | २४,९४५ स्टोन |
| ०.२ टन | – | २६,०७,१५३ टन | ३०,६८,७०७ टन | ४,६१,५५४ टन | – |

[1] पुस्तक के मूल पाठ में जो तथ्य दिये गये हैं, वे १८६० और आगे के वर्षों के *"Agricultural Statistics, Ireland, General Abstracts, Dublin"* ('आयरलैण्ड के खेती के आंकड़े, सामान्य संक्षेपिकाएं, डबलिन') और *"Agricultural Statistics, Ireland. Tables showing the estimated average produce, &c., Dublin, 1866"* ('आयरलैण्ड के खेती के आंकड़े; औसत पैदावार आदि की तालिकाएं; डबलिन, १८६६') से लिये गये हैं। ये सारे आंकड़े सरकारी हैं और हर वर्ष संसद के सामने पेश किये गये थे।

(दूसरे संस्करण का नोट: १८७२ के सरकारी आंकड़ों की १८७१ के आंकड़ों से तुलना करने पर पता चलता है कि खेती के रक़बे में १,३४,९१५ एकड़ की कमी हो गयी थी। हरी फ़सलें – शलजम, चुकन्दर आदि – के रक़बे में वृद्धि हो गयी थी। गेहूं के रक़बे में १६,००० एकड़ की कमी हो गयी थी, जई में १४,००० एकड़ की, जौ और रई में ४,००० एकड़ की, आलुओं में ६६,६३२ एकड़ की, फ़्लेक्स में ३४,६६७ एकड़ की और घास, तिपतिया घास, उरद तथा रैप-सीड में ३०,००० एकड़ की कमी आ गयी थी। गेहूं का रक़बा पिछले ५ वर्षों में इस तरह घटता गया है: १८६८ – २,८५,००० एकड़, १८६९ – २,८०,००० एकड़, १८७० – २,५९,००० एकड़, १८७१ – २,४४,००० एकड़ और १८७२ – २,२८,००० एकड़। १८७२ में स्थूल संख्याओं में घोड़ों की संख्या में २,६०० की, सींगदार ढोरों में ८०,००० की और भेड़ों में ६८,६०९ की वृद्धि हो गयी है और सुअरों में २,३६,००० की कमी आ गयी है।)

अनुबद्ध आयों पर

| | १८६० | १८६१ |
|---|---|---|
| अनुसूची "क"<br>जमीन का लगान . . . . . . . . . . . . | १,३८,९३,८२९ | १,३०,०३,५५४ |
| अनुसूची "ख"<br>काश्तकारों का मुनाफ़ा . . . . . . . . . | २७,६५,३८७ | २७,७३,६४४ |
| अनुसूची "घ"<br>उद्योगों आदि का मुनाफ़ा. . . . . . . . | ४८,९१,६५२ | ४८,३६,२०३ |
| समस्त अनुसूचियां – "क" से "ख" तक. . | २,२६,६२,८८५ | २,२६,९८,३१४ |

इंगलैण्ड की मण्डी में मांस, ऊन आदि का भाव बढ़ जाने के फलस्वरूप इस अतिरिक्त पैदावार का मुद्रा-मूल्य उसकी राशि से भी अधिक तेजी से बढ़ गया है।

उत्पादन के वे बिखरे हुए साधन, जो खुद उत्पादकों के लिये रोजगार तथा जीवन-निर्वाह के साधनों का काम करते हैं और दूसरे लोगों के श्रम का अपने साथ समावेश करके स्वयं अपने मूल्य का विस्तार नहीं करते, वे उसी तरह पूंजी की मद में नहीं आते, जिस तरह वह पैदावार माल की मद में नहीं आती, जिसे उसका पैदा करने वाला खुद खर्च कर डालता है। यदि एक तरफ़ आबादी के कम होने के साथ-साथ खेती में लगे हुए उत्पादन के साधनों में भी कमी आ गयी, तो दूसरी तरफ़ खेती में लगी हुई पूंजी बढ़ गयी, क्योंकि उत्पादन के बिखरे हुए साधनों के एक भाग का संकेंद्रण हो गया और वह पूंजी में बदल गया।

आयरलैण्ड में खेती के बाहर, उद्योग तथा व्यापार में जो पूंजी लगी हुई है, उसका संचय पिछली दो दशाब्दियों में धीरे-धीरे हुआ है और संचय की इस क्रिया के दौरान में बार-बार और बहुत बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। मगर इस पूंजी के अलग-अलग संघटकों का संकेंद्रण उतनी ही ज्यादा तेजी से हुआ है। और उसमें निरपेक्ष ढंग की वृद्धि भले ही बहुत कम हुई हो, पर देश की घटती हुई आबादी के अनुपात में वह बहुत बढ़ गयी है।

अतः यहां हम अपनी आंखों के सामने और बड़े पैमाने पर एक ऐसी प्रक्रिया को सम्पन्न होते हुए देखते हैं, जिससे बेहतर कोई चीज परंपरानिष्ठ अर्थशास्त्र को अपनी इस रूढ़ि के समर्थन के लिये नहीं मिल सकती थी कि ग़रीबी निरपेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या से उत्पन्न होती है और जब आबादी का एक हिस्सा उजड़ जाता है, तो संतुलन फिर ठीक हो जाता है। इस सम्बंध में आयरलैण्ड का यह प्रयोग १४ वीं शताब्दी के मध्य के उस प्लेग से कहीं अधिक महत्व रखता है, जिसकी माल्थूस के अनुयायी इतनी प्रशंसा किया करते हैं। यहां हम यह और बता दें कि यदि केवल स्कूल के मास्टर का भोलापन ही यह ग़लती कर सकता था कि उन्नीसवीं सदी की उत्पादन और आबादी की परिस्थितियों को १४ वीं सदी के मापदण्ड से मापने लगे, तो दूसरी ओर यह

तालिका (घ)

आय-कर (पौण्ड स्टर्लिंग)

| १८६२ | १८६३ | १८६४ | १८६५ |
|---|---|---|---|
| १,३३,९८,९३८ | १,३४,९४,०९१ | १,३४,७०,७०० | १,३८,०१,६१६ |
| २९,३७,८९९ | २९,३८,८२३ | २९,३०,८७४ | २९,४६,०७२ |
| ४८,५८,८०० | ४८,४६,४९७ | ४५,४६,१४७ | ४८,५०,१९९ |
| २,३५,९७,५७४ | २,३६,५८,६३१ | २,३२,३६,२९८ | २,३९,३०,३४०[1] |

भोलापन इस बात को अनदेखा कर देता है कि प्लेग की महामारी और उसमें आबादी के नष्ट होने के बाद इंगलिश चैनेल के इस तरफ़, इंगलैण्ड में, जरूर खेतिहर आबादी को मुक्तिदान प्राप्त हुआ था और उसका धन बढ़ा था, पर चैनेल के उस ओर, फ़्रांस में, खेतिहर आबादी पहले से ज्यादा भयानक गुलामी और ग़रीबी में फंस गयी थी।[2]

आयरलैण्ड के १८४६ के अकाल में १०,००,००० से अधिक लोग मारे गये, लेकिन सिर्फ़ ग़रीब लोग ही इस अकाल के शिकार हुए। देश के धन में उससे जरा भी कमी नहीं आयी। अगले बीस वर्षों के बहिर्गमन से, जिसकी रफ़्तार अब भी बराबर बढ़ती ही जा रही है, तीस वर्ष के युद्ध की भांति मनुष्यों के साथ-साथ उनके उत्पादन के साधनों में कमी नहीं आयी। आयरलैण्डवासियों की बुद्धि ने ग़रीब लोगों को अपने दुखी देश से उठाकर हजारों मील दूर ले जाने का एक बिल्कुल नया तरीक़ा खोज निकाला। आयरलैण्ड के जो लोग अमरीका में जाकर बस गये हैं, वे हर साल उन लोगों के सफ़र-खर्च के लिये रुपये भेजते हैं, जो आयरलैण्ड में छूट गये हैं। हर साल जो जत्था विदेश जाता है, वह अगले साल एक नये जत्थे को वहां खींचकर बुला

[1] *"Tenth Report of the Commissioners of Ireland Revenue"* ('आयरलैण्ड की आय के कमिश्नरों की दसवीं रिपोर्ट'), London, 1866।

[2] आयरलैण्ड को "जन-संख्या के सिद्धान्त" की दृष्टि से एक आदर्श देश समझा जाता है। चुनांचे, थ० सैडलर ने आबादी से सम्बंधित अपनी रचना प्रकाशित करने के पहले *"Ireland, its Evils and their Remedies"* ['आयरलैण्ड, उसकी बुराइयां और उनका इलाज'] (दूसरा संस्करण, London, 1829) नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें अलग-अलग प्रान्तों की और हर प्रान्त की अलग-अलग काउण्टियों की तुलना करके सैडलर ने यह साबित किया है कि आयरलैण्ड में ग़रीबी आबादी के अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसा कि माल्थूस का कहना है, बल्कि वह उसके प्रतिलोम अनुपात में घटती-बढ़ती है।

तालिका (घ)

**आयरलैण्ड में (६० पौण्ड से अधिक के) मुनाफ़ों से होनी वाली अनुसूची "घ" की आय**

| | १८६४ | | १८६५ | |
|---|---|---|---|---|
| | आय (पौण्ड) | कितने व्यक्तियों के बीच बंट गयी | आय (पौण्ड) | कितने व्यक्तियों के बीच बंट गयी |
| कुल वार्षिक आय . . . . | ४३,६८,६१० | १७,४६७ | ४६,६९,९७९ | १८,०८१ |
| ६० पौण्ड से अधिक, किन्तु १०० पौण्ड से कम की वार्षिक आय . . . . . | २,३८,६२६ | ५,०१५ | २,२२,५७५ | ४,७०३ |
| कुल वार्षिक आय का एक भाग . . . . . . . | १९,७९,०६६ | ११,३२१ | २०,२८,४७१ | १२,१८४ |
| कुल वार्षिक आय का बाक़ी भाग . . . . . . . . | २१,५०,८१८ | १,१३१ | २४,१८,८३३ | १,१९४ |
| इस भाग के अलग-अलग अंश. . . . . . . | १०,८३,९०६ | ९१० | १०,९७,९३७ | १,०४४ |
| | १०,६६,९१२ | १२१ | १३,२०,९९६ | १८६ |
| | ४,३०,५३५ | १०५ | ५,८४,४५८ | १२२ |
| | ६,४६,३७७ | २६ | ७,३६,४४८ | २८ |
| | २,६२,६१० | ३ | २,६४,५२८ | ३[1] |

लेता है। इस प्रकार, परावास के इस काम में आयरलैण्ड का एक पैसा भी ख़र्च नहीं होता; उल्टे वह उसके निर्यात-व्यापार की एक सबसे अधिक लाभदायक शाखा बन गया है। आख़िरी बात यह है कि यह एक सुनियोजित क्रिया है, जिससे आबादी में केवल अस्थायी रूप से कमी नहीं आती, बल्कि हर साल जितने लोग नये पैदा होते हैं, उनसे अधिक लोग देश छोड़कर चले जाते हैं और इस तरह वर्ष प्रति वर्ष जन-संख्या का स्तर गिरता ही जाता है।[2]

आयरलैण्ड के जो मज़दूर देश में ही रह गये और जो इस तरह अतिरिक्त जन-संख्या के

---

[1] अनुसूची "घ" की कुल वार्षिक आय इस तालिका में पिछली तालिका से कुछ भिन्न दिखायी गयी है, क्योंकि क़ानून के अनुसार उसमें से कुछ रक़में काट दी गयी हैं।

[2] १८५१ से १८७४ तक कुल २३,२५,९२२ व्यक्ति आयरलैण्ड छोड़कर चले गये।

अभिशाप से मुक्त हो गये, उनपर इसका क्या असर पड़ा? यही कि आज भी आयरलैण्ड में सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या उतनी ही बड़ी है, जितनी १८४६ के पहले थी; मजदूरी भी पहले की तरह ही कम मिलती है; हां, मजदूरों पर अत्याचार बढ़ गया है और ग़रीबी के कारण देश में एक नया संकट पैदा हो रहा है। कारण बहुत सीधे-सादे हैं। परावास के साथ-साथ खेती में क्रान्ति होती गयी है। जन-संख्या में जितनी निरपेक्ष ढंग की कमी आयी है, उससे अधिक सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या पैदा हो गयी है। तालिका (ग) पर नजर डालिये, तो आप समझ जायेंगे कि खेती योग्य जमीन के चरागाहों में बदल दिये जाने का जितना असर इंगलैण्ड में हुआ है, उससे ज्यादा असर आयरलैण्ड में हुआ होगा। इंगलैण्ड में पशु-प्रजनन के साथ-साथ हरी फ़सलों की खेती बढ़ती जाती है; आयरलैण्ड में वह घटती जाती है। एक तरफ़ बहुत सारी जमीन, जो पहले जोती-बोयी जाती थी, बेकार पड़ी है या स्थायी रूप से घास के मैदानों में बदल दी गयी है; दूसरी तरफ़ बहुत सी ऐसी बंजर और दलदली जमीन, जो पहले किसी काम में नहीं आती थी, अब पशु-प्रजनन का विस्तार करने के काम में आने लगी है। छोटे और मझोले काश्तकारों की संख्या – जो लोग १०० एकड़ से ज्यादा की खेती नहीं करते, उन सबको मैं इसी श्रेणी में रखता हूं – अब भी काश्तकारों की कुल संख्या का $\frac{८}{१०}$ भाग है।[1] पूंजी द्वारा संचालित खेती की प्रतियोगिता उनका एक-एक करके ऐसा बुरी तरह सत्यानाश करती है, जैसा इसके पहले कभी नहीं देखा गया था, और इसलिये इन लोगों में से मजदूरों के वर्ग को लगातार नये रंगरूट मिलते रहते हैं। आयरलैण्ड में बड़ा उद्योग एक है: सन का कपड़ा बनाने का उद्योग। उसके लिये अपेक्षाकृत कम संख्या में वयस्क पुरुषों की आवश्यकता होती है, और हालांकि १८६१ – ६६ में कपास के दाम बढ़ जाने के बाद इस उद्योग का काफ़ी विस्तार हो गया है, फिर भी इसमें कुल मिलाकर आबादी का एक अपेक्षाकृत महत्वहीन भाग काम करता है। आधुनिक ढंग के अन्य बड़े उद्योगों की तरह इस उद्योग में भी निरन्तर उतार-चढ़ाव आता रहता है और उसके फलस्वरूप वह भी खुद अपने क्षेत्र में लगातार अतिरिक्त जन-संख्या उत्पन्न करता रहता है; इस उद्योग में काम करने वालों की निरपेक्ष संख्या में जब वृद्धि होती है, तब भी सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का उत्पादन नहीं रुकता। खेतिहर आबादी की ग़रीबी की बुनियाद पर कमीजें बनाने वाले दैत्याकार कारख़ाने खड़े हो गये हैं, जिनके मजदूरों की विशाल सेनाएं आम तौर पर देहात में बिखरी रहती हैं। यहां फिर घरेलू उद्योग की वह प्रणाली हमारे सामने आती है, जिस प्रणाली के कम मजदूरी देने और अत्यधिक काम लेने के रूप में फ़ालतू मजदूरों को पैदा करने के अपने सुनियोजित तरीक़े हैं। अन्तिम बात यह है कि हालांकि आबादी के कम हो जाने का यहां उतना घातक प्रभाव नहीं होता है, जितना किसी पूर्णतया विकसित पूंजीवादी उत्पादन वाले देश में होता, फिर भी उसका घरेलू मण्डी पर लगातार असर पड़ता है। यहां परावास से जो कमी पैदा हो जाती है, वह न केवल श्रम की स्थानीय मांग को घटा देती है, बल्कि छोटे दूकानदारों, कारीगरों, व्यापारी-पेशा लोगों की आय को भी आम तौर पर सीमित कर देती

---

[1] Murphy (मर्फ़ी) की रचना *"Ireland Industrial, Political and Social"* ('आयरलैण्ड का औद्योगिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन') (१८७०) में दी गयी एक तालिका के अनुसार ६४.६ प्रतिशत जोतें १०० एकड़ तक नहीं पहुंचतीं, ५.४ प्रतिशत १०० एकड़ से ऊपर हैं।

है। यही कारण है कि तालिका (च) में ६० पौण्ड और १०० पौण्ड के बीच की आमदनियां कम हो गयी हैं।

आयरलैण्ड में खेतिहर मजदूरों की स्थिति का एक स्पष्ट चित्र आयरलैण्ड के ग़रीबों के क़ानून के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों (१८७०) में मिलता है।[1] ये इंस्पेक्टर एक ऐसी सरकार के कर्मचारी हैं, जो केवल संगीनों के बल पर क़ायम है और देश में या तो ऐलानिया ढंग से और या छिपे तौर पर सैनिक शासन के द्वारा जीवित रहती है। इसलिये उन्हें अपनी भाषा में ऐसी हर प्रकार की सावधानी बरतनी पड़ती है, जिसे इंगलैण्ड के इंस्पेक्टर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। फिर भी वे अपनी सरकार को किसी प्रकार के भ्रम में नहीं रहने देते। उनका कहना है कि देहात में मजदूरी की दर, जो अब भी बहुत कम है, पिछले २० वर्षों में ५० – ६० प्रतिशत बढ़ गयी है और इस समय वह औसतन ६ शिलिंग से ९ शिलिंग तक प्रति सप्ताह है। लेकिन इस दिखावटी बढ़ती के पीछे असल में मजदूरी का गिराव छिपा हुआ है, क्योंकि इस बीच जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दामों में जो उभार आ गया है, उसके मुक़ाबले में मजदूरी बहुत कम बढ़ी है। इसके सबूत में नीचे की तालिका में आयरलैण्ड के एक मुहताजखाने के सरकारी हिसाब का एक अंश देखिये:

प्रति व्यक्ति औसत साप्ताहिक खर्च

| वर्ष समाप्त होने की तारीख | खाने-पीने की वस्तुओं और अन्य आवश्यक वस्तुओं पर | कपड़ों पर | कुल जोड़ |
|---|---|---|---|
| २९ सितम्बर १८४९. . . . | १ शिलिंग ३ $\frac{१}{४}$ पेंस | ३ पेंस | १ शिलिंग ६ $\frac{१}{४}$ पेंस |
| २९ सितम्बर १८६९. . . . | २ शिलिंग ७ $\frac{१}{४}$ पेंस | ६ पेंस | ३ शिलिंग १ $\frac{१}{४}$ पेंस |

इसलिये, २० वर्ष पहले के मुक़ाबले में जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों का दाम दुगुने से भी अधिक और कपड़ों का दाम ठीक-ठीक दुगुना हो गया है।

इस अनुपात के अलावा भी, केवल नक़द मजदूरी की दरों की तुलना करने से भी एक ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है, जो पर्याप्त रूप से सही न हो। अकाल के पहले खेतिहर मजदूरों की मजदूरी ज्यादातर जिन्स की शक्ल में दी जाती थी; केवल एक बहुत ही छोटा भाग नकदी में दिया जाता था। आजकल नक़द मजदूरी देने का नियम है। इससे यह निष्कर्ष

---

[1] *"Reports from the Poor Law Inspectors on the Wages of Agricultural Labourers in Dublin"* ('डब्लीन में खेतिहर मजदूरों की मजदूरी के विषय में ग़रीबों के क़ानून के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टें'), Dublin, 1870। — *"Agricultural Labourers (Ireland). Return, etc."* ['खेतिहर मजदूर (आयरलैण्ड) विवरण, आदि'], 8 March, 1861, London, 1862, भी देखिये।

निकलता है कि असल मजदूरी कुछ भी हो, नकद मजदूरी में जरूर वृद्धि हुई होगी। "अकाल के पहले मजदूर खुद अपने झोंपड़े में रहता था,.. जिसके साथ एक रूड या आधी एकड़ या एकड़ भर जमीन भी होती थी, और वह... उसपर आलू की कुछ फ़सल पैदा कर सकता था। वह सुअर पाल सकता था और मुर्गियां रख सकता था... लेकिन अब मजदूरों को रोटी खरीदनी पड़ती है और उनके पास ऐसा कोई कूड़ा-करकट भी नहीं होता, जिसे वे सुअर या मुर्गियों को खिला सकें, और इसलिये वे सुअर, मुर्गी या अण्डे बेचकर कुछ नहीं कमा सकते।"[1] असल में, खेतिहर मजदूर पहले सबसे छोटे काश्तकारों के समान होते थे और मोटे तौर पर मझोले और बड़े फ़ार्मों के, जिनपर उनको काम मिल जाता था, पृष्ठदल का काम करते थे। यह बात तो केवल १८४६ की दुर्घटना के बाद ही देखने में आयी है कि ये लोग विशुद्ध रूप से मजदूरी करने वालों के वर्ग का, उस विशेष वर्ग का भाग बनते जा रहे हैं, जिसका मजदूरी देने वाले अपने मालिकों के साथ केवल मुद्रा का ही सम्बंध होता है।

हम जानते हैं कि १८४६ में उनके घरों की क्या हालत थी। तब से उनकी हालत और भी खराब हो गयी है। खेतिहर मजदूरों का एक भाग, हालांकि उसकी संख्या दिन प्रति दिन कम होती जा रही है, आज भी काश्तकारों की जमीन पर बने हुए, भीड़ से भरे उन घरों में रहता है, जिनकी भयानकता के सामने इंगलैण्ड के खेत-मजदूरों के खराब से खराब घर भी अच्छे लगेंगे। और अल्स्टर के कुछ इलाक़ों को छोड़कर बाकी जगह आम तौर पर यही हालत है,—जैसे दक्षिण की कोर्क, लिमेरिक, किलकेनी इत्यादि काउण्टियों में; पूर्व में विकलो वेक्सफ़ोर्ड आदि में; आयरलैण्ड के मध्य में किंग्स एण्ड क्वीन्स काउण्टी, डबलिन आदि में; उत्तर में डौन, एन्ट्रीम, टिरोन इत्यादि में; पश्चिम में स्लिगो, रौसकौमन, मेयो, गैलवे आदि में। एक इंस्पेक्टर ने लिखा है: "खेतिहर मजदूरों के झोंपड़े ईसाइयत और इस देश की सभ्यता के माथे पर कलंक का टीका हैं।"[2] इन दड़बों को मजदूरों के लिये और भी आकर्षक बनाने के वास्ते, अति प्राचीन काल से उनके साथ जुड़े हुए जमीन के टुकड़ों को भी सुनियोजित ढंग से जब्त कर लिया जाता है। "केवल इस विचार ने कि जमींदारों और उनके कारिंदों ने उनपर इस प्रकार का प्रतिबंध लगा रखा है,.. मजदूरों के दिमाग़ों में उन लोगों के विरुद्ध, जिनके बारे में उनका ख़याल है कि वे लोग मजदूरों के साथ... एक गुलाम नस्ल जैसा... व्यवहार करते हैं, विरोध और असंतोष की भावनाएं पैदा कर दी हैं।"[3]

खेती में जो क्रान्ति हुई, उसने पहला काम यह किया कि श्रम के क्षेत्र में खड़े झोंपड़ों को नष्ट कर दिया। यह चीज बहुत ही बड़े पैमाने पर हुई, और इस तरह हुई, जैसे किसी ने ऊपर से इसका हुक्म दिया हो। चुनांचे बहुत से मजदूरों को गांवों और शहरों में आश्रम खोजना पड़ा। वहां उनको कूड़े-करकट की तरह सबसे ज्यादा गंदे मुहल्लों की अटारियों, दड़बों, तहखानों और कोनों में भर दिया गया। यद्यपि अंग्रेजों का मस्तिष्क जातीय पूर्वग्रहों से संकुचित रहता है, तथापि वे यह मानते हैं कि आयरलैण्ड के लोगों का अपने घर-द्वार से एक अजीब लगाव होता है और उनके घरेलू जीवन में एक उल्लेखनीय हर्षोत्फुल्लता तथा निर्मलता होती है। परन्तु इन्हीं आयरलैण्डवासियों के हजारों परिवारों को उनकी भूमि से उखाड़कर यकायक पाप की नगरी में

---

[1] उप० पु०, पृ० २९,१।
[2] उप० पु०, पृ० १२।
[3] उप० पु०, पृ० १२।

बसा दिया गया। पुरुषों को पास-पड़ोस के फ़ार्मों पर काम तलाशना पड़ता है और उनको सिर्फ़ रोजनदारी पर रखा जाता है, जिससे हमेशा काम छूट जाने का ख़तरा बना रहता है। चुनांचे, "इन लोगों को काम करने के लिये कभी-कभी बहुत दूर पैदल चलकर जाना और वहां से लौटना पड़ता है, वे अक्सर भीग जाते हैं, बहुत कष्ट उठाते हैं, और अन्त में बहुधा इसका यह परिणाम होता है कि वे बीमार पड़ जाते हैं और उनको रोग तथा अभाव आ घेरते हैं।"[1]

"देहात के अतिरिक्त मजदूर समझे जाने वाले लोग वर्ष प्रति वर्ष आकर क़स्बों में भर जाते हैं।"[2] मगर फिर भी लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि "क़स्बों और गांवों में अब भी मजदूरों का अतिरेक है, पर देहाती इलाक़ों में या तो मजदूरों की कमी है, या कमी होने की आशंका है।"[3] सच तो यह है कि यह कमी केवल "फ़सल की कटाई के दिनों में, या वसन्त में, या ऐसे समय" दिखाई देती है, "जब खेती की क्रियाओं में तेजी आ जाती है; वर्ष के बाक़ी भागों में बहुत से मजदूर बेकार रहते हैं"[4] सचाई यह है कि "अक्तूबर के महीने से, जब कि आलुओं की मुख्य फ़सल खोदकर निकाली जाती है, अगले वसन्त के शुरू होने तक... इन लोगों के लिये कोई काम नहीं रहता।"[5] और जब खेती के कामों में तेजी आती है, तब भी उनको "खण्डित दिन की प्रणाली के अनुसार काम करना पड़ता है और तरह-तरह के कारणों से उनका श्रम बीच में रुक-रुक जाता है।"[6]

खेती की क्रान्ति के ये परिणाम—अर्थात् खेती योग्य जमीन का चरागाहों में बदल दिया जाना, मशीनों का प्रयोग करना, श्रम के उपयोग में हद से ज्यादा मितव्ययिता बरतना, इत्यादि—उन आदर्श जमींदारों के कारण और भी उग्र रूप धारण कर लेते हैं, जो लगान की अपनी आय को दूसरे देशों में ख़र्च करने के बजाय आयरलैण्ड में अपनी जमींदारियों पर ही रहने की कृपा करते हैं। इस दृष्टि से कि कहीं पूर्ति और मांग का नियम भंग न हो जाये, ये महानुभाव अपनी "श्रम-पूर्ति... मुख्यतया अपने छोटे किसानों में से करते हैं, जिनको बहुधा मजदूरी की ऐसी दरों पर जमींदार के लिये काम करने के वास्ते हाजिर हो जाना पड़ता है, जो अक्सर साधारण मजदूरों की मजदूरी की दरों से काफ़ी कम होती हैं, और जिनके बारे में इसका भी कोई ख़याल नहीं रखा जाता कि बुवाई या कटाई के नाजुक दिनों में ख़ुद अपना काम न कर पाने के कारण उनको क्या असुविधा या हानि होगी।"[7]

रोजगार पाने की अनिश्चितता और अनियमितता, बार-बार श्रम की मंडी में मजदूरों का आधिक्य हो जाना और इस स्थिति का बहुत देर तक बने रहना—अतिरिक्त जन-संख्या के ये सारे लक्षण आयरलैण्ड के खेतिहर सर्वहारा की कठिनाइयों के रूप में ग़रीबों के क़ानून के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों में हमारे सामने आते हैं। पाठकों को याद होगा कि इंगलैण्ड के खेतिहर सर्वहारा के सम्बन्ध में भी हमने इसी प्रकार का एक दृश्य देखा था। परन्तु दोनों में अन्तर यह

[1] उप० पु०, पृ० २५।
[2] उप० पु०, पृ० २७।
[3] उप० पु०, पृ० २५।
[4] उप० पु०, पृ० १।
[5] उप० पु०, पृ० ३१, ३२।
[6] उप० पु०, पृ० २५।
[7] उप० पु०, पृ० ३०।

है कि इंगलैण्ड एक औद्योगिक देश है, और वहां उद्योग-धंधों के मजदूरों की रिजर्व सेना अपने रंगरूट देहाती इलाक़ों से भर्ती करती है, जब कि आयरलैण्ड एक खेतिहर देश है, और यहां खेतिहर मजदूरों की रिजर्व सेना अपने रंगरूट शहरों और क़स्बों से भर्ती करती है, जहां निष्कासित खेत-मजदूर आश्रय लेते हैं। इंगलैण्ड में खेती के अतिरिक्त लोग फ़ैक्टरी-मजदूरों में बदल जाते हैं; आयरलैण्ड में खेती के जिन लोगों को शहरों में भगा दिया जाता है, वे शहरों के मजदूरों की मजदूरी की दर को तो नीचे गिरा देते हैं, पर खुद खेतिहर मजदूर ही बने रहते हैं और सदा देहाती इलाक़ों में काम की तलाश किया करते हैं।

सरकारी इंस्पेक्टरों ने खेतिहर मजदूरों की भौतिक स्थिति का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है: "हद से ज्यादा कमखर्ची बरतते हुए भी उसकी अपनी मजदूरी एक साधारण परिवार का पेट भरने तथा घर का किराया देने के लिये मुश्किल से ही काफ़ी होती है, और उसे अपने वास्ते तथा अपने बीवी-बच्चों के वास्ते कपड़े बनवाने के लिये कोई और सहारा खोजना पड़ता है... इन लोगों को जो और कष्ट उठाने पड़ते हैं, उनके साथ मिलकर इन दड़बों के वातावरण ने इस पूरे वर्ग को इतना कमजोर बना दिया है कि टाइफ़स और फेफड़ों की तपेदिक उनको कभी भी आ घेरती हैं।"[1] तब क्या आश्चर्य है, यदि सभी इंस्पेक्टरों के कथनानुसार इस वर्ग की पांतों में एक चिन्ताजनक असंतोष फैला हुआ है, ये लोग सदा बीते हुए दिनों की याद किया करते हैं, वर्त्तमान से घृणा करते हैं और भविष्य के बारे में सर्वथा निराश हो गये हैं, "प्रचारकों के कुप्रभाव" में आ जाते हैं, और अब उनके दिमाग़ में सदा एक ही विचार घूमता रहता है, और वह यह कि किसी तरह अपना देश छोड़कर अमरीका चले जायें। एरिन (आयरलैण्ड) के हरित द्वीप को माल्थस की उस महान सर्वदुःखहारी औषधि ने — आबादी के उजड़ने की दवा ने — आलस्य और भोग-विलास के इस कल्पना-लोक में परिणत कर दिया है।

आयरलैण्ड का फ़ैक्टरी-मजदूर कैसा सुखी जीवन बिताता है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। अंग्रेज फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर रोबर्ट बेकर ने लिखा है: "हाल में मैंने उत्तरी आयरलैण्ड की यात्रा की, तो वहां के एक निपुण मजदूर ने अपने बच्चों को शिक्षा देने की क्या-क्या कोशिशें की हैं, उसके बारे में मुझे कुछ जानकारी प्राप्त हुई। इस मजदूर ने जो कुछ कहा, मैं उसे ज्यों का त्यों उद्धृत किये दे रहा हूं। वह निपुण फ़ैक्टरी-मजदूर था, यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि उससे मानचेस्टर की मण्डी के वास्ते सामान तैयार करवाया जाता था। इस व्यक्ति ने, जिसका नाम जोनसन था, मुझे यह कुछ बताया: 'मैं बुरमुट चलाता हूं और सोमवार से शुक्रवार तक सुबह के ६ बजे से रात के ११ बजे तक काम करता रहता हूं। शनिवार को शाम को ६ बजे काम बन्द हो जाता है और तीन घण्टे खाने और आराम करने के लिए मिल जाते हैं। मेरे कुल पांच बच्चे हैं। इस काम के लिये मुझे १० शिलिंग ६ पेन्स प्रति सप्ताह मिलते हैं। मेरी पत्नी भी उसी कारखाने में काम करती है; वह ५ शिलिंग प्रति सप्ताह पाती है। सबसे बड़ी लड़की, जिसकी उम्र १२ वर्ष है, घर की देखभाल करती है। खाना भी वही पकाती है और घर का सारा काम करती है। वही बच्चों को स्कूल जाने के लिये तैयार करती है। एक लड़की, जो इस समय हमारे मकान के पास से गुजरती है, सुबह को साढ़े पांच बजे मुझे जगा देती है। मेरी पत्नी भी मेरे साथ ही जाग जाती है और मेरे साथ ही कारखाने चली आती है। काम पर आने के पहले हम लोगों को खाने को कुछ नहीं मिलता। १२ वर्ष की वह

[1] उप० पु०, पृ २१,१३।

बच्ची दिन भर छोटे बच्चों को संभालती है। और हम लोग सुबह का नाश्ता ८ बजे करते हैं। ८ बजे हम घर चले आते हैं। सप्ताह में एक बार हमें चाय मिल जाती है। बाक़ी रोज हम लपसी (stirabout) खाते हैं, कभी जई के आटे की, कभी मक्का के आटे की, – जब जो चीज मिल जाये। जाड़ों में हम मक्का के आटे की अपनी लपसी में थोड़ी शक्कर और पानी मिला लेते हैं। गरमियों में हमें कुछ आलू मिल जाते हैं, जो हमने जमीन के एक छोटे से टुकड़े में खुद लगा रखे हैं। जब आलू ख़तम हो जाते हैं, तो हम फिर लपसी खाना शुरू कर देते हैं। कभी-कभी सम्भव हुआ, तो थोड़ा सा दूध मिल जाता है। चाहे रविवार हो, चाहे कोई और दिन हो, बारहों महीनों हमारे जीवन का क्रम इसी तरह चलता रहता है। मैं रात को जब काम ख़त्म करके घर लौटता हूं, तो हमेशा बहुत थक जाता हूं। कभी-कभार हमें जरा से मांस के भी दर्शन हो जाते हैं, लेकिन ऐसा दिन बड़ा दुर्लभ होता है। हमारे तीन बच्चे स्कूल जाते हैं, जिनकी फ़ीस हमें हर सप्ताह १ पेनी प्रति बच्चा देनी पड़ती है। मकान का किराया ६ पेन्स प्रति सप्ताह है। आग जलाने के लिये पीट पर बहुत कम करने पर भी दो हफ़्ते में १ शिलिंग ६ पेन्स तो खर्च हो ही जाते हैं।"[1] ऐसी है आयरलैण्ड के मजदूरों की मजदूरी और ऐसा है उनका जीवन!

असल में, आजकल आयरलैण्ड की ग़रीबी एक बार फिर इंगलैंड में लोगों की चर्चा का विषय बन गयी है। १८६६ के अन्त में और १८६७ के आरम्भ में आयरलैण्ड के एक बड़े भूस्वामी, लार्ड डफ़रिन ने "The Times" में इस समस्या का एक हल सुझाने का प्रयत्न किया था। "Wie menschlich von solch grossem Herrn!" ("इतने बड़े आदमी ने कितनी उदारता दिखायी है!")

तालिका (ख) में हमने देखा था कि १८६४ में ४३,६८,६१० पौण्ड के कुल मुनाफ़े में से अतिरिक्त मूल्य बनाने वाले केवल तीन व्यक्तियों को २,६२,६१० पौण्ड मिले थे, लेकिन १८६५ में ४६,६६,६७६ पौण्ड के कुल मुनाफ़े में से "परिवर्जन" की कला के ये ही तीन महान आचार्य २,७४,४४८ पौण्ड मार ले गये; १८६४ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले २६ व्यक्तियों ने ६,४६,३७७ पौण्ड कमाये थे, १८६५ में २८ ने ७,३६,४४८ पौण्ड कमाये; १८६४ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले १२१ व्यक्तियों ने १०,६६,६१२ पौण्ड कमाये थे, १८६५ में १८६ ने १३,२०,६६६ पौण्ड कमाये; १८६४ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले १,१३१ व्यक्तियों ने २१,५०,८१८ पौण्ड कमाये थे, जो साल भर के मुनाफ़ों की कुल रक़म का लगभग आधा होते थे; १८६५ में अतिरिक्त मूल्य कमाने वाले १,१६४ व्यक्तियों ने २४,१८,६३३ पौण्ड कमाये, जो साल भर के मुनाफ़ों की कुल रक़म का आधे से ज्यादा होते थे। लेकिन इंगलैण्ड, स्कोटलैण्ड और आयरलैण्ड के मुट्ठी भर बड़े-बड़े भू-स्वामी वार्षिक राष्ट्रीय आय का इतना बड़ा भाग निगल जाते हैं कि दूरदर्शी अंग्रेजी राज्य यह ठीक नहीं समझता कि लगान की आय के वितरण के बारे में भी उसी प्रकार के आंकड़े प्रकाशित किये जायें, जिस प्रकार के आंकड़े मुनाफ़ों के वितरण के बारे में प्रकाशित किये जाते हैं। इन बड़े भू-स्वामियों में से एक लार्ड डफ़रिन भी हैं। लगान की दर या मुनाफ़े भी कभी "बहुत ऊंचे" हो सकते हैं या उनके आधिक्य का जनता की ग़रीबी के आधिक्य से कोई संबंध हो सकता है, – यह एक ऐसा विचार है, जो जितना "ग़लत" ("disreputable") है, उतना ही "कुख्यात" ("unsound") भी है।

---

[1] "*Rept. of Insp. of Fact., 31st Oct., 1866*" ('फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की रिपोर्ट, ३१ अक्तूबर १८६६'), पृ० ६६।

इसलिये, लार्ड डफ़रिन अपने को तथ्यों तक सीमित रखते हैं। तथ्य यह है कि आयरलैण्ड की आबादी जैसे-जैसे कम होती जाती है, वैसे-वैसे वहां की लगानबन्दी फूलती जाती है। तथ्य यह है कि आबादी के उजड़ने से जमींदारों का लाभ होता है और इसलिये उससे भूमि को भी लाभ होता है, और जनता चूंकि भूमि का उपांग है, इसलिये उससे जनता को भी लाभ होता है। चुनांचे, लार्ड डफ़रिन फ़रमाते हैं कि आयरलैण्ड की आबादी अब भी ज़रूरत से ज्यादा है और बहिर्गमन या परावास की धारा अभी भी बहुत धीरे-धीरे बह रही है। पूर्णतया सुखी जीवन व्यतीत करने के लिये आयरलैण्ड को तीन लाख से कुछ अधिक श्रमजीवियों को अभी कहीं भेज देना पड़ेगा। कोई आदमी यह न समझे कि लार्ड डफ़रिन, जिनकी कल्पना-शक्ति तो कवियोचित है ही, सांग्रेडो के मत के डाक्टर हैं, जो जब कभी उसका कोई बीमार अच्छा नहीं होता था, तो उसकी फ़स्द खोल देता था और उस वक़्त तक बराबर नश्तर लगाता जाता था, जब तक कि बीमार अपने खून के साथ-साथ अपनी बीमारी से भी छुटकारा नहीं पा जाता था। नहीं, लार्ड डफ़रिन तो सिर्फ़ यह चाहते हैं कि एक बार और नश्तर लगाकर दस लाख में से केवल एक-तिहाई को कहीं रवाना कर दिया जाये। वह यह थोड़ा ही चाहते हैं कि लगभग तीन लाख को निकाल बाहर किया जाये, हालांकि, असल में, बीस लाख को निकाले बिना आयरलैण्ड में स्वर्ग की स्थापना नहीं की जा सकती। इसका प्रमाण देना बहुत सहज है।

**१८६४ में आयरलैण्ड में फ़ार्मों की संख्या और विस्तार**

| (१) १ एकड़ से कम के फ़ार्म | | (२) १ एकड़ से ५ एकड़ तक के फ़ार्म | | (३) ५ एकड़ से ऊपर, पर १५ एकड़ तक के फ़ार्म | | (४) १५ एकड़ से ऊपर, पर ३० एकड़ तक के फ़ार्म | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| संख्या | एकड़ | संख्या | एकड़ | संख्या | एकड़ | संख्या | एकड़ |
| ४८,६५३ | २५,३९४ | ८२,०३७ | २,८८,९१६ | १,७६,३६८ | १८,३६,३१० | १,३६,५७८ | ३०,५१,३४३ |

| (५) ३० एकड़ से ऊपर, पर ५० एकड़ तक के फ़ार्म | | (६) ५० एकड़ से ऊपर, पर १०० एकड़ तक के फ़ार्म | | (७) १०० एकड़ से ऊपर के फ़ार्म | | (८) कुल रक़बा |
|---|---|---|---|---|---|---|
| संख्या | एकड़ | संख्या | एकड़ | संख्या | एकड़ | एकड़ |
| ७१,९६१ | २९,०६,२७४ | ५४,२४७ | ३९,८३,८८० | ३१,९२७ | ८२,२७,८०७ | २,६३,१९,९२४[1] |

१८५१ से १८६१ तक केन्द्रीयकरण ने प्रधानतया पहली तीन कोटियों के—अर्थात् १५ एकड़ तक के—फ़ार्मों को नष्ट कर डाला। सबसे पहले उनका खात्मा ज़रूरी था। उसके फलस्वरूप ३,०७,०५८ काश्तकार "फ़ालतू" हो गये, और यदि एक परिवार में केवल चार व्यक्ति के आधार पर भी हिसाब लगाया जाये, तो कुल १२,२८,२३२ व्यक्ति "फ़ालतू" हो गये। यदि हम बहुत बढ़ा-चढ़ाकर यह मान लें कि खेती में क्रान्ति पूरी हो जाने के बाद इनमें

[1] कुल क्षेत्रफल में पीट वाले दलदल और बंजर जमीन भी शामिल है।

से एक चौथाई को फिर काम मिल जायेगा, तो भी ६,२१,१७४ व्यक्ति बच जाते हैं, जिनको देश छोड़कर चले जाना पड़ेगा। जैसा कि इंगलैण्ड में बहुत दिनों से लोग जानते हैं, १५ एकड़ से ऊपर, पर १०० एकड़ तक की चौथी, पांचवीं और छठी कोटियां अनाज की पूंजीवादी खेती के लिये बहुत छोटी हैं और उनपर भेड़ पालना भी अब लगभग बन्द होता जा रहा है। इसलिये, पूर्वोक्त मान्यता के आधार पर ७,८८,७६१ व्यक्तियों को और आयरलैण्ड छोड़कर चले जाना पड़ेगा। इस तरह कुल १७,०६,५३२ व्यक्तियों को देश से निकालना पड़ेगा। और चूंकि l'appétit vient en mangeant (खाने के साथ-साथ भूख बढ़ती जाती है), इसलिये आयरलैण्ड की आबादी के ३५ लाख हो जाने पर भी भू-स्वामियों को ख़याल आयेगा कि यह देश अभी तक दुखी रहता है, और यह इसीलिये कि उसकी आबादी ज़रूरत से ज़्यादा है; और इसलिये वे कहेंगे कि आयरलैण्ड की आबादी को कम करने का काम जारी रहना चाहिये, ताकि यह देश अपनी सच्ची भूमिका अदा कर सके और इंगलैण्ड के लिये भेड़ों और पशुओं की चरागाह का काम कर सके।[1]

---

[1] इस ग्रंथ के तीसरे खण्ड के भू-सम्पत्ति वाले अनुभाग में मैं अधिक विस्तार के साथ यह बताऊंगा कि अलग-अलग जमींदारों और इंगलैण्ड की संसद, दोनों ने खेती की क्रान्ति को ज़बर्दस्ती पूरा करने के लिये तथा आयरलैण्ड की आबादी को घटाकर ज़मींदारों के मन-पसन्द स्तर पर ले आने के लिये किस तरह ख़ूब समझ-बूझकर अकाल तथा उसके परिणामों से अधिक से अधिक लाभ उठाया था। वहां मैं छोटे काश्तकारों और खेतिहर मज़दूरों की हालत की भी एक बार फिर चर्चा करूंगा। इस समय केवल एक उद्धरण और देना काफ़ी होगा। नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर ने अपनी निधनोत्तर रचना "*Journals, Conversations and Essays relating to Ireland*" ['आयरलैण्ड से सम्बंधित डायरी, वार्तालाप और निबंध'] (२ खण्ड, London, 1868, खण्ड दूसरा, पृ० २८२) में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा है: "'हां,'—डाक्टर जी० ने कहा,—'हमारे यहां ग़रीबों का क़ानून भी है, जिससे ज़मींदारों को बड़ी भारी मदद मिलती है। उनकी सहायता के लिये एक और भी शक्तिशाली साधन परावास है... आयरलैण्ड का हितैषी कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि (ज़मींदारों और छोटे केल्टिक काश्तकारों के बीच) यह युद्ध लम्बा खिंच जाये,—और यह तो कोई और भी कम चाहेगा कि इस युद्ध में काश्तकारों की जीत हो... जितनी जल्दी यह युद्ध समाप्त हो जायेगा—जितनी जल्दी आयरलैण्ड चरागाहों का देश (grazing country) बन जायेगा और जितनी जल्दी उसकी आबादी सिर्फ़ इतनी रह जायेगी, जितनी चरागाहों के एक देश की होनी चाहिये,—उतना ही सब वर्गों का भला होगा।'" १८१५ में इंगलैण्ड में जो अनाज सम्बंधी क़ानून बनाये गये थे, उनसे आयरलैण्ड को ब्रिटेन को स्वतंत्रतापूर्वक अनाज निर्यात करने का एकाधिकार मिल गया था। इसलिये, इन क़ानूनों से अनाज की खेती को बनावटी ढंग का बढ़ावा मिला था। १८४६ में अनाज सम्बंधी क़ानूनों को रद्द करके अकस्मात इस एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। अन्य तमाम कारणों के अलावा अकेली यह घटना ही आयरलैण्ड की खेती योग्य ज़मीन को चरागाहों में बदलने की क्रिया को, फ़ार्मों के संकेंद्रण की क्रिया को और छोटे कृषकों की बेदख़लियों को ज़बर्दस्त बढ़ावा देने के लिये काफ़ी थी। १८१५ से १८४६ तक आयरलैण्ड की भूमि की उर्वरता की प्रशंसा करने और यह घोषित करने के बाद कि स्वयं प्रकृति ने इस भूमि को गेहूं की खेती करने के लिये बनाया है, इंगलैण्ड के कृषि-वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने अकस्मात

इस निकम्मी दुनिया में जितनी अच्छी चीजें हैं, उन सब में कुछ न कुछ बुराई तो होती ही है। सो इस लाभदायक पद्धति में भी कुछ त्रुटियां हैं। यदि आयरलैण्ड में लगान बढ़ता जाता है, तो उधर अमरीका में आइरिश लोगों की संख्या भी उसी गति से बढ़ती जाती है। भेड़ों और बैलों ने जिसे जलावतन कर दिया है, वह आइरिश मानव महासागर के दूसरे किनारे पर आयरलैण्ड की अंग्रेजी सरकार का तख्ता उलटने के लिये संघर्ष करने वाली फ़ेनियन लीग के सदस्य के रूप में प्रकट होता है, और समुद्रों की बुढ़िया रानी – बरतानिया – के मुक़ाबले में एक महान तरुण प्रजातंत्र अधिकाधिक भयावह रूप धारण करता जाता है।

Acerba fata Romanos agunt
Scelusque fraternae necis.

(दुर्भाग्य रोमनों का पीछा कर रहा है, उन्होंने भ्रातृ-हत्या का पाप किया है।)

---

यह आविष्कार किया कि आयरलैण्ड की भूमि तो चारा पैदा करने के सिवा और किसी काम की नहीं है। इंग्लिश चैनेल के उस पार मोशिये लेओंस दे लावेर्गने ने यही बात दुहराने में बड़ी मुस्तैदी दिखायी है। लावेर्गने जैसा कोई "गम्भीर" व्यक्ति ही इस बकवास के भुलावे में आ सकता है।

भाग ८

# तथाकथित आदिम संचय

## छब्बीसवां अध्याय

## आदिम संचय का रहस्य

हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा किस तरह पूंजी में बदल दी जाती है, किस तरह पूंजी से अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जाता है और फिर अतिरिक्त मूल्य से किस तरह और पूंजी बना ली जाती है। लेकिन पूंजी का संचय होने के लिये अतिरिक्त मूल्य का पैदा होना आवश्यक है, अतिरिक्त मूल्य पैदा होने के लिये पूंजीवादी उत्पादन का होना जरूरी है और पूंजीवादी उत्पादन के अस्तित्व में आने के लिये आवश्यक है कि मालों के उत्पादकों के हाथों में पूंजी और श्रम-शक्ति की काफ़ी बड़ी राशियां पहले से मौजूद हों। इसलिये, ऐसा लगता है, जैसे यह पूरी क्रिया एक अपचक्र के भीतर चलती रहती है, जिससे बाहर निकलने का केवल एक यही रास्ता है कि हम यह मान लें कि पूंजीवादी संचय के पहले आदिम संचय (जिसे ऐडम स्मिथ ने "previous accumulation" ["पूर्वकालिक संचय"] कहा है) हुआ था,—यानी कभी एक ऐसा संचय हुआ था, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का परिणाम नहीं था, बल्कि उसका प्रस्थान-बिन्दु था।

यह आदिम संचय अर्थशास्त्र में वही भूमिका अदा करता है, जो धर्म-शास्त्र में मूल पाप अदा करता है। आदम ने सेब को चखा, इस कारण मनुष्य-जाति पाप के पंक में फंस गयी। उसकी व्युत्पत्ति बीते हुए जमाने की एक कथा सुनाकर स्पष्ट कर दी जाती है। इसी तरह, हमसे कहा जाता है कि बहुत, बहुत दिन बीते दुनिया में दो तरह के आदमी थे। एक ओर कुछ चुने हुए लोग थे, जो परिश्रमी थे, बुद्धिमान थे, और सबसे बड़ी बात यह कि मितव्ययी थे। दूसरी ओर थे काहिल और बदमाश, जो अपना सारा सत्व भोग-विलास और दुराचरण में लुटाये दे रहे थे। धर्म-शास्त्र का मूल पाप हमें यह निश्चित रूप से बता देता है कि आदमी को रोटी पाने के लिये एड़ी-चोटी का पसीना एक क्यों करना पड़ता है। लेकिन अर्थशास्त्र के मूल पाप का इतिहास हमें बताता है कि कुछ ऐसे लोग भी क्यों होते हैं, जिनके लिये रोटी पाने के लिये मेहनत करना आवश्यक नहीं है। और, जाने दीजिये। सो, इस तरह पहली क़िस्म के लोगों ने धन संचय कर लिया और दूसरी क़िस्म के लोगों के पास अन्त में अपनी खाल के सिवा कुछ भी बेचने के लिये नहीं बचा। और इसी मूल पाप का यह नतीजा हुआ कि दुनिया में ज्यादातर आदमी ग़रीब हैं और दिन-रात मेहनत करने के बावजूद आज भी उनके पास बेचने के लिये अपने तन के सिवा और कुछ नहीं है। और

यही कारण है कि थोड़े से लोगों के पास सारा धन है, और हालांकि इन लोगों ने बहुत दिन पहले काम करना बन्द कर दिया था, पर फिर भी यह धन बराबर बढ़ता ही जाता है। सम्पत्ति की हिमायत में हमें हर रोज इस तरह की नीरस और बचकाना बकवास सुनायी जाती है। मिसाल के लिये, मोशिये थियेर में इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने एक राजनेता के समस्त गाम्भीर्य के साथ उस फ्रांसीसी क़ौम के सामने यह बात दुहरायी थी, जो किसी समय एक बड़ी प्रतिभाशाली (spirituel) क़ौम थी। जैसे ही कहीं पर सम्पत्ति का सवाल उठ खड़ा होता है, वैसे ही यह घोषणा करना हरेक आदमी का पुनीत कर्तव्य बन जाता है कि शिशु का बौद्धिक भोजन ही हर आयु और विकास की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य की सबसे अच्छी खुराक होता है। यह बात सर्वविदित है कि वास्तविक इतिहास में देश जीतने, दूसरों को गुलाम बनाने, डाकाजनी, हत्या और संक्षेप में कहें, तो बल-प्रयोग की प्रमुख भूमिका है। लेकिन अर्थशास्त्र के मधुर इतिहास में बाबा आदम के जमाने से केवल सुन्दर बातों की ही चर्चा है। उसके अनुसार तो सदा केवल न्यायोचित अधिकार और "श्रम" से ही धन एकत्रित हुआ है,—हां, "चालू साल" की बात हमेशा दूसरी रहती है। सच्ची बात यह है कि आदिम संचय जिन तरीक़ों से हुआ है, वे और कुछ भी हों, सुन्दर हरगिज नहीं थे।

जिस तरह उत्पादन के साधन तथा जीवन-निर्वाह के साधन खुद अपने में पूंजी नहीं होते, उसी तरह मुद्रा और माल भी खुद अपने में पूंजी नहीं होते। उनको तो पूंजी में रूपान्तरित करना पड़ता है। परन्तु यह रूपान्तरण खुद केवल कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में ही हो सकता है। इन परिस्थितियों की केन्द्रीय बात यह है कि दो बहुत भिन्न प्रकार के मालों के मालिकों को एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा होना चाहिये और एक दूसरे के सम्पर्क में आना चाहिये। एक तरफ़ होने चाहिये मुद्रा, उत्पादन के साधनों और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक, जो दूसरों की श्रम-शक्ति को खरीदकर अपने मूल्यों की राशि को बढ़ाने के लिये उत्सुक हों। दूसरी तरफ़ होने चाहिये स्वतंत्र मजदूर, जो खुद अपनी श्रम-शक्ति बेचते हों और इसलिये जो श्रम बेचते हों। इन मजदूरों को इस दोहरे अर्थ में स्वतंत्र होना चाहिये कि वे न तो दासों, कृषि-दासों आदि की भांति खुद उत्पादन के साधनों का एक अंश हों और न ही खुद अपनी जमीन जोतने वाले किसानों की भांति उत्पादन के साधन उनकी सम्पत्ति हों, इसलिये, वे उत्पादन के हर प्रकार के साधनों से बिल्कुल मुक्त होते हैं, और उनके सिर पर किसी भी प्रकार के खुद अपने उत्पादन के साधनों का बोझा नहीं होता। मालों की मण्डी में इस प्रकार का ध्रुवण हो जाने पर पूंजीवादी उत्पादन के लिये आवश्यक मूल-भूत परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं। पूंजीवादी उत्पादन के लिये यह आवश्यक होता है कि मजदूर जिन साधनों के द्वारा अपने श्रम को मूर्त रूप दे सकते हैं, उनपर मजदूरों का तनिक भी स्वामित्व न रहे और इस प्रकार के स्वामित्व से मजदूरों का बिल्कुल अलगाव हो जाये। जब एक बार पूंजीवादी उत्पादन अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, तो फिर वह न सिर्फ़ इस अलगाव को क़ायम रखता है, बल्कि उसका बढ़ते हुए पैमाने पर लगातार पुनरुत्पादन करता जाता है। इसलिये, पूंजीवादी व्यवस्था के वास्ते रास्ता तैयार करने वाली क्रिया केवल वही क्रिया हो सकती है, जो मजदूर से उसके उत्पादन के साधनों का स्वामित्व छीन ले, जो एक ओर तो जीवन-निर्वाह और उत्पादन के सामाजिक साधनों को पूंजी में और, दूसरी ओर, प्रत्यक्ष उत्पादकों को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों में बदल डाले। अतः तथाकथित आदिम संचय उत्पादक को उत्पादन के साधनों से अलग कर देने की ऐतिहासिक

क्रिया के सिवा और कुछ नहीं है। वह आदिम क्रिया इसलिये प्रतीत होती है कि वह पूंजी और तदनुरूप उत्पादन-प्रणाली के प्रागैतिहासिक काल की अवस्था होती है।

पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा सामन्ती समाज के आर्थिक ढांचे में से निकला है। जब सामन्ती समाज का आर्थिक ढांचा छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो पूंजीवादी ढांचे के तत्व उन्मुक्त हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष उत्पादक, या मजदूर, केवल उसी समय अपनी देह को बेच सकता था, जब वह धरती से न बंधा हो और किसी अन्य व्यक्ति का दास या कृषि-दास न हो। इसके अलावा, श्रम-शक्ति का स्वतंत्र विक्रेता बनने के लिये, जो जहां श्रम-शक्ति की मांग हो, वहीं पर उसे बेच सके, यह भी आवश्यक था कि मजदूर को शिल्पी संघ के शासन से, सीखतर मजदूरों तथा मजदूर-कारीगरों के लिये बनाये गये शिल्पी संघों के नियमों से और उनके श्रम के क़ायदों की रुकावटों से मुक्ति मिल गयी हो। अतः वह ऐतिहासिक क्रिया, जो उत्पादकों को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों में बदल देती है, एक ओर तो इन लोगों को कृषि-दास-प्रथा से तथा शिल्पी संघों के बंधनों से आजाद कराने की क्रिया प्रतीत होती है, और हमारे पूंजीवादी इतिहासकारों को उसका केवल यही पहलू नजर आता है। लेकिन, दूसरी ओर, इस तरह जिन लोगों को नयी स्वतंत्रता मिलती है, वे केवल उसी हालत में खुद अपने विक्रेता बनते हैं, जब पहले उत्पादन के सारे साधन उनसे छीन लिये जाते हैं और पुरानी सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत उनको जीवन-निर्वाह की जितनी प्रतिभूतियां मिली हुई थीं, जब वे उन सबसे वंचित कर दिये जाते हैं। और इस क्रिया की, इस सम्पत्ति-अपहरण की कहानी मनुष्य-जाति के इतिहास में रक्ताक्त एवं आग्नेय अक्षरों में लिखी हुई है।

उधर इन नये शक्तिमानों को, औद्योगिक पूंजीपतियों को, न केवल दस्तकारियों के शिल्पी संघों के उस्तादों को विस्थापित करना था, बल्कि धन के स्रोतों के स्वामी, सामन्ती प्रभुओं का भी स्थान छीन लेना था। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक पूंजीपतियों को सामन्ती प्रभुओं तथा उनके अन्यायपूर्ण विशेषाधिकारों के विरुद्ध और शिल्पी संघों तथा उत्पादन के स्वतंत्र विकास एवं मनुष्य द्वारा मनुष्य के स्वच्छंद शोषण पर इन संघों द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करके सामाजिक सत्ता प्राप्त हुई है। लेकिन उद्योग के धनी सरदारों को तलवार के धनी सरदारों का स्थान छीन लेने में यदि सफलता मिली, तो केवल इसलिये कि उन्होंने कुछ ऐसी घटनाओं से लाभ उठाया, जिनकी उनपर कोई जिम्मेदारी न थी। और उन्होंने ऊपर उठने के लिये उतने ही घटिया हथकण्डों का प्रयोग किया, जितने घटिया हथकण्डों का रोम के मुक्त दासों ने अपने स्वामियों का स्वामी बनने के लिये प्रयोग किया था।

जिस विकास-क्रम के फलस्वरूप मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर और पूंजीपति दोनों का जन्म हुआ है, उसका प्रस्थान-बिंदु मजदूर की गुलामी था। प्रगति इस बात में हुई थी कि इस गुलामी का रूप बदल गया था और सामन्ती शोषण पूंजीवादी शोषण में रूपान्तरित हो गया था। इस विकास-क्रम को समझने के लिये हमें बहुत पीछे जाने की जरूरत नहीं है। यद्यपि पूंजीवादी उत्पादन की शुरूआत के कुछ स्वतःस्फूर्त प्रारम्भिक चिन्ह हमें इक्के-दुक्के ढंग से भूमध्य-सागर के कुछ नगरों में १४ वीं या १५ वीं शताब्दी में भी मिलते हैं, तथापि पूंजीवादी युग का श्रीगणेश १६ वीं शताब्दी से ही हुआ है। पूंजीवाद केवल उन्हीं स्थानों में प्रकट होता है, जहां कृषिदास-प्रथा बहुत दिन पहले समाप्त कर दी गयी है और जहां

**मध्ययुगीन विकास की सर्वोच्च देन, प्रभुसत्ता-सम्पन्न नगर काफ़ी समय से पतनोन्मुख अवस्था में हैं।**

**आदिम संचय के इतिहास में, ऐसी तमाम क्रान्तियां युगान्तरकारी होती हैं, जो विकासमान पूंजीपति-वर्ग के लिये लीवर का काम करती हैं। सब से अधिक यह बात उन क्षणों के लिये सच है, जब बड़ी संख्या में मनुष्यों को यकायक और जबर्दस्ती उनके जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग कर दिया जाता है और स्वतंत्र एवं "अनाश्रित" सर्वहारा के रूप में श्रम की मण्डी में फेंक दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया का आधार है खेतिहर उत्पादक—किसान —की जमीन का उससे छीन लिया जाना। इस भूमि-अपहरण का इतिहास अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप धारण करता है और हर जगह एक भिन्न क्रम में तथा भिन्न कालों में अपनी अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। उसका प्रतिनिधि रूप केवल इंगलैण्ड में देखने को मिलता है, जिसको हम यहां मिसाल की तरह पाठकों के सामने पेश करेंगे।[1]**

---

[1] इटली में, जहां पूंजीवादी उत्पादन सबसे पहले शुरू हुआ था, कृषि-दास-प्रथा भी अन्य स्थानों की अपेक्षा पहले छिन्न-भिन्न हो गयी थी। भूमि पर कोई रूढ़िगत अधिकार प्राप्त करने के पहले ही वहां का कृषि-दास मुक्त कर दिया गया था। वह मुक्त हुआ, तो तुरन्त ही स्वतंत्र सर्वहारा में बदल गया और वह भी एक ऐसे सर्वहारा में, जिसका मालिक उन शहरों में बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो प्राय: रोमन काल से विरासत में मिले थे। जब १५ वीं शताब्दी के समाप्त होने के लगभग दुनिया की मण्डी में क्रान्ति आयी और उसने वाणिज्य के क्षेत्र में उत्तरी इटली की श्रेष्ठता का अन्त कर दिया, तो एक उल्टा विकास-क्रम आरम्भ हुआ। तब शहरों के मज़दूरों को बड़ी संख्या में गांवों में खदेड़ दिया गया, और उससे बाग़बानी के ढंग की छोटे पैमाने की खेती को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला।

## सत्ताईसवां अध्याय

# खेतिहर आबादी की ज़मीनों का अपहरण

इंगलैण्ड में १४ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कृषि-दास-प्रथा का वस्तुतः अन्त हो गया था। उस समय – और १५ वीं शताब्दी में तो और भी अधिक परिमाण में – आबादी की प्रबल बहुसंख्या[1] अपनी भूमि के मालिक स्वतंत्र किसानों की थी, भले ही उनका स्वामित्व कैसे भी सामन्ती अधिकार के पीछे छिपा रहा हो। ज्यादा बड़ी जागीरों पर पुराने bailiff (कारिन्दे) का, जो खुद भी किसी समय कृषि-दास था, स्वतंत्र कृषक ने स्थान ले लिया था। मजदूरी लेकर खेती में काम करने वाले मजदूरों का एक भाग किसानों का था, जो अवकाश के समय का उपयोग करने के लिये बड़ी जागीरों पर काम करने चले आते थे, और दूसरा भाग वेतन-भोगी मजदूरों के एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट वर्ग का था, जिनकी संख्या सापेक्ष एवं निरपेक्ष दृष्टि से बहुत कम थी। इन मजदूरों को एक तरह से किसान भी कहा जा सकता था, क्योंकि मजदूरी के अलावा उनको अपने घरों के साथ-साथ ४ एकड़ या उससे ज्यादा खेती के लायक़ ज़मीन भी मिल जाती थी। इसके अतिरिक्त, अन्य किसानों के साथ-साथ इन लोगों को भी गांव की सामूहिक भूमि के उपयोग का अधिकार मिला हुआ था, जिसपर उनके ढोर चरते थे और जिससे उनको इमारती लकड़ी, जलाने के लिये लकड़ी, पीट आदि मिल

[1] "उस समय ... ख़ुद अपने हाथों अपने खेतों को जोतने-बोने वाले और कम सामर्थ्य वाले छोटे मालिक किसान ... आजकल की अपेक्षा राष्ट्र के अधिक महत्वपूर्ण भाग थे। यदि उस युग के आंकड़ों का विवेचन करने वाले सबसे अच्छे लेखकों पर विश्वास किया जाये, तो हम यह पाते हैं कि उन दिनों कम से कम १,६०,००० मालिक छोटी-छोटी निःशुल्क ज़मींदारियों (freehold estates) के सहारे जीवन-निर्वाह करते थे। अपने परिवारों के साथ ये लोग उस ज़माने की कुल आबादी के सातवें हिस्से से ज्यादा रहे होंगे। इन छोटे ज़मींदारों की औसत आय ... लगभग ६० पौण्ड और ७० पौण्ड वार्षिक के बीच होती थी। हिसाब लगाया गया था कि ख़ुद अपनी ज़मीन जोतने वाले व्यक्तियों की संख्या उन लोगों से अधिक थी, जो दूसरों की ज़मीन जोतते थे।" (Macaulay, "*History of England*" (मकोले, 'इंगलैण्ड का इतिहास'), १० वां संस्करण, London, 1854, खण्ड १, पृ० ३३३, ३३४।) १७ वीं शताब्दी की आख़िरी तिहाई में भी इंगलैण्ड के रहने वालों में पांच में से चार आदमी खेती का धंधा करते थे। (उप० पु०, पृ० ४१३।) – मैंने मकोले को इसलिये उद्धृत किया है कि इतिहास को सुनियोजित ढंग से तोड़-मरोड़कर पेश करने वाले लेखक के रूप में वह इस प्रकार के तथ्यों पर सदा कम से कम ज़ोर देते हैं।

जाती थी।[1] योरप के सभी देशों में सामन्ती उत्पादन का विशेष लक्षण यह है कि ज़मीन सामन्तों के अधीन किसानों की बड़ी से बड़ी संख्या में बंटी रहती है। राजा की भांति, सामन्ती प्रभु की शक्ति भी उसकी जमाबन्दी की लम्बाई पर नहीं, बल्कि उसके प्रजाजनों की संख्या पर निर्भर करती थी; और उसकी प्रजा की संख्या भूमिपति किसानों की संख्या पर निर्भर करती थी।[2] इसलिये, यद्यपि इंगलैण्ड की ज़मीन नौर्मन विजय के बाद बड़ी-बड़ी जागीरों (baronies) में बंट गयी थी, जिनमें से एक-एक में अक्सर नौ-नौ सौ पुरानी ऐंग्लो-सेक्सन ज़मींदारियां शामिल थीं, फिर भी सारे देश में किसानों की छोटी-छोटी भू-सम्पत्तियां बिखरी हुई थीं और बड़ी-बड़ी जागीरें (seignorial domains) केवल उनके बीच-बीच में जहां-तहां पायी जाती थीं। इन्हीं परिस्थितियों का और १५ वीं शताब्दी में ख़ास तौर पर शहरों में जो समृद्धि पायी जाती थी, उसका यह फल था कि आम लोगों का धन ख़ूब बढ़ गया था, जिसका चांसलर फ़ोर्टेस्क्यू ने अपनी रचना *"Laudes legum Angliae"* में बहुत ज़ोरदार वर्णन किया है। लेकिन इन परिस्थितियों के कारण पूंजीवादी धन का बढ़ना असम्भव था।

जिस क्रान्ति ने उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की नींव डाली, उसकी प्रस्तावना १५ वीं शताब्दी की आख़िरी तिहाई में और १६ वीं शताब्दी के पहले दशकों में लिखी गयी थी। इस काल में सामन्तों के भृत्यों और अनुगामियों के दल, जिनसे, सर जेम्स स्टीवर्ट के न्यायोचित शब्दों में, "हर घर और क़िला व्यर्थ में भरा रहता था", भंग कर दिये गये, और इसके फलस्वरूप स्वतंत्र सर्वहारा मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या श्रम की मण्डी में झोंक दी गयी। यद्यपि यह सच है कि राज-शक्ति ने, जो ख़ुद भी पूंजीवादी विकास की उपज थी, अपनी अबाध प्रभुसत्ता क़ायम करने के लिये संघर्ष करते हुए भृत्यों और अनुगामियों के इन दलों को बलपूर्वक जल्दी-जल्दी भंग करा दिया था, तथापि इनके भंग हो जाने का यही एक कारण नहीं था। इससे कहीं अधिक बड़ा सर्वहारा वर्ग बड़े-बड़े सामन्तों ने, राजा और संसद के

---

[1] हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि कृषि-दास केवल अपने घर के साथ जुड़े हुए ज़मीन के टुकड़े का ही मालिक नहीं होता था, – हालांकि उसे इस ज़मीन के लिये अपने सामन्त को ख़िराज देना पड़ता था, – बल्कि अन्य लोगों के साथ-साथ उसका भी गांव की सामूहिक भूमि पर अधिकार माना जाता था। मिराबो ने लिखा है कि (फ़्रेडेरिक द्वितीय के राज्यकाल में साइलीसिया में) "le paysan est sert" ("किसान कृषि-दास होता है")। परन्तु इन कृषि-दासों का सामूहिक भूमि पर अधिकार होता था। "On n'a pas pu encore engager les Silésiens au partage des communes, tandis que dans la Nouvelle Marche, il n'y a guère de village où ce partage ne soit exécuté avec le plus grand succès" ["साइलीसिया के लोगों को अभी तक सामूहिक भूमि को बांट लेने के लिये राज़ी नहीं किया जा सका है, हालांकि नैमार्क में मुश्किल से ही कोई ऐसा गांव होगा, जहां इस तरह का बंटवारा अत्यधिक सफलता के साथ नहीं कर दिया गया है"]। (Mirabeau, *"De la Monarchie Prussienne"*, Londres, 1788, ग्रंथ २, पृ० १२५, १२६।)

[2] इतिहास की हमारी सभी पुस्तकें प्रायः पूंजीवादी पूर्वग्रहों के साथ लिखी गयी हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा तो यूरोपीय मध्य युग का कहीं अधिक सच्चा चित्र हमें जापान में देखने को मिलता है, जहां भू-सम्पत्ति का विशुद्ध सामन्ती ढंग का संगठन और छोटे पैमाने की विकसित खेती पायी जाती हैं। मध्य युग को कोसकर "उदारपंथी" कहलाने में बहुत सुविधा रहती है।

विरुद्ध धृष्टतापूर्वक संघर्ष करते हुए, किसानों को जबर्दस्ती उन जमीनों से खदेड़कर, जिनपर उनका भी खुद सामन्तों के समान ही सामन्ती अधिकार था, और सामूहिक भूमि को छीनकर पैदा कर दिया। फ़्लैण्डर्स में ऊन के उद्योग का तेज विकास होने और उसके साथ-साथ इंगलैण्ड में ऊन का भाव बढ़ जाने से इन बेदख़लियों को प्रत्यक्ष रूप में बढ़ावा मिला। पुराना अभिजात वर्ग बड़े-बड़े सामन्ती युद्धों में मर-खप गया था। नया अभिजात वर्ग अपने युग की सन्तान था, जिसके लिये पैसा ही सबसे बड़ी ताक़त था। इसलिये उसका नारा था कि खेती की जमीनों को भेड़ों के बाड़ों में बदल डालो! हैरिसन ने अपनी रचना "*Description of England, prefixed to Holinshed's Chronicles*" ('हौलिनशेड के वृत्तांत के शुरू में जुड़ा हुआ इंगलैण्ड का वर्णन') में बताया है कि छोटे किसानों की जमीनों के छिन जाने के फलस्वरूप किस प्रकार देश चौपट हुआ जा रहा है। पर "what care our great encroachers?" ("जमीन छीनने वाले बड़े लोगों को इसकी क्या चिन्ता है?") किसानों के घर और मजदूरों के झोंपड़े गिरा दिये गये हैं या सड़-गलकर गिर जाने के लिये छोड़ दिये गये है। हैरिसन ने लिखा है: "यदि हर जागीर के काग़ज देखे जायें, तो शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि कुछ जागीरों पर सत्रह, अठारह या बीस घर तक नष्ट हो गये हैं ... और इंगलैण्ड में आजकल जितनी कम आबादी है, उतनी कम पहले कभी न थी ... मैं ऐसे अनेक शहरों और क़स्बों का वर्णन कर सकता हूं,.. जो या तो बिल्कुल तबाह हो गये हैं और या जिनका चौथाई या आधा भाग बरबाद हो गया है, हालांकि यह भी मुमकिन है कि जहां तहां एकाध शहर पहले से थोड़ा बढ़ गया हो; और मैं ऐसे क़स्बों के बारे में कुछ बता सकता हूं, जिनको गिराकर भेड़ों के बाड़े बना दिये गये हैं और जिनकी जगहों पर अब केवल सामन्ती प्रभुओं के महल खड़े हैं।" इन पुराने इतिहासकारों की शिकायतों में कुछ अतिशयोक्ति हमेशा रहती है, परन्तु उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उस जमाने में उत्पादन की परिस्थितियों में जो क्रान्ति आयी थी, उसका उस जमाने के लोगों के दिमाग़ों पर क्या असर पड़ा था। चांसलर फ़ोर्तेस्क्यू और टोमस मोर की रचनाओं की तुलना कीजिये; यह स्पष्ट हो जायेगा कि १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों के बीच कितनी बड़ी खाई है। जैसा कि थोर्नटन ने ठीक ही कहा है, अंग्रेज मजदूर-वर्ग को किसी संक्रमण-काल से नहीं गुजरना पड़ा, बल्कि उसको तो यकायक स्वर्ण-युग से उठाकर सीधे लौह-युग में पटक दिया गया।

क़ानून बनाने वाले इस क्रान्ति को देखकर भयभीत हो उठे। अभी तक वे सभ्यता के उस शिखर पर नहीं पहुंचे थे, जहां "wealth of the nation" ("राष्ट्र के धन") को बढ़ाना (अर्थात् पूंजी का निर्माण तथा जन-साधारण का निर्मम शोषण करना और उसकी ग़रीबी को लगातार बढ़ाते जाना) हर प्रकार की राजनीति की ultima Thule (पराकाष्ठा) समझा जाता है। हेनरी सातवें की जीवनी में बेकन ने लिखा है: "उस समय (१४८९ में) सामूहिक जमीन को घेरकर अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेने का चलन बहुत बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप खेती की जमीन (जिसे लोगों और उनके बाल-बच्चों के अभाव में जोतना-बोना सम्भव नहीं था) चरागाह में बदल दी गयी, जिसपर चन्द गड़रिये बड़ी आसानी से ढोरों के रेवड़ की देखभाल कर सकते थे; और जिन जमीनों पर किसानों को एक निश्चित अवधि के लिये, जीवन भर के लिये या अस्थायी अधिकार मिला हुआ था (और अधिकतर "yeomen" [स्वतन्त्र कृषक] इसी प्रकार की जमीनों पर रहते थे), वे सामन्तों की सीर बन गयीं। इससे लोगों का पतन होने लगा और (उसके फलस्वरूप)

शहरों, धर्म-संगठनों, दशांश-व्यवस्था आदि का पतन होने लगा . . . इस बुराई को दूर करने में राजा ने और उस काल की संसद ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया . . . उन्होंने आबादी को उजाड़ने वाली इस अहाताबन्दी (depopulating inclosures) को और आबादी को उजाड़ने वाली इन चरागाहों की प्रथा (depopulating pasturage) को बन्द कर देने के लिये क़दम उठाया।" हेनरी सातवें के राज्य-काल के १४८९ के एक क़ानून (अध्याय १९) के द्वारा "ऐसे तमाम काश्तकारों के मकानों" को गिराने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, जो कम से कम २० एकड़ ज़मीन के मालिक थे। हेनरी आठवें के राज्य-काल का २५ वां क़ानून बनाकर यह प्रतिबंध फिर से लगा दिया गया। इस क़ानून में अन्य बातों के अलावा यह भी कहा गया है कि बहुत से फ़ार्म और ढोरों के – विशेषकर भेड़ों के – बड़े-बड़े रेवड़ चन्द आदमियों के हाथों में संकेन्द्रित हो गये हैं, जिसके फलस्वरूप ज़मीन का लगान बहुत बढ़ गया है और खेती के रक़बे (tillage) में कमी आ गयी है, बहुत से गिरजाघर और मकान गिरा दिये गये हैं और अतिविशाल संख्या में लोगों से ऐसे तमाम साधन छीन लिये गये हैं, जिनसे वे अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पाल सकते थे। चुनांचे इस क़ानून के ज़रिये आदेश दिया गया कि जीर्ण फ़ार्मों को फिर से तैयार किया जाये, और अनाज की खेती की ज़मीन तथा चरागाह की ज़मीन का अनुपात निश्चित कर दिया गया, इत्यादि-इत्यादि। १५३३ के एक क़ानून में कहा गया है कि कुछ मालिकों के पास २४,००० भेड़ें हैं, और उसके ज़रिये यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि कोई व्यक्ति २,००० से अधिक भेड़ें नहीं रख सकता।[1] छोटे काश्तकारों और किसानों के सम्पत्ति-अपहरण के विरुद्ध लोगों ने बहुत शोर मचाया और हेनरी सातवें के बाद डेढ़ सौ वर्ष तक इस सम्पत्ति-अपहरण को रोकने के लिये अनेक क़ानून भी बनाये गये। लेकिन दोनों ही चीज़ें व्यर्थ सिद्ध हुईं। लोगों की शिकायतों और इन क़ानूनों के निकम्मेपन का क्या रहस्य था, यह बेकन ने हमें अनजाने में बता दिया है। उसने अपनी "*Essays, Civil and Moral*" ('नागरिक और नैतिक निबंधावली') के २९ वें निबंध में लिखा है कि "हेनरी सातवें ने एक बहुत ही गूढ़ और प्रशंसनीय उपाय खोज निकाला था। वह यह कि काश्तकारों के फ़ार्मों और घरों को एक निश्चित अनुमाप के अनुसार बनाया जाये, अर्थात् उनको इस अनुपात में ज़मीन दी जाये, जिससे प्रजाजन दासत्व की स्थिति में न रहें, बल्कि सुविधाजनक समृद्धि में जीवन व्यतीत करें, और जिससे हल महज़ भाड़े के मज़दूरों के हाथों में न रहकर मालिकों के हाथ में रहें" ("to keep the plough in the hands of the owners and not mere hirelings")।[2] पूंजीवादी-व्यवस्था के लिये, दूसरी

[1] टोमस मोर ने अपनी पुस्तक "*Utopia*" ('कल्पना-लोक') में कहा है कि इंगलैण्ड में "तुम्हारी वे भेड़ें, जो कभी इतनी नम्र और विनीत और इतनी मिताहारी हुआ करती थीं, अब मैं सुनता हूं कि ऐसी सर्वभक्षी और इतनी जंगली हो गयी हैं कि ख़ुद मनुष्यों को ही चबाकर निगल जाती हैं।" ("*Utopia*" ['कल्पना-लोक'], Robinson का अनुवाद, Arber का संस्करण, London, 1869, पृ० ४१।)

[2] बेकन ने इस ओर भी संकेत किया है कि स्वतंत्र और खाते-पीते किसानों तथा अच्छी पैदल सेना के बीच क्या सम्बंध होता है। "राज्य की शक्ति और आचरण से इस बात का घनिष्ठ सम्बंध था कि फ़ार्मों को ऐसे आकार का रखा जाये, जो समर्थ मनुष्य को अभाव से बचाकर जीवित रखने के लिये पर्याप्त हो; और इससे राज्य की ज़मीन का एक बड़ा भाग सचमुच

और, यह आवश्यक था कि जन-साधारण पतन और लगभग दासत्व की स्थिति में हों, उनको भाड़े के टट्टुओं में परिणत कर दिया जाये और उनके श्रम के साधनों को पूंजी में बदल दिया जाये। परिवर्तन के इस काल में क़ानून बनाकर इस बात की भी कोशिश की गयी कि खेतिहर वेतन-भोगी मजदूर के झोंपड़े के साथ ४ एकड़ जमीन का टुकड़ा जुड़ा रहे, और उसे अपने झोंपड़े में किरायेदार रखने की मनाही कर दी गयी। जेम्स पहले के राज्य-काल में फ़स्ट-मिल के रोजर कोकर को १६२७ में इस बात के लिये सजा दी गयी कि उसने फ़स्ट-मिल की अपनी जमींदारी में एक झोंपड़ा बना लिया था, हालांकि उसके साथ ४ एकड़ जमीन का कोई टुकड़ा स्थायी रूप से नहीं जुड़ा हुआ था। इसके बाद, चार्ल्स पहले के राज्य-काल के समय, १६३८ में पुराने क़ानूनों को – खास कर ४ एकड़ जमीन वाले क़ानून को – अमल में लाने के लिये एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। यहां तक कि क्रोमवेल के समय में भी लन्दन के ४ मील के घेरे में उस समय तक कोई मकान नहीं बनाया जा सकता था, जब तक कि उसके साथ ४ एकड़ जमीन न हो। इतना ही नहीं, १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी यदि किसी खेतिहर मजदूर के झोंपड़े के साथ दो-एक एकड़ जमीन का कोई टुकड़ा नहीं जुड़ा होता था, तो शिकायत कर दी जाती थी। आजकल यदि उसे अपने झोंपड़े के साथ एक छोटा सा बगीचा लगाने के लिये जरा सी जमीन मिल जाती है या वह अपने झोंपड़े से काफ़ी दूर दो-एक रूड जमीन लगान पर ले सकता है, तो वह अपने को बहुत सौभाग्यशाली समझता है। डा० हण्टर ने लिखा है: "इस मामले में जमींदारों और काश्तकारों की मिली भगत रहती है। झोंपड़े के साथ यदि दो-एक एकड़ जमीन भी हो, तो मजदूर अत्यधिक स्वतंत्र हो जायें।"[2]

---

काश्तकारों या मध्य वर्ग के ऐसे लोगों (yeomanry) की काश्त और क़ब्जे में आ गया है, जिनकी हैसियत भद्र पुरुषों और झोंपड़ों में रहने वालों (cottagers) तथा किसानों के बीच की है... कारण कि युद्ध सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ जानकारी रखने वाले लोगों का सामान्य मत यह है कि युद्धों में... किसी भी सेना की मुख्य शक्ति पैदल सैनिकों की होती है। और अच्छी पैदल सेना भर्ती करने के लिये जरूरी होता है कि लोगों का लालन-पालन दासत्व अथवा अभाव की अवस्था में न होकर स्वतंत्रता एवं समृद्धि में हुआ हो। इसलिये, यदि किसी राज्य में केवल सामन्तों और भद्र पुरुषों का ही ख़याल रखा जाता है और काश्तकार तथा हल चलाने वाले महज उनके टहलुए और मजदूरों की तरह होते हैं या उनकी हैसियत केवल झोंपड़ों में रहने वालों की होती है (जो आश्रय-प्राप्त भिखारियों से अधिक कुछ नहीं होते), तो उस राज्य में घुड़सवार सेना तो अच्छी बन सकती है, लेकिन अच्छे और टिकाऊ पैदल दस्ते कभी नहीं भर्ती किये जा सकते... और फ़्रांस और इटली में तथा अन्य कई विदेशी इलाक़ों में यही स्थिति है। वहां असल में या तो अभिजात वर्ग के लोग हैं और या किसान हैं... यहां तक कि इन देशों को अपनी पैदल पलटनों के लिये स्विटजरलैण्डवासियों में से या किसी और देश के रहने वालों में से भाड़े के सिपाही भर्ती करने पड़ते हैं; और उसका यह नतीजा भी होता है कि इन देशों में रहने वालों की संख्या तो बहुत बड़ी होती है, पर वहां सिपाही बहुत कम होते हैं।" (*"The Reign of Henry VII*, etc." Verbatim reprint from Kennet's England ['हेनरी सातवें का राज्य-काल, इत्यादि'। केनेट के 'इंगलैण्ड' से शब्दशः पुनर्मुद्रित], १७१६ वाला संस्करण, London, 1870, पृ० ३०८।)

[2] डा० हण्टर, उप० पु०, पृ० १३४। – "(पुराने क़ानूनों के अनुसार) जितनी जमीन होनी चाहिये थी, वह अब मजदूरों के लिये बहुत अधिक समझी जाती है, और लोगों का विचार है

लोगों की सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण कर लेने की क्रिया को १६ वीं शताब्दी में रोमन चर्च के सुधार से और उसके फलस्वरूप चर्च की सम्पत्ति की लूट से एक नया और ज़बर्दस्त बढ़ावा मिला। चर्च-सुधार के समय कैथोलिक चर्च इंगलैण्ड की भूमि के एक बहुत बड़े हिस्से का सामन्ती स्वामी था। जब मठों आदि पर ताले डाल दिये गये, तो उनमें रहने वाले लोग सर्वहारा की पांतों में भर्ती हो गये। चर्च की जागीरें अधिकतर राजा के लुटेरे कृपा-पात्रों को दे दी गयीं या नाम मात्र के दाम पर सट्टेबाज़ों, काश्तकारों और नागरिकों के हाथ बेच दी गयीं, जिन्होंने सारे के सारे पुश्तैनी शिकमीदारों को ज़मीन से खदेड़ दिया और उनकी जोतों को मिलाकर एक कर लिया। क़ानून ने अधिक ग़रीब लोगों को चर्च के दशांश में से एक भाग पाने का अधिकार दे रखा था; अब वह अधिकार भी छीन लिया गया।[1] रानी एलिज़ाबेथ इंगलैण्ड की यात्रा करने के बाद चिल्ला पड़ी थी कि "pauper ibique jacet" ("यहां तो सब कंगाल ही कंगाल हैं")। उसके राज्य-काल के ४३ वें वर्ष में राष्ट्र को ग़रीबों की आर्थिक सहायता करने के लिये कर लगाकर सरकारी तौर पर यह मान लेना पड़ा कि देश में मुहताजी फैली हुई है। "मालूम होता है कि इस क़ानून के रचयिताओं को यह बताने में संकोच होता था कि इस प्रकार का क़ानून बनाने की आवश्यकता क्यों हुई, क्योंकि (परम्परागत प्रथा के विपरीत) इस क़ानून में किसी भी प्रकार की preamble (प्रस्तावना) नहीं है।"[2] चार्ल्स प्रथम के राज्य-काल में बनाये गये १६ वें क़ानून के चौथे अध्याय के द्वारा ग़रीबों की आर्थिक सहायता के इस क़ानून को एक चिरस्थायी क़ानून घोषित कर दिया गया, और असल में तो कहीं १८३४ में आकर ही इस क़ानून ने एक नया और अधिक कड़ा रूप धारण किया।[3] चर्च-सुधार के ये तात्कालिक परिणाम उसके

कि इतनी अधिक ज़मीन तो मज़दूरों को छोटे काश्तकारों में बदल देगी।" (George Roberts, "*The Social History of the People of the Southern Counties of England in Past Centuries*" [जार्ज रौबर्ट्स, 'इंगलैण्ड की दक्षिणी काउण्टियों के निवासियों का पिछली कई शताब्दियों का सामाजिक इतिहास'], London, 1856, पृ० १८४-१८५।)

[1] "दशांश पर ग़रीबों का अधिकार प्राचीन काल के क़ानूनों के अनुसार स्थापित है।" (Tuckett, उप० पु०, खण्ड २, पृ० ८०४–८०५।)

[2] William Cobbett, "*A History of the Protestant Reformation*" (विलियम कौबेट, 'प्रोटेस्टेंट चर्च-सुधार का इतिहास'), पैराग्राफ़ ४७१।

[3] अन्य बातों के अलावा, निम्नलिखित उदाहरण से भी प्रोटेस्टेण्ट मत की "भावना" स्पष्ट हो जाती है। दक्षिणी इंगलैण्ड के कुछ भू-स्वामियों और खाते-पीते काश्तकारों ने आपस में मन्त्रणा करके एलिज़ाबेथ के काल में बनाये गये ग़रीबों की आर्थिक सहायता के क़ानून की सही व्याख्या के विषय में दस प्रश्न तैयार किये। और इन प्रश्नों को उन्होंने उस काल के एक विख्यात क़ानून-दां, सार्जेण्ट स्निग (जो बाद को, जेम्स प्रथम के काल में, जज नियुक्त हुए) के सामने पेश किया और उनकी राय मांगी। "प्रश्न ६ यह था कि इस इलाक़े के कुछ अपेक्षाकृत अधिक धनी काश्तकारों ने एक धूर्ततापूर्ण उपाय निकाला है, जिससे इस क़ानून को (एलिज़ाबेथ के राज्य-काल के ४३ वें वर्ष में बनाये गये क़ानून को) अमल में लाने के सारे झंझट से बचा जा सकता है। उनका सुझाव है कि इस इलाक़े में एक जेलख़ाना बनाया जाये और फिर आस-पड़ोस के लोगों से यह कह दिया जाये कि यदि कुछ लोग इस इलाक़े के ग़रीबों के जीवन-निर्वाह का ठेका लेना चाहते हैं, तो वे किसी निश्चित दिन अपने मुहरबंद सुझाव दाख़िल कर दें कि वे कम से कम कितने पैसों में इन ग़रीबों की परवरिश की ज़िम्मेदारी हमारे कंधों से ले सकते

अधिक स्थायी परिणाम नहीं थे। चर्च की सम्पत्ति भू-सम्पत्ति की परम्परागत व्यवस्था का धार्मिक आधार बनी हुई थी। उसके पतन के साथ ही इस व्यवस्था का क़ायम रहना भी असम्भव हो गया।[1]

हूँ। साथ ही यह बात भी साफ़ कर दी जानी चाहिये कि जब तक कोई ग़रीब आदमी उपर्युक्त जेलख़ाने में बन्द कर दिये जाने के लिये तैयार नहीं होगा, तब तक उन्हें यह अधिकार रहेगा कि उसे किसी भी तरह की आर्थिक सहायता न दें। इस योजना के प्रस्तावकों का विचार है कि आस-पास की काउण्टियों में ऐसे अनेक आदमी मिलेंगे, जो श्रम करने को तैयार नहीं हैं और जिनके पास इतने साधन या इतनी साख भी नहीं है कि श्रम किये बिना रहने के उद्देश्य से ("so as to live without labour") कोई फ़ार्म या जहाज़ ले सकें, और इसलिये जो, सम्भव है कि इस सम्बंध में इलाक़े के सामने कोई बहुत लाभदायक सुझाव रखने को तैयार हों। यदि ग़रीबों में से कोई आदमी ठेकेदार की देखरेख में मर जाता है, तो इसका पाप ठेकेदार के सिर पर पड़ेगा, क्योंकि इलाक़ा तो उसे ठेकेदार को सौंपकर अपना कर्तव्य पूरा कर चुका होगा। लेकिन हमें डर है कि मौजूदा क़ानून (एलिज़ाबेथ के राज्य-काल के ४३ वें वर्ष में बनाया गया क़ानून) इस तरह का विवेकसंगत क़दम (prudential measure) उठाने की इजाज़त नहीं देगा। मगर आपको मालूम होना चाहिये कि इस काउण्टी के और पड़ोस की 'ख' नामक के काउण्टी बाक़ी freeholders (माफ़ीदार) अपने भाईबन्दों को एक ऐसे क़ानून का प्रस्ताव करने की सलाह देने के लिये बड़ी आसानी से तैयार हो जायेंगे, जिसमें किसी व्यक्ति को ग़रीबों को ताले में बन्द करके उनसे काम लेने का ठेका देने की व्यवस्था हो और जिसके ज़रिये यह घोषणा कर दी जाये कि जो व्यक्ति इस तरह ताले में बन्द होकर काम करने से इनकार करेगा, वह किसी भी प्रकार की सहायता पाने का अधिकारी नहीं होगा। आशा की जाती है कि इस प्रकार का क़ानून ग़रीब लोगों को सार्वजनिक सहायता मांगने से रोकेगा ("will prevent persons in distress from wanting relief") और इस तरह बस्तियों का सार्वजनिक ख़र्च कम हो जायेगा।" (R. Blakey, "*The History of Political Literature from the Earliest Times*" [आर० ब्लेकी, 'प्राचीनतम काल से अब तक के राजनीतिक साहित्य का इतिहास'], London, 1855. खण्ड २, पृ० ८४–८५।) – स्कोटलैण्ड में कृषि-दास-प्रथा का अन्त इंगलैण्ड की अपेक्षा कुछ शताब्दी बाद हुआ था। यहां तक कि १६९८ में भी साल्तून-निवासी फ़्लेचर ने स्काट संसद में यह कहा था कि "स्कोटलैण्ड में भिखारियों की संख्या २,००,००० से कम नहीं समझी जाती। मैं सिद्धान्ततः प्रजातंत्रवादी हूं और फिर भी मैं इसकी एक यही दवा सुझा सकता हूं कि कृषि-दास-प्रथा को फिर से चालू कर दिया जाये और जो लोग ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह का कोई प्रबंध नहीं कर सकते, उन सब को दास बना दिया जाये।" ईडेन ने अपनी उपर्युक्त रचना ("*The State of the Poor*") के प्रथम खण्ड, अध्याय १ के पृ० ६०–६१ पर लिखा है: "कृषि-दास-प्रथा के चलन में कमी आने का युग ही वह युग था, जब मुहताजों का जन्म हुआ था। कल-कारख़ाने और वाणिज्य हमारे राष्ट्र के मुहताजों के दो जनक हैं।" हमारे उस सिद्धान्ततः प्रजातंत्रवादी स्काट की तरह ईडेन ने भी केवल यही एक ग़लती की है कि वह यह नहीं समझ पाये हैं कि खेतिहर मज़दूर यदि सर्वहारा और अन्त में मुहताज बन गया, तो इसका कारण यह नहीं था कि कृषि-दास-प्रथा का अन्त कर दिया गया था, बल्कि इसका कारण यह था कि धरती पर खेतिहर मज़दूर का कोई स्वामित्व नहीं रह गया था। – फ़्रांस में यह सम्पत्ति-अपहरण एक और ढंग से सम्पन्न हुआ। इंगलैण्ड में जो काम ग़रीबों की सहायता के क़ानूनों ने किया था, वहां वही काम मूलां के आर्डिनेंस (१५७१) ने और १६५६ के फ़रमान ने किया।

[1] यद्यपि प्रोफ़ेसर रौजर्स पहले प्रोटेस्टेंट कट्टरता के गढ़ – ओक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय – में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे, तथापि उन्होंने "*History of Agriculture*" ('खेती का इतिहास') की भूमिका में इस तथ्य पर ज़ोर दिया है कि चर्च-सुधार के फलस्वरूप साधारण लोग मुहताज बन गये हैं।

१७ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भी yeomanry–स्वतंत्र किसानों का वर्ग – काश्तकारों के वर्ग से संख्या में अधिक था। क्रोमवेल की शक्ति का मुख्य आधार ये ही लोग थे, और यहां तक कि मकोले भी यह बात मानता है कि शराब के नशे में चूर जमींदारों और उनकी नौकरी करने वाले, उन देहाती पादरियों की तुलना में, जिन्हें अपने मालिकों की छोड़ी हुई रखैलों के विवाह की व्यवस्था करनी पड़ती थी, ये स्वतंत्र किसान कहीं अधिक योग्य सिद्ध होते थे। १७५० के लगभग स्वतंत्र किसानों के इस वर्ग (yeomanry) का लोप हो गया था,[1] और उसके साथ-साथ १८ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में खेतिहर मजदूरों की सामूहिक भूमि का भी आखिरी निशान तक ग़ायब हो गया था। यहां हम खेती में होनेवाली क्रान्ति के विशुद्ध आर्थिक कारणों पर विचार नहीं कर रहे हैं। यहां तो हम केवल जोर-जबर्दस्ती के तरीक़ों की चर्चा कर रहे हैं।

स्टुअर्ट राजवंश के पुनः सत्तारूढ़ हो जाने के बाद भू-स्वामियों ने क़ानूनी उपायों से एक ऐसा सत्ता-अपहरण किया, जो महाद्वीपीय योरप में हर जगह बिना किसी क़ानूनी औपचारिकता के सम्पन्न हुआ था। उन्होंने भूमि की सामन्ती व्यवस्था का अन्त कर दिया, अर्थात् उन्होंने भूमि को राज्य के प्रति तमाम जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया; राज्य की "क्षति-पूर्ति" इस तरह की गयी कि किसानों पर और बाक़ी जनता पर कर लगा दिये गये; जिन जागीरों पर उनको पहले केवल सामन्ती अधिकार प्राप्त था, उनपर उनको आधुनिक ढंग के निजी स्वामित्व का अधिकार मिल गया; और, अन्त में, उन्होंने बन्दोबस्त के ऐसे क़ानून ("laws of settlement") बना दिये, जिनका mutatis mutandis (कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ) अंग्रेज खेतिहर मजदूरों पर वही प्रभाव हुआ, जो रूसी किसानों पर तातार बोरिस गोदुनोव के फ़रमान का हुआ था।

"Glorious Revolution" ("गौरवशाली क्रान्ति") के परिणामस्वरूप सत्ता ऑरेंज के विलियम के साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य हड़पने वाले जमींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में चली गयी।[2] उन्होंने सरकारी जमीनों की बहुत ही बड़े पैमाने पर लूट मचाकर नये युग का समारम्भ

---

[1] देखिये *"A Letter to Sir T. C. Bunbury, Bart., on the High Price of Provisions. By a Suffolk Gentleman"* ('खाद्य-वस्तुओं के ऊंचे दामों के बारे में सर टी० सी० बनबरी, बैरोनेट, के नाम एक पत्र – सफ़ोक के एक भद्र पुरुष द्वारा लिखित'), Ipswich, 1795, पृ० ४। यहां तक कि बड़े फ़ार्मों की प्रणाली के कट्टर समर्थक, *"Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions"* ('खाद्य-वस्तुओं के वर्तमान दामों और खेतों के आकार के सम्बन्ध की जांच, इत्यादि') (London, 1773) के लेखक ने भी (पृ० १३९ पर) यह लिखा है कि "स्वतंत्र किसानों के उस वर्ग (yeomanry) के नष्ट हो जाने पर मुझे अत्यधिक दुःख है, जिसने ही वस्तुतः में इस राष्ट्र की स्वाधीनता को सुरक्षित रखा था, और मुझे यह देखकर बड़ा अफ़सोस होता है कि उन लोगों की जमीनें अब एकाधिकारी प्रभुओं के हाथों में चली गयी हैं, जो उनको छोटे काश्तकारों को लगान पर उठा देते हैं; और इन काश्तकारों के पट्टों के साथ ऐसी-ऐसी शर्तें लगी रहती हैं, जिनके फलस्वरूप उनकी दशा लगभग उन ग़ुलामों के समान हो जाती है, जिन्हें मामूली सी गड़बड़ के लिये जवाब देना पड़ता है।"

[2] इस पूंजीवादी नायक के निजी नैतिक चरित्र के विषय में, अन्य बातों के अलावा, यह अंश भी देखिये: "१६९५ में लेडी ओर्कनी को आयरलैण्ड में जो बड़ी जागीर ईनाम में दी गयी,

किया,—इसके पहले यह लूट कुछ छोटे पैमाने पर होती थी। ये सरकारी जागीरें ईनाम में दे दी गयीं, हास्यास्पद दामों पर बेच दी गयीं या यहां तक कि सीधे-सीधे जबर्दस्ती करके निजी जागीरों में मिला ली गयीं।[1] और यह सब करते हुए क़ानूनी शिष्टाचार की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार जिन राजकीय जमीनों पर धोखाधड़ी के जरिये अधिकार कर लिया गया और चर्च की जिन जागीरों को लूट लिया गया वे जिस हद कि प्रजातंत्रवादी क्रान्ति के समय फिर अपने नये मालिकों के हाथों से नहीं चली गयीं, उस हद तक उन्हीं जमीनों से अंग्रेज अल्पतंत्र की वर्तमान बड़ी-बड़ी जागीरों का आधार तैयार हुआ है।[2] पूंजीपतियों ने इस क्रिया का, अन्य बातों के अलावा, इस उद्देश्य से भी समर्थन किया कि इससे जमीन के स्वतंत्र व्यापार को बढ़ावा मिलेगा, बड़े फ़ार्मों की प्रणाली के अनुसार आधुनिक ढंग की खेती का क्षेत्र बढ़ाया जा सकेगा, और इस तरह मजदूरी करने के लिये सदैव तैयार रहने वाले स्वतंत्र और सर्वहारा खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो जायेगी। इसके अलावा, भूस्वामियों का यह नया अभिजात वर्ग बैंक-पतियों के नये वर्ग का— नवजात उच्च पूंजी का—और उन बड़े-बड़े उद्योगपतियों का स्वाभाविक मित्र था, जो उस जमाने में अपनी सुरक्षा के लिये विदेशी माल पर लगायी जाने वाली चुंगी पर निर्भर करते थे। इंगलैण्ड के पूंजीपति-वर्ग ने उतनी ही बुद्धिमानी के साथ अपने हितों की रक्षा की, जितनी बुद्धिमानी के साथ स्वीडेन के पूंजीपति-वर्ग ने अपने हितों की रक्षा की थी, हालांकि स्वीडिश पूंजीपति-वर्ग ने इस क्रिया को उलटकर अपने आर्थिक मित्र—किसानों—के साथ मिलकर अभिजात वर्ग से शाही जमीनें फिर से छीन लेने में राजाओं की मदद की थी। चार्ल्स दसवें और चार्ल्स ग्यारहवें के राज्य-काल में १६०४ से यह क्रिया आरम्भ हो गयी थी।

---

वह राजा के प्रेम का और इस महिला के प्रभाव का एक सार्वजनिक प्रमाण है... समझा जाता है कि लेडी ओर्कनी का प्रीतिकर कार्य यह था कि उनको foeda labiorum ministeria (ओंठों का असम्मानप्रद कार्य) करना पड़ता था।" (ब्रिटिश संग्रहालय में Sloane Manuscript Collection [स्लोन का हस्तलिपियों का संग्रह], नं० ४२२४। इस हस्तलिपि का शीर्षक है: "*The character and behaviour of King William, Sunderland, etc., as represented in Original Letters to the Duke of Shrewsbury from Somers, Halifax, Oxford, Secretary Vernon, etc.*" ['राजा विलियम, सण्डरलैण्ड, आदि, का चरित्र तथा व्यवहार—जिस प्रकार श्रयजबरी के ड्यूक के नाम सौमर्स, हैलिफ़ैक्स, आक्सफ़ार्ड, सेक्रेटरी वेर्नन आदि के मूल पत्रों में उनका वर्णन मिलता है']। इस हस्तलिपि में अजीब-अजीब बातें पढ़ने को मिलती हैं।)

[1] "शाही जागीरों का कुछ हद तक बिक्री के जरिये और कुछ हद तक ईनाम के जरिये जिस गैरक़ानूनी ढंग से हस्तांतरण किया गया, वह इंगलैण्ड के इतिहास का एक कलंकमय अध्याय है... इस तरह राष्ट्र के साथ एक बड़ा भारी धोखा (a gigantic fraud on the nation) किया गया।" (F. W. Newman, "*Lectures on Political Economy*" [एफ़० डब्ल्यू० न्यूमैन, 'अर्थशास्त्र पर भाषण'], London, 1851, पृ० १२९, १३०।) [इंगलैण्ड के मौजूदा बड़े भू-स्वामियों के हाथ में ये जागीरें किस तरह आयीं, इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये: "*Our Old Nobility. By Noblesse Oblige*" ('हमारा पुराना अभिजात वर्ग।—अभिजाताचार द्वारा लिखित'), London, 1879।—फ़्रे० एं०]

[2] मिसाल के लिये, बेडफ़ोर्ड के ड्यूक-वंश के सम्बंध में ई० बर्क की पुस्तिका देखिये। "The tomtit of liberalism" ("उदारतावाद की फुदकी"), लार्ड जान रसेल इसी वंश की उपज थे।

सामूहिक सम्पत्ति, – जिसे हमें उस राजकीय सम्पत्ति से सदा अलग करके देखना चाहिये, जिसका अभी-अभी वर्णन किया गया है, – एक पुरानी ट्यूटौनिक प्रथा थी, जो सामन्तवाद की रामनामी ओढ़कर जीवित थी। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार १५ वीं शताब्दी के अन्त में इस सामूहिक सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण आरम्भ हुआ था और १६ वीं शताब्दी में जारी रहा था और किस तरह उसके साथ-साथ आम तौर पर खेती की ज़मीनें चरागाहों की ज़मीनों में बदल दी गयी थीं। परन्तु उस समय यह क्रिया व्यक्तिगत हिंसक कार्यों के द्वारा सम्पन्न हो रही थी, जिनको रोकने के लिये क़ानून बना-बनाकर डेढ़ सौ वर्ष तक बेकार कोशिशें होती रहीं। १८ वीं शताब्दी में जो प्रगति हुई, वह इस रूप में व्यक्त होती है कि क़ानून खुद लोगों की ज़मीनें चुराने का साधन बन जाता है, हालांकि बड़े-बड़े काश्तकार अपने छोटे-छोटे स्वतंत्र उपायों का प्रयोग भी जारी रखते हैं।[1] इस लूट का संसदीय रूप सामूहिक ज़मीन घेरने के क़ानूनों (Acts for enclosures of Commons) या उन अध्यादेशों की शक्ल में सामने आता है, जिनके द्वारा ज़मींदार जनता की ज़मीन को अपनी निजी सम्पत्ति घोषित कर देते हैं और जिनके द्वारा वे जनता की सम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं। सर एफ़० एम० ईडेन ने सामूहिक सम्पत्ति को उन बड़े ज़मींदारों की निजी सम्पत्ति साबित करने की कोशिश की है, जिन्होंने सामन्ती प्रभुओं का स्थान ले लिया है। मगर जब वह यह मांग करते हैं कि "सामूहिक ज़मीनों को घेरने के लिये संसद को एक सामान्य क़ानून बनाना चाहिये" (और इस तरह जब वह यह स्वीकार कर लेते हैं कि सामूहिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित करने के लिये आवश्यक है कि संसद में क़ानून बनाकर उसका हठात् अपहरण कर लिया जाये), और इसके अलावा जब वह संसद से उन ग़रीबों की क्षति-पूर्ति करने के लिये भी कहते हैं, जिनकी सम्पत्ति छीन ली गयी है, तब वह वास्तव में अपने धूर्ततापूर्ण तर्क का खुद ही खण्डन कर डालते हैं।[2]

एक ओर, स्वतंत्र किसानों का स्थान कच्चे आसामियों (tenants at will), साल-साल भर के पट्टों पर ज़मीन जोतने वाले छोटे काश्तकारों और ज़मींदारों की दया पर निर्भर रहने वाले दासों जैसे लोगों की भीड़ ने ले लिया। दूसरी ओर, राजकीय जागीरों की चोरी के साथ-साथ सामूहिक ज़मीनों की सुनियोजित लूट ने ख़ास तौर पर उन बड़े फ़ार्मों का आकार बढ़ाने में मदद दी, जो १८ वीं शताब्दी में पूंजीवादी फ़ार्म[3] या सौदागरों के फ़ार्म[4] कहलाते थे, और साथ ही

---

[1] "काश्तकार लोग झोंपड़ों में रहने वाले मज़दूरों को अपने बाल-बच्चों के सिवा किसी और प्राणी को झोंपड़ों में रखने की मनाही कर देते हैं। इसके लिये बहाना यह बनाया जाता है कि यदि मज़दूर जानवर या मुर्ग़ी आदि रखेंगे, तो वे काश्तकारों के खलिहानों से अनाज चुरा-चुराकर उन्हें खिलायेंगे। काश्तकार लोग यह भी कहते हैं कि मज़दूरों को ग़रीब बनाकर रखो, तो वे मेहनती बने रहेंगे, इत्यादि। लेकिन मुझे यक़ीन है कि असली बात यह है कि काश्तकार लोग इस तरह सारी सामूहिक ज़मीन केवल अपने अधिकार में रखना चाहते हैं।" (*"A Political Inquiry into the Consequences of Enclosing Waste Lands"* ['परती ज़मीन घेरने के परिणामों की एक राजनीतिक जांच'], London, 1785, पृ० ७५।)

[2] Eden, उप० पु०, भूमिका।

[3] "Capital Farms" ("पूंजीवादी फ़ार्म") – यह नाम देखिये *"Two letters on the Flour Trade and the Dearness of Corn. By a person in business"* ['आटे के व्यापार और अनाज की महंगाई के बारे में इस धंधे में लगे हुए एक व्यक्ति के दो पत्र'] (London, 1785, पृ० १९, २०) में।

[4] "Merchant Farms" ["सौदागरों के फ़ार्म"] – यह नाम *"An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions"* ['खाद्य-वस्तुओं के वर्तमान ऊंचे

खेतिहर आबादी को कल-कारख़ानों वाले उद्योगों में काम करने के लिये "उन्मुक्त करके" सर्वहारा में परिणत कर दिया।

लेकिन १८ वीं शताब्दी ने अभी तक १६ वीं शताब्दी की भांति पूरे तौर पर यह बात नहीं स्वीकार की थी कि राष्ट्र का धन और जनता की ग़रीबी – ये दोनों एक ही चीज़ हैं। चुनांचे उस ज़माने के आर्थिक साहित्य में "enclosure of commons" ("सामूहिक ज़मीनों को घेरने") के प्रश्न के सम्बंध में हमें बड़ी गरम बहसें सुनने को मिलती हैं। मेरे सामने जो ढेरों सामग्री पड़ी हुई है, उसमें से मैं केवल कुछ उद्धरण ही यहां पेश करूंगा, जिनसे उस काल की परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जायेगा।

एक व्यक्ति ने बड़े क्रोध के साथ लिखा है: "हेर्टफ़ोर्डशायर के कुछ गांवों में औसतन ५० एकड़ से १५० एकड़ तक के २४ फ़ार्मों को तोड़कर तीन फ़ार्मों में इकट्ठा कर दिया गया है।"[1] "नौर्थेम्प्टनशायर और लीसेस्टरशायर में बहुत बड़े पैमाने पर सामूहिक ज़मीनों को घेर लिया गया है, और इस घेरेबन्दी के फलस्वरूप जो नयी ज़मींदारियां क़ायम हुई हैं, उनमें से अधिकतर को चरागाहों में बदल दिया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि जिन ज़मींदारियों में पहले हर साल १,५०० एकड़ ज़मीन जोती जाती थी, उनमें अब ५० एकड़ ज़मीन भी नहीं जोती जाती... पुराने रहने के घरों, खलिहानों, अस्तबलों आदि के ध्वंसावशेष" ही अब यह बताते हैं कि वहां कभी कुछ लोग रहा करते थे। "कुछ खुले खेतों वाले गांवों में सौ घर और परिवार... कम होते-होते आठ या दस रह गये हैं... जिन गांवों में केवल १५ या २० वर्ष से ही घेराबन्दी हुई है, उनमें से अधिकतर में खुले खेतों के ज़माने में जितने भूमिधर रहा करते थे, अब उनकी तुलना में बहुत कम किसान रह गये हैं। यह कोई बहुत असाधारण बात नहीं है कि जो इलाक़ा पहले २० या ३० काश्तकारों और इतने ही छोटे आसामियों (tenants) और मालिकों के क़ब्ज़े में था, उसे ४ या ५ बड़े ज़मींदारों ने घेरकर अपनी चरागाहों में बदल दिया है। और इस तरह इन सारे काश्तकारों, छोटे आसामियों और मालिकों की और उनके परिवारों की और बहुत से अन्य परिवारों की, जो मुख्यतया इन लोगों के लिये काम किया करते थे और इनपर निर्भर करते थे, – इन सब की जीविका छूट जाती है।"[2] न केवल उस ज़मीन पर, जो परती पड़ी हुई थी, बल्कि उस ज़मीन पर भी, जिसे लोग सामूहिक ढंग से जोता करते थे या जिसको कुछ ख़ास व्यक्ति ग्राम-समुदाय को एक निश्चित लगान देकर जोतते थे, आस-पड़ोस के ज़मींदार घेरेबन्दी के बहाने क़ब्ज़ा कर लेते थे। "मैं यहां खुले खेतों और ऐसी ज़मीनों के घेरे जाने का ज़िक्र कर रहा हूं, जिनमें पहले ही काफ़ी सुधार किया जा चुका

---

दामों के कारणों की एक जांच'] (London, 1767, पृ० ११, फ़ुटनोट) में मिलता है। – यह सुन्दर पुस्तक, जो बिना किसी नाम के प्रकाशित हुई थी, रैवेरेण्ड नथेनियल फ़ोर्स्टर की रचना है।

[1] Thomas Wright, "*A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms*" (टोमस राइट, 'बड़े फ़ार्मों के एकाधिकार के विषय में जनता से एक संक्षिप्त निवेदन'), 1779, पृ० २, ३।

[2] Rev. Addington, "*Inquiry into the Reasons for or against Enclosing Open Fields*" (रैवरेण्ड ऐडिंग्टन, 'खुले खेतों को घेरने के पक्ष और विपक्ष की दलीलों का विवेचन'), London, 1772, पृ० ३७, ४३, विभिन्न स्थानों पर।

है। घेरेबन्दी (enclosures) का समर्थन करने वाले लेखक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि इन गांवों के संकुचित हो जाने से बड़े फ़ार्मों की इजारेदारियों में इजाफ़ा होता है, खाने-पीने की वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं और आबादी उजड़ जाती है... और यहां तक कि परती पड़ी हुई जमीनों की घेराबन्दी से (जिस तरह आजकल वह की जाती है) भी ग़रीबों के कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं, क्योंकि उससे आंशिक रूप में उनकी जीविका के साधन नष्ट हो जाते हैं, और उसका केवल यही नतीजा होता है कि बड़े-बड़े फ़ार्म, जिनका आकार पहले ही से बहुत बढ़ गया था, और भी बड़े हो जाते हैं।"[1] डा० प्राइस ने लिखा है: "जब यह जमीन चन्द बड़े-बड़े काश्तकारों के हाथों में चली जायेगी, तब इसका आवश्यक रूप से यह परिणाम होगा कि छोटे काश्तकार" (जिनके बारे में डा० प्राइस पहले बता चुके हैं कि "छोटे-छोटे मालिकों और आसामियों की यह विशाल संख्या उस जमीन की उपज से, जो उसके दखल में होती है, सार्वजनिक भूमि पर चरने वाली अपनी भेड़ों की मदद से और मुर्ग़ियों, सुअरों आदि के सहारे अपना तथा अपने परिवारों का पेट पालती है और इसलिये उसे जीवन-निर्वाह के किसी साधन को खरीदने की बहुत कम जरूरत पड़ती है") "ऐसे लोगों में परिणत हो जायेंगे, जिनको अपनी जीविका के लिये दूसरों के वास्ते मेहनत करनी पड़ेगी और जिनको जरूरत की हर चीज बाजार से खरीदनी पड़ेगी... तब शायद श्रम पहले से अधिक होगा, क्योंकि लोगों के साथ पहले से ज्यादा जबर्दस्ती की जायेगी... शहरों और कारखानों की संख्या बढ़ जायेगी, क्योंकि निवास-स्थान और नौकरी की तलाश में पहले से अधिक संख्या में लोग वहां पहुंचेंगे। फ़ार्मों के आकार को बढ़ाने का स्वाभावतः यही परिणाम होता है। और इस राज्य में अनेक वर्षों से असल में यही चीज हो रही है।"[2] घेरेबन्दी (enclosures) के परिणामों का सारांश लेखक ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: "कुल मिलाकर निचले वर्गों के लोगों की हालत लगभग हरेक दृष्टि से पहले से ज्यादा खराब हो जाती है। पहले वे जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों के मालिक थे; अब उनकी हैसियत मजदूरों और भाड़े के टट्टुओं की हो जाती है, और साथ ही उनके लिये इस अवस्था में अपना जीवन-निर्वाह करना और अधिक कठिन हो जाता है।"[3] बल्कि सच तो यह है कि सामूहिक

---

[1] Dr. R. Price, उप० पु०, खण्ड २, पृ० १५५। फ़ोर्स्टर, ऐडिंग्टन, केण्ट, प्राइस और जेम्स ऐण्डर्सन की रचनाओं को देखिये और चाटुकार मैक्कुलक ने अपने सूची-पत्र "*The Literature of Political Economy*" ['अर्थशास्त्र का साहित्य'] (London, 1845) में जिस तरह की टुच्ची बकवास की है, उसके साथ इन रचनाओं की तुलना कीजिये।

[2] Price, उप० पु०, पृ० १४७।

[3] Price, उप० पु०, पृ० १५९। इससे हमें प्राचीन रोम की याद आती है। वहां "धनियों ने अविभाजित भूमि के अधिकांश पर अधिकार कर लिया था। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनको इसका पूर्ण विश्वास था कि यह भूमि उनसे कभी वापिस नहीं ली जायेगी, और इसलिये उनकी जमीनों के आस-पास ग़रीबों की जो भूमि थी, उन्होंने उसको भी या तो उसके मालिकों की रजामन्दी से खरीद लिया था, या उसपर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया था, और इस तरह अब वे इक्के-दुक्के खेतों के बजाय बहुत फैली हुई जागीरों को जोतते थे। फिर वे खेती और पशु-प्रजनन में दासों से काम लेते थे, क्योंकि स्वतंत्र मनुष्यों से काम कराने के लिये उनको सैनिक सेवा से हटाना पड़ता। दासों के स्वामी होने से उनका बड़ा लाभ होता था, क्योंकि दासों से सेना में काम नहीं लिया जा सकता था और इसलिये वे खुलकर अपनी नस्ल

जमीनों के अपहरण का और उसके साथ-साथ खेती में जो क्रान्ति आ गयी थी, उसका खेतिहर मजदूरों पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा था कि ईडेन के कथनानुसार भी १७६५ और १७८० के बीच उनकी मजदूरी आवश्यक अल्पतम मजदूरी से भी कम हो गयी थी और वे ग़रीबों के क़ानून के मातहत सार्वजनिक सहायता लेने लगे थे। ईडेन ने लिखा है कि "जीवन के लिये नितान्त आवश्यक वस्तुएं खरीदने के लिये जो रक़म जरूरी होती थी, खेतिहर मजदूरों की मजदूरी उससे अधिक नहीं होती थी।"

अब एक क्षण के लिये एक ऐसे आदमी की बात भी सुनिये, जो enclosures (घेरेबन्दी) का समर्थक और डा० प्राइस का विरोधी था। "यदि लोग खुले खेतों में व्यर्थ का श्रम करते नहीं दिखाई देते, तो इसका यह मतलब नहीं है कि आबादी कम हो गयी है... यदि छोटे काश्तकारों को दूसरों के वास्ते काम करने वाले मनुष्यों में परिणत करके उनसे पहले से अधिक श्रम कराया जाता है, तो इससे सारे राष्ट्र का लाभ होता है, और राष्ट्र को इसका स्वागत करना चाहिये" (पर, जाहिर है, कि जिन लोगों को इस प्रकार "परिणत किया गया है," वे इस राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं) "...क्योंकि जब इन लोगों से एक फ़ार्म पर संयुक्त श्रम कराया जाता है, तब पैदावार ज्यादा होती है, कारख़ानों के वास्ते अतिरिक्त पैदावार तैयार हो जाती है और इस तरह जितना अधिक अनाज पैदा होता है, उतनी ही अधिक कारख़ानों की वृद्धि होती है, जो राष्ट्र के लिये धन की खान का काम करते हैं।"[1]

जब उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की नींव डालने के लिये इसकी आवश्यकता होती है, तब "सम्पत्ति के पवित्र अधिकार" के अत्यन्त लज्जाहीन अतिक्रमण और व्यक्तियों पर अत्यन्त भोंडे हमलों को भी अर्थशास्त्री जिस निःस्पृह भाव और जिस निरुद्विग्न मन के साथ देखता रहता

---

को बढ़ा सकते थे और ख़ूब बच्चे पैदा कर सकते थे। अतएव शक्तिशाली व्यक्ति सारा धन अपने पास खींचे ले रहे थे और देश दासों से भर गया था। दूसरी ओर, इटालियनों की संख्या बराबर कम होती जाती थी, क्योंकि उनको ग़रीबी, कर और सैनिक सेवा खाये जा रही थीं। यहां तक कि जब शान्ति के दिन आये, तब भी ये लोग निष्क्रिय ही बने रहे, क्योंकि जमीन धनियों के क़ब्ज़े में थी, जो उसे जुतवाने के लिये स्वतंत्र मनुष्यों के बजाय दासों से काम लेते थे।" (Appian, "*Roman Civil Wars*" [एप्पियन, 'रोम के गृह-युद्ध'], खण्ड १, ७।) इस अंश में लिसिनस के क़ानूनों के बनने के पहले के काल का वर्णन किया गया है। जिस सैनिक सेवा ने रोम के जन-साधारण की तबाही की क्रिया को इतना तेज कर दिया था, उसीने चार्लेमेन के हाथों में स्वतंत्र जर्मन किसानों को जबर्दस्ती कृषि-दासों और क्रीत-दासों में रूपान्तरित कर देने के मुख्य साधन का काम किया।

[1] "*An Inquiry into the Connexion between the Present Price of Provisions, &c.*" ('खाद्य-वस्तुओं के वर्तमान दामों और खेतों के आकार के सम्बंध की जांच, इत्यादि'), पृ० १२४, १२९। निम्नलिखित उद्धरण इसके उल्टे दृष्टिकोण से लिखा गया है, पर उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है: "मजदूरों को उनको झोंपड़ों से खदेड़कर नौकरी की तलाश में शहरों में मारे-मारे फिरने के लिये मजबूर कर दिया जाता है; पर तब पहले से अधिक अतिरिक्त पैदावार तैयार होती है, और इस प्रकार पूंजी में वृद्धि होती है।" ("*The Perils of the Nation*" ['राष्ट्र के लिये संकट की बातें'], दूसरा संस्करण, London, 1843, पृ० १४।)

है, उसका एक उदाहरण सर एफ़० एम० ईडेन हैं, जो बड़े दानवीर और साथ ही अनुदारदली भी हैं। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतीस वर्षों से लेकर १८ वीं शताब्दी के अन्त तक जनता की सम्पत्ति का जिस तरह बलपूर्वक अपहरण होता रहा और उसके साथ-साथ जो चोरियां और अत्याचार होते रहे और जनता पर जो मुसीबत का पहाड़ टूटता रहा, उस सब का अध्ययन करने के बाद सर एफ़० एम० ईडेन केवल इस सन्तोषजनक परिणाम पर ही पहुंचते हैं कि "खेती की जमीन और चरागाह की जमीन के बीच एक सही (due) अनुपात क़ायम करना जरूरी था। पूरी १४ वीं शताब्दी में और १५ वीं शताब्दी के अधिकतर भाग में एक एकड़ चरागाह के पीछे २,३ और यहां तक कि ४ एकड़ खेती की जमीन हुआ करती थी। १६ वीं शताब्दी के मध्य के लगभग यह अनुपात बदलकर २ एकड़ चरागाह के पीछे २ एकड़ खेती की जमीन का हो गया, बाद को २ एकड़ चरागाह के पीछे १ एकड़ खेती की जमीन का अनुपात हो गया और आखिर ३ एकड़ चरागाह के पीछे १ एकड़ खेती की जमीन का सही अनुपात भी क़ायम हो गया।"

१६ वीं शताब्दी में, जाहिर है, इस बात की किसी को याद तक नहीं रह गयी कि खेतिहर मजदूर का सामूहिक जमीन से भी कभी कोई सम्बंध था। अभी हाल के दिनों की बात जाने दीजिये; १८०१ और १८३१ के बीच जो ३५,११,७७० एकड़ सामूहिक जमीन खेतिहर आबादी से छीन ली गयी और संसद के हथकण्डों के जरिये जमींदारों के द्वारा जमींदारों को भेंट कर दी गयी, क्या उसके एवज में खेतिहर आबादी को एक कौड़ी का भी मुआवजा मिला है?

बड़े पैमाने पर खेतिहर आबादी की भूमि के अपहरण की अन्तिम क्रिया वह है, जिसका नाम है "clearing of estates" ("जागीरों को साफ़ करना"—अर्थात् उनको जन-विहीन बना देना)। इंगलैण्ड में भूमि-अपहरण के जितने तरीक़ों पर हमने अभी तक विचार किया है, वे सब मानों इस "सफ़ाई" के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। पिछले एक अध्याय में हमने आधुनिक परिस्थितियों का वर्णन किया था और बताया था कि जहां उजाड़े जाने के लिये स्वतंत्र किसान नहीं रह गये हैं, वहां झोंपड़ों की "सफ़ाई" शुरू हो जाती है, जिससे खेतिहर मजदूरों को उस भूमि पर, जिसे वे जोतते-बोते हैं, रहने के लिये एक चप्पा जमीन भी नहीं मिलती। लेकिन "clearing of estates" ("जागीरों की सफ़ाई") का असल में और सही तौर पर क्या मतलब होता है, यह हमें केवल आधुनिक रोमानी कथा-साहित्य की आदर्श भूमि, स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में ही देखने को मिलता है। वहां इस क्रिया की विशेषता यह है कि वह बड़े सुनियोजित ढंग से सम्पन्न होती है; एक ही चोट में बड़े भारी इलाक़े की सफ़ाई हो जाती है (आयरलैण्ड में जमींदारों ने कई-कई गांव एक साथ साफ़ कर दिये हैं, पर स्कोटलैण्ड में तो जर्मन रियासतों जितने बड़े-बड़े इलाक़े एक बार में साफ़ कर दिये जाते हैं); और अन्तिम बात यह कि ग़बन की हुई जमीनें एक विचित्र प्रकार की सम्पत्ति का रूप धारण कर लेती हैं।

स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में रहने वाले केल्ट लोग क़बीलों में संगठित थे। प्रत्येक क़बीला जिस भूमि पर बसा हुआ था, उसका मालिक था। क़बीले का प्रतिनिधि, उसका मुखिया, या "बड़ा आदमी," केवल नाम के लिये इस सम्पत्ति का मालिक होता था, जैसे इंगलैण्ड की रानी नाम के लिये राष्ट्र की समस्त भूमि की स्वामिनी है। जब अंग्रेज सरकार इन "बड़े आदमियों" की आपसी लड़ाइयों को बन्द कराने में कामयाब हो गयी और स्कोटलैण्ड के मैदानी भागों पर ये "बड़े आदमी" लगातार जो चढ़ाइयां किया करते थे, जब वे भी रोक दी गयीं, तो इन क़बीलों के मुखियाओं ने डकैती का अपना पुराना पुश्तैनी पेशा छोड़ नहीं दिया, बल्कि

उसका केवल रूप बदल दिया। जो नाम मात्र का अधिकार था, उसे उन्होंने खुद अपनी मर्जी से निजी सम्पत्ति के अधिकार में बदल दिया, और इससे चूंकि उनका खुद अपने क़बीलों के लोगों के साथ टकराव हुआ, इसलिये उन्होंने इन लोगों को जबर्दस्ती जमीनों से भगाने का निश्चय कर लिया। प्रोफ़ेसर न्यूमैन ने लिखा है: "इस तरह तो इंगलैण्ड का राजा यह दावा कर सकता था कि उसे अपनी प्रजा को समुद्र में धकेल देने का अधिकार है।"[1] स्कोटलैण्ड में यह क्रान्ति जेम्स द्वितीय के पुत्र और पौत्र के समर्थकों के अन्तिम विद्रोह के बाद आरम्भ हुई थी। सर जेम्स स्टीवर्ट[2] और जेम्स ऐण्डर्सन[3] की रचनाओं में हम उसके प्रथम चरण का अध्ययन कर सकते हैं। १८ वीं शताब्दी में अपनी जमीनों से खदेड़े हुए केल्ट लोगों को देश छोड़कर चले जाने की भी मनाही कर दी गयी, ताकि उनके सामने ग्लासगो तथा अन्य औद्योगिक नगरों में जाकर रहने के सिवा और कोई चारा न रह जाये।[4] १९ वीं शताब्दी में किस तरह के तरीक़े इस्तेमाल किया जाते हैं,[5] इसके एक उदाहरण के रूप में केवल सदरलैण्ड की डचेज द्वारा की गयी "सफ़ाई"

[1] F. W. Newman, उप० पु०, पृ० १३२।

[2] स्टीवर्ट ने लिखा है: "यदि आप इन जमीनों के विस्तार के साथ उनके लगान की तुलना करें" (यहां उसने लगान नामक आर्थिक परिकल्पना में उस ख़िराज को भी शामिल कर लिया है, जो क़बीले के लोग अपने मुखिया को दिया करते थे), "तो आप पायेंगे कि लगान बहुत कम मालूम होता है। यदि आप लगान की तुलना इस बात से करेंगे कि फ़ार्म के सहारे कितने मनुष्यों का पेट पलता है, तो आप यह पायेंगे कि किसी अच्छे उपजाऊ प्रान्त की एक जागीर पर जितने लोगों का लालन-पालन होता है, स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में उतने ही मूल्य की जागीर से उससे शायद दस-गुने अधिक लोगों का जीवन-निर्वाह होता है।" (J. Steuart, उप० पु०, खण्ड १, अध्याय XVI [सोलह], पृ० १०४।)

[3] James Anderson, "*Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry, &c.*" (जेम्स ऐंडर्सन, 'राष्ट्रीय उद्योग की भावना पैदा करने के साधनों के विषय में कुछ टिप्पणियां, इत्यादि'), Edinburgh, 1777.

[4] जिन लोगों की ज़मीनें ज़बर्दस्ती छीन ली गयी थीं, उनको १८६० में धोखा देकर कनाडा भेज दिया गया। कुछ लोग पहाड़ों में भाग गये और आस-पास के द्वीपों को चले गये। पुलिस ने उनका पीछा किया। उसके साथ उनकी मार-पीट भी हुई। पर आख़िर वे भाग जाने में कामयाब हुए।

[5] १८१४ में ऐडम स्मिथ के टीकाकार बुकानन ने लिखा है: "स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में सम्पत्ति की प्राचीन प्रणाली पर नित नये प्रहार हो रहे हैं... ज़मींदार पुश्तैनी आसामी का कोई ख़याल नहीं करता" (यहां पुश्तैनी आसामी नामक परिकल्पना का ग़लती से प्रयोग किया गया है), "बल्कि अपनी ज़मीन उसे देता है, जो सबसे ऊंचा लगान देने को तैयार होता है। यदि यह आदमी सुधारक होता है, तो वह तुरन्त ही एक नये ढंग की खेती चालू कर देता है। पहले ज़मीन पर छोटे आसामियों या मज़दूरों की एक बड़ी संख्या बिखरी रहती थी, और आबादी ज़मीन की उपज के अनुपात में होती थी। अब सुधरी हुई खेती और बढ़े हुए लगान की नयी प्रणाली के अनुसार कम से कम ख़र्चा करके ज़्यादा से ज़्यादा उपज पैदा की जाती है, और इस उद्देश्य से, जो मज़दूर अनावश्यक होते हैं, उनको ज़मीन से हटा दिया जाता है और इस तरह आबादी को उस संख्या से घटाकर, जिसकी ज़मीन परवरिश कर सकती है, उस संख्या

का जिक्र देना काफ़ी होगा। यह महिला अर्थशास्त्र में पारंगता थी। इसलिये, अपनी जागीर की बागडोर संभालते ही उसने उसमें एक मौलिक सुधार करने का निश्चय किया और तै कर लिया कि वह अपनी पूरी काउण्टी को, जिसकी आबादी इसी प्रकार की अन्य कार्रवाइयों के फलस्वरूप पहले ही केवल १५,००० रह गयी थी, भेड़ों की चरागाह में बदल देगी। १८१४ से १८२० तक इन १५,००० निवासियों के लगभग ३,००० परिवारों को सुनियोजित ढंग से उजाड़ा और खदेड़ा गया। उनके सारे गांव नष्ट कर दिये गये और जला डाले गये। उनके तमाम खेतों को चरागाहों में बदल दिया गया। उनको बेदख़ल करने के लिये अंग्रेज सिपाही भेजे गये, जिनकी गांवों के निवासियों के साथ कई बार मार-पिटाई हुई। एक बुढ़िया ने अपने झोंपड़े से निकलने से इनकार कर दिया था। उसे उसी में जलाकर भस्म कर दिया गया। इस प्रकार इस भद्र महिला ने ७,९४,००० एकड़ ऐसी जमीन पर अधिकार कर लिया, जिसपर बाबा आदम के जमाने से क़बीले का अधिकार था। निकाले हुए ग्रामवासियों को उसने समुद्र के किनारे ६,००० एकड़ जमीन दे दी – यानी प्रति परिवार दो एकड़। यह ६,००० एकड़ जमीन अभी तक बिल्कुल परती पड़ी हुई थी, और उससे उसके मालिकों को ज़रा भी लाभ नहीं होता था। परन्तु डचेस के मन में अपनी प्रजा के लिये यकायक इस हद तक दया उमड़ी कि उसने इस जमीन को केवल २ शिलिंग ६ पेन्स प्रति एकड़ के औसत लगान पर उनको उठा दिया और यह लगान उसने अपने क़बीले के उन लोगों से वसूल किया, जो सदियों से उसके परिवार के लिये अपना खून बहाते आये थे। क़बीले की चुरायी हुई जमीन को उसने २९ बड़े-बड़े भेड़ पालने के फ़ार्मों में बांट दिया, जिनमें से हरेक में केवल एक परिवार रहता था और जिनपर प्रायः इंगलैण्ड से मंगाये हुए खेत-मजदूरों को बसाया गया था। १८३५ के आते-आते १५,००० केल्ट नर-नारियों का स्थान १,३१,००० भेड़ों ने ले लिया था। आदिवासियों में से बचे-खुचे लोग समुद्र के किनारे पर

पर ले आया जाता है, जिसको ज़मीन काम दे सकती है... तब जिन आसामियों की बेदख़ली की जाती है, वे या तो पड़ोस के क़स्बों में जीविका की तलाश करते हैं, इत्यादि।" (David Buchanan, *"Observations on, &c., A. Smith's Wealth of Nations"* [डैविड बुकानन, 'ऐडम स्मिथ की रचना 'राष्ट्रों का धन' पर कुछ टिप्पणियां, आदि'], Edinburgh, 1814, खण्ड ४, पृ० १४४।) "स्कोटलैण्ड के धनी लोग किसानों के परिवारों की सम्पत्ति का इस तरह अपहरण करते थे, जैसे झाड़ियों के जंगल को साफ़ कर रहे हों, और वे गांवों तथा उनमें रहने वाले लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते थे, जिस प्रकार का व्यवहार जंगली जानवरों से परेशान हिन्दुस्तानी प्रतिहिंसा की भावना से उन्मत्त होकर शेरों से भरे हुए जंगल के साथ करते हैं... इनसान की जानवर की एक खाल या एक लोथ के साथ अदला-बदली कर ली जाती है, बल्कि कभी-कभी तो इनसान को उससे भी सस्ता समझा जाता है... अरे, सच पूछिये, तो यह उन मुग़लों के इरादों से कहीं अधिक भयानक है, जिन्होंने चीन के उत्तरी प्रान्तों में घुसने के बाद अपनी परिषद के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वहां के निवासियों को मार डाला जाये और भूमि को चरागाह में परिणत कर दिया जाये। स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश के बहुत से भू-स्वामियों ने ख़ुद अपने देश में और अपने देशवासियों का गला काटकर इस योजना को कार्यान्वित कर दिखाया है।" (George Ensor, *"An Inquiry Concerning the Population of Nations"* [जार्ज एन्सर, 'राष्ट्रों की जन-संख्या के विषय में एक जांच'], London, 1818, पृ० २१५, २१६।)

पटक दिये गये, जहां वे मछलियां पकड़कर जिन्दा रहने की कोशिश करने लगे। एक अंग्रेज लेखक के शब्दों में, ये लोग जलस्थलचर बन गये थे और आधे धरती पर और आधे पानी में रहते थे, और फिर भी दोनों जगह अर्धजीवित अवस्था में ही रह पाते थे।[1]

लेकिन बहादुर गेल लोग क़बीले के "बड़े आदमियों" की जो रोमानी एवं पर्वतीय ढंग की पूजा किया करते थे, उसकी उन्हें अभी और भी महंगी क़ीमत चुकानी थी। उनकी मछलियों की सुगंध "बड़े आदमियों" की नाकों तक भी पहुंची। उनको उसमें मुनाफ़े की बू आयी और उन्होंने समुद्र का किनारा लन्दन के मछलियों के बड़े व्यापारियों को ठेके पर उठा दिया। बेचारे गेल लोगों को दोबारा उनके घरों से खदेड़ा गया।[2]

लेकिन अन्त में भेड़ों की चरागाहों का एक हिस्सा हिरनों के जंगलों में बदल दिया जाता है। हर कोई जानता है कि इंगलैण्ड में बड़े जंगल नहीं हैं। बड़े लोगों के बगीचों में पलने वाले हिरन लन्दन के नगर-पिताओं जैसे मोटे, थलथल और पालतू ढोर हैं। इसलिये, "बड़े आदमियों" के शिकार के शौक़ को पूरा करने के लिये अब एकमात्र उचित स्थान स्कोटलैण्ड ही बचा है। १८४८ में सोमर्स ने लिखा था: "स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश में कुकरमुत्तों की तरह नये-नये जंगल पैदा हो रहे हैं। यहां, गैक के इस तरफ़, यदि ग्लेनफ़ेशी का नया जंगल है, तो वहां, दूसरी तरफ़, आर्डवेरिकी का नया जंगल है। इसी लीच में ब्लैक मौन्ट भी है। यह विशाल बंजर भूमि भी अभी हाल में तैयार की गयी है। पूर्व से पश्चिम तक -- एबेरडीन के पास से लेकर ओबान के टीलों तक -- अब जंगलों की एक अनवरत पंक्ति दिखाई देती है। उधर पर्वतीय प्रदेश के अन्य भागों में लौक आर्केग, ग्लेनगार्री, ग्लेनमौरिस्टन आदि के नये जंगल खड़े हो गये हैं। जिन घाटियों में कभी छोटे काश्तकारों की बस्तियां बसी हुई थीं, उनमें भेड़ों को बसा दिया गया था और काश्तकारों को ज्यादा ख़राब और कम उपजाऊ ज़मीन पर भोजन तलाश करने के लिये खदेड़ दिया गया था। अब भेड़ों का स्थान हिरन ले रहे हैं, और अब

---

[1] जब सदरलैण्ड की मौजूदा डचेज़ ने *"Uncle Tom's Cabin"* ('टाम काका की कुटिया') की लेखिका श्रीमती बीचर स्टोव को लन्दन में एक शानदार दावत दी और इस तरह अमरीकी प्रजातंत्र के हब्शी दासों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करनी चाही, -- हालांकि गृह-युद्ध के समय, जब कि इंगलैण्ड का प्रत्येक अभिजातवर्गीय हृदय दासों के मालिकों के हितों की चिन्ता में व्यग्र था, अभिजात वर्ग के अपने अन्य सहयोगियों के साथ-साथ सदरलैण्ड की डचेज़ भी अपनी इस सहानुभूति को भूल गयी थीं, -- तब मैंने *"New York Tribune"* में सदरलैण्ड के दासों से सम्बंधित कुछ तथ्य प्रकाशित करवाये थे (जिनमें से कुछ केरी की रचना *"The Slave Trade"* ['दासों का व्यापार'], Philadelphia, 1853, पृ० २०३, २०४ पर उद्धृत किये गये थे)। मेरे लेख को एक स्काट समाचारपत्र ने भी छापा, जिसके फलस्वरूप सदरलैण्ड-परिवार के चाटुकारों और इस समाचारपत्र के बीच अच्छा-ख़ासा वाद-विवाद छिड़ गया।

[2] मछलियों के इस व्यापार का रोचक और विस्तृत विवरण मि० डैविड उर्कुहार्ट के *"Portfolio. New Series"* ['पोर्टफ़ोलियो -- नवीन क्रम'] में मिलेगा। -- नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर की जो रचना (*"Journals, Conversations and Essays relating to Ireland"*, London, 1868) उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई थी और जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, उसमें "सदरलैण्डशायर में इस कार्रवाई को मनुष्य की स्मृति में एक सबसे अधिक लाभदायक सफ़ाई" कहा गया है। (उप० पृ०)

हिरण छोटे काश्तकारों का घर-द्वार छीनते जा रहे हैं। इन काश्तकारों को अब पहले से भी ज्यादा ख़राब ज़मीन पर जाकर बसना होगा और पहले से भी अधिक भयानक ग़रीबी में जीवन बिताना पड़ेगा। हिरनों के जंगलों[1] और मनुष्यों का सह-अस्तित्व असम्भव है। दोनों में से एक न एक को हट जाना पड़ेगा। पिछले पचीस साल से जंगल संख्या और विस्तार में जिस तरह बढ़ रहे हैं, उसी तरह अगले पचीस साल तक उन्हें और बढ़ने दीजिये, तो पूरी की पूरी गेल जाति अपने देश से निर्वासित हो जायेगी . . . पर्वतीय प्रदेश के भूस्वामियों में से कुछ के लिये हिरनों के जंगल बनाने की इच्छा ने एक महत्वाकांक्षा का रूप धारण कर लिया है ... कुछ शिकार के शौक़ के कारण यह काम करते हैं ... और दूसरे, जो अधिक व्यावहारिक ढंग के लोग हैं, केवल मुनाफ़ा कमाने की दृष्टि से हिरनों का धंधा करते हैं। कारण कि बहुत सी पहाड़ियों को भेड़ों की चरागाहों के रूप में ठेके पर उठाने की अपेक्षा उनको हिरनों के जंगलों के रूप में इस्तेमाल करने में मालिकों को अधिक लाभ रहता है ... शिकार के लिये हिरनों का जंगल चाहने वाला शिकारी उसके लिये कोई भी रक़म देने को तैयार रहता है। अपनी थैली के आकार के सिवा वह इस मामले में और किसी चीज़ का ख़याल नहीं करता . . . पर्वतीय प्रदेश के लोगों पर जो मुसीबतें ढायी गयी हैं, वे उन मुसीबातों से किसी तरह भी कम नहीं हैं, जिनका पहाड़ नौर्मन राजाओं की नीति के फलस्वरूप लोगों पर टूट पड़ा था। हिरनों के निवास-स्थानों का विस्तार अधिकाधिक बढ़ता जाता है, जब कि मनुष्यों को एक अधिकाधिक संकुचित घेरे में बन्द किया जा रहा है ... जनता के एक के बाद दूसरे अधिकार की हत्या हो रही है ... अत्याचार दिन-प्रति-दिन बढ़ते ही जा रहे हैं ... लोगों को उनकी ज़मीनों से हटाना और इधर-उधर बिखेर देना मालिकों के लिये एक निर्णीत सिद्धान्त और खेती की आवश्यकता बन गया है। वे इनसानों की बस्तियों का उसी तरह सफ़ाया करते हैं, जिस तरह अमरीका या आस्ट्रेलिया में परती ज़मीन पर खड़े हुए पेड़ों या झाड़ियों को हटाया जाता है, और यह कार्य बहुत ही ख़ामोशी के साथ और बड़े कामकाजी ढंग से किया जाता है, इत्यादि।"[2]

---

[1] स्कोटलैण्ड के "deer forests" (हिरनों के जंगलों) में एक भी पेड़ नहीं है। नंगी पहाड़ियां हैं, जिनसे भेड़ों को भगा दिया गया है और हिरनों को लाकर बसा दिया गया है, और इन पहाड़ियों का नाम रख दिया गया है "deer forests" (हिरनों के जंगल)। इस तरह, पेड़ लगाने और वन-रोपण की भी कोई व्यवस्था नहीं है।

[2] Robert Somers, "*Letters from the Highlands; or the Famine of 1847*" (रोबर्ट सौमर्स, 'पर्वतीय प्रदेश के पत्र, अथवा १८४७ का अकाल'), London, 1848, पृ० १२–२८, विभिन्न स्थानों पर। ये पत्र शुरू में "*The Times*" में प्रकाशित हुए थे। १८४७ में गेल क़ौम को जिस अकाल की विभीषिका से गुज़रना पड़ा था, उसका अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों ने, ज़ाहिर है, यह कारण बताया था कि आबादी बहुत ज़्यादा बढ़ गयी थी। और यह भी नहीं, तो आबादी खाने-पीने की वस्तुओं की मात्रा की तुलना में तो अवश्य ही बहुत बढ़ गयी थी। जर्मनी में "clearing of estates" ("जागीरों की सफ़ाई"), या, वहां की भाषा में, "Bauernlegen", ख़ास तौर पर ३० वर्षीय युद्ध के बाद हुई थी, और उसके फलस्वरूप १७९० में भी कुरसाख़सेन में किसानों के विद्रोह हुए थे। विशेष रूप से पूर्वी जर्मनी में इस तरह की सफ़ाई हुई। प्रशिया के अधिकतर प्रान्तों में पहली बार फ़्रेडेरिक

चर्च की सम्पत्ति की लूट, राज्य के इलाक़ों पर धोखेधड़ी से क़ब्ज़ा कर लेना, सामूहिक भूमि की डाकाजनी, सामन्ती सम्पत्ति तथा क़बीलों की सम्पत्ति का अपहरण और आतंकवादी तरीक़ों का अंधाधुंध प्रयोग करके उसे आधुनिक ढंग की निजी सम्पत्ति में बदल देना – ये ही वे सुन्दर

---

द्वितीय ने किसानों को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिलवाया था। साइलीसिया को जीतने के बाद उसने जमींदारों को झोंपड़े और खलिहान आदि फिर से बनवाने और किसानों को ढोर और औज़ार देने के लिये मजबूर किया था। उसे अपनी सेना के लिए सिपाही और ख़ज़ाने के लिए कर देने वाले चाहिये थे। लेकिन बाक़ी बातों में फ़्रेडेरिक की वित्तीय प्रणाली और निरंकुश शासन – नौकरशाही तथा सामन्तवाद के उस गड़बड़-झाले – के अन्तर्गत रहने वाले किसान कितना सुखमय जीवन बिताते थे, यह फ़्रेडेरिक द्वितीय के प्रशंसक मिराबो के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है: "Le lin fait donc une des grandes richesses du cultivateur dans le Nord de l'Allemagne. Malheureusement pour l'espèce humaine, ce n'est qu'une ressource contre la misère et non un moyen de bien-être. Les impôts directs, les corvées, les servitudes de tout genre, écrasent le cultivateur allemand, qui paie encore des impôts indirects dans tout ce qu'il achète... et pour comble de ruine, il n'ose pas vendre ses productions où et comme il le veut; il n'ose pas acheter ce dont il a besoin aux marchands qui pourraient le lui livrer au meilleur prix. Toutes ces causes le ruinent insensiblement, et il se trouverait hors d'état de payer les impôts directs à l'échéance sans la filerie; elle lui offre une ressource, en occupant utilement sa femme, ses enfants, ses servants, ses valets, et lui-même; mais quelle pénible vie, même aidée de ce secours. En été, il travaille comme un forçat au labourage et à la récolte; il se couche à 9 heures et se lève à deux, pour suffire aux travaux; en hiver il devrait réparer ses forces par un plus grand repos; mais il manquera de grains pour le pain et les semailles, s'il se défait des denrées qu'il faudrait vendre pour payer les impôts. Il faut donc filer pour suppléer à ce vide... il faut y apporter la plus grande assiduité. Aussi le paysan se couche-t-il en hiver à minuit, une heure, et se lève à cinq ou six; ou bien il se couche à neuf, et se lève à deux, et cela tous les jours de la vie si ce n'est le dimanche. Ces excès de veille et de travail usent la nature humaine, et de là vient qu'hommes et femmes vieillissent beaucoup plutôt dans les campagnes que dans les villes." ["अतः उत्तरी जर्मनी में फ़्लैक्स की खेती काश्तकार के लिये धन के एक प्रधान स्रोत का काम करती है। मनुष्य जाति के दुर्भाग्य से यह केवल ग़रीबी को दूर रखने का ही काम कर सकती है, क्योंकि उसे सुख और समृद्धि का साधन नहीं समझा जा सकता। प्रत्यक्ष कर, बेगार और तरह-तरह की ग़ुलामी मिलकर जर्मन कृषक का कचूमर निकाल देती हैं। इसके अलावा, वह जो चीज़ भी ख़रीदता है, उसपर उसे अप्रत्यक्ष कर भी देने पड़ते हैं... मुसीबत चूंकि कभी अकेले नहीं आती, इसलिये वह अपनी पैदावार को, जहां वह चाहे, वहां, और जिस तरह वह चाहे, उस तरह नहीं बेच सकता। अपनी ज़रूरत की चीज़ें वह उन व्यापारियों से नहीं ख़रीद सकता, जो उनको सबसे कम दामों पर बेचने को तैयार हैं। इन तमाम कारणों से धीरे-धीरे वह चौपट हो जाता है, और यदि चर्खा उसकी मदद न करे, तो वह प्रत्यक्ष कर भी न अदा कर पाये। चर्खा उसकी कठिनाइयों को कुछ

**तरीके हैं, जिनके ज़रिये आदिम संचय हुआ था। इन तरीक़ों के ज़रिये पूंजीवादी खेती के लिये मैदान साफ़ किया गया, भूमि को पूंजी का अभिन्न अंग बनाया गया, और शहरी उद्योगों की आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक "स्वतंत्र" और निराश्रय सर्वहारा को जन्म दे दिया गया।**

---

हद तक हल करने में मदद करता है, क्योंकि उससे उसकी पत्नी को, उसके बच्चों को, उसके खेत-मजदूरों को और ख़ुद उसको भी एक उपयोगी धंधा करने को मिल जाता है। लेकिन इस सहायता के बावजूद उसका जीवन कितना दयनीय होता है! गरमियों में वह नाव खेने वाले ग़ुलाम की तरह काम करता है और ज़मीन को जोतता है और फ़सल काटता है। रात को ६ बजे वह सोने के लिये लेटता है और सुबह को २ बजे उठ खड़ा होता है, क्योंकि यदि वह देर करे, तो दिन का काम पूरा नहीं हो सकता। जाड़ों में उसे देर तक आराम करके अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहिये। लेकिन राज्य के कर अदा करने के लिये उसे मुद्रा चाहिये, और मुद्रा प्राप्त करने के लिये उसे अपना सारा अनाज बेच देना चाहिये, और यदि वह अपना सारा अनाज बेच देता है, तो उसके पास रोटी खाने के लिये और अगली फ़सल बोने के लिये काफ़ी बीज नहीं बचते। इस कमी को पूरा करने के लिये उसे कताई करनी चाहिये ... और उसमें ख़ूब मेहनत करनी चाहिये। चुनांचे जाड़ों में किसान आधी रात को या एक बजे सोने के लिये लेटता है और ५ या ६ बजे उठ जाता है। या वह रात को ६ बजे सो जाता है और सुबह २ बजे ही उठकर काम में लग जाता है। इतना अधिक काम और इतनी कम नींद आदमी का सारा सत सोख लेती है, और यही कारण है कि शहरों की अपेक्षा गांवों में लोग बहुत जल्दी बूढ़े हो जाते हैं"]। (Mirabeau, उप० पु०, ग्रंथ ३, पृ० २१२ और उसके आगे के पृष्ठ।)

**दूसरे संस्करण का नोट:** रोबर्ट सौमर्स की जिस रचना को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसके प्रकाशन के १८ वर्ष बाद, अप्रैल १८६६ में, प्रोफ़ेसर लेम्रोने लेवी ने Society of Arts (धंधों की परिषद) के सामने भेड़ों की चरागाहों के हिरनों के जंगलों में बदल दिये जाने के बारे में एक भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने बताया था कि स्कोटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेश को किस तरह उजाड़ा गया है। अन्य बातों के अलावा उन्होंने इस भाषण में यह भी कहा था: "बस्तियों को उजाड़कर भेड़ों की चरागाहों में बदल देना बिना कुछ ख़र्च किये आमदनी हासिल करने का सबसे सुविधाजनक उपाय था ... पर्वतीय प्रदेश में यह अक्सर देखने में आता था कि भेड़ों की चरागाह का स्थान हिरनों के जंगल ने ले लिया है। जिस तरह एक समय ज़मींदारों ने इनसानों को अपनी जागीरों से निकाल बाहर किया था, उसी तरह अब उन्होंने भेड़ों को निकाल बाहर किया और अपनी ज़मीनों पर नये किरायेदारों को—जंगली जानवरों और पक्षियों को—ला बसाया ... फ़ोरफ़ारशायर में डेलहौज़ी के अर्ल की जागीर से चलना शुरू करके जान ओ'ग्रोट्स तक चलते जाइये, आप कभी जंगलों के बाहर नहीं निकलेंगे ... इनमें से बहुत से जंगलों में लोमड़ियां, बन-बिलाव, मार्टन, गन्धमार्जार, वीज़ेल और पहाड़ी ख़रगोश बहुतायत से मिलते हैं; और खरहे, गिलहरियां और चूहे अभी हाल ही में इस

## अट्ठाईसवां अध्याय

# जिन लोगों की सम्पत्ति छीन ली गयी, उनके ख़िलाफ़ १५ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से ख़ूनी क़ानूनों का बनाया जाना।–संसद में क़ानून बनाकर मज़दूरी का जबर्दस्ती कम कर दिया जाना

**यह सम्भव नहीं था कि सामन्ती चाकरों के दस्तों को भंग करके और लोगों की ज़मीनों को जबर्दस्ती छीनकर जिस "स्वतंत्र" सर्वहारा का निर्माण किया गया था, उसकी संख्या जिस तेज़ी के साथ बढ़ती जाती थी, वह उसी तेज़ी के साथ नवजात उद्योगों में काम पाती जाये।**

इलाक़े में पहुंचे हैं। इस प्रकार, स्कोटलैण्ड के सांख्यिकीय वर्णन में जिस भूमि को बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की विस्तृत चरागाहों के रूप में पेश किया गया है, उसके विशाल खण्डों में अब किसी तरह की खेती या सुधार नहीं हो सकते, और अब वे वर्ष में कुछ दिन केवल चन्द व्यक्तियों के शिकार खेलने के काम में आते हैं।"

२ जून १८६६ के लन्दन के "*Economist*" ने लिखा है: "पिछले सप्ताह के एक स्काट पत्र में जो समाचार प्रकाशित हुए हैं, उनमें से एक इस प्रकार है: '... सदरलैण्डशायर के भेड़ों के एक सर्वोत्तम फ़ार्म को, जिसके लिये अभी हाल में १,२०० पौण्ड वार्षिक लगान देने का प्रस्ताव आया था, मौजूदा पट्टे की अवधि की समाप्ति पर deer forest (हिरनों के जंगल) में बदल दिया जायेगा।' यहां हम सामन्तवाद की आधुनिक प्रवृत्तियों को काम करते हुए देखते हैं ... वे अब भी लगभग नार्मन विजेता के समय की तरह ही काम कर रही हैं ... उस समय New Forest (नया जंगल) बनाने के लिये छत्तीस गांव बरबाद कर दिये गये थे ... बीस लाख एकड़ ज़मीन, .. जिसमें स्कोटलैण्ड के कुछ सबसे अधिक उपजाऊ इलाक़े शामिल हैं, पूरी तरह उजाड़ दिये गये हैं। ग्लेन टिल्ट की प्राकृतिक घास पेर्थ की काउण्टी की सबसे अधिक पौष्टिक घास मान जाती थी। बेन ओल्डेर का हिरनों का जंगल कभी बैडेनाओक के विस्तृत डिस्ट्रिक्ट में सबसे अच्छी चरागाह समझा जाता था। ब्लैक मौण्ट के जंगल का एक भाग काले चेहरों वाली भेड़ों के लिये स्कोटलैण्ड की सबसे अच्छी चरागाह माना जाता था। स्कोटलैण्ड में केवल शिकार खेलने के लिये कितना बड़ा इलाक़ा उजाड़ दिया गया है, इसका कुछ आभास इस बात से हो सकता है कि इस इलाक़े का रक़बा पेर्थ की पूरी काउण्टी से भी अधिक है। बेन ओल्डेर के जंगल के साधनों से इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इन इलाक़ों को जबर्दस्ती उजाड़ देने से कितना भारी नुक़सान हुआ है। इस जंगल की ज़मीन पर १५,००० भेड़ों को चराया जा सकता था, और यह स्कोटलैण्ड की जंगलों वाली पुरानी ज़मीन के ३० वें हिस्से से अधिक नहीं थी ... इत्यादि ... जंगलों की यह

दूसरी ओर, इन लोगों को उनके जीवन के परम्परागत ढंग से यकायक अलग कर दिया गया था, और यह मुमकिन न था कि उनके नये ढंग के जीवन के लिये आवश्यक अनुशासन भी उनमें उतने ही यकायक ढंग से पैदा हो जाता। चुनांचे इन लोगों की एक विशाल संख्या भिखारियों, डाकुओं और आवारा लोगों में बदल गयी। यह कुछ हद तक उनकी अपनी प्रवृत्तियों का और कुछ हद तक परिस्थितियों का परिणाम था। अतएव १५ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में और १६ वीं शताब्दी में लगातार सारे पश्चिमी योरप में आवारागर्दी को रोकने के लिये अत्यन्त निर्मम क़ानून बनाये गये। वर्तमान मजदूर-वर्ग के पूर्वजों को इस बात का दण्ड दिया गया कि उनको दूसरों ने जबर्दस्ती आवारा और मुहताज बना दिया था। क़ानून उनके साथ ऐसा व्यवहार करता था, जैसे वे अपनी इच्छा से अपराधी बन गये हों, और यह मानकर चलता था कि जो परिस्थितियां अब रह नहीं गयी थीं, उन्हीं में काम करते रहना केवल उनकी अपनी भलमनसाहत पर निर्भर करता था।

इंगलैण्ड में हेनरी सातवें के राज्य-काल में इस तरह के क़ानूनों का बनना आरम्भ हुआ।

हेनरी आठवें के राज्य-काल में १५३० में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार ऐसे भिखारियों को, जो बूढ़े हो गये थे और काम करने के लायक़ नहीं रह गये थे, भीख मांगने का लाइसेंस मिल जाता था। दूसरी ओर, हट्टे-कट्टे आवारा लोगों को कोड़े लगाये जाते थे और जेलख़ानों में डाल दिया जाता था। क़ानून के अनुसार, इन लोगों को गाड़ी के पीछे बांधकर उस वक़्त तक कोड़े लगाये जाते थे, जब तक कि उनके बदन से ख़ून नहीं बहने लगता था, और उसके बाद उनसे क़सम खिलवायी जाती थी कि वे अपने जन्म-स्थान को लौट जायेंगे या उस जगह चले जायेंगे, जहां वे पिछले तीन साल से रह रहे थे, और वहां "श्रम करेंगे" ("put themselves to labour")। यह भी कैसी भयानक विडंबना थी! हेनरी आठवें के राज्य-काल के २७ वें वर्ष में एक क़ानून के द्वारा यह पुराना क़ानून बहाल कर दिया गया, और कुछ नयी धाराएं पहले से भी कड़ी बना दी गयीं। नये क़ानून के अनुसार यदि कोई आदमी दूसरी बार आवारागर्दी के अपराध में पकड़ा जाता था, तो उसको एक बार फिर कोड़े लगाये जाते थे और आधा कान काट डाला जाता था; और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उसे एक पक्के अपराधी और समाज के शत्रु के रूप में फांसी दे दी जाती थी।

एडवर्ड छठे के राज्य-काल के प्रथम वर्ष—१५४७—में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार यदि कोई आदमी काम करने से इनकार करता था, तो उसे उस व्यक्ति की ग़ुलामी करनी पड़ती थी, जिसने उसके ख़िलाफ़ यह शिकायत की थी कि वह अपना समय काहिली में बिताता है। ग़ुलाम के मालिक को उसे रोटी और पानी, पतला शोरबा और बचा-बचाया मांस खाने को देना होता था। वह उससे किसी भी तरह का काम ले सकता था, चाहे वह काम कितना ही घिनौना क्यों न हो, और इसके लिये कोड़े का और जंजीरों का इस्तेमाल कर सकता था। यदि ग़ुलाम काम से चौदह दिन ग़ैर-हाज़िर रहता था, तो उसे जीवन भर की ग़ुलामी की सज़ा दी जाती थी और उसके माथे या गाल पर ग़ुलामी का "S" निशान दाग़ दिया जाता था। यदि वह तीसरी बार काम से भाग जाता था, तो उसको एक घोर अपराधी

---

सारी जमीन अब इस तरह से अनुत्पादक हो गयी है, .. मानो वह जर्मन सागर के जल में डूब गयी हो ... इस तरह के बनावटी बियाबानों और रेगिस्तानों को और फैलने से रोकने के लिये क़ानूनों को निर्णायक रूप से हस्तक्षेप करना चाहिये।"

क़रार देकर फांसी दे दी जाती थी। अपनी किसी भी अन्य व्यक्तिगत सम्पत्ति या पशु की तरह, मालिक ग़ुलाम को बेच सकता था, वसीयत में दे सकता था और किराये पर उठा सकता था। यदि ग़ुलाम अपने मालिकों के ख़िलाफ़ कुछ करने की कोशिश करते थे, तो उनको भी फांसी दे दी जाती थी। स्थानीय मजिस्ट्रेट सूचना मिलते ही ऐसे बदमाशों को पकड़ मंगवाते थे। यदि यह देखा जाता था कि कोई आवारा आदमी तीन दिन से कुछ नहीं कर रहा है, तो उसे उसके जन्म-स्थान पर ले जाया जाता था और लोहा लाल करके उसकी छाती पर आवारागर्दी का "V" चिन्ह दाग़ दिया जाता था और फिर जंजीरों से जकड़कर उससे सड़क कुटवायी जाती थी या कोई और काम लिया जाता था। यदि आवारा आदमी अपने जन्म-स्थान का ग़लत पता बताता था, तो उसे जीवन भर इस स्थान की, वहां के निवासियों की और वहां की कोर्पोरेशन की ग़ुलामी करनी पड़ती थी और उसके माथे पर ग़ुलामी का "S" चिन्ह दाग़ दिया जाता था। सभी व्यक्तियों को आवारा आदमियों के बच्चों को उठा ले जाने और सीखतर मज़दूरों के रूप में उनसे काम लेने का अधिकार था—लड़कों से २४ वर्ष की आयु तक और लड़कियों से २० वर्ष की आयु तक। यदि ये बच्चे भाग जाते थे तो उनको उपरोक्त आयु तक अपने मालिकों की ग़ुलामी करनी पड़ती थी, जो इच्छा होने पर उनको जंजीरों में बांधकर रख सकते थे, कोड़े लगा सकते थे, आदि। हर मालिक अपने ग़ुलाम के गले में, बांहों में या टांगों में लोहे का छल्ला डाल सकता था, ताकि ग़ुलाम को ज़्यादा आसानी से पहचाना जा सके और वह भाग न सके।[1] क़ानून के अन्तिम भाग में कहा गया है कि कुछ ग़रीब लोगों को ऐसा कोई भी स्थान या व्यक्ति नौकर रख सकता है, जो उनको खाने-पीने को देने को राज़ी हो और जो उनके लिये कोई काम निकाल सके। "Roundsmen" के नाम से, इस प्रकार के ग्राम-दासों से इंगलैण्ड में १६ वीं शताब्दी के काफ़ी वर्ष बीत जाने तक काम लिया जाता था।

एलिज़ाबेथ के राज्य-काल में १५७२ में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार १४ वर्ष से अधिक आयु के ऐसे भिखारियों को, जिनके पास लाइसेंस न हो, बुरी तरह कोड़े लगाये जाते थे और उनका बायां कान दाग़ दिया जाता था। इस दण्ड से वे केवल उसी हालत में छूट सकते थे, जब कोई आदमी उनको दो साल के लिये नौकर रखने को तैयार हो जाये। दोबारा पकड़े जाने पर, यदि उनकी उम्र १८ वर्ष से अधिक होती थी और कोई आदमी उनको दो साल के लिये नौकर रखने को राज़ी नहीं होता था, तो उनको फांसी दे दी जाती थी। और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उनको हर हालत में घोर अपराधी क़रार देकर मार डाला जाता था। इसी प्रकार कुछ और क़ानून भी बनाये गये जैसे एलिज़ाबेथ के राज्य-काल का १८ वां क़ानून (१३ वां अध्याय) और १५९७ का एक और क़ानून।[2]

---

[1] *"Essay on Trade, etc."* ('व्यापार आदि पर निबंध') [१७७०] के लेखक ने कहा है: "मालूम होता है कि एडवर्ड छठे के राज्य-काल में अंग्रेज़ लोग सचमुच पूरी गम्भीरता के साथ उद्योगों को प्रोत्साहन देने और ग़रीबों से काम लेने लगे थे। इसका प्रमाण है एक उल्लेखनीय क़ानून, जिसमें कहा गया है कि सभी आवारागर्द लोगों को दाग़ दिया जायेगा, इत्यादि।" (उप० पु०, पृ० ५।)

[2] टोमस मोर ने अपनी रचना *"Utopia"* ('कल्पना-लोक') में लिखा है: "इस प्रकार अक्सर यह देखने में आता है कि कोई लालची और पेटू आदमी, जिसके लोभ की कोई सीमा नहीं होती और जो अपनी मातृभूमि के लिये शाप के समान होता है, वह कई हज़ार

जेम्स प्रथम के राज्य-काल में यह विधान था कि यदि कोई आदमी आवारागर्दी करते हुए और भीख मांगते हुए पाया जाता था, तो उसे बदमाश और आवारा घोषित कर दिया जाता था। स्थानीय मजिस्ट्रेटों (justices of the peace in petty sessions) को

---

एकड़ ज़मीन को एक बाड़े के भीतर घेर लेता है, वहां रहने वाले काश्तकारों को उनकी ज़मीनों से निकाल देता है और या तो धोखे और फ़रेब से, या ज़बर्दस्त अत्याचार के द्वारा उनको वहां से खदेड़ देता है, और या उनको इतना तंग करता है और इतने दुःख देता है कि वे थककर अपना सब कुछ बेच देने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार किसी न किसी तरक़ीब से, किसी न किसी हेराफेरी से, इन ग़रीब, जाहिल, अभागे मनुष्यों को इसके लिये मजबूर कर ही दिया जाता है कि तमाम स्त्री-पुरुष, पति-पत्नियां, अनाथ बच्चे, विधवायें और गोद में बालक उठाये हुए दुखियारी माताएं और उनका सारा परिवार,—जिसकी हैसियत बहुत छोटी और संख्या बहुत बड़ी होती है, क्योंकि काश्तकारी में बहुत काम करने वालों की ज़रूरत पड़ती है,—ये सारे लोग अपना घर-द्वार छोड़कर निकल जायें। मैं कहता हूं कि ये लोग बेचारे एक बार अपना परम्परागत घर छोड़ने के बाद सदा इधर-उधर भटकते ही रहते हैं और उन्हें अपना सिर छिपाने के लिए भी कोई जगह नहीं मिलती। उनके घर के सारे सामान का मूल्य बहुत कम होता है, हालांकि फिर भी वह अच्छे दामों में बिक सकता था; मगर यकायक उठाकर घर के बाहर फेंक दिये जाने पर उनको मजबूर होकर उसे मिट्टी के मोल बेच देना पड़ता है। और इस तरह उन्हें जो चन्द पैसे मिलते हैं, जब वे पैसे इधर-उधर भटकते-भटकते सब ख़र्च हो जाते हैं, तो फिर वे इसके सिवा और क्या कर सकते हैं कि चोरी करें और सर्वथा न्यायोचित ढंग से फांसी पर लटक जायें और या भीख मांगते हुए घूमें? और उस हालत में भी उनको आवारा क़रार देकर जेल में डाला जा सकता है, क्योंकि वे इधर-उधर घूमते हैं और काम नहीं करते, हालांकि सचाई यह है कि वे काम पाने के लिये चाहे जितना गिड़गिड़ायें, उनको कोई आदमी काम नहीं देता।" इन खदेड़े जाने वाले ग़रीबों में से, जिनको, टोमस मोर के कथनानुसार, मजबूर होकर चोरी करनी पड़ती थी, हेनरी आठवें के राज्य-काल में "७२,००० छोटे-बड़े चोर जान से मार डाले गये थे"। (Holinshed, "*Description of England*" [होलिनशेड, 'इंगलैण्ड का वर्णन'], खण्ड १, पृ० १८६।) एलिज़ाबेथ के काल में "बदमाशों को बड़ी मुस्तैदी के साथ फांसी पर लटकाया जाता था, और आम तौर पर कोई साल ऐसा नहीं बीतता था, जब तीन या चार सौ आदमी फांसी की भेंट न चढ़ जाते हों।" (Strype, "*Annals of the Reformation and Establishment of Religion, and other Various Occurrences in the Church of England during Queen Elizabeth's Happy Reign*" [स्ट्राइप, 'चर्च-सुधार और धर्म-स्थापना का तथा रानी एलिज़ाबेथ के परम सुखदायी राज्य-काल में इंगलैण्ड के चर्च से सम्बंधित अन्य विभिन्न घटनाओं का इतिहास'], दूसरा संस्करण, १७२५, खण्ड २।) इसी लेखक—स्ट्राइप—के कथनानुसार, सोमरसेटशायर में एक साल में ४० व्यक्तियों को फांसी दी गयी, ३५ डाकुओं का हाथ जला दिया गया, ३७ को कोड़े लगाये गये और १८३ को "पक्के आवारा" क़रार देकर छोड़ दिया गया। फिर भी इस लेखक की राय है कि क़ैदियों की यह बड़ी संख्या वास्तविक अपराधियों की संख्या का पांचवां हिस्सा भी नहीं थी, क्योंकि मजिस्ट्रेट इस मामले में बड़ी लापरवाही दिखाते थे और लोग-बाग अपनी मूर्खता के कारण इन बदमाशों पर तरस खाते थे; और इंगलैण्ड की अन्य काउण्टियों की हालत इस मामले में सोमरसेटशायर से बेहतर नहीं थी, बल्कि कुछ की हालत तो और भी ख़राब थी।

इस बात का अधिकार दे दिया गया था कि वे ऐसे लोगों को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगवायें और पहले अपराध के वास्ते छः महीने और दूसरे अपराध के वास्ते २ वर्ष तक जेल में बन्द कर दें। स्थानीय मजिस्ट्रेट उनको जेल के अन्दर जब चाहें, तब, और जितने चाहें, उतने कोड़े लगवा सकते थे ... जो बदमाश ज्यादा ख़तरनाक समझे जाते थे और जिनके सुधार की कोई आशा नहीं की जाती थी, उनके बायें कंधे पर बदमाशी का "R" चिन्ह दाग़कर उनको सख़्त काम में जोत दिया जाता था, और यदि वे इसके बाद भी भीख मांगते हुए पकड़े जाते थे, तो उनको निर्ममता के साथ फांसी दे दी जाती थी। ये क़ानून १८ वीं शताब्दी के आरम्भ तक लागू रहे और केवल उस समय रद्द हुए, जब रानी ऐन के राज्य-काल का १२ वां क़ानून (२३ वां अध्याय) बनाया गया।

फ़्रांस में भी इसी तरह के क़ानून बनाये गये थे। वहां १७ वीं शताब्दी के मध्य में पेरिस में "आवारा लोगों का राज्य" ("royaume des truands") क़ायम किया गया था। लुई सोलहवें का राज्य-काल आरम्भ होने के समय भी (१३ जुलाई १७७७ को) यह क़ानून बना दिया गया कि १६ से ६० वर्ष तक की आयु का प्रत्येक ऐसा पुरुष, जिसके पास जीवन-निर्वाह का कोई साधन नहीं है और जो कोई धंधा नहीं करता, युद्ध के बेड़े में काम करने के लिये भेज दिया जायेगा। नेदरलैण्ड्स के लिये चार्ल्स पांचवें ने इसी तरह का एक क़ानून (अक्तूबर १५३७ में) बनाया था, और हालैण्ड के राज्यों तथा नगरों के (१० मार्च १६१४ के) पहले आदेश में और संयुक्त प्रान्तों के (२६ जून १६४९ के) प्लाकाट में भी इसी प्रकार का नियम बनाया गया था, इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रकार, खेती करने वाले लोगों की सब से पहले जबर्दस्ती ज़मीनें छीनी गयीं, फिर उनको उनके घरों से खदेड़ा गया, आवारा बनाया गया और उसके बाद उनको निर्मम और भयानक क़ानूनों का उपयोग करके कोड़े लगाये गये, दहकते लोहे से दाग़ा गया, तरह-तरह की यातनाएं दी गयीं और इस प्रकार उनको मजदूरी की प्रणाली के लिये आवश्यक अनुशासन सिखाया गया।

केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि समाज के एक छोर पर श्रम के लिये आवश्यक तमाम चीज़ें पूंजी की शकल में केन्द्रित हो जाती हैं और दूसरे छोर पर मनुष्यों की वह विशाल संख्या एकत्रित हो जाती है, जिसके पास अपनी श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ बेचने को नहीं होता। न ही यह काफ़ी है कि वे अपनी श्रम-शक्ति को स्वेच्छा से बेचने के लिये मजबूर होते हैं। पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति एक ऐसे मजदूर-वर्ग का विकास करती है, जो अपनी शिक्षा, परम्परा और अभ्यास के कारण उत्पादन की इस प्रणाली की आवश्यकताओं को प्रकृति के स्वतःस्पष्ट नियमों के समान समझने लगता है। जब पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का संगठन एक बार पूर्णतया विकसित हो जाता है, तो फिर वह सारे प्रतिरोध को ख़तम कर देता है। सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या का निरन्तर उत्पादन श्रम की पूर्ति और मांग के नियम को और इसलिये मजदूरी को एक ऐसी लीक में फंसाये रखता है, जो पूंजी की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। आर्थिक सम्बंधों का भोंडा दबाव मजदूर को पूरी तरह पूंजीपति के अधीन बना देता है। आर्थिक परिस्थितियों के अलावा कुछ प्रत्यक्ष बल-प्रयोग अब भी किया जाता है, लेकिन केवल अपवाद के रूप में। साधारणतया मजदूर को "उत्पादन के प्राकृतिक नियमों" के भरोसे छोड़ा जा सकता है, अर्थात् उसको पूंजी पर निर्भरता के भरोसे छोड़ा जा सकता है, जो निर्भरता स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से उत्पन्न होती है और जो उन

परिस्थितियों के रहते हुए कभी नहीं मिट सकती। परन्तु पूंजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक जन्म-काल में परिस्थिति इससे भिन्न होती है। अपने उभार के काल में पूंजीपति-वर्ग को मजदूरी का "नियमन" करने के लिये, अर्थात् उसको जबर्दस्ती कम करके ऐसी सीमाओं के भीतर रखने के लिये, जो अतिरिक्त मूल्य बनाने के लिये सहायताजनक हों, काम के दिन को लम्बा करने के लिये और खुद मजदूर की सामान्य परवशता को बनाये रखने के लिये राज्य की शक्ति की आवश्यकता होती है और वह उसका प्रयोग भी करता है। तथाकथित आदिम संचय का यह एक अत्यन्त आवश्यक तत्व है।

१४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के जिस वर्ग का जन्म हुआ था, वह उस समय और अगली शताब्दी में भी आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा था। देहात में भूमि के स्वामी स्वतंत्र किसानों के कारण और शहरों में शिल्पी संघों के कारण वह पूरी तरह सुरक्षित था। देहात में और शहरों में सामाजिक दृष्टि से मालिक और मजदूर की हैसियत में कोई विशेष फ़र्क नहीं था। पूंजी के सम्बंध में श्रम की अधीनता केवल औपचारिक ढंग की थी,—अर्थात् खुद उत्पादन की प्रणाली ने अभी कोई विशिष्ट पूंजीवादी रूप धारण नहीं किया था। स्थिर पूंजी के मुक़ाबले में अस्थिर पूंजी का पलड़ा बहुत भारी था। इसलिये पूंजी के प्रत्येक संचय के साथ मजदूरों की मांग बढ़ती जाती थी, जब कि उनकी पूर्ति केवल धीरे-धीरे बढ़ रही थी। राष्ट्रीय पैदावार का एक बड़ा हिस्सा, जो बाद को पूंजीवादी संचय के कोष में परिणत हो गया, अभी तक मजदूर के उपभोग के कोष का ही भाग बना हुआ था।

इंगलैण्ड में मजदूरों के बारे में क़ानून बनाने की शुरूआत १३४९ में हुई थी, जब एडवर्ड तृतीय के राज्य-काल में Statute of Labourers (मजदूरों का परिनियम) बनाया गया था (इन क़ानूनों का उद्देश्य शुरू से ही मजदूर का शोषण करना था और प्रत्येक काल में उनका स्वरूप समान रूप से मजदूर-विरोधी रहा)।[1] १३५० में राजा जान के नाम से फ़्रांस में जो फ़रमान जारी हुआ था, वह भी इसी प्रकार का था। इंगलैण्ड और फ़्रांस के क़ानून समानान्तर चलते हैं और उनका अभिप्राय भी एक सा रहता है। जहां तक मजदूर-क़ानूनों का उद्देश्य काम के दिन को लम्बा करना था, मैं इस विषय की पुनः चर्चा नहीं करूंगा, क्योंकि उसपर पहले ही (दसवें अध्याय के अनुभाग ५ में) विचार किया जा चुका है।

Statute of Labourers (मजदूरों का परिनियम) हाउस आफ़ कामन्स के बहुत जोर देने पर पास किया गया था। एक अनुदार-दली लेखक ने बड़े भोलेपन के साथ कहा है: "पहले ग़रीब लोग इतनी <u>ऊंची</u> मजदूरी मांगा करते थे कि उद्योग और धन-सम्पदा के लिये ख़तरा पैदा हो गया था। अब उनकी मजदूरी इतनी <u>कम</u> हो गयी है कि उद्योग और धन-सम्पदा के लिये फिर वैसा ही और शायद उससे भी बड़ा ख़तरा पैदा हो गया है, मगर यह

---

[1] ऐडम स्मिथ के अनुसार, "जब कभी विधान-सभा मालिकों और उनके मजदूरों के मतभेदों का नियमन करने का प्रयत्न करती है, तब सदा मालिक ही उसके परामर्शदाताओं का काम करते हैं।" लिंगुएत ने कहा है: "L'esprit des lois, c'est la propriété" ("क़ानूनों की आत्मा है सम्पत्ति!")।

उतरा एक दूसरे रूप में सामने आता है।"[1] क़ानून बनाकर तै कर दिया गया कि शहर और देहात में कार्यानुसार मजदूरी और समयानुसार मजदूरी की क्या दरें रहनी चाहियें। खेतिहर मजदूरों के लिये निश्चय हुआ कि वे पूरे साल के लिये नौकर हुआ करेंगे, और शहरी मजदूरों के लिये तै हुआ कि वे किसी भी अवधि के लिये "खुली मण्डी में" अपनी श्रम-शक्ति को बेचेंगे। क़ानून के द्वारा मजदूरी की जो दरें निश्चित कर दी गयी थीं, उनसे अधिक मजदूरी देने की मनाही कर दी गयी और ऐलान कर दिया गया कि इस अपराध के लिये सजा दी जायेगी। लेकिन निश्चित दर से अधिक मजदूरी लेने वालों के लिये देने वालों से अधिक कड़ी सजा का विधान किया गया था। (इसी प्रकार, एलिजाबेथ के राज्य-काल में सीखतर मजदूरों का जो क़ानून बनाया गया था, उसकी १८ वीं और १९ वीं धाराओं में निश्चित दर से अधिक मजदूरी देने वालों के लिये दस दिन की क़ैद का विधान था, पर लेने वालों के लिये इक्कीस दिन की क़ैद निश्चित की गयी थी।) १३६० में एक क़ानून बनाकर इन सजाओं को और बढ़ा दिया गया और मालिकों को यह अधिकार दे दिया गया कि क़ानूनी दर पर श्रम लेने के लिये वे मजदूरों को मार-पीट भी सकते हैं। राजगीर और बढ़ई का काम करने वालों ने विभिन्न प्रकार के संयोजनों के द्वारा, आपस में क़रार करके या क़समें आदि खाकर अपने को एकजुट कर रखा था। इस तरह की तमाम चीजों को गैर-क़ानूनी क़रार दे दिया गया। १४ वीं शताब्दी से १८२५ तक, जब कि मजदूर-यूनियनों पर प्रतिबंध लगाने वाले क़ानूनों को मंसूख किया गया, मजदूरों का संगठन करना एक भयानक अपराध समझा जाता था। १३४९ के मजदूरों के परिनियम तथा उसमें से फूटने वाली अनेक शाखा-प्रशाखाओं की मूल भावना इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि राज्य अधिकतम मजदूरी तो हमेशा निश्चित कर देता था, पर अल्पतम मजदूरी किसी हालत में निर्धारित नहीं करता था।

जैसा कि हमें मालूम है, १६ वीं शताब्दी में मजदूरों की हालत बहुत ज्यादा खराब हो गयी थी। नक़द मजदूरी बढ़ी, पर उस अनुपात में नहीं, जिस अनुपात में मुद्रा का मूल्य कम हो गया था या जिस अनुपात में मालों के दाम बढ़ गये थे। इसलिये, असल में, मजदूरी पहले से कम हो गयी थी। फिर भी मजदूरी को बढ़ने से रोकने वाले सारे क़ानून ज्यों के त्यों लागू रहे, और "जिनको कोई भी आदमी नौकर रखने को तैयार नहीं था", उनके पहले की तरह अब भी कान काटे जाते थे और उनको लाल लोहे से दाग़ा जाता था। एलिजाबेथ के राज्य-काल के ५ वें वर्ष में सीखतर मजदूरों का जो क़ानून पास हुआ था, उसके तीसरे अध्याय के द्वारा स्थानीय मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे कुछ खास तरह के मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर सकते हैं और मौसम तथा मालों के दामों का खयाल रखते हुए उनमें हेर-फेर कर सकते हैं। जेम्स प्रथम ने श्रम के इन तमाम नियमों को बुनकरों, कताई करने वालों और प्रत्येक सम्भव कोटि के मजदूरों पर लागू कर दिया।[2] जार्ज द्वितीय ने

[1] "*Sophisms of Free Trade. By a Barrister*" ('स्वतंत्र व्यापार के कूट तर्कों का एक बैरिस्टर द्वारा विवेचन'), London, 1850, पृ० २०६। इसके आगे वह बड़े तीखे ढंग से कहते हैं: "मालिकों के हित में तो हम तत्काल हस्तक्षेप करने को तैयार हो गये थे; अब क्या काम करने वालों के हित में कुछ नहीं किया जा सकता?" (पृ० २३६)।

[2] जेम्स प्रथम के राज्य-काल के दूसरे क़ानून (अध्याय ६) की एक धारा से पता चलता है कि कपड़ा तैयार करने वाले कुछ कारखानेदारों ने स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में खुद अपने

मजदूरों के संगठनों पर प्रतिबंध लगाने वाले क़ानूनों को हस्तनिर्माणों पर भी लागू कर दिया।

जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, उस काल में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली इतनी काफ़ी मजबूत हो गयी थी कि मजदूरी का क़ानून बनाकर नियमन करना जितना अनावश्यक, उतना ही अव्यावहारिक भी हो गया था। लेकिन शासन करने वाले वर्ग इसके लिये तैयार नहीं थे कि जरूरत के वक़्त इस्तेमाल करने के लिये भी उनके तरकश में ये पुराने तीर न रहें। इसलिये, जार्ज दूसरे के ८ वें क़ानून के अनुसार लन्दन में और आस-पास दर्ज़ीगीरी का काम करने वाले मजदूरों को २ शिलिंग ७$\frac{१}{२}$ पेन्स से अधिक मजदूरी देने की मनाही कर दी गयी थी। केवल सामान्य शोक के समय ही इससे अधिक मजदूरी दी जा सकती थी। जार्ज तीसरे के राज्य-काल के १३ वें वर्ष में बनाये गये एक क़ानून के ६८ अध्याय के मातहत रेशम की बुनाई करने वाले मजदूरों की मजदूरी का नियमन करने की जिम्मेवारी स्थानीय मजिस्ट्रेटों को दे दी गयी थी। उसके भी बाद, १७६६ में, उच्चतर न्यायालयों के दो निर्णयों के बाद कहीं यह प्रश्न तै हो पाया था कि स्थानीय मजिस्ट्रेटों का मजदूरी का नियमन करने का अधिकार ग़ैर-खेतिहर मजदूरों पर भी लागू होता है या नहीं। इसके भी बाद, १७६६ में, संसद ने एक क़ानून बनाकर यह आदेश दिया था कि स्काट खान-मजदूरों की मजदूरी का नियमन एलिजाबेथ के परिनियम और १६६१ तथा १६७१ के दो स्काट क़ानूनों

---

कारखानों में जबर्दस्ती सरकारी तौर पर मजदूरी की दरें निश्चित कर दी थीं। जर्मनी में, खास कर तीसवर्षीय युद्ध के बाद, मजदूरी को बढ़ने से रोकने के लिये क़ानून बनाना एक आम बात थी। "उजड़े हुए इलाक़ों में नौकरों और मजदूरों की कमी से भू-स्वामियों को बहुत कष्ट हो रहा था। चुनांचे तमाम गांववालों को आदेश दिया गया कि अविवाहित पुरुषों और स्त्रियों को कोठरियां किराये पर मत दो, बल्कि इन सब की अधिकारियों को सूचना दो। यदि ये लोग नौकरी करने को राजी नहीं होंगे, तो उनको जेल में डाल दिया जायेगा। अगर वे कोई और काम कर रहे हैं, – मान लीजिये, वे किसानों से रोजाना मजदूरी लेकर बुवाई कर रहे हैं या अनाज की खरीदारी और बिक्री कर रहे हैं, – तो भी यह नियम लागू होगा।" ("*Kaiserliche Privilegien und Sanctionen für Schlesien*" ['साइलीसिया के लिये सम्राट् के विशेष आदेश और आज्ञाएं'], खण्ड १,२५।) "छोटे-छोटे जर्मन राजाओं के आदेशों में पूरी एक शताब्दी तक हमें बार-बार यह कटु शिकायत सुनने को मिलती है कि बदमाश और बदतमीज लोगों की भीड़ अपने फूटे हुए भाग्य पर सब्र करके नहीं बैठती और क़ानूनी मजदूरी से संतोष नहीं करती। राज्य ने जो दरें निश्चित कर दी थीं, कोई भू-स्वामी व्यक्तिगत रूप से उनसे अधिक मजदूरी नहीं दे सकता था। और फिर भी युद्ध के बाद नौकरी की शर्तें कभी-कभी इतनी अच्छी होती थीं कि उसके सौ वर्ष बाद भी उतनी अच्छी शर्तों पर नौकरी नहीं मिलती थी। १६५२ में साइलीसिया के खेत-मजदूरों को हफ़्ते में दो बार खाने को मांस मिल जाता था, जब कि हमारी वर्तमान शताब्दी में ऐसे इलाक़े भी हैं, जहां खेत-मजदूरों को वर्ष में केवल तीन बार ही मांस मिलता है। इसके अलावा, युद्ध के बाद मजदूरी भी अगली शताब्दी की तुलना में ऊंची थी।" (G. Freytag, "*Neue Bilder aus dem Leben des deutschen Volkes*", Leipzig, 1862, पृ० ३४, ३५।)

के अनुसार ही होता रहेगा। इस बीच परिस्थिति में कितना मौलिक परिवर्तन हो गया था, यह इंगलैण्ड के हाउस प्राफ़ कामन्स की एक अभूतपूर्व घटना से स्पष्ट हो जाता है। वहां चार सौ वर्षों से अधिक समय से अधिकतम मजदूरी निर्धारित करने वाले क़ानून बनाये जा रहे थे, जिनके द्वारा तै कर दिया जाता था कि मजदूरी किसी भी हालत में अमुक दर से ऊपर नहीं उठ पायेगी। पर इसी हाउस प्राफ़ कामन्स में १७९६ में व्हाइटब्रैड ने खेतिहर मजदूरों के लिये एक अल्पतम मजदूरी निश्चित करने का प्रस्ताव किया। पिट ने इसका विरोध किया, मगर यह स्वीकार किया कि "ग़रीबों की हालत सचमुच बहुत ख़राब (cruel) है"। अन्त में, १८१३ में मजदूरी का नियमन करनेवाले क़ानून रद्द कर दिये गये। अब वे एक हास्यास्पद असंगति प्रतीत होते थे, क्योंकि पूंजीपति अपने निजी क़ानूनों द्वारा अपनी फ़ैक्टरी का नियमन करता था और खेतिहर मजदूरों की मजदूरी को ग़रीबों को मिलने वाली सार्वजनिक सहायता के द्वारा अपरिहार्य अल्पतम स्तर पर पहुंचा सकता था। श्रम के परिनियमों की वे धाराएं आज भी (१८७३ में) पूरी तरह लागू हैं, जिनका मालिकों तथा मजदूरों के क़रार, नोटिस देने की आवश्यकता और इसी प्रकार की अन्य बातों से सम्बंध है। इन धाराओं के अनुसार मालिक के क़रार तोड़ने पर उसके ख़िलाफ़ केवल दीवानी कार्रवाई ही की जा सकती थी, लेकिन, इसके विपरीत, क़रार तोड़ने वाले मजदूर के ख़िलाफ़ फ़ौजदारी कार्रवाई हो सकती थी।

मजदूर-यूनियनों पर प्रतिबंध लगाने वाले बर्बर क़ानून क्रुद्ध सर्वहारा के डर से १८२५ में रद्द कर दिये गये। फिर भी उनको केवल आंशिक रूप में ही समाप्त किया गया। पुराने परिनियम के कुछ सुन्दर अंश १८५६ तक लागू रहे। अन्त में, २९ जून १८७१ को संसद ने एक क़ानून के द्वारा मजदूर-यूनियनों को क़ानूनी स्वीकृति देकर इस प्रकार के क़ानूनों के अन्तिम अवशेषों को भी मिटा देने का ढोंग रचा। परन्तु असल में उसी तारीख़ को एक और क़ानून (an act to amend the criminal law relating to violence, threats and molestation [वह क़ानून, जिसके द्वारा हिंसा, धमकियों और हमलों से सम्बंधित क़ानून में संशोधन किया गया था]) बनाकर पुरानी परिस्थिति को एक नये रूप में पुनः स्थापित कर दिया गया। इस संसदीय बाजीगरी के जरिये मजदूर हड़ताल या तालाबन्दी के समय जिन साधनों का प्रयोग कर सकता था, उनको सभी नागरिकों पर सामान्य रूप से लागू होने वाले क़ानूनों के क्षेत्र से हटाकर कुछ असाधारण दण्ड सम्बंधी क़ानूनों के अधीन कर दिया गया तथा इन क़ानूनों की व्याख्या करने का अधिकार स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में ख़ुद मालिकों को ही प्राप्त हुआ। इसके दो वर्ष पहले इसी हाउस प्राफ़ कामन्स में और इन्हीं मि० ग्लैडस्टन ने अपने सुपरिचित स्पष्टवादी ढंग से मजदूर-वर्ग के ख़िलाफ़ बनाये गये असाधारण दण्ड सम्बंधी तमाम क़ानूनों को रद्द करने के लिये एक बिल पेश किया था। परन्तु उस बिल को द्वितीय पठन के आगे नहीं बढ़ने दिया गया, और वह उस वक़्त तक खटाई में पड़ा रहा, जब तक कि "महान उदार दल" ने अनुदार दल के साथ गठबंधन करके उसी सर्वहारा का विरोध करने का साहस नहीं कर लिया, जिसके बल पर वह सत्ता प्राप्त करने में सफल हुआ था। "महान उदार दल" को इस विश्वासघात से भी सन्तोष नहीं हुआ। उसने अंग्रेज न्यायाधीशों को, जो शासक वर्गों की सेवा के लिये सदैव प्रस्तुत रहते हैं, "षड्यंत्र" और "साजिश" रोकने के लिये बनाये गये पुराने क़ानूनों को फिर से खोदकर निकालने और मजदूरों के संगठनों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी। इस तरह हम देखते हैं कि इंगलैण्ड की संसद ने, ५०० वर्ष तक

अत्यन्त अहंवादी निर्लज्जता के साथ ख़ुद मज़दूरों के ख़िलाफ़ पूंजीपतियों की एक स्थायी यूनियन के रूप में काम करने के बाद, केवल अपनी इच्छा के विरुद्ध और जनता के दबाव से मजबूर होकर ही हड़तालों और मज़दूर-यूनियनों के ख़िलाफ़ बनाये गये क़ानूनों को रद्द किया था।

फ़्रांस के पूंजीपति-वर्ग ने क्रान्ति की पहली आंधी उठने के समय ही मज़दूरों से संगठन का कुछ ही समय पहले प्राप्त अधिकार छीन लेने का दुस्साहस किया था। १४ जून १७६१ के एक अध्यादेश के द्वारा मज़दूरों के तमाम संगठनों को "स्वतंत्रता तथा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा का अतिक्रमण करने का प्रयत्न" क़रार दे दिया गया और ऐलान कर दिया गया कि ऐसे प्रत्येक प्रयत्न के लिये ५०० लिव्र जुर्माना किया जायेगा और अपराधी व्यक्ति से एक वर्ष के लिये सक्रिय नागरिक के समस्त अधिकार छीन लिये जायेंगे।[1] यह क़ानून, जिसने राज्य की शक्ति का प्रयोग करके, पूंजी और श्रम के संघर्ष को पूंजी के लिये सुविधाजनक सीमाओं के भीतर सीमित कर दिया था, अनेक क्रान्तियों और राजवंशों के परिवर्तनों के बावजूद जीवित रहा। यहां तक कि "आतंक का शासन" भी उसे नहीं छू पाया। यह क़ानून केवल अभी हाल में रद्द हुआ है। इस पूंजीवादी सत्ता-विपर्यय के लिये जो बहाना बनाया गया, वह बहुत अर्थपूर्ण है। इस क़ानून के सम्बंध में बनायी गयी प्रवर समिति की ओर से रिपोर्ट पेश करते हुए लॅपेलिये ने कहा था: "यह मानते हुए भी कि आजकल जितनी मज़दूरी मिलती है, उससे थोड़ी ज़्यादा मिलनी चाहिये,... और वह जिसको दी जाती है, उसके लिये पर्याप्त होनी चाहिये, ताकि वह व्यक्ति नितान्त परवशता की उस अवस्था में न पहुंच जाये, जो

---

[1] इस क़ानून की पहली धारा इस प्रकार है: "L'anéantissement de toute espèce de corporations du même état et profession étant l'une des bases fondamentales de la constitution française, il est défendu de les rétablir de fait sous quelque prétexte et sous quelque forme que ce soit" ("समान सामाजिक स्तर और पेशे के लोगों के हर प्रकार के संगठनों को नष्ट कर देना चूंकि फ़्रांसीसी विधान का एक मूलाधार है, इसलिये ऐसे संगठनों की किसी भी बहाने से और किसी भी रूप में पुनर्स्थापना करने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है")। चौथी धारा में कहा गया है कि यदि "des citoyens attachés aux mêmes professions, arts et métiers prenaient des délibérations, faisaient entre eux des conventions tendantes à refuser de concert ou à n'accorder qu'à un prix déterminé le secours de leur industrie ou de leurs travaux, les dites délibérations et conventions... seront déclarées inconstitutionnelles, attentatoires à la liberté et à la declaration des droits de l'homme, &c." ("समान धंधों, कलाओं या व्यवसायों में लगे हुए नागरिक अपने उद्योग अथवा अपने श्रम के रूप में सहायता देने से इनकार करने के उद्देश्य से या केवल एक निश्चित दाम के एवज़ में बेचने के उद्देश्य से आपस में विचार-विनिमय करेंगे या कोई समझौता करेंगे, तो उस प्रकार के प्रत्येक विचार-विनिमय और समझौते को ... अवैध घोषित कर दिया जायेगा और उसे स्वतंत्रता तथा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा पर आक्रमण समझा जायेगा, इत्यादि")। असल में पुराने मज़दूर-क़ानूनों की ही भांति इस क़ानून के द्वारा भी मज़दूर-संगठन को एक घोर अपराध क़रार दे दिया गया था। (*"Révolutions de Paris"*, Paris, 1791, ग्रंथ ३, पृ० ५२३।)

जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के अभाव के कारण पैदा हो जाती है और जो लगभग दासता के समान होती है,"—यह सब मानते हुए भी मजदूरों को खुद अपने हितों के बारे में आपस में समझौता करने या कोई संयुक्त कार्रवाई करने की और इस तरह अपनी उस "नितान्त परवशता" को कम करने की इजाजत नहीं देनी चाहिये, "जो लगभग दासता के समान होती है," क्योंकि ऐसा करके मजदूर असल में "अपने भूतपूर्व मालिकों और वर्तमान उद्यमकर्ताओं" को हानि पहुंचायेंगे" और क्योंकि शिल्पी संघों के भूतपूर्व मालिकों की निरंकुशता का मिलकर विरोध करना—जरा बताइये तो, वह क्या है?—उन शिल्पी संघों की पुनर्स्थापना करना है, जिनको फ़्रांसीसी विधान ने भंग कर दिया है।[1]

---

[1] Buchez et Roux, "*Histoire Parlementaire*", खण्ड १०, पृ० १९५।

## उन्तीसवां अध्याय

## पूंजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति

इस विषय पर हम विचार कर चुके हैं कि जिनको किसी भी क़ानून का संरक्षण नहीं प्राप्त था, ऐसे सर्वहारा व्यक्तियों के वर्ग को किस तरह जबर्दस्ती पैदा किया गया था। हम उस बर्बर अनुशासन का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसके द्वारा इन लोगों को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों में बदल दिया गया था। और हम यह भी देख चुके हैं कि श्रम के शोषण की मात्रा को बढ़ाकर पूंजी के संचय में तेजी लाने के उद्देश्य से राज्य ने कितने निर्लज्ज ढंग से अपनी पुलिस का इस्तेमाल किया था। अब केवल यह प्रश्न रह जाता है कि इन पूंजीपतियों की शुरू में कैसे उत्पत्ति हुई थी? कारण कि खेतिहर आबादी की सम्पत्ति के अपहरण से प्रत्यक्ष रूप में केवल बड़े-बड़े भू-स्वामियों का ही जन्म होता है। लेकिन जहां तक पूंजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति का सम्बंध है, हम उसके रहस्य का भी पता लगा सकते हैं, क्योंकि वह एक बहुत ही धीमी क्रिया थी, जिसमें कई शताब्दियां लग गयी थीं। छोटे-छोटे स्वतंत्र भू-स्वामियों की तरह कृषि-दासों को भी अनेक प्रकार की शर्तों पर भूमि मिली हुई थी, और इसलिये उनको बहुत भिन्न प्रकार की आर्थिक परिस्थितियों में कृषि-दासता से मुक्ति प्राप्त हुई।

इंगलैण्ड में काश्तकार का पहला रूप bailiff (कारिन्दे) का था, जो खुद भी कृषि-दास था। उसकी स्थिति प्राचीन रोम के villicus की स्थिति से मिलती-जुलती थी, हालांकि उसका कार्य-क्षेत्र अधिक सीमित था। १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका स्थान एक ऐसे काश्तकार ने ले लिया, जिसको बीज, ढोर और औजार जमींदार से मिल जाते थे। उसकी हालत किसान की हालत से बहुत भिन्न नहीं थी। अन्तर केवल इतना था कि वह किसान की अपेक्षा मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के श्रम का अधिक शोषण करता था। शीघ्र ही वह "métayer"—या बटाई पर खेती करने वाला किसान—बन गया, जो एक तरह से आधा काश्तकार होता था। खेती में कुछ पूंजी वह और कुछ जमींदार लगाता था। कुल उपज को दोनों क़रार में निश्चित अनुपात के अनुसार बांट लेते थे। इंगलैण्ड में यह रूप भी शीघ्र ही खत्म हो गया, और उसकी जगह वास्तविक काश्तकार ने ले ली, जो मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों को नौकर रखकर खुद अपनी पूंजी का विस्तार करता है और अतिरिक्त पैदावार का एक भाग जिन्स या मुद्रा के रूप में जमींदार को बतौर लगान के दे देता है।

१५ वीं शताब्दी में, जब तक स्वतंत्र किसान और आंशिक रूप में मजदूरी के एवज में और आंशिक रूप में खुद अपने लिये काम करने वाला खेतिहर मजदूर खुद अपने श्रम से अपना धन बढ़ाते रहे, तब तक काश्तकार की आर्थिक हालत कभी बहुत अच्छी नहीं हुई और उसका उत्पादन का क्षेत्र भी बहुत नहीं बढ़ पाया। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतीस वर्षों में जो

कृषि-क्रान्ति आरम्भ हुई और जो १६ वीं शताब्दी में (उसके अन्तिम दशक को छोड़कर) लगभग बराबर जारी रही, उसने ग्राम खेतिहर आबादी को जितनी जल्दी ग़रीब बनाया, उतनी ही जल्दी काश्तकार को धनी बना दिया।[1]

सामूहिक जमीन के अपहरण से उसे लगभग एक पैसा ख़र्च किये बिना अपने पशुओं की संख्या बढ़ाने का मौक़ा मिला और पशुओं की बढ़ी हुई संख्या से उसे अपनी धरती को उपजाऊ बनाने के लिये पहले से कहीं अधिक खाद मिलने लगी। १६ वीं शताब्दी में एक बहुत महत्वपूर्ण तत्व इसके साथ जुड़ गया। उस जमाने में फ़ार्मों के पट्टे बहुत लम्बी अवधि के लिये, और ६६ वर्ष के लिये, लिखे जाते थे। बहुमूल्य धातुओं के मूल्य में और इसलिये मुद्रा के मूल्य में उत्तरोत्तर गिराव आते जाने से काश्तकारों की चांदी हो गयी। ऊपर हम जिन विभिन्न कारणों की चर्चा कर चुके हैं, उन कारणों के अलावा इस कारण से भी मजदूरी की दर कम हो गयी। अब मजदूरी का एक भाग फ़ार्म के मुनाफ़े में जुड़ गया। अनाज, ऊन, मांस और संक्षेप में कहें, तो खेती की हर तरह की पैदावार के दाम लगातार बढ़ते जा रहे थे। उसका फल यह हुआ कि काश्तकार के किसी यत्न के बिना ही उसकी नक़द पूंजी में बहुत इजाफ़ा हो गया। और उसे जो लगान देना पड़ता था, वह चूंकि मुद्रा के पुराने मूल्य के अनुसार ही लिया जाता था, इसलिये वह असल में कम हो गया।[2] इस प्रकार, काश्तकार लोग अपने मजदूरों और जमींदारों, दोनों

---

[1] हैरिसन ने अपनी रचना "*Description of England*" ('इंगलैण्ड का वर्णन') में कहा है कि "पुराना लगान, सम्भव है, चार पौण्ड से बढ़कर चालीस पौण्ड हो गया हो, पर यदि वर्ष के अन्त में काश्तकार के पास छः या सात साल का लगान – पचास या सौ पौण्ड नहीं बच रहते, तो वह समझेगा कि उसे बहुत कम लाभ हुआ है।"

[2] १६ वीं शताब्दी में मुद्रा के मूल्य-ह्रास का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके विषय में "*A Compendious or Briefe Examination of Certayne Ordinary Complaints of Divers of our Countrymen in these our Days. By W. S. Gentleman*" ['हमारे विभिन्न देशवासियों की वर्तमान काल की कुछ साधारण शिकायतों का सारभूत अथवा संक्षिप्त विवेचन।' – डब्ल्यू० एस०, जैंटिलमैन, द्वारा लिखित।] (London, 1581) देखिये। यह रचना संवाद के रूप में लिखी गयी है। इसलिये बहुत समय तक लोगों का यह विचार रहा कि उसके रचयिता शेक्सपियर हैं, और यहां तक कि १७५१ में भी वह शेक्सपियर के नाम से प्रकाशित हुई थी। वास्तव में उसके लेखक विलियम स्टैफ़र्ड थे। इस पुस्तक में एक स्थल है, जहां सूरमा सरदार (knight) इस प्रकार तर्क करता है:

सूरमा सरदार: "आप, मेरे पड़ोसी, जो काश्तकारी करते हैं, और आप, जो कपड़े का व्यापार करते हैं, और आप भी, जो कसेरे हैं, तथा अन्य सब कारीगर, आप सब ख़ूब कमा रहे हैं। क्योंकि तमाम चीज़ें पहले के मुक़ाबले में जितनी महंगी हो गयी हैं, आपने अपने सामान के दाम और अपनी सेवाओं के दाम, जिन्हें आप फिर बेच देते हैं, उतने ही बढ़ा दिये हैं। लेकिन हमारे पास तो ऐसी कोई भी चीज़ बेचने के लिये नहीं है, जिसके दाम बढ़ाकर हम उन चीज़ों के बढ़े हुए दामों की क्षति-पूर्ति कर लेते, जो हमें अवश्य ही फिर ख़रीदनी पड़ेंगी।" एक और स्थल है, जहां सूरमा सरदार डाक्टर से पूछता है: "कृपा करके यह तो बताइये कि वे कौन लोग हैं, जिनका आप ज़िक्र कर रहे हैं। और सबसे पहले, वे लोग कौनसे हैं, जिनके धंधे में, आपके विचार से, नुक़सान नहीं हो सकता?" – डाक्टर: "मेरा

का गला काटकर अधिकाधिक धनी बनते गये। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि १६ वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैण्ड में पूंजीवादी काश्तकारों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था, जो उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए काफ़ी धनी था।[1]

---

मतलब उन लोगों से है, जो क्रय-विक्रय करके जीविका कमाते हैं, क्योंकि वे जितना महंगा ख़रीदते हैं, उतना ही महंगा बेचते हैं।"—**सूरमा सरदार:** "और कौन लोग हैं, जो, आप कहते हैं, फ़ायदे में रहेंगे?"—**डाक्टर:** "वाह! अरे, वे सब लोग, जिनको पुराने लगान पर ज़मीन जोतने के लिये मिली हुई है, क्योंकि वे लगान देते हैं पुरानी दर के मुताबिक़ और बेचते हैं नयी दर के अनुसार। यानी अपनी ज़मीन की उन्हें बहुत सस्ती क़ीमत देनी होती है और उसपर जो तमाम चीज़ें पैदा होती हैं, उन्हें वे बहुत महंगी बेचते हैं..."—**सूरमा सरदार:** "और, आपके कहने के मुताबिक़, इन लोगों को जितना मुनाफ़ा होता है, उससे ज़्यादा जिनका नुक़सान हो रहा है, वे लोग कौनसे हैं?"—**डाक्टर:** "वे हैं ये सारे अभिजात वर्ग के लोग, भद्र पुरुष और वे सब, जो या तो एक निश्चित लगान या एक निश्चित वेतन के सहारे रहते हैं, या जो ज़मीन को नहीं जोतते, या जो क्रय-विक्रय नहीं करते।"

[1] फ़्रांस में régisseur, जो मध्य युग के शुरू के दिनों में सामन्ती प्रभुओं का मुनीम, कारिन्दा और लगान जमा करने वाला गुमाश्ता भी था, शीघ्र ही homme d'affaires (व्यवसायी व्यक्ति) बन गया, और नोच-खसोट, धोखाधड़ी आदि के ज़रिये अपनी थैलियां भरकर पूंजीपति बन बैठा। इन régisseurs में से कुछ गुमाश्ते तो ख़ुद भी कभी अभिजात वर्ग के थे। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित उद्धरण देखिये: "C'est li compte que messire Jacques de Thoraine, chevalier chastelain sor Besançon rent ès-seigneur tenant les comptes à Dijon pour monseigneur le duc et comte de Bourgoigne, des rentes appartenant à la dite chastellenie, depuis xxve jour de decembre MCCCLIX jusqu'au xxviiie jour de décembre MCCCLX" ["बेसांकों के दुर्गपति सरदार श्री जैक दे थोरेन ने दिजों में बर्गंदी के ड्यूक और काउण्ट की ओर से हिसाब-किताब रखने वाले श्रीमन्त के सामने उपर्युक्त जागीर में २५ दिसम्बर १३५६ से दिसम्बर १३६० के अट्ठाईसवें दिन तक की लगान की वसूली की रिपोर्ट पेश की"]। (Alexis Monteil, "*Traité de Matériaux Manuscrits, etc.*", पृ० २३४, २३५।) यहां वह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वोत्तम भाग बिचौलिये हड़प जाते हैं। मिसाल के लिये, आर्थिक क्षेत्र में, वित्त-प्रबंधक, शेयर-बाज़ार के सट्टेबाज़, सौदागर और दूकानदार सारी मलाई खा जाते हैं; दीवानी के मामलों में वकील अपने मुवक्किलों को मूंड़ लेता है; राजनीति में प्रतिनिधि का मतदाताओं से और मंत्री का राजा से अधिक महत्त्व होता है; धर्म में भगवान को "मध्यस्थ"— अथवा ईसा मसीह—पृष्ठ-भूमि में डाल देता है, और ईसा मसीह को पादरी लोग पृष्ठ-भूमि में धकेल देते हैं, क्योंकि ईसा और उसकी "भेड़ों" के बीच उनकी मध्यस्थता अनिवार्य होती है। इंगलैण्ड की तरह फ़्रांस में भी सामन्तों की बड़ी-बड़ी जागीरें असंख्य छोटी-छोटी जोतों में बंट गयी थीं, मगर वहां वह बंटवारा जनता के दृष्टिकोण से इंगलैण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ था। १४ वीं शताब्दी में फ़ार्मों—अथवा terriers—का जन्म हुआ। उनकी संख्या बराबर बढ़ती गयी और १,००,००० से कहीं आगे निकल गयी। इन फ़ार्मों

## तीसवां अध्याय

## कृषि-क्रान्ति की उद्योग में प्रतिक्रिया।—औद्योगिक पूंजी के लिये घरेलू मण्डी का जन्म

खेतिहर आबादी के सम्पत्ति-अपहरण और निष्कासन की क्रिया बीच-बीच में रुक जाती थी, पर वह हर बार नये सिरे से शुरू हो जाती थी। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस क्रिया से शहरों को सर्वहारा मजदूरों की एक ऐसी विशाल संख्या प्राप्त हुई थी, जिसका संगठित शिल्पी संघों से तनिक भी सम्बंध न था और जिसके लिये इन शिल्पी संघों के बंधनों का कोई अस्तित्व न था। यह परिस्थिति इतनी सुविधाजनक थी कि वृद्ध ए० ऐण्डर्सन ने (जिनको जेम्स ऐण्डर्सन के साथ नहीं गड़बड़ा देना चाहिये) तो अपने *"History of Commerce"* ('वाणिज्य का इतिहास') म यह मत प्रकट किया है कि इस चीज के पीछे जरूर भगवान का प्रत्यक्ष हाथ रहा होगा। यहां हमें फिर एक क्षण के लिये रुककर आदिम संचय के इस तत्त्व पर विचार करना होगा। स्वतंत्र, आत्म-निर्भर किसानों की संख्या कम हो जाने का केवल यही फल नहीं हुआ कि शहरों में औद्योगिक सर्वहारा की उसी तरह रेल-पेल होने लगी, जिस तरह ज्यौफ़्री सेंट हिलेयर की व्याख्या के अनुसार जब अन्तरिक्षीय पदार्थ का एक स्थान पर विरलन हो जाता है, तो दूसरे स्थान पर उसका संघनन हो जाता है।[1] भूमि के जोतने वालों की संख्या तो पहले से कम हो गयी थी, पर उपज पहले जितनी ही या उससे भी अधिक होती थी, क्योंकि भू-सम्पत्ति के रूपों में क्रान्ति होने के साथ-साथ खेती के तरीक़ों में अनेक सुधार हो गये थे, पहले से अधिक सहकारिता का प्रयोग होने लगा था, उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण हो गया था, इत्यादि,

---

को जो लगान देना पड़ता था, वह जिन्स या मुद्रा के रूप में उनकी उपज के बारहवें हिस्से से लेकर पांचवें हिस्से तक होता था। इन फ़ार्मों की हैसियत उनके मूल्य तथा विस्तार के अनुसार जागीरों और उप-जागीरों (fiefs, arrière-fiefs) आदि की होती थी। उनमें से बहुत से तो केवल कुछ ही एकड़ के फ़ार्म थे। लेकिन इन काश्तकारों को अपनी भूमि पर रहने वालों के मुक़दमे निपटाने का कुछ हद तक अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार के अधिकारों की चार कोटियां थीं। ये छोटे-छोटे अत्याचारी खेतिहर आबादी पर कैसा जुल्म करते होंगे, यह आसानी से समझ में आ सकता है। मौन्तील ने बताया है कि फ़्रांस में, जहां आजकल अब स्थानीय मजिस्ट्रेटों के केवल ४,००० अदालतें काफ़ी हैं, एक समय १,६०,००० न्यायाधीश थे।

[1] ज्यौफ़्री सेंट हिलेयर [Geoffroy Saint Hilaire] ने यह बात अपनी रचना *"Notions de Philosophie Naturelle"* (Paris, 1838) में कही है।

और क्योंकि न केवल खेतिहर मजदूरों से पहले से अधिक तीव्र परिश्रम कराया जाता था,[1] बल्कि वे उत्पादन के जिस क्षेत्र में अपने लिये काम करते थे, वह अधिकाधिक संकुचित होता जाता था। इसलिये, जब खेतिहर आबादी के एक भाग को भूमि से मुक्त कर दिया गया, तो पोषण के भूतपूर्व साधनों का भी एक भाग मुक्त हो गया। ये साधन अब अस्थिर पूंजी के भौतिक तत्वों में रूपान्तरित हो गये। किसान, जिसकी सम्पत्ति छिन गयी थी और जो अब दर-दर की ठोकर खाता घूम रहा था – उसे अब अपने नये मालिक – औद्योगिक पूंजीपति – से इन साधनों का मूल्य अनिवार्यतः मजदूरी के रूप में प्राप्त करना था। जो बात जीवन-निर्वाह के साधनों के लिये सच है, वही घरेलू खेती पर निर्भर करने वाले उद्योग के कच्चे माल के लिये भी सच है। यह कच्चा माल स्थिर पूंजी का एक तत्व बन गया।

उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि वेस्टफ़ालिया के उन किसानों के एक भाग को, जो फ़्रेडेरिक द्वितीय के राज्य-काल में फ़्लैक्स की कताई किया करते थे, भूमि से खदेड़ दिया जाता है और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती है, और उनका जो भाग वहां बच जाता है, वह बड़े काश्तकारों के खेतों पर मजदूरी करने लगता है। साथ ही फ़्लैक्स की कताई और बुनाई के बड़े-बड़े कारखाने खुल जाते हैं, जिनमें वे लोग मजदूरी करते हैं, जो इस तरह "मुक्त" कर दिये गये हैं। फ़्लैक्स देखने में अब भी पहले जैसा ही लगता है। उसका एक रेशा तक नहीं बदला, मगर अब उसकी देह में एक नयी सामाजिक आत्मा आकर बैठ गयी है। अब वह कारखाने के मालिक की स्थिर पूंजी का एक भाग बन गया है। पहले वह बहुत से छोटे-छोटे उत्पादकों के बीच बंटा हुआ था, जो खुद उसकी खेती किया करते थे और अपने बाल-बच्चों की मदद से थोड़ा-थोड़ा करके उसे घर पर ही कात डालते थे। अब वह सारा एक पूंजीपति के हाथों में केन्द्रित हो जाता है, जो दूसरे आदमियों से अपने लिये उसकी कताई और बुनाई कराता है। पहले फ़्लैक्स की कताई में जो अधिक श्रम खर्च होता था, वह अनेक किसान परिवारों की अधिक आय के रूप में साकार हो उठता था; या सम्भव है कि फ़्रेडेरिक द्वितीय के काल में वह प्रशिया के राजा को दिये जाने वाले (pour le roi de Prusse) करों का रूप धारण कर लेता हो। पर अब वह चन्द पूंजीपतियों के मुनाफ़े का रूप धारण कर लेता है। चर्खे और करघे, जो पहले सारे देहात में बिखरे हुए थे, अब मजदूरों और कच्चे माल के साथ चन्द बड़ी-बड़ी श्रम-बारिकों में एकत्रित कर दिये जाते हैं। और ये चर्खे, करघे और कच्चा माल अब पहले की तरह कताई करने वालों तथा बुनाई करने वालों के स्वतंत्र जीविका कमाने के साधन न रहकर इन लोगों पर हुक्म चलाने और उनका अवेतन श्रम चूसने के साधन बन जाते हैं।[2] बड़ी-बड़ी हस्तनिर्माणशालाओं और बड़े-बड़े फ़ार्मों को देखकर कोई यह नहीं सोचेगा कि उत्पादन के बहुत से छोटे-छोटे केन्द्रों को एक में जोड़ देने से इनका जन्म हुआ है और बहुत से छोटे-छोटे स्वतंत्र उत्पादकों की सम्पत्ति

---

[1] इस बात पर सर जेम्स स्टीवर्ट ने जोर दिया है।

[2] पूंजीपति का कहना यह है कि "Je permettrai que vous ayez l'honneur de me servir, à condition que vous me donnez le peu qui vous reste pour la peine que je prends de vous commander" ["मैं तुम्हें यह इज्जत बख़्शूंगा कि तुमसे अपनी सेवा कराऊंगा, बशर्ते कि तुम्हें हुक्म देने में मुझे जो कष्ट होगा, उसके एवज़ में तुम्हारे पास जो कुछ बचा है, वह तुम मुझे सौंप दो"]। (J. J. Rousseau, "*Discours sur l'Economie Politique*") [Jeneva, 1756, पृ० ७०]।)

का अपहरण करके इनका निर्माण किया गया है। परन्तु जनता की सहज बुद्धि ने वास्तविकता को समझने में ग़लती नहीं की। क्रान्ति-केसरी मिराबो के काल में भी बड़ी-बड़ी हस्तनिर्माणशालाएं "manufactures réunies" – या "कई वर्कशापों को जोड़कर बनायी गयी संयुक्त वर्कशापें" – कहलाती थीं, जैसे खेतों के बारे में कहा जाता था कि कई खेत मिलाकर एक कर दिये गये हैं। मिराबो ने कहा है: "हम केवल उन विशाल हस्तनिर्माणशालाओं की ओर ही ध्यान देते हैं, जिनमें सैकड़ों आदमी एक संचालक की देखरेख में काम करते हैं और जिनको आम तौर पर manufactures réunies (कई वर्कशापों को जोड़कर बनायी गयी संयुक्त वर्कशापें) कहा जाता है। उन हस्तनिर्माणशालाओं की ओर हम कोई ध्यान नहीं देते, जिनमें बहुत सारे मजदूर अलग-अलग और अपने ही लिये काम करते हैं। वे पहले ढंग की हस्तनिर्माणशालाओं से एकदम दूर जा पड़ती हैं। लेकिन उनको पृष्ठ-भूमि में डाल देना एक बहुत बड़ी ग़लती है, क्योंकि असल में ये दूसरे ढंग की हस्तनिर्माणशालायें ही राष्ट्रीय समृद्धि का महत्वपूर्ण आधार होती हैं... बड़ी वर्कशाप (manufacture réunie) से एक या दो उद्यमकर्ता असाधारण रूप से धनी बन जायेंगे, लेकिन मजदूर न्यूनाधिक मजदूरी पाने वाले मजदूर ही बने रहेंगे और व्यवसाय की सफलता में उनका कोई भाग नहीं होगा। छोटी और अलग से काम करने वाली वर्कशाप (manufacture séparée) में, इसके विपरीत, कोई धनी नहीं बन पायेगा, लेकिन बहुत से मजदूर आराम से जीवन बिता सकेंगे। उनमें जो मितव्ययी और परिश्रमी होंगे, वे थोड़ी सी पूंजी जमा कर लेंगे और सन्तानोत्पत्ति के समय के लिये, बीमारी के वक़्त के लिये, अपने ऊपर खर्च करने के लिये या कोई चीज़-वस्तु खरीदने के लिये कुछ बचा लेंगे। मितव्ययी और परिश्रमी मजदूरों की संख्या बढ़ती जायेगी, क्योंकि वे खुद अपने अनुभव से यह देखेंगे कि अच्छा आचरण और क्रियाशीलता मूलतया उनकी अपनी स्थिति में सुधार करने का साधन है, न कि मजदूरी में थोड़ा इजाफ़ा कराने का, जिसका भविष्य के लिये कभी कोई महत्व नहीं हो सकता और जिसका एकमात्र परिणाम यही होता है कि आदमी थोड़ी बेहतर जिन्दगी बिताने लगता है, मगर फिर भी उसे रोज कुआं खोदकर पानी पीना पड़ता है... बड़ी वर्कशाप कुछ व्यक्तियों का निजी व्यवसाय होती है, जो मजदूरों को रोजाना मजदूरी देकर उनसे अपने हित में काम कराते हैं। इस प्रकार की वर्कशापों से इन व्यक्तियों को सुख मिल सकता है, लेकिन वे कभी इस लायक़ नहीं बन सकतीं कि सरकारें उनकी ओर ध्यान दें। स्वतंत्र वर्कशाप केवल अलग-अलग काम करने वाले मजदूरों की उन छोटी वर्कशापों को ही समझा जा सकता है, जिनके साथ प्रायः छोटी-छोटी जोतों की खेती भी जुड़ी रहती है।"[1] जब खेतिहर आबादी के एक भाग की सम्पत्ति छीन ली गयी और उसे जमीन से बेदख़ल कर दिया गया, तो उससे न केवल मजदूर, उनके जीवन-निर्वाह के साधन तथा श्रम की सामग्री औद्योगिक पूंजी के वास्ते काम करने को स्वतंत्र हो गयीं, बल्कि घरेलू मण्डी भी तैयार हो गयी।

सच तो यह है कि जिन घटनाओं ने छोटे किसानों को मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों में और उनके जीवन-निर्वाह तथा श्रम करने के साधनों को पूंजी के भौतिक तत्वों में बदल डाला

---

[1] Mirabeau, उप० पु०, ग्रंथ ३, पृ० २०–१०६, विभिन्न स्थानों पर। मिराबो यदि अलग-अलग काम करने वाले मजदूरों की वर्कशापों को "संयुक्त" वर्कशापों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक और उत्पादक समझते थे और "संयुक्त" वर्कशापों को सरकार द्वारा बनावटी ढंग से पैदा किया गया एक परदेशी पौधा मानते थे, तो उसका कारण यह है कि उस काल के योरपीय महाद्वीप के अधिकतर कारख़ानों की हालत कुछ इसी तरह की थी।

था, उन्हीं घटनाओं ने पूंजी के लिये एक घरेलू मण्डी भी तैयार कर दी थी। पहले किसान का परिवार जीवन-निर्वाह के साधन और कच्चा माल तैयार करता था, और इन चीज़ों के अधिकतर भाग का उपभोग भी प्रायः किसान और उसके परिवार के लोग ही कर डालते थे। पर अब इस कच्चे माल ने और जीवन-निर्वाह के इन साधनों ने मालों का रूप धारण कर लिया है। इन चीज़ों को बड़े-बड़े काश्तकार बेचते हैं; उनकी मण्डी है हस्तनिर्माणशालायें। सूत, लिनेन, ऊन का मोटा सामान — वे तमाम चीज़ें, जिनका कच्चा माल पहले हर किसान-परिवार की पहुंच के भीतर था और जिनको प्रत्येक किसान-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिये कात-बुनकर तैयार कर लिया करता था, अब हस्तनिर्माणशालाओं की बनी चीज़ों में रूपान्तरित हो गयीं, और देहाती इलाक़े इन हस्तनिर्माणशालाओं के लिये तुरन्त मण्डियों का काम करने लगे। पहले स्वयं अपने हित में उत्पादन करने वाले छोटे-छोटे कारीगर अपनी बनायी हुई चीज़ें बहुत से बिखरे हुए ग्राहकों के हाथ बेच दिया करते थे। अब वे ग्राहक एक बड़ी मण्डी में केन्द्रित हो जाते हैं, जिसकी आवश्यकताओं की पूर्ति औद्योगिक पूंजी करती है।[1] इस प्रकार, जहां एक ओर आत्मनिर्भर किसानों की सम्पत्ति का अपहरण किया जाता है और उनको उनके उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया जाता है, वहां, दूसरी ओर, इसके साथ-साथ देहात के घरेलू उद्योग को भी नष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार हस्तनिर्माण और खेती का सम्बन्ध-विच्छेद करने की क्रिया सम्पन्न की जाती है। और केवल देहात के घरेलू उद्योग के विनाश से ही किसी देश की अन्दरूनी मण्डी को वह विस्तार तथा वह स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिनकी उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली को आवश्यकता होती है।

फिर भी जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, वह इस रूपान्तरण को मूलभूत रूप से तथा पूरी तरह कार्यान्वित करने में सफल नहीं होता। पाठकों को याद होगा कि जिसे सचमुच हस्तनिर्माण कहा जा सकता है, वह राष्ट्रीय उत्पादन के सारे क्षेत्र पर केवल आंशिक रूप से ही अधिकार कर पाता है, और वह अपने अन्तिम आधार के रूप में सदा शहरी दस्तकारियों और देहाती इलाक़ों के घरेलू उद्योग पर ही निर्भर करता है। यदि वह इन दस्तकारियों और इस घरेलू उद्योग को एक रूप में, कुछ ख़ास शाखाओं में या कुछ ख़ास बिंदुओं पर नष्ट कर देता है, तो अन्यत्र वह उनको पुनः जन्म दे देता है, क्योंकि एक ख़ास बिंदु तक उसको कच्चा माल तैयार करने के लिये इनकी आवश्यकता होती है। अतएव, हस्तनिर्माण ग्रामवासियों के एक नये वर्ग को उत्पन्न कर देता है, जो खेती तो एक सहायक धंधे के रूप में करता है, पर जिसका मुख्य धंधा औद्योगिक श्रम करना होता है, जिसकी पैदावार वह सीधे-सीधे या सौदागरों के माध्यम से हस्तनिर्माण कराने वाले कारख़ानेदारों को बेच देता है। यह बात एक ऐसी घटना का कारण बन जाती है, — हालांकि वह उसका मुख्य कारण नहीं है, — जो इंगलैण्ड के इतिहास के विद्यार्थी

[1] "जब मज़दूर का परिवार अपने अन्य कामों के बीच-बीच में ख़ुद अपने उद्योग से बीस पौण्ड ऊन को चुपचाप अपने वर्ष भर के कपड़ों में बदल डालता है, तब उसको लेकर कोई ख़ास आडम्बर नहीं किया जाता। लेकिन इसी ऊन को ज़रा मण्डी में ले आइये और उसे फ़ैक्टरी में और वहां से आढ़ती के पास और उसके यहां से दूकानदार के पास तक पहुंचने भर दीजिये कि विशाल व्यापारिक क्रियाएं आरम्भ हो जायेंगी और इस ऊन के मूल्य की बीस-गुनी अभिहित पूंजी कार्य-रत हो जायेगी... इस प्रकार मज़दूर-वर्ग को लूटकर फ़ैक्टरियों से सम्बंधित एक अभागी आबादी को, मुफ़्तख़ोर दूकानदार वर्ग को और वाणिज्य, मुद्रा और वित्त की एक झूठी व्यवस्था को जीवित रखा जाता है।" (David Urquhart, उप० पु०, पृ० १२०।)

को शुरू-शुरू में काफ़ी उलझन में डाल देती है। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतीस वर्षों से ही वह लगातार यह शिकायत सुनता आता है,—हालांकि बीच-बीच में कुछ समय के लिये यह शिकायत सुनाई नहीं देती,—कि देहाती इलाक़ों में पूंजीवादी खेती का प्रसार बढ़ता जा रहा है और उसके फलस्वरूप किसानों का वर्ग नष्ट होता जा रहा है। दूसरी ओर, वह सदा यह भी देखता है कि किसानों का यह वर्ग हर बार नया जन्म लेकर सामने आ जाता है, हालांकि उसकी संख्या कम होती जाती है और उसकी हालत हर बार पहले से ज्यादा खराब दिखाई देती है।[1] इसका मुख्य कारण यह है कि इंगलैण्ड कभी तो मुख्यतया अनाज पैदा करने वाला देश बन जाता है और कभी मुख्यतया पशुओं का प्रजनन करने वाले देश का रूप धारण कर लेता है। और ये रूप बारी-बारी से सामने आते रहते हैं और उनके साथ-साथ किसानों की खेती का विस्तार भी घटता-बढ़ता रहता है। केवल, और अन्तिम रूप से, आधुनिक उद्योग ही पूंजीवादी खेती का स्थायी आधार—मशीनें—उसके लिये तैयार करता है। वही खेतिहर आबादी के अधिकांश की सम्पत्ति का पूरी तरह अपहरण करता है। वही खेती और देहाती घरेलू उद्योग के अलगाव को सम्पूर्ण करता है और इस उद्योग की जड़ों को—कताई और बुनाई को—उखाड़कर फेंक देता है।[2] और इसलिये, वही पहली बार औद्योगिक पूंजी की ओर से पूरी घरेलू मण्डी पर विजय प्राप्त करता है।[3]

---

[1] क्रोमवेल का समय इसका अपवाद था। जब तक प्रजातंत्र जीवित रहा, तब तक के लिए इंगलैण्ड की आम जनता का प्रत्येक स्तर उस पतन के गर्त्त से ऊपर उठ आया था, जिसमें वह ट्यूडर राजाओं के शासन-काल में डूब गया था।

[2] टकेट्ट को इस बात का ज्ञान है कि आधुनिक ऊनी उद्योग का मशीनों का प्रयोग आरम्भ होने के साथ-साथ वास्तविक हस्तनिर्माण से तथा देहाती एवं घरेलू उद्योगों के विनाश से जन्म हुआ है। (Tuckett, "*A History of the Past and Present State of the Labouring Population*" [टकेट्ट, 'श्रम करने वाली आबादी की भूतपूर्व और वर्तमान हालत का इतिहास'], London, 1846, खण्ड १, पृ० १४४।) डैविड उर्कुहार्ट ने लिखा है: "हल और जुए के बारे में कहा जाता है कि उनका आविष्कार देवताओं ने किया है और उनका उपयोग वीर लोग करते हैं। परन्तु क्या करघे, चर्खे और लाठ के जनक इतने श्रेष्ठ कुल के नहीं थे? लाठ और हल तथा चर्खे और जुए का सम्बंध-विच्छेद कर दीजिये,— आपके देखते-देखते फ़ैक्टरियां और मुहताजख़ाने, जमी हुई साख और बदहवासी, एक दूसरे के शत्रु दो राष्ट्र—एक खेती करने वाला और दूसरा वाणिज्य और व्यवसाय करने वाला—आपके सामने खड़े हो जायेंगे।" (David Urquhart, उप० पु०, पृ० १२२।) परन्तु उर्कुहार्ट के बाद केरी आते हैं और शिकायत करने लगते हैं—और उनकी शिकायत बेबुनियाद नहीं प्रतीत होती—कि इंगलैण्ड दूसरे हरेक देश को महज़ एक खेतिहर राष्ट्र बना डालने की कोशिश कर रहा है और उन सबके लिये कारख़ानों का सामान तैयार करने वाला देश ख़ुद बनना चाहता है। केरी दावा करते हैं कि तुर्की को इसी तरह बरबाद किया गया है, क्योंकि वहां "ज़मीन के मालिकों और ज़मीन के जोतने वालों को हल और करघे तथा हथौड़े और हेंगे के बीच स्वाभाविक मैत्री स्थापित करके अपने को शक्तिशाली बनाने की इंगलैण्ड ने कभी अनुमति नहीं दी।" ("*The Slave Trade*" ['दासों का व्यापार'], पृ० १२५।) केरी के मतानुसार, उर्कुहार्ट ने ख़ुद भी तुर्की की तबाही में बहुत बड़ा हिस्सा लिया है, क्योंकि उसने वहां इंगलैण्ड के हित में स्वतंत्र व्यापार का प्रचार किया है। और सबसे बड़ा मजाक़ यह है कि केरी, जो कि रूस के बड़े प्रशंसक और प्रेमी हैं, खेती और घरेलू उद्योग के सम्बंध-विच्छेद की इस क्रिया को संरक्षण की उसी प्रणाली के द्वारा रोकना चाहते हैं, जिससे उसे प्रोत्साहन मिलता है।

[3] जिस प्रकार ईश्वर ने केन से उसके भाई एबेल के बारे में पूछा था, उसी प्रकार लोकोपकारी अंग्रेज अर्थशास्त्री, जैसे मिल, रौजर्स, गोल्डविन स्मिथ, फ़ौसेट आदि, और उदारपंथी

## इकत्तीसवां अध्याय

# औद्योगिक पूंजीपति की उत्पत्ति

औद्योगिक[1] पूंजीपति की उत्पत्ति उतने धीरे-धीरे नहीं हुई, जितने धीरे-धीरे पूंजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति हुई थी। इसमें कोई शक नहीं कि शिल्पी संघों के बहुत से छोटे-छोटे उस्तादों ने और उससे भी बड़ी संख्या में छोटे-छोटे स्वतंत्र दस्तकारों ने या यहां तक कि मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों ने भी अपने को छोटे-छोटे पूंजीपतियों में बदल डाला था, और बाद में वे (धीरे-धीरे मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के शोषण को बढ़ाकर और उसके साथ-साथ पूंजी के संचय को तेज करके) पूर्ण-प्रस्फुटित पूंजीपति बन गये थे। पूंजीवादी उत्पादन की बाल्यावस्था में भी बहुधा उसी प्रकार की घटनाएं होती थीं, जिस प्रकार की घटनाएं मध्ययुगीन नगरों की बाल्यावस्था में हुआ करती थीं, जहां पर यह प्रश्न कि गांवों से भागकर आये हुए कृषि-दासों में से कौन मालिक बनेगा और कौन नौकर, अधिकतर इस बात से तै होता था कि कौन गांव से पहले और कौन बाद को भागा था। यह क्रिया इतने धीरे-धीरे चलती थी कि १५ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों के महान आविष्कारों ने जिस संसार-व्यापी मण्डी का निर्माण कर दिया था, उसकी आवश्यकताएं उससे कदापि पूरी नहीं हो सकती थीं। परन्तु मध्य युग से पूंजी के स्पष्टतया दो भिन्न रूप विरासत में मिले थे, जो बहुत ही भिन्न प्रकार के आर्थिक समाज-संघटनों के भीतर परिपक्व हुए थे और जिनको उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का युग आरम्भ होने के पहले वास्तविक पूंजी समझा जाता था। ये दो रूप सूदखोर की पूंजी और सौदागर की पूंजी के थे।

"इस समय समाज का समस्त धन पहले पूंजीपति के अधिकार में चला जाता है... वह जमींदार को उसका लगान देता है, मजदूर को उसकी मजदूरी देता है, कर तथा दशांश वसूल करने वालों को उनका पावना देता है और श्रम की वार्षिक पैदावार का एक बड़ा हिस्सा—और सच पूछिये, तो सबसे बड़ा और निरन्तर बढ़ता हुआ हिस्सा—वह खुद अपने लिये रख

---

कारखानेदार, जैसे जान ब्राइट आदि, अंग्रेज भू-स्वामियों से पूछते हैं कि "हमारे हजारों माफ़ीदार कहां चले गये?"—लेकिन तब तुम लोग कहां से आये हो? उन्हीं माफ़ीदारों को नष्ट करके तुम पैदा हुए हो।—ये लोग एक क़दम और आगे बढ़कर यह प्रश्न क्यों नहीं करते कि स्वतंत्र बुनकर, कताई करने वाले और कारीगर कहां चले गये हैं?

[1] यहां "खेतिहर" शब्द के व्यतिरेक में "औद्योगिक" शब्द का प्रयोग किया गया है। "निरपेक्ष" अर्थ में तो काश्तकार भी उसी हद तक औद्योगिक पूंजीपति होता है, जिस हद तक कारखानेदार होता है।

लेता है। पूंजीपति के बारे में अब यह कहा जा सकता है कि वह समाज के समस्त धन का प्रथम स्वामी होता है, हालांकि किसी क़ानून ने उसको इस सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार नहीं दिया है... यह परिवर्तन पूंजी पर सूद लेने के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ है... और यह कम विचित्र बात नहीं है कि योरप के सभी क़ानून बनाने वालों ने क़ानून बनाकर इस चीज़ को रोकने की कोशिश की थी; मिसाल के लिये, सूदख़ोरी के ख़िलाफ़ इसी उद्देश्य से क़ानून बनाये गये थे... देश के समस्त धन पर पूंजीपति का अधिकार स्थापित हो जाने से सम्पत्ति का अधिकार सम्पूर्णतया बदल गया है। और यह परिवर्तन किस क़ानून अथवा किन क़ानूनों के द्वारा सम्पन्न हुआ है?"[1] लेखक को याद रखना चाहिये था कि क्रान्तियां क़ानूनों के द्वारा सम्पन्न नहीं होतीं।

सूदख़ोरी और वाणिज्य के द्वारा जिस नक़द पूंजी का निर्माण हुआ था, उसे देहात में सामन्ती विधान ने और शहरों में शिल्पी संघों के संगठन ने औद्योगिक पूंजी नहीं बनने दिया था।[2] जब सामन्ती समाज का विघटन हुआ और देहाती आबादी की सम्पत्ति छीन ली गयी तथा आंशिक रूप में उसे ज़मीनों से खदेड़ दिया गया, तो ये बंधन भी टूट गये। नये कारख़ानेदार समुद्र किनारे के बन्दरगाहों में या देश के भीतर ऐसे स्थानों पर जाकर जम गये, जो पुरानी नगरपालिकाओं और उनके शिल्पी संघों के नियंत्रण के बाहर थे। इसीलिये इंगलैण्ड में इन नयी औद्योगिक रोपणियों के साथ उन नगरों (corporate towns) का बड़ा कटु संघर्ष हुआ, जिनको नगरपालिकाओं के अधिकार प्राप्त थे।

अमरीका में सोने और चांदी की खोज; आदिवासी आबादी का समूल नष्ट कर दिया जाना, ग़ुलाम बनाया जाना और खानों में ज़िन्दा दफ़ना दिया जाना; ईस्ट इण्डिया की विजय तथा लूट का श्रीगणेश; अफ़्रीका का हब्शियों के व्यापारिक आखेट की भूमि बन जाना– इसी प्रकार की घटनाओं के द्वारा यह संकेत मिला था कि पूंजीवादी उत्पादन का अरुणोदय हो रहा है। इन सुखद क्रियाओं का आदिम संचय में मुख्य भाग रहा है। उनके बाद तुरन्त ही योरपीय राष्ट्रों का वाणिज्य-युद्ध आरम्भ हो गया, जिसका क्षेत्र पूरा भूगोल था। वह शुरू हुआ स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध नेदरलैण्ड्स के विद्रोह से, इंगलैण्ड के जैकोबिन-विरोधी युद्ध में उसने भयानक विस्तार प्राप्त किया और चीन के ख़िलाफ़ अफ़ीम के युद्धों के रूप में वह आज भी जारी है, इत्यादि।

आदिम संचय के विभिन्न तत्व अब न्यूनाधिक रूप से काल-क्रमानुसार ख़ास तौर पर स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, फ़्रांस और इंगलैण्ड के बीच बंट गये थे। इंगलैण्ड में १७ वीं शताब्दी के अन्त में उन सब को उपनिवेश-प्रणाली, राष्ट्रीय ऋण, आधुनिक कर-प्रणाली और संरक्षण-प्रणाली के रूप में सुनियोजित ढंग से जोड़ दिया गया। कुछ हद तक ये तरीक़े पाशविक बल पर निर्भर करते हैं, जिसका उदाहरण है औपनिवेशिक व्यवस्था। लेकिन जिस तरह गरमख़ाने में पौधों का

---

[1] *"The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted"* ('सम्पत्ति के स्वाभाविक तथा कृत्रिम अधिकारों का तुलनात्मक अध्ययन'), London, 1832, पृ० ९८–९९। इस गुमनाम पुस्तक के लेखक थे टोमस होजस्किन।

[2] १७९४ की बात है कि लीड्स के छोटे-छोटे कपड़ा तैयार करने वालों ने एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर संसद को यह दरख़्वास्त दी थी कि क़ानून बनाकर सौदागारों को कारख़ानेदार बन जाने से रोक दिया जाये। (Dr. Aikin, *"Description of the Country from thirty to forty miles round Manchester,"* London, 1795।)

विकास जल्दी से पूरा कर डालने की कोशिश की जाती है, उसी प्रकार सामन्ती उत्पादन-प्रणाली को पूंजीवादी प्रणाली में रूपान्तरित करने की क्रिया को जल्दी से पूरा कर डालने के लिये और उसको संक्षिप्त कर देने के उद्देश्य से इन सभी तरीक़ों में समाज के संकेन्द्रित एवं संगठित बल का – राज्य की सत्ता का – प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक ऐसे पुराने समाज के लिये, जिसके गर्भ में नये समाज का अंकुर बढ़ रहा है, बल-प्रयोग बच्चा जनवाने वाली दाई का काम करता है। बल-प्रयोग स्वयं एक आर्थिक शक्ति है।

डब्ल्यू० हौविट्ट ने, जिन्होंने ईसाई धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया है, ईसाई औपनिवेशिक व्यवस्था के बारे में लिखा है: "ईसाई कहलाने वाली नस्ल ने संसार के प्रत्येक इलाक़े में और हर ऐसी क़ौम पर, जिसे वह जीतने में सफल हुई है, जैसे बर्बर और भयानक अत्याचार किये हैं, वैसे अत्याचार पृथ्वी के किसी भी युग में किसी और नस्ल ने, वह चाहे जितनी खूंखार, जाहिल और दया तथा लज्जा से विहीन क्यों न रही हो, नहीं किये हैं।"[1] हालैण्ड के औपनिवेशिक प्रशासन का इतिहास – और यह ध्यान रहे कि हालैण्ड १७ वीं शताब्दी का प्रमुख पूंजीवादी देश था – "विश्वासघात, घूसखोरी, हत्याकाण्ड और नीचता की एक अत्यन्त असाधारण कहानी है।"[2] हालैण्ड वाले जावा में ग़ुलामों के रूप में इस्तेमाल करने के लिये सेलेबीज़ में इनसानों की चोरी किस तरह किया करते थे, उससे उनके तरीक़ों पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोगों को इनसानों को चुराने की विशेष शिक्षा दी जाती थी। चोर, दुभाषिये और बेचने वाले इस व्यापार के मुख्य आढ़ती थे और देशी राजा मुख्य बेचने वाले थे। जिन युवक-युवतियों को चुराया जाता था, उनको जब तक वे दासों के समान काम करने के लायक़ नहीं होते और जहाज़ों में भरकर नहीं भेजे जाते, तब तक सेलेबीज़ के गुप्त क़ैदखानों में बन्द करके रखा जाता था। एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा है: "मिसाल के लिये, यह एक शहर, मैकेस्सर, गुप्त जेलखानों से भरा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक दूसरे से अधिक भयानक है और जिनमें लोभ और अन्याय के शिकार वे अभागे इनसान भरे हुए हैं, जिनको उनके परिवारों से ज़बर्दस्ती अलग करके जंजीरों में जकड़ दिया गया है।" मलाका को जीतने के लिये डच लोगों ने पुर्तगाली गवर्नर को घूस देने का वायदा करके अपनी तरफ़ कर लिया था। उसने १६४१ में

---

[1] William Howitt, "*Colonisation and Christianity. A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeans in all their Colonies*" (विलियम हौविट्ट, 'उपनिवेशीकरण और ईसाई धर्म। योरपीय लोगों ने अपने सभी उपनिवेशों में वहां के मूलवासियों के साथ जो व्यवहार किया, उसका एक सुगम इतिहास'), London, 1838, पृ० ९। उपनिवेशों में दासों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता था, इसके बारे में चार्ल्स कौंत की रचना "*Traité de la Législation*" (तीसरा संस्करण, Bruxelles, 1837) में काफ़ी जानकारी इकट्ठी कर दी गयी है। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि जहां कहीं पूंजीपति-वर्ग बिना किसी रोक-थाम के दुनिया का अपनी हार्दिक इच्छा के अनुसार पुनर्निर्माण कर सकता है, वहां वह ख़ुद अपने को और मज़दूर को क्या बना डालता है, उनको इस रचना का विस्तार के साथ अध्ययन करना चाहिये।

[2] देखिये जावा द्वीप के भूतपूर्व लेफ़्टिनेण्ट-गवर्नर Thomas Stamford Raffles की रचना "*The History of Java*" ['जावा का इतिहास'], London, 1817 [खण्ड २, परिशिष्ट, पृ० CXC (एक सौ नब्बे) – CXCI (एक सौ इकानवे)]।

उनको शहर में घुस आने दिया। इन्होंने शहर में प्रवेश करते ही पहले उसी गवर्नर के मकान पर चढ़ाई की और उसे क़त्ल कर दिया, ताकि उसके विश्वासघात की क़ीमत के रूप में २१,८१५ पौण्ड न देने पड़ें। डच लोगों ने जहां कहीं क़दम रखा, वहीं तबाही आ गयी और बस्ती उजाड़ हो गयी। १७५० में जावा के बांजूवांगी प्रान्त की आबादी ८०,००० थी, १८११ तक वह केवल १८,००० रह गयी। कितना मधुर व्यवसाय था यह!

जैसा कि सुविदित है, अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हिन्दुस्तान में राजनीतिक शासन तो था ही, इसके अलावा उसको चाय के व्यापार का, चीन के साथ सभी प्रकार का व्यापार करने का और योरप से माल लाने और योरप में माल ले जाने का एकाधिकार भी मिला हुआ था। परन्तु हिन्दुस्तान के समुद्री किनारे के व्यापार और पूर्वी द्वीपों के पारस्परिक व्यापार और साथ ही हिन्दुस्तान के अन्दरूनी व्यापार पर भी कम्पनी के ऊंचे कर्मचारियों का एकाधिकार था। नमक, अफ़ीम, पान और अन्य मालों के व्यापार का एकाधिकार धन की अक्षय खान का काम करता था। इन चीज़ों के दाम ख़ुद कम्पनी के कर्मचारी निश्चित करते थे और अभागे हिन्दुओं को इच्छानुसार लूटते थे। इस प्राइवेट व्यापार में गवर्नर-जनरल भी भाग लेता था। उसके कृपा-पात्रों को इतनी अच्छी शर्तों पर ठेके मिल जाते थे कि वे, कीमियागरों से अधिक होशियार होने के कारण, मिट्टी से सोना बनाया करते थे। चौबीस घण्टे के अन्दर कुकुरमुत्तों की तरह ढेरों दौलत बटोर ली जाती थी; एक शिलिंग भी पेशगी के रूप में लगाना नहीं पड़ता था और आदिम संचय धड़ल्ले से चल निकलता था। वारेन हेस्टिंग्ज़ के मुक़दमे में इस तरह के अनेक मामले सामने आये थे। एक उदाहरण देखिये। सुलीवान नामक एक व्यक्ति को भारत के एक ऐसे भाग में, जो अफ़ीम के इलाक़े से बहुत दूर था, सरकारी काम पर भेजा जा रहा था। चलते समय उसे अफ़ीम का ठेका दे दिया गया। सुलीवान ने अपना ठेका बिन नामक एक व्यक्ति को ४०,००० पौण्ड में बेच दिया। बिन ने उसी रोज़ उसे ६०,००० पौण्ड में किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेच दिया, और इस आख़िरी ख़रीदार ने, जिसने सचमुच ठेके को कार्यान्वित किया, बताया कि इतने ऊंचे दाम देने के बाद भी वह ठेके से बहुत भारी मुनाफ़ा कमाने में कामयाब हुआ है। संसद के सामने पेश की गयी एक सूची के अनुसार, १७५७ से १७६६ तक कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों को हिन्दुस्तानियों से ६०,००,००० पौण्ड उपहारों के रूप में प्राप्त हुए थे। १७६९ और १७७० के बीच अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान का सारा चावल ख़रीद लिया और उसे अत्यधिक ऊंचे दाम पाये बिना बेचने से इनकार करके वहां अकाल पैदा कर दिया।[1]

आदिवासियों के साथ सबसे बुरा व्यवहार, ज़ाहिर है, केवल निर्यात-व्यापार के लिये लगाये गये बाग़ानों वाले उपनिवेशों में किया जाता था,—जैसे वेस्ट इण्डीज़ में,—और मैक्सिको तथा हिन्दुस्तान जैसे धनी और घने बसे हुए देशों में भी, जो अंधाधुंध लूटे जा रहे थे। लेकिन जिनको सचमुच उपनिवेश कहा जा सकता था, उनमें भी आदिम संचय का ईसाई स्वरूप अक्षुण्ण था। प्रोटेस्टेण्ट मत के उन गम्भीर कला-विज्ञों ने—न्यू इंगलैण्ड के प्यूरिटनों ने—१७०३ में अपनी assembly (परिषद) के कुछ अध्यादेशों के द्वारा अमरीकी आदिवासियों को मारकर उनकी खोपड़ी की त्वचा लाने या उन्हें ज़िन्दा पकड़ लाने के लिये प्रति आदिवासी ४० पौण्ड पुरस्कार

---

[1] १८६६ में अकेले उड़ीसा नामक प्रान्त में दस लाख से अधिक हिन्दू भूख से मर गये। पर फिर भी जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएं बहुत ऊंचे दामों में भूखे लोगों के हाथों बेचकर सरकारी ख़ज़ाने को बढ़ाने की कोशिश की गयी।

की घोषणा की थी। १७२० में फ़ी खोपड़ी की खाल १०० पौण्ड पुरस्कार का ऐलान किया गया था। १७४४ में, जब मस्साचुसेट्स-बे ने एक खास क़बीले को विद्रोही घोषित किया, तो निम्नलिखित पुरस्कारों की घोषणा की गयी: १२ वर्ष या उससे अधिक आयु के पुरुषों को मार डालने के लिये प्रति खोपड़ी की खाल १०० पौण्ड (नयी मुद्रा में), पुरुषों को पकड़ लाने के लिये प्रति व्यक्ति १०५ पौण्ड, स्त्रियों और बच्चों को पकड़ लाने के लिये प्रति व्यक्ति ५५ पौण्ड, स्त्रियों और बच्चों को मार डालने के लिये प्रति खोपड़ी की खाल ५० पौण्ड। कुछ दशक और बीत जाने के बाद औपनिवेशिक व्यवस्था ने न्यू इंगलैण्ड के उपनिवेशों की नींव डालने वाले इन piligrim fathers (पवित्र-हृदय यात्रियों) के वंशजों से बदला लिया, जो इस बीच विद्रोही बन बैठे थे। अंग्रेज़ों के उकसाने पर और अंग्रेज़ों के पैसे के एवज़ में अमरीकी आदिवासी अपने गंड़ासों से इन लोगों के सिर काटने लगे। ब्रिटिश संसद ने घोषणा की कि विद्रोही अमरीकियों के पीछे शिकारी कुत्ते छोड़कर और आदिवासियों से उनके सिर कटवाकर वह केवल "भगवान और प्रकृति के दिये हुए साधनों" का ही उपयोग कर रही है।

जिस तरह गरमख़ाने में पौधे जल्दी-जल्दी बढ़कर तैयार हो जाते हैं, उसी तरह औपनिवेशिक व्यवस्था की छत्र-छाया में व्यापार और नौ-परिवहन बहुत तेज़ी से विकास करने लगे। लूथर ने जिनको "Gesellschaften Monopolia" ("एकाधिकारी कम्पनियां") कहा था, उन्होंने पूंजी के संकेंद्रण में शक्तिशाली साधनों का काम किया। उपनिवेशों में नवजात उद्योगों के लिये मण्डियां तैयार हो गयीं, और मण्डियों पर एकाधिकार होने के कारण और भी तेज़ी से संचय होने लगा। योरप के बाहर खुली लूट-मार करके, लोगों को ग़ुलाम बनाकर और हत्याएं करके जिन ख़ज़ानों पर क़ब्ज़ा किया जाता था, वे सब मातृभूमि में पहुंचा दिये जाते थे और वहां वे पूंजी में बदल जाते थे। औपनिवेशिक व्यवस्था का पूर्ण विकास सबसे पहले हालैण्ड ने किया था। वह १६४८ में ही वाणिज्य के क्षेत्र में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया था। "ईस्ट इण्डिया के साथ जो व्यापार होता था और दक्षिण-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी योरप के बीच जो व्यापार चलता था," उसपर हालैण्ड का "लगभग एकाधिकार था। कोई अन्य देश उसके मीन-क्षेत्रों, समुद्री जहाज़ों और उद्योगों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। डच प्रजातंत्र की कुल पूंजी शायद बाक़ी सारे योरप की संयुक्त पूंजी से ज़्यादा थी।" (G. Gülich, "*Geschichtliche Darstellung, etc.*" Jena, 1830, खण्ड १, पृ० ३७१।) गुलीह को यहां यह और लिखना चाहिये था कि १६४८ के आते न आते हालैण्ड के लोगों से जितना ज़्यादा काम लिया जाता था, वे जैसी ग़रीबी में रहते थे और उनपर जैसा पाशविक अत्याचार किया जाता था, बाक़ी सारा योरप मिलकर भी उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था।

आजकल औद्योगिक श्रेष्ठता का अर्थ वाणिज्य के क्षेत्र में भी श्रेष्ठता होता है। परन्तु जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का युग कहा जा सकता था, उस युग में, इसके विपरीत, जिसकी वाणिज्य के क्षेत्र में श्रेष्ठता होती थी, उसी को औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रधानता प्राप्त हो जाती थी। यही कारण है कि उस काल में औपनिवेशिक व्यवस्था ने इतनी बड़ी भूमिका अदा की। यह व्यवस्था एक नये और "विचित्र देवता" के समान थी, जो देव-स्थान की वेदी पर योरप के पुराने देवताओं के बिल्कुल बराबर में आकर बैठ गया था और जिसने फिर एक दिन एक धक्के से उन सारे देवताओं को नीचे गिरा दिया था। इस व्यवस्था ने अतिरिक्त मूल्य कमाना ही मानवता का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य घोषित कर दिया था।

सार्वजनिक प्रत्यय – अथवा राष्ट्रीय ऋण – की प्रणाली ने, जिसका जन्म मध्य युग में ही

जेनोम्रा और वेनिस में हो गया था, हस्तनिर्माण के युग में ग्राम तौर पर सारे योरप पर अधिकार कर लिया था। औपनिवेशिक व्यवस्था ने अपने समुद्री व्यापार और व्यापारिक युद्धों के द्वारा इस प्रणाली के विकास में बनावटी ढंग से तेजी ला दी। चुनांचे, पहले-पहल इस प्रणाली ने हालैण्ड में जड़ जमायी। राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली ने, अर्थात् राज्य को – वह चाहे निरंकुश राज्य हो, चाहे वैधानिक राज्य और चाहे प्रजातांत्रिक राज्य – उधार देने की प्रणाली ने पूरे पूंजीवादी युग पर अपनी छाप डाल दी। तथाकथित राष्ट्रीय धन का केवल एक ही भाग है, जो आधुनिक काल में सचमुच किसी देश की जनता के सामूहिक स्वामित्व में आ जाता है, – वह है उसका राष्ट्रीय ऋण।[1] इसी के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में यह आधुनिक सिद्धान्त सामने आता है कि किसी राष्ट्र का ऋण जितना अधिक बढ़ता है, वह उतना ही अधिक धनी होता जाता है। सार्वजनिक प्रत्यय पूंजी का ईमान बन जाता है। और राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ "पवित्र आत्मा" की निन्दा करने के अक्षम्य अपराध का स्थान राष्ट्रीय ऋण में विश्वास न रखने का अपराध ले लेता है।

सार्वजनिक ऋण आदिम संचय का एक सबसे शक्तिशाली साधन बन जाता है। वह मानो किसी जादुई छड़ी के इशारे से बंध्या मुद्रा में भी सन्तान पैदा करने की शक्ति उत्पन्न कर देता है और इस प्रकार उसे पूंजी में बदल देता है। और इस परिवर्तन के लिये मुद्रा को उन तमाम झंझटों और खतरों में डालने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, जिनका उसको उद्योग में या यहां तक कि सूदखोरी में लगाये जाने पर भी अनिवार्य रूप से सामना करना पड़ता है। राज्य को क़र्ज़ा देने वाले असल में कुछ नहीं देते, क्योंकि वे जो रक़म उधार देते हैं, वह सार्वजनिक बौंडों में रूपान्तरित कर दी जाती है, और ये बौंड बड़ी आसानी से बिक जाते हैं तथा इसलिये वे उन लोगों के हाथ में वही काम पूरा करते हैं, जो उतने ही मूल्य का नक़द रुपया करता। इस प्रकार, इस प्रणाली का केवल यही परिणाम नहीं होता कि सरकारी बौंडों के वार्षिक ब्याज के सहारे काहिली में जीवन बिताने वालों का एक वर्ग उत्पन्न हो जाता है, सरकार तथा जनता के बीच आढ़तियों का काम करने वाले वित्त-प्रबंधकों के पास बिना किसी कष्ट के दौलत इकट्ठी हो जाती है और कर-वसूली का काम करने वालों, सौदागारों और कारखानेदारों का जन्म भी हो जाता है, जिनको प्रत्येक राष्ट्रीय ऋण का एक भाग आकाश से गिरी हुई पूंजी के रूप में मिलने लगता है। इसके अलावा, राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के फलस्वरूप सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियां, हर प्रकार की विनिमयशील प्रतिभूतियों का लेन-देन, बट्टे का व्यापार, और संक्षेप में कहें, तो शेयर-बाजार का सट्टा आरम्भ हो जाता है और थोड़े से आधुनिक बैंक-पतियों के आधिपत्य की नींव पड़ जाती है।

राष्ट्रीय उपाधियों से विभूषित बड़े-बड़े बैंक अपने जन्म के समय निजी हित में सट्टा खेलने वाले कुछ ऐसे व्यक्तियों के संघ मात्र थे, जो सरकारों की सहायता करने लगे थे और जो राज्य से प्राप्त विशेषाधिकारों के प्रताप से राज्य को मुद्रा उधार देने की स्थिति में थे। इसीलिये राष्ट्रीय ऋण के संचय का इन बैंकों की शेयर-पूंजी में उत्तरोत्तर होने वाली वृद्धि से अधिक अभ्रान्त प्रमाण और कोई नहीं है। इन बैंकों का पूर्ण विकास १६६४ में हुआ, जब

---

[1] विलियम कौबेट ने कहा है कि इंगलैण्ड में सभी सार्वजनिक संस्थाओं को "शाही" संस्थाओं का नाम दिया जाता है, लेकिन इसकी क्षति-पूर्ति करने के लिये एक "राष्ट्रीय" ऋण (national debt) भी है।

कि इंगलैण्ड के बैंक की नींव पड़ी। इंगलैण्ड के बैंक ने सरकार को ८ प्रतिशत ब्याज पर मुद्रा उधार देकर श्रीगणेश किया। साथ ही उसको संसद ने इसी पूंजी को बैंक-नोटों की शकल में फिर से जनता को उधार देकर मुद्रा ढालने की इजाजत दे दी। उसको इन नोटों के द्वारा हुंडिया भुनाने, मालों के दाम पेशगी देने और बहुमूल्य धातुएं खरीदने की भी इजाजत मिल गयी। बहुत समय नहीं बीता कि इस प्रत्यय-मुद्रा ने ही, जिसे खुद इस बैंक ने बनाया था, उस माध्यम का रूप धारण कर लिया, जिसके द्वारा इंगलैण्ड का बैंक राज्य को मुद्रा उधार देता था और राज्य की ओर से सरकारी ऋण का ब्याज अदा करता था। इतना भी काफ़ी नहीं था कि बैंक एक हाथ से जितना देता था, उससे अधिक दूसरे हाथ से ले लेता था। इस तरह बराबर लेते रहने के बावजूद वह सदा राष्ट्र का शाश्वत लेनदार बना रहता था और राज्य को दी हुई उसकी एक-एक पाई राष्ट्र के मत्थे चढ़ी रहती थी। धीरे-धीरे वह अनिवार्य रूप से देश के सारे सोने-चांदी का भाण्डार-गृह और समस्त व्यापारिक प्रत्यय का आकर्षण-केन्द्र बन गया। बैंक-पतियों, वित्त-प्रबंधकों, सरकारी बौण्डों के ब्याज के सहारे मजा मारने वालों, दलालों, शेयर-बाजार के सट्टेबाजों आदि के इस पूरे रेवड़ का यकायक जन्म हो जाने का उनके समकालीन लोगों पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह उस काल की रचनाओं से–उदाहरण के लिये, बोलिंगब्रुक की रचनाओं से–स्पष्ट हो जाता है।[1]

राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के साथ-साथ उधार की एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली का भी जन्म हुआ। इस प्रणाली के पीछे अक्सर किसी न किसी क़ौम के आदिम संचय का एक स्रोत छिपा रहता है। चुनांचे, वेनिस में चोरी की जिस पद्धति का विकास हुआ था, उसके नीच कृत्य हालैण्ड के पूंजीगत धन का एक गुप्त स्रोत थे, क्योंकि वेनिस अपने पतन के काल में हालैण्ड को बड़ी-बड़ी रक़में उधार दिया करता था। हालैण्ड और इंगलैण्ड के बीच भी कुछ इसी तरह के सम्बंध थे। १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते डच उद्योग-धंधे प्रगति की दौड़ में बहुत पीछे पड़ गये थे। वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्र में हालैण्ड अब सबसे प्रधान राष्ट्र नहीं रह गया था। इसलिये १७०१ से १७७६ तक उसका एक मुख्य व्यवसाय विशेष कर यह था कि वह अपने महान प्रतिद्वंद्वी, इंगलैण्ड को पूंजी की बड़ी-बड़ी रक़में उधार दिया करता था। आजकल इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच भी ऐसा ही सिलसिला चल रहा है। आज जो पूंजी बिना किसी जन्म-प्रमाण-पत्र के संयुक्त राज्य अमरीका में प्रकट होती है, वह कल तक इंगलैण्ड में अंग्रेज बच्चों के पूंजीकृत रक्त के रूप में निवास करती थी।

राष्ट्रीय ऋण का आधार-स्तम्भ होती है सार्वजनिक आय। ब्याज आदि के रूप में हर साल जो भुगतान करने पड़ते हैं, वे इसी आय में से किये जाते हैं। इसलिये आधुनिक कर-प्रणाली राष्ट्रीय ऋण-प्रणाली की आवश्यक पूरक है। ऋण लेकर सरकार असाधारण ढंग की मदों का खर्चा पूरा कर सकती है, जिसका बोझा करदाताओं को तत्काल अनुभव नहीं होता; लेकिन उसके फलस्वरूप करों में वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। दूसरी ओर, एक के बाद

---

[1] "Si les Tartares inondaient l'Europe aujourd'hui, il faudrait bien des affaires pour leur faire entendre ce que c'est qu'un financier parmi nous" ["यदि तातारी लोग आजकल योरप पर हमला करें, तो उन्हें यह समझाना बहुत ही कठिन होगा कि जिसे हम वित्त-प्रबंधक कहते हैं, वह क्या बला होता है"]। (Montesquieu, "*Esprit des lois*", ग्रंथ ४, पृ० ३३, Londres का संस्करण, 1769।)

दूसरा ऋण लेते जाने के कारण चूंकि सरकार पर बहुत सारा क़र्ज़ा चढ़ जाता है और उसकी वजह से करों में बहुत वृद्धि हो जाती है, इसलिये नये असाधारण ढंग के खर्चों के लिये सरकार को मजबूर होकर हमेशा नये ऋण लेने पड़ते हैं। आधुनिक राजस्व-नीति की धुरी है जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनों पर कर लगाना (और इस तरह उनके दामों को बढ़ा देना)। अतएव, आधुनिक राजस्व-नीति के भीतर करों के अपने आप बराबर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति छिपी रहती है। अत्यधिक कर लगाना अब कोई आकस्मिक चीज़ न रहकर एक सिद्धान्त बन जाता है। चुनांचे, हालैण्ड में, जहां इस प्रणाली का सबसे पहले श्रीगणेश किया गया था, महान देशभक्त दे विट्ट ने अपनी रचना *"Maxims"* ('सूत्रावली') में इस प्रणाली की मजदूरों को विनम्र, मितव्ययी और परिश्रमी बनाने—और उनपर कमर-तोड़ श्रम का बोझा लाद देने—की सबसे अच्छी प्रणाली के रूप में बहुत प्रशंसा की है। लेकिन यह प्रणाली मजदूरों का जिस तरह सत्यानाश करती है, उससे हमारा यहां उतना सम्बंध नहीं है, जितना इस बात से है कि उसके फलस्वरूप किसानों, दस्तकारों और संक्षेप में कहें, तो निम्न-मध्य वर्ग के सभी तत्वों की सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है। इस विषय पर तो पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों में भी दो मत नहीं हैं। लोगों की सम्पत्ति का अपहरण करने के मामले में आधुनिक कर-प्रणाली की कार्य-क्षमता संरक्षण की प्रणाली के कारण और भी बढ़ जाती है, जो कि इस प्रणाली का एक अभिन्न अंग होती है।

धन के पूंजीकरण और जनता के सम्पत्ति-अपहरण में सार्वजनिक ऋणों की प्रणाली ने और तदनुरूप राजस्व-प्रणाली ने भी जो महत्वपूर्ण भाग लिया है, उसे ध्यान में रखते हुए कौबेट, डबलडे आदि अनेक लेखक ग़लती से इन प्रणालियों को आधुनिक काल में जनता की ग़रीबी का मूल कारण समझ बैठे हैं।

संरक्षण की प्रणाली बनावटी ढंग से कारख़ानेदारों को निर्मित करने, स्वतंत्र कारीगरों की सम्पत्ति का अपहरण करने तथा उत्पादन और जीवन-निर्वाह के राष्ट्रीय साधनों का पूंजीकरण करने और मध्य-युगीन उत्पादन-प्रणाली तथा आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के बीच के संक्रमण-काल को जबर्दस्ती छोटा कर देने की एक तरक़ीब थी। इस आविष्कार पर किसका एकाधिकार है, इस प्रश्न को लेकर योरपीय राज्यों ने एक दूसरे को चीरना-फाड़ना शुरू कर दिया था; और जब एक बार इन राज्यों ने अतिरिक्त मूल्य बनाने वालों की सेवा करना स्वीकार कर लिया, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने न केवल अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षण-कर लगाकर और प्रत्यक्ष रूप से निर्यात होने वाले माल पर प्रीमियम देकर स्वयं अपनी जनता को मूंड़ा, बल्कि अपने पराधीन देशों में भी हर प्रकार के उद्योग-धंधों को जबर्दस्ती नष्ट कर दिया। मिसाल के लिये, इंगलैण्ड ने आयरलैण्ड के ऊनी माल के हस्तनिर्माण के साथ यही किया। योरपीय महाद्वीप में, कोलबेर्ट का अनुकरण करते हुए, इस पूरी क्रिया को अत्यधिक सरल बना दिया गया। यहां आंशिक तौर पर आदिम औद्योगिक पूंजी प्रत्यक्ष रूप में राज्य के ख़ज़ाने से आयी। मिराबो चिल्ला उठता है: "सप्तवर्षीय युद्ध के पहले सैक्सोनी की औद्योगिक समृद्धि का कारण खोजने के लिये बहुत दूर जाने की क्या ज़रूरत है? अरे, उसका कारण यह था कि राज्य ने १८,००,००,००० का ऋण लिया था!"[1]

जिसे सचमुच हस्तनिर्माण का काल कहा जा सकता है, उसकी सन्तान का—औपनिवेशिक

---

[1] Mirabeau, उप० पु०, ग्रंथ ६, पृ० १०१।

व्यवस्था, सार्वजनिक ऋणों, भारी करों, संरक्षण-प्रणाली, व्यापारिक युद्धों आदि का — आधुनिक उद्योग के बाल्य-काल में विराट पैमाने पर विकास हुआ। आधुनिक उद्योग के जन्म की पूर्व-सूचना के रूप में निर्दोष व्यक्तियों की एक बड़ी भारी संख्या की हत्या की गयी। जहाजी बेड़े की तरह फ़ैक्टरियों के लिये भी लोगों को जबर्दस्ती भर्ती किया जाता था। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम तैंतीस वर्षों से लेकर सर एफ़० एम० ईडेन के काल तक जिस ख़ौफ़नाक ढंग से खेतिहर आबादी की जमीनें छीनी गयी थीं, उसके ईडेन अभ्यस्त से हो गये थे। इस क्रिया से, जिसको वह पूंजीवादी खेती की स्थापना के लिये और "खेती की जमीन तथा चरागाहों की जमीन के बीच उचित अनुपात क़ायम करने के लिये" नितान्त "आवश्यक" समझते थे, ईडेन साहब को बड़ा संतोष था और प्रसन्नता थी। लेकिन इतनी आर्थिक सूझ उनमें नहीं थी कि वह यह भी मान लेते कि हस्तनिर्माण-प्रणाली के शोषण को फ़ैक्टरी-प्रणाली के शोषण में रूपान्तरित करने के लिये और पूंजी तथा श्रम-शक्ति के बीच "सच्चा सम्बंध" स्थापित करने के लिये बच्चों को चुराना और उनको गुलाम बनाकर रखना भी नितान्त आवश्यक है। ईडेन ने लिखा है: "जनता को शायद इस प्रश्न की ओर ध्यान देना चाहिये कि क्या ऐसे किसी उद्योग से भी व्यक्तियों का या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है, जिसको सफलतापूर्वक चलाने के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती हो कि झोंपड़ों और मुहताजख़ानों से ग़रीब बच्चे पकड़कर मंगवाये जायें, रात के अधिकतर भाग में उनसे बारी-बारी से काम करवाया जाये तथा उनको उस विश्राम से भी वंचित कर दिया जाये, जो वैसे तो सभी के लिये अपरिहार्य होता है, पर जिसकी बच्चों को सबसे अधिक आवश्यकता होती है, और अलग-अलग आयु की तथा विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियां रखने वाली स्त्रियों और पुरुषों, दोनों को एक ही स्थान पर इस तरह इकट्ठा कर दिया जाये कि केवल एक दूसरे को देख-देखकर ही उनका दुश्चरित्र और दुराचारी बन जाना अनिवार्य हो जाये।"[1]

फ़ील्डेन ने लिखा है: "डर्बीशायर और नोटिंघमशायर की काउण्टियों में और विशेष रूप से लंकाशायर में नव-आविष्कृत मशीनें प्रायः ऐसी नदियों के तट पर बनी हुई बड़ी फ़ैक्टरियों में इस्तेमाल की गयी हैं, जिनसे पन-चक्की चलायी जा सकती है। शहरों से बहुत दूर, इन स्थानों में यकायक हजारों मजदूरों की आवश्यकता होती थी। ख़ास तौर पर लंकाशायर उस समय तक बहुत ही कम आबादी वाला, एक उजाड़ स्थान था; वहां केवल अच्छी आबादी की ही कमी थी। सबसे अधिक मांग चूंकि छोटी-छोटी, फुर्तीली उंगलियों वाले नन्हे बच्चों के लिये रहती थी, इसलिये तत्काल ही लन्दन, बिर्मिंघम तथा अन्य स्थानों के सार्वजनिक मुहताजख़ानों से सीखतर बच्चों को मंगवा भेजने की प्रथा प्रचलित हो गयी। ७ वर्ष से लेकर १३ या १४ वर्ष तक की आयु के ऐसे हजारों छोटे-छोटे निस्सहाय बच्चों को उत्तर में काम करने के लिये भेज दिया गया। प्रथा यह थी कि इन सीखतर बच्चों का मालिक उनको रोटी-कपड़ा देता था और फ़ैक्टरी के नजदीक "सीखतरों के घरों" में उनको रखता था। उनकी देखरेख के लिये कुछ निरीक्षक नियुक्त कर दिये जाते थे, जिनका हित इस बात में होता था कि बच्चों से ज्यादा से ज्यादा काम लें, क्योंकि वे बच्चों से जितना अधिक काम ले पाते थे, उनको उतनी ही अधिक तनख़ाह मिलती थी। जाहिर है, इसका नतीजा होता था बेरहमी ... कारख़ानों वाले बहुत से डिस्ट्रिक्टों में और, मेरे ख़याल में, ख़ास तौर से उस

---

[1] Eden, उप० पु०, खण्ड १, पुस्तक २, अध्याय १, पृ० ४२१।

अपराधी काउन्टी में, जिससे मेरा सम्बंध है (अर्थात् लंकाशायर में), इस निर्दोष, निस्सहाय बच्चों को, जिनको कारखानेदारों के संरक्षण में रख दिया गया था, अत्यन्त मर्म-भेदी क्रूरताओं का शिकार बनना पड़ता था। उनसे इतना अधिक काम कराया जाता था कि अत्यधिक परिश्रम के कारण वे मानो मृत्यु के कगार पर पहुंच जाते थे ... उनको कोड़ों से मारने, जंजीरों में जकड़कर रखने और यातनाएं देने के नये-नये तरीक़े निकालने में क्रूरता ने बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया था ... उनमें से बहुतों को काम के समय कोड़ों से पीटा जाता था और भूखा रखा जाता था, जिससे उनकी हड्डियां निकल आती थीं ... और यहां तक कि कुछ तो ... आत्महत्या तक कर लेते थे ... जनता की निगाह से छिपी हुई डर्बीशायर, नोटिंघमशायर और लंकाशायर की सुन्दर और मनोरम घाटियां दारुण और निर्जन यातना-गृहों में और बहुतों के लिये तो वध-स्थलों में परिणत हो गयी थीं। कारखानेदारों को बेशुमार मुनाफ़े होते थे, लेकिन इससे उनकी भूख संतुष्ट होने के बजाय अधिकाधिक तीव्र होती जाती थी और इसलिये कारखानेदारों ने एक ऐसी तरक़ीब निकाली, जिससे उनको आशा थी कि उनके मुनाफ़े बराबर बढ़ते ही जायेंगे और उनका बढ़ना कभी नहीं रुकेगा। उन्होंने उस प्रणाली का प्रयोग करना आरम्भ किया, जो "रात को काम करना" कहलाती थी। मतलब यह कि जब मजदूरों का एक दल दिन में लगातार काम करते रहने के कारण थककर चूर हो जाये, तब तक एक दूसरा दल रात भर काम करने को तैयार हो जाये दिन-पाली वाले मजदूर तब उन्हीं बिस्तरों पर जाकर लेट रहते हैं, जिनपर से रात-पाली वाले उठकर आये हैं, और रात-पाली वाले उन बिस्तरों में शरण पाते हैं, जिनको दिन-पाली वाले सुबह को खाली कर देते हैं। लंकाशायर की परम्परा है कि वहां बिस्तर कभी ठंडे नहीं होते।"[1]

---

[1] John Fielden, "*The Curse of Factory System*", London, 1836, पृ० ५,६। फ़ैक्टरी-व्यवस्था की इसके पहले की कलंकपूर्ण विशेषताओं के बारे में देखिये Dr. Aikin की रचना "*Description of the Country from thirty to forty miles round Manchester*" (London, 1795, पृ० २१९) और Gisborne की रचना "*Inquiry into the Duties of Men*" ['मनुष्यों के कर्तव्यों की विवेचना'] (१७९५, खण्ड २)।—जब भाप के इंजन ने देहात में जल-प्रपातों के निकट स्थित फ़ैक्टरियों को वहां से उखाड़कर शहरों के बीचों-बीच ला खड़ा किया, तो अतिरिक्त मूल्य बनाने वाले "परिवर्जनशील" पूंजीपति को बच्चों के रूप में पहले से तैयार मानव-सामग्री मिल गयी,—उसे गुलामों की तलाश में मुहताजखानों के दरवाजे नहीं खटखटाने पड़े।—जब ("plausibility [बगुलाभगती] के मंत्री" पील के बाप) सर आर० पील ने १८१५ में बच्चों के संरक्षण के लिये अपना विधेयक संसद में पेश किया, तो Bullion Committee (कलधौत-समिति) के प्रतिभाशाली सदस्य और रिकार्डो के अंतरंग मित्र, फ़्रांसिस हौर्नर ने हाउस आफ़ कामन्स में भाषण देते हुए कहा था: "यह काफ़ी प्रसिद्ध बात है कि एक दिवालिया व्यक्ति की सम्पत्ति के साथ-साथ इन बच्चों की (यदि इस शब्द का प्रयोग वांछनीय समझा जाये तो) एक टोली भी बिक्री के लिये पेश की गयी थी और सम्पत्ति के एक भाग के रूप में उसका खुले-आम विज्ञापन किया गया था। Court of King's Bench (राज-न्यायालय) के सामने दो वर्ष पहले एक अत्यन्त दारुण उदाहरण प्रस्तुत हुआ था। लन्दन के एक क्षेत्र के अधिकारियों ने कुछ बच्चों को सीखतर मजदूरों के रूप में एक कारखानेदार के यहां नौकर रखवा दिया था। वहां से वे एक दूसरे कारख़ानेदार के यहां भज दिये गये। उसके

हस्तनिर्माण के काल में पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ-साथ योरप का लोकमत लज्जा और विवेक के अन्तिम अवशेषों को भी खो बैठा था। सभी राष्ट्र हर ऐसे अनाचार की, जिससे पूंजीवादी संचय का काम निकलता था, बढ़-बढ़कर डींग मार रहे थे। उदाहरण के लिये, सुयोग्य ए० ऐण्डर्सन की भोलेपन से भरी रचना – वाणिज्य का इतिहास – पढ़िये। उसमें यह घोषणा की गयी है कि यह अंग्रेजों की राजनीतिज्ञता की बड़ी भारी सफलता थी कि उत्रेख्त की संधि पर हस्ताक्षर करने के समय अंग्रेजों ने Asiento Treaty (दासों के व्यापार सम्बन्धी सन्धि) के द्वारा अफ़्रीका और स्पेनी अमरीका के बीच हब्शियों का व्यापार करने का अधिकार स्पेनवालों से छीन लिया था। इसके पहले केवल अफ़्रीका और ब्रिटिश वेस्ट इण्डीज के बीच ही वे हब्शियों का व्यापार कर सकते थे। इस संधि के द्वारा इंगलैण्ड को १७४३ तक प्रति वर्ष ४,८०० हब्शी स्पेनी अमरीका भेजने का अधिकार मिल गया। इसके साथ-साथ अंग्रेज लोग जो चोरी का व्यापार किया करते थे, उसपर भी सरकारी आवरण पड़ गया। लिवरपूल दासों के व्यापार से धन कमा-कमाकर मोटा होने लगा। यही उसका आदिम संचय का तरीक़ा था। और यहां तक कि आज भी लिवरपूल के "सुप्रतिष्ठित लोग" दासों के व्यापार का प्रशस्ति-गान किया करते हैं। उदाहरण के लिये, आइकिन की जिस रचना (१७९५) को हम ऊपर उद्धृत भी कर चुके हैं, उसमें लिखा है कि दासों का व्यापार "निर्भय साहसिकता की उस भावना से मेल खाता है, जो लिवरपूल के व्यापार का एक विशेष गुण है और जिसकी सहायता से ही लिवरपूल को वर्तमान समृद्धि प्राप्त हुई है; उससे जहाजों को और मल्लाहों को बड़े पैमाने पर काम मिला है और देश के कारखानों के बने सामान की मांग बढ़ी है।" (पृ० ३३९।) लिवरपूल दासों के व्यापार के लिये १७३० में १५ जहाजों को इस्तेमाल करता था; १७५१ तक उनकी संख्या ५३, १७६० में ७४, १७७० में ९६ और १७९२ में १३२ हो गयी थी।

इंगलैण्ड में सूती उद्योग ने बच्चों की दासता का श्रीगणेश किया था, पर संयुक्त राज्य अमरीका में उससे पुराने जमाने की न्यूनाधिक पितृसत्तात्मक दासता को एक व्यापारिक शोषण-व्यवस्था में रूपान्तरित कर देने के लिये बढ़ावा मिला। असल में, योरप में मजदूरी पर काम करने वालों की जो छद्म दासता स्थापित हो रही थी, उसके आधार-स्तम्भ के रूप में नयी दुनिया में विशुद्ध दासता स्थापित करना आवश्यक था।[1]

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के "शाश्वत प्राकृतिक नियमों" की स्थापना करने के

---

यहां कुछ दयालु व्यक्तियों ने उनको एकदम भुखमरी (absolute famine) की हालत में देखा। इससे भी अधिक भयंकर एक उदाहरण मुझे देखने को मिला था, जब मैं एक संसदीय समिति के सदस्य के रूप में काम कर रहा था... वह यह कि कुछ ही वर्ष पहले लन्दन के एक क्षेत्र के साथ लंकाशायर के एक कारखानेदार का यह समझौता हो गया था कि हर बीस स्वस्थ बच्चों के साथ उसको एक पागल बच्चे को भी अपने यहां नौकर रखना होगा।"

[1] १७९० में अंग्रेजों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज में हर स्वतंत्र मनुष्य के पीछे दस, फ़्रांसीसियों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज में चौदह और डच लोगों द्वारा अधिकृत वेस्ट इण्डीज में तेईस दास थे। (Henry Brougham, "*An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers*" [हेनरी ब्रूघम, 'योरपीय शक्तियों की औपनिवेशिक नीति का विवेचन'], Edinburgh, 1803, खण्ड २, पृ० ७४।)

लिये, श्रम करने के लिये आवश्यक तमाम साधनों से मजदूर के सम्बंध-विच्छेद की क्रिया को पूरा करने के लिये, एक छोर पर उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों को पूंजी में रूपान्तरित करने के लिये और दूसरे छोर पर जन-साधारण को आधुनिक समाज की उस बनावटी पैदावार में, मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों में, या "स्वतंत्र मेहनतकश ग़रीबों" में, बदल डालने के लिये इतना सब कष्ट और दुःख उठाना जरूरी था (tantae molis erat)।[1] यदि, औगियेर[2] के कथनानुसार, मुद्रा "अपने गाल पर रक्त का एक जन्म-जात धब्बा लिये हुए संसार में आती है", तो हम कहेंगे कि जब पूंजी संसार में आती है, तब उसके सिर से पैर तक प्रत्येक छिद्र से रक्त और गंदगी बहती रहती है।[3]

---

[1] "Labouring poor" ("मेहनतकश ग़रीबों") का इंगलैण्ड के क़ानूनों में उसी क्षण से जिक्र होने लगता है, जिस क्षण से मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों का वर्ग नजर आने लगता है। इस नाम का एक ओर तो "idle poor" ("काहिल ग़रीबों"), भिखारियों आदि के व्यतिरेक में प्रयोग किया जाता है, और दूसरी ओर उसका उन मजदूरों के मुक़ाबले में इस्तेमाल किया जाता है, जिनके पास, उन कबूतरों की तरह, जिनके पर अभी काटे नहीं गये हैं, अब भी श्रम करने के कुछ साधन मौजूद हैं। क़ानूनों की पुस्तकों से यह नाम अर्थशास्त्र में प्रवेश कर गया, और कुलपेपर, जे० चाइल्ड आदि की रचनाओं से वह ऐडम स्मिथ और ईडेन को मिला। इतना सब जानने के बाद हम ख़ुद इसका निर्णय कर सकते हैं कि जब "execrable political cant-monger" ("घृणित राजनीतिक शब्दाडम्बर रचने में सिद्धहस्त") एडमण्ड बर्क ने "labouring poor" ("मेहनतकश ग़रीब") नाम के प्रयोग को "execrable political cant" ("घृणित राजनीतिक शब्दाडम्बर") कहा था, तब उन्होंने कितने सद्भाव का परिचय दिया था। यह खुशामदी आदमी जब अंग्रेज धनिक-तंत्र से तनख़ाह पाता था, तब वह फ़्रांसीसी क्रान्ति के ख़िलाफ़ की जाने वाली कार्रवाइयों की प्रशंसा किया करता था, और उसी प्रकार जब अमरीकी उपद्रवों के शुरू में वह उत्तरी अमरीका के उपनिवेशों से तनख़ाह पाता था, तब उसने इंगलैण्ड के धनिक-तंत्र के विरुद्ध उदारपंथी होने का ढोंग रचा था। असल में, वह शत प्रति शत एक असंस्कृत बुर्जुआ था। उसने लिखा था: "वाणिज्य के नियम प्रकृति के नियम हैं और इसलिये वे ईश्वर के बनाये हुए नियम हैं।" (E. Burke, "*Thoughts and Details on Scarcity*", London, 1800, पृ० ३१, ३२।) अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि वह, ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के अनुसार, अपने को सदा सबसे ऊंचे दामों में बेचने को तैयार रहता था। जिन दिनों यह एडमण्ड बर्क उदारपंथी था, उन दिनों का उसका एक अच्छा चित्र हमें रेवरेण्ड टकर की रचनाओं में देखने को मिलता है। टकर पादरी था और अनुदार-दली था। परन्तु फिर भी, जहां तक बाक़ी बातों का सम्बंध है, वह एक स्वाभिमानी व्यक्ति और योग्य अर्थशास्त्री था। आजकल अर्थशास्त्र में जैसी गर्हित असैद्धान्तिकता का बोलबाला है और "वाणिज्य के नियमों" में जिसका अटूट विश्वास है, उसको देखते हुए हमारा यह परम कर्तव्य हो जाता है कि बर्क जैसे उन लोगों की असलियत को बार-बार खोलकर रखें, जो अपने उत्तराधिकारियों से केवल एक ही बात में भिन्न थे, और वह यह कि उनमें कुछ प्रतिभा थी!

[2] Marie Augier, "*Du Crédit Public*", Paris, 1842।

[3] "*Quarterly Reviewer*" ने कहा है कि पूंजी अशांति और संघर्ष से दूर भागती है और बहुत भीरू होती है। यह बात सच है, परन्तु केवल इतना ही कहना प्रश्न को बहुत अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना

## बत्तीसवां अध्याय

# पूंजीवादी संचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति

पूंजी के आदिम संचय का – अर्थात् उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति का – आखिर क्या मतलब होता है? जहां तक कि आदिम संचय में दास और कृषि-दास तत्काल ही मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों में रूपान्तरित नहीं हो जाते और इसलिये जहां तक कि उसमें केवल रूप का परिवर्तन नहीं होता, वहां तक उसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि प्रत्यक्ष रूप से अपने हित में उत्पादन करने वालों की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाता है, अर्थात् खुद श्रम करने वाले की निजी सम्पत्ति नष्ट कर दी जाती है।

सामाजिक, सामूहिक सम्पत्ति की विरोधी, निजी सम्पत्ति केवल वहीं होती है, जहां श्रम के साधन और श्रम करने के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियां व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति होती हैं। लेकिन ये व्यक्ति मजदूर हैं या मजदूर नहीं हैं, इसके अनुसार निजी सम्पत्ति का स्वरूप भी भिन्न होता है। पहली दृष्टि में सम्पत्ति के जो असंख्य भिन्न-भिन्न रूप नजर आते हैं, वे इन दो चरम अवस्थाओं के बीच की अवस्थाओं के अनुरूप होते हैं।

अपने उत्पादन के साधनों पर मजदूर का निजी स्वामित्व छोटे उद्योग का आधार होता है, चाहे वह छोटा उद्योग खेती से सम्बंधित हो या हस्तनिर्माण से अथवा दोनों से। यह छोटा उद्योग सामाजिक उत्पादन के विकास और खुद मजदूर के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास की एक आवश्यक शर्त होता है। बेशक, उत्पादन की यह क्षुद्र प्रणाली दास-प्रथा, कृषि-दास-प्रथा और

---

है। जिस प्रकार पहले कहा जाता था कि प्रकृति शून्य से घृणा करती है, उसी प्रकार पूंजी इसे बहुत नापसन्द करती है कि मुनाफ़ा न हो या बहुत कम हो। पर्याप्त मुनाफ़ा हो, तो पूंजी बहुत साहस दिखाती है। क़रीब १० प्रतिशत मुनाफ़ा मिले, तो पूंजी को किसी भी स्थान पर लगाया जा सकता है। २० प्रतिशत का मुनाफ़ा निश्चित हो, तो पूंजी में उत्सुकता दिखाई पड़ने लगती है। ५० प्रतिशत की आशा हो, तो पूंजी स्पष्ट ही दिलेर बन जाती है। १०० प्रतिशत का मुनाफ़ा निश्चित हो, तो वह मानवता के सभी नियमों को पैरों तले रौंदने को तैयार हो जायेगी। और यदि ३०० प्रतिशत मुनाफ़े की आशा हो, तो ऐसा कोई भी अपराध नहीं है, जिसके करने में पूंजी को संकोच होगा, और कोई भी ख़तरा ऐसा नहीं है, जिसका सामना करने को वह तैयार नहीं होगी। यहां तक कि अगर पूंजी के मालिक के फांसी पर टांग दिये जाने का ख़तरा हो, तो भी वह नहीं हिचकिचायेगी। यदि अशान्ति और संघर्ष से मुनाफ़ा होता दिखाई देगा, तो वह इन दोनों चीज़ों को जी खोलकर प्रोत्साहन देगी। यहां जो कुछ कहा गया है, चोरी का व्यापार और दासों का व्यापार इसको पूरी तरह प्रमाणित करते हैं।" (T. J. Dunning, "*Trades' Unions and Strikes*", London, 1860, पृ० ३५, ३६।)

पराधीनता की अन्य अवस्थाओं में भी पायी जाती है। लेकिन वह फलती-फूलती है, अपनी समस्त शक्ति का प्रदर्शन करती है और पर्याप्त एवं प्रामाणिक रूप प्राप्त करती है केवल उसी जगह, जहां मजदूर अपने श्रम के साधनों का खुद मालिक होता है और उनसे खुद काम लेता है, यानी जहां किसान उस धरती का मालिक होता है, जिसे वह जोतता है, और दस्तकार उस औजार का स्वामी होता है, जिसका वह सिद्धहस्त ढंग से प्रयोग करता है।

उत्पादन की इस प्रणाली के होने के लिये यह आवश्यक है कि जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई हो और उत्पादन के अन्य साधन बिखरे हुए हों। जिस प्रकार इस प्रणाली के रहते हुए उत्पादन के इन साधनों का संकेंद्रण नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि उसके अन्तर्गत सहकारिता, उत्पादन की हर अलग-अलग क्रिया के भीतर श्रम-विभाजन, प्रकृति की शक्तियों के ऊपर समाज का नियंत्रण तथा उनका समाज के द्वारा उत्पादक ढंग से उपयोग और सामाजिक उत्पादक शक्तियों का स्वतंत्र विकास हो सके। यह प्रणाली तो केवल एक ऐसी उत्पादन-व्यवस्था और केवल एक ऐसे समाज से ही मेल खाती है, जो संकुचित तथा न्यूनाधिक रूप में आदिम सीमाओं के भीतर ही गतिमान रहता है। जैसा कि पेक्वेयर ने ठीक ही कहा है, इस प्रणाली को चिरस्थायी बना देना "हर चीज को सर्वत्र अल्पविकसित बने रहने का आदेश दे देना है"। अपने विकास की एक खास अवस्था में पहुंचने पर यह प्रणाली स्वयं अपने विघटन के भौतिक साधन पैदा कर देती है। बस उसी क्षण से समाज के गर्भ में नयी शक्तियां और नयी भावनाएं जन्म ले लेती हैं। परन्तु पुराना सामाजिक संगठन उनको शृंखलाओं में जकड़े रहता है और विकसित नहीं होने देता। इस सामाजिक संगठन को नष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वह नष्ट कर दिया जाता है। उसका विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक दृष्टि से संकेंद्रित साधनों में रूपान्तरित हो जाना, अर्थात् बहुत से लोगों की क्षुद्र सम्पत्ति का थोड़े से लोगों की अति विशाल सम्पत्ति में बदल जाना, अधिकतर जनता की भूमि, जीवन-निर्वाह के साधनों तथा श्रम के साधनों का अपहरण – साधारण जनता का यह भयानक तथा अत्यन्त कष्टदायक सम्पत्ति-अपहरण पूंजी के इतिहास की भूमिका मात्र होता है। उसमें नाना प्रकार के बल-प्रयोग के तरीक़ों से काम लिया जाता है। हमने इनमें से केवल उन्हीं पर इस पुस्तक में विचार किया है, जो पूंजी के आदिम संचय के तरीक़ों के रूप में युगान्तरकारी हैं। प्रत्यक्ष रूप में अपने हित में उत्पादन करने वालों का सम्पत्ति-अपहरण निर्मम ध्वंस-लिप्सा से और अत्यन्त जघन्य, अत्यन्त कुत्सित, क्षुद्रतम, नीचतम तथा अत्यन्त गर्हित भावनाओं से अनुप्रेरित होकर किया जाता है। अपने आप कमायी हुई सम्पत्ति का स्थान, जो मानो पृथक रूप से श्रम करने वाले स्वतंत्र व्यक्ति के श्रम के लिये आवश्यक तत्वों के साथ मिलकर एक हो जाने पर आधारित है, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति ले लेती है, जो कि दूसरे लोगों के नाम मात्र के लिये स्वतंत्र श्रम पर – अर्थात् मजदूरी पर – आधारित होती है।[1]

---

[1] "Nous sommes dans une condition tout-à-fait nouvelle de la société ... nous tendons à séparer toute espèce de propriété d'avec toute espèce de travail" ["हम इस समय पूर्णतया नयी सामाजिक परिस्थितियों में रह रहे हैं... हमारी प्रवृत्ति यह है कि हम हर प्रकार की सम्पत्ति का हर तरह के श्रम से सम्बंध-विच्छेद कर देना चाहते हैं"]। (Sismondi, "*Nouveaux Principes d'Econ. Polit.*", खण्ड २, पृ० ४३४।)

रूपान्तरण की यह क्रिया जैसे ही पुराने समाज को ऊपर से नीचे तक काफ़ी छिन्न-भिन्न कर देती है, मजदूर जैसे ही सर्वहारा बन जाते हैं और उनके श्रम के साधन पूंजी में रूपान्तरित हो जाते हैं, पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली खुद जैसे ही अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है, वैसे ही श्रम का और अधिक सामाजीकरण करने का प्रश्न, भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों को सामाजिक ढंग से व्यवहारित साधनों में और इसलिये सामूहिक साधनों में और भी अधिक रूपान्तरित कर देने का प्रश्न और साथ ही निजी सम्पत्ति के मालिकों की सम्पत्ति का अधिक अपहरण करने का प्रश्न एक नया रूप धारण कर लेते हैं। अब जिसका सम्पत्ति-अपहरण करना आवश्यक हो जाता है, वह खुद अपने लिये काम करने वाला मजदूर नहीं है, बल्कि वह है बहुत से मजदूरों का शोषण करने वाला पूंजीपति।

यह सम्पत्ति-अपहरण स्वयं पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्भूत नियमों के अमल में आने के फलस्वरूप पूंजी के केन्द्रीयकरण के द्वारा सम्पन्न होता है। एक पूंजीपति हमेशा बहुत से पूंजीपतियों की हत्या करता है। इस केन्द्रीयकरण के साथ-साथ, या यूं कहिये कि कुछ पूंजीपतियों द्वारा बहुत से पूंजीपतियों के इस सम्पत्ति-अपहरण के साथ-साथ, अधिकाधिक बढ़ते हुए पैमाने पर श्रम-क्रिया का सहकारी स्वरूप विकसित होता जाता है, प्राविधिक विकास के लिये सचेतन ढंग से विज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, भूमि को उत्तरोत्तर अधिक सुनियोजित ढंग से जोता-बोया जाता है, श्रम के औजार ऐसे औजारों में बदलते जाते हैं, जिनका केवल सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनों का संयुक्त, सामाजीकृत श्रम के साधनों के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता के साथ इस्तेमाल किया जाता है, सभी क़ौमें संसार-व्यापी मण्डी के जाल में फंस जाती हैं और इसलिये पूंजीवादी शासन का स्वरूप अधिकाधिक अन्तरराष्ट्रीय होता जाता है। रूपान्तरण की इस क्रिया से उत्पन्न होने वाली समस्त सुविधाओं पर जो लोग जबर्दस्ती अपना एकाधिकार क़ायम कर लेते हैं, पूंजी के उन बड़े-बड़े स्वामियों की संख्या यदि एक ओर बराबर घटती जाती है, तो, दूसरी ओर, ग़रीबी, अत्याचार, ग़ुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि होती जाती है। लेकिन इसके साथ-साथ मजदूर-वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वर्ग संख्या में बराबर बढ़ता जाता है और स्वयं पूंजीवादी उत्पादन-क्रिया का यंत्र ही उसे अधिकाधिक अनुशासन-बद्ध, एकजुट और संगठित करता जाता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की उस प्रणाली के लिये एक बन्धन बन जाता है, जो इस एकाधिकार के साथ-साथ और उसके अन्तर्गत जन्मी है और फूली-फली है। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण और श्रम का सामाजीकरण अन्त में एक ऐसे बिंदु पर पहुंच जाते हैं, जहां वे अपने पूंजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति की मौत की घण्टी बज उठती है। सम्पत्ति-अपहरण करने वालों की सम्पत्ति का अपहरण हो जाता है।

हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली, जो कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का फल होती है, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति को जन्म देती है। खुद मालिक के श्रम पर आधारित व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का इस प्रकार पहली बार निषेध होता है। परन्तु पूंजीवादी उत्पादन प्रकृति के नियमों की निर्ममता के साथ खुद अपने निषेध को जन्म देता है। यह निषेध का निषेध होता है। इससे उत्पादन के लिये निजी सम्पत्ति की पुनर्स्थापना नहीं होती, किन्तु उसे पूंजीवादी युग की उपलब्धियों पर आधारित—अर्थात् सहकारिता और भूमि तथा उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित—व्यक्तिगत सम्पत्ति मिल जाती है।

**व्यक्तिगत श्रम से उत्पन्न होने वाली बिखरी हुई निजी सम्पत्ति के पूंजीवादी निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया स्वभावतया पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के सामाजीकृत सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाने की क्रिया की तुलना में कहीं अधिक लम्बी, कठिन और हिंसात्मक होती है, क्योंकि पूंजीवादी निजी सम्पत्ति तो व्यवहार में पहले से ही सामाजीकृत उत्पादन पर आधारित होती है। पहली क्रिया में जबरदस्ती अधिकार करने वाले चन्द व्यक्तियों ने आम जनता की सम्पत्ति का अपहरण किया था, दूसरी क्रिया में आम जनता जबरदस्ती अधिकार करने वाले चन्द व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण करती है।**[1]

---

[1] "पूंजीपति-वर्ग न चाहते हुए भी उद्योग-धंधों की उन्नति करता है; इससे आपसी होड़ के कारण उत्पन्न हुआ मजदूरों का बिलगाव ख़तम हो जाता है और उसकी जगह एकता पर आधारित उनका क्रान्तिकारी संगठन पैदा हो जाता है। इस तरह, आधुनिक उद्योग-धंधों का विकास पूंजीपति-वर्ग के पैरों के नीचे से उस जमीन को ही खिसका देता है, जिसके आधार पर वह उत्पादन और पैदावार का अपहरण करता है। इसलिये, पूंजीपति-वर्ग जो सबसे बड़ी चीज़ पैदा करता है, वह है ख़ुद उसी की क़ब्र खोदने वाले लोगों का वर्ग। उसका ख़ातमा और मज़दूर-वर्ग की जीत, दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं... पूंजीपति-वर्ग के ख़िलाफ़ आज जितने भी वर्ग खड़े हैं, उन सब में केवल मज़दूर-वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रान्तिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग-धंधों की चपेट में आकर नष्ट-भ्रष्ट और अन्त में ग़ायब हो जाते हैं; मज़दूर-वर्ग ही उनकी विशेष और बुनियादी पैदावार है। निम्न-मध्यम वर्ग के लोग – छोटे कारख़ानेदार, दूकानदार, दस्तकार, किसान, ये सब – अपनी मध्य-वर्गीय हस्ती को बनाये रखने के लिये पूंजीपति-वर्ग से लोहा लेते हैं... वे प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं।" (Karl Marx und Friedrich Engels, "*Manifest der Kommunistischen Partei*" [कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र'], London, 1848, पृ० ६, ११।)

## तैंतीसवां अध्याय

# उपनिवेशीकरण का आधुनिक सिद्धान्त[1]

अर्थशास्त्र निजी सम्पत्ति के दो भिन्न प्रकारों को सिद्धान्ततः गड़बड़ा देता है। इनमें से एक प्रकार की निजी सम्पत्ति उत्पादक के अपने श्रम पर आधारित होती है और दूसरी प्रकार की निजी सम्पत्ति अन्य लोगों के श्रम से काम लेने पर आधारित होती है। अर्थशास्त्र यह भूल जाता है कि दूसरी प्रकार की सम्पत्ति न केवल पहली प्रकार की सम्पत्ति का प्रत्यक्ष प्रतिवाद होती है, बल्कि वह एकमात्र उसकी क़ब्र पर ही खड़ी हो सकती है।

अर्थशास्त्र की मातृभूमि – पश्चिमी योरप – में आदिम संचय की क्रिया न्यूनाधिक रूप में सम्पूर्ण हो चुकी है। यहां पूंजीवादी शासन ने या तो प्रत्यक्ष रूप में राष्ट्रीय उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है और या उन देशों में, जहां आर्थिक परिस्थितियों का कम विकास हुआ है, वह कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में समाज के उन सभी स्तरों का नियंत्रण करने लगा है, जो वैसे तो उत्पादन की प्राचीन प्रणाली से सम्बंध रखते हैं, पर नयी प्रणाली के साथ-साथ क्रमिक पतनोन्मुख अवस्था में जीवित हैं। पूंजी के इस बने-बनाये तैयार संसार पर अर्थशास्त्री क़ानून और सम्पत्ति की अपनी उन धारणाओं को लागू करता है, जो उसको पूर्व-पूंजीवादी युग से विरासत में मिली हैं; और जितने ज़ोरों से तथ्य उसकी विचारधारा का खण्डन करते हैं, वह इन धारणाओं को लागू करने में उतने ही अधिक व्यग्र उत्साह और पाखण्ड का प्रदर्शन करता है।

उपनिवेशों की बात दूसरी है। वहां हर जगह पूंजीवादी शासन उस उत्पादक के प्रतिरोध से टकराता है, जो श्रम के लिये आवश्यक तत्वों का स्वामी होने के नाते उस श्रम का खुद धनी बनने के लिये, न कि पूंजीपति का धन बढ़ाने के लिये उपयोग करता है। इन दो सर्वथा विरोधी अर्थ-व्यवस्थाओं का विरोध यहां पर व्यवहार में दोनों के संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। जहां कहीं पूंजीपति के पीछे उसकी मातृभूमि का बल होता है, वहां वह उत्पादक के स्वतंत्र श्रम पर आधारित उत्पादन तथा हस्तगतकरण की प्रणालियों को ज़बर्दस्ती अपने रास्ते से हटा देने की चेष्टा करता है। जो स्वार्थ पूंजी के चाटुकार, अर्थशास्त्री, को स्वदेश में यह घोषणा करने के लिये विवश कर देता है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और उसकी विरोधी प्रणाली,

---

[1] यहां हम असली उपनिवेशों की चर्चा कर रहे हैं, जहां की धरती अछूती थी और जिन्हें स्वतंत्र आवासियों ने आबाद किया था। आर्थिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका आज भी योरप का एक उपनिवेश ही है। इसके अलावा, वे पुराने बाग़ान भी इस कोटि में सम्मिलित हैं, जहां दास-प्रथा का अन्त कर दिये जाने के फलस्वरूप पहले की परिस्थितियां एकदम बदल गयी हैं।

दोनों सिद्धान्त की दृष्टि से एक ही हैं, वही स्वार्थ उपनिवेशों में उसे सच्ची बात कहने के लिये और उत्पादन की दोनों प्रणालियों के विरोध को स्वीकार करने के लिये (to make a clean breast of it) मजबूर कर देता है। इसी उद्देश्य से वह यह साबित करता है कि जब तक मजदूरों की सम्पत्ति का अपहरण नहीं किया जाता और तदनुसार उनके उत्पादन के साधनों को पूंजी में नहीं बदल दिया जाता, तब तक श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति का विकास,– सहकारिता, श्रम-विभाजन, बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग आदि, सब असम्भव रहते हैं। तथाकथित राष्ट्रीय धन को बढ़ाने के लिये अर्थशास्त्री जनता को बनावटी ढंग से ग़रीब बनाये रखने के उपाय खोजता है। इसलिये, यहां पर उसका तर्कपूर्ण पक्ष-समर्थन का कवच सड़ी हुई लकड़ी की तरह थोड़ा-थोड़ा करके टूटने और बिखरने लगता है।

ई० जी० वेकफ़ील्ड को उपनिवेशों के बारे में कोई नयी बात खोजकर निकालने का श्रेय नहीं है,[1] उनको श्रेय इस बात का है कि उन्होंने उपनिवेशों में इस सत्य की खोज की है कि मातृभूमि में पायी जाने वाली पूंजीवादी उत्पादन की परिस्थितियां सचमुच कैसी हैं। जिस प्रकार संरक्षण की प्रणाली ने अपने प्रारम्भिक दिनों में[2] मातृभूमि में बनावटी ढंग से पूंजीपतियों को पैदा करने की कोशिश की थी, उसी प्रकार वेकफ़ील्ड के उपनिवेशीकरण के सिद्धान्त ने, जिसे कुछ समय तक इंगलैण्ड ने संसद में क़ानून बनाकर जबर्दस्ती लागू करने की कोशिश की थी, उपनिवेशों में मजदूरी पर श्रम करने वाले मजदूरों को बनावटी ढंग से पैदा करने की चेष्टा की। इसे वेकफ़ील्ड ने "systematic colonization" ("सुनियोजित उपनिवेशीकरण") का नाम दिया है।

उपनिवेशों में वेकफ़ील्ड ने सबसे पहले यह पता लगाया कि मुद्रा, जीवन-निर्वाह के साधनों, मशीनों और उत्पादन के अन्य साधनों का स्वामी होने पर भी आदमी पर उस वक़्त तक पूंजीपति होने की छाप अंकित नहीं होती, जब तक कि पूंजीपति के साथ परस्पर सम्बद्ध, मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर भी वहां नहीं होता, यानी जब तक कि वहां एक और आदमी ऐसा नहीं होता, जो स्वेच्छा से अपने को बेचने के लिये मजबूर हो। वेकफ़ील्ड ने पता लगाया कि पूंजी कोई वस्तु नहीं है, बल्कि व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला एक ऐसा सामाजिक सम्बंध है, जो वस्तुओं के माध्यम से स्थापित होता है।[3] इनको इस बात का बड़ा दुःख है कि मि० पील इंगलैण्ड से पश्चिमी आस्ट्रेलिया के स्वान-नदी नामक स्थान को जाते समय अपने साथ ५०,०००

---

[1] आधुनिक उपनिवेशीकरण के विषय में वेकफ़ील्ड ने जो दूरदर्शितापूर्ण बातें कही हैं... उनको मिराबो (बड़े) और फ़िज़िओक्रेट्स पहले ही कह चुके थे, और उनके भी पहले अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने वे सब बातें कह दी थीं।

[2] बाद को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के संघर्ष में संरक्षण-प्रणाली एक अस्थायी आवश्यकता बन गयी। लेकिन उसका प्रयोजन कुछ भी हो, उसके परिणाम सदा एक जैसे ही होते हैं।

[3] "हब्शी हब्शी होता है। कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियों में वह दास बन जाता है। म्यूल कपास कातने की एक मशीन होता है। केवल कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियों में ही वह पूंजी बन जाता है। जैसे सोना ख़ुद अपने में मुद्रा नहीं होता और चीनी ख़ुद चीनी का दाम नहीं होती, वैसे ही इन परिस्थितियों के बाहर म्यूल भी पूंजी नहीं होता... पूंजी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बंध है। वह उत्पादन का एक ऐतिहासिक सम्बंध है।" (Karl Marx, *"Lohnarbeit und Kapital"*, *"Neue Rheinische Zeitung"* के अंक २६६ में, ७ अप्रैल १८४९।)

पौण्ड की क़ीमत के जीवन-निर्वाह और उत्पादन के साधन ले गये थे और साथ ही उन्होंने अपने साथ मजदूर-वर्ग के ३,००० व्यक्ति–स्त्री, पुरुष और बच्चे–भी अपने साथ ले जाने की दूरदर्शिता दिखायी थी, मगर गन्तव्य स्थान पर पहुंचते ही यह हालत हो गयी कि "मि० पील के पास एक भी नौकर नहीं रह गया, जो उनका बिस्तर बिछा दे या नदी से पानी ले आये।"[1] बेचारे मि० पील! वह सब कुछ लेकर स्वान-नदी पहुंचे थे, मगर केवल इंगलैण्ड की उत्पादन-प्रणाली साथ लाना भूल गये थे!

वेकफ़ील्ड के नीचे दिये गये आविष्कारों को समझने के लिये दो बातें पहले से ही कह देना आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधन जब तक प्रत्यक्ष रूप से अपने हित में उत्पादन करने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति रहते हैं, तब तक वे पूंजी नहीं होते। ये साधन केवल उन्हीं परिस्थितियों में पूंजी बनते हैं, जिनमें वे साथ ही मजदूर का शोषण करने और उसको पराधीन बनाने के साधनों के रूप में भी काम में आते हैं। लेकिन अर्थशास्त्री के मस्तिष्क में उनकी यह पूंजीवादी आत्मा उनकी भौतिक देह से इतने अंतरंग रूप से जुड़ी रहती है कि अर्थशास्त्री उनको सभी परिस्थितियों में, यहां तक कि उन परिस्थितियों में भी, जब कि वे पूंजी की सर्वथा विरोधी अवस्था में होते हैं, पूंजी ही कहता है। वेकफ़ील्ड भी यही ग़लती करते हैं। इसके अलावा, यदि उत्पादन के साधनों के टुकड़े-टुकड़े करके उनको स्वयं अपने हित में काम करने वाले बहुत से स्वतंत्र मजदूरों के बीच उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बांट दिया जाये, तो उसे वह पूंजी का समान बंटवारा कहते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्री वही काम करता है, जो सामन्ती विधिवेत्ता ने किया था। सामन्ती विधिवेत्ता ने सामन्ती विधि से प्राप्त नामों की पर्चियां विशुद्ध मुद्रागत सम्बंधों पर चिपका दी थीं।

वेकफ़ील्ड ने लिखा है: "यदि यह मानकर चला जाये कि समाज के सभी सदस्यों के पास पूंजी का समान भाग है,.. तो कोई व्यक्ति जितनी पूंजी का खुद अपन हाथों से उपयोग कर सकता है, उससे अधिक पूंजी जमा करने की उसे इच्छा न होगी। अमरीका की नयी बस्तियों में कुछ हद तक इसी तरह की हालत है। वहां भूमि पर अधिकार करने की प्रबल इच्छा मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के वर्ग को अस्तित्व में नहीं आने देती।"[2] इसलिये जब तक मजदूर खुद अपने लिये संचय कर सकता है,–और यह वह उस वक़्त तक करता रहेगा, जब तक कि वह अपने उत्पादन के साधनों का खुद मालिक रहता है,–तब तक पूंजीवादी संचय का होना और पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली का अस्तित्व में आना असम्भव रहता है। कारण कि इन दो चीजों के लिये मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के जिस वर्ग की आवश्यकता होती है, उसका उस समय तक अभाव रहता है। तब फिर पुराने योरप में मजदूर से वे तमाम साधन कैसे छीने गये, जो उसके श्रम के लिये आवश्यक थे? अर्थात् वहां पूंजी और मजदूरी का सह-अस्तित्व कैसे क़ायम किया गया? एक बिल्कुल मौलिक ढंग के सामाजिक क़रार के द्वारा। "पूंजी के संचय को प्रोत्साहन देने के लिये मनुष्य-जाति ने... एक सरल उपाय का उपयोग किया है।" जाहिर है, असल में तो ऐडम स्मिथ के समय से ही यह पूंजी का संचय मनुष्य-जाति के अस्तित्व के एकमात्र एवं अन्तिम लक्ष्य के रूप में उसके कल्पना-लोक में मण्डरा रहा था। वह

---

[1] E. G. Wakefield, "*England and America*" (ई० जी० वेकफ़ील्ड, 'इंगलैण्ड और अमरीका'), London, 1833, खण्ड २, पृ० ३३।

[2] उप० पु०, खण्ड १, पृ० १७।

उपाय यह है कि "मनुष्य-जाति ने अपने को पूंजी के मालिकों और श्रम के मालिकों में विभाजित कर दिया है... यह विभाजन सहकारिता और संयोजन का फल था।"[1] संक्षेप में, "पूंजी के संचय" के सम्मान में मनुष्य-जाति के अधिकतर भाग ने खुद अपनी सम्पत्ति का अपहरण कर लिया। अस्तु कोई भी यह सोचेगा कि आत्मत्याग की यह उन्मत्त भावना विशेष कर उपनिवेशों में सबसे अधिक खुलकर सामने आयेगी, क्योंकि केवल उपनिवेशों में ही वे मनुष्य तथा वे परिस्थितियां पायी जाती हैं, जो सामाजिक क़रार को स्वप्न से वास्तविकता में परिणत कर सकती थीं। लेकिन तब स्वयंस्फूर्त, अनियमित उपनिवेशीकरण पर भरोसा करने के बजाय उसके प्रतिपक्षी "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का सहारा क्यों लिया जाये? किन्तु... किन्तु... "अमरीकी संघ के उत्तरी राज्यों में आबादी का दसवां हिस्सा भी मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की मद में आयेगा, इसमें सन्देह है... इंगलैण्ड में... आबादी का अधिकांश श्रमजीवी वर्ग का है।"[2] लेकिन पूंजी की विजय के लिये खुद अपनी सम्पत्ति का अपहरण करवा देने की भावना श्रमजीवी मनुष्यों में इतनी कम है कि औपनिवेशिक समृद्धि का एकमात्र आधार – खुद वेकफ़ील्ड के मतानुसार भी – दास-प्रथा ही हो सकती है। वेकफ़ील्ड के लिये सुनियोजित उपनिवेशीकरण केवल एक pis aller (काम-चलाऊ उपाय) है, क्योंकि दुर्भाग्य से उनका वास्ता दासों के बजाय स्वतंत्र मनुष्यों से पड़ा है। "स्पेन के जो लोग सेंट डोमिंगो में पहले-पहल जाकर बसे थे, वे स्पेन से अपने साथ मजदूरों को नहीं ले गये थे। लेकिन मजदूरों के अभाव में या तो उनकी सारी पूंजी नष्ट हो जाती, या कम से कम घटते-घटते शीघ्र ही इतनी अल्प मात्रा में रह जाती, जिसका प्रत्येक व्यक्ति अपने हाथों से उपयोग कर पाता था। अंग्रेज़ों ने सबसे आख़िर में जिस उपनिवेश – यानी स्वान नदी की बस्ती – की नींव डाली थी, वहां सचमुच यही बात देखने में आयी है। वहां पूंजी – बीज, औज़ारों और पशुओं – की एक बड़ी भारी राशि उसका उपयोग करने वाले मजदूरों के अभाव के कारण नष्ट हो गयी है, और अब वहां बसे हुए किसी भी व्यक्ति के पास जितनी पूंजी का वह अपने हाथों से उपयोग कर सकता है, उससे अधिक पूंजी नहीं है।"[3]

हम यह देख चुके हैं कि अधिकतर जनता की भूमि का अपहरण कर लेना ही उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का आधार है। इसके विपरीत, किसी भी स्वतंत्र उपनिवेश का सार-तत्व इस बात में निहित होता है कि वहां की अधिकतर भूमि उस समय भी सार्वजनिक सम्पत्ति होती है और इसलिये इस भूमि पर बसा हुआ प्रत्येक व्यक्ति उसके एक भाग को अपनी निजी सम्पत्ति और उत्पादन के व्यक्तिगत साधनों में बदल सकता है और फिर भी इसके बाद आकर बसने वालों के रास्ते में कोई बाधा नहीं पड़ती, – वे भी इसी क्रिया को दुहरा सकते हैं।[4] उपनिवेशों की समृद्धि का और उनके सबसे बड़े दुर्गुण का, – यानी उपनिवेशों में पूंजी की स्थापना

---

[1] उप० पु०, खण्ड १, पृ० १८।

[2] उप० पु०, पृ० ४२, ४३, ४४।

[3] उप० पु०, खण्ड २, पृ० ५।

[4] "यदि भूमि को उपनिवेशीकरण का एक तत्व बनना है, तो उसके लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि भूमि परती पड़ी हो, बल्कि उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह सार्वजनिक सम्पत्ति हो और उसे निजी सम्पत्ति में बदला जा सकता हो।" (उप० पु०, खण्ड २, पृ० १२५।)

का जो विरोध होता है, उसका, – दोनों बातों का यही रहस्य है। "जहां जमीन बहुत सस्ती होती है और सभी मनुष्य स्वतंत्र होते हैं, जहां खुद अपने लिये जमीन का एक टुकड़ा चाहने वाला हर आदमी आसानी से उसे पा सकता है, वहां न केवल पैदावार में मजदूर के हिस्से की दृष्टि से श्रम बहुत महंगा पड़ता है, बल्कि संयुक्त श्रम तो किसी भी दाम पर कराना कठिन होता है।"[1]

जिस प्रकार उपनिवेशों में श्रम के लिये आवश्यक तत्वों से और उनकी जड़ – धरती – से अभी मजदूर का सम्बंध-विच्छेद नहीं होता, या अगर होता है, तो केवल कहीं-कहीं या बहुत ही छोटे पैमाने पर, उसी [प्रकार] वहां न तो उद्योग से खेती का सम्बंध-विच्छेद होता है और न ही किसानों के घरेलू उद्योग का विनाश हो चुका होता है। तब फिर पूंजी के लिये अन्दरूनी मण्डी कैसे तैयार होगी? "दासों और उनके मालिकों को छोड़कर, जिन्होंने विशिष्ट कामों में पूंजी और श्रम को एक साथ जोड़ रखा है, अमरीका की आबादी का ऐसा कोई भाग नहीं है, जो विशुद्ध रूप से खेतिहर हो। धरती जोतने वाले स्वतंत्र अमरीकी बहुत से अन्य धंधे भी करते हैं। वे जो फ़र्नीचर और औजार इस्तेमाल करते हैं, उनका एक हिस्सा प्रायः खुद बना लेते हैं। अक्सर वे अपने घर भी खुद ही बनाकर खड़े कर लेते हैं और अपने उद्योग की पैदावार को खुद ही मण्डी में लेकर जाते हैं, वह मण्डी चाहे कितनी भी दूर क्यों न हो। ये लोग कताई और बुनाई करते हैं, साबुन और मोमबत्तियां बनाते हैं और बहुत से तो जूते और कपड़े भी अपने इस्तेमाल के लिये खुद ही तैयार कर लेते हैं। अमरीका में धरती को जोतना-बोना तो बहुधा किसी लोहार, किसी पनचक्की वाले या किसी दूकानदार का गौण धंधा होता है।"[2] ऐसे अजीब लोगों के रहते हुए पूंजीपतियों के "परिवर्जन" के लिये कौनसा क्षेत्र बचता है?

पूंजीवादी उत्पादन का महान सौंदर्य इस बात में निहित है कि वह न केवल मजदूरी पर काम करने वाले व्यक्ति का लगातार मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर के ही रूप में पुनरुत्पादन करता जाता है, बल्कि पूंजी के संचय के अनुपात सदा मजदूरी पर काम करने वालों की सापेक्ष दृष्टि से अतिरिक्त जन-संख्या का उत्पादन करता रहता है। चुनांचे श्रम की पूर्ति और मांग का नियम सदा एक सही लीक में चलता है, मजदूरी का उतार-चढ़ाव कभी पूंजीवादी शोषण के लिये सुविधाजनक सीमाओं के बाहर नहीं निकल पाता, और अन्तिम बात यह है कि पूंजीपति पर मजदूर की सामाजिक निर्भरता, जो पूंजीवादी शोषण के लिये अपरिहार्य रूप से आवश्यक होती है, सदा सुरक्षित रहती है। परनिर्भरता अथवा पराधीनता के इस स्पष्ट सम्बन्ध को आत्मसंतुष्ट अर्थशास्त्री स्वदेश में – उपनिवेश पर शासन करने वाले देश में – जरूर एक ऐसे स्वतंत्र क़रार के सम्बंध के रूप में पेश कर सकता है, जो खरीदार और बेचने वाले के बीच, समान रूप से स्वतंत्र दो मालों के मालिकों के बीच, पूंजी नामक माल के मालिक और श्रम नामक माल के मालिक के बीच क़ायम होता है। लेकिन उपनिवेशों में यह सुन्दर कल्पना तुरन्त ही चकनाचूर हो जाती है। यहां शासक राज्य की अपेक्षा निरपेक्ष जन-संख्या बहुत तेजी से बढ़ती है, क्योंकि बहुत से मजदूर पले-पलाये वयस्क व्यक्तियों के रूप में इस दुनिया में प्रवेश करते हैं। मगर फिर भी श्रम की मण्डी में श्रम की सदा कमी रहती है। श्रम की पूर्ति और मांग का नियम टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। एक ओर, पुरानी दुनिया यहां लगातार शोषण और "परिवर्जन"

---

[1] उप० पु०, खण्ड १, पृ० २४७।

[2] उप० पु०, पृ० २१, २२।

करने की इच्छा से आतुर पूंजी को झोंकती जाती है; दूसरी ओर, मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर का मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर के रूप में नियमित पुनरुत्पादन अत्यन्त धृष्ट एवं आंशिक रूप से अजेय बाधाओं से टकराता रहता है। ऐसी परिस्थिति में पूंजी के संचय के अनुपात से अधिक मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के उत्पादन का क्या होता है? आज जो मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर है, वह कल को खुद अपने लिये काम करने वाला स्वतंत्र किसान या दस्तकार बन जाता है। वह श्रम की मण्डी से तो ग़ायब हो जाता है, परन्तु मुहताजख़ाने में नहीं जाता। मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर इस तरह लगातार स्वतंत्र उत्पादकों में बदलते जाते हैं, जो पूंजी के लिये नहीं, बल्कि खुद अपने लिये काम करते हैं और जो पूंजीवादी भद्र पुरुषों का धन बढ़ाने के लिये नहीं, बल्कि खुद धनी बनने के लिये काम करते हैं। और इस अनवरत रूपान्तरण का श्रम की मण्डी पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। न केवल मजदूरों के शोषण की मात्रा सारी मर्यादा को त्यागकर सदा बहुत कम ही बनी रहती है, बल्कि, इसके अतिरिक्त, मजदूर चूंकि पराधीनता के सम्बंध से वंचित रहता है, इसलिये उसके हृदय में मितव्ययी पूंजीपति पर निर्भर रहने की तनिक भी इच्छा नहीं रहती। इसी से वे तमाम असुविधाएं पैदा होती हैं जिनका हमारे वेकफ़ील्ड महोदय ने इतनी हिम्मत के साथ, इतने शब्द-चातुर्य के साथ और इतने हृदयस्पर्शी ढंग से वर्णन किया है।

वह शिकायत करते हैं कि मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की पूर्ति न तो स्थिर रहती है, न नियमित ढंग से होती है और न ही पर्याप्त समझी जा सकती है। "श्रम की पूर्ति सदा ही न केवल बहुत कम, बल्कि बहुत अनिश्चित भी रहती है।"[1] "पूंजीपति और मजदूर के बीच विभाजित होने वाली पैदावार यदि बहुत अधिक है, तो भी उसमें मजदूर का हिस्सा इतना बड़ा होता है कि वह शीघ्र ही पूंजीपति बन जाता है... जो असाधारण रूप से लम्बा जीवन पाते हैं, उनमें से भी बहुत कम लोग धन की कोई बड़ी राशि जमा कर पाते हैं।"[2] मतलब यह कि मजदूर पूंजीपति को साफ़ तौर पर इसकी इजाजत नहीं देते कि वह उनके अधिकांश श्रम की क़ीमत देने के मामले में भी "परिवर्जन" का परिचय दे। यदि पूंजीपति यह चतुराई करता है कि पूंजी के साथ-साथ मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर भी योरप से मंगा लेता है, तो भी उसका कोई फ़ायदा नहीं होता। ये मजदूर भी जल्द ही "मजदूरी करना... बन्द कर देते हैं। वे... यदि श्रम की मण्डी में अपने भूतपूर्व मालिकों के प्रतियोगी नहीं बनते, तो स्वतंत्र भू-स्वामी बन जाते हैं।"[3] जरा परिस्थिति की भयानकता पर तो विचार कीजिये! बेचारा पूंजीपति अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा ख़र्च करके योरप से कुछ आदमियों को मंगवाता है; वे वहां पहुंचकर खुद उसी के प्रतिद्वंद्वी बन जाते हैं! यह सर्वनाश नहीं, तो और क्या है? कोई आश्चर्य नहीं, यदि वेकफ़ील्ड को इस बात का बहुत दुःख है कि उपनिवेशों में किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है और वहां के मजदूरों में पराधीनता या परनिर्भरता के लिये जरा भी स्नेह नहीं पाया जाता। वेकफ़ील्ड के शिष्य मेरीवेल ने कहा है कि मजदूरी की दरें ऊंची होने के कारण उपनिवेशों में "ऐसे मजदूर पाने की अत्यधिक चाह है, जो अधिक सस्ते हों और अधिक आज्ञाकारी हों। यानी वहां फ़ौरन एक ऐसा वर्ग चाहिये, जिसका हुक्म पूंजीपतियों को

---

[1] उप० पु०, खण्ड २, पृ० ११६।
[2] उप० पु०, खण्ड १, पृ० १३१।
[3] उप० पु०, खण्ड २, पृ० ५।

न बजाना पड़े, बल्कि जिसपर पूंजीपति खुद अपना हुक्म चला सकें... प्राचीन एवं सभ्य देशों में मजदूर स्वतंत्र होते हुए भी प्रकृति के नियमानुसार पूंजीपति के अधीन रहता है; उपनिवेशों में बनावटी ढंग से यह पराधीनता पैदा करनी होगी।"[1]

---

[1] Merivale, "*Lectures on Colonization and Colonies*", London, 1841 और 1842, खण्ड २, पृ० २३५-३१४, विभिन्न स्थानों पर। यहां तक कि स्वतंत्र व्यापार के अनुग्र समर्थक, घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्री मोलिनारी ने भी यह लिखा है: "Dans les colonies où l'esclavage a été aboli sans que le travail forcé se trouvait remplacé par une quantité équivalente de travail libre, on a vu s'opérer la contre-partie du fait qui se réalise tous les jours sous nos yeux. On a vu les simples travailleurs exploiter à leur tour les entrepreneurs d'industrie, exiger d'eux des salaires hors de toute proportion avec la part légitime qui leur revenait dans le produit. Les planteurs, ne pouvant obtenir de leurs sucres un prix suffisant pour couvrir la hausse de salaire, ont été obligés de fournir l'excédant, d'abord sur leurs profits, ensuite sur leurs capitaux mêmes. Une foule de planteurs ont été ruinés de la sorte, d'autres ont fermé leurs ateliers pour échapper à une ruine imminente... Sans doute, il vaut mieux voir périr des accumulations de capitaux que des générations d'hommes mais ne vaudrait-il pas mieux que ni les uns ni les autres périssent?" ["जिन उपनिवेशों में दास-प्रथा समाप्त कर दी गयी है, लेकिन बेगार के श्रम का स्थान स्वतंत्र श्रम की उतनी ही मात्रा नहीं ग्रहण कर सकी है, वहां, जो कुछ हम रोजाना अपनी आंखों के सामने होते हुए देखते हैं, उसका बिल्कुल उल्टा होता है। वहां हम यह पाते हैं कि साधारण मजदूर उल्टे उद्यमकर्त्ताओं का शोषण करने लगते हैं और उनको पैदावार का जितना हिस्सा सचमुच मिलना चाहिये, उससे बहुत अधिक मांगने लगते हैं। बाग़ानों के मालिक चूंकि अपनी चीनी इतने ऊंचे दामों पर नहीं बेच पाते, जिनसे कि बढ़ी हुई मजदूरी का पड़ता पूरा हो सके, इसलिये उनको मजबूर होकर उसे पहले अपने मुनाफ़े में से और फिर अपनी पूंजी तक में से पूरा करना पड़ता है। इस तरह बाग़ानों के बहुत से मालिक एकदम बरबाद हो गये हैं। दूसरों ने बरबादी से बचने के लिये चीनी बनाने के अपने कारखाने बन्द कर दिये हैं... इसमें तो सन्देह नहीं कि मनुष्यों की कई पीढ़ियों के नष्ट हो जाने की अपेक्षा यह बेहतर है कि संचित पूंजी जाया हो जाये।" (अहा, मि० मोलिनारी ने यहां कितनी उदारता दिखायी है!) "लेकिन इससे भी बेहतर क्या यह नहीं होता कि पूंजी भी ज्यों की त्यों रहती और इन्सान भी जिन्दा रहते?"] (Molinari "*Etudes Economiques*", Paris, 1846, पृ० ५१, ५२।) मि० मोलिनारी, यह आप क्या कह रहे हैं! अगर योरप में "entrepreneur" ("उद्यमकर्त्ता") मजदूर को पैदावार के उसके part légitime (न्यायोचित भाग) से वंचित कर सकता है, और वेस्ट इण्डीज में मजदूर उद्यमकर्त्ता से उसका part légitime (न्यायोचित भाग) छीन सकता है, तो फिर दस आदेशों का, मूसा तथा अन्य पैग़म्बरों का और पूर्ति तथा मांग के नियम का क्या होगा? और कृपया यह तो बताइये कि यह "part légitime" ("न्यायोचित भाग") कौनसा है, जिसे खुद आपके कथनानुसार योरप में पूंजीपति रोजाना देने से इनकार कर देता है? मि० मोलिनारी इसके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं कि अन्य स्थानों में पूर्ति और मांग का जो नियम अपने आप काम करता है, उससे वहां दूर उन उपनिवेशों में, जहां मजदूर इतने

अच्छा, तो उपनिवेशों में जो यह शोचनीय स्थिति पैदा हो गयी है, वेकफ़ील्ड के मतानुसार, उसका क्या परिणाम हुआ है? उसका परिणाम हुआ है उत्पादकों और राष्ट्रीय धन के "बिखर जाने की एक बर्बर प्रवृत्ति"।[1] अब उत्पादन के साधन खुद अपने हित में काम करने वाले असंख्य उत्पादकों के बीच बंट जाते हैं, तो पूंजी का केन्द्रीयकरण समाप्त हो जाने के साथ-साथ संयुक्त श्रम का समस्त आधार नष्ट हो जाता है। अब ऐसा कोई धंधा नहीं किया जा सकता, जिसके पूरे होने में कई वर्ष लग जाने की आशंका हो और जिसमें अचल पूंजी की बड़ी राशि लगाना आवश्यक हो। योरप में पूंजीपतियों को पूंजी लगाने में एक क्षण के लिये भी हिचकिचाहट नहीं होती, क्योंकि वहां मजदूर-वर्ग पूंजी का एक सजीव उपांग मात्र है और उसकी संख्या हमेशा पूंजी की आवश्यकता से अधिक रहती है, और वह सदा उसका हुक्म बजाने को तैयार रहता है। लेकिन उपनिवेशों में क्या हालत है!.. वेकफ़ील्ड वहां के बारे में हमें एक बहुत ही दुखद कथा सुनाते हैं। वह कनाडा तथा न्यू यार्क राज्य के कुछ पूंजीपतियों से बात कर रहे थे, जहां कि आवासियों का प्रवाह अक्सर रुक ही जाता है और कुछ "अनावश्यक" मजदूरों की तलछट छोड़ जाता है। भावनाओं पर तीक्ष्ण आघात करने वाली इस कथा का एक पात्र कहता है: "हमारी पूंजी ऐसे कई कामों के शुरू करने के लिये तैयार बैठी थी, जिनको पूरा करने के लिये काफ़ी लम्बे समय की आवश्यकता थी। लेकिन हम इस तरह के कामों में ऐसे मजदूरों को साथ लेकर हाथ नहीं लगा सकते थे, जो, हम जानते थे, जल्दी ही हमें छोड़कर चले जायेंगे। यदि हमें इसका विश्वास होता कि ये आवासी हमारे यहां ही काम करते रहेंगे, तो हम उनको तुरन्त नौकर रख लेते और काफ़ी ऊंचे दाम देकर रख लेते। और यह जानते हुए भी कि वे हमें छोड़कर चले जायेंगे, हम उनको नौकर रख लेते, अगर हमें केवल इतना यक़ीन होता कि जब कभी जरूरत होगी, तब हमें नये मजदूर मिल जायेंगे।"[2]

इंगलैण्ड की पूंजीवादी खेती तथा उसके "संयुक्त" श्रम का अमरीकी किसानों की बिखरी हुई खेती के साथ मुक़ाबला करने के बाद वेकफ़ील्ड अनजाने में हमें तसवीर का दूसरा पहलू भी दिखा देते हैं। वह बताते हैं कि अमरीका की साधारण जनता सुखी और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती है और बड़ी उद्यमशील तथा अपेक्षाकृत सुसंस्कृत है, जब कि "इंगलैण्ड का खेतिहर मजदूर दुखिया, अभागा (a miserable wretch) और कंगाल होता है... और उत्तरी अमरीका तथा कुछ नये उपनिवेशों को छोड़कर और किस देश में खेती का काम करने के लिये नौकर रखे गये स्वतंत्र मजदूरों की मजदूरी केवल जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक मजदूरी से बहुत अधिक होती है?.. इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इंगलैण्ड में खेती में इस्तेमाल होने वाले घोड़ों को, मूल्यवान सम्पत्ति होने के नाते, अंग्रेज किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा भोजन खाने को मिलता है।"[3] लेकिन never mind (कोई बात नहीं)! यहां पर फिर राष्ट्रीय समृद्धि अपने स्वरूप के ही कारण जनता की ग़रीबी के साथ एकाकार हो गयी है।

---

"simple" ("भोले") हैं कि पूंजीपतियों का "शोषण" करने लगते हैं, पुलिस के जरिये काम ठीक-ठाक कराया जाये।

[1] Wakefield, उप० पु०, खण्ड २, पृ० ५२।

[2] उप० पु०, पृ० १९१, १९२।

[3] उप० पु०, खण्ड १, पृ० ४७, २४६।

तो फिर उपनिवेशों के इस पूंजीपति-विरोधी नासूर का कैसे इलाज किया जाये? यदि लोग एक ही झटके में सारी धरती को सार्वजनिक सम्पत्ति से निजी सम्पत्ति में बदल देने को तैयार हो जायें, तो निश्चय ही इस बीमारी की जड़ कट जायेगी, लेकिन साथ ही उपनिवेश भी नष्ट हो जायेंगे। असल में, कोई ऐसी तरकीब निकालनी है, जिससे एक पन्थ दो काज वाली बात हो जाये। सरकार को चाहिये कि पूर्ति और मांग के नियम की अवहेलना करके अछूती धरती के लिये एक बनावटी दाम नियत कर दे। यह दाम इतना ऊंचा होना चाहिये कि आवासी मजदूर को जमीन ख़रीदने लायक़ धन कमाने और इस प्रकार स्वतंत्र किसान बनने के पहले एक लम्बे समय तक मजदूरी पर काम करना पड़े।[1] इतने ऊंचे दामों पर जमीन बेचकर कि उनके कारण मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों के लिये जमीन ख़रीदना लगभग असम्भव हो जाये, और पूर्ति तथा मांग के पवित्र नियम का उल्लंघन करके मजदूरों की मजदूरी में से जो धन चुराया जायेगा, उसके जमा होने से सरकार के पास एक कोष संचित हो जायेगा। उसका सरकार यह उपयोग करेगी कि ज्यों-ज्यों यह कोष बढ़ता जायेगा, त्यों-त्यों वह योरप से कंगाल लोगों को उपनिवेशों में मंगाती जायेगी, ताकि इस तरह मजदूरों की मण्डी पूंजीपतियों के हित में हमेशा माल से अटी रहे। ऐसा होने पर "tout sera pour le mieux dans le meilleur des mondes possibles" ("सब दुनियाओं से अच्छी इस दुनिया में हर चीज भलाई के लिये ही होगी")। यही है "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का महान रहस्य। वेकफ़ील्ड ने विजयोल्लास के साथ कहा है कि इस योजना का प्रयोग करने पर "श्रम की पूर्ति अनिवार्य रूप से स्थिर और नियमित हो जायेगी, क्योंकि एक तो कोई भी मजदूर चूंकि बहुत समय तक मजदूरी पर काम किये बिना जमीन नहीं प्राप्त कर सकेगा, इसलिये सभी आवासी मजदूरों को काफ़ी समय तक मजदूरी पर संयुक्त श्रम करना होगा और इस तरह वे और अधिक मजदूरों को नौकर रखने के लिये पूंजी तैयार कर

[1] "C'est, ajoutez-vous, grâce à l'appropriation du sol et des capitaux que l'homme, qui n'a que ses bras, trouve de l'occupation, et se fait un revenu... c'est au contraire, grâce à l'appropriation individuelle du sol qu'il se trouve des hommes n'ayant que leurs bras... Quand vous mettez un homme dans le vide, vous vous emparez de l'atmosphère. Ainsi faites-vous, quand vous vous emparez du sol... C'est le mettre dans le vide de richesses, pour ne le laisser vivre qu'à votre volonté" ["तो आपका कहना यह है कि जमीन और पूंजी पर कुछ व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होने का ही यह फल है कि जिस मनुष्य के पास अपने हाथों के सिवा और कुछ नहीं है, उसे भी काम मिल सकता है और वह अपनी जीविका कमा सकता है... मैं आपसे कहता हूं कि बात इसकी उल्टी है। भूमि पर कुछ व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होने का ही यह नतीजा है कि कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके पास उनके हाथों के सिवा और कुछ नहीं है... जब आप किसी आदमी को शून्य में बन्द कर देते हैं, तब आप उसके लिये हवा पाना असम्भव बना देते हैं। जब आप जमीन पर कब्ज़ा कर लेते हैं, तब भी आप यही करते हैं... आप मनुष्य को एक ऐसे शून्य में बन्द कर देते हैं, जिसमें ज़रा सा भी धन नहीं छोड़ा गया है, और यह आप इसलिये करते हैं कि वह आदमी सदा आपकी इच्छा का दास बना रहे"]। (Colins, "*L'Economie Politique, Source des Révolutions et des Utopies prétendues socialistes*", Paris, 1857, खण्ड ३, पृ० २६८-२७१, विभिन्न स्थानों पर।)

देंगे; दूसरे, हर ऐसा मजदूर, जो मजदूरी पर काम करना बन्द करके भू-स्वामी बनना चाहेगा, उसको जमीन खरीदनी पड़ेगी, जिससे नये मजदूरों को उपनिवेश में लाने के लिये एक कोष जमा हो जायेगा।"[1] राज्य द्वारा नियत धरती के दाम को, जाहिर है, "पर्याप्त दाम" (sufficient price) होना चाहिये, – अर्थात् वह इतना ऊंचा दाम होना चाहिये कि उसके कारण "मजदूर उस वक़्त तक स्वतंत्र भू-स्वामी न बन पायें, जब तक कि उनका स्थान लेने के लिये नये मजदूर न आ जायें।"[2] यह "पर्याप्त दाम" एक वक्रोक्ति तथा मंगलभाषण के सिवा और कुछ नहीं है, जिसके पीछे वह मुक्ति-धन छिपा हुआ है, जो मजदूर को मजदूरों की मण्डी को छोड़कर खेती करने की अनुमति प्राप्त करने के एवज में पूंजीपति को देना पड़ता है। पहले मजदूर को पूंजीपति के लिये "पूंजी" पैदा करनी पड़ती है, ताकि वह उसके जरिये और अधिक मजदूरों का शोषण कर सके। फिर उसे अपने खर्चे से अपना एक एवजी श्रम की मण्डी में बुलाना पड़ता है, जिसे सरकार उसके भूतपूर्व स्वामी – पूंजीपति – के लाभार्थ समुद्र पार कराके उपनिवेश में लाती है।

यह बहुत सारगर्भित बात है कि मि० वेकफ़ील्ड ने "आदिम संचय" का जो तरीक़ा विशिष्ट रूप से उपनिवेशों के लिये सुझाया है, उसका इंगलैण्ड की सरकार बर्षों से उपयोग कर रही है। जाहिर है, उसको इस मामले में भी उतनी ही बड़ी असफलता मिली है, जितनी बड़ी असफलता सर रोबर्ट पील के बैंक-क़ानून के मामले में मिली थी। उसका परिणाम केवल यह हुआ कि परावास की धारा ब्रिटिश उपनिवेशों से मुड़कर संयुक्त राज्य अमरीका की ओर बहने लगी। इस बीच योरप में पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति और सरकार के बढ़ते हुए दबाव ने वेकफ़ील्ड के नुस्खे को अनावश्यक बना दिया है। एक ओर तो अमरीका में बर्ष प्रति बर्ष मनुष्यों की जो बहुत धारा निरन्तर पहुंच रही है, वह संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी भाग में एक स्थिर तलछट छोड़ती जाती है। कारण कि योरप से आने वाली आवास की लहर जितनी तेजी के साथ मनुष्यों को वहां की श्रम की मण्डी में लाकर पटकती जाती है, उतनी तेजी के साथ पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली परावास की लहर उनको वहां से हटा नहीं सकती। दूसरी ओर, अमरीकी गृह-युद्ध के साथ-साथ एक दैत्याकार राष्ट्रीय ऋण देश के कंधों पर आ पड़ा है और उसके साथ-साथ करों का बोझा बढ़ गया है, एक नीचतम वित्तीय अभिजात वर्ग पैदा हो गया है, सार्वजनिक भूमि का एक बहुत बड़ा भाग रेलों, खानों आदि से मुनाफ़ा कमाने के उद्देश्य से स्थापित की जाने वाली सट्टेबाज कम्पनियों पर लुटा दिया गया है, – और संक्षेप में कहिये, तो पूंजी का बहुत ही तेजी के साथ केन्द्रीयकरण हो रहा है। चुनांचे यह महान प्रजातंत्र अब परावासी मजदूरों का स्वर्ग नहीं रह गया है। हालांकि वहां अभी मजदूरी को कम करके और मजदूर की पराधीनता को बढ़ाकर योरप के सामान्य स्तर पर नहीं पहुंचाया जा सका है, फिर भी पूंजीवादी उत्पादन वामन-डगों से प्रगति कर रहा है। परती पड़ी हुई औपनिवेशिक भूमि को इंगलैण्ड की सरकार जिस लज्जाहीन ढंग से अभिजात वर्ग के लोगों तथा पूंजीपतियों पर लुटा रही है, उसकी वेकफ़ील्ड तक ने बड़े जोरदार शब्दों में निन्दा की है। खास तौर पर आस्ट्रेलिया में[3] इस चीज ने सोने की खानों से आकृष्ट होकर आस्ट्रेलिया की ओर खिंचने वाले मनुष्यों की अनवरत

---

[1] Wakefield, उप० पु०, खण्ड २, पृ० १६२।

[2] उप० पु०, पृ० ४५।

[3] जब आस्ट्रेलिया अपने लिये खुद क़ानून बनाने लगा, तब उसने, जाहिर है, वहां बसे हुए लोगों के हित में क़ानून बनाये, लेकिन अंग्रेज सरकार इसके पहले ही जमीन को लुटा चुकी थी,

धारा और इंगलैण्ड के बने हुए माल के आस्ट्रेलिया में आने के कारण वहां के छोटे से छोटे दस्तकार को भी जिस प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा था, उसके साथ मिलकर श्रमजीवियों की एक बहुत काफ़ी बड़ी "सापेक्ष अतिरिक्त जन-संख्या" पैदा कर दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब भी आस्ट्रेलिया की डाक इंगलैण्ड पहुंचती है, तो हर बार यह रोना सुना जाता है कि "आस्ट्रेलिया की श्रम की मण्डी मजदूरों से एकदम अटी हुई है" ("glut of the Australian labour-market") और वहां कुछ स्थानों में वेश्या-वृत्ति का उसी अनियंत्रित ढंग से प्रसार हो रहा है, जिस अनियंत्रित ढंग से वह लन्दन के हेमारकेट नामक स्थान में फैली हुई है।

लेकिन यहां पर उपनिवेशों की दशा से हमारा कोई सम्बंध नहीं है। यहां हमारी दिलचस्पी केवल उस रहस्य तक ही सीमित है, जिसका पुरानी दुनिया के अर्थ-शास्त्रियों ने नयी दुनिया में आविष्कार किया है और जिसकी वे खुले-आम घोषणा कर रहे हैं। और वह रहस्य यह है कि उत्पादन और संचय की पूंजीवादी प्रणाली के और इसलिये पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के अस्तित्व में आने की बुनियादी शर्त यह है कि मनुष्य द्वारा खुद कमायी हुई निजी सम्पत्ति का विनाश कर दिया जाय, या, दूसरे शब्दों में, मजदूर की सम्पत्ति का अपहरण कर लिया जाये।

---

और यह बात इन क़ानूनों के मार्ग में बाधा डालती थी। "१८६२ के नये भूमि-क़ानून का पहला और मुख्य उद्देश्य लोगों को बसाने के लिये पहले से अधिक सुविधाएं देना है।" (*"The Land Law of Victoria"*, by the Hon. C. C. Duffy, Minister of Public Lands) ['विक्टोरिया का भूमि-क़ानून', सार्वजनिक भूमि-क्षेत्रों के मंत्री, माननीय सी० जी० डफ़ी द्वारा लिखित], London, 1862 [पृ० ३]।)

# 'पूंजी' के प्रथम खण्ड में उद्धृत रचनाओं की सूची

## सूची का वर्गीकरण

१।—लेखकों की सूची

२।—गुमनाम रचनाएं

३।—पत्र और पत्रिकाएं

४।—संसदीय रिपोर्टें और अन्य सरकारी प्रकाशन

## १।–लेखकों की सूची

BALZAC, Honoré de. *Scènes de la vie privée: Gobseck.* – ६६१.

BARBON, Nicholas. *A Discourse Concerning Coining the New Money Lighter. In Answer to Mr. Locke's Considerations about Raising the Value of Money.* London, 1696. –४६, ५१, ५२, १४६, १६५, १६७.

BARTON, John. *Observations on the Circumstances which Influence the Condition of the Labouring Classes of Society.* London, 1817. – ७०८, ७५४.

BAYNES. *The Cotton Trade, etc.* – ४६६.

BECCARIA, Cesare. *Elementi di Economia Pubblica. "Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna"* में। Vol. XI. Milano, 1804. –४१३.

BELLERS, John. *Essays about the Poor, Manufactures, Trade, Plantations, and Immorality.* London, 1699. – १५१, १६७, ४८४, ५४१.

– *Proposals for Raising a Colledge of Industry of All Useful Trades and Husbandry.* London, 1696. – १५६, ३७०, ४८४, ५५२, ६८६.

BENTHAM, Jeremy. *Théorie des Peines et des Récompenses. (The Theory of Reward and Punishment.)* 3rd edition. Paris, 1826. – ६८४, ६८६.

BERKELEY, George. *The Querist.* London, 1751. – ३८०, ४००.

BIBLE, The Holy. (Book of Revelation.) – १०३.

BIDAUT, J. N. *Du Monopole qui s'établit dans les arts industriels et le commerce, au moyen des grands appareils de fabrication. Deuxième livraison. Du Monopole de la fabrication et de la vente.* Paris, 1828. – ३६४.

BIESE, Franz. *Die Philosophie des Aristoteles.* Berlin, 1842. – ४६१.

BLAKEY, Robert. *The History of Political Literature from the Earliest Times.* Vol. II. London, 1855. – ८०८.

BLANQUI, Jérôme Adolphe. *Cours d'Economie Industrielle. Année 1837–38.* Paris, 1838–39. – ३८२.

– *Des classes ouvrières en France pendant l'année 1848.* Paris, 1849. – ३१५.

BLOCK, Maurice. *Les Théoriciens du Socialisme en Allemagne. Extrait du Journal des Economistes, Juillet et Août 1872.* Paris, 1872. – २५.

BOILEAU, Etienne. *Reglements sur les arts et métiers de Paris, rédigés au 13ième siècle et connus sous le nom du livre des métiers.* Paris, 1837. – ५४६.

BOILEAU, Nicolas. *Satire VIII.* A. M. Morel, docteur de Sorbonne. *Oeuvres*, t. I., Londres, 1780. – ७३१.

BOISGUILLEBERT, Pierre de. *Dissertation sur la nature des richesses, de l'argent et des tributs.* Vol. I: *Economistes Financiers du XVIII-ième siècle.* Paris, 1843. – १६२.

BOXHORN, M. S. *Institutiones Politicae.* Leyden, 1663. – ४८४.

BROADHURST, J. *Treatise on Political Economy.* London, 1842. – ७०.

BROUGHAM, Henry. *An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers.* Vol. II. Edinburgh, 1803. – ८५१.

BRUCKNER, J. *Théorie du système animal.* Leyde, 1767. – ६६२.

BUCHANAN, David. *Inquiry into the Taxation and Commercial Policy of Great Britain.* Edinburgh, 1844. – १४६.

– *Adam Smith, "Wealth of Nations".* With notes, and an additional volu-

*considéré dans ses rapports avec le commerce*. Paris, 1805.–७५.

FIELDEN, John. *The Curse of the Factory System: or, a short account of the origin of factory cruelties, etc.* London, 1836.–४५६, ४६६, ८५०.

FLEETWOOD, William. *Chronicon Preciosum: or, an Account of English Gold and Silver Money*. London, 1707. 2nd edition. London, 1745. –३०६.

FONTERET, A. L. *Hygiène physique et morale de l'ouvrier dans les grandes villes en général, et dans la ville de Lyon en particulier*. Paris, 1858.–४११.

FORBONNAIS, Fr. Veron de. *Eléments du Commerce*. Leyde, 1766. –१०७.

(FORSTER, Nathaniel). *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions*. London, 1767. –३११, ४८४, ५७८, ८११.

FORTESCUE, John. *De laudibus Legum Angliae*. 1537.–८०४.

FRANKLIN, Benjamin. *Works*. Boston, 1836.–६५, १८८, २०५.

FREYTAG, Gustav. *Neue Bilder aus dem Leben des deutschen Volkes*.–८२६.

FULLARTON, John. *On the Regulation of Currencies, being an Examination of the Principles on which it is Proposed to Restrict Within Certain Fixed Limits the Future Issues on Credit of the Bank of England and of the Other Banking Establishments throughout the Country*. 2nd edition. London, 1845.–१४८, १६२, १६६.

G

GALIANI, Fernando. *Della Moneta* (1750). "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna*" में। Vol. III. Milano, 1803.–८८, १०५, ११७, १७६, १८१, ३५८, ७२०.

GANILH, Charles. *La théorie de l'Economie Politique*. Paris, 1815. *Des Systèmes d'Economie Politique, de la valeur comparative de leurs doctrines, et de celle qui parait la plus favorable aux progrès de la Richesse*. Vols. I–II. Paris, 1821.–७५, १०६, १६८, २०४, ५०६.

GARNIER, Germain. *Abrégé élémentaire des principes de l'Économie Politique*. Paris, 1796.–४१०, ४११, ६१६.

GASKELL, P. *The Manufacturing Population of England, etc.* London, 1833.–४६३, ५०२.

GENOVESI, Antonio. *Lezioni di Economia Civile*. "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna*" में। Vol. VIII. Milano, 1803.–१७५.

GISBORNE, Thomas. *Enquiry into the Duties of Men in the Higher Rank and Middle Classes of Society in Great Britain*. Vol. II. 1795.–८५०.

GLADSTONE, William. देखिये *Hansard Parliamentary Reports*.

GOETHE, W. von. *Faust*.–१०२, ६६६.

(GRAY, John.) *The Essential Principles, etc.* London 1797.–१८४. देखिये 'गुमनाम रचनाएं'।

(GREG, R. H.) *The Factory Question, Considered in Relation to its Effects on the Health and Morals of Those Employed in Factories. And the Ten Hours Bill*. London, 1837.–३३०.

GRÉGOIR, H. *Les Typographes devant le Tribunal correctionnel de Bruxelles*. Brussels, 1865.–६२४.

GROVE, W. R. *On the Correlation of Physical Forces*. London, 1846. –५६१.

J

JACOB, William. *An Historical Enquiry into the Production and Consumption of the Precious Metals.* London, 1831. – ५५.

–*A Letter to Samuel Whitbread Esq. ... on the Protection Required by British Agriculture, etc.* London, 1815. – २४६.

JONES, Richard. *An Essay on the Distribution of Wealth, and on the Sources of Taxation.* London, 1831. –३७३.

—*An Introductory Lecture on Political Economy.* London. 1833. –६६०, ७०८.

—*Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations.* Hertford, 1852.–३५१, ३६४, ३७९, ६३९, ६७१.

K

KOPP, H. *Entwicklung der Chemie in der neuren Zeit.* München, 1871-74. –३५१.

L

LABORDE, Alexandre de. *De l'Esprit d'Association dans tous les intérêts de la Communauté.* Paris, 1818. –५९७.

LAING, Samuel. *National Distress, its Causes and Remedies.* London, 1844. –२२४, ७२०, ७३७.

LANCELLOTTI, Secondo. *Farfalloni de gli Antichi Historici.* Venetia, 1636. – ४८४.

LASSALLE, Ferdinand. *Die Philosophie Herakleitos des Dunkeln von Ephesus.* Berlin, 1858. –१२३.

—*Herr Bastiat-Schultze von Delitzch, der ökonomische Julian, oder Kapital und Arbeit.* Berlin, 1864. –१५.

LAW, John. *Considérations sur le numéraire et le commerce.* "*Collection des principaux économistes*" में। T. I. "*Economistes Financiers du XVIIIième siècle*". Paris,1843.–१०७.

LE TROSNE, Guillaume Fr. *De l'intérêt social, etc.* "*Collection des principaux économistes*" में। Te. II. "*Physiocrates*". Paris, 1846. –५१, ५४, १०७, १६७, १८०, १८१, १८२, १८४, १८७, २३६.

LEVI, Leone. *Lecture before the Society of Arts.* April, 1866.–८२१.

LIEBIG, Justus v. *Ueber Theorie und Praxis in der Landwirtschaft.* Braunschweig, 1856. –३७३, ६४३.

—*Die Chemie, etc.* 7th edition. Braunscweig, 1862. –२६९, ५७०.

LINGUET, N. *Théorie des Lois Civiles ou Principes fondamentaux de la Société.* Vol. II. London, 1767. –२६३, ३७९, ६९१, ८२७.

LOCKE, John. *Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest and Raising the Value of Money. Works* में। Vol. II. 8th. edition. London, 1777.–५०, १०६, १४४.

LUCRETIUS. *De Rerum Naturae.* –२४१.

LUTHER, Martin. *An die Pfarrherrn wider den Wucher zu predigen.* Wittenberg, 1540. –२१८, ३५२, ६६६.

M

MACAULAY, Thomas Babington. *History of England from the Accession of James the Second.* 10th edition. London, 1854. –३१०, ८०२.

MACCULLOCH, John Ramsay. *The Principles of political Economy; with a Sketch of the Rise and Progress of the Science.* 2nd edi-

tion. London, 1830. –१७५, २१७, ५००, ५८५, ६८३.

—*The Literature of Political Economy, a Classified Catalogue of Select Publications in the Different Departments of that Science*. London, 1845. –१६५, ८१३.

—*A Dictionary, Practical, Theoretical, and Historical of Commerce and Commercial Navigation*. London, 1847. –१७२.

MACLAREN, James. *A Sketch of the History of the Currency*. London, 1858. –११५.

MACLEOD, Henry Dunning. *The Theory and Practice of Banking: with the Elementary Principles of Currency, Prices, Credit and Exchanges*. Vol. I. London, 1855. –७६, १७६.

MALTHUS, Thomas Robert. *An Essay on the Principle of Population*. London, 1798. –५७१, ६९१.

—*An Inquiry into the Nature and Progress of Rent and the Principles by which it is Regulated*. London, 1815. –३५७, ५९३, ६२५, ६६८, ६९१.

—*Principles of Political Economy Considered with a View to Their Practical Application*. 2nd edition. London, 1836. –२३९, ६५१, ६५९, ६६१, ६६८, ७११.

—*Definitions in Political Economy*. Edited by Cazenove. London, 1853. –६३९, ६४४, ६५१, ६५९.

MANDEVILLE, Bernard. *The Fable of the Bees, or Private Vices, Publick Benefits*. 5th edition. London, 1728. –४०१, ६९०,

MARTINEAU, Harriet. *A Manchester Strike. A Tale*. "*Illustrations of Political Economy*". No. VII. London, 1832. –७११.

MARX, Karl. *Misère de la Philosophie. Réponse à la Philosophie de la Misère par M. Proudhon*. Paris and Brussels, 1847.–९७, ४०४, ४०७, ४७४, ६०२, ७२३.

— *Lohnarbeit und Kapital*. "*Neue Rheinische Zeitung*". 1849. –६५०, ८५८.

—*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*. Berlin, 1859. –१५, २०, २२, ४९, ९१, ९२, ९७, १०३, १११, ११३, ११४, ११९, १३२, १४१, १४३, १५७, १५९, १६४, २१८, ६०४, ६९६.

—*Der achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte*. 2nd edition. Hamburg, 1869. –७७५.

—*Address and Provisional Rules of the International Working Men's Association, etc*. London, 1864. –४१, ४२, ४५.

MARX, Karl, und ENGELS, Friedrich. *Manifest der Kommunistischen Partei*. London, 1848. –५५०, ८५६.

(MASSIE, Joseph). *An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest*. London, 1750. –५७९.

MAURER, Georg Ludwig v. *Einleitung zur Geschichte der Mark-, Hof-, Dorf-, und Stadtverfassung*. München, 1854. –८६.

—*Geschichte der Fronhöfe, etc*. Vol. IV. 1863. –२६७.

MEITZEN, August. *Der Boden und die landwirtschaftlichen Verhältnisse des Preussischen Staates, etc*. 1866. –२६७,

MERCIER DE LA RIVIÈRE. *L'Ordre naturel et essentiel des* Sociétés politiques. "*Collection des principaux économistes*" में। Paris, 1846. –१२७, १५०, १६९, १७२, १८०, १८१, १८५, २२६.

N

O

OLMSTED, Frederick Law. *A Journey in the Seaboard Slave States with Remarks on Their Economy*. New York, 1856. –२२२.

OPDYKE, George. *A Treatise on Political Economy*. New York, 1851. –१८८.

ORTES, Giammaria. *Della Economia Nazionale libri sei*. Vol. VII (1777). "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna*" में। Milano, 1804. –७२३.

OTWAY J. H. *Judgment of Mr. J. H. Otway, Belfast Hilary Sessions, County Antrim*. 1860. –३१६.

OWEN, Robert. *Observations on the Effects of the Manufacturing System*. 2nd edition. London, 1817. –३४०, ४५६.

P

PAGNINI, Giovanni Francesco. *Saggio sopra il giusto pregio delle cose, la giusta valuta della moneta et sopra il commercio dei romani* (1751). "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna*" में। Vol. II. Milano, 1803. –१०८.

(PAPILLON, Thomas.) *The East-India Trade, etc.* –१०६. देखिये 'गुमनाम रचनाएं'।

PARRY, Charles Henry. *The Question of the Necessity of the Existing Corn Laws Considered, in Their Relation to the Agricultural Labourer, the Tenantry, the Landholder and the Country*. London, 1816. –६७५, ६७६, ७५५.

PETTY, William. *A Treatise of Taxes and Contributions*. London, 1667. –१०८, १४१, ६६३.

— *Political Anatomy of Ireland*. London, 1691. –१६३, १६७, १६५, ३१०, ३५६.

— *Quantulumcunque Concerning Money, 1682. To the Lord Marquis of Halifax*. London, 1695. –११६, १६७.

PINTO, Isaac. *Traité de la Circulation et du Crédit*. Amsterdam, 1771. –१७२.

PLATO. *De Republica*. "*Platonis opera omnia*" में। 21 vols. Zürich, 1839-41. –४१४.

POSTLETHWAYT, Malachy. *First Preliminary Discourse, also Supplement to Universal Dictionary of Trade and Commerce*. London, 1751. –३१२.

— *Britain's Commercial Interest Explained and Improved*. London, 1755. –३११.

POTTER, Edmund. (*The Times* letter.) –६४५–६४८.

PRICE, Richard. *Observations on Reversionary Payments*. Vol. II. 6th edition. London, 1803. –७५३, ८१३.

Q

QUESNAY, Francois. *Dialogues sur le Commerce et les Travaux des Artisans*. "*Collection des principaux économistes*" में। Vol. II. Paris, 1846. xxiii. –१२७, ३६४.

— *Maximes générales du gouvernement économique d'un Royaume agricole*. (1758.) "*Collection des principaux économistes*" में। Vol. II. "*Physiocrates*". Paris, 1846. –१२७.

R

RAFFLES, Sir Thomas Stamford. *The History of Java*. Vol. I. London, 1817. –४०५, ८४३.

RAMAZZINI, Bernardino. "*De morbis artificum diatriba*". (1713). *Encyclopédie des Sciences Medicales* में। 1841. — ४११.

RAMSAY, George. *An Essay on the Distribution of Wealth*. Edinburgh, 1836. —१८५, १८९, ३५९, ५७५, ६३८, ७०८.

RAVENSTONE, Piercy. *Thoughts on the Funding System and its Effects*. London, 1824. —४८७, ५७५.

READ, George. *The History of Baking*. London, 1848. —२८३.

REDGRAVE, Alexander. "*Report of a Lecture Delivered at Mechanics' Institute in Bradford, December 1871*". *Journal of the Society of Arts* में। London, January 1872. —४७१, ५०७.

REGNAULT, Elias. *Histoire politique et sociale des Principautés Danubiennes*. Paris, 1855. —२६८.

REICH, Eduard. *Ueber die Entartung des Menschen*. 1868. —४११.

RICARDO, David. *On the Principles of Political Economy and Taxation*. 3rd edition. London, 1821. —९१, ९५, १४३, १९१, २३०, २५८, ४३८, ४४४, ४४५, ४८७, ४८९, ४९५, ६४४, ६६१, ६८०, ७०८.

RICHARDSON, B. W. "Work and Overwork", *Social Science Review*, July. 18, 1863, में। London, —२८८, २९९.

ROBERTS, George. *The Social History of the People of the Southern Counties of England in Past Centuries*. London, 1856. —८०७.

RODBERTUS-JAGETZOW, Karl. *Soziale Briefe, etc*. Berlin, 1851. —५९६.

— *Briefe und sozialpolitische Aufsätze*. Berlin, 1881. — ५९६.

ROGERS, James E. Thorold. *A History of Agriculture and Prices in England from the year after the Oxford Parliament (1259) to the Commencement of the Continental War 1793*. Vol. I. Oxford, 1866. —७५३, ७५८, ८०८.

ROSCHER, Wilhelm. *Die Grundlagen der Nationalökonomie, 1858*. —१०९, १८३, २३२, २४३, २५८, ३६८, ४१२, ६८९.

ROSSI, P. *Cours d'Economie Politique*. Brussels, 1842. —१९७, ६४२.

ROUARD DE CARD, François, Pie-Marie. *De la falsification des substances sacramentelles*. Paris, 1856. —२८१.

ROUSSEAU, Jean Jacques. *Discours sur l'Economie Politique. Œuvres*. Vol. I. Geneva, 1760. —८३७.

RUMFORD, Benjamin, Count of (Benjamin Thompson). *Essays. Political, Economical and Philosophical*. Vols. I-III. London, 1796-1802. —६७४.

S

SADLER, Michael Thomas. *Ireland, its Evils and Their Remedies*. 2nd edition. London, 1829. —७८७.

SAINT-HILAIRE, Geoffroy Etienne. *Notions synthétiques, historiques et physiologiques de Philosophie Naturelle*. Paris, 1838. —८३६.

SAY, Jean Baptiste. *Traité d'Economie Politique, ou simple Exposition de la Manière dont se forment, se distribuent et se consomment les Richèsses*. 3rd edition. Vols. I-III. Paris, 1817. —९५, १७६, १८७, २३१, ६०२, ६६८.

— *Lettres à M. Malthus sur différents sujets d'Economie Politique, notamment sur les causes de la*

*System of Great Britain*. 2nd edition. London, 1835. -३४१, ३९६, ४१६, ४१७, ४३१, ४५७, ४७४, ४७९, ४९०, ४९४, ४९५, ६२०, ६२६, ६३०.

URQUHART, David. *The Portfolio, a Diplomatic Review*. New series. London, 1843, etc. -८१८ ८४०.

— *Familiar Words as Affecting England and the English*. London, 1855. -११८, ४११, ५६९, ८३९, ८४०.

V

VANDERLINT, Jacob. *Money Answers All Things*. London, 1734. -१४२, १५०, १६७, ३११, ३१४, ३५६, ३७६.

VERRI, Pietro. *Meditazioni sulla Economia Politica* (1773). "*Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna*" में। Vol. 15. Milano, 1804. -५८, १०६, १५४, ३७४.

VISSERING, S. *Handboek van Praktische Staatshuishoudkunde*. Amsterdam, 1860-1862. -५६७.

W

(WADE, John.) *History of the Middle and Working Classes*, etc. 3rd edition. London, 1835.-२७४, ३०९, ६९५.

WAKEFIELD, Edward Gibbon. *England and America. A Comparison of the Social and Political State of Both Nations*. London, 1833. -३०५, ६५४, ७५५, ८५९, ८६४, ८६६.

— *A View of the Art of Colonisation*. London, 1849. -३७०.

— *Notes to Adam Smith's "Wealth of Nations"*. -६००.

WARD, John. *The Borough of Stoke-upon-Trent*. London, 1843. -३०२.

WATSON, Dr. John Forbes. *Paper Read Before the Society of Arts, April 17, 1860*.-४४३.

WATTS, John. *Facts and Fictions of Political Economists, Being a Review of the Principles of the Science*. Manchester, 1842.-६१७.

—*Trade Societies and Strikes, etc*. Manchester, 1865.-६१७.

WAYLAND, F. *The Elements of Political Economy*. Boston, 1843.-१८७, २३४.

(WEST, Sir Edward.) *Essay on the Application of Capital to Land. By a Fellow of the University College of Oxford*. London, 1815.-६०८, ६०९.

—*Price of Corn and Wages of Labour, with Observations upon Dr. Smith's, Mr. Ricardo's and Mr. Malthus's Doctrines upon these Subjects, etc*. London, 1826.-६०७, ६०९.

WILKS, Lieut.-Col. Mark. *Historical Sketches of the South of India, etc*. London, 1810-1817.-४०५.

WILSON, James. देखिये *Murray*.

WRIGHT, Thomas. *A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms*. London, 1779.-८१२.

X

XENOPHON. *Cyropaedia*.-४१५.

Y

YOUNG, Arthur. *Political Arithmetic, Containing Observations on the Present State of Great Britain, and the Principles of her Policy in the Encouragement of Agriculture*. London, 1774.-१४१, २५९, ३११, ७५३.

—*A Tour in Ireland; with General Observations on the Present State of that Kingdom: Made in the Years 1776, 1777 and 1778 and Brought down to the end of 1779*. 2nd edition. London, 1780.-७६१.

## २१—गुमनाम रचनाएं

## ३।–पत्र और पत्रिकाएं

## ४।–संसदीय रिपोर्टें और अन्य सरकारी प्रकाशन

# नामों की सूची

ग

म

य



र

ल

## ह

## पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक का अनुवाद और डिजाइन सम्बन्धी आपके विचारों के लिए आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। हमारा पता है :

२१, जूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।